राधाकृष्ण भक्त-कोश

सं. भगवतीप्रसाद सिंह

राधाकृष्ण भक्तकोश

प्रथम खण्ड

संपादक

भगवतीप्रसाद सिंह

निवर्तमान आचार्य तथा अध्यक्ष
हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

सह-संपादक

डॉ० वासुदेव सिंह

हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

सत्-शास्त्र प्रकाशन
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान, मथुरा-१
१९८७

प्रकाशक :
सत्-शास्त्र प्रकाशन
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान
मथुरा-१

© प्रकाशक
प्रथम संस्करण १९८७

मूल्य : चार सौ रुपयें

मुद्रक :
शिवम् प्रिन्टर्स
सी. २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनी,
मलदहिया, वाराणसी-२

RADHAKRISHNA BHAKTAKOSH

VOLUME ONE

Editor
BHAGWATI PRASAD SINGH
Professor & Head, Deptt. of Hindi (Retd.)
Gorakhpur University Gorakhpur

Co-Editor
Dr. VASUDEO SINGH
Deptt. of Hindi, Kashi Vidyapith, Varanasi

SAT-SHASTRA PRAKASHAN
SHRIKRISHNA-JANMASTHAN SEVA-SANSTHAN
MATHURA-1
1987

Publisher
Sat-Shastra Prakashan
Shri Krishna-Janmasthan Seva-Sansthan
Mathura-1

© Publisher
First Edition : 1987

Price : Rupees Four Hundred

Printed by
Shivam Printers
C. 27/273, Indian Press Colony,
Maldahiya, Varanasi-2

आत्मनिवेदन

भगवान् श्रीकृष्ण भारत की सांस्कृतिक गरिमा के आधार-स्तम्भ हैं । उनका यश गीता, भागवत और महाभारत के माध्यम से देश-काल की सीमाएं पार कर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है । इस देश की ऐसी कोई भाषा और उपभाषा नहीं है, जो उनकी जीवनगाथा तथा भक्तिभावना से परिप्लुत न हो ।

विगत साठ वर्षों में हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भक्ति-साहित्य का व्यापक एवं गहन अनुशीलन हुआ है । आलोचना एवं अनुसन्धान से साम्प्रदायिक और स्वतन्त्र रूप में विकसित भक्ति की विभिन्न धाराओं के नये क्षितिज प्रकाश में आये हैं तथा तथ्यात्मक शोध द्वारा प्रचुर संख्या में विस्मृत और अज्ञात भक्तों का सन्धान मिला है । इस प्रकार भक्ति की विभिन्न शाखाओं से सम्बद्ध विपुल सामग्री उपलब्ध होते हुए भी आज तक ऐसा कोई आकर-ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आ सका, जिसमें निर्गुण अथवा सगुण भक्ति की शाखाविशेष पर सभी भाषाओं में प्राप्त सामग्री अनुसन्धित्सुओं, आलोचकों एवं सामान्य पाठकों को तात्कालिक उपयोग के लिए उपलब्ध हो । इस अभाव का तीव्रबोध इन पंक्तियों के लेखक को आज से लगभग सोलह वर्ष पूर्व कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित बिरला-व्याख्यानमाला के लिए 'रामभक्ति : परम्परा और साहित्य' शीर्षक आलेख तैयार करते समय हुआ था । उक्त विषय से सम्बद्ध चार निबन्धों में मैं देश की विभिन्न भाषाओं में रामोपासना-सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य का विवेचनात्मक परिचय देना चाहता था । किन्तु अपेक्षित सामग्री हिन्दी में उपलब्ध नहीं थी और इतर भाषाओं में मेरी गति नहीं थी । अतः जो कुछ सूचनाएँ अपने पास और हिन्दी तथा अंग्रेजी की प्रकाशित पुस्तकों में प्राप्त थीं उन्हींसे सन्तोष करना पड़ा ।

इसके बाद मैं अन्य अध्यात्मपरक ग्रन्थों के सम्पादन-लेखन में व्यस्त हो गया । इसी बीच १९७५ ई० में हृदयाघात हुआ । उसके परिणामस्वरूप कुछ दिनों के लिए लिखना-पढ़ना बन्द कर देना पड़ा । अतः कोई नया साहित्यिक दायित्व लेने की अपनी स्थिति ही नहीं रह गयी । किन्तु नियामकसत्ता के इंगित से पट-परिवर्तन हुआ, स्वास्थ्य में कुछ सुधार हुआ और मैं प्रभु की अक्षर-सेवा में पुनः संलग्न हो गया ।

महत्कार्य महदिच्छा से सम्पन्न होते हैं । मनुष्य मात्र संकल्प-विकल्प कर सकता है, उसकी पूर्ति विश्व-नियन्ता के संकेत बिना सम्भव नहीं । असाध्य-साधिका भगवत्कृपा अनुगतों के लिए नयी मंजिल, नये साथी, नया दाना, नया पानी और नये रास्ते का निर्माण करती है । प्रस्तुत योजना के सूत्रपात और कार्यान्वयन में उसके अवतरण और प्रसार का कुछ ऐसा ही आभास मिला ।

जुलाई '८१ के प्रथम सप्ताह में मुझे श्रीकृष्ण-जन्मभूमि-सेवा-संस्थान, मथुरा के नयी दिल्ली स्थित प्रधान कार्यालय से श्री हितशरण शर्मा का एक पत्र मिला जिसमें 'राधाकृष्ण भक्तकोश' के सम्पादन का प्रस्ताव किया गया था । साथ ही इस बात का भी उल्लेख था कि श्रीमती अरुणा डालमिया की इच्छा है कि मैं इसका पूरा दायित्व सँभालूं ।

मैंने गोरखपुर विश्वविद्यालय की सेवा से कुछ ही महीनों पहले अवकाश ग्रहण किया था । किन्तु कई साहित्यिक परियोजनाएँ हाथ में थीं, जिनमें 'महात्मा बनादास ग्रन्थावली' तथा 'भुशुण्डि रामायण' के शेष खण्डों का प्रकाशन; 'लोक रामायण' के लिए सामग्री-संकलन और पदुमावति (सचित्र) का सम्पादन —प्रमुख था । परन्तु इस व्यस्तता से कहीं अधिक उद्वेगजनक था —कृष्ण-भक्ति-साहित्य विषयक अपनी अल्पज्ञता का बोध । मेरे अध्ययन एवं आस्था का विशेष क्षेत्र राम-भक्ति-साहित्य रहा है । सगुण तथा निर्गुण भक्ति की अन्य शाखाओं से मेरा केवल अध्यापकीय परिचय रहा है । उस छोटी-सी पूंजी के बल पर इतने बड़े व्यापार का बीड़ा उठाना अपनी दृष्टि

में मात्र दुस्साहस था। अपनी इस अपात्रता के कारण उपर्युक्त प्रस्ताव की स्पष्ट स्वीकृति-अस्वीकृति से होनेवाले सन्तापराध की भावना से मैं अत्यन्त उद्विग्न रहा। कुछ ही दिनों बाद श्री राधाबाबा के दर्शनार्थ अरुणाजी के गोरखपुर आने और मुझसे गीता-वाटिका में मिलने की उनकी इच्छा की सूचना पोद्दारजी के अनन्य सेवक तथा सहचर श्री कृष्णचन्द्र अग्रवाल द्वारा प्राप्त हुई।

अचिन्त्य कारणसूत्रों से यह अकिंचन श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार तथा राधाबाबा (स्वामी चक्रधरजी) का अपने गोरखपुर आगमन-काल से ही अशेष स्नेहभाजन रहा है। बाबा चतुर्थाश्रमी हैं। अपने अध्यात्मजीवन में उन्होंने श्री राधामाधव को आदर्श माना है। किन्तु उनमें किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं है। वे सभी सम्प्रदायों, उपास्यदेवों तथा साधना-पद्धतियों को समान दृष्टि से देखते हैं। उनके निर्देश से ही मैं पोद्दारजी के जीवनदर्शन 'कल्याण-पथ : निर्माता और राही' के निर्माण में प्रवृत्त हुआ था। कृष्णचन्द्रजी के सन्देश के अनुसार गीता-वाटिका पहुँचने पर मैं सीधे उनके चरणों में उपस्थित हुआ। संयोगवश अरुणाजी वहाँ पहले से मौजूद थीं। समुपस्थित सत्संगियों एवं दर्शनार्थियों को बिदा करने के बाद बाबा हम लोगों की ओर मुड़े। पहले अरुणाजी से अपना प्रयोजन निवेदित करने को कहा। अरुणाजी ने मेरे पास अपने पूर्वप्रेषित संदेश का हवाला देते हुए श्री राधाकृष्ण भक्तकोश के सम्पादन और प्रकाशन का दायित्व मुझे सौंपने की इच्छा व्यक्त की। योजना का स्वागत करते हुए बाबा ने मेरी ओर मुड़कर स्नेहसिक्त शब्दों में कहा, "रामचन्द्रजी! यह बहुत उत्तम कार्य है। इसे आप ही कर सकते हैं।" मैंने प्रस्तावित योजना के संचालन हेतु अपेक्षित विषयज्ञान की न्यूनता निवेदित करते हुए दायित्व वहन करने में अपनी असमर्थता व्यक्त की। अरुणाजी चुप रहीं। बाबा थोड़ी देर मौन रहे, फिर बोले, "तब भी यह काम तो आपको करना ही है।" इसके बाद कुछ कहने का साहस मैं न कर सका। भावसिद्ध सन्त के शब्दों को दैवी आदेश मानकर मैंने हामी भर ली। बाबा की इस आज्ञा को स्वीकार करने में रामोपासकों के परम्परागत आदर्श एवं संस्कार सहायक हुए। अयोध्या के प्रसिद्ध सन्त महात्मा बनादास मेरे पूर्वज थे। उनका एक दोहा है—

बिन इच्छा बिन जतन के, प्रापति जो कछु होय।
सो आवत है राम कर, निस्चै जानौ सोय॥

प्रकृत प्रसंग में यही मेरा मार्गदर्शक बना। सर्वेश्वरी के प्रतिनिधि की इच्छा को आराध्ययुगल के अनुगतों की सेवा करने का पारपत्र मानकर मैं आश्वस्त हो गया। इसके बाद अरुणाजी से थोड़ी देर तक विचार-विमर्श हुआ, फिर मैं घर लौट आया। वे भी दूसरे दिन दिल्ली चली गयीं। एक सप्ताह के भीतर योजना का प्रारूप तैयार करके मैं बाबा के पास गया। उन्होंने देखकर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा, 'यह काम तो अब आपसे भगवान् करा ही लेंगे, 'रामभक्त कोश' भी आपको बनाना है।' मैंने निवेदन किया, 'गोवर्धनधारी की कृपा और आपके अनुग्रह से कुछ भी असंभव नहीं।'

बाबा की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर मैंने उसे अरुणाजी के पास भेज दिया। श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान-सेवा-संस्थान के न्यासमण्डल ने उसे स्वीकार कर लिया। फिर कार्य प्रारम्भ हो गया।

सहृदय पाठकों के समक्ष यह 'कोश-कथा' इस उद्देश्य से प्रस्तुत की गयी है कि वे मेरे अनधिकारी स्वरूप को हृदयंगम करके इसके निर्माण में पदे-पदे होनेवाली जानी-अनजानी त्रुटियों के लिए क्षमादान की मानसिक स्थिति बनाये रखें।

श्री राधाकृष्ण-भक्तों की एक अत्यन्त प्राचीन, प्रशस्त तथा विशाल परम्परा होते हुए भी अब तक इस विराट् समुदाय का स्वरूपबोधक कोई आकर-ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आ सका। भक्ति-साहित्य के

अध्येताओं एवं अनुसन्धित्सुओं को इसका अभाव बराबर खटकता रहा है। साम्प्रदायिक भक्तमालों, साहित्य के इतिहासों, शोध-प्रबन्धों तथा आलोचनात्मक ग्रन्थों में एतद्विषयक प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है। उसमें प्रसिद्ध भक्तों के सम्बन्ध में बहुमूल्य तथ्य उपलब्ध हैं, किन्तु साम्प्रदायिक पीठों से असम्बद्ध एकान्त साधकों का वृत्त प्रायः समाविष्ट नहीं हो सका है। 'कल्याण' तथा अन्य धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं द्वारा, स्वतन्त्र रूप से श्री राधा-कृष्ण की आराधना करनेवाले विरक्त एवं गृहस्थ भक्तों के सम्बन्ध में, प्रेरणाप्रद जानकारी प्राप्त होती रही है। काल-प्रवाह के साथ वह भी शनैः-शनैः लुप्त होती जा रही है। यदि समय रहते उनका संकलन एवं प्रकाशन न किया गया तो मानवता युग-युगों से संरक्षित एक ऐसे अमूल्य सांस्कृतिक रिक्थ से सदा के लिए हाथ धो बैठेगी जिसका अनुशीलन, चिन्तन तथा मनन वर्तमान भोगपरक सभ्यता से उत्पन्न मानस-रोगों से आत्यन्तिक मुक्ति दिलाने में सर्वथा सक्षम है। पश्चिमी देशों में भारतीय योग तथा भक्तिसाधना के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ आकर्षण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रस्तावित ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य अध्येताओं का अंतःपरिष्कार तथा संस्कारमार्जन है। हमारी यह धारणा है कि इस माध्यम से वे राष्ट्र की गौरवमयी संस्कृति के स्वरूपबोध के साथ ही उसके सनातन मूल्यों की रक्षा में सर्वतोभावेन प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगे।

ग्रन्थ के अभिधान के अनुसार आरम्भ में इसके अंतर्गत मात्र श्री राधा-कृष्ण-भक्तों के चरित संकलित करने का विचार था, किन्तु यह हृदयेश्वर को स्वीकार्य नहीं हुआ। अन्तर्मन्थन करते-करते भक्तमाल-परम्परा के प्रवर्तक नाभादासजी की निम्नांकित पंक्तियाँ मानस-नेत्रों के सामने कौंध गयी—

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक। तिनके पद वंदन किये, नासहिं विघ्न अनेक ॥

कोश-यज्ञ का संकल्प लेने के बाद उसकी पूर्ति में अनेक ज्ञात-अज्ञात बाधाएँ थीं। उनके शमनार्थ भक्तमालकार के उपर्युक्त शब्दों के अक्षरशः अनुसरण का भाव जगा। यह मानते हुए कि भक्त के व्यक्तित्व में भगवान्, उनकी भक्ति और उसके उपदेष्टा गुरु अथवा सद्गुरु तीनों ही अलक्षितरूपेण विद्यमान रहते हैं, कोश में इन तत्त्वों का भी सन्निवेश आवश्यक प्रतीत हुआ। इस आदर्श से अनुप्राणित मेरे मानस-पटल पर कोश-योजना का जो चित्र उभरा वह कृष्ण-भक्ति के ऐतिहासिक, दार्शनिक, साम्प्रदायिक, साहित्यिक, लालित्यिक आदि विविध तत्त्वों से समन्वित था। इनके निरूपण के अभाव में विभिन्न साधना-पद्धतियों के अनुयायी भक्तों की जीवन-पद्धति तथा कृतित्व के वैशिष्ट्य एवं साधनागत रहस्यों का परिज्ञान सम्भव नहीं था। इसलिए 'भारतीय-संस्कृति में श्रीकृष्ण' शीर्षक इसके प्रस्तावना-भाग में इनका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत हुआ। इसके अतिरिक्त विभिन्न भाषा क्षेत्रों में कृष्ण-भक्ति के विकास का निदर्शन करते हुए उपर्युक्त तत्त्वों पर कुछ विस्तार से प्रकाश डालने की आवश्यकता का भी अनुभव हुआ।

इसीके साथ एक बात और समझ में आयी। वह यह कि अत्यन्त प्राचीनकाल से देश-विदेश में व्याप्त कृष्ण-भक्ति के अनुयायियों एवं अनुशीलकों के विराट् समुदाय का वृत्त-संग्रह राष्ट्रीय दृष्टि से भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा। यह सर्वविदित है कि मध्यकालीन वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन ने विजातीय शासन एवं संस्कृति से आक्रान्त भारतीय लोकजीवन को अपनी अस्मिता एवं स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपार आध्यात्मिक तथा नैतिक शक्ति प्रदान की थी जिससे सम्पूर्ण देश नवजागरण की लहर से आप्लावित हो गया था। भक्तों ने राष्ट्रीय मानस को उद्वेलित करने के लिए सारे देश में घूम-घूमकर अलख जगाया था, निरंकुश शासन तंत्र से पीड़ित जनता की स्थिति का अध्ययन करके उसे सनातन आदर्शों के लिए सर्वस्व त्याग करने की प्रेरणा तथा आध्यात्मिक बल प्रदान करके लुप्तप्राय तीर्थों के पुनरुद्धार का मार्गदर्शन किया था। मधुर कवि आलवार, शंकराचार्य,

रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, नामदेव, नरसीमेहता, स्वामी रामानन्द, कबीर, शंकरदेव, अचलानंददास, गुरुनानक, जगन्नाथ दास, सहजानंद स्वामी प्रभृति आचार्यों तथा भक्तों द्वारा सुदूर प्रदेशों का पर्यटन और देश के कोने-कोने में स्थापित मठ, मंदिर तथा बैठकें उनके द्वारा राष्ट्रोद्धार हेतु किये गये महान् प्रयास के अविस्मरणीय स्मारक हैं। जाति, धर्म, वर्ग तथा क्षेत्रीयता की कल्पित सीमाओं को तोड़कर इस विशाल राष्ट्र में भावात्मक एकता की स्थापना उनकी सबसे बड़ी देन थी।

देश की वर्तमान स्थिति में क्षुद्र स्वार्थों से प्रेरित वर्गसंघर्ष की भावना तथा घरौंदों में बाँटने की आत्मघाती प्रवृत्ति का सफल प्रतिरोध सांस्कृतिक एकता की संदेश-वाहिका कालजयी राधाकृष्णभावना के प्रसारक समदर्शी भक्तों के लोकपावन चरित के व्यापक प्रचार द्वारा आसानी से हो सकता है। भारत की विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध भक्ति-साहित्य के वैशिष्ट्यनिरूपण सहित भक्तों के चरित-संकलन का दायित्व राष्ट्रभाषा वहन करे और उसका श्रीगणेश 'राधाकृष्ण भक्तकोश' से हो तो इतर भाषाभाषियों के हृदय में हिन्दी के प्रति आत्मीयता एवं समादर की भावना के साथ ही आपसी समझदारी बढ़ेगी और हिन्दी-भाषियों को अन्य प्रदेशों के आध्यात्मिक विकास से अवगत होने का सुयोग प्राप्त होगा। इस प्रकार भारत के विभिन्न प्रदेशों और उसके पड़ोसी देशों में सांस्कृतिक एकता के सूत्रों के सन्धान एवं संवर्धन में सहायता मिलेगी।

इस विचार से प्रस्तुत ग्रन्थ में भारत की सोलह भाषाओं के अतिरिक्त उसके प्रतिवेशी तथा धर्मबन्धु नेपाल की राजभाषा नेपाली में उपलब्ध कृष्णभक्तों के वृत्त, रचना-शैली के नमूने सहित यथासम्भव स्थानीय विद्वानों द्वारा तैयार कराकर संकलित किये गये हैं। सभी चरित हिन्दी भाषा और नागरी लिपि में हैं। हिन्दीतर भाषाओं के भक्तों की रचनाओं के उदाहरण उनकी मूलभाषा किन्तु नागरी लिपि में, हिन्दी-अनुवाद सहित प्रस्तुत किये गये हैं जिससे जिज्ञासु हिन्दीभाषी पाठक इतर प्रदेशीय भक्तों की मातृभाषा में रचित अमृतोपम पदावली से सीधे प्रेरणा ग्रहण कर सकें। पक्षान्तर में अन्यप्रदेशीय श्रद्धालु हिन्दीविद् बन्धु भी कृष्णोपासना से सम्बद्ध हिन्दी के अगाध वाङ्मय का रसास्वादन कर सकेंगे। इस प्रकार प्रस्तुत योजना हिन्दीभाषा एवं नागरी लिपि से अभिज्ञ विश्व के एक विशाल कृष्ण-प्रेमी समुदाय के बीच सांस्कृतिक एकता की स्थापना के प्रथम उल्लेखनीय प्रयास का गौरव प्राप्त कर सकेगी।

भक्तों के इस पुण्य गाथा संग्रह के प्रस्तावनाभाग में उनके द्वारा अनादिकाल से स्वयं भगवान् के रूप में पूजित आराध्ययुगल, श्रीकृष्ण और उनकी ह्लादिनी शक्ति राधा, की ऐतिहासिकता का विवेचन कुछ संवेदनशील अध्येताओं की दृष्टि में असंगत तथा अवांछनीय प्रतीत हो सकता है। यह जानते हुए भी उक्त प्रसंग का सन्निवेश किया गया। इसके पीछे अपना उद्देश्य कृष्ण-चरित को कल्पित तथा अनैतिहासिक माननेवाले बुद्धिवादियों की भ्रान्ति का निरसन तथा अन्यतम राष्ट्रीय महापुरुष के रूप में उनकी परम्परागत मान्यता को उजागर करना रहा है। इससे श्रीकृष्ण की भगवत्ता अथवा सर्वशक्ति-सम्पन्न ध्येय-सत्ता के रूप में चिरप्रतिष्ठित महत्ता पर कोई आँच नहीं आती।

यह प्रसंग तत्त्वज्ञ आचार्यों तथा जिज्ञासुओं के बीच अति प्राचीनकाल से आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। पौराणिक एवं मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। तुलसीदास के रामचरित मानस का तो निर्माण ही इस प्रकार की शंकाओं के समाधान रूप में हुआ था।

वैष्णवागमों में इस समस्या का समाधान लीलातत्त्व की दार्शनिक व्याख्या द्वारा किया गया है। उनके अनुसार पुरुषोत्तम की लीला के तीन प्रकार हैं—पारमार्थिक, प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक। इनमें प्रथम अक्षरब्रह्म के भीतर, द्वितीय भक्तों के हृदय में तथा तृतीय धराधाम में होती है। प्रथम दो अनुभवैकगम्य अतः अतर्क्य हैं किन्तु तीसरी ऐतिहासिक मीमांसा का विषय हो सकती है। एतद्विषयक फैली हुई भ्रान्त धारणाओं के

निराकरण का प्रयास आधुनिक युग के मनीषियों द्वारा भी हुआ है। प्रस्तुत ग्रंथ के प्रस्तावना भाग में संकलित धर्माचार्यों तथा अधिकारी विद्वानों के आलेखों से तह तथ्य स्पष्ट हो जायगा।

इस सम्बन्ध में महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज और बंगाल के प्रसिद्ध अध्यात्मचिन्तक सर ब्रजेन्द्रनाथ शील के बीच सम्पन्न दिशानिर्देशक विमर्श जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त उपादेय होगा; इस विचार से उसे यहाँ अविकल रूप में उद्धृत किया जाता है।

शील महाशय कविराजजी के पिता पं० वैकुण्ठनाथ कविराज के सहपाठी थे, इसलिए इन पर उनका पुत्रवत् स्नेह था। इस नैकट्य के कारण ही इन्होंने जिज्ञासु छात्र के रूप में एक दिन उनके समक्ष अपनी शंका प्रस्तुत करते हुए निवेदन किया :

"क्या आप कृष्ण को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं ?"

डॉक्टर शील ने स्वीकारात्मक उत्तर दिया। वे ब्राह्म-समाजी थे, अतः कृष्णावतार में आस्था नहीं रखते होंगे, अपनी इस धारणा को पुष्ट करने के लिए कविराजजी ने पुनः प्रश्न किया।

"क्या आप श्री अरविन्द द्वारा कारागार में प्राप्त वासुदेव-दर्शन और उपदेश में विश्वास करते हैं ?"

शील महोदय की मुद्रा गम्भीर हो गयी। वे बोले,

"इसका क्या तात्पर्य है ? कृष्ण पृथ्वी पर रहे हों या नहीं, उससे कृष्ण-दर्शन से क्या सम्बन्ध ? दोनों पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। क्राइस्ट (ईसा) की ऐतिहासिकता पर भी लोगों को सन्देह है, किन्तु सन्त टेरेसा तथा विभिन्न देशों और विभिन्न कालों के अनेक महात्माओं ने उनके दर्शन देने का उल्लेख किया है। पृथ्वी पर अवतरित होकर शरीर-धारण न करते हुए भी उनकी व्यापक आत्मा तो दर्शन दे ही सकती है। ऐतिहासिक कृष्ण तथा तत्त्वरूपी कृष्ण का पृथक् अस्तित्व नितान्त सम्भव है। उनके प्रति जिसकी जैसी भावना होगी वे उन्हें तदनुरूप प्राप्त हो जायँगे। विश्व का आध्यात्मिक साहित्य इसके उदाहरणों से भरा पड़ा है। सभी सन्त झूठे नहीं हो सकते। ध्याता के भावानुसार परमशक्ति स्वयं ही तदाकार हो प्रत्यक्ष हो जाती है—यह तथ्य है, ऐतिहासिकता से इसका कोई सरोकार नहीं।"[१]

यह विवेचन भागवत पुराण तथा उसके पूर्ववर्ती कृष्ण-साहित्य में स्पष्टरूपेण श्री राधा का उल्लेख न पाकर उनकी ऐतिहासिक एवं पारमार्थिक सत्ता पर प्रश्न-चिह्न लगानेवाले बुद्धिवादी सज्जनों को अपनी मान्यता पर पुनर्विचार करने की प्रेरणा देता है।

कृष्ण के व्यक्तित्वविषयक इस प्रकार की भ्रान्तियों का मूल कारण उसकी व्यापकता तथा बहुआयामी रूप है। पुराणों में वे राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, धर्म-संस्थापक तथा रसिक—इन चार रूपों में हमारे सामने आते हैं। कहना न होगा कि मध्यकालीन भक्तों ने उनके धर्म-संस्थापक तथा रसिक रूप को प्रधानता देने के बावजूद शेष दोनों रूपों को भी पर्याप्त मान्यता दी है और उन्हें आधार बनाकर रचनाएँ की हैं।

इसी क्रम में कोश-योजना के मूलाधार भक्तों की पहचान तथा परिभाषा के विषय में भी विचार कर लेना उचित होगा। तत्त्व-चिन्तकों के अनुसार इस सम्बन्ध में कोई बाहरी कसौटी निर्धारित नहीं की जा सकती। रूप-सौन्दर्य, वेश-भूषा, बात-व्यवहार, त्याग-तप, विद्वत्ता, वक्तृत्व-शक्ति, स्वर-माधुर्य, काव्य-प्रतिभा आदि लौकिक गुण भक्त-स्वभाव के आवश्यक अंग नहीं हैं। इसके विपरीत सांसारिक दृष्टि से निंद्य आचार-विचार का व्यक्ति भी सन्तत्व से मण्डित हो सकता है। वस्तुतः सन्त को पहचानना एक दुष्कर व्यापार है। तुलसीदास के नाम से एक दोहा प्रचलित है :

---

[१] मनीषी की लोकयात्रा—डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह, पृष्ठ १५-१६।

जो कोउ कहै संत हम चीन्हा । तुलसी कान हाथ दै लीन्हा ॥

अर्थात् यदि कोई यह कहे कि मुझे भक्त की पहचान है, तो कानों को हाथ से ढँक लेना चाहिए, जिससे यह महाअसत्य वाणी सुनाई न पड़े ।

इसी प्रसंग से सम्बद्ध उनके एक अन्य दोहे में सन्तों की पहचान भी स्पष्ट कर दी गई है—

तुलसी जिनके मुखन्हते, धोखेहु निकसै राम ।
तिनके पग की पानही, मोरे तन को चाम ।।

ये पंक्तियाँ गोस्वामी तुलसीदास को हों या उनके नामराशि किसी अन्य भक्त की, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता—इसलिए कि 'मरा-मरा' और 'हराम' कहनेवालों को परम पद देनेवाले भगवान् भी इसकी साखी भरते हैं । अतः कोश में ऐसे सभी व्यक्तियों को स्थान दिया गया है, जिन्होंने किसी रूप या स्थिति में श्री कृष्ण अथवा श्री राधा का भावपूर्वक नाम-स्मरण, रूप-ध्यान तथा लीला-गान किया है अथवा उनके धाम में निष्ठा व्यक्त की है ।

अवतारों एवं मुक्त आत्माओं की भाँति भक्तों की भी अनेक कोटियाँ हैं । सर्वोच्च स्थिति गुरु अथवा सद्गुरु-पदवाच्य है, जो गोविन्द से अभिन्न है । आचार्य, शिष्य आदि विभिन्न रूपों में यह अध्यात्म-जगत् का नियामक है, अक्षरब्रह्म अथवा स्वयंभगवान् कृष्ण की गोलोक-लीला का अभिन्न अंग तथा द्रष्टा है । आराध्ययुगल की प्रातिभासिक लीला का क्षेत्र इसीका हृदय है । प्रस्तुत ग्रन्थ में इस स्थिति को प्राप्त अनेक भक्तों के चरित संकलित हैं ।

सन्तों की संख्या अनन्त है । सबके चरित तथा रचनाएँ उपलब्ध होना संभव नहीं है । लोकेषणारहित अध्यात्म-साधकों में अपनी जीवन-गाथा लिपिबद्ध करने की परम्परा भी नहीं रही है । इसलिए अधिकांश एकान्त-साधकों के वृत्त उनकी लोकलीला-संवरण के कुछ ही दिनों बाद विस्मृति के गर्त में विलीन हो गये । साम्प्रदायिक पीठों से सम्बद्ध कुछ ही भक्तों के जीवनप्रसंग काल-प्रवाह में लुप्त होने से बच सके । अतः बहुत प्रयास करने पर भी हमारे सहयोगी लेखकों को अपेक्षित रूप एवं संख्या में उनकी उपलब्धि नहीं हो पायी ।

हमारा यह प्रयत्न रहा है कि भक्तों के जीवनवृत्त के साथ उनकी साधना-पद्धति का भी यथोपलब्ध परिचय दिया जाए । अनन्तस्वरूप भगवान् की प्राप्ति के अनन्त मार्ग हैं । उसीके अनुरूप उनके भक्तों के भी असंख्य पथ एवं अचिन्त्य भाव होते हैं । वे उन्हींके अनुसार उपास्यदेव से सम्बन्ध स्थापित करते हैं । भक्तवत्सल भगवान् उसे स्वीकार कर उन्हें तदनुरूप आनन्द प्रदान करते हैं और स्वयं भी उस रस का आस्वादन करते हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में इस कोटि के स्वरूपनिष्ठ भक्तों की प्रचुर गाथाएँ संकलित हैं । उनका श्रद्धापूर्ण अनुशीलन अन्तःकलुष-प्रक्षालन का उत्तम साधन बन सकता है ।

नित्यसिद्ध भक्तों के जीवन में भगवत्कृपा का प्रकाश अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है । हमारा यह प्रयास रहा है कि ऐसी अलौकिक घटनाओं का विवरण कम-से-कम दिया जाए और जो दिया जाए वह प्रामाणिक स्रोतों से संगृहीत हो । कोश में इस प्रकार के प्रेरक प्रसंगों के समावेश का मुख्य उद्देश्य पाठकों में आस्तिकता का प्रसार, सच्चे भक्तों के प्रति श्रद्धाभाव की प्रतिष्ठा तथा संस्कार-मार्जन रहा है । महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज ने अपने गुरुदेव परमहंस विशुद्धानन्द के अनेक चमत्कारपूर्ण कृत्यों को देखकर एक बार उनसे पूछा था :

"योगी के लिए अपनी शक्तियों अथवा विभूतियों का बाह्यप्रकाश करना उचित है या नहीं?" परमहंसजी का उत्तर था :

"जो शिक्षार्थी हैं उनके लिए योग की विभूतियों का प्रदर्शन अनुचित एवं हानिकारक है, किन्तु जो सिद्धयोगी अधिकारी बन गये हैं उनके लिए यह नियम नहीं है। साधारणतया लोग जिसको असम्भव समझते हैं वस्तुतः वह असम्भव होता नहीं। सिद्धयोगी के लिए कोई वस्तु असम्भव होती ही नहीं। शक्ति आयत्त होने पर सब कुछ हो सकता है; अघटन का घटन महाशक्ति के ही अधीन है।"[1]

इससे स्पष्ट विदित होता है कि साधना द्वारा दिव्य शक्तियों की प्राप्ति और उनका प्रदर्शन तत्त्वज्ञानी सन्तों की दृष्टि में आध्यात्मिक उत्कर्ष का अनिवार्य लक्षण नहीं है। उनकी महत्ता मानवता के प्रति अगाध करुणा, जीव-दया तथा अन्तर्दृष्टि में है। पृथ्वी पर निवास करते हुए भी वे भूलोकवासियों को दिव्यलोक का सन्देश देकर व्यष्टिजीवन में सन्तुलन तथा सामाजिक जीवन में समन्वय की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस ग्रन्थ में इस प्रकार के अनेक लोकसंग्रही महापुरुषों की जीवन-झाँकी मिलेगी।

प्रस्तुत ग्रन्थ की योजना बनाते हुए इन पंक्तियों के लेखक के सामने कोई आदर्श ग्रन्थ नहीं था। अपने साहित्य की प्रकृति तथा सांस्कृतिक आवश्यकता अनेक दृष्टियों से भिन्न होने के कारण विदेशी साहित्य-कोशों की पद्धति का अनुसरण अवांछनीय तथा असंगत होता। अतः इसके स्वरूप एवं निर्माण-प्रक्रिया का निश्चय स्वयं करना पड़ा। अनुभवहीनता के कारण उसमें अनेक दोष तथा कमियाँ हो सकती हैं। उनका निराकरण सहृदय अध्येताओं द्वारा दिये गये सुझावों के प्रकाश में, अवसर मिलने पर भविष्य में ही सम्भव हो सकेगा।

पाठकों की सुविधा के लिए प्रस्तुत योजना के कार्यान्वयन में अपनायी गयी पद्धति तथा निर्देशक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

१. इस ग्रन्थ में विभिन्न प्रदेशों के कृष्ण-भक्ति-साहित्य तथा भक्तों का परिचय कोशात्मक शैली में अक्षरक्रम से दिया गया है।

२. इसके अन्तर्गत मात्र यशःशेष भक्तों के वृत्त संकलित किये गये हैं। यदि आधार-स्रोतों की असावधानी से किसी विद्यमान भक्त का चरित आ गया हो तो उसे हरि-इच्छा मानकर सम्बद्ध जन क्षमा करेंगे।

३. अपेक्षित संख्या में भक्त-चरितों की प्राप्ति हेतु देश के सभी प्रदेशों के विद्वानों से पत्राचार किया गया था। अपनी स्थिति तथा प्रवृत्ति के अनुसार कुछ सज्जनों ने श्रम करके काफी सामग्री भेज दी, कुछ मौन रहे और कुछ भेजने का आश्वासन देकर भी न भेज सके। जिन क्षेत्रों से प्रचुर सामग्री प्राप्त होने की सम्भावना थी—वहाँ के एक साथ कई विद्वानों से सम्पर्क स्थापित किया गया। ऐसी दशा में अधिक मात्रा में चरित प्राप्त हो गये। इससे एक नई समस्या खड़ी हो गयी। वह थी विभिन्न सहयोगी लेखकों द्वारा लिखे गये एक ही भक्त के अनेक चरितों की प्राप्ति। इसका समाधान चयन-पद्धति द्वारा तथ्य एवं शैली को दृष्टि में रखते हुए किया गया है। ऐसा करते हुए यह ध्यान रखा गया है कि जिन सज्जनों से चरित-विशेष के निर्माण में सहायता ली गयी है उन सबका उसके लेखक रूप में यथास्थान उल्लेख कर दिया जाए। भक्तों के जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध में पाठकों को अधिक से-अधिक जानकारी प्राप्त हो सके, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उपर्युक्त प्रक्रिया अपनानी पड़ी। उदारचेता लेखक बन्धुओं से इसके लिए करबद्ध क्षमा-प्रार्थना है।

---

[1] मनीषी की लोक-यात्रा—डॉ॰ भगवतीप्रसाद सिह, पृष्ठ १३६।

४. सहयोगी लेखकों ने जो वृत्त भेजे हैं उनकी प्रामाणिकता पर पूरा ध्यान रखा गया है फिर भी यह असम्भव नहीं कि उनके अन्तर्गत कोई विवादास्पद अथवा निराधार तथ्य अनजाने आ गया हो। सूचना पाने पर अगले संस्करण में उनका संशोधन कर दिया जायगा।

५. भक्तों के चरित-संग्रह में ऐतिहासिक दृष्टि को प्रमुखता दी गयी है। फलतः प्रस्तुत कोश में उन्हीं भक्तों को सम्मिलित किया जा सका है जिनका जन्म-स्थान, साधना-भूमि, समय आदि प्रामाणिक रूप से ज्ञात हो।

६. इसमें निर्गुण-सगुण, शैव-शाक्त आदि मतों तथा जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई आदि विभिन्न धर्मों में आस्था रखनेवाले कृष्णप्रेमी भक्तों के साथ नीग्रो भक्त के भी चरित सम्मिलित किये गये हैं।

७. साम्प्रदायिक विवादों से बचते हुए तथ्यों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करना अपना उद्देश्य रहा है तथापि यदि प्रमादवश कहीं भूल हो गयी हो तो सम्बद्ध सम्प्रदाय के आचार्य महानुभाव तथा अनुयायी क्षमा करने की कृपा करेंगे।

८. हमारा यह आदर्श रहा है कि कोश में संगृहीत भक्त-चरित प्रामाणिक तथा साहित्यिक शैली में प्रस्तुत किये जायें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी जानकारी के अनुसार विभिन्न प्रदेशों के अधिकारी विद्वानों से सम्पर्क करके सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया। इस योजना का स्वागत करते हुए सम्पर्कित लेखकों में से अधिकांश ने व्यस्तता तथा व्यक्तिगत कठिनाइयों के बावजूद अपूर्व सहयोग प्रदान किया है। अनेक गण्यमान्य सज्जनों ने अथक श्रम करके दुर्लभ सामग्री उपलब्ध करायी है। हम यह दावा नहीं करते कि वे ही सम्बद्ध भाषा-क्षेत्र के तथा प्रस्तुत विषय के सर्वोत्कृष्ट विद्वान् हैं। ईश्वरीय विधान के अनुसार जिनकी सेवाएँ निश्चित थीं, वे प्राप्त हो गईं। अब वे ही हमारी निधि हैं :

सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय

९. सम्पादन-प्रक्रिया में लेखकों द्वारा भेजे गये अनेक चरितों को संक्षिप्त करना पड़ा। एकरूपता तथा अनुपात की दृष्टि से ऐसा करना अनिवार्य था। भक्तों के अपेक्षित महत्त्व को देखते हुए यत्र-तत्र इस नियम को शिथिल करना आवश्यक प्रतीत हुआ। किन्तु चरितों के आकार से उनके महत्त्व का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।

१०. अपनी ओर से काफी सावधानी बरतते हुए भी प्रस्तुत ग्रन्थ में मुद्रण की अनेक भूलें हो गयी हैं, जिनके लिए हमें खेद है। शुद्धि-पत्र यह जानकर नहीं दिया जा रहा है कि सामान्यतया उसका उपयोग नहीं किया जाता है। सुविज्ञ पाठक सुधारकर पढ़ लेंगे।

सम्पादन की इन सभी प्रक्रियाओं से गुजरते और निर्देशक सिद्धान्तों तथा पद्धतियों के कार्यान्वयन की कठिनाइयों से जूझते हुए अब मंजिल का पहला पड़ाव सामने है। मेरे लिए यह परम सन्तोष की बात है कि भक्तों की चरित-गंगा में मज्जन का अलौकिक आनन्द लेते हुए छः वर्षों का एक दीर्घ कालखण्ड पल की भाँति बीत गया। इस बीच अनेक दैहिक-भौतिक आपदाओं के झोंके आये किन्तु आरती की बाती अपनी अमन्द एवं अकंप ज्योति बिखेरती रही। लीलापुरुषोत्तम ने किसी प्रकार इस अपूर्व सारस्वत अनुष्ठान का प्रथम चरण पूरा कराया। संसार की दृष्टि से इसमें कितनी सफलता मिली, इसका निर्णय समय करेगा। किन्तु अपने लिए तो आद्योपांत यही साधन और सिद्धि दोनों बना रहा। इसलिए इसके विषय में सफलता-असफलता का प्रश्न ही नहीं उठता। गोपियों का यही अनुभव था—

हौं तो दुहूँ भाँति सुख पायो।
जौ ब्रजनाथ मिलैं तौ नीकौ, नातरु जग जस गायौ॥

प्रस्तुत कार्य की गरिमा के साथ ही हमें इसकी अनगिनत त्रुटियों का भी बोध है। साहित्यिक ग्रन्थों में इस प्रकार के स्खलनों के लिए पाठकों से औपचारिक क्षमा-प्रार्थना पर्याप्त मानी जाती है। किन्तु भक्त-भगवान की अर्चना हेतु निर्मित इस महाग्रन्थ की अनेकविध त्रुटियों के दण्डविधान से क्षमादान हमारा अव्यक्त पश्चात्ताप ही दिला सकेगा।

इस ग्रंथ के प्रथम खंड की सकुशल समाप्ति के लिए सर्वप्रथम हम अपने आदरास्पद सहयोगी लेखकों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। उनके द्वारा अत्यन्त श्रमपूर्वक संकलित सन्तों के दिव्य चरित-कणों से ही यह देवालय निर्मित हो सका है।

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त सामग्री के परिमार्जन, प्रतिलिपि, टंकण, प्रूफ-संशोधन, सज्जा आदि कार्यों में हमारे अनेक स्नेहियों, सुहृदों तथा अन्तेवासियों ने अत्यंत आत्मीयतापूर्ण सहयोग दिया है, शाब्दिक कृतज्ञता-ज्ञापन उस ऋणभार से मुक्ति पाने का मात्र एक तुच्छ साधन होगा। संगृहीत सामग्री को मुद्रणप्रति का रूप देने में मेरे आत्मीय डॉ० वासुदेव सिंह ने अपूर्व योगदान किया है। उनके श्रम तथा निष्ठासमन्वित सहयोग के बिना यह कार्य इतनी शीघ्रता और उत्तमता से कदाचित् ही सम्पन्न हो पाता। सह-सम्पादक के रूप में उनके द्वारा दी गयी सहायता के लिए कृतज्ञता अथवा धन्यवादज्ञापन अपने अधिकार तथा कर्तव्यक्षेत्र के बाहर की बात होगी।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवा-संस्थान के अध्यक्ष भागवत-तत्त्वज्ञ स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज तथा न्यासमण्डल के सम्मान्य सदस्यों का उदारतापूर्ण सहयोग योजना का अन्यतम सम्बल रहा है। उसके अभाव में इसका आकार-ग्रहण सम्भव न हो पाता। श्री जयदयाल डालमिया के संरक्षण औरश्रीमती अरुणा डालमिया के सयोजकत्व में इस योजना का जिस आस्था से संचालन हुआ, अन्ततः वही इसकी सफल परिणति का कारण बना। ग्रन्थ-निर्माण सम्बन्धी उनकी भावना को मूर्तरूप प्रदान करने में हमें श्री कृष्णचन्द्र अग्रवाल का सहयोग अनवरतरूपेण प्राप्त होता रहा, इसका ऋणभार धन्यवाद देकर उतारने का प्रयास करना कृतघ्नता होगी।

आशा है, विस्मृति के गर्त में विलीन होती हुई श्रीकृष्ण-जन्म-भूमि के पुनरुद्धार में सहायक इन पुण्यात्माओं के तत्त्वावधान में निर्मित 'राधाकृष्ण भक्तकोश' दिव्यदम्पति के 'वाङ्मय' प्रसाद रूप में अनन्तकाल तक श्रद्धालुओं का भावपोषण करता रहेगा।

श्रद्धेय राधाबाबा की प्रेरणा से ही इस अपूर्व आकर-ग्रन्थ की योजना बनी और उन्हींकी कृपा से यह प्रकाश में आया—ऐसे स्वरूपनिष्ठ सन्त के प्रति इस क्षुद्र निमित्त द्वारा आभार-प्रदर्शन अशिष्टता होगी।

शिवम् प्रिन्टर्स के संचालक श्री हरिप्रसाद निगम ने इसका सुरुचिपूर्ण मुद्रण तथा अलंकरण जिस आत्मीयता के साथ किया है वह उनका स्वभावसिद्ध गुण है। उसके द्वारा ग्रन्थ का आकर्षण बढ़ाकर उन्होंने हमें उपकृत किया है।

सन्त-चरणों के निर्देश और लीलाविहारी की अहैतुकी कृपा से जो कुछ और जैसा बन सका श्रद्धालुओं की सेवा में सादर अर्पित है।

वसन्त पञ्चमी, सं० २०४३
साकेत, बेतियाहाता, गोरखपुर

भगवतीप्रसाद सिंह

योजना का स्वरूप

प्रथम खण्ड

१. प्रस्तावना : भारतीय संस्कृति में श्रीकृष्ण
२. असम में कृष्ण-भक्ति का विकास : असम के कृष्ण-भक्त
३. उड़ीसा में कृष्ण-भक्ति का विकास : उड़ीसा के कृष्ण-भक्त
४. उर्दू-काव्य में कृष्ण-भक्ति : उर्दू के कृष्ण-भक्त कवि
५. कर्नाटक में कृष्ण-भक्ति का विकास : कर्नाटक के कृष्ण-भक्त
६. कश्मीर में कृष्ण-भक्ति का विकास : कश्मीर के कृष्ण-भक्त
७. गुजरात में कृष्ण-भक्ति का विकास : गुजरात के कृष्ण-भक्त

द्वितीय खण्ड

१. तमिलनाडु में कृष्ण-भक्ति का विकास : तमिलनाडु के कृष्ण-भक्त
२. तेलुगु (आन्ध्र) प्रदेश में राधाकृष्ण-भक्ति का विकास : तेलुगु (आन्ध्र) के राधाकृष्ण-भक्त
३ नेपाल में कृष्ण-भक्ति का विकास : नेपाल के कृष्ण-भक्त
४. पंजाब में राधाकृष्ण-भक्ति का विकास : पंजाब के राधाकृष्ण-भक्त
५. बंगाल में राधाकृष्ण-भक्ति का विकास : बंगाल के राधाकृष्ण-भक्त

तृतीय खण्ड

१. मणिपुर में राधाकृष्ण-भक्ति का विकास : मणिपुर के राधाकृष्ण-भक्त
२. मलयालम (केरल) में कृष्ण-भक्ति का विकास : केरल के कृष्ण-भक्त
३. महाराष्ट्र में कृष्ण-भक्ति का विकास : महाराष्ट्र के कृष्ण-भक्त
४. मिथिला में राधाकृष्ण-भक्ति का विकास : मिथिला के राधाकृष्ण-भक्त
५. संस्कृत का राधाकृष्ण-भक्ति-साहित्य : संस्कृत के राधाकृष्ण-भक्त कवि
६. सिंध में राधाकृष्ण-भक्ति का विकास : सिंध के राधाकृष्ण-भक्त

चतुर्थ खण्ड तथा पञ्चम खण्ड

१. हिन्दी में राधाकृष्ण-भक्ति का विकास : हिन्दी के राधाकृष्ण-भक्त

चरित-लेखक-सूची

प्रथम खण्ड

असमिया

१. डॉ० ताराकान्त झा—गौहाटी (असम)
२. डॉ० नवीनचन्द्र शर्मा—गौहाटी (असम)
३ श्री नवारुण वर्मा—गौहाटी (असम)

उड़िया

१. डॉ० नीलमणि मिश्र—भुवनेश्वर (उड़ीसा)
२. डॉ० शंकरलाल पुरोहित—भुवनेश्वर (उड़ीसा)
३. डॉ० अजयकुमार पटनायक—कटक (उड़ीसा)

उर्दू

१. डॉ० सलाम संदीलवी—गोरखपुर (उ० प्र०)
२. डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह—संपा० गोरखपुर (उ० प्र०)
३. डॉ० ज़हीर हसन—मथुरा (उ० प्र०)
४. डॉ० सैयदअली जैदी—वाराणसी (उ० प्र०)

कन्नड़

१. डॉ० एन० एस० दक्षिणामूर्ति—मैसूर (कर्नाटक)
२. सुश्री भा० य० ललिताम्बा—बँगलोर (कर्नाटक)

कश्मीरी

१. डॉ० रामदयाल कटारा—श्रीनगर (जम्मू-कश्मीर)
२. डॉ० (श्रीमती) कृष्णा रैना—शिमला (हिमाचल प्रदेश)

गुजराती

१. श्री पं० के० का० शास्त्री—अहमदाबाद (गुजरात)
२. डॉ० अंबाशंकर नागर—अहमदाबाद (गुजरात)
३. डॉ० मणिभाई ई० प्रजापति—द्वारका (गुजरात)
४. श्री लक्ष्मण पिंगलशी गढ़वी—जामनगर (गुजरात)
५. डॉ० अंबाप्रसाद शुक्ल—अहमदाबाद (गुजरात)
६. डॉ० रघुवीर चौधरी—अहमदाबाद (गुजरात)
७. डॉ० नरेश पंड्या—पोरबंदर(गुजरात)
८. डॉ० (श्रीमती) अरुणा शुक्ला—बड़ोदा (गुजरात)
९. डॉ० (श्रीमती) छाया तिवारी—दिल्ली

द्वितीय खण्ड

तमिल

१. डॉ० हरिहरदुरै स्वामी—मद्रास (तमिलनाडु)
२. डॉ० (कु०) के० ए० जमुना—दिल्ली

तेलुगु

१. प्रो० ए० बी० साईंप्रसाद—मद्रास (तमिलनाडु)
२. डॉ० राजशेष गिरिराव—वाल्टेयर (आ० प्र०)

नेपाली

१. डॉ० डिल्लीराम तिमसिना—वाराणसी (उ० प्र०)

पंजाबी

१. डॉ० शमीर सिंह—अमृतसर (पंजाब)
२. डॉ० मनमोहन सहगल—पटियाला (पंजाब)
३. डॉ० रामप्रकाश गुप्त—दिल्ली

बंगला

१. प्रो० सुकुमार सेन—कलकत्ता (बंगाल)
२. डॉ० दयानन्द श्रीवास्तव—कलकत्ता (बंगाल)

तृतीय खण्ड

मणिपुरी

१. डॉ० जे० एम० सिंह—इम्फाल (मणिपुर)

मराठी

१. डॉ० प्रह्लाद नरहरि जोशी—पूना (महाराष्ट्र)

मलयालम

१. डॉ० रामन नायर—कोचीन (केरल)
२. डॉ० (श्रीमती) एस० तंकमणि अम्मा—त्रिवेन्द्रम (केरल)

मैथिली

१. डॉ० राधाकृष्ण चौधरी—भागलपुर (बिहार)
२. डॉ० मोहनानन्द मिश्र—वैद्यनाथधाम-देवघर (बिहार)

संस्कृत

१. डॉ० अमरनाथ पाण्डेय—वाराणसी (उ० प्र०)
२. डॉ० श्याम शर्मा वाशिष्ठ—अलवर (राजस्थान)

सिंधी

१. डॉ० घनश्याम टी० तोलानी—नासिक (महाराष्ट्र)

चतुर्थ तथा पञ्चम खण्ड

हिन्दी

१. डॉ० अवधेश्वर अरुण—मुजफ्फरपुर (बिहार)
२. डॉ० आत्माराम शर्मा—दिल्ली
३. डॉ० आनन्दमंगल बाजपेयी—डीडवाना (राजस्थान)
४. डॉ० ओमप्रकाश अवस्थी—फतेहपुर (उ० प्र०)
५. श्री कंठमणि शास्त्री—नाथ द्वारा (राजस्थान)
६. श्री किशोरीशरण अलि—वृन्दावन (उ० प्र०)
७. डॉ० कृष्णचन्द्र लाल—गोरखपुर (उ० प्र०)
८. डॉ० गंगाप्रसाद बरसैयाँ—छतरपुर (म० प्र०)
९. डॉ० गजानन मिश्र—अलवर (राजस्थान)
१०. डॉ० गणेशदत्त सारस्वत—सीतापुर (उ० प्र०)
११. डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल—अलीगढ़ (उ० प्र०)
१२. डॉ० जगदीशनारायण सिंह—पचपेड़वा, गोंडा (उ० प्र०)
१३. श्री जगदीशशरण सिंह—कानपुर (उ० प्र०)
१४. श्री जगमोहनसिंह परिहार—जोधपुर (राजस्थान)
१५. श्री जयदयाल डालमिया—नयी दिल्ली
१६. डॉ० तपेश्वरनाथ—भागलपुर (बिहार)
१७. डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे—सुलतानपुर (उ० प्र०)
१८. डॉ० त्रिभुवननाथ शुक्ल—जबलपुर (म० प्र०)
१९. डॉ० त्रिलोकीनाथ सिंह—लखनऊ (उ० प्र०)
२०. डॉ० द्वारकाप्रसाद मीतल—झाँसी (उ० प्र०)
२१. डॉ० नरेशचन्द्र बंसल—कासगंज, एटा (उ० प्र०)
२२. डॉ० नर्मदाप्रसाद गुप्त—छतरपुर (म० प्र०)
२३. श्री स्वामी निष्कंचन—वृन्दावन (उ० प्र०)
२४. डॉ० प्रेमचन्द्र सिंह—पड़रौना, देवरिया (उ० प्र०)
२५. डॉ० प्रेमनारायण श्रीवास्तव—वृन्दावन (उ० प्र०)
२६. डॉ० प्रभुदयाल मीतल—मथुरा (उ० प्र०)
२७. डॉ० ब्रह्मानन्द—कुरुक्षेत्र (हरियाणा)
२८. डॉ० मनहरगोपाल भार्गव—मिर्जापुर (उ० प्र०)
२९. डॉ० योगेन्द्रप्रताप सिंह—इलाहाबाद (उ० प्र०)
३०. डॉ० रामकृष्ण शर्मा—कासगंज, एटा (उ० प्र०)

३१. श्री रामनारायण उपाध्याय—खंडवा (म० प्र०)
३२. डॉ० रामप्रकाश कुलश्रेष्ठ—जयपुर (राजस्थान)
३३. डॉ० राधिकाप्रसाद त्रिपाठी—फैजाबाद (उ० प्र०)
३४. डॉ० राजेन्द्रकुमार वर्मा—इलाहाबाद (उ० प्र०)
३५. डॉ० राममोहन पांडेय—वाराणसी (उ० प्र०)
३६. डॉ० रामेन्द्र पांडेय—रायबरेली (उ० प्र०)
३७. डॉ० लक्ष्मणसिंह विष्ट—नैनीताल (उ० प्र०)
३८. श्री ललिताचरण गोस्वामी—वृन्दावन (उ० प्र०)
३९. श्री लल्लनप्रसाद व्यास—दिल्ली
४०. डॉ० वासुदेव सिंह—वाराणसी (उ० प्र०)
४१. डॉ० विजयेन्द्र स्नातक—दिल्ली
४२. डॉ० विनयकुमार पाठक—रायपुर (म० प्र०)
४३. श्री ब्रजवल्लभशरण—वृन्दावन (उ० प्र०)
४४. डॉ० शरणबिहारी गोस्वामी—वृन्दावन (उ० प्र०)
४५. डॉ० शिवनारायण शुक्ल—बलरामपुर (उ० प्र०)
४६. श्री श्यामबिहारी खंडेलवाल—भरतपुर (राजस्थान)
४७. डॉ० सदानन्द गुप्त—गोरखपुर (उ० प्र०)
४८. डॉ० श्रवणकुमार गोस्वामी—राँची (बिहार)
४९. डॉ० सत्येन्द्र प्रताप सिंह—गोरखपुर (उ० प्र०)
५.० डॉ० सुरेन्द्र शर्मा—वृन्दावन (उ० प्र०)
५१. डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित—लखनऊ (उ० प्र०)
५२. डॉ० (श्रीमती) हर्षनन्दिनी भाटिया—अलीगढ़ (उ० प्र०)
५३. श्री हितसुकुमारीलाल गोस्वामी—वृन्दावन (उ० प्र०)
५४. डॉ० हौसलाप्रसाद सिंह—सागर (म० प्र०)

विषय-सूची

प्रस्तावना : भारतीय संस्कृति में श्रीकृष्ण : १–१७८

भगवान् कृष्ण की पुरालेख प्रशस्तियाँ (प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी) १, श्रीकृष्ण सम्बन्धी आरम्भिक पुरा-साक्ष्य (डॉ० रमेशचन्द्र शर्मा) ७, कृष्ण-कथानक विषयक दो प्राचीन काष्ठ-शिल्प (श्री अरविन्दकुमार श्रीवास्तव) १६, श्रीकृष्ण जन्म-स्थान-सम्बन्धी प्राचीन कलावशेष (श्री अरविन्दकुमार श्रीवास्तव) १७, वास्तुशिल्प में कुछ महत्त्वपूर्ण कृष्णांकन (श्री शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी) २०, श्रीकृष्ण की प्रतिमाएँ (डॉ० गोपाल शर्मा) २३, श्रीकृष्ण-जन्मभूमि अथवा कटरा केशवदेव (डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल) २७, श्रीकृष्ण-जन्मभूमि—मथुरा का पुनरुद्धार एवं विकास (विष्णुहरि डालमिया) ३३, अष्टछाप के स्वरसाधकों का कृष्णार्चन (डॉ० विश्वनाथ शुक्ल) ३९, भारतीय चित्रकला में कृष्ण-चरित (डॉ० जयसिंह नीरज) ४५, कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् (जगद्गुरु शंकराचार्य श्री भारतीकृष्णतीर्थ) ४९, मधुर ब्रह्म (स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती) ५८, जैन-परम्परा में श्रीकृष्ण (डॉ० राजेन्द्रकुमार वर्मा) ६२, बौद्ध-वाङ्मय में कृष्ण-कथा (डॉ० लक्ष्मीनारायण तिवारी) ८४, अपभ्रंश में कृष्ण-काव्य (डॉ० मुरारीलाल शर्मा 'सुरस') १००, श्रीकृष्णतत्त्व (म० म० पं० गोपीनाथ कविराज) ११३, जगज्जननी श्रीराधा : आविर्भाव तथा अवतरण (स्वामी चक्रधर 'राधाबाबा') १२८, जगद्गुरु श्रीकृष्ण (श्री जी० वी० केतकर) १३४, श्रीराधा का स्वरूप-तत्त्व (श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार) १४१, श्रीमद्भागवत में श्रीराधा (पं० बालचन्द शास्त्री) १४९, श्रीकृष्ण-चरित्र की समीक्षा (प्रो० फीरोज कावसजी दावर) १५०, महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन और भागवत-धर्म (श्री अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय) १६१, श्रीकृष्ण ही भारतवर्ष की आत्मा हैं (श्री विपिनचन्द्रपाल) १६८, बृहद् भारत में श्रीकृष्ण-चरित (डॉ० शारदा रानी) १७०, भागवत के रत्नकण (म० म० डॉ० गङ्गानाथ झा) १७२, अर्वाचीन भारत के प्रति श्रीकृष्ण का सन्देश (मोहम्मद हाफ़िज़ सैयद) १७३, भारतीय संस्कृति का आदर्श : समता तथा अखंड मानवता १७८।

असम में कृष्ण-भक्ति का विकास : १–१५

डॉ० ताराकान्त झा

असम के कृष्ण-भक्त : १७–७२

अच्युत गुरु १७, अनन्त कन्दलि १७, अनन्त कायस्थ १८, अनिरुद्ध देव (कायस्थ) १९, अर्जुनदेव २०, उदितराम देव २१, कंसारि २१, कनकलता आइ २१, कलापचन्द्र द्विज २२, कविरत्न वैकुण्ठनाथ भागवत भट्टाचार्य २३, कृष्ण भारती २४, कृष्णाचार्य २५, केशव कायस्थ २५, केशवचरण आता २५, केशवचरण कायस्थ २५, कैवल्यनन्दन देव २६, गोपालचरण द्विज २६, गोपाल देव २७, गोपालदेव आता २८, गोपीनाथ पाठक २८, गोविन्द गड़मणि (गोविन्द आतै) २९, गोविन्द मिश्र २९, चक्रपाणि आतै (वृन्दावनदास) २९, चतुर्भुज कायस्थ ३१, चतुर्भुज ठाकुर ३१, चाँद साँइ ३१, जगदानन्द ३२, जगवन्दन देव ३२, जयनारायण ३२, जयराम आतै ३२, जयहरि देव ३२, जयहरि यवन ३२, दामोदर देव ३२, दैत्यारि ठाकुर ३४, नरहरि आतै ३५, नरोत्तम आतै ३५, नारायणदास ठाकुर आता ३५, नारायण देव ३५, नित्यानन्द देव ३६, निरंजन देव ३७, निर्मलचन्द्र देव ३७, नीलकण्ठ दास ३८, पद्म आता ३८, पद्मप्रिया ३९, परमानन्द आतै ३९, परमानन्द ठाकुर ३९,

पुरुषोत्तम ठाकुर ३९, प्रेमभूषण देव ४०, बरयदुमणि देव ४०, बलदेव ४१, बलराम द्विज ४१, ब्रजरंजन देव ४१, भगवानचन्द्र देव ४२, भद्रधारु ४२, भगवान् देव ४२, भागवत आचार्य ४२, भागवत मिश्र ४३, भूषण द्विज ४३, मथुरादास बूढ़ा आता ४४, मधाई आतै ४४, माधव देव ४४, मिश्रदेव ४७, यदुमणि देव ४७, रतिकान्त द्विज ४७, रत्नाकर कन्दली ४८, रमाकान्त आता ४८, रमाकान्त द्विज ५०, रमानन्द द्विज ५०, रामगोपाल ५१, रामचन्द्र आता ५१, रामचरण ठाकुर ५१, रामदेव गोस्वामी ५२, रामनाथ ५२, रामराय द्विज ५२, रामसरस्वती ५३, रामानन्द देव ५४, रामानन्द द्विज ५०, लक्ष्मीदेव ५५, लचाकणीया गोविन्द आतै ५६, वंशीगोपाल देव ५६, वनमाली देव ५७, बल्लभचन्द्र देव ५८, वाणेश्वर द्विज और दिवाकर द्विज ५९, विद्यानन्द द्विज (ओझा) ५९, विष्णुदेव गोस्वामी ५९, विष्णुभारती ६०, वृन्दावन चन्द्रदेव ६०, शंकरदेव ६०, श्रीकृष्ण मिश्र ६६, श्रीधर कंदली ६७, सनातनदेव ६८, सार्वभौम भट्टाचार्य ६८, हरिदेव गुरु ६९, हरिनारायण द्विज ७०, हरिराम देव ७१, हरिहर आता ७२ ।

उड़ीसा में राधाकृष्ण-भक्ति का विकास : ७३-९४

डॉ० नीलमणि मिश्र, डॉ० शंकरलाल पुरोहित, डॉ० अजयकुमार पटनायक

उड़ीसा के कृष्ण-भक्त : ९५-२३६

अगणि नायक ९५, अच्युतानन्ददास ९५, अधर पटनायक ९८, अनन्त आचार्य ९८, अभिमन्यु सामन्त सिंहार ९८, अभिराम परमहंस १००, अमृतवाणी दास १०१, अरक्षित दास १०१, आखण्डलदास १०१, आर्तदास १०१, ईश्वरदास १०३, उद्धवदास १०४, उपेन्द्र भंज १०४, कपिलनरेश १०५, करुणाकर दास १०६, करुणाकर पटनायक १०६, कल्पलता जेमा १०६, कवि लक्ष्मण १०६, कविचन्द्र रामकृष्ण १०७, कविसूर्य बलदेव रथ १०७, कान्हु खुण्टिया १०८, कान्हुचरण १०९, कार्तिकदास १०९, कालीचरण दास ११०, कालीचरण पटनायक ११०, किशोरचन्द्र राजेन्द्र ११२, किशोर दास ११२, कुञ्जबिहारी भ्रमरवर ११२, कुलमणि राजेन्द्र ११२, कृपामय देव ११२, कृपासिन्धु दास ११२, कृष्णचन्द्र कर ११३, कृष्णचन्द्र राजेन्द्र ११३, कृष्णदास ११३, कृष्णदास बाबाजी ११३, कृष्णशरण ११४, कृष्णसिंह ११५, केदारनाथ दत्त ११५, गंगाधर दास ११६, गंगाधर मेहेर ११६, गंगामाता ११७, गदाधर द्विज ११८, गदाधर पण्डित, ११८, गणेश मिश्र ११८, गुणमणि सुत १२०, गोदावरी गोसाँई १२०, गोपालकृष्ण पटनायक १२०, गोपाल तेलंगा १२१, गोपालदास १२१, गोपीनाथ दास १२१, गोवर्धन महापात्र १२२, गोविन्ददास १२२, गोविन्द भंज १२३, गोविन्दराय गुरु १२३, गोविन्दशूर देव १२३, गौरचरण अधिकारी १२३, गौरहरि दास १२४, गौरांगदास १२५, गौरीदास १२५, घनश्याम कर १२५, चन्दन हजूरी १२६, चन्द्रमणि दास १२६, चन्द्रशेखर मिश्र १२६, चन्द्रशेखर सिंह १२७, चन्द्रशेखरसिंह सामन्त १२७, चक्रपाणि पटनायक १२८, चक्रपाणिराज (सिंह) १२८, चाँद कवि १२८, चिन्तामणि महान्ती १२९, चैतन्यदास १२९, जगन्नाथदास (अतिबड़) १२९, जगन्नाथ दास (शिष्य) १३३, जगन्नाथ नारायण देव १३३, जगन्नाथ पाणि १३४, जदुमणि महापात्र १३४, जनार्दन पति १३४, जनार्दन पुजारी १३५, जनार्दन षण्ड १३५, तिलछ महापात्र १३५, त्रिपुरारि दास १३७, दनाई दास १३७, दशपल्ला युवराज १३८, दामोदर दास १३८, दामोदर दास (द्वितोय) १३९, दामोदरद्विज १३९, दामोदर पटनायक १४०, दाशरथी दास १४०, दिनमणि १४१, दिवाकर दास १४२, दिव्यसिंह देव

१४३, दीनकृष्ण दास १४३, दीनबन्धु पडंगा १४६, दीनबन्धु हरिचन्दन १४६, दुःखी श्याम १४६, देवदुर्लभ दास १४७, देवानन्द दास १४८, द्वारिकादास १४८, द्वारिकावल्लभ दास १४९, द्विज पद्मनाभ १४९, धनंजय भंज १४९, धरणीधर मिश्र १५०, नन्ददास १५१, नारायण दास १५१, नारायण देव १५२, नारायण पटनायक १५२, नीलकण्ठ भंज १५३, नीलाम्बर दास १५३, नृसिंह पटनायक १५३, नृसिंह भ्रमरवर १५३, पंकजचरण दास १५३, पतितपावन पटनायक १५४, पद्मचरण दास १५४, पद्मदास १५५, पद्मनाभ अनंग भीमदेव १५५, पद्मनाभ श्रीचन्दन १५५, परशुराम बिहारी १५५, पार्वतीचरण दास १५६, पिण्डीक श्रीचन्दन १५६, पीताम्बर दास १५६, पुरुषोत्तम अनंगभीमदेव १५७, पुरुषोत्तम दास १५८, प्रतापरुद्र देव १५९, फकीर भंज १६०, बन्धु महान्ती १६०, बजरीदास (प्रथम) १६२, बजरीदास (द्वितीय) १६२, बलदेव विद्याभूषण १६३, बलराम दास १६४, बलराम दास (द्वितीय) १६६, बामनि महापात्र १६७, बाया बाबा १६७, बालिगाँ दासिया १६७, बिछन्दचरण पटनायक १६९; बिहारी दास १६९, बिहारीदास (द्वितीय) १७०, बैकुण्ठनाथ ब्रह्मचारी १७१, ब्रजनाथ बड़जेना १७२, ब्रजबिहार श्रीचंदन १७४, ब्रजराज सिंह देव १७४, भक्त चरणदास १७५, भक्तिसिद्धान्त सरस्वती १७७, भगवानदास गोस्वामी १७२, भगवानदास बाबाजी १७९, भागीरथी रणा १८०, भिखारीचरण पटनायक १८०, भीम (सेन) दास १८०, भीमा धीवर १८१, भूपति पण्डित १८१, मणि दास १८२, मधु दास १८३, मधुसूदन दास १८३, मर्दराजराय सिंह १८३, महादेव दास १८४, महेन्द्रसिंह सामन्त १८४, महेश्वरराय गोस्वामी १८५, माधव महाराज १८५, माधवी दासी १८६, मानगोविन्द ओता १८७, मार्कण्डेय दास १८७, मुकुन्द देव १८८, यदुमणि महापात्र १८८, यशोवंत दास १८९, रघु अरक्षित १९१, रघुनाथ भंज १९२, रघुनाथ परिछा १९३, रघु बेहेरा १९३, रघुनाथ राजगुरु महापात्र १९४, रसानन्द १९४, रसिकानन्द १९५, राजकवि कृष्णचन्द्र सिंह १९५, राजकवि नटवर भ्रमरवर १९५, राज हरिचन्दन (दीनबन्धु) १९६, राजा पद्मनाभ श्रीचन्दन १९७, राजा रघुनाथ जगदेव १९७, राजा रघुनाथ हरिचन्दन १९८, राजा त्रिविक्रम भंज १९८, राधाप्रिया देवी १९८, राधिकामणि देवी १९९, रामकृष्ण पटनायक १९९, रामचन्द्र १९९, रामचन्द्र दास २००, रामचन्द्र देव (प्रथम) २००, रामचन्द्र देव (द्वितीय) २००, रामदास २०१, राय रामानन्द २०१, लक्ष्मीकान्त महापात्र २०३, लक्ष्मीप्रिया ठकुराणी २०३, लोकनाथ दास २०४, लोकनाथ पटनायक २०५, वंशीवल्लभ गोस्वामी २०६, वनमाली दास (पटनायक) २०६, वनमाली दास (शिष्य) २०९, वल्लभनारायण बेहेरा महापात्र २०९, विक्रमदेव वर्मा २०९, विश्वम्भर राजेन्द्र देव २१०, विश्वनाथ खुण्टिया २१०, विष्णु दास २११, वृन्दावन दास २१२, वृन्दावती दासी २१२, वेणुधर (वैष्णवचरण दास) २१३, वैद्यहरि २१४, वैष्णव पाणि २१४, शरणदास २१५, शिशु अनन्त दास २१५, शिशु शंकरदास २१६, श्यामकिशोर २१६, श्यामकिशोर हरिचन्दन २१७, श्यामसुन्दर देव २१७, श्यामानन्द २१७, सत्यवादी नायक २१८, सदानन्द कविसूर्य ब्रह्मा २१८, सनातन दास २२१, सारला दास २२१, सारियाभिक २२४, सालबेग २२५, सिद्ध हरिदास २२७, सीमाद्रि पटनायक २२७, सुलक्षणा पटनायक २२८, सोमनाथ सिंह जगदेव २२८, श्रीधर स्वामी २२९, श्रीनिवास राजमणि २३०, श्रीहरिदास २३०, हनुमान राय गुरु २३२, हरिकृष्ण राज २३२, हरिगोपाल दास २३३, हरिबंधु बेवर्ता २३३, हरिवंश दास २३४, हरि (वैद्य) २३४, हाड़ी दास २३४।

२३७-२४८

उर्दू का कृष्ण-भक्ति-काव्य :
डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह, डॉ० सलाम संदीलवी २४९-२८६

उर्दू के कृष्ण-भक्त कवि :
अख्तर शीरानी २४९, अनवर मियाँ २४९, मौलाना अफ़क़र मोहानी २५०, अफ़सोस 'मेरठी' २५०, अब्दुल असर 'हफ़ीज़' जालन्धरी २५१, अब्दुल खालिक़ 'निहाल' सीवहारवी २५१, (क़ाज़ी) अशरफ़ महमूद २५१, (मौलाना) 'आज़ाद' अज़ीमाबादी २५२, (शेख़) आशिक़ हुसेन 'सीमाब' अकबराबादी २५३, (सैयद) इंशा अल्लाह खाँ 'इंशा' २५५, इब्नुल हसन 'फ़िक्री' २५७, (क़ाज़ी) इहसानुलहक़ 'इहसान-बिनदानिश' २५८, क़ाज़िम २५८, (सैयद) कासिम अली 'अली' २५८, गुलाम मुस्तफ़ा कुली खाँ 'यकरंग' २५९, (मौलाना) जफ़र अली खाँ २५९, ज़ामिन २६०, तालिबशाह 'तालिब' २६०, शाह तुराब अली 'तुराब' काकोरवी २६१, दाना २६२, नज़म २६२, नफ़ीस खलीली २६२, नबी २६३, निज़ामी २६४, (नवाब) न्यामत खाँ 'जान' २६४, (मौलवी सैयद) फ़खरुद्दीन २६५, (सैयद) फ़जलुल हसन 'हसरत' मोहानी २६६, 'फ़ैयाज़' ग्वालियरी २६७, (मिर्ज़ा) बाकर अली 'हसरत' २६८, 'बासित' बिसवानी २६९, वेदम वारसी २७०, मुहम्मद मक़सूद 'मक़सूद' २७०, (सैयद) मुहम्मद ज़ैदी 'तसव्वुर' लखनवी २७२, (मिर्ज़ा) मुहम्मद रफ़ी 'सौदा' २७२, मुहम्मद समर यार खाँ 'साग़र निज़ामी' २७३, मेहरबान २७५, मोहसिन काकोरवी २७५, मौजुद्दीन 'मौज' २७७, रसरंग २७७, (मौलवी) लतीफ़ हुसेन 'नटवर' २७७, वली मोहम्मद 'नज़ीर' अकबराबादी २७८, वहाब २८१, वाजिन्द २८१, शकील वदायूंनो २८२, शम्स वली अल्लाह 'वली' (दकनी) २८२, 'शाद' २८३, सनद २८३, सबा मथुरावी २८४, सलीम शहज़ाद २८५, सुलतान २८६, हाफ़िज़ २८६, हामिदुल्ला 'अफ़सर मेरठी' २८६ ।

कर्नाटक में कृष्ण-भक्ति का विकास २८७-२९६
डॉ० एन० एस० दक्षिणामूर्ति

कर्नाटक के कृष्ण-भक्त : २९७-३५६
अचलानन्ददास २९७, अच्युतदास २९९, अडवि रामदास २९९, आनन्ददास (सुरपुर के) २९९, कनकदास ३००, कुमार व्यास ३०३, गुरु गोपालविट्ठल ३०५, गोपालदास ३९६ चाटु विट्ठलनाथ ३०८, चिक्क देवराज ३०९, चिक्कुपाध्याय ३१०, चौण्डरस ३११, जगन्नाथ दास ३११, तिप्पणार्य (नवसाल पुरी) ३१३, तिम्मप्पदास ३१४, सुश्री तुंगम्मा ३१५, नरहरि तीर्थ ३१५, नारायणदास ३१७, पाण्डुरंगदास ३१८, पावंजे लक्ष्मीनार्णप्पय्या ३१९, पुरन्दरदास ३२०, पोलाल्व दण्डनाथ ३२४, प्रसन्न वेंकटराय ३२४, प्राणेशविट्ठल ३२६, वेलूर केशवदास ३२६, भाग्यनिधिविट्ठल ३२७, महोपतिराय ३२७, मोहनदास ३२८, राघवेन्द्रस्वामी ३२९, रुद्रभट्ट ३३०, लक्ष्मीश ३३२, वरदगोपाल विट्ठल ३३४, वादिराज ३३४, विजयदास ३३६, वेंकटरमणदास ३३८, वेंकटसुब्बदास ३३९, वेंकटेशविट्ठल ३३९, वेणुगोपाल विट्ठल ३४०, वैकुंठदास ३४१, व्यासतत्त्वज्ञ ३४३, व्यासविट्ठल ३४४, व्यासराय ३४५, सिरि वेंकटविट्ठल ३४८, श्रीनिवासदास ३४८, श्रीपति विट्ठल ३४९, श्रीपादराय ३५०, हरपनहल्ळि रामाचार्य ३५२, हेळवनकट्टे गिरियम्मा ३५३ ।

कश्मीर में कृष्ण-भक्ति का विकास : ३५७-३५९

डॉ० रामदयाल कटारा

कश्मीर के कृष्ण-भक्त : ३६०–३७२

अलक्षेश्वरी रूपभवानी ३६०, ठाकुरजी मनवटी ३६१, परमानन्द ३६१, भट्ट अवतार ३६७, मानजुवअतार ३६७, लक्ष्मण जू बुलबुल नागामी ३६८, श्रीकृष्ण राजदान ३७०, साहिब कौल ३७१।

गुजरात में कृष्ण-भक्ति का विकास : ३७३–४००

पं० के० का० शास्त्री, डॉ० अंबाप्रसाद शुक्ल, श्री लक्ष्मण पिंगलशी गढवी, डॉ० रघुवीर चौधरी

गुजरात के कृष्ण-भक्त : ४०१–६४८

अंबालाल भगत ४०१, अनन्तप्रसाद वैष्णव ४०१, अनुभवानन्द ४०४, अमथा भगत ४०५, अवधप्रसाद (अयोध्याप्रसाद) ४०५, अविचलदास ४०६, अविनाशानन्द ४०७, आदित्यराम ४०८, आधार भट्ट ४०९, आला कमा मालचडिया ४०९, इच्छाबाई ४१०, ईसरदास रोहडिया ४१०, उन्नडजी जाड़ेजा ४१४, उपेन्द्राचार्य नृसिहाचार्य ४१४, कटहरिया ४१५, करशनदास (क्रस्नाजी) छीपा ४१६, कलो ४१७, कल्याणजी ४१८, कहानदास ४१८, कहानजी घर्मसिह ४२०, काका वल्लभ ४२१, कान्ह राउल ४२१, काशीदास मोरारजी ४२१, काशीराम करशनजी बांभणियां ४२२, कीकु वसही ४२३, कुवेर ४२३, कुसुम वेन हरिहर भट्ट ४२४, कृष्णदास ४२५, कृष्णानन्द स्वामी ४२६, कृष्णाबाई ४२७, कृष्णाराम ४२७, केवळ कूबा ४२८, केशरबेन गोपालजी जोशी ४२८, केशवदास वाल्मीक कायस्थ ४२९, केशवदास वैष्णव ४३१, केशवराम ४३१, केशव लाल भट्ट ४३१, कोलबा भगत ४३८, गिरधर ४३३, गीगाभाई जेठाभाई गढ़वी ४३४, गुलाबदास ४३५, गोकुल ४३५, गोकुलदास ४३६, गोकुलदास द्वारकादास रायचुरा ४३६, गोपाल ४३७, गोपालदास ४३७, गोपालदास क्षत्री ४३२, गोपालदास परमहंस 'प्रेमसखी' ४४०, गोविन्द गीलाभाई ४४१, गोविन्द दास ४४१, गोविन्दराम ४४२, गोविन्द लाल (मौनी बाबा) ४४२, गौरी (गवरी) बाई ४४४, ज्ञानदास ४४६, चतुर्भुज (चतुर्मुख) ४४६, चाँद खाँ ४४७, चेतनदास ४४८, छोटमलाल बलदेवजी ४४८, जगजीवन ४५०, जगन्नाथ ४५०, जन भगवान ४५१, जन लक्ष्मीदास ४५१, जनार्दन ४५२, जनीबाई ४५२, जयराम ४५४, जसबा भगवानलाल ४५४, जानकीवाई ४५५, जामसुता जाडेचीजी श्रीप्रतापबाला ४५५, जीवणदास (दासी जीवण) ४५६, जीवन मस्तान ४५९, जीवन रोहडिया ४५९, जीवराम ४६०, जुगलदास ४६१, जेठाभाई उढाच ४६२, डोसो वेलाणी ४६४, त्रिकमदास ४६४, थार्यो भगत ४६६, थोभणदास ४६६, दयाराम ४६८, दयाराम खटाऊ शर्मा ४७५, (दरबार) दादा नाजा खाचर ४७६, दुलाभाई काग ४७७, देवचन्द (निजानन्दाचार्य) ४७८, देवानन्द स्वामी ४७८, देवा साहब ४८०, देवीदास गन्धर्व ४८१, देहल मिसण ४८२, द्वारकादास ४८२, द्वारका भगत ४८३, धनदास ४८४, धनराज ४८५, धर्मदास ४८५, धीरो भगत ४८६, नरभेराम ४८६, नरमणि ४८८, नरसिंह मेहता ४८९, नरहरिदास ४९६, नरहरिदास रोहडिया ४९७, नवरंग स्वामी ४९९, नाकर ५००, नाथ स्वामी ५००, नानो भट ५०१, नारायण ५०२, नारायण कवि ५०३, नारायण सिंह ५०३, नित्यानन्द स्वामी ५०३, निमानन्द ५०४, निर्मल देवी ५०४, निरांत ५०६, निष्कुलानन्द ५०८, नीलकंठ ५११, नृसिहाचार्य ५१२, पंचम सिंह ५१२, परमानन्द ५१२,

परबतदास ५१२, पालख पालीया ५१४, पिंगलशी पाताभाई नरेला (राजकवि) ५१५, पीपाजी ५१७, पुंजी बावो ५१८, पुनीत महाराज ५१९, पुरुषोत्तम ५१९, पूर्णानन्द स्वामी ५२०, प्राणनाथ ५२०, प्रीतमदास ५२५, प्रेमानन्द ५२९, प्रेमानन्द-प्रेमसखी ५३१, फूढ़ ५३५, बखता भाई देवका ५३६, बजमाल महेडु ५३६, बस्तो डोडियो ५३८, बलभद्र ५३९, बालकृष्ण ५३९, बालजी राम ५३९, बिहारीदास ५३९, बैकुण्ठदास ५४१, बैजू बावरा ५४१, बोडाणा भगत ५४२, ब्रह्मानन्द स्वामी ५४३, ब्रेहेदेव ५४७, भक्त गोपाल ५४८, भगवानदास कायस्थ ५४८, भगवान वैष्णव ५४९, भट्टाचार्य ५४९, भाऊ ५५०, भादुरदास ५५०, भालण ५५१, भीखा ५५४, भीम (प्रथम) ५५४, भीम (द्वितीय) ५५६, भूधरलाल जोशी ५५७, भूमानन्द स्वामी ५५७, भूषन भगत ५५८, भोजा भगत ५५९, भोवन भगत ५६१, मंजुकेशानन्द स्वामी ५६१, मनुभाई त्रिवेदी ५६२, मयण ५६३, महंत गोपालदास ५६४, महावदास ५६४, महेराज ५६४, मांडण बन्धारो ५६५, मांडण वरसडा ५६६, माणिकदास ५६७, माधव ५६७, माधवदास ५६७, मावोदास ५६८, मीठा ढाढी ५६८, मुंड़िया स्वामी (स्वामी दयानन्द गिरि) ५७१, मुक्तानन्द स्वामी ५७२, मुराद ५७६, मेघ जी ५७७, मेघा भगत ५७६, मेरामण जो जडिया (ठाकुर साहेब) ५७७, मोतीराम कडुजी ५७८, मोतीराम भगत ५८०, मोरार साहेब ५८१, मोहनदास ५८२, यशकरण जी अचलदान जी 'रत्नु' ५८३, याकूब खाँ ५८३, युगल किशोर ५८४, रघुनाथ (प्रथम) ५८४, रघुनाथ (द्वितीय) ५८४, रघुनाथ (तृतीय) ५८४, रघुनाथदास ५८४, रघुराम ५८५, रणछोड़ (प्रथम) ५८६, रणछोड़ दास ५८८, रतन जी ५८८, रतनदास रत्न' ५८९, रतनबाई ५८९, रतनदास मगनीराम ५९०, रत्नेश्वर ५९१, रत्नो भावसार ५९३, रविदास ५९५, रवि साहेब ५९५, राजकवि पिंगलशी पाता भाई नरेला ५९६, राजाराम ५९८, राजे ५९८, राधा बाई ६०३, राम ६०३, रामकृष्ण ६०४, रामचन्द्र मोड ६०५, रामदास ६०५, रामदास सुत ६०६, रामबाई ६०६, राम भगत ६०७, (बाबा) रामसिंग ६०७, राहत अली ६०८, रेवाशंकर ६०८, लक्ष्मण ६०९, लक्ष्मीदास ६०९, लल्लू महाराज (लालसखी) ६१०, लांगीदास महेडु ६१०, लालदास ६११, लालनशाह ६१२, लाल साहेब ६१२, लाला भक्त (लालजी महाराज) ६१३, लाला राम ६१४, वत्सराज (प्रेमरंग) ६१४, वल्लभा फाँकड़ो ६१४, वल्लभ भट्ट ६१५, वल्लव ६१६, वस्तो विश्वम्भर ६१६, वासणदास ६१८, विंझात ६२०, विश्वनाथ जानी ६२१, विष्णुदास (खंभातवाले) ६२३, वीर जी ६२३, वीर सिंह ६२४, वैकुण्ठदास ६२४, शंकर 'जनसेवक' ६२४, शान्तिदास ६२५, शामल भट्ट ६२५, शिवदास ६२६, शिवानंद सन्यासी ६२६, शेघजी ६३७, शोभा मां ६२७, श्रीनारायण ६२८, संत ६२८, सखा महाराज (दीवाली बेन) ६२८, सगाळशा ६२९, सहजानन्द स्वामी ६३१, सांयाजी झुला ६३७, सुन्दर दास ६३९, सुन्दर मेवाडो ६३९, सुदामा ६४०, सूर भट्ट ६४१, स्वरूपदास ६४१, हरखजी मेहता (हर्षदास) ६४३, हरिजीवन ६४३, हरिदास ६४४, हरिदास (क्षत्रिय) ६४४, हरिदास वणिक ६४५, हरिदास ६४६, हरिभट्ट ६४६, हरिराम ६४७।

मानचित्र : श्रीकृष्णकालीन उत्तरपथ–श्री विष्णु हरि वडेर ६४९
यादव-वंश–श्री विष्णु हरि वडेर ६५०-६५२
नामानुक्रम एवं ग्रन्थानुक्रम ६५३-७२०

●

संकेत-सारिणी

ता० का० झा०	(डा०) तारा कान्त झा
न० च० श०	(डा०) नवीनचन्द्र शर्मा
शं० पु०	(डा०) शंकरलाल पुरोहित
अ० कु० प०	(डा०) अजयकुमार पटनायक
स० सं०	(डा०) सलाम संदीलवी
सं०	भगवतीप्रसाद सिंह, संपादक
ज़० ह०	(डा०) ज़हीर हसन
सै० जै०	(डा०) सैयदअली ज़ैदी
एन० एस० द०	(डा०) एन० एस० दक्षिणामूर्ति
ललिताम्बा	(सुश्री) भा० य० ललिताम्बा
रा० द० क०	(डा०) रामदयाल कटारा
कृ० रै०	(डा० श्रीमती) कृष्णा रैना
के० का० शा०	(पं०) केशवराम काशीराम शास्त्री
अ० श० ना०	(डा०) अंबाशंकर नागर
म० ई० प्र०	(डा०) मणिभाई ईश्वरभाई प्रजापति
ल० पिं० ग०	(श्री) लक्ष्मण पिंगलशी गढ़वी
अं० शु०	(डा०) अंबाप्रसाद शुक्ल
र० चौ०	(डा०) रघुवीर चौधरी
न० पं०	(डा०) नरेश पंड्या
अ० शु०	(डा० श्रीमती) अरुणा शुक्ला
छा० ति०	(डा० श्रीमती) छाया तिवारी

राधाकृष्ण भक्तकोश : प्रथम खण्ड के लेखक

(क) प्रस्तावना भाग—भारतीय संस्कृति में श्रीकृष्ण

१. श्री अक्षयकुमार वन्द्योध्याय—प्रिन्सिपल महाराणा प्रताप कालेज, गोरखपुर (दिवंगत)
२. स्वामी अखंडानंद सरस्वती—आनंद कुटीर, मोतीझील वृन्दावन, मथुरा
३. श्री अरविन्दकुमार श्रीवास्तव—निदेशक, मथुरा संग्रहालय मथुरा
४. प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी—निवर्तमान आचार्य तथा अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति विभाग, सागर विश्वविद्यालय–सागर (म० प्र०)
५. म०म० पं० गंगानाथ झा—प्रिन्सिपल गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, बनारस (दिवंगत)
६. डा० गोपाल शर्मा—निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नयी दिल्ली
७. म०म० पं० गोपीनाथ कविराज—प्रिन्सिपल गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, बनारस (दिवंगत)
८. स्वामी चक्रधर (राधा बाबा)—गीता वाटिका, गोरखपुर
९. डा० जयसिंह नीरज—निवर्तमान आचार्य राजकीय कालेज, अलवर (राजस्थान)
१०. श्री जी० वी० केतकर—सहायक संपादक, 'केसरी' पूना (दिवंगत)
११. प्रो० फीरोज़ कावसजी दावर—बम्बई (दिवंगत)
१२. पं० बालचंद शास्त्री—(दिवंगत)
१३. जगद्गुरु शंकराचार्य श्री भारतीकृष्णतीर्थ—गोवर्धन मठ, पुरी
१४. श्री मोहम्मद हाफ़िज़ सैयद—इलाहाबाद (दिवंगत)
१५. डा० रमेशचन्द्र शर्मा—निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ
१६. डा० राजेन्द्रकुमार वर्मा—रीडर हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
१७. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल—प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, कला एवं वास्तु विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (दिवंगत)
१८. श्री विपिनचन्द्र पाल—राष्ट्रनेता, कलकत्ता (दिवंगत)
१९. डा० विश्वनाथ शुक्ल—प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
२०. श्री विष्णुहरि डालमिया—१, तीस जनवरी मार्ग, नयी दिल्ली
२१. डा० (श्रीमती) शारदा रानी – धर्मपत्नी डा० लोकेशचन्द्र, निदेशक भारतीय संस्कृति की अन्तर्राष्ट्रीय अकादमी, नयी दिल्ली
२२ श्री शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी—स० निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ
२३. श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार—संपादक 'कल्याण' गोरखपुर (दिवगत)

(ख) भक्त चरित

असमिया

१. डा० ताराकान्त झा—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पांडू कालेज, पांडू, गौहाटी (आसाम)
२. डा० नवीनचन्द्र शर्मा—रीडर, लोक साहित्य अनुसंधान विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय, गौहाटी (आसाम)

उड़ियां

१. डा० नीलमणि मिश्र—निदेशक, राज्य संग्रहालय, भुवनेश्वर (उड़ीसा)
२ डा० शंकरलाल पुरोहित—प्राचार्य, हिन्दी टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, भुवनेश्वर (उड़ीसा)
३. डा० अजयकुमार पटनायक—प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, रैवेन्शा कालेज, कटक (उड़ीसा)

उर्दू

१. डा० सलाम संदीलवी—निवर्तमान रीडर, उर्दू विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
२. डा० भगवतीप्रसाद सिंह—निवर्तमान आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
३. डा० ज़हीर हसन—२००० बी, मनोहर पुरा, मथुरा
४. डा० सैयद अली ज़ैदी—प्रवक्ता उर्दू विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी

कन्नड़

१. डा० एस० एन० दक्षिणामूर्ति—रीडर हिन्दी विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर (कर्नाटक)
२. सुश्री भा० य० ललिताम्बा—८११, १०-ए मेन प्रथम स्टेज, इन्दिरा नगर, बंगलोर (कर्नाटक)

कश्मीरी

१. डा० रामदयाल कटारा—रीडर हिन्दी विभाग, कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर (ज० क०)
२. डा० (श्रीमती) कृष्णा रैना—रीडर हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला (हि० प्र०)

गुजराती

१. श्री पं० केशवराम काशीराम शास्त्री, विद्या वाचस्पति, मधुवन, एलिस ब्रिज, अहमदाबाद
२. डा० अम्बाशंकर नागर—आचार्य तथा अध्यक्ष, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद
३. डा० मणिभाई ई० प्रजापति—निदेशक, श्री भारतीय विद्या संशोधन मन्दिर तथा द्वारकाधीश संस्कृत अकादमी द्वारका (गुजरात)
४. श्री लक्ष्मण पिंगलशी गढ़वी—अधिवक्ता, ९ सरस्वती पटेल कालोनी, जामनगर (सौराष्ट्र)
५. डा० अम्बाप्रसाद शुल्क—निवर्तमान अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सिटी आर्ट्स कालेज अहमदाबाद, श्रीगणेशभवन, ब्लाक सं० १ अम्बिका कुंज सोसाइटी मणिनगर, अहमदाबाद
६. डा० रघुवीर चौधरी—रीडर हिन्दी विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद
७. डा० नरेश पंड्या—अध्यक्ष हिन्दी विभाग, महिला आर्ट्स कालेज, पोरबन्दर (गुजरात)
८. डा० (श्रीमती) अरुणा शुक्ला—नं० १८, डाक्टर-आवास, जेलरोड, बड़ोदा
९. डा० (श्रीमती) छाया तिवारी—सी २/३० जनकपुरी, नयी दिल्ली

●

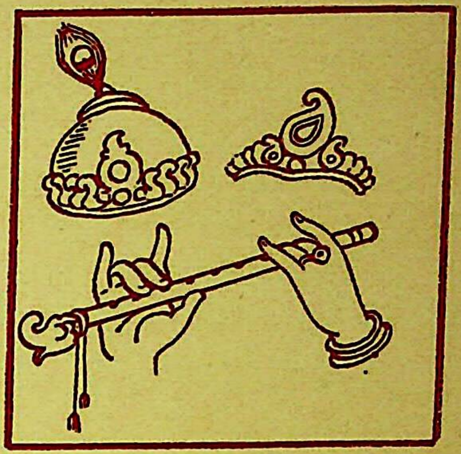

भारतीय संस्कृति में श्रीकृष्ण

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ।।

—श्रीमद्भागवतम्, १०.४३.१७

भगवान् कृष्ण को पुरालेख-प्रशस्तियाँ

प्राचीन साहित्य के समान अनेक शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों में भी भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति और उनकी महत्ता का गुणगान मिलता है। पुरालेखों के प्रारम्भ में प्रायः इष्टदेव का ध्यान या स्तुति का विधान था। वैष्णव शासक तथा अन्य दानदाता भगवान् विष्णु, लक्ष्मी, कृष्ण आदि की स्तुति से अभिलेखों का आरम्भ करते थे। अनेक अभिलेखों में ध्यानपरक मंगलाचरणों के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की मूर्तियों अथवा मंदिरों के निर्माण अथवा उनकी लोकोत्तर शक्ति या उदारता के विषय में भी विवरण उपलब्ध हैं। अभिलेखों में उनके नाम कृष्ण, वासुदेव, माधव, जनार्दन, पद्मनाभ, पुरुषोत्तम, कंसनिषूदन, अहिमर्दी आदि मिले हैं।

प्रारम्भ में भारत में वासुदेव या कृष्ण की पूजा के तीन मुख्य केन्द्र थे—मध्यमिका, विदिशा और मथुरा। राजस्थान में चित्तौड़ के समीप मध्यमिका नगरी बहुत प्रसिद्ध थी। इसे अब तांबावती नगरी या नगरी कहा जाता है। ईसवी पूर्व तीसरी शती के अंत का एक ब्राह्मी शिलालेख यहाँ के हाथीबाड़ा नामक स्थान में मिला है। उसमें वासुदेव कृष्ण की पूज्य पाषाण मूर्ति, उसके चारों ओर बनायी गई रक्षावेदिका तथा 'नारायणवाटिका' का उल्लेख है। यह लेख बड़े महत्व का है और इस बात का एक पुष्ट प्रमाण है कि ईसवी पूर्व तीसरी शती में देव रूप में श्रीकृष्ण की मूर्ति-पूजा होने लगी थी। डा० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर द्वारा नगरी में उत्खनन कार्य कराया गया था जिसमें उन्हें पूजा-स्थल तथा नारायण-वाटिका (वर्तमान हाथीबाड़ा) के अवशेष मिले थे।

मिश्रित संस्कृत भाषा में लिखा हुआ एक अन्य मौर्यकालीन ब्राह्मी-लेख घोसुण्डी नामक स्थान से मिला है। घोसुण्डी नगरी (मध्यमिका) के समीप है। सौभाग्य से तीन पंक्तियों का यह लेख पूर्ण है। लेख इस प्रकार पढ़ा जा सकता है—

> कारितौ अयं राज्ञा भागवतेन गाजायनेन पाराशरी पुत्रेण
> सर्वतातेन अश्वमेधयाजिना भगवद्भ्यां संकर्षण-वासुदेवाभ्यां
> अनिहताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजाशिला प्राकारो नारायणवाटिका।

उक्त घोसुण्डी लेख तथा हाथीबाड़ा के लेख को मिलाकर देखने से ज्ञात होता है कि भगवान् संकर्षण-वासुदेव के सम्मान में वृष्णियों की राजधानी नगरी में तीन निर्माण-कार्य किये गये :

(क) पूजा-शिला—अर्चा के लिए बलराम तथा कृष्ण की पाषाण-मूर्तियां।

(ख) प्राकार—रक्षा के लिए वेदिका या बाड़ा और

(ग) नारायण के नाम पर वाटिका या फुलवाड़ी—(इसे अब हाथीबाड़ा कहते हैं)।

यह निर्माण-कार्य श्रीकृष्ण के भक्त (भागवत) राजा सर्वतात (सर्वत्रात) के द्वारा कराया गया। हमारा विचार है कि यह राजा मध्यमिका के स्थानीय वृष्णिक-वंश का था।

मध्यमिका नगरी की चर्चा पतंजलि के महाभाष्य में मिलती है। यवनों (यूनानियों) के द्वारा मध्यमिका नगरी पर भी आक्रमण किया गया, ऐसा उल्लेख महाभाष्य में मिलता है—"अरुणद्यवनो मध्यमिकाम्।"

'मध्यमिका' का महत्व बहुत समय तक कृष्ण-पूजा के केन्द्र-रूप में अक्षुण्ण रहा। बड़ली (जिला अजमेर) से ई० पूर्व दूसरी शती का एक भग्न ब्राह्मी लेख मिला है। उससे ज्ञात हुआ है कि मध्यमिका के किसी निवासी द्वारा बड़ली में श्रीकृष्ण के मंदिर का निर्माण कराया गया था।[1]

मध्यप्रदेश की विदिशा नगरी की गणना भारत के प्रमुख प्राचीन सांस्कृतिक नगरों में की जाती है। ईसवी पूर्व तीसरी शती में वहाँ वासुदेव-विष्णु का मंदिर विद्यमान था। इसका पता इधर केन्द्रीय पुरातत्व विभाग द्वारा वहाँ कराये गये उत्खनन से चला है। उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि मौर्यकालीन मंदिर अंडाकार था। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य प्रमुख वृष्णियों के भी प्रतीक ध्वजस्तंभ वहाँ लगाये गये थे।

शुङ्ग-शासकों के राज्यकाल में ईसवी पूर्व दूसरी शती के उत्तरार्द्ध में उक्त मंदिर के सामने एक ऊँचा गरुड़-स्तम्भ बनवाया गया। इस स्तम्भ (जिसे अब 'खामबाबा' कहते हैं) पर खुदे हुए ब्राह्मी-लेख से पता चला है कि उसे तक्षशिला के यूनानी राजा ऐंटियल्काइडीज (अन्तलिकिदिस) के राजदूत हेलियोदोर ने बनवाया था। हेलियोदोर ने अपने लेख के प्रारम्भ में देवताओं के देव वासुदेव का नाम दिया है, जिनके प्रति भक्ति-भाव व्यक्त करने के लिए उसने विदिशा के मंदिर के सामने गरुड़ध्वज स्थापित किया था। हेलियोदोर ने लेख में स्वयं अपने को 'भागवत' (भगवान् वासुदेव का भक्त) कहा है।[2] इस लेख से विदिशा नगरी की राजनीतिक महत्ता के साथ यह भी ज्ञात हुआ है कि ई० पू० दूसरी शती में वह वासुदेव-पूजा का एक प्रधान केन्द्र था। यही वृष्णियों के अन्य चार प्रमुखों (बलराम, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध) की पूजा का भी केन्द्र बना। विदिशा में श्रीकृष्ण के गरुड़ध्वज के अतिरिक्त ताड़ध्वज (बलराम का) तथा मकरध्वज (प्रद्युम्न का) प्रतीक भी प्राप्त हो चुके हैं।

भगवान् कृष्ण की उपासना का तीसरा बड़ा केन्द्र था—मथुरा नगर। वहाँ के कुछ प्राचीन अभिलेखों की यहाँ चर्चा पर्याप्त होगी। दो पाषाण-लेख मथुरा जिला के मोरा नामक गाँव से प्राप्त हुए हैं।[3] ये दोनों लेख ब्राह्मी में हैं और मथुरा में राज्य करने वाले शक-वंशी शोडास के समय (ई० पूर्व प्रथम शती) के हैं। पहले लेख में भगवान् श्रीकृष्ण के जन्मस्थान में भगवान् वासुदेव के सम्मान में मूर्ति और तोरणद्वार के सहित वेदिका-निर्माण का कथन है। लेख में मथुरा के श्रीकृष्ण जन्म-स्थान को 'महास्थान' कहा गया है। उनकी मूर्ति पत्थर की थी। अतः उसकी संज्ञा 'शैल' दी गई है। तोरण तथा वेदिका का भी उसमें स्पष्ट उल्लेख है (शैलं, तोरणं, वेदिका च प्रतिष्ठापितो)।

मोरा से प्राप्त दूसरे शिलालेख में मंदिर के लिए 'शैलदेवगृहे' शब्द आया है और उसमें वृष्णियों के पाँच वीरों (प्रमुखों) की प्रतिमायें प्रतिष्ठापित करने की चर्चा है (भगवतां वृष्णीनां पंचवीराणां प्रतिमाः शैलदेवगृहे······)। इस लेख से स्पष्ट है कि मंदिर पत्थर का बना हुआ था और उसमें पाँच वृष्णियों की मूर्तियाँ स्थापित की गयी थीं। मोरा से प्राप्त पाषाण निर्मित एक वृष्णि-मूर्ति मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित है। उसमें ब्राह्मी लेख का कुछ अंश भी बचा है। सम्भवतः यह प्रतिमा उन पाँच मूर्तियों में से एक थी, जिसकी प्रतिष्ठापना का उल्लेख मोरा अभिलेख में मिला है। मथुरा से हाल में प्राप्त एक अन्य शिलालेख में भगवान् के मंदिर के लिए 'देवकुल' नाम आया है। 'देवकुल' संज्ञा शिव के आरम्भिक मंदिरों के लिए भी प्रयुक्त होती थी।

वायु पुराण (अध्याय ७९/१-२) में वृष्णियों के पाँच वीरों (व्यूहों) की चर्चा इस प्रकार मिलती है :

संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नः साम्ब एव च।
अनिरुद्धश्च पंचैते वंशवीराः प्रकीर्तिताः॥

अर्थात् वृष्णियों के पाँच वीर इस प्रकार हैं—संकर्षण (बलराम), वासुदेव (कृष्ण), प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध। विष्णु संहिता (६७/२) में केवल प्रथम चार व्यूह वर्णित हैं। वहाँ अनिरुद्ध का उल्लेख नहीं है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि अवस्थानुसार बलराम को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है और उनके बाद क्रमशः वासुदेव, प्रद्युम्न, साम्ब तथा अनिरुद्ध के नाम आये हैं। विदिशा के अतिरिक्त मध्यप्रदेश में सरण, बड़ोह–पठारी आदि स्थानों में गुप्तकालीन विशाल गरुड़-ध्वज स्तम्भ विद्यमान है। इससे ज्ञात होता है कि वासुदेव–विष्णु के मन्दिरों के सामने गरुड़ध्वज स्थापित करने की प्रथा शुंगकाल के बाद शताब्दियों तक जारी रही। वासुदेव के स्तम्भ पर गरुड़, बलराम

के स्तम्भ पर तालवृक्ष और प्रद्युम्न के स्तम्भ पर मकर का चिह्न था। बलराम और प्रद्युम्न के ध्वजों के नाम क्रमशः तालध्वज और मकरध्वज प्रसिद्ध हुए। विदिशा तथा पद्मावती (ग्वालियर के समीप आधुनिक पवाया) से कलात्मक तालध्वज प्राप्त हुये हैं जो वहाँ पर स्थापित बलराम के मन्दिरों के सूचक प्रतीत होते हैं।

ईसवी पूर्व दूसरी शती के आरम्भ से लेकर तीसरी शती ई० के आरम्भ तक शासन करने वाले सातवाहन राजवंश के एक शिलालेख में इन्द्रादि देवों के साथ संकर्षण-वासुदेव का भी उल्लेख है।[४] ई० पूर्व दूसरी शती का यह शिलालेख पूना के समीप नानाघाट नामक स्थान में मिला है और इसकी भाषा प्राकृत है। इसकी प्रथम पंक्ति में धर्म तथा इन्द्र को नमस्कार करने के बाद 'संकर्षण वासुदेवानं' शब्द आया है। इसके बाद चन्द्र, चारों लोकपाल, यम, वरुण, कुबेर तथा वासव के उल्लेख हैं। इससे वृष्णियों के वीरों का महत्व प्रतिपादित होता है।

श्रीकृष्ण की देवसूचक 'भगवान्' उपाधि को क्रमशः अन्य धर्मावलम्बियों ने भी अपने शिलालेखों में ग्रहण किया। अनेक प्राचीन बौद्ध लेखों से यह बात प्रमाणित होती है।

ईसवी चौथी शती के आरम्भ से लेकर छठी शती के आरम्भ तक शासन करने वाला गुप्त वंश भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। इस वंश के अधिकांश शासक वैष्णव थे। उनका राजचिन्ह गरुड़ था। उनके सिक्कों, मुहरों तथा अभिलेखों में लक्ष्मी, कमल, शंख, चक्र आदि चिन्ह मिले हैं। इस वंश का प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अपने को 'परमभागवत' कहने में गर्व का अनुभव करता था। उसके कई वंशजों को भी 'परमभागवत' कहा गया। यूनानी हेलियोदोर की 'भागवत' उपाधि की श्रीवृद्धि अब 'परमभागवत' रूप में हुई। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने सोने का एक ऐसा सिक्का चलाया जिसके एक ओर चतुर्भुज भगवान् प्रदर्शित हैं। दूसरी ओर सम्राट् की उपाधि 'चक्रविक्रम' लिखी है। सांची से उसका ताँबे का एक ऐसा सिक्का मिला है जिस पर भगवान् का नाम पद्मनाभ दिया है—'जितं भगवता पद्मनाभेन'। यह सिक्का पद्मनाभ विष्णु के नाम पर चलाया गया, जिनके प्रताप से सम्राट् चन्द्रगुप्त ने मालवा के विदेशी शकों पर विजय प्राप्त की थी।

गुप्तकालीन धातु तथा पकी मिट्टी की अनेक मुहरें मथुरा, राजघाट, विदिशा, कौशांबी, झूसी, पटना आदि से मिली हैं। उन पर पद्म, शंख, चक्र आदि चिह्न अंकित हैं। उन पर ब्राह्मी लेख भी मिले हैं, जो इस प्रकार हैं—'माधव', 'हरिस्मरण', 'नमोभगवतेवासुदेवाय' तथा 'जितं भगवता वासुदेवेन।'

सागर जिला के एरण नामक स्थान से एक दुर्लभ शिलालेख मिला था जो अब कलकत्ता के इंडियन म्यूजियम में सुरक्षित है। यह लेख गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त का माना जाता है।[५] परंतु कतिपय प्रमाणों के आधार पर यह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का प्रतीत होता है। इस लेख के अनुसार एरण में गुप्त सम्राट् ने एक स्तम्भ स्थापित कराया था। सम्भवतः यह गरुड़ध्वज था, जो भगवान् वासुदेव के मन्दिर के सामने बनवाया गया था।

गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के समय में हूणों और पुष्यमित्रों के आक्रमणों से गुप्त साम्राज्य की नींव हिल गयी। परम प्रतापी स्कन्दगुप्त ने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। उस समय उनके पिता कुमारगुप्त दिवंगत हो चुके थे। दुर्दान्त शत्रुओं पर विजय के उपरांत स्कन्दगुप्त अपनी दुखिया माँ के पास शीघ्रता से पहुँचे। भितरी (जिला गाजीपुर, उ० प्र०) में उसके राज्यकाल का एक शिलालेख मिला है। उसके लेखक ने स्कंदगुप्त की विजय का हृदयद्रावक वर्णन करते हुए लिखा है कि पिता कुमारगुप्त के दिवंगत हो जाने पर विचलित वंशलक्ष्मी को स्कंदगुप्त ने अपने भुजबल से शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर, पुनः प्रतिष्ठापित किया। विजय के गौरव से तुष्ट होकर अश्रुपूरिता माँ के पास वे उसी प्रकार शीघ्र पहुँचे जिस प्रकार कंस का वध करने के बाद श्रीकृष्ण अपनी माता देवकी के पास पहुँचे थे—

पितरिदिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्यभूयः।
जितमिति पारितोषान्मातरं सास्रुनेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः॥

इस प्रसिद्ध छंद में श्रीकृष्ण का उल्लेख उनकी माता देवकी के साथ किया गया है ।

सतना जिले के खोह नामक स्थान से परिव्राजक–वंशी राजा संक्षोभ का एक ताम्रपत्र मिला है, जिस पर गुप्त संवत् २०९ (५२८–२९ ई०) का लेख खुदा है । इस लेख के आरम्भ में 'सिद्धं नमो भगवते वासुदेवाय' लिखा है । यह ध्यान भगवान् कृष्ण का है ।[६]

मध्यप्रदेश के मंदसौर नगर से औलिकर-वंश के शासक नरवर्मा का एक पाषाण-स्तम्भ-लेख प्राप्त हुआ है ।[७] नरवर्मा गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के समकालीन वंधुवर्मा का पितामह था । लेख पर विक्रम संबत् ४६१ (४०४ ई०) अंकित है । लेख के आरम्भ में श्री कृष्ण के विश्वरूप का ध्यान किया गया है । वह इस प्रकार है—

सहस्रशिरसे तस्मै पुरुषायामितात्मने । चतुस्समुद्र पर्यङ्क–तोय निद्रालयेनमः ।।

अर्थात् हम सहस्र शीर्ष अमित तेजस्वी पुरुष को नमस्कार करते हैं जो चारों सीमाओं तक विस्तृत समुद्र के पर्यंक पर विश्राम करते हैं ।

लेख की ७ वीं-८ वीं पंक्तियों (श्लोक १०-११) में वासुदेव कृष्ण का अत्यंत मनोरम वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है—

जीवलोकमिमं ज्ञात्वा शरण्यं शरणं गतः । त्रिदशोदारफलदं, स्वर्गस्थाचारुपल्लवम् ।।
वासुदेवजगद्वासम्प्रमेयमजं विभुम् । विमानानेकविटपं तौयदाम्बुमधुस्रवम् ।।

यहाँ श्रीकृष्ण को शरण्य (शरण देनेवाला) कहा गया है । उनकी तुलना उदार कल्पवृक्ष से की गयी है । देवता उस कल्पवृक्ष के फल और अप्सरायें उसकी कोपल हैं । यह वृक्ष अनेक विमानों अर्थात् दैवी अलंकरणों से मण्डित है । उससे सदा दूध, जल और मधु प्राप्त होते हैं ।

इस अभिलेख में श्रीकृष्ण की उपमा कल्पवृक्ष से देकर और उन्हें चारुता, स्निग्धता तथा प्राप्तव्य वस्तुओं का स्रोत बताकर कवि ने अत्यन्त रोचक रूपक प्रस्तुत किया है । कृष्ण का ऐसा कलात्मक वर्णन किसी अन्य शिलालेख या ताम्रपत्र में देखने को नहीं मिलता । काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग में उत्कीर्ण कतिपय उच्चस्तरीय शिलालेखों में इस अभिलेख की गणना की जा सकती है ।

मौखरिवंश के शासक अवंतिवर्मा का एक शिलालेख बिहार में गया के पास बराबर नामक पहाड़ी की एक गुफा में उत्कीर्ण है । उससे पता चलता है कि इस शासक ने प्रवरगिरि में श्रीकृष्ण की एक कलापूर्ण प्रतिमा बनवायी थी । लेख में कहा गया है कि यह प्रतिमा क्या है मानों वह राजा अवंतिवर्मा के शुभ्रयश का संसार में मूर्तरूप में प्रतिनिधित्व कर रही है—

कृष्णस्याकृष्णकीर्तिः प्रवरगिरिगुहा संश्रितं बिम्बमेतत् ।
मूर्तं लोके यशःस्वं, रचितमिवमुदस्वीकरत् कांतिमत्सः ।।

लगभग ४०० ईसवी का एक अन्य लेख बंगाल के तुसाम नामक स्थान से मिला है । श्रीकृष्ण की स्तुति के साथ उसमें उनकी पटरानी जांबवती का भी उल्लेख है । मनोरम शैली में स्तुति इस प्रकार है :

जितममीक्षणमेव जाम्ववती-वदनारविन्दोर्ज्जितालिना ।
दानवांगनामुखाम्भोज-लक्ष्मी तुषारेण विष्णुना ।।

(जाम्बवती के कमलमुख को प्रफुल्लित करने वाले लोभी भंवर श्रीकृष्ण की जय हो, जो दानव ललनाओं की मुखश्री (को मलिन करने) के लिए तुषार (पाला) के समान हैं) ।

मध्यकालीन अभिलेखों में भी श्रीकृष्ण-विषयक कई रोचक वर्णन उपलब्ध हैं। खजुराहो में प्राप्त चंदेल-राजवंश के लेख का प्रारंभ '🕉 नमो भगवते वासुदेवाय' से होता है।

रीवाँ से प्राप्त राजा त्रैलोक्यमल्ल का ताम्रपत्र विशेषरूप से उल्लेखनीय है।[८] उसके प्रारंभ में 'ओम् नमः शिवाय, गणपतये नमः' लिखा है। उसके बाद श्रीकृष्ण का रोचक वर्णन है। तदनंतर क्रमशः शिव और सरस्वती की स्तुति की गयी है।

मध्यप्रदेश में रायपुर जिले में सिरपुर (श्रीपुर) नामक स्थान में प्रसिद्ध लक्ष्मण-मंदिर है। इस मंदिर में रानी वासटा का लेख खुदा हुआ है। लेख का प्रारम्भ 'ओम् नमः पुरुषोत्तमाय' से होता है। फिर वामन और नृसिंह अवतारों की स्तुति है। छठे श्लोक में श्रीकृष्ण की चर्चा इस प्रकार है :

दुर्घटनवैरिवरदारणदारुणेषु सीरायुधः स इव कंसनिषूदनस्य।
राजाधिकार धवलः सकलोवभूव यस्याग्रजोप्यनुचरश्चरतोरणेषु ॥

इस लेख का तात्पर्य यह है कि रानी वासटा के मृत वैष्णव पति का नाम चन्द्रगुप्त था। इस शासक को अपने बड़े भ्राता से (जो प्रतापी विजेता था) उसी प्रकार सहायता प्राप्त होती थी जिस प्रकार श्रीकृष्ण को उनके बड़े भाई बलराम से मिलती थी। रानी वासटा का यह लेख उसी मंदिर में मिला है जिसे उसने अपने दिवंगत पति की स्मृति में बनवाया था।

मथुरा में श्रीकृष्ण-जन्मस्थान पर ईसवी पूर्व प्रथम शती में उपयुक्त मंदिर बनने के पश्चात् उस पवित्र स्थल पर भगवान् कृष्ण के मंदिर बनाने की परंपरा चलती रही। वहाँ गुप्त-सम्राट् परम भागवत चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया। उसका जीर्णोद्धार परवर्तीकाल में हुआ। जन्म-स्थान से बिक्रम संवत् १२०७ (११५० ई०) का एक शिला-लेख मिला है। उस पर गाहड़वाल वंश के सम्राट् गोविन्दचन्द्र के पुत्र विजयचन्द्र का नाम 'विजयपालदेव' लिखा है। लेख से ज्ञात होता है कि उस शासक द्वारा जन्म स्थान पर एक नये मंदिर का निर्माण कराया गया था। मंदिर के दैनिक व्यय के लिए दो मकान, छह दुकानें और एक बगीचा (वाटिका) लगा दी गयी थी। लेख में यह भी लिखा है कि मंदिर के प्रबंध को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए चौदह व्यक्तियों की एक समिति (गोष्ठी) नियुक्त की गयी थी। इसके प्रमुख का नाम जज्ज था।

मुगल सम्राट् जहाँगीर के शासनकाल में ओरछा के बुंदेला शासक वीरसिंहदेव प्रथम ने मथुरा में जन्मस्थान पर तैंतीस लाख रुपये व्यय करके श्रीकृष्ण (केशवराय) का विशाल मंदिर बनवाया था। यह मंदिर अपने समय का अत्यंत आश्चर्यजनक देवालय माना जाता था। फ्रांसीसी यात्री तावर्ने (टेवर्नियर) ने १७ वीं शती में इस मंदिर को देखा था। उसने इस मंदिर का विशद तथा रोचक वर्णन किया है।

भारत में ही नहीं, देश के बाहर भी अनेक शिलालेख और ताम्रपत्रलेख मिले हैं जिनसे श्रीकृष्ण की लोकप्रियता का पता चलता है। यहाँ कम्बोडिया (प्राचीन कम्बुज) में प्राप्त कतिपय अभिलेखों की संक्षिप्त चर्चा की जाती है।

स्याम, कंबुज, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार व्यापक रूप में हुआ। इन देशों में बहुसंख्यक ब्राह्मी शिलालेख मिले हैं। अधिकांश लेखों की भाषा संस्कृत है। कुछ लेखों में संस्कृत के साथ स्थानीय भाषाओं का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार भाषा के अध्ययन की दृष्टि से भी इन लेखों का महत्व है।

कंबुज (कंबोडिया) के राजा यशोवर्मा के मंत्री सत्याश्रय द्वारा श्रीकृष्ण की प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है। लेख में भगवान् माधव की मूर्ति को त्रैलोक्यनाथ-प्रतिमा कहा गया है :

तेनेव स्थापितो भवत्या भगवानिह माधवः। स श्रीत्रैलोक्यनाथाख्यो यश्श्रिया भाति भूतले ॥

वहीं के शासक जयवर्मा चतुर्थ के समय में ९२२ ई० में प्राण नामक ब्राह्मण द्वारा श्रीकृष्ण की 'चंपेश्वर' संज्ञक मूर्ति प्रतिष्ठापित की गयी। मूर्ति तथा मन्दिर की अर्चादि के लिए एक सौ पुरुष-स्त्री सेवक नियुक्त किये गये और भूमि दान में दी गयी।

कंबुज में प्रसत-नेअंग-रूमौन नामक एक अन्य स्थान पर शक सं० ८५० (९२० ई०) का एक लेख मिला है। लेख में वासुदेव कृष्ण की स्तुति है और दो मन्दिरों के निर्माण की चर्चा है। इन मन्दिरों की दीवालों पर गोवर्धनधारी कृष्ण, त्रिविक्रम आदि के सुन्दर चित्र विविध रंगों में बनाये गये थे। उनमें से अनेक चित्र आज भी सुरक्षित हैं।

कंबुज में ता-त्र तथा प्रह-इन कोसी नामक स्थानों में दो अत्यन्त महत्वपूर्ण लेख हैं। इन स्थलों के क्षेत्र का प्राचीन नाम द्विजेन्द्रपुर था। शिलालेख दसवीं शती ईसवी के हैं। इन लेखों से पता चलता है कि कंबुज के राजा राजेन्द्रवर्मा की पुत्री का नाम इन्द्रलक्ष्मी था। उसका पति ब्राह्मण दिवाकर भट्ट मूलतः भारत में मथुरा का निवासी था, जो कंबुज में बस गया था। लेखों से पता चलता है कि इन्द्रलक्ष्मी ने अपने पति के साथ अनेक धार्मिक कार्य निष्पन्न किये। इनमें मधुवन में त्रिदेवों के लिए मन्दिर का निर्माण, चिकित्सालय-निर्माण तथा भारती (सरस्वती) प्रतिमा की प्रतिष्ठापना आदि कार्य सम्मिलित थे। उक्त त्रिमूर्ति की स्थापना भद्रेश्वर नामक मन्दिर में की गयी, जिसे राजा राजेन्द्रवर्मा के पुत्र तथा दिवाकर भट्ट के साले जयवर्मा ने बनवाया था।

एक लेख में दिवाकर भट्ट ने अपने जन्मस्थान मथुरा तथा श्रीकृष्ण का उल्लेख बड़े गर्व के साथ किया है। इस लेख से यमुना नदी का, वेद ध्वनि से गुंजरित मथुरा नगर का तथा कालियनाग एवं असुरों के संहारक श्रीकृष्ण का ओजस्वी वर्णन मिलता है। सम्बन्धित अंश (श्लोक ३०) इस प्रकार है—

कालिन्दी यत्र रम्या क्रत्तुम रिज्यँ जैर्द्विजेन्द्रैः,
षट्त्रिंशद्भिस्सहस्रैरनुसवन कृत्तैर्ऋज्यजुस्साम शब्दैः।
कृष्णः कृष्णाहिमर्दी क्षितिजकुलहरः क्रीडितो यत्र वाल्ये,
तत्रैवाभूत् स देवो दिवसकर इति ख्यात भट्टस्सुकीर्तिः ॥३०॥

(जिस मथुरा में रम्य यमुना बहती है, जिसके तट ऋक्, यजुर्वेद तथा साम का गायन करनेवाले सहस्रों ब्राह्मणों के स्वरों से निनादित हैं, जिस कालिंदी-तट पर बचपन में कालियनाग का मर्दन करनेवाले तथा असुरवंश को नष्ट करनेवाले कृष्ण ने अनेक लीलाएँ कीं, उसी मथुरा नगरी में यशस्वीं दिवाकर भट्ट देव ने जन्म ग्रहण किया।)

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत तथा उसके बाहर प्राप्त बहुसंख्यक शिलालेखों ओर ताम्रपत्रों में भगवान् कृष्ण के प्रति प्रचुर उल्लेख उपलब्ध है। उनसे श्रीकृष्ण-चरित की लोकप्रियता का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

सन्दर्भ—

१. हाथीवाड़ा, घोसुण्डी तथा बड़ली के मूल ब्राह्मी लेखों के लिए द्रष्टव्य-दिनेशचन्द्र सरकार-सिलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, जि० १ (द्वितीय संस्करण) कलकत्ता, १९६५, पृ० ८९-९१।
२. मूल लेख के लिए देखिये सरकार, वही, पृष्ठ ८८-९।
३. मथुरा इंस्क्रिप्शंस (संपादक कोल्स एल० जानेर्ट), गाटिंजन, १९६१, पृ० १५४-६।
४. आर्किओलॉजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया, जिल्द ५, पृ० ६० तथा ८६।
५. फ्लीट, कार्पस, जिल्द ३, पृ० २०।
६. वही; पृ० ३९४-६।
७. दिनेशचन्द्र सरकार, वही, पृ० ३९७-८।
८. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द २५, पृ० ५।
९. कंबुज के इन लेखों के सम्बंध में विस्तार के लिए देखिए, रमेशचन्द्र मजूमदार, इंस्क्रिप्शंस आफ कंयुज (कलकत्ता, १९५३) पृ० १५५-१७७।

— प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी

श्रीकृष्ण सम्बन्धी आरम्भिक पुरा-साक्ष्य

भारतीय शिल्प में श्रीकृष्ण का अंकन कब आरम्भ हुआ, यह विवादास्पद है । यद्यपि मथुरा उनकी जन्मभूमि के रूप में विख्यात है और पुरातत्व की दृष्टि से भी भारत में अग्रणी स्थल है, किन्तु इस प्रसंग में वहाँ से हमें अधिक सहायता नहीं मिलती । ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक दृष्टि से यही सिद्ध नहीं हो सका है कि महाभारत के कथानक तथा उसके पात्रों की तिथि क्या थी ? इस विषय में विद्वानों ने विभिन्न मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं ।

पुराणसाहित्य महाभारत के घटनाक्रम को अब से पाँच हजार वर्ष पूर्व का मानता है । इसका आंशिक समर्थन पुरातत्व ने भी किया है । अंग्रेज पुरावेत्ता डॉ० ई० जे० एच० मैके को सिन्धु घाटी के उत्खनन से १९२७ में प्राप्त खड़िया-मिट्टी की एक मुद्रा में एक किशोर को दो वृक्षों को उखाड़ते दिखाया गया है और दोनों वृक्षों से दो मानव आकृतियाँ निकलती दिखाई देती हैं । मैके का अनुमान है कि यह श्रीकृष्ण द्वारा यमलार्जुन वृक्षों के उखाड़ने की घटना का अंकन है ।[1] उखड़ते ही दोनों वृक्ष नलकूबर और मणिग्रीव नामक गन्धर्वों के पूर्ववर्ती स्वरूप में रूपांतरित हो गए[2]।
डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी मोहनजोदड़ो में प्राप्त मुद्रा की उक्त पहचान से सहमति व्यक्त की है[3] ।

इससे संकेत मिलता है कि श्रीकृष्ण का जीवनवृत्त अबसे लगभग चार या साढ़े चार हजार वर्ष पहले सिन्धुवासियों को ज्ञात हो चुका था । मूल स्थान से सुदूरवर्ती क्षेत्र में कथानक के पहुँचने व लोक प्रचलित होने में उस समय सैकड़ो वर्षों का व्यतीत होना स्वाभाविक है । इस प्रकार सिन्धु-संस्कृति के इस अवशेष से उस पौराणिक मान्यता की पुष्टि होती है जिसके अनुसार महाभारत या श्रीकृष्ण का कालनिर्धारण पाँच हजार वर्ष पहले किया जाता है । अवश्य ही इस एक मात्र उपलब्धि को इतनी बड़ी विवादास्पद गुत्थी को सुलझाने का आधार नहीं बनाया जा सकता, साथ ही इस महत्वपूर्ण पुरा साक्ष्य की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती ।

तत्पश्चात् पुरातत्व दीर्घ अन्तराल तक मौन साधता है । और हमें लगभग द्वितीय एवं प्रथम शती ई० पू० के कुछ ब्राह्मी अभिलेख वासुदेव कृष्ण की पूजा-अर्चना का उल्लेख करते प्राप्त होते हैं । ये हैं:—

१—बेसनगर (विदिशा म०प्र०) का गरुड़स्तंभ जिसे काशीपुत्र भागभद्र के दरबार में आए यवनराज अंतलिकतस के राजदूत हेलियोडोरस ने श्रद्धा सहित देव 'देव वासुदेव' की स्मृति में स्थापित किया[4] था । यहाँ अनेक महत्वपूर्ण तथ्य उल्लेखनीय हैं । पहली बात तो यह है कि वासुदेव को देवाधिदेव माना गया है और उनके सम्मान में गरुड़ध्वज की स्थापना कृष्णावतार तथा विष्णु के समन्वय का संकेत देती है जो ईसा से कई शताब्दी पूर्व स्थिर हो चुका था । दूसरी बात यह है कि एक विदेशी ने भगवान् वासुदेव के प्रति श्रद्धा अभिव्यक्त की है । यदि उसकी श्रद्धा भारत में आने पर उत्पन्न हुई तो ऐसा वासुदेव-भक्ति-आन्दोलन के व्यापक प्रचार-प्रसार के प्रभाव स्वरूप हुआ होगा जो उत्तर भारत में सैकड़ों वर्ष पूर्व से चल रहा होगा । यदि यवन राजदूत के हृदय में श्रद्धा की भावना भारत आने के पूर्व थी जिसे उसने यहाँ आकर गरुड़ध्वज की स्थापना द्वारा साकार अभिव्यक्ति दी तो इससे अप्रत्यक्ष रूप से यह संकेत मिलता है कि द्वितीय शती ई० पू० से पहले ही बासुदेव भक्ति की लहर देश की सीमा को लाँघ कर विदेशों में जा पहुँची थी जिससे अनेक विदेशी प्रभावित हो वासुदेव-भक्त बन गए ।

इस धारणा की पुष्टि ऐखनूम (अफ़गानिस्तान) से मिले द्वितीय शती ई० पू० के यूनानी शासक अगाथोक्लिस के चाँदी के चौकोर सिक्के से होती है जिसमें एक ओर बलराम और दूसरी ओर कृष्ण का अंकन है[5] । इसका उल्लेख आगे भी किया जाएगा ।

गरुड़ध्वज की प्रतिष्ठा इस बात का भी संकेत देती है कि यहाँ कोई वासुदेव मन्दिर भी रहा होगा जिसके सामने इस स्तम्भ की स्थापना हुई । मन्दिर के कुछ अवशेष श्री एम० डी० खरे को १९६३-६५ के उत्खनन में मिले मी थे[6] ।

२—बेसनगर संग्रहालय में एक और गरुड़ध्वज का भग्नांश सुरक्षित है जिसके शुंगकालीन ब्राह्मी अभिलेख से ज्ञात होता है कि भागवत गौतमीपुत्र ने महाराज भागवत के १२वें वर्ष में स्तम्भ की प्रतिष्ठा की[७] ।

३—राजस्थान में चित्तौड़ के पास प्राचीन मध्यमिका नगरी या घोसुण्डी नामक ग्राम में हाथी-बाड़ा से द्वितीय शती ई० पू० का ही एक अभिलेख मिला है जिसमें उक्त स्थान को 'पूजा शिला प्राकार नारायण वाटिका' कहा गया है। साथ ही यह भी उल्लेख है कि इसका निर्माण भगवान संकर्षण तथा वासुदेव के लिए सर्वतात नामक व्यक्ति ने कराया[८]। कुछ विद्वानों का मत है कि 'पूजा शिला' का अभिप्राय शालग्राम शिला से हो सकता है। पुराण साहित्य में संकर्षण और वासुदेव प्रकार की शालग्राम शिलाओं का वर्णन मिलता है[९]। श्री रत्न चन्द्र अग्रवाल की मान्यता है कि नगरी का 'नारायण वाट' एक विशाल भागवत स्थल (मन्दिर) था जिसमें बलराम तथा वासुदेव कृष्ण की मूर्तियाँ भी स्थापित हुई होंगी जो मुसलिम आक्रमणों में नष्ट हो गईं[१०]। उन्होंने यह भी सूचना दी है कि नारायण-बाट अभिलेख की दो प्रतियाँ और मिली हैं जो उदयपुर संग्रहालय में हैं। इससे संकेत मिलता है कि चित्तौड़ (प्राचीन मध्यमिका) का क्षेत्र भागवत धर्म का महान् केन्द्र था जहाँ एक व्यक्ति ने तीन ऐसे देवस्थानों का निर्माण कराकर शिलालेख लगवाए। नगरी का मन्दिर ३०० फीट लम्बा, १५० फीट चौड़ा तथा ९½ फीट ऊँचा था[११]। इससे उक्त देवस्थान की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है।

४—मथुरा के पास मोरा नामक ग्राम से पत्थर की एक बड़ी पटिया मिली है, जो अब मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है (स०-क्यू० १)। इसका समय प्रथम शती ई० पू० निर्धारित होता है क्योंकि इसके ब्राह्मी अभिलेख में महाक्षत्रप राजवुल के पुत्र स्वामी (शोडाष) द्वारा शैल-देव-गृह (पत्थर के मन्दिर) में पाँच वृष्णि-वीरों की चमकती हुई प्रतिमाओं की स्थापना का उल्लेख है।[१२] इस अभिलेख से सूचना मिलती है कि तक्षणकला विकासोन्मुखी थी और पत्थर से उत्तम कोटि के देवालय तथा प्रतिमाएँ बनते थे। ये पंच-वृष्णि-वीर कौन थे ? इस बारे में विद्वानों में मतभेद है। प्रायः मान्यता यही है कि इस सूचीं में संकर्षण (बलराम या बलदेव), वासुदेव (श्रीकृष्ण), प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरुद्ध सम्मिलित थे।[१३] ये सभी श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हैं। संकर्षण ज्येष्ठ भ्राता के रूप में, प्रद्युम्न व साम्ब उनके पुत्र के रूप में तथा अनिरुद्ध प्रद्युम्न के पुत्र होने के कारण श्रीकृष्ण के पौत्र थे।

५—मथुरा संग्रहालय में मन्दिर की एक द्वार-शाखा प्रदर्शित है (सं० १३-३६७)। इसके अनुसार वसु नासक व्यक्ति ने शोडाष के राज्य काल में एक तोरण और वेदिका का निर्माण कराया जो भगवान् (वासुदेव) को अर्पित हुआ।[१४] इसमें उस स्थान को 'महास्थान' कहा गया है। अनुमान है कि यह श्रीकृष्ण जन्म भूमि पर निर्मित हुआ था। इस स्तम्भ पर लतावल्ली कलात्मक ढंग से उत्कीर्ण हैं और तक्षण-कला की समुन्नति का परिचायक है। अभिलेख से यह सिद्ध होता है कि वासुदेव (श्रीकृष्ण) प्रधान पूज्य देव के रूप में समादृत थे। इसीलिए उनके स्थान को महास्थान के रूप में उल्लिखित किया गया।

६—मथुरा से मिले अभिलेखों के अतिरिक्त लेखक को १९७९ में मथुरा नगर के दक्षिण की ओर बसे मिर्जापुर नामक नगर से एक और शिलालेख मिला था जिसे स्वामी (महाक्षत्रप शोडाष) के कोषाध्यक्ष मूल वसु की पत्नी पाक्षका कौशिकी ने लक्ष्मी की मूर्ति सहित स्थापित किया था। साथ ही उसने सरोवर (पूर्वापुष्करिणी), एक उद्यान, एक सभा स्थान व एक स्तम्भ भी बनवाया था। अभिलेख के अनुसार यह स्त्री वसु की माता थी।[१४]

७—इसी प्रकार का एक अभिलेख लगभग सौ वर्ष पहले भी मिला था जिसकी विषय वस्तु वही थी, अन्तर केवल इतना था कि इसमें पश्चिमा पुष्करिणी का उल्लेख है[१६]। दुर्भाग्य से अब इस शिलालेख की स्थिति का ज्ञान नहीं है।

८—जन्मभूमि मथुरा १९५४ में मिला एक अभिलिखित वास्तुखण्ड भी उल्लेखनीय है (मथुरा संग्रहालय सं० ५४-३७६८) इसमें एक ओर एक स्त्री तथा एक पुरुष हैं। महिला के हाथ में तूणीर है। दूसरी ओर एक स्त्री तथा एक बच्चा है। लेख के अनुसार शोडाष के अमात्य की पत्नी ने एक तोरण बनवाया[१७]।

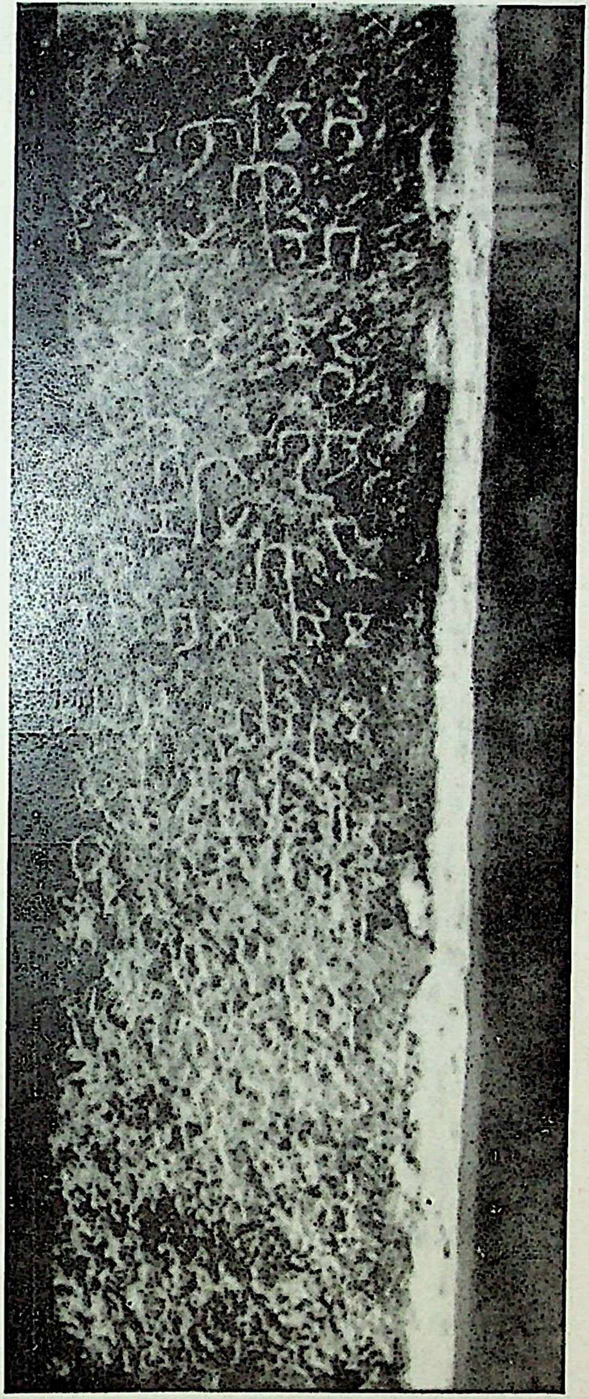

महाक्षत्रय शोडाष की संवृद्धि हेतु वसु द्वारा श्रीकृष्ण जन्म स्थान में स्थापित द्वारशाखा : मथुरा में प्राप्त ब्राह्मीलिपि का प्राचीनतम अभिलेख, प्रथम शती ई० पू०

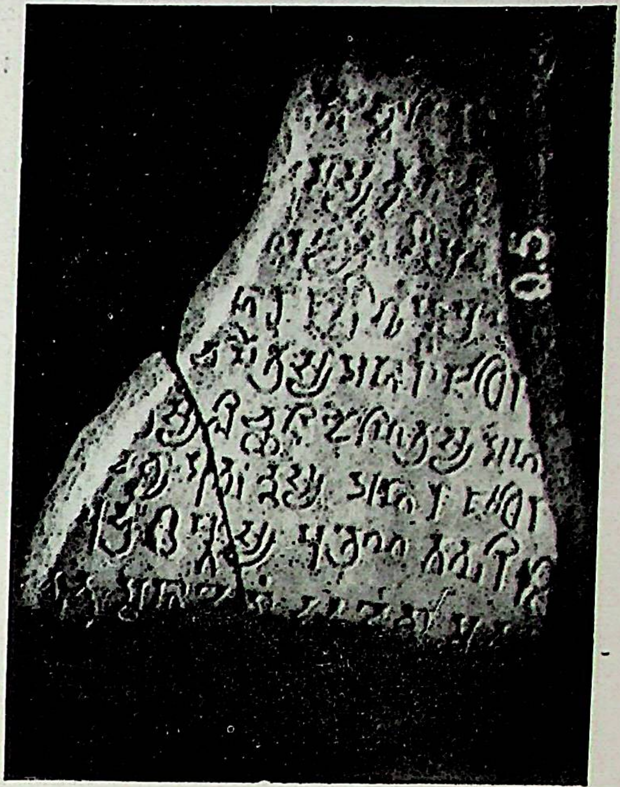

गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित शिला लेख
कटरा केशवदेव, मथुरा (उ०प्र०)

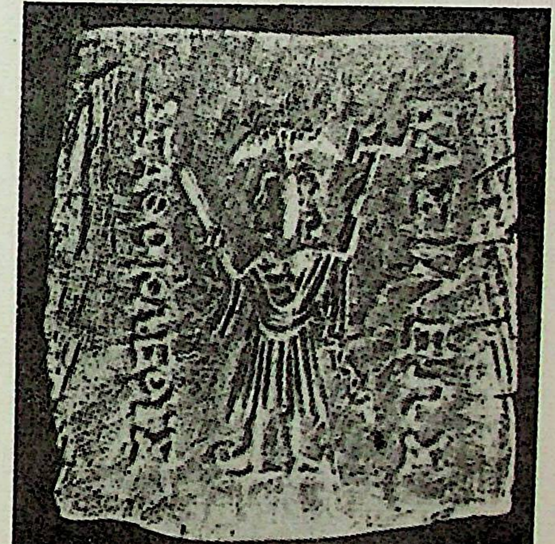

बलराम : अगाथोक्लिस की मुद्रा, अख्नूम (अफगानिस्तान) द्वितीय शती ई० पू०

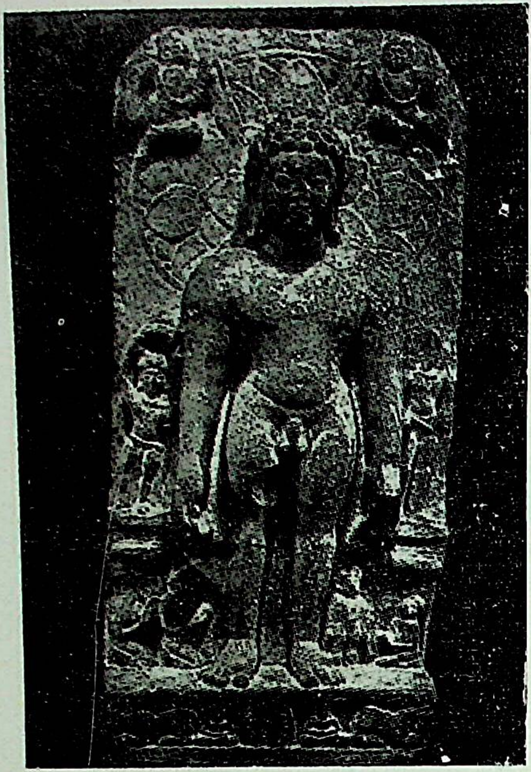

नेमिनाथ के साथ द्विभुज-कृष्ण : गुप्तकाल
मथुरा (उ० ०प्र), पाँचवीं शती ई०

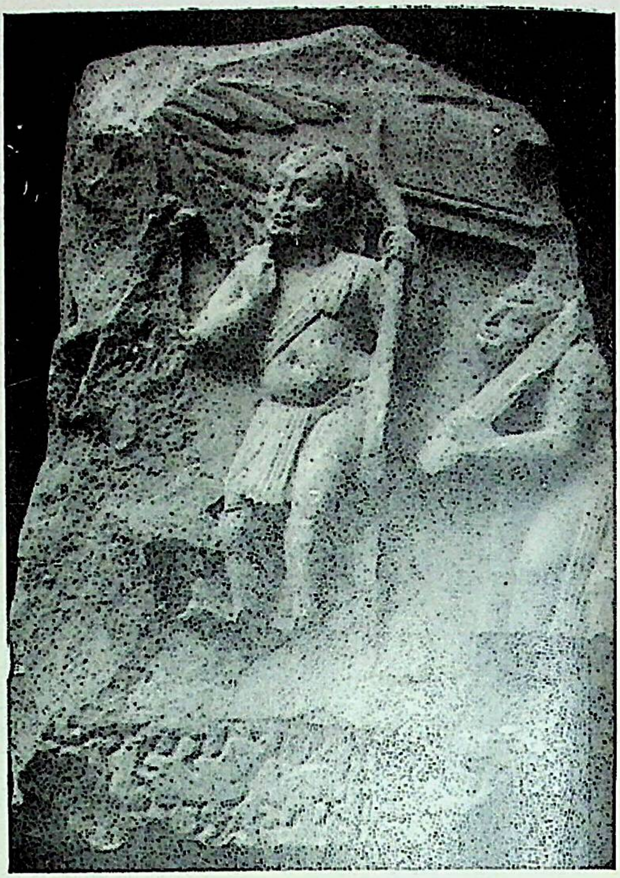

द्वारशाखा : कटरा केशवदेव मथुरा में प्राप्त पुरातत्व अवशेष
पीठिका पर तोरण की निर्मातृ के रूप में शोडाष के मन्त्री
की पत्नी का उल्लेख, प्रथम शती ई०

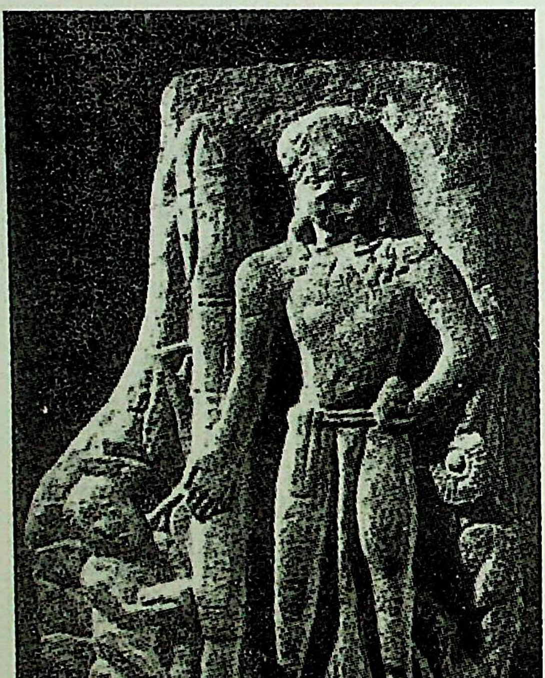

चतुर्भुजी श्रीकृष्ण-विष्णु : कुषाण काल
मथुरा (उ० प्र०), प्रथम शती ई०

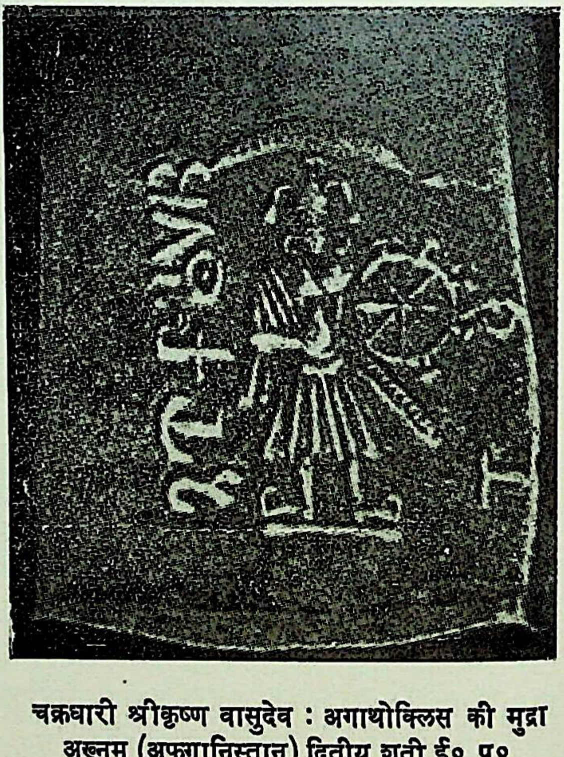

चक्रधारी श्रीकृष्ण वासुदेव : अगाथोक्लिस की मुद्रा
अख्नूम (अफ़गानिस्तान) द्वितीय शती ई० पू०

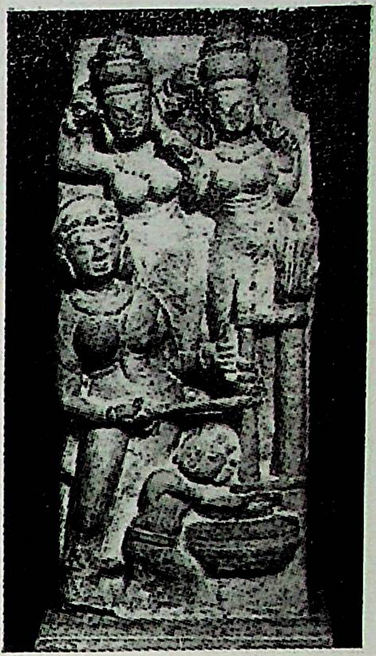

माखन चोर : भारत कला भवन (काशी हिंदू
विश्वविद्यालय), गुप्तकाल ४थी ५वीं शती ई०

कृष्णलीला : मंदोर (राजस्थान), चौथी-पाँचवीं शती ई०

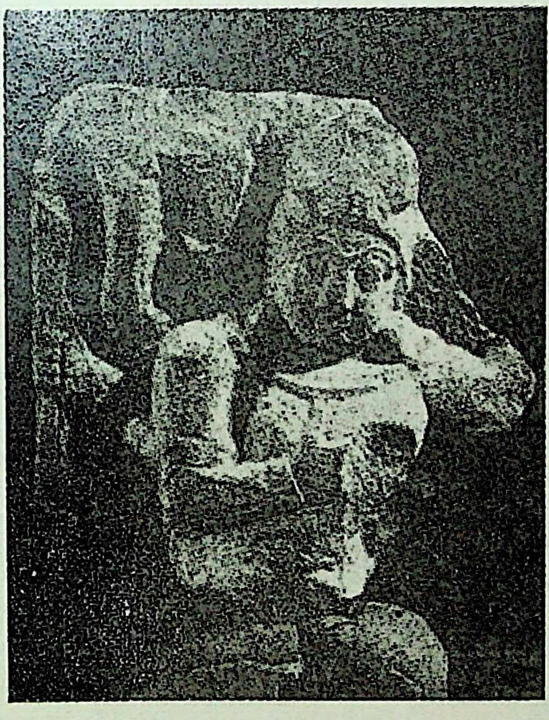

अष्टभुजी विष्णु, कौशाम्बी
इलाहाबाद (उ० प्र०)
प्रथम शती ई०

देवकी द्वारा वसुदेव को कृष्णार्पण
देवगढ़ (उ० प्र०)
गुप्तकाल, पांचवीं शती ई०

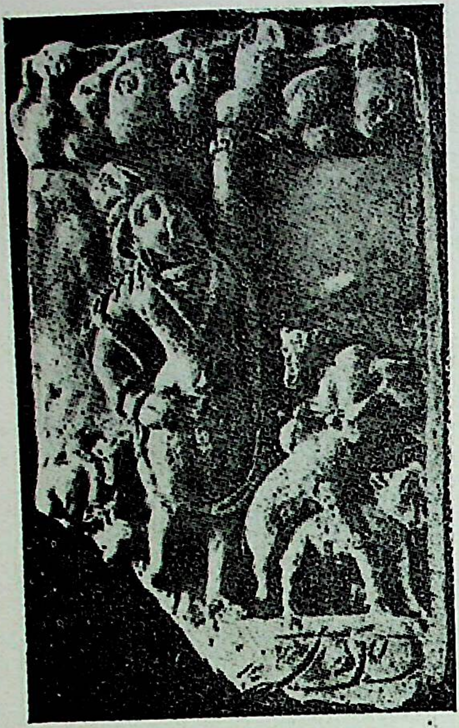

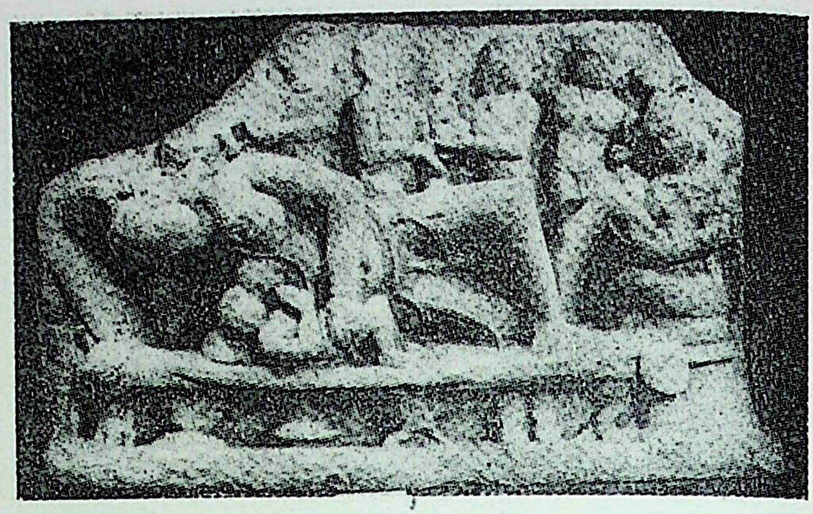

श्रीकृष्ण जन्म : संकिसा, फर्रुखाबाद (उ० प्र०)
१०वीं शती ई०

कृष्ण गोवर्धनधारी : रंगमहल (राजस्थान), ४थी ५वीं शती ई०

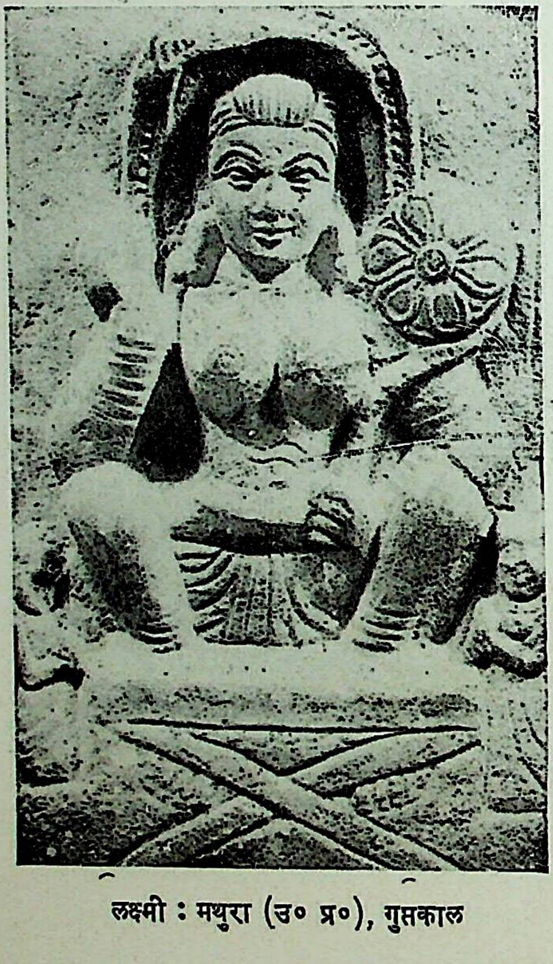

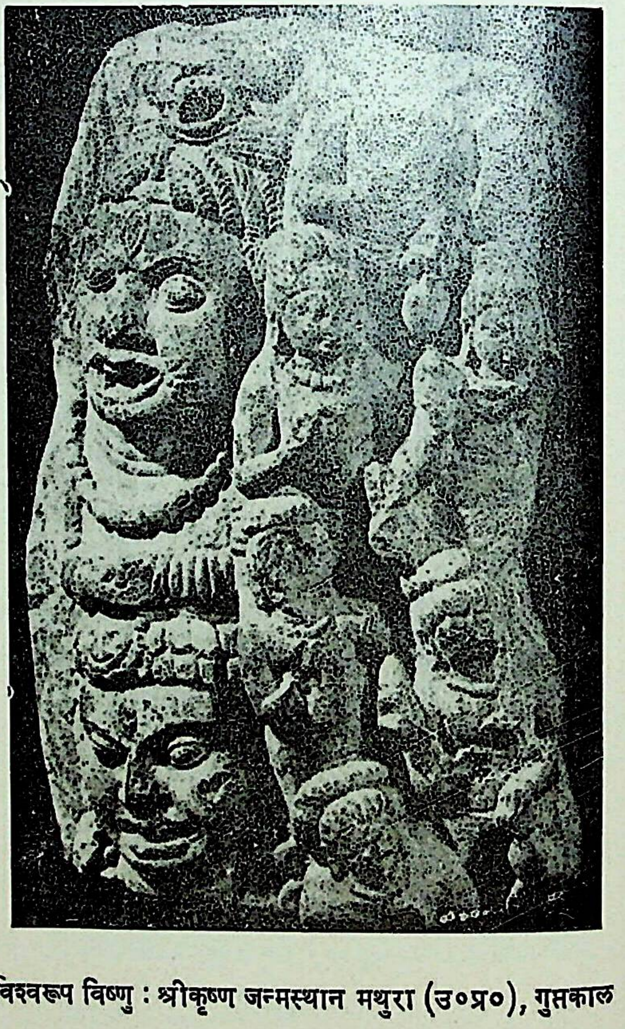

लक्ष्मी : मथुरा (उ० प्र०), गुप्तकाल

विश्वरूप विष्णु : श्रीकृष्ण जन्मस्थान मथुरा (उ०प्र०), गुप्तकाल

ऐसा प्रतीत होता है कि पाक्षका कौशिकी एक संभ्रांत महिला थी जिसके पति तथा पुत्र महाक्षत्रप शोडाष के राज्य में उच्च पदों पर आसीन थे। यह ब्राह्मण वंश के थे और भागवत धर्म के अनुयायी थे। इन्होंने भागवत धर्म से संबन्धित कुछ देवालय बनवाये थे। मथुरा संग्रहालय का उक्त वास्तु-अवशेष जन्मस्थान से मिला और वह भी एक तोरण का भाग। इससे स्पष्ट है कि वहां (जन्मस्थान पर) उस समय एक देवस्थान बना था। ऐसी स्थिति में मथुरा कैन्ट परिसर में एक कुंए से मिली अभिलिखित शाखा द्वारा, जिसका उल्लेख ऊपर कर चुके हैं (मथुरा संग्रहालय सं० १३-३६७) और जिसमें वसु का नाम उत्कीर्ण है, जन्म भूमि से ही प्राप्त हुई होगी। इसके लिए मोरा ग्राम तक पहुँचना ठीक नहीं है, यद्यपि मोरा में भी वृष्णि-मन्दिर था।[१८]

राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के ये आठ शिलालेख इस धारणा का समर्थन करते हैं कि इस क्षेत्र में शुंगकाल या उससे पूर्व वासुदेव (श्रीकृष्ण) एक महत्वपूर्ण देवता के रूप में प्रतिष्ठित थे, और उनके लिए देवस्थान बनाए गए थे। यहाँ इस तथ्य का संकेत करना भी आवश्यक है कि वासुदेवभक्ति अथवा उनके सम्मान में देवालय या मूर्तियों की प्रतिष्ठा मात्र प्रस्तर शिलालेखों, देवालयों या मूर्तियों की प्राप्ति तक सीमित करना उचित नहीं है। प्रस्तर से पूर्व मिट्टी तथा लकड़ी का उपयोग होता था, किन्तु काल गति, जलवायु एवं वातावरण की प्रतिकूलता के फलस्वरूप प्रस्तर के अतिरिक्त अन्य पुरासाक्ष्य हमें उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

जो भी शिलालेख मिले हैं उनकी पुष्टि साहित्यगत उद्धरणों से होती है। महाभारत, जिसका अधिकांश भाग शुंगकाल से पूर्व स्वरूप ले चुका था, कृष्ण-कथा का मुख्य स्रोत है और उसमें अनेक स्थानों पर श्रीकृष्ण के दिव्य स्वरूप का वर्णन है। उसका एक अंश गीता का एकादश अध्याय उनके दिव्य और विराट् रूप का साक्षात्कार कराता है।[१९] दूसरी शती ई० पू० में अष्टाध्यायी पर महाभाष्य के प्रणेता पतञ्जलि 'प्रासादे धनपति राम केशवानाम्' की उक्ति से कुबेर, बलराम तथा केशव के मन्दिर की स्थिति का उल्लेख करते हैं[२०]। यहाँ वासुदेव या कृष्ण नाम के स्थान पर केशव शब्द का प्रयोग इसलिए महत्वपूर्ण है कि इससे श्रीकृष्ण की लीलाओं के प्रचलन का बोध होता है। महाभाष्य में अन्यत्र वासुदेव द्वारा कंस को मारे जाने की घटना का स्पष्ट उल्लेख है। किस प्रकार से कृष्ण लीला का कथानक व अभिनय चलता था इसका भी विस्तार से वर्णन है[२१]।

उक्त संदर्भों से यह स्पष्ट होता है कि ई० पू० में ही श्रीकृष्ण की उपासना सुप्रतिष्ठित हो चुकी थी और कुछ देवालय, देवस्थान बनने लगे थे जिनमें मूर्तियाँ भी प्रतिष्ठित हुई होंगी, यद्यपि इनके प्रत्यक्ष प्रमाण हमें सुलभ नहीं होते। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि निरन्तर हुए बर्बर आक्रमणों व संहार में पुरा साक्ष्य लुप्त हो गए। दूसरा कारण यह संभावित है कि आकृतियों के निर्माण का माध्यम ही अधिक स्थायी प्रकृति का न हो जैसे कपड़ा, कागज, लकड़ी, हाथी दाँत आदि भारत की विषम जलवायु में स्थिर नहीं रह पाते। एक अन्य कारण यह भी प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण को हम जिस रूप में देखने के अभ्यासी हो गए हैं वह अधिक प्राचीन नहीं है अर्थात् बंशीवादक, मुरलीमनोहर तथा बाँके बिहारी कृष्ण राजपूती किशोर का प्रतिनिधित्व करते हैं और श्रीकृष्ण का यह परिवेश अबसे लगभग एक हजार वर्ष से ही प्रचलित है। इसी प्रकार बाल गोपाल के रूप में श्रीकृष्ण की पूजा और भी अर्वाचीन है। इसके प्रसार का मुख्य श्रेय पुष्टि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु बल्लभाचार्य को है, जिन्हें पाँच सौ वर्ष हुए हैं। ऐसी स्थिति में अब प्रश्न यह उठता है कि श्रीकृष्ण सम्बन्धी प्राचीन अवधारणा क्या थी और पुराशिल्प में उनका अंकन किस प्रकार हुआ।

जिस प्रकार यमलार्जुन प्रसंग का मोहनजोदड़ों की मुद्रा में आलेखन एक सुखद रहस्य के रूप में उद्घाटित होता है उसी प्रकार कृष्ण और बलराम का प्रथम अंकन दूसरी शती ई० पू० के ऐखानम (अफगानिस्तान) से प्राप्त यूनानी राजा अगथोक्लियस के सिक्कों पर मिलना एक और पहेली है। प्रो० फिलियोजा ने इन आकृतियों को बलराम व कृष्ण ही माना है।[२२] लगभग चौकोर या लम्बोतर चाँदी के सिक्के में एक ओर गोप वेश में श्रीकृष्ण खड़े हैं। वह धोती दुपट्टा

और संभवतः पर्ण-वस्त्र पहने हैं।[२३] सिर के ऊपर छोटा छत्र जैसा है जो बीच में नुकीला है फिर कुछ चौड़ा हो गया है और उसके दोनों ओर फुन्दे लटक रहे हैं। कर्ण-कुण्डल विशाल हैं। वस्त्र धारीनुमा है और दाहिने कन्धे को ढकता हुआ कुहनी के नीचे लटकता है। उत्तरीय जैसा ही धारीनुमा आजानु अधोवस्त्र है। घुटने से नीचे लम्बे जूते आरम्भ होते हैं और पंजे विपरीत दिशाओं में हैं। जूते का अग्र भाग नुकीला है और इस भाँति मुड़ा है कि एक वृत्त बन जाता है। यह प्राचीन शक परिधान तथा राजपूती योद्धाओं के जूतों से मिलता है। आकृति का दाहिना हाथ कुहनी से मुड़ा है और सामने एक पात्र को लिए हैं। बाईं ओर एक खड्ग जैसा लटक रहा है और उसके ऊपर एक बड़ा चक्र है जिसके अन्दर आठ अरे (तानें) हैं। चक्र की परिधि के बाहर वाण जैसे फलक निकले हैं। इनकी संख्या आठ होनी चाहिए, किन्तु सिक्के में पाँच ही दिखाई देते हैं। आकृति के दाहिनी ओर ब्राह्मी में 'अगथुक्लियस' लेख है। इस सिक्के पर बना चक्र कृष्ण की प्रमुख परिचिति है।

किन्तु सिक्के पर अंकित इस आकृति की कृष्ण रूप में पहचान मात्र चक्र से संभव नहीं थी। सिक्के के दूसरी ओर का अंकन इस परिचय की पुष्टि करता है। लगभग पूर्व वर्णित परिधान पहने खड़ी आकृति के दोनों हाथ आधे ऊपर उठे हैं और उनमें से बाँए हाथ में हल स्पष्ट है, दूसरे में गदा या मूसल है। हल और मूसल लिए बलराम की आकृति द्वितीय शती ई० पू० में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इसका महत्वपूर्ण साक्ष्य है जुनसुये मथुरा से प्राप्त और अब राज्य संग्रहालय, लखनऊ में प्रदर्शित बलराम की शुंग कालीन लाल पत्थर की प्रतिमा (सं० जी० २१५)। इसके दाहिने हाथ में हल व बाएं में मूसल या मुद्गर है। शेष-नाग के अवतार के रूप में प्रसिद्ध इनके मस्तक पर सर्पफणों का आच्छादन है और पीछे भी सर्प का शरीर (भोग) है। अवश्य ही यहाँ खड़े होने की मुद्रा में कुछ अन्तर है। दाहिना पैर दाहिनी ओर मुड़ा हैं, किन्तु बाँया पैर सामने की ओर है। मस्तक पर बड़ी पगड़ी शुंगकालीन परिधान के अनुसार दो भागों में विभक्त है। कानों में बड़े गोल कुण्डल हैं, ग्रीवा में कण्ठा है। इस प्रकार परिधान में अन्तर होते हुए भी मूर्तिशास्त्रीय आयुधों में बलराम की इस प्रस्तर प्रतिमा तथा अगथोक्लियस के सिक्के में पर्याप्त साम्य है। सिक्के पर यूनानी लिपि में 'बैसिलियौस अगथोक्लियस' लिखा है।[२४]

कुछ वर्ष पूर्व मथुरा संग्रहालय की आहत मुद्राओं का परीक्षण करते समय डा० परमेश्वरी लाल गुप्त ने लेखक की उपस्थिति में एक-दो सिक्कों पर बलराम व कृष्ण का अंकन देखा था। इनका समय द्वितीय शती ई० पू० या इस से कुछ पूर्व का हो सकता है।

ईसा से पूर्व अथवा कुछ बाद की आकृतियों में बलराम, एकानंशा तथा कृष्ण की तीन स्वतन्त्र प्रतिमाएं देवगढ़, गया से मिलीं और अब पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं।[२५] तीनों देवाकृतियाँ खड़ी हैं। बलराम के मस्तक के पीछे सर्पफण है। दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है और बाँएं में सिंह लांगल हल है अर्थात् हल के एक ओर सिंहाकृति बनी है। गले में कण्ठा या ग्रैवेयक है। कानों में बड़े कुण्डल हैं और सिर पर पगड़ी है, वक्ष भाग निर्वस्त्र सा है और कमर से धोती बँधी है।

दूसरी आकृति देवी एकानंशा या सुभद्रा की है जो अभय मुद्रा में खड़ी है और बाँया हाथ कट्यवलम्बित है।

तीसरी आकृति विष्णु रूप में कृष्ण की है जो चतुर्भुजी है। दाहिना एक हाथ अभय मुद्रा में कुछ उठा हैं। दूसरे हाथ में गदा हैं जो अब टूटा है। बाएँ दो हाथों में से कन्धे से ऊपर के हाथ में चक्र है और दूसरे नीचे लटकते बाएँ हाथ में शंख है।

तीन मूर्तियों के इस समूह के कालनिर्धारण में कुछ कठिनाई हो सकती है। यक्ष प्रतिमाओं के पर्याप्त प्रभाव वस्त्र विन्यास, आभूषण, पगड़ी आदि से इन्हें ईसा पूर्व में स्थिर करने की इच्छा होती है, किन्तु ये प्रतिमाएँ पहली—दूसरी शती ई० की प्रतीत होती हैं। यद्यपि डोरिस श्री निवासन[२६] तथा प्रमोद चन्द्र इन्हें कुषाणोत्तर काल का स्वीकार करते है।[२७] ऐसी स्थिति में इन पर मथुरा का प्रभाव स्पष्ट है।

बलराम तथा एकानंशा के साथ श्रीकृष्ण को चतुर्भुज रूप में अंकित करने की प्रथा ई० पू० से मध्यकाल तक की प्रतिमाओं में दृष्टिगत होती है। कुषाण युगीन माथुरी शिल्प में अंकित इस प्रकार के कुछ शिलापट उल्लेखनीय हैं (मथुरा संग्रहालय सं० ६७—५२९ व यू० ४५)। बलराम व एकानंशा के साथ अंकित चतुर्भुजी देव विष्णु नहीं कृष्ण हो सकते हैं। इससे यह अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि पुराशिल्प में श्री कृष्ण का अंकन द्विभुज तथा चतुर्भुज रूप में ईसा पूर्व में हीं स्थिर हो चुका था। इस दृष्टि से विष्णु की सभी चतुर्भुज प्रतिमाओं को हम मात्र विष्णु प्रतिमा कह कर संतोष नहीं कर सकते अपितु उन्हें वासुदेव आकृति मानने का मार्ग प्रशस्त होता है।

मथुरा क्षेत्र में प्राचीन विष्णु प्रतिमाएँ द्विभुजी कम हैं चतुर्भुजी, षट्भुजी अथवा अष्टभुजी अधिक हैं। श्रीकृष्ण देव या देवाधिदेव के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। अतः उन्हें बहु-बाहु रूप में अंकित करना एक स्वाभाविक प्रक्रिया थी। महाभारत के अंश गीता में श्रीकृष्ण चतुर्भुज रूप में मान्यता प्राप्त है।[२८] गीता के अतिरिक्त अन्य प्रसंगों में भी महाभारत में वह चतुर्भुजी रूप में वर्णित हैं।[२९] साथ ही कुछ स्थानों पर उन्हें द्विभुजी भी बताया गया है।[३०]

ऐसी भी संभावना है कि लीलारूप में कृष्ण द्विभुजी हैं और आराध्य देव के रूप में उन्हें चार भुजाओंसे युक्त दिखाया गया हो[३१]। एकानंशा समूह में श्रीकृष्ण आराध्य चतुर्भुजी रूप में ही प्रदर्शित हैं। इसी प्रकार अपने चतुर्व्यूह रूप में भी जब उन्हें बलराम, अनिरूद्ध, प्रद्युम्न आदि के साथ दिखाया गया तो चतुर्भुजी रूप ही मान्य रहा। मथुरा संग्रहालय की कुषाण कालीन प्रतिमा सं० १४-३९२-९५ इस दृष्टि से अवलोकनीय है।

उपास्य परम्परा में व्यूहात्मक अन्य मूर्तियों में भी उन्हें चतुर्भुजी प्रदर्शित करने के प्रमाण हैं। इस दृष्टि से मथुरा संग्रहालय का शिलापट सं० ३४-२५२० उल्लेखनीय है जिसमें अर्धनारीश्वर, विष्णु, गजलक्ष्मी व कार्तिकेय अंकित हैं। विष्णु या वासुदेव के बाएँ हाथ में शंख के स्थान पर जलपात्र है।

प्राचीन शिल्प में श्री कृष्ण को चतुर्भुजी रूप में प्रदर्शित करने के अन्य कारण के बारे में डा० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी का अनुमान है कि मथुरा में कुछ अवतार-अंकनों जैसे वराह (मथुरा संग्रहालय सं० ६५-१५), हयग्रीव (भारत कला भवन, वाराणसी सं० ४८४६), वामन या त्रिविक्रम (लखनऊ संग्रहालय सं० जें० ६१०) तथा उसी समय के कोन्डो मोतु से मिले नृसिंह आदि में चार भुजाएँ दिखाई गई हैं। अतः प्रमुख अवतार वासुदेव कृष्ण को भी चतुर्भुज रूप में प्रदर्शित करना उसी परम्परा का अनुसरण माना जाना चाहिए।[३२]

इस प्रसंग में मल्लार (बिलासपुर, मध्यप्रदेश) की चतुर्भुजी विष्णु मूर्ति की चर्चा करना आवश्यक है। मूर्ति के आयुध पर शुंगकालीन (दूसरी शती ई० पू०) का ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। इस प्रकार अब तक प्राप्त विष्णु मूर्तियों में यह प्रतिमा सबसे प्राचीन सिद्ध होती है। कुछ विद्वान् इसे हरिहर की भी मूर्ति बताते हैं।[३३] यद्यपि इसमें औचित्य नहीं प्रतीत होता। इस अत्यन्त दुर्लभ और महत्वपूर्ण प्रतिमा की प्राप्ति से यह प्रश्न उठता है कि यह मात्र विष्णु का प्रतिनिधित्व करती है अथवा कृष्ण वासुदेव के स्वरूप का प्रदर्शन है। लेखक के मत से इसे वासुदेव प्रतिमा मानना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि तत्कालीन बेसनगर के गरुड़ स्तम्भ से यह स्पष्ट है कि मध्य भारत में उस समय वासुदेव प्रधान देवता के रूप में समादृत थे और उन्हें 'देवदेवस' अर्थात् देवताओं का देवता बताया गयाहै। साथ ही उनकी प्रतिष्ठा में गरुड़-ध्वज की स्थापना यह सिद्ध करती है कि द्वितीय शती ई० पू० तक या उससे पहले विष्णु के आयुध व गरुड़ वासुदेव के साथ संयुक्त हो चुके थे अर्थात् विष्णु का स्थान लोक मानस में वासुदेव ने ले लिया था। ऐसी स्थिति में मल्लार की संदर्भित प्रतिमा को वासुदेव का प्रतिनिधि स्वरूप मानने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती।

आरंभिक पुरासाक्ष्य के अनुशीलन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं।

१—मोहनजोदड़ों से मिली यमलार्जुन दृश्य की टिकिया स्वयं में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। किन्तु यह एकमात्र आकस्मिक प्रमाण तब तक संदिग्ध बना रहेगा जब तक कोई अन्य साक्ष्य उपलब्ध न हो तथापि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

२—द्वितीय शती ई० पू० तक साहित्य, शिल्प तथा अभिलेखों में वासुदेव कृष्ण को प्रधान देवता के रूप में प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। वर्तमान पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा राजस्थान में भागवत धर्म के अनुयायियों अथवा वासुदेव पूजकों की संख्या बढ़ रही थी तथा उन्होंने कुछ पूजास्थल भी बनवाये।

३—यह मान्यता न केवल भारत में बद्ध मूल थी अपितु पश्चिमी एशिया और यूनान तक पहुँच चुकी थी। उससे प्रभावित हो हेलियोडोरस ने यूनान से आकर विदिशा में गरुड़-ध्वज की स्थापना की तथा अगथोक्लियस ने अपने सिक्कों पर बलराम व कृष्ण को स्थान दिया।

४—आरम्भिक चतुर्भुजी विष्णु-मूर्तियाँ वासुदेव-कृष्ण का भी प्रतिनिधित्व करती हैं। संभवतः लीला रूप में उनका द्विभुजी रूप मान्य था, किन्तु उपास्य रूप में उनका चतुर्भुजी स्वरूप समादृत था।

५—ईसा पूर्व से आरम्भिक कुषाण-युगीन चतुर्भुजी वासुदेव कृष्ण की मूर्तियों में गदा, चक्र तथा शंख मिलते हैं और एक हाथ सामान्यतया अभय मुद्रा में रहता है। कमल कालान्तर का संयोग है। कभी-कभी शंख के स्थान पर जलपात्र भी रहता है।

६—कृष्ण की वास्तविक पहचान में एकानंशा पट अधिक सहायक हैं क्योंकि उनमें वह बलराम के साथ चतुर्भुजी स्वरूप में प्रदर्शित हुए हैं। इसी प्रकार व्यूहात्मक प्रतिमाओं से भी वासुदेव कृष्ण को पहचानने में सहायता मिलती है।

७—श्री कृष्ण के जिस स्वरूप को हम देखने के अभ्यासी हो गए हैं वह मध्य युग में विकसित हुआ। प्राचीन शिल्प में यह सर्वथा भिन्न है।

सन्दर्भ :

१—ई० जे० एच० मैके, फर्दर एक्जकेवेशंस ऐट मोहनजोदड़ो, १९३८, पृ० ३५५ आकृति सं० ९०/२३-२४
वह लिखते हैं : 'A Comparision may, perhaps be made between this scene and the tale of Nalakubara and Manigriva, demons of Kubera who accordin g to the Bhagavata were metamorphosed through a curse of Narada into two Arjuna trees, but were liberated by Krishna who pulled the trees down. This legend may conceivably be a survival of much older one.'

२—श्रीमद्भागवत् १०-१०-२३-२८ विशेष रूप से २८वाँ श्लोक उल्लेखनीय है :—

तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदा :।
कृष्णं प्रणम्य शिरसा खिल लोकनाथं बद्धान्जली विरजसाविदमूचतुः स्मः ॥

३—वासुदेव शरण अग्रवाल, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ७८१

४—'एनुअल रिपोर्ट', आर्क्यालौजिकल सर्वे आफ इण्डिया, १९१२-१३, पृ० ८२ तथा दिनेश चन्द्र सरकार, सिलेक्ट इनस्क्रिप्शंस १९६५पृ० ८८-८९, इसका मूल इस प्रकार है :

१—(दे) व देवस वा (सुदे) वस गरुडध्वजे अयं
२—कारिते इ (अ) हेलियो दोरेण भाग
३—वतेन दियस पुत्रेण तक्खसिलाकेन

४—योन दूतेन (आ) गतेन महाराजस
५—अंतलिकितस उप (ं) ता सकासं राञो
६—काशी पु (त्र) स (भा) ग भद्रस त्रातारस
७—वसेन च (तु) दसेम्नराजेन वधमानस
१—त्रिणि अनुत पदानि (इय) अनुठितानि
२—नेयंति (खगं) दम चाग अप्रमाद

५—आर्ट्स एशियाटिक्स, भाग २६, १९७३, पृ० १२३

६—ललित कला, सं० १३ पृ० २१-२७

७—प्रिय तोष बनर्जी, दि लाइफ ऑफ कृष्ण इन इन्डियन आर्ट, १९७८, पृ० १०३-४
अभिलेख है : 'भागवतो प्रसादोत्तमस गरुड़ध्वज कारितो द्वादशावर्धाभिषिते-भागवतेन—'

८—एपिग्राफिया इन्डिका, भाग २२, पृ० २०४

९—इन्डियन हिस्टौरिकल क्वार्टर्ली, भाग ९, पृ० ७९६

१०—बुलेटिन आफ म्यूज़ियम एण्ड आर्कियोलाजी, १९७८–७९, पृ० २८–२९

११—वही, पृ० २८

१२—लेख इस प्रकार है :
१—महाक्षत्रपस राज वुलस पुत्रस स्वामि … … …
२—भगवतां वृष्णीनां पंचवीराणां प्रतिमा शैल देवगु … …. ….
३—यस्तोपाया, शैलं श्री मद्गृहमतुलमदथसमधार … …. …
४—आर्चा देशां शैलां पंच ज्वलत इव परम वपुषा … … …
डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, मथुरा संग्रहालय सूची पत्र १९५१, पृ० १३०–३२

१३—डोरिस श्री निवासन, बुलेटिन आफ म्यूज़ियम एण्ड आर्कियोलाजी, १९७९–८०, पृ० ५। श्री निवासन इस अभिलेख को १० से २५ ई० के बीच निर्धारित करती हैं।

१४—भग्न लेख इस प्रकार है :
१— … …. …. (क्ष)
२— स (स्) य
३— (वस)
४— … … … (प) शिव
५— ष पु (त्) रेण कौशि (की पुत्रेण)
६— वसुना भगव (तो वासुदे)
७— वसस्य महास्थान (…. …. ….)
८— लं तोरणं वे (दिका च प्रति)
९— ष्ठापिता प्रीतो (भ) (भगवान वासु)
१०— देव: स्वामिस्य (महाक्षत्र)

११– वास्य शोडाष (एस्यं ··· ···)
१२– संवर्तयताम्

यह द्वारशाखा कहाँ से मिली इस बारे में मतभेद है। १९१३ ई० में पं राधाकृष्ण ने इसे मथुरा कैन्ट के एक कुंए की सफाई कराते समय निकलवाया। लूडर्स का विचार था कि यह मोरा के भागवत स्थल से मिला किन्तु डा० अग्रवाल इसे जन्मभूमि से प्राप्त मानते थे। यही धारणा उपयुक्त प्रतीत होतीं है।

१५–लेख इस प्रकार हैं :

१– स्वामिस्य महाछत्रपस्य शुण्डासस्य गांजवरस्य ब्राह्मणस्य
२– शेग्रव गोत्रस्य मूलवसुस्य भार्यये वसुस्य मातरे
३– कौशीकिये पाक्षकाये कारिता पुष्करिणि इमाषां यमड पु
४– ष्करपीनं पूर्वा पुष्करणी आरामो सभा उदपानो स्तम्भो शिरिये प्रतिमा
५– ये शिला पटो च

१६–जर्नल आँफ दि राँयल एशियाटिक सोसाइटी, भाग ५, १८७०, १८८, पृ० २९

१७–···· ···· ···· शोण्डासस अमात्यस
··· ···· ···· (भार्या) ये देविये तोरणं कारितम्
–'रमेश चन्द्र शर्मा, 'न्यूली ड़िस्कवर्ड इन्सक्रिप्शन आफ दि रेन आर्फ महाक्षत्रप शोडाष फ्राम मथुरा' कल्चरल कन्टूर्स आफ इण्डिया, १९८१. पृ० ९६--९७

१८–वही, पृ० ९७

१९–गीता ११, १५–३१

२०–महाभाष्य, पार्णिनि के सूत्र, २, २, ३४ पर टीका

२१–ये तावदेके शोभनिका (शोभिका) नामैते प्रत्यक्षं संसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलि बन्धयन्तीति। चित्रेषु कथम् ? चित्रेष्वपि उद्गूर्णा नियतिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंस कर्षण्यश्च (कंसस्य कृष्णस्य च) ग्रन्थिकेषु कथमं ? यत्र शब्द ग्रन्थ गड्ड मात्रं लक्ष्यते (गड्ड मनुष्यघातः) तेऽपि हि तेषामुत्पति प्रभृत्या विनाशायद्धिर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धि विषयान् प्रकाशयन्ति। आतश्च सतोव्यामिश्रा हि दृश्यन्ते केचित्कंस भक्ता भवन्ति केचिद् बासुदेव भक्ताः।
पाणिनि के सूत्र ५, १, २६ पर महा भाष्य तथा 'प्रयोक्तु दर्शन विषये इति किमर्थंम्।
जघान कंसं किल वासुदेवः। पाणिनि के सूत्र ३, २, १११ पर महाभाष्य

२२–'आर्ट्स एशियाटिक्स' भाग ३६, १९७३, पृ० १२३

२३–प्रो० कृष्ण दत्त बाजपेयी, 'श्रीकृष्ण का वीर रूप' उ० प्र० संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका भाग २१–२४, पृ० ६०–६१

२४–प्रिय तोष बनर्जी, उपर्युक्त, आकृति सं० १ व २

२५–वही, पृ० ७९ तथा आकृति सं० ३

२६–डोरिस श्रीनिवासन, उपर्युक्त, पृ० ७, आकृति सं० ४–६

२७–प्रमोद चन्द्र, 'सम रिमॉर्क्स ऑन बिहार स्कल्पचर फ्राम दि फोर्थ टु दि नाइन्थ सेन्चुरी, आस्पेक्ट्स ऑन इन्डियन आर्ट, लीडन, १९७२, पृ० ६०

२८–'तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते'-११, ४६। गीता के प्रथम अध्याय में जब श्रीकृष्ण युद्ध क्षेत्र में शंखनाद करते हैं 'पांचजन्यं हृषीकेशो' तो वह स्थिति भी चतुर्भुजी ही प्रतीत होती है क्योंकि वह रथ चलाते हुए ही शंख बजाते हैं। रथ चलाना तथा शंख बजाना दोनों कार्य पृथक्–पृथक् दो हाथों से ही हो सकते हैं।

२९–अथ तेनैव मार्गेण शंख चक्र गदाधरः।
आजगाम महाबुद्धिस्तङ०काचैनब्रमवीत।

अश्वमेध पर्व ५५.२३

त्वमगाथे ऽ प्लवे मग्नाम् पाण्डवान् कुरुसागरे।
समुद्धरप्लवो भूत्वा शंख चक्र गदाघर।

द्रोण पर्व ८३.१७

नमस्ते देव देवेश सनातन विशातन।
विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ॥१८॥
शंखिने चक्रिणे नित्यं शार्गिणे पीतवाससे।
वनमालाधरायैव तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥

शान्ति पर्व ४७.४९ के बाद प्रक्षिप्तों में।

यं देवं विदुषो गान्ति तस्य कर्माणि सैन्धव।
यमाहुरजितं कृष्णं शंख चक्र गदा धरम् ॥
श्री वत्स धारिणं देवं पति कौशेय वाससम्।
प्रधानः सोऽस्त्रविदुषाँ तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥

वन पर्व २७२.७३–७४

३०–यदि चैतत्कथंचित्स्याल्लोक पर्यासनं भवेत्।
हन्यां कर्णं तथा शल्यं बाहुभ्यामेव संयुगे ॥

कर्ण पर्व ८७–१०६

हते च तस्मिन्भुजगे किरीटिना स्वयं विभुः पार्थिव भूतलाद्थ।
समुज्जहाराशु पुनः पतन्तं रथं भुजाभ्यां पुरुषोत्तमस्ततः ॥

कर्ण पर्व ९०.५५

३१–एन० पी० जोशी, 'कृष्ण इन आर्ट व्हेदर टू आर्म्ड ऑर मल्टी आर्म्ड' बुलेटिन ऑफ म्युजियम्स एण्ड आर्कियोलाजी इन यू० पी०, २१–२४, पृ० २१

३२–वही, पृ० २२

३३–प्रियतोष बनर्जी, उपर्युक्त, पृ० १०४

—डॉ० रमेशचन्द शर्मा

●

कृष्ण-कथानक विषयक दो प्राचीनकाष्ठ शिल्प

राजकीय संग्रहालय, मथुरा–कला की लाल बलुए चित्तीदार पत्थर की कलाकृतियों के संग्रह के लिए विश्वविख्यात है, जो कि आज शताधिक वर्षीय संस्था के रूप में अपने भंडार में अन्य वर्गों यथा मृणमूर्तियों, लघुचित्र, धातुमूर्तियों, काष्ठशिल्प की कलाकृतियों को सुरक्षित रखे है। यद्यपि इनकी संख्या सीमित ही है, पर कई बार दुर्लभ अंकन भी मिल जाते हैं। काष्ठ-शिल्प-संग्रह की कलाकृतियों में कृष्ण-कथानक संबधी ऐसी दो कलाकृतियों की चर्चा उपादेय होगी।

भारत में काष्ठ-शिल्प का व्यवहार कब प्रारम्भ हुआ, आज निश्चयपूर्वक कहना व्यावहारिक नहीं है, परन्तु साहित्यिक प्रमाणों को यदि स्वीकार करे तो वेदों के उत्तरार्ध से काष्ट-शिल्प-व्यवहार के प्रमाण प्रश्नोपनिषत् से ही मिलने लगते हैं। बराहमिहिर की वृहत्संहिता में 'बनप्रदेश' शीर्षक प्रकरण में मूर्तियों के लिए लकड़ी के चयन के विस्तृत निर्देश हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं अशोक के स्तंभ लेखों में मूर्तियों के उल्लेख मिले हैं, जिनसे मौर्य युग में काष्ठ मूर्तियों के व्यवहार में रहने की पुष्टि होती है। ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज ने चंद्रगुप्त मौर्य के पाटलिपुत्र के राजमहल के लकड़ी से बने होने का विस्तृत वर्णन किया है। गुहा मन्दिर अपनी छतों में मानव के लकड़ी के व्यवहार के अभ्यास को अभी भी संजोये हुए हैं, यद्यपि मानव पत्थर को काटकर भवन बना रहा था। कालिदास ने रघुवंश में अयोध्या के राज–प्रासाद के वर्णन में खम्भोंपर स्त्री मूर्तियों के उत्कीर्ण किये जाने की बात कही है। काष्ठ के टिकाऊपन की सीमा एवं पत्थर तराशने में मानव की दक्षता में शनै :–शनै : कमी आती गयी और मध्यकाल में दक्षिण भारत में ही इसका अधिक उपयोग हुआ, वह भी मन्दिर को सजाने में। ऐसी सजावटों से संग्रहालय में विद्यमान दो काष्ठ शिल्पों का विवरण हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

आयताकार पटिया में कृष्ण अपने बायें पैर को नाग के फण पर रखे तथा दायें पैर से नाग के शरीर को दबाये उकेरे गये हैं। कृष्ण का दायाँ हाथ क्षतिग्रस्त है जब कि बायें हाथ से वे नाग की पूंछ कंधे के ऊपर उठाए हैं। कृष्ण बनमाल, ग्रैवेयक, कुण्डल तथा पैरों में नूपुर पहने हैं। कमर में घंटियों की माला जैसा कमरबन्द है। कृष्ण ऊर्ध्वरेतस हैं।

१. कालिय दमनः

आकार : १६//" × ९//"
काल : १४–१७ वीं शती ई०

पूरा अंकन एक ऊँचे आधार पर है, जिसके दोनों किनारों से निकले दो कमल शीर्षक स्तम्भ हैं, जिसमें बायीं ओर के शीर्षक अब भी द्रष्टव्य है, जबकि दायीं ओर के स्तम्भ नष्ट हो गये हैं। ऊपर की ओर किरीट मुकुट—जिससे निकलती बेल है—का सजीव एवं सुन्दर अंकन है।

कालिय-दमन की कथा श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के अध्याय १६ के श्लोक ४-६७ में सुन्दर रूप में वर्णित है और प्रस्तुत काष्ठ-शिल्प उसका एक जीवंत अंकन है।

आयताकार पटिया पर बालक कृष्ण वकासुर राक्षस-जोकि बगुले के रूप में है–की चोंच हाथ में फाड़ते तथा पैर से शरीर को दबाते उकेरे गये हैं। कृष्ण एवं पक्षी दोनों का काष्ठकार ने बहुत सुन्दर अंकन किया है।

२. सं० सं० ६१. ५२३६: चि० सं० २:
वकासुर-वधः १२//" × ७//"
काल १४-१६ वीं शती ई०

कृष्ण की पीछे लटकती चोटी एवं विविध आभरण अत्यन्त दक्षता से उकेरे गये हैं। पटिया के आधार पर कमल-पत्ती की बेल एवं बीच में मनकों की है। पंक्ति की नक्काशी सुन्दर है।

—अरविन्द कुमार श्रीवास्तव

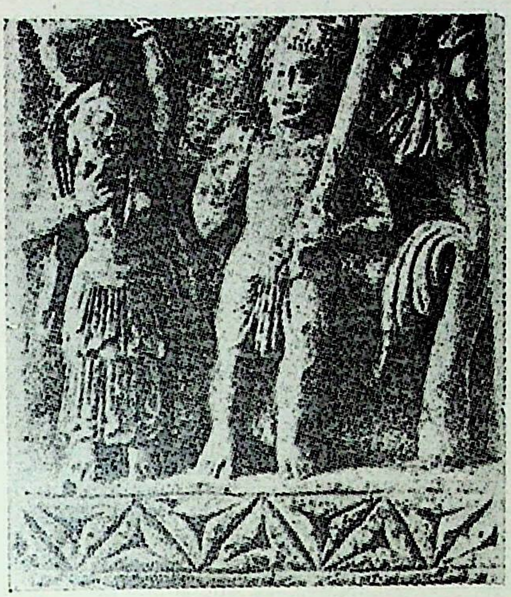

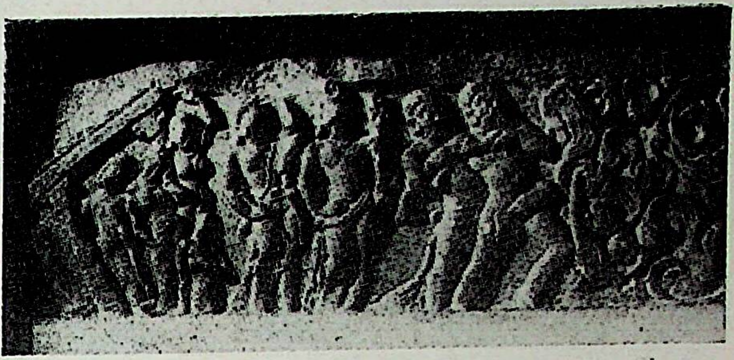

चतुर्भुजी श्रीकृष्ण, भीम-जरासंध युद्ध में
इलाहाबाद (उ० प्र०)
गुप्तकाल, पाँचवीं शती ई०

दानलीला : रंगमहल (राजस्थान)
चौथी-पांचवीं शती ई०

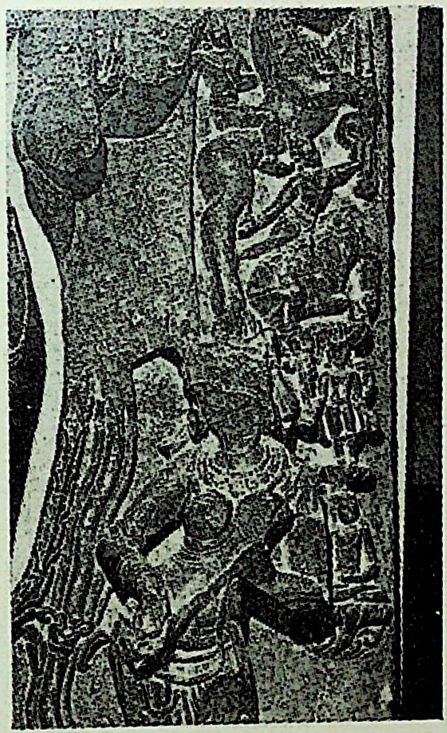

विष्णु के साथ चतुर्भुजी श्रीकृष्ण
खुखुन्दू, गोरखपुर (उ० प्र०), १०वीं शती ई०

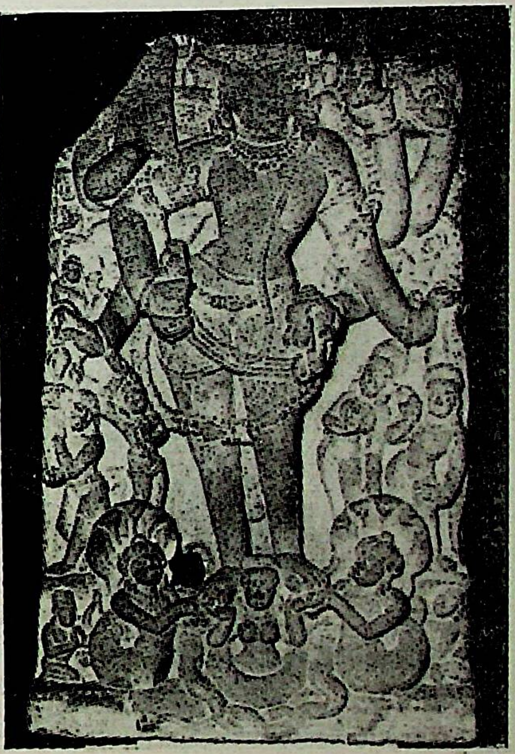

गीतोपदेष्टा श्रीकृष्ण और अर्जुन : मनवाडीह, सीतापुर
(उ० प्र०), सातवीं शती ई०

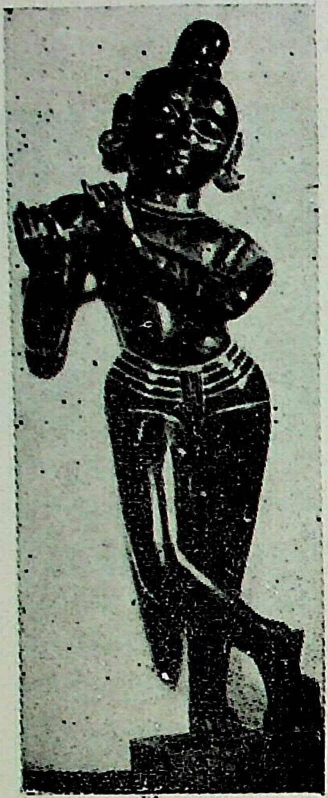

त्रिभंगी मुद्रा में श्रीकृष्ण

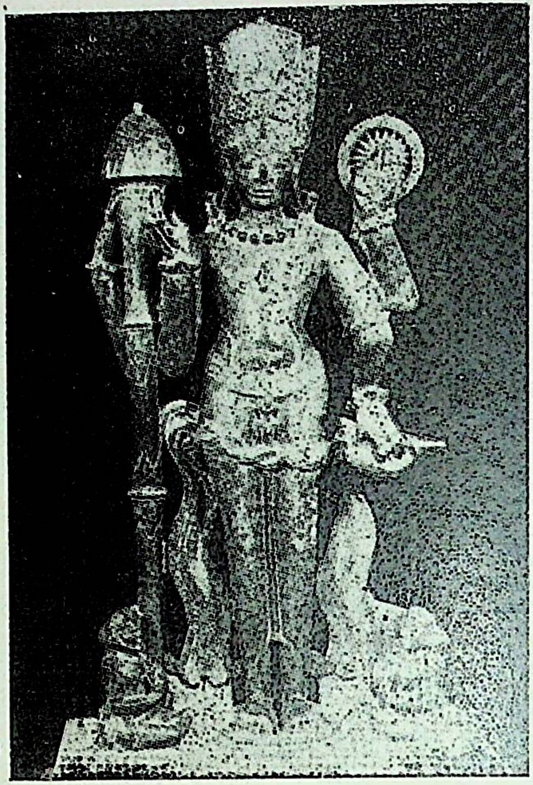

चतुर्भुजी कृष्ण : सिओर, सुलतानपुर (उ० प्र०), १०वीं शती ई०

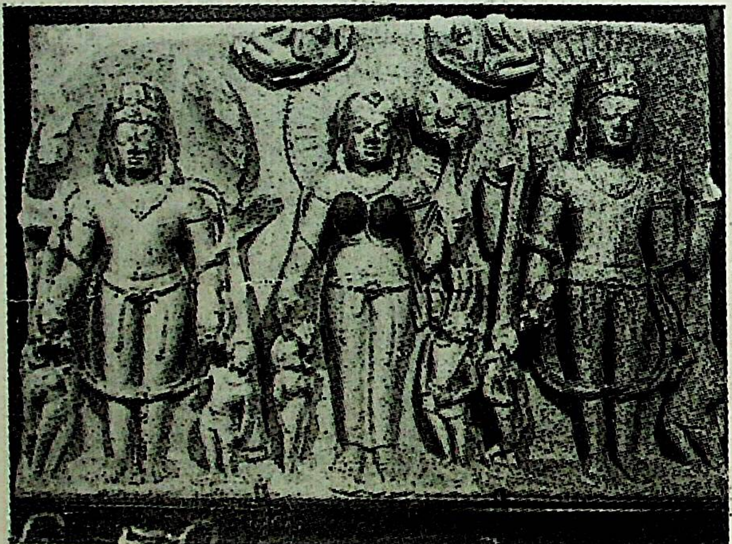

श्रीकृष्ण, एकानंशा और बलराम
अतिरंजी खेड़ा, एटा (उ० प्र०)

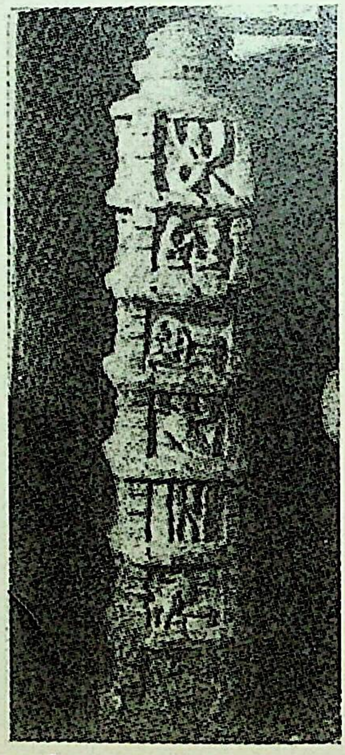

श्रीकृष्ण लीला युक्त स्तंभ : भूली, मथुरा
(उ० प्र०), १०वीं शती ई०

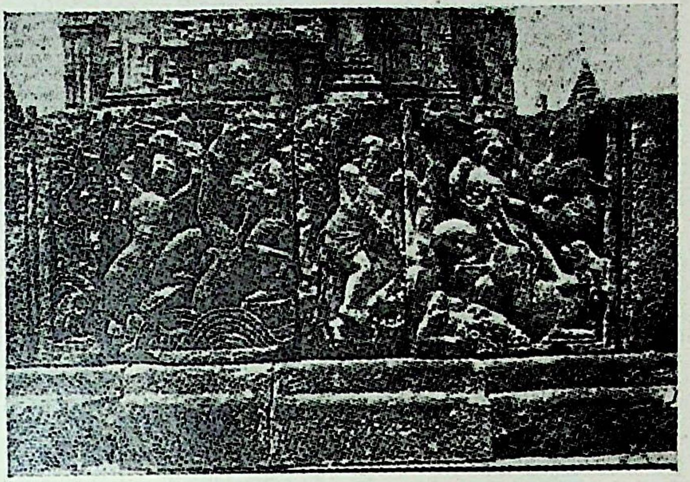

श्रीकृष्णलीला : लोरोजांगरैंग मन्दिर–जावा
८००-८३० ई०

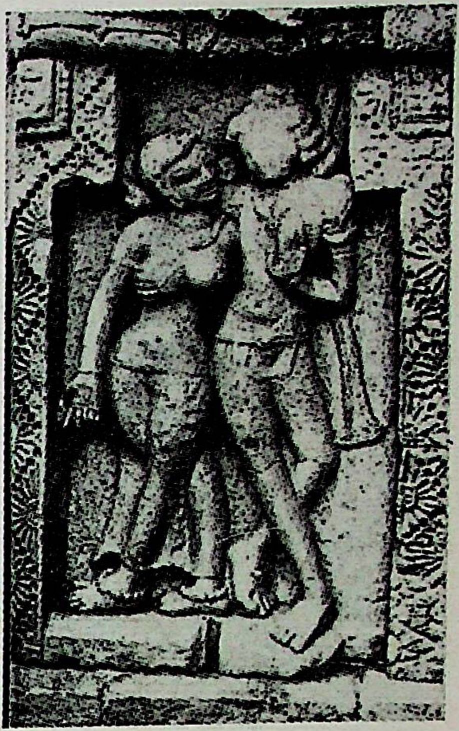

श्रीराधाकृष्ण, पहाड़पुर, बंगलादेश
८वीं शती ई०

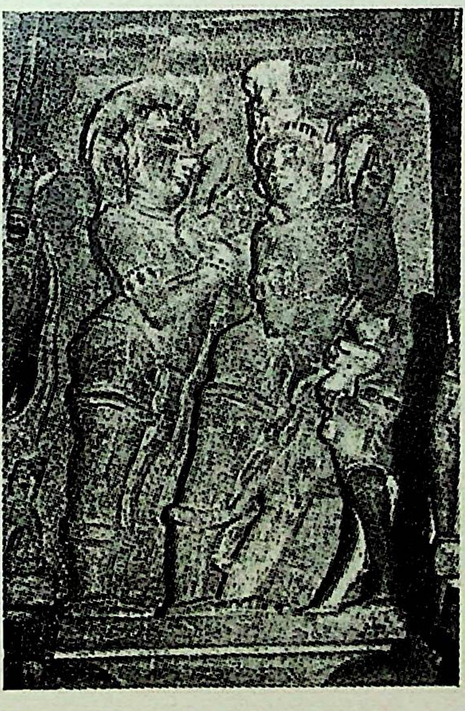

कुब्जा अनुग्रह
खजुराहो (मध्य प्रदेश) १०वीं शती ई०

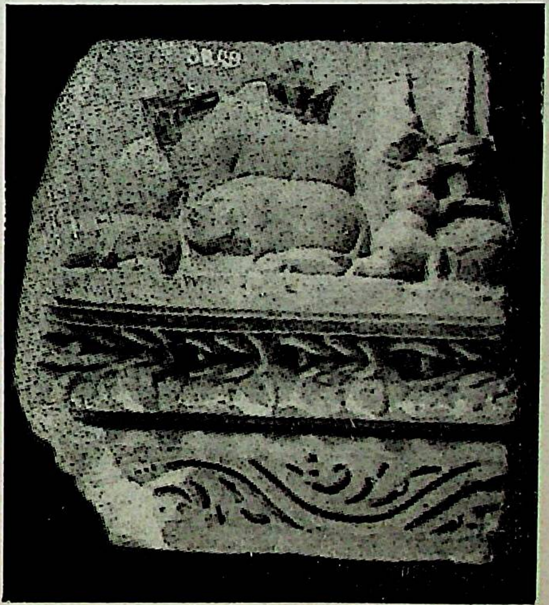

दधि मथती हुई यशोदा और बालकृष्ण
कंपिल, फर्रुखाबाद (उ० प्र०), १०वीं शती ई०

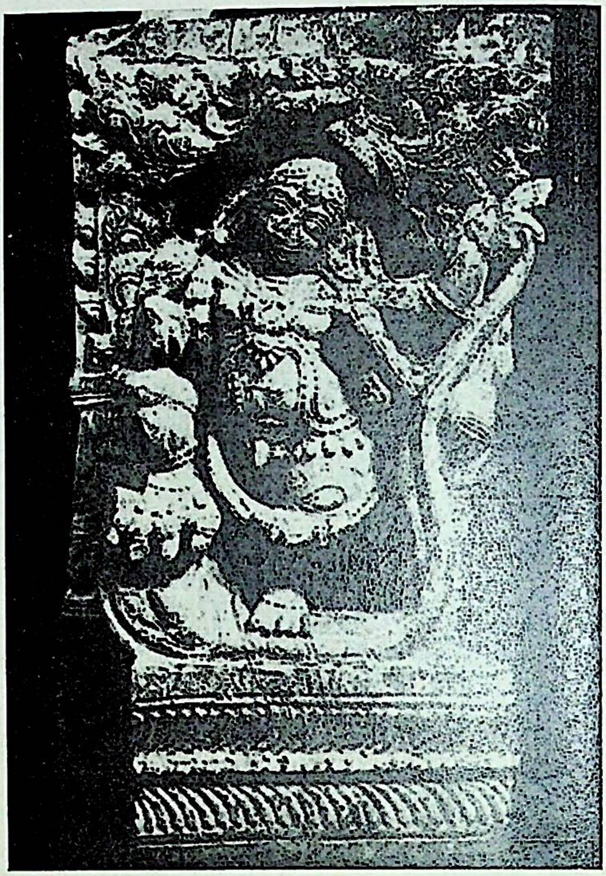

कालियदमन, मथुरा (उ० प्र०) १४-१७वीं शती ई०

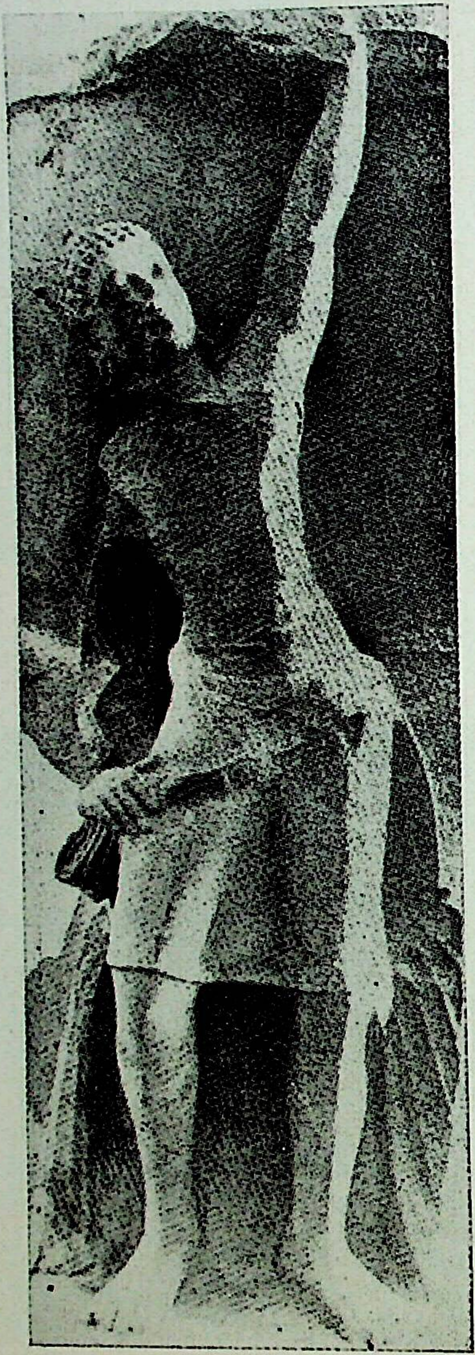

श्रीकृष्ण गोवर्धनधारी : वटकोह, कंपूचिया
पाँचवीं शती ई०

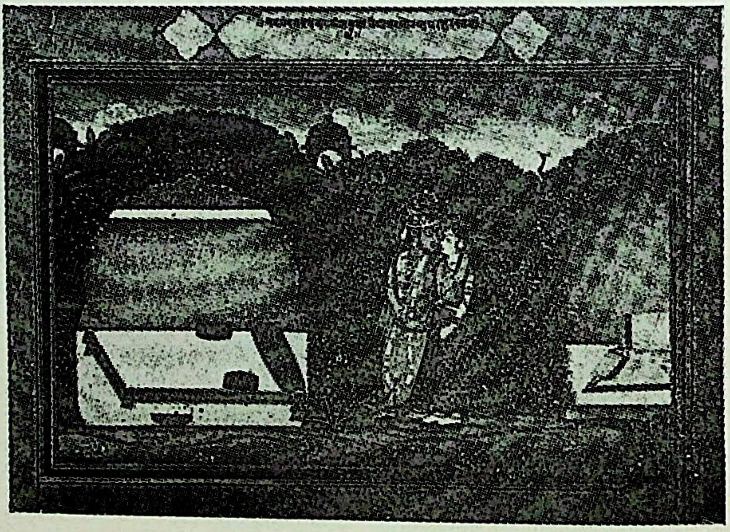

श्रीराधाकृष्ण का कुंजविहार
—राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली के सौजन्य से

श्रीकृष्ण जन्मस्थान सम्बन्धी प्राचीन कलावशेष

मथुरा प्राचीन काल से उत्तर भारत की कला का प्रमुख केन्द्र रहा है। इस नगर के परिसर में अति प्राचीन कलावशेष भूगर्भ में दबे पड़े हैं जो समय--समय पर खुदाई में उपलब्ध होते रहे हैं। रामायण काल से लेकर महाभारत, जैन, बुद्ध तथा उनके उत्तरवर्ती काल की अनेकानेक कलाकृतियाँ यहाँ उपलब्ध होती रही हैं। इनका मथुरा पुरातत्व संग्रहालय में अच्छा संग्रह है। जन्मस्थान सम्बन्धी शुंग एवं गुप्तकालीन कला-कृतियों के कुछ चित्र विवरण--सहित यहाँ दिये जा रहे हैं।

द्वारशाखा

द्वारशाखा का दोनों तरफ से यह उत्कीर्ण खण्ड है। सामने की ओर चौखटे में दायें एवं बायें खड़ी आकृतियाँ बनी हुई हैं तथा उसके आगे का भाग टूटा हुआ है। इन आकृतियों में एक पुरुष आकृति है जो बायें हाथ से सम्भवतः धनुष अथवा कोई डंडे जैसी वस्तु पकड़े है। दाहिना हाथ ठोड़ी को छू रहा है जो एक विचारमग्न स्थिति को दिखलाता है। बायें कन्धे से यज्ञोपवीत की तरह दुपट्टा डाले है। अधोवस्त्र के रूप में जाँघों तक की धोती पहने है। पैरों के पंजों के ऊपर तक का भाग टूट गया है। पीठिका पर लेख है तथा चौखट पर शिवलिंग जैसा अंकन है। चौखटे के ऊपरी सिरे पर अशोक वृक्ष की पत्ती सहित शाखा उकेरी गयी है। पुरुष आकृति के बायीं ओर एक स्त्री भी खड़ी दिखायी गई है जिसके बायें कन्धे पर वाण सहित तरकस टिका हुआ है। उसके नीचे की ओर से वह दोनों हाथों से पकड़े है। तरकस अलंकृत है। अधोवस्त्र के रूप में धोती पहने है। पीठिका पर ब्राह्मी लिपि में दो पंक्तियों में प्रथम शती ईसा पूर्व की लिपि में लेख है। सम्भवतः यह शिकारी का दृश्य हो सकता है।

प्राप्ति स्थान---कटरा केशवदेव

लेख

१ .... शोडसस्य अमात्यस्य

२ .... [भार्या] ये देवियै तोरणम्

अनुवाद— .... शोडस के मन्त्री की पत्नी ने देवी के मन्दिर के तोरण का निर्माण कराया।

द्वारशाखा के दूसरी ओर भी दो आकृतियाँ दो अशोक वृक्षों के मध्य बनी हुई हैं, उनमें एक स्त्री आकृति है, जो बुरी तरह टूट चुकी है अर्थात् क्षतिग्रस्त है। पैरों में पायल तथा कमर में करधनी व अधोवस्त्र है। दूसरी एक अन्य आकृति प्रतीत होती है जो अपना बायाँ हाथ नीचे किये हुए हैं, दाहिना हाथ टूटा हुआ है। बोना जैसी यक्ष आकृति है।

द्वारस्तम्भ

कमल पुष्पलता से अलंकृत द्वारस्तम्भ जिसके बायीं ओर ५ इंच में खड़ी सुन्दर अलंकृत पट्टी बनी हुई है। उसमें पत्ती व पुष्पलता सहित बेल सुन्दर ढंग से उत्कीर्ण की गई हैं। स्तम्भ के एक तरफ ब्राह्मीलिपि तथा प्रथम शती ईसा-पूर्वकालीन संस्कृत भाषा में अभिलेख है। लेख में १२ पंक्तियाँ हैं। पहली चार पंक्तियां दानदाता से सम्बन्धित हैं। चौथी व पाँचवीं पंक्ति के अक्षर अस्पष्ट है।

१ .... [व] २. स [स] य ३. [वस्] ४. .... [ण] शिव— ५. ष पु [त्त] रेण कौशि [की पुत्रेण] ६. वसुना भगव [तो वासुदे]— ७. वस्य महास्थान] ....] ८. लं तोरण वे—[दिका च प्रति]–

९. ष्ठापिता प्रीतो [भ] भगवान वासु- १०. देवः स्वामिस्य [महाक्षत्र]—११. पस्य शोडास [स्य ... .]
१२. संवर्तयतां।

स्तम्भ का पत्थर काफी खराब हो चुका है, जिसके कारण कोष्ठक में लिखे शब्द लुप्त हो चुके हैं।

अनुवाद—कौशिकी पुत्र वसु ने भगवान् वासुदेव के मन्दिर में एक तोरण तथा वेदिका का निर्माण कराया, जिससे भगवान् वासुदेव स्वामिन् प्रसन्न हो और महाक्षत्रप शोडास की संवृद्धि हो।

मथुरा से प्राप्त यह प्राचीनतम अभिलेख है, जिसमें भगवान् वासुदेव का कृष्ण के रूप में उल्लेख किया गया है और पट्टी, तोरण एवं वेदिका तृतीय प्रमाण है, जिसके आधार पर इसे वासुदेव का महास्थान (पूजागृह) कहा जा सकता है।

यह प्रस्तर-स्तम्भ सन् १९१३ ई० में स्व० श्री रायबहादुर पंडित राधाकृष्ण द्वारा मथुरा-कैण्ट की कोठी के कुओं से लाया गया। उसी स्थल से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह स्तम्भ उस समय से करीब ८० वर्ष पूर्व तथा अन्य प्रस्तर-खण्ड मथुरा के कृष्ण-जन्मस्थान (जन्मभूमि) अर्थात् कटरा केशवदेव स्थल से प्राप्त किये गये थे। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन है कि "मैं डा० लूडर्स के इस मत से सहमत नहीं हूँ कि यह स्तम्भ मोरा में स्थित भागवतमन्दिर का हैं क्योंकि मोरा स्थान मथुरा से ७ मील दूर है।

सन्दर्भ—अभिलेख को सर्वप्रथम रायबहादुर श्रीराम प्रसाद चन्द्र द्वारा पढ़ा गया था जो आर्कियोलोजिकल सर्वे नं० ५ 'आर्कियोलोजी ऐण्ड वैष्णव ट्रेडीशन' इंस्क्रिप्शन तृतीय पी० पी० १६९—७३, पी० एल० २५ और २६ तथा डा० एच. लूडर्स महोदय द्वारा ए० पी० इण्डिका वाल्यूम २४ पी० १५ में प्रकाशित हुआ। मथुरा से प्राप्त ब्राह्मी अभिलेखों में संख्या ७ के अंतर्गत इसे पढ़ा गया है।

यह अभिलेख डा० लूडर्स ए० पी० इण्डिका वाल्यूम २५ पी० पी० १५—१७, श्री आर० पी० चन्द्र के मैमोअर्स आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इन्डिया नं० पी० पी० १९६—७३, प्लेट २५ और २६, श्री डी० आर० साहनी ने ए० पी० आर० एन० सी० १९१७ पी० १० में प्रकाशित किया है।

शिलापट्ट

(लम्बाई ११ इंच, चौड़ाई १ इंच) लाल बलुआ पत्थर। गुप्तकाल। निगेटिव सं० ७९-४२९। परिग्रहण (ऐक्सेशन) सं० क्यू० ५।

यह शिलापट्ट केशवदेव के मन्दिर के दरवाजे के बाहर से जनरल कनिंघम ने दो टुकड़ों में प्राप्त किया था। इस शिलापट्ट पर कुल १२ पंक्तियों में लेख गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि एवं संस्कृत-भाषा में उत्कीर्ण है।

(१) यह लेख गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय का है।

१. [सर्वत्र राजोच्छतुः पृथिव्यम्] प्रतिरथ।
२. [स्य चतुरुदधि-सलि] लास्वादित य (शसोघ)।
३. [नद-वरुणेन्द्रान्तक स] मस्य कृतान्त (परशोः)
४. [न्यायागतानेकगो] हिरण्यकोटिप्रद (स्यचिरो)।
५. [त्सन्नाश्वमधाहर्तु र्म] हाराज श्री गुप्त प्रपौ (त) र (स्य)।
३. [महाराज श्री घटोत्क] च-पौत्रस्य महाराजाधिरा [ज]।
७. [श्रीचन्द्रगुप्त-पु] त्रस्य लिच्छवि दौहित्रस्य महा (दे)।

८. [व्याँ कुमार] देव्यामुत्पन्नस्य महाराजाधिरा ।
९. [ज श्री स] मुद्रगुप्तस्य पुत्रेण तत्परिगृह—
१०. [ह] त् [महादेव् [य्] म् दत्तादेव [य] मुत् [प] न् [न्] ।
११. [न] परमभागवतेन महाराजधिराज श्री
१२. [चन्द्रगुप्तेन] ....

कोष्टक में जो शब्द लिखे हैं, वे लुप्त हो चुके हैं ।

(२) लेख में गुप्त साम्राज्य की वंशावली का वर्णन किया गया है ।

अनुवाद—सभी राजाओं के उच्छेता जिसके बराबर पृथ्वी पर कोई प्रतिरथ नहीं है । जिसके यश को चारों समुद्रों ने पान किया है । [अर्थात् चतुर्दिक् जिसका राज्य व्याप्त है] । कुबेर, वरुण, इन्द्र तथा यमराज के सदृश कृतान्त परशु [अर्थात् काल के समान दंड देने वाला] न्यायपूर्वक अर्जित करोड़ों गायों तथा सोने का दान देने वाले, बहुत समय से जिनका अनुष्ठान नहीं हो रहा था, ऐसे अश्वमेध-यज्ञों को करने वाले महाराज श्री गुप्त के प्रपौत्र, महाराज श्री घटोत्कच के पौत्र, महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त के पुत्र, लिच्छवी वंश के दौहित्र महादेवी कुमारदेवी से उत्पन्न महाराजाधिराजा श्री समुद्रगुप्त की विवाहिता दत्तदेवी से उत्पन्न परम भागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य द्वार लेख उत्कीर्ण कराया गया ।

जहाँ तक कटरा-केशवदेव स्थल से इस अभिलेख की प्राप्ति का प्रश्न है इस अभिलेख के साथ अन्य ब्राह्मण-धर्म से सम्बन्धित मन्दिर से प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं । जिनमें चतुर्भुज विष्णु, यमुना से अंकित स्तम्भ आदि स्मरणीय हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त ने विष्णु मन्दिर का निर्माण कटरा-केशवदेव (जन्मभूमि) पर कराया होगा ।

विश्वरूप विष्णु

लाल बलुआ पत्थर, गुप्तकाल । निगेटिव सं० ७१–१६० । परिग्रहण (एक्सेशन) सं० ५४–३८ ७३७ ।

विश्वरूप विष्णु की प्रतिमा का शिलाखण्ड, जिस पर दो बड़े सिरों से रुद्र–भाव को प्रस्तुत किया गया है । ऊपरी सिरकी भयावह मुद्रा, निकली हुई आँखे, चौड़े फैले मुख, जिसमें दो दाँत तथा चेहरे को दाढ़ी के साथ उभारा गया हैं । मस्तक पर त्रिनेत्र तथा गले में एकावली है । नीचे के सिर में एकावली के स्थान पर मुण्डमाला प्रतीत होती है । इसके पीछे दो पंक्तियों मे देवताओं की जो अन्य आकृतियाँ हैं, वे अस्पष्ट हैं । प्राप्ति स्थान—कटरा केशवदेव ।

शालभंजिका

अशोक वृक्ष के नीचे नृत्य-मुद्रा में खड़ी नटी को बड़े सुन्दर ढंग से अंकित किया गया है जो बायें हाथ से ऊपर से वृक्ष की शाखा पकड़े है । दोनों ही हाथ तथा पैरों के नीचे का भाग टूटा हुआ है । कमर में धोती तथा कन्धों से दुपट्टा (स्कार्फ) डाले है ! वस्त्रों के ऊपर कमर में चार लड़ी की मोतियों से जड़ी करधनी पहने हैं । कानों में कुण्डल तथा गले में रत्नहार है । नदी के सिर के ऊपर जूड़े के साथ बालों को बड़े सुन्दर ढंग से संजोया गया है ।

लक्ष्मी

यह प्रतिमा मथुरा कला–शैली की तक्षण–कला का सुन्दर उदाहरण है । लक्ष्मीदेवी बायें हाथ में पूर्ण विकसित सनाल कमल लिए हुए ऊँचे आसन पर बैठी हैं । उनके पैरों के पंजे पीठिका में दिखाई देते हैं । वे ग्रैवेयक, कर्ण-कुण्डल, हाथों में चूड़ियाँ आदि आभूषण पहने हैं । सिर के बाल पीछे को कढ़े हैं । मस्तक पर विन्दी, मस्तक के ऊपर छतरी बनी है । आसन के अगल–बगल एक उपासक तथा एक उपासिका करबद्ध आराधना की मुद्रा में खड़े है । प्रतिमा प्रायः पूर्ण सुरक्षित व आकर्षक है ।

—अरविन्द कुमार श्रीवास्तव

वास्तुशिल्प में कुछ महत्वपूर्ण कृष्णांकन

शिल्प में श्रीकृष्ण का अंकन कुषाण युग से छुट-पुट रूप में प्राप्त होता है, किंतु उसकी स्वतंन्त्रआकृति गुप्त युग में ही उभरती है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि श्रीकृष्ण का निम्नांकित लोक प्रतिष्ठित स्वरूप वंशी, पीताम्बर, मोरमुकुट युक्त मनमोहक रूप उत्तर मध्यकाल अर्थात् १२ वीं शती के बाद की देन है:-

वंशी विभूषित करान्नवनीरदा भात् पीताम्बरादरुण बिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दु सुन्दर मुखारविन्द नेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्वमहं न जाने ।।

अतः यदि इस स्वरूप की झांकी हम पूर्ववर्ती युग में देखने का प्रयास करें तो निराशा ही हाथ लगेगी।

राजस्थान के घोसुण्डी नामक स्थान से मिले नारायण वाटिका शिलालेख (दूसरी शती ईसा पूर्व) से सूचना मिलती है कि बलराम और वासुदेव की अर्चना पूजा शिला प्राकार से हुई। मूर्ति का कोई उल्लेख नहीं है।

मथुरा संग्रहालय के प्रथम शती ईसा पूर्व ब्राह्मी लिपि में तोषा नामक किसी महिला के शिला लेख[1] से पांच वृष्णि देवों की प्रतिमाओं के एक देवगृह बनाने का उल्लेख मिलता है। इन पांच वृष्णियों में सम्भवतः श्रीकृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न अनिरुद्ध और साम्ब रहे होंगे। कुछ नामों में अन्तर भले ही हो, किन्तु श्रीकृष्ण एवं बलराम अवश्य रहे होंगे। इसके अनन्तर अन्य देव समुदाय के साथ विष्णु-तियों का प्रचलन बढ़ा और प्रथम शती ईसवी से विष्णु के अनेक रूप अभिव्यक्त हुए। इस समय तक श्रीकृष्ण और विष्णु का रूप एक जैसा निर्धारित हो चुका था। अतः श्रीकृष्ण की प्रतिमाएँ पृथक् न होकर विष्णु रूप में मिलती हैं। महाभारत श्रीकृष्ण कथा का आदि स्रोत है। इसमें श्रीकृष्ण के चतुर्भुज रूप का वर्णन अनेक स्थलों पर है। कहीं-कहीं उनके आयुधों का भी उल्लेख हुआ हैं कहीं शंख, चक्र व गदा लिये[2] तथा कहीं। शंख, चक्र, गदा और खड्ग के साथ[3]। महाभारत के ही एक भाग गीता के ११वें अध्याय में अर्जुन श्रीकृष्ण से चर्तुभुज रूप में प्रकट होने की प्रार्थना करते हैं। महाभारत के बाद पुराण साहित्य में भी श्रीकृष्ण का चर्तुभुजी रूप वर्णित है जैसे विष्णु पुराण, मत्स्य पुराण, लिंग पुराण, ब्रह्म पुराण, पद्म पुराण आदि। किन्तु प्राचीन प्रतिमाओं में महाभारत का उल्लेख अधिक प्रामाणिक है क्योंकि पुराण तो कुषाणों के बाद के समय की रचना माने जाते हैं। अतः जिन विष्णु मूर्तियों को शंख, चक्र व गदा के साथ अंकित किया गया है वे महाभारत के साक्ष्य के अनुसार वासुदेव या श्रीकृष्ण की ही प्रतिमाएँ हैं।

ऊपर वर्णित शैली के अनुरूप कुषाण काल की विष्णु या श्रीकृष्ण की चर्तुभुजी एवं अष्टभुजी दो मूर्तियाँ[4] राज्य संग्रहालय लखनऊ में है। चतुर्भुजी विष्णु शंख, चक्र व गदा पकड़े हैं और चौथा हाथ वरद मुद्रा में है। इनके सर के पीछे सादे प्रभा मंडल का आभास है तथा मध्यभाग एवं अधोभाग की पृष्ठभूमि में पद्मपत्रों का अंकन है। विष्णु मूर्ति के सिर पर मुकुट नहीं है, किन्तु बायीं ओर बैठा उपासक कुछ नैवेद्य दे रहा है। दूसरी प्रतिमा का बायाँ भाग ही बचा है। इस पर चार हाथ बने हैं। तीन हाथों में पकड़े हुए आयुध स्पष्ट नहीं हैं क्योंकि ये भाग खण्डित हैं। मात्र एक हाथ में, बीच से पकड़ी हुई गदा ही शेष है, किन्तु प्रतिमा के सिर पर मुकुट सुशोभित है। ये दोनों प्रतिमाएँ क्रमशः मथुरा एवं कोशाम्बी (इलाहाबाद) से आई हैं।

श्रीकृष्ण का नेमिनाथ के साथ अंकन—लखनऊसंग्रहालय में कुषाणयुगीन[5] दो प्रतिमाएँ ऐसी हैं जिनमें श्रीकृष्ण को एक स्थल पर दो भुजी हाथ जोड़े तथा दूसरे में कमल पकड़े बनाया गया है। इसी समय की एक पत्थर की पटिया जिस पर तीर्थंकर-मूर्तियों के नीचे 'कण्हश्रमण' अर्थात् कृष्ण का नाम अंकित है।[6] एक प्रतिमा गुप्तकालीन ऐसी भी है जिसमें नेमिनाथ[7] के साथ श्रीकृष्ण का अंकन है। इसमें श्रीकृष्ण को चतुर्भुजी दर्शाया गया है। उनके एक हाथ में शंख,

दूसरे में अस्पष्ट वस्तु, तीसरा नीचे लटका है। बाईं ओर का चौथा हाथ गदा के ऊपर रखा है। यहाँ पर वासुदेव का मुख खण्डित है। ये तीनों कलाकृतियाँ कंकाली टीला मथुरा की उपलब्धि हैं। दो में दसवों[८] शती की नेमिनाथ प्रतिमाओं के साथ श्रीकृष्ण को पाते हैं।

महाभारत श्रीकृष्ण चरित विषयक सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसी के सुप्रसिद्ध कथानक भीम-जरासन्ध-युद्ध से सम्बद्ध गढ़वा (इलाहाबाद) का गुप्तकालीन सिरदल बहुत ही रोचक है।[९] इस वास्तु खण्ड पर बायीं ओरसे कुछ आकृतियोंके बाद चतुर्भुजी श्रीकृष्ण का अंकन ठीक भीम एवं जरासन्ध से पूर्व है। इस कलाकृति को लन्दन में आयोजित भारत महोत्सव में जाने का अवसर मिला है। भगवत्गीता के अर्जुन-विषाद-योग में भगवान् श्रीकृष्ण से विराट् रूप दिखलाने की प्रार्थना करते है। [१०A] इस दृश्य को उपर्युक्त प्रतिमा में दिखलाया गया हैं। यहाँ पर मूलनायक विराट्रूप विष्णु अष्टभुजी हैं! उनके तीन हाथों में चक्र, शंख, पद्म तो स्पष्ट है, शेष हाथों में भी आयुध थे जो टूट चुके हैं। मूल प्रतिमा के कोर पर ऊपर की ओर रुद्र मस्तकों की माला है, सामने इन्द्र, सूर्य आदि हैं। मूल मूर्ति का मुख टूट चुका है, किन्तु अगल-बगल के सिंह एवं वराह के मुख बचे हैं। इस तरह से इस प्रतिमा में विराट् रूप की व्याख्या की गई है। सबसे नीचे बायीं ओर हाथ जोड़े अर्जुन बैठा है और उसके पास ही धनुष रखा है। कलाकारों ने इसका समय ७वीं-८वीं शती का मध्य माना है। यह मूर्ति मनुआडीह, सीतापुर से आई है।[१०]

दसवीं शती का एक सिरदल का टुकड़ा कंपिल (जिला फर्रुखाबाद) से प्राप्त हुआ है। इस पर नीचे पत्रावली तत्पश्चात् रस्सी की बटनदार पट्टी, तदुपरान्त बायीं ओर चार गायें हैं—एक का मुँह टूटा है तथा शेष तीनों के मुँह दायीं ओर कोने की ओर घूमे है। कोने में एक मटकी रखी है जिसके भीतर मथानी पड़ी है और मथानी पर रस्सी बँधी है। मटकी के पास एक खण्डित स्त्री बनी है और उसी के बगल में एक बालक मटकी की ओर मुंह घुमाए खड़ा है। बालक का एक हाथ मटकी की ओर फैला है। यह वास्तु-शिल्प निःसन्देह माँ यशोदा के दही मथने, बालक कृष्ण के माखन माँगने तथा गायों के एकटक श्री कृष्ण को निहारने अर्थात् "देववीक्षणतत्पर:", रूप में विलेखित किया गया हैं।[११] इसका समय अनुमानतः दसवीं शती ईसवी है।

सद्योजात दृश्य को अंकित करने वाले दो निदर्शन हैं।[१२] एक दीर्घकाय पटिया पर एक स्त्री बालक को स्तन पान करा रही है। ऊपर मातृकाएं, गणेश, तथा किनारे लघु सद्योजात दृश्य है। नीचे द्वारपाल, इसके बाद मूर्ति टूटी है। नीचे मूल प्रतिमा अर्थात् नवजात श्री कृष्ण को स्तन पान कराती माँ यशोदा और पलंग के नीचे शंख, चक्र व गदा आदि बनें हैं। पलंग के दोनों ओर एक एक स्त्री आकृति घट लिए खड़ी है। दूसरा दृश्य चित्र ७ है। इसका भी प्रतिपाद्य विषय सद्योजात ही है। इसमें विशेषता यह है कि ऊपर दो पुरुष खड़े हैं। इनमें से एक पुरुष अपनी गोद में लिए हुए बालक को पास में खड़े हुए दूसरे पुरुष को देता हुआ दिखाई पड़ रहा हैं तथा मूल लेटी हुई स्त्री आकृति के पैर दबाती हुई एक सेविका भी बनी है। ये दोनों ही मध्यकाल की मूर्तियाँ है और क्रमशः फैजाबाद तथा कन्नौज (जिला फर्रुखाबाद) से उपलब्ध हुई हैं।

राज्य संग्रहालय लखनऊ के संग्रह में विष्णु के दशावतार विषयक कई प्रतिमाएँ हैं। यह मलनायक चतुर्भुजी विष्णु एवं दशावतारों के अंकन सहित काले पत्थर की मूर्ति है। यह चित्र मूल प्रतिमा के दाएँ भाग का है। यहाँ पर सबसे आखिरी पंक्ति में नीचे से दूसरी आकृति कमल पर खड़ी है और क्रमशः शंख, चक्र, गदा व पद्म लिए हुए है। श्रीकृष्ण का दशावतार में मात्र इसी संग्रह में अंकन है। यह कलारत्न पाल शैली का है और खुखुन्दू (जिला गोरखपुर) से प्राप्त हुआ है।[१३]

संग्रह में चार शिखर युक्त स्तम्भ हैं। [१४] इनमें श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं का अंकन हैं यथा माँ यशोदा का स्तन पान कराना, पूतना बध, नलकूबर का उद्धार, कृष्ण का ऊखल से बाँधा जाना, केशी-बध, शकट-भंग, यमुना नदी का अंकन जिसमें मछलियाँ तैंर रही है आदि श्रीकृष्ण की बाल क्रीड़ाओं के प्रस्तरांकन हैं। इनमें दो का प्राप्ति स्थान ज्ञात नहीं है। शेष दो भूली (जिला मिर्जापुर) से आयीं है और १० वीं शती के वास्तु शिल्प हैं।

जैसा ऊपर वर्णित है प्रस्तुत संग्रह में एकानंशा के आरम्भिक अंकन नहीं है किन्तु जैसा बृहत्संहिता में उल्लेख है:—

"एकानंशा कार्यादेवी बलदेव कृष्णयोर्मध्ये"—देखिए बलराम, एकानंशा के साथ श्रीकृष्ण का चित्र।

यह कलारत्न अनुमानतः १० वीं शती का है और अतरंजी खेड़ा (जिला एटा) से प्राप्त हुआ है। इसमें बाँयीं ओर चतुर्भुजी सर्पफणों के नीचे बलराम खड़े हैं। दायीं-बायीं ओर उपासक-उपासिका बने है। बलराम के पीछे प्रभामंडल नहीं है। इनके मध्य में एक स्त्री आकृति है। इसके पीछे खिले कमल का प्रभामंडल है। देवी के दायें हाथ में कमल तथा बाँया हाथ नीचे लटक रहा है। इसका उपासक पुरुष दायों ओर तथा बायीं ओर बानरमुखी स्त्री खड़ी है। उपासिका का बानर मुखी होने का प्रयोजन मुझे अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ हैं। मूल स्त्री प्रतिमा अर्थात् एकानंशा के दायीं ओर चतुर्भुजी देव प्रतिमा बनी है। इसके दोनों दायें हाथों में जो भी आयुध रहे हों कहा नहीं जा सकता क्योंकि मूर्ति खण्डित है। एक बायें हाथ में शंख तथा दूसरे बायें हाथ में गदा पकड़ रखी है। दोनों ओर उपासक और उपासिका बने हैं। दोनों पुरुष एक जैसे मुकुट, कुण्डल, केयूर, करधनी, कड़े व वैजयन्ती माला पहने हुए हैं किन्तु दायीं आकृति अर्थात् श्री कृष्ण मणिमय यज्ञोपवीत धारण किए हुए हैं। एकानंशा की प्रतिमा के ऊपर हवा में उड़ते हुए मालाधारी विद्याधर बने हैं। कलाकृति वड़ी ही आकर्षक है। सभी आकृतियाँ शारीरिक दृष्टि से सुन्दर हैं तथा उनकी मुखमुद्रा अतीव तेजस्वितापूर्ण है।

संदर्भ :—

१—मथुरा संग्रहालय, संख्या क्यू—१
२—सभापर्व, दक्षिण भारतीय पाठ ८२ पृष्ठ ८२२, वनपर्वं २७२,७३,७४ पृष्ट १७१३
३—सभापर्वं, दक्षिण भारतीय पाठ ३८ पृष्ठ ७९६
४—राज्य संग्रहालय संख्यक जे०-६१०, रा० सं० संख्या ४९, २४७
५—रा० संग्र० सं०-जे-४७, जे०-११७
६—तदेव – जे०-६२३
७—तदेव – जे०-१२१
८—तदेव – जे०-७७६ व जे०-७८
९—तदेव – एच०-८८
१०—तदेव – एच०-१२४
११—तदेव – ५८. ४९
१२—तदेव – ५३. २, ५३. १६८
१३—तदेव – एच०-१०७ चि. ७
१४—तदेव – एच०-१८१, ओ० २६०, ६३. २६२, व ६६. ३६०
१५—तदेव – जी०-५८
१०. ए— एवमेद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर। दृष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया दृष्टुमिति प्रभो। योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥
पश्य मे पार्थरूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः। नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनोमरुतस्तथा। बहून्यदृष्टपूर्वाणिपश्याश्चर्याणिभारत ॥
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नंपश्याद्य सचराचरम्। ममदेहे गुडाकेश यच्चान्यद् दृष्टुमिच्छसि ॥

गीता अध्याय ११, श्लोक ३ से ७ तक।

—शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी

श्रीकृष्ण की प्रतिमाएँ

देव-स्थानीय मूर्तिकला की दृष्टि से श्रीकृष्ण की मुख्यतः चार प्रकार की प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं। इन सबके अपने-अपने शास्त्रीय आधार और प्रेरणाएँ हैं। कृष्ण की मूर्तियाँ सभी माध्यमों से बनाई गई हैं। पत्थर, धातु, काष्ठ, पकी मिट्टी आदि पदार्थों की प्रतिमाएँ भारत के सभी अंचलों में उपलब्ध हो जाती हैं। उनकी रूपरेखा में आंचलिकता भी स्पष्ट दिखाई दे जाती हैं। कुछ इतिहास और कुछ लोकश्रुति के आधार पर माध्यम के चुनाव पर भी प्रकाश पड़ता है। प्रस्तुत चर्चा में कृष्ण-प्रतिमाओं की सभी शैलियों की चर्चा न कर केवल मन्दिरों में उपलब्ध आराध्यों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

श्रीकृष्ण का बाल्यकाल आमतौर पर भक्तों को तो प्रिय रहा है परन्तु मन्दिरों की विशालता की कल्पना करने वाले यजमानों ने अधिकांशतः कृष्ण के तरुण रूप को ही केन्द्रस्थान पर प्रतिष्ठापित किया है। बालकृष्ण की कोई विशाल प्रतिमा उपलब्ध नहीं होती। पीतल, ताँबे या काँसे के बालकृष्ण अवश्य उसी पूजाघर में किसी स्थान पर रख दिये जाते हैं। बालकृष्ण की प्रतिमा का आधार श्रीमद्भागवत तथा हरिवंश पुराण आदि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

परन्तु कृष्ण का यह रूप मूर्तिकारों को अधिक आकर्षित नहीं कर सका है। बालकृष्ण तो मोरमुकुट पहने एक हाथ में नवनीत लिए दूसरा भूमि पर टिकाए, एक घुटने के बल रुके हुए तथा कमर में मात्र करधनी पहिने ही, मूर्तिकारों को मोहक प्रतीत हुए हैं। कहीं-कहीं नवनीत के स्थान पर मोदक की कल्पना भी की गई है और इन मूर्तियों को 'नवनीत-लाल' 'लड्डू गोपाल' आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। संस्कृत में इस छवि का वर्णन बहुत कम उपलब्ध है। उत्तर भारत के मन्दिरों की मूर्तियों के नवनीतलाल सूरदास के काव्य में इस प्रकार आँके गए हैं—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल लोल लोचन, गोरोचन तिलक दिए।
लट लटकनि मनु मस्त मधुपगन मादक मधुहिं पिए।
कठुला कण्ठ, वज्रकेहरि नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एको पल इहि सुख का सुख कल्प जिए।

कहीं-कहीं बालकृष्ण की इस अवस्था के उत्तर काल की मूर्तियाँ भी मिलती हैं जिनमें वे मुकुट, कटिकिंकिणी, पैजनियाँ आदि पहिने हुए है। कभी शरीर पर वस्त्र हैं, कभी नहीं भी हैं और हाथ में मोदक या नवनीत के स्थान पर वंशी है। दक्षिण में (मद्रास संग्रहालय) ऐसी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।

श्रीकृष्ण की सर्वप्रिय मूर्ति तो उनकी तरुणावस्था की है जिसमें वे पीताम्बर और मोरमुकुट से सज्जित है, गले में माला है, हाथों में मुरली है, एक पैर मुड़ा हुआ है, मुख्यतः वह शरद की रात्रि में रास का आह्वान करने वाले कन्हैया की है, परन्तु मुरलीधर को किसी विशेष प्रसंग से अलग करके ही मूर्तिकारों ने शिल्पित किया है।

मंदिरों में अधिकांश वंशीधर राधा के साथ ही शिल्पित मिलते हैं। यदि मूर्ति एकाकी है तो राधा की मूर्ति साथ में अलग से जोड़ी गई प्रतीत होती है। वंशीधर की मूर्ति की सबसे ध्यानाकर्षक विशेषता 'नटवर वपु' है। उनका वपु

तीन तरह से वक्र है—सिर, धड़ और पैर। इन तीनों की वक्रता मिलकर त्रिभंगिमा की सृष्टि करती है। इसमें देह-संतुलन की अनूठी सुन्दरता है। मुरलीधर कृष्ण के सिर पर किरीट भी हैं। वैखानसागम में कृष्ण की मूर्ति के सिर पर किरीट का आग्रह है। दक्षिण के मन्दिरों की मूर्तियों में यह विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। वहाँ मूर्तियाँ 'गणगोपाल' या 'वेणु गोपाल' के नाम से पुकारी जाती हैं (देखिए एलिमेन्ट्स आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी-पार्ट-१; टी० ए० गोपीनाथ राव, पृष्ठ २०७)।

परन्तु उत्तर में मोरमुकुटधारी कृष्ण की प्रतिमाएँ ही प्रतिष्ठित हैं। कवि बिहारीलाल के शब्दों में वेणुगोपाल की छवि ऐसी हैं—

मोरमुकुट कटि काछनी उर बैंजन्ती माल।
एहि बानक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल ॥

मुरलीधर की मुद्रा और शरीर की वक्र अवस्थिति का सविस्तर-वर्णन इस प्रकार किया गया है—

अंसालंबितकर्णकुण्डलधरं मन्दोन्नतभ्रूलतं
किंचित् कुंचितकोमलाधरपुटं साक्षिप्रसारेक्षणम्।
आलोलांगुलिपल्लवैर्मुरलिकामापूरयन्तं मुदा
मूले कल्पतरोस्त्रिभंगललितं ध्यायेज्जगन्मोहनम् ॥

त्रिभंगिमा की विशेषता है सिर का झुका होना, दोनों हाथों पर सधी हुई मुरली का अधरों को स्पर्श करना, कटि पर एक वक्र-उभारक वल का होना, बाएँ पैर का सीधा तथा दाएँ पैर का मुड़कर आगे अथवा पीछे की ओर जाना तथा उसका पैर की मुड़ी हुई अंगुलियों पर टिका होना। त्रिभंगिमा शरीर में लय की द्योतक है जिसकी भावात्मक आभा चेहरे और विशेष रूप से आँखों और भौंहों में झलकती है। यह मूर्ति लास्य भाव की अनुपम प्रतीक हैं।

कृष्ण के ललित रूप के अतिरिक्त लोकरंजक, लोकनायक तथा विद्रोहपूर्ण शौर्य की प्रकाशिका मूर्तियाँ भी हिन्दू मन्दिरों में स्थापित की गई हैं। गिरिराजधरण, गोवर्धनधारी की मूर्तियाँ श्रीकृष्ण की लीला के एक विशेष प्रसंग से सम्बद्ध हैं। यहाँ मैं इन्द्र और कृष्ण के विरोध की पौराणिक बातों में नहीं उलझना चाहता। यह सभी जानते हैं कि गोपवृन्द में प्रचलित इन्द्रपूजा को समाप्त कर कृष्ण ने गोवर्धन की आराध्य-रूप में प्रतिष्ठा की और शक्ति तथा उत्साह से लोगों में अपने प्रति आस्था जाग्रत की। इन्द्र की कोप-वर्षा के दौरान गोवर्धन-पर्वत उठाकर सात दिनों तक ब्रजवासियों को सुरक्षा का छत्र प्रदान किया। इससे इन्द्र के दर्प का दलन हुआ। पुष्टिमार्ग में सम्प्रदाय की प्रधान मूर्ति गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण की ही हैं। उन्हें श्रीनाथ जी के नाम से संबोधित किया जाता है। पहले वे जतीपुरा में गिरिराज पर ही प्रतिष्ठित थे बाद में मूर्तिभंजक धर्म के आतंक और भय से सन् १६६९ में महाराणा राजसिंह के संरक्षण में उन्हें स्थानान्तरित करके उदयपुर (मेवाड़) से लगभग ३० मील दूर एक स्थान पर स्थापित किया गया। यहाँ एक कस्बा बस गया जो श्रीनाथद्वारा के नाम से वैष्णवों का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान बन गया है। यह एक काले शिलाखण्ड की आदमकद मूर्ति है, जिसका दायां हाथ कटि के समीप और बायां गोवर्धन पर्वत को थामे हुए है। मूर्ति को यथावसर विविध वस्त्राभूषणों से सजाया जाता है। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

इत्युक्त्वैकेन हस्तेनकृत्वा गोवर्धनाचलम्
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः।

इस श्लोक में यह निश्चित रूप से नहीं कहा गया कि श्रीकृष्ण ने गोवर्धन को किस हाथ से उठाया। हरिवंश पुराण में इसका उल्लेख है—'स धृतस्संगतो मेघैर्गिरिस्सव्येन पाणिना' १९/३१। जन-मान्यता यह है कि

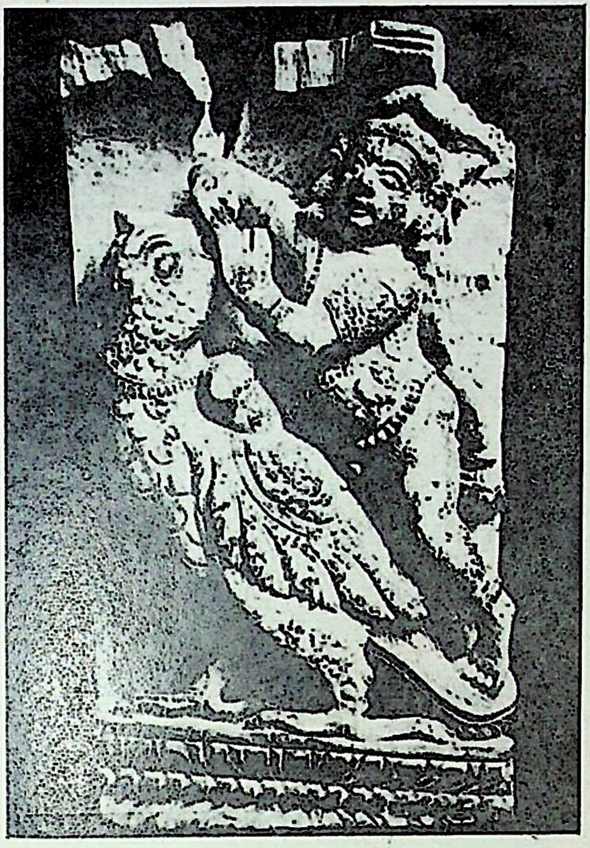

बकासुर-वध, काष्ठशिल्प
मथुरा (उ० प्र०), १४–१६वीं शती ई०

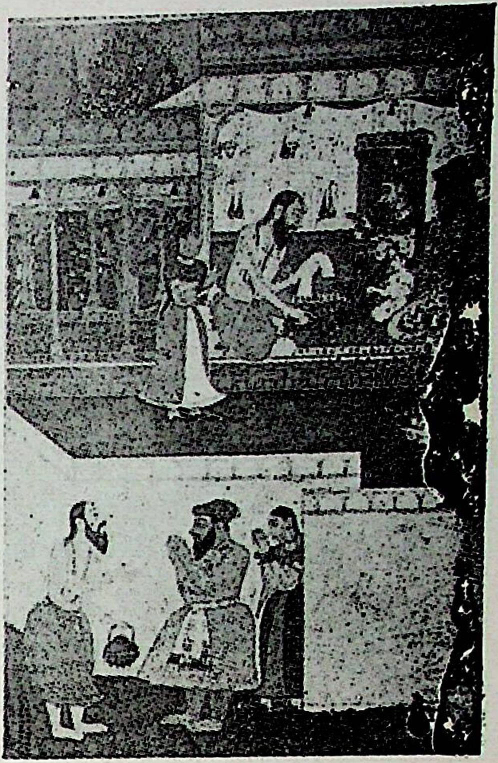

श्रीकृष्ण का नामकरण संस्कार–मेवाड़ शैली
१६४० ई० के लगभग
–राजकीय संग्रहालय कोटा
(राजस्थान) के सौजन्य से

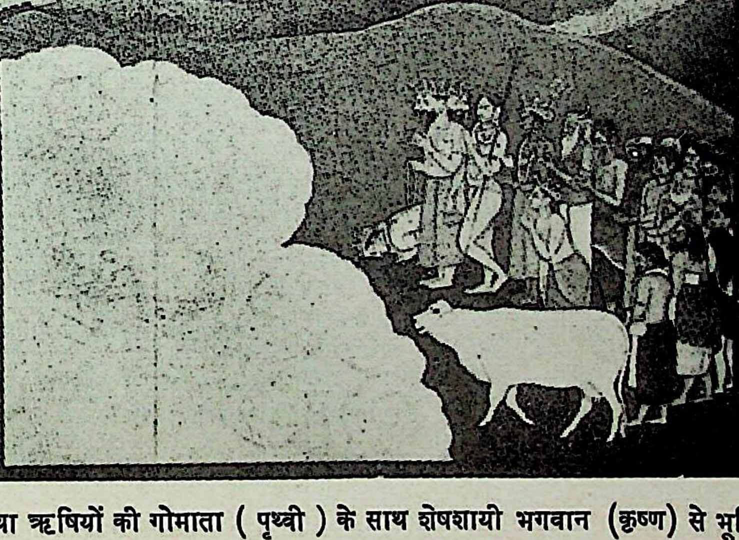

त्रिदेवों तथा ऋषियों की गोमाता (पृथ्वी) के साथ शेषशायी भगवान (कृष्ण) से भूमिभार-हरण हेतु अवतारधारण के लिए प्रार्थना–राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली के सौजन्य से

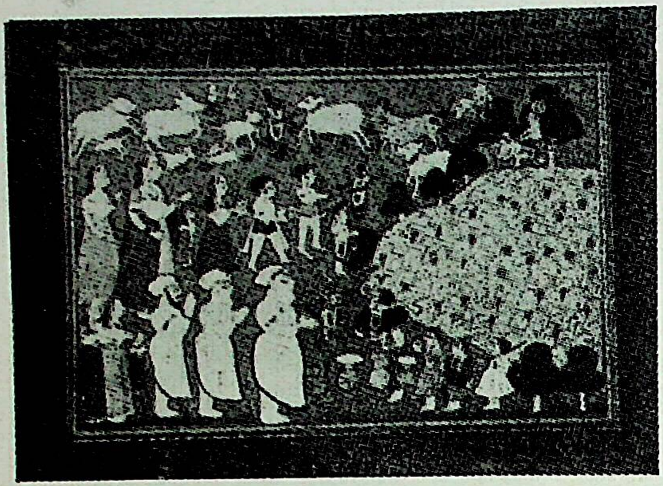

गोवर्द्धन-पूजा
डा० जयसिंह नीरज (जयपुर) के सौजन्य से

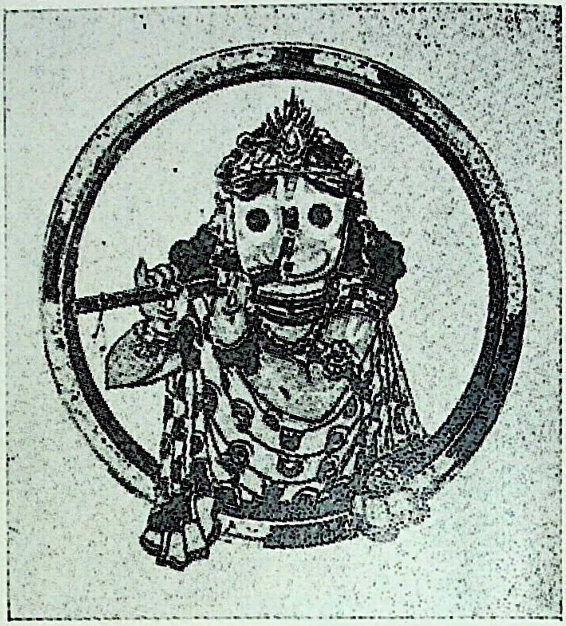

भगवान जगन्नाथ मुरलीधर--कृष्ण के वेष में
पुरी (उड़ीसा)

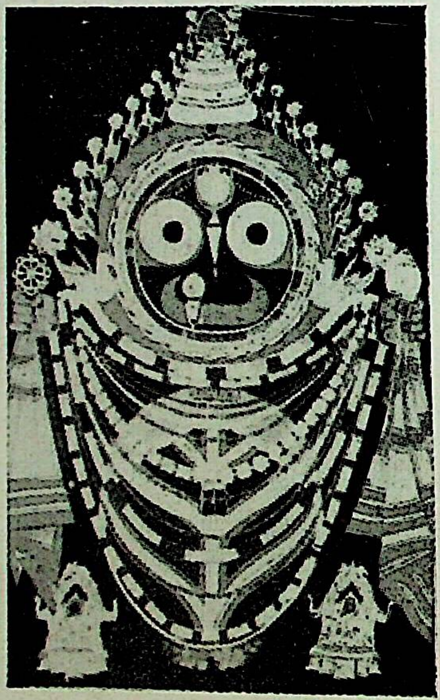

भगवान जगन्नाथ
पुरी (उड़ीसा)

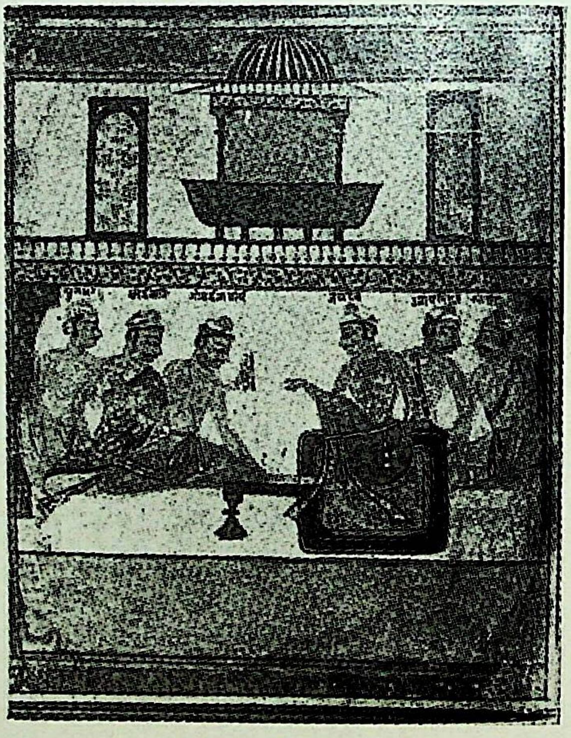

गीतगोविन्दकार जयदेव (मध्य में) के साथ कवि श्रुतधर,
धोई गोवर्द्धनाचार्य तथा उमापतिधर
—राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली के सौजन्य से

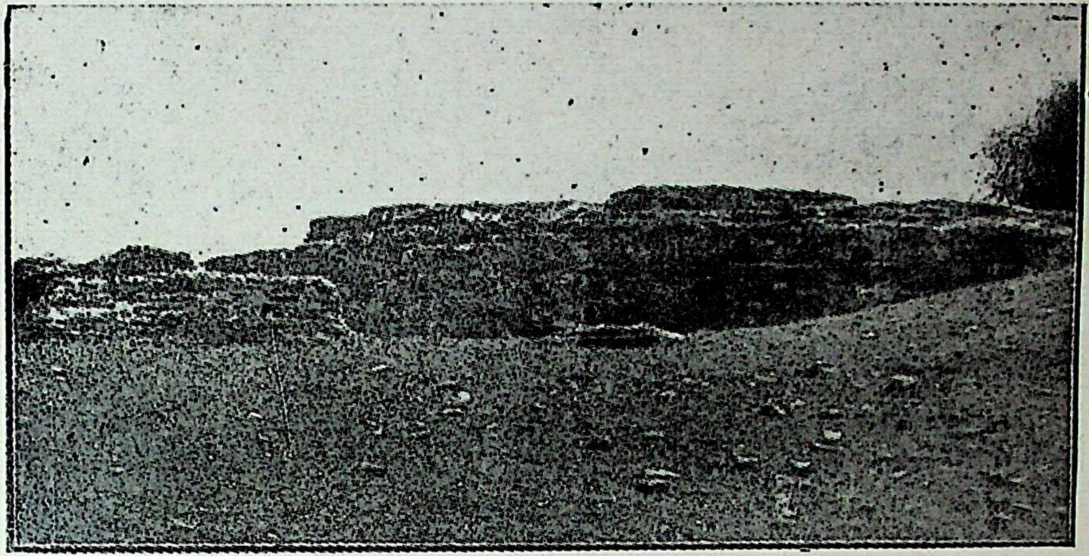

प्राचीन श्रीकृष्ण जन्मस्थान (मथुरा) के ध्वंसावशेष (१९३६ ई०)

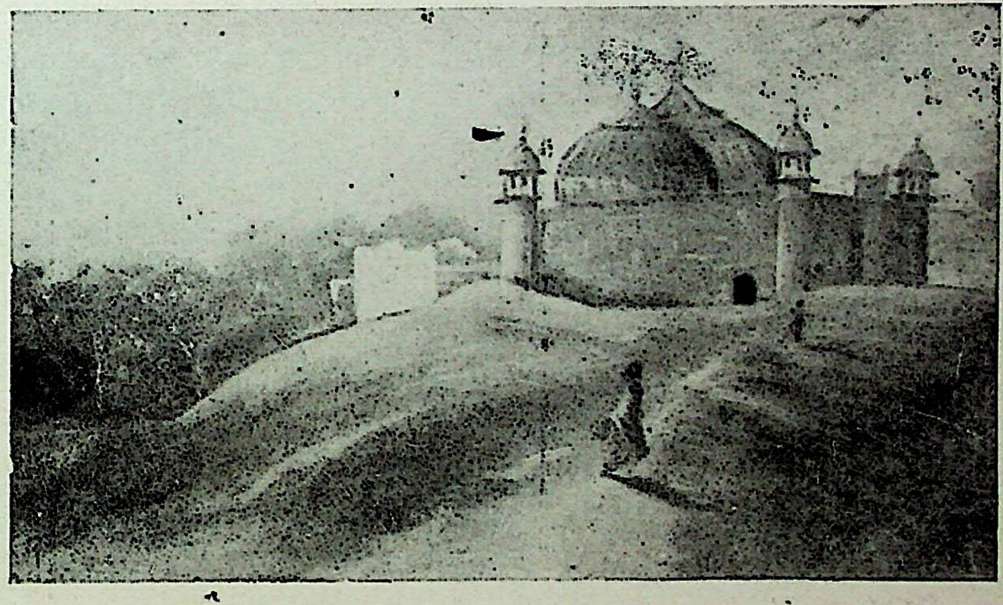

श्रीकृष्ण जन्मस्थान (मथुरा) की भूमि पर मुगल सम्राट् औरंगजेब द्वारा निर्मित मस्जिद

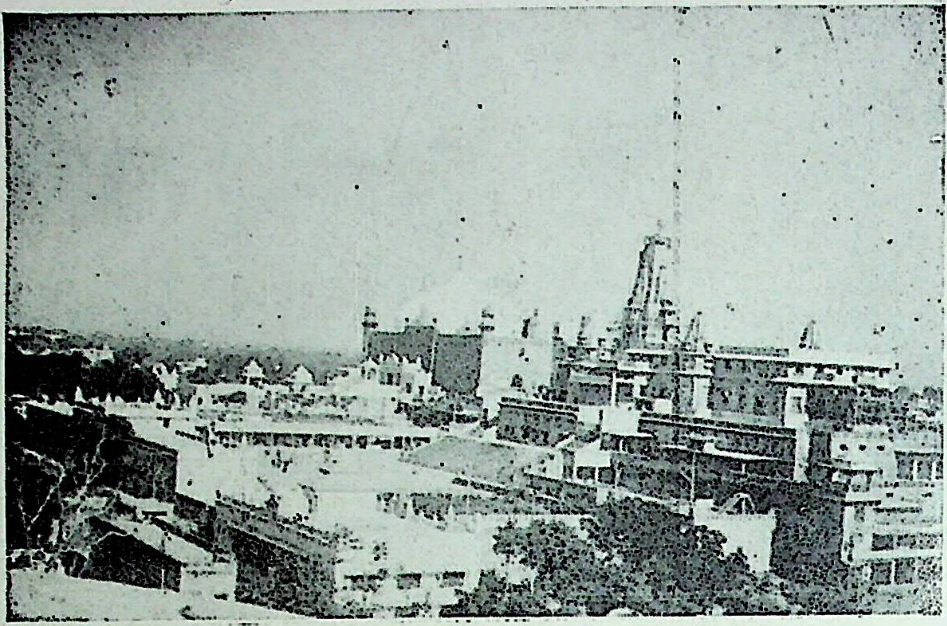

श्रीकृष्ण जन्मस्थान (मथुरा) का वर्तमान रूप

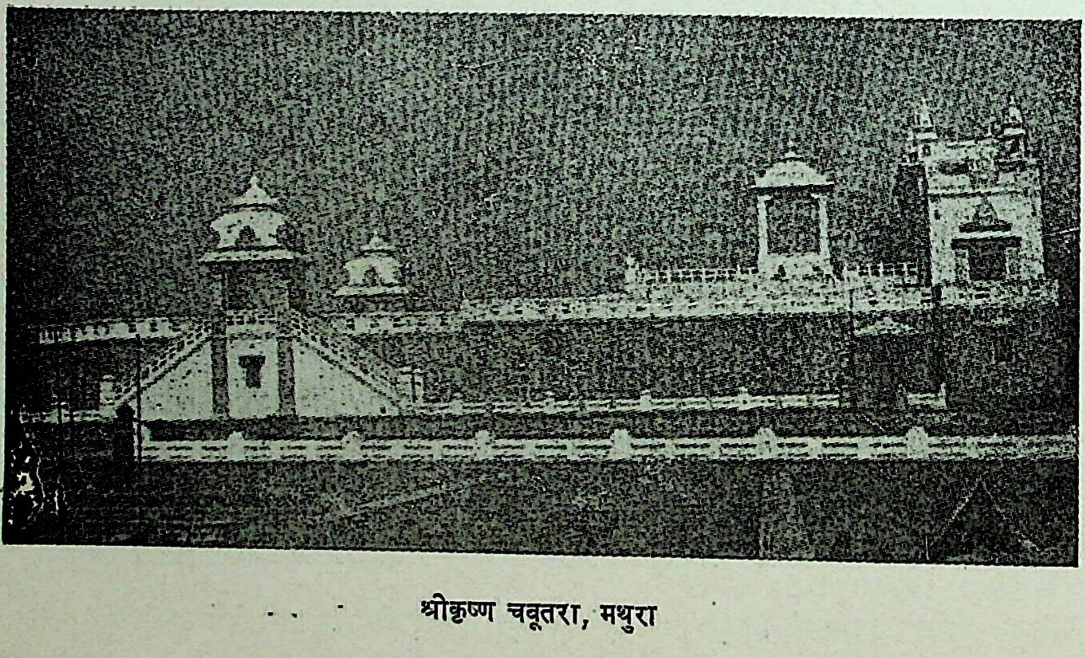

श्रीकृष्ण चबूतरा, मथुरा

उन्होंने अपने वामहस्त की कनिष्ठिका के नख पर गिरिराज को धारण किया। सूरसागर में वाम कर का बार-बार उल्लेख है—

(१) करज के अग्र भुज वाम गिरवर धर्‌यो।
नाम गिरिधर पर्‌यो॥

(२) बाम करज टेक्यौ गिरिराज···
···गिरिवर टेकि रहे बाएँ कर, दक्खिन कर लियो सखनि उठाई।

किन्तु दक्षिण के मन्दिरों में इस प्रकार का कोई निश्चित विधान दृष्टिगत नहीं होता। होयसल शैली की (लगभग ६ शताब्दी पूर्व) एक मूर्ति में कृष्ण वामहस्त पर गिरि धारण किए हैं तथा तुग्गेहल्लि शैली की एक मूर्ति में वे गिरिराज दक्षिण-हस्त पर थामे गए हैं। ये दोनों प्रतिमाएँ वस्त्राभूषणों से परिपूर्ण हैं परन्तु श्रीनाथ जी की प्रतिमा इतनी शिल्पसज्जित नहीं है। उन्हें 'शृंगार' धराया जाता है।

यहाँ तक मन्दिरों में पूजा के लिए स्थापित जिन मूर्तियों की चर्चा की गई है वे प्रस्तर की हैं। परन्तु भारत के पूर्वांचल में प्रसिद्ध मूर्तियों का माध्यम भिन्न है। इम्फाल (मणिपुर) के श्री गोविन्द जी के मन्दिर की मूर्ति कटहल वृक्ष की लकड़ी और पुरी के विख्यात पूजाधाम में विराजते जगन्नाथ की मूर्ति विशेष प्रकार के सुगन्धित नीम वृक्ष के काष्ठ से निर्मित है। इन दोनों मूर्तियों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बड़ी मनोरंजक और अनेक सांस्कृतिक तथ्यों पर प्रकाश डालने वाली है।

पुरी, भुवनेश्वर और कोणार्क के यात्री यह भलीभाँति जानते हैं कि वहाँ की मूर्तियाँ और उत्कीर्ण प्रतिमाएँ अपनी कलात्मक सजीवता के लिए अद्वितीय हैं, इसलिए विश्वविख्यात हैं। मानव शरीर और उसमें समाहित रसमय अनुभूतियों और क्रियाकलापों को अंकित करने में कोणार्क और भुवनेश्वर के मूर्तिकार तथा शिल्पियों ने सौन्दर्य और समानुपात का सूक्ष्मता से ध्यान रखा है। परन्तु सभी मूर्तियाँ पाषाण की हैं, या पाषाण पर ही 'रिलीफ' के रूप में उकेरी गयी हैं। उनकी अनेक भंगिमाओं से ओडिसि-नृत्य-शैली को प्राण और गति प्राप्त हुई हैं। इस सार्वत्रिक पाषाण शिल्प के बीच जगन्नाथ की काष्ठ-निर्मित तथा परिवेश की सजीव सुघड़ कलात्मकता से बिल्कुल ही भिन्न प्रतिमा, विलक्षण और असंगत सी प्रतीत होती है। चौड़े चपटे मुखौटों की तरह मुखाकृति जड़ी गोलाकार आँखें, नृसिंह के समान लम्बी ओष्ठाधर रेखाएँ, चौड़ा ललाट, नुकीली चिबुक, लूले हाथ और इस पर भक्तगण कहते हैं—

सुनासं, सुकपोलं च सुललाटं, सुलक्षणम्।

तथ्य के साथ भावना की प्रतिपूर्ति का इतना बड़ा प्रतिशत! भौतिक वस्तु से आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करने में इतनी अनाश्रितता ही धर्म की आधारभूत शक्ति है। नहीं तो हम किसी भी अनगढ़ पत्थर पर सिंदूर पोतकर उसे भैरव, हनुमान, गणेश, शिव और न जाने कौन-कौन देवता मानकर पूजा कैसे कर पाते? अस्तु तथ्य यह है कि जगन्नाथ की प्रतिमा सभी कृष्ण मन्दिरों की प्रतिमाओं से और भारतीय मन्दिर के शिल्प कौशल से कतई मेल नहीं खाती। कभी-कभी ऐसा लगता है कि किसी रासलीला में लगाये गये मुखौटों (चेहरों) को ही मूर्तियों का आधार तो नहीं बनाया गया जैसा कि कथकलि नृत्य में होता है? परन्तु रास में कृष्ण और राधा के मुखौटे मैंने नहीं देखे। हाँ, पौराणिक कथाओं पर आधारित लोक-नृत्यों में 'मास्क' अवश्य लगाये जाते हैं जैसे कि छाऊ नृत्य-शैली में।

इस सम्बन्ध में अनुमान, लोकश्रुति, मिथ और इतिहास सबको मिलाकर लोगों ने अपने-अपने मत व्यक्त किए हैं। लोकश्रुति है कि जरस नामक व्याध के बाण से कृष्ण की मृत्यु होने के पश्चात् किसी धर्मात्मा ने उनकी अन्त्येष्टि की और अस्थि-भस्म को एक पेटिका में सुरक्षित रख दिया।' हो सकता है जिस वृक्ष के नीचे उनका गोलोकवास हुआ था उसी की लकड़ी

से जगन्नाथ की रचना की जाती हो फिर उनकी प्रतिमा के एक विवर में वह अस्थि-पेटिका रखकर ही प्राण-प्रतिष्ठा पूर्ण मानी जाती हो।

अस्थि या अस्थिचूर्ण का सुरक्षण या तो यूनानी संस्कृति की या बौद्ध धर्म की प्रथा है। एक मान्यता यह भी है कि पुरी का मन्दिर पहले बौद्ध मन्दिर था, बाद में उसे वैष्णव मन्दिर के रूप में परिवर्तित किया गया। अस्थिपेटिका भी भगवान बुद्ध के अवशेषों की ही मानी जाती है। बौद्ध-साहित्य में 'दन्तपुर' जहाँ बुद्ध का एक दाँत प्रतिष्ठापित किया गया वही ग्राम माना गया है जिसे आज 'पुरी' कहते हैं।

इन सबसे अधिक सार्थक बात यह है कि प्राचीन काल में पुरी का स्थान शबरों का पवित्र धाम था। जगन्नाथ शबरों की एक उपजनजाति के देवता थे।[२] जनजातियाँ वन देवताओं की पूजक होती ही हैं और उनके देवता का काष्ठ तथा जनजातीय कला के प्रतिमानों से निर्मित होना स्वाभाविक ही है। ऐसी भी जनश्रुति है कि जब जनजाति का सम्पर्क वैष्णवों से हुआ और उन्होंने कृष्ण को स्वीकार किया तो मूर्ति के सम्बन्ध में अपनी लोकसम्मत मान्यताओं (काष्ठ और आकृति) को अक्षुण्ण रखने का आग्रह किया। इस सांस्कृतिक समन्वय के परिणामस्वरूप कृष्ण के साथ बलराम और सुभद्रा भी आराध्यों के रूप में स्थापित हुए। हमारे इतिहास और पुराणों में पूजा के लिए इस त्रयी की स्थापना का कोई साक्ष्य नहीं है इसलिए जगन्नाथ धाम से कुछ दूरी पर मुरलीधर की मूर्ति साक्षी-गोपाल के नाम से विद्यमान है। मेरे विचार से, हमें जगन्नाथ में अपनी श्रद्धा का साक्ष्य इनके समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता है।

इसी तरह की समन्वय कथा मणिपुर के गोविन्द जी के विषय में है। गौड़ीय कृष्णोपासना के प्रचारक जब मणिपुर पहुँचे तो वहाँ भी जनजाति में काष्ठ के वनदेवता पूजे जाते थे। कहते हैं कि इस बात पर समझौता हुआ कि कृष्ण की वंशीधर प्रतिमा काष्ठ (कटहल) की हो। इम्फालमें प्राचीन राजमहल के समीप श्यामरंजित काष्ठ-प्रतिमा सारे प्रदेश के जीवन और कला की प्रेरक है। इसके सम्बन्ध में राजा तथा उसके स्वप्न की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं जिनका उल्लेख यहाँ अनावश्यक होगा। मनोरंजक बात यह है कि शासक ने वैष्णव ब्राह्मणों से प्रजा को दीक्षित करने को कहा और ब्राह्मणों के सामने जैसे लोग गुजरते चले गये वे किसी को ब्राह्मण और किसी को क्षत्रिय की संज्ञा देते गये। फलतः मणिपुर में प्रधानतः ये दो जातियाँ ही हैं।

कृष्ण, जैसे विलक्षण लीलाओं वाले महापुरुष या देवता थे वैसी ही विविध और विचित्र उनकी प्रतिमाएँ हैं, जो भारतीय जीवन के सम्बन्धों और आग्रहों के साथ-साथ आंचलिक इतिहास-पुराण, संस्कृतियों एवं कला शैलियों की परिचायक हैं।

संदर्भ

१. दाह संस्कार अर्जुन ने किया। श्रीकृष्ण की मृत्यु के विषय में श्रीमद्भागवत में लिखा है—

राम निर्वाणमालोक्य भगवान् देवकीसुतः।
निषसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलम् ॥
मृगस्याकारवत्तच्चरणं विव्याध मृगशंकया।

२. हिन्दू वर्ल्ड, बेंजामिन वाकर : जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि०, लंदन।

—डॉ० गोपाल शर्मा

श्री कृष्ण-जन्मभूमि अथवा कटरा केशवदेव

भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मभूमि मथुरा सप्त महापुरियों में से एक विख्यात नगरी है। भारतीय धर्मप्राण जनता के मनपर इसका अद्‌भुत प्रभाव रहा है। त्रेतायुग में यहाँ मधु-नामक असुरवंशीय राजा की राजधानी मधुपुरी थी। यह स्थान आजकल महोली गाँव के नाम से वर्तमान नगर के दक्षिण-पश्चिम में करीब चार मील दूर है। कहा जाता है कि जब शत्रुघ्न ने लवणदैत्य का दमन कर दिया, तब उन्होंने यमुना के किनारे पर मधुपुरी के नाम से एक नगरी की स्थापना की। यह 'मधुपुरी' या 'मधुपुरा' ही मथुरा-नाम से प्रसिद्ध हुई। प्राकृत उच्चारण के नियमों के अनुसार 'मथुरा' और 'मधुरा' दोनों ही शब्द मान्य हैं (देखिये-माधुरिय सुत्तान्त, मज्झिम निकाय २।४।४)।

इस नवीन स्थापना के बाद मधुरापुरी का उत्कर्ष बहुत बढ़ा। जिस समय भगवान् कृष्ण चन्द्र का जन्म इस पुण्यभूमि में हुआ। यहीं पर यमुना के तट पर महाभारतकालीन मथुरापुरी बसी हुई थी। विद्वानों के मत से इस प्राचीन मथुरानगरी का केन्द्र कटरा केशवदेव होना चाहिए। कनिंघम साहब ने स्वलिखित पुरातत्व-विभाग की रिपोर्ट में इस प्रश्न पर विस्तार के साथ विचार करने के बाद यही सम्मति निश्चित की कि कटरा केशवदेव के उत्तर और पश्चिम की ओर फैले हुए खण्डहरों का सिलसिला ही प्राचीन मथुरा नगर है—

(1) The oldest city of the original King Madhu was at Madhupura, now Maholi.

(2) The Aryan City, after the defeat of Madhu, was built on the site of the present Katra, with the Bhuteshwar Temple as its centre.

(3) The Jumna Fort is the last city, I had already arrived at his (Growse) second conclusion as to the site of the ancient Aryan city from an examination of the ground, compared with Huen Tasang's statements as to relative positions of the different Buddhist monuments. The people also are unanimous in their belief that the Katra was the site of the ancient city."

—Cunningham's Arch. Report, Vol. XX. P. 31

ग्राउज़ महोदय मथुरा के प्रसिद्ध कलक्टर और मथुरा संग्रहालय के संस्थापक थे। उन्होंने मथुरा पर एक अमर ग्रन्थ की रचना की है। उनका भी यही मत था कि कटरा केशवदेव ही पुरानी बस्ती है (Growse's Mathura, P. 216)। कटरा केशवदेव की भूमि के सिलसिले में ही कम से कम दो सहस्त्र वर्ष के पुराने स्थान जैसे चौरासी कक्ड़ाली, चौबारा गणेशरा, पालीखेड़ा आदि का ताँता है। सैकड़ों टीले मीलों तक फैले हुए प्राचीन नगर के भग्नावशेषों का स्मरण दिलाते हैं।

कटरा केशवदेव के सम्बन्ध में जिस प्राचीनतम जनश्रुति-का कनिंघम साहब ने ऊपर उल्लेख किया है, उसकी पुष्टि में लाखों हिन्दू जनता का सनातनकाल से चला आता हुआ यह विश्वास है कि कटरा केशवदेव ही भगवान् कृष्ण की जन्मभूमि है। इसी स्थान से लगा हुआ 'पोतराकुण्ड' है। वह बहुत ही विशाल और पक्का सरोवर है। जन्मभूमि के पास ही पोतराकुण्ड का होना स्वाभाविक है। कनिंघम साहब ने कटरा के प्राचीन इतिहास पर विचार करते हुए अपनी सम्मति इस प्रकार दी है—

"......the Katra stands in Kesopura Mohalla of the present day, and, as there can be little doubt that the great temple of Kesava had stood on this site from a very early date, although often thrown down and as often renewed, I think that Kesopura must be Klisobora or Kaisobora of Arrian, and the Clisobora of Pliny" (Vol. XX. P. 31).

अर्थात् वर्तमान केशोपुरा मुहल्ले में कटरा स्थान है। इसमें संदेह नहीं कि केशवदेव का प्राचीन मन्दिर इसी स्थान पर बना हुआ था। यह मन्दिर कितनी ही बार बना और कितनी ही बार नष्ट हुआ। मेरे विचार में केशोपुरा ही वह स्थान है, जिसका नाम एरियनने क्लिसोबोरा या केसोबोर और प्लिनीने क्लिसोबोरा लिखा है।'

इस प्रकार क्लिसोबोरा या कृष्णपुरा और केसोबोरा या केशवपुर पर्यायवाची शब्द हैं। यदि कनिंघम साहब का यह अनुमान ठीक है तो यह सिद्ध हो जाता है कि केशवपुर का अस्तित्व यूनानियों के आगमनकाल, अर्थात् ईस्वी चौथी शताब्दी में अवश्य था। कटरा केशवदेव की भूमि से जो प्राचीन मूर्ति और पत्थर के टुकड़े मिले हैं, उनके आधार पर भी इसी बात की पुष्टि होती है कि केशवदेव का स्थान अवश्य ही इतना प्राचीन माना जा सकता है।

अन्य प्रमाणों से अधिक निश्चयात्मक दूसरी मूर्ति तथा गुप्तकालीन स्तम्भ का एक टुकड़ा है, जो इसी वर्ष में कटरा केशवदेव के स्थण्डिल पर बसे हुए एक घर से मिला था (म्युजियम नं० २६५९.)। यह दरवाजे की चौखट का बगली खम्भा या तमंचे का टुकड़ा है, जिसके सामने की ओर कच्छप-वाहन पर खड़ी हुई यमुनाजी की मूर्ति है। यमुना के दाहिने हाथ में पूर्णघट और बाँए हाथ में फूलों की डाली है। गुप्तकालीन केशविन्यास, कण्ठ में एकावली माला और सूक्ष्म विमलवस्त्र से स्तम्भ और मूर्ति के समय-निर्धारण में संदेह नहीं रहता। कच्छप-वाहन पर आरूढ़ नदी की अधिष्ठात्री देवी का मथुरा से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह भी अनुमान किया जा सकता है। पुरातत्व और काव्य, दोनों इस बात के साक्षी हैं कि द्वार के पार्श्व-स्तम्भों पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ चित्रित करने की प्रथा सर्वप्रथम हिन्दुत्व से अनुप्राणित गुप्तकालीन मन्दिरों में ही मिलती है (देखिये, चन्द्रगुप्त द्वितीय की उदयगिरि गुफा का विष्णु-मन्दिर)। कालिदास की निम्नलिखित पंक्ति से इसी प्रकार का संकेत मिलता है—

'मूर्ते च गंगायमुने तदानीं
सचामरे देवमसेविषाताम्।'
—कुमारसम्भवम् ७.४

अर्थात् गंगा और यमुना अपने नदी रूप को त्यागकर (समुद्रगा रूप विपर्ययेऽपि) मनुष्य विग्रह में चामरग्राहिणी बनकर देव की सेवा करने लगीं।

इतिहास में मथुरा के आक्रमणों का जो वृत्तान्त मिलता है, उससे तो यही मालूम होता है कि गुप्तकाल के अभ्युदय का प्रवाह महमूद गजनी के समय में आकर टूटा। १०१७ ई० में उसने केशवदेव के मन्दिर को आकर लूटा। अल् उत्वी, जो महमूद का मीरमुंशी था, अपनी 'तारीख यमिनी' में कटरा केशवदेव के विषय में लिखता है (ग्राउज साहब ने उसका अवतरण दिया है)—

"He saw a building of exquisite structure, which the inhabitants declared to be the handwork not of men, but of Genii."[1]

'अर्थात् शहर में सुल्तान ने एक इमारत देखी, जिसे लोग देवताओं की बनाई हुई कहते थे।' वह आगे चलकर कहता है—

"In the middle of the city was a temple larger and finer than the rest, to which neither painting nor description could do justice. The Sultan thus wrote respecting it—'If any one wished to construct a building equal to it, he would not be able to do so without spending a hundred million dinars, and the work would occupy two hundred years, even though the most able and experienced workmen were employed."[2]

'अर्थात् शहर के बीच में एक मन्दिर सबसे बड़ा और सुन्दर था। चित्र से या शब्दों से उसका पूरा वर्णन असम्भव है। सुल्तान ने उसे देखकर लिखा कि अगर कोई ऐसी इमारत बनवाये तो लगभग दस करोड़ दीनार खर्च होंगे और बहुत योग्य और अनुभवी कारीगरों को लगाने पर भी इसके बनने में दो सौ वर्ष लगेंगे।'

महमूद और कटरा केशवदेव

महमूद का आँखों-देखा वर्णन और उसके आधार पर किया हुआ अनुमान दोनों ही सत्य हैं; क्योंकि गुप्तकाल से १००० ई० तक लगभग ६०० वर्षों की अवधि में केशवदेव का विराट् मन्दिर सँवारा और सजाया गया था। इस दीर्घ समय में वहाँ अतुल धन-सम्पत्ति और सुवर्ण राशि एकत्र हो चुकी थी। इसका भी यथार्थ वर्णन महमूद के मीरमुंशी ने किया है—'बीस दिन की लूट में सोने की पाँच बड़ी-बड़ी प्रतिमाएँ मिलीं, जिनमें माणिक्य की आँखें जड़ी हुई थीं। उनका मूल्य ५० हजार दीनार था। सोने की एक और मूर्ति मिली, जिसका वजन ९८,३०० मिष्कल या लगभग १४ मन था। इसमें करीब डेढ़ सेर का एक नीलम जड़ा हुआ था। चाँदी को भारी-भारी सौ मूर्तियाँ सौ ऊँटों पर लादकर ले जायी जा सकीं।'

यह वर्णन श्री एफ० एस० ग्राउज़ के मथुरा जिले के विवरण से कुछ भिन्न है, लेकिन श्रीमती एशा बासन्ती जोशी के उत्तरप्रदेश के मथुरा जिले के वर्णन (जो उत्तर-प्रदेश के जिलों के वर्णन की दसवीं सिरीज में, १९६८ में प्रकाशित है।) के पृष्ठ ५२ पर दिये हुए वर्णन से मिलता है। दोनों के मूल नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं।

श्री एफ० एस० ग्राउज़ महोदय का वर्णन (पृष्ठ ३३)—

"The city was given up to plunder for twenty days. Among the spoil are said to have been five great idols of pure gold with eyes of rubies and adornments of other precious stones, together with a vast number of smaller silver images, which, when broken up, formed a load for more than a hundred camels. The total value of the spoil has been estimated at three millions of rupees; while the number of Hindus carried away into captivity exceeded 5, 000"

श्रीमती एशा बासन्ती जोशी का वर्णन (पृष्ठ ५२)—

Among the idols there were five made of real gold, each five yards high, fixed in the air without support. In the eyes of one of these idols there were two rubies, of such value, that if any one were to sell such as are like them, he would obtain fifty thousand dinars. On another, there was a sapphire purer than water, and more sparkling than crystal; the weight was four hundred and fifty miskals. The two feet of another idol weighed four thousand four hundred miskals, and the entire quantity of gold yieded by the bodies of these idols, was ninetyeight thousand three hundred miskals.

The idols of silver amounted to two hundred, but thay could not be weighed without breaking them to pieces and putting them into scales. The sultan gave orders that all the temples should be burnt with naphtha and fire, and levelled with the ground (Elliot and Dowson, op. cit., Voll. II, pp. 14-15, 44-45).

इस मेरुतुल्य राशि या कुबेर के कोष को, जिसे देखकर लुटेरों की आँखें फट गयी थीं और उन्होंने समझा था कि रत्नों की खान ही हाथ आ गयी, जिनके शनैः शनैः संचय करने का श्रेय महावैभवशाली हिन्दू सम्राटों और धर्मप्राण प्रजा

को था, लगभग छः सौ वर्षों तक वे निर्वाध रीति से मधुमक्षिका की भाँति इस कोष का संचय करते आ रहे थे। अन्त में दण्ड-बल के क्षीण हो जाने से उन्हें उससे हाथ धोना पड़ा।

इसी आपत्तिकाल में अनेकानेक बौद्ध और हिंदू-मूर्तियों को कुओं में फेंक दिया गया। मथुरा के कितने ही कुएँ इन मूर्तियों से पटे हुये मिले हैं।

जयभट्टा की मूर्ति भी उसी समय केशवदेव के कुएँ में फेंकी गयी होगी। अभी इस कुएँ में, सफाई कराने से, अन्य अनेक मूर्तियों के मिलने की आशा है। महमूद के कुछ काल के बाद शान्ति और व्यवस्था स्थापित होने पर मथुरा फिर आबाद हुई। गुप्तकालीन कुर्सी के ऊपर बना हुआ केशवदेव का मन्दिर महमूद के बाद किसी समय बना। उसका विध्वंस सिकन्दर लोदी (१४८८-१५१६ ई०) के हाथों हुआ।

उसके १२५ वर्ष बाद जहाँगीर के शासन-काल में हिन्दुत्व के अभिमानी ओरछा के बुन्देले राजा वीरसिंह देव ने करीब तैंतीस लाख रुपया लगाकर फिर से केशवदेव के विशाल मन्दिर का निर्माण कराया। इस मन्दिर को १६५९ ई० के लगभग टेवरनियर और १६६३ ई० में बर्नियर ने देखा था। टेवरनियर लिखता है :

"बनारस और जगन्नाथ के बाद सबसे प्रसिद्ध मन्दिर मथुरा का है। यहाँ का मन्दिर इतना बड़ा है कि वह छ. कोस दूर से ही दिखाई पड़ता है। इसकी बड़ी कुर्सी अठपहलू बनी है। मन्दिर के चारों ओर पत्थरों पर नक्काशी है, जिनमें भाँति-भाँति के जानवर खुदे हुए है। चित्रों की एक पट्टी जमीन से दो फीट ऊँची और दूसरी शिखर से दो फीट नीचे है। विशाल चबूतरे पर आधे में मन्दिर और आधे में जगमोहन बना है। बीच में एक बड़ा मण्डप है। मन्दिर में अनेक खिड़कियाँ और गोखे है।" मण्डप के भीतर बनी हुई जाली की दीवार के पास से टेवरनियर को पुजारियों ने मूर्ति का दर्शन कराया। उसने देखा कि मूर्ति काले पत्थर की बनी है और आभूषण तथा वस्त्र पहने है। यही मूर्ति अभी तक नाथद्वारे के मन्दिर में स्थापित है। संक्षेप में, हमारा अनुमान है कि इस मन्दिर की रचना वृन्दावन के गोविन्द देव जी के मन्दिर के सदृश ही थी, जो अकबर के समय में बना था।

औरंगजेब और कटरा केशवदेव

यह मन्दिर १६६९ ई० में औरंगजेब की कट्टरता का शिकार बना। उस समय मन्दिर के मण्डप और जगमोहन को विध्वंस करके सब मूर्तियाँ आगरा भेज दी गयीं। मन्दिर की जो विशाल कुर्सी रह गयी, उसके पूर्वी भाग पर औरंगजेब ने मस्जिद बनवा दी। मस्जिद के फर्श में दो देवनागरी लेख जड़े हुये हैं, जिनमें संवत् १७१३ (१६५६ ई०) और सं० १७२० (१६६३ ई०) खुदा हुआ है। मन्दिर का ही मसाला मस्जिद के काम में लाया गया। बहुत-से खुदे हुये पत्थर अब भी उसकी चौकी में जा-बजा लगे हैं। मस्जिद की पक्की चौकी १७२ फीट लंबी और ८६ फीट चौड़ी है, जिस पर मस्जिद की चौड़ाई ६० फीट तक है। पाँच फीट नीचे एक कच्ची कुर्सी है, जो लंबाई और चौड़ाई में २६८ और २५८ फीट है। मस्जिद के पीछे करीब १७० फीट लंबी मन्दिर की पुरानी कुर्सी पूर्व-पश्चिम है। उत्तर-दक्षिण की सीध में उसकी चौड़ाई ६६ फीट है। इसमें दोनों तरफ १६-१६ फीट चौड़ा पुश्ता है, जिसे सिकन्दर लोदी से पहले की कुर्सी की सीध में राजा वीरसिंह देव ने बढ़ाकर परिक्रमा-पथ का काम देने के लिए बनवाया था। इससे करीब दस फीट नीची गुप्तकालीन मन्दिर की कुर्सी है, जिसका वर्णन हो चुका है।

औरंगजेब के बाद कटरा केशवदेव मराठों की अमलदारी में आया। किंवदन्ती है कि मराठों ने केशवदेव के प्राचीन मन्दिर को कृष्ण-जन्मभूमि की मान्यता के कारण, कृष्ण चबूतरे पर फिर से मन्दिर बनवाना चाहा। मथुरा के पण्डितों ने उसके लिए अपनी सम्मति भी दे दी, परन्तु काशी के पण्डितों के मतभेद के कारण वह विचार स्थगित हो गया। सन् १८०३ में मराठों की पराजय के बाद मथुरा अंग्रेजी राज्य में आया। उस समय कटरा केशवदेव की भूमि को

ईस्ट-इंडिया कंपनी ने नीलाम पर चढ़ाकर राजा पटनीमल के नाम तमाम कटरे की बोली छोड़ दी। कृष्ण जी की जन्मभूमि या कृष्ण चबूतरे का अधिकार पाकर राजा पटनीमल की जन्म-पर्यन्त यह अभिलाषा रही कि फिर से केशवदेव के मन्दिर का निर्माण करावें, परन्तु अपने जीवनकाल में वे इसे पूर्ण नहीं देख सके। तब से अबतक उस भूमि पर राजा पटनीमल के वंशजों का अधिकार चला आता है। कई बार सरकारी अदालतों से भी इसी प्रकार के निर्णय हुए हैं।

इसी वर्णन से यह ज्ञात हो जाता है कि कटरा केशवदेव का स्थान पुरातत्त्व की दृष्टि से लगभग ढाई हजार वर्ष प्राचीन अवश्य है। साहित्यिक सामग्री के आधार पर कृष्ण को जन्म लिये हुए ५००० वर्ष हुए। स्थानीय परम्परा इस बात को सदा से मानती रही है कि कटरा ही प्राचीन कृष्ण जन्मभूमि है। उसका समर्थन इस बात से होता है कि ऐतिहासिक काल में अनेक बार कृष्ण या विष्णु के विशाल मन्दिरों का इसी स्थान पर निर्माण हुआ—

'It is certain that an earlier shrine, or series of shrines, on the same site and under the same dedication, had been famous for many ages.' (Growse, p. 84).

"अर्थात् कई शताब्दियों से केशवदेव के अनेक मन्दिरों का निर्माण इसी भूमि पर हुआ।"

प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व में महाक्षत्रप सुदास के समय में मथुरा में भगवान् वासुदेव का एक महास्थान अवश्य था। उसके प्रमाणस्वरूप सुदास का तोरण-लेख मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है। भारतवर्ष में अब तक के मिले हुए संस्कृत लेखों में भगवान् वासुदेव के महास्थान से सम्बन्ध रखनेवाला यह लेख सबसे पुराना है—

पंक्ति— ६. वसुना भगव (तो वासुदे)
७. वस्य महास्थान'''' (चतुःशा)
८. ''''''''लं तोरणं वे (दिकाः प्रति)
९. ष्ठापितो प्रीतो भ (वतु वासु)
१०. देवः स्वामिस्य (महाक्षत्र)
११. पस्य शोडास (स्य)
१२. सवर्तेयाताम्।

'अर्थात् भगवान् वासुदेव के महास्थान में चतुःशाल तोरण और वेदिका वसु के द्वारा स्थापित की गयी। वासुदेव प्रसन्न हों, स्वामी महाक्षत्रप सुदास (शोडास) का राज्य स्थायी हो।"

इस तोरण-लेख का प्राप्ति-स्थान संदिग्ध है। यह नगर से पूर्व की ओर एक कुएँ में से पं० राधाकृष्ण को मिला हुआ बताया जाता है। करीब ८ फीट लंबे तोरण का कुएँ में गिरकर साबुत रहना सम्भव नहीं मालूम होता। हमारा अनुमान यह है कि भगवान् वासुदेव का महास्थान कटरा केशवदेव में ही होना चाहिये। शुंगकाल में और उसके आस-पास नगरी में वासुदेव और संकर्षण के मन्दिरों का लेख और बेसनगर में गरुडध्वज-सम्बन्धी लेख मिल चुके हैं। मथुरा में भी उसी प्रकार के लेख की प्राप्ति बहुत स्वभाविक है। चूंकि कटरा ही अत्यन्त प्राचीनकाल से कृष्ण जन्मभूमि के रूप में प्रसिद्ध रहा है, अतएव कृष्ण मन्दिर का पुरातन स्थान यहीं होना चाहिए। इस प्रकार सम्भावना यही है कि रायबहादुर पं० राधाकृष्ण को यह महत्वपूर्ण लेख कटरे से ही प्राप्त हुआ था। शुंगकाल में मथुरा एक अत्यन्त समृद्धिशाली नगरी थी। भाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—

"सांकाश्यकेभ्यश्च पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा अभिरूपतराः" इति। सूत्र ५. ३. ५७

अर्थात् "सांकाश्य (वर्तमान संकिसा) और पाटलिपुत्र (पटना) के निवासियों से भी मथुरा के रहनेवाले अधिक सुन्दर और समृद्ध हैं।" इस समृद्धिकाल में ब्राह्मणत्वाभिमानी शुंग-नृपतियों के साम्राज्य में मथुरा सम्मिलित थी। जब अन्यत्र

वासुदेव के मन्दिर बने, तब मथुरा में भी उनका बनना अनुमान किया जा सकता हैं। विशेषतः जबकि यही स्थान भागवत सम्प्रदाय का प्राणभूत केन्द्र था। वाराह-पुराण में लिखा हैं–"न केशवसमो देवो न माथुरसमों द्विजः।' केशव के समान और कोई माहात्म्ययुक्त देव नहीं है और माथुर-ब्राह्मणों के समान और कोई ब्राह्मण नहीं है।" कृष्ण-जन्मभूमि होने के कारण ही केशवदेव को यह गौरव प्राप्त हुआ समझा जा सकता है। इस प्रकार कटरा केशवदेव का ढाई सहस्र वर्षों का इतिहास प्राप्त होता है। इतिहास और पुरातत्व दोनों की सम्मिलित साक्षी से हमारे अनुमानों की पुष्टि होती है कि यह स्थान ही पुरातन कृष्ण-जन्मभूमि है और उसका वर्तमान कृष्ण-चबूतरा नाम ठीक (अन्वितार्थ) है।

कृष्ण-जन्मभूमि की वर्तमान अवस्था

राजा पटनीमल पटना के महाराज ख्यालीराम बहादुर के पौत्र थे। महाराज ख्याली राम बिहार के नायब सूबेदार थे। इनका सविस्तार वृत्तान्त बंगाल और बिहार के इतिहास में मिलता है। प्रतापी नायब महाराज बहादुर के सुयोग्य पुत्र राजा पटनीमल भी बड़े प्रतापी थे। छोटेपन में ही वे अपने पिता से अप्रसन्न होकर लखनऊ चले गये थे और उन्होंने राजनीतिक कामों में भी बड़ा भाग लिया था। उन्होंने मथुरा-वृन्दावन में विष्णु का दीर्घ मन्दिर, शिवतालाब, कुंज आदि, आगरे में शीश महल, पीली कोठी आदि, दिल्ली में आलीशान मकानात, काशी में कृत्तिवासेश्वर का मन्दिर, हरतीर्थ, कर्मनाशा का पुल आदि सैकड़ों ही कीर्ति के स्थानों के अतिरिक्त एक करोड़ की सम्पत्ति भी छोड़ी और इनका पुस्तकालय तथा औषधालय भी बहुत प्रसिद्ध था (भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र लिखित 'पुरावृत्त-संग्रह' देखिये)।"

इन्हीं प्रतापी राजा साहब की कीर्ति मथुरा की कृष्ण-जन्मभूमि है। उस कीर्ति की रक्षा उनके यशस्वी वंशधरों ने आजतक की है। राजा पटनीमल बहादुर के पौत्र थे राय नृसिंहदास और उनके पौत्र (तथा राय प्रहलाद दास जी के पुत्र) हैं काशी के प्रसिद्ध कलाविद् और कवि राय कृष्णदासजी। वह कृष्ण जन्मभूमि अब आपके अधिकार में है। आप उस पुण्यभूमि पर कृष्ण का ही स्मारक देखना चाहते हैं।

हम भी कृष्ण प्रेमी है, उन्हीं की गीता और उन्हीं के गीताधर्म की उपासना करते हैं। हमारी इच्छा है कि वहाँ कृष्ण का मन्दिर बने और उस परमधाम का नाम हो गीतामन्दिर !

क्यों ? क्योंकि गीता भगवान् का हृदय है। गीता भारतीय साहित्य का हृदय है। गीता हमारा हृदय है। गीता में हो हमारा हृदय रहता है। गीता में हमारे कृष्ण रहते हैं–"हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"।

हम और हमारे विश्व के सभी बन्धु उस विश्ववाणी गीता को मानते हैं। अतः गीता मन्दिर होगा, सरस्वती का मन्दिर होगा, विश्वभारती का मन्दिर होगा।

गीता भगवान का आत्मचरित है। उस जन्मभूमि में उसी आत्मचरित संबंधी सम्पूर्ण उपलब्ध साहित्य का संग्रह रहेगा। आशा है, सभी कृष्ण प्रेमी इस ओर ध्यान देंगे।

संदर्भ

1. Mathura: A District Memoir, by F. S. Growse, Chapter II, page 32.
2. Ibid P. P. 32-33
३. देखिये–भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन-चरित्र (श्री राधाकृष्ण दास द्वारा लिखित), पृ० २८-२९

—डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

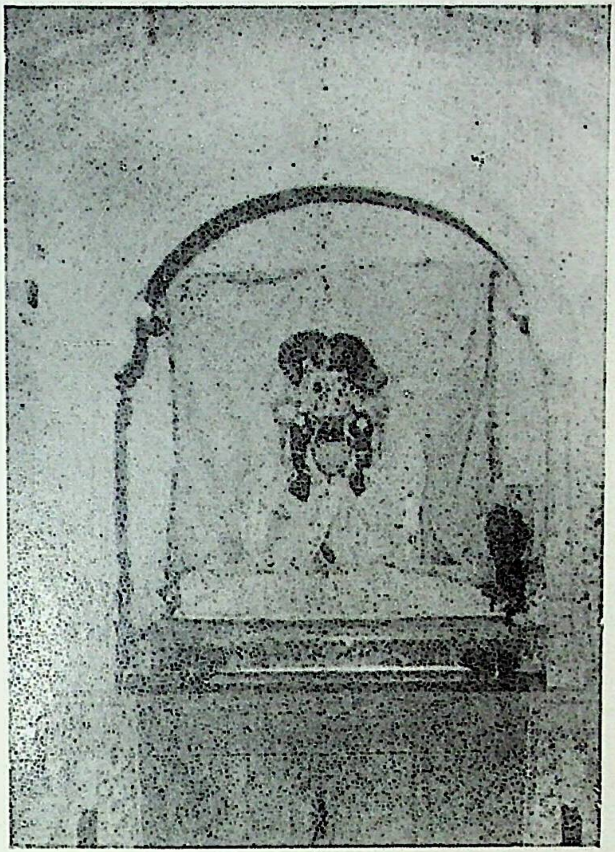

←प्राचीन केशवदेव कटरा-केशवदेव,
मथुरा (उ० प्र०)

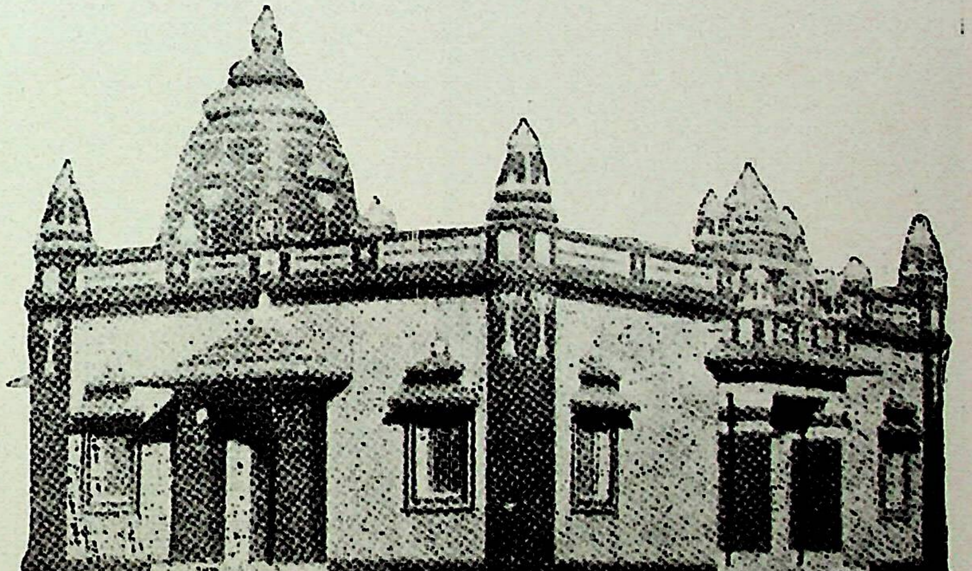

श्रीकेशवदेव मंदिर का वर्तमान रूप, मथुरा (श्री रामकृष्ण डालमिया की माता की स्मृति में निर्मित)

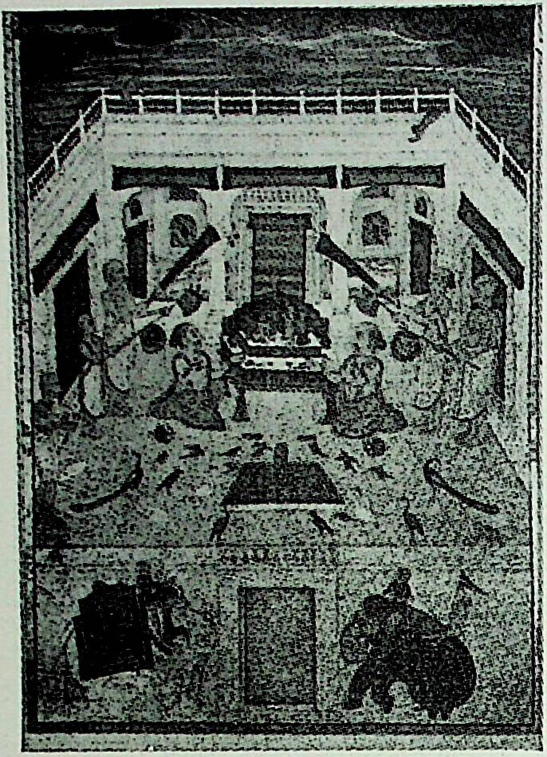

नागरीदास (महाराज सावंत सिंह) पूजा करते हुए
कृष्णगढ़ शैली
—राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली के सौजन्य से

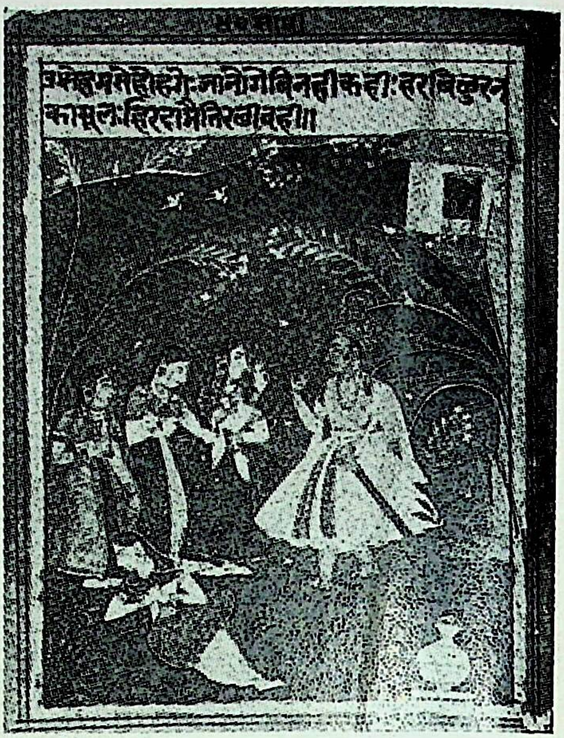

उद्धव-गोपी-संवाद
—राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली के सौजन्य से

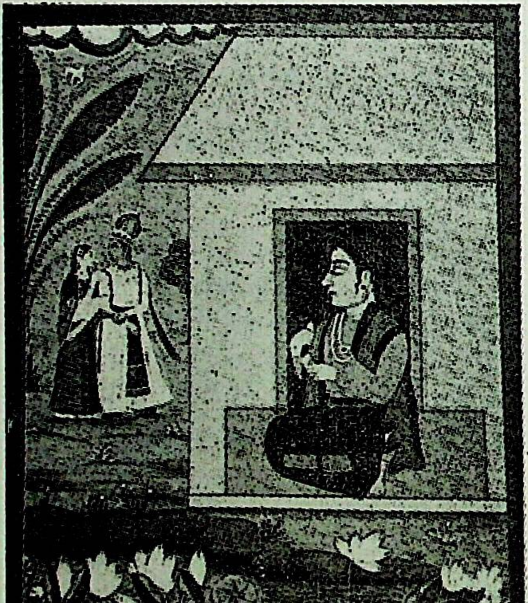

राधाकृष्ण और सूरदास, मेवाड़ शैली-१६५० ई०
—कुंवर संग्राम सिंह (नवलगढ़) के सौजन्य से

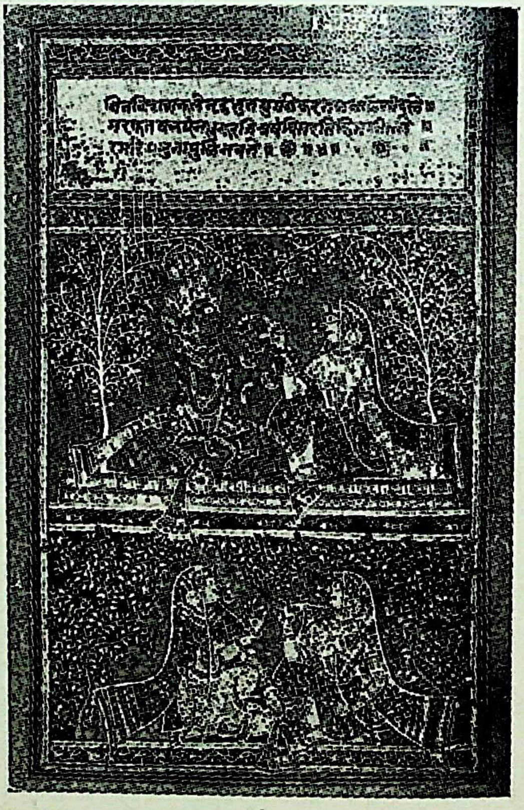

'रमते यमुना पुलिन वने' (गीतगोविंद) का चित्रण
—राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली के सौजन्य से

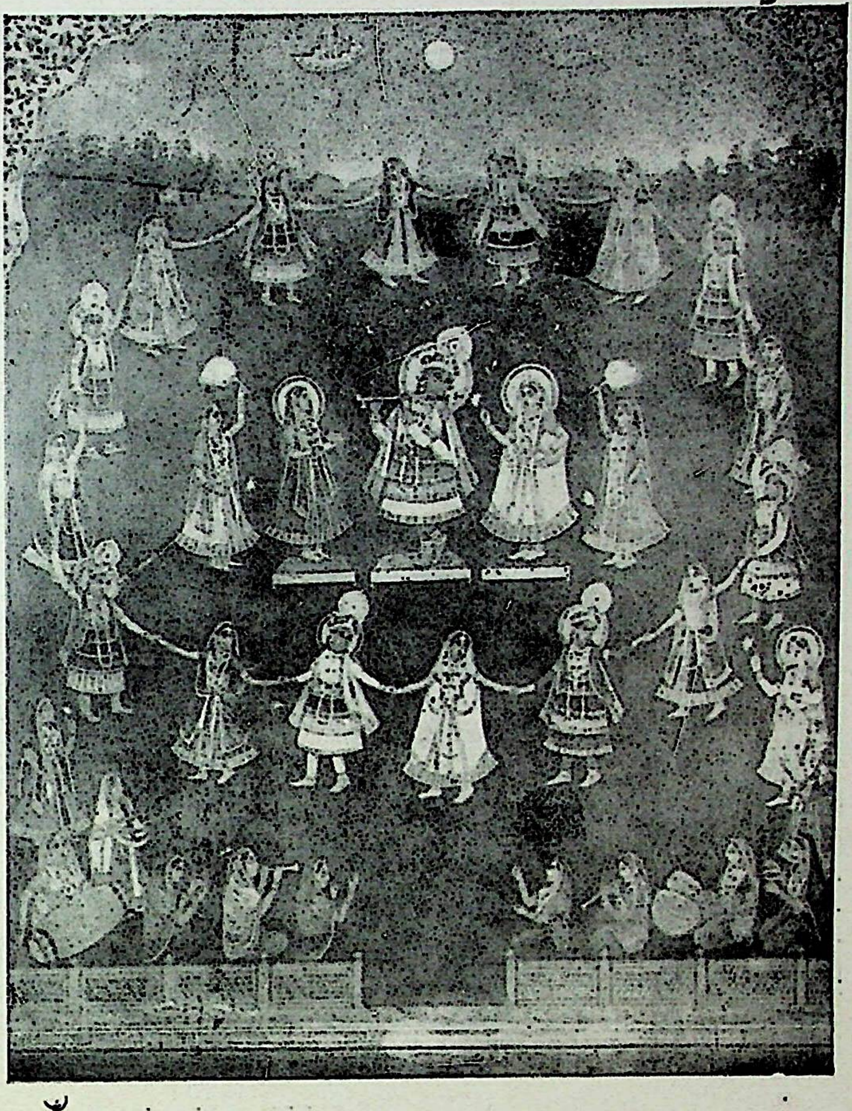

महारास

भगवान जगन्नाथ का बड़सिंहारी वेश

श्रीकृष्ण-जन्मभूमि--मथुरा का पुनरुद्धार एवं विकास

शताब्दियों से चली आती हुई जनश्रुतियों, पुरातत्त्व-विभाग द्वारा समय-समय पर की गयी खोजों, उत्खनन से मिलने वाले अति प्राचीन अवशेषों तथा इतिहासज्ञों के गहन अध्ययनपूर्ण अनुसन्धानों से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि मथुरा का आधुनिक केशव-कटरा ही वह स्थान है, जहाँ मथुरापति कंस का कारागार था और जहाँ देवकीनन्दन-वसुदेवसुवन भगवान् श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ था। इस स्थान पर सबसे पहला मन्दिर भगवान् श्रीकृष्ण के प्रपौत्र वज्रनामने अपने कुल के अवतंस एवं आराध्य की अर्चना हेतु श्रद्धापूरित हृदय से बनवाया था। यह निर्दिष्ट कर सकना कठिन है कि किस समय और किन कारणों से इस मन्दिर का अस्तित्व विलुप्त हो गया, किन्तु उपलब्ध तथ्यों के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि फिर ईसा-पूर्व ८०-५७ की अवधि में महाक्षत्रप सोडाष के राज्यकाल में श्रीवसु नामक एक व्यक्ति ने श्रीकृष्ण-प्राकट्य-स्थली पर एक मन्दिर, तोरणद्वार और वेदिका का निर्माण करवाया था। कालान्तर में यह मन्दिर भी काल-कवलित हो गया।

इसके उपरान्त तीसरा बड़ा मन्दिर सन् ४०० ई० के लगभग सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल में बना। इस विशाल मन्दिर के समीप बौद्ध एवं जैनियों के विहार एवं मन्दिर बने हुए थे। इससे स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मस्थली बौद्ध एवं जैन मतानुयायियों के लिये भी सम्माननीय थी। उन दिनों वैष्णव मत के साथ-साथ हिन्दू धर्म के अंगभूत बौद्ध एवं जैन मत भी उत्कर्ष को प्राप्त थे।

सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा निर्मित इस भव्य मन्दिर को सन् १०१७ ई० में महमूद गजनवी ने लूटा और तोड़ा। संवत् १२०७ (११५० ई०) के विशाल शिलालेख से, जो जन्मस्थान के पूर्वी भाग की खुदाई करते समय मिला था, ज्ञात होता है कि तत्कालीन राजा विजय पाल देव के शासन काल में जज्ज नामक एक धार्मिक तथा सम्पन्न व्यक्ति ने महमूद द्वारा विध्वस्त श्रीकृष्ण जन्म स्थान मंदिर की भूमि पर एक विशाल मंदिर का निर्माण कराया। उसकी व्यवस्था के लिए निर्माता ने एक समिति बनाई जिसमें चौदह सदस्य थे। शिलालेख में उनके नाम उत्कीर्ण हैं। इसके अतिरिक्त समकालीन राजा तथा प्रजा के सहयोग से उक्त मंदिर में स्थापित देव विग्रह की सेवा-पूजा के लिए वृत्ति की भी व्यवस्था की गई। मथुरा यात्रा के अवसर पर चैतन्य महाप्रभु १५१५ ई० में केशव देव के इस मंदिर में पधारे थे। चैतन्य चरितामृत में कृष्णदास कविराज ने इस घटना का वर्णन इन शब्दों में किया है :

मथुरा आशिया कोरेल विश्रान्ति तीर्थ स्नान।
जन्मस्थाने केशव देखि करिला प्रणाम॥
प्रेमानन्दे नाचे गाय सघन हुंकार।
प्रभुर प्रेमावेश देखि लोके चमत्कार॥
लोक 'हरि-हरि' बोले, कोलाहल हैल।
केशव सेवक प्रभु के माला पहिराइल॥
(चै. च. म. ली. १७।१४७,१४८,१५१)

यह भव्य मंदिर सोलहवीं सदी में दिल्ली के सुल्तान सिकन्दर लोदी द्वारा विनष्ट कर दिया गया। इस विध्वंस के लगभग १२५ वर्ष बाद मुगल बादशाह जहाँगीर के शासनकाल में ओरछा नरेश राजा वीरसिंहजूदेव बुन्देला ने इस स्थान पर तैंतीस लाख रुपयों की लागत से बहुत विशाल मंदिर बनवाया। भगवान् श्रीकृष्णकी प्राकट्यस्थली पर निर्मित इस विशाल मंदिर की कल्पनातीत भव्यता असहिष्णु औरंगजेब से देखी नहीं गयी। उसने सन् १६६९ ई० में इसे तुड़वाकर

नष्ट कर दिया और मंदिर की बड़ी कुर्सी के एक भाग पर ध्वस्त मंदिर के मसाले से ही एक ईदगाह बनवा दी, जो अब तक खड़ी है। औरंगजेब द्वारा की गयी विध्वंस-लीला के बाद से श्रीकृष्ण-प्राकट्यस्थली खण्डहरों के रूप में ही पड़ी रही। किसी ने भी उसके उद्धार हेतु प्रयत्न नहीं किया।

सन् १९४३ ई० के आस-पास की बात है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक एवं हिन्दुत्व-निष्ठा के मूर्तिमान स्वरूप महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीय ने जब अत्यधिक उपेक्षित श्रीकृष्ण-प्राकट्यस्थली के इन खण्डहरों को देखा तो उनका मन सिहर उठा। मसजिद के आस-पास घोसियों की बस्ती थी। हिन्दुओं की इस परमपूज्य भूमि का ऐसा दुरुपयोग हो रहा था कि वहाँ के वातावरण में भीषण दुर्गन्ध व्याप्त थी और आहार-विहार-रत शूकर यहाँ-वहाँ डोल रहे थे। इसके चारों ओर गन्दगी का साम्राज्य था। गिरे हुए परकोटे का मलवा आस-पास फैला हुआ था। भूमि ऊँची-नीची तो थी ही, वहाँ के गड्ढे बरसात में पोखरे बन जाते थे। नित्य वन्दनीय भूमि की नितान्त उपेक्षापूर्ण दुर्दशा देखकर मालवीयजी का हृदय भर गया और उन्होंने वहीं श्रीकृष्ण-प्राकट्यस्थली के पुनरुद्धार का संकल्प किया।

इसके कुछ ही दिनों बाद श्रीजुगलकिशोर बिड़ला मथुरा पधारे और श्रीकृष्ण जन्म स्थली का दर्शन करने गये। उसकी दयनीय दशा देखकर उनका धर्म-प्रवण-हृदय अत्यधिक प्रपीड़ित हो उठा। मथुरा से लौटकर उन्होंने श्रीकृष्ण-प्राकट्यस्थली की दुर्दशा के बारे में पूज्य श्रीमालवीय जी को पत्र लिखा। श्रीबिड़लाजी का पत्र पहुँचे, इसके पहले ही श्रीमालवीयजी बिड़लाजी को इस सम्बन्ध में पत्र लिख चुके थे।

इस प्रकार संयोगवश एक साथ ही दो महान् विभूतियों के हृदय में श्रीकृष्ण-प्राकट्यस्थली के पुनरुद्धार के पावन एवं दृढ़ संकल्प का उदय हुआ और एतदर्थ प्रयास आरम्भ हो गया। बिड़लाजी ने बनारस के राजा पटनीमल के तत्कालीन उत्तराधिकारियों से केशवदेव कटरा ७ फरवरी १९४४ को खरीद लिया। पुनरुद्धार के कार्य की योजना बन ही रही थी कि मालवीयजी का निधन हो गया। मालवीयजी की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये बिड़लाजी ने ऐडवोकेट श्रीद्वारकानाथ भार्गव के परामर्श के अनुसार २१ फरवरी १९५१ ई० को 'श्रीकृष्ण जन्मभूमि ट्रस्ट' नामक एक न्यास की स्थापना इस उद्देश्य से की कि भगवान् श्रीकृष्ण की पवित्र प्राकट्यस्थली का सर्वांगीण विकास करके उसको ऐसा रूप प्रदान किया जाय जो भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन का केन्द्र बन जाए, जिसके द्वारा देश-विदेश में श्रीमद्भगवद्गीता का संदेश प्रचारित होता रहे और जनता का आध्यात्मिक, सामाजिक एवं शारीरिक विकास हो।

'श्रीकृष्ण जन्मभूमि ट्रस्ट' की स्थापना सन् १९५१ में हुई थी, किन्तु सन् १९५३ ई० तक कोई कार्य नहीं किया जा सका। मुसलमानों की ओर से सन् १९४५ ई० में किया गया अधिकार-प्राप्ति का एक मुकदमा इलाहाबाद हाईकोर्ट में निर्णयाधीन था। ७ जनवरी १९५३ को यह मुकदमा खारिज हो गया। इसके अतिरिक्त मुसलमानों की ओर से दीवानी तथा फौजदारी अदालतों, कस्टोडियन, हाईकोर्ट, नगरपालिका आदि में भी मुकदमें चलाये जा रहे थे। जन्मभूमि ट्रस्ट ने बड़ी कुशलता से वाद–निर्णय तथा विपक्षियों से समझौते के द्वारा अपेक्षित भूमि प्राप्त कर लिया।

अब सबसे पहला कार्य था—भूमि को स्वच्छ एवं समतल करने का। १५ अक्टूबर १९५३ को ट्रस्ट के अध्यक्ष स्वामी अखंडानंद सरस्वती द्वारा विशाल श्रम-दान-यज्ञका शुभारम्भ हुआ। इस नगर के निवासियों एवं विद्यालयों के छात्रों के सहयोग से भूमि को स्वच्छ एवं समतल करने का कार्य तत्परतापूर्वक लम्बी अवधि तक चलता रहा।

भूमि के कुछ भाग के स्वच्छ और समतल हो जाने पर यहाँ पर मन्दिर के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। भगवान् के मंगलमय विधान से सन् १९५६ ई० में 'कल्याण' के आदि सम्पादक श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार छः सौ भक्तों के साथ रेल द्वारा भारत के तीर्थों के दर्शन के उपक्रम में मथुरा पहुँचे। सत्संगियों के साथ वे मथुरा स्थित श्रीकृष्ण-प्राकट्य स्थली को श्रद्धा-सुमन अर्पण करने के लिये गये। आराध्य की उस पावनतम आविर्भाव भूमि की उपेक्षित दशा को देखकर उनके कोमल हृदय में कितनी व्यथा हुई, इसकी कल्पना साधारण मानव कर ही नहीं

सकता। माघ कृ० १० सोमवार संम्वत् २०१२ वि० (६ फरवरी १९५६ ई०) के दिन मथुरा के 'लक्ष्मीदास-भवन' में तीर्थ-यात्रियों के सम्मान में एक सभा का आयोजन किया गया। इस समारोह में भाषण देते समय उनकी व्यथा उमड़ पड़ी थी। मथुरा के नागरिकों के समक्ष श्रद्धेय पोद्दारजी ने कहा—"श्रीकृष्ण-प्राकट्य स्थली की दुर्दशा देखकर आँखों में आंसू आ गये। श्रीकृष्ण-प्राकट्य स्थली पर बनी हुई यह मस्जिद तो राक्षसी अत्याचारका 'स्मारक' है, जो स्वतंत्र भारत के लिये और भारत के अच्छे मुसलमानों के लिये भी कलंक है। मुसलमानों को चाहिए कि वे हिन्दुओं का यह परम पवित्र स्थान उनको सौंपकर अपना ऐतिहासिक कलंक धो डालें और हिन्दुओं से सहानुभूति तथा सच्चा प्रेम प्राप्त करें। हमारी धर्म निरपेक्ष सरकार का भी यह परम आवश्यक कर्तव्य है कि वह किसी एक धर्म-विशेष पर किये गए घोरतम अत्याचार की इस घृणित स्मृति को मिटाकर यहाँ के सब निवासियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करें। हिन्दुओं का तो यह परमपुनीत कर्तव्य और धर्म है कि वे अपने इस महान् पवित्र, धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्थानका सर्वांगीण उद्धार करके इसे पुनः ऐसा विशाल और सुन्दर बना दें कि जिससे शताब्दियों तक यह स्थान भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर और गौरवमयी स्मृति दिलाकर विश्ववासियों के मनों को महान् आध्यात्मिक तथा विश्व कल्याणमयी प्रेरणा देता रहे। हिन्दू मात्र को यथासाध्य पूरे मन से इसकी सहायता करनी चाहिये।"

उस समय वहाँ मेरे पूज्य पिता श्रीजयदयालजी डालमिया उपस्थित थे। उनकी गणना श्रद्धेय श्रीपोद्दारजी के स्वजन एवं विशेष कृपा-पात्र के रूप में की जाती है। श्रीपोद्दारजी की आँखों में अश्रुओं को देखकर पिताजी अत्यधिक भाव-विह्वल हो उठे। उन्होंने प्राकट्य स्थली की उत्तरी दीवाल की मरम्मत करवाने तथा भगवान् केशवदेवका मन्दिर बनवाने के लिये तत्काल घोषणा कर दी। सभा में उपस्थित मथुरा के नागरिकों, ब्रजमण्डल के सन्तों-महन्तों तथा पण्डितों-विद्वानों आदि को यह विश्वास हो गया कि श्रीपोद्दारजी का आगमन एवं श्रीमन्त श्रीडालमियाजी की घोषणा आगामी महान् कार्य की शुभ-भूमिका एवं भावी महान् उत्कर्ष की पूर्व-सूचिका है।

मन्दिर-निर्माण की घोषणा से प्रसन्नता सभी को हुई, परन्तु मेरा विश्वास है कि सर्वाधिक आनन्द हुआ श्रीजुगलकिशोरजी बिड़ला को। श्रीपोद्दारजी के उद्बोधक भाषण एवं पिताजी के पुनीत निश्चय का संवाद पाकर उनका मन प्रफुल्लित हो उठा। पिताजी के प्रति पूज्य बिड़लाजी के हृदय में बड़ी आत्मीयता थी। वे इनकी धर्मकार्य के प्रति उत्साह एवं अभिरुचि से भी पूर्ण परिचित थे। अतएव पिताजी को उन्होंने बुलाया और कहा, 'जयदयाल! भगवान् श्रीकृष्ण की प्राकट्य स्थली के जीर्णोद्धार एवं उसके विकास का काम साधारण नहीं, महान् ऐतिहासिक एवं अति श्रेष्ठ धार्मिक कार्य है। इस सम्पूर्ण कार्य को तुम संभाल लो। मेरी हार्दिक कामना है कि इस महान् गौरवपूर्ण कार्य के सम्पन्न होने का श्रेय तुमको प्राप्त हो। इस कार्य में तुम्हें भगवान् की कृपा, सन्तों का अनुग्रह और गुरुजनों का शुभ आशीर्वाद मिलेगा।'

श्रीबिड़लाजी के इन शब्दों को सुनकर पिताजी का हृदय ऊर्मिल हो उठा। इन्होंने उनकी प्रेरणा को अपने जीवन का मुख्य कार्य बना लिया। शीघ्र ही मन्दिर-निर्माण का काम आरम्भ हो गया। मन्दिर बन जाने के बाद गर्भ-गृह में पधराने के लिये भगवान् के बाल-स्वरूप की मूर्ति बिड़लाजी ने ही प्रदान की। मन्दिर में भगवद् विग्रह की प्राण-प्रतिष्ठा संम्वत् २०१४ वि० आषाढ़ शु० २ (शनिवार, २९ जून १९५७ ई०) को रथ-यात्रा के शुभ दिन हुई और इसका उद्घाटन भगवान् श्रीकृष्ण के प्राकट्य-दिवस श्रीकृष्णजन्माष्टमी के पुनीत अवसर पर संम्वत् २०१५ वि० भाद्र कृ० ८ शनिवार, (६ सितम्बर १९५८ ई०) को श्रद्धेय श्रीपौद्दारजी ने किया। उद्घाटन-महोत्सव के अवसर पर भाषण देते हुए श्रीपोद्दारजी ने भगवान् श्रीकृष्ण की भगवत्ता-महत्ता-पौराणिकता-ऐतिहासिकता-गुणगण-निलयता आदि अनेक पक्षों पर प्रकाश डालते हुए उनके लोकोत्तर स्वरूप का जो प्रस्तुतीकरण किया, वह अपने ढंग का अनूठा था। जिन महापुरुषों के संकल्प एवं सहयोग से तथा जिन कार्यकर्त्ताओं की कर्मठता और तत्परता से श्रीकृष्ण-प्राकट्य-स्थली का जीर्णोद्धार हो सका, उनके प्रति आभार प्रकट करते हुए पोद्दारजी ने कहा—"हम कृतज्ञ हैं प्रातः स्मरणीय महामना श्रीमालवीयजी के तथा

आदर्श चरित्र धर्म-हृदय श्रीजुगलकिशोरजी बिड़ला के, जिनके उत्साह, लगन, सदाग्रह, अध्यवसाय, प्रयत्न तथा उदारता से यह श्रीकृष्ण-प्राकट्य स्थली पुनः श्रीकृष्ण-प्राकट्य स्थली के गौरव को प्राप्त कर सकी। आरम्भ से लेकर अब तक के इसके कार्य संचालक, इसकी समिति के उत्साही तथा कर्मठ सदस्य भी समस्त देशवासियों की कृतज्ञता के पात्र हैं।"

अपने इसी भाषण में उन्होंने मुसलमान भाइयों से अनुरोध करते हुए कहा, "किसी एक पद्धति से होनेवाली पूजा स्थली को तथा किसी अवतार अथवा महापुरुष के जन्म या लीला स्थल को बलात्कार से हस्तगत करके उस पर अपना अधिकार जमाना पाप है और ऐसा अधिकार जब तक रहता है, तब तक वह कलंक, वह पाप, उस पाप की स्मृति तथा तज्जन्य राग-द्वेष बना रहता है। हमारे मुसलमान भाइयों को चाहिये कि वे इन पाप-कलंकों के जितने 'स्मारक' हैं, जैसे काशी का पवित्र श्रीविश्वनाथ मन्दिर, अयोध्यापुरी का पावन स्थल श्रीराम जन्म-भूमि, सिद्धपुर के मन्दिर तथा अन्यान्य सभी पवित्र स्थान, इन सबको पुण्य-दर्शन बना दें।"

भगवान् श्रीकेशवदेव के मन्दिर का कार्य हो जाने के बाद संतो-भक्तों का ध्यान श्रीकृष्ण चबूतरे के जीर्णोद्धार की ओर गया और सभी स्वजनों ने एतदर्थ श्रीपोद्दारजी से अनुरोध किया। उन्होंने इस अनुरोध को महदनुकम्पा ही माना और श्रीकृष्ण चबूतरे के जीर्णोद्धार के सम्बन्ध में मेरे पिताजी से परामर्श किया। यह कार्य आवश्यक तो था ही। श्रीपोद्दारजी एवं पूज्य पिताजी की प्रेरणा से श्रीरामनाथजी गोयन्दका ने यह शुभ कार्य अपने हाथ में लिया। अपनी दिवंगत धर्मपत्नी की स्मृति में उन्होंने श्रीकृष्ण चबूतरे का जीर्णोद्धार करवाया। यह कार्य १९६२ ई० में सम्पन्न हुआ।

श्रीकृष्ण चबूतरे के जीर्णोद्धार के समय एक विशेष मंगल प्रसंग सामने आया। नींव की खुदाई करते-करते भूमि के नीचे सहसा वह विशाल कक्ष दिखलायी दिया, जो पहले श्रीओरछा-नरेश-निर्मित मन्दिर का गर्भ-गृह था। इस गर्भ-गृह को यथावश्यक मरम्मत कराकर ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखा गया। गर्भगृह के उस प्राचीन सिंहासन पर ही देवकी-वसुदेव-सहित श्रीकृष्ण जन्म की झाँकियाँ चित्रित कर दी गयीं।

श्रीमद्भागवत भगवान् श्रीकृष्ण का वाङ्मय स्वरूप है। पोद्दारजी के अनन्य सुहृद् तथा सहचर श्रीराधाबाबा (स्वामी चक्रधरजी) के मन में यह भाव स्फुरित हुआ कि व्रजमण्डल में कहीं एक ऐसे मन्दिर का निर्माण होना चाहिये, जिसकी दीवालों पर सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत के श्लोक अंकित हों। श्रीपोद्दारजी ने इस स्फुरणाका उल्लसित अन्तर से अनुमोदन किया। इसका परिज्ञान श्रीपिताजी को होते ही उन्होंने श्रीराधाबाबा एवं पोद्दारजी की भावना को साकार रूप प्रदान करने के लिये मन-ही-मन संकल्प कर लिया और कार्य-प्रवृत्त हो गये। यह भी निश्चित हो गया कि इस मन्दिर का नाम 'भागवत-भवन' होगा।

जब यह योजना लोगों के सामने आयी तो पारस्परिक विचार-विनिमय के उपरान्त श्रीजुगलकिशोरजी बिड़ला की प्रेरणा से यही निश्चय हुआ कि 'भागवत-भवन' का निर्माण भगवान् श्रीकृष्णकी प्राकट्य स्थली पर ही होना चाहिये। निर्णय के अनुसार इस दिशा में प्रयास आरम्भ कर दिया गया और सम्वत् २०२१ वि० माघ शुक्ल १०, बृहस्पतिवार (११ फरवरी १९६५ ई०) के शुभ दिवस पर संतप्रवर श्रीपोद्दारजी के कर-कमलों से शिलान्यास का कार्य सम्पन्न हुआ।

शिलान्यास महोत्सव का एक विशिष्ट दृश्य यहाँ मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। यह महोत्सव २१ दिनों तक चलता रहा। इस अवधि में रामलीला हुई, श्रीमद्भागवत की कथा हुई, संतों-विद्वानों के प्रवचन हुए, प्राकट्यस्थली की बड़ी सजावट हुई। रात्रि में विद्युत्शृंगार की जगमगाहट अत्यन्त आकर्षक रही। यह सब हुआ, किन्तु इनके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत के मूल संस्कृत श्लोकों का जो सस्वर पाठ लगभग ३५० भागवती पण्डितों द्वारा सप्ताह पर्यन्त चला, वह दृश्य स्थानीय एवं आगन्तुक सभी भक्तों के लिये विशेष आकर्षक एवं आदर का केन्द्र बना हुआ था। श्रीमद्-

भागवत का यह सामूहिक सप्ताह-पारायण श्रीकृष्ण चबूतरे पर बने हुए एक अति विस्तृत-सज्जित पंडाल के नीचे हो रहा था। भागवती पण्डितों के सामूहिक सस्वर पाठ से सारा वायुमण्डल गूँज उठता था। मेरा अनुमान है कि इस प्राकट्यस्थली पर भगवान् श्रीकृष्ण के यशोगान का ऐसा विशद आयोजन शायद ही भूतकाल में कभी हुआ हो। संध्याकाल में श्रीमद्भागवत् पुराण की आरती के समय का दृश्य तो और भी भावोद्वेलक एवं प्रभावोत्पादक होता था। आरती-गायन के साथ-साथ जब श्रद्धेय श्री पोद्दारजी श्रीमद्भागवत् पुराण का नीराजन करते थे, उस दृश्य को देखने के लिये सारा भक्त-समुदाय उमड़ पड़ता था। आरती हो चुकने पर विप्रमण्डल वेद-मंत्रों के तुमुल एवं ललित उच्चारण द्वारा जब देव-स्तवन करता और स्तवनोपरान्त श्रद्धेय श्री पोद्दारजी जब पुष्पांजलि अर्पित करते, उस समय कण्ठ-कण्ठ से जय–नाद फूट पड़ता था। पन्द्रह वर्ष पहले जो श्रीकृष्ण-प्राकट्यस्थली अति उपेक्षितावस्था में दुर्गन्ध एवं मलिनताका आगार बनी हुई थी, वही स्थान अति सुसज्जितावस्था में सौरभ और पवित्रता का आगार बनकर जन-जन के द्वारा समादृत हुआ।

यहीं पर प्रसंगानुरोध से एक तथ्य का रहस्योद्घाटन समीचीन रहेगा। श्रीमद्भागवत-पारायण के इतने विशद एवं विशाल आयोजन के पीछे एक विशेष हेतुका आभास स्पष्ट रूप से मिला। श्रीमद्भागवत के ३५० सस्वर पाठ के द्वारा श्रीपोद्दारजी ने श्रीकृष्ण-प्राकट्यस्थली के संशुद्धीकरण की प्रक्रिया सम्पन्न की। भगवान् श्रीकृष्ण की प्राकट्यस्थली होने के कारण त्रिकाल में भी इस भूमि के अपवित्र होने की सम्भावना नहीं है, किन्तु विधर्मियों द्वारा समय-समय पर जो कुत्सित कृत्य हुए हैं, उससे इस पावन भूमि के वातावरण पर पाप-पंकिलता का आवरण तो यत्किंचित् रूप में आ ही गया था, उस आवरण का निवारण आवश्यक था। भागवत पाठ के द्वारा इस उद्देश्य की सिद्धि हुई। श्रीपोद्दारजी के कार्य करने की शैली ही ऐसी थी कि न कहीं विज्ञापन, न तनिक प्रचार, न कुछ चर्चा और बड़ी सहज रीति से भूमि-संशुद्धिका महान् कार्य स्वतः सिद्ध हो गया। सारा आयोजन स्पष्ट रूप से हुआ, फिर भी सब कुछ अस्पष्ट रहा। इस प्रच्छन्न हेतुका, इस सफल संयोजन का, इस महान् सिद्धि का और इन ऋषि सूत्रधार का बार-बार अभिनन्दन।

श्रीपोद्दारजी की प्रेरणा एवं प्रयास से श्रीकृष्णप्राकट्यस्थली का जो वर्तमान रूप उभरकर जगत् के सामने आया, उसे देखकर पूज्य मालवीयजी की दिवंगत आत्मा को अवश्य ही परम प्रसन्नता हुई होगी। इसके साथ ही योगेश्वर कृष्ण की इस आविर्भाव भूमि के उद्धार एवं उत्कर्ष को देखकर श्री जुगुलकिशोर जी बिड़ला की दिवंगत आत्मा को भी न जाने कितना परितोष हो रहा होगा।

पिताजी ने श्रद्धेय पोद्दारजी के महान् स्वप्न को साकार करने के लिये जिस तत्परता से इतना परिश्रम किया, वह सदा ही स्मरणीय रहेगा। महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिये भगवत्कृपा जीवनोत्सर्ग की भावना, अमित क्षमता, अतुल योग्यता और असीम पात्रता प्रदान कर देती है। इसी के बल पर स्वास्थ्य शिथिल होने पर भी पिताजी ने स्वयं खड़े होकर पूरा निर्माण कार्य करवाया। उस अनोखी तत्परता एवं अनवरत परिश्रम का ही परिणाम था कि भागवत भवन के निर्माण का महान् आध्यात्मिक स्वप्न १७ वर्षों में मूर्तिमान हो उठा। इसकी दीवालों पर श्रीमद्भागवत के बारहों स्कन्धों के सभी श्लोकों को पिताजी ने ताम्र-पत्रों पर उत्कीर्ण करवाया। ये ताम्र-पत्र 'भागवत-भवन' के परिक्रमा पथ में लगाये जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त मेरी परम पूजनीया माताजी के नाम से एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि गृह का भी निर्माण हुआ है, जो आवास की आधुनिक सुविधाओं से युक्त है और जहाँ देश-विदेश के पर्यटक एवं तीर्थयात्रीगण ठहरा करते हैं।

इस विशाल ऐतिहासिक मन्दिर में प्राण-प्रतिष्ठा का कार्य परमपूज्यामाता जी (श्रद्धेय पोद्दारजी की धर्मपत्नी) के निम्नांकित आशीर्वचन के साथ सं० २०३८ वि० फाल्गुन कृ० ४ शुक्रवार (१२ फरवरी १९८२ ई०) को सम्पन्न हुआ।

'जयदेव,

तुम्हारे भाईजी ने जिस 'भागवत-भवन' की नींव डाली थी, उस कार्य को आज सम्पन्न होते देखकर मुझे वड़ा हर्ष हो रहा है। तुमने जिस प्रकार लगन और निष्ठा से इस कार्य को सम्पन्न किया, उसे देखकर मेरा मन अत्यन्त प्रफुल्लित है।'

—रामदेई पोद्दार

इस पुण्य अवसर के लिए प्राप्त श्रद्धेय राधा बावा का शुभाशीर्वाद था—

"यह 'भागवत-भवन' काल के प्रवाह में असंख्य प्राणियों के परम मंगल का द्वार उद्घाटित करेगा, यह मेरा संशयहीन अचल विश्वास है।"

आराध्य-युगल के स्वरूपनिष्ठ परिकर के ये शब्द इस महान् अनुष्ठान से सम्वद्ध महापुरुषों की आत्मा को अनंत काल तक संवृप्ति प्रदान करते रहेंगे।

—विष्णुहरि डालमिया

अष्टछाप के स्वरसाधकों का कृष्णार्चन

ऋग्वेद और सामवेद की सहज संगीतात्मकता विश्वमानव के लिए भारत की प्राचीनतम उपलब्धि है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार देवताओं ने स्वरप्रधान सामवेद का आश्रय लिया।[१] वैदिक ऋषि ने साम से परमतत्त्व का स्तवन किया।[२] श्रीकृष्ण ने गीता में 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' (१०.२२) तथा 'बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्' कहकर मानो संगीत और उसके विविध छन्दः–प्रवन्धों का ही महत्त्व प्रतिपादन किया है। भारतीय संगीत के महान् आचार्य-द्वय मतंग (५-६ शती ई०) और निःशंक शार्ङ्गदेव (१३ वीं शती ई०) ने अपने प्रख्यात शास्त्र ग्रंथों में जगत् को नादात्मक और नादाधीन बताया है। नाद या ध्वनि से अकार ककारादि वर्ण व्यक्त होते हैं, वर्ण से 'घट' 'पट' आदि पद या शब्द बनते हैं, शब्दों से वाक्य रचना होती है और वाक्यों से समस्त-संसार का व्यापार-व्यवहार चलता है। अतः कहना चाहिए कि यह समस्त जगत् नाद के अधीन है। बिना स्वर गीत, नृत्त की सत्ता नहीं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव और उनकी पराशक्ति नादरूपा है।[3] नाद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान संगीत शास्त्र में प्रतिपादित है। प्रायोगिक संगीत के स्वरूपतः तीन अंग हैं, गीत, वाद्य तथा नृत्त।[४] इन तीनों की नादाधीनता सहज सिद्ध है।[५] संगीत में गीत का प्राधान्य है। निःशंक शार्ङ्गदेव के अनुसार गीत की बड़ी महिमा है, गीत पुरुषार्थ चतुष्टय का साधन है। इससे सर्वज्ञ शिव प्रसन्न होते हैं। गोपीपति अनंत (विष्णु या कृष्ण) वंशीवादन में मग्न हैं। ब्रह्मा साम गान में रत हैं। सरस्वती वीणा-वादन में संलग्न है। फिर यक्ष, गन्धर्व, देव, दानव और मनुष्यों की संगीत में आसक्ति होने में संदेह ही क्या है।[१] पालने में लेटे हुए जिस शिशु को इन्द्रियों के किसी विषय का अभी ज्ञान नहीं हुआ है, वह भी यदि रो रहा हो तो गीत के अमृत को पीकर उल्लसित हो उठता है। कैसी विचित्र बात है कि वनचारी, तृणाहारी हरिण का बच्चा भी व्याध (शिकारी) के संगीत से रीझकर अपने प्राण दे देता है। गीत के माहात्म्य को पूर्णतया कौन बता सकता है? धर्मार्थकाममोक्ष–इन चारों पुरुषार्थों का यही एक साधन है।[६]

वल्लभाचार्य जी भगवत्सेवा में 'यथा देहे तथा देवे' के निसर्ग-सिद्ध नियम को मानते थे। उन्होंने सृष्टि के समस्त उत्तमोत्तम ज्ञान, कला, पदार्थ और विभूतियों को भगवत्सेवा के साधन रूप में ग्रहण करने का विधान किया है।[७] संगीत जैसी दिव्यकला को भी उन्होंने कीर्तन के रूप में भगवत्सेवा के नित्य नैमित्तिक अंग के रूप में स्वीकार करके वस्तुतः बड़ी उदात्त आध्यात्मिक भावना का परिचय दिया है। वैसे तो पुष्टिमार्ग के आधारभूत ग्रंथ-द्वय-श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत महापुराण में परमतत्त्व की प्राप्ति के साधन रूप में संगीतात्मक कीर्तन का स्पष्ट विधान किया गया है।[८] और आपाततः वल्लभाचार्य जी ने उसी आधार पर अपनी सेवा पद्धति में कीर्तन को अनिवार्य बनाया है। उनके बाद विट्ठलनाथ जी और उनके चतुर्थ पुत्र गो० गोकुलनाथजी ने पुष्टिमार्गीय सेवापद्धति का बहुत विस्तार किया।

गोस्वामी विट्ठलनाथजी द्वारा स्थापित अष्टछाप भक्ति संगीत के क्षेत्र में एक युगान्तरकारी घटना थी। अष्टछाप के इन आठों महानुभावों का व्यक्तित्व त्रिआयामी है, जो इन्हें अन्य भक्तों या कवियों से एक पृथक् वैशिष्ट्य प्रदान करता है। ये तीन आयाम हैं—भक्ति, कवित्व और संगीत। इन महानुभावों के ये तीनों आयाम युगपत् (साथ-साथ) जितने महत्वपूर्ण हैं, उतने ही महत्वपूर्ण पृथक्-पृथक् रूप से भी हैं। भक्त और कवि होने के साथ ये अच्छे संगीतज्ञ भी हैं। संगीतशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में से इनमें कुछ को 'वाग्गेयकार' भी कहा जा सकता है। हिन्दी काव्य संसार के कुछ ही मनीषी इस उच्च विरद के अधिकारी कहे जा सकते हैं, जो सूरदास, परमानन्ददास और गोविन्दस्वामी को सहज-सिद्ध था। संगीतशास्त्र में 'वाक्' को 'मातुः' और 'गेय' को 'धातुः' कहा जाता है। जो व्यक्ति 'वाक्' और 'गेय' दोनों की रचना करने में समर्थ हो वही वाग्गेयकार है।[९] वह अनेक दुर्लभ गुणों से युक्त होता है।[१०]

अष्टछाप की गायकी

अष्टछाप की गायकी सीधे-सीधे ग्वालियर के मानसिंह तोमर की ध्रुवपद और विष्णुपद गान परंपरा से सम्बद्ध है। भाषा, भाव, शैली सभी दृष्टियों से वह ग्वालियर की ध्रुवपद गायन शैली से प्रभावित है। अष्टछाप के समकालीन ग्वालियर के तानसेन भी इसी परंपरा के हैं। गोस्वामी विट्टलनाथजी ने तानसेन के गायन की उत्तमता को स्वीकार करते हुए भी गोविंदस्वामी के कृष्णार्पित संगीत के समक्ष उसे दो कौड़ी का समझा था। यहीं से अष्टछाप के संगीत की संज्ञा 'ध्रुवपद' मात्र नहीं अपितु 'कीर्तन' हो गई है। 'कीर्तन' या कीर्ति एकार्थक शब्द है, जो 'कृत' संशब्दने (चुरादिगण १६५४ परस्मंपद सेट्) धातु के रूपान्तर 'कीर्त' से निष्पन्न होते है।[11] कीर्तन का अर्थ है, उल्लेख करना पुकारना, गायन करना, दुहराना, सुनाना, घोषणा करना, संदेश पहुँचाना, प्रशंसा करना, गुणगान करना आदि। भक्ति शास्त्रों में साधनभक्ति के ६४ अंगों में अर्चन, परिचर्या (सेवा) १ गीत, संकीर्तन, जप, विज्ञप्ति, स्तवपाठ और नैवेद्य तथा पाद्यका आस्वादन भी आता है।[12] पुष्टिमार्ग में भी इनका ग्रहण है। यद्यपि चैतन्य सम्प्रदाय के प्रभाव के कारण 'संकीर्तन' शब्द अब केवल भगवन्नाम की आवृत्ति के लिए रूढ़-सा हो गया है, किन्तु वस्तुतः संकीर्तन में तीन अंग हैं—नाम-कीर्तन, लीला-कीर्तन एवं गुण-कीर्तन। पुष्टिमार्ग में गीत[13] के माध्यम से लीला-कीर्तन और गुण-कीर्तन को विशेष स्थान दिया गया है। नाम, लीला और गुणादि का उच्च स्वर में कथन करना ही वस्तुतः कीर्तन है,[14] और अष्टछाप के संगीत में वही होता है।

वि० सं० १६४० में गोस्वामी विट्ठलनाथजी (१५७२-१६४४ वि०) ने अपने सात पुत्रों को नित्य नैमित्तिक सेवार्थ सात भगवत्स्वरूपों को सौंप दिया। पुष्टिमार्ग में विट्ठलनाथ जी के इन सातों पुत्रों के ही 'सात घर' और इनके सेव्य स्वरूप ही सात 'निधि' कहलाते हैं। वे हैं —

गृहाधिपति-नाम	सेव्यस्वरूप-नाम	स्थान-नाम
१. श्री गिरिधरजी	श्री मथुरेशजी	जतीपुरा (गोवर्धन, ब्रज)
२. श्री गोविन्दरायजी	श्री विट्ठलनाथजी	नाथद्वारा (मेवाड़) राजस्थान
३. श्री बालकृष्णजी	श्री द्वारकेशजी	काँकरौली (राजस्थान)
४. श्री गोकुलनाथजी	श्री गोकुलेशजी	गोकुल (ब्रज)
५. श्री रघुनाथजी	श्री गोकुलचन्द्रमाजी	कामवन (ब्रज)
६. श्री यदुनाथजी	श्री बालकृष्जी	सूरत (गुजरात)
७. श्री घनश्यामजी	श्री मदन मोहनजी	कामवन (ब्रज)

इन सात घरों, उनसे सम्बद्ध, उनसे संचालित और उनके वंशजों द्वारा अद्यावधि स्थापित पुष्टिमार्गीय मंदिरों की कीर्तन सेवा पद्धति बिल्कुल समान है[7] केवल स्वरूप भावना में कुछ अन्तर है। पुष्टिमार्ग के श्रद्धालु मर्मज्ञ श्री द्वारकादास परीख ने सं० २०३० में अनुमान किया था कि पुष्टिमार्ग के समाज-गत मंदिरों की संख्या ५ हजार होगी और व्यक्तिगत घर-मंदिरों की संख्या इससे कई गुनी होगी।[8] इन पंक्तियों के लेखक के पुराने घर में भी एक सौ वर्षों से भी अधिक समय से पुष्ट श्री गोवर्धननाथजी का स्वरूप विराजित है, किन्तु जो शोधार्थी धर्म, संस्कृति या कला के क्षेत्र में कार्य करना चाहते हैं उनके लिए आज भी ऐसी कोई प्रामाणिक निर्देशिका (डाइरेक्टरी) नहीं है जिससे उन्हे अष्टछाप की गायकी के माध्यम से कीर्तन-सेवा वाले मंदिरों की सूची मिल सके। मैंने गत-३-४ मासों में कलकत्ता, पूना, इन्दौर, हरिद्वार, वृन्दावन, मथुरा आदि में अनेक लोगों से कीर्तन सम्बन्धी जिज्ञासाएँ कीं, मन्दिरों की प्रामाणिक संख्या जाननी चाही, किन्तु कहीं से कोई विश्वसनीय सूचना नहीं मिली। बहुत भटकने पर जो कुछ जान सका उससे इतना कहा जा सकता है कि कश्मीर, असम और केरल को छोड़ कर प्रायः सभी प्रान्तों में पुष्टिमार्गीय मन्दिर हैं। इनमें भी गुजरात, सौराष्ट्र, राजस्थान, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश में ही उनकी बहुसंख्या है। इन मन्दिरों की भी दो श्रेणियाँ हैं—१. शुद्धिमार्गीय २. मर्यादामार्गी-मिश्रित-पुष्टिमार्गीय।

प्रथम श्रेणी के मंदिरों में परंपरागत सेवा-विधि का दृढ़ता से पालन होता है। द्वितीय श्रेणी के मन्दिरों में सेवा-विधि में सुविधानुसार थोड़ी छूट की-सी स्थिति का अनुभव मुझे हुआ। नाथद्वारा में श्रीनाथजी और मुख्य सात-आठ पूर्वोक्त घरों के सभी मन्दिरों में आठों दर्शनों में कीर्तन-संगीत होता है, किन्तु अन्य मंदिरों में पूरे आठ दर्शन नहीं होते। कहीं ६, कहीं ५, कहीं ४ ही दर्शन होते हैं। जितने दर्शन होते हैं, उन्हीं के साथ कीर्तन-गायन होता है। नित्य-सेवा के अतिरिक्त श्रावण शुक्ल ५ (नागपंचमी) जन्माष्टमी की बधाई से आरम्भ कर रक्षाबन्धन और भाद्रपद कृ० ७ छठी के उत्सव तक वर्षोत्सवों में आते हैं। इनमें कृष्ण, राम, नृसिंह और वामन की ४ मुख्य जयन्तियाँ, राधाष्टमी तथा श्रीवल्लभाचार्यजी के वंशजों की जन्मतिथियाँ, पाटोत्सव आदि शताधिक उत्सव, मनोरथ, छप्पन भोग, कुनवाड़ा, अन्नकूट आदि तथा होली, दीवाली, दशहरा, रक्षाबन्धन आदि लोक पर्वों पर कीर्तन, गायन तत्तत् अवसर और भगवल्लीला के अनुसार होता है। पुष्टिमार्ग में वर्ष के ३६० दिनों में से प्रत्येक दिन की राग, भोग ओर शृंगार सेवा नियत है।

जहाँ तक अष्टछाप की गायकी के कलात्मक स्वरूप का सम्बन्ध है, वह प्राचीन ध्रुवपद और धमार शैली में में आवद्ध है, किन्तु प्रारम्भ से ही अष्टछाप के गायकों में भक्ति भावना का प्रावल्य रहने के कारण ध्रुपद-धमार की शास्त्रीय और कलात्मक विशेषताओं को उजागर करने की अपेक्षा उनमें इष्ट के गुण और लीला की भावना से तादात्म्य स्थापित करने का आग्रह अधिक है। आज की भावना से तादात्म्य स्थापित करने का आग्रह अधिक है। आज की अष्टछाप गायकी में तो हमें शास्त्रीय और कलात्मक पक्ष के ह्रास के साथ अध्यात्मभाव का भी अभाव दिखाई देता है। मन्दिरों में कीर्तनगायन एक औपचारिकता और जड़ नियम पालन मात्र होकर रह गया है। मंदिरों में अच्छे जानकार कीर्तनियों का अभाव होता जा रहा है। एक पुष्टिमार्गीय हवेली में यह भी सुनने को मिला कि कीर्तन-गायन के सहायक वाद्य तानपूरा और मृदंग तक अनुपयोगी होने के कारण बिक गये हैं। मन्दिर में कीर्तन-सेवा बन्द हो गई है। शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में भी ख्याल, ठुमरी और दादरा का बोलबाला है। पुष्टिमार्ग के अनेक गोस्वामी बालक स्वयं ख्याल गायन सीखने लगे हैं। उनका विचार है कि कालक्रम से इन मन्दिरों के कीर्तन में ख्याल गायकी घर कर जायेगी। बम्बई के श्रीमुकुन्दराय जी ख्याल गायकी में उस्ताद अमीर खाँ के शिष्य हैं। इन्दौर के श्री गोकुलोत्सवजी भी दक्ष ख्याल-गायक हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं उनका संगीत सुना है, जो ख्याल शैली में है। अभी हाल ही में श्री विष्णुराजाजी ने अहमदाबाद में कुछ परम्परागत कीर्तन के टेप कराये हैं, किन्तु जब तक ध्रुवपद शैली का शुद्ध नियमानुसार शिक्षण न हो, तब तक इस गायकी के कुछ टेप करा कर रख लेने से उनका संरक्षण संभव नहीं है। काशी के गोपाल मंदिर में हवेली संगीत (पुष्टिमार्गीय कीर्तन) सिखाने की व्यवस्था थी। आजकल भी वह प्रचलित है या समाप्त हो गई, पता नहीं।

अष्टछाप की जिस गायकी को अनेक गोस्वामियों—यथा सर्व श्री गोवर्धनलालजी, दामोदरलालजी (नाथद्वारा) द्वारकेशलालजी (मथुरा) माधव गोस्वामीजी (मथुरा) गिरिधरलालजी (इन्दौर) ब्रजभूषण लालजी (कांकरौली) व्रजरत्नलालजी (सूरत) आदि ने समृद्ध किया है, उसके संरक्षण का अब सजग प्रयत्न आवश्यक है। अभी हाल में प्रसिद्ध कण्ठ संगीतज्ञ पं० जसराज के स्वर में सूर के पदों का एक रिकार्ड कराया गया है, किन्तु ध्रुवपद अंग की गायिकी उसमें नहीं आ पाई। गमक के स्थान पर मुरकियाँ आ गई हैं जो ध्रुवपद गायन शैली से मेल नहीं खाती। ध्रुवपद शैली की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं।[15] इसमें तानों का प्रयोग न होकर दुगुन, चौगुन, तिगुन, आँड़ जैसी लयों का प्रयोग, उनकी तिहाइयों और स्वरों की गमक[16] का प्रदर्शन होता है। स्वरों की स्थिरता, आलाप का विस्तार, कण्ठ की स्वायत्तता, जिससे स्वेच्छा से स्वर-गांभीर्य, स्वर-स्थैर्य, स्वरचांचल्य, स्वरकम्प, स्वरान्दोलन और मोड़ उत्पन्न की जा सके, ध्रुवपद शैली की मूलभूत विशेषताएँ हैं। ग्वालियर घराने की ख्याल गायकी में तो पहले ध्रुवपद अंग का शिक्षण अनिवार्य माना जाता है जिससे गायक को पूर्ण कुशलता प्राप्त हो सके। ध्रुवपद गायन की चार कड़ियाँ विकसित हुई थीं १. गउहरहारी (गौरहारी) २. डागुरी ३. खंडारी और ४. नोहारी। संगीत रत्नाकर में ५ गीतियों का उल्लेख है।

कुछ संगीत-तत्वज्ञों का अनुमान है कि इन ध्रुवपद वाणियों का सम्बन्ध गीतियों (गीत-शैलियों) से है। गौड़ी ही कालान्तर में 'गौरहारी' हो गई है ।[१७] अनुमान निराधार नहीं लगता क्योंकि इन वाणियों की जो विशेषताएँ हैं, वे ही प्रायः शुद्धा, गौड़ी आदि गीतियों की हैं यथा शुद्धा गीति अवक्र और ललित स्वरयुक्त होती है। भिन्नागीति वक्रस्वरों, सूक्ष्म और मधुर गमकों से युक्त होती है। गौड़ी गीति प्रगाढ़, तीनों सप्तकों की गमक, गौहारी मन्द स्वर युक्त होती है। विसयगीति, वेगयुक्त स्वरों के प्रयोग वाली होती है। अन्तिम और पाँचवी गीति 'साधारणी' है, जिसमें पूर्वोक्त चारों गीतियों के लक्षणों का मिश्रण है। गउहरहारी वाणी का उत्पत्ति स्थान ग्वालियर है। कुछ संगीत-मर्मज्ञ गउहर-हारिया अथवा गौरहारी को 'ग्वालियरी' का ही रूपान्तर मानते हैं ।[१८]

हमारा मत है कि अष्टछाप की ध्रुपद गायकी गउहरहारी वाणी का आधार लिये हुए है। इस वाणी का प्रमुख लणक्ष ऋजुता और प्रासादिकता है। धीर गतियुक्त यह वाणी शान्तरस की निष्पत्ति का माध्यम है। स्पष्ट है कि भक्तिमय अष्टछाप की गायकी में यह गुण आद्योपान्त ओतप्रोत है। खण्डारी वाणी में वेग और वैचित्र्य हैं। डागुरवाणी में लालित्य और स्वरों की वक्रता है। गौरहारी वाणी में सिह की गति का भाव और स्वरों के उल्लंघन से विस्मय की सृष्टि होती है। यदि चारों वाणियों की विशेषताओं का सम्मिश्रण करके ध्रुपद गायन की कोई शैली आविष्कृत की जाय तो वह प्राचीनकाल की 'साधारणी' गीति से बहुत कुछ मिलती-जुलती होगी। ध्रुपद गायकी की तालें भी विशिष्ट हैं।[१९] मुख्यतया चौताल (१२ मात्राएँ) में ध्रुपद गाये जाने के कारण चौताल का नाम भी 'ध्रुपद-ताल' हो गया है। बोल हैं—

१ २	३ ४	५ ६	७ ८	९ १०	११ १२
धा धा	दिं ता	तिट धा	दिं ता	तिट कत	गदि गिन
×	०	२	०	३	४

होली गीत धमार ताल (१४ मात्राएँ) में गाये जाते हैं। इसके बोल हैं—

१ २ ३ ४ ५	६ ७	८ ९ १०	११ १२ १३ १४
क धिट धिट	धा –	ग दि न	दि न ता —
×	२	०	३

इन तालों के बोल खुले हाथ से बजते हैं और प्रमुखतया मृदंग या पखावज ही इसके लिए उपयुक्त आनद्ध (चर्मबद्ध) वाद्य हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जब तक इस विधा के संरक्षण की ओर पुनः ध्यान नहीं दिया जाएगा, तब तक इस अष्टछाप गायकी का विकास तो दूर, इसका रहा-सहा खंडित प्रासाद भी भूमिसात् होने की अनुदिन प्रक्रिया में आ गया है। हाल ही में जब मैंने वृंदावन में अठखंमा स्थित पुष्टिमार्गीय सत्यनारायण मंदिर के ८२ वर्षीय कीर्तनकार पं० रामप्रसाद शर्मा (कामवन निवासी) से अष्टछाप की गायकी की वर्तमान दशा और उसके भविष्य के सम्बन्ध में एक साक्षात्कार किया तो वे बोले, "समय का परिवर्तन लावैगो, हम नाँय जानै, पर स्थिति कछु अच्छी नाय है। कोई सीखैहू नाँय, सब अताई काम चल रह्यौ है। जामकार धीरैं-धीरैं खतम ह्वै रहे हैं। लोगन में भाव नहीं रह्यौ। कीर्तन तो भाववृद्धि के लिए कियौ जाय है।" मुझे लगा इस वयोवृद्ध गायक के नेत्र सजल हो गये हैं। वास्तव में यदि हमें स्वनामधन्य चंदनजी चतुर्वेदी जैसे संगीत-महर्षियों और संगीत के मंत्रद्रष्टा मानसिंह तोमर जैसे राजर्षियों की स्मृति को जीवन्त रखना है तो ध्रुवपद गायकी में कालक्रम से प्रविष्ट हुए अरंजकता, यांत्रिकता जैसे दोषों को दूरकर उसमें सच्ची स्वर-साधनाजन्य आध्यात्मिकता की प्राण-प्रतिष्ठा करनी होगी। संगीत से बढ़कर भगवत्प्रीतकर कुछ नहीं—

पूजा कोटि गुणं ध्यानं ध्यानात्कोटि गुणो जपः।
जपात् कोटि गुणं गानं गानात् परतरं नहि॥

कीर्तन चाहे किसी पद्धति में हो, वह भगवान् की 'परा-मानसी-सेवा' है।

सन्दर्भ :

१. देवा वै नर्चि न यजुष्यश्रयन्त । ते सामन्येवाश्रयन्त । तैत्ति० संहि० २. ५. ७.

२. ऋग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति । वही, २. ५. ८.

३. नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः ।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ॥ सं. र. १. २. २.
न नादेन विनागीतं न नादेन विना स्वराः ।
न नादेन विना नृत्तं तस्मान्नादात्मकं जगत् ॥
नादरूपः स्मृतो ब्रह्मा नाद रूपो जनार्दनः ।
नादरूप पराशक्तिर्नादरूपोमहेश्वरः ॥ बृहद्देशी से सं० रत्ना. सुधाकर टीका १.२. में उद्धत

४. गीतंवाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते । सं. र. १. १. २१.
संगीत का प्राचीन नाम त्रिवृत् शिल्प है–त्रिवृत् वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादित्रं च । —शांखायन ब्राह्मण (२९.५)

५. गीतं नादात्मकं वाद्यं नाद व्यक्त्या प्रशस्यते । तद्द्वयानुगतं नृतं नादाधीन मतस्त्रयम् ॥ सं. र. १. २. १.

६. संगीत रत्नाकर १.१.२६-३०.
विशेष द्रष्टव्य—अज्ञातविषयास्वादो वालःपर्यंकिकागतः ।
रुदन्गीतामृत पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते ॥
वनेचरस्तृणाहारश्चित्रं मृगशिशुः पशुः ।
लुब्धी लुब्धकसंगीते गीते यच्छति जीवितम् ॥ २७.२८.

७. श्री वल्लभाचार्य मते फलं तत्प्राकट्यमात्रं त्वभिचार हेतुः ।
सेवैव तस्मिन्नवधोक्त भक्तिस्तत्रोपयोगोऽखिल साधनानाम ॥—पुष्टि आह्निकम् ॥२१०॥
द्रष्टव्य-यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्तह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥ श्रीमद्भागवत् : ११.११.४१.

८. सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रता : ।
नमस्यन्तश्चमां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (गीता : ९.१४)
यहाँ 'सततम्' क्रियाविशेषण अव्यय से जहाँ 'निरन्तरता' का भाव व्यक्त होता है, वहीं 'ततेन सहितं सततम् यथा स्यात्तथा, विग्रह करने से 'ततं वीणादिकं वाद्यम्' वीणादि वाद्यों के साथ कीर्तन करने की अर्थध्वनि भी निकली है ।
कलेर्दोषनिधे राजन्नास्ति ह्येको महान् गुण : ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंग : परं व्रजेत् ॥ श्रीमद्भागवत् : १०.३.५१

९. वाङ् मातुरुच्यते गेयं धातुरित्यभिधीयते । वाचं गेयं च कुरुते यः स वाग्गेयकारकः ॥
सं. र ३. २.

१०. देखिये, संगीतरत्नाकर अध्याय ३.१–११.

११. कृत-संशब्दने । उपधायाश्च (७-१-१०१) धातोरूपधाभूतस्य ऋत इत्स्यात् । र परत्वम् । उपधायां च (सूत्र २२६५) इति दीर्घः । कीर्तयति । (वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, बालमनोरमा टीका) अन्य प्रयुक्त सूत्र-अतियुतिजुति·······कीर्तयश्च (३२७४) ३.३।९७. उऋत् (अष्टाध्ययायी ७.४.७.) ऋत इद्धातोः (सूत्रांक २६९०)

१२. अर्चनं परिचर्या च गीतं संकीर्तनं जपः । विज्ञप्तिः स्तवपाठश्च स्वादो नैवेद्यपाद्ययोः ।। भ० इ० सिं० पूर्वभाग लहरी २.

१३. ब्राह्मणो वासुदेवाख्यं गीतमानोऽनिशं परम् । हरेः सालोक्यमाप्नोति रुद्रगानाधिक भवेत् ।।
भ० इ० सि, लहरी २ में लिंग पुराण से उद्धृत ।

श्रीमद्भागवत में अनेकशः गानमय नाम, लीला और गुण कीर्तन का आग्रह किया गया है ।

(अ) इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः । अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ।। १.५.२२

(आ) नान्तं विदाम्यहममीमुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये । गायन्गुणान्दशशतानन आदिदेवः शेषोऽद्युनाऽपि समवस्यति नास्य पारम् ।। २.७.४१

१४. नाम लीलागुणादीनामुच्चैर्भाषातु कीर्तनम् । वही. श्लोक. २९

(क) श्री गुसाइंजी की सेवा कौ प्रकार सब घरन में वर्तमान हैं ।'
वल्लभ पुष्टि प्रकाश, प्र. भाग पृष्ठ ११.

(ख) कोई-कोई सेवा की रीति-भाँति में अन्तर पड़ै है । ताकौ कारण यह है, जहाँ जो स्वरूप विराजै तिनकी लीला की भावना सों सेवा होय है । कहीं नन्दालय की लीलाहै, कही निकुंज की लीला है ।' वल्लभपुष्टिप्रकाश प्रथम भाग पृ० ५.

(ग) 'और वोहोत करकैं सातों घरन की प्रनालिका तो एक ही है ।' वही. पृ० ४.

(घ) दे० पुष्टि पाथेय, पृ० ५९. (पुष्टिमार्ग का स्वरूप, ले० द्वारकादास परीख)

१५. गीर्वाणमध्यदेशीयभाषासाहित्य राजितम् ।
द्विचतुर्वाक्य सम्पन्नं नरनारी कथाश्रयम् ।।
श्रृंगाररसभावाद्यं रागालापपदात्मकम् ।
पादान्तानुप्रासयुक्तं पादानयुगकं च वा ।।
प्रतिपादं यन्त्र बद्धमेवं पादचतुष्टयम् ।
उद्ग्राहध्रुवकाभोगान्तरं ध्रुवपदं स्मृतम् ।। अनूपसंगीतरत्नाकर (ध्रुवपद प्रकरण)

१६. स्वरस्य कम्पो गमकः श्रोतृचित सुखावहः ।। सं० र. ३.८७.

१७. गीतयः पंच शुद्धा च भिन्ना गौड़ी च वेसरा ।
साधारणीति,"""" । सं. सं. रं. २.रागदवेकाध्याय. २.

१८. दे०: 'संगीत' मासिक, ध्रुपद और उसकी चार वाणियाँ (शिवकुमार मिश्र) अगस्त १९८१.

१९. एकताल (१२ मात्राएँ), झपताल (१० मात्राएँ), सूलं ताल या सूलफाक (१० मात्राएँ), आड़ा चौताल (१४ मात्राएँ), झूमरा (१४ मात्राएँ), ब्रह्मताल (२८ मात्राएँ), रुद्रताल (११ मात्राएँ) ।

—डॉ० विश्वनाथ शुक्ल

भारतीय चित्रकला में कृष्ण चरित

विष्णु के विभिन्न अवतारों में कृष्ण चरित्र समाज में अत्यधिक समादृत, प्रचलित एवं परिवर्तनशील रहा है। इसकी विविधता, रसमयता एवं लोकरंजकता ने भारतीत संस्कृति को जितना प्रभावित किया है उतना अन्य किसी चरित्र ने नहीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "महाभारत के कृष्ण का उल्लेख लोकरक्षा और लोक मंगल का प्रत्यक्ष साधन करने वाली कर्मशक्ति का स्वरूप था, जिसमें शील, शक्ति, सौन्दर्य और ऐश्वर्य का समन्वय था"। भगवत गीता में कृष्ण का कर्मयोगी, वीर और वेदान्ती स्वरूप प्रस्तुत हुआ है। धीरे-धीरे सामयिक प्रवृत्तियों के कारण लोकरक्षक और गीतोपदेशी कर्मयोगी कृष्णका स्वरूप तिरोहित होने लगा और कृष्ण का माधुर्यपूर्ण प्रेममय चरित्र समाज में अधिक लोकप्रिय होने लगा। भागवत-धर्म की स्थापना के साथ ही भागवत पुराण ने विस्तृत और सांगोपांग होने के कारण कृष्ण के माधुर्य पक्ष को अधिक उभारा। राधा-कृष्ण की प्रेममयी लीलाओं के शृंगारी स्वरूप का जो चित्रण काव्य और चित्रकला में हुआ वह भारतीय संस्कृति का एक जीवन्त पृष्ठ बन गया। उसमें कृष्ण के प्रेममय सौन्दर्य पक्ष से संबन्धित आलम्बन, उद्दीपन और अनुभावों के विभिन्न चित्र अंकित हुए हैं। मध्यकालीन कवियों, चित्रकारों और संगीतकारों का मन जितना बालकृष्ण, गोपालकृष्ण और रास बिहारी कृष्ण में रमा है. उतना अन्य किसी में नही। कृष्ण के विविध स्वरूपों का चित्रांकन काव्य और चित्रकला के क्षेत्र में बेजोड़ हुआ है। काव्य को आधार बनाकर चित्र बनाए जाते रहे हैं और चित्रों के आधार पर काव्य रचना होती रही है। राधाकृष्ण का अनुरंजक चरित्र भारतीय चित्रकला का आधार स्तम्भ रहा है।

कलाकारों ने कृष्णलीला के जिस सीमित, किन्तु गहन क्षेत्र को अपनी भक्ति एवं कला का माध्यम बनाया है, वह सगुण और मनोहारी होने के कारण समाज को अत्यधिक आकर्षित करने वाला रहा है। कृष्ण-चरित्र में कृष्ण-राधा, गोपियाँ, नन्द, यशोदा आदि सीमित आलंबन एवं यमुनातट, वंशीवट, निकुंज, वृन्दावन की कुंजगली आदि सीमित उद्दीपक वातावरण हैं। कृष्ण के चरित्र में हाव-भाव, मुद्राएँ आदि अनुभावों की जितनी बहुलता है, उतनी अन्य किसी चरित्र में नहीं। कृष्ण-चरित्र अनुभावों और दृश्यात्मकता की बहुलता के कारण चित्रकला के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। चित्रण की अपनी सीमा रेखाएँ हैं। अनुभावों के चित्र जितनी स्पष्टता से बन सकते हैं उतनी स्पष्टता से अन्य किसी के नहीं। चित्रकार आलम्बन के अनुभावों को दृश्यात्मकता देकर भावाभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है। यही कारण है कि राधा-कृष्ण के रूप तथा उनकी माधुर्य लीलाओं की सौन्दर्यानुभूति के कोमल, सात्विक और सजीव चित्र चित्रकारों ने बड़ी तल्लीनता से अंकित किए हैं।

सगुण भक्ति की सरसता तथा माधुर्य भावना ने कलाओं को अत्यधिक प्रोत्साहित किया। धर्माचार्य स्वयं निर्गुण की नीरसता के स्थान पर सगुण की स्थापना हेतु, मूर्तिपूजा एवं चित्रांकन को अधिक महत्व देते थे, इसलिए मध्यकाल में मन्दिर एक ऐसा माध्यम था जहाँ ललितकलाओं का स्वरूप प्रस्फुटित हो उठा। इस दृष्टि से राधाकृष्ण की रागमयी लीलाओं ने मध्यकालीन चित्रकला को सर्वाधिक प्रभावित किया।

भारतीय चित्रकला की सर्वोपरि विशेषता यह रही है कि उसने समय-समय पर काव्य को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाया है। अजन्ता के भित्तिचित्र जातककथाओं पर आधारित हैं। अनेक ताड़पत्रीय बौद्ध और जैनग्रंथ तथा संस्कृत, हिन्दी के ग्रन्थ चित्रण के आधार रहे हैं, जिनमें भी कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी ग्रन्थों का चित्रण बहुलता से हुआ है। काव्य के चित्रण के लिए देशकाल और परिस्थिति के अनुसार कलाकारों ने समय-समय पर विभिन्न माध्यम चुने हैं, जो प्रमुखतया भित्ति चित्र, पटचित्र, पोथीचित्र और लघुचित्रों के रूप में उपलब्ध होते हैं।

कृष्णचरित्र समाज में सगुण स्वरूप की स्थापना, अनुभावों की बहुलता एवं माधुर्यभाव के आकर्षण के कारण अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुआ, किन्तु ब्रज के इतिहास के १५०० ई० से पूर्व चित्रकला के उदाहरणों का न मिलना आश्चर्यजनक है। सचित्र पुस्तकों की परंपरा में कृष्णचरित्र का चित्रांकन कव से प्रारम्भ हुआ यह वता पाना कठिन है। अब तक की उपलध जानकारी के अनुसार श्री डब्लू० जी० आर्चर ने लगभग १४५० ई० में पश्चिमी भारत में चित्रित "गीत गोविन्द" और "बालगोपाल स्तुति" के प्राप्त क्रमशः एक और दो पन्नों को कृष्णचरित्र का प्रथम अंकन माना है तथा स्वर्गीय एन० सी० मेहता ने अहमदावाद में लिखित एवं १४५१ ई० में चित्रित लिपटवाँ पट-चित्र 'वसंत-विलास' को प्रेम के अंकन का उपलब्ध प्रथम चित्रण माना है. जो आज कल आर्ट गैलरी वाशिंगटन में द्रष्टव्य है।

पन्द्रहवीं शती के उपरान्त से तो कृष्ण-लीला के चित्रण की परम्परा ही चल पड़ी। धीरे-धीरे वैष्णव भक्ति के प्रसार के कारण शैव मत का कलाओं पर प्रभाव कम होने लगा। ८वीं शती से वारहवीं-तेरहवीं शती तक भारतीय मन्दिरों की मूर्तिकला में शिव-पार्वती का बाहुल्य था, पर सगुण भक्ति की परम्परा में शिव और पार्वती का स्थान कृष्ण और राधा ने ले लिया। अव साहित्य, कला और संस्कृति के नायक-नायिका राधाकृष्ण की जुगलजोड़ी ने समाज पर एक जादू का कार्य किया। बृहदाकार और कलात्मक नागर शैली के मन्दिरों के निर्माण की परम्परा मुस्लिम आतंक के कारण प्रायः विलीन होने लगी। पुष्टि संप्रदाय की परम्परा में कृष्ण की सेवा पूजा हवेलियों में होने लगी और इसी कारण हवेली संस्कृति का जन्म हुआ। इस हवेली संस्कृति ने काव्य, चित्रकला और संगीत के प्रसार में विशेष योगदान दिया। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मध्यकाल में काव्य, संगीत और चित्रकला की त्रिवेणी वह चली। तीनों कलाएँ अन्योन्याश्रित थीं। संत और कवियों की वाणी प्रस्फुटित हुई। उन पदों को पुष्टिमार्गीय मन्दिरों में गाया जाने लगा, जिससे हवेली संगीत की परम्परा चल पड़ी। काव्य को आधार वनाकर चित्र वनाए जाने लगे। कपड़े पर पिछवाइयां और हवेलियों की दीवारों पर भित्ति-चित्रण की परम्परा ने सारे वातावरण को चित्रमय बना दिया। इन चित्रों में सर्वाधिक चित्र राधा और कृष्ण की विभिन्न लीलओं के बने जो भारतीय चित्रकला की अमर धरोहर हैं। ग्रंथचित्रण, लघुचित्रण, भित्तिचित्रण, पटचित्रण तथा अन्यान्य माध्यमों से कृष्णलीला साकार हो उठी।

कृष्ण चरित्र संबन्धी ग्रन्थों में सर्वाधिक चित्रण गीतगोविन्द, श्रीमद्भागवत, सूरसागर, रसिकप्रिया आदि का हुआ। जयदेव वंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के दरवारी कवि थे। १२वीं शती में रचित 'गीत गोविन्द' राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाओं के कारण चित्रण का विशेष आधार ग्रन्थ रहा। भारत की विभिन्न कला शैलियों में गीत गोविन्द की चित्रित प्रतियां अनेक संग्रहालयों और संग्रहकर्ताओं के पास उपलब्ध हैं। राजस्थानी चित्रकला कीं तो लगभग सभी प्रमुख शैलियों में गीत गोविन्द का चित्रण हुआ है। मेवाड़ शैली का १६५० ई० का चित्रित गीत गोविन्द, जिसके कुछ पन्ने प्रिंस आफ वेल्स म्युजियम, वम्वई में उपलब्ध हैं, कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। मेवाड़ शैली के ही दो ग्रन्थ उदयपुर संग्रहालय में, जयपुर शैली के सिटी पैलेस म्युजियम में, अलवर शैली के अलवर संग्रहालय में, किशनगढ़ शैली के किशनगढ़ दरवार के निजी संग्रह में तथा अन्यान्य शैली के गीत-गोविन्द विभिन्न संग्रहकर्ताओं के पास उपलब्ध हैं, जिनमें राधा-कृष्ण की लौकिक और अलौकिक लीलाओं का मनोहारी चित्रण है। राधाकृष्ण की माधुर्य भावना का सतरंगा चित्रण उपयुक्त सचित्र ग्रन्थों में खुलकर हुआ है।

गीत-गोविन्द के उपरान्त श्रीमद्भागवत ही कृष्णचरित्र सम्बन्धी ऐसा संस्कृत ग्रन्थ है, जिसका चित्रण बहुलता से हुआ है। कृष्ण चरित्र की अभिव्यक्ति की दृष्टि से. उसे स्रोत ग्रन्थ माना जा सकता है। भक्ति कालीन कृष्ण-काव्य तथा चित्रण का यह प्रमुख आधार ग्रन्थ अनेक शैलियों और उपशैलियों में समय-समय पर चित्रित होता रहा है। मध्यकालीन कवियों एवं कलाकारों को भागवत के दशम स्कन्ध ने अत्यधिक प्रभावित किया है। अब तक की उपलब्ध सामग्री के आधार पर भागवत पुराण के दो प्रारम्भिक सचित्र ग्रन्थ क्रमशः १५९८ तथा १६१० ई० के पोथीखाना जयपुर और पुस्तक प्रकाश, जोधपुर में उपलब्ध हैं, जो मेवाड़ शैली के उत्तम उदाहरण हैं। इसके उपरान्त तो मेवाड़,

बूँदी, कोटा, जयपुर, अलवर तथा पहाड़ी शैली में चित्रण की परम्परा में श्रीमद्भागवत का सम्पूर्ण या ईषत् चित्रण हुआ, जिसमें बाल-कृष्ण, गोपीकृष्ण, राधाकृष्ण तथा रसिक विहारी कृष्ण का विस्तार से बहुरंगी चित्रण हुआ।

हिन्दी ग्रन्थों में सूरसागर का ईषत् चित्रण भी श्रीमद्भागवत की परम्परा में ही हुआ जिसमें सूर की कल्पना को चित्रकारों ने साकार कर दिया है। सन् १६५०–५१ ई० में महाराणा जगतसिंह, उदयपुर के राज्यकाल में चित्रित सूरसागर के कुछ पन्ने गोपीकृष्ण कानोड़िया, कलकत्ता के निजी संग्रह में उपलब्ध हैं। सन् १६५९ ई० में चित्रित भ्रमरगीत पर आधारित कुछ महत्वपूर्ण चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में क्रम० सं० ५९–१–८४ पर द्रष्टव्य हैं। रसिकप्रिया नामक नायिका भेद का ग्रन्थ है। इसमें केशव ने राधाकृष्ण को ही नायकत्व प्रदान किया है, अतः राधाकृष्ण की लीला का चित्रण रसिकप्रिया के माध्यम से बहुलता से हुआ है।

संस्कृत और हिन्दी के ऐसे कितने ही ग्रन्थ हैं जिनका संपूर्ण या ईषत् चित्रण कर कलाकारों ने काव्य की भावना को राधाकृष्ण की लीलाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। लघु चित्रण (मिनिएचर पेन्टिंग) परम्परा में राधाकृष्ण की छवि का मुक्त चित्रण कलाकारों ने अपनी-अपनी शैली में किया है। राधाकृष्ण की लीलाओं का जितना अधिक चित्रण मिनिएचर के माध्यम से हुआ है उतना अन्य किसी माध्यम से नहीं। राजस्थानी, मुगल, पहाड़ी, दकनी, गुजराती, बुन्देलखण्डी, मालवी और न जाने किस-किस शैली में राधाकृष्ण की लीला, असंख्य लघुचित्रों के माध्यम से साकार हुई है, जिससे देश और विदेश के राजकीय एवं व्यक्तिगत संग्रहालय भरे पड़े हैं। राजधानी और पहाड़ी शैली के लघुचित्रों का तो प्राण ही राधाकृष्ण की लीलाएँ हैं जिनमें चित्रकारों ने अनोखी कल्पना का प्रदर्शन किया है।

भित्ति चित्रण के माध्यम से कृष्णलीला का चित्रण बहुलता से हुआ है। पुष्टि संप्रदाय के मन्दिर, राजमहल, किले, छतरियाँ तथा सेठों की हवेलियों में जो परम्परानुसार चित्रण हुआ है, उसमें कृष्ण-लीला को प्रमुख स्थान दिया गया है। ऐसा कोई मन्दिर, छतरी, हवेली या राजमहल नहीं होगा जो चित्रों से सुशोभित न हो और उसमें कृष्ण लीला का अंकन न हो। राजमहलों में चित्रशाला या शीश महल बनाने की परम्परा रही हैं। अतः ऐसे महलों में शीशे की जड़ाई के साथ ही दीवारों पर सामंती जीवन के चित्रण के साथ राधाकृष्ण की मनोहारी युगल छबियों का भी अंकन हुआ है। कोटा, बूंदी, उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, अलवर तथा अनेक ठिकानों के महलों का चित्रण राधाकृष्ण की छवियों से सुशोभित है। इसी परम्परा में चंबा, मंडी, गुलेर आदि पहाड़ी रियासतों के महलों में भी कृष्णलीला जीवन्त हो उठी है। पुष्टि-संप्रदाय के मन्दिरों में तो कृष्णलीला के अंकन की परम्परा ही रही है, अतः बालकृष्ण की दुष्टदलन लीलाओं तथा माखन चोरी, रासलीला आदि का चित्रण ऐसे मन्दिरों में विशेष रूप से हुआ है। श्रीनाथ जी का नाथद्वारा मन्दिर इस परम्परा का प्रेरक रहा है। मन्दिरों में भगवान् की झाँकी की शोभा के लिए बड़े-बड़े पटचित्र बनाने की नाथद्वारा में परम्परा रही है, अतः कृष्णलीला संबंधी ये पिछवाइयाँ या पड़ व्यवसायिक रूप से भी बहुलता से बनी है —श्रीनाथजी की विभिन्न झाँकियाँ तथा रासलीला इन पिछवाइयों के प्रमुख विषय रहे हैं।

इस प्रकार भारतीय चित्रकला में कृष्ण चरित्र को आधार बना कर चित्र बनाने की परम्परा ने जनजीवन के सांस्कृतिक परिवेश को रसमय बना दिया। यह परम्परा दो रूपों में प्रवाहित हुई —एक सामंती कला एवं दूसरी लोककला के रूप में। मध्यकाल में राज-दरबारों में गुणीजन-खाना और मुसव्विर-खाना होता था, जिनमें दरबार के आश्रय में कितने ही कलाकार अंकन में संलग्न होते थे। वे कलाकार सामंती जीवन की अभिव्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सचित्र अंकन करते थे। वही राधाकृष्ण के बहाने शृंगारी भावों का भी चित्रांकित कर दरबारी संस्कृति को उजागर करते थे। ऐसे चित्रों में कृष्ण राजसी वेशभूषा में एवं राधा ठकुरानी के रूप में अंकित की गई हैं। युगल शैली में अंकित राधाकृष्ण की लीलाएँ मुगलिया वेशभूषा एवं रहन-सहन से प्रभावित हैं, तो राजस्थानी शैली के बहुत से चित्रों में राधाकृष्ण की रंगोलियों का परिवेश राजमहल, फव्वारों तथा निकुंजों से युक्त उपवन हैं। ऐसे चित्रों में शीशेजड़ी एवं मणिकुट्टिम से युक्त चित्रसारियाँ, विशाल राजपूत शैली की कलात्मक बारादरियाँ, रंग-बिरंगे फर्श से युक्त प्रांगण, चित्रित स्तम्भ,

सुनहरी कामदार पर्यंक, कसीदा कढ़े रंगबिरंगे पर्दे और चिकें, तथा उच्च अट्टालिकाओं के कलात्मक भवन में राधाकृष्ण की रंगरेलियाँ अंकित की गयी हैं । राजसी ठाठ-बाट का चित्रण खुले परिवेश में भी हुआ है, पर वह परिवेश परकोटों से घिरे उपवनों का है, जो लतागुल्मों से आच्छादित हैं । कमलों से सुशोभित सरोवर, पशुपक्षियों से युक्त कुंज, फूलों और फलों से लदे पेड़-पौधे और ऐसे वासंती वातावरण में रंग करते राधा और कृष्ण । इस प्रकार के राजस्थानी और पहाड़ी चित्रों में रीतिकाल साकार हो उठा है ।

लोककला के रूप में प्रस्फुटित चित्रकला अधिकतर धर्मपीठों एवं जनजीवन में पल्लवित हुई । भित्ति-चित्रण की परम्परा ने लोक कला को अधिक बढ़ावा दिया । पुष्टि-सम्प्रदाय के मन्दिरों में ब्रज की लोक संस्कृति का पुनर्स्थापन हुआ, अतः ब्रज के लोकजीवन की झाँकी यथा माखन चोरी, गोचारण, दुष्टदमन, गोवर्धन धारण, रामलीला आदि का चित्रण मन्दिरों की दीवारों पर बहुलता से हुआ । धीरे-धीरे यह परम्परा कस्बाती हवेलियों और छतरियों में भी अंकित होने लगी । राजस्थान में शेखावाटी क्षेत्र की सैकड़ों हवेलियों में चित्रण की यह परम्परा आज भी उपलब्ध है । स्वच्छंद वातावरण में कृष्ण का गौवें चराना. जंगल में अनेक प्रकार के खेल रचाना, पूतना से लेकर कंस तक का उद्धार करना, गोवर्धन-धारण, कालियदमन, दानलीला, मानलीला आदि का चित्रांकन विषय की दृष्टि से तो लोक जीवन के समीप है ही, चित्रांकन की शैलीगत विशेषताओं के कारण भी लोकतत्व के अधिक समीप है । ऐसे चित्र धर्मपीठों, छतरियों और दरबारों की धार्मिक भावना के कारण राजमहलों में भी विपुल रूप से अंकित किए गए हैं । छतरियों की गोलाकृति के कारण रासलीला का चित्रण उनकी विशेषता बन गया है ।

चित्रकला के माध्यम से कृष्ण-चरित्र को सर्वाधिक प्रसार नाथद्वारा उपशैली ने दिया है । नाथद्वारा में श्रीनाथजी के स्वरूप के स्थापित होने के साथ ही गुसाइयों के साथ अनेक चित्रकार भी ब्रजक्षेत्र से अपनी जीविका उपार्जन हेतु राजस्थान में आ वसे और श्रीनाथजी के स्वरूप एवं लीलाओं का अंकन करने लगे । ये चित्रकार अधिकतर कपड़े पर चित्रांकन करते थे, जो श्रीनाथ जी की पिछवाइयों के रूप में प्रचलित हुआ । माता यशोदा की प्रमुखता के कारण स्त्रियों की आकृति में प्रौढता, शारीरिक स्थूलता और भावों में वात्सल्य की झलक विशेष दर्शनीय है । पुरुषों में गुसाइयों के पुष्ट कलेवर, बालगोपालों की ग्रामीण आकृतियाँ तथा गाय, वछड़े, वन, निकुंज, यमुनातट, वंशीतट आदि का अंकन सरस एवं सौम्य वन पड़ा है, इसलिए ये चित्र लोककला के सच्चे प्रतीक हैं ।

कृष्ण-चरित्र की चित्रोपमता एवं कामोद्दीपकता के कारण मध्यकाल में भारत भर की चित्र शैलियों में चित्र बने जिसमें राजस्थानी और पहाड़ी शैलियाँ सर्वप्रमुख रहीं । राधाकृष्ण की छवि को उपर्युक्त माध्यम के अतिरिक्त हाथी-दाँत, लकड़ी के कपाट, मोडल आदि पर भी कलाकारों ने बनाया । इन माध्यमों से कृष्ण-चरित्र ने भारतीय सांस्कृतिक जीवन में जो रस घोला है वह अपूर्व तथा अतुलनीय है । साहित्य, संगीत और चित्रकला के माध्यम से कृष्णलीला साकार हो उठी है ।

—डा० जयसिंह नीरज

कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्

पाश्चात्यों तथा पाश्चात्य संस्कृतिप्रेरित भारतीयों की ओर से ऐतिहासिक दृष्टि से आजकल अनेक प्रश्न उठाये जा रहे हैं जैसे 'भगवान् श्रीकृष्ण ऐतिहासिक पुरुष थे या नहीं ?' 'इस सम्बन्ध में श्रीमन्महाभारत श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में वर्णित घटनाएँ ऐतिहासिक हैं या नहीं ?' 'इनके वर्णनों में जो परस्पर विरोध है उसका परिहार कैसे हो सकता है ?' 'कृष्णोपासना का प्रारम्भ कब से हुआ ?' आदि । इनके उत्तर में हम तो ऐतिहासिक प्रमाणों तथा प्रणाली द्वारा उन समस्त घटनाओं की ऐतिहासिकता को ही स्थापित करते और मानते हैं; हम यह भी मानते तथा सिद्ध करते हैं कि श्रीकृष्णोपासना अनादिकाल से प्रचारित है, श्रीमद्भागवत श्रीवेदव्यासजी द्वारा रचित है और इसे श्रीशुकदेवजी ने सुनाया था । श्रीमन्महाभारत के श्रीकृष्ण, श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण और ब्रह्मवैवर्तादि पुराणों के श्रीकृष्ण में इतिहास, गुण, कर्म, उपदेश आदि किसी दृष्टि से ऐसा कोई भी भेद नहीं है जैसा विदेशी प्राच्यविद् सज्जन तथा उनके अनुयायी भारतीयविद्वान् बतलाते हैं । इस लेख में उन प्रमाणों के विवरण में उतरने की आवश्यकता नहीं है । इसलिये इस विषय को यहीं छोड़कर अब हम अपने विषय पर आते हैं ।

हमारे इस लेख का उद्देश्य केवल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के जीवन-चरित्र तथा उपदेशों से प्राप्त होनेवाली अमूल्य शिक्षा का एक स्थूल सूचीपत्र बनाना ही है । परन्तु इससे पहले हमारे सामने उपोद्घात रूप से अवतारवाद का एक बड़ा प्रश्न उपस्थित होता है, जिसके उत्तर में हम समस्त शास्त्रों के सिद्धान्त का संक्षेप से यही सारांश बतायेंगे कि निर्गुण परमात्मा का सगुण-रूपों से अवतार ग्रहण करना केवल पुराणों से नहीं, बल्कि श्रीमद्भगवद्गीता के :

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन । तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

इत्यादि श्लोकों से और नारायणोपनिषद्, नृसिंहतापिनी, सीतोपनिषद्, रामरहस्योपनिषद्, रामतापिनी, वासुदेवोपनिषद्, गोपालतापिनी, कृष्णोपनिषद् आदि अनेक उपनिषदों से भी प्रमाणित है । यही नहीं, वेद की पूर्वसंहिता के अन्तर्गत पुरुषसूक्त के **'अजायमानो बहुधा विजायते'** इस मन्त्र से भी निर्विवाद सिद्ध है ।

अतः हम अवतारवाद के समर्थन के लिये बहुत प्रमाण देने में समय न लगाकर श्रीमद्भगवद्गीता के एकादश (विश्वरूप-दर्शनयोग) अध्याय के प्रसंग और द्वादश (भक्तियोग) अध्यायके बताये हुए सिद्धान्त की ओर जिज्ञासुओं की दृष्टि आकर्षित करना ही पर्याप्त समझते हैं ।

एकादशाध्याय का प्रसंग यह है कि दशमाध्याय में भगवान् के द्वारा उनकी कुछ विभूतियों का वर्णन सुनने के बाद यह सुनकर कि :

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप । एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

जैसे पुरुषसूक्त ने भी कहा है कि—**'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'** अर्जुन भगवान् की उस महान् विश्वव्यापी मूर्ति का दर्शन करना चाहता है, जो यथार्थ में उनकी सम्पूर्ण मूर्ति न होने पर भी विश्वरूपिणी है, क्योंकि सारी दुनिया के अन्दर

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड भी तो भगवान् का एक छोटा अंशमात्र ही है। भक्तवत्सल भगवान् अर्जुन की प्रार्थना स्वीकार कर उससे यह कहते हुए कि :

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥

—उसे दिव्य नेत्र देकर अपने विश्वरूप का दर्शन कराते हैं। परन्तु बड़े ही आश्चर्य की बात तो यह होती है कि भगवान् से दिव्य चक्षु प्राप्त करने पर भी अर्जुन उस विश्वरूप का दर्शन थोड़ी ही देर तक कर सकता है, फिर घबराकर दिग्भ्रमादि से पीड़ित हो, स्वयं विवश होकर यह प्रार्थना करने लगता है कि :

दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।

'हे भगवन्, इस विश्वरूप का उपसंहार करके अपनी उसी खण्ड-परिच्छिन्न मूर्ति का दर्शन दो जिसे मैं सदा देखता रहता हूँ।' यह विचार करने की बात है कि अर्जुन को तो भगवान् ने स्वयं 'भक्तोऽसि मे सखा चेति' इत्यादि कहकर विश्वरूप दिखलाया था-तत्त्वोपदेश देकर सारथिरूप से सेवा करते हुए उसे धन्यशिरोमणि बनाया था। जब इतने बड़े जबर्दस्त अधिकारी को दिव्य चक्षु मिलने पर भी उस विश्वरूप के दर्शन करते रहने की शक्ति नहीं होती जो भगवान् का यथार्थ में एक छोटा अंशमात्र है, तब साधारण मन्दाधिकारी या अधमाधिकारियों का यह कहना कि 'हम अपने साधारण चर्मचक्षु से केवल विश्वरूप का ही नहीं, भगवान् के सम्पूर्ण रूप का दर्शन कर सकते हैं' बड़े ही अहङ्कार की बात है। इससे बढ़कर अहङ्कारपूर्ण और सर्वथा अनधिकार साहस का दृष्टान्त और क्या हो सकता है?

यह तो हुआ विश्वरूपदर्शन योग (एकादशाध्याय) के प्रसङ्ग से हमारा किया हुआ अनुमान। अब यह देखना है कि भक्तियोग (द्वादशाध्याय) में भगवान् ने अपने श्रीमुख से ही यह स्पष्ट कह दिया है कि—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥

अर्थात् 'जो देहवान् हैं उनसे निर्गुण की उपासना नहीं हो सकती।' तब फिर अशरीर कौन है? इसका 'अशरीरं वाव संतं सुखदुःखे न स्पृशतः' इस श्रुति ने तथा :

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ॥

—इत्यादि गीतावाक्यों ने निर्वचन कर दिया है कि जिसके शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि पर शीतोष्णादि द्वन्द्व-समष्टि का तनिक भी प्रभाव न पड़ता हो, अर्थात् जिसको जिन्दा रहते हुए ही मृतक के समान चिता पर रखकर जलाये जाने पर भी तनिक-सी व्यथा न होती हो, वही अशरीर है और वास्तव में वही निर्गुण के लिये अधिकारी है। गीता के इन दोनों अध्यायों से अपने-आप पता लग सकता है कि जगत् के जीवों के लिये सगुणोपासना की आवश्यकता है या निर्गुणोपासना की?

शास्त्रों से अवतारवाद के इस प्रकार सिद्ध होने के बाद अब अगला प्रश्न यह है कि अवतारों के बीच में भगवान् श्रीकृष्ण का कौन-सा स्थान है? इसके उत्तर में हमारा बस इतना ही कहना है कि : **कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्।**

मतलब यह कि अन्य समस्त अवतार भगवान् के अवतार हैं, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान् के अवतार नहीं, स्वयं भगवान् ही हैं। इस सिद्धान्त के समर्थन में श्रीमद्भागवतादि पुराणों, श्रीमद्भगवद्गीता और उपर्युक्त उपनिषदों में खूब प्रमाण मिलते हैं जिनके सारांशरूप से इतना ही कहना पर्याप्त है कि और सब अवतारों में जो भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य हुए, वे सब-के-सब एक श्रीकृष्णावतार में हुए। इसीलिये हम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को पूर्णावतार और निर्गुण परमात्मा का सगुण प्रतिरूप मानते हैं, क्योंकि मूर्ति की दृष्टि से हम लोगों की योग्यता के अनुसार परिच्छिन्न होते हुए भी, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कार्यों में तो ऐसी अपरिच्छिन्न अपरिच्छिन्नता दिखायी है जैसी और किसी अवतार में नहीं दिखायी। इसमें यह भी प्रमाण है कि इस अववार में केवल वेदों की रक्षा, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, रावणादि एक

ख़ास व्यक्ति का संहार, भूमि का उत्थान, बलिराजा का दमन, क्षत्रियों का क्षय, तत्त्वोपदेश, म्लेच्छों का नाश इत्यादि एक-एक संकुचित उद्देश्य नहीं हैं बल्कि ऐसे समस्त उद्देश्यों की एक बड़ी भारी समष्टि है, जिसकी न कोई सीमा है और न हिसाब-किताब है। इसीलिये कवि जयदेव ने अपने गीतगोविन्द में दशावतारों का वर्णन करते हुए—

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान्मूर्छयते दशाकृतिधृते कृष्णाय तुभ्यं नमः॥

कहकर मत्स्यादि अवतारों में श्रीबलरामजी को गिनकर भी सबको भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के ही अवतार माना है। तात्पर्य यह कि सब अवतारों के किये हुए सब कार्यों की समष्टि भगवान् श्रीकृष्ण ने की है। अब इन अनन्त और अपरिच्छिन्न कार्यों और गुणों में से कुछ खास-खास कार्यों तथा गुणों का अत्यन्त सूक्ष्म और संक्षिप्त रीति से दिग्दर्शन कराया जाता है जिससे स्पष्ट होगा कि—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा॥

'भगवान्' शब्द के इस लक्षण का केवल श्रीकृष्णचन्द्र में ही सम्पूर्ण रीति से समन्वय पाया जाता है। इस विवेचन से 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' का अक्षरशः समर्थन और निरूपण होगा।

१. ऐश्वर्यस्य (समग्रस्य)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के जन्म से लेकर अन्त तक सारे इतिहास की प्रत्येक छोटी-छोटी घटना से भी सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में समस्त जगत् के नाथ ही परिपूर्ण शक्तिसमेत भूलोक पर आये थे। उनका सर्वव्यापित्व (अपरिच्छिन्नत्व) तो उनको बाँधने के लिये किये हुए प्रयत्न में श्रीयशोदाजी के अनुभव, द्रौपदी-वस्त्रापहरण के प्रसंग और हजारों पत्नियों के घरों में नारदजी के देखे हुए दृश्य आदि अनेक प्रसंगों से स्पष्ट है। पूतना-संहार इत्यादि बाल-लीलाओं से लेकर अन्य सब लीलाओं से और इस बात से कि कोई भी घटना या प्रसंग ऐसा नहीं आता है जो भगवान् के अङ्कुश के नीचे न रहता हो, भगवान् का सर्वेश्वरत्व अर्थात् 'समग्र ऐश्वर्य' रूपी लक्षण इतना स्पष्ट है कि उसके अधिक विवरण, समर्थन या निरूपण की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

२. धर्मस्य (समग्रस्य)

धर्म उस साधन-सामग्री का नाम है जिससे जगत् का धारण (अर्थात् उद्धार) होता है। इस दृष्टि से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् धर्ममूर्ति ही हैं और इसमें यह चमत्कार भी है कि दुनिया में जितने-जितने सम्बन्धों तथा हैसियतों से व्यवहार हुआ करते हैं, उन सबकी दृष्टि से और देश, काल, पात्र, अवस्था, अधिकार आदि भेदों से हम लोगों के जितने-जितने भिन्न-भिन्न धर्म या कर्त्तव्य हुआ करते हैं, उन सबमें भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने अमृतरूपी उपदेशों से ही नहीं, प्रत्युत अपने आदर्श आचरणों से भी हम लोगों को धर्म का स्वरूप दिखलाया और पथ-प्रदर्शन किया है। इन सब विषयों में एक छोटे-से-छोटा विषय भी ऐसा है जिसका अनेक बड़े-बड़े लम्बे व्याख्यानों और लेखों से भी पर्याप्त वर्णन नहीं हो सकता। इसलिये कुछ खास सम्बन्धों के बारे में स्थालीपुलाक-न्याय से एक-एक छोटे दृष्टान्त के द्वारा दिग्दर्शन कराया जाता है और स्पष्ट किया जाता है कि श्रीभगवान् में परमार्थ के साथ-साथ कितनी भारी व्यावहारिक धर्म-निपुणता भी थी, जिससे हजारों प्रकार के सम्बन्ध रखते हुए और भिन्न-भिन्न विचार तथा योग्यता रखनेवाले अधिकारियों के साथ व्यवहार करते हुए श्रीभगवान् ने सबसे अपने संकल्पानुसार काम भी कराया और उनको ऐहिक और पारमार्थिक कल्याण के पथ पर भी हमेशा के लिये चढ़ा दिया।

१. माता-पिता के प्रति—श्रीभगवान् ने अपनी सवा ग्यारह वर्ष की अवस्था में कंस को मारकर श्रीदेवकीजी, श्रीवसुदेवजी को कारागृह से छुड़ाया और उनसे हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्रता के साथ कहा कि 'आज तक गोकुलवृन्दावन में रहने के कारण आपकी कुछ भी सेवा न कर सका और मृतक के समान रहा इसके लिए क्षमा कीजिये।' इत्यादि।

२. पालक माता-पिता के प्रति—श्रीभगवान् का अपनी बाल्यावस्था में लगातार और कुरुक्षेत्र में सूर्यग्रहण के

प्रसङ्ग पर श्रीयशोदाजी और श्रीनन्दगोपालजी के साथ प्रेमपूर्ण लीलाएँ तथा अत्यन्त नम्रतापूर्वक व्यवहार करना सुप्रसिद्ध है।

३. ज्येष्ठ भ्राता के प्रति—अत्युग्र स्वभाववाले श्रीबलरामजी की इच्छा या सलाह के अनुसार चलना जिन-जिन बातों में धर्म या नीति की दृष्टि से मुनासिब नहीं था, उनमें भी श्रीभगवान् ने जगदीश्वर होते हुए भी उनको अनुनय-विनय से सन्तुष्ट रखते हुए सर्वदा ज्येष्ठ भ्राता की सेवा की।

४. गुरु के प्रति—श्रीभगवान् ने सर्वज्ञ, सर्वदा निर्मोह और किसीसे कभी भी उपदेश या सलाह लेने की आवश्यकता न होने पर भी गुरु श्रीसन्दीपनिजी की बड़ी ही आदर्श सेवा की और उन्हें गुरुदक्षिणा दी।

५. ब्राह्मणों के प्रति—केवल नारदादि महर्षियों को ही नहीं बल्कि तुच्छ-से-तुच्छ और अत्यन्त अकिञ्चन सुदामा, श्रुतिदेव आदि ब्राह्मणों को भी भूलोक के देवता मानते हुए भगवान् ने अपने श्रीमुख से तथा आचरण से उनकी सेवा कर आदर्श ब्रह्मण्यता दिखायी।

६. गोमाता के प्रति—श्रीभगवान् का गोमाता तथा गोवत्सों की सेवा में बिताया हुआ अद्भुत तथा प्रेममय बाल्यजीवन तो प्रसिद्ध ही है।

७. पत्नियों के प्रति—**'बह्वयः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति'** इस जगत्प्रख्यात अनुभव के रहने पर भी श्रीरुक्मिणीजी, श्रीसत्यभामाजी आदि अष्ट महिषियों के अतिरिक्त सोलह हजार स्त्रियों के पति होते हुए भी सबके साथ निष्पक्ष प्रेममय व्यवहार का दुनिया के गृहस्थों को ऐसा आदर्श दिखाया कि जिससे श्रीभगवान् की पत्नियों ने कुरुक्षेत्र में द्रौपदी के पास अपनी धन्यता दिखाते हुए अपने मन की यही इच्छा प्रकट की कि हमें जन्म-जन्मान्तरों में भी इन्हीं भगवान् की सेवा करने का सौभाग्य मिले।

८. राजनीति-क्षेत्र में—श्रीभगवान् की अपार तथा अद्वितीय राजनीति-कुशलता ऐसी थी जिसके प्रभाव से सभी कार्यों में शत्रुओं की हार और श्रीभगवान् की कामयाबी होती थी और जिसको देखकर सन्धिविग्रहादि सर्व-कार्य-पारङ्गत अतिनिपुण विदुर, उद्धव, भीष्म आदि राजनीतिज्ञ-शिरोमणि भी आश्चर्यचकित हो जाते थे।

९. शरणागत आर्तों के प्रति : अपनी की हुई **'तेषां योगक्षेमं वहाम्यहम्', 'न मे भक्तः प्रणश्यति'** इत्यादि प्रतिज्ञाओं का पालन करते हुए श्रीभगवान् ने द्रौपदी की मानरक्षा आदि के द्वारा अपनी आर्तत्राणपरायणता और अनाथनाथपने का आदर्श परिचय दिया। जैसे आगे भी मीराबाई के दृष्टान्त में यह स्थापित किया कि—

द्रौपदी च परित्राता येन कौरवकश्मलात्। पालिता गोपसुन्दर्यः स कृष्णः क्वापि नो गतः॥

१०. पतितों के प्रति—श्रीभगवान् ने—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।

इत्यादि प्रतिज्ञाओं से अपनी पतित-पावनता दिखायी।

११. भक्तों के प्रति—श्रीभगवान् ने श्रीवेदव्यास, अक्रूर, उद्धव, विदुर और सञ्जयादि भक्तजनों के साथ उनके अधिकारानुसार जो व्यवहार किया और खास करके शत्रुपक्ष के सेनाधिपति होकर अपने बाणों से श्रीभगवान् के शरीर से खूब रक्त बहानेवाले अपने भक्तरत्न श्रीभीष्मजी की प्रतिज्ञा के पालन के लिये—**'छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्'** इस नियम से भी आगे बढ़कर अपनी प्रतिष्ठा की भी परवाह न करते हुए भक्त की प्रतिष्ठा की रक्षा करके केवल भक्तवत्सलता नहीं बल्कि भक्तपराधीनता भी दिखायी, जिसका स्वयं भीष्मजी ने अपने अन्तिम समय में—**'स्वनिगमपहाय मत्प्रतिज्ञाम् ऋतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः'** इत्यादि श्लोक में जिक्र किया था।

१२. शिष्यों के प्रति—अपने चरणों में पहुँचकर शिष्यभाव से—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' ऐसा कहनेवाले अर्जुन को उपनिषदों के सारांशरूपी अपनी गीता का उपदेश देकर अज्ञान-संमोह से उसका उद्धार करके गुरु के यथार्थ लक्षण का परम सुन्दर लक्ष्य दिखाकर कृतार्थ किया।

१३. मित्रों के प्रति—श्रीभगवान् ने गोकुल-वृन्दावन में गोपाल-बालकों के साथ तथा गुरुकुलवास के समय के सुदामा आदि साथियों के साथ सच्ची मित्रता का आदर्श लक्षण दिखाया।

१४. शत्रुओं के प्रति—बचपन से लेकर अन्त तक निर्भय तथा निश्चिन्त होकर बड़े-बड़े भयंकर शत्रुओं का और शत्रुओं की अपार अक्षौहिणियों का अनायास ही संहार या दमन करने की अद्वितीय शक्ति रखते हुए भी, श्रीभगवान् ने यथासाध्य शान्ति से ही काम लेने के प्रयत्न का नियम रखा था। (जैसे दोनों पक्षों की सेनाओं के सन्नाह के पश्चात् भी दुर्योधन के पास पाण्डवों के दूतरूप में जाकर युद्धनिवारण का अन्तिम प्रयत्न किया।) और अपने अन्तिम प्रयत्न के व्यर्थ होने पर—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय…… ………॥

इस अपने कर्तव्य के पूरा करने में धर्म के खयाल से प्रेरित होकर केवल जगत् के कल्याण के लिए ही दुष्टों के संहार और सज्जनों की रक्षा के द्वारा धर्म की संस्थापना करते हुए और—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ
रागद्वेषौ व्युदस्य च ……………
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्

अपने इन उपदेशों का आदर्श अपने आचरण से दुनिया को दिखाते हुए, शत्रुओं के साथ भी रागद्वेषरहित और निष्पक्ष रहकर ही व्यवहार किया था, इसीसे नरकासुर को मारने तथा भीमसेन के द्वारा जरासन्ध को मरवा डालने के बाद श्रीभगवान् ने उनके राज्यों को स्वयं न छीनकर उन्हींके पुत्रों को प्रजारक्षणरूपी धर्म का उपदेश देकर अपने हाथों गद्दी पर बैठाया तथा उनका सब प्रकार से पालन-पोषण एवं सहायता की। कर्तव्य-विवश हो जिनको श्रीभगवान् ने मारा, द्वेष न करते हुए उनको भी सद्गति प्रदान करने का नियम तो आप पालते ही रहे। (इससे सुदर्शनचक्रधारी और मुरलीधारी की एकता सिद्ध है।)

१५. गोपियों के प्रति—व्रजवासी रसिकराज श्रीभगवान् ने बचपन में गोपियों के साथ की हुई अपनी लीलाओं में वात्सल्य, सख्य, दास्य, शान्त और माधुर्यादि भावों का उज्ज्वल तथा आदर्श परिचय दिया था।

१६. सारी दुनिया के प्रति—राजसूययज्ञ के प्रकरण में श्रीभगवान् ने सब लोगों को अनेक प्रकार के अधिकार देकर या कार्य बाँटकर अपने लिये तो—'कृष्णः पादावनेजने' अभ्यागत-अतिथियों के चरण धोने का ही काम लिया जिससे विष्णुसहस्रनाम के बताये हुए—'अमानी मानदो मान्यः' (अर्थात् स्वयं अहंकाररहित परन्तु औरों को मान देनेवाला अतएव माननीय) अपने इन तीनों नामों को सफल कर सेवाधर्म (Ideal of Service) का परमोत्तम आदर्श दिखाया।

श्रीभगवान् के दिखाये हुए इन आदर्शों में से एक की भी तुलना दुनियाभर के इतिहास में खोजने पर भी कहीं भी नहीं मिल सकती। इनमें से एक-एक पर भी हजारों व्याख्यान और लेख हो सकते हैं तो भी विषय पूरा नहीं हो सकता। इसलिए इनका केवल उल्लेख करके हम आशा करते हैं कि इन दृष्टान्तों से पाठक स्पष्ट समझ जायँगे कि सब प्रकार से सब अंशों में श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् धर्ममूर्ति थे और साथ ही उस प्रेम की पराकाष्ठा के अवतार थे जिसके अन्दर सारी दुनिया और खास करके शत्रुओं को भी श्रीभगवान् ने स्थान दिया था। ऐसे आदर्श धर्मावतार और प्रेमावतार के विषय में यह सन्देह ही कैसे हो सकता है कि उनमें 'धर्मस्य समग्रस्य' यह लक्षण पूर्णरूप से है या नहीं ?

३. यशसः (समग्रस्य)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की विश्वव्यापिनी कीर्ति के विषय में तो पारमार्थिक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि दुनिया में जिन-जिनका गुणगान हो सकता है वे सब भगवान् की एक छोटी विभूति होने के कारण उन सबकी कीर्ति भी भगवान् की ही कीर्ति है, क्योंकि भगवान् ने तो (हृदय की ऐसी विशालता तथा गम्भीरता के साथ, जो दुनिया में किसीमें पायी नहीं जाती) स्वयं ही कहा है कि––

> यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति
> येऽप्यन्यदेवता भक्ता………………

अर्थात् किसीकी भी उपासना हो वह भी मेरी ही उपासना है इत्यादि––इस पारमार्थिक दृष्टि के अतिरिक्त, केवल संकुचित व्यावहारिक दृष्टि से भी यही सच्ची बात है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की कीर्ति सर्वजगद्व्यापिनी है। दुनिया के प्रसिद्ध महापुरुषों पर, आध्यात्मिक तथा तत्त्वजिज्ञासु जगत् और साहित्य पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के इतिहास तथा उपदेशों का जो प्रभाव पड़ा है उससे इस बात का पूरा-पूरा समर्थन होता है।

आध्यात्मिक तत्त्वजिज्ञासु और तत्त्ववेत्ता जगत् में प्रसिद्ध जिन-जिन महानुभावों तथा साहित्य के जिन-जिन ग्रन्थों पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के जीवनचरित्र तथा उपदेशों का प्रभाव पड़ा, उन सबका सूचीपत्र बनाना असम्भव है। परन्तु संक्षेप में यही बताया जा सकता है कि ऐसा महापुरुष तथा साहित्य अत्यन्त विरल है जिसने जानते हुए या न जानते हुए श्रीकृष्ण के इतिहास तथा उपदेशों से लाभ न उठाया हो और जिसमें श्रीकृष्ण के प्रभाव का कुछ-न-कुछ चिह्न न दीखता हो।

साधारण व्यक्तियों की बातों में तो कुछ महत्त्व नहीं है, परन्तु भारत के इतिहास में जितने प्रसिद्ध साधु-सन्त हुए हैं, उन सब पर श्रीकृष्ण-भक्ति का प्रभाव खूब पाया जाता है। महाराष्ट्र, गुजरात, बंगाल आदि सभी प्रान्तों में यही बात हुई। हिन्दी कविता में भी सूरदास आदि बड़े-बड़े कवियों की यही बात है। इसी प्रकार संस्कृत-साहित्य में भी यही देखा जाता है कि माघ के शिशुपालवध आदि काव्यों के अतिरिक्त, जिनमें श्रीकृष्ण की लीलाओं का ही वर्णन है, अन्य समस्त काव्यों में भी श्रीकृष्ण के इतिहास तथा उपदेश का प्रभाव ओतप्रोत नजर आता है। भजनों में तो जयदेव के गीतगोविन्द ने साहित्य के अन्दर ऐसा सुदृढ़ स्थान प्राप्त किया है जिससे वह कदापि हिल नहीं सकता।

अब हमें इस चमत्कारी बात का उल्लेख करना है कि जितने बड़े-बड़े धर्माचार्य हुए हैं, उनमें से एक भी ऐसा आचार्य नहीं, जो भगवान् श्रीकृष्ण का भक्त न हुआ हो। श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि वैष्णवसम्प्रदायप्रवर्तक आचार्यों के श्रीकृष्णभक्त होने में तो कोई बड़ी बात नहीं है परन्तु जब देखा जाता है कि भगवान् शंकर के अवताररूप से प्रसिद्ध जगद्गुरु आदिशंकराचार्य भी श्रीकृष्ण के भक्त थे, तब तो सबको यही मानना पड़ता है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की मूर्ति, मुरली, लीला आदि सभी पदार्थ केवल श्रीराधाजी आदि गोपियों के लिए ही मनोमोहक नहीं थे बल्कि वह यथार्थ में ही सर्व-जगन्मनोमोहक थे। इस प्रकरण में हम सबको यह बात जाननी और याद रखनी चाहिए कि भगवान् श्रीआदिशंकराचार्य ने स्वयं समस्त वैष्णव-आचार्यों से भी बढ़कर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के स्तोत्र रचे हैं और उनके सिद्धान्त के सबसे बड़े जबर्दस्त प्रचारक 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ के कर्ता श्रीमधुसूदनसरस्वती स्वामी के बनाये हुए 'भक्तिरसायन' से बढ़कर तो श्रीकृष्णभक्ति-प्रतिपादक ग्रन्थ ही और कौन होगा ? उनके बनाये हुए श्रीकृष्णस्तोत्रों से बढ़कर या उनके समान भी आज तक श्रीकृष्ण के प्रेम से भरे हुए स्तोत्र और किसने बनाये हैं ? उदाहरणार्थ यहाँ हम उनके बनाये हुए दो ही श्लोकों को उद्धृत करते हैं जिनसे स्पष्ट होगा कि निर्गुण निराकारवाद के प्रतिपादकरूप से जगद्विख्यात श्रीशंकराचार्य के सिद्धान्त के सबसे जबर्दस्त ग्रन्थकर्ता स्वामी श्रीमधुसूदनस्वरस्वती-जैसे

ज्ञानकाण्डी, अद्वैतवादी और मायावादी के हृदय पर भी आनन्दकन्द पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की मूर्ति किस तरह बैठी हुई है—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा यन्निष्कलं निष्क्रियं, ज्योतिश्चेतसि योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं, कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलंमहो धावति ॥
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

क्या इसीसे यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि अद्वैत-सिद्धान्त के अनुयायी अद्वैतसिद्धि-ग्रन्थकर्ता के विचार में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निर्गुण निराकार अखण्ड अपरिच्छिन्न सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी परमात्मा का सगुण साकार खण्ड परिच्छिन्न पूर्णावतार था ?

अब भारतवर्ष के अतिरिक्त बाहर के जगत् पर भगवान् श्रीकृष्ण का जो प्रभाव पड़ा है, उसका कुछ उल्लेख करना है। राज्यशासन, व्यापार आदि बाहरी वस्तुओं की सहायता या प्रभाव से जो असर पड़ता है उसे तो हम गिनती में ही नहीं लेते, केवल उसी असर की कीमत की जा सकती है जो पदार्थ की स्वरूपभूत योग्यता के आधार पर निर्भर हो और बाहर की किसी वस्तु की सहायता या प्रभाव से लाभ न उठाता हो। आजकल भारत के राजनीति व्यापार आदि की दृष्टि से तो यूरोप, अमेरिका आदि पर किसी भी शासन का नाम तक नहीं है, तो भी यूरोप में जर्मनी, इंग्लैंड आदि देशों पर और अमेरिका पर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का खूब प्रभाव पड़ा हुआ है, जिसका अपनी स्वरूप-योग्यता से अतिरिक्त और कोई भी कारण नहीं बताया जा सकता। इस सम्बन्ध में हमारे लिये विवरण में न उतरकर दिग्दर्शनार्थ केवल एक ही अद्भुत बात का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। वह यह है कि अंग्रेजी साहित्य में बड़े तत्त्व-दर्शियों की गिनती में महान् ग्रन्थकर्ता टामस कार्लाइल और अमेरिकन-साहित्य में राल्फ वाल्डो एमर्सन गिने जाते हैं, उनके इतिहास से यह पता चलता है कि उन दोनों ने इस बात को स्वीकार किया था कि आध्यात्मिक विषयों पर अपने लिखे हुए जिन ग्रन्थों से उन दोनों ने यूरोप तथा अमेरिका को मुग्ध किया था, वे सब-के-सब भगवद्गीता के अंग्रेजी अनुवादों से साधारण तौर पर समझी हुई कुछ बातों के आधार पर ही लिखे हुए थे।

इस खास बात का जिक्र किये बिना हम इस प्रकरण को नहीं छोड़ सकते कि असल में तो रूस, यूनान तथा फ्रान्स आदि देशों के बड़े प्रामाणिक पुराने ग्रन्थों से सिद्ध हो गया है कि पैगम्बर ईसा ने भारतवर्ष में आकर भगवद्गीता आदि वेदान्त-ग्रन्थों का अध्ययन कर उन्हींका अपने देश में जाकर प्रचार किया और ईसाइयों के मूलग्रन्थ बाइबल की सारी बातें भारत से ली हुई बातों के अनुवाद या केवल आभासमात्र हैं। इस सम्बन्ध में फ्रान्स के सुप्रसिद्ध ग्रन्थकर्ता एम० लुई जकोलियाट लिखित 'The Bible in India Hindoo origin of Hebrew and Christion Revelation' इत्यादि ग्रन्थों से पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं।

इन सब बातों से सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण की कीर्ति कितनी विश्वव्यापिनी है। जब दुनिया को उपर्युक्त रहस्य का पता लगेगा कि सारी पाश्चात्य दुनिया जिस ईसाई-धर्म का नाम लेती है वह भी भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन-चरित्र तथा उपदेशों का ही एक नन्हा-सा बच्चा है, तब क्या हम यह आशा नहीं कर सकते कि भविष्य में पाश्चात्य जगत् पर भगवान् का प्रभाव आजकल की भाँति अज्ञात रूप से नहीं बल्कि अत्यन्त प्रसिद्ध प्रकार से अवश्य फैलेगा और पाश्चात्य संसार मुक्तकण्ठ से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र को अपना इष्टदेव मानने लगेगा ?

तात्पर्य यह कि 'यशसः समग्रस्य' इस लक्षण का भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में ही पूरा-पूरा समन्वय होता है और हो सकता है।

४. श्रियः (समग्रायाः)

जिस भगवान् ने अपने गरीब भक्त सुदामा की एक मुट्ठी सूखे चावल की कनी खाकर उसको अपने सङ्कल्पमात्र से अनायास एक साथ ही बड़ा भारी धनवान्-शिरोमणि बना दिया और जिस भगवान् की सेवा में श्रीरुक्मिणीजी आदि अनेक रूपों से साक्षात् श्रीमहालक्ष्मी की ही सब कलाएँ सेवा करती थीं, क्या उस श्रीपति में 'श्रियः समग्रायाः' इस लक्षण के समन्वय के निरूपण का भी प्रयत्न करने की आवश्यकता है ?

५. वैराग्यस्य (समग्रस्य)

इतनी साम्राज्यसम्पत्ति, धर्मसम्पत्ति, कीर्तिसम्पत्ति तथा धनसम्पत्ति के रहने पर भी, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में जो वैराग्य और अनासक्ति-सम्पत्ति विराजती थी, उस अद्भुत चमत्कार का कौन वर्णन कर सकता है ?

श्री भगवान् ने अर्जुन से कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।

और इसी सिद्धान्त का श्रीभगवान् ने अपने आचरणों में अद्वितीय आदर्श दिखाया। जगत् में उनके इस सिद्धान्त को उलटा करके : **फलेष्वेवाधिकारो मे मा कर्मणि कदाचन**—कहनेवाले अर्थात् कर्म न करके फल चाहनेवाले तो खूब मिलते हैं परन्तु लगातार दिन-रात अत्यन्त परिश्रम करते हुए भी फल न चाहनेवाले तो एक भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, जिन्होंने राजा कंस को मारकर उसके गद्दी पर उग्रसेन को बैठाया, जरासन्ध तथा नरकासुर को मरवाकर तथा मारकर उनके पुत्रों को ही सिंहासन प्रदान किया और स्वयं जीवनभर में एक बार भी किसी राज्य आदि को नहीं अपनाया। इससे स्पष्ट है कि भगवान् में वित्तैषणा बिल्कुल नहीं थी।

लोकैषणा अर्थात् प्रतिष्ठा की इच्छा के विषय में तो भगवान् के लिये कहना ही क्या है, जिन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को तोड़कर भी भीष्म की प्रतिज्ञा को पूर्ण किया तथा राजसूय-यज्ञ में सर्वपूज्य होकर भी अभ्यागतों के चरण धोय और अपने को—'**अमानी मानदो मान्यः**' (तथा) '**मानापमानयोस्तुल्यः**' अर्थात् लोकैषणारहित स्थापित किया।

स्त्री के विषय में तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि स्त्री से दूर रहकर विषय-वासनारहित रहने में उतनी बड़ी बात नहीं है, जितनी हजारों स्त्रियों के बीच में रहते हुए भी सर्वथा विषय-वासनारहित रहने में है। यह बात भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने ही दिखायी—(१) **उत्तम्भयन्रतिपतिं रमयाञ्चकार**। (२) **सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः** (३) **भगवतो न मनो विजेतुम्, स्वैर्विभ्रमैः समशकन्वनिता विभून्नः**। (४) **पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न शेकुः**।

इत्यादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि भगवान् जितेन्द्रियशिरोमणि और परमोत्कृष्ट योगिराज थे। दिग्दर्शनार्थं दिये हुए इन दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में '**वैराग्यस्य समग्रस्य**' इस लक्षण का भी समन्वय हो गया।

६. मोक्षस्य (समग्रस्य)

श्रीभगवान् के सारे इतिहास से तथा भगवद्गीता से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण कभी किसी प्रकार के बन्धन में तनिक-से भी नहीं थे। वे सर्वथा मुक्त ही रहे। इस सम्बन्ध में इतना ही विचार करना पर्याप्त होगा कि सब-के-सब मुक्त पुरुष जिनके चरणों में पहुँचकर कृतार्थ होते हैं, अर्थात् जिनके चरणकमल मोक्ष के मूलस्थान हैं, उनमें 'समग्र मोक्ष' के समन्वय के विषय में प्रश्न ही कैसे हो सकता है ? इससे श्रीभगवान् में '**मोक्षस्य समग्रस्य**' इस छठे लक्षण का समन्वय हो गया।

उक्त छः लक्षणों के समन्वय से यह सिद्ध हो गया कि : कृष्णस्तु भगवान्स्वयम् ।

—अर्थात् भगवान् वही पूर्ण पदार्थ (Absolute and All-round Perfection) सगुण सम्पूर्णरूप थे जिसे श्रुति कहती है—पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

उपसंहार

जो इस प्रकार पूर्ण परमात्मा का पूर्णावतार है वही जगद्गुरु हो सकता है। क्योंकि गु = अज्ञान और रु = नाशक अर्थात् गुरु = अज्ञाननाशक । इसलिये जगद्गुरु को स्वयं शास्त्रज्ञ योगेश्वर और सर्वज्ञ होना ही चाहिये, जिससे वह दूसरों के अज्ञान का नाश कर सके—

स्वयं तीर्णः परांस्तारयति
स्वयं तरितुमक्षमः कथमसौ परांस्तारयेत्

—यह न्याय की बात है।

अज्ञान-अशान्ति और दुःख में पड़कर रोते हुए शरणागत होकर—शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्—कहनेवाले रथी नररूपी अर्जुन के सारथि नारायणरूपी श्रीकृष्ण के दिये हुए गीतारूपी उपदेश से अर्जुन को जो ज्ञान, शान्ति और आनन्द के साथ विजय प्राप्त हुई, उससे स्पष्ट है कि यदि किसी नर को रोना छोड़कर गाने अर्थात् शान्ति और आनन्द में रहने की इच्छा हो तो उसको चाहिये कि वह भी अर्जुनरूपी नर की भाँति श्रीकृष्णरूपी नारायण को अपने शरीरादिरूपी रथ का सारथि बनाकर उसके हाथों में अपने जीवन की लगाम दे दे और—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्

कहकर—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् । तदादेशपरत्वं च शरणागमनं विदुः ।।

इस निर्वचन के अनुसार भगवान् का सच्चा शरणागत बन उन्हींका ध्यान, नाम-जप, गुणगान और आज्ञा-पालन करता रहे। एक चमत्कार की बात यह है कि भगवान् ने अपने उपदेश में कर्म, भक्ति और ज्ञान का जो समन्वय किया है कि—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तत्कुरुष्व मदर्पणम्
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते

इत्यादि, इससे निष्काम कर्म, ईश्वरार्पणबुद्धि से की हुई उपासना और त्याग अन्त में एक ही वस्तु निकलते हैं। अतएव श्रीभगवान् ने सारी दुनिया के सब प्रकार के अधिकारियों के लिए मोक्ष का कोई-न-कोई रास्ता बना दिया है। इसलिये श्रीभगवान् ही सारे जगत् के लिए गुरु हो सकते हैं और केवल उन्हींका बताया हुआ धर्म विश्वव्यापी-धर्म (Universal Religion) हो सकता है।

ऐसे भगवान् की चरणधूलि चाहते हुए, उन्हींके उपदेश से मिले हुए परमतत्त्व का अनुसन्धान करते हुए या उन्हींका नाम रटते हुए, उन्हींका गुणगान करते हुए, गद्गद्-कण्ठ होकर प्रेमाश्रु गिराते हुए जो जीव अपना समय बिताते हैं वे ही धन्य हैं और वे ही कृतकृत्य हैं, क्योंकि उन्हींके हाथों में इहलोक में कल्याण, परलोक में भगवत्सायुज्य-मोक्षरूपी परम और शाश्वत कल्याण की कुंजी है।

—जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थ

●

मधुर ब्रह्म

सर्वान्तर्यामी, सर्वातीत एवं सर्वस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण का भागवत के साथ क्या सम्बन्ध है—यह बात पद्मपुराणवाले माहात्म्य में तीन प्रकार से बतलायी गयी है। एक तो यह कि श्रीमद्भागवत क्षीरसागर है और भगवान् श्रीकृष्ण इसके पद-पद, अक्षर-अक्षर में अव्यक्त अन्तर्यामीरूप से विराजमान हैं—'तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्।' दूसरी यह कि श्रीमद्भागवत भी भगवान् श्रीकृष्ण के समान ही अनिर्वचनीय महिमासम्पन्न है—'गौरवेण इदं महत्।' अनिर्वचनीय महिमा सबसे अतीत होती है। वक्ता, वचन और वाच्य का भेद उसमें नहीं हुआ करता। अनिर्वचनीय वस्तु 'इदम्' पद से निर्वचनीय कारण स्वरूपभूत ही होती है। तीसरी बात यह है कि श्रीमद्भागवत भगवान् श्रीकृष्ण की ही मूर्ति है—'तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षा वर्तते हरेः।' इन तीनों सम्बन्धों पर विचार करने से जान पड़ता है कि भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप भागवतान्तर्यामी, भागवतातीत और भागवतरूप है। इस दृष्टि से श्रीमद्भागवत के पद-पद में, अक्षर-अक्षर में भगवान् श्रीकृष्ण के त्रिविध स्वरूप का साक्षात्कार होता है। अवश्य ही यह बात केवल पदज्ञान से नहीं होती, इसके लिए पर्याय शब्दों से कोई सहायता नहीं मिलती; यह बात होती है पद के वाच्यार्थ का ठीक-ठीक ज्ञान होने पर, लक्ष्यार्थ का इङ्गित समझ लेने पर। फिर तो भागवत के घट, पट, मठ आदि शब्दों के अर्थ के रूप में भी भगवान् श्रीकृष्ण की ही उपलब्धि होती है और भागवत में कहीं भी किसी हेयांश का प्रकरण नहीं मिलता। यही बात भागवत को 'रसम्' कहकर सूचित की गयी है।

ऐसी स्थिति में श्रीमद्भागवत के अमुक प्रकरण में ही भगवान् श्रीकृष्ण की लीला है, यह कहना नहीं बनता। भागवत का सब कुछ श्रीकृष्ण की ही लीला है। उसका प्रकाश कहीं व्यक्तरूप से है और कहीं अव्यक्तरूप से। जहाँ अव्यक्तरूप से है, वहाँ भी सहृदय लोगों के लिए संकेत विद्यमान है। ऋषि, मनुष्य, पशु, पक्षी, दैत्य, देवता और सभी पदार्थों को स्थान-स्थान पर भगवत्स्वरूप बतलाकर भावुक भक्त और तत्त्वज्ञ के लिए इस बात का स्पष्ट संकेत कर दिया गया है कि जहाँ जिस रूप में भगवान् श्रीकृष्ण अपना ऐश्वर्य गुप्त रखकर विहार कर रहे हैं, वहाँ भी उन्हें पहचान जायँ।

भगवान् की लीलाओं में यदि लीला के लिए ही सरस, सरसतर और सरसतम का लीलाभेद किया जाय तो कहना पड़ेगा कि दशम स्कन्ध में वर्णित लीला अत्यन्त सरसतम है। इस विषय को स्पष्टरूप से समझने के लिए लीला और चरित्र का सूक्ष्म अन्तर जान लेना भी आवश्यक है। चरित्र का एक उद्देश्य होता है। उसमें कर्तृत्व का भी कुछ-न-कुछ अंश रहता ही है, चाहे वह बाधितानुवृत्ति से ही क्यों न हो! चरित्र में चाहे कर्ता की भावना से और चाहे लोगों की भावना से जगत् के हित का उद्देश्य समाविष्ट रहता है। परन्तु लीला भगवान् की मौज है। वह केवल लीला के लिए है। अब तक ऐसा कोई माई का लाल नहीं हुआ, जो अन्तर्यामी के समान भगवान् के हृद्गत संकल्प को जानकर यह कह दे कि उन्होंने इस उद्देश्य से, इस प्रयोजन से यह लीला की है। वे कर्ता होकर भी अकर्ता और भोक्ता होकर भी अभोक्ता हैं। इसीसे लोग लीला का प्रयोजन सोचने जाकर लीला का स्वरूप भूल जाते हैं और उन्हें अपने जैसा ही मानव-चरित्र सूझने लगता है। भगवान् की लीला हो रही है; वह सहज है, स्वाभाविक है। उनमें न उद्देश्य है, न प्रेरणा है, न भूत-भविष्यत् का विभाग है और न तो वर्तमान की ही वहाँ तक पहुँच है। जो उसे जानेंगे, मानेंगे, उसका रस लेंगे, भगवान् से एक हो जायँगे। यदि कोई उनकी लीलाओं को भी प्रयोजन से प्रेरित, कर्म-बन्धन से विजड़ित कर्तृत्व और भोक्तृत्व से मर्यादित समझने की भूल करेंगे वे स्वयं स्वरूप से च्युत होकर जगज्जाल में जकड़ जायँगे। भगवान् की लीला अनादि है, अनन्त है, एक रस है, स्वरूप है, उसमें न क्रिया है, न सङ्कल्प है, न स्पन्दन है, न प्रथम, द्वितीय, तृतीय, तुरीय आदि का भेद है; वह लीला है, इसलिए ज्यों-की-त्यों लीला है।

भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित एक-एक लीला किसी-न-किसी रूप में भगवान् की भगवता प्रकाशित करती है। यद्यपि उनके होने का उद्देश्य ऐसा करना नहीं है, वे तो सहज स्वाभाविकरूप से ही होती रहती हैं, फिर भी यह

भगवत्ता का प्रकाश भक्तों को स्पष्ट दीख पड़ता है और वे उसका रस भी लेते हैं। यह बात तनिक ध्यान से दशम स्कन्ध का पारायण करने पर स्वयं अनुभव में आ जाती है। दैत्यों के उद्धार में जो ऐश्वर्य व्यक्त होता है; वह बहुत स्पष्ट है; फिर भी हम उसे ऐश्वर्य न मानकर माधुर्य ही मानते हैं। इसका कारण यह है कि जिनके संकल्पमात्र से ही अखिल ब्रह्माण्डों की सृष्टि और संहार सम्पन्न होते हैं, उनके लिए किसी दैत्य को मारने में युद्ध करने की बात ऐश्वर्यसूचक नहीं होती। पूतना के विष पी लेना उनके लिए कोई कठिन बात नहीं है। चतुर्भुजरूप में प्रकट होना भी उनके वात्सल्य का ही उदाहरण है। वे जो कुछ करते हैं, नहीं करते, सब खेल है, स्वाभाविक है। इसी दृष्टि से हम एक बार उनकी लीला का स्वाध्याय करें।

जो सर्वस्वरूप है, उसका एक रूप में और एक काल में प्रकट होना ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति और गोपन दोनों ही है। अपने ही अंशभूत ब्रह्मा को मोहित करना, बाणासुर के युद्ध में शिव को पराजित करने के लिए अस्त्र-प्रयोग करना और अपने सौन्दर्य से महाविष्णु को भी आकर्षित करके उनके द्वारा अपने को बुलवाने का उद्योग कराना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि वे ऐश्वर्य में इनसे बढ़े हुए हैं। फिर भी इस लीला से तो उनकी मधुरता ही प्रकट होती है। अनेक बछड़ों, ग्वालबालों और अन्त में आवरणसहित अनेक ब्रह्माण्डों की सृष्टि कर देना, उनके रूप में परिणत हो जाना इस बात की स्पष्ट सूचना है कि ब्रह्मा की सृष्टि-शक्ति उनका ही एक अंश है। वरुण के द्वारा पूजा, इन्द्र द्वारा अभिषेक और रासलीला के प्रसङ्ग में चराचरविजयी कामदेव का पराजय भी ऐश्वर्य के साथ ही उसका गोपन भी लिये हुए है। उनकी लीला में यह कैसी विचित्रता है कि जो गोपियाँ कुछ ही क्षण पहले कह रही थीं कि 'आपके चरणों की धूलि लक्ष्मी के लिए भी वाञ्छनीय है, वही उनकी मधुरता से सराबोर होकर कहने लगीं कि 'यहाँ उस कामी ने अपनी प्रेयसी को कन्धे पर ढोया होगा!' जो प्रलय के समय रुद्रशक्ति के रूप में सारे जगत् को भस्म कर डालते हैं, वही प्रभु यदि कंस के धोबी को अपने हाथ से मारते हैं तो यह बात समझ में नहीं आती कि इस लीला के द्वारा ऐश्वर्य का प्रकाशन कर रहे हैं अथवा गोपन। अपनी दृष्टि में तो अवश्य ही यह मधुर-से-मधुर ऐश्वर्य-गोपन-लीला है। विष्णुशक्ति की प्रधानता व्यक्त करने के लिए तो इतनी अधिक लीलाएँ हुई हैं, जिनकी गणना भी कठिन है। परन्तु इस रूप में अपने को व्यक्त करना भी छोटे रूप का ही अभिनय है। सम्राट् यदि मन्त्री, सेनापति अथवा सिपाही का अभिनय करता है तो यह उसकी मौज के अतिरिक्त और क्या है? क्या इन्द्र की वर्षा से ब्रज को बचाने के लिए सात दिन तक गोवर्धन को उठाये रखने की आवश्यकता थी? इस प्रकार प्रत्येक लीला में अन्तरङ्गभाव से प्रवेश करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऐश्वर्य और उसके अभाव के एकमात्र अधिष्ठान हैं भगवान् श्रीकृष्ण; उनके लिए सब समान है; चाहे जो कुछ करें या न करें। यह बात युधिष्ठिर के वचनों से और भी स्पष्ट हो जाती है—**न ह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः। कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः॥** (१०.७४.४)—'जैसे उदय अथवा अस्त के कारण सूर्य के तेज में घटती या बढ़ती नहीं होती, वैसे ही किसी भी प्रकार के कर्मों से न तो आपका उल्लास होता है और न ह्रास ही; क्योंकि आप सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद से रहित स्वयं परब्रह्म परमात्मा हैं।'

इसका अर्थ यह नहीं कि ऐश्वर्य और अनैश्वर्य दोनों के अधिष्ठान भगवान् श्रीकृष्ण का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में धर्म के अनुष्ठान और उसके अभाव भी भगवान् श्रीकृष्ण में ही हैं। उनकी लीला में स्थान-स्थान पर धर्म की अभिव्यक्ति हुई है। उनकी दिनचर्या ही देखिये, जागने से लेकर सोने तक धर्म के काम में ही लगे हुए हैं। वे यज्ञ करते थे, दान करते थे, कुब्जा-जैसी स्त्रियों का भी दयावश उद्धार करते थे, लोगों को कैद से; अत्याचार से छुड़ाते थे और धर्मघातियों का संहार करते थे। उनकी यह लीला आज भी चल रही है—एक शब्द में वे समग्र धर्म के कर्ता, वक्ता और अनुष्ठाता थे। परन्तु यह सब क्या है? इसके लिए वे किसी मर्यादा में बद्ध हैं अथवा स्वाभाविक लीला के अनुसार ही यह कुछ होता है? मनुष्य तो यही चाहेगा कि वे भी हमारी तरह मर्यादा में बँधे रहें और हमारी बुद्धि के अनुसार चलें। विचारहीन मनुष्य जीवधर्म और भगवद्धर्म का भेद नहीं कर सकता। भगवान् की तो बात ही अलग रही; मनुष्य तो अपने से उन्नत स्तर के मनुष्यों का ही धर्म नहीं समझ सकता। देवधर्म, पितृधर्म, अथवा गन्धर्वधर्म आदि को ही समझनेवाले

कितने लोग हैं ? ऐसा होने पर भी भगवान् की लीला में जो धर्म का सहज प्रकाश होता है वह माधुर्य का गोपन करने के लिए, ऐश्वर्य को छिपाकर उनकी साधारणता प्रकट करने के लिए ही ।

उनके धर्म-पालन पर दृष्टि डालकर कोई कृतार्थ हो जाय—इनकी तो बात ही क्या, जो उनका नाम लेते हैं वे भी धार्मिकों के सिरमौर हो जाते हैं । भगवान् की लीला से जिस यश का स्वाभाविक विस्तार होता है उसको गाकर, सुनकर, स्मरण कर अब तक कितने लोग कृतार्थ हो गये और आगे कृतार्थ होंगे—इसकी गणना नहीं की जा सकती । वेद-शास्त्र, ऋषि मुनि गाते-गाते थक गये । ग्वालिनों ने इतना गाया कि 'उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः ।' उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण पर कलङ्क भी लगा कि उन्होंने स्यमन्तक मणि छीन ली । उनके कुछ अन्तरङ्ग लोग भी अनमने-से हो गये । आज भी भगवान् श्रीकृष्ण को लीला में कलङ्क का आरोप करनेवालों की कमी नहीं है । उन्होंने यश की भाँति अपयश को भी स्वीकार किया । वे यश और अपयश दोनों के ही आश्रय हैं, अधिष्ठान हैं । दोनों से अछूते हैं और दोनों उनके स्वरूप हैं । इसीसे वे भगवत्ताविशिष्ट और भगवत्ता से परे भगवान् हैं ।

भगवान् की सौन्दर्य-लीला और लक्ष्मी-लीला भी ध्यान देने योग्य है । सुन्दर तो इतने कि 'भूषणभूषणाङ्गम्'—उनके शरीर की ज्योति से आभूषण भी चमक उठते । 'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः' वे अपने शरीरसौन्दर्य से स्वयं विस्मित, चकित हो जाते । जिसने एक बार प्रेम से उनकी ओर देखा, उसी पर निछावर हो गये । धूलि-धूसरित भी और चतुर्भुज भी, सबके अन्तर्यामी भी और सबके नेत्रों के विषय भी । परन्तु इस सौन्दर्य की भीषणता भी प्रकट हो जाती है । मथुरा की रङ्गभूमि में स्त्रियों ने जिसे कामदेव के रूप में देखा, कंस ने उसको मृत्यु के रूप में । यशोदा जिसको गोद में लेकर चूम रही थीं, उसीके विराट् रूप को देखकर थर-थर काँपने लगीं । अर्जुन जिसे देखने के लिए लालायित था, उसीको देखकर काँपने लगा । वे मृत्यु और अमृत दोनों हैं । काल और कालातीत वस्तु का यही स्वरूप है । लक्ष्मी को लीजिये, वे भगवान् श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर सुनहली रेखा के रूप में सदा विराजमान रहती हैं । जिस दिन से भगवान् व्रज में आये, उसी दिन से वह लक्ष्मी की लीला-भूमि हो गयी । वे सर्वात्मना भगवान् की चरण-रज और वृन्दावनधाम की उपासना करती हैं परन्तु जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण सुदामा का चिउड़ा खाने लगते हैं, वे काँप उठती हैं । भगवान् की एक ठिठोली से लक्ष्मी (रुक्मिणी) की जो दुर्दशा हुई थी, वह दशम स्कन्ध में पाठ करने योग्य है । श्रीकृष्ण के लिए लक्ष्मी उनकी प्राणप्रिया हैं, और कुछ भी नहीं । वे लक्ष्मी के प्राणेश्वर और उनके स्पर्श से भी दूर हैं । सौन्दर्य और सौन्दर्य का अभाव, लक्ष्मी और लक्ष्मी का अभाव, दोनों ही श्रीकृष्ण में एकरस हैं; वे दोनों के ही अधिष्ठान हैं ।

ज्ञान की चर्चा व्यर्थ है, श्रीकृष्ण का ज्ञान अखण्ड है, अबाधित है । सनत्कुमार के जिस प्रश्न का उत्तर स्वयं ब्रह्मा भी न दे सके, उसका समाधान श्रीकृष्ण ने किया । पूरा ग्यारहवाँ स्कन्ध पढ़ जाइये, ज्ञान की एकरस धारा मिलेगी । ज्ञान तो उनका स्वरूप ही है । परन्तु अज्ञान कहाँ है ? यशोदा से पूछिये, उनका भोला बालक कितना अज्ञानी है । वह तलवार से अपना हाथ काट सकता है, जल में अपने को डुबो सकता है, कहीं आग का अङ्गार उठाकर अपने को जला सकता है । गोपियों से पूछिये, कोई ज्ञानी भी उसके घर इतना ऊधम मचा सकता है ? हद हो गयी—'मेहनादीनि वास्तौ' । कहीं ज्ञानी भी ऊखल से बाँधे जा सकते हैं ? यह तो बचपन की बातें हैं । अच्छा, जाने दीजिये । क्या श्रीकृष्ण यह नहीं समझते थे कि स्यमन्तक मणि शतधन्वा के पास नहीं, अक्रूर के पास है ? फिर उन्होंने उसका कपड़ा-लत्ता क्यों ढूँढ़ा ? क्या उन्हें इस बात का पता नहीं चला कि शाल्व जिस वसुदेव को मार रहा है वह एक जादू का खेल है ? फिर मूर्च्छित क्यों हो गये ? हाँ, तो यह लीला है । कहने में, समझने में आनेवाले सारे ज्ञान और अज्ञान श्रीकृष्ण में ही हैं । वे ही दोनों के अधिष्ठान हैं । उनकी लीला से दोनों ही व्यक्त होते हैं । उनमें दोनों ही अव्यक्त रहते हैं । वह एक लीला है और लीला है । वह कर्ता और कार्य के भेद से रहित है ।

तनिक वैराग्य की बात भी कह लें । श्रीकृष्ण रागी थे । कौन कहता है कि नहीं थे ? माखनचोरी, ऊखलबन्धन, चीरहरण, रासलीला, द्वारका के ऐश्वर्य का भोग—ये सब राग के ही तो लक्षण हैं । हाँ, ये लक्षण हैं जिनका कभी-कभी

व्यभिचार भी होता है। परन्तु वैराग्य ? यह तो सभी लीलाओं में है जो प्रेमवश यशोदा की साँटी सहता था, गोपियों के नचाने से नाचता था, उनके सामने हाथ जोड़ता था, मान-मनौती करता था, वही मथुरा जाकर एक बार लौटा तक नहीं, इसे हम राग कहें या विराग ? जिस राज्य का नाम सुनकर बड़े-बड़े योगी-यति अपनी तपस्या छोड़ बैठते हैं, वही राज्य कंस की मृत्यु के बाद श्रीकृष्ण के चरणों पर लोटता था। युधिष्ठिर ने अपना साम्राज्य क्या श्रीकृष्ण के चरणों पर निछावर नहीं किया था ? परन्तु उनकी ओर न ताककर उग्रसेन और धर्मराज के यहाँ सेवा का कार्य करना क्या अखण्ड वैराग्य का चिह्न नहीं है ? सोलह हजार पत्नियाँ उन पर कामदेव का बाण चलातीं और वे अविचल भाव से स्वरूप में स्थित रहते, क्या यह अखण्ड वैराग्य नहीं ? **'पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः।'** पुत्रों की बहुत बड़ी संख्या थी। श्रीकृष्ण सबको प्यार करते थे। परन्तु ऋषियों के शाप से उन्होंने किसी एक की भी रक्षा नहीं की। सोने की द्वारका पलक मारते जल में डूब गयी। सब कुछ कर सकते थे, कुछ नहीं किया। यह लीला वैराग्य-प्रदर्शन के लिए नहीं की गयी, अखण्ड वैराग्य की सहज लीला है यह। हाँ, तो श्रीकृष्ण में राग भी है, वैराग्य भी है। वे दोनों के ही अधिष्ठान तो हैं ही, अध्यास भी हैं। रज्जु में अध्यस्त सर्प प्रतीतिकाल में भी क्या रज्जु से पृथक् है ? वे भगवान् तो हैं ही, 'भगवान्' शब्द की और उसके अर्थ की सीमा के बाहर भी हैं और यह बात उनकी प्रत्येक लीला से प्रकट होती है।

श्रीमद्भागवत में भगवान् श्रीकृष्ण की यह सर्वशब्दार्थशून्य सर्वस्वरूपता स्थान-स्थान पर उनके मुख से तथा उनके अन्तरङ्ग भक्तों के मुख से प्रकट हुई है। एक-दो उद्धरण देखिये। उद्धवजी कहते हैं—

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं स एवं सर्वं परमार्थभूतः॥ (१०.३६.४३)

'जो कुछ देखा या सुना जाता है—वह चाहे भूत से सम्बन्ध रखता हो, वर्तमान से अथवा भविष्य से, स्थावर हो या जङ्गम, महान् हो अथवा अल्प—ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो भगवान् श्रीकृष्ण से पृथक् हो ! श्रीकृष्ण के अतिरिक्त ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे वस्तु कह सकें। वास्तव में सब वही है, परमार्थ सत्य हैं।' स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों से कहते हैं—

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः। भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः॥
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः। उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे॥ (१०.८२.४-४७)

'प्यारी गोपियो ! जैसे घट-पट आदि जितने भी भौतिक आकार हैं, उनमें पृथिवी, जल, वायु, अग्नि तथा आकाश ही ओत-प्रोत हो रहे हैं—वैसे ही जितने पदार्थ हैं—उनके पहले, पीछे, बीच में, बाहर और भीतर केवल मैं-ही-मैं हूँ; मेरे अतिरिक्त उनका अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार सभी प्राणियों के शरीर में ये ही पाँचों भूत कारणरूप से स्थित हैं और आत्मा भोक्ता के रूप से अथवा जीव के रूप से स्थित है; परन्तु मैं इन दोनों से परे अविनाशी सत्य हूँ। सच पूछो तो ये दोनों मेरे ही अन्दर प्रतीत हो रहे हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण ही उद्धव से कहते हैं—**मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः। अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥** (११ १३.२४)—'सनकादि ऋषियो ! तुम लोग तत्त्वदृष्टि से यों समझो कि मन से, वाणी से, दृष्टि से तथा दूसरी इन्द्रियों से भी जो कुछ प्रतीत होता है वह सब मैं-ही-मैं हूँ; मुझसे भिन्न और कोई वस्तु है ही नहीं।'

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप पर विचार करने से जान पड़ता है कि स्थूल-सूक्ष्म, साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण विशेष तो क्या, सभी पदों का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ श्रीकृष्णस्वरूप ही है। उनके दर्शन-ध्यान के लिए मन को चाहे दूसरे लोक में ले जायँ, चाहे इस लोक में रखें--सर्वदा सर्वथा उनका दर्शन-ध्यान सम्भव है, क्योंकि सर्वत्र-सर्वदा और सर्वथा वही हैं। श्रीमद्भागवत इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की पूर्णता का प्रतिपादन करता है और उन्हींमें समा जाता है। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण हैं, श्रीमद्भागवत श्रीकृष्ण में है और वास्तव में श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्ण एक अनिर्वचनीय वस्तु तथा सर्वथा अभिन्न हैं। श्रीमद्भागवत को जानना श्रीकृष्ण को जानना है और श्रीकृष्ण को जानना श्रीमद्भागवत और श्रीकृष्ण के सम्बन्ध का नहीं, स्वरूप का ज्ञान ही अपेक्षित है और यह भी एक लीला है।

—स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

जैन-परम्परा में श्रीकृष्ण

भारतीय जनमानस में कृष्णचरित लोकोत्तर और लौकिक तत्त्वों का सांस्कृतिक संवाहक रहा है जिसके स्वरूप-निर्माण में महाभारत, हरिवंशपुराण और श्रीमद्भागवतपुराण का विशिष्ट योग रहा है। कृष्ण का उदात्त चरित्र वासुदेव, विष्णु, नारायण आदि तत्त्वों से अनुप्राणित होता हुआ महाभारत के राजनीति-विशारद, दिव्यपुरुष और गीता के योगेश्वर के रूप में विकसित हुआ। उत्तरोत्तर वह पुराण-वाङ्मय में अवतारवाद का प्रेरक बनता गया। पांचरात्रमत की ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या की अवधारणाओं से संपुष्ट होकर कृष्ण का व्यक्तित्व सांख्य के प्रकृति-तत्त्व और आगमों की युगल कल्पना का आलम्बन बन लीलावाद की पौराणिक कल्पना का उर्वर स्रोत बना। भारतीय जनमानस में कृष्ण का पुराण-पल्लवित लीलात्मक रूप इतना सशक्त संचारक सिद्ध हुआ कि कृष्ण के लोकरक्षक, राजनीतिक, योगी, धर्मात्मा आदि रूप गौण पड़ गये। सभी वैष्णव-सम्प्रदायों की दार्शनिक विचारधाराओं में कृष्ण के पुराणपल्लवित लीलात्मक गोपाल एवं रसिकेश्वर रूप को ही प्रमुखता मिली। आलवारों के भावपूर्ण गीतों से लेकर आधुनिक भारतीय भाषाओं के श्रृङ्गारी तथा साहित्य तक में रसिकेश्वर कृष्ण के व्यक्तित्व के ललित रूप का ही मुख्यरूपेण अभिव्यंजन हुआ है।

परन्तु जैन-परम्परा में कृष्ण का जो चरित विकसित हुआ, वह अवतारवाद की रसमयी कल्पना से सर्वथा भिन्न है। अवतार की अवधारणा जैन-परम्परा में मान्य नहीं है, अतः जैन-साहित्य में कृष्ण भगवद्रूप नहीं हैं। जैन-मत में शलाकापुरुषों की अवधारणा के अनुरूप कृष्ण एक शलाकापुरुष हैं। जैन-परम्परा के अनुसार एक काल-खण्ड में श्रेष्ठ शलाकापुरुष जन्म लेते हैं जिनमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र तथा प्रतिवासुदेव सम्मिलित हैं। श्रेष्ठ शलाका-पुरुषों की सूची में अनेक पौराणिक महापुरुषों के नाम मिलते हैं जिनमें ख्यात और अख्यात दोनों ही प्रकार के नाम हैं। जैन-परम्परा के चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त जो विशिष्ट नाम चक्रवर्ती शलाकापुरुषों की सूची में मिलते हैं उनमें भरत, राम, लक्ष्मण, रावण, कृष्ण, बलराम और जरासंध उल्लेखनीय हैं। वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलभद्र कोटि के शलाका-पुरुषों की संख्या नौ-नौ हैं। इनमें वासुदेव और प्रतिवासुदेव परस्पर प्रतिद्वन्द्वी हैं। बलभद्र वासुदेव का अग्रज होता है। जैन-परम्परा में मान्य श्रेष्ठ शलाकापुरुषों में कृष्ण नवम वासुदेव के रूप में मान्य हैं तथा जरासंध, जो उनका प्रतिद्वन्द्वी है, नवम प्रति वासुदेव है और बलराम नवम बलभद्र हैं।

जैन-परम्परा के अनुसार वासुदेव अर्द्ध-चक्रवर्ती राजा होता है। जैन-ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ति' के अनुसार भारत-भूमि में छः खण्ड हैं। विन्ध्याचल मध्य में है, तीन खण्ड उसके ऊपर उत्तर भारत में हैं और तीन खण्ड दक्षिण भारत में हैं। इन छहों खण्डों पर प्रभुत्व रखनेवाला चक्रवर्ती शलाकापुरुष, तीन खण्डों पर प्रभुत्व रखनेवाला अर्द्ध चक्रवर्ती अथवा वासुदेव शलाकापुरुष माना जाता है। प्रतिवासुदेव प्रभुत्व और प्रभाव में वासुदेव का प्रतिद्वन्द्वी होते हुए भी उससे पराभूत होता है। जैन-मत की इस धारणा के अनुसार कृष्ण शलाकापुरुष वासुदेव हैं। वासुदेव रूप में वे अर्द्ध भरत क्षेत्र के स्वामी, अर्द्ध चक्रवर्ती और 'त्रिखण्डाधिपति' हैं। वे द्वारका सहित सम्पूर्ण दक्षिण भारत क्षेत्र के अधिपति हैं। प्राकृत जैन-ग्रन्थ 'निरयावलिका' के द्वारा इस मत की संपुष्टि होती है। उसके अनुसार द्वारावती नगरी में कृष्ण नाम के वासुदेव राजा थे। वे उस नगरी का शासन करते हुए विचरते थे। अनेक अधीनस्थ राजाओं, ऐश्वर्यवान् नागरिकों सहित वैताढ़गिरि से सागरपर्यन्त दक्षिण भारत क्षेत्र उनके प्रभाव में था। इस प्रकार कृष्ण एक महान् शक्तिशाली राजपुरुष थे।

जैन-मान्यता के अनुरूप वासुदेव कृष्ण का प्रतिद्वन्द्वी प्रतिवासुदेव जरासंध था। जिनसेन कृत हरिवंशपुराण के

अनुसार कृष्ण और जरासंध में संघर्ष होता था जिसमें कृष्ण ने जरासंध का संहार किया तथा वे वासुदेव राजा के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

कृष्ण की वासुदेव रूप में मान्यता का समर्थन वैष्णव, पुराणों-हरिवंश और भागवत, में वर्णित कृष्ण-पौण्ड्रक प्रसंग से भी होता है। इस प्रसंग के अनुसार एक बार बलराम द्वारका से ब्रज आये। उसी समय करुण देश के राजा पौण्ड्रक ने कृष्ण के पास अपना दूत भेजा। दूत ने द्वारका आकर कृष्ण से पौण्ड्रक का यह संदेश कहा, 'हे कृष्ण! तुमने झूठ ही अपना नाम वासुदेव रख लिया है। अब तुम अपना वासुदेव नाम त्याग दो, क्योंकि वासुदेव मैं हूँ। तुम इस तथ्य को स्वीकार करो या मुझसे युद्ध करो।' कृष्ण ने पौण्ड्रक की इस चुनौती को स्वीकार कर युद्ध का आह्वाहन किया। जब पौण्ड्रक को कृष्ण का संदेश मिला तो वह काशी में था। कृष्ण ने यह जानकर काशी पर आक्रमण कर दिया। पौण्ड्रक भी कृष्ण के समान शङ्ख, चक्र, गदा और धनुष धारणकर अपने मित्र राजाओं सहित युद्धभूमि में उतर आया। पौण्ड्रक ने कृष्ण के समान गरुड़ध्वज की व्यवस्था की। युद्ध में कृष्ण के हाथों पौण्ड्रक का संहार हुआ और इस प्रकार कृष्ण वासुदेव के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

कृष्ण और जरासंध का युद्ध भी कृष्ण की वासुदेव रूप में मान्यता का व्यंजक प्रसङ्ग है। जरासंध भी कृष्ण को अपनी अधीनता स्वीकार करने का संदेश भेजता है जिसे अस्वीकार कर कृष्ण यादवों की सेना लेकर जरासंध से युद्ध करते हैं। युद्ध में जरासंध को मारकर कृष्ण विजयी होते हैं। विजयी होने पर कृष्ण 'वासुदेव' के रूप में देवताओं के द्वारा अभिनंदित होते हैं।

जैन-परम्परा में प्राप्त कृष्ण-जरासंध के प्रसङ्गों का भागवत में वर्णित इन प्रसंगों से पर्याप्त साम्य है। दोनों से कृष्ण की 'वासुदेव' रूप में प्रतिष्ठा का तथ्य प्रकाशित होता है। जैन और वैष्णव पुराणों में प्राप्त इन प्रसङ्गों से यह ज्ञात होता है कि सम्भवतः 'वासुदेव' तत्कालीन राजाओं में सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक प्रभुत्व सम्पन्न राजा होता था। वस्तुतः, 'वासुदेव' 'चक्रवर्ती' तथा 'विक्रमादित्य' के समान एक उपाधि थी। इस प्रकार कृष्ण का वासुदेव रूप वैष्णव परम्परा में अवतारवाद की भावना से परिपुष्ट होकर विकसित हुआ जबकि जैन-परम्परा में उसे 'शलाकापुरुष' के रूप में मान्यता मिली। पर दोनों ही परम्पराओं में कृष्ण के अजेय पौरुष और लोक-मङ्गलकारी व्यक्तित्व का विधान हुआ है।

जैन-परम्परा में वासुदेव के व्यक्तित्व की अनेक विशिष्टताओं का उल्लेख मिलता है। जैनागम ग्रन्थ 'समवायांगसूत्र' में शलाकापुरुष' वासुदेव के व्यक्तित्व की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है, वे इस प्रकार हैं।

ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी, कांतिमय, कायावान, प्रियदर्शी, स्वरूपवान, सुशील, सर्वप्रिय, बलवान, गंभीर, अपराजेय, शत्रुमर्दक, दयालु, अमत्सर, अक्रोधी, अचपल, अल्पभाषी, प्रियभाषी, मधुरभाषी, सत्यभाषी शरणागतवत्सल, सु लक्षण, व्यंजन और गुणों से युक्त, मान-उपमान एवं प्रमाण से पूर्ण, सर्वांगसुन्दर, चन्द्रमा के समान प्रभापूर्ण, महान् धनुर्धारी, विशिष्ट बलधारक, दुर्धर धनुर्धारी, धीर-पुरुष, युद्ध-कीर्त्तिवान, उच्चकुलोत्पन्न, भयंकरयुद्ध विघटनकारी, अर्धभरत-क्षेत्र-स्वामी, सौम्य राजवंश-तिलक, अजित और अजितरथी, दीप्ति-तेजवान; प्रवीर-पुरुष, नरसिंह, नरपति, नरेन्द्र, नरवृषभ, इन्द्रवत् राज्यलक्ष्मी-तेजोद्दीप्त आदि-आदि (समवायांग सूत्र २०७)।

इन गुणों से युक्त कृष्ण के श्रेष्ठ राजपुरुष के व्यक्तित्व का पूर्ण समर्थन होता है और इसीलिए वे 'शलाकापुरुष' हैं, वासुदेव हैं। वे आधे भरत-क्षेत्र के मान्य अधिपति हैं। जैन-परम्परा में कृष्ण चरित का दर्शन उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न है। कहना न होगा कि जैन-परम्परा में प्राप्त कृष्ण का 'शलाकापुरुष वासुदेव' रूप महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में निरूपित कृष्ण के ऐश्वर्य पूर्ण स्वरूप का पल्लवन प्रतीत होता है। जैन-परम्परा में कृष्णचरित उदात्त लौकिक धरातल पर विकसित हुआ है।

जैन-परम्परा में कृष्ण वासुदेव को बाईसवें जैन तीर्थंकर अर्हंत अरिष्टनेमि का समकालीन और चचेरा भाई कहा गया है। जैन आगमों में ऐसे अनेक प्रसङ्ग आये हैं जिनके अनुसार अर्हंत अरिष्टनेमि द्वारका जाते थे और कृष्ण अपने पूरे परिवार तथा अनुगत के साथ उनके उपदेशों को सुनते थे।

जैन-परम्परा में अरिष्टनेमि और कृष्ण के सम्बन्धों के अन्य अनेक प्रसङ्ग भी प्राप्त होते हैं। इनकी ऐसी मान्यता है कि कृष्ण आयु में अरिष्टनेमि से बड़े थे। भोजवंश की राजकुमारी राजीमती से अरिष्टनेमि का विवाह कृष्ण के ही माध्यम से निश्चित हुआ था। विवाह के अवसर पर घटित एक घटना ने अरिष्टनेमि की जीवन-धारा ही बदल दी। पूर्ण राजसी साज-सज्जा के साथ जब अरिष्टनेमि विवाह मङ्गल हेतु बारात के साथ जा रहे थे तो मार्ग में उन्होंने एक बाड़े में बारातियों के भोज के लिये एकत्रित अनेकपशु-पक्षियों को देखा। इन पशु-पक्षियों की हिंसा की कल्पना ने उनके मन में विरक्ति भाव उद्वेलित कर दिया। अतः वे वस्त्राभूषणों का त्यागकर वहाँ से लौटने को उद्यत हो गए। सभी लोगों के समझाने पर भी अरिष्टनेमि न माने और गृह-त्याग कर उन्होंने वैराग्य धारणकर लिया। गिरिनार की पहाड़ियों में उन्होंने साधना द्वारा कैवल्य प्राप्त किया। स्वानुभूत ज्ञान के प्रचार और लोक-मङ्गल की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने अनेक यात्राएँ कीं तथा जन-मात्र को उपदेश दिये। अरिष्टनेमि की शिक्षाओं के प्रति उनके कुल के लोग और प्रजा आकृष्ट हुई। वे अरिष्टनेमि की धर्मसभाओं में सम्मिलित होने लगे। अरिष्टनेमि के साथ कृष्ण के धार्मिक समागमों और संवादों के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। इस प्रकार कृष्ण और अरिष्टनेमि के सम्बन्धों का निरूपण जैन-परम्परा की निजी विशेषता है क्योंकि महाभारत और वैष्णवपुराण साहित्य इस विषय में सर्वथा मौन हैं। यह भी एक रोचक एवं आश्चर्य-जनक तथ्य है कि कृष्ण का जो व्यक्तित्व जैन-परम्परा में मान्य रहा उससे वैष्णव परम्परा के कृष्ण-चरित का अनेक विन्दुओं पर तथ्यात्मक साम्य होते हुए भी भावात्मक भेद लक्षित होता है।

जैन-परम्परा में कृष्ण के व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा का जो निरूपण हुआ है, उसका छान्दोग्य उपनिषद् में घोर आंगिरस के उपदेशों से साम्य दिखाई पड़ता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार घोर-आंगिरस देवकी-पुत्र कृष्ण के आध्यात्मिक गुरु थे। उक्त ग्रंथ उपनिषद् में घोर आंगिरस के द्वारा देवकीपुत्र कृष्ण के प्रति आत्म यज्ञोपासना के अन्तर्गत तप, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन को यज्ञ की दक्षिणा के रूप में उपदिष्ट किया गया है। इस उपदेश को सुनकर कृष्ण की समस्त विद्याओं के प्रति जिज्ञासा शान्त हो गई। घोर आंगिरस ने कृष्ण को तीन अंगों के जाप का उपदेश दिया—"तू अक्षत है, तू अच्युत है और तू अतिसूक्ष्म प्राण है।" घोर आंगिरस की कृष्ण को उपदिष्ट तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन की प्रतिपादक आत्मवादी विचारधारा हिंसा और कर्मकाण्ड प्रधान विचारधारा के प्रतिकूल लक्षित होती है। यह भी उल्लेखनीय है कि जैन-परम्परा का छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त घोर-आंगिरस की विचारधारा से पर्याप्त साम्य है। अरिष्टनेमि की शिक्षाओं में घोर-आंगिरस के उपदेशों का विकास-सा दिखाई पड़ता है। अतः जैन—परम्परा में मान्य यह विचार पर्याप्त अंशों में सार्थक प्रतीत होता है कि कृष्ण अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अपने ही कुल के महातपस्वी अरिष्टनेमि की अहिंसा एवं आत्मवादी विचारधारा से प्रभावित हुए थे।

सारांशतः जैन—परम्परा से कृष्ण की लोक-यात्रा से सम्बन्धित दो पक्ष उजागर होते हैं। पहला पक्ष यह है कि कृष्ण द्वारका सहित आधे भरत क्षेत्र पर प्रमुत्व रखने वाले शक्तिशाली वासुदेव तथा अद्भुत शौर्य एवं पराक्रम सम्पन्न विशिष्ट व्यक्तित्व वाले शलाकापुरुष थे। दूसरा यह कि वे अरिष्टनेमि की आध्यात्मिक विचारधारा से प्रभावित प्रमुख राजपुरुष थे तथा दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध था।

कृष्णचरितपरक जैन साहित्य

जैन—परम्परा में कृष्णचरित का वर्णन करने वाले साहित्य के दो वर्ग हैं :—

(क) आगम साहित्य
(ख) आगमेतर साहित्य

(क) आगम साहित्य

प्राकृत भाषा में निबद्ध आगम साहित्य के अन्तर्गत सिद्धान्तकथन प्रक्रिया में कृष्णचरित का वर्णन हुआ है। जैन-धारणा के अनुरूप आगमिक कृतियों में कृष्णचरित शलाकापुरुष वासुदेव के व्यक्तित्व की गरिमा और औदात्य से अनुप्राणित है। इसमें कृष्ण के जीवन-प्रसंगों का भिन्न-भिन्न संदर्भों में वर्णन हुआ है। कृष्णचरित सम्बन्धी आगमिक कृतियों में स्थानांग सूत्र, समवायांग सूत्र, ज्ञातधर्मकथा, अन्तकृद्दशा, प्रश्नव्याकरण, निरयावलिका और उत्तराध्ययन प्रमुख हैं। उल्लेखनीय है कि ये कृतियाँ जैनों के श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही मान्य हैं।

स्थानांगसूत्र के आठवें अध्याय में श्रीकृष्णचरित वर्णित हुआ है। इससे कृष्ण की आठ पटरानियों अथवा अग्रमहिषियों के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। इनके नाम क्रमशः पद्मावती, गौरी, लक्ष्मणा, सुसीला, जाम्बवती, सत्यभामा, गांधारी और रुक्मिणी बताए गए हैं।

समवायांगसूत्र जैनियों का चतुर्थ अंग-ग्रन्थ माना जाता है। जैनसिद्धान्त प्रतिपादक इस ग्रंथ में शलाकापुरुषों का नामोल्लेख करते हुए उनकी विशेषताओं का वर्णन हुआ है। इस ग्रंथ के सूत्र २०७ में बलदेव और वासुदेव का वर्णन है। समवायांगसूत्र में कृष्ण का व्यक्तित्व वासुदेव के लक्षणों से युक्त है।

ज्ञातधर्मकथा जैन–परम्परा में छठे अंग-ग्रन्थ के रूप में मान्य हैं। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलहवें अध्याय में द्रौपदी-चरित का वर्णन हुआ है। इसमें कृष्ण वासुदेव एक श्रेष्ठ राजपुरुष के रूप में वर्णित हुए हैं और उनके व्यक्तित्व में अर्द्धचक्रवर्ती राजा वासुदेव के गुणों का निरूपण हुआ है। 'ज्ञातधर्मकथा' के उन्तीसवें सूत्र में पाण्डवों के द्वारा कृष्ण के स्वामित्व की स्वीकृति का उल्लेख है और पाण्डव उन्हें 'स्वामी' कहकर सम्बोधित करते हैं। इसके दूसरे श्रुतस्कंध में पाँचवें अध्ययन के अन्तर्गत धावच्चापुत्र की प्रव्रज्या का प्रसंग वर्णित है। ज्ञातधर्मकथा से कृष्ण और अरिष्टनेमि के सम्बन्धों के विषय में भीजानकारी मिलती है।

अन्तकृद्दशा जैनियों का आठवाँ अंग–ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में मोक्ष प्राप्त करनेवाले उदात्त जैन तपस्वियों के चरित वर्णित हैं। अन्तकृद्दशा आठ वर्गों तथा नब्बे अध्ययनों में विभाजित है। इस के प्रथम पाँच वर्गों में कृष्ण वासुदेव और उनकी रानियों, पुत्रों आदि का वर्णन हुआ है। कृष्ण के व्यक्तित्व और वैभव के वर्णन क्रम में उनकी राजधानी, द्वारावती, उनके यशस्वी राजसी व्यक्तित्व, उनकी रानियों, पुत्रों, प्रपौत्रों, पुत्रवधुओं आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त द्वारावती में कृष्ण की सेना, सेनापतियों, श्रीसम्पन्न नागरिकों, योद्धाओं आदि का भी विवरण मिलता है। अरिष्टनेमि और कृष्ण के सम्बन्धों के वर्णन क्रम में अरिष्टनेमि द्वारा द्वारका के विनाश की भविष्यवाणी, कृष्ण के देहावसान की घटना, भावी जन्म आदि का उल्लेख किया गया है। अन्तकृद्दशा के प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन में द्वारावती के राजा अन्धकवृष्णि तथा रानी धारिणी के पुत्र गौतमकुमार का चरित वर्णित है। ग्रन्थ के तृतीय वर्ग के आठवें अध्ययन में गजसुकुमाल की कथा दी गई है।

प्रश्नव्याकरण जैनियों का दशम मंत्र-ग्रंथ है। इसकी विषयवस्तु दो द्वारों, आस्रव और संवर में विभाजित है। प्रत्येक द्वार में पाँच अध्ययन हैं। 'आस्रव' के रूपकात्मक स्वरूप में आत्मारूपी सरोवर में जलस्वरूप कर्मों का आगमन होता है। प्राणी की कुत्सित वृत्तियाँ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अपरिग्रह–आस्रव के पाँच द्वार हैं। संवर में आस्रव के विपरीत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह धर्म द्वारों से आत्मारूपी सरोवर में कर्मजल के आगमन को रोका जाता है।

प्रश्नव्याकरण में आस्रव–द्वार के चतुर्थ अध्ययन में कृष्णचरित का वर्णन हुआ है। इसके छठें सूत्र में कृष्ण का अर्द्धचक्रवर्ती राजसी रूप, उनकी रानियों, पुत्रों और अन्य परिजनों का वर्णन है। सातवें सूत्र में कृष्ण के असुर-संहारक रूप का निरूपण हुआ है जिसमें उन्हें चाणूर मल्ल, रिष्ट बैल और विषैले कालिय नाग का हन्ता कहा गया है। इसके अतिरिक्त कृष्ण के पौरुष का निरूपण करते हुए उन्हें यमलार्जुन को मारने वाला, महाशकुनि और पूतना का शत्रु, कंस-मर्दक, राजगृह का अधिपति और वीर राजा जरासंध को नष्ट करने वाला बताया गया है। इस सूत्र में कृष्ण के उदात्त गुणों का निरूपण हुआ है। आठवें सूत्र में कृष्ण के शस्त्रास्त्रों और उनके श्रेष्ठ लक्षणों का वर्णन है।

निरयावलिका पांच वर्गों, तदन्तर पाँच उपांगों में विभाजित जैन आगमिक कृति है। "निरयावलिका अन्तकृद्दशांग का, कल्पावतंसिका अनुत्तरोपदातिक का, पुष्पिता प्रश्न व्याकरण का, पुष्पचूलिका विपालसूत्र का एवं वृष्णिदशा पृष्टि वाछांग का उपांग है।" निरयावलिका के पाँचवें वर्ग वृष्णिदशा के प्रथम अध्ययन में निषधकुमार का चरित वर्णित हुआ है जो कृष्ण के बड़े भाई राजा बलदेव और रानी रेवती के पुत्र थे। निषधकुमार ने भी अर्हंत अरिष्टनेमि से दीक्षा ली थी। निरयावलिका में द्वारावती नगरी और उसके कृष्ण वासुदेव के महात्म्य का भी वर्णन हुआ है। इसमें अर्हंत अरिष्टनेमि और कृष्ण के परस्पर सम्वन्धों की व्यंजक घटनाओं के अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं।

उत्तराध्ययन, जैन–परम्परा में मूल सूत्रों के रूप में मान्य है। कुल ३६ अध्ययनों में विभाजित इस कृति के बाईसवें अध्ययन में नेमिनाथचरित वर्णित है। इस अध्ययन की गाथा १,२,३,६,८,१०,११,२५ और २७ में कृष्ण सम्वन्धी उल्लेख मिलते हैं। उत्तराध्ययन में कृष्ण के व्यक्तित्व और कृष्णकथा के जिन प्रसंगों का वर्णन मिलता है, वे इस प्रकार हैं—कृष्ण के माता-पिता और जन्मस्थान, कृष्ण की वासुदेव रूप में स्वीकृति, नेमिनाथके लिए राजीयती की याचना, कृष्ण द्वारा नेमिकुमार का विवाहोत्सव आयोजन तथा नेमिकुमार के प्रव्रजित होने पर कृष्ण का आशीर्वाद देकर तथा अर्हंत अरिष्टनेमि की वन्दना कर द्वारावती लौट आना।

जैन-आगमिक कृतियों में कृष्ण का व्यक्तित्व और कृष्णकथा के विविध प्रसंग सर्वथा निरपेक्ष नहीं कहे जा सकते। इनमें निरूपित कृष्ण–कथा के विविध प्रसंग, जैन-दर्शन और उसके उदात्त चरित्रों, विशेषकर अर्हंत अरिष्टनेमि के व्यक्तित्व के व्यंजक कथाप्रसंगों से सम्पृक्त हैं। अतः जैन आगम ग्रन्थों में कृष्णचरित का विशृंखलित रूप ही मिलता है। उनके आधार पर उसका क्रमिक विकास निरूपित कर पाना कठिन है।

(ख) आगमेतर साहित्य

आगमेतर कृष्णपरक जैन साहित्य आगम साहित्य का परवर्ती है। इसकी रचना संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा उसकी परवर्ती तमिल, तेलुगु, कन्नड़, गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि देश भाषाओं में हुई है। आगमेतर जैनग्रन्थों में कृष्ण को अत्यन्त शुभ्र, धवल, करुणाशील और धर्मनिष्ठ पराक्रमी पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। चूंकि आगमेतर जैन कृष्ण साहित्य का आधार आगम साहित्य ही है, अतः दोनों में वर्णित कृष्णकथा के विविध प्रसंगों में पर्याप्त साम्य लक्षित होता है। परन्तु आगमेतर जैन रचनाओं में कृष्णचरित को सुसम्बद्ध रूप में वर्णित करने की प्रवृत्ति पल्लवित हुई हैं।

आगमेतर जैन साहित्य में कृष्णचरित का वर्णन करने वाली कृतियाँ दो प्रकार की हैं। प्रथम वर्ग की कृतियाँ श्रेष्ठ शलाकापुरुषों के चरित्र–वर्णन से सम्वद्ध हैं जो 'चरित' और 'पुराण' संज्ञक है। यह उल्लेखनीय है कि कृष्णचरित का वर्णन करने वाली आगमेतर कृतियाँ अधिकतर दिगम्बर जैन कवियों के द्वारा रची गयीं हैं। हरिवंशपुराण नाम से मिलने वाली कृतियाँ इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। इन कृतियों में शलाकापुरुषों और महान् चरित्रों के वर्णन क्रम में कृष्णचरित का भी अंकन हुआ है। द्वितीय वर्ग की आगमेतर जैन रचनाओं में कृष्ण-त्ररित अर्हंत अरिष्टनेमि, गज

सुकुमाल, पाण्डव, प्रद्युम्न आदि से सम्बद्ध है। इनमें द्वारावती के शक्तिशाली ऐश्वर्यसम्पन्न एवं धर्मनिष्ठ अधिपति के रूप में कृष्ण का चरित्र उद्घाटित हुआ है। इस वर्ग की रचनाएँ सीमित कथानकों पर आधारित होने के कारण प्रथम वर्ग की कृतियों की तुलना में आकार में छोटी हैं। इस प्रकार उक्त वर्गों की आगमेतर जैन कृतियों में वर्णित कृष्णचरित पूर्ण अथवा आनुषंगिक दोनों ही रूपों में निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। 'हरिवंशपुराण' संज्ञक कृतियों तक में यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी की आगमेतर जैन कृतियों में कृष्णचरित का ग्रहण इसी रूप में हुआ है। यह उल्लेखनीय है कि आगमेतर जैन कृष्ण साहित्य में पाण्डव-कथा के वर्णन में रचनाकारों ने महाभारत और जैन स्रोतों से प्राप्त कथाओं का मिश्रण कर दिया है। इन रचनाओं में निर्माताओं का जैन संस्कार प्रखर है तथा कृष्ण का चरित्र जैन धर्म की वासुदेव की धारणा के अनुरूप है। इनमें कृष्ण-कथा के विविध प्रसंगों के माध्यम से जैन सिद्धांतानुकूल जीवन मूल्यों को प्रतिष्ठित करना रचनाकारों का उद्देश्य रहा है।

कृष्णचरित विषयक आगमेतर साहित्य की परम्परा अत्यन्त समृद्ध है। इस वर्ग की अनेक रचनाएँ जहाँ ज्ञात हैं, वहीं अप्राप्य रचनाएँ भी खोज-रिपोर्टों और जैन ग्रन्थों में बहुत बड़ी संख्या में संदर्भित हुई हैं। यहाँ कृष्णचरितपरक सभी आगमेतर रचनाकारों की सूचना दे पाना न तो सम्भव ही है और न प्रयोजनीय ही। नीचे प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी में रचित कृष्णचरित विषयक प्रमुख आगमेतर रचनाओं की रचनाकारों के नाम निर्देश सहित सूची प्रस्तुत की जा रही है।

यह सूची डॉ० महावीर कोटिया की पुस्तक "जैन साहित्य में कृष्ण" और श्री राजेन्द्रमुनि जैन के शोध-प्रबन्ध "जैन परम्परा में श्रीकृष्ण-साहित्य" के आधार पर तैयार की गई है।

प्राकृत रचनाएं

रचना	रचनाकार	रचनाकाल
वसुदेव हिण्डी	संघदास गणि	५वीं शती ई०
चउधन महापुरिस चरिय	आचार्य शिलांग	८६८ ई०
भव-भावना	आचार्य हेमेन्द्र सूरि	११२३ ई०
चउपन्न महापुरिस चरिय	आम्र कवि	११३३ ई०
उपदेशमाला प्रकरण	आचार्य मल्लधारी	अज्ञात
कुमार पाल पडिवोह	सोमप्रभ सूरि	११८४ ई०
कण्ह चरिय	देवेन्द्र सूरि	१३वीं शती ई०

संस्कृत रचनाएँ

रचना	रचनाकार	रचनाकाल
हरिवंश पुराण	जिनसेन	७८३ ई०
महापुराण (उत्तरपुराण)	जिनसेन व गुणभद्र	८५३ ई०
महापुराण	मल्लिषेण सूरि	९१२ ई०
प्रद्युम्न चरित	महासेन सूरि	९७४ ई०
अरिष्टनेमि चरित	रत्नप्रभ सूरि	११६६ ई०

नेमि निर्वाण काव्यम्	वागा भट्ट प्रथम	११७९ ई०
पाण्डव चरित	देवेन्द्रप्रभ सूरि	१२०० ई०
पाण्डव चरित	देवप्रभ सूरि	१२१३ ई०
त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरितं	हेमचन्द्र	१२२८ ई०
नरनारायणनन्द महाकाव्यम्	वस्तुपाल	१२३० ई०
नेमिनाथ चरित	उदयप्रभ सूरि	१२३८ ई०
नेमिदूत	विक्रम	१३वीं शती
हरिवंशपुराण	भट्टारक सकलकीर्ति	१४वीं शती
प्रद्युम्न चरित	सोमकीर्ति	१४७३ ई०
पाण्डव पुराण	रामचन्द्र	१५०३ ई०
नेमिनाथ पुराण	ब्रह्मनेमिदत्त	१५१८ ई०
पाण्डव पुराण	शुभचन्द्र	१५५१ ई०
प्रद्युम्न चरित	रवि सागर	१५८८ ई०
पाण्डव पुराण	भट्टारक वाद्रि चन्द्र	१५९७ ई०
पाण्डव पुराण	श्री भूषण	१६०० ई०
नेमिनाथ चरित	गुण विजय	१६११ ई०
अरिष्टनेमि चरित	विजय मणि	१६११ ई०
प्रद्युम्न चरित	रतनचन्द्र	१६१४ ई०
हरिवंश पुराण	कीर्ति भट्टारक	१६१४ ई०
हरिवंश पुराण	भट्टारक यशकीर्ति	१६१४ ई०
हरिवंश पुराण	भट्टारक श्रीभूषण	१६१४ ई०
हरिवंश पुराण	ब्रह्मनेमि दत्त	१६१७ ई०
नेमिनाथ रचित	कीर्ति राज	१६३८ ई०
प्रद्युम्न चरित	मल्लि भूषण	१७वीं शती ई०
सप्तसन्धान काव्यम्	मेघविजय उपाध्याय	१७०३ ई०
लघुत्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित	मेघविजय	१७५२ ई०
प्रद्युम्न चरित	रत्नचन्द्र गणि	१८७७ ई०

अपभ्रंश रचनाएँ

रिट्ठनेमि चरिउ	स्वयंभू	८वीं शती ई०
तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार	पुष्पदंत	९५९-९६५ ई०
हरिवंश पुराण	धवल	११वीं शती ई०
नेमिनाहु चरिउ	हरिभद्र	११६० ई०
णेमिणाहु चरिउ	दामोदर	१२३० ई०
पज्जुण चरिउ	कवि सिंह	१३वीं शती ई०
पाण्डव पुराण	यशकीर्त्ति	१४४०ई०

हरिवंश पुराण	श्रुति कीर्ति	१५वीं शती ई०
णेमिणाह चरिउ	लखनदेव	१५वीं शती ई०
णेमिणाह चरिउ	रइधू	१६वीं शती ई०

हिन्दी रचनाएँ

नेमिनाथ रास	सुमतिगण	१२६८ ई०
गजसुकुमालरास	कवि देल्हण (देवेन्द्र सूरि)	१३वीं शती ई०
प्रद्युम्न चरित	कवि सुधारु	१३५४ ई०
रंगसागर नेमि फागु	सोमसुन्दर सूरि	१४२६ ई०
संरंगामिथनेमि फागु	धनदेव गणि	१४४५ ई०
हरिवंश पुराण	ब्रह्मजिनदास	१४६३ ई०
नेमिनाथ फागु	जयशेखर सूरि	१५वीं शती ई०
बलभद्र चौपई	कवि यशोधर	१५२८ ई०
नेमिनाथ रास	मुनि पुण्य रतन	१५२९ ई०
नेमिश्वर रास	ब्रह्मराय मल	१५५८ ई०
प्रद्युम्न रासो	ब्रह्मराय मल	१५७३ ई०
नेमिश्वर की वेलि	कवि ठाकुरसी	१६वीं शती ई०
बलभद्रवेलि	कवि सालिग	१६१२ ई०
नेमिश्वरचंद्रायण	नरेन्द्र कीर्ति	१६३३ ई०
नेमिनाथ रास	कनक कीर्ति	१६३५ ई०
नेमिनाथ रास	मुनि केसर सागर	१६३५ ई० प्रतिलिपि
हरिवंश पुराण	शालिवाहन	१६३८ ई०
प्रद्युम्न प्रबंध	देवेन्द्र कीर्ति	१६६५ ई०
पाण्डव पुराण	बुलाकी दास	१६९७ ई०
नेमिश्वर रास	नेमिचंद	१७१२ ई०
हरिवंश पुराण	खुशाल चंद काला	१७३२ ई०
उत्तर पुराण	खुशाल चंद काला	१७३२ ई०
नेमिनाथ चरित	अजयराज पाटनी	१७३६ ई०
नेमिनाथ चरित	जयमल	१७५७ ई०
नेमिनाथ रास	रतनमुनि	१७६७ ई०
नेमिनाथ रास	विजयदेव सूरि	१७६९ ई०
नेमिचन्द्रिका	मनरंगलाल पल्लीवाल	१८२३ ई०
प्रद्युम्न चरित	मन्ना लाल	१८४४ ई०
कृष्ण की रिद्धि	बुद्धमल	१८४४ ई०

इनके अतिरिक्त कृष्णचरित विषयक अन्य रचनाएँ जैन-ग्रन्थागारों में सुरक्षित हैं, परन्तु प्रामाणिक सूचनाओं के अभाव में उनके सम्बन्ध में कुछ कह पाना कठिन है।

जैन कृष्णकथा : स्वरूप और प्रमुख प्रसंग

जैन-परम्परा में विकसित कृष्ण-कथा में लोककथाओं, जनश्रुतियों और अभिप्रायों का पर्याप्त योगदान रहा है। शलाकापुरुष श्रीकृष्ण के जीवन के विविध संदर्भ अनेक रूढ़ियों और अभिप्रायों से युक्त होकर जैन साहित्य में वर्णित हुये हैं।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि कृष्ण-कथा का जो स्वरूप तीर्थंकर महावीर के समय प्रचलित रहा होगा, उसका उन्होंने अपने ढंग से जैन मत के प्रचार में उपयोग किया होगा। इस प्रकार जैन आगमिक कृतियों में कृष्ण-कथा के जो प्रसङ्ग वर्णित हुए हैं, सम्भवतः ई० पू० छठी शताब्दी में उनका लगभग वही रूप प्रचलित रहा होगा। यह साहित्य आज जिस रूप में उपलब्ध है, उसका संकलन ४५३-४६६ ई० के मध्य आचार्य 'देवार्द्धिगणी' की अध्यक्षता में वल्लभी में आयोजित श्रमण सङ्घ द्वारा किया गया था। इस प्रकार महावीर स्वामी के लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् संकलित एवं सम्पादित कृतियों में प्राप्त कृष्ण-कथा का स्वरूप निश्चय ही परिवर्तित एवं परिवर्द्धित हुआ होगा। सामान्यतया जैन-आगम साहित्य में वर्णित कृष्ण चरित पाँचवीं शताब्दी का तो निर्विवाद रूप से माना जा सकता है।

जैन आगमिक कृतियों से कृष्ण के जीवन और व्यक्तित्व से सम्बन्धित जिन तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है उनके अनुसार कृष्ण का जन्म सोरियपुर में हुआ था। सोरियपुर में वसुदेव नाम के राजा थे। वसुदेव की दो भार्याएं रोहिणी और देवकी थीं। कृष्ण देवकी के पुत्र थे। वसुदेव सोरियपुर के महर्द्धिक राजा थे। वसुदेव दस भाइयों में सबसे छोटे थे। उनके ज्येष्ठतम भाई का नाम समुद्रविजय था। समुद्रविजय और वसुदेव सहित सभी भाई 'दस दशार्ह' नाम से प्रसिद्ध थे।

उत्तराध्ययन के अनुसार समुद्रविजय और वसुदेव पृथक्-पृथक् रूप से महर्द्धिक राजा कहे गये हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि दोनों के बीच के भाई भी सोरियपुर के राजा कहलाते थे।

उत्तराध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि कृष्ण का जन्मनाम केशव था। श्यामवर्णी होने के कारण स्नेहवश उन्हें 'कण्ह' कृष्ण कहा जाता रहा होगा और कालान्तर में उनका यही नाम प्रसिद्ध भी हुआ। ज्ञातधर्मकथा के अनुसार कृष्ण यादव क्षत्रिय थे।

जैन-आगमों में कृष्ण की पूर्ण वंश-परम्परा का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, पर जैन-परम्परा के अनुसार कृष्ण के पितामह का नाम 'अन्धकवृष्णि' था, उन्हीं के नाम पर उनका कुल 'अन्धकवृष्णि' या 'वृष्णि' कहा जाने लगा। इसीलिए उनके वंशजों को अनेक स्थलों पर 'अन्धकवृष्णि' या 'वृष्णि' कहा गया है। अर्हंत अरिष्टनेमि कृष्ण के चचेरे भाई थे। पाण्डवों की माता कुन्ती कृष्ण की बुआ थीं। कृष्ण के सात सहोदर और सात सौतेले भाइयों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। कृष्ण के सम्बन्धियों में प्रदीप और उम्मुय (उन्मुख) के नाम प्राप्त होते हैं; परन्तु कृष्ण के साथ उनके वास्तविक सम्बन्ध के सूत्र नहीं मिलते।

अंतकृछद्‌साओ और प्रश्नव्याकरण से ज्ञात होता है कि कृष्ण के सोलह हजार रानियाँ थीं। उनमें पद्मावती, गौरी, गन्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवन्ती, सत्यभामा, रूप्पिणी और धारिणी के नाम ज्ञात होते हैं। कृष्ण के दस पुत्रों में साम्ब और प्रद्युम्न के नाम मिलते हैं तथा एक पौत्र अनिरुद्ध का भी उल्लेख हुआ है।

कृष्ण द्वारवती नगरी में रहते थे। अन्तकृछद्‌साओ में कई स्थलों पर मूल शब्द 'बारवई' दिया गया है जिसका संस्कृत रूप द्वारावती होता है। उत्तराध्ययन में इसका नाम 'बारगापुरी' (द्वारकापुरी) मिलता है। ज्ञातधर्मकथा के अनुसार

यह नगरी सौराष्ट्र जनपद में थी और नव योजनपर्यन्त विस्तीर्ण थी। द्वारका नगरी धनपति कुबेर की बुद्धि और कौशल द्वारा विनिर्मित मानी जाती थी। द्वारका नगरी में सोने का प्राकार-परकोटा तथा पाँच वर्णों की नाना मणियों से सुसज्जित कपि शीर्षक कंगूर थे। द्वारका अत्यन्त सुरम्य, अलकापुरी तुल्य और देवलोक के समान प्रासादित, दर्शनीय, अभिरूप तथा प्रतिरूप थी। द्वारका नगरी के बाहर उत्तरपूर्व दिशा में रैवतक नाम का पर्वत था जिस पर नन्दन-वन नामक उद्यान था। इस उद्यान में सुरप्रिय नामक यक्षायतन था जिसके चारों ओर एक वनखण्ड था। उसके मध्य में एक विराट् अशोक वृक्ष था। द्वारका नगरी में इसके अतिरिक्त 'सहस्रवन' नामक एक अन्य उद्यान भी था।

उस काल में वैताढ्य पर्वत को विभाजक मानकर भरत-क्षेत्र दक्षिणार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में विभक्त था। कृष्ण वैताढ्य गिरि से लेकर सागर पर्यन्त दक्षिणार्द्ध भारत और द्वारावती के अधिपति थे। कृष्ण नरसिंह, नरपति और नरेन्द्र नामों से जाने जाते थे और वे देवराज इन्द्र के सदृश थे। कृष्ण अत्यन्त वैभवशाली अधिपति थे। उनका कोषागार नाना प्रकार के कनक, रत्न, मणि, मोती, प्रवाल आदि से सम्पन्न था। कृष्ण हजारों अश्वों, हाथियों और रथों के स्वामी थे।

कृष्ण के अधिपति व्यक्तित्व और वैभव का अंतगडद्दसाओ, ज्ञातधर्मकथा और निरयावलिका में वर्णन करते हुए कहा गया है कि समुद्रविजय प्रमुख दस दशार्ह, बलदेव प्रभु व पाँच महावीर, प्रद्युम्न प्रमुख साढ़े तीन करोड़ कुमार, साम्ब प्रमुख आठ हजार दुर्दान्त शूर, महासेन प्रमुख छप्पन हजार बल वर्ग-सैन्यदल, वीरसेन प्रमुख इक्कीस हजार वीर, उग्रसेन प्रमुख सोलह हजार राजा, अनङ्ग सेना प्रमुख हजारों गणिकाएं और अन्य अनेक ईश्वर, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति और सार्थवाह कृष्ण के अधीन थे।

कृष्ण की सुधर्मा नामक सभा थी जिसमें कई प्रकार की भेरियों की व्यवस्था थी। इनमें सामुदायिन भेरी, सन्नाहिका भेरी और कौमुदी भेरी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं जिनका उपयोग यथावसर किया जाता था। सामुदायिन भेरी का स्वयम्वर के समय, सन्नाहिका भेरी का युद्ध प्रयाण के समय और कौमुदी भेरी का दर्शन अथवा दीक्षा के लिए जाने के समय वादन होता था। जब कभी कृष्ण अपने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर सुधर्मा सभा की कोई भेरी बजवाते तब दस-दशार्ह आदि अवसर के अनुसार वेशभूषादि से सुसज्जित होकर कृष्ण-वासुदेव की सुधर्मा सभा में सम्मिलित होते और जय-विजय के महोद्घोष से उनका स्वागत करते थे।

कृष्ण अर्हंत अरिष्टनेमि और अर्हंत मुनिसुव्रत के समकालीन थे। ज्ञातधर्मकथा के अनुसार कृष्ण धातकी खण्डद्वीप के पूर्वार्द्ध भरत की चम्पा नगरी के राजा कपिल वासुदेव के समय विद्यमान थे। ज्ञातधर्मकथा से यह भी ज्ञात होता है कि हस्तिनापुर के राजा पाण्डु, पंच-पाण्डव, कौरव, गांगेय, विदुर, द्रोणाचार्य, जयद्रथ, शकुनि, क्लीव और अश्वत्थामा के उपरांत अङ्गराज कृष्ण; सेल्लक, नन्दिराज, दमघोष के पुत्र पाँच सौ भाइयों वाले शक्तिमती के राजा शिशुपाल, हस्तिशीर्ष के राजा दमदन्त, मथुरा नगरी के राजा धर, जरासंध के पुत्र राजगृह के राजा सहदेव, भेसक के पुत्र कौडिन्य के राजा रुक्मि और विराटनगर के राजा कीचक कृष्ण के समकालीन थे।

जैन-साहित्य में कृष्ण-कथा का जो रूप वर्णित हुआ है, उसमें 'बलदेव' और 'वासुदेव' को अति विशिष्ट पुरुष के रूप में चित्रित किया गया है। उनकी कल्पना परम पुरुष के रूप में की गयी है। कृष्ण की विमाता रोहिणी के पुत्र राम अपने युग के बलदेव थे और कृष्ण अपने युग के वासुदेव थे। कृष्ण को अत्यन्त ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी बताया गया है। उनके लिए 'अतिबली', 'ओघबली' 'महाबली', 'अप्रतिहत' और 'अपराजित' सम्बोधनों का प्रयोग किया गया है। कृष्ण इतने बली थे कि महारत्न वज्र को चुटकी से पीस डालते थे। इसके साथ ही कृष्ण के स्वभाव में उदात्त प्रवृत्तियों का भी उत्कर्ष दिखाया गया है। वे अत्यन्त सहिष्णु और दयालु थे। उनमें मत्सर भाव लेशमात्र भी नहीं था।

कृष्ण प्रकृत्या मृदु, मंजुल और मुकुल मुख थे। वे सर्वजन सुलभ और शरणागत वत्सल थे। कृष्ण का शरीर मान, उन्मान और प्रमाण में पूर्ण, सुजात और सर्वांगसुन्दर था। कृष्ण लक्षण, व्यंजन और सारे गुणों से युक्त तथा दस धनुष्य लम्बे थे। वे कान्त, सौम्य, सुभग, सुरूप और प्रियदर्शी थे। वे अत्यन्त प्रगल्भ, धीर और विनयशील थे। कृष्ण सुखशील होने के साथ ही अनलस थे, उनके रोम-रोम में स्फूर्ति थी।

कृष्ण की वाणी गम्भीर, मधुर और परिपूर्ण थी। उनका स्वर क्रौंच पक्षी के घोष, शरद् ऋतु की मेघध्वनि तथा दुंदुभि के समान मधुर और गम्भीर था। कृष्ण सत्यवादी थे। उनकी चाल मदमत्त गजेन्द्र की गति के समान ललित थी। वे नील कौशेय वस्त्र धारण करते थे। कृष्ण के मुकुट में श्रेष्ठ, धवल, शुक्ल, विमल कौस्तुभ मणि शोभायमान रहती थी। वे कानों में कुण्डल पहनते थे। उनके वक्षस्थल पर एक एकावली हार शोभा देता था तथा उन्हें श्रीवत्स का लांछन था। सुगन्धित पुष्पों की माला कृष्ण को अत्यन्त प्रिय थी। कृष्ण हाथों में धनुष धारण करते और दुर्धर धनुर्धर थे। कृष्ण के धनुष की टंकार अत्यन्त भयङ्कर होती थी। वे शङ्ख-चक्र गदा, शक्ति और नन्दक धारण किये रहते थे तथा उच्च गरुड़ध्वज के धारक थे। वे शत्रुओं का मान-मर्दन तथा युद्ध में कीर्ति प्राप्त करने वाले अजित और अजितस्य थे। इसलिए वे महारथी के रूप में विख्यात थे।

ज्ञातधर्मकथा के अनुसार पाण्डु हस्तिनापुर के राजा थे। कृष्ण वासुदेव की बुआओं कुन्ती और माद्री का विवाह राजा पाण्डु के साथ हुआ था। राजा पाण्डु के पाँच पुत्र युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव पाण्डव कहलाये। ज्ञातधर्मकथा के अनुसार अत्यन्त सुन्दर द्रौपदी पांचाल जनपद के कंपिलपुर नगर के राजा द्रुपद की पुत्री थी। द्रौपदी की माता का नाम चूलनी था। उसके वयप्राप्त होने पर राजा द्रुपद ने स्वयंबर के लिए भिन्न-भिन्न देशों से राजाओं को निमंत्रित किया। द्रुपद ने पहला निमंत्रण कृष्ण—वासुदेव और उनके दशार्ह आदि राज परिवार को बुलाने के लिए भेजा। राजा द्रुपद के निमंत्रण को पाकर कृष्ण ने अपने कौटुम्बिक पुरुष को बुलाकर सुधर्मा सभा में सामुदायिक भेरी के वादन की आज्ञा दी। उसने महोद्घोष से भेरी बजायी। भेरी की ध्वनि सुनते ती समुद्रविजय तथा अन्य दशार्ह, महासेन सहित छप्पन हजार बल वर्ग स्नान कर विभूषित होकर पूरी-सज्जा के साथ कृष्ण वासुदेव के पास पहुँचे और उनका जयघोष किया। कृष्ण स्वयं स्नानकर और विभूषित होकर हस्तिरत्न पर आरूढ़ हुए, साथ ही कौटुम्बिक पुरुषों का अभिषेक कर उन्हें भी हस्तिरत्नों पर आरूढ़ कराया। इस प्रकार वैभवशाली साज—सज्जा के साथ कृष्ण वासुदेव दश-दशार्ह आदि समस्त राजपरिवार के साथ पांचाल जनपद में कंपिलपुर पहुँचे। इग स्वयंवर में जिन अन्य राजाओं को निमंत्रित किया गया, उनमें प्रमुख थे—हस्तिनापुर के राजा पाण्डु, अंगदेश के राजा कर्ण, नन्दिदेश के अधिपति शैल्यराज, शुक्तिमती नगरी में दमघोष के राजा शिशुपाल, हस्तशीर्ष नगर के राजा दमवन्त, राजगृह में जरासंध के पुत्र राजा सहदेव, कौडिन्य नगर में भीष्मक के पुत्र राजा रुक्मि, मथुरा के राजा धर तथा विराट नगर के राजा कीचक। स्वयंवर में निमंत्रित राजाओं के कृष्ण वासुदेव प्रमुख थे। राजा द्रुपद ने कंपिलपुर की सीमा पर कृष्ण वासुदेव सहित सभी राजाओं का सत्कार-सम्मान किया। सभी राजा अपने-अपने लिए निश्चित आवास में पहुँचे तथा द्रुपद के कौटुम्बिकों ने उनकी अशनादि से अभ्यर्थना की। कंपिलपुर के बाहर गंगा महानदी के निकट स्वयंवर मण्डप रचा गया। स्वयंवर के समय कृष्ण वासुदेव और सभी राजा निर्धारित आसनों पर आसीन हुए। राजा द्रुपद ने सभी का पुनः स्वागत किया और कृष्ण वासुदेव के समीप खड़े होकर उन पर श्वेत चँवर डुलाने लगे। स्वयंवर में द्रौपदी ने पंच-पाण्डवों का वरण किया और उनके गले में जयमाल डाल दी। कृष्ण वासुदेव सहित सभी राजाओं ने महोद्घोष किया। राजा द्रुपद ने पाण्डवों के साथ द्रौपदी का पाणिग्रहण सम्पन्न किया। राजा पाण्डु के निमंत्रण पर कृष्ण वासुदेव हस्तिनापुर पहुँचे तथा पांच पाण्डवों और द्रौपदी के विवाहोत्सव में सम्मिलत हुए।

'ज्ञातधर्म कथा' में कृष्ण वासुदेव द्वारा द्रौपदी के उद्धार का प्रसंग वर्णित है। एक दिन पाण्डुराज पंच-पाण्डव,

कुंती, द्रौपदी तथा अन्तःपुर के पारिवारिक जनों के साथ बैठे हुए थे। उसी समय कलुषहृदयी नारद विद्या के सहारे आकाश मार्ग से उड़ते हुए हस्तिनापुर पहुँचे। द्रौपदी के अतिरिक्त पाण्डुराज, पंच पाण्डव और कुंती ने नारद का आदर-सम्मान किया। द्रौपदी ने नारद को असंयत, अविरत और कलहप्रिय जानते हुए न तो उनका सम्मान किया और न उन्हें अभिवादन ही किया। इस पर नारद ने द्रौपदी से प्रतिकार का निश्चय किया। नारद अपनी आकाशगामिनी विद्या की शक्ति से लवण समुद्र के मध्य पूर्व दिशा में बढ़ने लगे। उस समय धातकी खण्डद्वीप की पूर्व दिशा के मध्य दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में अमरकंका नाम की राजधानी थी। जिसका राजा पद्मनाभ था। वह अपनी सात सौ रानियों के साथ अन्तःपुर में सिंहासनासीन था। नारद उड़ते हुए सीधे राजभवन में आकर उतर आये। राजा पद्मनाभ ने नारद का आदर सम्मान कर उनसे कुशलक्षेम पूछा। पद्मनाभ ने नारद से कहा कि जैसा मेरा सुन्दर एवं सुहृद परिवार है, ऐसा कोई परिवार अन्यत्र भी आपने देखा है? इस पर नारद ने हँसकर उत्तर दिया कि जम्बुद्वीप के भारतवर्ष में हस्तिनापुर नामक नगर है। वहाँ राजा द्रुपद की पुत्री चूलनी की आत्मजा, पाण्डुराज की पुत्रवधू और पंच पाण्डव की पत्नी द्रौपदी अत्यन्त लावण्यमयी और रूपवती है। नारद द्वारा वर्णित द्रौपदी के रूप और सौन्दर्य से प्रभावित होकर राजा पद्मनाभ उसे प्राप्त करने के लिए आतुर हो उठा। उसने अपने इष्टदेव के माध्यम से सुप्तावस्था में द्रौपदी को अशोकवाटिका में उठा मँगवाया। पद्मनाभ ने द्रौपदी से विपुल काम भोगों को भोगते हुए अपने साथ रहने का प्रस्ताव किया। इस पर द्रौपदी ने पद्मनाभ से कहा कि द्वारावती में मेरे पति के भाई कृष्ण वासुदेव रहते हैं। यदि वे छः मास के भीतर मेरे उद्धार हेतु नहीं आते हैं तो मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगी। पाण्डुराजा जब द्रौपदी का पता नहीं लगा सके तो कुन्ती देवी से कहा कि तुम द्वारावती जाकर कृष्ण वासुदेव से द्रौपदी की खोज के लिए निवेदन करो। कुन्ती ने ऐसा ही किया। वे हाथी पर आरूढ़ होकर द्वारवती पहुँचीं और उन्होंने कृष्ण वासुदेव तक अपने द्वारवती आगमन का संदेश कौटुम्बिक पुरुषों के माध्यम से भेजा। कुन्ती के आगमन का संदेश पाते ही कृष्ण-वासुदेव पूरे राज-वैभव के साथ उनके स्वागत के लिए पहुँचे और उन्हें ससम्मान राजभवन में ले आये। कुन्ती ने कृष्ण-वासुदेव से द्रौपदी के अपहरण का सारा वृत्तान्त कहा। इस पर कृष्ण वासुदेव ने द्रौपदी को खोज निकालने वाले को विपुल धनराशि देने की उद्घोषणा कराई। परन्तु द्रौपदी का पता नहीं चला।

एक दिन कृष्ण वासुदेव अपनी रानियों के साथ बैठे हुए थे कि नारद वहाँ आ पहुँचे। कृष्ण वासुदेव से नारद ने द्रौपदी के विषय में पूछा। नारद ने बताया कि द्रौपदी अमरकंका में राजा पद्मनाभ के राजभवन में हैं। कृष्ण-वासुदेव ने नारद को इस बात की प्रतीति करा दी कि यह कर्म उन्हीं का है। इस पर नारद आकाश मार्ग में जिस दिशा से आये थे उसी दिशा में चले गये। कृष्ण वासुदेव ने दूत के द्वारा द्रौपदी का पता लग जाने का समाचार हस्तिनापुर भेजा और कहलाया कि पाण्डव चतुरंगिनी सेना सहित वैतालिक समुद्र के किनारे पहुँचकर उनकी प्रतीक्षा करें। इसके बाद कृष्ण-वासुदेव ने सन्निहका भेरी के वादन का आदेश दिया। सन्निहका भेरी का घोष सुनते ही समुद्रविजय दश दशार्ह छप्पन हजार यौद्धाओं को लेकर हाथी-घोड़ों पर सवार होकर कृष्ण-वासुदेव की सुधर्मा सभा में पहुँचे। कृष्ण वासुदेव कोरंट फूलों की माला का छत्र धारण कर हाथी पर आरूढ़ होकर द्वारवती की पूर्व दिशा में वैतालिक समुद्र के पास पहुँचे और पाण्डवों से मिलकर छावनी स्थापित की।

इसके बाद सेना को विसर्जित कर वे पंच पाण्डवों सहित लवण समुद्र के मध्य से होते हुए अमरकंका नगरी पहुँचे। अपने दारुक नाम के सारथी से पद्मनाभ को संदेश भेजा कि वह कृष्ण वासुदेव की अपहृत भगिनी द्रौपदी को सौंप दे, अन्यथा युद्ध के लिए तत्पर हो जाए। पद्मनाभ ने कृष्ण-वासुदेव के संदेश को अस्वीकार कर युद्ध की चुनौती दी। पंच-पाण्डवों ने पद्मनाभ के साथ युद्ध किया, परन्तु अशक्त अनुभव कर वे कृष्ण-वासुदेव के पास लौट आये। तब कृष्ण-वासुदेव ने पांचजन्य का उद्घोष कर पद्मनाभ से युद्ध प्रारम्भ किया। पांचजन्य के शब्दघोष से पद्मनाभ की सेना का एक तिहाई

भाग हत हो गया। इसके बाद कृष्ण ने सारंग धनुष की प्रत्यंचा से भयङ्कर टंकार की जिससे पद्मनाभ की सेना का एक तिहाई भाग और नष्ट हो गया। जब एक तिहाई सेना शेष रह गयी तो पद्मनाभ ने भागकर अमरकंका नगरी में प्रवेश कर उसके दरवाजे बन्द करवा दिये। कृष्ण-वासुदेव उसका पीछा करते हुए अमरकंका पहुँचे। रथ से उतरकर वे एक विशाल नरसिंह रूप धारणकर पृथ्वी पर महाशब्दकारी प्रहार करने लगे। कृष्ण वासुदेव के पद-प्रहार से अमरकंका नगरी के प्राकार, गोपुर, अट्टालिकाएं, चरिय तोरण आदि सब गिरने लगे। पद्मनाभ के प्रासाद और श्रीगृह चारों ओर से गिरकर ध्वस्त होने लगे। यह देखकर पद्नाभ ने द्रौपदी के चरणों पर गिरकर रक्षा माँगी। द्रौपदी ने पद्मनाभ को स्नानकर गीले वस्त्र पहन, वस्त्र का एक पल्ला खुला छोड़ अन्त:पुर की रानियों के साथ उसे आगे कर कृष्ण वासुदेव के प्रति क्षमा-याचना और समर्पण के लिए कहा। पद्मनाभ ने ऐसा ही किया और द्रौपदी को वासुदेव कृष्ण को सौंप दिया। कृष्ण वासुदेव द्रौपदी को साथ लेकर रथ पर आरूढ़ हो पंच-पाण्डव के पास पहुँचे और द्रौपदी को उनके सिपुर्द कर दिया।

'ज्ञातधर्मकथा' में द्रौपदी-पद्मनाभ प्रसंग से जुड़ा हुआ एक अन्य प्रसङ्ग 'शङ्खशब्द समाचारी' भी वर्णित है जिससे कृष्ण वासुदेव के पराक्रम और प्रभुत्व का वोध होता है। उस समय चम्पा नगरी में कपिल नाम के वासुदेव थे। पद्मनाभ से युद्ध के लिए जव कृष्ण वासुदेव ने पांचजन्य का ध्वनि-घोष किया तो कपिल पूर्णभद्र नामक उद्यान में अर्हत मुनि सुव्रत से धर्मोपदेश सुन रहे थे। कृष्ण वासुदेव की शङ्खध्वनि सुनते ही कपिल वासुदेव के मन में विचार आया कि सम्भवत: धातकी खण्डद्वीप के भरत क्षेत्र में कोई अन्य वासुदेव उत्पन्न हो गया है। सुव्रत मुनि को भी ऐसा ही प्रतीत हुआ! उन्होंने कपिल वासुदेव से कहा कि एक ही समय में दो अरिहन्त, दो चक्रवर्ती, दो बलदेव अथवा दो वासुदेव नहीं हो सकते। उन्होंने कपिल को पद्मनाभ द्वारा द्रौपदी के अपहरण की घटना वताई जिसे जानकर कपिल वासुदेव हाथी पर आरूढ़ होकर वेलाकूल पहुँचे और उन्होंने कृष्ण वासुदेव की श्वेत-पीत ध्वजा को देखा। कपिल ने अपना पांचजन्य हाथ में लेकर उससे ध्वनिघोष किया। कृष्ण-वासुदेव ने भी कपिल की शङ्ख ध्वनि सुनकर अपना पांचजन्य फूंका। इस प्रकार दोनों वासुदेवों ने शङ्खध्वनि द्वारा परस्पर वोध कराया। इसके वाद कपिल वासुदेव ने अमरकंका पहुँचकर पद्मनाभ को धिक्कारा और उसे राज्य से निर्वासित कर उसके पुत्र का राज्याभिषेक किया।

'ज्ञातधर्मकथा' में पाण्डवों के निर्वासन का भी प्रसंग वर्णित हुआ है। पद्मनाभ से द्रौपदी के उद्धार के वाद पंच-पांडव और छठे कृष्ण, रथों पर संवार होकर लवण समुद्र पार करते हुए भरत क्षेत्र की ओर बढ़े। जव वे गंगा के तट पर पहुँचे तो कृष्ण ने पाण्डवों से कहा कि आप लोग गंगा के पार उतरो। इस वीच मैं लवण समुद्र के अधिपति सुस्थित देव से मिलकर पहुँचता हूँ। पंच-पाण्डवों ने एक नौका में बैठकर गंगा को पार किया। तत्पश्चात् उनके मन में कृष्ण-वासुदेव की परीक्षा लेने का विचार आया। पाण्डवों ने नौका को छिपा दिया और कृष्ण-वासुदेव की प्रतीक्षा करने लगे। कृष्ण-वासुदेव को गंगा तट पर पहुँचने पर नौका नहीं दिखाई दी। इस पर कृष्ण-वासुदेव ने एक हाथ से घोड़े और सारथी सहित रथ को पकड़ा और दूसरे हाथ से गंगा को पार करने लगे। जव वे गंगा के मध्य पहुँचे तो थक गये। कृष्ण-वासुदेव को थका जानकर गंगा ने जल को छिछलाकर दिया और कृष्ण ने वहाँ कुछ समय विश्राम किया। इसके वाद गंगा पार कर कृष्ण-वासुदेव पाण्डवों के पास पहुँचे। अन्त में पाण्डवों ने उनसे नौका छिपाने के रहस्य का उद्घाटन किया। कृष्ण ने इस पर कुपित होकर लौह दण्ड से पाण्डवों के रथ को चूर-चूर कर दिया तथा पाण्डवों को निर्वासन की आज्ञा दी। कृष्ण वासुदेव ने उस स्थान पर 'रथ-मर्दन' नामक कोट की स्थापना की। तत्पश्चात् कृष्ण अपनी छावनी पर आये और सेना को साथ लेकर द्वारवती लौट गये।

'ज्ञातधर्मकथा' में इसके बाद पाण्डु-मधुरा की स्थापना का प्रसंग वर्णित हुआ है। कृष्ण-वासुदेव से निर्वासन की आज्ञा पाकर पाण्डव हस्तिनापुर पहुँचे। वहाँ उन्होंने सारी वातें पाण्डु से कहीं। पाण्डु ने पाण्डवों को भला-बुरा कहा

और कुन्ती को द्वारवती इस प्रयोजन से भेजा कि वे कृष्ण-वासुदेव से उस दिशा की आज्ञा प्राप्त करें जिधर पाण्डवों को जाना है। कुन्ती द्वारवती पहुँची। कृष्ण वासुदेव ने उनका स्वागत कर और प्रयोजन जानकर उन्हें वताया कि पाण्डव दक्षिण दिशा के वेला तट पर आएँ और पाण्डु-मधुरा नामक नयी नगरी वसाएं। वहाँ वे मेरे अदृश्य सेवक के रूप में निवास करें। कृष्ण वासुदेव की यह आज्ञा लेकर कुन्ती हस्तिनापुर आयी और आज्ञानुसार पाण्डु ने पाण्डवों को निर्वासित किया। पाण्डव दक्षिण दिशा में वेला तट पर पाण्डु-मधुरा नगरी वसाकर सुखपूर्वक रहने लगे।

कृष्ण के जीवन-प्रसंगों के अन्तर्गत थावच्चापुत्र की प्रवज्या का प्रसंग, अरिष्टनेमि के दिव्य चरित्र के साथ, उनके प्रति कृष्ण के सौहार्द और आदरभाव का व्यंजक है। एक बार अरिष्टनेमि द्वारवती पधारे। कृष्ण वासुदेव ने कौमुदी भेरी को वजवाकर सुधर्मा सभा में सभी कौटुम्बिक जनों को आमंत्रित किया। भेरी की ध्वनि सुनते ही समुद्र विजय आदि दस-दशार्ह, वलदेव आदि पाँच महावीर; उग्रसेन आदि सोलह हजार नृपगण, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ कुमार, साम्ब आदि साठ हजार दुर्दान्त साहसिक, वीरसेन आदि इक्कीस हजार वीर, महासेना आदि छप्पन हजार रानियाँ, अनंग सेना आदि हजारों गणिकाएँ सभी कृष्ण वासुदेव के पास पहुँचे। कृष्ण-वासुदेव विजय नामक ग्रन्थ हस्ति पर सवार होकर सवके साथ अर्हत अरिष्टनेमि के वन्दनार्थ रैवतक पर्वत पर पहुँचे।

इसी बीच थावच्चा पुत्र ने प्रवज्या लेने का संकल्प किया। उसकी माता थावच्चा प्रवज्या हेतु छत्र, मुकुट चँवर आदि मांगने के लिए कृष्ण-वासुदेव के पास गयी। कृष्ण-वासुदेव ने थावच्चा को अभिनिष्क्रमण सत्कार की व्यवस्था का आश्वासन दिया। कृष्ण-वासुदेव और थावच्चापुत्र के संवाद के वाद थावच्चापुत्र के अभिनिष्क्रमण की राजकीय व्यवस्था हुई। कृष्ण-वासुदेव पूरे वैभव के साथ द्वारवती के मध्य भाग से निकलकर थावच्चापुत्र के साथ अर्हत अरिष्टनेमि के पास पहुँचे। थावच्चापुत्र ने ईशान कोण में जाकर अपने आभरण, माला, अलंकार आदि उतार डाले। इसके वाद उसने श्वेत वस्त्र, आभरण और अलंकार ग्रहण किये तथा प्रवज्या हेतु तैयार हो गया। थावच्चा जिस दिशा से आयी थी, उसी दिशा में चली गई और उसके पुत्र ने पंचमुष्टि लोच लेकर प्रवज्या ग्रहण की।

कृष्ण-वासुदेव और अरिष्टनेमि के धर्म और कर्म विषयक संवाद के प्रसंग भी जैन-आगम-ग्रन्थों में दिये गये हैं। 'अन्तकृद्दशा' के अनुसार एक बार अर्हत अरिष्टनेमि द्वारवती पधारे। कृष्ण-वासुदेव ने उनका पाद-वन्दन किया। उनकी रानी पद्मावती भी अर्हत अरिष्टनेमि के दर्शन के लिए पहुँची। अर्हत अरिष्टनेमि ने कृष्ण-वासुदेव और रानी पद्मावती को धर्मकथा सुनाई। इसके वाद कृष्ण-वासुदेव ने अर्हत अरिष्टनेमि से भविष्य में द्वारवती नगरी के विनाश का कारण पूछा। अर्हत अरिष्टनेमि ने उत्तर दिया कि देवपुरी के समान द्वारवती नगरी का विनाश मदिरा, अग्नि और द्वीपायन इन तीन कारणों से होगा। यह सुनकर कृष्ण-वासुदेव ने जालि, मयालि, पुरुषसेन, वारिषेण, प्रद्युम्न, साम्ब, अनिरुद्ध, दृढ़िनेमि, सत्यनेमि आदि प्रवज्या ग्रहण करने वालों के कर्मों की सराहना की। साथ ही प्रवज्या ग्रहण करने में अपने को असमर्थ पाने की भर्त्सना की। इस पर अर्हत अरिष्टनेमि ने कहा कि ऐसा न तो कभी हुआ है, न होता है और न होगा कि वासुदेव वैभव का परित्याग कर प्रवज्या ग्रहण करें। कृष्ण वासुदेव ने पुनः पूछा कि देहावसान का समय प्राप्त कर मैं कहाँ जाऊंगा? कहाँ उत्पन्न होऊंगा? अरिष्टनेमि ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा कि "दक्षिण दिशा के किनारे इसी पाण्डु-मधुरा नामक नगरी की ओर पाण्डु राजा के पाँचों पाण्डव पुत्रों के पास जाने के लिए तुम निकलोगे। उस समय कौशाम्बी नगरी के वन-कानन में न्यग्रोध नामक श्रेष्ठ वृक्ष के नीचे पृथ्वी शिलापट्ट पर पीत वस्त्र द्वारा शरीर को आच्छादित कर तुम शयन करोगे। उस समय जरा कुमार द्वारा कोदण्ड से छोड़े हुए तीक्ष्ण वाण के द्वारा वायें पैर में बींधा जाकर काल समय में मृत्यु को प्राप्त हो उज्ज्वल वेदना वाली वालुका प्रभा नामक तीजी नरक पृथ्वी में नैरयिक रूप से उत्पन्न होगा।" अर्हत अरिष्टनेमि की भविष्यवाणी सुनकर कृष्ण-वासुदेव चिन्तामग्न हो गये। इस पर अर्हत अरिष्टनेमि ने कहा, "हे कृष्ण! तू आर्तनाद न कर। तू उस उज्ज्वल वेदनावाली तीसरी नरक भूमि से निकल

सीधा इसी जम्बु द्वीप के भारतवर्ष में आगामी उत्सर्पिणी में पुण्ड्र जनपद में शतद्वार नामक नगर में वारहवाँ असम नामक अरिहंत होगा। वहाँ अनेक वर्षो तक केवली-पर्याय का पालन कर तू सिद्ध होगा।'' यह सुनकर कृष्ण वासुदेव ने पादन्यास किया और अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार कर हाथी पर आरूढ़ होकर द्वारवती नगरी में अपने घर लौट आए।

अन्तकृद्दशा में कृष्ण की रानी पद्मावती की दीक्षा का प्रसंग वर्णित हुआ है। एक बार अर्हत अरिष्टनेमि द्वारवती नगरी के बाहर सहस्राभ्रवन नामक उद्यान में पधारे। कृष्ण वासुदेव के साथ रानी पद्मावती भी उनके दर्शन के लिए गयीं। अर्हत अरिष्टनेमि से धर्मोपदेश सुनकर पद्मावती का मन वैराग्य भावना से भर गया। उसने कृष्ण-वासुदेव से प्रव्रज्या लेने की इच्छा व्यक्त की जिसकी उन्होंने अनुमति दे दी। उन्होंने पद्मावती के अभिनिष्क्रमण की भव्य तैयारी की और शिविका में पद्मावती को बिठाकर रैवतक पर्वत पर सहस्राभ्रवन उद्यान में पहुँचे। कृष्ण-वासुदेव ने अर्हत अरिष्टनेमि से पद्मावती को शिष्या के रूप में समर्पित करने का निवेदन किया। अर्हत अरिष्टनेमि ने इसे स्वीकार किया। पद्मावती ने अपने अलंकार आदि उतारकर पंचमुष्टि लोप लिया। अर्हत अरिष्टनेमि ने पद्मावती को प्रव्रज्या दी तथा उसे यक्षिणी नामक आर्या को शिष्या के रूप में सौंप दिया। पद्मावती ने आर्या यक्षिणी से सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अभ्यास किया। उसने वीस वर्षो तक चरित्र-पर्याय का पालन किया। अंत में एक मास की संलेखना कर उसने अपना कार्य पूरा किया।

कृष्ण-वासुदेव के जीवन-प्रसंगों में गज-सुकुमाल चरित का प्रसंग जैन आगमों में वर्णित एक महत्वपूर्ण एवं लोकप्रिय प्रसंग है। देवकी ने कृष्ण से पूर्व छः पुत्रों को जन्म दिया। प्रसव के बीच हरणेगयेषी देवकी के नवजात पुत्र को हथेली में ग्रहण कर लेता और उसके स्थान पर अन्य मृत पुत्र को रख देता। इस प्रकार पुत्र अपहरण के कारण देवकी अपने शिशुओं की वाल-क्रीड़ा के सुख से वंचित रही। देवकी अत्यन्त दुःखी रहती थी। क्योंकि कृष्ण-वासुदेव भी उसके चरण-वन्दन के लिए छः-छः मास के अंतराल से जाते थे। एक बार देवकी चिन्तामग्न बैठी थी कि कृष्ण-वासुदेव उसके पास पहुँचे। कृष्ण ने देवकी का पाद-वन्दन किया। देवकी ने कृष्ण वासुदेव से कहा कि मैंने नलकूवर सदृश सुन्दर सात पुत्रों को जन्म दिया, परन्तु मैं वात्सल्य का अनुभव न कर सकी। कृष्ण वासुदेव ने माता देवकी को सांत्वना दी और कहा मैं ऐसा उपाय करूँगा जिससे मेरे एक कनिष्ठ सहोदर भाई हो।'' इसके वाद कृष्ण वासुदेव ने एकांत में निवासकर दर्भासन पर बैठ अष्टम मन्त्र तप को ग्रहण कर हरणेगयेषी देवता का स्मरण कर कनिष्ठ सहोदर के जन्म का अनुष्ठान किया। जव उनका तेला त्रिदिवसीय उपवास पूर्ण होने को आया तब हरणे गयेषी देव के मन में इस प्रकार संकल्प जागृत हुआ। अर्द्ध भरत के स्वामी द्वारवती नगरी के अधिपति कृष्ण वासुदेव पौषधशाला में पौषधव्रत अष्टम भत्त तप ग्रहण कर मुझे स्मरण कर रहे हैं। अतः मेरे लिए प्रादुर्भूत होना आवश्यक है। हरणे गयेषी देव स्वरचित श्रेष्ठ विमान से निकलकर पृथ्वी तल पर तीव्र गति से आने के लिए निकला। वह असंख्य द्वीपों को पार करता हुआ द्वारवती नगरी में पौषधशाला में पौषध कर कृष्ण वासुदेव के पास पहुँचा। हरणे गयेषी देव आकाश में ठहरकर कृष्ण वासुदेव से वोला कि 'तुम मुझे आज्ञा दो कि मैं क्या करूँ ? तुम्हारी क्या कामना है ?' कृष्ण वासुदेव अन्तरिक्ष में उपस्थित देव को देख पौषधशाला को पाकर हरणे गयेषी देव से बोले, ''मैं आप द्वारा प्रदत्त कनिष्ठ सहोदर की कामना करता हूँ।'' देव ने उत्तर दिया, ''तुम्हारे एक कनिष्ठ सहोदर होगा। वालभाव से मुक्त हो युवक होने पर वह अर्हत अरिष्टनेमि के पास मुंडित होकर प्रव्रजित होगा।'' इसके बाद हरणे गयेषी देव जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में चला गया। कृष्ण वासुदेव ने देवकी के पास आकर देव का आशीर्वचन सुनाया। अंतगडद्दसाओ के अनुसार कालान्तर में गज सुकुमाल का जन्म हुआ। वह अत्यन्त सुरूप था। हाथी के तलवे के समान वह रक्तवर्ण का था। इसी लिए उसका नाम गज सुकुमाल रखा गया। गज सुकुमाल को अर्हत अरिष्टनेमि की धर्मचर्चा सुनकर वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने अरिष्टनेमि से कहा कि 'माता-पिता से अनुमति लेकर मैं प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा।' जब गज सुकुमाल ने माता पिता से

प्रव्रज्या ग्रहण करने के अपने संकल्प को वताया तो उन्होंने उसे विवाह करने के वाद प्रव्रज्या ग्रहण करने को कहा। परन्तु गज सुकुमाल का निश्चय नहीं वदला। कृष्ण-वासुदेव ने भी गज सुकुमाल से यही कहा। उन्होंने कहा कि मैं तुम्हारा राज्याभिषेक कर तुम्हें द्वारवती का राजा वनाऊंगा। अन्ततः गज सुकुमाल का संकल्प नहीं टूटा। परन्तु माता-पिता और कृष्ण-वासुदेव के अनुरोध पर गज सुकुमाल ने विवाह किया। उनके लिए कृष्ण ने कन्या का चुनाव स्वयं किया। इसके वाद वे मात्र एक दिन के लिए राजा वने और तत्पश्चात् उन्होंने अरिष्टनेमि से प्रव्रज्या ग्रहण की।

जैन-परम्परा में प्राप्त कृष्णचरित के अन्तर्गत प्रद्युम्न चरित भी वर्णित हुआ है। प्रद्युम्न कुमार का जन्म कृष्ण की रानी रुक्मिणी के गर्भ से हुआ था। जन्म के छठे दिन रात में धूमकेतु राक्षस ने प्रद्युम्न का अपहरण कर लिया और उसे एक शिला के नीचे दवाकर भाग गया। उसी समय कालसंवर नामक विद्याधर ने प्रद्युम्न को उठा लिया और उसकी पत्नी कंचनमाला ने प्रद्युम्न का पालन-पोषण किया। वड़े होकर प्रद्युम्न ने काल संवर के शत्रु सिंहरथ को पराजित किया। इस पर काल-संवर के अन्य पुत्र उससे ईर्ष्या करने लगे। प्रद्युम्न ने सारी विपत्तियों का सामना करते हुए कञ्चनमाला से तीन विद्याएँ सीख लीं। प्रद्युम्न के सम्पर्क में रहते हुए कञ्चनमाला उस पर आसक्त हो गयी, परन्तु प्रद्युम्न पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इस पर कञ्चनमाला ने कुपित होकर काल-संवर को प्रद्युम्न के विरुद्ध कर दिया। फलतः कालसंवर और विद्याधर में भयंकर युद्ध हुआ। नारद ने आकर मध्यस्थता की। वास्तविक तथ्य का ज्ञान होने पर प्रद्युम्न द्वारवती लौट गये। द्वारवती में प्रद्युम्न ने अपनी विद्याओं से विमाता सत्यभामा और उसके पुत्र भानुकुमार को परेशान किया। प्रद्युम्न ब्रह्मचारी का वेश धारण कर अपनी माता रुक्मिणी के पास गये तथा उन्होंने मायावी रुक्मिणी वनाकर उसे कृष्ण की सभा के सम्मुख खींचते हुए कृष्ण को ललकारा। इस पर कृष्ण और प्रद्युम्न में युद्ध हुआ। इस वीच नारद ने आकर प्रद्युम्न को रहस्य-बोध कराया। तत्पचात् सभी अत्यन्त प्रसन्न हुए। द्वारवती में भव्य उत्सव हुआ। प्रद्युम्न ने दीर्घकाल तक राजसुख भोगकर अर्हत अरिष्टनेमि से दीक्षा ली और निर्वाण प्राप्त किया।

कृष्ण के जीवन के अन्य कतिपय संदर्भ भी जैन-परम्परा में मिलते हैं। कृष्ण सानुक्रोश हृदय थे। एक बार वे अर्हत अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ जा रहे थे। हाथी पर आरूढ़ कृष्ण वासुदेव सैनिकों से घिरे हुए थे। द्वारवती के मध्य में पहुँचने पर उन्होंने देखा कि एक जीर्णवृद्ध ईंटें उठाकर राजपथ से लिये जा रहा था। कृष्ण-वासुदेव ने भी एक ईंट उठायी और राजपथ से ले जाकर घर के अन्दर रखी। इस पर सभी ने वृहत् ईंट राशि में से एक-एक ईंट उठाकर पूरी ईंट राशि को घर के भीतर पहुँचा दिया।

कृष्ण वासुदेव मानमर्दक थे। उन्होंने यमलार्जुन वृक्षों का रूप धारण किये छिपे हुए विद्याधरों का मान भंग किया। कृष्ण ने दुष्ट महाशकुनि और पूतना का विनाश किया तथा कंस का मुकुट-भंजन किया। जरासंघ से कृष्ण की शत्रुता के उल्लेख तो इसके प्रमाण हैं ही। 'सामवायांग-सूत्र' के अनुसार जरासंध कृष्ण का शत्रु था और चक्रयुद्ध में कृष्ण से पराजित हुआ था। प्रश्न व्याकरण के अनुसार कृष्ण को रुक्मिणी के लिए शिशुपाल और पद्मावती के लिए अनेक राजाओं से युद्ध करना पड़ा। उन्होंने रोहिणी के लिए भी युद्ध किया था। इन सभी युद्धों में कृष्ण विजयी हुए थे।

कृष्णचरित में अर्हत अरिष्टनेमि से उनके सम्बन्ध के संदर्भ वहुत महत्वपूर्ण हैं जिनका उल्लेख पीछे किया जा चुका है। 'अंतकृछसाओ' के अनुसार कृष्ण के अनेक पारिवारिक जनों ने अर्हत अरिष्टनेमि से प्रव्रज्या ग्रहण की थी। कृष्ण के पुत्र साम्व की पत्नियाँ मूलश्री और मूलदत्ता भी प्रव्रजित हुई थीं। कृष्ण वासुदेव के सात सहोदर भाइयों तथा छः सौतेले भाइयों के प्रव्रजित होने के उल्लेख मिलते हैं। 'उत्तराध्ययन' से ज्ञात होता है कि वृष्णिपुंगव अरिष्टनेमि

कृष्ण बाबा के पुत्र थे और केवलज्ञान प्राप्त कर अर्हत हुए थे। अर्हत अरिष्टनेमि के तीन भाई रथनेमि, सत्यनेमि और दृढनेमि ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी। इसी प्रकार कृष्ण के विमातृ ज्येष्ठ भ्राता राम बलदेव के सुमुख आदि पन्द्रह पुत्रों का अर्हत अरिष्टनेमि से दीक्षा लेने का उल्लेख मिलता है। 'अंतगडदृसाओ' में अन्धक वृष्णि के गौतम आदि पुत्रों की भी प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख हुआ है। इस प्रकार जैन-परम्परा में प्राप्त कृष्णचरित अर्हत अरिष्टनेमि से व्यापक रूप में संदर्भित है।

जैन साहित्य में कृष्ण-कथा के व्यापक एवं विकसित रूप का दर्शन दिगम्बर परम्परा की जिनसेन रचित आगमेतर कृति 'हरिवंश-पुराण' में होता है। संस्कृत में रचित इस कृति में कृष्ण चरित को पूर्ण रूप देने की चेष्टा प्रधान रही है। जैन आगमिक परम्परा की कृष्णकथा के विगत विवेचित प्रसंगों के साथ जिनसेन के हरिवंश पुराण में वैष्णव हरिवंश-पुराण की कृष्णकथा का आधार लिया गया है। जिनसेन की कृति में कृष्णकथा का जो वर्णन हुआ है वह आगमेतर कृष्णचरितपरक परवर्ती संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी-जैन-रचनाओं के लिए उपजीव्य बना।

जिनसेन पुन्नाट प्राचीन कर्नाटक के मुनि संघ की आचार्य परम्परा में हुए थे। इनके गुरु कीर्तिषेण थे। 'हरिवंश-पुराण' का पूर्ति सम्वत् ७०५ (सन् ६४८ ई०) दिया गया है। जिनसेन के आत्मोल्लेख के अनुसार 'हरिवंश-पुराण' की रचना का प्रारम्भ वर्धमानपुर में नलराज द्वारा बनवाये गये श्री पार्श्वनाथ के मंदिर में हुआ था, परन्तु यह 'दोस्तटिका' नगरी के शांतिनाथ मंदिर में पूरा हुआ। हरिवंशपुराण की ६६ सर्गों और आठ अधिकारों में विभक्त कथावस्तु पौराणिक प्रवृत्तियों से अनुप्राणित है। इसके प्रारम्भ में क्रमशः लोक का आकार, राजवंशों की उत्पत्ति, हरिवंश अवतार, वासुदेव की चेष्टाओं का कथन, नेमिनाथचरित, द्वारका निर्माण, युद्धवर्णन और निर्वाण आदि शुभ अधिकारों का कथन हुआ है। हरिवंशपुराण में सर्ग ३५ से लेकर ६५ तक के कृष्णचरित वर्णित है।

जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण' के अनुसार हरिवंश में यदु नामक एक राजा हुआ जिसके वंशज यादव कहलाए। यदुवंशी राजा सोरिय ने सोरियपुर नामक नगर बसाया और वहीं अपना राज्य स्थापित किया। राजा सोरिय के दो पुत्र हुए—अन्धक और भोजक। यदु के बाद अन्धक को सोरियपुर तथा भोजक को मथुरा के प्रदेश उत्तराधिकार में मिले। अन्धक के दस पुत्र और दो पुत्रियाँ हुई। उसके दसों पुत्र दशार्ह राजा के रूप में विख्यात हुए। ये सभी सोरियपुर में रहते थे। भोजक के उग्रसेन, महासेन, देवसेन आदि पुत्र हुए जिनमें उग्रसेन मथुरा का राजा बना। अन्धक के दस पुत्रों में समुद्रविजय ज्येष्ठ थे और वसुदेव कनिष्ठ। वसुदेव अति सुरूप और शास्त्रविद्या पारंगत थे। वे भोजक कुल के राजपुत्रों को शास्त्र विद्या देते थे। इन्हीं में उग्रसेन का पुत्र कंस आदि अपने शिष्यों के साथ राजा जरासंध के यहाँ गये। जरासंध ने यह घोषणा कर रखी थी कि जो सिंहपुर के राजा सिंहस्थ को वन्दी बनाकर उसके समक्ष जीवित प्रस्तुत करेगा, उसके साथ वह अपनी पुत्री जीवद्यशा का विवाह करेगा तथा उसे इच्छित प्रदेश भेंट में देगा। वसुदेव ने युद्ध में सिंहस्थ को पराजित कर वन्दी बना लिया और जरासंध के सामने प्रस्तुत किया। घोषणा के अनुसार जरासंध ने वसुदेव के साथ अपनी कन्या का विवाह करना चाहा, परन्तु वसुदेव ने जरासंध की पुत्री का विवाह कंस के साथ करा दिया। विवाह के बाद कंस ने अपने पिता उग्रसेन को वन्दी बना लिया और स्वयं मथुरा का राजा बन बैठा। विवाह से उपकृत कंस एक दिन वसुदेव को मथुरा ले आया और उसने अपनी चचेरी बहन देवकी—राजा देवक की पुत्री से उनका विवाह करा दिया। कंस के आग्रह के कारण विवाह के उपरांत भी वसुदेव मथुरा में ही निवास करने लगे।

एक दिन जीवद्यशा ने कंस को यह समाचार दिया कि अतिमुक्तक मुनिराज के अनुसार देवकी के गर्भ से उत्पन्न पुत्र उसके और जरासंध के लिए घातक सिद्ध होगा। इससे रक्षा का उपाय सोचकर कंस ने वसुदेव से यह वचन ले लिया कि प्रसूति के समय देवकी उसी के घर पर रहेगी। देवकी ने तीन जुड़वाँ पुत्रों को जन्म दिया। प्रत्येक बार

इन्द्र की आज्ञा से सुनैगम नामक देव जन्म लेते ही देवकी के पुत्रों को सुभ्रक्षिल नगर के सेठ सुदृष्टि की पत्नी अलका के पास पहुँचा आया और उससे उत्पन्न मृतक जुड़वा पुत्रों को देवकी के पास ले आया । शंका ग्रस्त होने के कारण कंस ने मृतक पुत्रों को भी प्रत्येक वार शिला पर पटक डाला । इस प्रकार देवकी के पुत्र नृपदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, अनीकपाल, सत्रुघ्न और जितशत्रु सुदृष्टि की पत्नी अलका के यहाँ पालित-पोषित हुए । एक रात देवकी को स्वप्न में उगता हुआ सूर्य, पूर्ण चन्द्रमा, दिग्गजों द्वारा अभिषिक्त लक्ष्मी, आकाश से नीचे उतरता विमान, ज्वालायुक्त अग्नि, उच्च आकाश में किरणों से युक्त देवध्वज और अपने मुख में प्रवेश करता हुआ सिंह, कुल छः दृश्य दिखाई दिये । वसुदेव ने देवकी को इस स्वप्न का फल समझाते हुए कहा कि उसके गर्भ से एक अत्यन्त प्रतापी, अत्यन्त सुरूप, राज लक्षणों से युक्त गंभीर और निर्भय प्रकृतिवाला एक वीर पुत्र उत्पन्न होगा । इसके वाद देवकी के गर्भ से सातवें मास में ही कृष्ण का जन्म हुआ । जन्म के वाद ही वसुदेव नवजात शिशु को वृन्दावन ले गये और आत्मीय गोप नन्द की पत्नी यशोदा के पास रखकर सद्यः जन्मी उनकी पुत्री को ले आये जिसे उन्होंने देवकी को दे दिया । क्रोधित कंस ने हाथ से उस कन्या की नाक मसलकर चपटी कर दी ।

उधर नन्द यशोदा के यहाँ कृष्ण पालित-पोषित होते रहे । कंस को किसी ज्ञानी से यह ज्ञात हुआ कि उसका शत्रु कहीं जन्म ले चुका हैं और बढ़ रहा है । अतः उसने तप किया और देवियों का आह्वान करके उन्हें अपने शत्रु का पता लगाकर मार डालने का आदेश दिया । उन देवियों में छः ने एक-एक करके भयंकर पक्षी, पूतना, धाय, शकट, यमलार्जुन और वैल का रूप धारण कर कृष्ण को मारने का उपक्रम किया । परन्तु वे सभी कृष्ण द्वारा प्रताड़ित हुए । सातवों देवी ने पाषाण वर्षा से कृष्ण को मारने का विधान किया, पर कृष्ण ने गोवर्धन धारण करके सारे गोकुल की रक्षा कर ली । इस समय मथुरा में सिंहवाहिनी नागशय्या अजितंजय धनुष और पांचजन्य शंख का प्रकटीकरण हुआ । इन तीनों पदार्थों के सम्बन्ध में कंस को ज्योतिषियों से ज्ञात हुआ कि जो नागशय्या पर चढ़कर धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा देगा और पांचजन्य का उद्घोष करेगा, वही उसका शत्रु होगा । कंस ने इस सत्य को गुप्त रखकर इन कार्यों को सम्पन्न करने वाले को पुरस्कृत करने की राज घोषणा करायी, परन्तु कंस द्वारा आहूत अनेक राजा यह कार्य सम्पन्न नहीं कर सके । इसके वाद एक दिन कंस की पत्नी जीवद्यशा का भाई गोकुल गया तथा कृष्ण के शौर्य एवं पराक्रम से प्रभावित होकर उन्हें मथुरा ले आया । मथुरा में कृष्ण ने नागशय्या पर चढ़कर धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा दी और पांचजन्य का उद्घोष किया । कृष्ण के साथ वलराम भी थे । उन्हें कंस के प्रति शंका हो गयी । अतः उन्होंने अनेक स्वजनों को भी कृष्ण के साथ कर दिया ।

जब कंस को अपने सही शत्रु का बोध हो गया तो वह कृष्ण को मारने के उपाय करने लगा । उसने गोपों को कालीदह के कमल पुष्प पहुँचाने का आदेश भेजवाया । कृष्ण ने कालियनाग का मर्दन किया और गोपों के द्वारा कमल पुष्प कंस के पास पहुँचा दिये । इसके वाद कंस ने मल्लयुद्ध के लिए कृष्ण के नेतृत्व में गोपों को आमंत्रित किया । परन्तु मल्लयुद्ध में कृष्ण ने चाणूर और बलराम ने मुष्टिक नामधारी मल्लों को पराजित कर दिया । इस पर कंस ने कुपित होकर तलवार से कृष्ण को मारने की चेष्टा की, लेकिन कृष्ण ने उससे तलवार छीनकर उसे मार डाला । कंसवध के वाद यादवों के परामर्श से कृष्ण ने पिता उग्रसेन को पुनः मथुरा का राजा बनाया ।

कंस के वध के वाद उसकी रानी जीवद्यशा ने अपने पिता मगधराज को सारा वृत्तान्त कह सुनाया । इस पर जरासंध ने अपने पुत्र कालयवन के साथ एक बड़ी सेना भेजकर यादवों को नष्ट करने का आदेश दिया । परन्तु कालयवन मारा गया । काल यवन के मारे जाने पर जरासंध ने अपने भाई अपराजित को भेजा । युद्ध में वह भी यादवों द्वारा मारा गया । उसके वाद जरासंध अपने पक्ष के अनेक राजाओं को एकत्रित कर स्वयं यादवों से युद्ध के लिए चल दिया । यह समाचार पाकर अन्धक और भोजक वंशी यादवों ने सोरियपुर छोड़ देने का निश्चय किया । वहाँ से चलकर यादव पश्चिमी समुद्र तट पर आये और उन्होंने द्वारवती को अपनी राजधानी बनाया ।

कृष्ण के पौरुष और प्रताप से पश्चिम के अनेक राजा उनके अधीन होते गये। द्वारवती में कृष्ण अनेक राजकन्याओं का वरण कर सुखपूर्वक रहने लगे। वहाँ रहते हुए कृष्ण ने राजा मीष्मक की अत्यन्त रूपवती कन्या रुक्मिणी का हरण कर उससे विवाह किया और रुक्मिणी के लिए निश्चित वर राजा शिशुपाल का वध किया। द्वारवती में कृष्ण की जिन रानियों के उल्लेख मिलते हैं, उनके नाम हैं—रुक्मिणी, सत्यमामा, जाम्बवन्ती, लक्ष्मना, सुपीमा, गौरी, पद्मावती, गान्धारी आदि। इन रानियों से कृष्ण के अनेक पुत्र हुए जिनमें प्रद्युम्न, साम्व, मानू, सुमानु, मीम, महामानु, महासेन, अकम्पन, उदधि, गौतम, प्रसेनजित, मरत, शंख आदि प्रमुख थे।

एक दिन एक वणिक् अनेक वहुमूल्य मणि आदि लेकर राजा जरासंध के यहाँ गया। जरासंध के पूछने पर वणिक् ने द्वारवती के राजा कृष्ण और यादवों की श्री-सम्पन्नता का वर्णन किया। इस पर जरासंध ने कृष्ण सहित यादवों के विनाश का संकल्प किया। जरासंध ने अपने दूत अजितसेन को इस संदेश के साथ द्वारका भेजा कि यादव या तो उसकी अधीनता स्वीकार करें अथवा युद्धभूमि में उसका सामना करें। यादवों ने युद्धभूमि में जरासंध का आमंत्रण स्वीकार कर युद्ध की तैयारी प्रारंभ कर दी। कुरुक्षेत्र में यादवों और जरासंध में भीषण संग्राम हुआ। अंत में कृष्ण द्वारा जरासंध का वध हुआ। इस विजय के बाद देवताओं ने वसुदेव पुत्र वासुदेव को नवाँ वासुदेव घोषित किया। राजाओं ने कृष्ण और बलदेव को अर्धभरत क्षेत्र के स्वामी के रूप में अभिषिक्त किया।

जिनसेन के 'हरिवंश-पुराण' में मदिरा पान से उन्मत्त शाम्व आदि यादव कुमारों द्वारा तपस्वी पाराशर के पुत्र ब्रह्मचारी द्वैपायन के मारे जाने का प्रसंग वर्णित है। द्वैपायन के मारे जाने पर पाराशर ने द्वारका को जला देने का निश्चय किया। द्वारका जलकर भस्म हो गयी और यादव परस्पर युद्ध में लड़ मरे। विनाश से वचे कृष्ण और वलराम दुःखी होकर पाण्डवों के पास पाण्डु—मथुरा जाने लगे। मार्ग में कौशाम्वी बन में कृष्ण को प्यास लगी। वलदेव जल लेने गये और इस वीच कृष्ण पीताम्वर ओढ़कर सो गये। जरा कुमार को मृग का भ्रम हुआ और उसने वाण चला दिया जिसके लगने से कृष्ण का प्राणान्त हो गया। लौटने पर बलराम ने समझा कि कृष्ण निद्रामग्न हैं। बलदेव कृष्ण को अपने कंधे पर लिये छः मास तक घूमते रहे। देवताओं द्वारा भ्रम निवारण किये जाने पर तुंगगिरि पर बलदेव ने कृष्ण का दाह संस्कार किया। कृष्ण की जीवनलीला समाप्त होने से बलदेव संसार से विरक्त हो गये और तप के द्वारा उन्होंने सिद्धत्व प्राप्त किया।

जिनसेन के 'हरिवंशपुराण' की कथा से ज्ञात होता है कि जैन—परम्परा में कृष्ण-वासुदेव के महान वीर, शक्ति-सम्पन्न, शलाकापुरुष तथा आध्यात्मिक राजपुरुष के व्यक्तित्वों के साथ एक स्थिति में उनके वाल गोपाल रूप को भी स्वीकृति मिली। परन्तु जैन—परम्परा के साहित्य में कृष्ण के वालगोपाल रूप के समावेश की स्थिति ईसा की आठवीं शताव्दी की पूर्ववर्ती नहीं है। जिनसेन के हरिवंशपुराण में कृष्ण-वासुदेव की परम्परागत अवधारणा के साथ उनके वालगोपाल रूप का भी वर्णन हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैष्णव परम्परा में पुराणों द्वारा पल्लवित कृष्ण के बाल-गोपाल रूप से सम्वन्धित घटना-प्रसंग जैन-कवियों के लिए अपनी व्यापक लोक-स्वीकृति एवं लोकरंजक प्रकृति के कारण आकर्षक वनने लगे। इसीलिए जिनसेनकृत 'हरिवंशपुराण' पर वैष्णव हरिवंशपुराण का प्रभाव परिलक्षित होता है। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि वैष्णव सम्प्रदायों के कृष्णभक्ति साहित्य को प्रमुखतः प्रभावित करने वाले भागवतपुराण में वर्णित कृष्ण की वाललीलाओं का जैन साहित्य में वर्णित कृष्ण वालगोपाल रूप पर अपेक्षित प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। अतः जैन—साहित्य में वर्णित कृष्ण का वालगोपाल रूप हरिवंशपुराण से ही प्रभावित कहा जा सकता है। जिनसेन कृत हरिवंशपुराण की परवर्ती अपभ्रंश और हिन्दी कृतियों—गुणभद्रकृत महापुराण (उत्तरपुराण), पुष्पदंत कृत महापुराण, शालिवाहनकृत हरिवंशपुराण आदि में कृष्ण का बालगोपाल रूप संदर्भित एवं वर्णित है। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि जैन—साहित्य में कृष्ण के वालगोपाल का वर्णन तथ्य कथन के स्तर का ही है।

अरिष्टनेमि और कृष्ण का वंश-परिचय

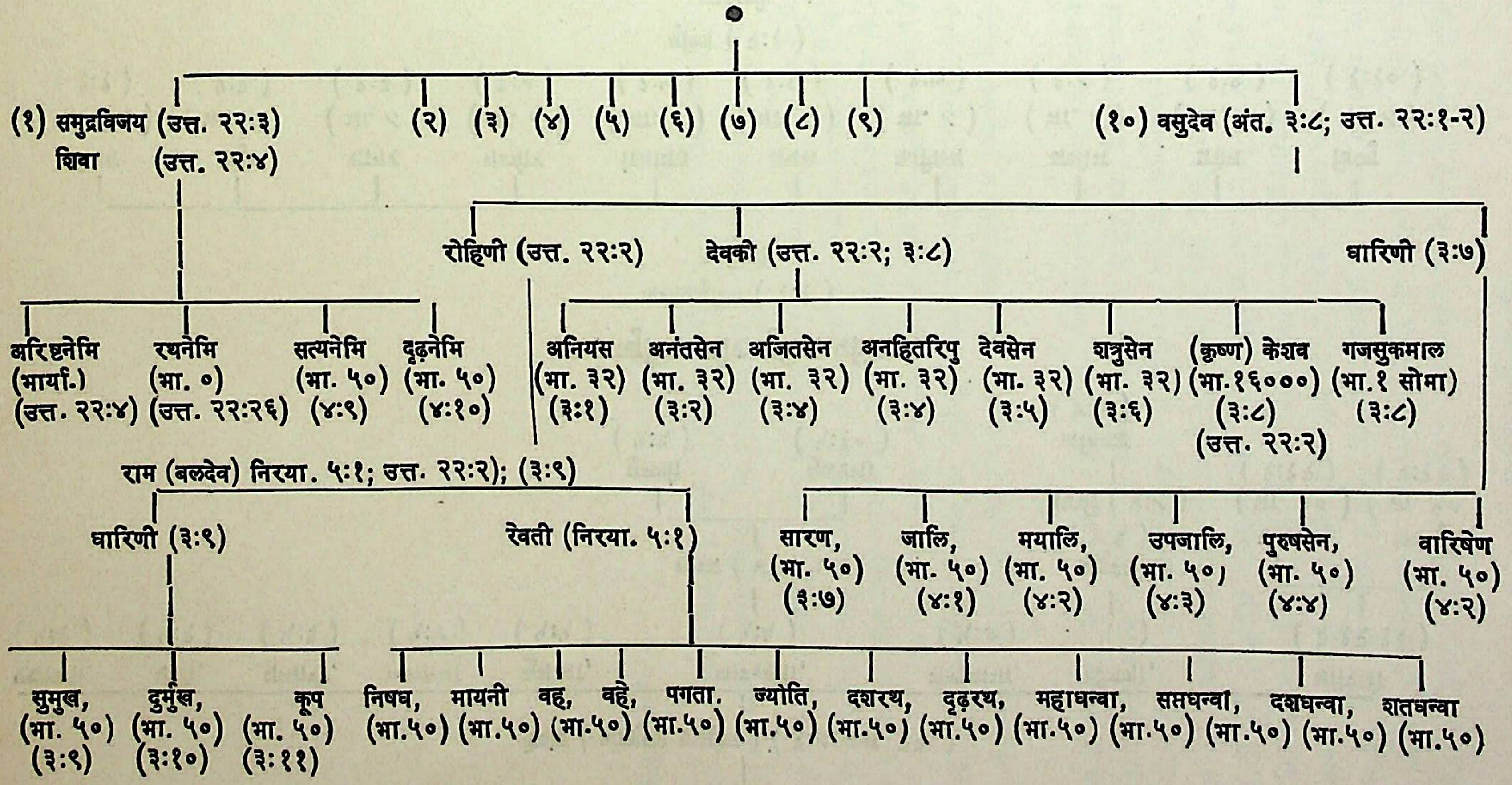
(१) समुद्रविजय (उत्त. २२:३)
शिवा (उत्त. २२:४)
(२)
(३)
(४)
(५)
(६)
(७)
(८)
(९)
(१०) वसुदेव (अंत. ३:८; उत्त. २२:१-२)
रोहिणी (उत्त. २२:२)
देवकी (उत्त. २२:२; ३:८)
धारिणी (३:७)
अरिष्टनेमि (भार्या.) (उत्त. २२:४)
रथनेमि (भा. ०) (उत्त. २२:२६)
सत्यनेमि (भा. ५०) (४:९)
दृढ़नेमि (भा. ५०) (४:१०)
अनियस (भा. ३२) (३:१)
अनंतसेन (भा. ३२) (३:२)
अजितसेन (भा. ३२) (३:४)
अनहितरिपु (भा. ३२) (३:४)
देवसेन (भा. ३२) (३:५)
शत्रुसेन (भा. ३२) (३:६)
(कृष्ण) केशव (भा.१६०००) (३:८) (उत्त. २२:२)
गजसुकमाल (भा.१ सोमा) (३:८)
राम (बलदेव) निरया. ५:१; उत्त. २२:२); (३:९)
धारिणी (३:९)
रेवती (निरया. ५:१)
सारण, (भा. ५०) (३:७)
जालि, (भा. ५०) (४:१)
मयालि, (भा. ५०) (४:२)
उपजालि, (भा. ५०) (४:३)
पुरुषसेन, (भा. ५०) (४:४)
वारिषेण (भा. ५०) (४:२)
सुमुख, (भा. ५०) (३:९)
दुर्मुख, (भा. ५०) (३:१०)
कूप (भा. ५०) (३:११)
निषध, (भा.५०)
मायनी (भा.५०)
वह, (भा.५०)
वहे, (भा.५०)
पगता. (भा.५०)
ज्योति, (भा.५०)
दशरथ, (भा.५०)
दृढ़रथ, (भा.५०)
महाधन्वा, (भा.५०)
सप्तधन्वा, (भा.५०)
दशधन्वा, (भा.५०)
शतधन्वा (भा.५०)

कृष्ण का परिवार

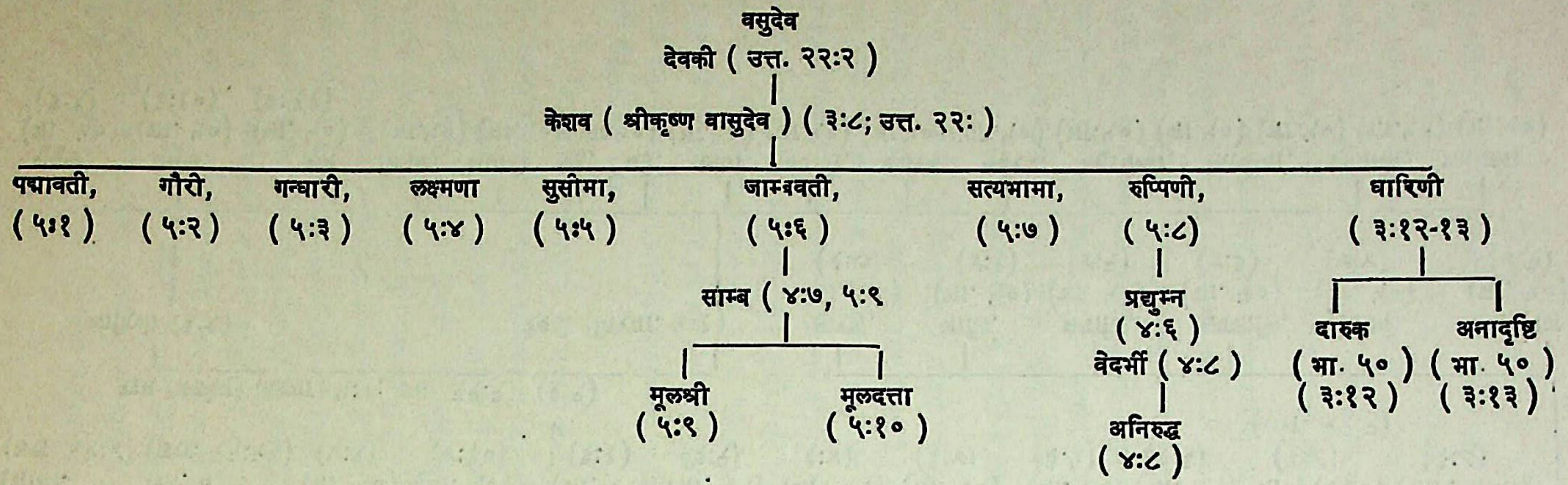
वसुदेव
देवकी (उत्त. २२:२)
केशव (श्रीकृष्ण वासुदेव) (३:८; उत्त. २२:)
पद्मावती, (५:१)
गौरी, (५:२)
गन्धारी, (५:३)
लक्ष्मणा (५:४)
सुसीमा, (५:५)
जाम्बवती, (५:६)
सत्यभामा, (५:७)
रुप्पिणी, (५:८)
धारिणी (३:१२-१३)
साम्ब (४:७, ५:९
मूलश्री (५:९)
मूलदत्ता (५:१०)
प्रद्युम्न (४:६)
वेदर्भी (४:८)
अनिरुद्ध (४:८)
दारुक (भा. ५०) (३:१२)
अनादृष्टि (भा. ५०) (३:१३)

अन्धकवृष्णि और वृष्णि-परिवार

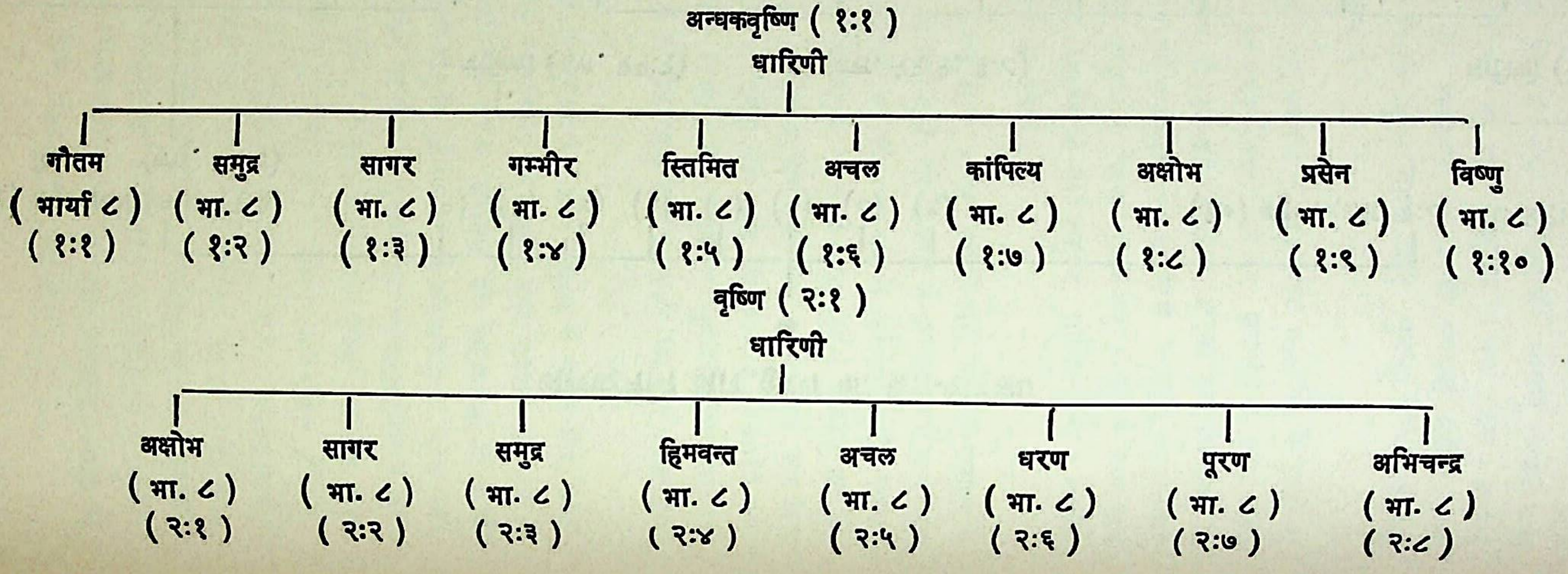
अन्धकवृष्णि (१:१)
धारिणी
गौतम (भार्या ८) (१:१)
समुद्र (भा. ८) (१:२)
सागर (भा. ८) (१:३)
गम्भीर (भा. ८) (१:४)
स्तिमित (भा. ८) (१:५)
अचल (भा. ८) (१:६)
कांपिल्य (भा. ८) (१:७)
अक्षोभ (भा. ८) (१:८)
प्रसेन (भा. ८) (१:९)
विष्णु (भा. ८) (१:१०)
वृष्णि (२:१)
धारिणी
अक्षोभ (भा. ८) (२:१)
सागर (भा. ८) (२:२)
समुद्र (भा. ८) (२:३)
हिमवन्त (भा. ८) (२:४)
अचल (भा. ८) (२:५)
धरण (भा. ८) (२:६)
पूरण (भा. ८) (२:७)
अभिचन्द्र (भा. ८) (२:८)

वैष्णव हरिवंशपुराण और जिनसेन कृत हरिवंशपुराण में वर्णित बालगोपाल की कथा में पर्याप्त साम्य दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में डॉ० महावीर कोटिया ने लिखा है 'कृष्ण जन्म की परिस्थितियाँ, वसुदेव जी द्वारा सद्यः जात कृष्ण को गोकुल ले जाना तथा नन्दगोप के संरक्षण में छोड़ना, बदले में यशोदा की पुत्री को लाना, कृष्ण का गोकुल में लालन-पालन तथा बचपन व्यतीत करना, कंस के द्वारा कृष्ण को मारने के प्रयत्न, अंत में मल्लक्रीड़ा के आयोजन के अवसर पर कृष्ण बलराम द्वारा कंस के मल्ल, चाणूर व मुष्टिक के साथ ही कंस का वध करना आदि घटना-क्रम पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो दोनों में बहुत कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है.......।"(जैन साहित्य में कृष्ण, पृ० ७५)। चूंकि पाँचवी शताब्दी तक के जैन-आगमों में कृष्ण के वालगोपाल रूप का वर्णन नहीं मिलता, अतः जिनसेन कृत 'हरिवंशपुराण' का वैष्णव हरिवंशपुराण से प्रभावित होना सिद्ध होता है। ऐसा लगता है कि जैन-आगमों में प्राप्त कृष्ण-कथा को पूर्ण रूप देने के प्रयोजन से जिनसेन ने 'हरिवंशपुराण' में कृष्ण के वालगोपाल रूप के घटना-प्रसंगों को समाविष्ट कर लिया और यथा अवसर उन्होंने उनका परम्परित जैन अवधारणा के अनुसार संस्कार भी किया।

पुराणपल्लवित कृष्ण-कथा के गोपी-वल्लभ और राधा-वल्लभ रूपों को वर्णित करने वाली शृंगारी कृष्ण लीलाओं का जैन-साहित्य में सर्वथा अभाव है। कौरव-पाण्डव के वीच हुए प्रख्यात महाभारत युद्ध के सम्बन्ध में भी ये कृतियाँ प्रायः मौन हैं। गीता के धर्मोपदेशक कृष्ण के व्यक्तित्व का भी इनमें कोई संदर्भ नहीं मिलता। जैन-आगमों में यादवों और द्वारवती का विनाश तथा जरा नामक वहेलिये के वाण से कृष्ण की जीवन-लीला की समाप्ति के प्रसंग प्रायः उसी रूप में वर्णित हुए हैं जिस रूप में महाभारत और घटजातक में उल्लिखित हैं। वैष्णव, जैन और वौद्ध परम्पराओं में वर्णित कंसवध, कृष्ण और वासुदेव की एकरूपता, कृष्ण के अद्वितीय शौर्य एवं पराक्रम के प्रसंग प्रायः समान है।

समग्रतः जैन-परम्परा में कृष्ण-कथा का जो रूप अंकित है, वह जनश्रुतियों और अभिप्रायों से मण्डित होते हुए भी वैष्णव परम्परा की अवतारवादी धारणा से परिपुष्ट कृष्णकथा की तुलना में अधिक तथ्यात्मक एवं लौकिक है।

—डॉ० राजेन्द्रकुमार वर्मा

●

बौद्ध वाङ्मय में कृष्ण-कथा

कृष्ण-कथा भारतीय संस्कृति की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी है। अतीत से ही कृष्ण भारतीय जन-मानस में स्थित होकर इसे अनुप्राणित करते रहे हैं। भारतीय वाङ्मय की सभी विधाएँ इनसे जुड़ी हुई हैं और उनमें इन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त है। इस स्थिति में बौद्ध साहित्य इनसे अछूता कैसे रह सकता था। प्रकारान्तर से कृष्ण-कथा ने यहाँ भी स्थान प्राप्त किया। पर इसका स्वरूप यहाँ पर क्या रहा, इसे स्पष्ट करने के पूर्व इस प्रश्न पर विचार करना युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक बौद्ध युग में क्या यह प्रतिष्ठित हो चुकी थी? इस परिप्रेक्ष्य में कृष्ण-कथा को सर्वप्रथम ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखना समीचीन होगा।

भारतीय वाङ्मय की ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में अन्यतम प्रो॰ विन्टरनित्स के मतानुसार महाभारत में व्यक्त कृष्ण-कथा का उल्लेख वेदों में नहीं प्राप्त है[1]। किन्तु सभी विद्वान् उनके इस विचार से सहमत नहीं हैं। यद्यपि ऋग्वेद में कृष्ण के उल्लेख कम तथा अस्पष्ट हैं, किन्तु जो उल्लेख प्राप्त हैं उनके आधार पर विद्वानों ने यह मत व्यक्त किया है कि ऋग्वेद में प्राप्त कृष्ण-सम्बन्धी ये उल्लेख निश्चित रूप से परम्परया प्राप्त कृष्ण-कथा की ओर ही इङ्गित करते हैं। ऋग्वेद में कृष्ण नामक एक ऋषि का हम उल्लेख पाते हैं जिन्होंने मन्त्र ८, ८५ का साक्षात्कार किया था और जो विश्वक के पिता थे। कतिपय विद्वान् इन्हें कौषीतकि ब्राह्मण में उल्लिखित कृष्ण आङ्गिरस मानते हैं।[2] कुछ भी हो, यद्यपि इस उल्लेख तथा अन्य संदर्भों में उल्लिखित कृष्ण का सम्बन्ध पुराणों में वर्णित कृष्ण से ही है, किंतु इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। तथापि उल्लेख कृष्ण शब्द का है, इतना यथार्थ हैं।

ऐतिहासिक ईसा पूर्व की शताब्दियों में कृष्ण का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में हुआ है, जहाँ पर इन्हें घोर आङ्गिरस का शिष्य तथा देवकीपुत्र कहा गया है। यहाँ पर यह भी उक्त है कि कृष्ण ने आङ्गिरस से वैदिक कर्मकाण्ड के रहस्य के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया था।[3] इसके पश्चात् पाणिनि के सूत्र "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्[4]" में वासुदेव के रूप में उनकी संक्षिप्त चर्चा प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने अन्धक तथा वृष्णि कुलों का भी उल्लेख किया है[5], जो परम्परया कृष्ण के कुल बताये गये हैं। वृष्णियों का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता,[6] तैत्तिरीय ब्राह्मण,[7] शतपथ ब्राह्मण[8] तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण[9] आदि में भी है। यास्क के निरुक्त में भी कृष्ण-कथा से सम्बन्धित स्यमन्तक मणि के आख्यान की ओर संकेत है[10] एवं बौधायन धर्मसूत्र में विष्णु के १२ नामों में से केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, मधुसूदन, हृषीकेश तथा दामोदर आदि कृष्ण की ओर ही इङ्गित करते हैं।[11] इनके अतिरिक्त मेगस्थनीज़ की इंडिका[12], कौटिल्य के अर्थशास्त्र[13], पतञ्जलि के महाभाष्य[14] तथा महाभारत आदि में कृष्ण उल्लिखित हैं। इनमें महाभारत में वर्णित कृष्ण-कथा विशेष रूप से ध्यातव्य है, क्योंकि कथा के रूप में कृष्ण का वर्णन यहीं से मिलना प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ वे पाण्डवों के मित्र तथा सहायक, युद्ध में नायक एवं भगवद्गीता के उपदेशक आदि के रूप में व्याख्यात हैं। पुराणों में वर्णित कृष्ण का बालचरित उसी रूप में महाभारत में प्राप्त नहीं है और यह इस ओर संकेत करता है कि पुराणों में आई हुई कृष्ण-कथा महाभारत के बाद की थोड़ी विकसित कथा है। इस प्रकार कृष्ण-कथा के सन्दर्भ में महाभारत महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। उधर प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्मय में भी कृष्ण-कथा प्रकारान्तर से मिलने लगती है। इस दृष्टि से इस तथ्य पर विचार करना परमावश्यक है कि क्या महाभारत प्रारम्भिक बौद्ध काल में ज्ञात था अथवा इसकी स्थिति प्रारम्भिक बौद्ध युग में हो गयी थी और समाज महाभारत अथवा भारत-युद्ध की कथा से परिचित था तथा इसकी कथाएँ इसी कारणवश पालि बौद्ध वाङ्मय में आयीं।

महाभारत की स्थिति प्रारम्भिक बौद्ध युग में हो गयी थी, इस पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है और अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने इसके विरुद्ध मत प्रकट किया है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में इनको धारणा अधिकतर इस ओर झुकी हुई है कि ग्रन्थ के रूप में इसकी स्थिति चतुर्थ शताब्दी में हो पायी होगी; किन्तु इसे प्रतिपादित करते हुए वे स्वयं उलझ गये हैं और इस दृष्टि से अन्य स्थलों पर उनके द्वारा प्रस्तुत विचार स्वयं इनकी चतुर्थ शताब्दी वाली धारणा का खण्डन कर देते हैं, जिसे यहाँ संक्षेप में स्पष्ट किया जायेगा।

वेद में महाभारत का उल्लेख नहीं है, यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों में कुरुक्षेत्र को पवित्र क्षेत्र की संज्ञा प्रदान की गयी हैं। यदि महाभारत युद्ध की घटना घटित हुई रहती तो उसका उल्लेख अवश्य ही वैदिक वाङ्मय में होता। ब्राह्मण ग्रंथों में परीक्षित के पुत्र जनमेजय तथा भरत का उल्लेख है और अथर्ववेद के कुन्ताप गान में परीक्षित को शान्ति प्रिय राजा घोषित करते हुए उनकी प्रशंसा की गयी है। काठक में विचित्रवीर्य के पुत्र धृतराष्ट्र का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु सम्पूर्ण वेद में पाण्डु अथवा उनके पुत्र पाण्डवों की ओर कहीं भी संकेत नहीं है। साथ ही दुर्योधन, दुःशासन तथा कर्ण आदि नाम वहाँ नहीं प्राप्त होते। अर्जुन नाम यद्यपि एक ब्राह्मण में आया है, किन्तु यह वहाँ इन्द्रदेव के गुप्त नाम के रूप में वर्णित है। सर्वप्रथम हम साङ्खायन श्रौतसूत्र में कुरुक्षेत्र में हुए एक ऐसे युद्ध का उल्लेख पाते हैं, जिसमें कौरवों की पराजय हुई थी। आश्वलायन गृह्यसूत्र में ग्रन्थ के रूप में भारत तथा महाभारत का वर्णन मिलता है। पाणिनि ने अपने सूत्रों में युधिष्ठिर, भीम तथा विदुर आदि शब्दों की संरचना स्पष्ट की है और 'महाभारत' इस समस्त पद में स्वर-विधान का निर्णय किया है। पतञ्जलि ने प्रथम बार कौरवों तथा पाण्डवों की इस युद्ध-कथा की ओर इङ्गित किया है। ये सब विचार भारतीय वाङ्मय के इतिहास के विद्वान् व्याख्याकार श्री विन्टरनित्स के हैं।[१५]

इसी सन्दर्भ में बौद्ध पालि त्रिपिटक का उल्लेख करते हुए वे प्रतिपादित करते हैं कि इसमें महाभारत का उल्लेख नहीं मिलता, यद्यपि त्रिपिटक के प्राचीन अंशों में आख्यान शैली की ऐसी गाथाएँ प्राप्त होती हैं, जिनका प्रचलन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी था और जो महाभारत की शैली की उद्भाविका प्रतीत होती हैं। जातकों के पद्यात्मक अंश त्रिपिटक में ही अन्तर्भूत हैं। इनमें महाभारत के कुछ पात्रों के नाम अवश्य प्राप्त होते हैं, उदाहरणार्थ—पाण्डव, धनञ्जय, युधिट्ठिल, धतरट्ठ, विधुर आदि। कृष्णा (द्रौपदी) के अपने पति का वरण करने तथा पांच पुरुषों की पत्नी होने के सम्बन्ध में यहाँ प्राप्त उल्लेख यह व्यक्त करता है कि इस ग्रन्थ का महाभारत से कुछ परिचय अवश्य है।[१६]

यह सब व्यक्त करते हुए वहीं टिप्पणी में दीघनिकाय के प्रथम सुत्त 'ब्रह्मजाल सुत्त' में उल्लिखित युद्ध-कथा शब्द पर सशङ्कित होते हुए वे लिखते हैं कि यदि इसका अर्थ महाभारत तथा रामायण होता, जैसा कि इस सुत्त के अट्ठकथाकार (अर्थकथाकार) ने व्याख्या की है तो स्वयं त्रिपिटक में ही इन नामों का उल्लेख होता, न कि मात्र अट्ठकथा में।[१७] यहाँ पर 'वदतो व्याघात' परिलक्षित है, साथ ही अपने मन में किसी बिन्दु को निश्चित करके उसके विरुद्ध आने वाले शक्तिशाली प्रमाणों को भी कुछ कहकर टालने की पाश्चात्य प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। अतः इसे बौद्ध दृष्टि से स्पष्ट करना अत्यन्त समीचीन होगा। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त[१८] में भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को 'सम्फप्पलाप' (निरर्थक प्रलाप) तथा युद्ध-कथा की चर्चा करने से मना किया है और इसकी चर्चा न करना प्रशंसनीय माना है। प्रसङ्ग यह है कि एक बार भगवान् बुद्ध भिक्षु-सङ्घ के साथ राजगृह से नालन्दा जाने वाले मार्ग पर आरूढ़ थे। सुप्रिय परिव्राजक भी अपने शिष्य ब्रह्मदत्त के साथ उसी मार्ग पर चल रहा था। सुप्रिय अनेक प्रकार से बुद्ध, धर्म तथा सङ्घ की निन्दा कर रहा था और उसका शिष्य ब्रह्मदत्त प्रशंसा। रात में बुद्ध अपने सङ्घ के साथ 'अम्बलट्ठिका' में टिक गये। सुप्रिय भी ब्रह्मदत्त के साथ वहीं पर टिका और रात में भी वे पूर्व की ही भांति चर्चा में लिप्त रहे। जब इस विषय पर भिक्षुओं की बात बुद्ध से हुई तो उन्होंने स्पष्ट किया कि शीलवान होने के कारण ही सामान्य जन उनकी प्रशंसा करते हैं। इस शील का व्याख्यान उन्होंने प्रारम्भिक शील, मध्यम शील तथा महाशील में वर्गीकृत करके किया और प्रारम्भिक जीव-हिंसा

चोरी, अब्रह्मचर्य, मिथ्या-भाषण, चुगली करना, कठोर-भाषण आदि से विरत रहने को परिगणित करते हुए कहा कि इनसे विरत रहने के कारण ही सामान्य जन द्वारा उनकी प्रशंसा की जाती हैं। आगे उन्होंने 'सम्फप्पलाप' अर्थात् निरर्थक प्रलाप से विरत रहने की बात उठायी।[१९] वहाँ पर इस सम्बन्ध में मूल इस प्रकार है—"सम्फप्पलापं पहाय सम्फप्पलापा पटिविरतो समणो गोतमो[२०]।" इस वाक्य में आये हुए 'सम्फप्पलापं' पद की व्याख्या दीघनिकाय की अट्ठकथा (अर्थकथा) सुमङ्गलविलासिनी में आचार्य बुद्धघोष द्वारा इस प्रकार की गयी है—"अनत्थविञ्ञापिका कायवचीपयोगसमुट्ठापिका अकुसलचेतना ....सम्फप्पलापो... तस्स द्वे सम्भारा—भारतयुद्ध-सीताहरणादिनिरत्थककथापुरेक्खारता, तथारूपी कथा कथनं च"।[२१] इस प्रकार 'सम्फप्पलाप' अर्थात् निरर्थक प्रलाप के अन्तर्गत भारतयुद्ध-कथा तथा सीताहरण-कथा (रामायण-कथा) को अट्ठकथाकार ने रखा है।

आगे मध्यम शील के अन्तर्गत इसी सुत्त में कहा गया है कि जिस प्रकार अन्य श्रमण तथा ब्राह्मण इस प्रकार की व्यर्थ अथवा तिरश्चीन कथाओं में लगे रहते हैं, जैसे—राजकथा, चोरकथा, महामात्यकथा, सेनाकथा, भयकथा, युद्धकथा....आदि; उस प्रकार से श्रमण गौतम ऐसी व्यर्थ कथाओं में नहीं लगा रहता। अतः लोग उसकी प्रशंसा करते हैं।[२२] इस सन्दर्भ में आये हुए 'युद्धकथा' पद का व्याख्यान सुमङ्गलविलासिनी में ही इस प्रकार से प्राप्त है—"युद्धेऽपि भारतयुद्धादीसु असुकेन असुको एवं मारितो एवं विद्धोति कामस्सादवसेनेव कथा तिरच्छानकथा"।[२३] अर्थात् भारत आदि युद्धों में अमुक द्वारा अमुक इस प्रकार मारा गया, इस प्रकार बेधा गया (आदि रीति से) काम तथा आस्वाद के वश से प्रवृत्त व्यर्थ कथा युद्धकथा है। यह भी उल्लेखनीय है कि सुमङ्गलविलासिनी के थाई (स्यामी) संस्करण में 'भारतयुद्धादीसु' के स्थान पर 'भारतरामयुद्धादीसु' पाठ प्राप्त होता है।[२४] इस प्रकार दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त में 'सम्फप्पलाप' तथा 'युद्धकथा' आदि जो पद व्यवहृत हुए हैं, उनका इस परम्परा में अर्थ महाभारत-कथा तथा रामायण-कथा किया गया है।

ऊपर यह व्यक्त किया जा चुका है कि पालि त्रिपिटक में महाभारत का उल्लेख नहीं है। पहले यह प्रतिष्ठापित करके इससे सशङ्कित रहते हुए विन्टरनित्स ने उसी स्थल पर यह पाद-टिप्पणी दे दी है कि युद्धकथा का अर्थ अथवा अभिप्राय यदि रामायण अथवा महाभारत प्रारम्भिक त्रिपिटक युग में ही अभिप्रेत होता तो मूल में ही इन नामों का उल्लेख होता, मात्र युद्धकथा कहकर छोड़ न दिया जाता। उनका यह कथन निरर्थक है, क्योंकि इसमें स्पष्ट कारण यह प्रतीत होता है कि उक्त बौद्ध कथन में इन विशिष्ट ग्रन्थों के प्रति किसी भी प्रकार के आदर भाव की सम्भावना ही नहीं है। जिसे निरर्थक प्रलाप तथा तिरश्चीन कहा जा रहा हो, उसके प्रति गौरव-बुद्धि कैसे हो सकती है और ऐसा न होने पर मूल में इनके नामोल्लेख का प्रसङ्ग ही नहीं उठता।

यदि इस सन्दर्भ में विन्टरनित्स के मस्तिष्क में यह शङ्का हो कि आचार्य बुद्धघोष का काल पाँचवीं शताब्दी है और इस समय तक महाभारत तथा रामायण आदि ग्रन्थों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, अतएव उनके द्वारा उपर्युक्त पदों का इस प्रकार से व्याख्यान हुआ तो त्रिपिटक तथा उसकी अट्ठकथाओं के सन्दर्भ में विद्यमान बौद्ध परम्परा के पर्यालोचन के पश्चात् यह शङ्का भी निर्मूल ही सिद्ध होती है। परम्परा के अनुसार सम्राट् अशोक के पूर्व हुई बौद्ध सङ्गीतियों में मूल त्रिपिटक के साथ उसकी अट्ठकथाओं का भी सङ्गायन हुआ था और अशोक के समय में जो तृतीय सङ्गीति इस सन्दर्भ में हुई, उसके अनुसार व्यवस्थित मूल त्रिपिटक तथा उसकी अट्ठकथाओं की परम्परा को अशोक के पुत्र महेन्द्र अपने साथ सिंहल द्वीप ले गये थे। इस तथ्य को सुमङ्गलविलासिनी,[२५] अट्ठसालिनी[२६] तथा धम्मपद अट्ठकथा[२७] प्रभृति अट्ठकथाओं के प्रारम्भिक अंश उद्घाटित करते हैं। वहीं यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि सिंहल-द्वीप-वासियों के हित के लिए स्थविर महेन्द्र द्वारा उन अट्ठकथाओं का सिंहल-भाषा में अनुवाद प्रस्तुत किया गया[२८] और काफी समय तक यही अनुवाद प्रचलन में रहा होगा। बाद में आगे चल कर आचार्य बुद्धघोष ने सिंहली भाषा से पालि अथवा मागधी भाषा में इनका अनुवाद मात्र किया[२९], कोई नवीन

रचना नहीं की। बुद्धघोष से पूर्व सिंहली भाषा में दीघनिकाय की मूल अट्ठकथा का नाम महा-अट्ठकथा था[३०] और पालिभाषा में इसका रूपान्तर करके आचार्य बुद्धघोष ने इसका नाम सुमङ्गलविलासिनी रखा।[३१] इस अट्ठकथा के प्रारम्भिक अंशों में कहा गया है—

"सीहलदीपं पन आभताथ वसिना महामहिन्देन।
ठपिता सीहलभासाय दीपवासीनमत्थाय॥
अपनेत्वा ततोहं सीहलभासं मनोरमं भासं।
तन्तिनयानुच्छविकं आरोपेन्तो विगतदोसं" ॥[३२]

यदि अशोक के पूर्व सम्पन्न सङ्गीतियों में अट्ठकथाओं के सङ्गायन की बात को पूर्ण रूप से प्रामाणिक न भी स्वीकार किया जाय तो इस स्थिति में भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अशोक के पूर्व भी मूल त्रिपिटक के व्याख्यान की कोई परम्परा अवश्य विद्यमान थी, जिसे अशोक के समय में हुई तृतीय सङ्गीति में सुव्यवस्थित किया गया और मूल त्रिपिटक के साथ महेन्द्र इसे सिंहल द्वीप ले गये। इस तथ्य के प्रकाश में प्रस्तुत सुमङ्गलविलासिनी में प्राप्त इस व्याख्यान को पाँचवीं शताब्दी का मान कर तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इस व्याख्यान की परम्परा काफी प्राचीन है और यह यही द्योतित करती है कि प्रारम्भिक बौद्ध युग में महाभारत की स्थिति हो चुकी थी, और महाभारत की स्थिति को मान लेने पर कृष्ण-कथा की स्थिति को तो मान ही लेना पड़ेगा। जब महाभारत के प्रति बौद्धों की गौरव-बुद्धि नहीं थी तो कृष्णकथा के प्रति उनकी विशेष गौरव-बुद्धि कैसे हो सकती थी, क्योंकि वहाँ तो प्राचीन मान्यताओं का खण्डन करके अपनी नवीन मान्यता को स्थापित करना था। अतः जहाँ तक हो सका उन्होंने महाभारत तथा कृष्ण-कथा के सीधे उल्लेख से बचने का प्रयत्न किया।

पालि त्रिपिटक में महाभारत का उल्लेख न मानते हुए भी विन्टरनित्स ने इसके पद्यात्मक भाग में महाभारत के पात्रों के नामोल्लेख की चर्चा की है और इस भाग को त्रिपिटक में ही अन्तर्भूत माना है।[३३] जातक की गाथाएँ त्रिपिटक के ही अंश हैं और उनमें महाभारत के पात्रों के नाम आये हैं, यह स्वीकार कर लेने पर त्रिपिटक वाङ्मय के सुव्यवस्थित होने के समय महाभारत के अस्तित्व का व्याख्यान स्वयं ही प्रतिपादित हो जाता है। ९ अंगों में बुद्ध वचन का विभाजन अथवा वर्गीकरण अति प्राचीन है और उनमें एक अङ्ग जातक भी है, अतः बुद्धवचन के रूप में जातक की कोई गौण स्थिति नहीं है और इससे भी प्रारम्भिक बौद्ध युग में महाभारत का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है तथा ऐसी स्थिति में विन्टरनित्स का अपना तर्क ही त्रिपिटक वाङ्मय में इसको अविद्यमानता को प्रकाशित करने वाली इनकी मान्यता का खण्डन कर देता है। इन्हीं के द्वारा प्रस्तुत सांख्यायन श्रौतसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र, पाणिनि के सूत्र तथा पतञ्जलि आदि के व्याख्यान प्रबल प्रमाणों के रूप में प्रारम्भिक बौद्ध युग में महाभारत की विद्यमानता की ओर स्पष्ट रूप से इङ्गित करते हैं।[३४] इस प्रकार से विन्टरनित्स अपने प्रमाणों, साक्ष्यों तथा तर्कों से अपने विरुद्ध ही स्थित जान पड़ते हैं।

इसके साथ ही पालि त्रिपिटक के 'महानिद्देस' नामक ग्रन्थ में वासुदेव का व्रत करने वाले तथा बलदेव का व्रत करने वाले लोगों की चर्चा है।[३५] यद्यपि यह 'सुत्तनिपात' नामक प्राचीनतम त्रिपिटक ग्रन्थ की टीका है, तथापि पहली शताब्दी में त्रिपिटक के लिपिबद्ध होने के बहुत पूर्व ही इसे त्रिपिटक के अन्तर्गत रखा जा चुका था। इसमें प्राप्त उपर्युक्त उल्लेख तारस्वरेण यही प्रतिपादित करता है कि वासुदेव अर्थात् कृष्ण तथा बलदेव (कृष्ण के भ्राता) की पूजा समाज में प्रतिष्ठित थी और यह स्वतः महाभारत की स्थिति को स्पष्ट करते हुए प्रारम्भिक बौद्ध युग में कृष्ण-पूजा के प्रचलन को स्पष्ट रूप से इङ्गित करने वाला एक प्रबल साक्ष्य है।

विद्वानों की यह सामान्य मान्यता है कि महाभारत ग्रन्थ की स्थिति चतुर्थ शताब्दी में हुई,[३६] किन्तु इसके पूर्व इसकी स्थिति को सिद्ध करने में सहायक एक महत्वपूर्ण साक्ष्य इधर प्रस्तुत हुआ है और वह है 'जनरल आफ अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी' में प्रकाशित लेख,[३७] जिसका शीर्षक है 'दि ओल्डेस्ट एक्सटैण्ट पर्वन लिस्ट आफ दि महाभारत'। इसके लेखक Dieterschlingloff हैं। आधुनिक शताब्दी के एक जर्मन अन्वेषक दल को मध्य एशिया के किज़िल नामक स्थान से संस्कृत की अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं, जो सम्प्रति पूर्वी बर्लिन के संग्रहालय में संगृहीत हैं। इन्हीं में एक छोटी पाण्डुलिपि भी प्राप्त है, जो कुषाण-कालीन ब्राह्मी लिपि में लिखी गयी है और लिपि के आधार पर इसके लिखे जाने का काल पहली शताब्दी से लेकर तीसरी शताब्दी ई० तक निर्धारित किया जा सकता है। यद्यपि यह ग्रंथ दूसरे विषय से सम्बन्धित है तथापि इसमें महाभारत और उसके पर्वों के सम्बन्ध में विवरण प्रस्तुत किया गया है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ १८ महापर्वों के अतिरिक्त लगभग १०० उपपर्वों के नाम भी दिये गये हैं। किसी भी ग्रंथ को प्रसिद्धि में आने में १००-२०० वर्ष लग ही जाते हैं। इस दृष्टि से उक्त आधार पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि महाभारत ग्रंथ का एक निश्चित तथा प्रामाणिक संस्करण ईसा पूर्व में ही प्रस्तुत हो चुका था। इसके विशेष विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने में समर्थ हो जाते हैं कि भारत-आख्यान ही नहीं, अपितु महाभारत ग्रंथ भी प्रारम्भिक बौद्ध काल में प्रतिष्ठित हो गया था तथा प्रचलन में था।

इस प्रकार पर्वों तथा उपपर्वों में विभक्त महाभारत ग्रन्थ की स्थिति को प्रारम्भिक बौद्ध काल में मान लेने पर उस समय कृष्ण-कथा के प्रचलन को मानने के लिए विवश होना पड़ेगा। यह बात समाज में कृष्ण नाम के प्रचलन 'महानिद्देस' नामक ग्रंथ में वासुदेव तथा बलदेव के पूजा की चर्चा तथा कृष्ण-सम्बन्धी आख्यान का जातकों द्वारा प्रस्तुतीकरण आदि से भी सिद्ध होती है। इसका वहाँ पर क्या स्वरूप है, इसकी विवेचना उक्त आधारों पर विस्तृत रूप से करना आवश्यक है।

प्रारम्भिक पालि वाङ्मय में 'कण्ह' (कृष्ण) शब्द का प्रयोग काले वर्ण के अर्थ में अथवा व्यक्तिवाचक नाम के रूप में हुआ है। यहाँ पर यह शब्द मार के एक नाम के रूप में प्रयुक्त है[३८] तथा 'कण्ह' नामक एक प्रत्येक-बुद्ध की चर्चा भी प्राप्त होती है।[३९] राजा ओक्काक (इक्ष्वाकु) की दासी-पुत्री दिसा से उत्पन्न पुत्र का नाम भी काले वर्ण का होने के कारण कण्ह (कृष्ण) रखा गया था और इन्हें कण्हायन-गोत्र का पूर्वज बताया गया है। बाद में साधना करके इन्होंने अनेक सिद्धियों को प्राप्त किया और 'ओक्काक' राजा की पुत्री मद्दरूपी से इनका विवाह सम्पन्न हुआ।[४०] कण्हजातक[४१] में कृष्ण कुमार की चर्चा है। वहाँ इन्हें एक बोधिसत्त्व के रूप में दर्शाया गया है। अतीत में महान् ऐश्वर्यवान् एक धनाढ्य ब्राह्मण था, जिसे कोई पुत्र नहीं था। उसने शील ग्रहण कर पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना की तो बोधिसत्त्व उसकी ब्राह्मणी की कोख में आये। काले वर्ण का होने के कारण इनका नाम कृष्ण कुमार रखा गया। तक्षशिला से अध्ययन पूर्ण करके लौटने पर पिता ने इनका विवाह कर दिया। बाद में धन तथा ऐश्वर्य को व्यर्थ मानते हुए अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का दान करके इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की और साधना मार्ग पर आरूढ़ हुए। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर शक्र ने इन्हे वरदान दिया और अन्त में ये ब्रह्मलोकगामी हुए।

कण्हदीपायन (कृष्ण-द्वैपायन) जातक[४२] में इस नाम के एक तपस्वी की चर्चा है। इनका उल्लेख घतजातक[४३] में भी आया है। इनका कृष्ण-कथा से सीधा सम्बन्ध है। इस पर आगे स्वतन्त्र रूप से विस्तार से विचार किया जायेगा।

असित देवल ऋषि को भी काले वर्ण का होने के कारण 'कण्ह इसि' (कृष्ण ऋषि) कहा गया है।[४४] इनका उल्लेख महाभारत में भी प्राप्त है,[४५] किन्तु बौद्ध वाङ्मय में इनकी कथा बौद्ध सन्दर्भों में ही प्रस्तुत की गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण नाम का प्रयोग पालि वाङ्मय में अनेक स्थलों पर हुआ है। यद्यपि व्याख्यानानुसार यह प्रयोग मुख्यतः काले वर्ण से सम्बन्धित होने के कारण है, किन्तु घतजातक द्वारा व्यक्त कृष्ण अथवा वासुदेव कथा को दृष्टिगत करते हुए हम यह कह सकते हैं कि समाज में कृष्ण-कथा का प्रचलन था तथा इसी कारणवश व्यक्तिवाचक नाम कृष्णपरक रखे गए थे, क्योंकि नामकरण मुख्यतया पूर्व में हुए किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति के नाम पर ही किया जाता है। प्रारम्भिक पालि वाङ्मय में कृष्ण नाम का उल्लेख इस ओर स्पष्टतया इङ्गित करता है।

सुत्तनिपात पालि त्रिपिटक में संगृहीत ग्रंथों में प्राचीनतम माना जाता है। इस ग्रन्थ के 'अट्ठक' तथा 'पारायण' वग्ग भगवान् बुद्ध के समय में ही प्रसिद्ध हो चुके थे और आयुष्मान् सोण कुटिकण्ण ने सम्पूर्ण 'अट्ठकवग्ग' का पाठ बुद्ध के समक्ष किया था।[४६] ये स्थविर महाकच्चायन के शिष्य थे और उनकी अनुमति प्राप्त करके शास्ता का दर्शन करते हेतु श्रावस्ती के जेतवनाराम में गये थे। वहाँ पहुंचकर भगवान् को अभिवादन कर ये एक ओर बैठ गये। तब भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—"आनन्द, इस नवागत भिक्षु को वास दो"।[४७] भगवान् के ऐसा कहने पर आनन्द ने सोचा कि शास्ता इन्हें अपने ही विहार में रखना चाहते हैं, अतः उन्होंने उनके रहने का वहीं प्रबन्ध किया।[४८] रात बीतने पर अत्यन्त प्रत्यूष-काल में भगवान् ने आयुष्मान् सोण से पूछा—"भिक्षु, धर्म का पाठ कर सकते हो"?[४९] "हाँ, भन्ते" कहकर सोण ने सभी अट्ठकवग्गों का सस्वर पाठ प्रस्तुत किया।[५०] तब भगवान् ने उनका अनुमोदन करते हुए कहा—"साधु साधु भिक्षु, तूने अट्ठकवग्गिकों को अच्छी तरह से ग्रहण किया है, अच्छी तरह से मन में किया है, अच्छी तरह से धारण किया है" आदि।[५१] इस उल्लेख से स्पष्ट है कि 'सुत्तनिपात' के ये अंश उसी समय (अर्थात् बुद्ध के समय में ही) स्थित होकर प्रसिद्ध हो चुके थे। इसी 'अट्ठकवग्ग' में 'सुद्धट्ठकसुत्त' है,[५२] जिसकी तीसरी गाथा यह है—

न ब्राह्मणो अञ्ञतो सुद्धिमाह दिट्ठे सुते सीलवते मुते वा।
पुञ्जे च पापे च अनुपलित्तो अत्तञ्जहो नयिध पकुब्बमानो॥[५३]

इस मूल गाथा का अर्थ इस प्रकार है-"द्रष्ट, श्रुत, शील, व्रत और विचारित- इनमें से किसी एक के द्वारा ब्राह्मण ने शुद्धि नहीं कही है। जो पुण्य और पाप में लिप्त नहीं है, जो आत्म-त्यागी है, तथा पुण्य-पाप नहीं करने वाला है, वही शुद्ध है"।

'सुत्तनिपात' पर 'निद्देस' नामक एक अति प्राचीन व्याख्या प्राप्त है, जिसे परम्परा में भगवान् बुद्ध के अग्र-महाश्रावक आर्य सारिपुत्र की रचना कहा जाता है और इसे बुद्धवचन मानते हुए 'खुद्दकनिकाय' के अन्तर्गत सङ्कलित किया गया है। निद्देस के दो भाग हैं-महानिद्देस[५४] तथा चूलनिद्देस[५५]। 'अट्ठकवग्ग'[५६] की व्याख्या 'महानिद्देस' है तथा 'खग्गविसावसुत्त'[५७] एवं 'पारायणवग्ग'[५८] की व्याख्या 'चूलनिद्देस', इस नाम से अभिहित की जाती है। 'अट्ठकवग्ग' की उपर्युक्त गाथा में आये हुए 'सीलवते' पद में 'वत' की व्याख्या 'महानिद्देस' में इस प्रकार प्राप्त है-"सन्ते के समण-ब्राह्मणा वतसुद्धिका। ते हत्थिवतिका वा होन्ति, अस्सवतिका वा होन्ति, गोवतिका वा होन्ति, कुक्कुरवतिका वा होन्ति, काकवतिका वा होन्ति, वासुदेववतिका वा होन्ति, बलदेववतिका वा होन्ति......सूरियवतिका वा होन्ति, इन्दवतिका वा होन्ति, ब्रह्मवतिका वा होन्ति, देववतिका वा होन्ति, दिसावतिका वा होन्ति-इमेते समणब्राह्मणा वतसुद्धिका"[५९] [अर्थात ऐसे श्रमण एवं ब्राह्मण हैं, जो यह मानते हैं कि व्रत से शुद्धि होती है। वे हाथी, घोड़े, गो, कुत्ता, कौआ, वासुदेव, बलदेव....सूर्य, इन्द्र, ब्रह्म, देव, दिशाओं के व्रत करने से शुद्धि होगी, ऐसा मानते हैं-ये श्रमण तथा ब्राह्मण व्रतशुद्धिक कहे जाते हैं।]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सुद्धट्ठकसुत्त' में शुद्धि का प्रश्न उठा कर ये शुद्धियाँ विभिन्न प्रकार के व्रतों द्वारा होती हैं, ऐसी मान्यता का खण्डन करते हुए उपरि उल्लिखित व्याख्या में विभिन्न प्रकार के व्रतों की परिगणना के प्रसङ्ग

में वासुदेव-व्रत तथा बलदेव-व्रत करने वालों का उल्लेख करते हुए ऐसे व्रतों से परम शुद्धि नहीं प्राप्त होती, इसे प्रतिपादित किया गया है। यह व्याख्या यही घोषित करती है कि इसकी रचना के पूर्व से ही कृष्ण तथा वलदेव का व्रत करने वाले श्रमण तथा ब्राह्मण समाज में विद्यमान थे। इससे स्पष्टतया प्रकट है कि प्रारम्भिक बौद्ध युग में वासुदेव अर्थात् कृष्ण तथा बलदेव समाज में पूज्य के रूप में प्रतिष्ठित थे। उधर पाणिनि का स्पष्ट संकेत इस ओर है ही। इससे प्रबल रूप में यह प्रमाणित होता है कि वासुदेव अर्थात् कृष्ण तथा बलदेव (कृष्ण के भ्राता) की कथा समाज में प्रतिष्ठित तथा व्यापक रूप से प्रचलित थी। यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि ऐसा था तो 'सुद्धट्ठकसुत्त' में ही स्पष्ट रूप से इनकी ओर संकेत क्यों नहीं किया गया तो इसका उत्तर यह है कि वहाँ तो मात्र बौद्ध सिद्धान्त की स्थापना का प्रश्न है तथा उसकी तुलना में अन्य प्रकार की मान्यताओं को मिथ्या-दृष्टि मानते हुए उन्हें परित्यक्त करने का उपदेश है। जो मिथ्या दृष्टि है, उसका सीधे नाम सिद्धान्तवादी कैसे ले सकता है। इस प्रकार मूल में इसके देने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु इसके व्याख्यान महानिद्देस में अन्य भिक्षुओं को इसकी ओर इङ्गित कराना आवश्यक है। अतः बुद्ध के समसामयिक अग्रश्रावक 'सारिपुत्त' ने इसकी ओर स्पष्ट संकेत कर दिया है।

कृष्ण-कथा का विस्तृत रूप हमें 'घतजातक'[६०] में प्राप्त है। इसके अतीत-कथाभाग में यह कथा अधोलिखित रूप में प्रस्तुत है—

"पूर्व समय में उत्तरापथ में कंस-भोग में असितञ्जन नगर में महाकंस नामक राजा राज्य करता था। कंस तथा उपकंस नामक उसके दो पुत्र थे तथा देवगर्भा नाम की एक लड़की। इस लड़की के जन्म के दिन ही ज्योतिषियों ने यह भविष्यवाणी की थी कि इसकी कोख से जन्म लेने वाला पुत्र कंस-गोत्र तथा कंस-वंश का नाश करेगा। स्नेह-बाहुल्य से राजा बेटी को नहीं मरवा सका। उसने यह सोचा कि देखा जायेगा और आयुपर्यन्त जीवित रहकर वह मर गया। इसकी मृत्यु के पश्चात् कंस राजा हुआ एवं उपकंस उपराजा। उन्होंने विचार किया कि यदि उपर्युक्त कारणवशात् हम लोग बहन की हत्या करेंगे तो लोकनिन्दा होगी। अतः इसका विवाह न करके स्वामी-रहित रखते हुए इसका पालन करें। एतदर्थ एक खम्भे पर टिका एक प्रासाद बनवाकर उन्होंने उसमें उसे रखा। नन्दगोपा को उसकी सेविका नियुक्त किया गया और उसके पति अन्धकवेणु को वहाँ पर पहरा देने के लिए नियुक्त किया गया।

इस समय उत्तर मथुरा में महासागर नामक राजा राज्य करता था। उसके सागर तथा उपसागर नामक दो पुत्र थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् सागर राजा हुआ और उपसागर उपराजा। उपसागर उपकंस का मित्र था और इन दोनों ने एक ही आचार्य कुल में अध्ययन किया था। उपसागर ने अपने भाई के अन्तःपुर में दुष्टता की और पकड़े जाने के भय से भागकर कंसभोग में उपकंस के पास जा पहुँचा। उपकंस उसे कंस राजा के पास ले गया। राजा ने उसे बहुत वैभव दिया। राजा की सेवा में जाते समय उसने देवगर्भा के एक खम्भे वाले प्रासाद को देखकर सोचा-यह किसका निवास स्थान है। ज्ञातहोने पर वह देवगर्भा के प्रति आसक्त हो गया। देवगर्भा ने भी उपकंस के साथ राजा की सेवा में उसे जाते देखकर उसके विषय में जिज्ञासा की और नन्दगोपा ने उसे बताया कि वह राजा महासागर का पुत्र उपसागर है। यह सुन कर देवगर्भा उसके प्रति आसक्त हो गयी। बाद में उपसागर ने नन्दगोपा को रिश्वत देकर पूछा कि क्या वह देवगर्भा को दिखा सकेगी। उसने इसे कठिन कार्य न बताते हुए देवगर्भा से इस सम्बन्ध में निवेदन किया और उसकी स्वीकृति प्राप्त होने पर संकेत देकर एक रात उपसागर को उस प्रासाद पर वह चढ़ा ले गयी। उसका देवगर्भा के साथ सहवास होने से वह गर्भवती हो गयी और यह प्रकट होने पर भाइयों ने इस सम्बन्ध में नन्दगोपा से पूछा। अभयदान प्राप्त करके नन्दगोपा ने सब वृत्तांत कह दिया। इन दोनों भाइयों ने विचार किया कि बहन को मारना ठीक नहीं है। यह लड़की को जन्म देगी तो उसे भी नहीं मारेंगे, किन्तु यदि लड़के को जन्म देगी तो उसे मार डालेंगे। यह सोचकर उन्होंने देवगर्भा को उपसागर को दे

दिया । गर्भ के परिपक्व होने पर उसने लड़की को जन्म दिया, जिसका नाम अञ्जन देवी रखा गया । उन्हे भोग-ग्राम के रूप में गोवर्धमान नामक ग्राम दे दिया गया । देवगर्भा के साथ उपसागर उसी ग्राम में रहने लगा ।

देवगर्भा को पुनः गर्भ ठहरा और उसी दिन नन्दगोपा भी गर्भवती हुई । आगे चल कर एक ही दिन देवगर्भा ने पुत्र को जन्म दिया और नन्दगोपा ने पुत्री को । देवगर्भा ने पुत्र के मारे जाने के डर से उस को छिपाकर नन्दगोपा के पास भिजवा दिया और उसकी पुत्री को अपने पास मँगवा लिया । भाइयों द्वारा पूछे जाने पर देवगर्भा ने पुत्री के उत्पन्न होने की बात कही और यह सुनकर भाइयों ने उसे पालन करने का आदेश दिया । इस प्रकार देवगर्भा ने दस पुत्रों को जन्म दिया और नन्दगोपा ने दस पुत्रियों को । ये सभी पुत्र नन्दगोपा द्वारा पाले गये और लड़कियाँ देवगर्भा द्वारा । इन दोनों के अतिरिक्त इस भेद को अन्य कोई भी नहीं जानता था । देवगर्भा के ज्येष्ठ पुत्र का नाम वासुदेव हुआ और क्रमशः अन्य पुत्रों के नाम बलदेव, चन्द्रदेव, सूर्यदेव, अग्निदेव, वरुणदेव, अर्जुन, प्रद्युम्न, घतपण्डित तथा अङ्कुर रखे गये । ये सब 'अन्धकवेणुदास-पुत्र दस भ्राता' इस नाम से प्रसिद्ध हुए ।

आगे चल कर बड़े होने पर ये सभी शक्ति-बल से युक्त तथा कठोर स्वभाव के होकर डाका डालने लगे । राजा के लिए जो भेंट अन्य लोग ले जाते थे, उसे रास्ते में ये लूट लेते थे । लोगों ने उनके इस कुकृत्य की राजा से शिकायत की । जब राजा ने इस सम्बन्ध में अन्धकवेणु को बुलवा कर धमकाया तो मृत्यु से भयभीत होकर अभयदान की याचना करते हुए राजा के समक्ष उसने यह भेद खोल दिया कि वे उसके पुत्र न होकर उपसागर के पुत्र हैं । उसने अमात्यों से मन्त्रणा की कि इन्हें किस उपाय से पकड़ा जाय । अमात्यों ने कहा—'देव ये मल्ल हैं । नगर में कुश्ती करायी जाय और जब ये कुश्ती-मण्डप में आ जाँय तो पकड़वा कर मरवा दिया जाय ।'

राजा ने चाणूर तथा मुष्टिक इन दो मल्लों को भेजकर मुनादी करायी कि आज से सातवें दिन कुश्ती होगी । इस सन्दर्भ में राजद्वार पर कुश्ती-मण्डप बनवा कर अखाड़ा तैयार कराया गया और उसे ध्वज-पताकाओं से सजाया गया । सारी जनता उमड़ पड़ी । चक्र तथा मचान इत्यादि बांधे गये । चाणूर और मुष्टिक कुश्ती-मण्डप में आकर कूदते तथा गरजते हुए ताल ठोंक रहे थे । उधर दस भाइयों ने भी आकर विभिन्न दूकानों से वस्त्र, सुगन्धियाँ, मालाएँ इत्यादि लूट कर उन्हें धारण करके कूदते, गरजते तथा ताल ठोंकते हुए कुश्ती-मण्डप में प्रविष्ट हुए । उस समय ताल ठोंकते हुए चाणूर अखाड़े में विचरण कर रहा था । बलदेव ने उसे देख कर संकल्प किया कि वे हाथ से चाणूर का स्पर्श नहीं करेंगे । वे हस्ति-शाला से एक बड़ी हाथी बाँधने की रस्सी ले आये और उछल कर तथा गर्जना करके उस रस्सी को फेंक कर चाणूर को पेट पर से बाँध लिया । फिर रस्सी के दोनों सिरों को एक कर, बट कर उसे उठा लिया और सर पर घुमाकर एवं जमीन पर मसल करके उसे अखाड़े के बाहर फेंक दिया । चाणूर के मरने पर राजा ने मुष्टिक मल्ल को आज्ञा दी । उसने उठ कर कूदते हुए एवं गर्जना करते हुए ताल ठोंका । बलदेव ने उसे मसल कर उसकी हड्डियाँ चूर-चूर कर दीं । वह कहता ही रह गया—'मैं मल्ल नहीं हूँ, मल्ल नहीं हूँ ।' बलदेव ने कहा—'मैं नहीं जानता कि तू मल्ल है, अथवा नहीं ।' यह कहते हुए उन्होंने उसे हाथ से पकड़कर जमीन पर पीट-पीट कर, जान से मार कर अखाड़े के बाहर फेंक दिया । मुष्टिक ने मरते हुए यह संकल्प किया—'यक्ष होकर तुझे खाऊँगा ।' वह काळमत्ति-अटवी में यक्ष के रूप में उत्पन्न हुआ ।

इसके बाद स्वयं राजा ने उठकर घोषणा की—'इन दुष्ट दस-दास-भ्राताओं को पकड़ो ।' उस समय वासुदेव ने चक्र घुमाया और उससे राजा तथा उसके भाई के सिर कट गये । उपस्थित जनता भयभीत होकर उनके पैरों पर यह कहती हुई गिर पड़ी—'हमारी रक्षा करें ।'

अपने दोनों मल्लों को मृत्यु की गोद में सुलाकर उन्होंने असितञ्जन नगर के राज्य को अपने अधीन कर लिया और माता-पिता को अपने पास रखा । फिर दसों भाई यह सोचकर कि सम्पूर्ण जम्बुद्वीप को विजित करेंगे, बाहर निकले ।

वे क्रमशः कालसेन राजा के निवास स्थान अयोध्या नगर पहुंचे और नगर को घेर कर, घने जंगल को नष्ट करते हुए प्राकार को तोड़ कर उन्होंने राजा को पकड़ लिया और उसके राज्य को अपने अधीन करते हुए द्वारवती पहुँचे। उस नगर के एक ओर समुद्र तथा दूसरी ओर पर्वत था। नगर पर अमनुष्याधिकार था। इस नगर की रक्षा करने वाला यक्ष आक्रमण करने वाले शत्रु को देखकर गधे का रूप बनाकर उसके जैसा शब्द करता था। उसी क्षण यक्ष के प्रताप से सम्पूर्ण नगर उठकर समुद्र के बीच में एक द्वीप में पहुँच जाता था तथा शत्रु के वापस चले जाने पर फिर आकर अपने स्थान पर स्थित हो जाता था। उन दसों भ्राताओं को आक्रमणकारी रूप में देखकर उस समय भी उस गधे ने शब्द किया। नगर उठकर द्वीप पर चला गया। नगर दिखायी न पड़ने के कारण वे लौट गये तो वह पुनः आकर अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया। वे फिर लौटे तो गधे ने फिर वैसे ही शब्द किया। इस प्रकार जब वे द्वारवती नगर का राज्य विजित न कर सके तो कृष्ण द्वैपायन के पास गये और प्रणाम करके उनसे पूछा—'भन्ते, हम द्वारवती राज्य नहीं विजित कर पा रहे हैं; इस हेतु हमें कोई उपाय बतायें।'

कृष्ण द्वैपायन ने उन्हें बताया कि नगर की खाईं के पीछे अमुक स्थान पर एक गधा चरता है, जो शत्रु को आया देखकर अपना शब्द करता है। उसी समय नगर ऊपर उठकर द्वीप में चला जाता है। तुम उस गधे का पैर पकड़ लो। यही तुम्हारी सफलता का उपाय है।

कृष्ण द्वैपायन तपस्वी की उपर्युक्त सलाह को सुनकर उन दसों भाइयों ने जाकर गधे के पैर पर पड़कर कहा: 'स्वामी, तुम्हें छोड़कर हमारे पास अन्य कोई आधार नहीं है। हमारे द्वारा नगर पर अधिकार करने के समय कृपया कोई आवाज न करें।'

उस गधे ने उत्तर के रूप में कहा कि 'मैं ऐसा नहीं कर सकता कि चुप रहूँ। किन्तु तुम चार व्यक्ति पहले आकर बड़े लोहे के हल लेकर चारों नगर-द्वारों पर भूमि में लोहे के बड़े-बड़े खम्भे गाड़ दो। फिर नगर के ऊपर उठने के समय हलों को लेकर उनसे बँधी हुई लोहे की जंजीर को लोहे के खम्भों में बाँध देना। इससे नगर ऊपर नहीं जा सकेगा।'

'अच्छा' कहकर वे अर्ध रात्रि के ही समय हल लेकर चारों नगर-द्वारों पर जमीन में खम्भे गाड़कर खड़े रहे। उस समय गधे ने आवाज की और नगर का ऊपर उठना आरम्भ हुआ। चारों द्वारों पर खड़े भाइयों ने चार हलों को लेकर उन में बँधी हुई लोहे की जंजीरों को खम्भों में बाँध दिया। नगर ऊपर नहीं उठ सका। इस स्थिति में दस भ्राता नगर में घुसे और राजा को मार कर उन्होंने उस पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार उन्होंने जम्बुद्वीप के तिरसठ हजार नगरों के सारे राजाओं को चक्र से मारकर द्वारवती में रहते समय राज्य को दस हिस्सों में बाँट दिया। अपनी बहन अञ्जनादेवी को राज्य का हिस्सा लगाना वे भूल गये।

फिर ग्यारह हिस्से किये जाँय ऐसी स्थिति आने पर सबसे छोटे भाई अङ्कुर ने कहा कि उसका हिस्सा अञ्जनादेवी को दे दिया जाय; वह व्यापार करके जीविकोपार्जन करेगा। केवल यह करना होगा कि वे सभी लोग अपने जनपदों में उससे चुंगी नहीं लेंगे। सभी ने इसे स्वीकार किया और अङ्कुर का हिस्सा अपनी बहन को देकर नौ राजा द्वारवती में रहने लगे। उधर अङ्कुर व्यापार करने लगा।

समय व्यतीत होने पर उनके परिवार में पुत्र तथा पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं और उनके माता-पिता कालकवलित हो गये। फिर वासुदेव महाराज का प्रिय पुत्र जब काल-कवलित हुआ तो राजा शोकाकुल होकर पलङ्ग की भुजाओं को पकड़कर रो रहे थे। उस समय घत-पण्डित ने सोचा कि 'उनके अतिरिक्त ऐसा कोई अन्य नहीं है जो भाई के शोक को दूर कर सके।

परन्तु मैं कौशल से इसके शोक को दूर करूँगा ।' ऐसा सोचते हुए उसने पागल का स्वरूप बनाया और सारे नगर में 'मुझे शश दो, मुझे शश दो' यह कहता हुआ आकाश की ओर देखता हुआ घूमने लगा । यह देखकर कि घतपण्डित पगला गया है, सम्पूर्ण नगर क्षुब्ध हो उठा । उस समय रोहिणेय्य नाम के अमात्य ने वासुदेव राजा के पास जाकर उससे वार्तालाप करते हुए पहली गाथा कही—

'उट्ठेहि कण्ह किं सेसि को अत्थो सुपिनेन ते ।
यो पि तायं सको भाता हदयं चक्खुं व दक्खिणं ।
तस्स वाता बलीयन्ति घतो जप्पति केसवा' ।। ति [६१] ।

इस गाथा का सामान्य अर्थ यह है–'हे कृष्ण, उठो, क्या सो रहे हो ? सोने में क्या प्रयोजन है, जो तेरे हृदय या दाहिनी आँख के समान अपना भाई हैं, उसकी वायु क्षुब्ध हो गयी है । हे केशव, घत बकता है ।'

इस गाथा की अर्थवर्णना में इस प्रकार से अर्थ का व्याख्यान प्राप्त है–'तत्थ कण्हा ति गोत्तेनालपति, कण्हायनगोत्तो किरेस, को अत्थो ति कतरा नाम वड्ढि । हदयं चक्खुं व दक्खिणं ति हदयेन चेव दक्खिणचक्खुना च समानो ति अत्थो । तस्स वाता बलीयन्ती ति तस्स हदयं अपस्मारतातावत्थरन्ती ति अत्थो । जप्पती ति ससं में देथा ति विप्पलपति । केसवा ति किर केससोभनताय केसवो ति पञ्ञायित्थ, तेन तं नामेन आलपति' ।[६२]

इस अर्थवर्णना से यह स्पष्ट किया गया है कि कृष्ण यह सम्बोधन कृष्णानगोत्र का होने के कारण हैं और केशव नाम केशों की शोभनता के कारण है ।

इसके पश्चात् रोहिणेय्य की उपर्युक्त बात सुनकर केशव तत्काल उठ खड़ा हुआ और भाई के शोक से दुःखी होकर शीघ्र प्रासाद से उतर कर घत पण्डित के पास जाकर उसे दोनों हाथों से अच्छी तरह पकड़ कर झकझोरते हुए यह तीसरी गाथा उसने कही :

"किन्नु उम्मत्तरूपो व केवलं द्वारकं इमं ।
ससो ससो ति लपसि को नु ते ससमाहरी ।" ति ।[६३]

अर्थात् सम्पूर्ण द्वारका नागरी में क्या पागल की भाँति 'शश-शश' कहकर बकते हुए फिर रहे हो ? कौन तुम्हारे शश को ले गया ?'

राजा के इस प्रकार से कहने पर भी घत-पण्डित 'शश-शश' ही बकता रहा । फिर राजा ने उससे प्रस्ताव किया कि 'स्वर्णमय, मणिमय, लौहमय, रजतमय, शङ्खमय, शिलामय अथवा प्रवालमय-इनमें से जिस प्रकार का शश चाहो मैं तुम्हारे लिए बनवा दूंगा । जंगल में जो दूसरे वनचर शश हैं, उन्हें भी तेरे लिए मँगवा दूँगा । तुम कैसा शश चाहते हो ?'

राजा की उपर्युक्त बात सुनकर घत-पण्डित ने कहा कि 'पृथ्वी के शश से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । हे केशव ! मैं वह शश चाहता हूं, जो चन्द्रमा में विद्यमान है । उसे उतरवा कर हे केशव, मुझे दे दो' ।

राजा ने घत पण्डित के मुख से उपर्युक्त बात सुनकर यह निश्चय किया कि 'निश्चित ही मेरा भाई पागल हो गया है ।' यह सोचते हुए वह भाई से बोल बैठा–'हे भाई, तू अपने प्रिय प्राण गँवायेगा । जो इच्छा करने योग्य नहीं हैं, उसकी तू इच्छा करता है । तू तो चन्द्रमा से शश चाहता है !'

घत पण्डित ने राजा की बात को सुनकर स्थित होते हुए कहा–'हे भाई, तू यह जानते हुए कि चन्द्रमा से शश मिलने की इच्छा करने पर न मिलने से मरना होता है, किस कारणवश मृत पुत्र के लिए चिन्ता करता है?' ऐसा पूछते हुए वे पुनः बोले कि 'हे कृष्ण, यदि इतना ज्ञान है कि दूसरे को उपदेश देता है, तो तू आज मरे हुए पुत्र की चिन्ता क्यों करता है ?' इस प्रकार बाजार के बीच में खड़े होकर वह फिर बोला-'भाई, मैं तो ऐसी वस्तु चाहता हूँ जो दिखाई तो देती है, लेकिन तुम तो ऐसी वस्तु की चिन्ता करते हो जो दिखायी भी नहीं देतीं।' ऐसा धर्मोपदेश करते हुए उन्होंने फिर कहा :

'मेरा पैदा हुआ पुत्र न मरे, यह अलभ्य बात न मनुष्य को प्राप्त है, न यह देवताओं को प्राप्त है। तब यह अलभ्य बात तुम्हें कहाँ प्राप्त हो सकती है। हे कृष्ण, जिस प्रेत की तू चिन्ता करता है, उसे न अब मन्त्रबल से, न किसी जड़ी बूटी रूपी औषधि से और न धन से ही लाया जा सकता है।' यह सुनकर राजा ने कहा 'मेरे शोक को दूर करने के लिए ही तुमने यह सब किया और यह कहते हुए घत पण्डित की प्रशंसा में चार गाथाएँ कहीं।

प्रज्ञावान् तथा करुणायुक्त पुरुष किसी को शोक से इसी प्रकार से निकाल लेते हैं जैसे घत पण्डित ने अपने भ्राता को शोक रहित किया।

इस प्रकार घतकुमार द्वारा शोकरहित किये गये केशव को राज्यानुशासन करते हुए जब बहुत समय व्यतीत हो गया तो दस भ्राताओं ने सोचा, 'कहा जाता है कि कृष्ण द्वैपायन तपस्वी को दिव्य चक्षु प्राप्त है। इसकी परीक्षा करनी चाहिये।' यह सोच कर उन्होंने एक तरुण राजकुमार को सजाया और उसको एक गर्भिणी स्त्री का स्वरूप प्रदान करते हुए उसके पेट पर एक तकिया बांध दिया। उसे कृष्ण-द्वैपायन के पास ले जाकर उन्होंने पूछा : 'भन्ते, यह कुमारी क्या जनेगी ?' तपस्वी ने देखा कि उन राजाओं का विनाश-काल आ गया है। विचार करते हुए उन्होंने सोचा कि उनकी अपनी आयु अब कितना शेष है। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि आज ही स्वयं उनका मरण-दिवस है तो वे बोले : 'कुमार यह जानकर तुम क्या करोगे ?' पर वे सभी जानने हेतु-आग्रह करते ही रहे। इस पर तपस्वी ने उन्हें बताया कि 'आज से सातवें दिन यह एक लकड़ी का टुकड़ा जनेगी। उससे वासुदेव कुल नाश होगा। तुम लोग लकड़ी का टुकड़ा ले जाकर जला डालना और उसकी राख नदी में फेंक देना।' यह सुनकर कुमारों ने कहा–'दुष्ट तपस्वी, पुरुष जना नहीं करते।' ऐसा कहकर उन सभी ने ताँत की रस्सी से तपस्वी को जान से मार डाला। राजा ने कुमारों को बुलाकर यह पृच्छा की कि उन्होने तपस्वी को क्यों मार डाला और सब कुछ जानकर उस तरुण पर पहरा बिठाकर सातवें दिन उसकी कोख से निकली हुई लकड़ी को जलवा कर उसकी राख को नदी में फेंक्वा दिया। वह बह कर एक ओर जा लगी और वहाँ पर अरण्ड का पेड़ उग आया।

एक दिन वह राजा जल-क्रीड़ा करने की इच्छा से नदी के मुख-द्वार पर पहुँचा। वहाँ पर एक महा मण्डप बनवाया गया था। उस सजे सजाए मण्डप में खाते-पीते हुए खेल ही खेल में एक दूसरे के हाथ-पैर पकड़ते हुए दो दलों में विभक्त होकर वे सभी आपस में झगड़ा कर बैठे। उनमें से एक ने और कोई मुद्गर हाथ न लगने पर उस अरण्डवन से अरण्ड का एक पत्ता लिया। हाथ में आते ही वह पत्ता लकड़ी का मूसल हो गया। उससे उसने दूसरे लोगों को पीटा। दूसरे लोगों ने भी जिस-जिस पत्ते को लिया वे सब लकड़ी के मूसल हो गये। परस्पर एक दूसरे को इस प्रकार से मार कर वे विनाश को प्राप्त हुए।

उनको नष्ट होते देखकर वासुदेव, बलदेव, बहन अञ्जना देवी और पुरोहित-ये चारों रथ पर चढ़कर वहाँ से भाग गये। बाकी सब आपस में लड़कर मारे गये। वे चारों रथ से भागकर कालमत्तिक-अटवी पहुंचे। मुष्टिक मल्ल संकल्प करके वहीं पर यक्ष होकर पैदा हुआ था। जब उसे ज्ञात हुआ कि बलदेव आया है तो वहीं पर ग्राम का निर्माण करके मल्ल का

स्वरूप बना कर, 'कौन कुश्ती लड़ेगा', यह कहता हुआ कूदते हुए ताल ठोंक कर वह गर्जना करने लगा। बलदेव ने यह देखकर कहा कि, 'भाई, मैं इससे लड़ूंगा।' वासुदेव के मना करते रहने पर भी बलदेव नहीं माना और रथ से उतर कर ताल ठोंक कर उसके पास मल्ल-युद्ध करने हेतु पहुंचा। बलदेव के हाथ बढ़ाते ही मुष्टिक मल्ल रूपी यक्ष उसे पकड़ कर मूली की भाँति खा गया। वासुदेव को बलदेव की मृत्यु का जब ज्ञान हुआ तो बहन तथा पुरोहित को साथ लेकर सारी रात चलते हुए सूर्योदय होने पर वे एक प्रत्यन्त ग्राम में पहुँचे। वहाँ पर बहन तथा पुरोहित को भोजन बनाकर लाने के लिए ग्राम में भेजकर वे स्वयं एक वृक्ष के पीछे छिप कर लेट गये। तब जरा नामक एक शिकारी ने वृक्ष को हिलता देखकर सोचा कि उसके पँछे शूकर होगा और यह सोचकर उसे मारने हेतु उसने भाला फेंका और वह वासुदेव के पैर में लगा। वासुदेव के यह कहने पर कि 'मुझे किसने विद्ध किया', शिकारी मनुष्य वाणी सुनकर डरके मारे भागा। राजा ने शक्ति को निकाल कर उठ कर उसे बुलाया—'मामा, डरो मत, आओ और आने पर जब उसका नाम पूछा तो उसने बताया कि उसका नाम जरा है। वासुदेव बोले कि 'पुराने पण्डितों ने कहा था कि जरा द्वारा बींधे जाने पर मैं मरूँगा। आज निश्चय ही मेरी मृत्यु है'। ऐसा सोचकर वे बोले—'मामा, डरो मत, आकर मेरे घाव पर पट्टी बांध दो' और इस प्रकार उससे पट्टी बँधवाकर उसे विदा किया। उन्हें तीव्र वेदना हुई और दूसरों द्वारा लाये हुए भोजन को वे न खा सके। अतः उन्हें उत्साहित करते हुए बोले—'आज मैं मर जाऊँगा। तुम सुकुमार हो। कोई दूसरा काम करके तुम लोग जीविका नहीं चला सकोगे। यह मन्त्र सीख लो'। इस प्रकार वासुदेव ने उन्हें एक मन्त्र सिखाया और वहीं पर अपने प्राण त्याग दिये। इस प्रकार अञ्जनादेवी को छोड़कर शेष सभी विनाश को प्राप्त हुए।'

घतजातक में उल्लिखित कृष्ण सम्बन्धी आख्यान में इस प्रकार कृष्ण-कथा को व्यक्त करने वाले परमावश्यक तत्त्व अन्तर्भूत हैं। इसमें कंस तथा उपकंस एवं मथुरा का उल्लेख, उसकी भगिनी देवगर्भा (=देवकी) की कोख से उत्पन्न होने वाले पुत्र द्वारा कंस-गोत्र तथा कंस-वंश के नाश के सम्बन्ध में ज्योतिषियों द्वारा की गयी भविष्यवाणी, अन्धकवेणु (अन्धकवृष्णि का नन्दगोपा (=यशोदा) का पति होना तथा उसकी कथा, देवगर्भा द्वारा अपने पुत्रों के उत्पन्न होने पर उनकी मृत्यु के भय से नन्दगोपा के यहाँ भिजवाकर नन्दगोपा से उत्पन्न पुत्रियों से उन्हें बदल लेना, देवगर्भा के पुत्रों का वासुदेव, बलदेव, प्रद्युम्न आदि नामकरण तथा उनका अत्यन्त बलिष्ठ होना एवं मल्ल-युद्ध में नैपुण्य प्राप्त करना, कंस के आह्वान पर उसके यहाँ जाकर वासुदेव तथा बलदेव का उसके प्रसिद्ध मल्लों, चाणूर एवं मुष्टिक, को मल्ल-युद्ध में मारना, वासुदेव के चक्र से कंस-कुल का नाश और उनके द्वारा कंस के राज्य का अधिग्रहण, दिग्विजय-यात्रा, द्वारका पर आक्रमण, कृष्ण-द्वैपायन से भेंट, द्वारका पर विजय, राज्य का विभाजन, कृष्ण नाम की व्याख्या, केशव नाम का उल्लेख, कृष्ण-द्वैपायन का दिव्यचक्षु-प्राप्त तपस्वी होना और उनसे वासुदेव-कुल के कुमारों का उपहास एवं कुल-नाश की कथा तथा वासुदेव (=कृष्ण) की मृत्यु आदि से सम्बन्धित विवरण महाभारत तथा पुराणों में प्राप्त कृष्ण-कथा से अधिक साम्य रखते हैं।

घतजातक में उल्लिखित कृष्ण-कथा का अन्य स्रोतों से प्राप्त कृष्ण-कथा से जहाँ तक भेद का प्रश्न है, हम पाते हैं कि देवगर्भा (देवकी) को विवाह के पूर्व ही एक प्रकार से कैद करा लिया गया था और उसके दस पुत्रों की उत्पत्ति तथा नन्दगोपा की पुत्रियों से उन्हें बदल लेना, नन्दगोपा का देवगर्भा की दासी होना तथा उसकी पुत्रियों का जीवित रहना, देवगर्भा के सभी पुत्रों का जीवित रहना और उसके पुत्रों का कंस द्वारा न मारे जाने का उल्लेख होना, शकटभञ्ज तथा यमलार्जुन आदि से सम्बन्धित कथाओं का घतजातक में अविद्यमान रहना आदि भिन्नताएँ यहाँ विद्यमान हैं; किन्तु हम इन्हें गौण ही मान सकते हैं। घतजातक में वर्णित कृष्ण-कथा बौद्ध सिद्धान्तों के व्याख्यान के परिप्रेक्ष्य में कही गयी है। उसका प्रधान लक्ष्य कृष्ण-कथा की अभिव्यक्ति न होकर बौद्ध सिद्धान्तों की स्थापना है। इससे प्रबल रूप से यही प्रकाशित होता है कि प्रारम्भिक बौद्ध वाङ्मय द्वारा समाज में उस समय प्रचलित कृष्ण-कथा का उपयोग अपने सिद्धान्तों का व्याख्यान एवं स्थापना करने मात्र के लिए किया गया, किन्तु यह तथ्य इस बात के प्रमाणों को कृष्ण-कथा के रूप में छोड़ गया।

कण्हदीपायन जातक[६४] भी एक प्रकार से महाभारत के कृष्ण द्वैपायन की ओर ही संकेत करता है, यद्यपि कथा में भिन्नता है। कुम्भजातक[६५] में भी सुरा पीकर नगर के नाश का वर्णन प्राप्त होता है, जो प्रकारान्तर से यदुकुल-विनाश की ओर संकेत करता है। अन्धकवृष्णियों के कुल को महाभारत आदि में भी बहुत उच्च कुल नहीं माना गया है और इस प्रकार जातक के उल्लेख से इस सन्दर्भ में साम्य ही प्राप्त होता है।

संस्कृत में प्राप्त बौद्ध वाङ्मय पर विचार करने पर महावस्तु में द्रौपदी का उल्लेख प्राप्त है—"कृष्ण शुक्रा च द्रौपदी";[६६] तथा ललितविस्तर में कृष्ण नामक एक राजा उल्लिखित हैं, जो पूर्व जन्म में शाक्य मुनि के स्वरूप थे।[६७] ललितविस्तर में ही आया है कि भगवान बुद्ध ने आनन्द से कहा—"हे आनन्द, जिन किन्हीं को मैं देखने अथवा सुनने में प्यारा और मनोहर लगूँ, वहाँ तुम निष्ठा रखो, पक्का भरोसा रखो कि वे प्राणी मेरे केवल एक जन्म से प्रतिबद्ध मित्र नहीं हैं। तथागत ने उन्हें देखा है, तथागत को उन्हें मोक्ष दिलाना है" वे तथागत के शरणागत हैं, तथागत ने उन्हें अपना लिया है"[६८] आदि। इन वाक्यों को पढ़ने पर ऐसा लगता है, जैसे भगवद्गीता के कृष्ण 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'[६९] आदि का उपदेश कर रहे हों।

सद्धर्मपुण्डरीक नामक ग्रन्थ में बुद्ध के स्वरूप से भगवद्गीता के कृष्ण के स्वरुप का अत्यधिक साम्य प्राप्त होता है।[७०] जे० एन० फर्ग्युहर ने 'पुण्डरीक' अथवा कमल को कृष्णोपासना, वेदान्त तथा भगवद्गीता से प्रभावित माना है,[७१] किन्तु इसे निश्चित रुप से स्वीकार करना सहज-संभव नहीं हैं, ऐसी विद्वानों की धारणा है[७२]।

परवर्ती बौद्ध-तन्त्र-वाङ्मय में भी कृष्ण, भगवद्गीता आदि की चर्चा प्राप्त होती है[७३] और १३वी शताब्दी में रामचन्द्र कवि भारती ने जो भक्तिशतक नामक ग्रन्थ की रचना की है, उसमें भी बुद्ध को भक्ति के परिप्रेक्ष्य में कृष्ण, राम अथवा शिव की भाँति ही प्रस्तुत किया गया है।[७४]

उपरि आलोचित बौद्ध वाङ्मय में भी कृष्ण-कथा के संकेत प्राप्त होते हैं। भारतीय वाङ्मय के इतिहास के व्याख्याकार प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् एम० विन्टरनित्स ने अपने उत्कृष्ट ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ इण्यिन लिटरेचर, भाग २' में स्थान-स्थान पर इस तथ्य की ओर इङ्गित किया है।[७५] इससे बौद्ध वाङ्मय के प्रारम्भिक काल में इसकी विद्यमानता की पुष्टि होती है। जैन साहित्य में प्राप्त कृष्ण-कथा का निरूपण इस निबन्ध से सम्बन्धित नहीं है, अतः उस पर विस्तृत प्रकाश न डालकर यहाँ मात्र बौद्ध वाङ्मय में उसकी विद्यमानता के प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध वाङ्मय में प्रारम्भ से ही कृष्ण-कथा के संकेत विद्यमान मिलते हैं, यद्यपि सन्दर्भानुसार तथा अपने सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में वहाँ इसका स्वरूप कई अंशों में भिन्न है।

सन्दर्भ :

१. एम० विन्टरनित्स, डिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भा० १, पृ० ४७०।
२. ए० ए० मैकडानेल एवं ए० बी० कीथ, वेदिक इन्डेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जेक्ट्स, दिल्ली, १९५८, पृ० १८४।
३. छान्दोग्योपनिषत्, ३, १७, ६।
४. सूत्र ४, ३, ९८।
५. "ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च", ४. १. ११४. "राजन्यब्रहुवचन-द्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु", ६. २. ३४।
६. तैत्तिरीय संहिता, ३. २. ९. ३।
७. तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३, १०. ९. १५।

८. शतपथ ब्राह्मण, ३. १. १. ४।
९. जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, १. ६. १।
१०. "अक्रूरो ददाते मणिम्"—निरुक्त, २. १. २।
११. बौधायन धर्मसूत्र, २. ५. ९. १०।
१२. मैक्रिन्डिल, एन्शियन्ट इन्डिया ऐज डेस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज ऐण्ड एरियन, कलकत्ता, १९६०, पृ० २०६।
१३. अर्थशास्त्र, १४. ३. ४४. १. ६. १०; आर० पी० काङ्गले, दि कौटिल्य अर्थशास्त्र, बम्बई, १९६३, भा० २, पृ० १३-१४।
१४ एफ० कीलहार्न सम्पा०, महाभाष्य तृ० मं०, पूना, भा० २, पृ० ३१४; पाणिनि सूत्र ३. १. २६ पर महाभाष्य।
१५. एम० विन्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर, भा० १, पृ० ४७०-४७१।
१६. वही, पृ० ४७१-४७२।
१७ वही, पृ० ४७१, टि० ४।
१८. दीघनिकाय, नालन्दा, १९५८, भा० १, पृ० ३-४०।
१९. वही, पृ० ३-६।
२०. वही, पृ० ६।
२१. सुमङ्गलविलासिनी, नालन्दा, १९७४, भा० १, पृ० ९३-९४।
२२. दीघनिकाय, नालन्दा, १९५८, भा० १, पृ० ९।
२३. सुमङ्गलविलासिनी, नालन्दा, १९७४, भा० १, पृ० १०७।
२४. वही।
२५. वही, पृ० ३।
२६. "या महाकस्सपादीहि वसीहट्ठकथा पुरा।
सङ्गीता अनुसङ्गीता पच्छा पि च इसीहि या॥
आभय पन थेरेन महिन्देनेधमुत्तमं।
या दीपं दीपवासीनं भासाय अभिसङ्खता॥
अपनेत्वा ततो भासं तम्बपण्णिनिवासिनं।
आरोपयित्वा निद्दोसं भासं तन्तिनयानुगं॥"
—अट्ठसालिनी, पूना, १९४२, पृ० २।

२७. धम्मपद अट्ठकथा, लन्दन, १९७० भा० १, पृ० १।
२८. टिप्पणी संख्या २५, २६, २७।
२९. वही।
३०-३१. सद्धम्मङ्गह, नालन्दा, १९६१, पृ० ३४।
३२. सुमङ्गलविलासिनी, नालन्दा, १९७४, भा० १ पृ० ३।
३३. एम० विन्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भा० १, पृ० ४७१-४७२।
३४. टिप्पणी संख्या १५।
३५. महानिद्देस, नालन्दा, १९६०, पृ० ७४।

३६. एम० विन्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भा० १, पृ० ४६५, टिप्पणी संख्या २ में उद्धृत प्रो० सिल्वाँ लेवी का मत।

३७. जरनल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसायटी, भा० ८९, अंक २, १९६९।

३८. "कण्हस्स पक्खो ति विनोदयेय्य"—सुत्तनिपात, नालन्दा, १९५९, पृ० ४१६; "कण्हो ति यो सो मारो कण्हो अधिपति अन्तगु नमुचि पमत्तबन्धु...."—महानिद्देस, नालन्दा, १९६०, पृ० ४२८; विस्तार के लिये द्र०—डिक्शनरी आफ पालि प्रापर नेम्स, लन्दन, १९७४, भा० १, पृ० ४९९।

३९. मज्झिमनिकाय, नालन्दा, १९५८, भा० ३, पृ० १३४।

४०. दीघनिकाय, नालन्दा, १९५८, भा० १, पृ० ८१।

४१. जातक एवं जातकत्थवण्णना, लन्दन, १९६३, भा० ४, पृ० ६-१४।

४२. वही, पृ० २७-३७।

४३. वही, पृ० ७९-८९।

४४. सुत्तनिपात, नालन्दा, १९५९, पृ० ३७४; जातकट्ठकथा, स० स० वि०, १९८५, भा० १, पृ० १३७. टिप्पणी संख्या ए-बी।

४५. रामकुमार राय, महाभारतकोश, वाराणसी, १९८२, पृ० ८८-८९।

४६. महावग्ग, नालन्दा, १९५६, पृ० २१५।

४७. वही।

४८. वही।

४९-५०. "अथ खो भगवा रत्तिया पच्चूससमयं पच्चुट्ठाय आयस्मन्तं सोणं अज्झेसि—'पटिभातु तं, भिक्खु, धम्मो भासितं' ति। 'एवं, भन्ते' ति खो आयस्मा सोणो भगवतो पटिस्सुत्वा सब्बानेव अट्ठकवग्गिकानि सरेत अभासि"—वहीं।

५१. वही।

५२. सुत्तनिपात, नालन्दा, १९५९, पृ० ३९१-३९२।

५३. वही, पृ० ३०१।

५४. महानिद्देस, नालन्दा, १९६०।

५५. चुल्लनिद्देस, नालन्दा, १९५९।

५६. सुत्तनिपात, नालन्दा, १९५९, पृ० ३८८-४१८।

५७. वही, पृ० २७४-२८०।

५८. वही, पृ० ४१९-४४१।

५९. महानिद्देस, नालन्दा, १९६०, पृ० ७४।

६०. जातक एवं जातकत्थवण्णना, लन्दन, १९६३, भा० ४, पृ० ७९-८९।

६१ वही, पृ० ८४।

६२. वही।

६३. वही, पृ० ८५।

६४. वही, पृ० २७-३७।

६५. वही, भा० ५, पृ० ११-२०।

६६. महावस्तु, पेरिस, १८९७, भा० ३, पृ० ३०८।

६७. ललितविस्तर, दरभंगा, १९५८, पृ० ११९।

६८. वही, पृ० ६५।

६९. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १८, श्लोक ६६।

७०. एम० विन्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, दिल्ली, १९८३, भा० २, पृ० २९०।

७१. वही, टिप्पणी संख्या २।

७२. वही, पृ० २९०।

७३. प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय द्वारा सम्पादित एवं तिब्बती संस्थान से प्रकाश्यमान ग्रन्थ श्री 'कालचक्रतन्त्रराज' विमलप्रभा टीका सहित।

७४. एम० विन्टरनित्स, हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, दिल्ली, १९८३, भा० २ पृ० ३६६।

७५. वही पृ० ४३४, ४४०, ४४५, ४५०-४५१, ४६७, ४७६, ४८५, ४९०, ५४७।

—प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

अपभ्रंश में कृष्णकाव्य

अपभ्रंश का जितना साहित्य अभी तक प्रकाश में आया है उससे स्पष्ट है कि जैन कवियों ने अपभ्रंश-साहित्य की रचना और सुरक्षा में सर्वाधिक सहयोग दिया । इन कवियों का संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश, गुजराती, हिंदी, राजस्थानी, तेलुगु, तमिल और विशेष रूप से कन्नड़-साहित्य के विकास में भी अत्यधिक योग है ।[1] संस्कृत और प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी कृष्णचरित का विकास दो रूपों में मिलता है—(१) मुख्य कथा के रूप में—कृष्ण-जन्म से लेकर उनके निर्वाण तक की कथा (२) महाभारत, पांडवकथा, प्रद्युम्नचरित, उषाअनिरुद्ध-कथा आदि में प्रकारांतर से या गौण कथा के रूप में कृष्ण के कतिपय क्रिया-कलापों का भी उल्लेख मिलता है । बौद्ध जातकों, जैनियों की गाथाओं, आगमों और अङ्गों में कृष्ण वासुदेव का जो विवरण मिलता है वह वैष्णव-परंपरा में प्रचलित रूप से क्वचित् भिन्न है । जैनाचार्यों एवं जैन कवियों की रचनाओं के उपजीव्य के रूप में कृष्णचरित के विकास की दो धाराएं मिलती हैं—(१) ब्राह्मण-परम्परा, जिसके अन्तर्गत महाभारत एवं पुराणों में कृष्णचरित प्रस्तुत किया गया है । (२) जैनाचार्यों की पुराण-परम्परा, जिनमें आचार्य जिनसेन (द्वितीय) लिखित 'हरिवंश पुराण' और आचार्य गुणभद्रलिखित 'उत्तर पुराण' मिलते हैं । इनमें जैन-आगम एवं अङ्गों के आधार पर कृष्णचरित लिखा गया जिसमें ब्राह्मण परंपरा से कई स्थानों पर पर्याप्त भिन्नता है, फिर भी विद्वानों की धारणा है कि 'इन परिवर्तनों के होते हुए भी जैन पुराणों की कथाएं ब्राह्मण-कथाओं की नकल ही कही जा सकती हैं ।'[2] परवर्ती युग में अपभ्रंश में लिखित कृष्णकाव्य इन दोनों धाराओं से प्रभावित दिखाई देता है । वैसे भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से स्वयंभू तथा पुष्पदंत आदि कवियों ने अपने पूर्ववर्ती बाण और माघ आदि संस्कृत के प्राचीन कवियों की परंपराओं का अनुगमन किया और उनके प्रति आभार प्रदर्शित किया है ।

अपभ्रंश-साहित्य के परिशीलन से पता चलता है कि महापुराण, पुराण और चरितकाव्य के रूप में इसमें काव्यरचना की गई है । 'महापुराण' में ६३ महापुरुषों[3] के चरित का वर्णन किया गया है । इसे 'त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित' या 'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार' भी कहा गया है । पुराणों के अन्तर्गत 'हरिवंश पुराण' में महाभारत की कथा को जैन धर्म की मान्यताओं के अनुसार प्रस्तुत किया गया है । इनके अतिरिक्त 'प्रद्युम्नचरित' काव्यों में गौण कथा के रूप में कृष्ण का विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

वैष्णव-परम्परा के पुराणों में श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार एवं लीलापुरुष अङ्कित किया गया किंतु जैन पुराणों में श्रीकृष्ण महान् वीर व्यक्ति के रूप में चित्रित किये गये हैं । उनमें मानवीय दुर्बलताएं भी हैं । उन्हें नरक में कर्म-भोग भोगने पड़ते हैं । उनकी अपेक्षा नेमिनाथ को भगवान् कहकर संबोधित किया गया है और उन्हें दिव्यगुणसम्पन्न ऋषि के रूप में अङ्कित किया है । वैसे ब्राह्मण-धर्म की भाँति जैनों ने भी अपने पुराणों की रचना की और राम, कृष्ण, पाण्डव आदि की कथाओं को जैन-मान्यताओं के अनुरूप ही ढाला है ।

अपभ्रंश के प्रकाशित और अप्रकाशित साहित्य की जो विवरणिका मिलती है उससे स्पष्ट है कि 'कृष्ण' से सम्बद्ध उपलब्ध काव्य स्वयंभू रचित 'हरिवंश पुराण' है जिसे 'रिट्ठणेमिचरिउ' या 'अरिष्टनेमि चरित' भी कहते हैं किंतु स्वयंभू की कृतियों में उसकी पूर्ववर्ती परम्पराओं के कतिपय कवियों का भी उल्लेख मिलता है । कृष्णकाव्य के संदर्भ में

महत्त्वपूर्ण दो कवियों की काव्यप्रतिमा एवं उनकी काव्य-शैलियों को स्पष्ट करने के लिए कतिपय उदाहरण देकर संकेत किया गया है। ये कवि हैं चतुर्मुख और गोइंद।

चतुर्मुख :

स्वयंभू के आविर्भाव के पूर्व चतुर्मुख ने जैन-परंपरा के अनुरूप काव्यात्मक रूप में पांडव और कृष्ण की कथा को 'हरिवंश पुराण' नाम से लिखा था। यह काव्य पद्धड़िया बंध में अपभ्रंश में लिखा गया था।[४] 'जिस प्रकार आजकल हम लोग चौपाई लिखने में तुलसीदास की श्रेष्ठता बतलाते हैं उसी प्रकार स्वयंभू ने चउमुह या चतुर्मुख को पद्धड़िया का राजा बताया था।'[५] चतुर्मुख अपने समय के प्रतिभासंपन्न कवि थे। उनकी काव्यप्रतिमा की परवर्ती कवियों ने बड़ी प्रशंसा की है[६]। उनकी कृति आज उपलब्ध नहीं है। अतः उसमें लिखित कृष्ण की कथा के स्वरूप का विवेचन कर सकना सम्भव नहीं है।

गोइंद :

स्वयंभू तथा उनके परवर्ती अपभ्रंश के कवियों ने चतुर्मुख की भाँति ही गोइंद का भी नामोल्लेख किया है जिनका समय अद्यावधि अज्ञात है। स्वयंभू ने अपनी कृति में लगभग एक दर्जन कवियों की रचनाओं के उद्धरण दिए हैं जिनसे स्पष्ट है कि स्वयंभू के आविर्भाव के पूर्व जो परंपरा विकसित हुई उसका पूर्ण मुकुलित रूप स्वयंभू के काव्य में मिलता है। इन पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं के अवतरण महाभारत और रामकथा से संबद्ध हैं। महाभारत के उद्धृत अंश कम होने पर भी इनमें कृष्णजीवन का विवरण है जहाँ कृष्ण की अपेक्षा गोपाल की चर्चा अधिक है। इसके साथ ही राधाकृष्ण की प्रणयलीला से संबद्ध अवतरणों से यह स्वयंसिद्ध है कि राधाकृष्ण की प्रणयभावना को लोकविश्वास की दृढ़ता के साथ साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिलने लगा था। कवि गोइंद के काव्य से दिये गये उद्धरणों को देखकर अनुमान होता है कि उन्होंने गोपाल कृष्ण पर कोई काव्य लिखा होगा जो आज अनुपलब्ध है। राधा के सौंदर्य पर गोइंद रचित निम्नलिखित छंद स्वयंभू ने उद्धृत किया है—

सब्ब गोविउ जइवि जोएइ
हरि सुट्ठवि आयरेण देइ विट्ठी जहिं कहिं वि राही।
को सक्किवि संवरेवि दट्ठवयण णेहिं पलोट्टउ।

अर्थात् 'कृष्ण सभी गोपियों को समान आदर से देख रहे थे—पर उनकी दृष्टि वहीं टिकती थी जहाँ राधा थी, नेह से छकी हुई आँखों को भला कौन रोक सकता है?'

उपर्युक्त पद्य हेमचन्द्र के शब्दानुशासन में भी उद्धृत किया गया है। कवि गोइंद ने गोधन का भी सुन्दर शब्द-चित्र दिया है—

ठाम ठामहिं घास संतट्ठ रत्तिहिं परिसंठिआ,
रोमंघघता बस चलिअ गंडिआ,
दोसंति धवलुज्जुला, जोन्हा णिहाण गोहना।[७]

अर्थात् 'ठाम ठाम घास रखी है, रात में बैठी हुई गाएं जुगाली कर रही हैं। जुगाली में मस्त उनके गंडस्थल हिल-डुल रहे हैं। एकदम धौरी और उजली ऐसी जान पड़ती हैं मानो चाँदनी ही छिटकी हो।'

स्वयंभू :

स्वयंभू का समय ८वीं शती माना जाता है। इनकी तीन कृतियाँ—पउमचरिय (पद्मचरित्र), हरिवंश पुराण (रिट्ठणेमि चरिउ या अरिष्टनेमि चरित) और स्वयंभू छंद उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त 'पंचमी–चरिउ' तथा कोई व्याकरण-ग्रन्थ भी इन्हींके लिखे बताए जाते हैं[८], पर वे अप्राप्त हैं। 'पउमचरिय' में रामकथा और 'हरिवंश पुराण' में महाभारत तथा कृष्ण की कथा का वर्णन है।

हरिवंश पुराण (रिट्ठणेमि चरिउ) में कृष्णचरित प्रस्तुत किया गया है। ११२ संधियों में लिखित यह ग्रन्थ ३ कांडों में विभक्त है—यादव, कुरु और युद्ध[९]। डॉ० हीरालाल जैन ने भी इन्हीं ३ कांडों के उपलब्ध होने की पुष्टि की है किंतु डा० कोछड़ ने इसके उत्तरकांड के उपलब्ध होने की भी सूचना दी है।[१०] उनके अनुसार 'रिट्ठणेमिचरिउ' में ११२ संधियाँ और १९३७ कडवक हैं। यादव-कांड में १३, कुरु-कांड में १९, युद्ध-कांड में ६० और उत्तर-कांड में २० संधियाँ हैं।

यादव-कांड में कृष्णजन्म, बाललीला, कृष्णविवाह, प्रद्युम्न आदि की कथाएँ और नेमिजन्म का वर्णन है। कुरु-कांड में कौरव-पांडवों के जन्म से लेकर पांडवों के १२ वर्ष के वनवास की कथा दी गई है। युद्ध-कांड में कौरव और पांडवों के युद्ध का वर्णन है जिसमें कौरव पराजित और पांडव विजयी दिखाये गये हैं। उत्तर-कांड में हारजीत के विश्लेषण के संदर्भ में आध्यात्मिक निष्कर्ष देते हुए कथा को समाप्त किया गया है। कथाविस्तार और चरित्रचित्रण में कवि ने पूर्वप्राप्त परम्परा का पालन किया है।

जैन पुराणों की उपलब्ध परम्परा के अनुसार स्वयंभू ने 'रिट्ठणेमिचरिउ' (हरिवंश पुराण) में कृष्ण को नरक में कर्मभोग भोगते दिखाया है।

इस ग्रन्थ की कथा इतिवृत्तात्मक नहीं है, काव्य-रस से ओतप्रोत है। कवि ने समृद्ध वातावरण देकर अत्यंत सुसंस्कृत कलाकौशल का परिचय दिया है। डॉ० प्रेमसागर जैन ने 'रिट्ठणेमिचरिउ' के अन्तर और बाह्य दोनों पक्षों को समान रूप से सुन्दर बताते हुए उसकी तुलना गुलाब की सुगन्ध और सुषमा से दी है।[११] डा० भायाणी ने स्वयंभू की काव्यप्रतिमा से प्रभावित होकर उन्हें अपभ्रंश का कालिदास कहा है। कवि की वर्णनशैली में पौराणिकता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यद्यपि स्वयंभू की अभिव्यंजना-शैली पर संस्कृत के परवर्ती ह्रासोन्मुखी कवियों की शैली का प्रभाव है परंतु वह उनकी तरह विकृत नहीं हुई है प्रत्युत अलंकृत तथा प्रसंगानुसार ललित और परुष हैं। कवि ने नेमि के जन्माभिषेक के समय बजनेवाले वाद्ययंत्रों की ध्वनि को सुन्दर शब्दयोजना द्वारा प्रस्तुत किया है :

दुम दुम दुमंत दुंदुहि वमालु, धुमधुम धुमंत धुंमुक्क तालु।
क्रिं क्रिं करांत सिक्किरि णिणाउ, सिमि सिमि सिमंत झल्लरि णिहाउ।

सल सल सलंत कंसाल हुयलु, गुं गुंजमाण गुंजंतु मुहलु।
कण कण कणंतु कणइ कोसु, डम डम डमंत डमरु वणि घोसु।[१२]

'रिट्ठणेमि चरिउ' में युद्ध के भिन्न-भिन्न स्थलों में सजीवता स्पष्ट दिखाई देती है। कवि के वर्णनकौशल का नमूना युद्धों के विवरणों में द्रष्टव्य है जहाँ छंदगति और युद्धगति समानांतर रूप में दिखाई देती है :

भज्जंत समाउइं, जुज्झंत सुहडाइं, णिग्गंत अंताइं।
भिज्जंत गत्ताइं, लोट्टंत चिंघाइं, तुट्टंत छत्ताइं॥—७.६।

अर्थात् 'रथ टूट रहे हैं, योद्धा युद्ध करते जा रहे हैं, प्रहार से आँतें बाहर निकल पड़ती हैं, गात्र रुधिर से भींग रहे हैं, ध्वजाएँ भग्न होकर पृथ्वी पर लोट रही हैं और छत्र टूटते जा रहे हैं।'

कवि ने अलंकारयुक्त एवं व्याकरणसम्मत भाषा का प्रयोग किया है। अलंकारों के प्रयोग में उपमान भी धार्मिक भावनायुक्त हैं। उदाहरण के लिए :

सहुँ दुमय सुमाए कोक्काविय ते कि पइट्ठा।
जीव दयाए सहित परमेट्ठि पंचण दिट्ठा।—वही, २५।८।

अर्थात्, 'द्रुपदसुता के साथ आहूत वे पाँचों पांडव भी प्रविष्ट हुए। जैसे जीवदया के साथ पंच परमेष्ठी—अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु प्रविष्ट हुए हों।'

काव्य में सूक्तियों का भी सुन्दर प्रयोग है—

वारि सुसइ समुद्दु वरि मंदरो णमेइ।
णवि सब्बहु भासियं अण्णहा हवेइ।—वही, ०३।१५।

अर्थात्—'चाहे समुद्र सूख जाय, चाहे मंदर झुक जाय, किंतु सर्वज्ञ का कथन अन्यथा नहीं हो सकता।'

स्वयंभू की शैली में सरलता और स्वाभाविकता है किंतु प्रकृतिवर्णन करते समय उनकी अलंकारप्रधान भाषा दर्शनीय है। सामंती समाज का वर्णन करने में भी वे अतुलनीय हैं। उन्होंने रमणियों के सौंदर्य के जीवंत चित्र खींचे हैं। विलापचित्रण एवं विरहवर्णन में उनके गंभीर एवं उदात्त भाव पाठकों पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। जैन पंडितों ने स्वयंभू को जलविहार-वर्णन में सिद्धहस्त माना है। राहुलजी ने स्वयंभू के स्वाभाविक भाषाप्रवाह और शब्दकौशल की बहुत प्रशंसा की है।[१३] वास्तव में स्वयंभू संस्कृत की काव्यपरम्परा से प्रभावित हैं और पिंगल तथा आलंकारिकता के लिए आचार्यों के ऋणी है। 'संस्कृत की जलविहार, वनवर्णन, सूर्योदय, सूर्यास्त, नदी आदि के वर्णन की रूढ़िगत शैली का स्पष्ट प्रतिबिंब स्वयंभू में मिलता है…… ……स्वयंभू की उपमाएँ परंपरामुक्त हैं। यत्र तत्र मौलिक उपमाएँ भी आ जाती हैं पर उन्हें अपभ्रंश-काव्य की निजी विशेषता नहीं माना जा सकता।'[१४]

पुष्पदंत (पुफ्फयंत) :

अपभ्रंश में लिखित कृष्णकाव्य की परंपरा में स्वयंभू के बाद पुष्पदंत[१५] हुए जिनका काव्यकाल (९५९-९७२ ई०) था। उनके कई उपाधि-नाम थे—अभिमानमेरु, कविकुलतिलक, काव्यरत्नाकर, सरस्वतीनिलय, काव्यपिसल्ल आदि। पुष्पदंत ने तीन काव्यग्रन्थों की रचना की—१. महापुराण (तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकार), २. जसहरचरिउ (यशोधरचरित), ३. णायकुमारचरिउ (नागकुमार चरित)।

महापुराण में ६३ महापुरुषों के चरित्रों का वर्णन है। इस ग्रंथ के दो भाग हैं—आदि पुराण और उत्तर पुराण। ग्रन्थ का वर्ण्यविषय १२९ संधियों में विभक्त है। आदि पुराण में ऋषभदेव के जीवन और महानिर्वाण का वर्णन है। उत्तर पुराण की ११ संधियों में रामकथा तथा १२ संधियों में कृष्णकथा लिखी गई है।

कृष्णचरित के वर्णन में पुष्पदंत जिनसेन के 'हरिवंश-पुराण' की परंपरा से प्रभावित हैं। कवि ने रामकथा की अपेक्षा कृष्णकथा के वर्णन में उन्मुक्त कल्पना को अधिक प्रश्रय दिया है। पुष्पदंत ने कृष्ण की लीलाओं का वर्णन भागवत के अनुसार ही किया है। इसीलिये उन्होंने कृष्ण के लिए गोपाल, मुरारी, मधुसूदन, हरि, प्रभु आदि संबोधन प्रयुक्त किये हैं। इस काव्य में प्रस्तुत कथावस्तु से तत्कालीन कृष्णभक्ति के निश्चित स्वरूप का तो पता नहीं चलता किंतु यह प्रतीत होता है कि उस युग के जैन कवियों ने भी भागवत के आधार पर कृष्णकथा लिखी थी।

उत्तर पुराण में कवि के काव्यकौशल का सुन्दर रूप मिलता है। गोकुल में कृष्ण ने अनेक लीलाएँ कीं। गोपियों के साथ की गई छेड़छाड़ का वर्णन अत्यन्त सजीव है।[१६] धूलिधूसरित कृष्ण क्रीड़ाएँ करते हुए अन्यत्र भी घूमते हैं। किसी गोपी की मथानी टूट गई, कोई आधे बिलोए हुए दही को छोड़कर यों ही भागी, कोई गोपी कहने लगी—'तुमने हमारी मथानी तोड़ दी है। इसका मूल्य चुकाने के लिये एक आलिंगन दो, अन्यथा मेरे आँगन में मत आना।' किसी गोपी की पांडुर रंग की चोली कृष्ण की छाया से काली हो गई। उस मूर्खा ने उसे जल से धोकर सखियों को दिखाया और अपनी जड़ता प्रदर्शित की। माता के समीप दौड़कर आते हुए कृष्ण दत्तचित्त होकर स्तन्यपान करते हैं। महिषी हरि को अपने पास बिठाती हैं किंतु माधव समीर (हवा) में हाथ हिलाते हुए विविध क्रीड़ाएँ करते हैं। (कभी) बालक कृष्ण की आँगन में की गई वत्सल लीलाएँ दर्शनीय होती हैं। गुंजा के गुच्छे को तोड़ते देखकर यशोदा को दुःख होता है। कभी अपने नेत्रों से उनका विराट् रूप देखती हैं तो कंस-वध की आशा होती है। कृष्ण करतल से शुचि सुखकारी शब्द करते हैं।'

महाकवि पुष्पदंत ने 'पूतना-लीला' में कृष्ण की शक्ति और क्षमता का वर्णन भी भागवत जैसा ही किया है। पूतना कृष्ण को मधुसूदन, गरुडध्वज, नंदनंदन, जनार्दन और केशव आदि नामों से संबोधित करती है। कृष्ण कहते हैं—'यह मेरी जननी नहीं है[१७], यह राक्षसी बैरिन है। प्राणांत करनेवाली है, आज ही इसे मारकर प्रलय करूँगा।' कवि ने कृष्ण को मानमहंता, भृकुटिकरंता, लक्ष्मीकंता, देव अनंता कहते हुए पूतनावध का वर्णन किया है। वह भीमाकार बाला कल्लोल करती हुई चिल्लाई—नंदनंदन, जनार्दन, छोड़ो। हे केशव, मैं मरी, मैं कंस की सेवा नहीं करूँगी, मुझ पर रुष्ट न हो, मेरे हृदय (स्तन) से रक्त प्रस्रवित हो रहा है, तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ खेलो' ऐसा कहते हुए उसने गोविंद को छोड़ दिया और फिर नंद के निवास पर न रुकी और देवलोक चली गई।

पुष्पदंत ने कृष्ण की विविध बाल-लीलाओं का जीता-जागता वर्णन किया है। इनमें कृष्ण का ऊखलबंधन प्रमुख घटना है।[१८] कवि ने जैनियों की मान्यता के अनुसार सुत का मुख देखने के लिये देवकी का नंद के घर जाने का वर्णन किया है। वहाँ पर देवकी ने नंद के समृद्ध घर, गौएँ, रोहिणीसुत बलराम और कृष्ण को देखा। गोपों के बीच में कृष्ण कलहंस के समान दिखाई दिए। उन्हें क्रीड़ा करते शिशुओं का रजकण अच्छा लगा। उन्होंने हलधर का आलिंगन किया और अपनी भुजाओं में बाँध लिया। उनके अंग-अंग हर्ष से स्निग्ध हो गए। कंस के पैशुन्य का स्मरण कर उन्हें चिंता हुई, फिर भी उन्होंने उन्हें गाढ़ स्नेह प्रदान किया और रसोई के लिये बुलाया। गंध, फूल, दीप सँजोकर माँ ने दही, मीठा भोजन और घृतपूरित नाना प्रकार का भोजन दिया, जिसे कृष्ण ने बड़े सरस भाव से ग्रहण किया।[१९]

'कालियदमन' प्रसंग में कवि ने कृष्ण की कोमलता, नंद और यशोदा का विलाप, कालिय नाग की प्रचंडता एवं तीव्रता का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। इसके कतिपय उल्लेखनीय स्थल पठनीय हैं। नंद बोले—'जहाँ राजा ही अन्याय करता है वहाँ अन्य कौन सुनवाई करेगा? कहाँ कमलदंड के समान कोमल कृष्ण और कहाँ अति प्रचंड नाग, मैं कहां जाऊं और किससे निवेदन करूं? मुझे धुकधुकी हो रही है। हृदय जल रहा है।' शोकाभिभूत यशोदा चिल्लाईं—'मेरा एकमात्र पुत्र अहिमुख में निक्षिप्त हो गया, बालक न मरे, काल मेरा वरण करे। इस प्रकार कहती और दीर्घ श्वास लेती हुई त्रस्त यशोदा विलाप करने लगी।[२०]

पुष्पदंत ने कृष्ण के लिये 'उपेंद्र' (विष्णु) शब्द का प्रयोग किया है जिससे ध्वनित होता है कि जैन कवियों पर ब्राह्मण-धर्म के पुराणों का प्रभाव था और इसीलिये उन्होंने कृष्ण को विष्णु का अवतार माना। कवि ने 'कालिय-दमन' प्रसंग को विस्तार से लिखा है। कवि के कथनानुसार उपेंद्र ने फणींद्र (कालियनाग) के मर्दन हेतु

जलक्रीड़ा करने का निश्चय किया, अतः वे यमुना-तट पर गए। उद्भट फण एवं विकटांग विषधर यमपाश की भाँति उनकी ओर दौड़ा। पुष्पदंत ने कृष्ण और नाग की शोमा का वर्णन करने में उपमा और उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा दी है। दोनों की शोमा ऐसी दिखाई देती है जैसे तिमिर रूप (कालिय नाग) लोल तिमिर (कृष्ण) के सौन्दर्य में सम्मिलित हुआ जा रहा हो। उस समय हरि (कृष्ण) पूर्ण कालभ्रमर के समान दिखाई दे रहे थे। जैसे अंजन के गिरिवर पर नवतमाल (उग आया) हो। उनके तन की कांति घनघटा को भी पराजित करने में सक्षम है। विषधर के सिर पर रक्तकण माणिक्य के समान दिखाई दिए, उसकी देह का नाश हो गया जैसे कुसुम मणि ताम्र को और भी ताम्र (रक्त वर्ण का) कर देती है, जिस प्रकार सरि के एक ओर अलसाई हुई लटकी बेल पर पल्लव दर्शनीय होते हैं (वैसे ही) अहि (कालिय नाग) ने मधुसूदन के अंगों को देखा जिनके रोम-रोम में कस्तूरी (गंध) का विलास था। विषधर ने हरि के समक्ष शिर भ्रमित (नत) किया और मदमत्त तुंग (की भाँति) चला गया।[२१]

महापुराण में पुष्पदंत ने चरित-नायकों के वर्णन के साथ ही प्राकृतिक दृश्यों का संश्लिष्ट वर्णन किया है। सूर्योदय, चंद्रोदय, सूर्यास्त, नदी, ऋतु, सरोवर आदि के वर्णन में कवि की तल्लीनता स्पष्ट दिखाई देती है। इनमें अनेक स्थलों पर कवि की मौलिक सूझ-बूझ का परिचय मिलता है। कवि की वर्णन-चातुरी, शब्द-योजना और भाषा का सरस प्रवाह तो सर्वत्र श्लाघ्य है। गोवर्द्धन-धारण के प्रसंग में कवि ने जो दृश्य प्रस्तुत किया है वह भाषा, भाव और अलंकार की रससय त्रिवेणी है—'नदी-सरोवर को भरता हुआ जल झलमलाता हुआ चमकता है। तड़तड़ के शब्द से गिरि के शिखर फूट गए से लगते हैं। गोकुल में मरुत के तीव्र वेग से वृक्ष गिरे। जल-थल में सभी भयत्रस्त थरथराकर व्याकुल हो गए। धीर-वीरों के स्थिर भाव भी विचलित हो गए। महीधर, दिग्पाल तथा देवता युगल कर बद्ध करके स्तुति करने लगे। जड़ तम का प्राकट्य हुआ। अपने महि विवर त्यागकर (भयभीत) फणिनिकर (सर्पों के समूह) विष-वमन करने लगे। वन के समस्त चर-अचर, हिंस्र पशु गिरते-पड़ते कातर होकर प्राणरक्षा-हेतु व्याकुल हो गए। तपस्वी भी परवश हो गए। गोवर्द्धन (पर्वत) पर गोप-गोपियों का भार (इस प्रकार) दिखाई दिया जैसे गोवर्द्धन गिरि को गोवर्द्धन धारी ने ऊँचा उठा दिया (महत्त्व प्रदान किया)।[२२]

पुष्पदंत ने कृष्ण की महिमा का वर्णन करते हुए उन्हें सुपुत्र, दुर्द्धर्ष वीर, दीनबंधु, पतितोद्धारक आदि विशेषणों से अलंकृत किया है।[२३]

३६वें परिच्छेद के अंत में कवि ने माधव को कालिंदी-तट की गुप्त लीलाओं के उत्सव और मथुरा की कामिनियों के कृष्ण के प्रति अनुराग की तीव्रता का संकेत किया है। उनमें से कोई कहती है—'मैंने दही मथ लिया है, तूने मुझे उद्भ्रांत छोड़ दिया है, तुझे नवनीत से लिप्त कर लूंगी।' कोई मध्यमार्ग की ओर देखती हुई कहती है—'नारायण की ये रात्रि तुम्हारे लिये नहीं है। उन्होंने तो अन्य गोपियों का आलिंगन किया। वे संकेत से कुडंग कल्लोल करते हैं।' कोई कहती है—क्षीर विहार करनेवाले पापियों का उद्धार करते हैं। क्या भट्टारक हो जाने के कारण आज उन्होंने मुझे बिसार दिया? गोपियों के ऐसे वचन सुनकर परमेश्वर हंसते हुए क्रीड़ा करते और कहते हैं—'तुममें गर्वभाव है अतः इस जन्म में मेरे प्रति तुम्हारा ताप रहेगा। यशोदा माता ने स्तन्यपान कराकर मेरा पालन-पोषण किया, उसे मैं क्षणमात्र को भी नहीं भुला सकता।'[२४]

इस कृति में पुष्पदंत की भाषा विभिन्न अलंकारों से सज्जित है। उसने दो वस्तुओं या दृश्यों का साम्य कभी श्लिष्ट शब्दों द्वारा, कभी उपमेय और उपमानगत क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त किया है।[२५] वैसे कवि की अलंकार-योजना संस्कृत काव्यों की परंपरा के अनुसार ही है।

स्वयंभू और पुष्पदंत के काव्य-कौशल, शब्द विन्यास, छंद-प्रवाह एवं शैली के विविध प्रयोगों का तुलनात्मक

विश्लेषण करते हुए डा० देवेन्द्रकुमार जैन ने कहा है कि 'स्वयंभू की रामकथा यदि नदी है तो इनका महापुराण समुद्र, उनकी वाणी अलंकृता, रसवती और जिनभक्ति से भरी है। उनके काव्य में ओज और प्रवाह है। कई शैलियों का प्रयोग है।···दर्शन और शास्त्रीय ज्ञान का प्रदर्शन है'···प्रकृति के उभय रूप उन्हें आकृष्ट करते हैं।' डा० मायाणी ने स्वयंभू को अपभ्रंश का कालिदास कहा है तो पुष्पदंत को भवभूति। इससे कदाचित् भिन्न मत डा० भोलाशंकर व्यास का है—'स्वयंभू मूलतः हृदय के कवि हैं, पुष्पदंत बुद्धि के। स्वयंभू और पुष्पदंत की तुलना कालिदास और भवभूति से न कर यदि उन्हें अपभ्रंश का कालिदास और माघ माना जाय तो ठीक होगा।[२६]

स्वयंभू और अपभ्रंश के समय की राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि उस युग में ब्राह्मण धर्म, जैन धर्म और बौद्ध धर्म की विचारधाराओं का समान रूप से प्रचार हो रहा था, परन्तु उसमें किसी भी प्रकार की धार्मिक या सांप्रदायिक संकीर्णता उत्पन्न नहीं हुई थी। संभवतः इसीलिये जैन कवियों ने संस्कृत और प्राकृत की सभी परंपराओं को उदारतापूर्वक ग्रहण किया। उन्होंने ब्राह्मण धर्म के पुराणों तथा संस्कृत कवियों की काव्य-शैलियों को निःसंकोच और बिना किसी भेदभाव के अपनाया। उस युग में बौद्धों की तांत्रिक परंपरा से ब्राह्मण-धर्म प्रभावित हुआ जिसके फलस्वरूप बंगाल में नए धार्मिक अंकुर उपजे। इसीलिये विद्वानों का विचार है कि शैवशाक्त तंत्र तथा राधाकृष्ण की शृंगारी भक्ति के विकास में बौद्ध तांत्रिकों का हाथ है।[२७]

घाहिल :

कवि घाहिल का उपनाम 'दिव्यदृष्टि' था। उन्होंने 'पउमसिरि चरिउ' और 'हरिवंशपुराण' दो काव्य रचे।[२८] कवि का स्वयं कथन है—

हरि पंडूसुआण कहा चउमुह वासेहिं भासिय जह या ॥
तेह विरयमि लोय पिया जग्णो ण णासेइ दसणं पउरे ॥[२९]

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार चतुर्मुख ने पांडव और कृष्णचरित्र प्रस्तुत किया, घाहिल ने भी परंपरागत विषय को जैन धर्म की मान्यता के अनुसार प्रस्तुत किया। कवि घाहिल का 'हरिवंशपुराण' ११२ संधियों में लिखित अपभ्रंश का प्रबंध-काव्य है जिसमें अपभ्रंश की सभी काव्यरूढ़ियों का निर्वाह मिलता है। यह ग्रंथ अभी तक अप्रकाशित है।[३०]

धवल :

ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए धवल कवि ने बाद में जैन धर्म अपनाया। अपनी रचना 'हरिवंश पुराण' के प्रारंभ में इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों एवं काव्यों का उल्लेख किया है जिनमें अधिकांश कवि ९वीं शती के हैं। इसीलिये विद्वानों ने इनका समय १०वीं शताब्दी या उसके कुछ ही बाद का अनुमान किया है।[३१]

'हरिवंश पुराण' में १२२ संधियाँ हैं। संधियों में कडवकों की कोई संख्या निश्चित नहीं। संधियों के अंतिम घत्ता में 'धवल' शब्द का प्रयोग मिलता है। ग्रंथारंभ में कवि ने 'हरिवंश पुराण' को सरोरुह (कमल) कहा है और इस कथा के पूर्व वक्ताओं में चतुर्मुख और व्यास का आदरपूर्वक स्मरण किया है। तदनंतर २४ तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है।

'हरिवंश पुराण' की कथा का क्रम स्वयंभू आदि प्राचीन कवियों की परंपरा के अनुसार ही है। कवि का प्रकृति-वर्णन बहुत ही सजीव है।'····फाल्गुन मास समाप्त हुआ और मधुमास (चैत्र) आया। मदन उद्दीप्त होने लगा। लोक अनुरक्त हो गया। वन नाना पुष्पों से युक्त, सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं'···घरों में नारियाँ अपने शरीर को अलंकृत

करती हैं, झूला झूलती हैं, विहार करती हैं। वन में मधुर आलाप करती हुई कोयल गाती है। सुन्दर मयूर नृत्य करते हैं।[३२]

इस काव्य में शृङ्गार, वीर, करुण और शांत रसों का सुन्दर निर्वाह मिलता है। कवि के युद्ध-वर्णन को पढ़कर लगता है कि उसने स्वयं किसी युद्ध को देखा था। इसी कारण उसके वर्णनों में जीवंतता मिलती है—

वज्जहिं गहिर तूर हय हिंसहिं,।
गुलगुलंत गयवर बहु दीसहिं॥
विधहिं तडातडा मुछिंहि भडाभडा।
कुंतघाय वारिया, खग्गहिं वियारिया।
जीव आस मेल्लिया, कायरा विचल्लिया॥

अर्थात्—'वाद्य जोर-जोर से वज रहे हैं। घोड़े हिनहिना रहे हैं। हाथी चिंघाड़ते हुए दिखाई दे रहे हैं। योद्धा विद्ध हो रहे हैं, भट मूर्च्छित हो रहे है, कोई मालों के प्रहार से विदीर्ण हो रहे हैं, कोई खड्ग से छिन्न-भिन्न हो रहे हैं, कायर जीवन की आशा त्यागकर माग रहे हैं।'

एक अन्य उदाहरण—

भडा के वि जीवेण मुक्का विमत्ता। भडा के वि दीसंति घमोंण चत्ता।
भडा के वि दुप्पिच्छ आरत्तणेत्त।··· ··· ···· ····
भडा के वि तिक्खेंहिं खगोंहि छिण्णा। भडा के वि रोमंचगत्तें भमंत।
भडा के वि मुट्ठिक चप्पेड देंता। भडा के वि वग्गंति बाहुत्थलेण।
भडा के वि जुज्झंति केसांगहेण।···· ···· ···· ····

अर्थात्—'कोई योद्धा प्राणवियुक्त हो रहे हैं, कोई धर्म से परित्यक्त दिखाई दे रहे हैं, कोई आरक्त नेत्र और दुष्प्रेक्ष्य हो रहे हैं····कोई योद्धा तीक्ष्ण तलवार से छिन्न हो रहे हैं, कोई रोमांचित गात्र से घूम रहे हैं, कोई घूंसा और चपेड़ लगा रहे हैं, कोई बाहुयुद्ध कर रहे हैं, कोई बाल पकड़कर घसीट रहे हैं।'[३३]

कंसवध पर उसकी रानियों एवं परिजनों का शोक-विलाप बहुत ही मार्मिक है—'हा, दैव दुर्विपाक से मुझे मनोहरता के स्थान पर विरह (ताप) मिला, हा विधि (नृप) विहीन हम क्या करें, हम चक्षुरहित (अंधे) की भाँति आज देख सकने में असमर्थ हैं। हे देव, हम आपको बुलाती हैं (पर) आप सुन्दरी को देखकर क्यों चुप हैं ? सुन्दर सेज को सुशोभित करनेवाले (वीर) आज धरणी पर लेटे हुए हैं।'[३४] इस प्रकार उन्होंने मथुरा के नरेश को गुणी, दुर्घर्ष वीर, दिव्यवेष आदि विशेषण प्रयुक्त करके याद किया है। जो लोग कुत्सित कर्मों में प्रवृत्त होकर युद्धादि करते हैं, उनको दृष्टि में रखकर कवि ने संसार की नश्वरता का वर्णन किया है।[३५]

सिंह या सिद्धः

सिंह विरचित १५ संधियों का अप्रकाशित काव्य 'पज्जुण्ण चरिउ' (प्रद्युम्न चरित) उपलब्ध हुआ है। डा० हीरालाल जैन ने ग्रन्थ का काल ईसा की १२वीं सदी का पूर्वार्द्ध माना है।[३६] किंतु पं० परमानंद जैन ने इसका रचनाकाल विक्रम की १३वीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग बताया है।[३७] काव्य की संधियों और पुष्पिकाओं में सिंह और सिद्ध दोनों

नाम मिलते हैं। पं० परमानंद जैन का अनुमान है कि 'प्रद्युम्न चरित' का मूल लेखक सिद्ध कवि था। बाद में इस ग्रन्थ के नष्ट हो जाने पर उपलब्ध खंडित प्रति का उद्धार सिंह कवि ने किया[१८]।

ग्रन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य में प्रद्युम्न का चरितवर्णन है किंतु प्रसंगवश कृष्ण का भी वर्णन है। ग्रन्थारंभ में कवि ने जिननाथ-वंदन, सरस्वती-स्तवन एवं आत्मविनय प्रदर्शित किया है। बाद में परंपरागत रूप में दुर्जनों को भी स्मरण किया है।

कथाक्रम में कवि ने कृष्ण और सत्यभामा का वर्णन किया है। कृष्ण-वंदना करते हुए रचयिता ने चाणूर, कंस आदि भयङ्कर असुरों के संहारक, शङ्ख, चक्र और सारंगधारी देवकीनंदन आदि शब्दों से उनकी अभ्यर्थना की है—

चाणउर विमद्दणु, देवइँणंदणु, संख चक्क सारंगधरु।
रणि कंस खयंकरु, असुर भयंकरु, वसुह तिखंहं गहिय करु ॥

—प्रद्युम्न चरित, १।१२।।

इसके अतिरिक्त कृष्ण की शोभा और उनके वैभव का भी कवि ने बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है।

मेरुतुंगाचार्य :

वि० सं० १३६५ में मेरुतुंग ने 'प्रबंध चिंतामणि' की रचना की। यह एक संकलन ग्रंथ है, जिसमें वीर, शृङ्गार एवं निर्वेद भाव के पद संगृहीत हैं। इसके कुछ पद्यों में राजाओं और ऐतिहासिक महान् पुरुषों की प्रशस्ति है तथा कुछ सुभाषित हैं।

इस कृति में संकलित एक दोहे में राजा बलि को लक्ष्य करके एक अन्योक्ति कही गयी है—

अम्हणिओ संदेसड़ो तारय कण्ह कहिज्ज।
जग दालिद्दिहि डुब्बिउ बल बंधणह मुहिज्ज ॥

अर्थात्—'मेरा संदेश उन तारक कृष्ण से कहना, सारा संसार दारिद्रय में डूब रहा है, अब तो बलि को बंधन-मुक्त कर दीजिए।' इस दोहे में 'तारक' शब्द कृष्ण के प्रति परमात्मभाव का परिचायक है।

यशःकीर्ति :

इन्होंने सं० १४९७ में 'पांडवपुराण' और सं० १५०० में 'हरिवंशपुराण' की रचना की। इनकी लिखी ३ पुस्तकें—चंद्रप्रभ-चरित, जिनदत्ति-कहा और रविवउ-कहा—भी प्राप्त हुई हैं।

कवि ने 'पांडवपुराण' में पांडवों की कथा और 'हरिवंशपुराण' में महाभारत की कथा को जैन-परम्परा के अनुसार काव्यनिबद्ध किया है। नारी के बाह्य रूप के साथ उसकी आंतरिक भावनाओं का भी कवि ने हृदयस्पर्शी वर्णन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थों में प्रसंगानुसार कृष्ण की कथा को भी प्रस्तुत किया गया है। कवि के युद्धवर्णन सजीव नहीं हो सके हैं क्योंकि उसने ऐतिहासिक घटनाओं को इतिवृत्तात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। विरहवर्णन एवं करुण रस की अभिव्यक्ति में भी कवि को अधिक सफलता नहीं मिली। 'कंस-वध' पर जीवयशा का विलाप दर्शनीय है—

परिदेवइ कंदई णाह णाह, का कहि गउ सामिय करि अणाह।
महुहिय इछुहोष्पिणु गाढवाहु, हा वयरिहि मणि परि किउ उछाहु ॥
....

खणि खणि मुच्छिज्जइ महि विहाए, वह लंजण सामल रत्तिणाह।
किउ संसवारु कंस हो वि तेहि, मिल्लेप्पिणु सक्कहिं जोयवेंहि।।

इससे स्पष्ट है कि कवि मार्मिक स्थलों पर विरह की तीव्रता प्रदर्शित नहीं कर सका है। वैसे कवि की पद-योजना सरल और प्रभावोत्पादक है।

श्रुतकीर्ति :

इन्होंने 'हरिवंशपुराण' (वि० सं० १४९७) और 'परमेष्ठि प्रकाश सार' (वि० सं० १५५३) नाम के दो काव्य-ग्रन्थ लिखे। 'हरिवंशपुराण' में महाभारत की कथा ४४ संधियों में लिखी गई है। संधि की पुष्पिकाओं में कवि ने इस ग्रन्थ को 'महाकाव्य' कहा है।

कवि ने सरस्वती-वंदन और आत्मविनय से कथा आरंभ की है तथा हृदयरूपी सरोवर में हरिवंश पुराणरूपी कमल के विकसित होने का संकेत किया है--

'हरिवंसु पयोरुह अदूरवण्णु, इह भरह खित्त सरवर उवण्णु।' १०।१।

कवि की ये दोनों कृतियाँ अद्यावधि अप्रकाशित हैं।[१९]

अपभ्रंश में कृष्णकाव्य के उपर्युक्त पर्यालोचन से स्पष्ट है कि अपभ्रंश में इसका विस्तारकाल ७वीं से लेकर १६वीं शती तक रहा। इन उपलब्ध कवियों के काव्यग्रन्थों के अलावा और भी बहुत से प्रतिभासंपन्न कवि हुए होंगे जिनके ग्रंथ या तो नष्ट हो गए या अद्यावधि अज्ञात हैं। अनुसंधित्सुओं को इस ओर काम करना चाहिए।

स्वयंभू ने राम और कृष्ण की कथा को प्रस्तुत करने में अपना दृष्टिकोण उदार और तटस्थ रखा है। उन्होंने इन दोनों के मानवीय पक्ष को अधिक प्रत्यक्ष किया है। जैन-मत को मानते हुए भी उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और उदारता का पालन किया। पुष्पदंत ने हर जगह जिन शासन की प्रधानता दिखाई है। बाद के अपभ्रंश कवियों ने तो ब्राह्मण-धर्म के पुराणों की बनाई लीक पर चलकर यत्रतत्र कृष्णकथा को जैन-धर्म की मान्यतानुसार प्रस्तुत किया है।

सन्दर्भ

१. हिंदी-साहित्य की भूमिका : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २२४।
२. हिंदी-साहित्य का बृहद् इतिहास (प्रथम भाग), पृ० ३३३।
३. ६३ महापुरुष चरित में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ प्रतिवासुदेव का वर्णन है।
४. 'दछाणि दुबइ धुवएहि जडिय चउमुहेण सम्मप्पिय पद्धडिय'।—स्वयंभू रचित रिट्ठणेमि चरिउ १।२।
५. 'हिंदी-साहित्य का आदिकाल'—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ९४।
६. क—कवि धाहिल (समय १०-११वीं शती) ने हरिवंश पुराण की भूमिका में चतुर्मुख का महत्त्व स्वीकार किया है।—अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, पृ० १३४।
ख—संदेशरासककार अद्दहमाण ने भी चतुर्मुख का उल्लेख किया है।—संदेशरासक, प्रथम १, छंद १७।

ग—देवसेन (समय ११–१४ वीं शती) रचित 'सुलोचना चरिउ' में पूर्ववर्ती कवियों में चतुर्मुख का भी नाम है।—अपभ्रंश साहित्य, डॉ० हरिवंश कोछड़, पृ० २१७।

घ—नयनंदी रचित 'सकल-विधि-निधान-काव्य' (रचना-काल सं० ११०० के लगभग) में पूर्ववर्ती कवियों में चतुर्मुख का नाम भी गिनाया गया है—अपभ्रंश-साहित्य, वही, पृ० १७५।

ङ—संस्कृत कवि बाण ने भी 'कादंबरी' में चतुर्मुख का नामोल्लेख किया है।

७. अपभ्रंश भाषा और साहित्य : डा० देवेन्द्रकुमार जैन, पृ० ६३८–३९।

८. अपभ्रंश-साहित्य : डा० हरिवंश कोछड़, पृ० ५२।

९. कहा जाता है कि इस ग्रन्थ की ९९ संधियाँ स्वयंभू-रचित हैं, शेष उनके पुत्र त्रिभुवन की। अन्तिम चार संधियाँ मुनि यशःकीर्ति ने १६वीं शती में लिखीं। प्रेमीजी ने मुनि जसकित्ति (यशःकीर्ति) के लिखे हरिवंश पुराण का भी उल्लेख किया है।—जैन-साहित्य का इतिहास, सं० नाथूराम प्रेमी, १९४२ ई०, पृ० ३७९-३८०।

१०. अपभ्रंश-साहित्य : डा० हरिवंश कोछड़, पृ० ६७।

११. हिंदी जैन भक्ति-काव्य और कवि, भूमिका, पृ० १०।

१२. अपभ्रंश-साहित्य : डॉ० हरिवंश कोछड़, पृ० ६९।

१३. 'उसने खामख्वाह दुरूहता लाने की कोशिश नहीं की। पद्य के स्वर बड़े ही कर्णप्रिय हैं। शब्द बिल्कुल नपे-तुले हैं और रस-परिपाक तो बराबर ऊपर और ऊपर उठता जाता है—स्वयंभू के वर्णन में हर जगह नवीनता है।—हिंदी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ५१।

१४. हिंदी-साहित्य का वृहत् इतिहास (प्रथम भाग), पृ० ३३५।

१५. अंतःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य के आधार पर विद्वानों ने पुष्पदंत का समय १०वीं शती ई० माना है।—जैन साहित्य का इतिहास, प्रेमी, पृ० ३२९।

१६ दुवई धूली धूसरेण वरमुक्कसरेण तिणा मुरारिणा।
कीलारसवसेण गोवालय गोवी हियय हारिणा।
रंगतेण रंमत रमंते, मंथउ धरिउ भमंतु अणंते।
मंदीरउ तोडवि भावट्टिउ, अद्धविरोलिडं दहिउं पलोट्टिउ।
कावि गोवि गोविंदहु लग्गी, एण महारी मंथणि भग्गी।

... ...

घत्ता—पसरिय करयलेहिं सइंतिहिं सुइसुहकारिणिहिं।
भद्दिइ णियडि थिएघ रयम्मु ण लग्गइ णारिहिं।

—उत्तर पुराण, पृ० ६४-६५।

१७. अणणि ण मेरी विण्णिय गारी। जीवियहारिणी। रक्खसि वइरिणि।
अज्जु जि मारमि पलउ समारमि। इय चिंतते रोसु वहंते।

....

धत्ता—इय सयंति कलुणु कह कह व गोविंदें मुक्की ।
गय देवय कहिं मि पुणु णदणि वासिण दुक्की ।
—उत्तर पुराण, पृ० ६७-६८ ।

१८. उत्तर पुराण, पृ० ६८-६९ ।

१९. धत्ता—मायइ महुमहणु बहु गोवहं मज्झि णिरिक्खिउ ।
वयपरिवेढियउ कलहंसु जेम ओलक्खिउ ।
दुवई—हरि भुयजुवदलियदाणववलु णवज्जो वणविराइयो ।
उग्गयपउरपुलय पउहच्छ वसुएवेण जोइओ ।

+ \+ \+

अल्लय दलदहि ओल्लिय करहिं, मंडयपूरणेहिं धियपूरहिं ॥
णाणाभक्ख विसेसहिं जुत्तउं, सरसु भाविमूणाहिं भुत्तउं ।
—उत्तर पुराण, पृ० ७२-७३ ।

२०. जहिं राउ हणइ, अण्णाउ कुणइ । किं धरइ अण्णु, तहिं विगयगण्णु ॥
हउं काइ करमि, लइ जामि मरमि । फणि सुट्ठु चंडु, तं कमल संडु ॥

....

उप्पण्ण सोय, कंदइ जसोय । महु एक्कु पुत्तु, अहिमुहिणिहित्तु ।
मामरउ बालु, मंइ गिलउ कालु । इय जा तसंति दीहर ससंति ।
—उत्तर पुराण, पृ० ८२-८३ ।

२१. पभणइ उविंदु, णिहणवि फणिंदु । णलिणाइं हरमि, जसकील करमि ॥
घत्ता—इयभणिवि गउ कण्हु संप्राइउ जउणासरवरु ।
उब्भडफउ वियडंगु जमपासु व धाइउ बिसहरु ।
फणि पुफ्फुयंतु चलु जुज्झलोलु । णं तिमिरहु मिलियउ तिमिरलोलु ॥

....

तंवेहि कुसुममणियरहि तंबु, णं सरिवेल्लिहि पल्लउ पलबु ॥
अहि घुलिउ अंगि महुसूयणासु, णं कत्थूरी रेहा विलासु ।
घत्ता—विसहर घोलिरदेहु सरि ममंतु रेहइ हरि ।
कच्छालंकिउ तुंगु णं भयमत्तउ दिसिकरि ।
—उत्तर पुराण, पृ० ८२-८३ ।

२२. जलु गलइ, झलमलइ । दरि भरइ, सरि सरइ ।
तडमडइ, तडिपडइ । गिरि फुडइ, सिहि णडइ ।

... .

घत्ता—गोवद्धणपरेण गोगोभिणिभारु व जोइउ।
गिरि गोवद्धणउ गोवद्धणेण उच्चाइउ।
—उत्तर पुराण, पृ० ७४-७५।

२३. उत्तर पुराण, पृ० ८८।

२४ इय गोवीयण वयणइं सुणंतु, कीलइ परमेसरु, दर हसंतु।
संभासिउ मेल्लिवि गव्वभाउ, इह जम्महु महुँ तुहुँ ताय ताउ।
परिपालिउ थणथण्णेण जाइ, बीसरमि ण खंणु मि जसोयमाइ।
—उत्तर पुराण, पृ० ८९।

२५. अपभ्रंश-साहित्य : डा० हरिवंश कोछड़, पृ० ९१।

२६. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० ७३।

२७. हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग), पृ० ३४१।

२८. वही, पृ० ३३२।

२९. डॉ० देवेंद्रकुमार जैन ने इनका रचनाकाल १०वीं शती के आसपास माना है।—अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृ० ७५।

३०. वही, पृ० १३४।

३१. अपभ्रंश साहित्य : डॉ० हरिवंश कोछड़, पृ० १०३-१०४।

३२. फग्गुणु गउ महुमासु परायउ, मयणु छलिउ लोउ अणुरायउ।
वण सय कुसुमिय चारु मणोहर, बहु मयरंद वन्त बहु महुयर।
....

घर घर णारि णिय तणु मंडहि, हिंदोलहि हिंडहि उग्गार्यांहि।
वणि परदुट्ट महुरु उल्लावहिं, सिहिउलु सिहि सिहरेहिं घहावइ।
—अपभ्रंश साहित्य, वही, पृ० १०६।

३३. अपभ्रंश-साहित्य, वही, पृ० १०७।

३४. हा दइय दइय पाविट्ठ खला, पइ अम्ह मणोहर किय विहला।
हा विहि विहीण पइं काइकिउ, णिहि दरसिवि तक्खणि चक्खुहिउ।
हा देव ण वुल्लहि राइं तुहुं, हा सुन्दरि दरसहि किण्णु मुहु।
हा घरणिहि सगुण णिलयट्ठाहि, वर सेज्जहि मरमवणाहिं जाहि।
—हरिवंशपुराण, ५६।१॥

३५. हरिवंश पुराण (हस्तलिखित), ५१।७।

३६. नागपुर युनिवर्सिटी रिसर्च जर्नल, १९४२, पृ० ८२-८३।

३७. महाकवि सिंह और प्रद्युम्नचरित, अनेकांत, वर्ष ८, किरण १०-११, पृ० ३९१-३९३।

३८. नागपुर युनिवर्सिटी रिसर्च जर्नल, १९४२, पृ० ८२-८३।

३९. अपभ्रंश-साहित्य : डॉ० हरिवंश कोछड़, पृ० १२७।

.... ..—डा० मुरारी लाल शर्मा 'सुरस

श्रीकृष्णतत्त्व

पूर्णभाव से श्रीकृष्णतत्त्व की व्याख्या करना मेरे लिए असम्भव है। कारण, एकमात्र राधाभाव में उपनीत हो सकने पर ही श्रीकृष्णतत्त्व के परम स्वरूप का स्फुरण संभव होता है—उससे पहले ठीक-ठीक स्फूर्ति नहीं होती। जो कुछ होती है, उसमें स्वभावतः ही परिच्छिन्नता-दोष का स्पर्श रहता है।

श्रीकृष्णतत्त्व भगवत्-तत्त्व का स्वरूपभूत होकर भी उससे अतीत है; यह उपलब्धि न कर सकने पर भगवत्-तत्त्व का पूर्ण आस्वादन प्राप्त नहीं हो सकता। इस बात की सार्थकता क्रमशः आलोचना के प्रसङ्ग में स्पष्ट होगी। पूर्ण सत्ता को सब तत्त्वों का निर्यास कहने पर भी अत्युक्ति नहीं होती एवं वह तत्त्व के रूप में प्रकाशमान होने पर भी किसी निर्दिष्ट तत्त्व के रूप में परिगणित होने के योग्य नहीं है—यही वर्तमान प्रसङ्ग में आलोचना का मुख्य विषय है।

यह पूर्ण सत्ता अखण्ड एवं अद्वैत है। इसके अनन्त प्रकाश हैं, अनन्त प्रकार के स्फुरण हैं—कला हैं, अंश हैं, अंश के भी अंश हैं, अथच ये सब रहने पर भी यह निष्कल, निरंश, समरस, निर्गुण एवं निष्क्रिय है। इसमें अनन्त शक्तियों का नित्य सम्बन्ध विद्यमान है। इन सब शक्तियों के साथ पूर्ण स्वरूप का जो सम्बन्ध है, उसे अभेद कहकर समझा जा सकता है, और भेद-अभेद उभयात्मक कहकर भी समझा जा सकता है। सुतरां सम्बन्ध की भिन्नता के कारण उनकी अनन्त शक्तियाँ भिन्न रूप से प्रतीत होती हैं। स्वरूप एवं उसकी शक्ति जहाँ अभिन्न हैं, वहाँ उभय के परस्पर सम्बन्ध को अभेद-सम्बन्ध समझा जा सकता है। इसी प्रकार भेद-सम्बन्ध एवं भेदाभेद-सम्बन्ध में भी समझना होगा। शक्ति का वर्णन करके स्वरूप को पहचानने की चेष्टा आकाश-कुसुमचयन की भाँति उपहासास्पद है। वस्तुतः शक्ति के बिना स्वरूप का सन्धान ही नहीं मिलता, परिचय तो दूर की बात है। शक्ति की मात्रा एवं वैशिष्ट्य के अनुसार स्वरूप का वैशिष्ट्य निरूपित होता है। वस्तुतः स्वरूप का आस्वादन एवं परिज्ञान—सभी शक्ति की उपलब्धि पर निर्भर हैं। जिन शक्तियों के साथ स्वरूप का भेद-सम्बन्ध है, उन सब शक्तियों को साधारणतः जड़ शक्ति समझा जा सकता है। पक्षान्तर में, जो शक्तियाँ अभिन्न रूप से स्वरूप में आश्रित हैं, उन्हें एक शब्द में चित्-शक्ति वा चैतन्य-शक्ति नाम दिया जा सकता है। विचार करके देखने पर समझ में आएगा कि स्वरूप के साथ जड़-शक्ति का कोई विरोध नहीं है। जो कुछ विरोध प्रतीत होता है, वह जड़-शक्ति के साथ चैतन्य-शक्ति का विरोध है। किन्तु चैतन्य-शक्ति स्वरूप के साथ अभिन्नभावापन्न है; इसलिए चैतन्य-शक्ति के विरोध को ही कोई-कोई स्वरूप का विरोध मान लेते हैं। वस्तुतः स्वरूप के साथ यदि किसी शक्ति का विरोध ही होगा, तो वह उस शक्ति का आश्रय कैसे हो सकता है ? वास्तव में स्वरूप सब शक्तियों का आश्रय है। जिस प्रकार चैतन्य-शक्ति उसमें प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार जड़-शक्ति भी उसीके आश्रित है। परस्पर भेद और व्यावृत्ति चैतन्य-शक्ति और जड़-शक्ति में अवश्य ही हैं, किन्तु शक्ति और शक्तिमान् में कोई कभी विरोध नहीं रहता। जिस चैतन्य-शक्ति की यह बात कही गई, वह स्वरूप-शक्ति के नाम से परिचित है, एवं कोई-कोई उसे अन्तरङ्गा-शक्ति भी कहते हैं। इसी शक्ति के व्यापक प्रकाश के अन्तर्गत रूप से अनन्त खण्ड-खण्ड अंश विद्यमान हैं। ये सब खण्ड अंश वस्तुतः शक्ति के ही अंश हैं। तथापि स्वरूप-शक्ति स्वरूप से अभिन्न होने के कारण इन्हें स्वरूप के अंश कहकर ही परिचय देना पड़ता है। यह अंशाशिभाव रहने के कारण इस स्तर को साक्षाद्भाव से अखण्ड स्वरूप-शक्ति के मण्डल के अन्तर्गत मानना नहीं चल सकता। ये अंश स्वांश और विभिन्नांश भेद से दो प्रकार के हैं। ये अणुरूप हैं, अर्थात् इन्हें चित्-परमाणु कहकर इनका परिचय दिया जा सकता है। ये भिन्नांश स्वरूप-शक्ति की व्यापक सत्ता के जिस प्रदेश में विद्यमान

हैं, वह इस शक्ति के अन्तरङ्ग स्वरूप के बाह्य भाग में अवस्थित है। यह प्रदेश स्वरूप-शक्ति के अन्तर्गत होने पर भी अखण्ड निरंश शक्ति-राज्य के बहिर्भूत है एवं जड़-राज्य के भी बहिर्भूत है। इस प्रदेश का नाम है तटस्थ-प्रदेश, एवं ये परमाणु-पुंज ही अनन्त जीव-कण हैं, जो चित्-शक्ति के बाह्यांश का आश्रय लेकर विद्यमान हैं।

चित्-शक्ति अत्यन्त रहस्यमयी है। इस रहस्य का यथा-शक्ति उद्घाटन करने के लिए क्रमशः थोड़ी-थोड़ी चेष्टा की जाएगी। सम्प्रति यह जानना आवश्यक है कि चित्-शक्ति दो विभिन्न धाराओं में काम किया करती है, एक धारा में वह अविच्छिन्न प्रवाह में प्रवाहित होती है। इसमें भी अनेक अवान्तर वैचित्र्य हैं, जो लीला-रहस्य की आलोचना के समय समझ में आएँगे। दूसरी धारा में चित्-शक्ति बूंद-बूंद करके झरती रहती है, अर्थात् उसका क्षरण होता है। यह जो क्षरण है, यह अक्षर का क्षरण है, यह ध्यान रखना होगा। यह क्षरणशील धारा ही स्वरूप की तटस्थ-शक्ति है। इसकी आत्यन्तिक पृथक् सत्ता नहीं है; अवश्य ही आत्यन्तिक अभेद सत्ता भी नहीं है, यह भी सत्य है। अग्नि से जैसे स्फुलिङ्ग निर्गत होते हैं, उसी प्रकार इस मूल अक्षर सत्ता से कणा-रूप में क्षरणशील अक्षर निर्गत हो रहे हैं। सृष्टि के आदि-क्षण में स्पन्दन में जो बहिर्मुख भाव उदित होता है, उसीके प्रभाव से इन अक्षर-कणों का निर्गम निष्पन्न हुआ करता है। साधारणतः हम इन कणों को ही जीव-कण वा जीवाणु मानते हैं।

यह जिस जीव-कण की बात कही गई वह चित्कण है। जीव का स्वरूप एवं उद्भव जानना हो तो इस प्रसंग में और भी कुछ-एक बातें ध्यान में रखनी होंगी। पूर्ण स्वरूप के साथ पूर्णरूपा अन्तरङ्गा-शक्ति या चैतन्य-शक्ति वस्तुतः समरस रूप से व्याप्त रहने पर भी बहिःप्रकाश की ओर से इस व्याप्ति में एक स्वगत न्यूनाधिक भाव वर्तमान है, यह कहना ही होगा। पूर्ण स्वरूप को यदि सच्चिदानन्द कहकर ग्रहण करें एवं उसके निरंश होने पर भी यदि उसमें उसके अचिन्त्य प्रभाववशतः सत्, चित् व आनन्द ये तीन अंश स्वीकार किए जाएँ, तब समझने की सुविधा के लिए कहा जा सकता है कि यह अन्तरङ्गा-शक्ति भी स्वीय अखण्डता के रहते हुए भी तीन अंशों में आपेक्षिक व्याप्ति-विशिष्ट है। अर्थात् उसके सदंश की अन्तरङ्गा-शक्ति सर्वापेक्षा अधिक व्यापक है, चिदंश की अन्तरङ्गा-शक्ति की व्याप्ति अपेक्षाकृत कम है एवं आनन्दांश की व्याप्ति और भी कम है। साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना होगा कि जहाँ व्याप्ति कम है, वहाँ गम्भीरता अधिक है। इस दृष्टिकोण से देखें, तो आनन्दांश की शक्ति मण्डल के बिन्दुरूप में है, चिदंश की शक्ति मण्डल के बिन्दु से लेकर परिधि पर्यन्त रेखा (अर्धव्यास) रूप में है, एवं सदंश की शक्ति मण्डल की परिधि के रूप में परिगणित हो सकती है। माया या जड़-शक्ति अन्तरङ्गा-शक्ति के सदंश के द्वारा व्याप्त है। इसी कारण मायिक जगत् में सर्वत्र ही पूर्णस्वरूप का सत्तांश ही प्रतिफलित रूप में दिखाई पड़ता है। तटस्थ या जीव-शक्ति अन्तरङ्गा-शक्ति के चिदंश द्वारा व्याप्त है। अखण्ड स्वरूप-शक्ति अपने स्वरूप के आनन्दांश के द्वारा परिव्याप्त है। माया-शक्ति का वैभव, तटस्थ-शक्ति का वैभव एवं अन्तरङ्गा-शक्ति का वैभव—सर्वत्र ही अन्तरङ्गा-शक्ति का अस्तित्व विद्यमान रहकर उसको कार्योन्मुख कर रहा है। माया में एवं मायिक जगत् में केवल सदंश कार्य करता है। जीव-जगत् में सदंशसहित चिदंश कार्य करता है, एवं आनन्दमय भगवद्धाम में सच्चिद्अंश के साथ आनन्दांश कार्य करता है। अथच सभी अंश सर्वात्मक होने के नाते प्रत्येक अंश में ही अपरांश का अनुप्रवेश हुए बिना नहीं रहता।

पहले जिस जीवरूपी अणु की बात कही गयी है, वह चिदात्मक होने पर भी अखण्ड चित्शक्ति से पृथक् रूप में प्रतिभासमान होता है। किन्तु सृष्टि के आदि में स्फुरण के अभाववशतः पृथक् रूप में भासमानता नहीं रहती। महा-इच्छा वा स्वातन्त्र्य के उन्मेष से जब सृष्टि की सूचना होती है, तब ये सब अन्तर्लीन परमाणु-पुञ्ज चैतन्य के तलदेश से बाहर की ओर ऊपर को उत्थित होते हैं। उत्थित होते ही उनमें एक वेग का संचार होता है। इस वेग के प्रभाव से सभी परमाणुओं में से जिसकी जैसी प्रकृति है वह उसकी ओर आकृष्ट होता है और बाकी परमाणु-पुञ्ज अनादिकाल की घोर सुषुप्ति में पूर्ववत् मग्न रहते हैं : जाग्रत् परमाणुओं में से जिनकी प्रकृति अन्तर्मुख है वे परमतत्त्व के नित्य वैभव में अर्थात् चिदानन्द-

मय राज्य में प्रविष्ट होकर नित्य आनन्दमय लीला में अपने स्वभाव के अनुरूप भाव से योगदान करते हैं। पक्षान्तर में, जिनकी प्रकृति बहिर्मुख है वे आत्मविस्मृत होकर बाह्य शक्तिरूपा माया के आकर्षण से आकृष्ट होकर माया-गर्भ में प्रवेश करते हैं। इन सब जीवों की प्रकृति बहिर्मुख कही गई, किन्तु इनके मध्य में किसी-किसीकी अन्तःप्रकृति आच्छन्न एवं बहिःप्रकृति बहिरुन्मुख होती है; पुनः किसीकी अन्तर्मुख प्रकृति इतनी गम्भीर सुषुप्ति में मग्न होती है कि उसके अस्तित्व का भी सन्धान नहीं मिलता। उसकी केवल बहिःप्रकृति जाग्रत् होकर सृष्टि-दशा में उसे बाहर की ओर प्रेरित करती है। वस्तुतः जीव-तत्त्व अत्यन्त जटिल है। जीवरूप चिदात्मक हैं, केवल इतना जानने से ही जीव के सम्बन्ध में तात्त्विक ज्ञान नहीं होता; विशेष ज्ञान आवश्यक है।

जो जीव सृष्टि के आदि में उद्बुद्ध नहीं होते उनकी प्रकृति के सम्बन्ध में कोई विचार करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अव्यक्तावस्था में प्रकृति का विचार नहीं किया जा सकता। किन्तु जो जीव प्रबुद्ध होते हैं वे किसी न किसी प्रकृति को लेकर ही प्रबुद्ध होते हैं। इसीलिए उनकी प्रकृति-विषयक आलोचना आवश्यक है। आदिम उन्मेष के समय जीव जाग उठकर प्रकृति की प्रेरणा से जब आनन्द-शक्ति की ओर अथवा सत्-शक्ति की ओर धावित होता है तब से ही उसके जीवन की सूचना मिलती है। सुषुप्तावस्था में जीव का नित्यसिद्ध आत्मज्ञान आच्छन्न रहता है। जीव चिदणु होने के कारण कभी भी चित्शक्ति से पृथक्कृत नहीं होता, यह ठीक है, किन्तु अव्यक्तावस्था में चित्शक्ति की कोई क्रिया नहीं रहती। यह जीव के आत्मचैतन्य की आच्छन्नता है। 'मैं हूँ' यह मौलिक बोध भी तब उसे नहीं रहता अर्थात् आवृत रहता है, किन्तु जागने के साथ-साथ ही सर्वप्रथम स्वीय सत्ताबोध उद्रिक्त हो उठता है। तब दृक्शक्ति का स्फुरण होता है एवं स्वीय प्रकृति के अनुसार इस दृक्शक्ति की क्रिया की दिशा निरूपित होती है। इसके फलस्वरूप जैसे कि कोई-कोई आनन्दमयी ज्योतिःस्वरूपा शक्ति के गर्भ में प्रवेश करता है, उसी प्रकार कोई-कोई आनन्दहीन अमारूपा जड़-शक्ति के गर्भ में प्रवेश करता है। किन्तु ऐसे भी जीव हैं जिनकी प्रकृति में इन दोनों दिशाओं का आकर्षण समरूप में होने के कारण जाग्रत् अवस्था में वे किसी एक ओर आकृष्ट न होकर मध्य में अवस्थान करते हैं।

कहना न होगा, यह सुषुप्त-अवस्था नहीं है। यह जो मध्यावस्था कही गई, जाग्रत् जीव उसमें अवस्थित होकर अपने नवोन्मेषित 'अहं'-त्व (मैं-पन) बोध को इस व्यापक निष्कङ्ग चिन्मय मध्यसत्ता के साथ अभिन्न समझता है। चिन्मय स्वरूपानुभूति मध्यावस्था की अनुभूति है।

यह जो प्रकृतिगत वैचित्र्य की बात कही गई, इसके अवान्तर भेद इतने अधिक हैं कि उन्हें कहने जाएँ तो तत्त्वदृष्टि से श्रेणी-विभाग सम्भवपर होने पर भी अति कठिन है—प्रत्येक जीव का ही ऐसा एक न एक वैशिष्ट्य है जो केवल उसीकी सम्पत्ति है और जो दूसरे जीव में नहीं रह सकती। इस वैशिष्ट्य का मूल कहाँ है, यह जानने की चेष्टा करने पर समझा जा सकेगा कि पूर्ण स्वरूप की अन्तरङ्गा-शक्ति के आनन्दांश का स्वगत वैचित्र्य ही इसका मूल है। यद्यपि जीव चिदणु है, इसमें सन्देह नहीं, एवं चित्-शक्ति में किसी प्रकार का वैचित्र्य रह नहीं सकता, यह भी सत्य है, तथापि यह ध्यान रखना होगा कि चिदंश की अन्तरङ्गा-शक्ति के साथ ओत-प्रोत रूप से आनन्दांश की अन्तरङ्गा-शक्ति जड़ित है। आनन्दांश की शक्ति में वैचित्र्य रहने के कारण चिदंश में वैचित्र्य न रहने से भी उसमें इस वैचित्र्य की एक छाप लग जाती है। यह अत्यन्त गुप्त रूप से जीव के स्वरूप में निहित रहती है। जीव स्वयं इसका सन्धान नहीं जानता एवं उसके जानने के लिए कोई उपाय भी नहीं है। माया-राज्य में जीव जितने दिन परिभ्रमण करता है, उतने दिन वह इसे जान नहीं सकता। मायायुक्त होकर आत्मस्वरूप-ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी (ब्रह्म के साथ विविक्त भाव से हो, चाहे अविविक्त भाव से ही हो) इसे वह नहीं जान सकता। केवल-मात्र साधु-गुरु की कृपा से भगवदनुग्रह होने पर जब जीव भगवद्राज्य में प्रवेश का अधिकार पाता है, तब उसकी यह गुप्त प्रकृति जाग उठती है। यह प्रकृति न जागने से नित्यलीला में प्रवेश ही नहीं हो सकता।

स्वरूप शक्ति का आनन्दांशगत वैचित्र्य ही मूलप्रकृतिगत वैचित्र्य है। चिदणु में यह वैचित्र्य प्रतिफलित होता है। यह वैचित्र्य ऐसा अद्‌भुत है कि इसीके अचिन्त्य-प्रभाववशतः सर्वत्र अनुस्यूत अविच्छिन्न अद्वैतसत्ता मानो ढंक जाती है। इसी वैचित्र्य के कारण ही आनन्दगत दो अंश ठीक एक तरह के नहीं होते—एवं हो भी नहीं सकते। यह वैशिष्टय चिदंश में प्रतिबिम्बित होने पर चित् के अव्यक्त धर्म के रूप में वर्तमान रहता है। चिदणु जिस प्रकार अनन्त हैं, उसी प्रकार ये आनन्दांश भी अनन्त हैं। एक-एक चिदणु में एक-एक अंश धर्म के रूप में निहित है। यह आनन्द भक्ति, प्रीति या राग का ही नामान्तर है। इसकी विशेष आलोचना बाद में की जायेगी। सुतरां प्रत्येक जीवाणु में एक विशिष्ट प्रकार की प्रीति का भाव उसके स्वधर्म के रूप में नित्य निहित रहता है। यही उसकी प्रकृति या स्वभाव है। जब तक इस स्वभाव का उन्मेष व क्रिया नहीं होगी तब तक जीव को परमानन्द-लाभ भी नहीं होगा।

यहाँ पर और एक विषय दृष्टि में रखना होगा। अणु-स्वरूप जीव निद्राभङ्ग के बाद या तो अन्तर्मुख (भीतर की ओर) रहता है, या फिर बहिर्मुख रहता है, अथवा उभय-शक्ति की साम्यमय मध्यभूमि में अवस्थान करता है। अन्तर्मुख और बहिर्मुख अवस्थिति के स्थल पर जो गति है, वह स्पष्ट ही समझी जा सकती है। नित्य-धाम आनन्दमयी स्वरूप-शक्ति का राज्य है, काल से अतीत है। भगवान् के परिकर-रूप में महाकाल वहाँ काल की क्रिया करते हैं। क्योंकि वहाँ केवल वर्तमान से इतर कोई काल नहीं है। अथच लीला-प्रसंग में अतीत और अनागत का भी आभास जाग उठता है। जो अणु जागने के साथ-साथ ही नित्य धाम में प्रवेश करते हैं, वे नित्य-लीला के अन्तःपाती होकर स्वभाव का खेल खेलते रहते हैं। किन्तु जो जागने के साथ-साथ ही जड़-शक्ति माया के आकर्षण से आकृष्ट होकर बहिर्मुख (बाहर की ओर) धावित होते हैं एवं माया-गर्भ में प्रवेश करते हैं, वे काल-शक्ति के अधीन हो जाते हैं। उनके समग्र सांसारिक जीवन की धारा ही काल-शक्ति के अधीन होकर चलने की धारा है, किन्तु जो जीव जागकर किसी प्रकार की गति प्राप्त नहीं करते, वेग के अभाववशतः नित्य अथवा अनित्य किसी भी राज्य में जिनका प्रवेश नहीं होता, जिन्हें मध्य भूमि पर विराट् चैतन्य स्वरूप में एक प्रकार के अभेद-ज्ञान में स्थिति प्राप्त होती है, वे लोग निर्विशेष, निष्क्रिय, निराकार स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हैं। जब तक इस अवस्था से अन्तरङ्गा-शक्ति की विशेष प्रेरणा द्वारा वे लोग उत्थित न हो पायेंगे एवं उत्थित होकर भगवान् के परम धाम में प्रवेश न कर पायेंगे, तब तक उनके लिए यही परम स्थिति है। मध्यभूमि में कोई वैचित्र्य नहीं है। इसलिए यह भूमि प्रशान्त आनन्द रूप से प्रतिष्ठित रहने पर भी उसमें रस की हिल्लोल नहीं खेलती। चिन्मयधाम में एवं जड़ जगत् में दोनों वैचित्र्य ही समान रूप से विद्यमान हैं—उभयत्र ही आकृति एवं प्रकृतिगत अनन्त प्रकार का वैशिष्टय यथाक्रम से लीला व क्रियाशक्ति के वेग में उच्छलित होकर उठ रहा है। भेद केवल यह है कि नित्यधाम की लीला में स्फूर्ति होती है, एवं आनन्द के साथ दुःख का मिश्रण नहीं रहता, रोग, शोक, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासा, पाप व मलिनता वहाँ सदा के लिए ही अस्त हैं। कुण्ठारहित होने के कारण वह नित्य ही उज्ज्वल, विकुण्ठ या वैकुण्ठ-रूप में प्रकाशमान रहता है। विकार एवं अपूर्णता वहाँ अनुभूत नहीं होते। किन्तु अनित्य राज्य ठीक इसके विपरीत है—यह रोग, शोक, जरा, मृत्यु, पाप व मलिनता का आधारस्वरूप है। यहाँ शुद्ध आनन्द का प्रकाश नहीं है, जो है वह कर्मफलरूप से सुख-दुःख का खेल है। नित्यधाम ज्ञानालोक से आलोकित है, अनित्य राज्य आदि से अन्त तक अज्ञान के अधीन है।

पहले ही कहा गया है कि आनन्द जीव का स्वभावसिद्ध धर्म है। इसलिए माया व काल के राज्य में आकर भी जीव खोई निधि के समान निरन्तर इस आनन्द का ही अन्वेषण करता रहता है। खोजता है आनन्द को, किन्तु पाता है दुःख, क्योंकि अविद्या के प्रभाव से आत्मविस्मृत जीव विपरीतगति-विशिष्ट होकर ही धावित होता है। भगवान् के प्रति वैमुख्य ही आत्मविस्मृति का कारण है; एवं आत्मविस्मृति ही माया-राज्य में पतन का हेतु है। वस्तुतः जीव की आत्मस्मृति अक्षुण्ण रहने से माया का ऐसा कोई सामर्थ्य नहीं कि वह इसे खींचकर अपनी ओर ला सके। जीव आनन्द की खोज में

माया के हाट में आ पड़ा है। यहाँ छाया के सिवा काया-प्राप्ति की कोई आशा नहीं। इसीलिए जिसकी वह आनन्द-रूप में या आनन्द के उपाय-रूप में धारणा करता है वही कार्य-काल में जाकर उसको छलता है। संसार की प्रत्येक वस्तु ही इसी प्रकार जीव की प्रतारणा कर रही है। इसीलिए वह माया-मरीचिका, गन्धर्व-नगर, स्वप्न-राज्य प्रभृति कहकर संसार के प्रति वितृष्णा प्रकट करता रहता है। किन्तु वस्तुतः यह उसकी भूल है। वह पहले ही आत्मा को भुलाकर ही संसार में आया है, अब संसार को दोष देने से कैसे चलेगा ? आनन्द का जो मूल स्थान है, दिव्य ज्ञान का जो एकमात्र उत्स है, नित्यधाम का जो केन्द्रस्वरूप है, उसकी ओर पीठ करने से ऐसा ही होता है। यही जीव का मायाकृत दण्ड है।

वास्तव में संसार में दुःख-भोग करना भी जीव के पक्ष में अमङ्गल नहीं है। क्योंकि इस दुःख-भोग की अभिज्ञता से ही वह नित्यधाम में जाकर अपने प्रकृतिगत आनन्द को पहचान ले सकता है। दुःख से परिचित न होने पर आनन्द के समुद्र में अवगाहन करके भी आनन्द का आस्वादन नहीं मिलता।

नित्यधाम से अनित्य जगत् में जीव का अवतरण होता है। पुनः अनित्य जगत् से नित्यधाम में जीव का उद्धार होता है। ब्रह्मचक्र के अचिन्त्य आवर्तन की महिमा से सब कुछ हो सकता है एवं होता रहता है। नित्यधाम से जो अवतरण होता है, वह स्थूलतः दो प्रकार का है—

१. नित्यधाम के परमानन्द का सन्धान दुःखमग्न अनित्य-जगत् को देने के लिए। यह सन्धान अनित्य-जगत् से पाने का उपाय नहीं है, अथच यह सन्धान न पाने से अनित्य-जगत् का जीव किसके आकर्षण से आकृष्ट होकर नित्य राज्य में जाने की चेष्टा करेगा ? जिनका इस प्रकार का अवतरण होता है, उन्हें यहाँ भगवान् (अर्थात् परमात्मा) के भिन्नांश जीव कहेंगे। किन्तु ध्यान में रखना होगा कि उनके अभिन्नांश का भी अवतरण होता है। इसकी आलोचना यथास्थान की जाएगी।

२. जागतिक क्षोभ अथवा विप्लव अत्यन्त तीव्र होने पर केवल इस सामयिक उपद्रव के उपशम के लिए कभी कभी नित्यधाम से अनुरूप शक्ति अर्थात् इस कार्य-सम्पादन के लिए समर्थ शक्ति अवतीर्ण होती है। मायाच्छन्न जीवों में परस्पर संघर्ष होने पर जब जागतिक सत्ता संघर्ष-निवारण में समर्थ नहीं होती तब साम्यसस्थापन के लिए नित्यधाम से शक्ति का अवतरण हुआ करता है। यहाँ आपाततः हम इस शक्ति को जीव कहकर ही ग्रहण करते हैं, किन्तु वह भगवान् के स्वांश में भी हो सकती है।

आनन्द का स्वरूपगत वैशिष्ट्य जिस प्रकार तटस्थ भूमि के जीवाणु में उसकी प्रकृति या धर्म के रूप में निहित है, उसी प्रकार प्रत्येक अणु में ही प्रतिबिम्बित रूप में पूर्वोक्त आनन्दांश नित्य जाग्रत् रहता है। यह एक अत्यन्त गम्भीर तत्त्व है एवं रहस्यमय है। यह न समझने से नित्य लीला में जीव का स्थान कहाँ है, इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता। यह जो नित्यधाम में प्रत्येक जीव की अवस्थिति की बात कही गई वह ही जीव की नित्यसिद्ध स्वरूपदेह के नाम से परिचित है। इसका विशेष विवरण बाद में कहेंगे।

जीव के स्वरूप-देह की बात सुनकर विस्मित होने का कोई कारण नहीं है। सच ही जीव का स्वरूप देह है। प्रत्येक जीव का ही अपना-अपना स्वरूप देह है। यही आत्मा है। यह साकार है—निराकार नहीं। आत्मा के निराकार स्वरूप की बात यहाँ आलोच्य नहीं है।

यह स्वरूप-देह वस्तुतः भगवत्स्वरूप के ही अन्तर्गत है। केवल अन्तर्गत नहीं, उसीका अंश है। यह देह ही जीव की प्रकृति है। यह आनन्दात्मक है। इसका कर-चरणादि अवयव-विन्यास भी है, अथच सब एकरस है—एक विशुद्ध आनन्दतत्त्व द्वारा ही मानो यह गठित है।

गठित कहां अवश्य, किन्तु गठित नहीं है। इसका रहस्य बाद में स्पष्ट करेंगे। एक चैतन्यस्वरूप आनन्दघन वस्तु ही मानो अनन्त पृथक्-पृथक् अथच पृथक् होते हुए भी अपृथक् आकार में विद्यमान है।

यह देह आवरण से आच्छन्न है। यही लिङ्गावरण है। महाकल्प का सूत्रपात और लिङ्गावरण का प्रारम्भ समकालीन हैं। कल्प का आरम्भ होने पर लिङ्गावरण के ऊपर और एक आवरण पड़ता है—वही भौतिक आवरण है। इस भौतिक शरीर को कर्मदेह कहा जाता है। यह प्रत्येक कल्प में भिन्न-भिन्न होता है। कल्प के आदि में इस देह का जन्म होता है। कल्प के अवसान में इस देह का नाश होता है। इस देह का जीवन समस्त कल्पव्यापी है। इस देह की सत्ता भी भौतिक सत्ता है। इसको आश्रय करके ही कर्म-संस्कार क्रिया करता है। जो किसी कौशल द्वारा कर्म से अतीत हो सकते हैं वे ही भौतिक आवरण से मुक्त होकर महाकल्प में प्रवेश करते हैं।

यही लिङ्गावरण है। यह महाकल्प के आरम्भ से ही है। लिङ्ग-भङ्ग न होने तक ही महाकल्प है—यही हिरण्यगर्भ का जीवनकाल है। लिङ्गावरण से अव्याहति पाये बिना स्वरूप-देह चेतन नहीं होता। महाकल्प का भेद करना जो है, स्वरूप-देह की उपलब्धि भी ठीक वही है। स्वरूप-देह सच्चिदानन्दमय है, किन्तु लिङ्ग का आवरण अपसारित न होने तक जीव उसका सन्धान नहीं पा सकता। जीव जिस प्राकृतिक सृष्टि के प्रवाह में पतित हुआ है उसका उद्देश्य है इसी आवरण का अपसारण। कर्म के स्रोत में जीव को चलना होता है। जिस जीव में जो गुण प्रधान है, उसे उसी प्रकार का कर्म (साधन) करना होता है। तब लिङ्ग-भङ्ग होता है। महाकल्प के अवसान में यह निष्पन्न होता है। तब सभी अपने-अपने स्वरूप-देह में अवस्थान करते हैं।

वास्तव में काल के स्रोत में विपरीत चलना होता है। गुरुधारा की बात नहीं कह रहा हूँ। काल की धारा पकड़कर जाने से विपरीत जाना ही होगा। काल के आवर्त में जो महत्तम आवर्त नाम से लौकिक दृष्टि में विवेचित होता है, उसका भेद कर पाने से ही स्वरूप-देह का सन्धान पाने का मार्ग पकड़ा जाता है। काल का क्षुद्रतम आवर्त भेद करने पर यह सन्धान मिल जाता है।

महाकल्प ही लौकिक हिसाब से बृहत्तम आवर्त है—इसका भेद करना एवं महाप्रलय का साक्षी बनना लगभग एक ही बात है। लोकोत्तर दृष्टि में इससे भी बड़ा आवर्त है। वस्तुतः उसे भी भेद करना होगा। तब स्वरूपदेह का प्रकृत परिचय पाने का उपाय आयत्त होगा। यह अति महाप्रलय का अतिक्रमण है। प्रकृत प्रस्ताव में यही सुषुम्णा में प्रवेश है। योग व शब्द-विज्ञान की आलोचना के समय इसकी चर्चा प्रासंगिक होगी। इसीलिए यहाँ अधिक नहीं कहा गया। अब समझा जा सकेगा कि एक प्रकार से प्रत्येक का स्वरूप-देह ही भगवान् अर्थात् भगवदंश है। वही मानो बिम्ब है। एक ही महाबिम्ब में अनन्त स्वगत भेद हैं। सबको लेकर ही एक अखण्ड भगवत्सत्ता है। यह महासृष्टि और महाप्रलय की अतीत अवस्था है। यह बिम्ब ही मानो अनन्त प्रतिबिम्ब-रूप में जगत् में प्रतिभासमान हो रहा है। प्रत्येक बिम्ब का भगवत्-स्वरूपात्मक आत्म-बिम्ब में प्रवेश ही जीव की स्वरूप-स्थिति है। केवल प्रवेश नहीं, निर्गम का भी अधिकार रहना चाहिए। यह अति दुर्लभ अवस्था है। यही योग है। कोई-कोई इसको सायुज्य नाम देते हैं। काल की स्वाभाविक धारा का आश्रय लेकर ऊर्ध्व गति से इस अवस्था में उपनीत होना अति कठिन है। किसी-किसी महाप्रलय में कोई-कोई व्यक्ति इस अवस्था को प्राप्त करते हैं। हाँ; साधना व कृपा की धारा में काल की वञ्चना करके इस अवस्था में जाने का कौशल है।

आत्मबिम्ब लाभ न करने पर भी आत्मबिम्ब के सदृश बिम्बलाभ अपेक्षाकृत सहज है। यह मुक्त-पुरुष-मात्र का ही होता है।

स्वरूप-देह सभी जीवों का एक जैसा नहीं होता । जिसका जो स्वरूप-देह है, उसके लिए वही प्राप्य है । प्रकृति के क्रम-विकास की धारा वास्तव में इस स्वरूप-देह को अभिव्यक्त करने के लिए एक कालगत क्रिया मात्र है । स्वरूप-देह की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है ।

स्वरूप-प्राप्त ये सब मुक्तपुरुष अभिनव सृष्टि में नाना स्थानों पर नाना रूप में स्थिति व सञ्चरण करते हैं । किन्तु सृष्टि के सामयिक अवसान-काल में ये सब स्वरूप विशुद्ध चिदाकाश में प्रतिष्ठित रहते हैं । सिद्धगणों में सभी अवस्थाओं में भगवत्-सेवा सभी का मुख्य कार्य है।

अब भगवत्तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ बातें कही जा रही हैं । पहले ही कहा गया है कि स्वरूप के साथ अनन्त शक्ति का नित्य सम्बन्ध है । कहना न होगा, यह सम्बन्ध शक्ति की व्यक्तावस्था में ही सम्भव है । जो इस अनन्त शक्ति के एकमात्र आश्रय हैं, वे ही भगवान् हैं । भगवान् से (अन्य) शक्तिमान् = सर्वशक्तिमान् और किसीको भी नहीं कहा जा सकता । सुतरां स्वरूप-शक्ति की सत्ता ही भगवत्ता है । तटस्थ-शक्ति का एवं माया-शक्ति का अधिष्ठान भी स्वरूप-शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है । जो स्वरूप-शक्ति-हीन हैं वे ही एक ओर जीव के और दूसरी ओर जगत् के अन्तर्यामी नहीं हो सकते । क्योंकि सूत्र धारण न कर पाने पर सूत्रधार नहीं बना जाता । सूत्र ही स्वरूप-शक्ति है जिसके द्वारा जीव और जगत् को ज्ञान और कर्मपथ पर प्रेरणा दी जाती है ।

यह स्वरूप-शक्ति चित्कला के सिवा अपर कुछ भी नहीं है । इसमें अनन्त कलाओं का समावेश है, किन्तु अनन्त कलाओं में भी समाधान नहीं होता । षोडशी कला में ही पूर्णता का स्वरूप स्फुट हो उठता है । सप्तदशी कला अनन्त कलाओं की प्रतीक-स्वरूपा है । यह महाशक्ति-रूप में नित्य जागरूक रहती है । कला के तारतम्य के अनुसार ही शक्ति का नित्यसिद्ध वैशिष्ट्य प्रकाशित होता है । सत्शक्ति वा सन्धिनी कला, चित्शक्ति वा संवित् कला एवं आनन्दशक्ति वा ह्लादिनी कला वस्तुतः चित्कला का ही मात्रागत क्रमोत्कर्षजनित वैशिष्ट्यमात्र है । चित्कला की उज्ज्वलता के जरा-सी क्षीण हुए बिना आत्मस्वरूप से अन्य और कुछ दिखाई नहीं देता । जीव और जगत् को देखने जाएँ तो तदनुसार चैतन्य-शक्ति का संकोच आवश्यक है । जिस प्रकार अत्यन्त तीव्र ज्योति में आँख चौंधिया जाती है, केवल ज्योति ही दिखाई देती है, तद्भिन्न दृश्य पदार्थों का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार चित्कला के अत्यन्त अधिक मात्रा में प्रकाशित रहने से चैतन्य से भिन्न और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता । जिस अवस्था में जीव और जगत् का भान तक नहीं होता, उस अवस्था में उनके नियन्त्रण का प्रश्न ही नहीं उठता । इसी कारण भगवान् पूर्ण स्वरूप-शक्ति के अधिष्ठाता होने से जीव के हृदयस्थित अन्तर्यामी पुरुष-रूप में भी प्रकाशित नहीं होते, जगत् के चालक पुरुष के रूप में भी नहीं । स्वरूप-शक्ति की कुछ न्यूनता हुए बिना यह नियमन-कार्य सिद्ध नहीं हो सकता ।

ब्रह्म में स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं है । इसीलिए ब्रह्म निष्क्रिय व उदासीन है । ब्रह्म जीव-भाव एवं माया का अधिष्ठान मात्र है । भगवान् वे हैं, जिनमें स्वरूप-शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति है । उनमें समस्त शक्तियाँ ही आश्रित हैं—स्वरूप-शक्ति साक्षात् रूप में, अन्यान्य शक्तियाँ स्वरूप-शक्ति की मध्यस्थता में । किन्तु स्वरूप की जिस अवस्था में चित्कला पूर्ण मात्रा में अभिव्यक्त नहीं रहती वह भगवद्भाव भी नहीं है, ब्रह्मभाव भी नहीं है, वही है परमात्मभाव । सुतरां परमात्मा ही जीव और जगत् के ईश्वर हैं । साक्षात् रूप में भगवान् को जीव और जगत् का ईश्वर कहना चलता नहीं । क्योंकि भगवत्-स्वरूप पूर्ण चित्शक्तिमय होने के कारण वहाँ स्वभाव-सिद्ध रूप से जीव का कोई स्थान नहीं है एवं जड़ का भी कोई स्थान नहीं है—वह चिद्रूपा निजशक्ति के विलास से ही भरपूर है । हाँ, परमात्मा भगवान् का ही एकदेश होने के कारण जो भी कोई धर्म परमात्मा में प्रयुक्त होने योग्य है, वह भगवान् में भी आरोपित होता है ।

परमात्मा मायाचक्र के अध्यक्ष हैं, जीव और माया के अधिष्ठाता हैं, दोनों के ही प्रभु हैं। योगी योग-बल से चित्तवृत्ति एकाग्र करके हृदयाकाश में जिनका दर्शन पाते हैं वे ही परमात्मा अर्थात् परमात्मा के अंशभूत चैत्य पुरुष या अन्तरात्मा हैं। वे देहयन्त्र के यन्त्री हैं—वे द्रष्टा हैं अवश्य, किन्तु इनकी दृष्टि ही क्रिया है। इस दृष्टि के प्रभाव से देहयन्त्र चलता रहता है। ये असङ्ग होने के कारण देह में अभिमान-हीन हैं—अथच इन्हींकी दृष्टि से देह संचालित होता है। जीव यन्त्रारूढ़ पशु है, देहात्मबोध से बद्ध है। जीव जब देहात्मभाव का त्याग करके अन्तर्मुख होता है, तभी परमात्मा का दर्शन प्राप्त करता है—परमात्मा निर्लिप्त द्रष्टा मात्र हैं, जीव स्वयं को भी तब तद्रूप अनुभव करता है। यह जीव की मुक्तावस्था है, द्रष्टा पुरुष-रूप में स्थिति है। अन्तर्यामी पुरुष की दृष्टि ही तो सृष्टि है, उनका ज्ञान ही तो क्रिया है—इसे पुरुष मुक्त अवस्था में भी पहले अनुभव नहीं कर पाता। किन्तु पहले अनुभव न कर सकने पर भी बाद में कर सकता है। तब फिर जीव नहीं रहता—जीव में ईश्वरत्व अभिव्यक्त होता है। वह तब द्रष्टा मात्र नहीं, दृष्टि द्वारा प्रकृति का नियामक होता है, वह तब प्रकृति का स्वामी है। माया तब उसके अधीन होती है। यही योगैश्वर्य है। योगबल से प्रकृति से विविक्त होकर पहले शुद्ध द्रष्टा या निष्क्रिय चित्स्वरूप में अवस्थान होता है, उसके बाद धीरे-धीरे इस प्रकृति को आयत्त करके क्रियाशक्ति के द्वारा उसका नियन्त्रण व ईश्वरत्व-लाभ घटित होता है। बाह्य योग के द्वारा यहाँ तक ही होता है। इसके बाद अग्रसर होना हो तो अन्य उपाय की आवश्यकता होती है।

यह जो योगलब्ध ऐश्वर्य है, यह भी वस्तुतः भगवत्ता ही है। हाँ, यह भगवत्ता का पूर्ण स्वरूप नहीं—अंश मात्र है। अंश मात्र होने से ही योगी विश्व-राज्य के अधीश्वर वा मायिक जगत् के अधिष्ठाता होते हैं। जड़ साम्राज्य के सम्राट् पद पर अभिषिक्त होते हैं। यह भी चित्कला की ही महिमा है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु अब भी जड़ सम्बन्ध अतिक्रान्त नहीं हुआ।

किन्तु जड़ राज्य की भाँति चिदानन्दमय साम्राज्य भी है। उसका प्रभुत्व जिनमें निहित है, जो इस महान् राज्य के अधीश्वर हैं, जिनके अनन्त ऐश्वर्य की कणिका मात्र का अवलम्बन करके कोटि ब्रह्माण्डमय मायिक जगत् की विभूति प्रकाशित होती है, वे ही प्रकृत भगवान् हैं। चित्कला की अभिव्यक्ति अत्यन्त अधिक मात्रा में न होने से भगवान् को पाया नहीं जाता! योगी के इष्टदेव हृदय में निहित हैं, किन्तु उनको हृदय से बाहर लाना हो तो पूर्ववर्णित योग-शक्ति की अपेक्षा और भी अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है। योगी दर्शन पाता है स्वप्नवत् ध्यान में, भक्त पाता है साधारण जाग्रत् भाव में। इसीलिए भक्त की अनुभूति में जो तृप्ति है, योगी की अनुभूति में उसको आशा नहीं की जा सकती।

यह अधिक शक्ति भक्ति से प्राप्त होती है। भक्ति स्वयं ही अपने विषय को स्फुट कर देती है। भक्ति के विषय हैं भगवान्। भक्ति के अनुशीलन के प्रभाव से भगवान् आविर्भूत होते हैं, उनको साक्षात् करने के लिए वृत्तिरोध नहीं करना पड़ता। वृत्ति की बाह्य अवस्था में भी उनको पाया जाता है, भाव का अंजन आँज लेने पर सभी इन्द्रियों द्वारा ही भगवान् का आस्वादन-लाभ किया जा सकता है। योगी को दर्शन होता है अन्तराकाश में, भक्त को दर्शन होता है बहिराकाश में। योगी ज्योतिर्मय पुरुष-रूप में हृदय में परमात्मा का दर्शन पाते हैं, किन्तु भक्त इन्द्रियग्राह्य बाह्य पुरुष की तरह बहिर्जगत् में भी भाव-संस्कृत इन्द्रियगोचर रूप में भगवान् का दर्शन प्राप्त करते हैं। भक्त प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा ही भगवद्-देह की अनुभूति पाते हैं, किन्तु योगी को इष्टानुभूति उस प्रकार की नहीं होती।

भगवान् चिदानन्द द्वारा गठित जीवन्त मूर्ति हैं। इस मूर्ति का रचयिता स्वयं भक्त है।

भगवदनुभूति और परमात्मानुभूति के बीच मूलगत पार्थक्य है। स्वरूप-शक्ति का किञ्चित् उन्मेष न होने से परमात्मा की अनुभूति नहीं होती। जिस शक्ति के प्रभाव से यह अनुभूति होती है, वह यद्यपि स्वरूप-शक्ति ही है, तथापि

उसमें अतिसूक्ष्म रूप में माया का आभास घिरा रहता है। परमात्मा माया के अधिष्ठाता हैं, जीव के भी अधिष्ठाता हैं; सुतरां जो शक्ति जीव व माया को नियन्त्रित करके रहती है, वही शक्ति परमात्म-साक्षात्कार के अनुकूल है। वह वस्तुतः स्वरूप-शक्ति होने पर भी चैतन्य की पूर्ण कला उसमें विकसित नहीं रहती। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार कहा जा सकता है कि प्राकृतिक सत्त्वगुण जब रजस् व तमस् गुणों द्वारा अभिभूत न होकर अत्यन्त उत्कर्ष-लाभ करता है, जब त्रिगुण का परिणाम-स्वरूप चित्त विशुद्ध होता है तभी यह परमात्म-दर्शन के लिए उपयोगी होता है। प्राकृतिक सत्त्वगुण का अतिक्रम किए बिना परमात्मा का दर्शन नहीं किया जाता—भले ही यह भी सत्य है कि जब तक इस सत्त्वगुण में रजोगुण की चञ्चलता व विक्षेप एवं तमोगुण का आवरण व लय विद्यमान रहता है, जब तक चित्त अपने उपादान में सत्त्वगुण की पुष्टि से प्रबलता लाभ नहीं कर पाता, तब तक समाधि और समाधिजनित प्रज्ञा का आविर्भाव हो ही नहीं सकता। शुद्ध चित्त में परमात्मा की अनुभूति होती है। इसी कारण परमात्म-दर्शन हृदय में ही होता है, क्योंकि हृदय ही चित्त के विश्राम का उपयोगी अवकाश है। किन्तु जहाँ देह नहीं है, वहाँ हृदय कहाँ? देह को आश्रय करके ही साक्षी और प्रेरयिता-रूप में परमात्मा, एवं कर्ता व भोक्ता रूप में गुणबद्ध जीवात्मा अवस्थान करते हैं। इससे समझा जा सकेगा कि प्राकृतिक पिण्ड में अवस्थित होकर ही साक्षीरूप में परमात्मा का अनुभव होता है; केवल साक्षिभाव से नहीं। प्रकृति व प्रकृति-पिण्ड के नियामक रूप में भी हृदयस्थ परमात्मा का अनुभव किया जा सकता है। कहना न होगा, यह भी साक्षि-स्वरूप स्वयं की ही अनुभूति है। किन्तु भगवद्-दर्शन इस प्रकार से नहीं होता। चित्कला की पूर्ण अभिव्यक्ति न होने तक पूर्ण चित्कलामय भगवत्-सत्ता का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। स्वरूप-शक्ति का पूर्ण प्रकाश ह्लादिनी में है। ह्लादिनी के आश्रय के बिना अन्य किसी उपाय से भगवद्दर्शन हो ही नहीं सकता। ह्लादिनी शक्ति का भी एक क्रम-विकास है। इस विकास के निम्नतर स्तर में यदि ह्लादिनी शक्ति का स्फुरण होता है, तब भी वस्तुतः वह ह्लादिनी शक्ति है, अन्य कुछ नहीं। इसीलिए उसी अवस्था में भी भगवद्-दर्शन सम्भव है। किन्तु प्राकृतिक चित्त को शुद्ध करके उसके द्वारा भगवत्साक्षात्कार नहीं होता, हो भी नहीं सकता। क्योंकि भगवान् प्राकृतिक सत्त्वगुण के अगोचर हैं। अप्राकृत सत्त्व या विशुद्ध सत्त्व ही भगवद्दर्शन के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है। यह गुणबद्ध जीव का स्वायत्त नहीं है। यद्यपि जीव-स्वरूप के गम्भीरतम प्रदेश में कणरूप से अप्राकृत सत्त्व निहित है, तथापि उसको उद्रिक्त करने के लिए बाहर से अप्राकृत सत्त्व का अनुप्रवेश आवश्यक है। विशुद्ध सत्त्व ह्लादिनी शक्ति की ही वृत्ति है। सुतरां जब तक स्वयं भगवान् साक्षात् रूप से जीव में ह्लादिनी शक्ति का संचार न करें अथवा ह्लादिनी शक्ति-प्राप्त भगवद्भक्त कृपा-रूप में इसे जीव को अर्पण न करें, तब तक जीव का स्वकीय सत्त्वबीज अंकुरित होने का अवकाश नहीं पाता। विशुद्ध सत्त्व का क्षोभजनित प्रथम उन्मेष ही भाव है जो क्रमशः परिणत होकर प्रेम का आकार धारण करता है। यह नित्यसिद्ध है; हाँ, साधना द्वारा हृदय में अभिव्यक्त मात्र होता है। वस्तुतः यह साधना का फल नहीं है। साधना के साथ भावोदय का जो कार्य-कारण-भाव देखा जाता है वह मौलिक नहीं होता। साधना अभिव्यञ्जक है, भाव अभिव्यङ्ग्य। इस भाव को ही साध्यभक्ति कहते हैं—यह प्रेम का अंकुरस्वरूप है। भाव के आविर्भूत होकर देह, मन, इन्द्रिय प्रभृति में अवतीर्ण होने से इन सब वस्तुओं की जो परिणति होती है, उससे ही भाव के आविर्भाव का परिचय प्राप्त होता है। भाव ही भक्ति का बीज है, प्रेम उसका फल है। प्रेम भी क्रमशः पुष्टिलाभ करके विभिन्न प्रकार के विलास में आस्वादन के विभिन्न प्रकार-वैचित्र्य प्रकट करता है। प्रेम-विलास का पूर्ण एवं परिणत स्वरूप ही राधातत्त्व है। इसका विवरण बाद में दिया जाएगा।

पूर्वोक्त विवरण से समझा जायेगा कि त्रिगुण के साथ सम्बन्ध का आभासमात्र रहने से भी भगवदनुभूति नहीं आती। भगवदनुभव के लिए चित्कला का पूर्ण आविर्भाव आवश्यक है। जहाँ चित्कला की अभिव्यक्ति पूर्ण है, वहाँ अचित् या माया का आभास रहेगा क्योंकर! इसीलिए चित्शक्ति के जितने से विकास से हृदय में परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है, उससे अधिक उसका विकास न होने से हृदय के अतीत प्रदेश में भगवान् का दर्शन नहीं मिलता। चित्शक्ति की यह पूर्णता विशुद्ध ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति है एवं विशुद्ध सत्त्व में उपनीत होती है। विशुद्ध सत्त्व का परिणाम ही भक्ति

है। जिन्होंने संवित् व ह्लादिनी शक्ति-समवेत-सार को 'भक्ति' कहकर निर्देश किया है, उन्होंने वस्तुतः यही बात प्रकाशित की है।

भगवान् का अनुभव करने के लिए किसी इन्द्रिय का रोध नहीं करना होता, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय की पूर्ण तृप्ति भगवद्-आस्वादन से हो जाती है। किन्तु परमात्मा का अनुभव इन्द्रियों की अन्तर्मुखी गति हुए बिना नहीं हो सकता। असली बात यह है कि जीव अपनी भूमि का त्याग किये बिना भगवान् को देख या जान नहीं पाता। वस्तुतः भगवान् स्वयं को स्वयं ही देखते हैं, स्वयं को स्वयं ही जानते हैं; स्वयं का स्वयं ही आस्वादन भी करते हैं। यही उनकी स्वरूप-शक्ति की लीला है। जीव इस शक्ति के अनुगत होकर उन्हें देख भी सकता है, जान भी सकता है, एवं अनन्त प्रकार से आस्वादन भी कर सकता है। यही भक्ति का खेल है।

भगवदनुभूति एवं परमात्मानुभूति के सम्बन्ध में संक्षेप में दो एक बातें कही गयी हैं। अब ब्रह्मानुभूति का वैशिष्ट्य कहते हैं। ब्रह्म स्वरूप-शक्तिहीन, अर्थात् केवल स्वरूपावस्था में असत् के समान हैं। अर्थात् रहने पर भी न रहने के समान हैं। वे प्रकाशस्वरूप होने पर भी स्वप्रकाशपदवाच्य नहीं हो सकते। प्रकाश की स्वरूपभूता विमर्शरूपा शक्ति ही प्रकाश को प्रकाश-रूप में परिचित करती है। अर्थात् प्रकाश 'प्रकाश' है, इसकी उपलब्धि उसकी स्वकीय शक्ति के विमर्श द्वारा ही होती है।

स्वरूप-शक्ति की संवित् कला द्वारा ब्रह्म का यह स्वप्रकाशत्व सिद्ध होता है। जिसको ब्रह्मानुभूति कहा जाता है वही ब्रह्म का स्वप्रकाशत्व है। संवित् शक्ति द्वारा ब्रह्मानुभूति सिद्ध होती है। इस अनुभूति में जीव की पृथक् सत्ता का स्पष्टतः ग्रहण नहीं होता या पृथक् रूपेण वह पकड़ी नहीं जाती। उस समय जीव स्वयं ही स्वयं को ब्रह्म से अपृथक् रूप में अनुभव करता है। यह अनुभव अखण्ड आनन्दात्मक है। यह देश-काल प्रभृति उपाधियों से परिच्छिन्न नहीं। जो लोग विशुद्ध ज्ञानपथ के पथिक हैं वे शुद्ध संवित्-शक्ति के प्रभाव से अभेदज्ञान रूप में ब्रह्म-दर्शन करते हैं।

ब्रह्मानुभूति, परमात्मानुभूति व भगवदनुभूति—तीनों अनुभूतियों को ही भली प्रकार समझना आवश्यक है। और भी स्पष्ट करके कहने की चेष्टा कर रहा हूँ। ब्रह्म निर्विशेष होने से 'ब्रह्मानुभूति' नाम से किसी पारमार्थिक अवस्था को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अचिन्त्य स्वरूप-शक्ति का ही नामान्तर है 'विशेष'। ब्रह्म में स्वरूप-शक्ति स्वीकृत न होने से ब्रह्मानुभूति का कोई अर्थ ही नहीं रहता। क्योंकि प्रकाश की प्रकाशमानता ही स्वरूप-शक्ति का व्यापार है, उसके अभाव में 'न प्रकाशः प्रकाशेत'। वस्तुतः अनुभूति-हीन चित्स्वरूप में स्थिति ही ब्रह्म है—यह वाक् व मन की वृत्ति के अगोचर है। स्वरूपभूता शक्ति के द्वारा ब्रह्म का प्रकाश होता है। यह अपने निकट अपना प्रकाश है एवं स्वयं से ही प्रकाश है। यह शक्ति ब्रह्मस्वरूप से भिन्न नहीं। इसीलिये ब्रह्मात्मक प्रकाश को स्व-प्रकाश कहकर वर्णन किया जाता है।

दृष्टान्तरूप में एक विशाल ज्योति का ग्रहण करते हैं। 'ज्योति' से भिन्न अन्य किसी शब्द द्वारा इसे ठीक-ठीक समझा नहीं जाता, इसीलिये ज्योति कहा। वस्तुतः ज्योति भी स्वरूप का ठीक वाचक शब्द नहीं है। ऊपर, नीचे, आठों दिशाओं में—सर्वत्र एक अखण्ड अनन्त ज्योति अपने आलोक में स्वयं ही देदीप्यमान है। देखनेवाले से पृथक् कोई नहीं है, दृश्य भी कोई पृथक् नहीं, मानों ज्योति ही द्रष्टा है, ज्योति ही दृश्य है, ज्योति ही दर्शन है। स्वरूप मानों स्वयं में स्वयं ही विश्रान्त है, तरंग नहीं, क्षोभ नहीं, हिल्लोल नहीं, स्पन्दन नहीं, क्रिया-विकार नहीं, केवल एक प्रशान्त चैतन्यमय अवस्था है। निद्रा नहीं, स्वप्न नहीं, जागरण नहीं, स्वयंप्रकाश विशुद्ध चैतन्यमात्र है, यही सच्चिदानन्दमय ब्रह्मभाव है।

ब्रह्म का अनुभव संवित्-शक्ति का प्रकाश है। इस प्रकाश में वैचित्र्य का भाव नहीं रहता। यह सत्ता, ज्ञान व आनन्द पूर्ण है, किन्तु वैचित्र्यहीन है। इसमें द्रष्टा और दृश्य का परस्पर भेद भी नहीं है, दृश्य का स्वगत भेद भी नहीं। एक वैचित्र्यहीन अभिन्न सत्ता अपने आधार में स्वयं ही विद्यमान रहती है।

जब इस स्वप्रकाश ज्योति को केन्द्र बनाकर कोई जड़पिण्ड रचित होता है, जो इसी ज्योति के प्रकाश से प्रकाशित एवं इसीकी शक्ति से शक्तिमान् होता है, तब यह ज्योति स्वप्रकाश रहते हुए भी पर-प्रकाशक अवस्था को प्राप्त करती है। यह ज्योति ही तब मूल जड़ सत्ता माया को आविष्ट करती है एवं माया के कार्यभूत पिण्ड में अवस्थित रहकर उसके ज्ञान व क्रिया की धारा को नियन्त्रित करती है। ज्योतिः स्वत शुद्ध रहकर भी जिस शक्ति के प्रभाव से माया का दर्शन व चालन करती है-वह उसकी स्वरूप-शक्ति है। स्वरूप-शक्ति ब्रह्मानुभूति के समय अन्तर्मुख थी, अब वह बहिर्मुख होकर बहिरङ्गा-शक्ति माया का दर्शन करती है। अब वह 'ब्रह्मज्योति' पद-वाच्य नहीं है। यह परमात्मा हैं, जिनका अनुभव हृदय-प्रदेश में होता है।

संवित्-शक्ति की अन्तर्मुख दृष्टि में अभेद-दर्शन होता है। इसकी बाह्य दृष्टि में माया-दर्शन होता है,—मायिक जगत् की सृष्टि होती है और मायिक सृष्टि का नियमन होता है। एक शक्ति का निमेष है, दूसरा उसका उन्मेष है। व्यवहारतः एक के बाद दूसरी का आविर्भाव होता है। किन्तु तत्त्वतः दोनों ही युगपत् विद्यमान रहते हैं। जब कोई भी वर्तमान नहीं है ऐसा समझा जाता है, जब शक्ति अन्तर्मुख भी नहीं होती, बहिर्मुख भी नहीं, तब ब्रह्म-साक्षात्कार अथवा परमात्मसाक्षात्कार अथवा परमात्मकर्तृक-माया-दर्शन कुछ भी नहीं रहता। जो रहता है वही ब्रह्म है--वह सत् होते हुए भी असत्कल्प है, उसका स्वप्रकाशत्व भी एक प्रकार से असिद्ध है। वही अलख है।

ब्रह्म—शून्य—जगत्, यही सृष्टि-विकास का क्रम है। ब्रह्म पूर्ण है--उसमें अभाव नहीं, शून्य का अवकाश भी नहीं। इसीलिए पूर्ण होकर भी वह अव्यक्त है। शून्य-सृष्टि के साथ-साथ ही ब्रह्म अनुभूति-गोचर हो गये--व्यक्त हुए, जैसे महाकाश में सूर्यमण्डल, ठीक उसी प्रकार। साथ-साथ ही द्रष्टा का स्फुरण हुआ। शून्य से अतीत अवस्था में द्रष्टा कहाँ? वह अभेद सत्ता है। यह शून्य हुआ हृदय; जगत् है देह। शून्य-स्थित ब्रह्म-ज्योति का प्रतिबिम्ब हुआ परमात्मा; देह के मध्य हृदय में परमात्मा का दर्शन होता है। तब देह रहता है पर अभिमान नहीं रहता, देह है ऐसा बोध नहीं रहता। क्योंकि देह-बोध ही परमात्म-दर्शन में प्रतिबन्धक है। अथच, देह न रहने पर भी परमात्म-दर्शन नहीं हो सकता। विदेह कैवल्य में परमात्मा कहाँ?

किन्तु भगवद्-दर्शन इस प्रकार का नहीं है। ब्रह्म-दर्शन होता है वृत्ति निरुद्ध होने पर, परमात्म-दर्शन होता है वृत्ति की एकाग्रता में, भगवद्-दर्शन होता है वृत्ति-वैचित्र्य में। प्रथम में वृत्ति का उपशम होता है। उसके बाद इस निरुद्ध दशा में महाशून्य में ज्योतिःपिण्ड के उदय की भाँति एक ज्योति उदित होती है। ये ही परमात्मा हैं। इसके बाद इस एक में ही, एकत्व के अविरोध में ही, अनन्त वैचित्र्य खेलने लगते हैं। यही भगवद्धाम है। तीनों ही अद्वैत हैं। प्रथम से द्वैत-निवृत्ति सिद्ध हुई। द्वितीय में अद्वैत की शक्ति की स्फूर्ति हुई। तब उसके बहिर्मुख होने के कारण इस स्फूर्ति के साथ जीव और जगत् का विकास हुआ। तृतीय में शक्ति अन्तर्मुख होने से अद्वैत के मध्य ही अनन्त वैचित्र्य के विलास की उपलब्धि हो रही है। जागतिक अवस्था के दृष्टान्त में कह सकते हैं--ब्रह्म-दर्शन सुषुप्तिवत् है, परमात्म-दर्शन स्वप्नवत् एवं भगवद्-दर्शन जाग्रद्वत् है।

और एक दृष्टि से भी देखा जा सकता है। ब्रह्म में जगत् का उदय है, ब्रह्म में ही जगत् की अवस्थिति है और ब्रह्म में ही इसका अवसान भी। परमात्मा अपनी दृष्टि द्वारा जगत् के प्रत्येक व्यापार के व्यष्टि व समष्टिभाव से नियामक

हैं। किन्तु भगवान् जगत् व सृष्टि से अतीत हैं। उनके साथ साक्षात् रूप से सृष्टि का कोई भी सम्बन्ध नहीं। सृष्टि का अधिष्ठान ब्रह्म है, एवं सृष्टि का कारण है परमात्मा और माया। भगवान् सृष्टि से, माया से बहुत दूर हैं।

जीव जब तक माया के आवरण में आच्छन्न रहता है, जब तक उसका ज्ञान-चक्षु उन्मीलित नहीं होता, जब तक भेदज्ञान निवृत्त नहीं होता, तब तक अद्वैत-प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है। भगवत्कृपा का किञ्चित् प्रकाश होने से ही जीव अपरोक्ष ब्रह्मानुभूति-लाभ करके माया के अधिकार से मुक्त होता है। माया व मायिक जगत् अब उसके भोग-नेत्र के विषय नहीं बनते। ब्रह्मानुभूति के समय एकमात्र अद्वैत ब्रह्मसत्ता ही अर्थात् आत्मसत्ता ही स्वप्रकाश रूप में विराजती है। उसी निर्विकल्प चैतन्य में जगत्-बोध चिरकाल के लिए अस्तमित रहता है। भगवत्कृपा व चित्शक्ति का तीव्रतर संचार हो तो आत्मस्वरूप या ब्रह्म-स्वरूप चित्कला के साहचर्य के कारण परमात्मरूप में प्रकट होता है। परमात्म-भाव में स्थिर होने के पहले परमात्म-भाव का साक्षात्कार होता है। जीव तब साक्षिरूप से या मुक्त पुरुष के रूप में प्रकृति व उसकी क्रीडा का दर्शन करता है। भोक्तृभाव अब नहीं रहता। ब्रह्मज्ञान-लाभ से पहले बद्धजीव जिस प्रकार जगत्-दर्शन करता था——यह उस प्रकार का दर्शन नहीं है। यह मुक्त पुरुष का दर्शन है, परमात्मा के साथ युक्त भाव में दर्शन है, प्रेक्षकवत् दर्शन है। इसके बाद परमात्मा के स्वरूप में स्थिति होती है। जब परमात्मा की दृष्टि (जो कि क्रिया-शक्ति है) की साक्षात् उपलब्धि हो जाती है, तब जीव स्वयं ही परमात्मा है। तब उसकी दृष्टि द्वारा ही प्रकृतियन्त्र व देहयन्त्र चालित होता है। भगवत्कृपा का और भी अधिक संचार होने पर फिर मुक्त-पुरुष-भाव भी नहीं रहता, साक्षिभाव भी नहीं, पूर्ण परमात्मभाव भी नहीं। भगवद्दर्शन भी नहीं रहता। जगत् का नियन्त्रण भी नहीं रहता। द्रष्टा भी नहीं, दृश्य भी नहीं, दर्शन भी नहीं, अथच सब ही है।

अनन्त वैचित्र्यमय, चिदानन्दमय लीला-राज्य तब खुल जाता है। किन्तु जीव का उसमें प्रवेश नहीं है। माया व प्रकृति का भी उस (लीला-राज्य) में संचार नहीं। अथच 'नहीं है' यह भी कहा नहीं जा सकता।

किस प्रकार यह होता है, वही अब कहते हैं।

पहले ही कहा गया है कि भगवद्-राज्य में त्रिगुण का कोई सम्बन्ध नहीं है। सुतरां त्रिगुणात्मिका प्रकृति के कार्यरूप जगत् का कुछ भी वहाँ नहीं रह सकता। इसी कारण इस धाम को प्राकृतिक जगत् के अतीत, यहाँ तक कि प्रकृति व माया से भी अतीत कहा जाता है। जीव जब तक प्रकृति के बन्धन में आबद्ध रहता है तब तक इस परम धाम का कोई सन्धान नहीं पाता, यहाँ तक कि मायातीत हो जाने पर भी पा ही जायेगा इसकी कोई स्थिरता नहीं है, क्योंकि वह दीर्घकाल तक तटस्थ भूमि पर भी रह जा सकता है। मुख्य बात यह है कि जब तक जीव के अन्तःस्थित आनन्द का प्रतिबिम्ब अर्थात् ह्लादिनी शक्ति की प्रच्छन्न सत्ता उद्दीपित नहीं होती, जब तक भाव का विकास नहीं होता, तब तक ह्लादिनी शक्ति के विलास का आस्वादन करने की उसमें योग्यता नहीं रहती। अर्थात् तब तक वह श्रीभगवान् के लीला-मण्डल में प्रवेश नहीं कर सकता।

भगवद्धाम अद्वैत चिदानन्दमय है। वहाँ पर अनन्त वैचित्र्य रहने पर भी सब कुछ ही एक के द्वारा अनुप्राणित है एवं मूलतः एक शक्ति से ही सबका स्फुरण होता है। वहाँ पर भक्त और भगवान्, भगवान् का अनन्त परिवार, अनन्त प्रकार का दृश्य-समूह, सभी भावमय है। यह भाव ही स्वभाव है। इस भाव के अनुगत न होकर स्वतन्त्र रूप से जीव लीला-राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता। यह अनुगत-भाव ही जीव की परतन्त्रता है, यही उसका कैङ्कर्य या दास्य है।

जीव किसका अनुगमन करता है ? इस प्रश्न का उत्तर एक ही वाक्य में कहें तो कह सकते हैं कि जीव स्वयं के स्वभाव का ही अनुगमन करता है। सुतरां नित्य लीला में अनुगत रूप में ही जीव की स्थिति है। यही उसका लीला-

नन्द-आस्वादन का एकमात्र द्वार है। इसके क्रम-विकास से किस-किस अवस्था का स्फुरण होता है, उसकी यथासमय आलोचना करेंगे।

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—तीनों अनुभूतियों में प्रत्येक की ही एक-एक स्थिति की अवस्था है। स्थिति प्राप्त होने पर एक अनुभूति से दूसरी में उत्तीर्ण हो पाना कठिन हो जाता है। यथा ब्रह्मानुभूति के फलस्वरूप ब्रह्मस्थिति प्राप्त करने के बाद परमात्मा की अनुभूति प्राप्त होना कठिन है, उसी प्रकार परमात्मा की अनुभूति के फलतः परमात्मस्वरूप में स्थिति-लाभ कर लेने पर भगवदनुभूति-लाभ कठिन है। वस्तुतः भगवदनुभूति भी अनुरूप स्थिति में पर्यवसित हो जा सकती है। जिसे पूर्णत्व की आकांक्षा है उसके लिए किसी भी स्थिति से आबद्ध होने की सम्भावना नहीं है। क्योंकि प्रत्येक स्थिति को प्राप्त करके एवं उसका अतिक्रम करके ही उसे चलना होता है। नित्य लीला में जिनका वरण हुआ है वे परिपूर्ण स्थिति-लाभ करके भी उस स्थिति से आबद्ध नहीं रहते—वे तृप्त होकर भी अतृप्त हैं। नित्य मिलन के बीच भी वे नित्य विरह का अनुभव करते हैं। विरह का अनुभव करते हैं अतः उनका मिलन सार्थक नहीं है, यह भी नहीं, पक्षान्तर में लें तो उनका मिलन नित्य है अतएव उसमें विरह का उन्मेष नहीं रह सकता, यह भी नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक स्थिति ही पूर्ण स्थिति है। ब्रह्मरूप में जो वस्तु अभिन्न-सत्ता स्वरूप है, परमात्मरूप में वही वस्तु अनन्त जीव व अनन्त जगत् की एकच्छत्र सम्राट् है। पक्षान्तर में भगवद्रूप में वही एक ही वस्तु अपने ही बीच, अर्थात् स्वीय अखण्ड अनन्त सत्ता के बीच अपने स्वरूपमय अनन्त साम्राज्य की अधीश्वर है। पुनः भगवद्रूप के मध्य वही एक ही वस्तु चिदानन्दमय अखण्ड अद्वितीय-सम्राट्-भाव के भी पार होकर अचिन्त्य माधुर्य-भाव के आस्वादन में स्वयं में स्वयं ही विभोर है। प्रत्येक स्थिति ही पूर्ण है, अथच चरम कोई भी नहीं। पुनः 'चरम नहीं है', यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जिसकी जिस प्रकार की दृष्टि एवं लक्ष्य है वह तदनुरूप सत्ता में ही चरमत्व का अनुभव करके पूर्ण तृप्ति-लाभ कर लेता है। यह जो महास्थिति में भी अनन्त चलिष्णुता है, यह जो पाकर भी आशा न मिटना है—परिपूर्णतम तृप्ति में भी अतृप्ति का पुनरुदय है, यह जो भाव के मध्य में अभाव की अनुभूति है, यही नित्यानन्दमय स्वभाव का खेल है। कुछ भी नहीं है, अथच सभी कुछ है। पक्षान्तर में सभी कुछ है, अथच कुछ भी नहीं है। दोनों ही एक हैं—दोनों में कोई भी भेद नहीं है। यही अद्वय आस्वादन का निष्कर्ष है।

शक्ति व शक्तिमान् के बीच पार्थक्य यह है कि शक्ति में संकोच व विकास ये दो अवस्थाएँ हैं। किन्तु शक्तिमान् की स्थिति में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं होता—वह नित्य ही साक्षिरूप में अपनी शक्ति की संकोच-विकास-रूप क्रीड़ा देखते रहते हैं। किन्तु वस्तुतः यह भी चरम बात नहीं है। क्योंकि यह अपनी शक्ति की क्रीड़ा देखना भी शक्ति का ही कार्य है। वह अन्तरङ्ग-शक्ति हो सकती है, किन्तु वह भी है तो शक्ति ही। सुतरां इस देखने की भी, भाव एवं अभाव, दोनों अवस्था विद्यमान हैं। जब इस देखने व न देखने का पार्थक्य लुप्त हो जाता है, अथच देखना भी रहता है न देखना भी रहता है, उन दोनों के बीच कोई भेद नहीं रहता, वही प्रकृत अद्वैत-अवस्था है।

जो भी हो, इतने भीतर प्रविष्ट न होकर कुछ बाहर-बाहर से ही कुछ-एक बातें कहते हैं। मायाशक्ति एवं उसके अन्तर्गत जो सब अवान्तर शक्ति हैं उनका स्फुरण होने से ही ब्रह्माण्ड-प्रभृति सृष्टि का विस्तार आरम्भ होता है। पुनः इस समस्त शक्ति के प्रत्याहरण के साथ-साथ समग्र मायिक सृष्टि संकुचित होकर कारण में अन्तर्लीन हो जाती है। जिस समय समग्र मायिक प्रपञ्च समष्टि-रूप में उपसंहृत होता है तब जो जीवाणु-पुञ्ज माया के अन्तर्गत किसी न किसी तत्त्व को आश्रय करके, देहेन्द्रिययुक्त होकर, कार्य व भोगपथ में विचरण कर रहे थे वे लोग अपने-अपने आश्रयभूत तत्त्व में सुप्तवत् लीन होकर रहते हैं। ये समस्त मायिक तत्त्व प्रकृति-विकृति-रूप से क्रमानुसार लीन होते-होते चरम अवस्था में मूल प्रकृति में लीन हो जाते हैं। एक महाकल्प के बीच एक महाजीव अङ्गिरूप से मायाचक्र से निष्क्रान्त होता है। अन्यान्य जीवों में से

कुछ-एक इस महाजीव के साथ अभिन्न रूप से हो, अथवा भिन्न रूप से ही हो, उसका आश्रय लेकर उसीके साथ-साथ स्थिति-लाभ करते हैं । इनकी क्रमोन्नति की धारा स्वतन्त्र है । द्वितीय महाकल्प में पुनः पहली सृष्टि की भाँति इस सृष्टि का विस्तार होता है । अनेक नवीन जीव तब अनादि सुषुप्ति से उत्थित होते हैं । प्राचीन जीवों में से अनेक जीव पुनरुद्भूत होते हैं । जो सब जीव विवेकज्ञान के प्रभाव से तटस्थ भूमि में अवस्थित होते हैं, वे पुनः मायाचक्र में लौट आते हैं । ऊर्ध्व उत्थित होने में उपयोगी आकर्षण मिल जाने पर ऊपर उत्थित होकर भगवद्धाम में प्रवेश करते हैं । जब तक वैसा अवसर नहीं आता, तब तक तटस्थ भूमि में ही प्रतीक्षा करते हैं ।

कहना न होगा, तटस्थ शक्ति का भी संकोच-प्रसार होता है । तटस्थ शक्ति की संकोच अवस्था में समस्त जीवाणु तटस्थ भूमि में अन्धकारमय अथवा आलोकमय प्रदेश में सुप्तवत् विद्यमान रहते हैं । यह एक-जातीय कैवल्य है । जब तटस्थ शक्ति का क्षोभ होता है तब ये सभी अणु उद्रिक्त होते हैं एवं अन्तर्निहित अभाव की ताड़ना से व्याकुल हो उठते हैं । पूर्ण चैतन्य परिच्छिन्न होकर ही अणु-चैतन्य का आकार धारण करता है । यह व्यापार अनादि-सिद्ध होने पर भी तात्त्विक विश्लेषण की स्पष्टता के लिए तत्त्व-बोध की दृष्टि से असंकुचित एवं संकुचित अवस्थाओं में एक क्रम स्वीकार करना ही होता है । चैतन्य ही आनन्द है । पूर्णावस्था में चैतन्य के साथ आनन्द का पृथग्भाव नहीं रहता एवं अपृथग्भाव भी नहीं रहता । उस समय दोनों ही एक हैं । किन्तु अपूर्ण अवस्था में अर्थात् जब चैतन्य अपने स्वातन्त्र्य-बल से स्वयं को संकुचित करके अणुरूप धारण करता है तब चिदंश से आनन्दांश पृथक् हो जाता है । इसके फलस्वरूप अणुचैतन्य अर्थात् चिदणु में आनन्दांश का अभाव रह जाता है । यही चिदणु की चंचलता का मूल कारण है । चैतन्य के संकोच के साथ-साथ ही अचिद्रूपिणी माया बाहर से आकर उसे अपनी छाया प्रदान करती है । इसी कारण चिदणु के गर्भ में उसके स्वरूपभूत व स्वधर्म आनन्द का प्रतिबिम्ब रहने पर भी वह माया के आवरण से अनाच्छन्न होकर रहता है । अणु में केवल अस्फुट अभाव-बोध मात्र रहता है । यही अस्पष्ट स्थिति के रूप में ही पुनः-पुनः उसको आनन्द के सन्धान के लिए चालित करता है । इसी कारण क्षोभ के साथ-साथ जीव में अभावबोध जाग उठता है । वस्तुतः जड़-राज्य अर्थात् माया-राज्य में भी इसीके अनुरूप व्यापार संघटित होता है । वास्तव में मायिक जगत् का जो प्रतिक्षण परिणाम है वह भी इस सुप्त आनन्द को पुनः प्राप्त होने के लिए ही है । चिदणु के सहयोग के बिना अचिदणु इस आनन्द या साम्यावस्था को प्राप्त नहीं कर सकता । इसी कारण अचिदणु को भी चिदणु की अपेक्षा है । पक्षान्तर में चिदणु भी अचित् के साहाय्य के बिना आनन्द-लाभ नहीं कर सकता, अतः अचिदणु की अपेक्षा रखता है । वस्तुतः आनन्द के लिए दोनों को दोनों की अपेक्षा है । आनन्द ही पूर्णता है । बाद में हम लोग समझ पाएँगे कि चित् व अचित् दोनों की सार्थकता इस प्राप्ति में ही निहित है । क्षर, अक्षर व पुरुषोत्तम इन तीन तत्त्वों का यही रहस्य है । क्योंकि पुरुषोत्तम क्षर एवं अक्षर इन परस्पर विरुद्ध धर्मों के समन्वय हैं । पूर्ण चैतन्य, जिसका नामान्तर पूर्णानन्द है, अखण्ड सत्तास्वरूप है । यही सच्चिदानन्द है, किन्तु खण्ड-सत्तात्मक अणुचैतन्य में आस्वादन भी नहीं है, बोध भी नहीं है । यह प्रसुप्त भाव की अवस्था है । इसके पश्चात् क्षोभ का उदय होने पर पूर्ण रहने पर भी अपूर्णवत् प्रतिभासमान होता है । व्यापक चैतन्य अणुचैतन्य में परिणत होता है एवं चैतन्यात्मक होने के कारण यह अणु वस्तुतः आनन्दस्वरूप होने पर भी आनन्द के अभाव में चञ्चल होकर इतस्ततः परिभ्रमण करता है । यह अभाव-अवस्था है । इसके पश्चात् जब यह अणु प्रत्यावर्तन की ओर व्यापक के साथ मिलता है— जब बहिरङ्गा माया की छाया उसके स्वरूप से अपगत होती है तब उसका समग्र आनन्द लौट आता है । स्वयं के स्वरूपभूत एवं स्वरूप-धर्मभूत आनन्द को लौटा हुआ पाकर अणु-चैतन्य विभु के साथ योगावस्था में उसी पूर्णानन्द का आस्वादन अनेक प्रकार से प्राप्त करने में समर्थ होता है । यही स्वभाव-अवस्था है ।

हमने जिस शक्ति के संकोच व विकास की बात कही है वह अन्तरङ्गा व स्वरूप-शक्ति के सम्बन्ध में भी प्रयोज्य है । स्वरूप-शक्ति की संकोच-अवस्था में शक्ति स्वरूप में लीन हो जाती है । प्रसार-अवस्था में वह पुनः स्वरूप से प्रसारित

होती है। अष्टकालीन लीला-रहस्य का उद्‌घाटन करने जाएँ तो स्वरूप-शक्ति में भी जो संकोच व प्रसार वर्तमान है वह स्पष्ट देखा जा सकता है। स्वरूप-शक्ति के राज्य में अणुचैतन्य का प्रवेश होने पर स्वरूप-शक्ति का अनन्त विलास वस्तुतः तब अणुचैतन्य के ही आनन्द-वर्धन में नियुक्त रहता है। यदि अणुरूपी अंश विभुरूपी अंशी के साथ मिलित न हो तो नित्यलीला का भी आस्वादन-ग्रहण कौन करेगा ? यद्यपि अणु अनुगतभाव से ही इस आस्वादन को प्राप्त होता है, तथापि यह सत्य है कि यह अनन्त लीला-विलास उसीके लिए हैं। स्वभाव में प्रवेश करना हो तो अनुगत होना ही पड़ता है। वस्तुतः भगवत्-स्वरूप व स्वरूप-शक्ति इन दोनों को आश्रय करके जो अनन्त लीला-विलास अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित हो रहा है वह जीव के ही भोग के लिए है। अथच जीव जीव रहते हुए भोग करने का अधिकारी नहीं है। जीव की आत्म-बलि पूर्ण हुए बिना उसकी आत्म-प्रतिष्ठा पूर्ण नहीं हो सकती।

माया-शक्ति का विस्तार अनन्त ब्रह्माण्डरूप में अव्याकृत आकाश के मध्य प्रकाशित है। चित्शक्ति का विस्तार अनन्त वैकुण्ठरूप में चिदानन्दाकाश में प्रकाशित होता है। अनन्त वैकुण्ठ की समष्टि महावैकुण्ठ-रूपी साम्राज्य जिस आकाश में विद्यमान है, वही चिदाकाश है। अनन्त ब्रह्माण्ड को समष्टि जिस महाशून्य में प्रकाश पाती है, वही अव्याकृत आकाश अथवा अचिदाकाश है। दोनों के बीच जो साम्यरूपा शुद्धा शक्ति विराज रही है, उसीका नाम है विरजा नदी। इसी कारण जीव को भगवद्धाम में जाना हो तो पिण्ड से ब्रह्माण्ड में, ब्रह्माण्ड से उत्तीर्ण होकर विरजा में अवगाहन करके यहाँ से उत्थित होकर चिदाकाश-स्थित भगवद्राज्य में प्रवेश करना होता है। प्राकृत शरीर और इन्द्रिय प्रभृति को लेकर भगवद्धाम में प्रवेश नहीं किया जा सकता। इसी कारण पहले स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीनों शरीरों का सदा के लिए विसर्जन करके एवं विशुद्ध सत्त्वमय अप्राकृत विग्रह ग्रहणपूर्वक भगवद्धाम में प्रवेश करना होता है। पहले हमने जो स्वरूपदेह की बात कही है, यह अप्राकृत देह वस्तुतः उसीका अन्य नाम है। इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहने का है, क्रमशः कहेंगे।

स्वरूपदेह, भगवद्धाम प्रभृति के वर्णन के प्रसंग में अप्राकृत जगत् की बात भी कुछ-कुछ कही गई है। अप्राकृत जगत् की बात सुनकर विचलित होने का कोई कारण नहीं है। यद्यपि प्रचलित दार्शनिक शास्त्र में एवं तदनुकूल साधना में निरत साधक-श्रेणी में अप्राकृत जगत् का कोई भी सन्धान नहीं मिलता, तथापि यह सत्य है कि सब देश व सभी कालों में किसी-किसी विशिष्ट साधक व साधक-सम्प्रदाय ने अप्राकृत जगत् का सन्धान पाया है एवं किसी न किसी प्रकार से उसका आभास भी दिया है। इस प्रश्न की सम्यक् आलोचना ऐतिहासिक दृष्टि से करने का हमें कोई प्रयोजन नहीं है। इसीलिए इस विषय को अप्रासङ्गिक मानकर कोई समालोचना नहीं की गई।

—म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

●

जगज्जननी श्रीराधा : आविर्भाव तथा अवतरण

कल्प का आरम्भ है। आदिपुरुष श्रीकृष्णचन्द्र गोलोक के सुरम्य रासमण्डल में विराजित हैं। चिदानन्दमय कल्पवृक्षों की श्रेणी रासस्थली की परिक्रमा कर रही है। वह वेदी सुविस्तीर्ण, मण्डलाकृत समतल एवं सुस्निग्ध है। चन्दन, अगुरु, कस्तूरी, कुंकुम विखेरकर इसका संस्कार किया गया है। दधि, लाजा, शुक्लधान्य, दूर्वादल—इन मङ्गल द्रव्यों से वेदी परिव्यास है। दिव्य कदलीस्तम्भ चारों ओर लगे हैं; उन स्तम्भों पर पट्टसूत्र में ग्रथित चन्दन-पल्लवों से निर्मित वन्दनवार बँधा है। रत्नसारनिर्मित तीन कोटि मण्डपों से परिवेष्टित वेदी की शोभा अपरिसीम है। रत्न-प्रदीपों की ज्योति, सौरभमय विविध कुसुमों का सुवास, दिव्य धूप से निस्सरित सुगन्धित धूम्रराशि, शृङ्गार-विलास की अगणित सामग्री, सुसज्जित शयन-पर्यङ्कों की पंक्ति—इन सबके अन्तराल से गोलोकविहारी का अनन्त ऐश्वर्य झाँक रहा है, झांककर देख रहा है—आज अभिनय आरम्भ होने का समय हुआ या नहीं? अभिनय के दर्शक चतुर्भुज श्रीनारायण, पञ्चवक्त्र महेश्वर, चतुर्मुख ब्रह्मा, सर्वसाक्षी धर्म, वागधिष्ठात्री सरस्वती, ऐश्वर्य-अधिदेवी महालक्ष्मी, जगज्जननी दुर्गा, जपमालिनी सावित्री—ये सभी तो रङ्गमञ्च पर आ गये हैं, लीलासूत्रधार श्रीगोविन्द भी उपस्थित हैं; पर सूत्रधार के प्राणसूत्र जिनके हाथ में हैं, वे अभी नहीं आयी हैं। देववृन्द आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों से मञ्च-रासमण्डल की ओर देखने लगते हैं।

किन्तु अब विलम्ब नहीं। देवों ने देखा—गोलोकविहारी श्रीगोविन्द श्रीकृष्णचन्द्र के वामपार्श्व में एक कम्पन-सा हुआ, नहीं-नहीं, ओह! एक कन्या का आविर्भाव हुआ है; अतीत, वर्तमान, भविष्य का समस्त सौन्दर्य पुञ्जीभूत होकर सामने आ गया है। आयु सोलह वर्ष की है; सुकोमलतम अङ्ग यौवन-भार से दबे जा रहे हैं; बन्धुजीव-पुष्प-जैसे अरुण अधर हैं; उज्ज्वल दशनों की शोभा के आगे मुक्तपंक्ति की अमित शोभा तुच्छ, हेय बन जा रही है, शरत्कालीन कोटि राकाचन्द्रों का सौन्दर्य मुख पर नाच रहा है; ओह! उस सुन्दर सीमन्त (माँग) की शोभा वर्णन करने की सामर्थ्य किसमें है? चारु पंकजलोचनों का सौन्दर्य कौन बताये? सुठाम नासा, सुन्दर चन्दन-चित्रित गण्डयुगल—इनकी तुलना किससे करें? कर्णयुगल रत्नभूषित हैं; मणिमाला, हीरक-कण्ठहार, रत्न-केयूर, रत्नकंकण—इनसे श्रीअङ्गों पर एक किरणजाल फैला है; भाल पर सिन्दूरबिन्दु कितना मनोहर है। मालतीमाला-विभूषित, सुसंस्कृत केशपाश, उनसे सुगन्धित कबरीभार की सुषमा कैसी निराली है। स्थलपद्मों की शोभा तो सिमिटकर इन युगल चरण-तलों में आ गयी है, चरणविन्यास हंस को लज्जित कर रहा है; अनेक आभरणों से विभूषित श्रीअङ्गों से सौन्दर्य की सरिता प्रवाहित हो रही है। रूपधर्षित हुए देववृन्द इस सौन्दर्य को देखते ही रह जाते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र के वामपार्श्व से आविर्भूत यह कन्या, यह सुन्दरी ही श्रीराधा है। 'राधा' नाम इसलिए हुआ कि 'रासमण्डल' में प्रकट हुई तथा प्रकट होते ही पुष्पचयन कर श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों में अर्घ्य समर्पित करने के लिए 'धावित' हुई—दौड़ीं—

> रासे सम्भूय गोलोके सा दधाव हरेः पुरः। तेन राधा समाख्याता पुराविद्भिर्द्विजोत्तम॥
>
> (ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्र० खं०)

अथवा—

> कृष्णेन आराध्यत इति राधा। कृष्णं समाराधयति सदेति राधिका॥ (राधिकोपनिषद्)

'श्रीकृष्ण इनकी नित्य आराधना करते हैं, इसलिए इनका नाम राधा है और श्रीकृष्ण की ये सदा सम्यक्-रूप से आराधना करती हैं, इसलिए राधिका नाम से प्रसिद्ध हुई हैं।'

अथवा—

स एवायं पुरुषः स्वयमेव समाराधनतत्परोऽभूत्। तस्मात् स्वयमेव समाराधनमकरोत्॥ अतो लोके वेदे श्रीराधा गीयते। × × × अनादिरयं पुरुष एक एवास्ति॥ तदेव रूपं द्विधा विधाय समाराधनतत्परोऽभूत्। तस्मात् तां राधां रसिकानन्दां वेदविदो वदन्ति॥

(सामरहस्योपनिषद्)

'वही पुरुष स्वयं ही अपने-आपकी आराधना करने के लिए तत्पर हुआ। आराधना की इच्छा होने के कारण उस पुरुष ने अपने-आप ही अपने-आपकी आराधना की। इसीलिए लोक एवं वेद में श्रीराधा प्रसिद्ध हुईं।........वह अनादि पुरुष तो एक ही है। किन्तु अनादिकाल से ही वह अपने को दो रूपों में बनाकर अपनी आराधना के लिए तत्पर हुआ है। इसीलिए वेदज्ञ श्रीराधा को रसिकानन्दरूपा (रसराज की आनन्दमूर्ति) बतलाते हैं।'

अथवा—

राधेत्येवं च संसिद्धा राकारो दानवाचकः। धा निर्वाणं च तद्दात्री तेन राधा प्रकीर्तिता॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णखण्ड)

'राधा' नाम इस प्रकार सिद्ध हुआ—'रा'कार दानवाचक है एवं 'धा' निर्वाण का बोधक है। ये निर्वाण का दान करती हैं, इसीलिए 'राधा' नाम से कीर्तित हुई हैं।

अस्तु, परमात्मा श्रीकृष्ण की प्राणाधिष्ठात्री देवी श्रीराधा का श्रीकृष्ण के प्राणों से ही आविर्भाव हुआ। ये श्रीकृष्णचन्द्र को अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी हैं।

प्राणाधिष्ठातृदेवी सा कृष्णस्य परमात्मनः। आविर्बभूव प्राणेभ्यः प्राणेभ्योऽपि गरीयसी॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्र० खं०)

उसी समय इन्हीं श्रीराधा के लोमकूपों से लक्षकोटि गोप-सुन्दरियाँ प्रकट हुईं। वास्तव में तो यह आविर्भाव की लीला प्रपञ्च की दृष्टि से ही हुई। अन्यथा प्रलय, सृजन, फिर संहार, फिर सृष्टि—इस प्रवाह से उस पार श्रीराधा की, राधाकान्त की लीला, उनका नित्य निकुंजविहार तो अनादिकाल से सपरिकर नित्य दो रूपों में प्रतिष्ठित रहकर चल रहा है एवं अनन्त काल तक चलता रहेगा। प्रलय की छाया उसे छू नहीं सकती, सृजन का कम्पन उसे उद्वेलित नहीं कर सकता। श्रीराधा का यह आविर्भाव तो—प्रपञ्चगत कतिपय बड़भागी ऋषियों की चित्तभूमि पर कल्प के आरम्भ में उस लीला का उन्मेष किस क्रम से हुआ, इसका एक निदर्शनमात्र है।

प्रपञ्च में अवतरण की भूमिका

गोलोकेश्वर! नाथ! मेरे प्रियतम! तुमने गोलोक की मर्यादा भङ्ग की है! नेत्रों में अश्रु भरकर रोषकम्पित कण्ठ से श्रीराधा ने गोलोकविहारी से कहा तथा कहकर मौन हो गयीं। श्रीकृष्णचन्द्र ने जान लिया—मेरे विरजा-विहार की घटना से प्रिया के हृदय में दुर्जय मान का संचार हो गया है। तथा इस मान से निर्गत शत-सहस्र आनन्द की धाराओं में अवगाहन कर गोलोकविहारी रासेश्वरी श्रीराधा को मनाने चलते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र की ह्लादिनी शक्ति महाभावस्वरूपा श्रीराधा की मानलीला, मान-रहस्य प्राकृत मन में समा ही नहीं सकता। इसे तो प्रेमविभावित चित्त ही ग्रहण करता है। अनन्त जन्मार्जित साधना के फलस्वरूप चित्त में यह

वासना-इच्छा उत्पन्न होती है कि श्रीकृष्ण को मुझसे सुख मिले। इस इच्छा का ही नाम प्रेम है, किन्तु यह इच्छा प्राकृत मन की वृत्ति नहीं है। यह तो उपासना से निर्मल हुए मन में जब श्रीकृष्ण की स्वरूप-शक्ति ह्लादिनीप्रधान शुद्ध सत्त्व का आविर्भाव होता है, मन इस शुद्ध सत्त्व से मिलकर तद्रूप हो जाता है, प्रज्वलित अग्नि में पड़े लोहपिण्ड की भाँति शुद्ध सत्त्व मन के अणु-अणु में उदय हो जाता है—उस समय उत्पन्न होती है। यह इच्छा—यह प्रेम ही प्राणी का परम पुरुषार्थ है। यह प्रेम गाढ़ होता हुआ, उत्कर्ष की ओर बढ़ता हुआ, क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग के रूप में परिणत होता है। इस अनुराग की चरम परिणति को 'भाव' कहते हैं। भाव का ऊर्ध्वतर स्तर महाभाव है। इस महाभाव की उच्चतम घनीभूत मूर्ति श्रीराधा हैं। यह महाभाव-महासागर कितना अनन्त—अपरिसीम है, एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्र को ही सुख पहुँचाने की कितनी—कैसी-कैसी उत्ताल तरङ्गें इसमें उठती हैं, एक-एक तरङ्ग शृङ्गार-रसराजमूर्ति श्रीकृष्ण के लिए कितने परमानन्द का सृजन करती हैं, इसका यत्किञ्चित् अनुमान प्रेममसृण मन में ही सम्भव है। श्रीकृष्ण मनाते हैं और श्रीराधा नहीं मानतीं, उस समय आनन्दरूप श्रीकृष्ण के हृदय में जो सहस्र-सहस्र आनन्दधाराएँ बहने लगती हैं, उनका परिचय बड़े सौभाग्य से ही मिलता है तथा परिचय मिलने पर ही यह प्रत्यक्ष होता है कि इस मान में स्वार्थमूलक घृणित कुटिलता की तो गन्ध भी नहीं है, यह तो सर्वथा श्रीकृष्णसुखेच्छामयी प्रीति की ही एक वैचित्री है।

अस्तु, गोलोकविहारी श्रीकृष्णचन्द्र के मनाने पर भी श्रीराधा का कोप आज शान्त नहीं होता। समीप में अवस्थित सुशीला, शशिकला, यमुना, माधवी, रति आदि तैंतीस वयस्याओं पर एक आतंक-सा छा जाता है; उन्होंने गोलोकविहारिणी का यह रूप आज ही देखा है। वहीं पर खड़ा-खड़ा गोलोक का एक गोप सुदामा भी देख रहा है। अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया भी श्रीराधा का यह भाव देख रही हैं; किन्तु योगमाया केवल रस ही नहीं ले रही हैं, साथ-ही-साथ लीलामञ्च की यवनिका भी उठाती जा रही हैं। वे सोचती हैं—उस सुदूर लीला की पृष्ठभूमि यहीं निर्मित होगी, युग-युग से निर्धारित क्रम यही है। बस, यह विचार आते ही वे गोलोकविहारी एवं गोलोकविहारिणी श्रीराधा के श्वेतवाराहकल्प की अट्ठाईसवीं चतुर्युगी के द्वापरकालीन चित्रपट सामने रख देती हैं। उस पट में असुरों के भार से धरा का पीड़ित होना, ब्रह्मा को अपनी करुण कहानी सुनाना, ब्रह्मा की तथा देवताओं की पुरुषोत्तम से धरा-भारहरण की प्रार्थना करना, गोलोकविहारी पुरुषोत्तम का स्वयं अवतरित होने का वचन देना, अवतरित होना, श्रीराधा का भी भारतवर्ष में प्रकट होना—इस प्रकार प्रकट लीला का पूरा विवरण अंकित था। पट की ओर श्रीराधा ने, राधारमण ने देखा या नहीं—कहा नहीं जा सकता, किन्तु योगमाया को यवनिकासूत्र खींच देने की आज्ञा तो मिल गयी। वे पर्दा हटा देती हैं और सुदामा गोप का अभिनय आरम्भ होता है, गोलोकविहारिणी श्रीराधा की परमानन्ददायिनी लीला का प्रापञ्चिक जगत् में प्रकाशित होने का उपक्रम होने लगता है।

श्रीराधा का यह मान सुदामा गोप के लिए असह्य हो जाता है, वह कटु शब्दों में गोलोकविहारिणी की भर्त्सना करने लगता है। श्रीराधा और भी कुपित हो उठती हैं। कोप अन्तर में सीमित न रहकर वाग्वज्र के रूप में बाहर निकल पड़ता है। रोष में भरी श्रीराधा बोल उठती हैं—'सुदामा! मुझे शिक्षा देने आये हो? मेरे तप्त हृदय को और भी संतप्त करने आये हो? यह तो असुर का कार्य है; फिर असुर ही क्यों नहीं बन जाते? जाओ, सचमुच असुर-योनि में ही कुछ देर घूमते रहो।' सुदामा गोप काँप उठता है, पर साथ ही क्रोध से नेत्र जलने लगते हैं। वह कह उठता है—'गोलोकेश्वरि! तुममें सामर्थ्य है, तुमने इस वाग्वज्र से मुझे नीचे गिरा दिया! ओह! और कोई दुःख नहीं, किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र से तुमने मेरा क्षणिक वियोग करा दिया, मेरे प्राणों की सम्पत्ति तुमने ले ली। देवि! श्रीकृष्ण-वियोग के दुःख का अनुभव तुम्हें नहीं है; इसीलिए यह दुःख तुमने मुझे दिया है। तो जाओ, देवि! जाओ, एक बार तुम भी श्रीकृष्णवियोग का दुःख अनुभव करो। सुदूर द्वापर में गोलोकविहारी के लिए देववृन्द प्रतीक्षा करेंगे, उनका अवतरण होगा, उसी समय गोपकन्या के रूप में भारतवर्ष में तुम भी अवतरित हो जाओ। गोपसुन्दरियों के रूप में

तुम्हारी ये सखियाँ भी अवतरित हो जायँगी, तुम्हारी चिरसङ्गिनी रहेंगी, पर श्रीकृष्ण एक शत वर्षों के लिए तुमसे अलग हो जायँगे। सौ मानववर्ष श्रीकृष्णवियोग का दुःख अनुभव करो; स्वयं अनुभव कर लो—प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र का वियोगदुःख कोटि-कोटि नरकयन्त्रणाओं से भी अधिक भीषण होता है!'—यह कहते-कहते सुदामा के नेत्रों से अश्रुप्रवाह बह चलता है; गोलोकविहारिणी श्रीराधा के एवं श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों में प्रणाम करके वह चलने के लिए उद्यत होता है; किन्तु विह्वल हुई श्रीराधा क्रन्दन कर उठती हैं—

वत्स ! क्व यासीत्युच्चार्य पुत्रविच्छेदकातरा। (ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्र० खं०)

—पुत्रविच्छेद के भय से कातर हुई पुकारने लगती हैं–'वत्स ! कहाँ जा रहे हो ?'

श्रीकृष्णचन्द्र सान्त्वना देने लगते हैं—'रासेश्वरि ! प्राणप्रिये ! कृपामयि ! यह शाप नहीं, शाप के आवरण में यह तो विश्व के प्रति तुम्हारा दिया हुआ वरदान है। इसी निमित्त से हरिवल्लभा वृन्दा का तुलसीरूप में भारतवर्ष में प्राकट्य होगा, इसी निमित्त से भारतवर्ष के आकाश में तुम्हारी विधि-हरि-हरहर-वन्दित चरणनखचन्द्रिका चमक उठेगी; उस ज्योत्स्ना से भारतवर्ष में मधुर लीला-रस की वह सनातन स्रोतस्विनी प्रवाहित होगी, जिसमें अवगाहन कर प्रपञ्च के जीव अनन्त काल तक शीतल, कृतकृत्य होते रहेंगे; तुम्हारे मोहन महाभाव† की तरङ्गिणी में डूबकर मैं भी कृतार्थ होऊँगा। सुदामा तो गोलोक का है, गोलोक में ही लौटकर प्रपञ्च में क्रीड़ा करके आ जायगा, तुम्हारा धन तुम्हें ही मिलेगा। प्राणेश्वरि ! तुम व्याकुल मत हो !'—गोलोकविहारी अपनी प्रिया को हृदय से लगाकर पीताम्बर से नेत्र पोंछने लगे।

इस प्रकार रासेश्वरी श्रीराधा के भारतवर्ष में अवतरित होने की भूमिका बनी; उनके नित्यरास की, नित्य निकुञ्जलीला की एक झाँकी जगत् में प्रकाशित होने की प्रस्तावना पूरी हुई।

अवतरण

नृगपुत्र राजा सुचन्द्र का एवं पितरों की मानसी कन्या सुचन्द्रपत्नी कलावती का पुनर्जन्म हुआ। सुचन्द्र तो वृषभानु गोप के रूप में उत्पन्न हुए एवं कलावती कीर्तिदा गोपी के रूप में। यथासमय दोनों का विवाह होकर पुनर्मिलन हुआ। एक तो राजा सुचन्द्र हरि के अंश से ही उत्पन्न हुए थे; उस पर उन्होंने पत्नीसहित दिव्य द्वादश वर्षोंतक तप करके ब्रह्मा को सन्तुष्ट किया था। इसीलिए कमलयोनि ने हो यह वर दिया था—'द्वापर के अन्त में स्वयं श्रीराधा तुम दोनों की पुत्री बनेंगी।' उस वर की सिद्धि के लिए ही सुचन्द्र वृषभानु गोप बने हैं। इन्हीं वृषभानु में, इनके जन्म के समय, सूर्य का भी आवेश हो गया; क्योंकि सूर्य ने तपस्या कर श्रीकृष्णचन्द्र से एक कन्या-रत्न की याचना की थी तथा श्रीकृष्णचन्द्र ने सन्तुष्ट होकर 'तथास्तु' कहा था। इसके अतिरिक्त नित्यलीला के वृषभानु एवं कीर्तिदा—ये दोनों भी इन्हीं वृषभानु गोप एवं कीर्तिदा में समाविष्ट हो गये; क्योंकि स्वयं गोलोकविहारिणी राधा का अवतरण होने जा रहा है। अस्तु, इस प्रकार योगमाया ने द्वापर के अन्त में रासेश्वरी के लिए उपयुक्त क्षेत्र की रचना कर दी।

धीरे-धीरे वह निर्दिष्ट समय भी आ पहुँचा। वृषभानु-व्रज की गोपसुन्दरियों ने एक दिन अकस्मात् देखा—कीर्तिदा रानी के अङ्ग पीले हो गये हैं; गर्भ के अन्य लक्षण भी स्पष्ट परिलक्षित हो रहे हैं। फिर तो उनके हर्ष का पार नहीं। कानों-कान यह समाचार वृषभानु-वृज में सुखस्रोत बनकर फैलने लगा। सभी उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा करने लगे।

---

† प्रेम की चरम परिणति महाभाव की दो अवस्थाएँ होती हैं—एक संयोग की, दूसरी वियोग की। संयोग के समय यह महाभाव 'मोदन' नाम से कहा जाता है, तथा विरह के समय 'मोहन' नाम से।

वह मुहूर्त आया। भाद्रपद की शुक्ला अष्टमी है; चन्द्रवासर है, मध्याह्न है। कीर्तिदा रानी रत्नपर्यङ्क पर विराजित हैं। एक घड़ी पूर्व से प्रसव का आभास-सा मिलने लगा है। वृद्धा गोपिकाएँ उन्हें घेरे बैठी हैं। इस समय आकाश मेघाच्छन्न हो रहा है। सहसा प्रसूतिगृह में एक ज्योति फैल जाती है—इतनी तीव्र ज्योति कि सबके नेत्र निमीलित हो गये। इसी समय कीर्तिदा रानी ने प्रसव किया। प्रसव में केवल वायु निकला; इतने दिन उदर तो वायु से ही पूर्ण था। किन्तु इससे पूर्व कि कीर्तिदा रानी एवं अन्य गोपिकाएँ आँख खोलकर देखें, उसी वायुकम्पन के स्थान पर एक बालिका प्रकट हो गयी। सूतिकागार उस बालिका के लावण्य से प्लावित होने लगा। गोपसुन्दरियों के नेत्र खुले, उन्होंने देखा—शत-सहस्र शरच्चन्द्रों की कान्ति लिए एक बालिका कीर्तिदा के सामने पड़ी है, कीर्तिदा रानी ने प्रसव किया है। कीर्तिदा रानी को यह प्रतीत हुआ,—मेरे द्वारा सद्यःप्रसूत इस कन्या के अङ्गों में मानो किसी दिव्यातिदिव्य शतमूली-प्रसून की आभा भरी हो, अथवा रक्तवर्ण की तडिल्लहरी ही बालिकारूप मैं परिणत हो गयी हो। आनन्दविवशा कीर्तिदा रानी कुछ बोलना चाहती हैं, पर बोल नहीं पातीं। मन-ही-मन वे लक्ष गोदानों का संकल्प करती हैं। गोपियों ने गवाक्ष-रन्ध्र से झाँककर देखा—चारों ओर दिव्य पुष्पों का ढेर लगा हुआ है। वास्तव में ही देववृन्द ऊपर से नन्दनकाननजात प्रफुल्ल-कुसुमोंकी वर्षा कर रहे थे। मानो वापस में ही शरद् का विकास हो गया हो—इस प्रकार नदियों की धारा निर्मल हो गयी, आकाश-पथ की वह मेघमाला न जाने कहाँ विलीन हो गयी और दिशाएँ प्रसन्न हो उठीं। शीतल-मन्द पवन अरविन्द-सौरभ का विस्तार करते हुए प्रवाहित हो चला—मानो धारा-यश-सौरभ दुकूल में लिये रासेश्वरी के आगमन की सूचना देते हुए वह पवन घर-घर फिर रहा हो, पर आनन्दवश बेसुध होने के कारण उसकी गति धीमी पड़ गयी हो। पुरवासियों के आनन्द का तो कहना ही क्या है—

महारस पूरन प्रगट्यौ आनि।
अति फूलीं घर घर ब्रजनारी राधा प्रगटी जानि॥
धाईं मङ्गल साज सबै लै महा महोच्छव मानि।
आयीं घर वृषभानु गोप के, श्रीफल सोहति पानि॥
कीरति बदन सुधानिधि देख्यौ सुन्दर रूप बखानि।
नाचत गावत दै करतारी, होत न हरष अघानि॥
देत असीस सीस चरननि धरि, सदा रहौ सुखदानि।
रस की निधि ब्रजरसिक राय सौं करौं सकल दुखहानि॥

* * *

आज रावल में जय जयकार।
प्रगट भई वृषभानु गोप के श्रीराधा अवतार।
गृह गृह ते सब चलीं बेग दै गावत मङ्गलचार॥
प्रगट भई त्रिभुवन की सोभा रूप रासि सुखसार॥
निरतत गावत करत बधाई भीर भई अति द्वार।
परमानन्द वृषभानुनन्दिनी जोरी नन्ददुलार॥

संयोग की बात! आज ही कुछ देर पहले से करभाजन, भृङ्गी, गर्ग एवं दुर्वासा—चारों वहाँ आये हुए हैं। गोपों की प्रार्थना पर वृषभानु को आनन्द में निमग्न करते हुए वे श्रीराधा के ग्रह-नक्षत्र का निर्णय कर रहे हैं—

करभाजन शृङ्गी जु गर्गमुनि लगन नछत बल सोध री।
भए अचरज ग्रह देखि परस्पर कहत सबन प्रतिबोध री॥
सुदि भादौं सुभ मास, अष्टमी अनुराधा के सोध री।
प्रीति जोग, बल बालव करनैं, लगन धनुष बर बोध री॥

बालिका का नाम रखा गया—'राधा'। 'राधिका' नाम वृषभानु एवं कीर्तिदा दोनों ने मिलकर रखा—लोहितवर्ण विद्युत्-लहरी-सी अङ्गप्रभा होने के कारण। राधा—राधिका नाम जगत् में विख्यात हुआ—

चकार नाम तस्यास्तु भानुः कीर्तिदयान्वितः।
रक्तविद्युत्प्रभा देवी धत्ते यस्मात् शुचिस्मिते।
तस्मात्तु राधिका नाम सर्वलोकेषु गीयते॥ (राधातन्त्र)

गोलोकविहारी श्रीकृष्णचन्द्र के जन्मोत्सव पर जो रसधारा प्रसरित हुई, वह द्विगुणित परिमाण में रासेश्वरी के जन्म पर उमड़ चली—

जो रस नन्दभवन में उमग्यौ, तातैं दूनौ होत री।

राधा-सुधा-धारा में स्थावर-जङ्गम सभी बह चले—

सुर मुनि नाग धरनि जंगम कौं आनंद अति सुख देत री।
ससि खंजन बिद्रुम सुक केहरि, तिनहि छीनि बल लेत री॥
सूरदास उर बसौ निरन्तर राधा माधौ जोरि री।
यह छबि निरखि निरखि सचु पावै, पुनि डारै तृन तोरि री॥

इस प्रकार अयोनिसम्भवा श्रीराधा भूतल पर श्रीवृषभानु एवं कीर्तिदा रानी की पुत्री के रूप में प्रकट हुई।

—स्वामी चक्रधर (राधा बाबा)

◆

जगद्गुरु श्रीकृष्ण

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् । देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥

'वसुदेव सुवन, कंस और चाणूर का मर्दन करनेवाले, माता देवकी को परम आनन्द प्रदान करनेवाले जगद्गुरु श्रीकृष्ण की मैं वन्दना करता हूँ ।' संस्कृत में यह एक सुन्दर श्लोक है । इसमें भगवान् श्रीकृष्ण के विशेषण चुन-चुनकर एक खास क्रम से रखे गये हैं, यही इसकी सुन्दरता है । श्रीकृष्ण प्रसिद्ध धर्मनिष्ठ और उदारचरित श्री वसुदेव के पुत्र थे । तात्पर्य यह है कि उनका जन्म उच्च कुल में हुआ था, परन्तु उनकी महानता केवल इसी बात को लेकर नहीं थी, उन्होंने कुमारावस्था से ही धर्म-स्थापन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था । यह बात दूसरे विशेषण 'कंसचाणूरमर्दनम्' से व्यक्त होती है । उन्होंने अपने कर्मों से माता देवकी को आह्लादित किया, जो दुष्टों द्वारा सतायी हुई मानव-जाति का एक उदाहरण थीं । इस प्रकार श्रीकृष्ण सबके लिए वन्दनीय एवं श्रद्धा तथा कृतज्ञता के पात्र बन गये । सबसे अधिक गौरवपूर्ण विशेषण का प्रयोग अन्तिम चरण में हुआ है; क्योंकि उनकी वन्दनीयता की अपेक्षा उनके जगद्गुरुत्व का महत्त्व अधिक है । उनका यह जगद्गुरुत्व उनकी वन्दनीयता से अधिक चिरस्थायी होगा । उनकी वन्दनीयता का प्रभाव तो थोड़े ही पुरुषों पर पड़ सकता है, परन्तु उनके जगद्गुरुत्व को सारा संसार स्वीकार करेगा ।

हमें यह उपदेश कहाँ मिल सकता है; जिसके कारण श्रीकृष्ण जगद्गुरु कहलाये ? इस दुःखमय एवं क्लेशपूर्ण जगत् में शान्ति-पथ का अन्वेषण करनेवाली मानव-जाति के लिए उसके जीवन और आत्मा का चिरस्थायी सन्देश कहाँ है ? महर्षि वेदव्यास ने उसे हमारे लिए भगवद्गीता में सङ्कलित कर सुरक्षित कर रखा है । इस कार्य के द्वारा व्यासजी ने मानव-जाति पर जो अनुपम उपकार किया है, उसके लिये वह व्यासजी की चिरकृतज्ञ रहेगी । भगवान् ने भगवद्गीता का यह उपदेश किस अभिप्राय से किया ? आचार्य शंकर के शब्दों में धर्म की स्थापना अर्थात् संसार में व्यवस्थित शान्ति, सन्तोष और पवित्रता स्थापित करने के उद्देश्य से ही भगवान् ने ऐसा किया 'जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः ।'

यहाँ प्रश्न यह होता है कि क्या धर्म के बिना संसार का काम नहीं चलता ? अच्छा सिद्धान्त भी बहुधा अयोग्य समर्थकों के हाथ में पड़कर बिगड़ जाता है । इसी न्याय के अनुसार धर्म की भी उसके दुरुपयोग तथा विपरीत ज्ञान के कारण बड़ी हानि हुई है । वञ्चक और स्वार्थी गुरुओं तथा उपदेशकों ने इसको अपने स्वार्थ का साधन बना लिया है । धर्म के नाम पर भोली-भाली अबोध जनता को सैकड़ों वर्षों से लूटा गया है । इस पर अन्ध-विश्वास का कूड़ा इतना जम गया है कि इसकी वास्तविक प्रभा अब दृष्टिगोचर नहीं होती । भ्रम से आभास को वास्तविक और नकली धर्म को असली धर्म समझकर कुछ लोगों ने धर्म के विरुद्ध संगठित संग्राम छेड़ दिया है । वे कहते हैं कि जैसे अफीम मिली हुई दवा से मनुष्य निश्चेष्ट एवं चेतनाहीन-सा हो जाता है, उसी प्रकार इस धर्म ने दुखी और दलित जनता को इतना जड़ बना दिया है कि वह अपनी गुलामी की बेड़ी काटना ही नहीं चाहती । इस नासमझी के संग्राम में भाग लेनेवाले कहते हैं कि धर्म का मूलोच्छेद कर डालो, इसीने जनता को दासता की श्रृंखला में जकड़ रखा है ।

परन्तु संसार में मानव-जाति की उन्नति के लिए उसे एक आदर्श चाहिए । वह आदर्श ऐसा हो, जिसे दृष्टि में रखकर लोग उत्साहपूर्वक कार्यक्षेत्र में उतरें और सुधार के लिए अनवरत चेष्टा करें, ऐसा हुए बिना संसार का कल्याण कैसे हो सकता है ? इस यन्त्र-प्रधान युग में भी मनुष्य ने अपनी काम करने की शक्ति का मशीन की तरह उपयोग करना शुरु नहीं किया । यद्यपि मनोवैज्ञानिकों की एक शाखा ने—जो Mechanical Psychology (यान्त्रिक मनोविज्ञान)

के नाम से प्रसिद्ध है,—मनुष्य के मन का मशीन की भाँति उपयोग करने तथा उसे यन्त्ररूप सिद्ध करने की यथासाध्य चेष्टा की, किन्तु ये लोग यन्त्रों के नियमों द्वारा मनुष्य के मन के रहस्य को नहीं समझा सके। वैज्ञानिक लोग यन्त्रों को चलाने के लिए सुलभ यन्त्रशक्ति (Mechanical power) उत्पन्न करने की खोज में लगे हुए हैं, परन्तु क्या उन्होंने मनुष्य के मन को प्रेरित करनेवाली शक्ति का पता पाया है? कुछ लोग कहेंगे कि स्वार्थ (Self-interest) ही वह शक्ति है जो मनुष्य के मन को प्रेरित करती है। दूसरे लोग इसे कुछ वदलकर 'उच्च स्वार्थ' (Enlightened self-interest) के नाम से पुकारते हैं। इस पर यह प्रश्न होता है कि वह प्रकाश (Light) कौन-सा है जो इस स्वार्थ को उच्च (Enlightened) बनाता है? क्या बुद्धि (Reason) का प्रकाश इस स्वार्थ को उच्च बनाने में पर्याप्त है? बहुधा हमें स्वार्थ का स्थूल रूप ही देखने को मिलता है, जिसका बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं होता और जो इस बात की परवाह न करते हुए कि संसार की उससे कितनी हानि होती है, अपना प्रलय-ताण्डव करता ही रहता है। जब तक हम मानव-जाति के सामने कोई आदर्श अथवा उसके भविष्य के लिए कोई आशाजनक सन्देश नहीं रखते, तब तक हम विज्ञान के हानिकर प्रभाव से उसकी रक्षा नहीं कर सकते। विज्ञान की ध्वंस-शक्ति किसी विश्वद्रोही के अधीन होकर किसी दिन मानव-जाति की प्रगति को समूल नाश कर सकती है। विज्ञान की अपूर्व उन्नति के घातक परिणामों से संसार को बचाने का यदि कोई उपाय है तो केवल यही है कि मनुष्यता और मानव-प्रगति के वास्तविक महत्त्व पर जनसाधारण का दृढ़ विश्वास हो जाय।

वह विश्वास किस प्रकार का होना चाहिए? श्रीयुत एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) महाशय ने अपनी 'Outline of the History of the World' नामक पुस्तक में इसका कुछ दिग्दर्शन कराया है। विज्ञान के कारण स्थानों की दूरी कम हो रही है, पृथिवी का व्यास संकुचित हो रहा है और मानव-जातियाँ एक-दूसरे के साथ अधिकाधिक सम्पर्क में आ रही हैं। तार, बे-तार के तार, साधारण एवं बोलनेवाले बायस्कोप, रेडियो तथा गमनागमन एवं एक स्थान से दूसरे स्थान को समाचार भेजने के शीघ्रतापादक साधनों ने छोटे-छोटे राज्यों को अनावश्यक बना दिया है। सार्वभौम राष्ट्र-सभा एवं सार्वभौम राष्ट्र की भावना अब स्वप्न की-सी कल्पना नहीं रह गयी है। हम लोग सभी अनुभव करते हैं कि समय की गति हमें उसीकी ओर ले जा रही है। क्या इस सार्वभौम राष्ट्र के लिए किसी धर्म की आवश्यकता होगी? विश्वभर की मानव-जाति के इतिहास का प्रवाह किस ओर जा रहा है, इसकी आलोचना करने के पश्चात् एच० जी० वेल्स महाशय की यह धारणा हुई है कि सार्वभौम राष्ट्र के लिए धर्म की आवश्यकता होगी; इतना ही नहीं, उनके मत के अनुसार तो सार्वभौम राष्ट्र का मुख्य अंग धर्म ही होगा। वे कहते हैं—

Let us ape Roger Bacon in his prophetic mood and set down what we believe will be the broad fundamentals of the coming world state.

1. It will be based upon a common or world religion very much simplified and universalised and better understood. This will not be Christianity, nor Islam, nor Buddhism, nor any such specialised form of religion, but religion itself pure and undefiled; the eightfold way, the kingdom of heaven, brotherhood, creative service and self forgetfulness. Throughout the world men's thoughts and motives will be turned by education, example, and the circle of ideas about them from the obsession of self to the cheerful service of human knowledge, human power and human motive.

अर्थात् आओ, हम लोग रोजर बेकन की भाँति भविष्य के सम्बन्ध में विचार करें और अपनी धारणा के अनुसार भावी सार्वभौम राष्ट्र के मूल सिद्धान्तों को स्थूल रूप से बतलायें।

१. भावी सार्वभौम राष्ट्र का आधार एक सर्वसम्मत अथवा सार्वभौम धर्म होगा, जो वर्तमान धर्मों की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं सार्वदेशिक होगा तथा जिसे लोग अधिक समझेंगे। यह धर्म ईसाई, इस्लाम, बौद्ध अथवा अन्य कोई विशेष धर्म नहीं

होगा, इसका स्वरूप शुद्ध एवं निर्दोष होगा, अष्टविध मार्ग, वैकुण्ठ का राज्य, बन्धुत्व, उत्पादक सेवा और आत्म-विस्मृति—यही इसके अंग होंगे। सारे संसार में मनुष्यों के विचारों और हेतुओं पर उनकी शिक्षा, परस्पर के उदाहरण और वातावरण का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि लोग अहंकार को त्यागकर मानवीय ज्ञान, मानवीय शक्ति और मानवीय उद्देश्य को चरितार्थ करने में उत्साहपूर्वक लग जायेंगे।

सारांश यह कि वेल्स महाशय के मतानुसार भावी सार्वभौम धर्म का सार-तत्त्व अहंकार छोड़कर मानव-जाति की प्रसन्नतापूर्वक सेवा करना ही होगा, अथवा यों कहिये कि इस धर्म के अनुयायी 'अनहंवादी' और 'सर्वभूतहिते रताः' होंगे। गीता में अनहंवादी होने का उपाय बतलाया गया है। गीता हमें जीवन के सारे द्वन्द्वों में प्रसन्न रहने का उपाय बताती है। इस प्रकार सार्वभौम धर्म के विषय में विचार करते हुए आधुनिक लेखकों ने धर्म के दो लक्षण ढूँढ़ निकाले हैं, जिनका निरूपण धर्म की निम्नलिखित प्रसिद्ध भारतीय परिभाषा में किया गया है, जो गीता के शाङ्कर-भाष्य की भूमिका में मिलती है।

'जो प्राणीमात्र के इहलौकिक अभ्युदय और पारमार्थिक कल्याण का साक्षात् हेतु हो, वही धर्म है।'*

पाश्चात्य लेखक अपनी स्वतन्त्र युक्तियों का प्रयोग करके 'उदात्त स्वार्थ' से आगे बढ़कर कर्म के इस लक्षण पर पहुँचे हैं। उदाहरणार्थ एच० जी० वेल्स अपनी 'First and last things' नामक पुस्तक में कहते हैं—

'The co-ordination of the species to a common general end and the quest for personal salvation are the two aspects, the outer and inner, the social and the individual aspect of essentially the same desire.'

अर्थात् 'किसी सार्वजनिक एवं सर्वव्यापी उद्देश्य के साथ जातिविशेष का समन्वय करना तथा व्यक्तिगत मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ना वास्तव में एक ही अभिलाषा के दो रूप हैं जिन्हें आन्तरिक और बाह्य अथवा सामाजिक और वैयक्तिक कह सकते हैं।'

बर्ट्रेन्ड रसेल (Bertrand Russel) महाशय अपनी 'Social Reconstruction' नामक पुस्तक में कहते हैं—

'Religion is partly personal, partly social, to the Protestant primarily personal, to the Catholic primarily social. It is only when the two elements are intimately blended that religion becomes a powerful force in moulding society.'

अर्थात् धर्म का कुछ अंश में व्यक्ति से सम्बन्ध है और कुछ अंशों में समाज से। प्रोटेस्टेण्ट† मतानुयायियों की दृष्टि में उसका व्यक्ति से सम्बन्ध है और कैथलिक मतवालों की दृष्टि में समाज से। इन दोनों तत्त्वों की जब प्रगाढ़ एकता हो जाती है, तभी समाज के संगठन में धर्म से पूरी सहायता मिलती है।

गीता ने सामाजिक और वैयक्तिक इन दो विभिन्न तत्त्वों को मिला दिया है। संस्कृत के निम्नलिखित सुन्दर पद्य में इन दोनों तत्त्वों की विभिन्नता स्पष्ट रूप से व्यक्त की गयी है—

एको देवः केशवो वा शिवो वा एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा।
एको वासः पत्तने वा वने वा एका भार्या सुन्दरी वा दरी वा॥

---

* प्राणीनां साक्षादभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्यः स धर्मः।

† ये ईसाई-मत के दो प्रधान सम्प्रदाय हैं जिनमें पुराना मत 'कैथलिक' नाम से विख्यात है और दूसरा 'प्रोटेस्टेण्ट' मत सुधारकों का मत है जो मूर्तिपूजा आदि को नहीं मानता।

अर्थात् 'एक ही देवता को पूजो--लोकसंग्रही केशव को या तपस्वी शिव को; मित्र एक ही बनाओ--भूपति को या यति को; रहने के लिये एक ही स्थान चुनो--जनरवपूर्ण नगर या निर्जन वन और जीवनसहचरी एक ही बनाओ—सुन्दरी नारी को या पर्वत की कन्दरा को।' इस पद्य के रचयिता के मत में कोई बीच का मार्ग अथवा समन्वय का उपाय नहीं है। इस विभिन्नता का वैज्ञानिक आधार ज्ञान और कर्म की विभिन्नता है, और ज्ञान एवं कर्म के मध्य उतना ही विरोध बतलाया गया है जितना अन्धकार और प्रकाश में। परन्तु गीता ने इन दोनों की प्रगाढ़ एकता कर दी है। गीता के अनुसार ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग विरोधी नहीं हैं, प्रत्युत ये दोनों तत्त्वतः एक और अन्योन्याश्रित हैं। **'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'** गीतोक्त योगमार्ग में 'कौशल' से इनका समन्वय किया जा सकता है। **'योगः कर्मसु कौशलम्'** 'वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के स्वकर्तव्यों के द्वारा भगवान् की उपासना की जा सकती है, गीता का यह सिद्धान्त **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** आदि वाक्यों में बतलाया गया है। पाश्चात्य दार्शनिक गणों को भी स्वतन्त्र रूप से यही मत मान्य है। मानव-जाति की सेवा आध्यात्मिक उद्देश्य के बिना निर्जीव हो जाती है। बर्ट्रेन्ड रसेल अपनी 'Principles of Social Reconstruction' नामक पुस्तक में कहते हैं—'The world has need of a philosophy or a religion which will promote life. But in order to promote life it is necessary to have something other than mere life. Life devoted only to life is animal, without any real human value, incapable of preserving men permanently from weariness. If life is to be fully human, it must serve some end which seems in some sense, outside human life, some end which is impersonal and above mankind, such as God or truth or beauty. Those who best promote life do not have life for their purpose. They aim rather at what seems like a gradual incarnation, a bringing into our human existence of something eternal, something that appeals to imagination to live in, a heaven remote from life and failure and the devouring jaws of Time. Contact with the eternal world even if it be only a world of our imagining brings a strength and a fundamental peace which can not be wholly destroyed by struggles and apparent failures of temporal life. It is this happy contemplation of what is eternal that Spinoza calls the intellectual love of God. To those who have once known it, it is the key to wisdom. What we have to do practically is different for each one of us, according to our capacities and opportunities. But if we have the life of spirit within us, what we must do and what we must avoid will become apparent to us.'

अर्थात्, 'संसार को एक ऐसे दर्शन या धर्म की आवश्यकता है, जो जीवन को उन्नत बनानेवाला हो। परन्तु जीवन को उन्नत बनाने के लिये निरे प्राण-धारण करने के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु की भी आवश्यकता है। जो जीवन के केवल प्राण-धारण के लिये ही होता है, वह तो पशु-जीवन है। वह मनुष्य के वास्तविक महत्त्व से शून्य होता है। ऐसा जीवन मनुष्य को सदा के लिये क्लेश से नहीं बचा सकता। हमारा जीवन यथार्थ मानव-जीवन तभी कहलाता है, जब वह किसी ऐसे उद्देश्य की पूर्ति का साधन बन जाता है, जो एक प्रकार से मानव-जीवन के बाहर की वस्तु जान पड़ती है, और जिसका हमारे व्यक्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं होता; फिर वह उद्देश्य चाहे शिव (परमात्मा) हो, सत्य हो या सुन्दर हो। जो लोग अपने जीवन को खूब उन्नत बनाते हैं उनका जीवन उन्हींके लिये नहीं होता। उनका लक्ष्य यह होता है कि हमारा जीवन क्रमशः अवताररूप बन जाय, हमारे मानव-जीवन का उस शाश्वत जीवन से सम्बन्ध हो जाय जिसकी कल्पना ही आनन्ददायक होती है। जो निरतिशय सुखरूप एवं हमारे असफलतापूर्ण जीवन से परे की चीज है और जहाँ सर्वभक्षक काल की गति नहीं है, उस शाश्वत जगत् के साथ सम्पर्क होने से, चाहे वह हमारी कल्पना का ही विषय क्यों न हो, बल और वास्तविक शान्ति मिलती है, जिसका ऐहिक जीवन के संघर्षों तथा दिखाऊ असिद्धियों से सर्वथा नाश नहीं होता। सनातन तत्त्व के इस आनन्ददायक ध्यान को ही स्पाइनोज़ा (Spinoza) नामक प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक ने 'परमात्माकी बौद्धिक भक्ति' (Intellectual love of God) कहा है, जिन्होंने इसे एक बार भी जान लिया उनके हाथ में तो मानो

ज्ञान की कुंजी आ गयी। अवश्य ही हम लोगों में से प्रत्येक के लिये अपनी-अपनी योग्यता और अवसर के अनुसार साधनों की विभिन्नता है। परन्तु यदि हमारा आन्तरिक जीवन आध्यात्मिक है, तो फिर हमारे लिये क्या कर्तव्य है और क्या निषिद्ध है, यह अपने-आप ही स्पष्ट हो जायगा।'

उपर्युक्त अवतरण में अपने कर्मों के द्वारा भगवान् की पूजा करने **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'** के सिद्धान्त की ही व्याख्या है। जिस यज्ञ-चक्र की गति अमीर और गरीब, शिक्षित और अशिक्षित सभी लोगों की परस्पर सहायता और सहयोग पर निर्भर है **'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'**, उसी यज्ञ-चक्र का एक अङ्ग 'स्वभावनियत कर्म' भी है। इस 'स्वभावनियत कर्म' की व्याख्या श्रीयुत एच० जी० वेल्स की 'First and Last Things' नामक पुस्तक के निम्नलिखित भावगर्भित अवतरण में मिलती है—

'The essential fact in man's history to my sense is the slow unfolding of a sense of community with his kind, of the possibilities of co-operation leading to scarcedreamt—of powers, of a synthesis of the species, of the development of a common general idea, a common general purpose out of a present confusion. In that awakening of the species, one's own personal being lives and moves—a part of it and contributing to it. One's individual existence is not entirely cut off as it seems at first. One's separate individuality is another a profounder among the subtle inherent delusions of the human mind. Between you and me as we set our minds together and between us and the rest of mankind there is something that rises through us and is neither you and me, that comprehends us, that is thinking here and using me and you to play against each other in that thinking, just as my finger and thumb play against each other as I hold this pen wilh which I write.'

'मानव-जाति के इतिहास के अन्दर मुख्य बात जो मेरी समझ में आती है वह यह है कि मनुष्य धीरे-धीरे सारी मानव-जाति के साथ अपनी एकता का अनुभव कर रहा है तथा परस्पर सहयोग से वह कैसी-कैसी अतर्क्य शक्तियों से सम्पन्न हो सकता है इसको समझ रहा है और उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों की वर्तमान गपड़चौथ में से एक सार्वलौकिक सामान्य सिद्धान्त अथवा सार्वलौकिक सामान्य उद्देश्य का क्रमिक विकास हो रहा है। जाति की इस जागृति में मनुष्य का व्यक्तिगत आत्मा भी उसका एक अङ्ग तथा सहायक होकर रहता और चलता-फिरता है। मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता बिल्कुल अलग नहीं हो जाती, यद्यपि पहले ऐसा प्रतीत होता है। मानव-चित्त के अतिसूक्ष्म एवं स्वाभाविक भ्रमों में दूसरा भ्रम, जो औरों की अपेक्षा अधिक गहरा है, मनुष्य का पृथक् व्यक्तित्व है। जब हम मिलकर किसी बात का चिन्तन करते हैं उस समय मेरे और तुम्हारे बीच में और हमारे और सारी मनुष्य-जाति के बीच में एक ऐसी वस्तु उत्पन्न होती है जो हम दोनों से भिन्न है और हम दोनों ही जिसके ज्ञान के विषय हैं, जो यहाँ बैठकर विचार करती है, और हम दोनों को उस विचार की क्रिया में एक-दूसरे की सहायता करने के लिए ठीक उसी तरह प्रेरित करतो है, जिस तरह मेरा अँगूठा और उँगली जब मैं इस कलम को लिखते समय हाथ में पकड़ता हूँ, तब एक-दूसरे की मदद करते हैं।'

भगवद्गीता का अध्ययन करनेवालों को मालूम होगा कि गीता के तीसरे अध्याय में जिस शाश्वत यज्ञचक्र का बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णन किया गया है उससे बहुत कुछ मिलती-जुलती बात ऊपर कही गयी है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस यज्ञ-चक्र के चलाने में जो मदद नहीं करता, वह पाप करता है। वेल्स महाशय निम्नलिखित शब्दों में इस बात को भी सूचित करते हैं—

'So soon as one passes from general terms to the question of individual good, one encounters individuality, for everyone in the differing quality and measure of their personality and powers and possibilities, good and right must be different. We are all engaged each contributing from his or her own standpoint in the collective synthesis. Whatever one can best do, one must do that; in whatever manner one can help the synthesis one must exert oneself. The setting apart of oneself, secrecy, the service of secret and personal ends is the waste of life and essential quality of sin.'

'सर्वसाधारण के प्रश्न को छोड़कर व्यक्तिगत हित के प्रश्न को हाथ में लेते ही मनुष्य के सामने व्यक्तित्व का प्रश्न उपस्थित हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के अन्दर अच्छी और न्याययुक्त शक्ति और सामर्थ्य की जो एक विशेषता होती है, उसके प्रकार और मात्रा में अवश्य भेद होता है। हम लोग सभी अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार सामूहिक समन्वय के कार्य में योग देने में लगे हुए हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह उस कार्य को अवश्य करे जिसे वह सुचारुरूप से सम्पन्न कर सकता है। वह जिस प्रकार से भी इस समन्वय के कार्य में मदद दे सके उसी प्रकार से उसे मदद देने की चेष्टा करनी चाहिए। अपने को संसार से अलग रखना, छिपकर रहना तथा अप्रकट एवं व्यक्तिगत स्वार्थ को सिद्ध करना—यह जीवन का दुरुपयोग एवं पाप का मुख्य लक्षण है।'

उपर्युक्त अन्तिम वाक्य भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोक का एक प्रकार से अक्षरशः अनुवाद है—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ (३। १६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक पाश्चात्य विद्वान्, जो वर्तमान वैज्ञानिक युग की सारी जटिलताओं और परिणामों को जानते हैं और जिन्होंने मानव-जाति के अतीत इतिहास का आलोचन किया है, इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि भावी सार्वभौम राष्ट्र को धर्म की आवश्यकता निश्चय ही होगी; उस धर्म के दो रूप होंगे—सामाजिक एवं वैयक्तिक, ये दोनों आपस में खूब मिले हुए होंगे; उस धर्म का काम होगा मानव-जाति की प्रसन्नतापूर्वक एवं अहंकार छोड़कर सेवा करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करना तथा सहयोग-सिद्धान्त के अनुकूल विश्वसञ्चालन की एक व्यवस्था करना और किसी आध्यात्मिक आदर्श को उसका आधार बनाना। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपना कार्यक्षेत्र तथा कार्य की सीमा अर्थात् उस व्यवस्था में उसका क्या भाग होगा यह निश्चित कर ले और फिर उसे पूरा करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करे। प्रत्येक मनुष्य अपने कार्यक्षेत्र को उस आध्यात्मिक आदर्श की कसौटी पर कसकर ही निर्धारित करे।

उपर्युक्त सारी बातें हमें गीता में मिलती हैं जहाँ सांख्य और योग का समन्वय किया गया है, जहाँ **'मुक्तसङ्ग'** और **'अनहंवादी'** कर्ता के लक्षण कहे गये हैं जो उत्साह से पूर्ण एवं सर्व भूतों का हित करने के लिए तत्पर रहता है, जहाँ यज्ञचक्र के रूप में, जिसे चालू रखने के लिए परस्पर सहायता की अपेक्षा रहती है, **'परस्परं भावयन्तः'** विश्व के सञ्चालन की व्यवस्था बतलायी गयी है; जहाँ स्वकर्म को ही उस परमात्मा की उपासना का साधन बतलाया गया है, जो परमात्मा सारे भूत एवं भविष्य प्राणियों की उत्पत्ति के कारण हैं; जहाँ स्वकर्म का आचरण मनुष्य के लिये अनिवार्य बतलाया गया है, **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'** और जहाँ चारों वर्णों की सृष्टि ईश्वरकृत ही बतलायी गयी है। **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्।'**

अवश्य ही गीता के अन्दर भगवान् को कई दूसरे प्रश्नों पर भी विचार करना पड़ा है, जिनका उन दिनों भारतीय दर्शन में प्रमुख स्थान था। इस पारिभाषिक एवं शास्त्रीय विवेचन को छोड़कर यदि हम उस व्यापक विषय को लें जिसके आधार पर सारे गीता-भवन का निर्माण हुआ है तो हमें मालूम होगा कि पाश्चात्य देशों के आधुनिक विद्वान् उस भावी सार्वभौम धर्म के लिए भी जिसे वे सार्वभौम राष्ट्र की स्थिति के लिये आवश्यक समझते हैं उसीको आधार बनाने की कल्पना करते हैं। भावी सार्वभौम धर्म के विषय में उनकी जो कल्पना है, उसमें और गीता-शास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों

में एक अद्भुत सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। श्री एफ० टी० ब्रुक्स (F. T. Brooks) का अपने गीताविषयक निबन्ध में यह कहना बिल्कुल ठीक है कि—

'Not only does the Bhagwat Gita fulfil every condition needed for becoming a National Scripture of India, a link between her many scattered sects, a priceless asset of the National life to be. It is preminently a scripture of the future world religion, a gift of India's glorious past to the moulding of the still glorious future of Mankind.'

'भगवद्गीता के अन्दर वे सारी विशेषताएँ मौजूद हैं जो भारतवर्ष की एक जातीय धर्म-पुस्तक के अन्दर होनी चाहिए। हिन्दू-धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों को एकता के सूत्र में बाँधनेवाला यह एक अनुपम ग्रन्थ है और भारत के भावी जातीय जीवन के लिये एक अमूल्य सम्पत्ति है। यही नहीं, भावी सार्वभौम धर्म का सूत्रग्रन्थ बनने के लिये भी यही सर्वथा उपयुक्त है; भारत के गौरवपूर्ण प्राचीन काल के इस अमूल्य रत्न से मानव-जाति के और भी गौरवपूर्ण समुज्ज्वल भविष्य के निर्माण में अनुपम सहायता मिलेगी।'

गीता के इस अपूर्व उपदेश के कारण ही भगवान् श्रीकृष्ण केवल अपने समय के ही नहीं; किन्तु भविष्य में चिरकाल के लिए सारे संसार के गुरु बन गये। उनका जगद्गुरुत्व ही उनकी महत्ता का सच्चा और स्थायी रूप है। श्रीकृष्ण-भक्ति का चाहे किसी दिन लोप भी हो जाय और उसका प्रचार भारत की अथवा हिन्दू-धर्म की सीमा तक परिमित रहे। किन्तु उनके जगद्गुरुत्व के लिये देश और काल की कोई सीमा नहीं है। यही कारण है कि निबन्धमुख में उद्धृत किये हुए पद्य में 'जगद्गुरु' यह विशेषण अन्तिम चरण में तथा 'वन्दे' इस पद के भी बाद रखा गया है।

—जी० वी० केतकर

श्रीराधा का स्वरूप-तत्त्व

श्रीराधाजी का दिव्यातिदिव्य पद-रज-कण ही मेरा परम आश्रय है, उनके सम्बन्ध में कुछ शब्द उनकी कृपा से ही लिख रहा हूँ। जिन श्रीराधाजी की अयाचित कृपा से मुझे उनका जो कुछ परिचय मिला है और जिन्होंने अपने महान् अनुग्रह-दान से मुझ पतित पामर को अपनाकर कृतार्थ किया है; वे अपनी अचिन्त्य महिमा में स्थित श्रीराधाजी न तो विलासमयी रमणी हैं, न उनका उत्तरोत्तर क्रमविकास हुआ है, न वे कविहृदय-प्रसूत कल्पना हैं और न उनमें किसी प्रकार का गुण-रूप-सौन्दर्याभिमान ही है। वे नित्य सत्य एकमात्र अपने प्रियतम श्री.श्यामसुन्दर की सुखविधाता हैं। मेरी तुच्छ धारणा में तथा मेरे विश्वास में श्रीराधा परात्पर समग्र ब्रह्म सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण की भाँति ही नित्य सत्य तत्त्व हैं। इन दोनों का नित्य एकत्व तथा नित्य ही लीला-भेद है और वह अनादि अनन्त है। श्रीराधाजी महाभाग श्रीवृषभानु के यहाँ प्रकट हुई थीं, समय-समय पर हुआ करती हैं—यह सत्य है। उनकी वृन्दावन की मधुर लीला भी परम सत्य है। हो सकता है, प्राचीन साहित्य उपलब्ध न होने या लुप्त हो जाने के कारण उनका नाम पहले के सब ग्रन्थों में न मिलता हो। हो सकता है, सब लोगों को उनके स्वरूप तथा लीलातत्त्व का पता न हो। यह भी सम्भव है कि उनकी छाया का विवाह रायाण गोप से हुआ हो और वे स्वरूपतः यथार्थ में भगवान् श्रीकृष्ण की ही नित्यसङ्गिनी रही हों। अतः उनमें परकीया भाव की कल्पना की गयी हो एवं ब्रह्माजी के द्वारा विवाह कराये जाने के कारण पहले उन्हें लोग स्वकीया मानते हों और इस कारण उनके साहित्यिक रूप में साहित्यिकों के भावनानुसार समय-समय पर परिवर्तन हुआ हो और इसीको क्रम-विकास का नाम दे दिया गया हो। पर उनके तात्त्विक सत्य स्वरूप में किसी भी कल्पना का स्थान है और कल्पना-राज्य में ही उनकी सृष्टि, विकास, भावान्तर या रूपान्तर हुआ है एवं प्रेम के केवल साहित्यिक रूप में ही उनकी काल्पनिक सत्ता है, यह बात मानने को कभी मन नहीं चाहता। उनके नित्य अस्तित्व की सत्यता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि अनेक प्रेमी भक्तों को उन अलौकिक प्रेममयी, दिव्य स्नेहमयी, अलौकिक अप्राकृत विग्रहरूपा श्रीराधारानी की विलक्षण कृपा से उनके प्रत्यक्ष दर्शन, साक्षात्कार, उनकी विविध लीलाओं की अनुभूति, उनकी लीला में प्रवेश-प्राप्ति और दिव्य परम स्नेहाशीर्वाद की उपलब्धि हुई है। विश्वासी पुरुषों के लिये इसके प्रचुर प्रमाण हैं।

भारत के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथजी कविराज ने 'कल्याण' में प्रकाशित एक लेख में लिखा था—"कोई भयभीत मनुष्य जनशून्य अज्ञात देश में घोर विपत्ति के समय पलक मारते ही यह देखता है कि स्निग्ध करुणामय एवं प्रशान्त मुखश्री से युक्त एक दिव्य ज्योतिर्मय मूर्ति उसके दृष्टिपथ में शून्य स्थान में आविर्भूत होकर उसके समस्त भय का हरण कर लेती है, उसे आश्वासन देती हुई कहती है—'वत्स! तुम भयभीत क्यों हो रहे हो? देखो, सामने दीपक जल रहा है। वहाँ जाओ। तुम्हारे सारे अभाव दूर हो जायँगे। मैं तुम्हारे साथ हूँ। भय का कोई कारण नहीं है।' इस आश्वासन को सुनकर वह यदि देखता है कि सचमुच ही सामने पर्णकुटी में दीपक जल रहा है और वहाँ एक मनुष्य मानो उसी की प्रतीक्षा में बैठा हुआ है, वह वहाँ आश्रय पाता है, क्षुधा-निवृत्ति के लिये मनमाना भोजन-लाभ करता है, भय से त्राण पाता है, गन्तव्य स्थान का मार्ग पाता है तथा राह का साथी पाता है तो बताइये उसके हृदय में किस प्रकार के भावों का उदय होगा……।" इस घटना को वह मनुष्य चाहे लौकिक कार्य-कारण के सम्बन्ध द्वारा किसीको न समझा सके और कोई चाहे इस घटना को सत्य न समझे; पर जिसने प्रत्यक्ष ऐसा अनुभव प्राप्त किया है, वह इसे कैसे अस्वीकार कर सकता है और कैसे वह किसीके न मानने से या तर्कयुक्त

खण्डन करने से अपने प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध उसकी बात को स्वीकार कर सकता है ? ठीक यही बात श्रीराधारानी के सम्बन्ध में है । उनकी सत्ता को कोई स्वीकार करे या न करे, उन्हें कोई चाहे केवल कल्पना की वस्तु माने अथवा उनके रूप में अपने मन की कल्पना के अनुसार तर्कयुक्ति का अवलम्बन करके क्रम-विकास माने; पर श्रीराधारानी की अनुकम्पा से जिनको प्रत्यक्ष अनुभूति हो चुकी है या होती है, तर्कयुक्ति या शब्दजाल के आधार पर उनके सत्य विश्वास को कोई कैसे हिला सकता है ? इसी प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर अब तक के प्रेमी भक्तों ने जो कुछ देखा, निरखा और फिर लिखा है, उसी पर सहज विश्वास करके इस पवित्र मार्ग के साधकों को बिना किसी शङ्का-संदेह के श्रीराधारानी की आराधना करनी चाहिये ।

मैं न तो साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश का यथार्थ अधिकारी हूँ, न मुझमें विशुद्ध भक्ति और प्रेम का ही तनिक-सा भी प्रत्यक्ष अङ्कुर उगा है; इस अवस्था में मेरे-सरीखे साहित्य तथा प्रेम के दरिद्र के लिये तो सहज करुणामयी श्रीराधारानी की मङ्गल-प्रेरणा के अतिरिक्त अन्य कोई साधन ही नहीं है, जिससे मैं उनके सम्बन्ध में कुछ कह-सुन सकूँ ।

श्रीराधारानी भगवान् श्रीकृष्ण का ही एक दूसरा स्वरूप हैं और उन्हींकी भाँति उनमें समस्त भगवदीय गुणों का प्राकट्य है । प्रेम की परमोच्च सीमास्वरूप महाभावरूपा होने पर भी वे नित्य-निरन्तर अपने में प्रेम का अभाव देखती हैं । अतएव उनका वह दिव्य प्रेम प्रतिपल—नित्य वर्द्धनशील है, वह कभी पूरा होता ही नहीं । वे नित्य परिवर्द्धनशील, नित्य नवायमान सौन्दर्य-माधुर्य का अगाध, अपरिसीम, अनन्त भंडार होने पर भी अपने में कुरूपता देखकर कभी भी अपने को प्रियतम श्यामसुन्दर के योग्य अनुभव नहीं करतीं और सदा सकुचाती रहती हैं । अनन्त-अचिन्त्य अनिर्वचनीय सहज दिव्य भगवत्स्वरूप होने पर भी वे अपने को दोषागार मानकर लज्जा का अनुभव करती हैं । शिव-ब्रह्मादि देवगण, नारद-सनत्कुमार आदि मुनि, वसिष्ठ-व्यासादि महर्षि, याज्ञवल्क्य-शुकदेव आदि ज्ञानी, अनसूया-अरुन्धती आदि सती-पतिव्रता एवं ब्रह्मविद्या आदि प्रत्यक्ष ज्ञानमूर्ति देवियों के द्वारा उपासित, आराधित, परम गौरवमयी, महान् महिमामयी, नित्य निर्मल प्रेमाकर-स्वरूपा होने पर भी वे अपने को गौरव-महिमा-विहीन और विकारी हृदय-सम्पन्न बतलाती हैं और नित्य सहज अनुगत होने पर भी पुनः-पुनः वक्र गति का अवलम्बन करती हैं । इस प्रकार उनमें नित्य-निरन्तर अनन्त अचिन्त्य निरतिशय परस्पर-विरोधी धर्म एवं भावों का विकास रहता है ।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण अभिन्न होने पर भी विलक्षण प्रेम-सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं । वे परस्पर प्रेमी भी हैं और प्रेमास्पद भी । परंतु अधिकांश में श्रीराधा ही आश्रयालम्बनस्वरूप बनी हुई श्रीकृष्ण की आराधना करके उन्हें सुख पहुँचाती रहती हैं । श्रीराधा में अनन्त गुण हैं । उनके स्वरूप-गुणों को यथार्थतः पूरा कोई नहीं जानता । फिर कोई बता तो कैसे सकता है । पर प्रेमी भक्तों को उनके निम्नलिखित चौंसठ गुणों की विशेष रूप से उपलब्धि हुई है और वे ये हैं—

१. प्रत्येक अङ्ग में अतुलनीय अपरिमित सौन्दर्य, २. अतुलनीय महान् माधुर्य, ३. दिव्य अङ्गों में पवित्र सुगन्ध, ४. अधरों पर निरन्तर पवित्र मधुर मुसकान, ५. नेत्रों की सुधावर्षिणी दृष्टि, ६. नेत्रों की चञ्चलता, ७. विशाल नेत्रों की वक्रता, ८. लम्बे काले केश, ९. सिर पर चन्द्रिका सुशोभित, १०. वेणी में मालती की माला गुँथी हुई, ११. अङ्गों की सुकुमारता, १२. सहज श्री-शोभा, १३. देखने में अत्यन्त प्रियदर्शिता, १४. अलौकिक रूप-सौन्दर्य, १५. सहज सरलता, १६. परम बुद्धिमत्ता, १७. सेवा में प्रीति, १८. अनुपम धैर्य, १९. श्रीकृष्ण-विरह-जन्य नित्य कातरता, २०. श्रीकृष्ण के प्रति मिलनोत्कण्ठा, २१. श्रीकृष्ण के नित्य मिलन का अनुभव, २२. निरभिमानता, २३. मान, २४. वामभाव, २५. निर्मल वैभव, २६. विनयशीलता, २७. पवित्र नम्रता, २८. अत्यन्त पवित्र सर्वत्यागमयता, २९. करुणामयता, ३०. परम उदारता, ३१. प्रेम से प्रादुर्भूत कार्यकुशलता, ३२. साधुभाव, ३३. परम सुशीलता, ३४. मधुर चपलता, ३५. अपार गम्भीरता, ३६. पवित्र गीत-वाद्य-नृत्य-कुशलता, ३७. अनन्त ललित कलाओं की

भंडार, ३८. प्रियतम श्रीकृष्ण के गुण-वर्णन में अत्यन्त मुखरता, ३९. मानसिक मौन, ४०. नित्य उद्दीप्त भाव, ४१. स्वसुख की कल्पना का सर्वथा अभाव, ४२. नित्य एकमात्र प्रियतम के सुख की इच्छा, ४३. सहज प्रेम-प्रतिमारूपता, ४४. अपने में नित्य प्रेम के अभाव का ज्ञान, ४५. आत्मनिवेदनमयता, ४६. समर्पण की स्मृति और अभिमान का अभाव, ४७. सखी-सहचरियों के प्रति प्रेमविवशता और उनमें गुण-महिमा के दर्शन, ४८. सखी-सहचरियों के सुख में नित्य सुखी रहना, ४९. अपने सुख का अभिमानरहित सहज त्याग, ५०. प्रियतम के सुख-सम्पादन के लिये सौत की प्रियता और सेवा में सुख की अनुभूति, ५१. प्रियतम को वश में करनेवाले गुणों का समूह, ५२. परम त्यागमय धन्य जीवन, ५३. रति, स्नेह, प्रणय, मान, राग, अनुराग, भाव और महाभावरूप त्यागमय प्रेम का नित्य विकास, ५४. इन आठों भावों की अगली परिणति (मोदन-मादन आदि) की प्राप्ति, ५५. प्रियतम श्रीकृष्ण की पटरानियों और प्रेयसियों में सर्व-समर्पणयुत प्रमुखता, ५६. मधुर प्रेम-विवशता, ५७. नित्य अभिसारप्रियता, ५८. प्रियतम श्रीकृष्ण की स्मृति में तल्लीनता, ५९. नव निकुञ्ज में निवास, ६०. मधुर भाषण, ६१. परम ऐश्वर्यमयता, ६२. पवित्र दैन्य, ६३. प्रियतम-पद-कमल के मधुर रसपान के लिये ममतामयी भ्रमरीरूपता, ६४. 'मैं श्रीश्यामसुन्दर की अभिन्न प्रियतमा हूँ' एकमात्र ऐसा अनन्य अहंकार।

इन्हींके साथ-साथ श्रीकृष्ण के प्रति उनके क्या भाव—सम्बन्ध हैं, नीचे के वर्णन से उनका पता लगता है और गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर श्रीराधा के परम पवित्र प्रेममय हृदय के स्वरूप की पवित्र झाँकी के दर्शन होते हैं :

कृष्णप्राणाधिका राधा कृष्णप्रेमविनोदिनी। श्रीकृष्णाङ्गशुभध्यात्री कृष्णानन्दप्रदायिनी॥
कृष्णस्याह्लादिनी देवी कृष्णध्यानपरायणा। कृष्णसम्मोहिनी नित्या कृष्णानन्दप्रवर्धिनी॥
कृष्णानन्दसदानन्दा कृष्णकेलिसुखास्पदा। कृष्णप्रिया कृष्णकान्ता कृष्णसेवापरायणा॥
कृष्णप्रेमाब्धिशफरी कृष्णप्रेमतरङ्गिणी। कृष्णचित्तहरा देवी कीर्तिदाकुलपद्मिनी॥
कृष्णमुखी हास्यमुखी सदा कृष्णकुतूहला। कृष्णानुरागिणी धन्या किशोरी कृष्णवल्लभा॥
कृष्णकामा कृष्णवन्द्या कृष्णार्थे सर्वकामना। कृष्णप्रेममयी राधा कल्याणी कृष्णमाधुरी॥
कृष्णस्योन्मादिनी काम्या कृष्णलीलाशिरोमणिः। कृष्णसंजीवनी राधा कृष्णवक्षःस्थलस्थिता॥
कृष्णप्रेममदोन्मत्ता कृष्णसङ्गविलासिनी। श्रीकृष्णरमणी राधा कृष्णप्रेम्णा कलङ्किनी॥
कृष्णप्रेमवती कर्त्री कृष्णभक्तिपरायणा। श्रीकृष्णमहिषीश्रेष्ठा श्रीकृष्णाङ्गप्रियंकरी॥
कृष्णसंयुक्तकामेशी श्रीकृष्णप्रियवादिनी। कृष्णशक्तिः काञ्चनाभा कृष्णा कृष्णप्रिया सती॥
कृष्णप्राणेश्वरी धीरा केलिकुञ्जनिवासिनी। कृष्णप्राणाधिदेवी सा कृष्णानन्दप्रदायिनी॥
कृष्णप्रसाध्यमाना च कृष्णप्रेमपरायणा। कृष्णचित्तस्थिता देवी श्रीकृष्णाङ्गसदारता॥

'श्रीराधा श्रीकृष्ण को प्राणों से भी बढ़कर प्यारी हैं, कृष्ण-प्रेम ही उनके विनोद—मन-बहलाव का साधन है। वे श्रीकृष्ण के अङ्गों का ही सदा शुभचिन्तन करती रहती हैं। श्रीकृष्ण को आनन्द प्रदान करना ही उनका स्वभाव है और वे श्रीकृष्ण को आह्लादित करती हैं। इतना ही नहीं, वे देवी श्रीकृष्ण के ध्यान में ही तत्पर रहती हैं। श्रीकृष्ण का ध्यान ही उनकी सर्वश्रेष्ठ गति है। वे (सबके आकर्षक) श्रीकृष्ण को भलीभाँति मोहित किये रहती हैं। वे सदा रहनेवाली—अविनाशिनी हैं और आनन्दरूप श्रीकृष्ण के आनन्द को कई गुना बढ़ा देती हैं। श्रीकृष्ण के आनन्द में ही वे सदा आनन्द मानती हैं, श्रीकृष्ण के केलिसुख की आधारभूता हैं। वे श्रीकृष्ण की प्यारी, श्रीकृष्ण के द्वारा कमनीय और श्रीकृष्ण की सेवा में ही तत्पर रहनेवाली हैं। श्रीकृष्ण के प्रेमरूपी पारावार में विहार करनेवाली मछली हैं, श्रीकृष्णप्रेम की तरङ्गिणी हैं। वे श्रीकृष्ण के चित्त को चुरानेवाली देवी अपनी जननी कीर्तिदा के कुल

को सौरभित करनेवाली कमलिनी हैं। उनका मुख सदा श्रीकृष्ण की ओर रहता है। उनके वदन पर हास्य की रेखा सदा खेलती रहती है तथा श्रीकृष्ण ही सदा उनके कुतूहल—उत्कण्ठा के विषय बने रहते हैं। वे श्रीकृष्णविषयक अनुराग से पूर्ण होने के कारण धन्यातिधन्य हैं, नित्य किशोरी तथा श्रीकृष्णवल्लभा हैं। श्रीकृष्ण ही उनकी कामना के एकमात्र विषय हैं। वे श्रीकृष्ण की भी वन्दनीया हैं और उनकी सम्पूर्ण कामनाएँ श्रीकृष्ण के लिये—श्रीकृष्ण को लेकर ही होती हैं। नहीं-नहीं, ये राधारानी कृष्णप्रेम की जीती-जागती पुतली, कल्याणमयी तथा कृष्णमाधुर्य का मूर्तस्वरूप हैं। वे श्रीकृष्ण को भी उन्मत्त बना देनेवाली हैं तथा श्रीकृष्ण के लिये कामना का विषय बनी रहती हैं और श्रीकृष्णलीला की मुकुटमणि हैं। राधा श्रीकृष्ण के प्राणों के लिये संजीवनी बूटी हैं और श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल में निवास करती हैं। वे कृष्णप्रेम के नशे में मतवाली हुई घूमती हैं और श्रीकृष्ण के विलास में रत रहती हैं। वे श्रीराधा श्रीकृष्ण को आनन्दित करती हैं और श्रीकृष्णप्रेम के कारण कलङ्किनी बनी रहती हैं। वे श्रीकृष्णप्रेम की आश्रयभूता विधात्री तथा श्रीकृष्ण की भक्ति में सदा तत्पर रहती हैं। वे श्रीकृष्ण की पत्नियों में श्रेष्ठ तथा श्रीकृष्ण के अंगों का सदा प्रिय करनेवाली हैं। वे श्रीकृष्ण से सदा संयुक्त रहनेवाली भगवती कामेश्वरी—त्रिपुरसुन्दरी का ही दूसरा रूप हैं तथा श्रीकृष्ण के प्रति सदा मधुर वचन बोलती हैं। वे श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति और सुवर्ण की-सी कान्ति से युक्त हैं। कृष्णा—श्यामानाम से विख्यात श्रीकृष्ण की प्रेयसी एवं सतीशिरोमणि हैं। वे श्रीकृष्ण के प्राणों की स्वामिनी, धैर्यवती तथा केलिकुञ्ज में निवास करनेवाली हैं। और तो क्या, वे श्रीकृष्ण के प्राणों की अधिष्ठात्री एवं श्रीकृष्ण को प्रचुर आनन्द देनेवाली हैं। वे राधादेवी स्वयं श्रीकृष्ण के द्वारा सजायी जाती हैं, श्रीकृष्णप्रेम में ही तत्पर रहती हैं, श्रीकृष्ण के मन में बसी रहती हैं और श्रीकृष्ण के ही मधुर मनोहर अङ्गों में सदा प्रीतियुक्त रहती हैं।'

श्रीराधाजी भगवान् श्रीकृष्ण की नित्य अभिन्न स्वरूपा-शक्ति हैं। शक्तिमान् में शक्ति दो रूपों में रहती है—'अमूर्त' रूप में और 'मूर्त' रूप में। शक्तिमान् में जो शक्ति की नित्य सत्ता है, वह अमूर्त है और जो स्वरूप से सर्वथा सर्वदा सब प्रकार से अभिन्न होते हुए उस दिव्य शक्ति-सत्ता की अधिष्ठात्री रूप में भिन्न रूप से प्रकट विविध विचित्र स्वरूपभूता लीलामयी-लीलाकारिणी है, वह मूर्त है। भगवान् के अचिन्त्यानन्त स्वरूपों में जैसे 'आनन्द' स्वरूप प्रधान है, वैसे ही उनकी अचिन्त्यानन्त शक्तियों में आनन्दरूपा 'ह्लादिनी' शक्ति प्रधान है। स्वयं रसरूप रसराज भगवान् जिस दिव्य आनन्दमयी शक्ति के द्वारा स्वरूपानन्द का रसास्वादन करते हैं और प्रेमी भक्तों को स्वरूपानन्द-रस का आस्वादन कराते हैं, उसी शक्ति का नाम 'ह्लादिनी' है। वही स्वरूपतः नित्य अभिन्न और लीलामयी अधिष्ठात्री मूर्ति के रूप में नित्य भिन्न है, वही श्रीराधा हैं। ये ही भक्ति-साम्राज्य में प्रविष्ट होकर लीला से ही क्रमशः घनता की अवस्था में उन्नत होती हुई रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव—नाम धारण करती हैं। यह महाभाव-प्रेमरस की मूर्तिमान् दिव्य सजीव प्रतिमा ही श्रीराधा हैं। ये श्रीराधा परम पावन श्रीकृष्ण-प्रेम की ही प्रगाढ़तम अवस्था 'मादनाख्य महाभावस्वरूपा' हैं। इसीको प्रेमराज्य के अनुभवी पुरुषों ने 'श्रीकृष्णप्रणयविकृति' कहा है। यह मादनाख्य महाभाव श्रीकृष्णप्रणय का ही परमघन विकार है, चरम और परम परिणति है, अवश्य ही वह नित्य है। विकार और परिणति लीला में ही हैं।

परात्पर पूर्णब्रह्म-तत्त्व के तीन रूप हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। **'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते'** (श्रीमद्भागवत)। परात्पर तत्त्व रसरूप है, अतः इन तीनों ही रूपों में रस-स्वरूपता विद्यमान है। पर लीला-भेद से तीनों में भेद है। ब्रह्म रसस्वरूप है, पर उस निर्विशेष निर्धर्म निष्क्रिय निर्गुण निराकार तत्त्व में शक्ति का प्राकट्य नहीं है, अतः ब्रह्म तत्त्वतः 'रसरूप' होने पर भी 'रसिक' नहीं है। परमात्मा में सगुण निराकार होने से शक्ति का आंशिक प्रकाश है; वह साक्षी है, द्रष्टा है, पर 'रसिक' वह भी नहीं है और षडैश्वर्यपूर्ण पूर्णशक्तिविकसित भगवत्स्वरूप

में शक्ति का विविध विचित्र विकास होने के कारण जितने भगवत्स्वरूप हैं, सभी रसस्वरूप होने के साथ ही 'रसिक' भी हैं। परन्तु सभी (तत्त्वतः अभिन्न) भगवत्-स्वरूपों में समस्त रसों का एक ही साथ पूर्ण प्रकाश नहीं होता। सम्पूर्ण रसलीलाविलासमण्डित केवल श्रीकृष्ण ही अखिलरसामृतमूर्ति हैं। अतएव श्रीकृष्ण 'रसिकशेखर' हैं। इन 'रसिकशेखर' श्रीकृष्णका परम रस जिसके द्वारा आस्वादित होता है और श्रीकृष्ण जिस अत्युन्नत भावमयी राधा के रसास्वादन के लिये लालायित रहते हैं, वही मादनाख्य महाभावरूपा शक्ति हैं। वही महाभावरूपा श्रीराधा हैं।

श्रीराधाजी श्रीकृष्णार्द्धाङ्गसम्भूता होने से श्रीकृष्णस्वरूपा ही हैं। लीलारसास्वादन के लिए द्विविध प्रकाश हैं। दोनों ही सच्चिदानन्दमय एक तत्त्व—वस्तु हैं। उसमें न स्त्री है, न पुरुष। केवल लीला-विलास है। दोनों ही काम-गन्ध-शून्य सच्चिदानन्द भगवद्विग्रह हैं। शुक्र-शोणितजनित, कर्मजनित और पञ्चभूत-निर्मित देह इनके नहीं हैं। अतएव इनमें काम-क्रोधादि के लेश की कल्पना भी नहीं है। सभी कुछ सच्चिद्घन है। इस जगत् के 'काम' में केवल तामसिक अन्धकार है, इसीसे उसका क्षय—विनाश है। श्रीवृन्दावन का यह चिन्मय रस है, वहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है। इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि-ही-वृद्धि है। रूप में, सौन्दर्य में, लीला में, प्रेम में और आनन्द में—सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा। हेमकान्तमणि और नीलकान्तमणि में मानो होड़ लगी है। इस युगल-प्रेम-सुधा-रस की प्राप्ति योगियों को अनन्तकाल तक समाधि लगाने पर भी नहीं होती। केवल ज्ञानचर्चा करनेवाले तो इसमें प्रवेश ही नहीं पा सकते। इसीको दिव्य परमोन्मत्त उज्ज्वल' रस कहते हैं।

श्री राधा की ऐतिहासिकता तथा उनकी उपासना की सनातनता

महाकवि भास के द्वारा रचित 'बालचरित' नाटक में गोपियों का प्रसङ्ग तथा उनके रूप-सौन्दर्य का बड़ा सुन्दर वर्णन आता है। भास का समय विद्वान् लोग ईसापूर्व चतुर्थ शती से लेकर ईसा की तृतीय शती मानते हैं। तृतीय शती भी माना जाय तो भी 'बालचरित' अब से लगभग १७०० वर्ष पूर्व की रचना है।

हाल की 'गाहा सत्तसई' (गाथा सप्तशती) की रचना ईसा की प्रथम शती में तो मानी ही जाती है; क्योंकि हाल का संस्कृत नाम शालिवाहन था जो ईसा की प्रथम शती में प्रतिष्ठानपुर में राज्य करते थे। उनका कथन है कि प्राकृत की करोड़ों गाथाओं में से चुनकर उन्होंने यह सरस संग्रह किया है। अतएव इन गाथाओं को उनसे भी पहले की मानना पड़ता है। इस 'गाहा सत्तसई' में श्रीराधिका (राहिका) कृष्ण (कण्ह) और श्रीकृष्ण-जननी यशोदा (जसोआ) तथा व्रजवधू गोपाङ्गनाओं (बअबहूहिं) का स्पष्ट उल्लेख है। देखिये—

अज्जबि बालो दामोअरो त्ति इअ जप्पिअइ जसोआए। कण्ह-मुह-पेसिअच्छं निनुअं हसिअं बअबहूहिं॥

श्लोक का संस्कृत रूप है—

अद्यापि बालो दामोदर इति इह जल्प्यते यशोदया। कृष्णमुखप्रेषिताक्षं निभृतं हसितं व्रजवधूभिः॥

हालसप्तशती में एक और श्लोक है—

मुह मारुएण तं कण्ह गोरअं राहिआए अवणेन्तो। एदाणं बल्लवीणं अण्णाणं वि गोरअं हरसि॥

इसका संस्कृत रूप है—

मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन्। एतासां बल्लवोनामन्यासामपि गौरवं हरसि॥

गाथासप्तशती का एक श्लोक श्रीरूपगोस्वामी महोदय ने उज्ज्वलनीलमणि में उद्धृत किया है—

लीलाहि तुलिअसेलो रक्खउ वो राहिआत्यनपफसे। हरिणो पढमसमागमसज्झस वेवल्लियो हत्यो॥

इसी श्लोक के अनुरूप एक श्लोक 'सदुक्तिकर्णामृत' में मिलता है—

यो लीलया गोकुलगोपनाय गोवर्द्धनं भूधरमुद्दधार । खिन्नः सकम्पः स बभूव राधापयोधरक्ष्माधरदर्शनेन ॥

महाकवि कालिदास ने मेघदूत में गोपवेशधारी विष्णु का वर्णन किया है और रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर में जिस प्रकार वृन्दावन के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है, उससे पता लगता है कि कवि व्रज-सौन्दर्य की स्मृति से मुग्ध हो गया है।

श्रीनिम्बार्काचार्य को उनके भक्तगण तो द्वापर के अन्त में प्रकट मानते हैं, पर आधुनिक विद्वान् उनका समय १२वीं शताब्दी मानते हैं। उन्होंने स्पष्टरूप से अपने सम्प्रदाय में श्रीराधाकृष्ण-उपासना का प्रवर्तन किया था। उनकी रचनाओं में राधा का नाम प्रचुरता से आता है। उनकी वेदान्त 'दशश्लोकी' का यह श्लोक देखिये—

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥

पञ्चतन्त्र की रचना लगभग डेढ़ हजार वर्ष पूर्व हुई थी, उसमें वर्णन है कि एक तन्तुवाय (बुनकर) का पुत्र श्रीकृष्ण सजकर अपने सूत्रधर मित्र की सहायता से लकड़ी के बने गरुड़ पर सवार होकर किसी राज-अन्तःपुर में पहुँच गया और अपनी प्रणयिनी राजकन्या से बोला—

'सुभगे ! सत्यमभिहितं भवत्या परं किंतु राधा नाम मे भार्या गोपकुलप्रसूता प्रथमा आसीत् ।'

बारहवीं शती के भक्त जयदेवरचित प्रसिद्ध 'गीतगोविन्द' तो राधा पर ही आधारित है।

प्रायः बारह सौ वर्ष पूर्व हुए भट्टनारायण ने अपने 'वेणीसंहार' नाटक के मङ्गलाचरण के श्लोक में 'श्रीहरिचरणयोरञ्जलिरयम्' अर्पण करते हुए प्रार्थना की है—

कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम् ।
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गतेरक्षुण्णोऽनुनयः प्रसन्नदयिताहृष्टस्य पुष्णातु वः ॥

लगभग एक हजार वर्ष पूर्व संकलित नेपाल में प्राप्त 'कवीन्द्र-वचन-समुच्चय' में भी राधा का नाम है—

× × धेनुदुग्धकलशानादाय गोप्यो गृहं दुग्धे वष्कयिणोकुले पुनरियं राधा शनैर्यास्यति ।
इत्यस्य व्यपदेशगुप्तहृदयः कुर्वन् विविक्तं व्रजं देवः कारणनन्दसूनुरशिवं कृष्णः स मुष्णातु वः ॥

कवि क्षेमेन्द्र के दशावतारचरित में राधा का उल्लेख है—

इत्यभून्मदनोद्दामयौवने कालियद्विषि । गोपाङ्गनानां संरम्भगर्भोपालम्भविभ्रमः ॥
प्रीत्यै बभूव कृष्णस्य श्यामानिचयचुम्बिनः । जातीमधुकरस्येव राधैवाधिकवल्लभा ॥

प्रायः एक हजार वर्ष पूर्व संकलित काश्मीर के प्रसिद्ध आलंकारिक विद्वान् आनन्दवर्द्धन के 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ में उद्धृत किसी पूर्ववर्ती कवि के द्वारा रचित दो श्लोकों में श्रीराधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम् ।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ॥

दुराराधा राधा सुभग वदनेनापि हृशतस्तवैतत् प्राणेशाजघनवसनेनाश्रु पतितम् ।
कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरम हे क्रियात् कल्याणं वो हरिरनुनयेष्वेवमुदितः ॥

इसके अतिरिक्त दक्षिण के बहुत-से प्राचीन ग्रन्थों में राधा का उल्लेख है। भक्तकवि बिल्वमङ्गल का 'कृष्णकर्णामृत' तो श्रीराधा-कृष्ण-लीला से ही ओतप्रोत है।

वेद में 'राधम्' आदि शब्द बहुत जगह आये हैं। इसके विभिन्न अर्थ किये गये हैं। हो सकता है कि वेद के कोई विशिष्ट विद्वान् इसका स्पष्ट 'राधा' ही अर्थ करें।

महाभारत के प्रसिद्ध टीकाकार महान् विद्वान् श्रीनीलकण्ठजी ने ऋग्वेद के बहुत-से मन्त्रों के भगवान् श्रीकृष्ण के लीलापरक अर्थ किये हैं। उनका इस विषय पर एक ग्रन्थ ही है—जिसका नाम है 'मन्त्रभागवत'। इसमें नीलकण्ठजी ने निम्नलिखित मन्त्र में राधा के दर्शन किये हैं—

मन्त्र है—

अतारिषुर्भरता गव्यवः समभक्त विप्रः सुमतिं नदीनाम्।
प्रपिन्वध्वमिषयन्ती सुराधा आवक्षाणाः पृणध्वं यात शीभम्॥

(ऋग्वेद ३।३३।१२)

राधाजी गोपाङ्गनाओं में सर्वोपरि महत्त्व रखती हैं, इसलिए यहाँ उन्हें 'सुराधा' कहा गया है। इस मन्त्र का नीलकण्ठजीकृत अर्थ मन्त्र-भागवत† में देखना चाहिये।

इसके अतिरिक्त ऋक्-परिशिष्ट के नाम से निम्नलिखित श्रुति निम्बार्क-सम्प्रदाय के उदुम्बर संहिता, वेदान्तरत्नमञ्जूषा, सिद्धान्तरत्न आदि ग्रन्थों में तथा श्रीश्रीजीवगोस्वामी के प्रसिद्ध ग्रन्थ श्रीकृष्णसन्दर्भ अनुच्छेद १८९ में उद्धृत की हुई मिलती है—

'राधया माधवो देवो माधवेन च राधिका। विभ्राजते जनेषु। योऽनयोर्भेदं पश्यति स मुक्तः स्यान्न संसृतेः।'

अर्थात् 'भगवान् श्रीमाधव श्रीराधा के साथ और श्रीराधा श्रीमाधव के साथ सुशोभित रहती हैं। मनुष्यों में जो कोई इनमें अन्तर देखता है, वह संसार से मुक्त नहीं होता।'

वैष्णव-दार्शनिक श्रीबलदेव विद्याभूषण ने अपने 'प्रमेयरत्नावली नामक ग्रन्थ (१।१५) में अथर्ववेदीय पुरुषबोधिनी श्रुति का यह मन्त्रांश उद्धृत किया है—

'गोकुलाख्ये माथुरमण्डले·········द्वे पार्श्वे चन्द्रावली राधिका च,·········यस्या अंशे लक्ष्मीदुर्गादिका शक्तिः।'

कई उपनिषदों में राधा के नाम और प्रसंग हैं। भगवान् शंकराचार्य—जिनको सम्प्रदाय-मत से ईसापूर्व चौथी शताब्दी में अवतरित मानते हैं, अपने यमुनाष्टक में कहते हैं—

'विधेहि तस्य राधिकाधवाङ्घ्रिपङ्कजे रतिम्।'

'हे यमुने! राधिकावल्लभ के चरणकमल में रति प्रदान कीजिये।'

श्रीमद्भागवत में और विष्णुपुराण में भी प्रच्छन्नरूप से राधा का उल्लेख है। इसके सिवा पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, भविष्यपुराण, श्रीमद्देवीभागवत, मत्स्यपुराण, आदिपुराण, वायुपुराण, वराहपुराण, नारदीयपुराण, गर्गसंहिता, सनत्कुमारसंहिता, नारदपाञ्चरात्र, राधातन्त्र आदि अनेक ग्रन्थों में 'राधा-महिमा' का स्पष्ट उल्लेख है।

---

† यह ग्रन्थ खेमराज श्रीकृष्णदास के वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित है।

मैं शुद्ध श्रद्धा से जो कुछ समझ पाया हूँ और भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराधा और श्रीगोपाङ्गनाओं ने अनन्त कृपापूर्वक मुझ नगण्य को अपना जैसा जो कुछ परिचय प्रदान किया है, उसके अनुसार और विशेषकर श्रीराधामाधव की अहैतुकी कृपा से मेरी दृष्टि में—

१. श्रीकृष्ण परात्पर ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम साक्षात् भगवान् हैं।

२. श्रीराधा उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण की स्वरूपभूता उनसे नित्य अभिन्न नित्य शक्ति हैं।

३. श्रीगोपाङ्गनाएँ श्रीराधा का ही अनुसरण करनेवाली उन्हींकी कायव्यूहरूपा भगवान् की ही शक्तियां हैं।

४. श्रीकृष्ण का, श्रीराधा का इस पुण्यभूमि पर आविर्भाव हुआ करता है। इस विगत द्वापर के अन्त में भी अवश्य हुआ था, अतएव वे सर्वथा ऐतिहासिकस्वरूप भी हैं।

५. श्रीकृष्ण, श्रीराधा तथा श्रीगोपाङ्गनाओं में प्रेम सर्वथा कामगन्धलेशशून्य, परम पवित्र है।

६. श्रीराधा तथा श्रीगोपाङ्गनाओं में स्व-सुख-कामना-लेश की गन्ध भी नहीं है। वे परमप्रेष्ठ श्रीकृष्ण के सुख-साधन के रूप में ही जीवन धारण करती हैं। उनका सर्वस्व श्रीकृष्णसुख के लिए ही सहज समर्पित है।

७. श्रीकृष्ण, श्रीराधा और श्रीगोपाङ्गनाओं की लीला लौकिक दीखने पर भी सर्वथा अलौकिक है और दिव्य है तथा बिना उसका तत्त्व समझे सर्वांश में अनुकरणीय नहीं है।

मुझे अपनी दृष्टि से इस तत्त्व-सिद्धान्त में तनिक भी सन्देह नहीं है।

श्रीराधारानी के श्रीचरणों में कोटि-कोटि नमस्कार।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीमद्भागवत में श्रीराधा

श्रीमद्भागवत में श्रीराधा का नाम नहीं आया। भगवान् श्रीकृष्ण की व्रज-लीला में जिनका बराबर साथ रहना बतलाया जाता है, जिनके हृदय में भगवान् निरन्तर वास करते रहे, उन श्रीराधा का नाम श्रीकृष्ण-चरित्र में न हो, यह बड़ी विचित्र बात है। पर भक्तों को यह जानकर सन्तोष होगा कि श्रीराधा का नाम भागवत में कहीं नहीं हो, ऐसी बात नहीं है। उनका नाम आया है, ध्यानपूर्वक देखने से मालूम हो जायेगा। देखिये, श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय का १४ वाँ श्लोक :

नमो नमस्तेऽस्त्वृषभाय सात्त्वतां
विदूरकाष्ठाय मुहुः कुयोगिनाम्।
निरस्तसाम्यातिशयेन राधसा
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः॥

'सात्त्वत-भक्तों के पालक, कुयोगियों के लिए दुर्ज्ञेय प्रभु को हम नमस्कार करते हैं। अहा! वे भगवान् कैसे हैं? स्वधामनि—वृन्दावन में, राधसा—श्रीराधा के साथ, रंस्यते—क्रीड़ा करनेवाले हैं। और राधा कैसी हैं?—जिन्होंने समानता और आधिक्य को निरस्त कर दिया है यानी जिनसे बढ़कर तो क्या, जिनकी बराबरी करनेवाला भी कोई नहीं है—

'राध्' धातु से राधा शब्द बनता है और इसी प्रकार सान्त 'राधस्' शब्द भी राध् धातु से ही बनता है। पुराण का यह वाक्य प्रसिद्ध ही है:

काचिद्देवताभ्यधिका कुतः अनेक कोटिब्रह्माण्डपतिर्यस्या वशो हरिः।

अनेक करोड़ ब्रह्माण्डों के पति श्रीकृष्ण तक जिनके वश में है, उन राधा से बढ़कर या उनके समान कौन सा देवता है?

—पं० बालचन्द शास्त्री

●

श्रीकृष्ण-चरित्र की समीक्षा

महान् पुरुष अपने युग के आदर्श होते हैं। उनके अन्दर या तो उस सारे युग के मुख्य-प्रमुख्य गुणों का समन्वय होता है अथवा वे युगसन्धि में उत्पन्न होकर आनेवाले युग का आदर्श दिखा जाते हैं। वे स्थूल-बुद्धि एवं देर से फल देनेवाले युक्ति के मार्ग का अनुसरण न कर ईश्वर-प्रेरित अन्तर्ज्ञान (Intuition) से काम लेते हैं, जिसके प्रभाव से वे अपने से न्यून बुद्धिवाले सम-सामयिक पुरुषों से शीघ्र ही बहुत आगे बढ़ जाते हैं। महान् पुरुष सभी बातों में महान् कहे जाते हैं। किन्तु इस नियम में (यदि इसे नियम माना जाय) बहुत-से अपवाद भी हो सकते हैं; क्योंकि बहुधा यह भी देखने में आता है कि जो लोग बुद्धि में औरों की अपेक्षा बहुत आगे बढ़े हुए होते हैं, वे चरित्र-भ्रष्ट होते हैं। उन्हें यदि समाज-सुधार, युद्ध अथवा शासन-सम्बन्धी काम करना पड़ता है तो वे उसमें कृतकार्य नहीं होते। महात्मा ईसा इतिहास के उन बहुमूल्य रत्नों में से हैं, जिनके लिये हम लोगों को सदा आदरसूचक विशेषणों के प्रयोग करने की इच्छा होती है, परन्तु क्या वे रणभूमि में जाकर युद्ध कर सकते थे अथवा किसी राज्य के शासन की बागडोर हाथ में ले सकते थे या राजदूत का कार्य कर सकते थे? हमारी यह धारणा है कि समस्त संसार के इतिहास में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ है, जिसका कार्यक्षेत्र इतना अधिक व्यापक रहा हो, जितना श्रीकृष्ण का था। उन्होंने अपने कीर्तिमय जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जो-जो लोकोत्तर कार्य किये, वे गत पाँच सहस्र वर्षों से अटक से लेकर कटक तक और काश्मीर से कन्याकुमारी तक ही नहीं, प्रत्युत सारे जगत् के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में गाये जाते हैं।

बालक, विद्यार्थी, मित्र, प्रेमी, योद्धा, शासक, राजदूत, तत्त्वदर्शी, योगेश्वर, सिद्ध पुरुष तथा ईश्वर के पूर्णावतार आदि सारे ही रूपों में उनके जीवन की अद्वितीय महानता दृष्टिगोचर होती है। किसी कवि का कथन है कि 'कीर्तिमय जीवन की एक कार्य-संकुल घड़ी भी कीर्तिरहित जीवन के एक युग के तुल्य है।' फिर श्रीकृष्ण ने तो एक सौ पचीस वर्ष की लम्बी एवं पूर्ण आयु प्राप्त की और उसके प्रत्येक घण्टे में उन्होंने ऐसे-ऐसे काम किये, जिनसे उनका नाम तथा यश सदा के लिये अमर हो गया!'

पर अन्य समस्त महापुरुषों की भाँति श्रीकृष्ण को भी अपनी महानता का दण्ड भोगना पड़ा। आज उनके सम्बन्ध में इतनी अत्युक्तिपूर्ण आख्यायिकाएँ तथा दन्तकथाएँ ग्रंथित हो गयी हैं, जिनके जाल में से ऐतिहासिक तथ्य को ढूँढ़ निकालना कठिन हो गया है। यही नहीं, उनकी रचना ऐसे अनोखे एवं चित्ताकर्षक रूपक के ढंग पर हुई है, जैसा रूपक संसार के किसी साहित्य में देखने को नहीं मिलता। यद्यपि इन बाद में जोड़ी हुई कथाओं से पाठकों की रुचि तो खूब बढ़ती है, किन्तु इससे बेचारे समालोचकों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। अस्तु,

इस समय इन सब बातों को छोड़कर हम ऐतिहासिक पुरुष द्वारकावासी भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में विचार करते हैं। श्रीकृष्ण-चरित्र के विषय में दो प्रकार की—एक-दूसरे से अत्यन्त विरोधिनी समालोचनाएँ मिलती हैं। एक ओर तो 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' कहकर उनकी स्तुति की गयी है और उन्हें मन, वाणी से अगोचर परम पुरुष माना गया है एवं दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वान् उनको कूटनीति (Machiavellian Policy) के आश्रित तथा शत्रुओं के प्रति कपटतापूर्ण व्यवहार करनेवाला बताकर उनकी निन्दा करते हैं। प्रोफेसर ई० डब्ल्यू हॉपकिन्स (Prof. E. W. Hopkins) नामक एक पाश्चात्य लेखक का कहना है कि 'जब महाभारत के चरित्रनायक ही इस प्रकार के निन्दित काम करते हुए पाये जाते हैं, तो ऐसे ग्रन्थ को हम शिक्षाप्रद कैसे कह सकते हैं? यही समालोचक अपने 'Great Epic of India' नामक ग्रन्थ में लिखता है कि 'श्रीकृष्ण ने जैसे को तैसा' (Tit for Tat) वाली नीति

का अवलम्बन करके खुल्लमखुल्ला धर्म की मर्यादा का उल्लङ्घन किया है। अपने 'भारतीय धर्म' (Religions of India) नामक ग्रन्थ में इस लेखक ने श्रीकृष्ण-चरित्र की और भी कटु समालोचना की है। वह कहता है कि 'महाभारत का कृष्ण एक धूर्त, सिद्धान्तहीन मनुष्य था, जिसने बराबर स्वयं ऐसे कार्य किये तथा दूसरों से करवाये जो क्षत्रियोचित मान-मर्यादा के सर्वथा विरुद्ध थे।'

एक ही पुरुष की एक ओर तो इस प्रकार असीम स्तुति की जाय और दूसरी ओर ऐसी घोर निन्दा हो, यह भी श्रीकृष्ण के चरित्र की अलौकिकता ही है। इसलिए निस्सन्देह इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि श्रीकृष्ण के चरित्र की परीक्षा के लिए कोई कसौटी निश्चित की जाय। इस कृष्ण-चरित्ररूपी अजीब पहेली को सुलझाने के लिए विभिन्न समालोचकों ने विभिन्न रीतियाँ बतायी हैं। अत्यन्त विनयपूर्वक मैं भी इस विषय पर अपने विचार उपस्थित करने का साहस करता हूँ। मैंने जो विनय की बात कही है, वह कोरे शिष्टाचार की रक्षा के लिए नहीं, अपितु इसलिए कही है कि वास्तव में मेरा इस विषय का ज्ञान बहुत ही परिमित है। मैं इस बात को जानता और मानता हूँ कि श्रीकृष्ण योगेश्वर थे, पूर्ण मुक्तपुरुष थे, वे संसारी कामनाओं से लिपायमान नहीं थे और उन्होंने मुक्ति-लाभ करने के बाद भी अपनी शेष आयु अपने निजी स्वार्थ के साधनों में नहीं, अपितु मानव-जाति के परम कल्याण-साधन में ही व्यतीत की। उनके लिए कोई ऐसी प्राप्तव्य वस्तु थी ही नहीं, जिसके पाने की वे इच्छा करते; उनका कोई निजी स्वार्थ नहीं था, जिसे सिद्ध करने की वे चेष्टा करते; क्योंकि उन्होंने वह वस्तु प्राप्त कर ली थी, जिसमें सारे स्वार्थों और कामनाओं का पर्यवसान हो जाता है, जिसके पा लेने पर फिर कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जाता।

'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।' (गीता ६।२२)

श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ४।१४ में उन्होंने स्वयं अपने श्रीमुख से अपनी आत्यन्तिक अनासक्ति की इस प्रकार व्याख्या की है—

'न तो मुझे कर्म बाँधते हैं और न उनके फल की ही मुझे इच्छा है।' इसी अध्याय के २२वें और ४१वें श्लोक से भी उक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है। श्रीकृष्ण ईश्वरेच्छा की पूर्ति के लिए उनके हाथ के एक यन्त्र बन गये थे, उनकी सारी इच्छा ईश्वर की इच्छा में मिल गयी थी। श्री आर० ए० रोजर्स (R. A. Rogers) नामक एक अंग्रेज विद्वान् ने लिखा है कि सदाचार (Morality) उन नियमों के समुदाय का नाम है, जिनके आधार पर किसी युगविशेष में किसी जातिविशेष के लोग अपने कर्मों के औचित्य या अनौचित्य का निर्णय करते हैं और जो विधि-निषेधात्मक वाक्यों के रूप में व्यक्त किये जाते हैं। परन्तु जो पुरुष मुक्त होकर ईश्वररूप बन जाते हैं, वे काल, जाति, समाज, नियम, व्यवस्था, विधि-निषेध, इन सबसे परे होते हैं। वे नियमों और कानूनों के बन्धन में नहीं रहते, वे तो अपनी ही प्रबुद्ध आत्मा के द्वारा निश्चित किये हुए नियमों का अनुसरण करते हैं। सदाचार के शास्त्र को ही धर्मशास्त्र अथवा नीति (Ethics) कहा जाता है। परन्तु जो मनुष्य अहंकार और स्वार्थ से सर्वथा शून्य हो, उससे हम यह आशा नहीं कर सकते कि जो कार्य हमारी दृष्टि में उचित अथवा अनुचित है, वह भी उसे ठीक उसी रूप में देखे। वह तो अपनी ही अत्यन्त परिष्कृत बुद्धि के द्वारा इस बात का निर्णय करता है। हम अपनी बुद्धि अथवा विचार के अनुसार उसके कार्यों को भला-बुरा भले ही कहें, किन्तु फिर भी वह समझते हैं कि यह हमलोगों से तथा हमारे विचारों से उतना ही दूर है, जितना कि कमल पंक से है।

श्रीकृष्ण योगेश्वर तथा पूर्ण मुक्त पुरुष थे, यह सिद्ध करना कठिन नहीं होगा। राजसूय-यज्ञ में भीष्म-जैसे महान् पुरुष ने सर्वप्रथम उनकी ईश्वरवत् पूजा की और अकेले चेदिराज शिशुपाल को छोड़कर सारी सभा ने उनके प्रस्ताव का एक स्वर से अनुमोदन किया। श्रीकृष्ण ने सान्दीपनी ऋषि के यहाँ रहकर चौदह विद्याओं तथा चौंसठ

कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया था। यही नहीं, पाण्डवों के वनवास समय में उन्होंने बारह वर्ष तक घोर अंगिरा नामक ऋषि से योग की क्रियाएं सीखी थीं और योगाभ्यास तथा आध्यात्मिक चिन्तन में समय बिताया था। इस प्रकार वे पूर्ण योगेश्वर बन गये थे। उन्होंने गीता में स्वयं अपने को ईश्वर बतलाया है। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं है, क्योंकि ईश्वर-भाव को प्राप्त हुआ प्रत्येक पुरुष अपने को ईश्वर कह सकता है। महात्मा ईसा ने भी कहा है 'मैं और मेरा पिता (ईश्वर) एक ही हैं।' फारस-देश के मन्सूर हल्लाज सूफी ने भी 'अनलहक' (अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ) यह कहा था। गीता के ग्यारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने विश्वरूप का दर्शन कराया है। महाभारत के उद्योगपर्व में कथा आती है कि जब वे दूत बनकर कौरवों की सभा में गये थे, तब उन्होंने जन्मान्ध राजा धृतराष्ट्र को भी अपना विश्वरूप दिखलाया था। अश्वत्थामा के द्वारा छोड़े हुए ब्रह्मास्त्र की ज्वाला से, जब उत्तरा का गर्भ जलने लगा, उस समय श्रीकृष्ण ने यह कहा था·—

'यदि मैंने कभी झूठ न बोला हो, यदि मैंने किसीके प्रति भी द्वेष न रखा हो, यदि मेरा धर्म एवं ब्राह्मणों में सर्वदा प्रेम रहा हो··········तो पाण्डवों का एकमात्र आधार यह बालक जी उठे।' श्रीकृष्ण की इस प्रार्थना को स्वीकार कर परमात्मा ने यह दिखला दिया कि 'मेरा भक्त (श्रीकृष्ण) सत्य और प्रेम का अवतार है।' यहाँ श्रीकृष्ण के गम्भीर ज्ञान, दूरदर्शिता, प्रेम, निःस्वार्थता तथा अन्य गुणों के विषय में लिखना अनावश्यक है; जिनसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि वे मनुष्यों में एक पूर्ण आदर्श पुरुष थे। जो लोग पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर सदा आत्मा के अन्दर ही निवास करते हैं, वे लोगों को अपने-अपने विभिन्न दृष्टिबिन्दुओं से अच्छे-बुरे कर्म करते हुए केवल प्रतीत होते हैं। वास्तव में वे कर्मों से परे होते हैं। गीता के १८वें अध्याय के १७वें श्लोक में कहा है—

जिसके अन्दर अहंकार नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक कार्यों में लिप्त नहीं होती, वह लोकों का संहार करता हुआ भी वास्तव में न तो हिंसा करता है और न वह उस कर्म से बँधता ही है।[१] यद्यपि श्रीकृष्ण के कुछ बालचरित्रों के विषय में बहुत लोगों ने आक्षेप किये हैं, परन्तु आक्षेप करनेवाले इस बात को भूल गये हैं कि जिस समय श्रीकृष्ण ने गोपिकाओं के साथ रास-लीला की थी, उस समय वे निरे बालक थे। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि पीछे से इस प्रसंग पर इतनी अत्युक्तिपूर्ण काल्पनिक कथाएँ बन गयीं, जिन्होंने इस निर्दोष बाल-केलि को काम-केलिका रूप दे दिया।

श्रीकृष्ण की उन लीलाओं में भी जो हमें शंकास्पद-सी प्रतीत होती हैं, विशेष ध्यान देने योग्य बात जो हमारे लक्ष्य में आती है, यह है कि, उन्होंने सदा साधुओं का साथ दिया और दुष्टों का संहार किया। शेक्सपियर के नाटकों के नैतिक उद्देश्य के सम्बन्ध में बहुधा यह आक्षेप किया गया है कि उनके साधु पात्रों को सदा कष्ट ही भोगना पड़ा। उनके साधु पात्रों की जो कुछ भी दशा हुई हो, परन्तु अंग्रेजी के इस सर्वोत्कृष्ट कवि की समस्त कृतियों में ऐसा एक भी दुष्ट पात्र नहीं बताया जा सकता, जिसे परिणाम में अपयश अथवा उचित दण्ड नहीं प्राप्त हुआ हो। श्रीकृष्ण-चरित्र को अपने माप से तौलकर हम यह कह सकते हैं कि श्रीकृष्ण ने साम, दाम, दण्ड और भेद इन चारों उपायों का अवलम्बन अवश्य किया था, किन्तु गीता के चतुर्थ अध्याय के ८वें श्लोक के अनुसार उन्होंने वह प्रयोग किया था, साधुओं की रक्षा तथा दुर्जनों के विनाश के लिये ही![२]

---

[१] यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

[२] परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

उन राक्षसों का तो कहना ही क्या है, जिनका श्रीकृष्ण ने वध किया था। कंस, जरासन्ध तथा दुर्योधन-जैसे दुष्टों के साथ भी उन्होंने जिस हेतु से कठोर व्यवहार किया, वह भी इससे स्पष्ट हो जाता है। श्रीकृष्ण के लिये कई ऐसे अप्रिय अवसर भी उपस्थित हुए थे, जब उन्हें कतिपय धर्मात्मा एवं सम्मान्य व्यक्तियों का भी वध करना पड़ा। इसका एकमात्र कारण यह था कि वे लोग जान-बूझकर अन्यायियों के—कौरवों के पक्ष में लड़ रहे थे। यही नहीं, इनमें से कुछ तो हृदय से पाण्डवों की विजय मनाते थे। श्रद्धेय भीष्मपितामह, पूज्य आचार्य द्रोण तथा दानवीर कर्ण का वध श्रीकृष्ण ने इसीलिये करवाया, क्योंकि उनकी मृत्यु के बिना पाण्डवों की विजय असम्भव थी। अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक डब्ल्यू० आर्चर ने 'Play Making' नामक पुस्तक में कई ऐसे प्रसंगों पर विचार किया है, जिनका नाम उन्होंने 'Blind-alley themes' (अर्थात् जिनमें से बाहर निकलना असम्भव हो जाता है) रखा है। ये ऐसी समस्याएँ हैं, जिन्हें हम किसी प्रकार से भी सन्तोषपूर्वक हल नहीं कर सकते। उनको हल करने का प्रत्येक उपाय ऐसा होता है, जो न तो हमारी उच्च प्रकृति को भाता है और न हमारी निकृष्ट वृत्ति को ही रुचता है। ऐसे प्रसंगों में हमारे लिये सर्वदा इधर कुआँ और उधर खाईंवाली गति (Hobson's choice) उपस्थित हो जाती है और उस समय हमें उन दो बुराइयों में से उस एक को स्वीकार करना ही पड़ता है, जो दूसरी की अपेक्षा हलकी होती है। उदाहरणार्थ कवि मेटरलिङ्क (Maeterlinck) द्वारा रचित 'Mona Vanna' नामक काव्य में एक जगह एक विजयी सेनानायक काव्य की नायिका से कहता है कि 'यदि तुम अपने नगर को ध्वंस से बचाना चाहती हो, तो रात्रि के समय हमसे मिलो।' सन् १०४० ई० में इंग्लैण्ड में एक ऐसी ऐतिहासिक घटना घटित हुई थी, (जिसे कवि टेनीसन Tennyson ने अपने 'Lady Godiva' नामक काव्य में स्थान दिया है)। घटना इस प्रकार है, अर्ल लिओफ्रिक (Earl Leofric) नामक एक नृशंस एवं क्रूर पति ने अपनी प्रतिष्ठित एवं दयामयी साध्वी पत्नी से कहा कि, मैंने अपनी प्रजा के ऊपर जो भारी जुर्माना किया है, यदि तुम उसे माफ कराना चाहती हो तो तुम्हें नंगी होकर नगर में घूमना पड़ेगा। इस प्रकार के प्रसंग 'Blind-alley themes' कहलाते हैं, यहाँ उक्त नायिका दोनों विकल्पों में से किसी भी एक को स्वीकार करती, पर समीक्षक लोग तो उसकी निन्दा ही करते। क्योंकि वे लोग कल्पना से भी अपने को उस परिस्थिति में रखने का कष्ट नहीं उठाते। भीष्म, द्रोण तथा कर्ण का वध भी स्पष्टतया एक ऐसी ही समस्या थी। श्रीकृष्ण ने इसका जो निर्णय किया, वह हमारी (स्थूल) दृष्टि में बहुत ही असन्तोषजनक है। हमें वह तभी उचित जँचता है, जब हम यह सोचते हैं कि इस समस्या का निर्णेता एक ऐसा पूर्णावस्था को पहुँचा हुआ पुरुष था, जिसका सांसारिक पदार्थों में कोई स्वार्थ नहीं था और जिसकी स्थिति हम लोगों की अपेक्षा बहुत ही ऊँची थी। परमेश्वर जब किसी परिश्रमी नवयुवक को, जो अपने कुटुम्ब का एकमात्र आधार होता है, उठा लेता है और उसके अन्धे, वृद्ध एवं पक्षाघात से पीड़ित पिता को आजन्म रोने-कलपने के लिये संसार में छोड़ देता है, उस समय उसके न्याय को देखकर हमें अवश्य ही बहुत आश्चर्य होता है। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् बेकन (Bacon) ने एक जगह कहा है कि 'कुत्ते के लिए मनुष्य ही ईश्वर है और इसमें सन्देह नहीं कि जिस समय हम मनुष्य-जाति के हित के लिए कुत्तों तथा मेंढकों का शरीर चीरते हैं, उस समय वे हमें अन्यायी तथा नृशंस कहते होंगे।' परमात्मा के तथा केवल परमात्मा की इच्छा की पूर्ति के ही साधनरूप पूर्ण मुक्तपुरुष के कार्यों के अनौचित्य के विषय में साधारण लोगों को शिकायत का उतना ही अधिकार है, जितना मेंढक को डॉक्टर की क्रूरता पर आक्षेप करने का!

पूर्ण पुरुष जो कुछ भी करता है, सोच-समझकर करता है, किन्तु वह अपने से निम्नावस्थावाले पुरुषों को अथवा उनको, जिनका वह वध करता है, सर्वदा अपना प्रयोजन नहीं बतला सकता। (बतला भी दे, तो कोई उसका तत्त्व समझ नहीं सकता, इसीसे) उसकी यह बातें हमें क्रूरतापूर्ण अवश्य ही प्रतीत होती हैं किन्तु (जैसा श्रीकृष्ण ने गीता के द्वितीय अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में कहा है—) इन बातों को लेकर वे 'ज्ञानी लोग जीवित अथवा मृतक पुरुषों के विषय में कभी शोक नहीं करते।'

श्रीमती एनी बीसेण्ट ने अपनी 'धर्म का आधार' (Basis of Morality) नामक पुस्तक में इस प्रश्न की समीक्षा पाँच दृष्टियों से की है। वे धर्म का पञ्चविध आधार मानती हैं—श्रुति (Revelation), अन्तःकरण (Conscience). उपयोगिता (Utility), विकास (Evolution) तथा योग (Mysticism)। इनमें से प्रथम चार आधारों पर जिस धर्म की स्थिति होती है, वह हमें इस सम्बन्ध में ठीक नहीं जँचता, अतः उसे हम इस समय अलग छोड़ देते हैं। धर्म का सबसे ऊँचा तथा सर्वोत्तम आधार योग है, जो सर्वसाधारण के लिए नहीं, किन्तु विशिष्ट व्यक्तियों के लिए ही उपयुक्त है। परमात्मा के साक्षात्कार का तथा अपने व्यष्टि-चेतन को समष्टि-चेतन के साथ मिला देने का नाम ही योग है। योगी सांसारिक नियम बनानेवालों के ठोस एवं स्थिर नियमों का अनुसरण नहीं करता, वह अपने ही विचित्र अनुभवों और निर्णयों का ही अनुसरण करता है, वह शास्त्रों की भी परवाह नहीं करता। बस, यहीं हमें योगेश्वर श्रीकृष्ण के चरित्र की एक कुञ्जी मिल जाती है। उन्होंने अपने अन्तरात्मा में परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया था और अपने शरीर के यन्त्र एवं क्रियाओं को इतना नीरव बना दिया था कि उन्हें आत्मा की आवाज़ (Voice of the Spirit) के अतिरिक्त और कुछ सुनायी ही नहीं पड़ता था। वे हित-अहित, सिद्धि-असिद्धि, शान्ति और युद्ध,--इन सबके सर्वथा परे थे।

वे अपने प्रभु की आज्ञा के अनुसार ही संसार का कार्य करते थे। जनता के साधुवाद अथवा अपवाद की परवाह नहीं करते थे। बाह्य नियमों के बन्धन में नहीं थे, वे चाहे जब उन्हें तोड़ सकते थे अथवा यों कहिये कि जब कभी उनके प्रभु की इच्छा होती थी, वे उन्हें तोड़ सकते थे और जैसा कि अंग्रेजी के प्रमुख कवि मिल्टन (Milton) ने अपने 'Tetrachordon' नामक काव्य में लिखा है, सबसे प्रसिद्ध गुणोंवाले पुरुषों ने कभी-कभी नियमों को तोड़कर ही उनका यथार्थ रूप से पालन किया है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'एक पुरुष के लिए एक प्रकार के नियम और दूसरे के लिए दूसरे प्रकार के नियम होना क्या नीतिविरुद्ध नहीं है ?' नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि सब लोगों की शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक स्थिति कदापि एक-सी नहीं होती। बालक को उसके माता-पिता आज्ञा देते हैं कि 'तू सूर्य छिपने के बाद तुरन्त ही खेल बन्द करके घर चला आया कर' पर ऐसा उपदेश देनेवाला पिता स्वयं रात को साढ़े आठ बजे घर लौटता है। युवक का किसी स्त्री के साथ और युवती का पुरुष के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक मिलना अनुचित है, किन्तु उसी युवक का वृद्ध पितामह बिना किसी रोक-टोक युवतियों के साथ मिल सकता है। उसके लिए यह किसी प्रकार के दोष अथवा निन्दा की बात नहीं समझी जाती। समाज के प्रत्येक व्यक्ति का एक-एक कर्तव्य होता है और वह कर्तव्य परस्पर बिल्कुल उलटा हो सकता है। जो राजा अपने शत्रुओं से लोहा लेने के लिए समर्थ होने पर भी त्यागवृत्ति से उत्पन्न होनेवाले वैराग्य के कारण बिना ही युद्ध किये चुपचाप अपना राज्य उन्हें सौंप देता है, उसके विषय में हमारी क्या धारणा होगी ? क्या कभी किसी सेनानायक के विषय में यह सुना गया है कि युद्ध में उसके दाहिने गाल के कट जाने पर उसने अपने बायें गाल को भी तलवार के सामने कर दिया ? जो बात व्यक्तियों के लिए ठीक है, वही समुदायों के लिये भी लागू होती है। निट्से (Nietzsche) नामक विद्वान् ने स्वामी और सेवक के लिए तथा शासक और शासित के लिये भिन्न-भिन्न धर्म बतलाये हैं। स्वामी तथा शासक के धर्म में शक्ति, नीति और निष्ठुरता आदि गुणों का समावेश होता है, जिनसे उसकी सत्ता कायम रह सके। इसके विपरीत शासित के धर्म में आज्ञानुवर्तिता, राजभक्ति अथवा विश्वासघात आदि गुण शामिल रहते हैं, जिनसे वह सत्ता सन्तुष्ट रहे अथवा उसमें बाधा पड़े। केवल समुदायों के ही नहीं, अपितु युगों के धर्म और नीति का भी समय-समय पर विकास एवं परिवर्तन होता रहता है, मनुस्मृति (अ० १।८५) में कहा है—

'कृतयुग में मनुष्यों के धर्म एक प्रकार के होते हैं, त्रेता और द्वापर में दूसरे प्रकार के और कलियुग में तीसरे ही प्रकार के होते हैं। जब भिन्न-भिन्न युगों के अधिकारों और कर्तव्यों में इतना अन्तर होता है, तब श्रीकृष्ण जैसा पूर्ण पुरुष एवं दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न योगी का कोई ऐसा कार्य, जो उसकी उत्कृष्टतम बुद्धि के अनुसार उचित हो, परन्तु जिसमें मनुष्यों द्वारा एवं मनुष्यों के ही लिये (उन लोगों के लिए नहीं, जो मनुष्य-कोटि से ऊपर हैं) बनाये हुए धर्म-शास्त्र के नियमों का कहीं-कहीं उल्लङ्घन होता हो, क्या कभी अनुचित होगा ?'

पूर्ण निर्दोषता तो ईश्वर में ही है। ईश्वर से भिन्न किसी पुरुष को (चाहे वह कितना ही पहुँचा हुआ क्यों न हो) सर्वथा (सर्वथा निर्भ्रान्ति बताना मुझे भी अभीष्ट नहीं है। मैं श्रीकृष्ण के लिए भी इस विशेषण का प्रयोग नहीं करूँगा। मेरा मुख्य कथन तो यह है कि वह मुक्तपुरुष हम-जैसे साधारण मनुष्यों से इतने ऊँचे थे कि सामान्य बुद्धिवाले मनुष्यों के माप से उनके कार्यों को तौलना हम लोगों के लिए बड़ी धृष्टता का काम है। कुछ अन्धे मिलकर यदि किसी नेत्रवाले पुरुष के लिए कोई कानून बनायें और उसके द्वारा उस कानून के भंग होने पर वे उसकी निन्दा करें तो यह कैसी दिल्लगी की बात होगी। यद्यपि इस जनसत्ता के युग में लोगों के मुंह में निर्भ्रान्तता (Infallibility) शब्द फबता नहीं, फिर भी कई संस्थाओं, पुस्तकों और व्यक्तियों के लिए इस जमाने में भी इस शब्द का अस्पष्ट रूप से व्यवहार किया ही जाता है। राजनीति-शास्त्र के ग्रन्थों में इस 'राजसत्ता के द्वारा अन्याय नहीं हो सकता' अथवा 'राजा अन्याय कर ही नहीं सकता' इत्यादि उक्तियाँ कहाँ तक ठीक हैं इस बात पर विचार किया गया है। इसी विषय को लेकर अंग्रेज कवि पोप (Pope) ने अपने 'Dunciad' नामक काव्य में यह प्रसिद्ध व्यंग्योक्ति की है—'राजाओं को अन्याय के दमन करने का ईश्वरदत्त अधिकार है' (The right divine of kings to govern wrong) मकियावेली (Machiavelli) नामक इटली के विद्वान् का तो यह मत है—'साधारण मनुष्यों के लिये सदाचार के जो नियम हैं, वे राजाओं के लिए लागू नहीं होते।' कानूनी मामलों में प्रीवी कौन्सिल (Privy council) का निर्णय अन्तिम माना जाता है और उसके निर्णय सर्वथा निर्भ्रान्त ही हों सो बात भी नहीं है। तथापि इतनी बात निर्विवाद है कि अंग्रेजी साम्राज्य (British Empire) में अपील की इससे ऊँची अदालत कोई नहीं है। अभी कुछ ही वर्ष पूर्व सन् १८७० ई० में वैटिकन की एक्यूमेनिकल कौन्सिल (Ecumenical Council[1] at the Vatican) की ओर से यह आदेश हुआ था कि सम्प्रदाय के सबसे बड़े पादरी की हैसियत से ईसाई-मत के किसी सिद्धान्त का तत्त्व समझाने में अथवा सम्प्रदाय के द्वारा पालनीय किसी सदाचार के नियम की व्याख्या करने में पोप से कोई भूल नहीं हो सकती। मुसलमानों का यह विश्वास है कि कुरान खुदा की वाणी है और इसलिए उसमें कोई भूल नहीं हो सकती। इसी प्रकार हिन्दू वेदों का इतना आदर करते हैं कि ब्रह्मसमाजियों के इसके विरुद्ध लाख प्रयत्न करने पर भी निर्भ्रान्त एवं प्रामाणिक वचन के अर्थ में 'वेदवाक्य' शब्द का ही प्रयोग होता है। जब इस वैज्ञानिक युग में भी कुछ वर्ग के लोग कतिपय संस्थाओं, ग्रन्थों तथा व्यक्तियों को सब बातों में नहीं तो भी, कुछ बातों में तो अवश्य निर्भ्रान्त मानते हैं, तब हमारा यह मानना कि यदि पूर्णावस्था को प्राप्त योगेश्वर कभी-कभी नियमों को तोड़ सकता है, जब उसकी दिव्य दृष्टि में उन नियमों के तोड़ने से न्याय अथवा शान्ति की वृद्धि होती हो अथवा मानव-जाति का कल्याण होता हो, तो क्या अनुचित होगा ?

नीतिशास्त्र में इस विषय पर खूब विचार किया गया है कि किसी अच्छे उद्देश्य के लिये यदि बुरा काम भी

---

१. यह सारे ईसाई-मत अथवा उसके कैथोलिक (Catholic) सम्प्रदाय के अनुयायियों की एक प्रतिनिधि सभा है, जिसकी बैठक रोम के वैटिकन नामक स्थान में (जो उस सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य पोप Pope का निवास-स्थान है) होती है।

किया जाय तो वह बुरा नहीं है। (The end justfties the means) व्यवहार में यह उक्ति कदापि मान्य नहीं है। बाइबल में भी इस प्रकार का एक वाक्य आता है–'ऐसा पाप करो, जिसका फल अच्छा हो।' यद्यपि ये सिद्धान्त साधारण मनुष्यों के लिए नहीं हैं तो भी अपवादों के लिए तो गुंजाइश होनी ही चाहिए। जिस काम के किसी सिद्धान्त-हीन पुरुष के द्वारा किये जाने से बड़ी हानि हो सकती है, उसी काम के किसी ईश्वरीय शक्ति से सम्पन्न पुरुष के द्वारा अथवा किसी ऐसे पुरुष के द्वारा जो ज्ञान में औरों से बढ़ा हुआ हो, किये जाने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। वह डॉक्टर जो बीमार आदमी की इच्छा के विरुद्ध भी चीरा-फाड़ी करके उसकी जान बचा लेता है, क्या उस बीमार की कृतज्ञता का पात्र नहीं होता? यह निर्विवाद है कि जो पुरुष पूर्णावस्था को प्राप्त हो चुका है, वह कभी-कभी कानून की परवाह न करके ऐसा काम कर सकता है जो उस समय के विद्वानों द्वारा निर्धारित नियमों के विरुद्ध होता है, किन्तु जिसे वह अपनी दृष्टि से ठीक और हितकर समझता है।

प्रो० डायसन (Deussen) अपनी 'वेदान्त-दर्शन' (System of the Vedanta) नामक पुस्तक में लिखते हैं कि मुक्ति के बाद जीव के लिए कोई कर्तव्य अथवा कर्म नहीं रह जाता। उसके लिये कर्म करना और न करना बराबर है और यदि वह कर्म करता है तो वे कर्म न तो उसके कर्म होते हैं और न उसे बाँधते ही हैं। मुक्ति प्राप्त हो जाने के बाद उसके शरीर से पूर्वाभ्यासवश उसी भाँति क्रिया होती रहती है, जैसे कुम्हार का चक्का बरतन बन जाने के बाद भी चलता रहता है। परमात्मा के ऐसे यन्त्र को पाप और पुण्य लागू नहीं हो सकते। श्रीकृष्ण भी गीता (९।२८) में कहते हैं—इस प्रकार तू शुभ और अशुभ फल देनेवाले कर्मरूपी बन्धनों से छूट जायगा। (शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः)। इस सिद्धान्त के अनुसार श्रीकृष्ण-जैसे स्वार्थहीन पुरुष की नीयत को पापयुक्त अथवा दूषित बताना बिल्कुल मूर्खतापूर्ण होगा। गीता (४।२१[*]) में लिखा है—'जो पुरुष किसी बात की आशा नहीं करता, जिसने अपने मन और आत्मा को वश में कर लिया है और जिसने सब प्रकार का लालच छोड़ दिया है, वह केवल शरीर के द्वारा कर्म करता हुआ पाप का भागी नहीं होता।' लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीता-रहस्य' में लिखा है—'यह कहना कि मुक्त पुरुष भी पाप कर सकता है, उतना ही उपहासास्पद है, जितना यह कहना कि अमरता की मृत्यु होती है।' उसी विद्वान् ने लिखा है कि पूर्णावस्था को प्राप्त हुआ पुरुष समय-समय पर कानून को तोड़ भी सकता है, क्योंकि संसार की दूसरी आत्माएँ उसके समान मुक्त नहीं हैं। इन सारी बातों से भी यही सिद्ध होता है कि हमारे-जैसे संसारी एवं अपूर्ण जीवों की अपेक्षा श्रीकृष्ण की 'स्वतन्त्र नीति' (Absolute Ethics[†]) बहुत ही ऊँची थी।

इस्लाम के सूफ़ी भी यह मानते हैं कि अन्य साधारण मनुष्यों की अपेक्षा पहुँचे हुए पुरुषों के आचरण में अधिक स्वच्छन्दता होनी चाहिये। मौलाना जलालुद्दीन रूमी जो मुसलिम महात्माओं में सबसे श्रेष्ठ थे, अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'मसनवी' (भाग १ कथा १२) में लिखते हैं कि महात्माओं के लिये 'पाप-पुण्य की बही' नहीं देखी जाती—(क्योंकि वे पाप-पुण्य से ऊँचे उठ जाते हैं) (इसे 'कारनामों की किताब' कहते हैं और मुसलमानों का विश्वास है कि आक़बत के दिन यह वही जरूर देखी जाती है), मानो उनका कर्मों के आचरण और इसीलिये उनके शुभ और अशुभ फलों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। आर० ए० निकल्सन (R. A. Nicholson) नामक विद्वान् ने–जिनका इस्लाम के रहस्य-वाद के विषय का लेख सबसे प्रामाणिक माना जाता है–अपनी 'Mystics of Islam' नामक पुस्तक में महात्माओं की

---

[*] निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

[†] प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने इन शब्दों का प्रयोग किया है और लोकमान्य तिलक ने इसी सम्बन्ध में उन्हें उद्धृत किया है।

अनेक श्रेणियों के सम्बन्ध में बड़े रोचक ढंग से विचार किया है। उन्होंने इस प्रसंग में लिखा है कि साधक-अवस्था में वली (महात्मा) के लिये यह आवश्यक है कि वह नियमों का पालन करे, किन्तु आगे चलकर जब वह योगसिद्धि के मार्ग में बढ़ जाता है, तब वह उन नियमों की अवहेलना भी कर सकता है। 'दीवाने शम्से तब्रीज' नामक पुस्तक की भूमिका में वही लेखक लिखता है कि सूफ़ियों का अपने 'पीर' (गुरु) पर पूर्ण विश्वास होता है; क्योंकि वे उन्हें ईश्वर का स्वरूप मानते हैं। उनके कर्म उनके मत में ईश्वर के ही कर्म होते हैं, क्योंकि उसकी आत्मरूप से ईश्वर के साथ एकता होती है। निकल्सन साहब ने लिखा है कि सूफ़ी लोग इस तरह के पीरों के द्वारा की हुई ईश्वर-निन्दा, दुराचार तथा अपराधों तक को क्षमा ही नहीं करते, अपितु उनकी बड़ाई करते हैं, क्योंकि उनकी धारणा यह होती है कि सूर्य से कभी अन्धकार उत्पन्न नहीं हो सकता और ईश्वर से पाप नहीं हो सकता। मुसलमान योगियों के इस प्रकार के भावों से यह बात और भी अच्छी तरह से हमारी समझ में आ जाती है कि पूर्णावस्था को पहुँचे हुए तथा अधूरे पुरुषों के बीच में कितना महान् अन्तर है और ये लोग पहुँचे हुए पुरुषों को कितनी स्वच्छन्दता देते हैं।

कभी-कभी जब हम किसी पूर्ण पुरुष के आचरणों को अपने माप से तौलते हैं, तब वे हमें बिल्कुल असंगत ही नहीं, अपितु घृणित मालूम होते हैं और निम्नलिखित कथा से जो कुरान के १८वें अध्याय में (जो 'सुरातुल कहफ़' कहलाता है) दी हुई है, यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। वहाँ लिखा है कि एक बार हजरत मूसा एक पूर्ण पुरुष के पास पहुँचे, जिसे कुरान के टीकाकारों ने 'अलखिज्र' बतलाया है और उन्होंने उसके साथ रहने की इच्छा प्रकट की। उस पूर्ण पुरुष ने कहा—'तुम हमारे पास रह सकते हो, किन्तु शर्त यह है कि तुम हमारे कार्यों की समालोचना न कर सकोगे, यदि करोगे तो हम तुम्हें अपने पास नहीं रखेंगे।' हजरत ने यह शर्त स्वीकार कर ली। एक दिन दोनों चलते-चलते एक समुद्र के किनारे पहुँचे। अलखिज्र ने जाकर एक जहाज में छेद कर दिया। हजरत ने अपने वचन को भूलकर उनसे पूछा कि 'आपने इस जहाज में छेद करके नाविकों की जान को जोखिम में क्यों डाल दिया ?' अलखिज्र ने कहा कि 'यह मत पूछो।' आगे चलकर थोड़ी दूर पर उन्हें एक नवयुवक मिला, जिसने प्रत्यक्ष में कोई अपराध नहीं किया था, किन्तु उसे अलखिज्र ने मार डाला। हजरत ने एक बार फिर शङ्का की। किन्तु उन्हें यह उत्तर मिला कि 'यदि तुम अबकी बार शङ्का करोगे तो हम तुम्हें अलग कर देंगे।' इतने में वे एक दीवार के पास पहुँचे, जो गिरने ही को थी। किन्तु अलखिज्र ने उसको ठीक कर दिया। उनके इस व्यवहार को—जो हजरत की दृष्टि में सरासर मूर्खतापूर्ण था,—वे नहीं सह सके। उन्होंने उस पुरुष के संग से वञ्चित होना स्वीकार किया, किन्तु उनसे इस विचित्र व्यापार का हेतु पूछा। अलखिज्र बोले कि मैंने जहाज को जान-बूझकर निकम्मा कर दिया, क्योंकि मैं जानता था कि मल्लाह लोग उसे ऐसी जगह ले जानेवाले थे, जहाँ का राजा प्रत्येक सुदृढ़ जहाज को बलपूर्वक छीन रहा था। जिस नवयुवक को मैंने मारा था वह अधर्मी था, यद्यपि उसके माँ-बाप धर्मनिष्ठ हैं और मैंने उसको इसीलिये मारा कि परमात्मा उसके माँ-बाप को उसके बदले में एक धार्मिक और अधिक स्नेही पुत्र दें। जो दीवार गिर रही थी, वह दो अनाथ बालकों की थी और उसके नीचे कुछ गड़ी हुई सम्पत्ति है, जो उन्हीं बच्चों को मिलेगी। किन्तु परमात्मा की यह इच्छा है कि जब तक वे वयस्क न हो जायँ, तब तक उस सम्पत्ति का उपयोग न करें। इसीलिये मैंने वह दीवार फिर से खड़ी कर दी।' अन्त में कुरान में अलखिज्र के ये वचन मिलते हैं—'मेरा जो कुछ भी व्यवहार तुमने देखा, उसे मैंने अपनी इच्छा से नहीं, किन्तु परमात्मा की इच्छा से किया है।' उपर्युक्त कथा का भाव बिल्कुल स्पष्ट है और उससे हमें यह शिक्षा मिलती है कि हम लोग किसी भी मुक्त पुरुष के व्यवहारों की, जो हमें देखने में मूर्खतापूर्ण प्रतीत होते हैं, अविचार से निन्दा करके बड़ी भूल करते हैं।

योगेश्वर सर्वदा दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न एवं दूरदर्शी होता है। वह उस पुरुष के समान है जो एक ऊँचे बुर्ज पर खड़ा होकर नीचे खड़े हुए अपने साथियों को देखता है। वहाँ से जब वह किसी सुखद दृश्य को देखता है तो उसे हँसी

आती है और जब किसी विषादपूर्ण दृश्य को देखता है, तब वह रोने लगता है। किन्तु नीचे खड़े हुए लोग उसके हँसने अथवा रोने का कारण न समझकर उसे पागल समझ लेते हैं। गीता (२।६९) में विवेकी और अविवेकी पुरुषों के बीच जो अन्तर बतलाया है वह यही है। गीता कहती है† 'साधारण प्राणियों के लिये जो रात्रि है, संयमी पुरुष के लिये वह जागने का समय है और जब संसारी लोग जागते हैं, तब विवेकी मुनि की रात्रि होती है।' श्रीकृष्ण के भी कुछ कर्म पहले देखने में अविवेकतापूर्ण-से प्रतीत होते हैं परन्तु उनकी बुद्धिमत्ता तभी प्रकट होती है, जब उनका परिणाम वही होता है, जिसकी उन्होंने कल्पना की थी। महाभारत में एक जगह यह कथा आती है कि जब युद्ध में कर्ण के द्वारा भीम के पुत्र घटोत्कच का वध किया गया, तब पाण्डव उसके शोक से अत्यन्त ही व्याकुल हो गये, किन्तु श्रीकृष्ण उस समय भी रथ पर बैठे हुए हँसते और उछलते थे, श्रीकृष्ण की यह लीला देखकर पाण्डव और भी दुखी हुए। उनकी हँसी ने उस समय घाव पर नमक का काम किया। अर्जुन ने जब इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा—'कर्ण के पास एक अमोघ शक्ति थी, वह उसे जिस पर छोड़ता, उसीकी मृत्यु निश्चित थी, परन्तु वह उसका प्रयोग एक ही बार कर सकता था। उसने वह शक्ति तुम्हारे वध के लिये रख छोड़ी थी। पर रात को जब उसने देखा कि घटोत्कच के प्रहार मेरे लिये असह्य हो रहे हैं, तो उसे बाध्य होकर घटोत्कच के प्रति उस शक्ति का प्रयोग करना पड़ा। मैं इसी बात का आनन्द मना रहा हूँ कि घटोत्कच के प्राणों की बलि से तुम्हारे प्राणों की रक्षा हो गयी।' एक बार और भी श्रीकृष्ण ने ऐसा ही व्यवहार किया था, जो पहले लोगों की समझ में नहीं आया। युद्ध के अन्त में कौरवों का नाश हो जाने पर पुत्र-शोक एवं पाण्डवों के प्रति द्वेष से जलते हुए राजा धृतराष्ट्र ने भीम से गले लगकर मिलने की इच्छा प्रकट की, तब श्रीकृष्ण ने भीम को उनके पास न भेजकर, एक लोहे की भीममूर्ति बनवाकर उसीको उनके पास भिजवा दिया, जिसको उस जन्मान्ध वृद्ध राजा ने अपने बाहुओं में भरकर चूर-चूर कर दिया। श्रीकृष्ण की इस क्रिया से भीम के प्राणों की रक्षा हो गयी। एस० टी० कोलरेज (S. T. Coleridge) नामक अंग्रेज विद्वान् ने अपनी 'Biographia Literaria' नामक पुस्तक में लिखा है कि 'कभी-कभी मनुष्य से जो मूर्खता हो जाती है, उसमें परमात्मा की सत् प्रेरणा रहती है और मनुष्यों के कुकृत्यों के द्वारा भी भगवान् की दया का विकास होता है' हम उपर्युक्त वाक्य को उलटा करके यह कह सकते हैं कि परमात्मा और उनके शरणागत मुक्त पुरुषों के जो कार्य हमें शङ्कास्पद और मूर्खतापूर्ण प्रतीत होते हैं, उनके अन्दर वह उत्तम विवेक भरा रहता है, जिसे हम लोगों की पार्थिव बुद्धि कदापि समझ ही नहीं सकती।

परन्तु प्रश्न यह होता है कि श्रीकृष्ण हम लोगों की अपेक्षा इतने महान् थे तो क्या हम लोगों के लिए यह उचित नहीं है कि हम प्रत्येक बात में उनका अनुकरण करें? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ऐसा करना हम लोगों के लिए कदापि उचित नहीं है। इस तरह का महान् अधिकार और असीम स्वतन्त्रता उसी पुरुष को प्राप्त है, जिसके कर्तव्य और दायित्व भी अति महान् हों। इस अधिकार और स्वतन्त्रता का उपयोग वह योगेश्वर ही कर सकता है जो मुक्ति प्राप्त कर लेने के बाद इस संसार में केवल ईश्वर की इच्छा को पूर्ण करने के लिए ही रहता है। इस प्रकार का महापुरुष स्वच्छन्दतापूर्वक व्यवहार कर सकता है, क्योंकि उसकी निज की इच्छा कोई नहीं होती, ईश्वर की इच्छा ही उसकी इच्छा होती है। इसके विपरीत हम साधारण जीवों के लिए,—जो अब तक उस स्थिति को नहीं पहुँचे हैं,—शास्त्रों के वचनों के अनुसार ही व्यवहार करना उचित एवं आवश्यक है। श्रीकृष्ण अपने श्रीमुख से कहते हैं—'मेरे आचरणों का अनुकरण न करो, यदि तुम मोक्ष चाहते हो और मुझसे प्रेम करते हो तो मेरी आज्ञा का पालन करो। मेरा जीवन ऐसा रहस्यमय है कि जो बुद्धिमान् पुरुष इसको समझ सकता है, वह उससे बहुत लाभ उठा सकता है, किन्तु वह मूर्ख जो बिना ही तत्त्व समझे उसे आदर्श मानकर उसके अनुसार आचरण करता है, सो नरकगामी होता है।' जो मार्ग

---

† या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी । यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

एक मनुष्य के लिए ठीक है, वही दूसरे के लिए भी ठीक हो, यह नियम नहीं है। हममें से प्रत्येक व्यक्ति श्री शुकदेवमुनि के समान नग्न होकर नहीं विचर सकता, मीराबाई की तरह विष का प्याला भगवान् के चरणामृत की बुद्धि से नहीं पी सकता अथवा गुजरात के सुलतान, मुहम्मद बेगदा अथवा पोंटस के राजा मिथ्रीडाटीज् (Mithridates, King of Pontus) की भाँति विषधर सर्पों को खाकर अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। इसीलिए जो लोग मन्त्र-तन्त्र जानते हैं, वे लोग इस बात के लिए बड़े सावधान रहते हैं कि अदीक्षित लोग उनके प्रयोग को न जान जायें। गीता (१८।६७[1]) में श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—'जो तपस्वी न हो, भक्त न हो, सुनने की इच्छा न रखता हो अथवा जो मेरे अन्दर दोष-बुद्धि रखता हो, उसे इस रहस्य को मत कहना।'

लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीता-रहस्य' में एक संस्कृत की उक्ति उद्धृत की है जिसका भाव यह है कि 'हमें देवताओं के वाह्य आचरण का अनुकरण नहीं करना चाहिये।' तैत्तिरीय उपनिषद् में भी यही लिखा है कि 'हम लोगों को बड़ों के अच्छे आचरणों का ही अनुकरण करना चाहिए, दूसरों का नहीं।'[2] जैसा कि ऊपर कई बार कहा जा चुका है, पूर्ण अवस्था को पहुँचे हुए ज्ञानी पुरुष को पाप लग ही नहीं सकता; चाहे वह अपने माता-पिता, गुरु अथवा राजा का भी वध क्यों न कर डाले। परन्तु जो साधारण मनुष्य विना अपने अन्तःकरण को शुद्ध, बुद्धि को निर्मल और आत्मा को समुन्नत किये और अपने पिता परमेश्वर को प्राप्त किये श्रीकृष्ण की लीलाओं का अनुकरण करने लग जाय, उससे बढ़कर महान् अपराधी और अतिशय मूर्ख कौन हो सकता है? हम यह मानते हैं कि देखने में यह बात विल्कुल असंगत और अनुचित प्रतीत होती है कि एक पूर्ण ज्ञानी, जिसे नीति के नियमों का यथार्थरूप से अवश्य पालन करना चाहिए, उसकी अवहेलना करे। एक साधारण मनुष्य उसके इस प्रकार के व्यवहार को देखकर अवश्य यह कहेगा कि 'यदि यह महापुरुष भी नीति का उल्लंघन करके दोष का भागी नहीं होता तो हम लोग भी उसका अनुकरण करें तो इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।' परन्तु याद रखो कि श्रीकृष्ण श्रेष्ठ पुरुषों के भी आदर्श एवं उत्तम पुरुषों में भी उत्तम थे, हम लोगों की तरह साधारण मनुष्य नहीं थे। क्या किसी ने कभी सिंहिनी को दुहने का साहस किया है? और यदि किसी को उसका दूध प्राप्त भी हुआ हो तो क्या सिंह-शावक के अतिरिक्त किसी दूसरे प्राणी की शक्ति है कि उसे वह पचा सके और क्या वह दूध सोने के अतिरिक्त दूसरी किसी धातु के पात्र में ठहर सकता है? श्रीकृष्ण का—उस अलौकिक पुरुष का—जिसने अपनी दिव्य-दृष्टि और अद्भुत शक्ति एवं सामर्थ्य के द्वारा वह काम कर दिखाया, जिसे हम लोग कदापि नहीं कर सकते—चरित्र ऐसा ही था। किन्तु यह सब कुछ कहने-सुनने के बाद भी जो अपूर्ण हैं, उन्हें अवश्य ही इस दिव्य-पुरुष के आचरण का अनुकरण करने की इच्छा होगी ही। परन्तु उन लोगों के प्रति हमारी यह विनय है कि वे श्रीकृष्ण के जीवन को लक्ष्य में न रखकर केवल उनकी आज्ञाओं का ही पालन करें। किसी घातक शस्त्र को असावधानी से पकड़कर उसके भयङ्कर परिणाम का शिकार बनने की अपेक्षा यही ठीक है कि मनुष्य उसके पास ही न जाय। श्रीकृष्ण के उपदेश सारे संसार के लिए पालनीय हैं किन्तु उन यादवपति के कर्मों का अपने जीवन में अनुकरण कोई दूसरा कृष्ण ही कर सकता है। ऐसा करने के लिए मनुष्य को यह चाहिए कि वह अपने अन्दर रहनेवाली ईश्वरीय शक्ति का उसी प्रकार पूर्ण विकास करे, जिस प्रकार एक मुक्त पुरुष करता है। मुक्त पुरुष के अन्दर ईश्वर की जो वाणी होती है, उसका किसी साधारण पुरुष पर तभी प्रभाव पड़ सकता है, जब उस साधारण पुरुष के अन्तःकरण में रहनेवाला परमेश्वर ही उसके उपदेश को धारण करे। जो पुरुष पूर्णावस्था को पहुँच चुके हैं, वे अपने ही प्रकाश से देदीप्यमान रहते हैं, किन्तु जो पुरुष उस अवस्था को नहीं पहुँचे हैं, वे यदि किसी मुक्त पुरुष के प्रकाश को लेकर चमकने की कोशिश करें, तो वे निश्चय ही उस प्रकाश से भस्म हो जायेंगे। उन्हें चाहिए कि वे अपने को क्रमशः

---

[1] इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। नचाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

[2] यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। (तैत्तिरीय उपनिषद् १।११।२)

इतना समुन्नत बनायें कि उनके अन्दर जो स्वाभाविक प्रकाश है, वह प्रदीप्त हो जाय। फिर वे अपने शरीर के द्वारा परमात्मा की इच्छा को पूर्ण करने में समर्थ हो सकेंगे।

प्रेम और सहानुभूति से ही मनुष्य दूसरे के स्वरूप तथा गुणों को पहचान सकता है। श्रीकृष्ण का यथार्थ रूप जानने का सर्वोत्तम उपाय उनसे प्रेम करना तथा उनकी भक्ति करना ही है। मेज के सामने बैठकर सिरपच्ची करनेवाला शुष्क समालोचक उन्हें नहीं जान सकता। उन्हें यथार्थ में वह योगी ही जान सकता है, जो आध्यात्मिक चिन्तन और प्रेमपूर्वक ध्यान के द्वारा अपने आदर्श को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। शिशुपाल-जैसे विरोधी, दुर्योधन-जैसे दोषदर्शी और प्रोफेसर हापकिन्स-जैसे आक्षेप करनेवाले मनुष्य उन्हें भलीभाँति नहीं समझ सकते; उन्हें जानने के लिए उस कलियुग की गोपी मीरा के प्रेम, सूरदास की निष्ठा और उस तीव्र भक्ति की अपेक्षा है, जो वैष्णव-कवियों के पदों में छलक रही है। भागवत में एक सुन्दर कथा है कि एक बार जब यशोदाजी बालकृष्ण के ऊधम से हार गयीं, तब उन्होंने चाहा कि उनके हाथ-पैर रस्सी से बाँध दें। वह रस्सी लेकर बाँधने लगीं, घर की सारी रस्सियाँ शेष हो गयीं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण बन्धन में नहीं आये तथा अपनी रिसियानी माता की ओर देख-देखकर हँसने लगे। उन समालोचकों और समीक्षकों की भी यही दशा है जो श्रीकृष्ण के चरित्र को अपनी बुद्धि के द्वारा समझना चाहते हैं। वे अपनी ही युक्तियों के जाल में ऐसी बुरी तरह से फँस जाते हैं कि उनसे बाहर निकलना भी उनके लिये कठिन हो जाता है और माता यशोदा की तरह वे भी उपहासास्पद बन जाते हैं। गीता-वक्ता के चरणकमलों में मुझ अहिन्दू आर्य की यह प्रेमपूर्ण श्रद्धाञ्जलि भी स्वीकार हो, यही मेरी प्रार्थना है।

–प्रो० फीरोज कावसजी दावर

◆

महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन और भागवत धर्म

आचार्यप्रवर श्रीकृष्णद्वैपायन प्राचीन भारतीय साधना की समस्त शाखाओं-उपशाखाओं का समन्वय करने, नाना प्रकार के वर्ग-उपवर्ग में विभक्त हिन्दू-जाति को संघबद्ध करके एक महान् जाति में परिणत करने तथा युगानुसार सबमें भारतीय भाव-धारा का प्रचार करने में अपने सुदीर्घ जीवन को व्यतीत कर वृद्धावस्था में सम्यक् रूप से आत्मस्थ होकर ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति के प्रयत्न में लगे। परन्तु उन्हें भीतर-ही-भीतर यह अनुभव होने लगा कि उनका कर्मजीवन अभी पूर्णरूप से सफल नहीं हुआ, और जिस महान् उद्देश्य को लेकर वे भारतवर्ष में युगसन्धि (द्वापर और कलि की सन्धि) काल में अवतीर्ण हुए थे, वह सर्वाङ्ग रूप में सम्पन्न नहीं हुआ। भीतर-ही-भीतर उनके विशुद्ध अन्तःकरण में असफलता का बोध होने लगा। सांसारिक जीवन के समस्त कर्तव्यों के सम्पादन तथा समस्त कर्मों की परिसमाप्ति होने पर स्वभावतः अन्तःकरण में जो एक प्रकार की पूर्णता तथा स्वस्थता की अनुभूति होती है, उसके प्राप्त न हो सकने के कारण वे उदास-से होने लगे। परन्तु अपने जीवन का कौन-सा कर्तव्य बाकी रह गया है, विचार करने पर भी यह निश्चय न कर सके। हिन्दू-सभ्यता को सुप्रतिष्ठित करना; सभी श्रेणी के नर-नारियों के कल्याण के लिये भारत के श्रेष्ठतम मनीषियों के साधनों के द्वारा प्राप्त सत्य के सर्वत्र प्रचार की व्यवस्था करना; शिक्षित-अशिक्षित, कुलीन-अकुलीन, ऊँच-नीच सभी स्तरों के मनुष्यों के लिये धर्म और मोक्ष के मार्ग तथा धर्मानुकूल काम और अर्थ का मार्ग दिखलाना; समस्त भारतवर्ष में एक आदर्श, एक सभ्यता तथा एक संस्कृति का राजत्व प्रतिष्ठित करना; आर्य-अनार्य, ब्राह्मण-चाण्डाल, भोगी-तपस्वी, गृही-संन्यासी—सबको उसी एक आदर्श के द्वारा अनुप्राणित करके एक अखण्ड हिन्दू-समाज में अन्तर्भुक्त करना तथा उनकी विभिन्न प्रकार की जीवन-धारा की विशिष्टता को बचाते हुए एक ही सभ्यता और संस्कृति के अनुगत उनकी जीवन-धारा को प्रवाहित करना; भारतवर्ष की सारी जातियाँ, सब वर्ण और समस्त सम्प्रदायों में महान् एकता-स्थापन करना और उनकी विभिन्नमुखी साधना को एक ही योगसूत्र में ग्रथित करना—यही उनके कर्म-जीवन का व्रत था। वेदों को सुसम्बद्ध करके, महाभारत और पुराणों की रचना करके, देश-काल और अवस्था के अनुसार नियमपूर्वक इनकी शिक्षा और प्रचार की व्यवस्था करके स्वयं विभिन्न स्थानों में आ-जाकर पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय, ऐहिक, पारलौकिक तथा आध्यात्मिक जटिल समस्याओं का समाधान करके तथा सब प्रकार के विवाद—संशय के निराकरण में अपनी शक्ति, ज्ञान और प्रभाव-प्रतिष्ठा का प्रयोग कर अपने जीवन के व्रतस्वरूप सब प्रकार के कर्मों का उन्होंने सम्पादन किया था। उन्होंने वेदों और उपनिषदों के विधि-निषेधात्मक तथा तत्त्वप्रतिपादक वाक्यों का जैसा समन्वय-पथ प्रदर्शित किया है, महाभारत में तथा पुराणों में विभिन्न रुचि, बुद्धि तथा प्रकृति से युक्त, विभिन्न अवस्थाओं में पड़े हुए नर-नारियों के जीवन को परम कल्याण के मार्ग पर लगा देने के लिये सबके हृदयगत आदर्श की एकता और साथ ही प्रत्येक के व्यावहारिक स्वधर्म की विचित्रता का—विभिन्नता का निर्देश किया है; अनार्य-साधना को आर्य-साधना के साथ, शूद्र-साधना को ब्राह्मण्य-साधना के साथ, कर्म-साधना को ज्ञान-साधना के साथ, विभिन्न देवताओं की उपासना को अद्वैत ब्रह्मतत्त्व के अनुसन्धान के साथ, सब प्रकार के सांसारिक कर्त्तव्य-पालन को सर्वभावरहित मोक्ष के साथ इस प्रकार निपुणतापूर्वक उन्होंने युक्त कर दिया है कि उससे किसीके साथ किसीके भी धर्म के सम्बन्ध में विवाद का अवसर नहीं रह गया है। शूद्र, चाण्डाल, व्याध आदि भी अनन्य भक्ति का अनुसरण करते हुए भगवान् को प्राप्त कर सकते हैं, मोक्ष के अधिकारी हो सकते हैं तथा ब्राह्मण के भी गुरु के पद पर आसीन हो सकते हैं—इस बात को दिखलाकर उन्होंने सभी जातियों में मनुष्योचित आत्मगौरव के ज्ञान को जागृत कर दिया

है तथा उच्चकुलोत्पन्न, उच्चशिक्षासम्पन्न और सामाजिक प्रभाव और प्रतिष्ठा से युक्त ब्राह्मणादिकों के मोक्ष के विपरीत आत्माभिमान को नष्ट करके उनका कल्याण-साधन किया है।

कर्मकाण्ड की जटिलता और बारीकियाँ देखने की अपेक्षा मनुष्य-जीवन में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, निरभिमान, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का गुरुत्व; दान, सेवा तथा दूसरों के लिये आत्मोत्सर्ग आदि कर्मों का श्रेष्ठत्व तथा भगवान् में अनन्य भक्ति और सर्वजीवों में आत्मवत् प्रेम के अनन्तगुने महत्त्व की स्पष्ट रूप से बारम्बार घोषणा करके उन्होंने धर्म को सार्वभौम रूप में प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार सनातन मानव-धर्म के विभिन्न विचित्र अङ्गों से पूर्ण एक सर्वाङ्ग-सुन्दर उज्ज्वल स्वरूप को उन्होंने जनसमाज के सम्मुख उपस्थित किया है।

इतना करने पर भी उनका चित्त शान्ति की अनुभूति क्यों नहीं करता, विशेष रूप से विचार करने पर भी महर्षि श्रीकृष्णद्वैपायन इसका निश्चय न कर सके। इसी समय देवर्षि नारद उनके समीप स्वयं आकर उपस्थित हुए। व्यासदेव को कुछ विषण्ण-सा देखकर देवर्षि ने उनसे इसका कारण पूछा। व्यासदेव ने अपने हृदय की समस्या को देवर्षि के सामने रखकर कहा कि मुझे इस अशान्ति तथा अपूर्णता के बोध का कारण समझ में नहीं आता, आप सर्वान्तर्यामी और सर्वज्ञ हैं, आप ही इसका कारण समझा दें तथा इससे बचने का उपाय भी बतला दें। भागवतधर्म के महान् गुरु, भगवत्पार्षद देवर्षि नारद मानो भारतीय साधना के प्रधान आचार्य श्रीकृष्णद्वैपायन की आन्तरिक समस्या को दिव्य दृष्टि से जानकर ही बदरिकाश्रम में पधारे हैं तथा व्यासदेव के आचार्य का जितना काम बच रहा है उसके सम्बन्ध में उन्हें उपदेश देने के उद्देश्य से ही उनके सम्मुख आविर्भूत हुए हैं। देवर्षि नारद ने आचार्यदेव को बतलाया कि इतने दिनों तक उन्होंने जिस रूप में धर्म-प्रचार किया है उसमें **'मानव धर्म का'** ही सम्यक् प्रचार हुआ है, 'भागवत-धर्म, का वास्तविक प्रचार नहीं हुआ। अतएव उनके कार्य का एक प्रधान अंश अभी बाकी रह गया है।

सार्वभौम सनातनधर्म के साधन-क्षेत्र में दो भाव-धाराएँ सदा से ही प्रवाहित हो रही हैं, जो 'मानव-धर्म' और 'भागवत-धर्म' के नाम से प्रसिद्ध हैं। मानव-धर्म के अनुशीलन में मनुष्य अपने को ही केन्द्र-स्थल में प्रतिष्ठित रखता है और भागवत-धर्म के अनुशीलन में वह अपने जीवन-केन्द्र में भगवान् की प्रतिष्ठा करके साधना में प्रवृत्त होता है—ठीक उसी प्रकार, जैसे ज्योतिषशास्त्र में पृथ्वी और सूर्य को केन्द्र मानकर आलोचना की जाती है। मानव-धर्म और भागवत-धर्म—इन दोनों मार्गों में धर्म के समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग विद्यमान हैं, दोनों में ही धर्म के प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग की आवश्यकता है; परन्तु दोनों के दृष्टिकोण में महान् अन्तर है।

मानव-धर्म के दृष्टिकोण में रहता है—मनुष्य का स्वभाव और प्रयोजन। ससीम देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि से विशिष्ट मनुष्य स्वभावतः जीवित रहना चाहता है, सुख-भोग करना चाहता है, जीवन और सुख को चिरस्थायी करने के लिये तथा जीवन-विकास और सुख-सम्भोग की सामग्रियों को उत्तरोत्तर बढ़ाने के लिये अर्थसञ्चय करना चाहता है; इसी उद्देश्य से वह राष्ट्र और समाज में प्रभाव-प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है, परस्पर पारिवारिक, राष्ट्रिय और सामाजिक–विभिन्न सम्बन्धों से युक्त होकर, पारस्परिक सहयोगिता के विपरीत आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक शक्तियों के साथ जीवन-संग्राम में विजयी होकर जगत् में आत्मप्रतिष्ठा स्थापित करना चाहता है। मनुष्य की इस प्रकार की स्वभावसिद्ध प्रेरणा होने पर भी उसके स्वभाव का इतना ही पूर्ण स्वरूप नहीं है। उसके भीतर उचित-अनुचित को ज्ञान होता है, विधि और निषेध की अनुभूति होती है। मनुष्य-स्वभाव की प्रेरणा तथा देहेन्द्रिय के प्रयोजन की प्रेरणा में जो कुछ चाहता या करता है, उसमें भी वह चाहना उचित है या नहीं, करना उचित है या नहीं—ये प्रश्न स्वभावतः मनुष्य की विवेक-बुद्धि के सामने अपने-आप ही उठते रहते हैं। यह उचित-अनुचित का ज्ञान ही मानव-धर्म की भित्ति है। यह उचित-अनुचित का ज्ञान ही मनुष्य की स्वाभाविक आकांक्षा, प्रवृत्ति और कर्म के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापन कर इन्हें नियन्त्रित करता है। इसी कारण कोई-कोई सम्प्रदाय मानव-धर्म को विधि-निषेधात्मक बतलाते हैं। परन्तु उचित

और अनुचित का मापदण्ड क्या है ? किस विधि और निषेध के अनुसार मनुष्यमात्र की आकांक्षा, प्रवृत्ति और कर्म के सुनियन्त्रित होने पर वास्तविक धर्मसाधन होगा ? विभिन्न व्यक्तियों की उचित-अनुचितसम्बन्धी धारणा उनकी वासना, कामना तथा आसपास की अवस्था के प्रभाव तथा शिक्षा-दीक्षा की विभिन्नता के द्वारा कलुषित हो जाती हैं। इसी कारण वासना और कामना से रहित शुद्धचित्त ऋषियों के हृदय में स्वयं आविर्भूत सनातन विधि-निषेध की नीति ही साधारण मनुष्यों के उचित-अनुचित अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में नियामक समझी जाती हैं। ऋषियों के चित्त में आविर्भूत नीतियाँ ही वेद में शब्दरूप ग्रहण कर रही हैं। वेदनिर्दिष्ट उचित मार्ग का अनुसरण करना तथा अनुचित मार्ग का परित्याग करना ही मनुष्य का धर्म है।

परन्तु फिर यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य उचित कर्मों का अनुष्ठान तथा अनुचित कर्मों का त्याग करके किस उद्देश्य को सिद्ध करेगा ? मानव-जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ? किसकी प्राप्ति होने पर उसको किसी वस्तु की चाह न रह जायगी ? इन प्रश्नों का उत्तर खोजते-खोजते मनस्वी पुरुषों ने यह आविष्कार किया कि मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है मुक्ति—सारे दुःख-दैन्य, सारे बन्धन तथा सब प्रकार के अभाव से आत्यन्तिक छुटकारा पाना। इसी मुक्ति को लक्ष्य में रखकर मनुष्य को मुक्ति-प्राप्ति के उपायस्वरूप धर्म की साधना करनी पड़ेगी, उचित पथ का अनुसरण तथा अनुचित पथ का त्याग करना होगा। परन्तु इस संसार में देह, इन्द्रिय और मन के सम्यक् व्यवहार के द्वारा ही जब मनुष्य को धर्म-साधना तथा मुक्ति की प्राप्ति के लिये चेष्टा करनी है तब स्वास्थ्य, सुख तथा अर्थ आदि की पूर्णतः उपेक्षा करके मोक्ष-पथ की ओर अग्रसर होना भी सम्भव नहीं है; और इसी कारण परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के सम्बन्ध में भी पूर्णतः उदासीन होने से काम नहीं चल सकता। अतएव मोक्ष के अनुकूल धर्म, धर्म के अनुकूल अर्थ तथा जीवन-धारण के अनुकूल सुखभोग भी मानवीय साधना के अङ्गस्वरूप माने जाते हैं।

अतएव मानव-धर्म में मनुष्य के पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये ही धर्मशास्त्रों में सब प्रकार के विधि-निषेध, सब प्रकार के उपदेश दिये गये हैं। 'हम ऐहिक-पारलौकिक सुख-सम्पदा का उपभोग करके अन्त में सब बन्धनों से छुटकारा पाकर सच्चिदानन्दघन स्वरूप में सदा के लिये स्थित हो जायँ, इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये हमारा भीतरी और बाहरी जीवन किस ढंग से नियन्त्रित होना चाहिये; हमारे परिवार, समाज और राष्ट्र का विधान किस प्रकार का बनना ठीक है एवं हमारा कर्म, भक्ति और ज्ञान का अनुशीलन किस प्रकार का होना उचित है'—मानव-धर्म के क्षेत्र में ये ही विचारणीय विषय हैं। इस क्षेत्र में जिस प्रकार कर्मसाधना हमारे जीवन को सार्थक करने के लिये होती है, उसी प्रकार भक्ति और ज्ञान की साधना भी हमारे जीवन की पूर्ण सार्थकता की सिद्धि के उद्देश्य से की जाती है। यहाँ सब कुछ अपने ही लिये होता है। हमें परमशान्ति मिले—इसलिये ब्रह्मतत्त्व का श्रवण, मनन और निदिध्यासन; हमारा जीवन परमकल्याणस्वरूप बन जाय—इसलिये ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मध्यान तथा ब्रह्मानन्दरस के पान का अनुशीलन; हमारे हृदय में प्रेम और सौन्दर्य का पूर्ण विकास हो—इसके लिये विश्व के स्रष्टा, पालक, नियन्ता तथा संहर्त्ता श्री भगवान् को अनन्तप्रेममय, सम्पूर्ण सौन्दर्य के धाम, आनन्दलीलाविहारी रसराज के रूप में प्राप्त कर उनके साथ विशेष सम्बन्ध-स्थापन की चेष्टा तथा इसी उद्देश्य से भगवान् की विचित्र लीला-कथाओं का श्रवण, कीर्तन, स्मरण और आस्वादन किया जाता है। ये सभी हमारे स्वार्थ के लिये, हमारे पुरुषार्थ की सिद्धि के साधनरूप में ग्रहण किये जाते हैं। अतएव ये सब मानव-धर्म के अङ्गीभूत हैं। आचार्यप्रवर श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी ने अपने द्वारा संकलित, रचित तथा प्रचारित शास्त्रों में इन सभी की विशदरूप से आलोचना करके मानव-जगत् का परम कल्याण-साधन किया है।

परन्तु इतने पर भी आचार्यदेव का कर्तव्य पूर्ण नहीं हुआ तथा उनका आचार्य-चित्त पूर्णतः आत्मप्रसाद को प्राप्त न कर सका। सारे साधन-भजन, समस्त कर्तव्याकर्तव्य, सारी तत्त्वालोचना, कर्म, ज्ञान और भक्ति का सम्पूर्ण अनुशीलन तथा समस्त लीला-आस्वादन को यदि एक दूसरे ही दृष्टिकोण से देखा जाय तो इन सबकी सरसता में अनन्तगुनी वृद्धि हो जाती है। वह दृष्टि ही भागवती दृष्टि है। इसी मानव-ज्ञान के राज्य में सब विषयों को भागवती

दृष्टि से देखने तथा इसीके द्वारा मानवीय साधना के सब विभागों के नियन्त्रण करने की शिक्षा आचार्यदेव ने मुख्य रूप से अब तक नहीं प्रदान की।

भगवान् इस निखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कर्ता हैं। सब मनुष्य, जीव-जन्म, स्थावर-जङ्गम पदार्थ भगवान् की सृष्टि हैं। भगवान् ने ही उन्हें विशेष-विशेष रूप, प्रकृति, गुण और शक्ति देकर सृजन किया है। जड़-जगत्, जीव-जगत् तथा मानव-जगत् में जिन नियमों का राजत्व देखा जाता है, जितने प्राकृतिक विधान अखिल ब्रह्माण्ड के विभिन्न विभागों पर शासन करते हुए सर्वत्र साम्य और सुश्रृङ्खला की रक्षा कर रहे हैं, भगवान् ही उन सब विधानों या नियमों के प्रणेता हैं। वे ही सब जीवों के भीतर अन्तर्यामी रूप में विराज रहे हैं तथा वे ही वाहर विश्व-नियन्ता के रूप में प्रकट हो रहे हैं। वे ही विशेष-विशेष जीवों को विशेष-विशेष प्रकार की प्रकृति, शक्ति और प्रवृत्ति प्रदान कर रहे हैं। वे ही उनके द्वारा विशेष-विशेष प्रकार के कार्य करा रहे हैं। वे ही उनको उनके कर्मानुसार सुख-दुःखमय फल प्रदान कर रहे हैं और इन कर्मों और कर्मफलों के नियमित विधान के द्वारा उनका क्रमिक उत्कर्ष-साधन करते हुए उन्हें सम्यक् पूर्णता की ओर खींचे ले जा रहे हैं। उन्होंने ही मनुष्य के मन और इन्द्रियों को वहिर्मुख बनाकर रचा है; उन्होंने ही मन और इन्द्रियों को सुशासित करने तथा अभीष्ट मार्ग पर ले चलने के लिए उचित-अनुचित का ज्ञान, सत्-असत् का विचार तथा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की आकांक्षा के साथ उसमें बुद्धि-शक्ति और इच्छा-शक्ति प्रदान की है; वे ही शास्त्र के रूप में, गुरु के रूप में और बहुत ऊँचे उठे हुए महापुरुष के रूप में उन्हें कल्याण का मार्ग दिखला रहे हैं। श्री भगवान् ही तो सर्वकर्ता और सर्वनियन्ता हैं। हम मानवीय दृष्टि से जितना घात-प्रतिघात, जितना हिंसा-द्वेष और कलह, जितना अत्याचार-अविचार और जितना प्रलयकाण्ड इस जगत् में देख रहे हैं—वह सभी भगवान् का ही तो विधान है।

इनमें मनुष्य का स्वतन्त्र कर्त्तृत्व कहाँ है? मनुष्य का स्वतन्त्र पुरुषार्थ कहाँ है? मनुष्य का कर्तव्य ही क्या है? और उसके लिए प्राप्त करने योग्य अथवा त्याग करने योग्य ही क्या है? सभी तो भगवान् के ही कार्य हैं। मनुष्य भी तो अन्यान्य प्राणियों के समान भगवान् ही के द्वारा सृष्ट और नियन्त्रित जीवमात्र है! वे जिस प्रकार चलाते हैं, हम उसी प्रकार चलते हैं; वह जिस मार्ग में ले जाते हैं, हम उसी मार्ग में जाते हैं; वह जिस लक्ष्य की ओर जिस पद्धति के द्वारा हमारे जीवन का विकास करते हैं उसी लक्ष्य की ओर, उसी पद्धति के द्वारा हमारे जीवन का विकास होता है। अतएव स्वतन्त्र कर्ता यदि कोई है तो वे स्वयं भगवान् ही हैं। उन्हींके प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्हींकी निर्दिष्ट पद्धति से उन्हींके मनचाहे मार्ग पर उन्हींकी शक्ति के द्वारा संचालित होकर मनुष्यादि सब प्राणी तथा अखिल ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थ उत्पन्न हो रहे हैं, परिणाम को प्राप्त हो रहे हैं, नाना प्रकार के संघर्षों के बीच जीवन धारण कर रहे हैं तथा अन्त में विलीन होते जा रहे हैं।

परन्तु वे किसलिए ऐसा करते हैं? वे किस उद्देश्य के द्वारा प्रेरित होकर, अथवा किस प्रेरणा के वशीभूत होकर इस प्राणि-जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलयादि के व्यापार में लगे हुए हैं? यदि वे किसी प्रयोजन, उद्देश्य या प्रेरणा के अधीन हैं तब तो उन्हें स्वतन्त्र, स्वराट् और परिपूर्ण कैसे कहा जा सकता है? किसी प्रयोजन या उद्देश्य के द्वारा यदि कोई कर्म में प्रवृत्त हो तो यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि उसमें अपूर्णता विद्यमान है; उसे किसी वस्तु का अभाव है। ऐसी दशा में फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह कर्म-सम्पादन करने में भी पूर्ण स्वतन्त्र है। वे अपने-आपमें अपने से ही परिपूर्ण हैं, अपने सच्चिदानन्दस्वरूप में नित्य विराजमान हैं—इस बात की तो फिर कोई सार्थकता नहीं रह जाती। अतएव उनकी भगवत्ता के सम्बन्ध में ही सन्देह खड़ा हो जाता है।

वस्तुतः सब कारणों के कारण भगवान् के सृष्टि-पालन-संहारादि व्यापार में किसी प्रयोजन, हेतु या उद्देश्य की बात उठ ही नहीं सकती। यह उनका नित्य स्वभाव है। उनके स्वभाव के ऊपर अन्तःस्थित अथवा बहिःस्थित अन्य

किसी भी शक्ति, कारण, प्रयोजन या उद्देश्य का प्रभाव न होने के कारण ही वे पूर्ण स्वाधीन, पूर्ण स्वतन्त्र तथा स्वराट् कहलाते हैं। उनके सारे कर्म अपने नित्य स्वभाव के स्वच्छन्द आत्मप्रकाश होते हैं। वे परिपूर्ण ज्ञान-इच्छा-शक्तिमय सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। उनकी ज्ञानशक्ति के सामने कोई भी सत्य अज्ञात या ज्ञेयरूप में विद्यमान नहीं है, उनकी इच्छाशक्ति के सामने कोई मङ्गल या पुरुषार्थ अप्राप्त या अभीष्टरूप में कल्पित नहीं हो सकता, उनकी सम्भोग-शक्ति के सामने कोई सुन्दर वस्तु अनास्वादित या आस्वाद्यरूप में विचारणीय नहीं हो सकती। उनके अपने स्वरूप से पृथक् ज्ञेय या ध्येय, प्राप्य या आस्वाद्य, कार्य या त्याज्य कोई भी वस्तु उनके भीतर या बाहर नहीं है। इसी कारण उन्हें तत्त्वदर्शी लोग सत्यस्वरूप और ज्ञानस्वरूप, आप्तकाम और पूर्णकाम, अभिन्न-शक्ति-शक्तिमान्, अच्युतस्वभाव, एक अद्वितीय, आनन्दघन कहते हैं। वे स्वयं ही अपने स्वरूप में ज्ञाता और ज्ञेय, प्राप्त करनेवाले और करने योग्य, कर्त्ता और कार्य तथा सम्भोक्ता और सम्भोग्य हैं। उनके अपने स्वरूप के भीतर यह युगलभाव नित्य विद्यमान है और ये दोनों भाव एक साथ अभिन्नरूप में एक-दूसरे को आलिङ्गन करके उनके स्वभाव में विद्यमान हैं—इसी कारण वे ज्ञानमय, कल्याणमय, आनन्दमय और पूर्ण सत्तामय हैं; नहीं तो वे केवल जड़, अव्यक्त या शून्य सत्तावाले ही रहते।

भगवान् अपने को ही आप नित्य उपलब्ध कर रहे हैं। अपने स्वभाव में स्थित अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्य को अपने ही लिए विचित्र रूप में उपस्थित कर अपने ही उसका सम्भोग कर रहे हैं। यह विश्व-व्यापार उनके इस नित्य आत्मास्वादन का ही बाह्यस्वरूप है। उनका देशकालातीत नित्य आत्मसम्भोग उन्हींकी अनिर्वाच्या मायाशक्ति से देश और काल में विचित्ररूप में स्तर-स्तर में प्रकट हो रहा है। इसीका नाम है लीला। लीला तत्त्व की ही प्रकट मूर्ति है—उनके नित्यतत्त्व का दैशिक और कालिक आविर्भाव है; भगवान् अपने को ही स्वयं अनन्त काल, अनन्त देश, अनन्त भाव में, अनन्त नाम और अनन्त रूपों में प्रकट कर रहे हैं तथा उन सबको अतिक्रम करके उनके कर्ता, नियन्ता, द्रष्टा और सम्भोक्तास्वरूप में भी नित्य निर्विकाररूप से विराजमान हैं। असंख्य मनुष्य, असंख्य प्राणी, असंख्य जड़ पदार्थ—सब उनके ही लीलाप्रकाश हैं तथा उनके ही सम्भोग्य हैं।

मनुष्य की विशेषता यही है कि वह ज्ञान और प्रेमपूर्वक अनन्त ज्ञान और अनन्त प्रेममय श्री भगवान के इस आत्मास्वादन में योगदान करने का अधिकारी है, अपने भीतर और बाहर सर्वदा और सर्वत्र भगवान की इस विचित्र लीला का सम्भोग करने में समर्थ है। उसके शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि को श्री भगवान अपना सम्भोग्य बना रहे हैं; तत्सम्बन्धी समस्त व्यापारों में भगवान अपने आनन्दास्वादन के उपकरण के रूप में ही उसे नियन्त्रित कर रहे हैं। मनुष्य के साथ जितने लोगों का जिस-जिस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित होता है, अन्यान्य प्राणियों के साथ तथा जड़ प्रकृति के साथ उसका जिस-जिस प्रकार का सम्बन्ध होता और मिटता है, इन सब सम्बन्धों में, उन लोगों के साथ आदान-प्रदान तथा घात-प्रतिघात में उसके जितने सुख-दुःख के भोग तथा उसमें जितने प्रकार के भावावेश का सञ्चार हो रहा है, वह सभी भगवान के रससम्भोग का उपादान है तथा उनके रससम्भोग के लिए ही इन सबका विकास होता है। इस बात को भीतर-ही-भीतर उपलब्ध करने का अधिकार ही 'मनुष्यत्व' है तथा इस उपलब्धि में ही मानव-जीवन की सार्थकता है। जिस मनुष्य को इस सत्य-उपलब्धि की योग्यता प्राप्त हो जाती है वह अपने देह के साथ, प्रत्येक इन्द्रिय के साथ, प्रत्येक मनोवृत्ति के साथ, प्रत्येक अनुकूल और प्रतिकूल वेदना के साथ भगवान का साक्षात् योग अनुभव करके आनन्द में बेसुध हो रहता है, रसराज भगवान ही इनमें से प्रत्येक का प्रेमपूर्वक सम्भोग कर रहे हैं—वह इस बात को जानकर अपनी अहंवृत्ति का पूर्णतः परित्याग करके अपनी सत्ता को प्रेमपूर्वक उनकी सत्ता में विलीन कर देता है। वह भीतर-बाहर प्रेममय होकर अपनी सारी विषमवृत्तियों को प्रेम में एकीभूत करके, अपने अभिमान को पूर्णतः प्रेमानन्द में गलाकर, अपने समस्त पुरुषार्थ-साधन की बुद्धि का परित्याग कर अनन्त प्रेमरस के आधार श्री भगवान में पूर्णरूप से आत्मसमर्पण कर देता है। यही उसका सब पुरुषार्थों के परे परम पुरुषार्थ है। वह अभिमान का परित्याग

करके जितना ही अधिक प्रेमभाव से भावित होकर श्री भगवान में आत्मसमर्पण कर पाता है, भगवान की अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्यमयी स्वरूपास्वादननिरत रसराज-मूर्ति भी उतनी ही अधिक उसको प्रत्यक्ष होती है, भगवान उतना ही अधिक उसके प्रेम-पुनीत अन्तःकरण में अपने को प्रकट करके उसके आस्वाद्य बनते हैं तथा उसके जीवनको आनन्द से भरपूर कर डालते हैं।

इस भागवती दृष्टि का अनुशीलन--अपने जीवन के प्रत्येक व्यापार में तथा अखिल विश्व के प्रत्येक व्यापार में भगवान् के आत्मप्रकाश तथा आत्मसम्भोग की लीला के आस्वादन करने की साधना, इसीका नाम 'भागवत-धर्म' है। इससे साधना के प्रारम्भ से ही भगवान् को केन्द्र बनाकर मनुष्य अपने जीवन का विकास करता है। इस धर्म-साधना के आदि में भगवान् रहते हैं, मध्य में भगवान् रहते हैं और अन्त में भगवान् रहते हैं। इस धर्म की दृष्टि से जिस परिमाण में अहंबुद्धि, जिस परिमाण में अपने पुरुषार्थलाभ की आकाङ्क्षा, जिस परिमाण में अपने को केन्द्र बनाकर पौरुष दिखलाने की चेष्टा होती है, उसी परिमाण में माया के अधीन रहना पड़ता है--उसी परिमाण में अविद्या का प्रभाव मनुष्य के ऊपर रहता है। मोक्ष-प्राप्ति की आकाङ्क्षा के मूल में भी अहंबुद्धि होती है, उसमें भी इस दृष्टि से अविद्या का बीज सूक्ष्मरूप से निहित होता है। अहं को श्री भगवान् के चरणों में सम्यक् रूप से समर्पण करना तथा इसी उद्देश्य से अहैतुकी भक्ति और प्रेम का अनुशीलन करना--यही इस क्षेत्र की साधना है।

इस साधनक्षेत्र के प्रधान अङ्ग हैं—भगवान् की लीला का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, मनन और निदिध्यासन। स्वभावतः मानवी बुद्धि का अनुसरण करते हुए जिन स्थलों में पहले केवल जड़ प्राकृतिक नियम अथवा जड़ शक्तियों का संघर्ष, या जीवविशेष अथवा जीवसमष्टि का कार्य, या मनुष्यविशेष अथवा सम्प्रदायविशेष या जातिविशेष का कार्य दिखलायी देता था, उन सब स्थलों में दृष्टि का परिवर्तन करते हुए साधना के द्वारा श्री भगवान् के लीला-विलास के दर्शन का अभ्यास करना होगा। इस दृष्टि के अनुशीलन के लिए 'सारे ही व्यापार श्री भगवान् के लीला-विलास हैं'—इसे हृदयङ्गम करने के लिए प्रधान-प्रधान ऐतिहासिक घटनाओं की, प्रधान-प्रधान प्राकृतिक घटनाओं की, प्रधान-प्रधान नर-नारियों के जीवनचरित की, युगसन्धियों में होनेवाली प्रधान-प्रधान क्रान्तिकथाओं की, जनसाधारण में प्रचलित आख्यानों की 'सब श्री भगवान् की ही लीलाएँ हैं'--इस बुद्धि से बार-बार आलोचना करना, चिन्तन करना, विचारना, श्रवण करना तथा कीर्तन करना आवश्यक है। ऐसा करते-करते दृष्टि-शुद्धि होती है तथा प्राकृतिक दृष्टि को दबाकर क्रमशः भागवती दृष्टि प्रधान हो उठती है।

इस प्रकार के अनुशीलन के साथ-साथ यह भी अनुभव होता है कि श्री भगवान् हम लोगों को कितना प्यार करते हैं। भगवान् की प्रत्येक लीला-कथा में ही जीव के प्रति भगवान् का असीम प्रेम प्रकट होता है। उनकी सारी लीला प्रेमलीला ही तो है, उनमें उनके प्रेमानन्दस्वरूप का ही आत्मप्रकाश तथा आत्मसम्भोग होता है। हमारे भेदबोध के समय भी हमारे प्रति उनके प्रेम और करुणा के रूप में ही उनकी ये सब लीलाएँ अभिव्यक्त होती हैं। हम लोगों के प्रति भगवान् का जो अहैतुक प्रेम है, उसका स्मरण करते-करते स्वभावतः ही भगवान् के प्रति भी हमारा प्रेम जाग्रत् हो जाता है और वह प्रेम क्रमशः विकसित होकर अन्यान्य समस्त मनोवृत्तियों को अभिभूत या अनुरञ्जित कर डालता है। भगवान् की प्रेमलीला का श्रवण-मनन आदि जितना ही व्यापक और गहरा होता है, भगवान् के प्रति हमारा प्रेम भी उतना ही विकसित हो जाता है तथा इस प्रेम-विकास के साथ ही अहंबुद्धि का नाश और भीतर-बाहर भगवान् के रसस्वरूप की उपलब्धि भी उतनी ही अधिक होती है। भगवान् ने अपनी ह्लादिनी शक्ति को मनुष्य की अन्तरात्मा के भीतर सदा से प्रतिष्ठित कर रखा है। अपनी सम्पूर्ण सत्ता को, व्यावहारिक जीवन के सारे विभागों को इस ह्लादिनी शक्ति के अनुगत तथा इसीकी भावना से भावित करना ही मनुष्य की साधना है।

मानव-समाज को इस भागवत-धर्म की शिक्षा देने के लिये भगवान् की लीला-कथाओं के और मुख्य रूप से मनुष्यादि सब प्राणियों के प्रति उनके प्रेम और दया की बात के समाज में सर्वत्र प्रचार की व्यवस्था करना ही प्रधान कार्य है। यह धर्म मनुष्य का सहज धर्म है; क्योंकि प्रेम मनुष्य के लिए स्वभावसिद्ध है; और मनुष्य जिसके द्वारा प्रेम प्राप्त करता है, उसीकी ओर स्वभावतः उसका भी प्रेम प्रवाहित होता है। मनुष्य जब भगवान् को अपना सबसे बढ़कर प्रेमी मान लेता है, तब मनुष्य के अन्तःकरण में निहित प्रेमवृत्ति सहज ही उनकी ओर दौड़ पड़ती है; इसीलिये मानव-समाज में भगवान् की लीला का प्रचार करना आचार्य व्यासदेव का एक मुख्य कर्तव्य था।

देवर्षि नारद ने आचार्य कृष्णद्वैपायन को बतलाया कि मानव-धर्म का नाना प्रकार से समाज में प्रचार करने पर भी उन्होंने भागवत-धर्म का मुख्य रूप से प्रचार नहीं किया, उन्होंने श्री भगवान् की लीला-कथा की प्रधान रूप से जगत् में घोषणा नहीं की। इसीसे उनके द्वारा सत्य और धर्म की एक प्रधान दिशा में नियमबद्ध शिक्षा-दान की व्यवस्था न हो सकी, उनका आचार्यभावाविष्ट चित्त भी इसी कारण स्वस्थता का अनुभव नहीं करता। किस पद्धति से मानव-समाज को भगवान् के लीलातत्त्व की शिक्षा देनी चाहिए—इस विषय में देवर्षि ने आचार्यदेव को संक्षेप में उपदेश दिया तथा समाधिनिष्ठ होकर उस तत्त्व के सम्यक् अनुसन्धान में अपने-आपको लगाने का आदेश प्रदान किया। आचार्यदेव के समाधि के द्वारा परिशुद्ध चित्त में भगवान् स्वयं ही अपनी लीलाओं का विस्तृत रूप में प्रकाश करेंगे, यह आशीर्वाद देकर भागवतधर्मगुरु देवर्षि नारद ने उनको भागवतशास्त्र की रचना करने की आज्ञा देकर प्रस्थान किया। आचार्यदेव का चित्त प्रसन्न हो गया। वे समाधि में भागवती लीला को प्रत्यक्ष कर प्रेम-परिप्लुत हृदय से उसका वर्णन करने लगे। भागवतशास्त्र की रचना तथा मानव-समाज के प्रत्येक स्तर में उसके प्रचार की व्यवस्था करके महामुनि श्रीकृष्णद्वैपायन ने अपने आचार्य-कृत्य को समाप्त किया। तदनन्तर उन्होंने कर्मक्षेत्र से विदा ली। भारतीय साधना की परिपूर्ण मूर्त्ति आचार्य कृष्णद्वैपायन की कृपा से मानव-समाज के नेत्रों के सम्मुख श्रीमद्भागवत के रूप में उपस्थित हुई।

—अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय

श्रीकृष्ण ही भारतवर्ष की आत्मा हैं

'श्रीकृष्ण ही भारतवर्ष को आत्मा हैं' मेरी इस उक्ति का भाव यह है कि भारतवर्ष के इतिहास और क्रमिक विकास को समझने के लिये हमें श्रीकृष्ण के जीवन पर विचार करना चाहिये। श्रीकृष्ण ही हम भारतीयों के आदर्श थे। ऐतिहासिक दृष्टि से वे हम लोगों के सर्वोत्तम शिक्षक थे। उन्होंने हमें वैयक्तिक एवं सामाजिक संघ-जीवन का सर्वोच्च तत्त्वज्ञान सिखलाया उनके जीवन और उपदेशों को भलीभाँति समझकर हम लोग 'राष्ट्र-निर्माण' का कार्य सुचारु रूप से कर सकते हैं; यही नहीं, उन्होंने भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न जातियों और उपजातियों के बाहरी मतभेदों और विरोधों तथा यहाँ के बहुसंख्यक सम्प्रदायों, संस्कृतियों, मजहबों और दार्शनिक सिद्धान्तों की उलझनों को सुलझाकर उनका युक्तियुक्त समन्वय कर दिया। वे हमारे 'नरोत्तम' अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष अथवा पूर्णता के आदर्श हैं, जिस आदर्श को प्राप्त करने के लिये प्रत्येक मनुष्य को क्रमशः आगे बढ़ने की चेष्टा करनी चाहिये। वे हमारे यहाँ के दिव्य-पुरुष हैं, विश्वात्मा हैं। वे ही साक्षात् नारायण अथवा पूर्ण-पुरुष हैं जो मनुष्य मात्र को अपने शरीर में इसलिए धारण करते हैं कि हम लोगों द्वारा उनके शाश्वत जीवन तथा प्रेम की क्रमशः अभिव्यक्ति हो सके।

क्या हम ईसामसीह को ईसाई-जगत् की आत्मा नहीं कह सकते? क्या वे ईसाइयों के जीवन और संस्कृति के विकास के नियामक नहीं हैं? ईसाई-जगत् को समझने के लिये जैसे हमें ईसामसीह को समझना चाहिये, इसी प्रकार भारतवर्ष को समझने के लिये हमें श्रीकृष्ण को समझना होगा।

आप कदाचित् यह कहें कि 'जैसे सारा ईसाई-जगत् एक है, किन्तु क्या इसी प्रकार आप भारतवर्ष को भी एक कह सकते हैं? सारे ईसाई-जगत् का एक ही धर्म, एक ही सामाजिक सङ्गठन, एक ही आर्थिक व्यवस्था और एक ही संस्कृति एवं सभ्यता है। यूरोप और अमेरिका में परस्पर इतना सादृश्य है जितना उदाहरण के लिये मद्रास और बंगाल के प्रान्तों में भी नहीं होगा। फिर श्रीकृष्ण तो हिन्दुओं के अवतार थे; भारतवर्ष में छः करोड़ मुसलमान भी तो रहते हैं, जो हिन्दू-धर्म को नहीं मानते। मुसलमानों की बात तो अलग रही, हिन्दुओं में भी सब लोग श्रीकृष्ण-भक्त नहीं हैं। इसके विपरीत यूरोप और अमेरिका का प्रत्येक निवासी साधारण तौर पर ईसामसीह का अनुयायी है। हम यह देखते हैं कि भारतवर्ष के हिन्दुओं में अनेक ऐसे सम्प्रदाय हैं जो श्रीकृष्ण को अपना उपास्यदेव नहीं मानते; यही नहीं, यहाँ के निवासियों में अहिन्दुओं की भी बहुत बड़ी संख्या है। ऐसी दशा में हम यह कैसे कह सकते हैं कि जिस प्रकार ईसामसीह ईसाई-जगत की आत्मा हैं उसी प्रकार श्रीकृष्ण हमारे देश अर्थात् भारतवर्ष की आत्मा हैं?'

प्रश्न तो यह बिल्कुल युक्तियुक्त है, किन्तु इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार हिन्दुओं में भिन्न-भिन्न नाम के अनेक सम्प्रदाय और पन्थ हैं उसी प्रकार ईसाइयों में भी हैं। परन्तु यदि आप हिन्दुओं के दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों तथा जीवन के व्यापक समन्वय पर विचार करें, जिससे हिन्दुओं की वास्तविक एकता सिद्ध होती है, तो आपकी यह शंका दूर हो जायगी। इसके अतिरिक्त हमारे इतिहास एवं विकास की साधारण गति की ओर लक्ष्य करने से भी इस शंका का निरास हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस समन्वय और विकास दोनों के ही विशेष रूप से पथ-प्रदर्शक थे। श्रीकृष्ण गीता-तत्त्व के उपदेशक हैं और भगवद्गीता हिन्दुओं का सर्वमान्य प्रामाणिक धर्मग्रन्थ है। वेद (अर्थात् उपनिषद्), ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता ये हिन्दू-धर्म तथा हिन्दुओं के अध्यात्मशास्त्र के तीन स्तम्भ (प्रस्थानत्रयी) माने गये हैं। हिन्दुओं के प्रत्येक पन्थ और सम्प्रदाय को ये तीनों ग्रन्थ प्रमाणरूप से पूर्णतया मान्य

हैं। पिछले तीन हजार वर्षों में हिन्दुओं में जितने भी मत अथवा सम्प्रदाय प्रचलित हुए, उन सबने इन तीनों ग्रन्थों की अपने ढंग से व्याख्या करके ही प्रतिष्ठा प्राप्त की। और इन तीनों ग्रन्थों में परस्पर बड़ी एकता भी है। ब्रह्मसूत्रों में वेदों की शास्त्रानुकूल व्याख्या की गयी है। वेद अनेक हैं और प्रत्येक वेद में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। वैदिक सिद्धान्तों में इस प्रकार के परस्पर मतभेद और स्पष्ट विरोधों को देखकर हिन्दुओं को यह अपेक्षा हुई कि उन विरोधों का युक्तियुक्त समन्वय किया जाय। इस समन्वय के उद्देश्य से पहले वेदों के दो विभाग किये गये। पहले विभाग में यज्ञों के विधिपूर्वक अनुष्ठान से स्वर्ग-प्राप्ति का मार्ग बतलाया गया है और दूसरे में कठिन मानसिक, शारीरिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक साधनों के द्वारा ब्रह्म अर्थात् परमतत्त्व की प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है। पहले भाग को कर्मकाण्ड कहते हैं और दूसरे को ज्ञानकाण्ड। काण्ड 'शाखा' का नाम है। कर्म का सामान्य अर्थ क्रिया है, किन्तु यहाँ 'कर्म' शब्द का 'यज्ञ' के अर्थ में प्रयोग किया गया है। 'ज्ञान' का अर्थ 'जानना' है, किन्तु यहाँ उसका 'ब्रह्म अर्थात् परमतत्त्व का साक्षात् ज्ञान' यह विशेष अर्थ है। वेद की इन दोनों शाखाओं के असली तात्पर्य और प्रयोजन का पता लगाने के लिए प्राचीनकाल में हमारे यहाँ दो प्रकार की व्याख्याओं की पद्धतियों का विकास हुआ। पहली पद्धति 'पूर्व-मीमांसा' धर्मसूत्रों के रचयिता महर्षि जैमिनि के नाम से विख्यात हुई और दूसरी 'उत्तर-मीमांसा' ब्रह्मसूत्रों के प्रणेता महर्षि वेदव्यास के नाम से प्रचलित हुई। वैदिक धर्म के युक्तियुक्त समन्वय के लिए इसे दूसरा प्रयत्न समझना चाहिए।

हिन्दू-धर्म अथवा वैदिक सम्प्रदायों और सिद्धान्तों के समन्वय के लिये इसके बाद एक और प्रयत्न किया गया जो एक प्रकार से अन्तिम था अर्थात् उसके बाद इस दिशा में कोई दूसरा प्रयत्न न तो हुआ और न उसकी कोई आवश्यकता ही रही। यह प्रयत्न भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी भगवद्गीता में किया। इसलिये इस महान् ग्रन्थ को हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-संस्कृति दोनों की एकता का विशेष रूप से आधार-स्तम्भ समझना चाहिये। अतः भगवद्गीता के वक्ता की हैसियत से श्रीकृष्ण को विशेष रूप से हिन्दू-धर्म एवं हिन्दुओं के अध्यात्मशास्त्रों की वास्तविक एकता का मूर्तिमान् स्वरूप समझना चाहिये। अन्त में महाभारत और हरिवंश में हमें श्रीकृष्ण का जो वर्णन मिलता है उससे ज्ञात होता है कि वे भारतवर्ष के सबसे पहले और सबसे बड़े राष्ट्र-निर्माता थे। उन्होंने एक विशाल संघ के आधार पर भारतवर्ष की प्राचीन आर्यजाति का पुनः सङ्गठन किया और देश की अनेक अनार्यजातियों और उपजातियों को उसके अन्दर मिला दिया। इस प्रकार उन्होंने एक महान् सामाजिक समन्वय की भित्ति पर भारतीय एकता और जातीयता का भवननिर्माण किया और भिन्न-भिन्न जातियों और उपजातियों की स्वतन्त्र एवं भिन्न सत्ता का नवीन सामुदायिक, सामाजिक अथवा राष्ट्रीय समष्टि के साथ समन्वय कर दिया। श्रीकृष्ण ने जो सामाजिक समन्वय किया वही आज तक हमारे सामाजिक एवं राजनैतिक विकास तथा प्रगति के लिये आदर्श बना हुआ है जब आप श्रीकृष्ण के जीवन और उपदेशों पर इन भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार करेंगे तब आपको पता लगेगा कि वर्तमान भारत के विकास के कार्य में उनकी आत्मा उतनी ही सहायता कर रही है जितनी आज से हजारों वर्ष पहले कर रही थी, जब वे अपने प्रत्यक्ष विग्रह के सहित यहाँ विद्यमान थे। महान् भारतीय युद्ध के समय उन्होंने वह महान् रचनात्मक क्रान्ति उत्पन्न की थी जिसके कारण इस विशाल देश की छोटी-छोटी जातियों और राज्यों को मिलाकर उन्होंने एक 'महाभारत' अर्थात् विशाल भारत बना दिया।

—विपिनचन्द्र पाल

बृहद् भारत में श्रीकृष्ण-चरित

योगिराज श्रीकृष्ण का चरित्र भारत से बाहर कहीं दुर्गम समुद्र लंघन करके, तो कहीं हिमाच्छादित दुरूह पर्वतों को पार कर सुदूर देशों में पहुँच गया। भारत से प्राप्त प्रत्येक वस्तु वहाँ पहुँचते ही दिव्य स्वरूप धारण कर लेती थी। श्री विष्णु भगवान्, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, श्रीकृष्ण और शिवजी समस्त बृहद् भारत के अनन्य पूज्य देव रहे हैं। इनके जीवन-चरित पर आधारित नाना प्रकार की रचनाएँ, काव्य, गाथाएँ निर्मित हुई और उन देशों में इतने अटूट विश्वास के साथ वे अपनाई गईं कि लोग भूल गये कि राम और कृष्ण पुण्यभूमि भारत के अधिष्ठातृ-देव हैं, उनके यहाँ के नहीं। वे लोग उन्हें अन्तर्तम में विराजमान कर चुके थे। बालि (बलि) द्वीप में श्रीराम और श्रीकृष्ण के जन्म-स्थान अयोध्या और मथुरा बन गए। सरयू और यमुना भी वहाँ पुण्यतीर्थ बन जन-जीवन को आध्यात्मिक रस प्रदान करने लगीं।

इण्डोनेशिया के द्वीप जावा, बालि और लोम्बोक् में रामायण और महाभारत जन-जीवन के आधार रहे हैं। आज भी वहाँ के राष्ट्रपति अपने महलों में महाभारत के छाया-नाटकों द्वारा आत्मिक बल प्राप्त करते हैं। महाभारत के आदि, विराट्, भीष्म और दूसरे पर्व अभी तक पढ़े-पढ़ाये जाते हैं। ये पर्व संस्कृत के संक्षेप हैं। भीष्म पर्व में श्रीमद्भगवद्गीता का प्रमुख स्थान है। योगीश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी बनकर गीता का उपदेश देते हैं। हमारी गीता की अपेक्षा कवि-भाषा की गीता संक्षिप्त है। पहले मूल संस्कृत का श्लोक, फिर उसकी कवि-भाषा में टीका, इस प्रकार समस्त गीता आज भी बालि और लोम्बोक् द्वीप के घर-घर में ताड़पत्र पर उत्कीर्ण हुई मिलती है। जब इण्डोनेशिया स्वतन्त्र हुआ, तब प्रत्येक मतावलम्बी ने अपने-अपने धर्म-ग्रन्थ को छूकर शपथ ली। जावा, बालि और लोम्बोक् के हिन्दुओं (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चारों वर्ण आज भी वहाँ विद्यमान हैं) ने श्रीमद्भगवद्गीता को स्पर्श करके शपथ ली।

भीष्मपर्व में गीता का प्रमुख स्थान है। कवि रचयिता ने महाभारत के श्लोकों और श्लोकांशों को देते हुए उनकी कविता में व्याख्या की है। कवि-लेखक को जिन स्थलों के समझने-समझाने में कठिनाई अनुभव हुई, उनको उसने छोड़ दिये। इसी प्रकार जहाँ पुनरुक्ति अथवा अतिशयोक्ति का आभास हुआ वे स्थल भी उसने छोड़ दिये। कवि द्वारा उद्धृत गीता के श्लोकों में हमारी आधुनिक गीता से पर्याप्त पाठान्तर हैं। किन्तु ये पाठान्तर इस प्रकार के नहीं कि विषय के प्रतिपादन में कोई विशेषता अथवा भिन्नता आये।

श्री गीता के पश्चात् हमें कवि-साहित्य में हरिवंश पुराण, कृष्णायन और कृष्णान्तक नामक काव्यों में श्रीकृष्ण-चरित का विस्तृत उल्लेख मिलता है। श्रीकृष्ण प्रभावशाली पथद्रष्टा एवं नीति-निर्धाता के रूप में उपस्थित होते हैं। अर्जुन और भीम उनके शिष्य हैं। कृष्णायन महाकाव्य के रचयिता म्युत्रिगुण हैं। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के प्रेम-प्रसंग का इसमें प्रमुख रूप से वर्णन किया गया है। यह आश्चर्य की बात है कि इस समस्त कथानक में राधा और गोप-गोपियों का कहीं उल्लेख नहीं है। श्रीकृष्ण द्वारा कंस के वध का वर्णन हमें काकाविन् हरिवंश में मिलता है। ग्रन्थारम्भ विष्णु भगवान् के अवतार से होता है कि श्री विष्णु भगवान् किस प्रकार से शेषशय्या पर विराजमान हैं। भूलोक पर कंस के अत्याचारों से प्रजा त्रस्त है और भक्तों के त्राणहेतु भगवान् विष्णु, श्रीकृष्ण के अवतार के रूप में भूलोक पर अवतरित होते हैं। असत्य पर सत्य की और अधर्म पर धर्म की विजय होती है।

जावा स्थित चण्डी-जागो और पनतरन् मन्दिर में कृष्णायन महाकाव्य के कथाचित्र पत्थरों में उत्कीर्ण हैं। श्रीकृष्ण की मूर्ति भारत के समान ही मुकुट, कटि-मेखला से अलंकृत है। द्वारका और मथुरा नगरी का विविध वैभव-प्रदर्शन यहाँ किया गया है। जावा, बालि और लोम्बोक् द्वीपों में वैष्णव-धर्म जन-जीवन में इतना व्याप्त है कि युद्ध के अवसर

पर पितृ-योद्धाओं को स्मरण करते हुए जय अर्जुन, जय भीम, जय कृष्ण आदि का उच्चारण कर शक्ति अर्जित करते हैं और शत्रु को ललकारते समय कहते हैं कि 'हमारे मस्तिष्क में श्रीकृष्ण का युद्धकौशल हो, हमारी भुजाओं में भीम और अर्जुन की शक्ति निहित हो, हम युधिष्ठिर के समान अडिग हों। पितरों की दिव्य शक्ति के कारण हमें कोई परास्त नहीं कर सकता।

अर्जुन-विवाह नामक सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ में श्रीकृष्ण प्रमुख रूप से चित्रित किए गए हैं। श्रीकृष्ण में अद्भुत आकर्षण-शक्ति थी, इसका उल्लेख कवि-ग्रन्थ में पढ़ने को मिलता है। अर्जुन के विवाह के अवसर पर श्रीकृष्ण द्वारावती नगरी में पदार्पण करते हैं। नगर के सब प्राणी, बच्चे-बूढ़े, स्त्रियाँ, युवक अपने-अपने कार्य छोड़कर श्रीकृष्ण-दर्शन करने भागे चले आते हैं। गाय का दुग्ध-दोहन करती हुई महिलाएँ भागी आती हैं, चित्रकार अपने रंग और तूलिकाएँ लिये भागे चले आ रहे हैं। यहाँ तक कि समस्त वनचर, खेचर, जलचर विस्मृत-ठगे-से हो गये। श्रीकृष्ण की मोहिनी प्राणिमात्र को आकृष्ट कर लेती है।

इण्डोनेशिया में छाया-नाटकों के रूप में समस्त महाभारत खेला जाता है। इसे इनकी भाषा में वायाङ् कहते हैं। चर्मनिर्मित कठपुतलियों में श्रीकृष्ण, भीष्मपितामह, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, सुभद्रा, दुर्योधन आदि पात्र बनाये जाते हैं। सायंकाल से यह छाया-नाटक आरम्भ होता है और आधी रात तक चलता है। प्रत्येक पात्र का मुकुट, अलङ्करण, वस्त्र, रङ्ग सुनिश्चित होता है। दूर से देखते ही तुरन्त पता लग जायेगा कि मञ्च पर अमुक पात्र आ रहा है। पीछे से सुमधुर गान द्वारा कथासार बताया जाता है। दर्शक मन्त्रमुग्ध हुए देखते रहते हैं। कम्बोज और चम्पा के पुष्पों से मण्डप सजाया जाता है। 'तीर्थगंगा' के जल से 'मन्त्रपूत' तोय समस्त प्राङ्गण में छिड़का जाता है। हृदय को प्रफुल्लित करनेवाला मनोरम दृश्य होता है। भारत के लिए ये तीर्थस्थान हैं।

थाई और कम्बुज देश में श्रीकृष्ण और विष्णु भगवान् को एक ही अवतार मानते हैं। जिस प्रकार भारत में वर्षाकाल में चार मास के लिए देवता शयन करते हैं और इन चार मासों में कोई माङ्गलिक कार्य नहीं किये जाते, उसी प्रकार थाई देश में विष्णु भगवान् का शयन शेषशय्या पर वास्तव में दिखाया जाता है। एक उत्सव आयोजित होता है जिसमें राजा (थाईदेश में राजा विष्णु के अवतार-स्वरूप माने जाते हैं) साक्षात् शयन करते दिखाए जाते हैं। समस्त उत्सव एक बड़ी झील में सम्पन्न होता है।

साइबेरिया (शिबिर देश) में संस्कृत के अनेक ग्रन्थ उनकी भाषा में अनूदित मिलते हैं। पाणिनि का व्याकरण, मेघदूत, काव्यादर्श, सुभाषित-रत्ननिधि आदि के साथ-साथ बच्चे-बच्चे के मुख पर कथासरित्सागर की कथाएँ और राजा विक्रमादित्य, राजा भोज तथा राजा किसन खान् (राजा कृष्ण भगवान्) की कथाएँ प्रचलित हैं, प्रस्फुटित हैं। जम्बूद्वीप के महान् सम्राट् श्रीकृष्ण की मोंगोल गाथाओं पर आचार्य रघुवीर की सुपुत्री सुषमादेवी तुलनात्मक अध्ययन कर रही हैं। आचार्य रघुवीर ने यह कथात्रयी छापने का कार्य हाथ में लिया था। विक्रमादित्य और राजा भोज की गाथाएँ उन्होंने प्रकाशित कर दीं, किन्तु किसन खान् की कथाओं को पूर्ण होते वे न देख पाए। मोंगोल देश की श्रीकृष्ण-गाथाएँ सुषमादेवी जर्मनी में प्रकाशित कर रही हैं।

भारत की संस्कृति, साहित्य देवी-देवता जहाँ-तहाँ भारत से बाहर सुदूर देशों में मिलते हैं, उनको खोजते-खोजते आचार्य रघुवीरजी उन-उन देशों में गए और वहाँ से हस्तलिखित पोथियों एवं ताड़पत्रों का अनन्त संग्रह उन्होंने किया। अदम्य उत्साह के साथ उनके सम्पादन और प्रकाशन का कार्य चल रहा है। उनके सुपुत्र डॉ० लोकेशचन्द्र भी उसी कार्य को पूर्ण करने में लगे हैं। इसको सम्पन्न करने से भारत का विलुप्त गौरवमय इतिहास पुनः नवजीवन पायेगा और अपने अतीत के लिए गर्वान्वित हो उठेगा।

इण्डोनेशिया के जावाद्वीप (यवद्वीप) से प्राप्त चर्मनिर्मित कठपुतलियाँ आचार्य रघुवीरजी की संस्था सरस्वती-विहार में सुरक्षित हैं। ये जावा और बालिद्वीप के प्रिय मनोरंजन वायाङ् (छायानाटक) से सम्बद्ध हैं। इनके द्वारा श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता का उपदेश देते प्रदर्शित किये जाते हैं। श्रीकृष्ण सदैव श्यामवर्ण दिखाए जाते हैं। महाभारत और रामायण का प्रत्येक पात्र यहाँ कठपुतलियों के रूप में आज भी सजीव है।

श्रीविष्णु भगवान् चार भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किए हुए हैं। यह मूर्ति पूर्वी जावा के मन्दिर की एक शिला पर उत्कीर्ण है। शिला पर हरिहर शब्द गुप्तलिपि में लिखा हुआ है।

—डॉ० शारदा रानी

●

भागवत के रत्नकण

(१) ब्रह्मावर्त की पश्चिम सीमा का नाम 'विनशन' लिखा है। यह 'विनशन' उसी स्थान का नाम है जहाँ भीष्मपितामह रण में गिरे थे। (भागवत १।९।१)

(२) मनु महाराज ब्रह्मावर्त में वास करते थे। (भागवत ३।२१।२५)

(३) धन का पञ्चधा विनियोग करना उचित है—'धर्माय'—धर्मानुष्ठान में, 'यशसे'—लोकोपकार द्वारा यश के लिए, 'अर्थाय'—धनवृद्धि के लिए, 'कामाय'—सुखार्थ, 'स्वजनाय च'—अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण में। (भागवत ८।१९।३७)

(४) आयुर्वेदप्रवर्तक 'धन्वन्तरि' समुद्र-मथन से उत्पन्न 'धन्वन्तरि' से भिन्न हैं। ये हैं दीर्घतमा ऋषि के पुत्र। (भागवत ९।१७।४)

(५) गोवर्धनलीला के समय श्रीकृष्ण ७ बरस के बालक थे। 'स सप्तहायनो बालः'। (भागवत १०।२६।३)

(६) चन्द्रवंशी राजा शन्तनु के भ्राता 'देवापि' और सूर्यवंशी 'मरु'—दोनों महायोगी 'कलापग्राम' में अभी विद्यमान हैं—कलियुग के अन्त में वासुदेव से शिक्षित होकर ये दोनों वर्णाश्रम धर्म को 'पूर्ववत् प्रतिष्ठापित' करेंगे। (भागवत ९।१२।५-६; ९।२२।१७-१८)

—म० म० डा० गङ्गानाथ झा

अर्वाचीन भारत के प्रति श्रीकृष्ण का सन्देश

अर्वाचीन भारत परिवर्तन के प्रवाह में बह रहा है। जनता के सामने कोई निश्चित आदर्श नहीं है। लोग एक लक्ष्य को छोड़कर दूसरे लक्ष्य की ओर जा रहे हैं। हमारा सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक जीवन बड़ी ही अव्यवस्थित दशा में है। हम लोगों ने अपनी प्राचीन गौरवपूर्ण संस्कृति को भुला दिया है, पर पाश्चात्य संस्कृति को भी पूरी तौर से नहीं अपना सके हैं। आज शिक्षित भारतवासी अपने धार्मिक आदर्शों पर विचार करने की चेष्टा नहीं करते। यही कारण है कि उन्हें ईश्वरीय प्रेरणा में विश्वास नहीं है और न वे इस बात को ही मानते हैं कि देश की सामाजिक एवं राजनैतिक उन्नति के लिए धार्मिक एवं आध्यात्मिक चर्चा की महत्ता एवं उपयोगिता है। हम लोगों में से कुछ भाई ऐसे हैं जो अपनी धार्मिक सम्पत्ति का यथेष्ट ज्ञान न रखने के कारण धर्म की अनुचित निन्दा करते हैं और देश के वर्तमान अधःपतन का दोष धर्म के ही सिर मढ़ते हैं। उनकी यह धारणा है कि आज यदि भारतवर्ष में धार्मिक मतभेद न होता तो भिन्न-भिन्न मतों के माननेवाले भारतवासियों में परस्पर इतनी फूट न होती और न हमारी राजनैतिक एवं सामाजिक उलझनें ही बिना सुलझे रहतीं। इस प्रकार की उक्तियाँ बिलकुल अप्रामाणिक हैं और सत्य से बहुत दूर हैं। हम लोगों को चाहिये कि इन सारी बातों की पक्षपातरहित आलोचना करें।

श्रीमद्भगवद्गीता में ईश्वर के पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण के जो अमूल्य उपदेश मिलते हैं उनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाना सर्वथा उचित ही है, क्योंकि वे उस महापुरुष के महिमान्वित वाक्य हैं जिनकी सारे संसार तथा सभी युगों के सन्त-महात्मा और ऋषि-मुनिगण पूजा और वन्दना करते हैं। संसार में वेद, उपनिषद् और स्मृतियों का प्रचार उन ऋषियों द्वारा हुआ जिनका आध्यात्मिक विकास भिन्न-भिन्न श्रेणी का था, किन्तु भगवद्गीता का उपदेश तो स्वयं भगवान् ने अपने श्रीमुख से दिया था। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता का इतना अधिक सम्मान है। गीता के आत्मा को फड़का देनेवाले उपदेश तीनों काल में सत्य हैं और प्रत्येक प्रकार के मनुष्य को इनके द्वारा विचार के लिए पर्याप्त सामग्री मिलती है, चाहे वह निवृत्तिमार्ग का अनुयायी हो चाहे प्रवृत्तिमार्ग का। श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश इतना सीधा और साथ ही इतना गम्भीर है कि साधारण बुद्धि के मनुष्य से लेकर महान्-से-महान् विद्वान् तक उससे लाभ उठा सकते हैं। डॉक्टर भगवानदासजी ने अपनी 'Science of social organisation' (सामाजिक व्यवस्था-शास्त्र) नामक पुस्तक के पृष्ठ ३४७-४८ में लिखा है—

'Great Avataras have come in the past and will come again in the future, whose grand figures loom and names of might echo through the haze of the ages. They have come and will come to close great epochs and to open greater ones. Smaller Messiahs, Prophets, Messengers and saintly teachers have performed and will perform similar functions with regard to smaller cycles and phases of civilizations. But the innermost truth, the one burden of the teaching of all–the one purpose of all this ever has been and ever shall be, by ever deeper yoga, to behold ever more fully the infinite glory of the Eternal Self.'

अर्थात् 'पहले भी अनेक महान् अवतार हो चुके हैं और भविष्य में होंगे जिनके लोकोत्तर विग्रहों तथा प्रभावशाली नामों को युगों से हम लोग स्मरण करते आते हैं। महान् युगों के अन्तर में और महत्तर युगों के प्रारम्भ में वे आते रहे हैं और आयेंगे। युगों के अन्तर्वर्ती काल में और सभ्यता की मध्यवर्ती अवस्थाओं में इसी प्रकार का कार्य करने के लिये अवतारों से निम्न श्रेणी के लोग जिन्हें मसीहा, पैगम्बर, ईश्वरदूत तथा सन्त, महात्मा, आचार्य कहते हैं, आये हैं और

आयेंगे। किन्तु सबसे गूढ़ रहस्य, उन सबके उपदेश का सार तथा एकमात्र प्रयोजन यही रहा है और रहेगा कि गम्भीरतर योग के द्वारा शाश्वत-ब्रह्म की अनन्त महिमा को अधिकाधिक पूर्णता से देखा जाय।'

इसी सनातन नियम के अनुसार कलियुग के प्रारम्भ के ठीक पूर्व, जिसे 'लोह के समान दृढ़ अहङ्कार का काला युग' कहते हैं, अनेक मनुष्यों के हृदयों को अनेक प्रकार के सम्बन्धों के द्वारा अपने में युक्त करने के लिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में प्रकट हुए। नारद ने युधिष्ठिर से कहा था—'हे मानवो! तुम लोग जिस किसी प्रकार से भी हो सके, अपना चित्त उस परमात्मा में लगाओ। मनीषी लोग श्रीकृष्ण को 'आकर्षक' कहते हैं, क्योंकि अपने नाम से वे सबकी आत्माओं को अपनी ओर खींच लेते हैं' (श्रीमद्भागवत, स्कं० ७।१।२९–३१ देखिये।)

'उस परमात्मा को ही अपना एकमात्र प्रियतम समझकर उसकी पूजा करो, क्योंकि आत्मा के लिए ही सारी वस्तुएँ प्रिय होती हैं' (देखिये, बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।८ और २।४।५) परमात्मा ही सारे भूतों के अन्तरात्मा हैं। इसी बात को भूली हुई मानव-जाति को बतलाने के लिए और इसे हृदयङ्गम करने में उनकी सहायता करने के लिए ही आध्यात्मिक उन्नति की भिन्न-भिन्न श्रेणी को पहुँचे हुए महात्मा समय-समय पर पृथिवी पर अवतीर्ण होते हैं। उन लोगों की कई आध्यात्मिक श्रेणियाँ होती हैं। अपने युग के लोगों की भौतिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक दशा में सुधार करना ही उन सबका सदा लक्ष्य रहता है। संसार के भिन्न-भिन्न प्राचीन एवं अर्वाचीन धर्मों का यही एकमात्र उद्देश्य रहा है।

जिस प्रकार शरीर के किसी एक अवयव पर आघात पहुँचने से सारे शरीर को आघात पहुँचता है उसी प्रकार मानव-समाज के किसी एक अंग को क्षति पहुँचने से सारी मानव-जाति को क्षति होती है। कोई भी मनुष्य अपने को इस घनिष्ठ सम्बन्ध से अलग नहीं कर सकता; किसीका भी संसार से अलग रहकर एकान्त-जीवन व्यतीत करना कठिन है; मानव-जातिरूप इस कुटुम्ब में जन्म लेकर हमें इसीके अन्दर रहना होगा। 'Universal Text Book of Religions' के सम्पादक ने लिखा है—'Brotherhood is a fact in nature and from it there is no escape' अर्थात् 'भ्रातृ-भाव प्रकृति का एक नियम है और मनुष्य उससे बच नहीं सकता।'

जितने भी धर्म हैं उन सबका यह विश्वास है कि परमात्मा चराचर भूतों के पिता, सिरजनहार और मूलाधार हैं। यदि यह बात ठीक है तो हम इस विश्वास से एकमात्र इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि परमात्मा की दृष्टि में सारे मनुष्य समान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है, 'मेरी सारे भूतों में समान बुद्धि है; मेरे लिये न तो कोई प्रिय है और न अप्रिय है, किन्तु जो लोग भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं वे मेरे अन्दर निवास करते हैं और मैं उनके अन्दर निवास करता हूँ।' (गीता ९।२९)

बाहरी सूरत-शकल और रुचि में कितना ही भेद क्यों न हो, मानव-जाति का मूल एवं उद्गमस्थान एक ही है। हम लोग इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकते कि हम सबका मूल एवं लक्ष्य एक ही है। कुछ लोग यह पुकारते हैं कि 'धर्मों के सम्बन्ध में और कुछ भी कहा जाय, पर इतनी बात निश्चित है कि उनमें परस्पर भ्रातृभाव नहीं है।' यद्यपि यह दुःख की बात है पर यह यथार्थ है कि यदि हम पिछले दिनों के धार्मिक इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि वस्तुतः धर्मों में बहुत कम एकता रही है; धार्मिक युद्ध एवं धार्मिक अत्याचार अत्यन्त निर्दयता के साथ होते रहे हैं; धार्मिक आक्रमण तथा प्रत्येक प्रकार की विभीषिकाओं ने धार्मिक संग्राम के इतिहास को हृदय-द्रावक एवं रक्त-रञ्जित बना दिया है। इसका कारण यही है कि हम लोग बहुधा धर्म के इस तत्त्व को भूल जाते हैं कि प्रत्येक धर्म में एक ही ईश्वर के महान् नाम का वर्णन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् ६।२।१ में कहा है—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' अर्थात् परमात्मा एक है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है। परमात्मा इतने महान्—इतने असीम हैं कि किसी एक मनुष्य की बुद्धि, चाहे वह

कितना ही बड़ा क्यों न हो और एक धर्म, चाहे वह कितना ही पूर्ण क्यों न हो, उसकी अनन्त पूर्णता को अभिव्यक्त नहीं कर सकता।

मानव-हृदय को शुद्ध करके उसे परमात्मा के निकट पहुँचाना ही संसार के धर्मों का उद्देश्य है। किन्तु लोग लापरवाही से अपने धर्मों का ही अध्ययन नहीं करते। इसीलिये वे अपने धर्म के विरुद्ध आचरण करते हैं। तत्त्व से देखा जाय तो धर्मों का परस्पर कोई विरोध नहीं है। क्योंकि जिन लोगों का भगवान् श्रीकृष्ण में और उनके हृदय को उन्नत करनेवाले शब्दों में सच्चा विश्वास है, उन लोगों के लिए यह धार्मिक विवाद शान्त हो जायगा, यदि वे भगवान् के निम्नलिखित शब्दों को याद रखेंगे जो उन्होंने पाँच हजार वर्ष पूर्व कहे थे—'जिस भाव से मनुष्य मेरी शरण आते हैं उसी भाव से मैं उन्हें स्वीकार करता हूँ, क्योंकि हे पार्थ! सब ओर से मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण करते हैं।' (गीता ४।११)

'जो सब भूतों के अन्दर निवास करनेवाले मुझ परमात्मा की एकीभाव में स्थित होकर पूजा करता है वह योगी मेरे ही अन्दर निवास करता है, चाहे वह किसी प्रकार का जीवन क्यों न व्यतीत करे।' (गीता ६।३१)

'हे धनञ्जय! मुझसे ऊँची कोई वस्तु नहीं है; यह सारा संसार धागे में मणियों की तरह मुझमें पिरोया हुआ है।' (गीता ७।७)

जो लोग यह मानते हैं कि वर्णव्यवस्था से द्विजाति के वर्णों पर नियन्त्रण होने के बदले—जिससे सारे समाज का अधिकाधिक कल्याण होता—आपस में इतना अधिक भेदभाव हो गया है जिससे कि व्यक्तिगत अहङ्कार की मात्रा बहुत बढ़ गयी है, वे लोग वर्णव्यवस्था के उद्देश्य को नहीं समझते। मनुमहाराज ने कहा है—'ब्राह्मण को मान से इतना दूर भागना चाहिये जितना लोग विष से दूर भागते हैं और अपमान को अमृत समझकर उसकी इच्छा करनी चाहिये (मनु० २।९२)।' प्राचीनकाल के महर्षियों का यह मत है कि 'जो मनुष्य अपने वर्ण-धर्म का पालन नहीं करता उसे वर्णच्युत समझना चाहिये।' मनुजी ने यह स्पष्ट कहा है—'लकड़ी का हाथी, चमड़े का हरिन और अविद्वान् ब्राह्मण—ये तीनों समान हैं, क्योंकि तीनों ही केवल नामधारी हैं।' (मनु० २।१५७) जो ब्राह्मण वेदों का अध्ययन न करके श्रम के द्वारा जीवन-निर्वाह करता है वह आचरण से शूद्र हो जाता है। जो बात ब्राह्मण के लिये कही गयी है वही क्षत्रियों तथा वैश्यों के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में लोगों की जैसी विपरीत धारणा है वैसी अन्य किसी सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में नहीं है। वर्णव्यवस्था की सृष्टि श्रमविभाग (division of labour) के युक्तियुक्त सिद्धान्त तथा विकास के सिद्धान्त की भिन्न-भिन्न श्रेणियों पर ही अवलम्बित नहीं है, जो प्रत्येक मनुष्य के लिए लागू होती है, किन्तु निर्विकल्प ज्ञान, भाव, इच्छाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति के नैसर्गिक तथा मनोविज्ञान के अनुकूल तथ्यों के अधीन है। चारों वर्णों की सृष्टि इन्हीं चारों वृत्तियों के अनुसार हुई है।

संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं है जहाँ मजदूर, साधारण गरीब प्रजा, उद्योग-धन्धों के संचालक, व्यापारी, साहूकार, किसान, राज्य की व्यवस्था को चलानेवाले योद्धा, अध्यापक, विद्वान् और आध्यात्मिक गुरु न हों और जिनकी अवस्था भिन्न-भिन्न श्रेणी की न हो और जो अपनी रुचि तथा प्रकृति के अनुसार कार्य न करते हों।

भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने श्रीमुख से कहा है—'हे परन्तप (अर्जुन)! शक्ति (गुण) तथा कर्मों के भिन्न-भिन्न विभाग से चारों वर्णों की सृष्टि मेरे ही द्वारा हुई है, उनका कर्ता मुझे ही समझो' (गीता ४।१३)

भगवान् श्रीकृष्ण फिर कहते हैं—'हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के कर्मों का विभाग उनके स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों के अनुसार ही हुआ है।'

आधुनिक काल में शूद्रों के साथ जैसा बर्ताव होता है वह हमारी प्राचीन संस्कृति के आदर्श के विरुद्ध है। दलित जाति को घृणा की दृष्टि से देखना और उनके साथ निन्दनीय बर्ताव करना मानव-जाति की पवित्रता के प्रति अपराध करना है। यह कहने से कि सिर और पैर की रचना अलग-अलग हुई है और उनके अलग-अलग काम हैं, पैर की अवज्ञा और सिर की बड़ाई नहीं होती। साथ ही इसके विरुद्ध उन दोनों से जबर्दस्ती एक ही काम करवाने की चेष्टा करना भी

मूर्खता है। इस बात को कौन अस्वीकार करेगा कि सिर और पैर, द्विज और शूद्र, वृद्ध एवं बालक दोनों का ही समान रूप से पोषण करना, उनके साथ समान रूप से प्रेम का बर्ताव करना और समान रूप से दोनों की सँभाल एवं रक्षा करना हमारा कर्तव्य है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि चारों वर्णों की उत्पत्ति भगवान् से ही हुई है। फिर वे यह आज्ञा कैसे दे सकते थे कि शूद्रों के साथ निर्दयता का बर्ताव किया जाय, जैसा आजकल भारत के कई प्रान्तों में होता है ? भगवान् ने अन्यत्र भी कहा है—'सारे भूतों के ईश्वररूप मुझ परमात्मा की सत्ता को न जानते हुए मूर्ख लोग मुझे मानव-विग्रह में देखकर मेरी अवज्ञा करते हैं' (गीता ९।११)।

'हे गुडाकेश ! मैं ही सब भूतों के हृदय में निवास करनेवाला अन्तरात्मा हूँ, मैं ही सारे भूतों का आदि, मध्य और अन्त हूँ।' 'हे अर्जुन ! सारे भूतों का जो कुछ भी बीज है वह मैं ही हूँ; चर-अचर भूतप्राणी कोई भी ऐसा नहीं है जो मेरे बिना रह सके।'

क्या इन अमूल्य वचनों से भी अधिक स्पष्ट कोई बात हो सकती है ? क्या इनसे यह बात असंदिग्ध रूप से नहीं झलकती कि मानव-जाति बड़ी पवित्र है ? क्या किसी चाण्डाल के अन्दर निवास करनेवाली आत्मा किसी क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण की आत्मा से वास्तव में भिन्न है ? क्या चाण्डाल के अन्दर ईश्वर की सत्ता नहीं है ? जब हम भगवान् के उपर्युक्त शब्दों को सामने रखते हुए अपने इन अभागे भाइयों की दशा पर विचार करते हैं तो हमारे सामने ये प्रश्न स्पष्टतया उपस्थित होते हैं।

ब्रह्म क्रिया का ही रूप है और इस भौतिक जगत् में आने का प्रयोजन इसके अतिरिक्त कोई नहीं है कि सद्विचार और सदिच्छापूर्वक सत्कर्मों का विकास किया जाय; अन्यान्य सारी बातें इसीकी सहायक हैं। संसार वांछनीय वस्तुओं से परिपूर्ण है, ईश्वर ने जगत् के अन्दर ऐसे पदार्थ भर रखे हैं जो कामना को जागृत करनेवाले हैं, ईश्वर स्वयं प्रत्येक वस्तु में अन्तर्हित है, प्रत्येक पदार्थ में जो मोहकता एवं आकर्षण-शक्ति है वह उसीकी दी हुई है। यही कारण है कि भगवान् ने कर्म पर इतना जोर दिया है। कर्मयोग नामक गीता के तीसरे अध्याय को पढ़ने से इसका कारण स्पष्ट समझ में आ जाता है। सब कुछ कर्म के आश्रित है। अन्न से भूतों की उत्पत्ति होती है, वर्षा से अन्न उत्पन्न होता है, यज्ञ से वर्षा होती है, कर्म से यज्ञ होता है और ब्रह्म से कर्म की उत्पत्ति जाननी चाहिये। (गीता ३।१४-१५) यही जीवन की शृङ्खला है—अन्न से भूत-प्राणी, वर्षा से अन्न, यज्ञ से वर्षा, कर्म से यज्ञ, ईश्वर से कर्म। संसार की सारी स्थिति, जीवों की सारी उत्पत्ति कर्म के आश्रित है।

भगवान् ने बार-बार यही उपदेश दिया है, 'तू सत्कर्म कर, क्योंकि निष्क्रियता से कर्म करना श्रेष्ठ है, कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकेगा।' (गीता ३।८) कर्म के पक्ष में सबसे बड़ी युक्ति यही है। भगवान् की युक्ति इतनी प्रबल है कि नास्तिक को भी उसके सामने सिर झुकाना पड़ता है। नास्तिक के लिये उसका शरीर ही सब कुछ है। यदि वह भी कर्म नहीं करेगा तो उसकी 'शरीर-यात्रा' नहीं हो सकेगी।

उपर्युक्त विवेचन के बाद हमें कर्तव्य-निष्ठा के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक हो जाता है जो इसी प्रश्न का दूसरा पहलू है। 'स्वधर्म' इन दो शब्दों में भगवान् ने बहुत गहन अर्थ भर दिया है। भगवान् के वचनों का पूर्णतया पालन न करने से सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक व्यवस्था का सारा महल मटियामेट हो जायगा। यह संसार एक मशीन अथवा पाठशाला की भाँति है। जब तक मशीन का प्रत्येक अवयव ठीक हालत में होता है और अपना काम करता रहता है तब तक उसकी अनुकूल गति में कोई रुकावट नहीं पड़ती। इसी प्रकार पाठशाला का कोई भी विद्यार्थी जब तक अपनी श्रेणी के लिये नियत किये हुए पाठ्यक्रम को ध्यानपूर्वक नहीं पढ़ लेता तब तक उसे अध्ययन से कोई लाभ नहीं होता। अपने प्राप्त कर्तव्य का पालन करने से ही वह निरन्तर उन्नति कर सकता है। यूरोप के कुछ देशों में जो वास्तव में

बढ़े-चढ़े हैं, वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय उन्नति का कारण यह है कि वे लोग अपने प्राप्त कर्तव्य के पालन में बहुत तत्पर एवं एकनिष्ठ होते हैं। बहुधा यह कहा जाता है कि हम भारतीयों में कर्तव्य-बुद्धि बहुत कम होती है; हम लोग भय और दबाव से काम करते हैं। यह आक्षेप सर्वथा निर्मूल नहीं है, परन्तु इस कर्तव्यच्युति के लिये धर्म को दोष नहीं दिया जा सकता। श्रीकृष्ण ने बिल्कुल स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में हमारे सामने कर्तव्य का बहुत ऊँचा आदर्श उपस्थित किया है। वे कहते हैं, 'अपना धर्म, चाहे वह गुणरहित ही क्यों न हो, भलीभाँति पालन किये हुए दूसरे के धर्म से अच्छा है। अपने धर्म के पालन में मर जाना अच्छा है, दूसरे के धर्म में जोखिम रहती है।' (गीता ३।३५)

मानव-जाति का जितनी भी शक्तियों से परिचय है, राष्ट्रीय जीवन के संगठन एवं पुनर्विकास में उन सबकी अपेक्षा आत्मबल का अधिक स्थायी एवं महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। आत्मबल से सम्पन्न एक मनुष्य मानव-जाति की जितनी सहायता कर सकता है उतनी संसार की सारी भौतिक सामग्री नहीं कर सकती। स्वार्थ-त्याग और आत्मसंयम नैतिक जीवन के प्राण हैं। जिन नेताओं और सेवाव्रतियों ने काम, क्रोध और लोभरूप अपनी अधम वृत्तियों का दमन करना सीख लिया है वे उन लोगों की अपेक्षा, जिनमें यह गुण नहीं होते, अधिक काम कर दिखाते हैं। स्वार्थ-त्याग और आत्मसंयम के बिना कोई भी पुरुष चाहे वह कितना ही चतुर एवं बुद्धिमान् क्यों न हो, आत्मबल का अर्जन नहीं कर सकता। आज अपने देश को स्वतन्त्र बनाने के लिये हम लोगों ने जो राजनैतिक संग्राम छेड़ रखा है उसमें आत्मसंयम एवं अहिंसा-व्रत की जितनी आवश्यकता है उतनी अन्य किसी भी नैतिक गुण की नहीं है। लोगों को दायित्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित करने तथा उनसे शासन एवं राष्ट्रीय संगठन का गौरवपूर्ण कार्य करवाने के लिये हमें सबसे बड़ी योग्यता यह देखनी है कि उनमें आत्मसंयम की शक्ति यथेष्ट मात्रा में है या नहीं।

भगवान् ने हमें यह बतलाया है—'आत्मा का आत्मा के द्वारा उद्धार करना चाहिये और आत्मा को अवसन्न नहीं होने देना चाहिये, क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। जिसने आत्मा के द्वारा ही आत्मा को जीत लिया है उसकी आत्मा ही उसका मित्र है; किन्तु जिसने आत्मा का दमन नहीं किया है उसकी आत्मा ही उसका शत्रु बन जाती है।' (गीता ६।५-६)

लोग यह कहते हैं कि 'हिन्दू-धर्म इतना विशाल और व्यापक है कि उसका पूर्ण रूप से अध्ययन करना किसी भी अध्ययन की इच्छा रखनेवाले मनुष्य के लिये सम्भव नहीं है। आधुनिक समय में जीवन-संग्राम इतना तुमुल हो गया है कि हम लोगों का अधिकांश समय खाने-कमाने में ही चला जाता है। फिर कोई वेदों और उपनिषदों में पारंगत कैसे हो सकता है ? वेद आदि की भाषा ही कठिन नहीं है, उनका विस्तार भी इतना है कि उनका भाव समझने के लिये मनुष्य की पूरी आयु चाहिये।' यह बातें किसी अंश में सत्य हैं, पर ऐसी बात नहीं है कि वेद और उपनिषदों को समझने का कोई उपाय ही न हो।

लेख के प्रारम्भ में ही यह बतलाया जा चुका है कि श्रीमद्भगवद्गीता भगवद्वाक्य है, इसीलिये उसका महत्त्व सबसे अधिक है। यह ग्रन्थ आकार में बड़ा भी नहीं है और न इसकी भाषा ही कठिन है। भारतवर्ष की सारी भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। यह बहुत ही सस्ती और सुलभ है। इसका उपदेश सब काल के लिये तथा ऊँच-से-ऊँच और नीच-से-नीच सब प्रकार के मनुष्यों के लिये उपयोगी है। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त, जिसमें श्रीकृष्ण का अमूल्य उपदेश भरा है, कोई दूसरा धर्म-ग्रन्थ ऐसा पवित्र नहीं है जो भारतवर्ष के लिये 'बाइबल' का काम दे सके। भगवान् के बताये हुए मार्ग पर चलने से ही अर्वाचीन भारत के भिन्न-भिन्न वर्ण, जातियाँ, धर्म और समाज मिलकर एक शक्तिसम्पन्न उन्नतिशील संयुक्त राष्ट्र बना सकते हैं।

हमारी यही प्रार्थना है कि भगवान् की दिव्य मुरली हमें उनके द्वारा गाये हुए शान्ति और एकता का पाठ पढ़ानेवाले अमर संगीत को सुनने के लिये प्रेरणा करे।

—मोहम्मद हाफ़िज़ सैयद

भारतीय संस्कृति का आदर्श : समता तथा अखंड मानवता

मानव-समाज की सारी जातियों के समस्त वर्गों के नर नारियों को लक्ष्य करके वैदिक ऋषि दहते हैं :

सहृदयं सौमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यंत वत्सं जातमिवाध्न्या ॥ १ ॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ ३ ॥
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः। तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट। संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संयमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो भुनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येक श्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥
(अथर्व० ३। ३०)

'मैं इस प्रकार परम अग्नि (विश्वदेवता) की सेवा करता हूँ, जिससे तुम सबके हृदयों में सम्यक् मिलन हो, मनों में सम्यक् मिलन हो और द्वेषभाव दूर हो जाय। गाय जिस प्रकार अपने नवजात बछड़े के प्रति आकृष्ट होती है, तुम भी उसी प्रकार एक-दूसरे के प्रति आन्दपूर्वक आकृष्ट होओ ॥ १ ॥ पुत्र पिता के कल्याण व्रत का अनुसरण करे, माता के साथ एकमना हो जाय, स्त्री मधुमती वाक् के द्वारा स्वामी के चित्त को शान्तिमय करे ॥ २ ॥ भाई भाई से द्वेष न करे, बहिन बहिन से द्वेप न करे। सब के सब एक लक्ष्य-साधन में, एक व्रतपालन में सम्मिलित होकर सुभद्र वाक्य से परस्पर सम्भाषण करें ॥ ३ ॥ जिस प्रकार 'ब्रह्म' या ईश्वरभावना के जल से देवता परस्पर विच्छिन्न नहीं होते, कोई किसी से विद्वेष नहीं करते, सारे मनुष्यो के लिये उसी प्रकार एक मति का सम्पादन करनेवाले सम्यक् ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली ब्रह्मभावना की विधि प्रणयन करके मैं तुम्हारे घर-घर में प्रतिष्ठित करता हूँ ॥ ४ ॥ एकमना होकर ज्येष्ठ-कनिष्ठ नियम के अनुसार, एक लक्ष्य-साधन के उद्देश्य से प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कार्यभार को वहन करे। परस्पर विच्छिन्न न होओ, परस्पर प्रिय सम्भाषण करते-करते अग्रसर होओ। मैं तुम लोगों को एक लक्ष्य में निबद्धदृष्टि तथा एकमना होनेके लिये आह्वान करता हूँ ॥ ५ ॥ एक ही पौसाले में तुम सब जल पियो, एक ही अन्नसत्र में भाग करके अन्न भोग करो। मैं तुम सबको एक ही स्नेह-रज्जुमें एकत्र सम्बन्धित करता हूँ। एक ही लक्ष्यसे आबद्ध होकर तुम सब अग्निदेवकी परिचर्या करो। रथचक्र के अरे जिस प्रकार एक ही धुरी को केन्द्रित करके अपना-अपना कार्य करते हैं, तुम सब भी उसी प्रकार से एक ही सुमहान् आदर्श से अनुप्राणित होकर, एक ही परम देवता को जीवन के केन्द्र में सुप्रतिष्ठित रखकर, अपने-अपने व्रतों का सम्पादन करते हुए उनकी सेवा करो ॥ ६ ॥ एक ही संवनन अर्थात् साम्यसाधक स्तोत्र के द्वारा मैं तुम सबको एक लक्ष्य के साधन में एकमना करता हूँ। सब एकान्न भोजी बनो। स्वर्ग के अमृत की रक्षामें जिस प्रकार सारे देवता एकमना होते हैं, उसी प्रकार अखण्ड मानवता के आदर्श की रक्षा में तुम सब में रात-दिन निरन्तर ऐकमत्य प्रतिष्ठित रहे ॥ ७ ॥

◆

असम में कृष्णभक्ति का विकास

—डा० ताराकान्त झा

असम के कृष्ण-भक्त

—डा० ताराकान्त झा

—डा० नवीन चन्द्र शर्मा

असम में कृष्णभक्ति का विकास

भारत के अन्य प्रदेशों के परिप्रेक्ष्य में असम में विकसित कृष्णभक्ति की अपनी एक अलग पहचान है और वह है यहाँके भक्तों का आराध्य कृष्ण के ही प्रति समर्पित होना। विशेषतः महापुरुष शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित नव वैष्णवधर्म में कृष्ण को तो परब्रह्म मानकर अतिश्रद्धा के साथ आराध्यदेव स्वीकार किया गया है, किन्तु एकआध स्थलों को छोड़कर राधा का कहीं वर्णन नहीं मिलता। आश्चर्य है कि जहाँ पद्म आदि पुराण तथा परवर्ती उपनिषद् राधा की परम आराध्या के रूप में महिमा वर्णन करते नहीं थकते वहाँ असमिया कृष्णभक्ति-साहित्य में वह एक प्रकार से अनुपस्थित ही दिखायी देती हैं। इस सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा है कि भागवत में स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण ही नवीन असमिया वैष्णव-धर्म में 'राधा' उजागर न हो सकीं; क्योंकि महापुरुष शंकरदेव तथा उनके अनुयायी भागवत महापुराण से विशेष रूप से प्रेरित एवं प्रभावित थे। कारण जो भी रहा हो, यह एक तथ्य है कि शंकरदेव तथा उनके धर्मावलम्बियों ने अकेले कृष्ण की ही आराधना की, राधा की नहीं। प्रतीत होता है कि अध्यात्मसाधना में स्त्री को प्रधानता देनेवाले वज्रयानी तथा सहजयानी बौद्धों और शाक्तों द्वारा समाज में प्रचारित भ्रष्टाचार को दृष्टि में रखते हुए ही उन्होंने अपनी भक्तिपद्धति में नारीतत्त्व को प्रश्रय नहीं दिया है। फलस्वरूप यहाँ राम के भी साथ सीता की उपासना का प्रचलन नहीं है। इस प्रकार उत्तरी भारत के वैष्णवों की परम्परा में प्रतिष्ठित युगलोपासना असमिया भक्ति-साधना में स्थान न पा सकी।

असम में विकसित कृष्ण-भक्ति के इतिहास पर विचार करने के लिए यदि हम उक्त चिन्ताधारा को निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित करें तो अधिक सुगमता होगी :

(क) शंकरदेव से पूर्व की कृष्ण-भक्तिधारा।
(ख) शंकरदेवकालीन कृष्ण-भक्तिधारा।
(ग) शंकरदेवोत्तर कृष्ण-भक्तिधारा।

(क) शंकरदेव से पूर्व की कृष्ण-भक्तिधारा :

महापुरुष शंकरदेव के आविर्भाव से पूर्व असम का धार्मिक परिवेश विभिन्न विचारों से जकड़ा हुआ था। शैव एवं शाक्त मतों का बोलबाला था। इन मतों के साथ तान्त्रिक प्रक्रिया का भी प्राबल्य होता जा रहा था। यही कारण है कि यह प्रदेश उत्तरोत्तर वामाचार का गढ़ बनता गया। परिणाम यह हुआ कि भोग की प्रवृत्ति बढ़ती गयी और सात्त्विक मनोवृत्ति शनैः शनैः लुप्त होने लगी। इसे स्पष्टरूप से स्वीकार करते हुए बी० काकति लिखते हैं :

"The land was infested with itinerant teachers of Vamachar Tantric Schools with their insistence on the philosophy of sex and palate. Among religious rites the most spectacular were bloody sacrifices to gods and goddesses amidst deafening noises of drum as cymbals, night vigils, virgin-worship and nude dances of temple women. (Mother Goddesses of Kamrupa. p. 84)

"कालिका-पुराण" (ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी) में इस भूभाग का उल्लेख तान्त्रिक देवी कामाख्या के आध्यात्मिक राज्य के रूप में किया गया है। शाक्त-कृति 'योगिनीतन्त्र' में यह घोषणा की गयी है कि कामाख्या के राज्य में किरात-धर्म प्रचलित था। आरंभ में यहाँके हिन्दुओं में शैवमत की सर्वाधिक मान्यता थी, किन्तु बाद में शाक्तमत का प्राधान्य हो गया। वास्तविकता यह थी कि पूर्वमध्यकालीन असम की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति तो अस्त-व्यस्त थी ही, धार्मिक स्थिति भी विभिन्न मत-मतान्तरों एवं उनके अनुयायियों के विपरीत आचरणों के कारण वैषम्यपूर्ण रही। अन्धविश्वास एवं जादू-टोना के चमत्कारों से समाज भ्रमित हो गया था। यहाँ अनेक संस्कारों के लोग थे जिनकी अपनी अलग-अलग धार्मिक मान्यताएँ थीं। विभिन्न प्रकार की तिब्बती और बर्मी आदिवासी जातियों की रहन-सहन की विचित्र परम्पराएँ थीं। सांस्कृतिक आदान-प्रदान के क्रम में हिन्दू-धर्म ने उन्हें प्रभावित किया तथा स्वयं भी उनसे बहुत कुछ ग्रहण किया।

तात्पर्य यह कि शंकरदेव से पहले शाक्तमत की वामपन्थी विचारधारा चरमसीमा पर पहुंच गयी थी। यही शाक्तमत यहाँ का सबसे बड़ा धर्म बन गया था। उसके अन्तर्गत देवी की पूजा के साथ-साथ योनि-पूजा (जो अभी भी प्रचलित है), पशुबलि तथा नरबलि की भी व्यवस्था थी। गौहाटी का कामाख्या-धाम इस धर्म का मुख्यकेन्द्र था। यह तो एक योनिपीठ ही माना जाता है। असम के शाक्तमत का प्रमुख ग्रन्थ 'कालिका-पुराण' वाममार्गी ग्रन्थ है। इसमें देवी को 'हृदय के निकटतम भाग' के मांस तथा रक्त अर्पित करने के अतिरिक्त पञ्च-मकारों (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) के भोग का भी विधान है। विशेष अवसरों पर नीलाचल के भैरवी-मन्दिर तथा सदिया के निकटस्थ तामेश्वरी-मन्दिर (यह स्थान सम्प्रति नेफा अंचल में है) में नर-बलि का भी प्रचलन था।

बौद्धधर्म की वज्रयान शाखा के विकृत रूप का प्रभाव भी यहाँ कम नहीं पड़ा। ये लोग भी भक्तों के लिए पन्च-मकारों का सेवन अनिवार्य मानते थे। ये 'प्रज्ञा-पारमिता' अर्थात् प्रत्येक नारी में वास करने-वाले सम्पूर्ण सत्य के भोग की अनुमति देते थे। बौद्ध लोग गोपनीय तान्त्रिक सिद्धान्तों द्वारा विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ दिखाकर जनता का शोषण करते थे। इसके अतिरिक्त कच्छप नाग, शीतला माता तथा कुछ अन्य देवी-देवताओं के पूजक भी यहाँ थे। इस प्रकार सारा प्रदेश तामसप्रधान रहस्यात्मक वातावरण में डूबा हुआ था। बाहर के लोग कामरूप को जादू-टोना एवं भूतविद्या का गढ़ समझते थे। ऐसी स्थिति में भी कृष्णभक्ति से यह अंचल अछूता नहीं रहा। मानना पड़ेगा कि कृष्णभक्ति की धारा प्रवाहित तो अवश्य थी, लेकिन क्षीणरूप में।

विद्वान् समीक्षक डॉ० सत्येन्द्रनाथ शर्मा ने साधिकार घोषित किया है कि असम में कृष्णभक्ति प्राचीन काल से ही विद्यमान थी :

> "The wotship of Vishnu in the form of Vasudeva seems to have been prevalent from early times. The Baraganga Rock Inscription of Mahabhati Verman which refers to the King as Param Bhagvata is the earliest recorded evidence of the existence of Vaishnavism.' (The New Vaishnavite Movement and the Satra Institution of Assam. p 5)

कालिका-पुराण के अनुसार कृष्णभक्ति के महत्त्वपूर्ण प्राचीन केन्द्रों में मनीकूट के हयग्रीव-माधव तथा दिक्करवासिनी देव-स्थल अधिक प्रसिद्ध माने गये हैं। राजा लक्ष्मीनारायणने, जिन्होंने सदिया में बहुत

दिनों तक राज्य किया, अपने १४०१ ई० के शिलालेख के द्वारा यह संकेत दिया है कि उन्होंने दो सौ 'पुटिस' जमीन बखंना ग्राम के एक ब्राह्मण को दी थी। ये हरिदेव के सुपुत्र रविदेव के नाम से जाने जाते थे। इन्हें जमीन देने का प्रधान कारण यह था कि ये श्रीकृष्ण के नियमित उपासक थे। इससे स्पष्ट है कि पन्द्रहवीं शताब्दी से पहले इस प्रदेश के विभिन्न भागों के मन्दिरों या देवस्थलों में श्रीकृष्ण की आराधना की जाती थी और वैष्णवधर्म का पर्याप्त प्रचार था।

यहाँ के पुराने निवासी ब्राह्मण अधिकांशतः कृष्णोपासक थे, वे प्राचीनपंथी कहलाते थे किन्तु जिन ब्राह्मणों के पूर्वज बाद में आये तथा बंगाल के रघुनन्दन पंडित द्वारा प्रवर्तित 'स्मार्त' सम्प्रदाय में दीक्षित हुए, उनके लिए कृष्ण की पूजा करने की कोई अनिवार्यता नहीं थी। असम के भिन्न-भिन्न स्थानों में प्राप्त कृष्ण की प्रतिमाएँ यह सिद्ध करती हैं कि इस प्रदेश में वैष्णवधर्म की सबसे प्राचीन परम्परा कृष्णभक्ति के रूप में ही पायी जाती है :

"Images of Vasudeva and his manifestations found in different parts of Assam also point to the conclusion that Vasudevism was the earlier form of Vaishnavism practised in Assam." (Dr. S.N. Sharma : The Neo-Vaishnavite Movement and the Satra Institution of Assam—p.6)

लेकिन इस समय की असमिया कृष्णभक्तिधारा शंकरदेव-प्रवर्तित भागवती धर्म (महापुरुषिया-धर्म) की अपेक्षा कुछ भिन्न प्रकार की थी।[1] अनुमान तो यही होता है कि शंकरदेव से पूर्व असम की कृष्णोपासना-पद्धति भारतके अन्य प्रान्तों की कृष्णोपासना से बहुत कुछ मिलती-जुलती रही होगी।

असम में राम की पूजा का उल्लेख कम मिलता है। सर्वाधिक लोकप्रियता मिली है कृष्णोपासना को ही। विष्णु, नारायण, हरि, पुरुषोत्तम वासुदेव आदि नाम भी कृष्ण के ही द्योतक हैं। प्रो० भवप्रसाद चालिहा का यही अभिमत है :

"Rama worship was not very popular in Assam although a reference occurs to it in one of the copper plates of Indrapala. The most celeberated and popular Avatar of Vishnu is Krishna whose accounts became the theme of early literature. Vishnu's other names such as Narayana, Hari, Vasudeva, Purushottama are found in some of the grants."—The Assam Tribune, 7-2-1984.

इस तरह अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि असम में कृष्णभक्ति ही सबसे प्राचीन वैष्णव-पद्धति रही। महाभारत के अनेक लोकप्रिय अंशों के असमिया अनुवादों से कृष्णसम्बन्धी साहित्यिक सामग्री और अधिक पुष्ट एवं प्राणवन्त हुई है। इसके पुरस्कर्ताओं में हरि विप्र, कविरत्न सरस्वती, रुद्र कंदलि आदि के नाम सादर लिये जाते हैं। ये सभी शंकरदेव के पूर्ववर्ती थे।

(ख) शंकरदेवकालीन कृष्ण-भक्तिधारा :

शंकरदेव पूर्वांचल के विशिष्ट धर्मोपदेष्टा एवं संप्रदाय-प्रवर्तक होने के साथ-साथ एक भव्य आलोकस्तम्भ भी माने जाते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य आविर्भूत सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न इस

---

[1] जर्नल आफ आसाम रिसर्च सोसाइटी, भाग ३, पृ० ५२।

महापुरुष ने असमिया संस्कृति, साहित्य, समाज तथा वैष्णवधारा को अपूर्व दिशा-निर्देश प्रदान किया। अप्रतिम अध्यात्मसाधक होने के अतिरिक्त वे महान् समाज-सुधारक, लोकनायक, श्रेष्ठ साहित्यकार, कवि, नाटककार, चित्रकार, संगीतज्ञ तथा अभिनेता भी थे। सचमुच वे असमिया संस्कृति के 'वैतालिक' तथा 'ज्ञानकोश' कहे जा सकते हैं। उनके सम्बन्ध में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी ने ठीक ही कहा है :

"The greatest name in early Assamese literature is that of Sankardeva and he has left his stamp on Assamese literature and culture, on Assamese religion and way of life. He was a poet and saint, religious teacher and social reformer all in one and his influence on Assamese life and literature is comparable to that of Tulsidas for the people of the Upper Ganges Valley-speakers of Braj and other western Hindi, of Avadhi and other Kosali dialects and even the Bhojpuri, Magahi and Maithili speakers."

भारतवर्ष के अनेक तीर्थस्थानों के वर्षों तक पर्यटन के उपरान्त उन्होंने अपने गंभीर एवं व्यापक अनुभव से जो नवनीत निकाला वह 'नव वैष्णववाद' के रूप में लोगों के समक्ष प्रस्तुत हुआ। उन्होंने जिस संप्रदाय का प्रवर्तन किया वह 'महापुरुषिया', 'नामधर्म' अथवा 'एकशरण' के नाम से जाना जाता है। भागवत पर आधारित होने के कारण उसे 'भागवती धर्म' की भी संज्ञा दी गयी है। 'श्रीमद्भागवत' तथा 'गीता' ही असमिया कृष्णभक्ति के मूलाधार हैं।

अनेक बाधाओं के बावजूद महापुरुषिया धर्म अथवा शंकरदेव-प्रवर्तित कृष्णभक्ति-आन्दोलन द्रुतगति से आगे बढ़ा और कुछ ही दिनों में सम्पूर्ण असम में ऐसा छा गया कि अन्य सम्प्रदाय अपने आप ढँक-से गये। जिस भूमि में शाक्त सम्प्रदाय की तूती बोलती थी वहाँ एकशरण नामधर्म की पताका फहराने लगी। इस नवोदित धर्मसाधना ने सम्पूर्ण असम को आन्दोलित कर दिया तथा यहाँके समाज को दीक्षित कर उसे अपने रंग में पूर्णतः सराबोर कर दिया। इसकी छाप इतनी सशक्त तथा अमिट हुई कि आजतक इस क्षेत्र का जनमानस अधिकांशतः उसी धर्म से प्रेरित, प्रोत्साहित तथा संचालित होता आ रहा है, मानो असमिया जनसमुदाय की जीवन-यात्रा का प्रमुख पाथेय बन गया हो।

विद्वानों ने महापुरुषिया धर्म पर कुछ अंश में पद्मपुराण का प्रभाव स्वीकार किया है। 'महापुरुषिया' शब्द संस्कृत के 'महापौरुषिक' (भागवत १.१४.३७) के आधार पर बना है। श्रीधर स्वामी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है : "महापुरुषो विष्णुः, एतदीया महापुरुषिकाः वैकुण्ठनाथानुचराः" (भागवत, श्रीधरी २.१.१०)। माधवदेव ने इसका रूपान्तर 'महापुरुषर सेवक' (महापुरुष का सेवक) माना है जिसका अर्थ है परमाराध्य देवाधिदेव विष्णु (कृष्ण) जो प्रकृति एवं पुरुष दोनों के नियंता हैं का सेवक : 'प्रकृतिपुरुषयोर्द्वयोर्नियन्ता माधव महापुरुषर सेवक' (नामघोषा, ४०५)।

शंकरदेव के भक्ति-सम्प्रदाय का अधिकृत नाम 'एकशरण' (एकसरन) नाम-धर्म है और इस नाम से ही शंकर-सम्प्रदाय के मुख्य सिद्धान्तों की व्याख्या हो जाती है। ये सिद्धान्त एक ईश्वर अर्थात् विष्णु, विशेष रूप से उनके कृष्णावतार विष्णु पूजा करने का आदेश देते हैं और भक्तों को किसी दूसरे देवी-देवता की पूजा करने का निषेध करते हैं। इस नाम में शंकर-सम्प्रदाय के मुख्य रूप का भी संकेत है, जिसके अनुसार ईश्वर के पवित्र नामों का उच्चारण गाकर अर्थात् कीर्तन के माध्यम से करना चाहिए। 'भगवद्गीता' में कहे गये भगवान् के उन शब्दों का स्मरण करना चाहिए जिन्हें स्वामी रामानुज ने चरम श्लोक कहकर

पुकारा है और जिनमें प्रभु के प्रति अटल भक्ति का आदेश दिया गया है : 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (१८.१८)।

एकशरण-नामधर्म के अनुसार भक्त को दूसरे देवताओं की मूर्तियों को न तो प्रशंसात्मक भाव से देखना चाहिए और न घृणात्मक भाव से। साथ ही उसे अन्य देवों के पूज्यस्थलों पर भी नहीं जाना चाहिए। मात्र कृष्ण की आराधना करनी चाहिए। किन्तु किसी भी स्थिति में दूसरे सम्प्रदायों से द्वेष रखना सर्वथा वर्जित है।

भक्त को किसी लाभ के लिए भक्ति की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। परम सौन्दर्य की प्राप्ति भी उसका अभीष्ट नहीं है : 'अहैतुकी अव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।' अतएव आदर्श भक्त वही है जो अपनी आत्मा की मुक्ति की भी अभिलाषा नहीं रखता : 'मुक्तितो निस्पृहः।'

शंकरदेव-प्रवर्तित नव वैष्णववाद की कृष्णभक्ति में प्रधानतः तीन सिद्धान्त स्वीकृत हैं :

(१) सत्संग—भक्ति के लिए साधु-सन्तों का सामीप्य प्राप्त करना।

(२) एकशरण (एकसरन)—केवल भगवान् कृष्ण का आश्रय ग्रहण करना।

(३) नाम—आराध्य के नाम का कीर्तन अथवा उनकी प्रार्थना करना।

भक्ति के नौ रूपों (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन) में से श्रवण और कीर्तन को शंकरी-विचारधारा ने सर्वोच्च प्राथमिकता दी है; क्योंकि ये दोनों साधन सर्व-साधारण के लिए सुगम एवं सुलभ हैं। यद्यपि मूर्तिपूजा भी भक्ति का एक मान्य साधन है, किन्तु शंकरदेव की पद्धति में मूर्ति-पूजा एवं शास्त्रीय विधि-विधान का महत्त्व नहीं है। इनके मत से जो व्यक्ति भक्त का निरादर करता है और मूर्ति से मोक्ष पाने की कामना करता है, वह पशु से भी अधिक अधम है : 'गरुतो अधमः' (शंकरदेव, कीर्तनघोषा ३.६१)। शब्द अथवा मन्त्र के अतिरिक्त परम पिता की कोई दूसरी मूर्ति नहीं है : 'मन्त्रमूर्तिम् अमूर्तिकम्'। इसलिए जो आदर्शभक्त है वह परमपिता की आराधना अपने अन्तर में करता है और इतनी पूज्य भावना से करता है जितना उसका हृदय अर्पित कर सकता है (शंकरदेव, भक्ति-रत्नाकर, ९ : उद्धरण भाग० पु० ११.२७.१५)। सच्चे अध्यात्म तत्त्ववेत्ता की भाँति शंकरदेव ने यह अनुभव किया कि ईश्वर प्राणिमात्र के हृदय में व्याप्त है। जब हम इस सत्य को भूल जाते हैं तभी उसे अपने से बाहर ढूंढ़ते हैं (कीर्तनघोषा, ८.११)। इस भक्ति-पद्धति में कुछ समीक्षक विरोधाभास का संकेत पाते हैं, आगे इस पर विचार किया जायगा।

महापुरुषिया मत में दास्यभक्ति को अतिशय महत्ता दी गयी है। भगवान् श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व एवं स्वामी मानकर उनकी आराधना में निष्ठावान् सेवक की तरह रत रहना इस परम्परा की एक उल्लेखनीय विशेषता है। शंकरदेव के शब्दों में :

कृष्णार किंकरे शंकरे मणे। बोला हरि हरि समस्त जने॥

एकशरणिया मत में चार सत्यों के प्रति विश्वास व्यक्त किया गया है। वे हैं : १. देव, २. नाम, ३. गुरु और ४. भक्त।

देव : अर्थात् श्रीकृष्ण जीवों के लिए एकमात्र शरण्य हैं। अतः इनकी सेवा ही वाञ्छनीय हैं।

नाम : नाम से तात्पर्य है परमेश्वर (श्रीकृष्ण या विष्णु) का नाम। इस मत में नाम को इतनी अधिक महत्ता दी गयी है कि महापुरुषिया धर्म को 'नाम-धर्म' भी कहा जाता है। पाप के समूल विनाश के

लिए भगवान् का नाम सर्वोपरि है। इसीलिए कहा गया है : **'नामार समान धर्म नाहि संसारत'**। अर्थात् संसार में नाम के समान दूसरा धर्म नहीं है।

गुरु : गुरु से धर्माचार्य का बोध होता है जो शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त लक्ष्य प्राप्ति-हेतु शिष्य का उचित पथ-प्रदर्शन करता है। महापुरुषिया मत में भारत की अन्य भक्ति-पद्धतियों के समान ही गुरु को पूज्य एवं अत्यधिक श्रद्धेय स्थान प्राप्त है।

भक्त : मन, वचन तथा कर्म से (मनसा, वाचा, कर्मणा) ईश्वर की भक्ति करनेवाला व्यक्ति भक्त कहलाने का अधिकारी है। भक्त के लिए सत्संग तथा गुरु का पथप्रदर्शन नितान्त आवश्यक है। सच्चे भक्त के लिए बाह्य तथा आन्तरिक पवित्रता जरूरी है। चित्त की निर्मलता के लिए हरिनाम अमोघ औषध है। भक्त के लिए गृहस्थाश्रम त्यागने की कोई आवश्यकता नहीं। पारिवारिक जीवन का दायित्व निभाते हुए भी कोई चाहे तो भक्त हो सकता है। महापुरुष शंकरदेव ने एक सुखी पारिवारिक जीवन व्यतीत किया था, किन्तु माधवदेव आजीवन अविवाहित रहे। इस प्रकार महापुरुषिया सम्प्रदाय में इन चार सत्यों को विशेष रूप से मान्यता दी गयी है।

संक्षेप में हम उपर्युक्त कृष्णभक्ति की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप से वर्गीकृत कर सकते हैं :

(क) चार सत्यों के प्रति आस्था। यथा : १. गुरु, २. देव, ३. नाम तथा ४. भक्त।

शंकर देवेयो पुनरपि देखाइलन्त।
गुरु देव नाम भक्त चिनाइ दिलन्त॥

(ख) शंकरदेव-प्रवर्तित कृष्णभक्ति 'नव वैष्णववाद' नाम से भी प्रसिद्ध है।

(ग) कृष्णभक्ति की इस पद्धति में एकेश्वरवाद के प्रति आस्था व्यक्त की गयी है। वह ईश्वर है—श्रीकृष्ण। किन्तु इसमें तथा शंकराचार्य की अद्वैत भक्ति-पद्धति में अन्तर है।

(घ) प्रधानरूप से भागवत तथा गीता पर आश्रित होने पर भी महापुरुषिया कृष्णभक्ति में सगुण भक्ति का आभास तो है, किन्तु प्राधान्य है निर्गुण भक्ति का ही। यथा :

निर्गुण कृष्ण.र गुणक प्रकाश किरिला श्रीशंकरे।
श्रवण कीर्त्तन करि महासुखे पापीओ संसार तरे॥

(ङ) इसमें मूर्तिपूजा, यज्ञ, मन्त्रादि को महत्त्व नहीं दिया गया है तथा दास्यभक्ति के प्रति निष्ठा व्यक्त की गयी है। शंकरदेव के बाद कुछ-कुछ स्थानों में मूर्तिपूजा का श्रीगणेश हुआ, जिसे आगे विवेचित किया जायगा।

(च) एकशरण : इस सिद्धान्त के अनुसार श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। उन्हींकी शरणागति भक्त का मुख्य लक्ष्य है। अतः आराध्यदेव श्रीकृष्ण (देवकीपुत्र) हैं। यहाँ राधा की अस्वीकृति की गयी है। एकआध जगह यदि उनका उल्लेख मिलता भी है तो मात्र एक सामान्य गोपी के रूप में।

(छ) नाम-कीर्तन को यहाँ इतना महत्त्व दिया गया है कि महापुरुषिया धर्म 'नामधर्म' के नाम से ही विख्यात है। उनकी मान्यता है कि हरिनाम के मात्र कीर्तन से सभी पाप धुल जाते हैं।

(ज) शंकरदेव के अनुसार ईश्वर (श्रीकृष्ण) सर्वशक्तिमान् तथा नित्य है। भजन के लिए शरीर एवं मन की पवित्रता अत्यावश्यक है।

(झ) महापुरुषिया धर्म की शिक्षा सर्वसाधारण के लिए सुलभ है। इसके लिए जाति का कोई बन्धन नहीं। इससे निम्न जाति के हिन्दू ही नहीं, मुसलमान भी इस धर्म में दीक्षित हुए।

(ञ) श्रीकृष्ण के नाम-भजन में सारे गुण सन्निहित हैं। अतः अन्य देवी-देवताओं की उपासना वर्जित की गयी है।

(ट) प्रार्थना-भवन या कक्ष में (नाम-घरों में) धार्मिक ग्रन्थ विशेषतः भागवत को पूज्य एवं श्रद्धेय रूप से रखा जाता है। इसे यदि ग्रन्थपूजन की संज्ञा दें तो अत्युक्ति नहीं। सिख-गुरुद्वारों में 'ग्रन्थसाहिब' की भाँति यहाँ 'भागवत' को आदरणीय स्थान प्राप्त है।

(ठ) समवेत प्रार्थना में महिलाओं का निषेध है। प्रायः उनके लिए अलग बैठने की व्यवस्था रहती है। किन्तु पीछे इसमें उदारता बरती गयी तथा उन्हें भी सम्मिलित होने की कुछ सीमा तक छूट दी गयी और नारियों ने भी सक्रियता दिखायी।

(ड) महापुरुषिया सम्प्रदाय में खाने-पीने में स्वच्छता तो बरती जाती है, किन्तु भक्त यदि चाहे तो मांस-मछली खा सकता है; फिर भी मुर्गी का मांस वर्जित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकरदेव-प्रचारित कृष्णभक्ति बहुत कुछ भारत की अन्य भक्ति-पद्धतियों से मिलती-जुलती होती हुई भी अपने आपमें विशेष प्रकार की कही जा सकती है। अतः इसका नामकरण 'नव वैष्णववाद' सटीक जँचता है। यह कृष्णभक्ति अत्यंत सरल तथा जनसामान्य के लिए सुलभ थी। फलतः अधिक से अधिक लोग इस धारा में सम्मिलित होने लगे। ब्राह्मण के साथ-साथ शूद्र, अछूत, आहोम, कोच, मीरी, यचारी आदि जातियों के लोग भी इस कृष्णभक्ति में दीक्षित हुए। असमिया कृष्णभक्ति की इस उदारता के कारण विभिन्न जातियों के लोग धार्मिक बन्धुत्व में बँधकर सांस्कृतिक एकता की ओर शालीनता से अग्रसर होने लगे।

शंकरदेव ब्राह्मण नहीं थे, किन्तु ब्राह्मणों को उन्होंने शिष्य के रूप में स्वीकार किया। उन शिष्यों ने उन्हें वही सम्मान दिया जो एक श्रेष्ठ आध्यात्मिक गुरु को दिया जाता है। जातिवाद तथा रूढ़िवादी प्रथाओं को तोड़ने के कारण शंकरदेव को कूचबिहार राज-दरबार में सफाई भी देनी पड़ी थी। तत्कालीन पण्डित तथा ब्राह्मणों ने उनका खुलकर विरोध किया जिससे उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा। उनके अनुयायी दामोदरदेव पर भी शूद्र-धर्म स्वीकार करने का आरोप लगाया। इसका समाधान यह प्रस्तुत किया गया कि शूद्र पर यह प्रतिबन्ध तो लगाया जा सकता है कि वह दूसरों के लिए वैदिक मन्त्र की व्याख्या न करे, किन्तु जहाँतक किसीको नाममन्त्र देने का प्रश्न है, उसे इसकी पूरी स्वतन्त्रता है। इसलिए शंकरदेव की पद्धति में हमें केवल शूद्रगुरुओं के ही नहीं, बल्कि ऐसे लोगों के भी ब्राह्मण शिष्य मिलते हैं जो भारत के दूसरे भागों में ब्राह्मण-समुदाय द्वारा अछूत माने जाते हैं। हमें ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ किसी सत्र में गुरु का पद शूद्र के बाद ब्राह्मण ने ग्रहण किया। जातिभेद के आधार पर किसी व्यक्ति को शंकरदेव के मत में दीक्षा लेने के अयोग्य नहीं माना गया। शंकरदेव तथा माधवदेव के अनुयायियों में चाँदसाई और जयहरि मुसलमान, गोविन्द गारो तथा जयानन्द मुतिया थे। जयन्ती का माधव हीरा अर्थात् कुम्हार का व्यवसाय करता था। श्रीराम कैवर्त जाति के और दामोदर बनिया थे। बाद के गुरु श्रीरामदेव ने कुछ नोकटे नागाओं को भी दीक्षा दी थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि असमिया कृष्णभक्ति ने समन्वय, प्रेम एवं सौहार्द का एक व्यापक वातावरण तैयार किया तथा असम को राष्ट्र की चिन्ताधारा से संपृक्त करने का स्तुत्य प्रयास किया।

राष्ट्रीय एकता के लिए यह एक महान् वरदान सिद्ध हुआ। इस दृष्टि से इस भक्ति-संप्रदाय की जितनी भी प्रशंसा की जाय, थोड़ी होगी।

यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि मध्ययुग में साहित्य का मुख्य प्रेरक तत्त्व धर्म ही था। असम के सम्बन्ध में भी यही बात सत्य है। इस भक्ति-आन्दोलन ने अपार साहित्यिक एवं कलात्मक कृतियों से असमिया वाङ्मय को पल्लवित, पुष्पित एवं फलित किया। संगीत एवं कला के क्षेत्र में भी इसने अपूर्व योगदान किया। अतः धर्म के साथ-साथ साहित्य एवं कला की श्रीवृद्धि में इस आन्दोलन का यश अजर-अमर रहेगा। नाटक, काव्य, निबन्ध, गीत, संगीत आदि के सृजन से इस आन्दोलन ने असमिया भाषा एवं साहित्य को मात्र चमकाया ही नहीं, प्रत्युत इनकी आधारशिला को सुदृढ़ बनाया तथा सही धरातल पर प्रतिष्ठित किया। सचमुच असम में पुनर्जागरण लाने का श्रेय इसी कृष्णभक्ति-धारा को है। प्रेम, बन्धुत्व तथा आत्मीयता के निर्मल जल से इसने पूर्वांचल को ऐसी दक्षता से सींचा कि यह प्रदेश पुष्ट एवं प्रबुद्ध होकर लहलहा उठा। साहित्य महापुरुषिया धर्म का अधिकृत साधन है, जिसका उद्देश्य है सर्वसाधारण में सांसारिक विशेषतः स्त्रियों और अशिक्षितों में जीवन और कृष्णभक्ति के प्रति लगन पैदा करना। असम की इस मध्ययुगीन कृष्णोपासना की अपूर्व विशेषता है विचारों की स्वाधीनता और सर्वग्राह्यता। इससे परम्परागत अन्धविश्वास एवं आडम्बर का एक प्रकार से मूलोच्छेद हो गया।

अपने धर्म के प्रचार के लिए महापुरुष शंकरदेव तथा उनके अनुयायी महापुरुष माधवदेव, दामोदरदेव, हरिदेव जैसे महान् भक्तों तथा धर्माचार्यों ने एक विशाल सम्प्रदाय संगठित किया जिसके मूल में अपार दक्षता, दूरदर्शिता, लगनशीलता, पटुता, व्यवहार-कुशलता, विद्वत्ता, कर्मठता, सांगठनिक क्षमता, उदात्तता, कृष्णभक्ति के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए अटूट आस्था एवं जनकल्याण की भावना सन्निहित थी। उनके द्वारा प्रवर्तित शिष्य एवं सन्त-परम्परा ने असमिया कृष्णभक्ति को जनता के समक्ष लोकप्रियता एवं प्रेम से रूपायित किया। आजके घोर वैज्ञानिक युग में भी असमिया कृष्णभक्ति प्राणवंत है, इसका श्रेय उसी भक्त-परम्परा को है। सन्तों, नामघरों (प्रार्थना-भवनों) आदि के द्वारा महापुरुषिया भक्त आज भी कृष्णभक्ति को फैलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं।

मध्ययुगीन कृष्णभक्ति के इस संदेश को असम के विशाल जनसमुदाय ने हृदयंगम किया और सहर्ष अपनाया। यहाँके साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन में इस भक्ति का अतुलनीय स्थान है। कृष्णभक्ति से परिपूरित इसका विशाल भंडार सुरसरिताकी धारा के समान पुनीत, कल्याणकारी तथा मनोहर रस से ओत-प्रोत एवं भव्य है।

असहाय, ग्रामीण, दीन, अशिक्षित तथा निम्नस्तरीय लोकजीवन में कृष्णभक्ति के प्रवेश से आशा की किरण फूटी और सामान्य जनता ने यह अनुभव किया कि 'सादा जीवन, उच्च विचार' को अपनाकर समाज में रहते हुए भी आध्यात्मिक उत्थान हो सकता है। इसके लिए मन, कर्म तथा वचन की पवित्रता की आवश्यकता है, टीम-टाम की नहीं। असम साहित्य-सभा के प्राक्तन अध्यक्ष तथा मूर्धन्य विद्वान् पं० तीर्थनाथ शर्मा यहाँके धर्म-जीवन के उत्कर्ष की दिशा में शङ्करदेव द्वारा की गयी अपूर्व सेवाओं का आकलन करते हुए लिखते हैं :

"To Sankardeva also Krishna the Supreme Being is also a Param Bandhava. He is Din-Dayal and Patit-Pavan. Every chapter of his Kirtan and Bhagvata is replete with expressions of his hearty yearnings for such a Krishna.

He paid special attention to the people who in the eye of the society of that age were of lower ladder and his Nam-Dharma to such unfrequented houses and to persons who otherwise would have remained away from the pure pursuits of religious life."

(ग) शंकरदेवोत्तर कृष्ण-भक्तिधारा :

कृष्णभक्ति के प्रचार-प्रसार में श्रीमंत शङ्करदेव ने स्तुत्य भूमिका निभायी और उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। जिस तरह वे मनीषी, पण्डित, दूरदर्शी तथा सुयोग्य धर्मगुरु थे उसी तरह उनके कुछ प्रमुख शिष्य भी असाधारण प्रतिभासम्पन्न हुए। इस सूची में महापुरुष माधवदेव, दामोदरदेव, हरिदेव एवं नारायण ठाकुर (ठाकुर आता) का नाम अत्यन्त श्रद्धा एवं आदर के साथ लिया जाता है। इन भक्तों ने शङ्करदेव के जीवनकाल में ही नामधर्म के प्रचार का दायित्व अपने ऊपर ले लिया था और बड़ी निष्ठा के साथ आगे बढ़े थे। अतः कृष्णभक्ति के विकास में उनके अनुयायी उपर्युक्त धर्माचार्यों की भी भूमिका अत्यन्त अभिनन्दनीय रही है।

परवर्ती काल में दामोदरदेव तथा हरिदेव द्वारा प्रचारित भक्ति का स्वरूप शङ्करदेव की भक्ति-पद्धति से किंचित् भिन्न हो गया। उसमें मूर्तिपूजा का समावेश हो गया। यह 'ब्रह्म-संहति' के नाम से प्रसिद्ध हुई। शङ्करदेव के देहावसान (सन् १५६८ ई०) के बाद माधवदेव ने गुरु के संदेश को असम के कोने-कोने में फैलाने का भगीरथ प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में धर्माचार्यों की नियुक्ति कर उनपर धर्मप्रचार का दायित्व सौंपा। जनसामान्य में कृष्णभक्ति के प्रचार के लिए उन्होंने सत्रों की स्थापना तथा प्रगति पर भी जोर दिया। कालान्तर में जनसामान्य को अपने मत में दीक्षित करने के लिए सत्रों का विकास अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। माधवदेव ने वात्सल्यभाव की उद्भावना में भी प्रशंसनीय प्रतिभा दिखायी। इनकी महती भूमिका को ध्यान में रखकर ही एक भक्त (दैत्यारि ठाकुर) ने कहा है :

शंकर भकति प्रकाश, माधवे प्रचारिला।

'शङ्करदेव ने भक्ति का प्रकाश दिया और माधवदेव ने उसका प्रचार किया।' डॉ० महेश्वर नियोग का भी यही मत है :

"While Sankar constructed the basic part of Assam-Vaishnavism, his nominee Madhava added the super-structure to apostolic machinery and monastic organisation."—Dr. Maheshwar Neog : Sankerdeva and His Times. p. 127

माधवदेव की मृत्यु सन् १५९६ ई० में हुई। उनके बाद भक्तों के जिस समुदाय ने माधवदेव की मान्यता को जनसमुदाय में प्रचारित किया उनमें प्रमुख हैं : मथुरादास, गोपाल आता, विष्णु आता, बूढ़ा आता, केशवचरण आता, वंशी गोपाल देव तथा यदुमणि देव।

असम का सत्र-संस्थान :

असम का कृष्णभक्ति-आन्दोलन विषम परिस्थितियों तथा अनेक बाधाओं के बावजूद बड़ी द्रुतगति से विकसित हुआ। इसके लिए भक्तों को कड़ा संघर्ष तथा यदा-कदा राजकोप का भी सामना करना पड़ा। फिर भी यह आन्दोलन गतिशील रहा तथा जन-मन में छा गया। उसकी इस विकास-यात्रा में बिखराव और साहित्य-सृजन में शिथिलता भी आयी। धीरे-धीरे अनुकरण की प्रवृत्ति बढ़ी तथा मौलिकता का ह्रास

दृष्टिगोचर होने लगा। तब कृष्णभक्ति का प्रवाह मुख्यतः सत्रों (मठों या धार्मिकस्थलों) द्वारा अग्रसर हुआ। शंकरदेव के बाद महापुरुषियाधर्म "सत्रायन वैष्णवधर्म" के नाम से विख्यात हुआ। अतएव असमिया कृष्णभक्ति की चर्चा के प्रसंग में यदि सत्र-संस्थान का वर्णन न किया जाय तो प्रसंग अधूरा ही रह जायगा। संक्षेप में इस पर विचार करना वांछनीय है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि असम का सत्र-संस्थान मध्यकालीन वैष्णव-आन्दोलन की ही देन है। १५वीं शताब्दी के अन्त में अपने धर्म के व्यापक प्रसार के लिए श्रीमन्त शंकरदेव ने सत्र-परम्परा का प्रवर्तन किया, किन्तु आजकल जो सत्र दिखलायी पड़ते हैं, उनके विकास में महापुरुष दामोदरदेव तथा माधवदेव का सर्वाधिक योगदान रहा है। इन दोनों धर्माचार्यों ने अपने गुरु (शंकरदेव) के स्वप्न को साकार करने के लिए सत्रों के सर्वांगीण विकास के लिए प्रशंसनीय प्रयास किया। सत्र कृष्णभक्तों के कार्य-कलाप के मुख्य केन्द्र बन गये। असम के ये सत्र बहुत अंशों में उत्तरी भारत के पीठों अथवा मठों के समान धार्मिक अनुष्ठानों के संपादन में रत रहने लगे। इनका कार्य आज भी जारी हैं। यह दूसरी बात है कि वर्तमान जीवन की जटिल तथा संघर्षपूर्ण स्थिति एवं पाश्चात्य प्रभाव के कारण इनमें कुछ शिथिलता आ गयी है।

"सत्र" संस्कृत का शब्द है जिसके दो अर्थ हो सकते हैं : दातव्य स्थान अथवा त्याग एवं उत्सर्गपूर्ण अनुष्ठान जो अनेक दिनों या वर्षों तक चल सके। असम के सत्र द्वितीय अर्थ से सम्बद्ध हैं। भागवत पुराण के प्रारम्भ में 'सत्र' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसमें नैमिषारण्य में मुनियों द्वारा हजारों वर्ष तक तपोमय जीवन व्यतीत करने का उल्लेख है। व्यावहारिक रूप से असम के सत्र के विषय में हम यह कह सकते हैं कि ये ऐसे स्थल हैं जहाँ नियमित रूप से भागवत-पाठ होता है, धार्मिक प्रवृत्ति के लोग आपस में बैठकर ईश्वर-भजन करते हैं तथा उसकी महिमा को हृदयंगम कर सदाचारपूर्ण जीवन यापन करते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में सत्र से लोग धार्मिक बैठक अथवा संघ का अर्थ लगाते थे, बाद में इसने एक संस्था का रूप ले लिया। "सत्र भारतीय संस्कृति के अनुरूप एक ऐसा वैष्णव स्थान है जिसका वातावरण धार्मिकता से अनुप्राणित, स्वच्छ, सरल, सुखद, शीलपूर्ण, कृष्ण-कीर्तन तथा भजन, कथा-प्रवचन से ओत-प्रोत हो और जहाँ वैष्णव गुरु-शिष्य एक साथ रहकर धार्मिक विचार-विनिमय करते हों। यहाँ नवीन शिष्यों को दीक्षित किया जाता है तथा अनेक प्रकार से सामान्य जन-जीवन को वैष्णव विचारसरणि (शंकरी मत) से युक्त कराया जाता है। इसका नामघर (प्रार्थना-कक्ष) अपने आपमें अपूर्व तथा अनुपम है। यहाँका परिवेश आकर्षक और पुनीत रहता है।"

सत्र में प्रधानतः तीन तरह के लोग रहते हैं :

(१) **सत्राधिकार :** ये सत्र के प्रधान होते हैं जिन्हें 'अधिकार' भी कहा जाता है। इनका स्थान प्रायः मठाधीश अथवा महन्त के समान होता है। ये अपनी छत्रछाया में रहनेवालों के लिए आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक के रूप में रहते हैं। सत्र के अन्दर सभी धार्मिक कार्य इन्हींकी देखरेख में सम्पन्न होते हैं।

(२) **भक्त :** भक्त उन व्यक्तियों को कहा जाता है जो सत्र में रहते हुए धर्मपूर्ण जीवन बिताते हैं तथा उसके कार्यकलाप में सक्रियता एवं निष्ठा दिखाते हैं। इनका जीवन प्रायः नैतिक और आध्यात्मिक कार्यों के लिए समर्पित रहता है। ये भक्त 'केवलिया' भी कहलाते हैं। इनका चुनाव युवावस्था में ही कर लिया जाता है। सत्र में कुछ दिनों के प्रशिक्षण के बाद ये आस्थावान् भक्त बन जाते हैं।

(३) शिष्य : शिष्य की श्रेणी में वे ही लोग आते हैं जो भक्त की तरह उन्मुक्त रहकर (यदि अधिक आध्यात्मिक नहीं तो कुछ कम ही सही) सत्र के प्रति श्रद्धावान् रहते हैं और उसके आचार-विचारसम्बन्धी नियमों का पालन करते हैं। असम का प्रत्येक वैष्णव-परिवार प्रायः किसी न किसी सत्र से सम्बद्ध रहता आया है। सम्प्रति इसमें कुछ शिथिलता आ गयी है।

प्रथम दो वर्गों के लोग सत्र में ही निवास करते हैं, जब कि शिष्य अपने-अपने घरों में सामान्य जीवन व्यतीत करने के लिए स्वतंत्र हैं।

सामान्यतः प्रत्येक सत्र में एक नामघर, एक मनीकूट तथा दो-चार पंक्तियों में 'हाती' होती है। धार्मिक कार्यों के लिए 'नामघर' की व्यवस्था रहती है, एक विस्तृत सभाकक्ष भी होता है। सत्र का सबसे पुण्यस्थल होता है मनीकूट, जहाँ धर्मग्रन्थ तथा धार्मिक उपकरण रखे जाते हैं। कुछ सत्र ऐसे भी हैं जहाँ मात्र 'वैरागी' हो रह सकते हैं, जब कि कुछ सत्रों में वैरागी तथा विवाहित दोनों प्रकार के भक्तों के लिए अलग-अलग निवास का प्रबन्ध रहता है।

सत्र के कार्य :

सत्रों के कार्य मुख्यतः दो कोटियों में बाँटे जा सकते हैं : मुख्य और गौण। मुख्य कार्यों के अन्तर्गत कृष्णभक्ति का प्रचार तथा नये शिष्यों को अपने विधान के अनुसार दीक्षित करना है। विभिन्न धार्मिक पर्वों पर उत्सवों का आयोजन और जनसाधारण को सत्रों की उपयोगिता से परिचित कराना भी मुख्य कार्य में ही गिना जाता है। गौण कार्यों की परिधि में प्रधान रूप से ग्रामीणों में आपसी सौहार्द बनाये रखना, परस्पर सहयोग-भावना की अभिवृद्धि करना, प्राचीन विद्या का प्रसार करना, सामाजिक एवं धार्मिक मत-मतान्तरों में ऐक्य स्थापित करना तथा इसी तरह के अन्य लोकोपयोगी कार्य हैं। आधुनिक न्यायप्रथा के आरम्भ से पहले सामाजिक मामलों को निपटाने के अधिकांश कार्य सत्र ही किया करते थे। सत्रों के अधिकार (प्रधान) समय-समय पर घूमकर जनता के आध्यात्मिक और नैतिक स्तर को विकसित करने का काम भी करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं सत्र कृष्णभक्ति के संदेशवाहक तथा समाज के प्रबुद्ध प्रहरी के रूप में असम में जनजागरण का कार्य करते आये हैं। धर्माचार्यों ने असम में विभिन्न स्थानों में सत्रों की स्थापना इसी उद्देश्य से की थी।

अंग्रेजी शासन के पूर्व इन कार्यों के लिए ही उन्हें भूमि, सम्पत्ति आदि प्रदान करने को प्रथा रही है। समय-समय पर चन्दा-संग्रह से भी इनकी आमदनी होती रहती है। किसी सत्र के पास दो-चार एकड़ जमीन है तो किसीमें सैकड़ों एकड़, जिनमें से अधिकांश करमुक्त है।

आजकल असम में सत्रों का जाल-सा बिछा हुआ है। वरपेटा, कमलावारी, माजुली आदि स्थानों के सत्र अपने आदर्श के प्रतिमान कहे जा सकते हैं। लार्ड चेम्सफोर्ड ने असम का परिभ्रमण किया था तथा सत्रों का निरीक्षण भी किया था। माजुली के सत्रों के निरीक्षण के बाद उन्होंने अपने उद्गार इन शब्दों में व्यक्त किये थे :

"Assam is now and always has been a deeply religious province. About 450 years ago a wave of Vaishnavite reform passed over India and nowhere was the movement stronger and deeper than in Assam.....Both by their example and precept, the abbots of the Majuli have made the people of the Brahmputra Valley what they are today, one of the most peaceable and loveable races in India, nature's true gentlemen."—The Assam Tribune, 7-2-84

इनके कार्य तथा गठनविषयक प्रो० पराग चालिहा के निम्नांकित विचार महत्त्वपूर्ण हैं :

"The Satra and Namghar institutions of Assam is another very important aspect of Vanshnavism in Assam. There are several hundred Satras and more than thirty thousand Namghars in Assam. The contribution of this institution towards the religious, social, economic and cultural life of the people of Assam are very great."—The Assam Tribune, 7-2-1984

सत्रों के उद्‌भव और विकास में संघर्ष के दिन भी आये, किन्तु उनसे इनकी प्रगति अवरुद्ध नहीं हुई। इसके विपरीत एक समय ऐसा भी आया जब सत्रों को प्रचुर राजकीय सहायता प्राप्त हुई और इनकी उन्नति दिन दूनी और रात चौगुनी होने लगी। आहोम राजाओं ने सत्रों के उन्नयन में विशेष रुचि दिखायी जिससे इनकी आर्थिक स्थिति संतोषप्रद हुई और सत्र एवं शासन-व्यवस्था में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हुआ। प्रजातान्त्रिक पद्धति सत्रों की उल्लेखनीय विशेषता रही है।

सत्रों की देन :

आधुनिक भौतिकवादी जीवन में भी कृष्णभक्ति को अक्षुण्ण रखने में सत्रों का सर्वाधिक योगदान है। सत्र-संस्थान कृष्णभक्ति को व्यापकता देने में आज भी सन्नद्ध हैं और सर्वतोभावेन धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक नैतिक एवं साहित्यिक कार्यों में दत्तचित्त हैं। यदि हम कहें कि सत्र असम की सांस्कृतिक कड़ी का अभिन्न अंग है तो अत्युक्ति न होगी। समाज के विभिन्न वर्गों के बीच भावात्मक एकता को पुष्ट करने में इनका अकथनीय योगदान रहा है। निम्नवर्गीय तथाकथित अछूत एवं अविकसित जातियों को कृष्णभक्ति में दीक्षित करना तथा उनके साथ भ्रातृत्वपूर्ण व्यवहार की स्थापना करना सत्रों का मुख्य दायित्व रहा है। यहाँकी आर्येतर जातियों में कृष्णभक्ति का संदेश फैलाने में सत्रों की प्रशंसनीय भूमिका रही है।

इनके साथ ही साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर सत्र-संस्थान ने पाठशाला, पुस्तकालय, संस्कृत भाषा के पठन-पाठन, महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों के संग्रह आदि का भी सुन्दर प्रबन्ध किया। जब कोई पुस्तक या पाण्डुलिपि जीर्ण-शीर्ण या नष्टप्राय हो जाती थी तो बड़ी दक्षता से उसकी प्रतिलिपि तैयार की जाती थी और उसे सुरक्षित रखा जाता था। धार्मिक भजन, नाटक (अंकिया नाट) संस्कृतग्रन्थों का अनुवाद, जीवनकथा एवं काव्यप्रणयन तथा अन्य साहित्यिक गतिविधियों के विकास द्वारा सत्रों ने कृष्णभक्ति के विस्तार का अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है। इनके प्रयास से ही धर्म-प्रचारार्थ नाटकों के प्रणयन एवं प्रदर्शन की परंपरा स्थापित हुई। प्रत्येक सत्राधिकारी का प्रायः यह एक पुनीत कर्तव्य था कि स्वरचित नाटक का प्रदर्शन करे। इससे नाट्य-परम्परा को जीवन्तता तथा गतिशीलता मिली। आधुनिक असमिया नाट्य-साहित्य के भव्यभवन की नींव सत्रों द्वारा ही स्थापित हुई।

ललित-कला के विकास में भी सत्रों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इनके भीतर शास्त्रीय संगीत एवं नृत्य की शिक्षा की भी व्यवस्था की गयी। चित्रकारिता के प्रशिक्षण के आकर्षक पुरोगम आरंभ हुए। लेकिन इन सबका उद्‌देश्य धार्मिक था, विशेषतः कृष्णभक्ति का विकास। सब मिलाकर सत्र का लोगों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि एक लोकोक्ति प्रचलित हो गयी : **"रजार खंजाना गुरुर कर"** अर्थात् धरती

का लगान राजा को और भक्ति का कर गुरु को। इनकी लोकप्रियता तथा प्रभावशीलता के कारण ही आहोम राजाओं तथा सरदारों ने भी कृष्णभक्ति अपनायी। डा० महेश्वर नियोग के अनुसार "असम के हिन्दुओं के लिए दो प्रकार के सम्बन्ध अनिवार्य हो गये—एक राज्य और राजा के प्रति निष्ठा और दूसरा वैष्णवधर्म (कृष्णभक्ति) तथा सत्र के स्वामी गुरु के प्रति आध्यात्मिक समर्पण। सत्रों के संगठन के साथ-साथ उनकी विकेन्द्रित प्रतिकृति भी सामने आयी, अर्थात् उन ग्रामीण नामघरों का अभ्युदय हुआ जो गाँवों के लिए छोटे-छोटे सांस्कृतिक स्थलों जैसे थे। ये नामघर प्रारम्भ से ही समस्त ग्रामीण गतिविधियों के केन्द्र बन गये। एक प्रकार से ये गाँव के 'क्लब' थे। इनका अपने गाँव के सभी निवासियों पर घनिष्ठ आध्यात्मिक नियन्त्रण रहता था और उन्हें ये बुरे कार्यों में प्रवृत्त होने से रोकते थे।"

इस सम्बन्ध में एक ध्यातव्य तथ्य यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी से सत्र-संस्थान की परिधि में कुछ सनातनी एवं कट्टरपंथी तत्त्वों के उदय से सत्रों के सहयोगियों में 'मिशनरी' उत्साह की कमी दिखायी पड़ने लगी। इसे हम अंग्रेजी शासन तथा उसकी छत्रछाया में पनपता ईसाई धर्मप्रचार एवं आधुनिक जीवन के चकाचौंधी प्रभाव का परिणाम कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में पं० तीर्थनाथ शर्मा का निष्कर्ष ध्यान देने योग्य है :

"His (Sankardeva's) message reached almost every village in the Brahmputra Valley of Assam. His followers carried it to remotest corner and adjoinning foothills. The process came to a sudden halt due to internal turmoil and external aggression. Institutions started by Sankerdeva and his followers remained dormant. The Christian missionaries seized the opportunity with the advent of the British."

—द्रष्टव्य 'शंकरदेव तथा असम का सत्र-संस्थान', डा० ताराकान्त झा, पृ० ३३.

इस प्रकार हम देखते हैं कि असम के कृष्णभक्ति-आन्दोलन ने लोगों को जागरण एवं अभ्युदय का संदेश एवं 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' का मन्त्र दिया तथा उनमें आत्मविश्वास की शक्ति जागृत की। इस कालखण्ड में विकसित कृष्णभक्ति के मनोरम प्रभाव एवं चमत्कार की मीमांसा करते हुए एच० पी० शास्त्री लिखते हैं : "कृष्ण के व्यक्तित्व में उन्हें कलात्मक, नैतिक, आध्यात्मिक सभी तरह की खुराक मिल गयी थी। इससे उनका जो आध्यात्मिक उत्थान हुआ था और उन्होंने जो परमानन्द की उपलब्धि की थी, उसके आगे उनके सारे भौतिक कष्ट तुच्छ पड़ गये थे और उनमें से किसी-किसीको तो पूर्ण स्थायी शान्ति प्राप्त हुई थी।"

असम का वैष्णव-काव्य :

सामान्य रूप से असमिया वैष्णव-काव्य को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है : १. वध-काव्य और २. परिणय-काव्य। वध-काव्यों में साधारणतः राक्षसों के वध तथा परिणय-काव्यों में विशेष रूप से अपहरण एवं परिणयसम्बन्धी कथाएँ आती हैं। किन्तु विषय-वैभिन्य के बावजूद इन सबका उद्देश्य है कृष्णभक्ति की महत्ता का बखान करना।"

असमिया वैष्णव-काव्य का प्रधान लक्षण यह है कि प्रेम के कामस्वरूप का इसमें एक प्रकार से अभाव ही है, यद्यपि शंकरदेव ने ऐसे भी 'बरगीत' लिखे हैं जिनमें कृष्ण का वियोग गोपियों के लिए असह्य

चित्रित हुआ है। किन्तु यह वियोग-व्यथा अत्यन्त गंभीर तथा उच्चस्तरीय प्रेम का प्रसाद है, जो गोपियों को उनकी दैहिक वासनाओं की ओर नहीं, बल्कि आध्यात्मिक अनुभूति की ओर प्रेरित करनेवाली है। फलस्वरूप असमिया वैष्णवधर्म में किसी सीमा तक व्यवहार और भाव का संयम दिखायी देता है। भारतीय वैष्णव-साहित्य में विशेषतः चण्डीदास और विद्यापति की रचनाओं में उद्दाम-वासनात्मक प्रणय-भावना की जो प्रधानता दिखायी देती है उसका असमिया वैष्णव-काव्य में अभाव ही दृष्टिगत होता है। यह इसकी शक्ति भी है और कमजोरी भी। 'हरण' और 'परिणय' काव्यों में यद्यपि मुख्यतः प्रणय और संयोग की कथाएँ हैं, पर जिसे साधारणतः प्रेम-काव्य कहते हैं, ये रचनाएँ उसकी परिधि में नहीं आतीं। मध्यकालीन प्रणय-काव्य में प्रेम साधारणतः 'अधिकार-स्थापन की आसुरी प्रवृत्ति' का प्रतीक है। उदाहरण के लिए हम उषा और अनिरुद्ध के बीच होनेवाले गुप्त प्रणयात्मक सम्बन्ध को ले सकते हैं। यह भी मानना पड़ेगा कि पहले के कवियों ने जिस शृंगारात्मक प्रेम का चित्रण किया था, उससे शंकरदेव और माधवदेव अछूते रहे। उन्होंने उसे परमात्मा की भक्ति का रूप देकर साहित्यिक रस की धारा ही बदल दी जिससे कामादि-वासना उदात्तीकृत रूप में आध्यात्मिक प्रेरणा और लगन में परिणत हो गयी। वैष्णवों के अनुसार कृष्ण का व्यक्तित्व द्विरूपीय है। उनका एक रूप सामान्य मानवसत्तावाला है और दूसरा निर्गुण परमात्मा का, जिसका दर्शन भक्तों की आध्यात्मिक दृष्टि से ही सम्भव है। माधवदेव के 'बरगीतों' से यह प्रमाणित होता है।

यों तो असमिया कृष्णभक्ति-साहित्य की सभी विधाएँ उत्कृष्ट हैं, किन्तु उसके बरगीत और अंकिया नाट (नाटक) सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में बेजोड़ है। बरगीत (श्रेष्ठ भजन) में अभिव्यक्त भाव की तरलता, सान्द्रता एवं मनोरम शैली से कोई भी सहृदय पाठक चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सकता। इसी श्रेणी में 'मतिमा' एवं 'कीर्तनघोषा' के गीत भी रखे जा सकते हैं। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के अनुसार मैथिली और बंगला के गीतो में हमें जो राग और ताल मिलते हैं वही असम के भक्ति-गीतों और अन्य प्रकार के गीतों (बरगीतों) में पाये जाते हैं। इससे पता चलता है कि असम में ही नहीं, सम्पूर्ण पूर्वी भारत में संगीत की एक ही पद्धति चलती थी और वह थी हिन्दू-संगीत की पद्धति।

असम के मध्ययुगीन कृष्ण-भक्ति-साहित्य का अन्य उल्लेखनीय अवदान है गद्य का, विशेषतः नाट्य क्षेत्र में देश भाषा (ब्रजबुली या ब्रजावली) गद्य का प्रयोग। यह अपने आपमें विशिष्ट तथा नवीन तो था ही, साथ ही दिशानिर्देशक संकेत भी था। ब्रजबोली (ब्रजबुली) मैथिली, हिन्दी तथा असमिया-मिश्रित एक कृत्रिम भाषा थी जिसके प्रयोग से पूर्वांचल ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण उत्तर-पूर्व भारत की भावधारा को एक दूसरे के समीप आने तथा समन्वित होने में बहुत बड़ी सहायता मिली। इससे आत्मीयता तथा साहित्यिकता का रम्य परिवेश तैयार हुआ। इस भाषा के प्रयोग से प्रयोगकर्त्ता की दूरदर्शी एवं प्रगतिशील प्रवृत्ति अभिव्यंजित होती है। इसके माध्यम से असम को व्रज, मिथिला तथा मगध से सांस्कृतिक समागम का अवसर मिला, भाव-भाषा का आदान-प्रदान हुआ तथा असम राष्ट्र की मुख्य भावधारा से संपृक्त हो सका। सम्प्रति देश में ऐसी आत्मीयतापूर्ण चिन्तनधारा की अतीव आवश्यकता है।

असम में कृष्णभक्ति के उद्भव और विकास में शङ्करदेव, माधवदेव, दामोदरदेव, हरिदेव, वंशी गोपालदेव, अनन्त, कंदली, राम सरस्वती, गोपालचरण द्विज, अनिरुद्ध कायस्थ, भागवत मिश्र, केशव कायस्थ, विष्णु भारती, रत्नाकर मिश्र, आदि भक्तों की सेवा धर्म एवं साहित्य के इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में अंकित रहेगी। कृष्णभक्ति के विकास में इन्होंने अदम्य उत्साह, अटूट आस्था, अनवरत संघर्ष, दृढ़ निश्चय, अगाधनिष्ठा, कठोर अनुशासन, समर्पित सेवा, हार्दिक भक्ति, जागृत विवेक तथा आचरणीय प्रतिभा का परिचय दिया। यही कारण है कि ये सन्त आज भी वन्दनीय और पूजनीय हैं।

असम के इस भक्ति आंदोलन का विहंगम अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णभक्ति साहित्य की रचना में कुछ भक्त-कवियों ने अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया तो अन्य भक्तों का विशेष ध्यान संस्कृतग्रन्थों के अनुवाद तथा भाषान्तर की ओर ही रहा। यह पहले कहा जा चुका है कि उसका लक्ष्य कृष्णभक्ति का प्रचार करना था, अतः इसके लिए उन्हें संस्कृतग्रंथों के अक्षय भण्डार को सरल भाषा में जनसमुदाय के समक्ष प्रस्तुत करना सर्वथा तर्कसंगत एवं उपादेय था। इनके अथक प्रयास से रामायण, महाभारत तथा श्रीमद्भागवत की रत्नराशि असमिया भाषा में सजा दी गयी। जनसाधारण से सम्पर्क करने के लिए उन्होंने लोकभाषा (असमिया) का अधिक व्यवहार किया, फलस्वरूप पौराणिक कथाएँ जनसमुदाय में अधिक समादृत हुईं।

मध्ययुगीन असमिया कृष्णभक्तिधारा उद्‌घोष करती है : "उस मंगलमय भगवान् की भक्ति में आत्मसमर्पण कर दो, जिनकी कल्याणमयी विभूति अखिल ब्रह्माण्ड के अणु-परमाणु, में व्याप्त हो रही है। उसे खोजो, सर्वव्यापी का अनुसन्धान करो, समस्त चराचर में उसकी सत्ता है, उसीका परम सौन्दर्य है। जहाँ देखो, वहीं उस प्रभु का साक्षात्कार होगा। समस्त लौकिक व्यवधानों को दूर कर दो। तब वह सर्वशक्तिमान् समीप मिलेगा, तुम्हें गले लगायेगा और मुक्ति प्रदान करेगा।"[1]

कृष्णभक्ति की रससिक्त झंकारों से असम की भूमि पावन बन गयी। भक्तों को ऐसा आभास होने लगा कि वृन्दावन में गौ चरानेवाले कृष्ण, कालिन्दी-कूल और कदम्ब की डाली पर बाँसुरी टेरते हुए नन्दनन्दन, यशोदा की गोद में मचल-मचल कर माखन खानेवाले कन्हैया, व्रज की वीथियों एवं वनों में लीला करनेवाले मुरली-मनोहर अब यहाँ साकार हो गये।

बरगीतों में श्रीकृष्ण-लीला की मार्मिक व्यंजना हुईं। लीलागीतों की सरिता उमड़ पड़ी। कृष्ण के लीला-माधुर्य का मनोरम बिम्ब प्रतिबिम्बित होने लगा। हिन्दी के सूरदास के सदृश असमिया के माधवदेव भी वात्सल्य के चतुर चितेरे सिद्ध हुए। कृष्ण गोपियों के संग खेलने लगे, ठिठोली करने लगे, पवित्र प्रेम का मनोहर फव्वारा छूटने लगा। आराधकों का जीवन सरस और संगीतमय हो उठा। आराध्य के नयनाभिराम रासनृत्य से लोग झूमने लगे, वातावरण मधुमय हो गया। मीमांसकों को आश्चर्य होता है कि निर्गुण कृष्ण, सगुण जैसे कैसे बन गये ! इसके उत्तर में कहा जा चुका है कि असम के कृष्ण द्विरूपीय हैं। वे निर्गुण होकर भी सगुण हैं और सगुण होकर भी निर्गुण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपासना-प्रणाली की दृष्टि से असमिया कृष्णोपासना तथा भारत की अन्य प्रदेशों की कृष्णोपासना में समानता के साथ ही कुछ असमानताएँ भी हैं। हिन्दी प्रदेशों की कृष्णोपासना में जहाँ कृष्ण के प्रति माधुर्यभाव का विशेष रूप से प्रस्फुरण हुआ है वहाँ असम में दास्यभाव की प्रधानता है। हाँ, यहाँ वात्सल्यभाव भी देखने को मिल सकता है, किन्तु उसकी मात्रा पर्याप्त नहीं है। महापुरुष शंकरदेव की धारणा थी कि 'व्यक्ति के लिए उपासना में माधुर्यभाव की प्रधानता चाहे जितनी भी उपयोगी क्यों न हो, किन्तु जनसाधारण के लिए उसका प्रयोग खतरे से खाली नहीं है। वह व्यक्तिगत साधना का आदर्श भले ही हो, किन्तु सामाजिक आदर्श होने पर लोकजीवन कलुषित हो जायेगा, भ्रष्ट हुए बिना नहीं रहेगा।' इसलिए शंकरदेव के सम्प्रदाय में दीक्षित सभी कवियों ने दास्यभाव की उपासना प्रणाली ही अपनायी।

—डा० ताराकान्त झा

---

[1] डा० विरिंचकुमार बरुवा 'असमिया साहित्य की रूपरेखा', पृ० ४८।

असमिया कृष्ण-भक्ति का मूल स्वर

जय जय जादव देव ! आदि अंत न पावत केव ।
जाकेरि चरन सरोरुह ब्रह्मा शंकर कर नित्य सेव ॥
जोहि भयो अवतार, हरलि भूमि को भार ।
कलिमल-मोचन चित्र, जाकेरि परम चरित्र ॥
पद-पंकज-रज-परसिनि गंगा सुर नर करय पवित्र ।
अघ बक धेनुक मारि, कंस केसि अंत-कारि ॥
इन्द्र-दरप कर चूर, ब्रज-जन भय भेलि दूर ।
रास-बिलास हास परिरंभन गोपि मनोरथ पूर ॥
मर्द्दिये विषधर कालि, यमुना - ह्रद निकालि ।
कुवजा काम मनोरथ पूरल बरद बरद वनमालि ॥
जाकेरि ए गुन नाम, जग जन पूरल काम ।
पापी पाप पराभव भंजे, जो मुहे लेहि अविराम ॥
धरमक राजा नाम, जानि न कर ये विराम ।
कृष्णक किंकर शंकर कहइ डाकि बोलहु राम राम ॥

—महापुरुष शंकरदेव

* * *

गोविन्द दीनदयाल स्वामी । तुहु मेरि सायेब चाकर हामि ॥
काकु करिया तुवा चरणे लागो । अरुण चरणे चाकरी मागों ॥
तेरि चरणे मेरि परणाम । चाकरी मागों नाहिं आन काम ॥
आपुन करमे जनम जाहा होइ । ताहा तुवा चरणे चाकरी रहु मोइ ॥
माधवदास कहइ मतहीना । गति मेरि नहि तुवा पद बिना ॥

—श्री माधवदेव

असम के कृष्ण-भक्त

अच्युत गुरु

महापुरुष माधवदेव द्वारा निर्वाचित आचार्यों में अच्युत गुरु अन्यतम थे। ये नैष्ठिक ब्राह्मण थे। संस्कृत पढ़ने के लिए ये नवद्वीप गये। रास्ते में इनकी भेंट राम आता से हो गयी। उन्हींके द्वारा ये माधवदेव के निकट लाये गये। माधवदेव ने इन्हें शिक्षा-दीक्षा दी और वैष्णवभक्त बनाया। तब अच्युत गुरु 'सुन्दरीदिया' सत्र के 'देउरी' (प्रसाद-वितरक) नियुक्त हुए। कुछ समय तक ये कूच बिहार में माधवदेव के साथ रहे और उनके स्वर्गारोहण के बाद वहाँ के मधुपुर सत्र के अधिकारी मनोनीत किये गये। असम में नव वैष्णवभक्ति के प्रचार में आपका स्मरणीय योगदान रहा है। ता. का. झा

न. च. श.

अनन्त कन्दलि

अनन्त कन्दलि महापुरुष शंकरदेव के वयोकनिष्ठ समसामयिक थे। इनका जन्म कामरूप जिले के हाजो नामक स्थान में १६वीं शताब्दी में हुआ था। इनका प्राकृत नाम 'हरिचरण' था। व्याकरण शास्त्र पर असाधारण अधिकार होने के कारण इनको 'चन्द्रभारती' की उपाधि दी गयी थी। कन्दल अर्थात् तर्क में इनकी अद्भुत गति थी, इसलिए इन्हें 'अनन्त-कन्दलि' पदवी मिली। भागवत शास्त्रविषयक अत्यधिक पाण्डित्य के कारण इनको 'भागवत भट्टाचार्य' का सम्मानजनक संबोधन प्राप्त हुआ। ये स्वयं कहते हैं :

रत्न पाठक नामे पंडित परम।
भागवत शास्त्रे जार आछिल विक्रम॥

श्रीहरिचरण नामे ताहान सन्तति।
व्याकरण पढ़ि नाम श्रीचन्द्रभारती॥

तर्कत लभिला नाम अनन्त कन्दलि।
भागवते आचार्य पदवी भैल बली॥

भागवत भट्टाचार्य बोले आर्यगणे।
तेहो बिरचिला पद कृष्णर चरणे॥

'रत्न पाठक' नाम के एक महान् भागवतवेत्ता थे। श्रीहरिचरण उनके पुत्र हैं। व्याकरण शास्त्र पर पाण्डित्य के लिए इनको श्रीचन्द्रभारती उपाधि मिली है। तर्क में इन्होंने 'अनन्त कन्दलि' की उपाधि प्राप्त की। भागवतशास्त्र पर इनका गम्भीर पाण्डित्य है, इसलिए इनको भागवताचार्य और भागवत भट्टाचार्य उपाधियाँ दी गयी हैं। कृष्णचरण में चित्त लगाकर वे पद विरचित करने लगे।'

पहले ये बड़े तार्किक थे। तर्क से इनका मन बहुत कर्कश हो गया। अन्त में इनका रुक्ष मन भागवत-शास्त्र के रसमय प्रवाह में द्रवीभूत हुआ। इन्होंने स्वयं लिखा है :

नाचाहितो काव्य-कोष कातो नाहिं परितोष
तर्कतो कर्कश भैल मति।
एके भागवत शास्त्रे चिन्तक तुषिला मोर
ताते से द्रविल प्रेम रति॥ —भागवत

'मैं काव्य-कोष नहीं पढ़ता था, मेरी किसीसे तुष्टि भी नहीं थी। तर्कशास्त्र में मेरी मति कर्कश हुई। केवल भागवत शास्त्र ने मेरे चित्त को परितोष दिया। इसलिए वहीं मेरी प्रेम-रति द्रवित हुई।'

अनन्त कन्दलि अप्रमादी संस्कृत पण्डित थे। ये संस्कृत में श्लोक भी रचते थे। इन्होंने लिखा है :

श्लोक संस्कृते आमि लिखिबाक भाल जानि
तथापि करिबो पद-बंध।
स्त्री सूद्र आदि जत जानोक परम तत्त्व
श्रवणत मिलय आनन्द॥

'मैं संस्कृत में श्लोकरचना अच्छी तरह कर सकता हूँ, तथापि प्राकृत (लोकभाषा) में पद-रचना करूँगा। इससे स्त्री-शूद्रादि भी परम तत्त्व के बारे में विचार कर सकेंगे और श्रवण में भी आनन्द लेंगे।'

अनन्त कन्दलि की रचनाओं को विषयानुसार पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

१. काव्य : (क) कुमार-हरण,
  (ख) वृत्रासुर-वध।

२. धर्मतत्त्वविषयक : (क) जीव-स्तुति,
  (ख) वैष्णवामृत।

३. भागवत अनुवाद : (क) दशम (एवं अन्य स्कन्ध)।

४. रामायण अनुवाद।

५. स्मृतिशास्त्र : (क) नीतिरत्न,
  (ख) कल्पद्रुम।

'कुमार-हरण' काव्य का आधार 'भागवत पुराण' और खिल हरिवंश है। 'जीवस्तुति' और 'वैष्णवामृत' की विषयवस्तु 'भागवत पुराण' श्रीमद्भगवद्गीता, पद्मपुराण आदि ग्रंथों से ली गयी है तथा 'नीतिरत्न' एवं 'कल्पद्रुम' धर्मशास्त्र और स्मृतिशास्त्र पर आधारित हैं।

शंकरदेव, दामोदर देव, हरिदेव आदि संतों की तरह अनन्त कन्दलि भी अवतारवाद स्वीकार करते हैं। वे कृष्ण को पूर्णब्रह्म का अवतार मानते हैं। और मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, बलराम, श्रीराम, बुद्ध और कल्कि को अंशावतार तथा बुद्ध और कल्कि अवतारों के बाद दूसरे अवतारों को भी वे कृष्ण के समान स्वीकार करते हैं। अन्य देवी-देवताओं में आस्था रखते हुए भी कृष्ण की सार्वभौमता पर वे अधिक जोर देते हैं :

कृष्ण से परम इष्ट देव जगतर।
ब्रह्मा महेश्वरो देखा याहार किंकर॥

'कृष्ण जगत् के परम इष्टदेवता हैं। ब्रह्मा, महेश्वर आदि कृष्ण के किंकर हैं।'

भागवत भट्टाचार्य कन्दलि की भक्ति-भावना के स्वरूप-प्रकाशक दो पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

कृष्ण व्यतिरेके जिटो आनक न भेजे।
कृष्णरसे नाम लवे कृष्ण के से पूजे॥

सुखे दुखे लवे एक कृष्णत शरण।
कलित वैष्णव सेहि नर महाजन॥

—भागवत

'भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त जो दूसरे को नहीं भजते, जो कृष्ण का नाम कीर्तन करते हैं एवं केवल कृष्ण को ही पूजते हैं, जो सुख या दुःख में भी मात्र एक कृष्ण के चरण-युगल में शरण लेते हैं, कलिकाल में वे प्रकृत वैष्णव हैं, वे ही महापुरुष कहलाते हैं।'

(२)

कुकुरको मारि खाय जितो अन्त्य जाति।
सियो श्रेष्ठ होवे करि कृष्णर भकति॥
द्विज जाति हुया जेबे न करे भकति।
चंडालतो कहिया सेहि आत्मघाती॥

'जो अन्त्यज-जाति कुत्ते का मांस भक्षण करती है, वह भी कृष्ण-भक्ति से श्रेष्ठ बन जाती है। जो द्विज-जाति कृष्णभक्ति नहीं करती, वह चाण्डाल से भी अधिक आत्मघाती कही जाती है।'

न.च.श.

अनन्त कायस्थ

अनन्त कायस्थ अथवा हृदयानन्द १७वीं शताब्दी के यशस्वी संत एवं कवि थे। आप 'रामायणी कवि' के रूप में परिचित हैं। आपके पिता का नाम यदुगिरि तथा माता का नाम विष्णुप्रिया शान्ति था। विष्णुप्रिया महापुरुष शंकरदेव की भ्रातृपौत्री थीं।

आप बरपेटा के बारादि से नगाओ अंचल में चले गये थे और वहाँ मायाङ नामक स्थान में एक सत्र का निर्माण किया था। आपने 'श्रीराम-कीर्तन'

(१६५५ई०) और 'भक्ति-प्रेमलता' नामक दो ग्रंथों की रचना की है। इन ग्रंथों की रचना में इन्होंने कलापचन्द्र द्विज की 'रामायण-चन्द्रिका' से सहायता ली है। भगवान् राम की भाँति ये कृष्ण के भी अनन्य भक्त थे। इनके दो छन्द नीचे दिये जाते हैं :

(१)

जातो दृढ़ प्रेमे बन्दी हुया प्रभु भगवंत
तिलेको तेजिबे नपारंत।
एकांत संतक तान प्राणतो अधिक स्नेह
धेनु जेन बत्सक पालंत ॥

'ऐकान्तिक भक्ति से भगवान् को बन्दी कर सकते हैं। तब वे भक्त को कभी नहीं छोड़ेंगे। गाय जैसे अपने वत्स से स्नेह करती है वैसे ही वे अपने भक्तों से बहुत स्नेह करते हैं।'

(२)

वेद विचारिया ब्रह्मा एहिमाने सार पाइला
कृष्ण रति होवे यात हन्ते।
एतेकेसे महाफल कृष्णरति सुमंगल
कहि आचा ऐकान्तिक संते।
मोक्षतो अधिक इटो फलरूपा कृष्णरति
परम दुर्लभ जाना आक।
निष्कामे संतक सेवि यि जने प्रार्थना करे
तेबे कृष्ण देवे देन्ट ताक ॥

—भक्ति-प्रेमलता

'ब्रह्मा ने वेदों से कृष्णरति की खोज की। विशिष्ट सन्त कहते हैं कि कृष्णरति से सुमंगलरूपी महाफल प्राप्त होता है। कृष्णरति मोक्ष से भी श्रेष्ठ है और है दुर्लभ। निष्काम सेवा से ही कृष्णरति सम्भव है।'

न.च.श.

अनिरुद्ध देव (कायस्थ)

अनिरुद्ध कायस्थ गुरु माधवदेव के भाई के पौत्र तथा कूचबिहार के राजा रघुदेव के मंत्री थे। इनका उद्भवकाल १७वीं शती माना जाता है। इन्होंने १६०२ ई० में भागवत पुराण के पंचम स्कंध का असमिया में पद्यानुवाद किया था। कुछ विद्वानों की धारणा है कि द्वितीय स्कंध का भी इन्होंने असमिया पद्य-रूपान्तर प्रस्तुत किया था।

ये भक्तकवि, साहित्यकार तथा राजनीति-विशारद के रूपमें जाने जाते हैं। इनका व्यक्तित्व क्रान्तिकारी के रूप में भी उल्लिखित है। एकबार इन्होंने राजा के निरंकुश शासन के विरुद्ध धार्मिक क्रान्ति का आह्वान किया था। इस क्रान्ति ने उक्त शासन को जबर्दस्त धक्का दिया। उसका रूप विशाल जनान्दोलन के समान हो गया था।

भागवत के अनुवाद के अतिरिक्त इन्होंने १८० भक्तिपरक गीत भी लिखे हैं जो अनेक दृष्टियों से उत्तम कहे जा सकते हैं। नमूने के रूप में यहाँ दो पद उद्धृत किये जाते हैं :

(१)

जय जय कृष्ण प्रभु नित्य निरंजन।
जीवर-जीवन नमो देवकोनन्दन ॥
त्रिदश-वन्दन नमो नमो नमो जनार्दन।
असुर-मर्दन नमो श्रीवत्सलांछन ॥

—भागवत, पंचम स्कंध

'जीवों के जीवन, नित्य निरंजन, देवकीनन्दन श्रीकृष्ण प्रभु की जय हो। देवताओं द्वारा वन्दित तथा असुरों को मर्दित करनेवाले श्रीवत्सचरण हृदय में धारण करनेवाले जनार्दन को नमस्कार है।'

(२)

शैशव गैल ये क्रीड़न रंगे।
गोआइलो यौवन विषय संगे ॥
आवे भैल आसि वयस भाठि।
भागिल मांडलि धरिलो लाठि ॥

* * *

यावे सद्गुरु उपासा करि।
कृपाक लभिया न भजे हरि ॥
कालर चेटाक जानो कमने।
कहे अनिरुद्ध अधम जने ॥

—भक्तिनीति पद संचयन

'शैशवकाल क्रीड़ा में व्यतीत हुआ और यौवन सांसारिक विषय-वासना में चला गया। अब वृद्धावस्था आ गयी और मैं लाठी का सहारा लेता हूँ।'

* * *

'सद्‌गुरु की कृपा से ही कृष्ण-भक्ति होती है। कवि अनिरुद्ध कहते हैं कि मैं काल का प्रभाव नहीं जानता।'

ता. का. झा

न. च. श

अर्जुनदेव

अर्जुनदेव महापुरुष दामोदरदेव के प्रधान शिष्य और कविरत्न भागवत भट्टाचार्य के अंतरंग बन्धु थे। इनका जन्म एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में असम के दरं जिले के रतनपुर नामक गाँव में १७वीं शताब्दी में हुआ था। पिता का नाम विश्वरूप तथा माता का नाम देवयानी था। दैवयोग से ये बाल्यावस्था में ही अनाथ हो गये। कुछ दिनों तक इधर-उधर घूमते रहे। इसी बीच इन्हें अकस्मात् गुरु दामोदरदेव का सान्निध्य प्राप्त हो गया। उस समय ये राजा परीक्षित नारायण के आदेशानुसार वेदुआ नामक एक व्यक्ति के घर में नजरबंदी का जीवन व्यतीत कर रहे थे। इन्होंने उसी समय वहाँ आकर कायिक, वाचिक और मानसिक रूप में उनकी शरण ग्रहण की। चरित्रकार रामराय इस घटना का उल्लेख करते हुए कहते हैं:

सेही काले परम पुरुष दामोदर।
राजार आदेशे आसे वेदुवार घर॥

सि ठावते दामोदर चरणे।
शरण लैलनु प्रभु काय वाक्य मने॥

दामोदरदेव के चरणों में आश्रय लेकर तथा सांसारिक कामनाओं से विरक्त होकर इन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। 'अर्जुनदेवर चरित' के अनुसार आपने उमानंद नामक स्थान में शिव के साक्षात् दर्शन किये थे। कहा जाता है कि उस समय भगवान् शिव ने संन्यासी का रूप धारण करके इनसे खाने की कुछ वस्तु माँगी थी। कृष्ण के उपासक होते हुए भी ये अन्य देवों में उसी प्रकार की श्रद्धा रखते थे।

इनके विषय में अनेक जनश्रुतियाँ हैं। कहा जाता है कि शवदाह से पूर्व इनका शव शय्या से अदृश्य हो गया। तब इनके शिष्यों ने उस खाली शय्या को ही अग्नि में जला दिया। मरने के बाद भी कुछ शिष्यों ने इन्हें वर नामक नदी में आह्निक कृत्य करते हुए देखा था।

एक अन्य जनश्रुति के अनुसार इनकी अद्‌भुत सिद्धियों के प्रभाव से एक बार भक्तमण्डली ने भरी ब्रह्मपुत्र नदी को बिना नौका के पार किया था।

भकतर देखि त्रास करी प्रभु अल्प हास
बोले केहो न करिबा भय।
नाम नौका कर दाठ लोहित्यै दिवन्त बाट
तोमासात कहिलो निश्चय॥

आग भैइला कृपामय याचत भकत सय
भये केहो नचावन्त प्राच।
उच्चारंत रामवाणी एक बुक मैला पानी
अर्जुन देवर निमिजल काच॥

'भक्तजनों का त्रास देखकर प्रभु अर्जुनदेव ने कुछ हँसकर कहा कि भय मत करो। कृष्णनामरूपी नौका से चलो। लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) तुझे पथ देगा। यह कहकर भक्तों के साथ अर्जुनदेव ने ब्रह्मपुत्र में प्रवेश किया और आसानी से वे लोग नामोच्चार करते हुए नदी पार कर गये।'

इन्होंने मनियरी, लोम, वालीकूची एवं रणमली में सत्रों की स्थापना की थी, जिनके द्वारा उक्त क्षेत्रों में कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार हुआ था। अपने शिष्यों के बीच ये विष्णु के अवतार रूप में पूजे जाते हैं। इनके विषयमें 'कलियुगे विष्णुअंशे भैला अवतार' यह उक्ति अबतक प्रचलित है।

ता. का. झा

उदितराम देव

उदितराम देव वैष्णव-काल-संहति शाखा के संस्कृतज्ञ पंडितों में प्रमुख थे। ये गोपाल आता के सहयोगी तथा 'बरआता' यदुमणि देव के मँझले पुत्र रतिकान्त के बेटे थे। वैष्णव धर्म प्रचार के सिलसिले में राजरोष में पड़ने के कारण इन्हें कई वर्ष लखीमपुर और दरंग के विभिन्न स्थानों में घूमते हुए आपार कष्ट उठाना पड़ा था। इन्होंने संस्कृत पुस्तक 'वैष्णवानन्द लहरी' के श्लोकों का अनुवाद असमीया पदों में किया था और नाम-माहात्म्य प्रकाशक 'अजामिल-उपाख्यान' नाटक लिखा था। इनके अतिरिक्त इन्होंने कुछ उत्तम गीत-पदों की भी रचना भी की थी। नमूने के रूप में यहाँ एक पद उद्धृत है :

पद

ध्रु०– सखि हे प्राणनाथ नासिल दुनाइ।
मथुरा नागेरि पाइ रति रसे मजि माइ
हामाक तेजिले कानु राय॥

पद– धिक नव यौवन धिक वस्त्र भूषण
अगरु चन्दन के लागिया।
पीन कठिन घन धिक कुच ना जीवो
मरिबो कानुते बध दिया॥

देख सखि धूर्त जाति बंशीस्वरे आने सति
मनमथ बढ़ाया हामार।
दारुण पुरुष देहा तिलेकते तेजे नेहा
पुष्प चुम्पि तेजे मधुकर॥

उदितराम दीने कय गोपीर जीवन नय
मत्स्य अबिहने येन जल।
परिल बिबर्ण मुख नादेखिया चान्दमुख
सूर्य बिने येहेन कमल॥

'हे सखि, प्राणनाथ पुनः लौट नहीं आये। मथुरा नगरी (या मथुरा की नागरिकाओं) को पाकर रति-रस में डूब कर कन्हैया ने हमें तज दिया।

हमारे नव-यौवन को धिक्कार है, वस्त्राभूषणों को धिक्कार है। अगरु-चन्दन अब किसके लिए हैं? हमारे पीन-कठिन कुचों को धिक्कार है। अब हम नहीं जियेंगी। कन्हैया के लिए प्राण छोड़ देंगी। सखि, वह कितना धूर्त था देखो! बंशी की धुन से रात को बुला कर हमारी काम भावना बढ़ा देता था। पुरुष शरीर दारुण है, वह पल में स्नेह तज देता है जैसे पुष्प रस चूस कर मधुकर उसे तज देता है। दीन उदितराम कहता है—गोपियों का जीवन वैसे ही हो गया है जैसे जल बिन मछली। कृष्ण का चन्द्रमुख न देखकर उनका मुख वैसे ही विवर्ण हो गया है जैसे कि सूर्य बिना कमल का।

न. व.

कंसारि

कंसारि महापुरुष शंकरदेव के समकालीन वैष्णव भक्त थे। आप यशचन्द्र खाँ नामक कायस्थ-श्रेष्ठ के वंशधर थे। इनके पृष्ठपोषक सम्भवतः गाभरू खाँ थे। महापुरुष माधवदेव के साथ रहकर इन्होंने महाभारत (संस्कृत) के 'विराट-पर्व' का असमिया पद्यानुवाद किया था। ये 'पीताम्बर कायस्थ' नाम से भी जाने जाते हैं। इन्होंने 'बृहत् असमिया महाभारत' के पद-कर्ता राम सरस्वती की पर्याप्त सहायता की थी तथा स्वयं महाभारत के 'दक्षिण गो-ग्राह' और 'उत्तर गो-ग्राह' का अनुवाद किया था। इनकी रचनाएँ चिन्तनप्रधान तथा प्रभावशाली हैं।

इनका एक छंद नीचे दिया जाता है :

अर्जुने मातंत युधिष्ठिरक प्रणामि।
कौरव राजार वस्त्र दिलो आमि आनि॥
करिलो आप्ती जे तोमार कैलो बाक।
हेन बुलि वस्त्र आनि दिला उत्तराक॥

—महाभारत, विराट्पर्व

'अर्जुन ने युधिष्ठिर को प्रणाम करके कहा कि मैंने कौरव राजा का वस्त्र लाकर उत्तरा को दे दिया। यही वचन मैंने आपको दिया था, उसे पूरा किया।'

ता. का. झा

कनकलता आइ

कनकलता आइ (उपनाम लक्ष्मी आइ) चतुर्भुज

ठाकुर की पत्नी थी। इनका जन्म १५६० ई० में हुआ था। असमिया संत-सम्प्रदाय में विदुषी महिला संत कम ही हैं। कनकलता आइ इस अभाव की पूर्ति करती हैं। इनका भव्य व्यक्तित्व चमत्कृत करनेवाला तथा इनकी योग्यता प्रशंसनीय थी। शंकरदेव इनके ससुर के पिता थे।

शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित नव वैष्णवधर्म के प्रचार-प्रसार में कनकलता की विशिष्ट भूमिका रही है। असम के नव वैष्णवधर्म के इतिहास में सर्वप्रथम महिला धर्माधिकारी होने का गौरव इन्हींको प्राप्त है। नव वैष्णवधर्म के लिए यह नियुक्ति एक उदार दृष्टि-कोण का परिचायक थी।

वैष्णवधर्म के प्रचार में कनकलता ने अपनी अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया। इन्होंने अनेक लोगों को दीक्षा देने के साथ ही असम के विभिन्न भागों में धर्म के प्रचार के लिए ऐसे बारह आचार्यों की नियुक्ति की, जिन्होंने सफलतापूर्वक धर्मप्रचार का कार्य सम्पन्न किया। ये स्वयं अधिकांशतः पूर्वी असम में धार्मिक कार्य-कलाप में व्यस्त रहीं।

इनका तिरोधान १६६८ ई० में हुआ।

ता. का. झा
न. च. श.

कलापचन्द्र द्विज

कलापचन्द्र द्विज प्रसिद्ध वैष्णवभक्त राम सरस्वती के पुत्र थे। वैष्णव साहित्यकारों में इनका विशेष स्थान इसलिए है कि इन्होंने राधा के निष्काम प्रेम की सुन्दर विवेचना की है। सम्पूर्ण असमिया-साहित्य में राधा का वर्णन दुर्लभ है। यहाँके वैष्णव कवियों ने राधा-कृष्ण के शृंगारपक्ष का किंचित् भी स्पर्श नहीं किया है। कलापचन्द्र द्विज ने राधा के प्रेम का सरस एवं सुन्दर वर्णन किया है, किन्तु अश्लीलता से वह कोसों दूर है। इनका 'राधा-चरितकाव्य' भक्ति-भावना से परिपूरित तथा हृदयग्राही है जो सहृदय को मंत्रमुग्ध करने की क्षमता रखता है। इसमें दास्यभक्ति का निरूपण किया गया है। आपने भागवत पुराण के चतुर्थ स्कंध के अंशविशेष का अनुवाद भी किया है। इनके दो पद नीचे दिया जा रहे हैं :

(१)

नमो नमो नारायण जगत कारण।
हुया आशो लीलाये मनुष्य उत्पन्न॥

कालरो ईश्वर तुमि जानि आसो आमि।
ब्रह्मा रुद्र आदि देव समस्तर स्वामि॥

—राधा-चरित

'हे नारायण, तुम्हें नमस्कार है। तुम जगत् के कारण हो। तुम्हारी लीला से हम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। हम यह जानते हैं कि तुम काल के भी ईश्वर हो। तुम ब्रह्मा, रुद्र आदि समस्त देवताओं के स्वामी हो।'

(२)

एहि भाव चलि जान्त उद्धव महन्त।
कतो बेलि गोया पाछे गोकुल पाइलन्त।
आछन्त आसने वसि राधिका गोसानी।
सदा ये नचारे मुखे राम-कृष्ण वाणी॥

कृष्णर विरह वह्नि दहे तनु मन।
कतो कृष्ण पद दुइ करन्त चिन्तन॥

किंचितु नाहिके प्रभा तान शरीरत।
नाइ श्रुति ज्ञान आर राधार देहत॥

नाइ गात मांस अस्थि चर्म मात्र सार।
देखिला उद्धवे हेन अवस्था राधार॥

—राधा-चरित

'इस तरह सोचकर उद्धव गोकुल चले गये। उन्होंने देखा कि राधा आसन पर बैठी कृष्ण का जप कर रही हैं। उनका तन-मन कृष्ण की विरहाग्नि से जल रहा है। वे कृष्ण के चरणों में पूर्णरूपेण ध्यान-मग्न हैं। उनके शरीर में किंचित् भी प्रभा नहीं है और श्रुति एवं ज्ञान भी नहीं है। शरीर में मांस भी नहीं है, मात्र अस्थि और चर्म शेष हैं।'

यहाँ भी राधा में मधुर-भाव का अभाव तथा दास्यभाव का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है।

ता. का. झा

कविरत्न वैकुण्ठनाथ भागवत भट्टाचार्य

दामोदर देव के शिष्यों में कविरत्न वैकुंठनाथ भट्टाचार्य सर्वश्रेष्ठ थे। कामरूप जिले के अन्तर्गत बरनगर के भेराग्राम में सन् १५५८ ई० में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता कवि सरस्वती और माता तारादेवी थीं। भट्टदेव के पूर्वपुरुष कनौजिया वैदिक ब्राह्मण थे।

बरनगर के विख्यात पंडित गोपाल देव की पाठशाला में इन्होंने संस्कृत, व्याकरण, काव्य, दर्शन, वेद-वेदांगादि का अध्ययन किया था। इन्होंने हरिमिश्र का 'तन्त्रसार' नामक ग्रन्थ पढ़ा और गोपाल का मन्त्र ग्रहण किया था। इसके बाद ये बरनगर के भक्त-समाज में श्रीमद्‌भागवत पुराण की व्याख्या करते थे। इनका जनप्रिय नाम 'भट्टदेव' था। भट्टदेव के गुणों से मुग्ध होकर भक्तसमाज ने इनको 'कविरत्न' उपाधि प्रदान की और उनके भागवत-पांडित्य पर 'भागवत भट्टाचार्य' की पदवी दी।

दामोदर देव ने तिरोधान के पूर्व भट्टदेव को अपना उत्तराधिकारी (धर्माधिकारी) निर्वाचित किया। रामराय द्विज के अनुसार वे महान् पण्डित थे। क्षेत्रीय तथा अन्य प्रदेशीय पंडितों से भट्टदेव शास्त्रार्थ में कभी परास्त नहीं हुए। इनका परधाम-गमन १६३८ ई० में हुआ।

भट्टदेव महान् संत होने के साथ ही एक प्रतिभावान् कवि भी थे। ये असमिया भाषा ही नहीं, बल्कि नवीन भारतीय भाषाओं में भी प्रथम गद्य-स्रष्टा थे। दामोदर देव के निर्देश पर इन्होंने श्रीमद्‌भागवत महापुराण का मधुर असमिया गद्य में अनुवाद किया था। 'गुरुलीला' में रामराय लिखते हैं :

प्रभुर आज्ञाए बाट स्कंध भानि
कथारूप करिलन्त।

'प्रभु दामोदर की आज्ञा पर भट्टदेव ने द्वादश स्कंध भागवत का कथा (गद्य) में अनुवाद किया है।'

गुरु दामोदर देव के कूच बिहार चले जाने पर कविरत्न ने भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध का असमिया गद्यानुवाद करके उन्हें अर्पित किया। भट्टदेव का यह अनुवाद व्याख्यामूलक है। दामोदर देव ने इसे देखकर कहा :

किन्तु एतखानि बहुकथा भैले
पुथियो हइबे बर।
बाह्य कंधर कथाक लिखिते
लागिबे पात विस्तर॥

एतेके इहाक कहिते न पारि
न करिबे के हो यत्न।
संक्षेप करिया सार मात्र लैया
करा कथा कविरत्न॥

'इतनी अधिक कथा लिखने पर पोथी का आकार बहुत बड़ा हो जायगा। भागवत के बारह स्कंधों की समस्त कथा लिखने से पृष्ठ (भोजपत्र) भी बहुत लग जायँगे। तब इस ग्रंथ को पढ़ने एवं प्रतिलिपि करने के लिए कोई हृदय से यत्न नहीं करेगा। इसीलिए तुम संक्षेप में मात्र सार लेकर भागवत का गद्य में अनुवाद करो।'

गुरु के इस आदेश के अनुसार भट्टदेव ने भागवत पुराण का गद्यानुवाद प्रारम्भ किया। कूच बिहार के वैकुंठपुर सत्र से गुरु दामोदर देव ने प्रिय शिष्य भट्टदेव और उत्तराधिकारकामी भतीजे श्रीकृष्ण से संदेश (मिठाई) मँगवाया। श्रीकृष्ण ने उन्हें चूरा तथा लड्डू भेज दिया और भट्टदेव ने सात स्कंध भागवत का गद्यानुवाद भेजा। दामोदर देव ने अपने भतीजे श्रीकृष्ण के सन्देश को तुच्छ माना और भट्टदेव के गद्यानुवादरूप संदेश को श्रेष्ठ एवं मधुर उपहार के रूप में स्वीकार किया।

दामोदर देव ने अपने पंडित शिष्य बलदेव को भट्टदेव के भागवत-गद्यानुवाद ग्रंथ की समीक्षा के

लिए आदेश दिया। बलदेव को इस अनुवाद में मात्र दो ही अक्षर निष्प्रयोजक मालूम पड़े। उन्होंने कटाक्ष किया: 'दुई गोटा चोर पाइलो काटियो इहाक।' इस पर दामोदर देव ने कहा कि कविरत्न भट्टदेव विलक्षण एवं विज्ञ है। अतः उन्होंने किसी अभिप्राय से ही उन दो अक्षरों का प्रयोग किया होगा। अतः उन्हें मत काटो तथा कोष्ठक में रख दो। इसके बाद दामोदर देव ने भट्टदेव को पाटबाउसी सत्र का धर्माचार्य नियुक्त किया। पीछे भट्टदेव ने भागवत के शेष स्कंधों का भी गद्यानुवाद करके अपने गुरु को अर्पित कर दिया। तब दामोदर देव ने इनकी बड़ी प्रशंसा की तथा उन तथाकथित दो निष्प्रयोजक अक्षरों के विषय में भी चर्चा की। मात्र इन दो अक्षरों के लिए पंडित बलदेव और भट्टदेव में प्रातः से संध्या तक शास्त्रीय विचार-विमर्श हुआ। अन्त में बलदेव की पराजय हुई तथा कोष्ठक से तथाकथित दो अक्षर बाहर कर दिये गये। अर्थात् दोनों अक्षर साधिकार स्वीकृत कर लिये गये।

भट्टदेव को व्यासदेव का अवतार माना जाता है। इनके द्वारा गद्य में अनूदित भागवत 'श्री श्री भागवत-कथा' नाम से विख्यात है। इसके बाद इन्होंने 'श्रीमद्भगवद्गीता' का भी असमिया गद्य में अनुवाद किया, जो 'श्री श्री गीता-कथा' के रूप जाना जाता है। 'गीता-कथा' के अनन्तर इन्होंने 'श्रीमद्भक्तिविवेक,' 'कथाभक्ति-रत्नावली,' 'शरण-मालिका,' 'भक्तिसार,' 'सात्वततंत्र,' 'भागवत अधिकरण,' 'प्रसंगमाला' आदि ग्रंथों की रचना की।

सत्रों के विस्तार एवं संगठन में भट्टदेव का विचार कैसा उज्ज्वल था, इसे हम उनके ही रचित इस श्लोक में देख सकते हैं:

यत्राचरन्ति सद्धर्मान् केवला भगवत्-प्रियाः।
नवधा भगवद्भक्तिः प्रत्यहं यत्र वर्तते॥

तत् सत्रमुत्तमं क्षेत्रं वैष्णवं सुखनन्दितम्।
तत्रस्था वैष्णवाः सर्वे हरिनाम-परायणाः॥

म, च, शा.

इनकी भक्ति-भावना के दो गद्य नीचे दिये जाते हैं:

(१)

हे सामाजिक लोक ! नारदी भक्तिर क्रम शुना। प्रथमे महन्तर सेवा, पाचत कृपा, पाचें हरिभजन, धर्मंत श्रद्धा, पाचे हरिकथा-श्रवण, पाचे भगवन्तत रति, पाचे देहात्म-विवेक, पाचे दृढ़ा भक्ति, पाचे ईश्वर-तत्वज्ञानादि; पाचे हरिर कृपा हवे, सर्वज्ञादि गुण हय। आकजानि प्रथमे महन्तर सेवा करा।

—कथा-भागवत

'हे सामाजिक लोगो, नारदीयभक्ति का क्रम सुनो। पहले संतों की सेवा, तत्पश्चात् कृपा, इसके बाद हरिभजन, धर्म में श्रद्धा, हरिकथाश्रवण, तत्पश्चात् भगवान् में रति, इसके बाद देहात्म-विवेक दृढ़ भक्ति, अनन्तर ईश्वर-तत्त्वज्ञानादि और अन्त में हरि की कृपा और सर्वज्ञादि गुण होते हैं। यह जानकर पहले संतों की सेवा करो।'

(२)

हे पार्थ जार मध्यत सकल प्राणी आछे, जि कारण रूपे सकल जगतक व्यापि आछे, सेइपरम पुरुषक

एकान्त भक्ति एसे लभि, भक्ति बिने उपाय नाइ।"

—कथा-गीता

'हे पार्थ, जिसके बीच सकल प्राणी वर्तमान है, जो कारण के रूप से सर्वजगत् में व्याप्त हो रहे हैं, उन परम पुरुष की प्राप्ति एकान्त भक्ति से ही है। भक्ति के बिना भगवान् को प्राप्त नहीं किया जा सकता।'

न. च. श.

कृष्ण भारती

कृष्णभारती एक सन्त कवि थे। ये 'संत-निर्णय' अथवा 'चैतन्य-निर्णय' नामक असमिया गद्य-पुस्तक के रचयिता हैं। इसमें वैष्णव संतों के परिचय दिये गये हैं। इससे एक उद्धरण नीचे दिया जाता है:

एतिया वैष्णवर चारि संप्रदाय शुना—
वारानसीत हन्ते कलित-संप्रदाय प्रवर्त्तिल।
भट्टाचार्यक-पंडितक-राजा सकलक धर्म-
कर्म-नाम-निर्णय करि ये ज्ञान प्रवर्त्ताइ
वारानसीत ध्वजारोपण करे। संप्रदाय—
ताहार नाम कहो – चारिजन सन्नयासी
वारानसीत ध्वजारोपण करि भक्ति प्रवर्त्तिले।

पूर्वे निमादत्त—तेरे नाम चैतन्य गौरांग बोले।
पश्चिमे रामानन्द ताहाके रामदत्त बोले।
दक्षिणे विश्वश्याम ताहाके श्यामसुन्दर बोले।
उत्तरे माधवाचार्य ताहाक निरञ्जन बोले॥
—संत-निर्णय

'अब वैष्णवों के चार सम्प्रदायों के विषय में सुनो। कलियुग में वाराणसी से भक्ति-सम्प्रदाय का प्रवर्तन हुआ, जिन्होंने वाराणसी में भक्ति का ध्वजारोपण कर भट्टाचार्य, पंडित एवं राजाओं को धर्म, कर्म, नाम एवं ज्ञान दिया, उनके विषय में सम्प्रदाय के अनुसार कहता हूँ। पूर्व में निमादत्त चैतन्य या गौरांग के नाम से जाने जाते हैं। पश्चिम में रामानन्द, जिन्हें रामदत्त कहते हैं, दक्षिण में विश्वश्याम जो श्यामसुन्दर कहलाते हैं और उत्तर में मध्वाचार्य निरंजननाम से जाने जाते हैं।'

ता. का. झा
न. च. श.

कृष्णाचार्य

कृष्णाचार्य 'संत-चरित्र' अथवा 'संत-वंशावली' नामक ग्रंथ के प्रणेता माने जाते हैं। इसमें वैष्णव संतों का परिचयात्मक विवरण उपलब्ध है। कृष्ण-भारती और कृष्णाचार्य एक कवि के दो नाम हो सकते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में अभीतक कोई निश्चित मत स्थिर नहीं हो सका है।

ता. का. झा
न. च. श.

केशव कायस्थ

केशव कायस्थ शंकरदेव के भाई वनगञा गिरि के पौत्र थे। इन्होंने भागवत पुराण के सप्तम, अष्टम एवं नवम स्कन्धों का असमिया पद्य में अनुवाद किया था। इनका समय १७वीं शताब्दी है। इनका एक पद देखिये :

नमो नमो प्रभु करुणा-सागर
भक्त-बान्धव देव।
तोमार चरणे पशिलो शरणे
करी लक्ष कोटि सेव।
—भागवत नवम स्कंध

'हे प्रभो करुणासागर, भक्तों के बन्धु नारायण! मैं तुम्हारी शरण में आश्रय लेता और तुम्हें बार-बार प्रणाम करता हूँ।'

ता. का. झा

केशवचरण आता

केशवचरण आंता का जन्म आधुनिक लखीमपुर जिले के माटौकुची ग्राम में हुआ था। बाल्यावस्था में ही ये मातृ-पितृसुख से वंचित हो गये। बड़े होने पर इनका विवाह हुआ, किन्तु कुछ ही दिनों बाद पत्नी का देहान्त हो गया। इसके बाद ये बरपेटा चले गये। गुरु माधवदेव ने इनको शरण (दीक्षा) दी। ये गुरुदेव के साथ ही बंगाल आ गये और मधुपुर सत्र में रहने लगे। माधवदेव के देहान्त के बाद ये पद्म आता और नारायण ठाकुर के साथ पुनः आसाम चले आये और अपने ग्राम माटौकुचि में ही एक छोटे सत्र का निर्माण कर जीवन के शेष दिन वहीं बिताये।

केशव चरण आता, पद्म आता और मथुरादास बूढ़ा आता 'निकासंहति' के त्रिमूर्ति रूप में प्रसिद्ध हैं।

ता. का. झा
न. च. श.

केशवचरण कायस्थ

केशवचरण कायस्थ शंकरदेव के भाई वनगञा गिरि के नाती थे। शंकरदेव के शिष्य अथवा शिष्यानुशिष्य के रूप में इनका परिचय दिया गया

है। टीका-भाष्य के मतानुसार इन्होंने श्रीमद्भागवत के सप्तम, अष्टम और नवम़ स्कंधों का असमिया में पद्यात्मक अनुवाद किया था। इनका समय १७वीं शताब्दी है।

केशवचरण के दो छन्द नीचे दिये जाते हैं :

(१)

तुमि अग्नि सूर्य तुम से चन्द्रमा
नक्षत्र गणरपति।
तुमि जल छिति महावायु ज्योति
इन्द्रियगण सम्प्रति ॥

'हे भगवान् ! तुम अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा हो। तुम नक्षत्रों के स्वामी हो। तुम जल, पृथ्वी, वायु, ज्योति तथा इन्द्रियों के समूह हो।'

(२)

निज भकतक कृष्ण प्रभु भगवन्त।
यद्यपि करन्त द्वेष तथापि राखन्त ॥

तिनि जन्म दिला निया आपोनार थान।
कृष्णर समान देव आछे कोन जन ॥

'यद्यपि श्रीकृष्ण अपने भक्तों पर क्रोध करते हैं, तथापि वे उनकी रक्षा भी करते हैं। जैसे जय-विजय के तीन जन्मों के बाद उनको अपना स्थान (वैकुण्ठ) दे दिया। श्रीकृष्ण के समान दूसरा कोई देव नहीं है।'

ता. का. झा
न. च. श.

कैवल्यनन्दन देव

कैवल्यनन्दन देव प्रेमभूषण देव के ज्येष्ठ पुत्र थे। आपका जन्म सन् १७५१ ई० में हुआ था। पिता के वैकुण्ठगमन के बाद आप दिहिसत्र के अधिकारी मनोनीत किये गये थे। अपने अनुपम दैहिक सौन्दर्य के कारण ये 'त्रिकुण गोसाइँ' (सौन्दर्यपूर्ण ईश्वर) कहलाते थे। आप एक प्रतिभासम्पन्न कवि भी थे। लगभग बावन वर्षों तक नव वैष्णवधर्म का प्रचार करने के पश्चात् १८०३ ई० के आस-पास इनका गोलोकवास हुआ।

इनके दो पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

भकति दान देहु बाल-गोपाल।
भुवन-वंद्य योहि भकति कृपाल ॥
तप जप यज्ञ तीर्थ व्रताश्रम दान।
सर्व धर्म ज्ञान श्रेष्ठ भकति प्रधान ॥

'हे भुवनवन्द्य ! भक्तजनों पर कृपा करनेवाले बाल-गोपाल ! तुम मुझे भक्ति-दान दो। तप, जप, यज्ञ, तीर्थ, व्रत, आश्रम, दान, ज्ञान आदि से भक्ति श्रेष्ठ है।'

(२)

नाथ स्वामी न भजलो चरण तोमारि।
भव मोह पाशे बद्ध जीवन हामारि ॥

तत पथ छोड़ि हरि नित्यानित्य मानि।
पापजन्य राशि मार्गे प्रवर्तलो जानि ॥

'हे स्वामी ! सांसारिक मायाजाल में आबद्ध होकर मैंने तुम्हें नहीं भजा। हे हरि ! भक्तिपथ को छोड़कर असत्य संसार को सत्य मानकर मैंने पापमार्ग का अवलम्बन किया।'

ता. का. झा
न. च. श.

गोपालचरण द्विज

गोपालचरण द्विज अनन्य कृष्णभक्त और कवि थे। इन्होंने भागवत पुराण के तृतीय एवं अष्टम स्कंधों का असमिया में पद्यानुवाद किया था। इसके अतिरिक्त आपने 'हरिवंश पुराण' के भी कुछ अंशों तथा महापुरुष शंकरदेव की रचना 'भक्ति-रत्नाकर' का असमिया गद्यानुवाद किया है।

इनके दो छंद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

'ज्ञाने कर्मे तीर्थे व्रते नकरिया मन।
सुदृढ़ विश्वासे लैयो मोहोत शरण ॥
मोर गुणगणक श्रवणे तेतिक्षण।
निकामे मोहोत जाय निमजय गन ॥

'ज्ञान, कर्म, तीर्थ एवं व्रत में चित्त न लगाकर सुदृढ़ विश्वास से मेरे चरणों का आश्रय लो। मेरी गुणावली का श्रवण करो। निष्काम भाव से मुझमें निमज्जन करो।'

(२)

माया तरिबार कहो सुगम उपाय।
याक धरि अज्ञसवे सुखे तरि याय ॥
कृष्णर चरणे लैया एकांत शरण।
साधुसंगे करे चित्ते श्रवण कीर्तन ॥

× × ×

कृष्ण सेवा बिने माया निस्तारण नाइ।
केवल भक्ति से आति माया करे ठाइ ॥

'मैं तुम्हें माया से परित्राण के लिए सुगम उपाय बताता हूँ। इसी उपाय से अज्ञानी भी सहज में ही संसारसागर का संतरण कर सकता है। जो लोग श्रीकृष्ण की शरण में आश्रय लेते और सत्संग में कृष्णनाम का श्रवण-कीर्तन करते हैं उन्हींका उद्धार हो सकता है। कृष्णभक्ति के अतिरिक्त माया से उद्धार पाने के लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है।'

न. च. श.

गोपाल देव

गोपालदेव (गोपाल मिश्र) दामोदर देव के प्रिय शिष्यों में गिने जाते हैं। इन्होंने खुदिया नामक सत्र का निर्माण और उसका समुचित संचालन किया था। आपका जीवन एवं कार्य-काल १६वीं शताब्दी के मध्य से १७वीं के प्रथमार्ध तक माना गया है। विश्वास किया जाता है कि आपको 'कविरत्न' की उपाधि से विभूषित किया गया था; क्योंकि आपकी काव्य-प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी।

आपने कई ग्रन्थों का प्रणयन किया। जैसे: 'घोषारत्न' 'शंखचूर-वध', महिषासुरवध आदि। किन्तु अबतक मात्र 'घोषारत्न' ही उपलब्ध हो सका है। यह ग्रन्थ माधवदेव के 'नामघोषा' ग्रन्थ की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसकी विषयवस्तु अनेक पुराणों, गीता, संहिता, आदि से ली गयी है। इस ग्रन्थ में गोपालदेव ने नवधा भक्ति, 'शरण' (दीक्षा), 'भजन' (उपासना) आदि का विशद विवेचन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन्होंने अपने पूर्ववर्ती संत-महापुरुषों को सादर स्मरण किया है :

श्रीमंत शंकर शुभाशय, दामोदर यश प्रकाशय
भागवत क्षीर पयोधित गैला तल ॥
श्रीमंत माधव नामधरि, विषयरसुख परिहरि
कृष्ण यश करिला विस्तार।
दामोदर मत अनुसरि मुखे गोविन्दर नाम धरि
संत हरिनाम बखानिलो सारे सार ॥

'श्रीमंत शंकरदेव दामोदर (श्रीकृष्ण) के यश का प्रचार करते थे। वे भागवत-क्षीर-पयोधि में निमज्जित हुए। श्रीमंत माधवदेव ने सांसारिक सुखों को त्यागकर श्रीकृष्णभक्ति के व्यापक विस्तार के लिए अपनेको समर्पित कर दिया। मैं (कवि) दामोदर के मत का अनुसरण करते हुए मुख में गोविन्द का नाम लेकर निश्चित रूप से हरिनाम का वर्णन करता हूँ।'

इनके दो भक्तिव्यंजक पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

तुमि जगतर निजबन्धु यिहेतु निस्तारा भवसिन्धु
तोमार चरणे शरण पशिलो देव।
इबार नेरिवा मोक स्वामी तयु पादपद्मे सत्ये आमि
शरणपूर्वके कोटि-कोटि करो सेव ॥

'तुम जगत् के एकमात्र बन्धु हो, तुम जीवों का भवसागर से निस्तार करते हो। इसलिए हे देव ! मैं तुम्हारे चरणों में आश्रय लेता हूँ। हे स्वामी ! मैं तुझे कोटि-कोटि नमस्कार करता हूँ। तुम मुझे मत छोड़ो।'

(२)

विशुद्ध विज्ञान चिदानन्द, पूर्णानन्द कृष्ण सदानन्द
तान स्वरूप पत माहार मन रहय।
हृदयत पानचे पावे लाग, भवतेजि रय महाभाग
अखण्डित प्रेम पुलकतार होवय ॥

'जिसका चित्त विशुद्ध विज्ञान, चिदानन्द, पूर्णानन्द एवं सदानन्द कृष्ण में तन्मय रहता है वह अपने हृदय में ही श्रीकृष्ण को उपलब्ध करता है। उस स्थिति में वह भक्त श्रीकृष्ण के पूर्णप्रेम में निमज्जित हो जाता है।'

ता. का. झा.
न. च. श.

गोपालदेव आता

असम के वैष्णव संत-साहित्यकारों में गोपाल आता का प्रमुख स्थान है। ये सुकवि एवं नाटककार के साथ-साथ समर्पित धर्मप्रचारक थे। इनका जन्म १५४१ ई० में माना जाता है। इनके पिता का नाम कामेश्वर भुइया तथा माता का नाम ब्रजांगी देवी था। यह परिवार पहले तो नाजिरा नामक स्थान में बसा हुआ था, किन्तु कोच राजा ने जब आहोम राज्य पर आक्रमण किया तो ये लोग बरपेटा के समीप भवानीपुर में आकर रहने लगे।

गोपाल आता माधवदेव के मुख्य बारह शिष्यों में से थे, जिन्होंने वैष्णवमत के प्रचार में मुख्य भूमिका निभायी। ये महापुरुषिया-धर्म की अन्यतम शाखा 'काल-संहति' के प्रवर्तक थे।

इनकी मुख्य रचनाएँ हैं: उद्धव-यान, जन्म-यात्रा और नन्दोत्सव नामक तीन नाटक। इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक गीतों एवं पदों की भी रचना की है। विश्वास किया जाता है कि इन्होंने वैष्णवमत के व्यापक प्रचार के लिए बारह शिष्यों की एक मंडली तैयार की थी। गोपाल आता द्वारा स्थापित सत्रों की की विशेषता यह थी कि उनमें प्रजातंत्रीय दृष्टिकोण की मान्यता अधिक थी तथा अन्धविश्वास का आग्रह बहुत कम था। १६११ ई० में इकहत्तर वर्ष की अवस्था में इनका परलोकवास हुआ।

यहाँ इनके दो भक्तिपरक पद दिये जा रहे हैं:

(१)

कोटि कोटि अण्ड रोमकूपे जाहारा।
सो हरि देवकी उदरे अवतारा॥
श्याम मूरति पीत अम्बर सोहे।
पेखिए रूप मदन मन मोहे॥

—जन्मयात्रा

'जिसके रोमकूप में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं, वे ही देवकी के उदर में अवतरित हुए हैं। पीले कपड़े से शोभित उस श्याममूर्ति को देखकर कामदेव भी मोहित हो जाता है।'

(२)

आजु मथुरापुरो मिलब महोत्सव
माधव साधव मान।
गोकुल मंगल दूर गयो, नहिं
बाजत बेनु निसान॥

—उद्धव-यात्रा

'गोपिका उद्धव से कहती है कि आज मथुरापुरी में मिलन का महोत्सव होगा। माधव मथुरापुरी की अभिलाषा की पूर्ति करेंगे। गोकुल के मंगल श्रीकृष्ण दूर चले गये और अब वंशी नहीं बजेगी।'

ता. का. झा
न. च. श.

गोपीनाथ पाठक

गोपीनाथ पाठक प्रसिद्ध वैष्णव कवि राम सरस्वती के पुत्र थे। आपने दरंगी राजा धर्मनारायण का आश्रय लेकर संस्कृत महाभारत के 'द्रोण', 'सभा' और 'स्वर्गारोहण' पर्वों का असमिया में पद्यानुवाद किया था।

इनका एक भक्तिपरक पद नीचे दिया जाता है:

चारियो वेदर सार, नाम बिने नहीं आर,
जानो नामे पशियो शरणे।
कृष्ण मात्र एक देव, तस पावे करा सेव,
तेवे गति लभिवा मरणे॥
घोर संसारक तरी, भेवे पाइबा विष्णुपुरी,
सत्वरे एरियो आत काम॥
मन बुद्धि एक करी, सभासद सबे बेढ़ि,
डाकि सबे बोला राम-राम॥

'चारों वेदों का सार है नाम-धर्म, इसलिए नाम-धर्म की शरण लो। कृष्ण के अतिरिक्त कोई

श्रेष्ठ ईश्वर नहीं है। अतः उसकी भक्ति करो, तभी तुम संसार से उद्धार पाकर विष्णुपुरी जा सकते हो। हे सामाजिक ! एकाग्र मन से राम-राम बोलो।'

ता. का. झा
न. च. श.

गोविन्द गड़मणि (गोविन्द आतै)

गोविन्द गड़मणि का जन्म गारो जनजाति में हुआ था। एक दन्तकथा के अनुसार ये पहले देवी-पूजक थे। देवी को प्रसन्न करने के लिए ये अपने शरीर को चीरकर रक्त निकालते और उसे शंख में रखते थे। देवी सर्प के रूप में अवतरित होकर उस रक्त का पान करती थी। धीरे-धीरे इस तान्त्रिक-पूजा-विधान से इनका तन-मन-धन क्षीण हो गया और स्थिति दयनीय हो गयी। तब वैष्णवभक्त नारायण-दास के आदेशानुसार इन्होंने महापुरुष शंकरदेव से दीक्षा ली तथा वैष्णवधर्म के प्रचार-प्रसार में अपना पूरा सहयोग दिया। इससे यह स्पष्ट है कि महापुरुष शंकरदेव ने जनजाति के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करके उन्हें गौरव दिया था। इससे सांस्कृतिक समन्वय का अत्यन्त व्यापक परिवेश बना जो उस युग की महती आवश्यकता थी।

ता. का. झा
न. च. श.

गोविन्द मिश्र

गोविन्द मिश्र एक प्रसिद्ध संत और भट्टदेव के शिष्य थे। इनका जन्म कामरूप जिले में १६ वीं शताब्दी के मध्य हुआ और सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक जीवित रहे। इनके पिता का नाम हरि मिश्र था। उन्होंने कामरूप जिले के अन्तर्गत जागारा-सत्र की प्रतिष्ठा की थी। एक अन्य मत के अनुसार ये हरिदेव के शिष्य थे। इन्हें कविरत्न भागवत-भट्टाचार्य का समकालीन भक्त एवं पंडित माना जाता है।

इन्होंने कविरत्न वैकुंठनाथ भागवत भट्टाचार्य-रचित 'भक्ति-विवेक' नामक संस्कृत ग्रंथ का असमिया में सरल पद्यानुवाद किया था। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है 'पद्य-गीता' जो 'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' की असमिया पद्य में रचना है। अनुवाद में इन्होंने शांकरी, भास्करी, हनुमन्ती एवं आनन्दगिरि टीका से सहायता ली है।

इनके भक्तिभावनाप्रधान दो पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

कृष्ण पादपद्म मरन्द पाने
भक्तिभावे हैया मत्त।
वासुदेव बुद्धि सवाके देखय
ज्ञानर बुजिया तत्व॥

—पद्यगीता

'जो कृष्ण के पादपद्म-मकरन्द का पान करके भक्तिभाव से मत्त होकर तथा ज्ञान का तत्त्व समझकर वासुदेव-बुद्धि से सबको देखते हैं, उनको बड़े भक्त कहते हैं।'

(२)

यिटो गृहवास भार्यारेसे दास
कहिलो परम आर्या।
वानरक येन नर्त्तके नचावे
स्वामीक नचावे भार्या॥

—पद्य-गीता

'तुम यह परम तत्त्व जान लो कि यह दाम्पत्य-जीवन भार्या के दासत्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जैसे मदारी बन्दर को नचाते हैं वैसे ही भार्या पति को नचाती है।'

न. च. श.

चक्रपाणि आतै (वृन्दावनदास)

चक्रपाणि आतै नरोवा के रमाकान्त आता के सेवक थे। ये 'कथा गुरुचरित' के वक्ता कहे जाते हैं। गुरु की आज्ञा से नरोवा वासुदेव थान से चलकर इन्होंने विभिन्न सत्रों में बारह वर्ष भ्रमण किया और अन्त में बरदोवा में जाकर बस गये। वहीं इनकी

मृत्यु हुई। 'चरित-रचना के अतिरिक्त इन्होंने कई सुन्दर पद, भटिया आदि की भी रचना की थी।

निम्नलिखित दोनों पद शंकरदेव की जन्मभूमि पावन बरदोवा की प्रशस्ति से सम्बद्ध हैं :

(१)

(ध्रु०) जय जय जगजोव श्रीमन्त शंकर गुरु
सकल बैकुण्ठ माझे सार।
कामरूप मध्य जन्म यार गुण नाम कर्म
बटद्रवा थान नाम यार॥
(पद) सोहि गुरुरूपे थिटो दैवकीनन्दन इटो
सन्तरूपे भैला अवतार।
आलिपुखुरि जन्म यार गुण नाम कर्म
कुसुमर गृहे अवतार।
सोहि महाथान ग्राम शास्त्रे कहे यार नाम
तिनियो राज्यत बेकत भैला
सांति समे घर बान्धि महिमा प्रकासि अति
सोहि··· ····जरिला॥

× × ×

मध्यत कीर्तन घर दक्षिणत दौल बर
उत्तरत गंगा ये आकाशी।
छारि फाले छारि हाति गुण गान्त दिने राति
येन वृन्दाबनर प्रकाश॥

सोहि महाथान जसि भक्तर भाजत बसि
पूर्णचन्द्र येन प्रकाशिला।
भकतक दाया करि उपदेश देन्त हरि
कृष्णे येन उद्धवत कैला॥

हेन महागुरु रूप दरसने हरे पाप
येन चान्द सुचाण्ड बराइ।
हेनय शंकर बिने गति नाहि त्रिभुवने
वृन्दावन दासे ओहि गाइ॥

'जय जय जगजीवन श्रीमन्त शंकर गुरु, जो सारे वैकुंठ में सार हैं। जिनका जन्म कामरूप में हुआ, गुण-नाम-कर्म से जिस स्थान का नाम वटद्रवा है।

'देवकीनन्दन ने ही गुरुरूप में संतरूप अवतार धारण किया। गुण-नाम-कर्म के अनुरूप आलिपुखुरी में जिनका जन्म हुआ और कुसुम के घर में अवतार लिया। वही महाथान ग्राम, जिसका नाम शास्त्र लेते है, तीन राज्यों में व्यक्त हुआ। सती पत्नीसमेत घर बाँध महिमा प्रकाशित कर अनेक लीलाएँ कीं।

'उसके मध्य में कीर्तन-घर दक्षिण में बड़ा देवालय और उत्तर में आकाशी गंगा बहती है। चार दिशाओं में चार हाथी दिन-रात गुण गाया करते हैं। मानो वहाँ वृन्दावन प्रकाशित हो रहा है। उसी महापवित्र यशस्वी स्थान में भक्तों के बीच बैठे श्रीगुरु पूर्णचन्द्र जैसे प्रकाशित हुए। हरिरूपी शंकरदेव भक्तों पर दया कर उपदेश दिया करते हैं—जैसा कि कृष्ण ने उद्धव से कहा था। ऐसे महागुरु का रूपदर्शन पाप हर लेता है, जैसे चाँद अन्धकार को दूर करता है। ऐसे शंकर के बिना त्रिभुवन में और गति नहीं, वृन्दावनदास यही गाता है।'

(ध्रु०) जय जय बटद्रवा बैकुण्ठर सार।
यार नाम स्मरणे हवय भव पार॥

(पद) पंकज बिलास नामे आसि भैला थान।
श्रीमन्त शंकर गुरु करिछे निर्माण॥

पूर्वंत बराहे ताङ्क आछन्त आश्वासि।
बर शब्द नामे बटद्रवा भैल आसि॥

कुण्डिलक याइते पाछे गोविन्द तहिति।
खानितेक जुराइलेक उद्धव सहिति॥

श्रवण कीर्तन धर्म करिया प्रचार।
निबन्धिला पदबन्धे भागवत सार॥

पूर्वंत कोर्तनघर उत्तरे पदशिला।
चैध्य प्रसंग नामर दोकान पातिला॥

दक्षिणे यात्रार दौल निर्मिलन्त गुरु।
पश्चिमे शिलिखा वैकुण्ठर कल्पतरु॥

उत्तरे आकाशी गंगा धनुर अन्वय।
ताहात स्नानिले हय पापर प्रलय॥

चारि घाले चारि हाटि भकतर आवास।
ताक दरश होवे पापर विनाश॥

नाट गीत करिलेक शास्त्रसार धरि।
सप्त षाठि बर्षक बञ्चिले गुरु हरि॥

थानर चरित्र शुनि तरिओ संसारे।
द्विज वृन्दावने कहे पुरुषो उद्धारे॥

'वैकुण्ठ का सार वटद्रवा की जय हो, जय हो, जिसके नाम-स्मरण से भक्तजन संसार से पार हो जाते हैं।

'वहीं पंकजविलास नाम का स्थान है जिसका निर्माण शंकर गुरु ने किया। पूर्वकाल में बराह ने उनको आश्वासन दिया था। उसी 'बर' शब्द से 'वटद्रवा' बना। कुंडिलनगर में जाते समय गोविन्द ने उद्धव के साथ वहीं कुछ क्षण विश्राम किया था। वहीं (शंकरदेवने) श्रवण-कीर्तन-धर्म का प्रचार कर भागवत के सार को पदबन्ध में निबन्धित किया। पूरब में कीर्तन-घर, तथा उत्तर में पदशिला स्थापित कर चौदह प्रसंगरूपी नाम की दूकान लगायी। गुरु ने दक्षिण में यात्रा का देवालय बनवाया, पश्चिम में वैकुण्ठ का कल्पवृक्ष 'शिलिखा' (हर्रे) लगाया। उत्तर में धनुष के आकार की आकाशी गंगा बहती है जिसमें स्नान करने से पाप नष्ट हो जाते हैं। चारों ओर चार बस्तियों के जिनमें भक्तों का आवास है, दर्शन से पाप का नाश हो जाता है। (शंकर-देवने) शास्त्रों का सार निकालकर नाटक-गीत की रचना की और वहाँ सड़सठ वर्ष बिताये। उस स्थान का चरित्र सुन आप भी संसार से तर जाओ। द्विज वृन्दावन कहता है कि उससे अनेक पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है।'

न. व.

चतुर्भुज कायस्थ

चतुर्भुज कायस्थ बेचा-सत्र से सम्बद्ध थे। इन्होंने 'यदुमणि रामानन्द-चरित्र' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसके अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में और कुछ ज्ञात नहीं है।

ता. का. झा
न. च. श.

चतुर्भुज ठाकुर

चतुर्भुज ठाकुर शंकरदेव के कनिष्ठ पुत्र हरिचरण के सुपुत्र थे। इनका जन्म सन् १५८५ ई० में और परलोक-गमन १६४८ ई० में गंगा नदी के पार हुआ। इनके द्वारा रचित मात्र एक-दो गीत उपलब्ध कहे जाते हैं। इन्होंने माधवदेव के जीवनकाल में ही घरसिया में विष्णुपुर सत्र की स्थापना की थी।

ता. का. झा
न. च. श.

चान्द साँइ

चान्द साँइ (चाँद खाँ) महापुरुष शंकरदेव के यवन-शिष्य थे। ये जाति के दर्जी थे। जनश्रुति के अनुसार इन्होंने कुछ गीतों का प्रणयन किया था। इनमें 'नोमिक' कविता सौन्दर्यपूर्ण है। इनका समय १६वीं शताब्दी है। यहाँ इनके दो गीत उद्धृत हैं:

(१)

आमर जघत तामोल नारिकल
कठातर जघत बेल।
कबीरार चारि भाइ रजार हाती दाँत
पन्दुरर जंतत मेल॥

'आम के पेड़ में ताम्बूल और नारियल के फल हैं। कटहल के वृक्ष में बेल फल है। संत कबीर के चार भाई हैं। राजा के हाथीदाँत हैं और चूहे के बिल में सभा होती है।'

(२)

किनो गीत गाइलि चान्द रे बराइ
किनो गीत गाइलि चान्दे।
जँतुवा एन्दुरर पावत परिया
बोन्दा मेकुरोए कान्दे॥

कवि कहते हैं कि 'हे चान्दसाँइ ! तुम क्या गीत गाते हो ? बिल में रहनेवाले चूहे के पाँव-तले पड़कर बिलार रोता है।'

न. च. श.

जगदानन्द

जगदानन्द बरपेटा सत्र के सत्राधिकारी मथुरादास बूढ़ा आता के शिष्य काजला माजि के पुत्र थे। ये भी एक सन्तकवि थे। इनके कुछ धार्मिक गीत बरपेटा के सत्र में अब भी गाये जाते हैं।

ता. का. झा.

न. च. श.

जगवन्दन देव

जगवन्दन देव वर यदुमणि देव के वंश में आविर्भूत हुए थे। ये 'यदुमणिदेवर-चरित्र' नामक एक ग्रन्थ के प्रणेता हैं। इनकी चर्चा असम के प्रमुख भक्त-कवियों में की जाती है।

ता. का. झा

न. च. श.

जयनारायण

जयनारायण 'ब्रह्म'संहति' के अनुगामी भक्त-कवि थे। सदिया सत्र के सत्राधिकारी थे गोपाल। उनके पुत्र थे लक्ष्मीपति और लक्ष्मीपति के पुत्र हैं जयनारायण। इन्होंने 'लक्ष्मीपति-चरित्र' नामक पुस्तक की रचना की है।

ता. का. झा

न. च. श.

जयराम आतै

शंकरदेव के भक्तों में 'भुटिया' अथवा भोटिया (भूटान के निवासी) लोगों को भी सम्मिलित किया गया था। जयराम आतै उन्हींमें से एक थे।

ता. का. झा

न च. श.

जयहरि देव

जयहरि देव 'कुरुवावाही सत्र' के अधिकारी थे। एकबार राजरोष के आतंक से इन्हें भी दूर भागना पड़ा था। उस समय कुछ वैष्णवभक्त इनके साथ गये थे। विश्वास किया जाता है कि मिश्रदेव की हत्या के बाद आहोम राज्य में बहुत अमंगल होने लगा। सामान्य जनता अच्छी तरह जानती थी कि राजपद लेने के लिए मिश्रदेव ने दुरभिसन्धि की कोई योजना नहीं बनायी थी। बाद में आहोम राजा भी इस तथ्य को स्वीकार करने लगा। तब जयहरि देव निर्भय होकर कुरुवावाही सत्र के सत्राधिकारी के रूप में धार्मिक कार्यकलापों के सम्पादन में अग्रसर हुए। एक समय ऐसा भी आया जब चुरामफा भंगाराजा ने कुरुवावाही के सत्रगृहनिर्माण में पूरा सहयोग दिया। किन्तु इसके कुछ ही दिनों बाद संभवतः १६३२ ई० में जयहरि देव का देहान्त हो गया।

ता. का. झा

न. च. श.

जयहरि यवन

एक दन्तकथा के अनुसार जयहरि यवन एक मुसलमान भक्त थे। कहा जाता है कि ये महापुरुष माधवदेव द्वारा दीक्षित हुए थे। दूसरी जनश्रुति के अनुसार इन्होंने 'बरपेता के सत्राधिकारी मथुरादास से दीक्षा की याचना की, किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया था।

ता. का. झा

न. च. श.

दामोदर देव

असम प्रांत में वैदिक वैष्णवधर्म को नवीन रूप से प्रवर्तित करनेवाले संतों मे दामोदर देव अन्यतम थे। परम्परा के अनुसार इनका जन्म सन् १४८८ ई० में हुआ और देहान्त सन् १५९८ में। दामोदर देव के पिता का नाम सतानन्द एवं माता का नाम सुशीला देवी था। सतानन्द गौतमगोत्रीय ब्राह्मण थे। वे आधुनिक कामरूप जिले के अन्तर्गत हाजो के निकटवर्ती रत्नेश्वर नामक गाँव से नगाँव जिले के नचला नामक गाँव को चले गये और वहाँ निवास करने लगे।

दामोदर देव अपने पिता के कनिष्ठपुत्र थे। ये अध्यापक कलापचन्द्र की पाठशाला में पढ़ते थे। थोड़े ही दिनों में इन्होंने वेद-वेदान्त, गीता, भागवत, पुराणादि शास्त्रों में प्रगाढ़ ज्ञान प्राप्त कर लिया। बाल्यकाल से ही इनमें भक्तिभावना के बीज अंकुरित होने लगे थे। उसी समय से ये महापुरुष शंकरदेव के साथ विविध शास्त्रों की आलोचना किया करते थे। सोलह वर्ष की आयु में इनका विवाह हुआ। इसके बाद राजनीतिक कारणों से ये भाइयों के साथ फिर हाजो लौट आये। हाजो में चैतन्यदेव के साथ दामोदर देव का मिलन हुआ। कवि रामराय इसकी चर्चा करते हुए लिखते हैं :

बराह कुन्डुत पूर्वं चैतन्य आहिला।
मणिकूटे दूयोजने संभाषण हैला॥
परम आनन्दे तुयो दुइको आस्वासिला।
तथा हन्ते श्रीचैतन्य जगन्नाथे गैला॥
—गुरुलीला

'चैतन्यदेव वराहकुण्ड में पहले ही आये थे। मणिकूट में दोनों के बीच सम्भाषण हुआ। दोनों ने परमानन्द से परस्पर भावों का आदान-प्रदान किया। वहाँ से श्रीचैतन्य जगन्नाथ चले गये।'

परम्परा के अनुसार उस मन्दिर में दामोदर देव ने संन्यासी-वेषधारी देवर्षि नारदजी का दर्शन पाया और उन्हींकी कृपा से उन्होंने भक्तितत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया। दामोदर देव के शिष्य कविरत्न वैकुण्ठनाथ भट्टदेव ने लिखा है :

गच्छवत्स द्विजोभुदा कलौ मणिमयाचलम्।
नारदानुग्रहेनैव ज्ञानं लध्वेह स्थास्यति॥
कामरूपे हयग्रीव-माधवाचल-सन्निधौ।
नारदाभिरूपेनैव तस्मै ज्ञानमदात् मुदा॥

दामोदर देव ने वैदिक वैष्णवधर्म का व्यापक प्रचार किया। महापुरुष शंकरदेव से वे अनुप्राणित हुए थे, फिर भी शंकरदेव, दामोदर देव के गुरु नहीं थे, ऐसा अधिकांश विद्वानों का मत है।

शंकरदेव के तिरोधान के पश्चात् दामोदर देव ने एक नवीन वैष्णव-सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। इनका यह सम्प्रदाय भक्ति एवं ब्राह्मण-धर्म का समन्वित रूप है, जिसे 'ब्रह्मसंहति' नाम से जाना जाता है। इसमें ब्राह्मण के नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का निषेध नहीं किया गया है। उन्होंने कहा है :

भागवत व्याख्यान तुमि आपुनि करिबा।
लोकक हरिर भक्ति उपदेश दिवा॥
ब्राह्मणर नित्य नैमित्तिक नेरूवाबा।
आपुणियो स्नान संध्या पूजा आचरिबा॥
—गुरु लीला

'तुम स्वयं भागवत की व्याख्या करो। लोगों को भी हरिभक्ति का उपदेश दो। ब्राह्मणों के नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों को मत छोड़ो। तुम स्वयं भी स्नान-संध्या, पूजा का आचरण करो।'

वे विष्णुपूजा एवं सात्त्विक देव-देवी की पूजा का सामूहिक रूप से विरोध नहीं करते थे, किंतु शक्ति-पूजा के विरोधी थे।

राजार पासक जाइबो नकरिबो पूजा।
हरि बिने आधे आन कोन दशभूजा॥
—गुरुलीला

मैं नृपति के पास जाऊँगा, लेकिन कभी पूजा नहीं करूँगा। हरि के बिना मेरी और कौन दशभुजा (दुर्गादेवी) है?'

दामोदरदेव ने विष्णुपूजा का तो अनुमोदन किया, किन्तु उन्होंने कभी भी बलि का समर्थन नहीं किया। इसीलिए उन्होंने कामरूपाधिपति परीक्षित नारायण के दूत को दृढ़भाव से प्रत्युत्तर दिया था :

मोर गल उपर बलिर गल तल।
काटा यदि आचय तोहार गात बल॥
—गुरुलीला

'मेरा कंठ ऊपर रहेगा और बलि का कंठ नीचे रहेगा। अगर तुम्हारे शरीर में बल है तो काटो।'

दामोदर देव ने नवधा भक्ति को महत्त्व दिया है। वे अपने शिष्यों को उपदेश देते थे :

श्रवण कीर्तन स्मरण अर्च्चन
वंदना पद - सेबिबा।
नवबिध भक्ति जिमान पाराहा
सिमानके आचरिबा॥
—गुरुलीला

'श्रवण कीर्तन स्मरण, अर्चन, वन्दन, पादसेवन आदि नवविधा भक्ति का आचरण करो।'

इनके द्वारा प्रवर्तित धर्म-सम्प्रदाय का आधार वेद एवं शास्त्र हैं। उसका एक मुख्य अंग सत्संग है। यहाँ विष्णुमूर्ति के पूजन की परम्परा वर्तमान है। इनका मत ब्रह्म-संप्रदाय का अंगभूत है। यहाँ उपास्य देवता वासुदेव, विष्णु, कृष्ण, गोविन्द, गोपाल हैं। इस संप्रदाय में कृष्ण को पूर्ण अवतार माना जाता है।

दामोदर देव के धर्मप्रचार के क्षेत्र में सफल होने का प्रधान कारण था, इनकी उत्कृष्ट पद्धति एवं कौशल। धर्मप्रचार करनेके लिए इन्होंने कुछ पण्डित तथा कार्यदक्ष युवकों का निर्वाचन किया और उन्हें कामरूप के विभिन्न अंचलों में प्रचारक के रूप में भेजा था। दामोदर देव स्वयं सबका मार्गदर्शन करते रहते थे। नृपति परीक्षितनारायण ने इन्हें कामरूप से निर्वासित कर दिया। इसलिए ये कूच बिहार चले गये। यह निर्वासन इनके लिए वरदान बन गया। इनके धार्मिक कार्यकलाप कूचबिहार तक फैल गये और वहाँके राजा लक्ष्मीनारायण ने इनके सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली। इसके बाद उन्हींकी सहायता से इन्होंने कूच बिहार में एक बड़े सत्र का निर्माण किया और उसके प्रसार में प्राणपण से लग गये।

असम प्रदेश में परवर्ती सत्रों के गठन और संरचना में दामोदर देव की संगठन-पटुता का व्यापक प्रभाव देखा जाता है। उनकी आज्ञा से अनेक शिष्य जगह-जगह सत्र स्थापित कर सनातन वैष्णवधर्म का प्रचार करने लगे।

दामोदर देव महान् संत होते हुए भी कवि नहीं थे। फिर भी इनके नाम से कतिपय परमार्थविषयक गीत प्रचलित हैं। उनमें से एक नीचे दिया जाता है :

ए भव अरणये देह पशुगणे
विषय घासक खाइ।
काल माया जाले चौबेरा करिधे
तांक केह देखा नाइ॥
आरो काल ब्याधे धनुसर धरि
चुम्पि फुरे पाचे पाचे।
सत्व रजः तम तिनि गुण जरि
जलत मेछाइ आधे॥

'भवारण्य में देह-पशु विषय-तृण खाते हैं। काल का मायाजाल चारों तरफ बिछा है, लेकिन वे कभी नहीं देखते। काल-व्याध धनु-शर लेकर उनके पीछे-पीछे घूमता रहता है। सत्त्व, रज, तम त्रिगुण-रूप जंजीर से उन्हें बाँध लेता है।'

ये किसी भी जाति के किसी आदमी से घृणा नहीं करते थे। सब पर समदृष्टि रखते और सबको अपने धर्म की दीक्षा देते थे।

इनका लोकान्तरण कूच बिहार के वैकुण्ठपुर सत्र में लगभग ११० वर्ष के आयु में १५९८ ई० में हुआ। शिष्य-परम्परा इन्हें भगवान् विष्णु का अवतार मानती है।

न. च. श.

दैत्यारि ठाकुर

दैत्यारि ठाकुर का जन्मकाल १५६८ ई० माना जाता है। ये रामचरण ठाकुर के पुत्र थे। सचमुच ये योग्य पिता के योग्य पुत्र सिद्ध हुए। भक्तिकाल में गद्यविधा की श्रीवृद्धि में इनका स्मरणीय योगदान है। 'शंकरदेव-माधवदेव-ईश्वर-चरित' इनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें माधवदेव के जीवन की मधुर झाँकी प्रस्तुत की गयी है। इसके अतिरिक्त इनके दो नाटक भी हैं 'नृसिह-यात्रा' तथा 'श्यामंत-हरण'।

इन्होंने कुछ स्वतन्त्र गीतों का भी प्रणयन किया है जो माधुर्यगुण से ओत-प्रोत हैं। नीचे इनके दो पद उद्धृत किये जाते हैं :

(१)

सृष्टि-स्थिति-लय लीलाकारि ।
ब्रह्माहर सेवक जाहारि ॥
निज भक्त वाक्य सत्यकारि ।
नरसिंह रूपे देव हरि ॥

—नृसिंह-यात्रा

जो (कृष्ण) सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयादि लीलाकारी हैं, जिनके ब्रह्मा, महादेवादि देवता सेवक हैं, जो अपने भक्तों के वचन सत्य करते हैं, वे ही हरि नरसिंहरूप में अवतरित हुए ।

(२)

कैसे करब हरि भकति तोमाक ।
पंचन्द्रिये करे सदा आकुल आमाक ॥

—नृसिंह-यात्रा

'हे हरि ! तुम्हारी भक्ति कैसे करूँ ! पञ्चेन्द्रियाँ सदा मुझे व्याकुल बनाती रहती हैं ।'

ता. का. झा

नरहरि आतै

'अमूल्य-रत्न' नामक एक प्राचीन असमिया ग्रन्थ के अनुसार नरहरि आतै आहोम जाति के वैष्णव भक्त थे । ये महापुरुष शंकरदेव द्वारा दीक्षित हुए थे ।

ता. का. झा
न. च. श.

नरोत्तम आतै

नरोत्तम आतै नागा जनजाति के थे । डा० महेश्वर नियोग के अनुसार बारेघर सत्र के श्रीरामदेव ने इन्हें दीक्षित किया था । इनका पूर्वनाम 'लखा' था । ये नागा राजा थे ।

ता. का. झा
न च. श.

नारायणदास ठाकुर आता

नारायणदास ठाकुर आता महापुरुष शंकरदेव के शिष्य तथा उच्चकोटि के वैष्णवभक्त थे । इनका पितृदत्त नाम 'भवानन्द' था । दीक्षा के समय शंकरदेव ने ही इनका नाम नारायणदास रखा था । माधवदेव के साथ इनका बन्धुत्वभाव था । नारायणदासजी ने कुछ 'भकतीया फकरा' तथा परमार्थतत्त्वसम्बन्धी रचनाएँ की हैं । यहाँ दो उदाहरण दिये जा रहे हैं :

(१)

एक डाल बृक्ष आछे जगतक जुरि ।
तले आछे डाल पत्र उपरे जुरि ॥

'जगत् एक व्यापक वृक्ष है । उस वृक्ष के नीचे डालियाँ तथा पत्ते हैं और ऊपर है इसका मूल ।'

(२)

बार हात जालर तेर हाते फटा ।
भाल माछ मारिलि जालोवार बेटा ॥
रौ-बरालि सरकि गल ।
पुढि खलिहा पाहात बाजि रल ॥

'श्रीमद्भागवत पुराण में बारह स्कंध हैं । वह भागवत पुराण अनेक तत्त्वपूर्ण विषयों से युक्त है । फिर भी सब लोग उस तत्त्व का उद्घाटन नहीं कर पाते । वह सद्गुरुकृपा से ही सम्भव है ।'

ता का झा
न. च. श.

नारायण देव

दामोदर देव ने जिन बारह शिष्यों की एक मण्डली बनायी थी उसमें नारायण देव भी एक मुख्य सन्त थे । गुरु के आदेशानुसार इन्होंने 'दरं' जिले के जनजातीय अंचल में वैष्णवधर्म की पुनीत धारा प्रवाहित की ।

दामोदर देव के सत्रों में विष्णुमूर्ति की स्थापना की जाती थी । किन्तु नारायण देव ने उस स्थान पर दामोदर देव की पादुका की स्थापना की । दूसरे शब्दों में इन्होंने विष्णु की अपेक्षा गुरु को विशेष महत्त्व दिया । यहाँ इनका एक छन्द दिया जा रहा है :

महाभक्त नारायण, पादुका जाहार धन ॥
शिरत पादुका थन्त, दामोदर उच्चारन्त ॥

'महाभक्त नारायण का परमधन पादुका है। वह सिर पर पादुका लेकर सतत दामोदरदेव के नाम का उच्चारण करता रहता है।'

ता. का. झा
न. च. श.

नित्यानन्द देव

नित्यानन्ददेव उत्तर असम के मायामरा सत्रके चौथे सत्राधिकार थे। आहोम राज-अधिकारियों के षड़्यंत्र के कारण आपको राजरोष का सामना करना पड़ा। राजा ने आपके लिए प्राणदण्ड का आदेश दिया था। सन् १६५० ई० के जेठ महीने में दिखौ नदी के कुजीबाली घाट में आपका शिरच्छेद किया गया। आप कालसंहति के अनिरुद्ध देव की परंपरा में आते हैं। आपके दो पद यहाँ दिये जा रहे हैं :

(१)

ध्रु० : गोसाइ गोपालराम पुरिओ मनर काम
थोरर करुणा करा मोक।
परम पातकी आमि पतित-पावन तुमि
सहजे तोमात रति होक॥

पद : परम अनाथ आमि एक नाथ तुमि स्वामि
जानिया न करा परिहार।
चरणपञ्जरे तेरि मन राजहस मेरि
बन्दी हैया थाकोक इबार॥

प्राण-प्रयाण बेला कम्फ बाते हैब हेला
कण्ठक करिबे निरोधन।
इन्द्रियर हैब दुख मनत नाहिके सुख
किमते स्मरिबो नारायण॥

तुमि हरि कृपामय बाहिरत गुरुरूपे
करा सदा मतिक चेतन।
हृदित चेताइबो हरि तयुकथा सत्य करि
नापासरो येन मोर मन॥

तुमि मोर पिता माता उपदेष्ट गतिदाता
ने देखोहो आउर त्रिभुवने।
नित्यानन्दे बोलें बाणी अभय चरणे जानि
सत्ये सत्ये पशिलो शरणे॥

'प्रभु, गोपालराम, मनोकामना पूर्ण करो। मुझपर थोड़ी-सी करुणा करो। हम परम पातकी हैं और तुम हो पतित-पावन। हमारी सहज में ही तुममें रति होवे।'

'हम परम अनाथ हैं, स्वामी, तुम एक नाथ हो। ऐसा जानकर हमारा त्याग न करो। तुम्हारे चरण-पंजर में मेरा मन-राजहंस बन्दी बना रहे। प्राण के प्रयाणकाल में वात-कफ से अवहेलना होगी, ये कंठरोध कर डालेंगे। इंद्रियों को दुःख होगा, मन में सुख नहीं रहेगा। नारायण, तब तुम्हारा स्मरण हम कैसे करेंगे? तुम हरि कृपामय, बाहर गुरु के रूप में सदा मेरी मति को चेतना प्रदान करो। हे हरि, हृदय को मैं सचेत करूँगा, जैसे तुम्हारी कथा सत्य मानकर मेरा मन कभी न भूले। तुम्हीं मेरे माता-पिता हो। उपदेश देनेवाले गुरु और गति देनेवाले तुम्हारे सिवा त्रिभुवन में कोई नहीं दीखता। नित्यानन्द यह वचन कहता है, तुम्हारे अभय चरण को जानकर सत्य सत्य शरण में आया हूँ।'

(२)

ध्रु० : हे नाथ तारियो तारियो यदुपति।
अधमर नाहि नाथ तुमि बिने गति॥

पद : महन्त सकले करि आछे निरुपण।
शास्त्रत शुनिछों प्रभुस्वरूप बचन॥

भजन्ता जनक रक्षा कराहा आपुनि।
तुमि बिने पतितक उद्धारिबे कोनि॥

गोपीक अभय दिला शंखचूड़ मारि।
आरु नाना भय हन्ते राखिला मुरारि॥

नन्दक उरग मृत्यु हन्ते परित्राण।
पितृक अभय कंस केशी निरजान॥

जरासन्ध भयत राखिला राजाचय।
हरि अवतरि कैला शत्रुर प्रलय॥

तारिला सीताक मारि दशानन स्कन्ध ।
आमाक तारिबे प्रति ना लागे प्रबन्ध ॥
यार कटाक्षत होवे सृष्टि स्थिति लय ।
आमाक तारिते कोन खानि श्रम हय ॥
काकुति करिया नित्यानन्दे बोले वाणी ।
किमते भाण्डिबा भजि आछो गुण जानि ॥

'हे नाथ ! यदुपति, हमारा उद्धार करो। तुम्हारे बिना अधम की और कोई गति नहीं। 'महन्त-गण निरूपण करते हैं, शास्त्रों में यह सत्य वचन सुना है कि भजन करनेवाले जन की तुम स्वयं रक्षा करते हो। तुम्हारे विना पतित का उद्धार कौन करेगा ? शंख-चूड़ को मारकर तुमने गोपियों को अभय किया और अनेक भयों से उनकी रक्षा की। नन्द का सर्परूपी मृत्यु से परित्राण दिया। कंस-केशी को मारकर पिता वसुदेव को अभय दिया। जरासन्ध से भयभीत राजाओं की रक्षा की। हरि का अवतार लेकर शत्रुओं का विनाश किया। दशानन को मारकर सीता का उद्धार किया। तब हमारा उद्धार करने में तो कोई प्रयास की आवश्यकता ही नहीं है। जिसके कटाक्ष से सृष्टि स्थिति, प्रलय होते हैं, हमें तारने में भला उसे कौन-सा श्रम हो सकता है ? प्रार्थना करते हुए नित्यानन्द यह वाणी कहता है कि तुम्हारे गुण जानकर भज रहे हमें कैसे छोड़ सकोगे ?'

न. व.

निरंजन देव

निरंजन देव जयहरि देव के शिष्य थे। इनके साधु-स्वभाव एवं कर्तव्यनिष्ठा पर मुग्ध होकर जयहरि देव ने अपने जीवनकाल में ही इन्हें कुरुवाबाही सत्र के 'पाठक' के पद से प्रोन्नत करके 'सत्राधिकारी' नियुक्त करने का विचार किया, जैसा कि उन्होंने कहा है :

निरजन बापु भागवत सुजान ।
राजा प्रजा सकलो करय तांक मान ॥

परम गहीन धीरमति महासन्त ।
सत्र अधिकारी योग्य तेहेसे होवन्त ॥

'निरंजन बापू भागवत-सुजान हैं और राजा-प्रजा सभी इनका सम्मान करते हैं। वे परम गम्भीर, धीरमति एवं महासन्त हैं। इसलिए सत्राधिकारी के लिए ये योग्य व्यक्ति हैं।' यह कथन निरंजन देव की लोकप्रियता एवं महत्ता को उजागर करता है।

अत: जयहरि देव के वैकुण्ठ-प्रयाण के बाद निरंजन देव कुरुवाबाही सत्र के सत्राधिकारी नियुक्त हुए। कुछ दिनों बाद आहोम राजा सर्गदेव चुराम्फा मगाराजा ने निरंजन देव को आउनीआती सत्र का सत्राधिकारी मनोनीत किया।

नरिया का राजा भी निरंजन देव को उतनी ही आदरदृष्टि से देखता था। एकबार उसने सत्राधिकारी निरंजन देव को राजधानी आने का निमन्त्रण दिया। जब निरंजन देव राजधानी पहुँचे तो उन्हें 'नाओशालि' में परम आदरपूर्वक रखा गया। निरंजन देव ने गैंडे की सींग से निर्मित जपमाला देकर राजा को मन्त्रदीक्षा दी।

राजा और प्रजा दोनों द्वारा वन्दित एवं समादृत होकर निरंजन देव ने ऊपरी असम में जातिभेद मिटाते हुए जनसाधारण में नव वैष्णवधर्म का प्रचार किया।

असम के भक्त-कवियों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने कृष्णमिश्र यती के विख्यात रूपक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का असमिया अँकिनाट के रूप में रूपान्तरण किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कुछ हृदयस्पर्शी गीतों की भी रचना की है।

निरंजन देव के बाद केशव देव, रामचन्द्र देव, दामोदर देव, हरि देव, लक्ष्मीनाथ देव, पद्मपाणि देव, लक्ष्मीराम देव, कुशराम देव, आदि भक्त 'आउनी-आती' सत्र के सत्राधिकारी बने।

ता. का. झा
न. च. श.

निर्मलचन्द्र देव

निर्मलचन्द्र देव वल्लभचन्द्र देव के पुत्र थे। इनका जन्म सन् १८५४ ई० में गोलाघाट महकुमा के खुरामुख

नामक स्थान में हुआ था। आप २७ वर्षों तक अधिकारी के पद पर रहे तथा पद की गरिमा के अनुरूप अनेक धार्मिक कार्य किये। सन् १८९५ ई० में आपका देहावसान हुआ।

निर्मलचन्द्र की गणना समर्पित भक्तों में की जाती है। यह उनके दो भक्तिभावपूर्ण पद दिये जा रहे हैं :

(१)

जय जय कृपासिंधु जगतर पति।
तोमार चरणे मोर सदा हौक रति॥

आमि अति मूढमति न जानो किंचित।
आपोनार निज गुणे तारिते उचित॥

'हे जगत्पति, कृपासिन्धु ! तुम्हारे चरणों में मेरी रति हो। मैं मूर्ख हूँ और कुछ नहीं जानता। आप अपने अलौकिक गुणों से मेरा त्राण करें।'

(२)

परम ब्रह्म पति कर्त्ता तारहु इबार।
पतित तारक ईश करुणा उद्धार॥

निजानन्द निज रूपे निज गुण धरि।
अभय करुणाकर भय दूर करि॥

'हे परम ब्रह्म ! हे स्वामी ! मेरा इस संसार से उद्धार करो; क्योंकि तुम पतित-पावन एवं करुणामय हो। अपने गुणों से मेरा सांसारिक भय दूर करो।'

ता. का. झा
न. च. श.

नीलकण्ठ दास

नीलकण्ठ दास दामोदर देव के शिष्य थे। इन्होंने 'श्रीदामोदर-देव-चरित' नामक ग्रन्थ की रचना की है जिसमें दामोदर देव और उनके अनुगामी सन्त भक्तों का विस्तृत वर्णन है। इनका एक पद नीचे दिया जाता है :

जय-जय कृष्ण पूर्ण ब्रह्म नारायण।
भगत वत्सल प्रभु पतित-पावन॥

सर्वभूत आत्मा ब्रह्म अन्तर्यामी देव।
प्रकृतिर पति तयु पदे करो सेव॥

अन्तर्यामी चैतन्य ईश्वर सनातन।
तुमि आत्मगुरु पावे पशिलु शरण॥

'हे पूर्णब्रह्म, पतित-पावन तथा भक्तवत्सल कृष्ण ! तुम्हारी जय हो। तुम सर्वभूतों में आत्मरूप से विराजमान हो। तुम अन्तर्यामी चैतन्य एवं सनातन ईश्वर हो। तुम प्रकृति के स्वामी हो, तुम मेरे एकमात्र गुरु हो, अतः मैं तुम्हारे आश्रय की आकांक्षा करता हूँ।'

ता. का. झा
न. च. श.

पद्म आता

माधवदेव द्वारा नियोजित बारह धर्माचार्यों में पद्म आता कनिष्ठतम थे। माधवदेव ने इन्हें आहोम राज्य में धर्मप्रचारार्थ नियुक्त किया था। इनका जन्म नारायणपुर में हुआ और ये बाल्यावस्था में ही पितृसुख से वंचित हो गये। यौवन-काल में इन्होंने समरवाहिनी में 'बारूवति' के रूप में प्रवेश किया। इफला युद्ध में रणांगण की विभीषिका देखकर इनका हृदय-परिवर्तन हुआ और ये वहाँ धार्मिक गीत गाने लगे। इनके साधु स्वभाव को देखकर भाभी ने इनका विवाह कर दिया, फिर भी इनका मन सांसारिक विषयवासना में रम नहीं सका। फलतः इन्होंने गृहस्थ-जीवन त्यागकर जयभारती नामक एक ब्राह्मण का आश्रय लिया। इसके बाद ये केशवचरण आता के साथ कूच बिहार गये, जहाँ माधवदेव ने इन्हें दीक्षा दी।

माधवदेव के आज्ञानुसार ये पूर्व असाम चले गये, और वहाँ नव वैष्णवधर्म के प्रचार-प्रसार में इन्होंने अपना सर्वस्व लगा दिया। इनकी उत्कृष्ट साधना से प्रभावित हो आहोम राजा की रानियों ने इनका शिष्यत्व ग्रहण किया। अन्त में इन्होंने माजुली में कमलाबारी सत्र का निर्माण किया। आगे चलकर

इन्होंने एक ब्राह्मण भक्त को अपने सत्र का अधिकारी निर्वाचित किया।

ता. का. झा
न. च. श.

पद्मप्रिया

पद्मप्रिया भवानीपुरिया गोपाल आता की पुत्री और प्रसिद्ध वैष्णवधर्म-प्रचारिका थीं। इन्होंने भक्ति-विषयक कुछ गीतों की रचना की है।

इनके अतिरिक्त बलराम द्विज, विष्णुदेव गोस्वामी, जगदानन्द, सनातन देव, हलीराम देव, रामानन्द देव, नीलकण्ठ दास, श्रीकृष्ण मिश्र, विद्यानन्द द्विज ओझा, भद्रचारु, रामगोपाल, पूर्णानन्द, रामनाथ, जयनारायण, बाणेश्वर, दिवाकर, गोपीनाथ पाठक आदि सन्त महानुभावों ने भी असम में वैष्णव-मत के पवित्र पादप के पल्लवन में अपना सहयोग दिया है। अतः असम के भक्त-प्रचारकों की पंक्ति में इनका भी आदरणीय स्थान है।

ता. का. झा
म. च श.

परमानन्द आतै

परमानन्द आतै "मिरि" (मिचिंग) जन-जाति के थे। इन्होंने महापुरुष शंकरदेव से दीक्षा ली थी।

ता. का. झा
न. च. श.

परमानन्द ठाकुर

परमानन्द ठाकुर, नारायणदास ठाकुर आता (भवानन्द) के पुत्र थे। वैष्णव-धर्म के प्रचार में इनका पर्याप्त योगदान रहा है। इनके नाम पर मात्र एक-दो गीत उपलब्ध हैं। यहाँ एक छन्द उद्धृत है :

त्रिजटा संन्यासी तेहो ब्रजवासी।
गुरुक उपासि भजिलन्त आसि॥
गोपीनाथ सन्त कर्मी अछिलन्त।
शरण लैलन्त हरि भजिलन्त॥

'ब्रजवासी त्रिजटा संन्यासी ने भी महापुरुष शंकरदेव को गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया और सन्त गोपीनाथ ने भी शंकरदेव से ही दीक्षा लेकर भगवद्-भजन किया।'

ता. का. झा
न. च. श.

पुरुषोत्तम ठाकुर

पुरुषोत्तम ठाकुर शंकरदेव के बड़े पुत्र थे। इनका जन्म १५६५ ई० में हुआ। ये पुरुष-संहति के प्रवर्तक थे। अनिरुद्ध-विरचित 'गुरुवर्णना' के अनुसार ये ३७ वर्ष की आयु में जनिया चले गये और वहाँ बारह 'महन्तों' की एक मण्डली बनायी। इस मण्डली ने वैष्णव-मत को फैलाने में उल्लेख सहयोग दिया।

इन्होंने कूच बिहार के भेलाडोवार नामक स्थान में एक सत्र का निर्माण किया था। वहीं १६१६ ई० में इनका देहान्त हुआ। इन्होंने कतिपय गीत, 'नवघोषा', 'सन्तसार' एवं 'बूढा भाष्य' नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। यहाँ उनके दो पद दिये जाते हैं :

(१)

अनादि अनन्त प्रभु भगमंत
यशोदा बान्धय हरि।
आनहेतु नाइ जानिबा लोकायइ
भकतर बस्य हरि॥

'अनादि-अनन्त प्रभु भगवान् हरि को यशोदा रस्सी से बाँधती हैं। हे सामाजिक! भगवान् के अतिरिक्त और हेतु नहीं जो भक्त के अधीन (वशीभूत) है।'

(२)

संसार अनले गोपाल रात्रिदिने पोरो आमि।
कृपाय जल सिंचि गोपाल नूमाओक नाथ स्वामी॥
आमाक एरिले गोपाल अपयश पाइबा हरि।
तोमार आगते गोपाल यमे शास्ति करे धरि॥
देवकीनन्दन गोपाल तुमि हरि कृपामय।
तोमार चरणे शरण पशिलो पुरुषोत्तमे कय॥

'हे गोपाल! मैं संसार-अनल में दिन-रात दग्ध होता रहता हूँ। हे स्वामी गोपाल! अपनी

कृपा के जल से सिंचित कर मुझे शान्त करो। हे हरि! यदि तुम मुझे छोड़ोगे तो तुम्हारा ही अपयश होगा। हे गोपाल! तुम्हारे सामने मुझे यमराज दण्ड दे रहा है। पुरुषोत्तम कवि कहते हैं कि हे देवकीनन्दन गोपाल! तुम कृपामय हो, इसलिए मैं तुम्हारे चरणों में आश्रय लेता हूँ।'

ता. का. झा.
न. चं. श.

प्रेमभूषण देव

प्रेमभूषण देव १७वीं शताब्दी में विद्यमान जगवन्दन देव के पुत्र थे। वैष्णव-धर्म के प्रचारकों की श्रेणी में आपकी भी गणना की जाती है। आपके नाम से चौदह गीत प्रचलित। जिनमें वात्सल्य एवं दास्यभाव का प्राधान्य है। पिता की मृत्यु के बाद आप 'दिहिं सत्र' के सत्राधिकारी नियुक्त हुए।

इनके दो पद नीचे दिये जाते हैं

(१)

गोविन्द गोपाल राम तुमिसे माधव।
पतित तारक नित्य तारण बांधव॥
अज एक आत्मा निज गुण प्रकाशक।
नरवपु कृत यश दुरित नाशक॥

'हे गोविन्द-गोपाल! तुम पतितों को तारनेवाले और भक्तजनों के बन्धु हो। तुम अजन्मा, अद्वैत एवं अपने गुणों के प्रकाशक परमब्रह्म हो और पापनाश करने के लिए नर-अवतार ग्रहण करते हो।'

(२)

सखि पेखुरे मधुर मूरति।
चललि नन्द-कुमारा॥
कोटि काम जिनि अंग विराजित
रूपे तुल्य नाहि चारा॥
कमल नयन कंज-वयन
घन तनु नव काला।
हृदि रञ्जित चारु वनमाला
शिरे शिखंडक माला॥
गोपी भाषित गीत कानु रंजित चित
भूषण वर्णित गाना॥

'हे सखि! जाते हुए मधुरमूर्ति नन्दकुमार को देखो, जिसका अंग-अंग कामदेव के समान शोभायमान है। संसार में उसकी तुलना किसीसे नहीं की जा सकती। जिसकी आँखें और मुख कमल के समान हैं, जिसका शरीर नव-घन-श्यामवत्, जिसका हृदय चारु वनमाला से रंजित है और सिर सुन्दर मयूर-पंख से शोभित है— यह गोपीभाषित गीत कृष्ण-भक्त भूषण गाते हैं।'

ता. का. झा
न. च. श.

बरयदुमणि देव

बरयदुमणि देव सन्त-संप्रदाय के अन्यतम भक्त-कवि और नाट्यकार थे। ये वंशीगोपाल देव के पट्ट-शिष्य थे। उनके साथ ये भी पूर्व असम में धर्म-प्रचारार्थ गये थे। वहाँ इन्होंने कुछ सत्रों की स्थापना भी की थी और बाँहबारी, दिहिं (अथवा शिलिखातल) नमाढि, सइमरा, धल, तेलपानी आदि स्थानों में सत्रों का निर्माण किया था।

इनका जन्म सन् १५६४ ई० में गोभिर ग्राम में हुआ था। इन्होंने एक डफला और एक यवन को भी शरण (दीक्षा) दी थी। राजदण्ड के भय से ये बानफाड चले गये और वहीं इनकी मृत्यु हुई।

बरयदुमणि देव ने १४० गीत, २० घोषा (भजन) और कुछ झुमराओं (नाटिकाओं) की रचना की। इनके अतिरिक्त इन्होंने 'फल्गु-यात्रा' नामक एक नाटक भी लिखा था। इस नाटक में 'राधा' को विशेष महत्त्व दिया गया है। इनकी गीतशैली शंकरदेव के 'बरगीत' से बहुत प्रभावित है।

इनके तीन पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

सब घवालर माजत उज्जवल श्यामसुन्दर रूप।
काला अंगर मूरति पेखिया कोटि मदन चुप॥

सकल विधिर यतेक चातुरि एक अंगक नाटे।
कोटि ब्रह्मांडर यतेक माधुरि एक अंगक खाटे॥

'सब शिशुओं के मध्य श्यामसुन्दर का रूप अतिमनोहर है। श्रीकृष्ण की श्यामल छटा देखकर कोटि-कोटि मदन भी दंग रह जाते हैं। श्रीकृष्ण के मात्र एक अंग के सौन्दर्य के सामने विधाता की सम्पूर्ण सृष्टि का चातुर्य म्लान पड़ जाता है। कोटि ब्रह्माण्ड की रूपमाधुरी के साथ श्रीकृष्ण के एक अंग के सौन्दर्य की तुलना की जा सकती है।'

(२)

भुवन मोहन वांशी राधा नाम डाके।
हियार भितरे मोर पराण ना थाके॥

कैक पाओ कैत याको मने नाहि सुख।
उथपिच करे नादेखिया चान्द मुख॥

—भक्तिगीतपद-संचयन

'भुवनमोहिनी वंशी 'राधा' नाम पुकारती है। हृदय में मेरे प्राण नहीं हैं। मैं कहाँ जाऊँ, कहाँ रहूँ (कुछ नहीं समझती), मन में शान्ति नहीं है, सुख नहीं है। श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र को न देखकर मैं पूर्णतः उद्‌विग्न हूँ।'

(३)

दाँते तृण धरि शरणे पाशलो हरि हरि हरि हरिए
अधमक पावे नेपेलाइवा मोक ठेलि।
मोय अचेतन जानि नारायण हरि हरि हरि हरिए
अरुण शरणे राखा मोक एक बेलि॥

—संचयन

'हे नारायण! मैं दाँतों से तृण दबाकर तुम्हारी शरण में आश्रय लेता हूँ। मैं अधम हूँ। तुम अपनी छाया से मुझे बाहर मत फेको। हे नारायण! तुम मुझे अज्ञ समझकर कुछ समय के लिए अपनी शरण में आश्रय दो।'

ता. का. झा.
न. च. श.

बलदेव

बलदेव श्री दामोदरदेव के शिष्य थे। गुरु के साथ भागवती (भागवत का पाठ करनेवाले) बनकर ये कूच बिहार चले गये थे। वहीं इनकी परधाम-यात्रा हुई।

देहान्त के समय इन्होंने कहा था :

प्रभुर आज्ञा से तोरा नेरिबा प्रसंग।
एक प्रणालीक हुआ पालिवा परसंग॥

× × ×

वैष्णव पीरिति करिबा सर्वजन।
अर्थकांक्षी होयले हेरुआबा निज जन॥

—गुरुलीला

'प्रभु (गुरु दामोदरदेव) की आज्ञा से तुम लोग ईश्वरभजन मत छोड़ो। एक होकर सत्संग-विधान का पालन करो। वैष्णवों का सदा आदर करो। कभी भी अर्थाकांक्षी मत बनो।'

ता. का. झा.
न च. श.

बलराम द्विज

बलराम द्विज १८वीं शताब्दी के भक्तकवि हैं। इनके पूर्वपुरुष हरिभारती प्रसिद्ध वैष्णवधर्म-प्रचारक वंशीगोपाल देव के समसामयिक थे। इन्होंने 'ब्रह्म-वैवर्त-पुराण' के कुछ अंशविशेष का असमिया में पद्यानुवाद किया था।

ता. का. झा.
न. च. श.

ब्रजरंजन देव

सन्त कैवल्यनन्दन के प्रथम पुत्र ब्रजरंजन देव १७३२ ई० में अवतीर्ण हुए थे। पिता के देहान्त के बाद आप 'दिहिं-सत्र' के अधिकारी बने। किन्तु मात्र पाँच वर्षों तक इस पुनीत पद पर कार्य करने के बाद आपने अपनी ऐहिक लीला संवरण कर ली। पिता के समान आप भी एक उच्चकोटि के भक्त थे।

इनका एक पद नीचे दिया जाता है :

भाविओरे देखु चंचल मनाइ
हरिसे परम बन्धु।
ए भवसागरे पार होवा भाइ
नाहि नाहि आन बन्धु ॥
हेन हरिपदे भार सा नकर
करस कमन काजे।
सप्रेम भकति बिने नहि गति
इ तिनि भुवन माजे।
हरित आश्रय तेजि लाज भय
हरिउ करियो ध्यान।
सुदृढ़ भकति करिओ मनाइ
नन्दन पदे आदान ॥

'हे चंचल मन ! सोचो कि एकमात्र हरि तुम्हारे बन्धु हैं। भवसागर से ये ही पार करेंगे। इसलिए हरिपद में आश्रय लो। प्रेमाभक्ति के अतिरिक्त तीनों भुवनों में और कोई गति नहीं। लाज-भय छोड़कर हरि का ध्यान करो। हे मन ! तुम एकनिष्ठ भाव से हरि की भक्ति करो।'

ता. का. झा
न. च. श.

भगवानचन्द्र देव

सन्तकवि भगवानचन्द्र देव निर्मलचन्द्र देव के ज्येष्ठ पुत्र थे। सन् १८८५ ई० में 'रहा' के हारिपामुख नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। इनके नाम पर बारह गीत प्रचलित हैं। उदाहरण के लिए देखिये :

(१)

जय जय जगबन्धु कृपार सागर
मइ महा पातकीक कराहा उद्धार ॥
आमि दीनजन नाथ करियोक दाया।
मइ महा अधमर गुचायोक माया ॥

'हे कृपासागर जगबन्धो, तुम्हारी जय हो ! मैं महापातकी हूँ, मेरा उद्धार करो। मैं दीन हूँ, तुम मुझ पर दया करो। मैं अधम हूँ, माया से मेरा उद्धार करो।'

(२)

हरिहे बन्धु तुमि कृपासिंधु
आश्रित जन तारण।
महाभकत गणे पयिया शरणे
पाइवे मुकुति धन।

'हे हरि ! तुम भक्तजनों के बन्धु और कृपासिन्धु हो। तुम भक्तजनों का उद्धार करते हो। जो तुम्हारा महाभक्त है और तुम्हारे आश्रय में रहता है, वह मुक्ति-धन प्राप्त करता है।'

ता. का. झा
न. च. श.

भगवान् देव

भगवान्‌देव दामोदरदेव की शिष्य-परम्परा में परिगणित किये जाते हैं। गुरु के निर्देश पर इन्होंने प्राचीन कामरूप के उत्तरांचल में, विशेषतः जनजातीय क्षेत्रों में वैष्णवमत का प्रसार किया था और निमिषा में एक सत्र की स्थापना की थी।

ता. का. झा
न. च. श.

भद्रचारु

भद्रचारु पुरुषोत्तम ठाकुर की कन्या केशवप्रिया तथा दामाद मातनखाती के पुत्र और सारंगपाणि के प्रपौत्र थे। इन्होंने चतुर्भुज ठाकुर की पुत्री सुभद्रा के पुत्र अनन्तराम आता के चरित की रचना की है।

ता. का. झा
न. च. श.

भागवत आचार्य

जिन भक्तों ने हरिदेव की भक्ति-भावना को जन-समाज में दूर-दूर तक फैलाया उनमें भागवत आचार्य भी एक हैं। इनके पिता का नाम हरिमिश्र था। सम्भवतः 'भागवत आचार्य' इनकी उपाधि है।

इन्होंने 'कथासूत्र', 'सात्वततन्त्र' और 'गीतासार' नामक ग्रन्थों की रचना की है। 'कथासूत्र' भागवत महापुराण का सारांश है। सात्वततन्त्र' संस्कृत के

'सात्वततन्त्र' का अनुवाद है। इसमें विराट् पुरुष का वर्णन, प्रेमाभक्ति और निर्गुणभक्ति का लक्षण, नाममहिमा तथा अन्य प्रसंगों पर प्रकाश डाला गया है। 'गीतासार' मे संस्कृत गीता का असमिया में तत्त्वविवेचन किया गया है।

ता. का झा
न. च. श.

भागवत मिश्र

भागवत मिश्र के परिचय के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं, अतः निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। स्वर्गीय शरत्चन्द्र गोस्वामी 'विद्यानिधि' के अनुसार भागवत मिश्र हरिमिश्र के पुत्र थे। इनका पितृप्रदत्त नाम रघुनाथ मिश्र था। प्रायः भागवत-पाण्डित्य के कारण ये 'भागवत मिश्र' कहे जाने लगे। ये दामोदरदेव के शिष्य तथा गोविन्दपुर सत्र के भागवती (भागवत-व्याख्याता) थे।

गोविन्दपुर सत्र के प्रतिष्ठापक भगवान देव के आदेशानुसार इन्होंने संस्कृत के 'सात्वततन्त्र' का असमिया में पद्यानुवाद किया था। डा० महेश्वर नियोग के अनुसार इन्होंने विष्णुपुराण का भी असमिया पद्यानुवाद किया था। इनको सभी रचनाएँ कृष्णभक्ति-प्रधान हैं।

इनकी रचना के नमूने के रूप में एक पद नीचे दिया जाता है:

यिटो कृष्णे सृष्टि स्थिति सहार कलित
बहुविध मते प्रकाशन्त भाल मत।
हेनय परमानन्द मूरुति माधव
शरण पशिलो कृपा करियो बान्धव॥

'जो कृष्ण सृष्टि, स्थिति और संहारकाल में नाना रूपों में अवतरित होते हैं, मैं उन परमानन्द माधव-कृष्ण की शरण में आश्रय लेता हूँ। हे बान्धव कृष्ण! तुम मुझपर कृपा करो।

ता. का. झा.
न. च. श.

भूषण द्विज

भूषण द्विज सत्रहवीं शताब्दी के भक्तकवि हैं। प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार ये चक्रपाणि के नाती थे। पुरुषोतम ठाकुर की मृत्यु के बाद चतुर्भुज ठाकुर ने 'तामरङा विल' के किनारे विष्णुपुर-सत्र की स्थापना की थो। भूषण द्विज ने इसी समय 'शंकर-चरित' की रचना की। इस 'चरित' में अलौकिक घटनाओं का समावेश नहीं है। इनकी अन्य रचना 'अजामिल-उपाख्यान' नामक नाटक है।

यहाँ इनके भक्तिव्यंजक दो पद दिये जा रहे हैं:

(१)

शरोरत विष लागि भैलो श्रुतिहत
कौन बुधि एराअबोहो कालर हातत।
विचारि मोनत गुणि करिलोहो सार
कृष्ण बिने कोने मुक करिबे निस्तार॥
—शंकरदेव-चरित

'संसार के विघ्न से मेरा शरीर श्रुतिहत हो गया है। किस बुद्धि से मैं काल के हाथ से बचूँगा? मन में भलीभाँति विचार करके निश्चय किया है कि कृष्ण के बिना मेरा निस्तार करनेवाला और कोई नहीं है।'

(२)

जय नमो गोपाल गोविन्द वासुदेव
ब्रह्मा महेश्वरो याक सदा करे सेव।
याहाक स्मरणे सिद्धि होवे मनः काम
हेन कृष्णपदे करो सदाय प्रणाम।
जय जय देवकीनन्दन देव हरि।
शंकर स्वरूपे पृथिवीत अवतरि॥
—शंकरदेव-चरित

'ब्रह्मा, महेश्वर जिस गोपाल, गोविन्द, वासुदेव कृष्ण की सेवा करते हैं उसकी जय हो। जिसका नाम-स्मरण करने से मनोकामना पूर्ण होती है उस कृष्ण को मैं सतत प्रणाम करता हूँ। उसी देवकीनन्दन ने शंकर (महापुरुष शंकरदेव) रूप से पृथ्वी

पर अवतार लिया है।' (यहाँ महापुरुष शंकरदेव कृष्ण के अवतार स्वीकार किये गये हैं।)

ता. का झा

मथुरादास बूढ़ा आता

मथुरादास बूढ़ा आता का मूल नाम गोपाल था। इनके पूर्वपुरुष पूर्वी असम के खमा-खोकरा नामक स्थान में निवास करते थे, किन्तु दुर्भिक्ष एवं मुसलमानों के आक्रमण से पीड़ित होकर ये अपना जन्मस्थान छोड़कर बरपेटा चले आये और वहां तातीकुछि नामक स्थान में निवास करने लगे। मथुरादास कपड़ा बुनते थे। शंकरदेव का वृन्दावनी कपड़ा बुनने के लिए बारह 'मरलों' को नियोजित किया गया था। मथुरादास इन 'मरलो' में अन्यतम थे।

पहले ये चैतन्य-मत में दीक्षित हुए थे और 'पांचाली' गीत गाते थे। नारायण ठाकुर आता इनको सुन्दरीदिया ले आये। यहीं माधवदेव ने इनको शरण (दीक्षा) दी। गोपाल के साथ ही इनके १८ मित्रों ने भी माधवदेव से दीक्षा ले ली। ये ओझापालि गाने में दक्ष थे। माधवदेव ने मथुरादास को बरपेटा सत्र का आचार्य निर्वाचित किया। ये भी 'निका-संहति' के प्रवर्तक माने जाते हैं।

ता. का. झा
न. च. श.

मधाई आतै

मधाइ आतै हीरा (कुम्भकार) जाति के भक्त माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त श्रीराम आतै, (कैवर्त्त), भोबोरा दास (स्वर्णकार ', बगा-यवन (मुसलमान) आदि विभिन्न जातियों के लोगों ने शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित नव-वैष्णवधर्म में दीक्षित होकर उसके सम्यक् विकास में योगदान दिया था।

ता. का. झा
न. च. श

म.धवदेव

असम के भक्तिकालीन साहित्याकाश में माधवदेव दीप्तिमान नक्षत्र के समान हैं। यदि महापुरुष शंकरदेव ने नवीन वैष्णवधर्म (एकशरण या भागवती धर्म) को अंकुरित तथा पल्लवित किया तो उसे पुष्पित एवं फलित करने में माधवदेव का अथक प्रयास रहा। ये प्रतिभाशाली सन्त एवं साहित्यकार ही नहीं, धर्माचार्य, धर्मप्रचारक, साधक, समाज-सुधारक, नाटककार तथा अभिनेता के रूप में लोगों को प्रेरित और प्रोत्साहित करनेवाले महापुरुषों में भी अग्रगण्य हैं। इनकी अमर-वाणी पाकर असमिया साहित्य गौरवान्वित हुआ है। ये महापुरुष शंकरदेव के प्रमुख शिष्य तथा उनके 'एकशरण' (महापुरुषिया) धर्म के प्रधान प्रचारक के रूप में जाने जाते हैं। आज भी असम के आबाल-वृद्ध इन्हें जनजागरण का दूत एवं लोकनायक के रूप में उपास्य समझते हैं। माधवदेव जैसे भक्त को पाकर शंकरी वैष्णवधर्म प्रौढ़ तथा परिपक्व हुआ। असमिया संस्कृति एवं साहित्य के लिए ये वरदान सिद्ध हुए।

कृष्ण को आराध्यदेव स्वीकार कर माधवदेव ने भक्ति की पावन गंगा बहायी। अपने धर्म के सम्यक् विकास के लिए इन्होंने जी-तोड़ परिश्रम ही नहीं किया, अपितु अटूट आत्मविश्वास, अदम्य उत्साह तथा अपूर्व सांगठनिक क्षमता का परिचय भी दिया। महापुरुषिया मत के सरल एवं सरस नामधर्म (श्रीकृष्ण-नामस्मरण) को मानवधर्म के रूप में इन्होंने असम के घर-घर में इस तरह फैलाया कि आज भी वह आलोक-स्तम्भ के रूप में लोगों का मार्गदर्शन करता है तथा भ्रातृत्व, प्रेम एवं एकता का संदेश देता है।

माधवदेव का जन्म सन् १४८९ ई० में असम के लखीमपुर जिलान्तर्गत नारायणपुर अंचल में कायिकता नदी के किनारे हुआ था। पिता का नाम गोविन्दगिरि और माता का नाम मनोरमा देवी था। माधवदेव का बचपन सुखमय नहीं कहा जा सकता। इनके पिता गोविन्दगिरि रौटा नामक स्थान में 'बरा' (लघु राजकीय कर्मचारी) के रूप में नियुक्त थे। कुछ बड़े होने पर माधवदेव पढ़ाई-लिखाई और खेती के काम

में लग गये। कालक्रम में गोविन्दगिरि 'वरा' से अलग हो गये और स्वतन्त्र रूप से कार्य करने लगे। कुछ समय के बाद वे अभाग्यवश कँप-कँपी की बीमारी से ग्रस्त हो गये। इस रोग की चिकित्सा में घर की पूंजी का अधिकांश खर्च हो गया। इसी बीच देश में भयंकर अकाल पड़ा। स्थिति यहाँतक आ गयी कि माधवदेव के माता-पिता अन्नाभाव में मरणासन्न हो गये। तब एक दिन माधवदेव ने उस अवस्था में एक जंगली लौकी खिलाकर उनके प्राण बचाये। इससे प्रसन्न होकर गोविन्दगिरि ने अपने इस सपूत को आशीष दिया : 'आज तुमने जैसे प्राणों की रक्षा करके हमें शांति प्रदान की, तुम्हें भी जीवन में ऐसी शान्ति प्राप्त हो।' लगता है कि इस आशीर्वाद ने इनके जीवन को सींच दिया।

माधवदेव बाल्यावस्था से ही होनहार थे। ये जैसे-जैसे बड़े होने लगे, अध्ययन में दत्तचित्त होते गये। धीरे-धीरे इन्होंने व्याकरण, न्याय (तर्कशास्त्र), पुराण, महाभारत आदि शास्त्रों एवं धर्मग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। पिता की मृत्यु के बाद इन्होंने सुपारी-पान का व्यवसाय प्रारम्भ किया। इन्हीं दिनों एक बार इनकी माता भयंकर रोग से आक्रान्त हो गयीं। प्रचलित प्रथा के अनुसार एक निष्ठावान शाक्त होने के कारण इन्होंने देवी को दो बकरों की बलि देने का संकल्प किया। इस हेतु इन्होंने अपने बहनोई गयापाणि से बलिदान के लिए दो बकरे लाने का अनुरोध किया। लेकिन बहनोई तबतक अपने समय के सर्वश्रेष्ठ वैष्णव सन्त महापुरुष शंकरदेव से प्रभावित होकर उनके भक्त बन चुके थे। अतः उन्होंने बलिदान को अनुचित बताया। ऐसी स्थिति में बकरा लाने की बात खटाई में पड़ गयी। इसका पता जब माधवदेव को लगा तो वे बहुत नाराज हुए। पीछे बहनोई के आग्रह पर ये शंकरदेव से भेंट करने के लिए तैयार हो गये। एक दिन दोनों शंकरदेव से मिलने गये। साक्षात्कार के समय ये शंकरदेव के साधु-स्वभाव तथा पाण्डित्य से अत्यंत प्रभावित हुए। शास्त्रीय वार्तालाप में. माधवदेव ने अपनी पराजय स्वीकार की। परिणामस्वरूप ये शंकरदेव-प्रवर्तित एकशरण धर्म (महापुरुषिया धर्म) की शरण लेकर (दीक्षित होकर) उनके शिष्य बन गये। इसके बाद दोनों अभिन्न रूप से महापुरुषिया वैष्णवधर्म के प्रचार-प्रसार में समर्पित हो गये। इस सम्बन्ध में कहा गया है :

शंकरे भकति प्रकाशिला मात्र,
माधवे से प्रचारिला।'

'शंकर ने केवल भक्ति का प्रकाश किया, माधव ने ही उसका प्रचार किया।'

धर्म-प्रचार में माधवदेव को अत्यधिक कष्ट सहना पड़ा, फिर भी वे अनवरत रूप से धैर्य एवं निष्ठा के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते गये। एकशरण धर्म के प्रचार में इन्हें एक बार आहोम राजा द्वारा बहुत यातना दी गयी, कुछ महीनों तक नजरबन्द भी रखा गया, फिर भी ये अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं हुए। शंकरदेव के बाद माधवदेव ही शंकरी मत के प्रधान स्तम्भ हुए। अपने धर्म के व्यापक विस्तार के लिए इन्होंने यत्र-तत्र अनेक सत्रों (वैष्णव-मठों) की स्थापना में सक्रिय सहयोग दिया। सत्र-संस्थान आज भी वैष्णवधर्म के प्रचार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। वैष्णवधर्म का लोकजीवन से प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित करने में इन सत्रों के कार्यकलाप प्रशंसनीय हैं। माधवदेव के कार्यों से सिद्ध है कि ये संगठन-कार्य में भी पटु थे। इन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया और अपना सर्वस्व 'बहुजन-हिताय, वहुजनसुखाय' की साधना में समर्पित कर दिया। संघर्ष के थपेड़ों से विचलित न होना तथा अदम्य उत्साह से वैष्णवभक्ति का प्रचार करना इनके जीवन का परम लक्ष्य था।

इस प्रकार भक्ति एवं साहित्य की साधना करते-हुए सन् १५९६ ई० में माधवदेव ने कूच बिहार में महाप्रयाण किया। असमिया संस्कृति एवं साहित्य की अपूर्व सेवा करने के कारण ये अमर और

अभिनन्दनीय हैं। श्रद्धालु भक्त इन्हें भगवान् का अवतार स्वीकार करते हैं।

इनकी प्रमुख रचनाओं की सूची नीचे दी जाती है। वर्ण्य-विषय तथा शैली की विविधता से इनकी बहुमुखी प्रतिभा का पता चलता है।

आख्यानप्रधान काव्य-कृति : राजसूय काव्य।

तत्त्वमूलक रचना : जन्म-रहस्य, भक्तिरत्नावली, नामघोषा।

गीत : बरगीत, भटिया।

अनूदित : भक्तिरत्नावली, नाममल्लिका, आदिकाण्ड
(रामायण)।

नाट्य-कृतियाँ : अर्जुन-भंजन, चोरघटा, भूमि लेहेवा,
पिम्परा-गुचोवा, भोजनबिहार, ब्रह्मा-
मोहन, भूषण-हेरोवा, कोहोरा-खेलोवा,
रास झुमरा।

माधवदेव की नाट्यकृतियों एवं बरगीत की भाषा मैथिली, हिन्दी और असमिया-मिश्रित है। इनकी रचनाओं में 'नामघोषा'' का शीर्षस्थान है। आचार्य विनोबा भावे ने इस ग्रंथ की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। माधवदेव की रचनाओं में वात्सल्य और दास्यभाव का प्राधान्य है।

माधवदेव की प्रतिभा शुक्लपक्ष की चन्द्रिका के समान स्वच्छ एवं धवल थी। उनके विचार तर्कसंगत थे और तीव्र भावावेग उनके काव्यवैभव की विशिष्टता थी। उनका नाट्य-दृष्टिकोण बड़ा ही सरल, व्यापक एवं कलात्मक था। श्रीकृष्ण के मोहक, शिशुसुलभ-माधुर्य तथा उनकी सरलता, चंचलता, उल्लास आदि को असमिया वैष्णव-साहित्य में अंकित करने का श्रेय माधवदेव को ही है। वात्सल्य का ऐसा पटु चित्रकार असमिया-साहित्य में दुर्लभ है। अतः वात्सल्य की दृष्टि से इन्हें हम 'असमिया'-साहित्य के 'सूरदास' कह सकते हैं। 'बालकृष्ण की स्थान-काल-निरपेक्ष क्रीड़ा को कवि ने रहस्यपूर्ण बना दिया है। इन्होंने सुन्दर विचारों को शब्दचित्रों द्वारा प्रस्तुत करने के साहित्यिक लक्ष्य को निरन्तर तीव्र आलोक से देदीप्यमान रखा है। सूरदास की ही भाँति माधवदेव ने भी श्रीकृष्ण के बाललीला-वर्णन की प्रेरणा भागवत पुराण से प्राप्त की थी। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि बाल-मनोविज्ञान के निरूपण को शंकरदेव ने जहाँ छोड़ा, वहाँसे माधवदेव ने प्रारंभ किया। महापुरुष शंकरदेव की तरह इन्होंने भी असमिया साहित्य को भाषा, भाव तथा समन्वय की विराट्ता प्रदान की। असम को भारतीय चिन्तन-धारा से संपृक्त करने में इन दोनों महापुरुषों ने सफल एवं प्रशंसनीय प्रयास किया है।

माधवदेवरचित दो भक्तिव्यंजक पद नीचे दिये जा रहे हैं :

(१)

मुक्तित निस्पृह यिटो सेहि भकतक नमो
रसमय मागोहो भकति।
समस्त मस्तकमणि निज भकतर वश्य
भजो हेन देव यदुपति॥

यार राम-कृष्ण-नाम नावे भवसिन्धु तरि
पावे परम्पद पापी मन।
सदानन्द सनातन हेनय कृष्णक सदा
उपसा करो हों हृदयत॥

—नामघोषा, प्रथम भजन

हिन्दी पद्यानुवाद :

'मुक्ति में निस्पृह जो है नमो उस भक्त को
रसमय माँगता हूँ भक्ति।
समस्त मस्तकमणि निज भगत को वश्य
भजूं ऐसे देव यदुपति॥
जिस राम-कृष्ण नाम-तरी भवसिन्धु तरि
पाते सम्पद पापी जेते।
सदानन्द सनातन ऐसे ही कृष्ण की सदा
उपासना करूँ हृदय में।

(२)

ब्रह्मवध सुरापान मित्रद्रोह कृतघ्न पाप आचरे ।
अगम्य-गमन करे यिटो जन सुवर्णचुरि करे ।।

संसार मध्यत आछे यत महामहा पापी जन ।
इहार श्रवण कीर्त्तन हुइबेक समस्त पाप मोचन ।।

—जन्मरहस्य

'ब्रह्मवधी, मद्यप, मित्रद्रोही, कृतघ्नी, पापी, अगम्यगमनकारी और स्वर्णचोर जैसे संसार के महामहा पापीजन भी परमात्मा की कथा के श्रवण-कीर्तन मात्र से पापमुक्त हो जाते हैं ।

ता. का. झा

मिश्रदेव

मिश्रदेव दामोदर देव के प्रसिद्ध शिष्य वंशीगोपालदेव के अनुयायी और कुरुवावाही सत्र के अधिकारी थे। ये विज्ञ तथा विचक्षण भक्त होने के साथ ही भागवत-पारायण में पारंगत माने जाते थे। राज-रोष के भय से ये कुरुवावाही सत्र छोड़कर कामरूप के अश्वक्रान्त महातीर्थस्थल में चले आये और कुछ समय पश्चात् वहाँसे कूच बिहार चले गये। वहाँ इन्होंने वैकुण्ठपुर सत्र के अधिकारी बलदेव से भेंट की। बलदेव के आदेश तथा अन्य भक्तों के अनुरोध पर ये पुनः कुरुवावाही लौट आये ।

मिश्रदेव अपने समय के प्रख्यात भक्त थे, किन्तु साथ ही घर-परिवार से भी जुड़े हुए थे। सुकुमार महन्त के घर से प्राप्त 'असम-बुरंजी' ग्रन्थ के अनुसार मिश्रदेव ने आहोम राजा सर्गदेव के दो पुत्रों को वैष्णवधर्म में दीक्षित किया था ।

एक समय ऐसा भी आया जब 'कुरुवावाही' सत्र में आडम्बर का प्रवेश हो गया। परिस्थिति का लाभ उठाकर 'सताई' नामक एक दुष्ट व्यक्ति ने राजा सर्गदेव के कान भरे कि मिश्रदेव राजा के समान शान-शौकत से रहते हैं तथा स्वयं भी राजा बनने के लिए प्रयत्नशील हैं। सताई के उसी मिथ्या दुष्प्रचार से प्रभावित हो सर्गदेव ने मिश्रदेव का वध करवा दिया। इस प्रकार नव-वैष्णवधर्म के प्रचार में मिश्रदेवजी ने अपने प्राणों की आहुति दे दी ।

ता. का. झा.
न. च. श.

यदुमणि देव

यदुमणि देव जाति के ब्राह्मण और गुरु हरिदेव के शिष्य थे। माधवदेव के अनुरोध पर ये वंशीगोपाल देव के साथ पूर्वी असम के आहोम राज्य में चले गये और वहीं इन्होंने वैष्णवधर्म का प्रचार किया। यहाँ इन्होंने आधलीया ग्राम में सत्र की स्थापना की । यदुमणि देव के जगदानन्द, पूर्णानन्द, अच्युतानन्द एवं कमलाकान्त नामक चार पुत्र थे। पुत्रों की सहायता से इन्होंने आधार, माहरा, धारमुरा, पतियरि, धोखारामुख और कमलावारी में सत्रों की व्यवस्था की। इसके अतिरिक्त इन्होंने विभिन्न सत्रों में चौदह 'मेधियों' को भी नियुक्त किया ।

न. च. श.

रतिकान्त द्विज

रतिकान्त द्विज ने १८वीं शताब्दी के दरंगी राजा हयनारायण के आदेशानुसार ब्रह्मवैवर्तपुराण का असमिया में पद्यानुवाद किया था। इस कार्य में नन्देश्वर द्विज, नरोत्तम द्विज और खगेश्वर द्विज ने इन्हें पूरी सहायता दी थी ।

इनके दो भक्तिव्यंजक पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

जय जय जगत-जनक यदुदेव ।
ब्रह्मादि देवे यार पदे करे सेव ।।

हेनय कृष्णक मोर कोटि नमस्कार ।
यार कटाक्षते सृष्टि-पालन-संहार ।।

महामहा योगी याक ध्याने न पावय ।
कोटि-कोटि ब्रह्माण्डर नाथ कृपामय ।।

हेन कृष्ण गोकुलत मनुष्य पराइ ।
गोप-गोपी संगे गोरु चारि अन्न खाइ ।।

'जो जगत् का जनक है और जिसकी ब्रह्मा आदि देवता सेवा करते हैं, जिसके कटाक्षमात्र से जगत् के तीन प्रधानतम कार्य सृष्टि, पालन एवं संहार होते हैं, महायोगी भी जिसे पूर्णतः अपने ध्यान में लाने में असमर्थ हैं, जो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का स्वामी है, उस कृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ। ये ही परमेश्वर लीला के लिए मानवरूप धारणकर गोकुल में गोप-गोपिकाओं के साथ गायें चराते हैं।'

(२)

राधा कृष्ण दुहान्तर धरणीत अवतार
कहि आसे वेदर रहस्य।
एही हेतु दुयो जने गोकुले आनन्द मने
लीला क्रीड़ा करिबो अवश्य॥

कृष्ण राधा से कहते हैं: 'यह देव का रहस्य है कि राधा और कृष्ण दोनों का धरती पर अवतार होगा। हम दोनों गोकुल में अवश्य लीला-क्रीड़ा करेंगे।'

ता. का. झा
न. च. श.

रत्नाकर कन्दली

सुकविशेखर द्विज रत्नाकर कन्दली ने असम के वैष्णव-आन्दोलन में अक्षय कीर्ति अर्जित की है। शंकरदेव की कीर्तन-घोषा में संकलित 'सहस्रनाम-वृत्तान्त' नामक छः कीर्तनों की इन्होंने रचना की जिनकी विषयवस्तु भागवत एवं पद्मपुराण से ली गयी है। इनका आविर्भाव १६वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में तथा देहान्त १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ।

यहाँ इनके तीन छन्द उद्धृत हैं:

(१)

कि करिलो कि करिलो भकति नकरि।
अन्तके पाइलेक प्रभु रक्षा करा हरि॥

'प्रभो नारायण, भक्ति न करके मैंने क्या किया? प्रभो! मेरी मृत्यु निकट आ गयी है, अतः रक्षा करो।'

(२)

न करिलो शिरे माधवक नमस्कार।
इतु माथा गोट मोर भैला महाभार॥

कर्ण दुइ थाकन्त नुशुनिलो हरि कथा।
दो गोटा गर्तर भार बहिलोहो वृथा॥

—घोषा

'मैंने मस्तक झुकाकर माधव को नमस्कार नहीं किया। इसलिए यह सिर मेरेलिए महाभार हो गया है। मैंने अपने दोनों कानों से हरिकथा का श्रवण नहीं किया। इसलिए मैंने उन्हें व्यर्थ ही वहन किया है।'

(३)

भव तरिवार नाव लभिलो शरीर।
विषय-बातासे पाया करिले अथिर॥

करे टलबल देहा केने छुइबो पार।
एमो दास बुलि प्रभो करियो उद्धार॥

'प्रभो! इस भवसागर को पार करने के लिए मुझे शरीररूपी नौका मिली, किन्तु विषयरूपी आँधी ने इसे अतिशय अस्थिर बना दिया है। मेरी देहरूपी नाव बुरी तरह डगमगा रही है। प्रभो! अब भी तुम अपना दास समझकर मेरा इस भवसागर से उद्धार करो।'

ता. का. झा
न. च. श.

रमाकान्त आता

रमाकान्त आता का जन्म सत्रहवीं सदी के मध्य हुआ था। ६८ वर्ष की आयु में ये दिवंगत हो गये। ये दामोदर आता के पुत्र थे। 'कथाचरित' के प्रवक्ता चक्रपाणि वैरागी आता इन्हींके शिष्य थे जिन्हें इन्होंने राज्य की तत्कालीन स्थिति का अध्ययन करने के लिए सभी सत्रों में भेजा था। इनका दूसरा नाम था रतिकान्त। इन्होंने 'स्यमन्त-हरण' नाटक की रचना की थी।

यहाँ कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध इनके दो पद दिये जा रहे हैं :

(१)

करत गन्धबिधि बिहार गोपाल।
सकल गोप-गोपी नन्द-यशोदा आदि
मंगल करत सबे भाल॥

यथाबिधि पूजा करि कृष्णर गावत निया
गन्ध तैले चड़ाइला सुगन्धि।
काजल आगर चन्दन कुंकुम
गोपाले हरिषे आति पिन्धि॥

ढाक दामा शंख ढोल उजलि मंगल रोल
हरिध्वनि पुरे दशोदिश।
नाचे हासे ब्रजबासी महानन्द भैल आसि
सब लोक करे उसमिस॥

चामर छत्र दण्ड धरि लोक सबे
चतुर्पाशे धरिया योगान।
दीप दोनि घट धरि दुर्वाक्षत सिञ्चारिया
कृष्ण-मुख-मधु करे पान॥

कनक आसने हरि दिव्य वेशे आछा बसि
यशोदानन्दर पूरि काम।

बैकुण्ठर गन्धबिधि बिहार गोकुले भैल
सर्बजने बोला राम राम॥

'विविध गंध-विभूषित गोपाल विहार कर रहे हैं। नन्द-यशोदासमेत सभी गोप-गोपियाँ भलीभाँति मंगल मनाती हैं।

'यथाविधि पूजन कर सबने कृष्ण के शरीर में सुगन्धित द्रव्यों का लेप किया। काजल, अगरु, चन्दन, कुंकुम आदि धारणकर कृष्ण बड़े हर्षित हुए। ढाक, नगाड़े, ढोल, शंख बज रहे थे, मंगल-नाद गूंज रहा था, हरि (नाम) ध्वनि से दशो दिशाएँ गुंजित थीं। ब्रजवासी नाचते, हँसते थे। उन्हें महा-आनन्द हो रहा था, सारे लोक उससे सिहर रहे थे। सभी लोग चँवर, छत्र, दंड धारण किये चारो ओर खड़े थे। दीप, दोने, तथा कलश धारण कर, दूर्वा-अक्षत छिड़ककर वे कृष्ण-मुख-रूपी मधु का पान करते थे। कृष्ण स्वर्ण-आसन पर दिव्यवेश धारण कर नन्द-यशोदा की कामना पूरी करते हुए विराजते थे। वैकुंठ की गंधविधि का विहार गोकुल में हुआ। सारे जन राम राम कहो।'

(२)

ध्रु० : जीवन यादव राइ बोलो हरि हरि
जीवन यादव राइ।
सबहि देह चलावत तुमहि
तुम बिने ठाकुर नाइ॥

प्रकृति पुरुष महाभूत स्रजना
जाहे नाहि नाहि आन।
बेदे प्रमाणि याहे चरण कहे
ताहे शरण देहु दान॥

आस्य नयनहु दुहो चलावत
तुमहि चलावत अन्ध।
अहंकार चित्त बुद्धि मन प्रवर्तक
तोहारि जानिले गुचे बन्ध॥

मेद्ध्य गुय्य चलावत चलना
याहे भुतभावना नाइ।
कहे रतिकान्त चरणे शरण लैलो
देहु मोहि चरणहि ठाइ॥

'हरि हरि बोलो। यादवराय कृष्ण ही जीवन है। तुम्हीं सारे देहधारियों को चलाते हो। तुम्हारे बिना कोई और ठाकुर नहीं है।'

'जिसके बिना प्रकृति, पुरुष और महाभूतों का सर्जन करनेवाला कोई और नहीं है, वेद जिसके चरणों को प्रमाण मानते हैं, उन चरणों में शरण दो। आस्य और नयन दोनों तुम ही चलाते हो, अन्धे को भी तुम ही चलाते हो। तुम अहंकार, चित, बुद्धि, मन के प्रवर्तक हो। तुम्हें जानने पर सारे बन्धन मिट जाते हैं। मेध्य या गुह्य सभी मार्गों पर तुम ही चलनेवालों को चलाते

हो। इसमें भूतभावना नहीं है (पृथक्ता-बोध नहीं है)। रतिकान्त कहता है, मैं आपके चरण में शरण ले रहा हूँ। मुझे चरणों में स्थान दो।'

न. व.

रमाकान्त द्विज

रमाकान्त द्विज वनमाली देव के शिष्य थे। संतग्राम में हरि भारती नामक एक ब्राह्मण थे। वे सोलह नामयुक्त भक्ति का प्रचार करते थे। उनके पुत्र का नाम श्रीमन्त मुकुन्द था। वे एक सत्र के संचालक थे। उनके पुत्र चन्द्र पाठक भागवत के निष्णात विद्वान् थे। रमाकान्त द्विज उन्हींके सुपुत्र थे।

वनमाली देव के शिष्य एवं सुयोग्य उत्तराधिकारी रामदेव सन्त के निर्देशानुसार रमाकान्त द्विज ने 'वनमालीदेवर चरित' नामक ग्रन्थ की रचना की। उसके दो पद यहाँ दिये जा रहे हैं:

(१)

जय जय कृष्णदेव परम पुरुष।
अनादि अनन्त सत्य शुद्ध हृषिकेश॥

नमो-नमो माधव दैत्यारि वासुदेव।
तोमार पदारविन्दे परिकरो सेव॥

'परम पुरुष अनादि, अनन्त, सत्य, शुद्ध हे असुर-नाशक हृषीकेश कृष्ण! तुम्हारी जय हो। हे माधव! हे वासुदेव! तुम्हारे चरणकमलों में बार-बार प्रणाम करता हूँ।'

(२)

नमो कृष्ण नमो कृष्ण नमो कृष्ण हरि।
शरणे पसिलो प्रभु लैयो दास कर॥

नमो नन्दसुत कृष्ण दैत्य-अन्तकारी।
संतक पालिला दुष्ट-असुर-संहारी॥

'मैं (भक्त) श्रीकृष्ण को प्रणाम करता और शरण चाहता हूँ। दुष्टों एवं असुरों का नाश करनेवाले तथा सन्तों का पालन करनेवाले श्रीकृष्ण को प्रणाम है।'

ता. का. झा
न. च. श.

रमानन्द द्विज

रमानन्द द्विज १७वीं शताब्दी के भक्तकवि हैं। ये 'ब्रह्मसंहति' सम्प्रदाय के एक श्रेष्ठ सन्त माने जाते हैं। ये वंशीगोपाल देव के शिष्य थे। रमानन्द द्विज के पितामह थे—विष्णु-भारती और पिता थे पद्मपाणि। पद्मपाणि भी वंशीगोपाल देव के शिष्य थे।

रमानन्द द्विज की शिक्षा गौहाटी के अश्वक्रान्त की पाठशाला में सम्पन्न हुई। ये वंशीगोपाल देव के सत्र के 'भागवती' (भागवत-व्यास) थे। विश्वास किया जाता है कि इन्होंने पद्मपुराण के उत्तरखण्ड, वैष्णवामृत का गोविन्दस्तोत्र, भागवत के प्रथम स्कंध के चार अध्याय और 'श्री श्री वंशीगोपालदेवर चरित' नामक ग्रन्थों की रचना की। यहाँ इनके दो छन्द उद्धृत हैं:

(१)

विष्णु वैष्णवर नाहि किंचिते अन्तर।
दुयो कथा करे महाशुद्धि जगतर॥

'विष्णु और वैष्णव के बीच किंचित् भी अन्तर नहीं है। दोनों की कथाओं से जगत् की महाशुद्धि होती है।'

(२)

नमो नन्दसुत वेदरो गुपुत
देवरो देवता हरि।
जगत उद्धार करिला इबार
देवकोत अवतरि॥
कोटि-कोटि वारे नाना अवतारे
निस्तारिला बहुजन।
तमो मन्दभाग न पाइ तयु लाग
लभियो जन्म-मरण॥

—वंशीगोपालदेवर चरित

'देवताओं के देवता और वेद भी जिसका पार नहीं पा सकते, उस नन्दसुत को मैं प्रणाम करता हूँ। हे ईश्वर! तुम जगत् के उद्धार के लिए हो देवकी के गर्भ से अवतरित हुए हो। कोटि-कोटि बार नाना अवतार ग्रहण करके तुमने अनेक लोगों का उद्धार किया है। फिर भी मैं मन्दभागी हूँ, इसीलिए तुम्हारा सामीप्य न पाकर बार-बार संसार-चक्र में भटक रहा हूँ।'

ता. का. झा

न. च. श.

रामगोपाल

रामगोपाल वैष्णव सन्त एवं कवि रामानन्द द्विज के पुत्र थे। गड़गाँव के सोनामुवादलै वंश के मयूर-ध्वज मजूमदार की प्रेरणा से अनुप्राणित होकर इन्होंने गोपालदेव के जीवनवृत्त के अंशविशेष की रचना की थी।

ता. का. झा

न. च. श.

रामचन्द्र आता

रामचन्द्र आता रमाकान्त के पुत्र तथा चतुर्भुज ठाकुर के प्रपौत्र थे। इनका जन्म १७वीं सदी के अन्त में हुआ था। इनकी अभिनयकला और पद-गायन से आकर्षित होकर राजा शिवसिंह कई बार इन्हें राजधानी ले गये थे तथा अभिनय करवाकर भू-सम्पदा प्रदान की थी। राजकीय सहायता से इन्होंने वासुदेव थान नरोवा सत्र का पुनर्निर्माण किया और उसी उपलक्ष्य में 'कंसवध' नाटक लिखकर अभिनय करवाया। इसके अतिरिक्त इन्होंने और भी कई गीत-पदों की रचना की थी। यहाँ इनके दो भक्तिव्यंजक पद उद्धृत हैं:

(१)

ध्रु० : मन जि, राम चरणे चित्त लागु।
भक्ते सङ्गे यो रति मिलावत
सो सङ्गे भकति सि मागु॥

याहे भकति ताहे मुकुति
भकते ये रस जानि।
सब तेजि तरि भकतित रति करे
सकल वेद प्रमानि॥

जानि हरिचरणे भकति प्रसाद मागो
देहु मोहि नाहि आन काम॥

कहे रामचन्द्र भकति अमिया रस
रहु मुह भरि हरिनाम॥

'हे मन, राम के चरणों में चित्त लगाओ। भक्तों के संग में जो रति हो, तो उस संग में रहकर भक्ति ही माँगो।

'जहाँ भक्ति है वहीं मुक्ति है- भक्त यह रहस्य जानता है। इसीलिए सारे वेदों को प्रमाण मानकर सब कुछ तजकर वह हरि की भक्ति करता है। ऐसा जानकर चरणों में भक्ति का प्रसाद माँगता हूँ, मुझे और कोई काम न दो। रामचन्द्र कहता है कि भक्ति अमृतरस है। मुँह भरकर हरिनाम रहे।

(२)

ध्रु० : हरि हरि दुखुनी देवकी मोर आइ।
अमि हेतु तोमासार कि भैल बिलाइ॥

पापी कंसे मारिलेक छय गुटि भाइ।
पिताक सन्तापे तापे प्राण फुटि याय॥

कमलनयन पुरि बारि झुराइ।
कहे रामचन्द्र हरि बिने गति नाइ॥

(कृष्ण कहते हैं) 'हरि! हरि! दुखिया देवकी मेरी माँ! मेरे कारण तुम्हें कितना कष्ट झेलना पड़ा?

'पापी कंस ने छह भाइयों को मार डाला। संताप के ताप से पिता के प्राण निकले जाते हैं। कमलनयनों से अश्रुधारा बह रही है। रामचन्द्र कहता है कि ऐसे हरि के बिना गति नहीं है।'

न. ब.

रामचरण ठाकुर

रामचरण ठाकुर का आविर्भावकाल सन् १५२१ ई०

माना जाता है। ये महापुरुष माधवदेव की बहन के सुपुत्र थे। इनके पिता रामदास भी एक नैष्ठिक वैष्णवभक्त थे।

इन्होंने अथक प्रयास से महापुरुष शंकरदेवरचित कीर्तन के पदों को विभिन्न स्थानों से एकत्र कर उनका सर्वांगसुन्दर संकलन तैयार किया था। वैष्णव-साहित्य का इतिहास इनके इस श्रमपूर्ण एवं प्रशंसनीय कार्य का सदैव श्रद्धा से स्मरण रखेगा।

शंकरदेवरचित 'भक्ति-रत्नाकर' नामक संस्कृत ग्रन्थ का भी इन्होंने असमिया पद्य में सुन्दर अनुवाद किया था। यह कार्य भी विद्वत्तापूर्ण कहा जाता है। इनकी रचना 'भक्तिरत्न' पाण्डित्यपूर्ण मानी जाती है। इनका 'कंस-वध' नाटक भी प्रकाश में आ चुका है। महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ (गद्यरचना) 'शंकरचरित' इनकी सृष्टि है या नहीं, यह विवादास्पद है। इन्होंने कुछ मधुर गीतों का भी सृजन किया था जिनपर वैष्णव-भावना की अमिट छाप विद्यमान है।

इनके दो भक्तिव्यंजक पद उद्धृत हैं :

(१)

दुष्टक विनाशी हरब भूमि-भार।
भकतर रक्षा-हेतु भयो अवतार॥
तुहु जगत आत्मा चैतन्य देव।
तोहारि शत्रु मित्र नाहि केव॥

—कंसवध नाटक

'हे कृष्ण, तुम दुष्टों का विनाश कर भूमि का भार हरण करनेवाले हो। भक्तों की रक्षा के लिए तुम्हारा अवतार हुआ है। हे चैतन्यदेव! तुम जगत् की आत्मा हो, तुम्हारा कोई शत्रु-मित्र नहीं है।'

(२)

जय जय कृष्ण देव आदि मूल।
नाहि नाहि देव तोहि सम तूल॥
जेहि रहत हृदि पंकज ठाम।
सो हरिचरणे करहा प्रणाम॥

—कंसवध नाटक

'हे कृष्ण! तुम जगत् के आदिकारण हो, तुम्हारे समान कोई देवता नहीं है। तुम आत्मरूप से सबके हृदयकमल में विराजमान हो। तुम्हारी जय हो, तुम्हारे चरणों में बार-बार प्रणाम है।'

ता. का. झा

रामदेव गोस्वामी

रामदेव गोस्वामी दामोदर देव के शिष्य थे। अपने चाचा वनमाली देव के वैकुण्ठ-प्रयाण के बाद ये दक्षिणपाट सत्र के अधिकारी बनाये गये। इसके दस वर्षों बाद ये आहोम राजा गदाधरसिंह द्वारा बहुत अधिक सताये गये, फिर भी वैष्णवधर्म के प्रचार से विमुख नहीं हुए।

रामदेव गोस्वामी के बाद कृष्णदेव गोस्वामी, कामदेव गोस्वामी, सहदेव गोस्वामी और रन्तिदेव गोस्वामी दक्षिणपाट सत्र के अधिकारी नियुक्त हुए। पूर्वांचल के नव वैष्णवधर्म के प्रचार में इन आचार्यों का विशेष अवदान है।

ता. का. झा
न. च. श.

रामनाथ

शंकरदेव के शिष्य सतानन्दवरभक्त के कनिष्ठ पुत्र थे महाकृष्ण। रामनाथ इन्हींके प्रपौत्र थे। इन्होंने ही 'सन्त-मुक्तावली' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। पं० हेमचन्द्र गोस्वामी के अनुसार इस पुस्तक का रचनाकाल सन् १६०८ ई० है।

ता. का. झा
न. च. श.

रामराय द्विज

रामराय द्विज दामोदर देव के अन्यतम अनुयायी अर्जुनदेव के शिष्य थे। उन्होंने कूच बिहार के नृपति चन्द्रनारायण के शासनकाल (१६४०–६० ई०) में 'गुरु-लीला' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें दामोदरदेव का जीवनवृत्त वर्णित है। इसे दामोदरदेव का सर्वप्राचीन जीवन-चरित माना जाता है।

रामराय द्विज ने दामोदरदेव का चैतन्यदेव के शिष्य के रूप में वर्णन किया है। लेकिन महापुरुष शंकरदेव के साथ भी इनके संबंध को अस्वीकार नहीं किया है। इस 'चरित' में दामोदरदेव के जन्म से कविरत्न वैकुण्ठनाथ भट्टाचार्य के जन्म तक का सारा वृत्तान्त मिलता है।

इन्होंने 'भक्ति-रत्नमाला' नामक एक और ग्रन्थ लिखा है। नीचे रामराय के दो भक्तिव्यंजक पद दिये जाते हैं :

(१)

भकते से मोर जाना हृदय।
भयो भकतर हिया निश्चय॥

'भक्त मेरा हृदय है। मैं भी निश्चित रूप से भक्तों का हृदय हूँ।'

(२)

जय-जय कृष्ण तयु चरणे शरण
जय जगन्नाथ प्रभु पतित-पावन।
तोमार चरणे हेरा पशिलो शरण
कृपार सागर तुमि भकतर धन॥

—गुरुलीला

'हे पतितपावन जगन्नाथ कृष्ण! तुम कृपा के सागर हो। तुम भक्त-जनों के परम धन हो। हे नाथ! मैं तुम्हारे चरणों में आश्रय लेता हूँ।'

न. च. श.

रामसरस्वती

रामसरस्वती महापुरुष शंकरदेव के समकालीन, किन्तु उनसे वयो-कनिष्ट वैष्णवभक्त थे। इनका जन्म १६वीं शताब्दी में कामरूप जिले के अन्तर्गत हाजो के आस-पास पचरीया ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम कवि चूड़ामणि था। उनके दो पुत्र थे-अग्रज कवि चन्द्रभारती और अनुज अनिरुद्ध (रामसरस्वती) महाराज नरनारायण ने अनिरुद्ध को 'रामसरस्वती' उपाधि प्रदान की थी :

रामसरस्वती नाम नृपति दिलंत।

—मणिचन्द्र-घोष पर्व

'नृप नर नारायण मुझे रामसरस्वती उपाधि प्रदान करते हैं।'

इनके गुरु मुकुन्ददेव ने रामसरस्वती को भारतचन्द्र एवं कविचन्द्र उपाधियाँ प्रदान कीं। इसकी पुष्टि इनके निम्नांकित उल्लेख से होती है :

प्रणमो मुकुंददेवर चरणे गुणे नाहि समसर।
आमाक भारतचन्द्र नाम दिला कविचन्द्र नाम आर॥

—विजय पर्व

'मैं गुणसम्पन्न एवं अतुलनीय मुकुन्ददेव को प्रणाम करता हूँ। उन्होंने मुझे भारतचन्द्र एवं कविचन्द्र उपाधियों से विभूषित किया।'

नृपति नर नारायण ने इनसे सागरसदृश महाभारत का असमिया पद्य में अनुवाद करने का अनुरोध किया था :

जय नरनारायण राजा शिरोमणि।
संतर परम मित्र दुष्टर अगनि॥

आमाक करिला आज्जा परम सादरे।
भारतर पद तुमि करियोक सारे॥

आमार गृहत आछे भाष्य-टीका यत।
नियोक आपोन गृहे दिलो हो समस्त॥

एहि बुलि राजा सबे बलधि जोराइ।
पठाइला पुस्तक सबे आमासार ढाइ॥

धन वस्त्र अलंकार दिला बहुतर।
दास दासी दिया मन बढ़ाइला आमार॥

—पुष्पहरण पर्व

'सज्जनों के परम मित्र तथा दुष्टों के लिए अग्नि-स्वरूप राजशिरोमणि नरनारायण की जय हो। उन्होंने मुझे महाभारत का पद्यानुवाद करने का निर्देश दिया। उन्होंने अपने घर के महाभारत के समग्र भाष्य एवं टीकाएँ बैलगाड़ी द्वारा मेरे घर भेज दीं। साथ ही उन्होंने बहुत-सा धन, वस्त्र, अलंकार एवं दास-दासी देकर मेरा मन बढ़ाया।'

नरनारायण की मृत्यु के बाद इन्होंने परीक्षित नारायण एवं धर्मनारायण के आश्रय में जीवन व्यतीत किया।

रामसरस्वती की रचनाओं को निम्नांकित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) महाभारत अनुवाद :

१. आदिपर्व, २. सभापर्व, ३. वनपर्व, ४. विराट-पर्व, ५. उद्योगपर्व, ६. भीष्मपर्व, ७. द्रोणपर्व, ८. कर्णपर्व, ९. गदापर्व, १०. शान्तिपर्व।

(ख) वध-काव्य-रचना :

वधकाव्य रामसरस्वती की अनुपम रचना है। इन्होंने संस्कृत के महाभारत के प्रसंगों को इनमें कहानी के रूप में प्रस्तुत किया है। फिर भी विशेषता यह है कि इन काव्यों की कथावस्तु संस्कृत-ग्रन्थों की अनुकृति न होकर तत्कालीन जीवन में प्रवहमान लोक-कथा, लोक-विश्वास, लोक-कहानी आदि पर आधृत है। वध-काव्य रोमांसधर्मी है। इन्हें रूपक-काव्य भी कहा जा सकता है। इनकी रचना का प्रधान उद्देश्य है विष्णु, कृष्ण के माहात्म्य एवं वैष्णव पाण्डवों की विजय-घोषणा।

रामसरस्वतीकृत ये काव्य हैं: १. विजय पर्व, २. कालकुज्व-शोषक वध, ३. मणिचन्द्र-घोष पर्व, ४. पुष्प-हरण पर्व, ५. भीम-चरित, ६. बधासुर-वध, ७. कुलाचल-वध, ८. जंघासुर-वध, ९. जटासुर-वध, १०. पांचाली-विवाह, ११. सिंधुरा पर्व, १२. व्यासाश्रम, १३. अश्वकर्ण-युद्ध, १४. खटासुरवध, १५. व्यंजन पर्व, १६. विहंगम-मोक्ष आदि।

(ग) गीत-गोविन्द का अनुवाद :

रामसरस्वती ने कवि जयदेव-विरचित गीत-गोविन्द का असमिया में अनुवाद किया है। किन्तु उसमें जयदेव का शृंगारात्मक सम्मोहन नहीं है। इस पर भागवत पुराण की रास-पंचाध्यायी एवं शुक्लध्वज की 'सरस्वती' टीका का गहरा प्रभाव है।

इनकी भक्ति-भावना के व्यंजक दो स्तबक नीचे दिये जाते हैं :

(१)

नाहि आदि अंत जार ब्रह्ममय निराकार
भक्त-बत्सल प्रभुदेव।
महामहा ज्ञानीगणे परम निर्मल मने
जाहार चरणे करे सेवा॥

—वधकाव्य

'जिनका आदि-अन्त नहीं है, जो ब्रह्म, निराकार एवं भक्तवत्सल हैं, उनके चरणों की ज्ञानी लोग परम निर्मल मन से सेवा करते हैं।'

(२)

नमो नित्य सदाशिव तुमि जगतरे जीव
विश्व आदि अन्ते तुमि स्थिति।
प्रकृति तोपर तुमि सबारो देवता
तुमि अचिन्त्य महंत चक्रपाणि।
अज्ञाने परिया आमि महंत बखानि फुरी
तुज लीला वैभव न जानि॥

—वध-काव्य

'हे सदाशिव विष्णु! तुम जगत् के प्राण हो। तुम विश्व के आदि-अन्त में स्थित हो। तुम प्रकृति से भी ऊपर हो, तुम सबके देवता हो। हे चक्रपाणि! तुम अचिन्त्य तथा महान् हो। तुम्हारे लीला-वैभव के बारे में मैं कुछ नहीं जानता। मैं अज्ञानी हूँ, इसलिए अपनी आत्मिक प्रशंसा करता हूँ। हे नारायण! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ।'

न. च. श.

रामानन्द देव

रामानन्द देव ने 'सन्त-रत्न' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। इसका प्रतिपाद्य विषय है 'हरिभक्ति'। शंकरदेव-रचित 'कीर्तनघोषा' की शैली से अनुप्राणित होकर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसमें शंकरदेव, माधवदेव आदि महापुरुषों का वृत्तान्त वर्णित है।

ता. का. झा
न. च. श.

रामानन्द द्विज

रामानन्द द्विज का आविर्भाव ७वीं शताब्दी के अन्त या १८ वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ था। ये वैष्णव संत नाटक तथा गीतकार हैं। इन्होंने श्रीकृष्ण मिश्र के वेदान्तप्रतिपादक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नामक संस्कृत नाटक के आधार पर 'महामोह-काव्य' की रचना की थी। इनके पिता का नाम श्रीराम आता था। वे भी महान् सन्त, सफल गीतकार तथा 'काल-संहति' के अनुयायी थे। इन्होंने अनेक भक्ति-भावनायुक्त गीतों की रचना की है। नमूने के लिए एक पद नीचे दिया जाता है :

मृगमद सौरभ मलया चन्दन
रंजित मल्लिक तुल्यं।
खणो उपवसति पथि पुन गच्छति
क्षणमपि युगशत कल्पं॥

तब कर-कमल परम सुख-संभोग
चिन्तति मने अनुवारं।
लिखति नख भूमि विलापति रोदति
तेजति गजमुतिहारं॥

डा० सत्येन्द्रनाथ शर्मा के अनुसार 'महामोह-काव्य' का आधार ग्रन्थ है 'महामोहनाट'। 'आउनि आती' सत्र के संचालक निरंजन देव ने इसका अभिनय किया था। इस नाटक के अभिनय के आधार पर ही रामानन्द ने 'महामोह-काव्य' की रचना की थी।

'महामोह' एक रूपक-काव्य है। इसमें सत् एवं असत् प्रवृत्तियों में संघर्ष दिखाया गया है, जिसमें अन्ततः सत्-प्रवृत्तियों की विजय होती है। इस ग्रन्थ में महामोह, अहंकार, माया, क्रोध, विवेक, भक्ति, दया आदि भावों का मानवीय चरित्रों के सदृश वर्णन किया गया है। इसकी रचना संभवतः १८वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुई थी।

इसके दो पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

(१)

नमो राधापति कृष्ण गोलोक ईश्वर।
ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र आदि याहार किंकर॥
मत्स्य कूर्म रूप धरि नाना अवतार।
आपोनार निज यश करिबे प्रचार॥

—महामोहकाव्य

'ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि देव जिसके किंकर हैं उन राधापति कृष्ण को नमस्कार है। वे नाना अवतार धारणकर अपने यश का प्रकाश करते हैं।'

(२)

भगवंत अनुग्रहे यदिस्यात कलियुगे
भारतवरिषे अनुपाम।
देवरो बांचनि तनु महागुरु उपदेशि
आपोन कुशल हरिनाम।
परम दुर्ल्लभ जानि यिजने हरिक भजे
तातपरे सुखी आर नाइ॥

—महामोह काव्य

'कलियुग में भारतभूमि पर नर-तनु पाने के लिए देवता भी अभिलाषी हैं। भगवान् की कृपा से ही वह दुर्लभ मानव-शरीर प्राप्त होता है। यह जानकर जो, विशेषकर कलियुग में भारतवर्ष में जन्म लेने-वाले, हरि का भजन करते हैं उनसे अधिक सुखी और कोई नहीं है।'

न. च. श.

लक्ष्मीदेव

नरोवा के रामचन्द्र आता के परनाती एवं भद्रदेव के सुपुत्र लक्ष्मीदेव उत्तम नाटककार एवं कवि थे। इनका जन्म अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में हुआ था। लक्ष्मीदेव ने कुल छह नाटकों की रचना की थी, जिनमें रावण-बध (बड़े आकार का) सुन्दर और लोकप्रिय रहा। सिन्धुरा-यात्रा, जन्म-यात्रा, गोवर्धन-यात्रा, नृसिंह-यात्रा और कुमारहरण इनके अन्य नाटक हैं। अन्तिम नाटक इन्होंने राजा चन्द्रकान्त सिंह के अनुरोध पर लिखा था।

इन्होंने भक्तिरस के कई गीत-पदों की भी रचना की थी। यहाँ दो पद दिये जा रहे हैं :

(१)

अग माइ ! किनो सुप्रभात मथुरारे ।
देखिब नयने चान्द बयने
हरिब दुख सबारे ॥
किनो भाग्यवती नागेरी युवती
नवनिधि पाइले हाते ।
आमार कपाले बञ्चित गोपाले
बिधाता बङ्क आमाते ॥
नासिबन्त हरि जानो निष्ठ करि
नागेरी सुन्दरी पाइ ।
कृष्णर बिरहे शरीर न रहे
लक्ष्मीनाथ दासे गाइ ॥

'ओ मां ! मथुरा का कैसा सुप्रभात है ! चन्द्र-वदन कृष्ण को आँखों से देखेंगे। सबका दुख मिट जायगा। नागरी युवतियाँ कैसी भाग्यवती हैं ! उन्होंने हाथों में नवनिधि पा ली है। विधाता हमारे लिए वाम है। इसलिए गोपाल ने हमारी वंचना की। नागरी सुन्दरी पाकर अब हरि नहीं आयेंगे, हम यह सत्य जानती हैं। कृष्ण के विरह से हमारा शरीर नहीं रह पाता। लक्ष्मीनाथ दास यह गाता है।'

(२)

ध्रु० : भज मन मुकुन्द मुरारि ।
चिन्त मन कौस्तुभधारी ।
दुषित मोचन कञ्ज लोचन
सकल भुवन अधिकारी ॥
मुनि सिद्ध शंकर धाता पुरन्दर
याकेरि अन्त न पावे ।
चानुर किन्नर सहस्र-बयन-धर
याकेरि ए गुण गावे ॥
अम्बिका बसुमती इन्दिरा सरस्वती
यासु चरण करु सेवा ।
जग जन बन्दन दैवकि-नन्दन
यो हरि देवकु देवा ॥
ताहे चरण मन चिन्तहु सर्वक्षण
गोविन्द बिने गति नाइ ॥
भकतर नवनिधि सुमरणे करे सिद्धि
लक्ष्मीनाथ किंकरे गाइ ॥

'हे मन, मुकुन्द-मुरारि का भजन कर। मन, उन कौस्तुभ-धारी का चिन्तन कर जो दोषों को दूर करनेवाले, कंजलोचन और सारे भुवन के अधिकारी हैं।

'मुनि, सिद्ध, शंकर, ब्रह्मा, इन्द्र जिनका अन्त नहीं पाते, चाणूर, किन्नर आदि सहस्रमुख धारण कर जिनके गुण गाया करते हैं, अम्बिका, वसुधा, इन्दिरा (लक्ष्मी), सरस्वती आदि जिनकी चरण-सेवा करती हैं, जग-जन-वन्दित, देवकीनन्दन जो हरि देवों के देव हैं, हे मन ! उनके चरणों का चिन्तन सदैव करता रह, गोविन्द के बिना और गति नहीं है। वे भक्त की नवनिधि हैं जो स्मरणमात्र से सिद्धि प्रदान करते हैं। किंकर लक्ष्मीनाथ यह गाता है।'

न. ब.

लचाकणीया गोविन्द आतै

लचाकणीया गोविन्द आतै महापुरुष माधवदेव के शिष्य थे। भक्ति-प्रचार के लिए माधवदेव ने इन्हें पट जिला भेजा था। यहाँ इन्होंने खटरा नामक एक सत्र का निर्माण किया था।

ता. का. झा
न. च. श.

वंशीगोपाल देव

वंशीगोपाल देव का मूलनाम गोपालदेव था। इनका जन्म १४४८ ई० में हुआ था। बचपन में ही माता का देहान्त हो गया, तब इनका पालन-पोषण इनकी बड़ी बहन द्वारा हुआ।

ये एकशरणिया धर्म के निष्णात प्रचारक थे। कहा जाता है कि शंकरदेव एवं दामोदरदेव के प्रभाव से ये वैष्णवभक्ति में आकण्ठ रँग गये और मस्त मतवाले भक्त के समान जीवन व्यतीत करने लगे। कृष्णप्रेम से भावविभोर होकर ये हाथ में वंशी लेकर

यत्र-तत्र चक्कर लगाते और साधु-सन्तों की संगति करते थे। धीरे-धीरे एक समय ऐसा भी आया जब ये पारिवारिक जीवन से एकदम विरक्त हो गये और विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर ली। बाँसुरी बजाते हुए पर्यटन करने के कारण इनका नाम गोपालदेव से 'वंशीगोपालदेव' पड़ गया। इन्होंने दामोदरदेव से शरण (दीक्षा) ग्रहण किया था।

महापुरुषिया धर्म में दीक्षित हो जाने के बाद इन्होंने अपना सारा जीवन वैष्णव-धर्म के प्रचार में लगा दिया। इसके लिए इन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, फिर भी ये निर्भीकता से अपने पथ पर आगे बढ़ते गये। इन्हें कुछ बौद्ध-भिक्षुओं (प्रायः तांत्रिकों) के विरोध का भयंकर मुकाबला पड़ा। कहा जाता है कि काँही-कुची नामक स्थान में सत्र-स्थापना के बाद जब ये धर्म-प्रचार कर रहे थे तब एक बौद्ध तांत्रिक ने इन्हें विष देकर जान से मारने का प्रयास किया, किन्तु असफल रहा। परिणाम यह हुआ कि इनकी अटूट निष्ठा एवं मनोबल के कारण बहुत से बौद्धों ने वैष्णवधर्म स्वीकार कर लिया।

कहा जाता है कि सन्त-सम्प्रदाय में आने से पहले ये 'काय-कष्ट-व्रत' करते थे। इन्हें राज-कोप के करण यन्त्रणा भी बहुत दी गयी, फिर भी ये अपनी साधना से विचलित नहीं हुए। ये कुरुवावाही सत्र के मुख्य प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। सचमुच ये त्याग की प्रतिमूर्ति थे। इसलिए इनके एक शिष्य ने लिखा है, 'हेन देव गोगालसम साधु पूबेओ नासिल, पाछक लागिओ न हैब।' गोपालदेव के समान साधु न पहले हुआ और न बाद में होगा। सत्रों के कुशलतापूर्वक संचालन में इनका प्रशंसनीय योगदान रहा। इनका परलोक-गमन १६३४ ई० में हुआ।

इनका एक भक्तिपरक पद इस प्रकार है :

समस्ते शास्त्रर सार हरिभक्त हरिनाम
ताक न करिबा कोनो हेला।
दुयोहित जगतर पुण्यदाता पापहर
दुयो राखे संकटर बेला॥

—वंशीगोपालदेवर चरित

'समस्त शास्त्रों का सार हरिभक्ति एवं हरिनाम है। अतः इन दोनों की अवहेलना कभी मत करो। हरिभक्ति और हरिनाम दोनों जगत् के लिए पुण्यदाता, पाप हरनेवाले एवं कल्याणकारी हैं। संकटकाल में ये दोनों रक्षा करनेवाले हैं।'

ता. का. झा

वनमाली देव

वनमालीदेव दामोदरदेव-प्रवर्तित वैष्णवधारा के प्रसिद्ध सन्त थे। 'वनमालीदेव-चरित' के अनुसार वर्तमान शोणितपुर जिले के कलावरी (रम्भावारी) नामक स्थान में १५७६ ई० में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम यदुदेव द्विज था। ये पाराशर गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता माधवप्रिया महेन्द्रभारती नामक एक ब्राह्मण सन्त की पुत्री थीं। मुकुन्द द्विज के माध्यम से प्रायः ६ वर्ष की आयु से इनका पालन-पोषण महात्मा वंशीगोपाल देव की छत्रछाया में हुआ। उनके दिवंगत होने के बाद ये कविरत्न वैकुण्ठनाथ भागवतभट्टाचार्य के निर्देश से कूचबिहार गये और वहाँ दामोदरदेव का सम्पर्क प्राप्त किया। वैकुण्ठपुर-सत्र में इन्होंने अपराह्ण समय के भागवत-पाठ का दायित्व लिया। इनके भागवत-पाठ के पाण्डित्य के कारण कूच बिहार के राजा प्राणनाथ बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने इनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। बाद में वनमालीदेव वैकुण्ठपुर सत्र के अधिकारी नियुक्त हुए। चरितकार रमाकान्त द्विज ने लिखा है :

देव दामोदर आदि सन्त सकलर।
धर्मर महिमा कहि कोने पावे ओर॥
सेहि धर्मे गोसांइ बनमाली थित हुया॥
रोहिलन्त हरिभक्ति मार्ग प्रवर्तया॥

'दामोदरदेव तथा अन्य सन्तों की महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता। इन धर्मों में गोस्वामी वनमालीदेव प्रवृत्त होकर हरिभक्ति का मार्गनिर्देशन कर रहे थे।'

इन्होंने कुछ समय के लिए जगन्नाथ पुरी की भी यात्रा की थी और वहांसे यादवराय (श्रीकृष्ण) की मूर्ति लाकर अपने सत्र में स्थापित की थी। आहोम-राजा स्वर्गदेव जयध्वजसिंह के अनुरोध पर इन्होंने कूचबिहार से आकर माजुली नदी द्वीप में दक्षिणपात नामक एक नवस्थापित सत्र का संचालन किया था।

यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि वनमालोदेव के समय से ही सत्रों एवं राज-दरबारों के बीच सम्पर्क स्थापित हुआ। इनका तिरोधान १६८३ ई० में हुआ।

नीचे इनके दो पद उद्धृत किये जा रहे हैं :

(१)

राजा संबुधि पाचे मातिले गोसांइ !
सुना महाराजा तुमि स्थिर करा मन।
एकचित्त हुग्रा चिन्ता कृष्णर चरण॥

पदतल रांगा श्यामवर्ण उपरत।
ध्वज बज्र अंकुशादि चिह्न आचे यत॥

पदतल चिन्तिवाहा चित्त थिर करि।
कृष्ण-कृष्ण बुलिया हृदये रूप धरि॥

एते कते पाइबा गति नाहि के संशय।
संसारक लागि किधो न करिबा भय॥

'राजा को सम्बोधित करते हुए वनमालीदेव कहते हैं कि हे महाराज, तुम मन स्थिर करो और एकचित्त होकर कृष्ण का चिन्तन करो, कृष्ण का रूप-वर्णन सुनो। श्रीकृष्ण के पैर तो लाल हैं, किन्तु ऊपर का शरीर श्यामवर्ण का है। पदतल में ध्वज, वज्र, अंकुश आदि के चिह्न हैं। तुम कृष्ण के चरण का स्थिर मन से चिन्तन करो और कृष्ण के रूप का हृदय में ध्यान करो। तब तुम्हें मुक्ति मिलेगी। संसार में किसी प्रकार का भय मत करो।'

(२)

जय जय कृष्णदेव परम पुरुष।
अनादि अनंत सत्य शुद्ध हृषिकेश॥
नमो नमो माधव दैत्यारि वासुदेव।
तोमार पदारविन्दे परिकरो सेव॥

'परम पुरुष अनादि, अनन्त, सत्य, शुद्ध, हृषीकेश कृष्ण की जय हो। हे माधव! तुम्हारे चरणकमल में बार-बार प्रणाम करता हूँ।'

ता. का. झा
न. च. श.

वल्लभचन्द्र देव

वल्लभचन्द्र देव वृन्दावनचन्द्र देव के ज्येष्ठ पुत्र थे। सन् १८१८ ई० में गोलाघाट महकुमा के महुए-मुख नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। मंगलदै महकुमा के कुरुवा नामक स्थान में इनका बाल्यकाल व्यतीत हुआ। पिता के तिरोधान के बाद ये कुरुवा में सत्राधिकारी के पवित्र पद पर विराजमान हुए। सन् १८७० ई० में इनका देहावसान हुआ। भक्त-कवियों में इनका नाम आदर के साथ लिया जाता है।

इनके दो भक्तिपरक पद इस प्रकार हैं :

(१)

भज हरिपद चिन्त हरिपद
हरिनाम मुखे गाना रे।
हरि गुणगण उच्चावरे मन
हरि भजि लोओ त्राना रे॥
श्रुति उक्त इदो भक्तिभाव चितो
करुय सदा कीर्तना रे।
हरिपद-प्लवे संसार तरावे
चिन्ताये भव-बन्ध ना रे॥
तुमि इष्टदेव सदा मोर सेव
चरणे हौक मोर गति रे।
दान्ते तृण धरि करोहो जोहारि
वल्लभचन्द्र कृतांजलि मति रे॥

'हरिपद भजो, उसीका चिन्तन करो और मुख से हरिनाम गाओ। जो यही वेदोक्त भक्ति करते हैं, वे ही संसार से पार होते हैं। भव-बन्धन की चिन्ता ही नहीं है। हे कृष्ण! तुम मेरे इष्टदेव हो। तुम्हारे चरणों के द्वारा ही मेरी गति सम्भव है। मैं (कवि) दाँतों में तृण धरकर (शपथ

खाकर) तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ कि मेरा मन सदैव तुम्हारे चरणों में लगा रहे।'

(२)

मोहन मधुर रूप श्याम गोपाल।
अखिल भुवनपति सहजे कृपाल॥

'श्याम गोपाल का रूप आकर्षक एवं मधुर है। ये अखिल भुवन के स्वामी हैं तथा सहज ही कृपा करनेवाले हैं।'

ता. का. झा
न. च. श.

वाणेश्वर द्विज और दिवाकर द्विज

असम के भक्तकवियों में वाणेश्वर द्विज एवं दिवाकर द्विज भी स्वीकार किये जाते हैं। आप दोनों ने सम्मिलित रूप से 'हरिदेव-चरित्र' नामक पुस्तक की रचना की थी।

ता. का. झा
न. च. श.

विद्यानन्द द्विज (ओझा)

सत्रायण वैष्णवधर्म के प्रचार में विद्यानन्द द्विज (ओझा) का महत्त्वपूर्ण अवदान रहा है। ये भक्त होने के साथ-साथ कवि भी थे। इन्होंने 'ठाकुर-चरित' नामक एक ग्रंथ का प्रणयन किया था, जिसमें महापुरुष शंकरदेव, माधवदेव, पुरुषोत्तम ठाकुर एवं चतुर्भुज ठाकुर की जीवनी दी गयी है।

ता. का. झा
न. च. श.

विष्णुदेव गोस्वामी

रन्तिदेव गोस्वामी के स्वर्गारोहण के बाद सन् १७८० ई० में विष्णुदेव गोस्वामी दक्षिणपाट सत्र के अधिकारी नियुक्त हुए। ये एक प्रभावशाली सन्त थे, आहोम राजा गौरीनाथ सिंह, कमलेश्वर सिंह एवं चन्द्रकान्त सिंह पर इनका अत्यधिक प्रभाव था।

कहा जाता है कि विष्णुदेव गोस्वामी अफीम का सेवन करते थे। एकबार आहोम राजा गौरीनाथ सिंह ने इन्हें एक पौवा अफीम अपने 'बूढ़ा गोहाइ' (प्रधानमंत्री) द्वारा भिजवायी। इसका उद्देश्य था इनकी 'कानि-परीक्षा' (अफीम खाने की परीक्षा) लेना। बूढ़ा गोहाइ ने वह अफीम उनके हाथ में देकर कहा 'अपनी महिमा दिखाइये।" इस पर विष्णुदेव गोस्वामी ने उक्त पौवाभर अफीम उसके सामने ही एक साथ खा ली और कहा :

यस्यानुग्रहतो घोरं कालकूटं विषोस्तनम्।
प्रह्लादस्योदरे योऽपंत स नृसिंहो गतिर्मम॥"

—वेणुधर शर्मा : दक्षिणपाट सत्र

ऐसा भी विश्वास किया जाता है कि विष्णुदेव गोस्वामी 'वाक्-सिद्ध' महापुरुष थे। अर्थात् किसीको यदि वे हृदय से कुछ कह देते तो वह चरितार्थ हो जाता था। एक बार 'बर गोहांई' (एक मंत्री) ने विष्णुदेव गोस्वामी से कुछ धन माँगा, लेकिन उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त की। इससे असन्तुष्ट होकर वह बरगोहाइ सत्र को तेल देनेवाले एक भक्त को जबर्दस्ती अपने यहाँ ले गया। विष्णुदेव गोस्वामी ने उसे ऐसा करने से बार-बार रोका, किन्तु वह नहीं माना। तब गोस्वामीजी ने क्षोभ से भक्तों को संबोधित कर कहा : 'बर गोहांइ ने तो सब कुछ देखा ही है, फिर भी अन्धे के समान ऐसा काम क्यों करता है ?" इसके एक महीने के बाद बर गोहांइ सचमुच अंधा हो गया।

भागवत-पाठ एवं व्याख्यान में विष्णुदेव गोस्वामी अत्यधिक प्रवीण थे। उनकी शैली इतनी मधुर, सुश्राव्य, हृदय-स्पर्शी एवं प्रांजल थी कि गुण-मुग्ध भक्तों ने इन्हें 'भागवतभट्ट' की उपाधि प्रदान कर रखी थी।

ऐसा भी कहा जाता है कि विष्णुदेव गोस्वामी तांत्रिक क्रियापद्धति में भी पारंगत थे। इन्होंने पद्मपुराण के उत्तर खण्ड के 'क्रियायोग-सार' नामक अंश का असमिया में पद्यानुवाद किया था। चालीस

वर्षों तक सत्राधिकारी के पद पर निष्ठापूर्वक कार्य करते हुए इन्होंने वैष्णवधर्म के प्रचार में अपना जीवन अर्पित किया। इनका देहावसान सन् १८२०.ई० में हुआ।

विष्णुदेव गोस्वामी के पश्चात् विभुदेव गोस्वामी, वासुदेव गोस्वामी, शुभदेव गोस्वामी और नरदेव गोस्वामी ने भी दक्षिण सत्र के अधिकारी के रूप में अपने दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह किया।

ता. का. झा

न. च. श.

विष्णुभारती

विष्णुभारती १७वीं शताब्दी के वैष्णव सन्त हैं। इनके पिता का नाम कविरत्न था। इन्होंने भागवत पुराण के चतुर्थस्कंध की विषयवस्तु पर आधृत 'लघु-चरित्र' नामक ग्रन्थ की रचना की है। इनका दूसरा ग्रन्थ 'भागवत-रत्न' है जिसमें भागवत पुराण का सार वर्णित है। इसके प्रणयन में ग्रन्थकार ने श्रीधरस्वामी की टीका से सहायता ली है।

इनका भक्तिव्यंजक एक पद नीचे दिया जाता है :

जय नमो नारायण सर्वविघ्न-विनाशन
भक्त-बत्सल दयामय।
जार अंशो अवतरि नानाविध मूर्ति धरि
सृष्टि स्थिति करंत प्रलय ।।

—भागवत

'हे भक्तवत्सल, दयामय, सर्वविघ्न-विनाशन नारायण! तुम्हारी जय हो। तुम विभिन्न रूपों से अवतरित होकर जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय करते हो। हे नारायण। तुम भगवान् हो, अनादि हो, अनन्त हो, शाश्वत हो, निरंजन हो और हो निराकार। मैं तुम्हें कोटि-कोटि नमस्कार करता हूँ।'

न. च. श.

वृन्दावन चन्द्रदेव

भक्तकवि व्रजरंजन देव के तृतीय पुत्र वृन्दावन देव का जन्म १७७२ ई० में दिर्हि में हुआ था। पिता के देहान्त के बाद ये दिहिं-सत्र के अधिकारी बने और पचास वर्षों से भी अधिक समय तक दक्षता एवं निष्ठा से उसका संचालन करते रहे। सन् १८३१ ई० में कुरुवा में इनका स्वर्गारोहण हुआ। ये लगभग २१ गीतों के प्रणेता माने जाते हैं।

यहाँ इनके दो पद दिये जा रहे हैं :

(१)

जय-जय नाथ मोर देवकु-देवा।
भकति मांगोछो मइ पदे करो सेवा ।।

मइ अनाथर नाथ बिने नाहि गति।
नाथ कृपालेश मोर बाढ़ियो भकति ।।

'हे देवाधिदेव कृष्ण! मैं तुमसे भक्ति की याचना करता हूँ। मैं अनाथ हूँ, तुम अनाथ के नाथ हो, तुम्हें छोड़कर मेरी और कोई गति नहीं है। हे नाथ! तुम मेरी भक्ति को बढ़ाओ।'

(२)

मोरे श्यामघन भकत-रजन
तुमि बिने नाहि देवरे।
तोमार चरणे शरण मांगोहो
आन नवांचो केवरे ।।

भकतर नाथ न करा अनाथ
तुमि दयाशील देवरे।
ओहि दास हुइ तुमि कृपामयि
बांच्छित चरण आछे सेवा तरे ।।

हे मेरे श्यामघन भक्तरंजन! तुम ही मेरे एकमात्र देवता हो। मैं तुम्हारे चरण के आश्रय को छोड़कर और कुछ नहीं चाहता। हे दयाशील कृष्ण! तुम भक्तजनों के नाथ हो। तुम कृपामय हो, मैं दास हूँ। मेरी अभिलाषा मात्र तुम्हारे चरण की सेवा है।'

ता. का. झा

न. च. श.

शंकरदेव

महापुरुष शंकरदेव का जन्म सन् १४४९ ई० में असम राज्य के नौगाँव जिले के बरदोवा नामक ग्राम

में हुआ था। जब ये प्रायः छः-सात वर्ष के बालक थे, तभी इनके माता-पिता का देहावसान हो गया। अतः इनका पालन-पोषण दादी खैरसुती द्वारा हुआ। ये बचपन में बड़े चंचल तथा नटखट थे। दिनभर स्वच्छन्द विचरण करते, जंगल-मैदान में चक्कर लगाते तथा मौज-मस्ती से दिन काटते थे। पढ़ने-लिखने की ओर इनका ध्यान जाता ही नहीं था। इनकी मटरगश्ती से दादी अत्यधिक चिन्तित रहती थीं।

एक दिन बालक शंकर भोजन कर रहे थे तो वे ताना मारती हुई शंकर से बोलीं: 'देख, तेरे पिता, दादा और दूसरे पूर्वज कितने विद्वान् और सुयोग्य प्रशासक थे और तू है कि बारह वर्ष का होकर भी छोटे बच्चे की तरह खेलकूद में ही मस्त रहता है। न पढ़ना, न लिखना, शिरोमणि भुइयां परिवार की प्रतिष्ठा को धूल में मिलाने के अतिरिक्त तुमसे और क्या होगा?'

शंकरदेव पर इस फटकार का गहरा प्रभाव पड़ा और इसीसे इनका जीवन एक नयी दिशा की ओर अग्रसर हुआ। इनका सुषुप्त आत्मबल जागृत हुआ तथा ये पढ़ने के लिए राजी हो गये।

बारह वर्ष की अवस्था में इन्हें एक पाठशाला में भेजा गया। वहाँके अध्यापक थे महेन्द्र कन्दलि। इन्हींके द्वारा शंकरदेव की शिक्षा-दीक्षा हुई। गुरु इनसे मुग्ध रहा करते थे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उस समय 'देव' उपाधि मात्र ब्राह्मणों के लिए व्यवहृत होती थी। तब फिर शंकर के साथ 'देव' उपाधि जोड़ने के पीछे रहस्य क्या है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि इनके गुरु कन्दलिजी ने एक दिन देखा कि शंकर पढ़ने के बाद पाठशाला में ही सो गये। किन्तु आश्चर्यजनक बात यह थी कि एक जहरीला साँप अपने फन से उनके मुँह की रक्षा कर रहा था जिससे उसपर सूर्य की प्रखर किरण का प्रभाव न पड़े। तभी गुरु ने बालक के स्वर्णिम भविष्य की कल्पना की और उसी समय से वे शंकर को 'शंकरदेव' कहने लगे।

अपने पठन-पाठन में शंकरदेव अतिशय दत्तचित्त रहते थे। इनकी विलक्षण प्रतिभा से गुरु बहुत अधिक प्रभावित थे और उनकी महत्ता का अनुमान लगाते थे। बहुत कम समय में इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन पूरा कर लिया। वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, पुराण, संहिता, व्याकरण, तंत्र, काव्य आदि विषयों में ये निष्णात हो गये। प्रायः इक्कीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने अपना अध्ययन समाप्त किया। इसके बाद इनके गृहस्थ-जीवन का श्रीगणेश हुआ।

शंकरदेव के पिता कुसुम्बर भुइयाँ (कायस्थ) अपने समाज में प्रतिष्ठित तथा आदरणीय माने जाते थे। भुइयाँ कायस्थ सामान्यतः उच्च श्रेणी के लोग समझे जाते थे। उसमें भी कुसुम्बर का परिवार 'शिरोमणि' कहलाता था, जिसका अर्थ था भुइयां जाति का प्रधान। कहा जाता है कि कुसुम्बर को विवाह होने के बाद कई वर्षों तक पुत्ररत्न की प्राप्ति नहीं हुई। इसके लिए उन्होंने विभिन्न प्रकार की देवोपासनाएँ कीं। विशेषतः भगवान् शंकर को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने बहुत प्रयास किया, तब उन्हें पुत्र हुआ। अतः शंकर का वरदान मानकर उस बालक का नाम 'शंकर' रखा गया।

अध्ययनोपरान्त शंकरदेव की विद्वत्ता की छबि शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान फैलने लगी और धीरे-धीरे लोग इनसे अभिभूत होने लगे। तब एक समय ऐसा भी आया जब सूर्यवती नामक कन्या से उनका पाणिग्रहण संस्कार कराया गया। सूर्यवती ने एक कन्या को जन्म दिया जिसका नाम हरिप्रिया (मनु) था। हरिप्रिया के जन्म के कुछ ही महीनों के बाद सूर्यवती का देहान्त हो गया। इससे शंकरदेव को गहरा आघात लगा और संसार से उन्हें अत्यधिक विरक्ति हो गयी। पारिवारिक जीवन से उनका मन उचट गया और वे तीर्थाटन करने के लिए व्यग्र हो उठे। किन्तु पुत्री के विवाह के बिना बाहर जाना उचित न समझकर कुछ वर्षों तक रुके रहे। जब हरि नामक युवक से पुत्री का विवाह हो गया तब वे मानसिक शान्ति के लिए भ्रमणार्थ बाहर निकले।

सन् १४८१ ई० में शंकरदेव ने तीर्थों की प्रथम यात्रा की। इस यात्रा में इनके साथ कुल सत्रह व्यक्ति थे, जिनमें उनके गुरु महेन्द्र कंदलि भी थे। इन लोगों ने भारत के अनेक प्रसिद्ध तीर्थों का पर्यटन किया जिनमें गया, पुरी, वृन्दावन, मथुरा, काशी, प्रयाग, अयोध्या, बदरिकाश्रम, रामेश्वरम् आदि स्थान सम्मिलित हैं। लगभग बारह वर्षों तक तीर्थाटन करने के बाद शंकरदेव के व्यक्तित्व में विराटता एवं भव्यता का उन्मेष हुआ। भारतीय संस्कृति की विविधता एवं अनेकता में एकता का दर्शन करके वे गद्गद हो गये।

इसी समय भगवान् कृष्ण की अलौकिकता ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया होगा और उन्होंने अनुभव किया होगा: 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' सत्संग के प्रभाव से उनमें गम्भीरता तथा तीक्ष्णता आयी। साधु-महात्माओं के संसर्ग से उनमें कृष्ण-भक्ति की पुनीत भावना लहराने लगी और उन्हींके चरणों में आश्रय पाने के लिए ये व्याकुल हो उठे। इसी समय इन्होंने असम में नव-वैष्णवधर्म के प्रचार-प्रसार का संकल्प लिया।

तीर्थाटन से घर आने पर यद्यपि इनमें भौतिकता के प्रति आकर्षण कम हो गया था फिर भी अपने बन्धु-बान्धवों के अतिशय आग्रह पर इन्होंने कालिका भुइयां की कन्या कालिन्दी से विवाह किया। इस समय इनकी अवस्था अड़तालीस वर्ष की थी। कालिन्दी से इनके तीन पुत्र रामानन्द, कमललोचन तथा हरिचरण उत्पन्न हुए तथा एक पुत्री भी हुई जिसका नाम रुक्मिणी या विष्णुप्रिया था।

विश्वास किया जाता है कि यात्रा से लौटने के बाद ये आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहे थे, तभी मिथिला के एक पण्डित जगदीश मिश्र ने इन्हें भागवत की एक प्रति दी। मिश्रजी इनके साथ पुरी से यहां आये थे। उनके पास भागवत की श्रीधरी व्याख्या भी थी। पण्डित जगदीश मिश्र के साथ भागवत पर गंभीर विचार-विमर्श के बाद इन्होंने उसका विशद अनुशीलन तथा चिन्तन-मनन किया। अन्ततः ये इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि श्रीमद्भागवत का सन्देश ही सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वजनसुलभ हो सकता है। यहींसे इन्होंने अपने नववैष्णवधर्म का आधार 'एकशरण' का सिद्धान्त निर्धारित किया। इसमें इन्हें गीता से भी सहायता मिली होगी।

शंकरदेव प्रकाण्ड पण्डित ही नहीं, प्रतिभाशाली द्रष्टा भी थे। अतः अपने एकशरणिया, महापुरुषिया धर्म के प्रचार के लिए इन्होंने साहित्यसर्जन का संकल्प लिया और इसमें सर्वतोभावेन समर्पित हो गये। सामान्य जनता को शीघ्र द्रवित करने के लिए इन्होंने 'कीर्तन' का आरम्भ किया। इसके साथ ही उपदेश, प्रवचन, अभिनय आदि का भी सहारा लिया। इसके लिए जनरंजक मृदंग, खोल, ताल, मजीरा आदि वाद्यों का प्रयोग स्वाभाविक ही था।

अब शंकरदेव के जीवन का लक्ष्य बन गया—धर्मप्रचार तथा समाज-सुधार। इसके लिए इन्होंने कठोर परिश्रम करके अपराजेय आत्मशक्ति का परिचय दिया। उस समय असम में शाक्तधर्म का वर्चस्व था। कामाख्या पीठ उसका मुख्य केन्द्र था। यह प्रदेश जादू-मंतर के लिए लोकविश्रुत था। यहाँ उस समय नरबलि की प्रथा थी। पंच-मकार का सेवन भी खुलकर होता था। अतः देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुओं का बलिदान और उनका मांस-भक्षण सामान्य बात थी। समाज में भक्ति की अन्य शाखाएँ भी प्रचचित थीं, किन्तु उनका प्रवाह अत्यन्त क्षीण था। फलतः अन्धविश्वास, भ्रष्टाचार, वैमनस्य, झगड़े-दंगे का बाजार गर्म था। यहाँकी राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। इस विषम परिस्थिति में एक लोकनायक की अतीव आवश्यकता थी जो समाज को सही दिशा की ओर संचालित कर सके। शंकरदेव के आविर्भाव से यह कार्य पूरा हो गया। गीता का उद्घोष 'यदा-यदा हि धर्मस्य' यहाँ अक्षरशः रूपायित हुआ।

ऐसी स्थिति में शंकरदेव को अपने नव वैष्णवधर्म के प्रचार में बहुत अधिक मुसीबतों का सामना करना पड़ा। इन्हें प्रारम्भ में तत्कालीन ब्राह्मण, पण्डित, राजा तथा अन्य लोगों के भयंकर विरोध का उत्तर देना पड़ा। इतना ही नहीं, इनके अनुयायियों को भी अनेक कष्ट सहने पड़े। पण्डितों ने इन्हें लोकाचार और वेद का विरोधी घोषित कर दिया। इससे इनके प्राणों पर भी संकट आया तथा अनेक बार आततायियों से बचने के लिए इन्हें अपना स्थान-परिवर्तन करने के लिए बाध्य होना पड़ा। कछारियों के उपद्रव से वे आहोम राज्य में गये, किन्तु वहाँ भी शान्ति से नहीं रह पाये। कोच-राजा नरनारायण के समय में पहले इन्हें राज-कोप का सामना करना पड़ा। यहाँ भी इनकी हत्या का षडयंत्र हुआ। इनपर यह आरोप लगाया गया कि ये सनातन-धर्म का सर्वनाश तथा अपने कृत्रिम धर्म द्वारा जनता को गुमराह कर रहे हैं। ऐसे समय में इन्होंने राजा के समक्ष अपने विरोधियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया और अपने भव्य व्यक्तित्व एवं प्रौढ़ पाण्डित्य के कारण राजा तथा प्रजा के स्नेहभाजन बने। इसके बाद राजा नरनारायण तथा उनके भाई चिल्लाराम (सेनापति) ने इन्हें अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित कर लिया। तब से ये शान्तिपूर्वक धर्म, साहित्य तथा समाज के उन्नयन में लग गये। धर्म-प्रचार में राजा ने इन्हें भरपूर सहायता दी।

इस प्रकार हम देखते हैं शंकरदेव का जीवन अतिशय संघर्षपूर्ण रहा। धर्मप्रचारार्थ भेजे गये इनके अनेक अनुयायियों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। किन्तु जिस प्रकार शुद्ध सोना आग में तपकर निखर जाता है उसी प्रकार शंकरदेव अपने जीवन के दारुण संघर्ष में विजयी बनकर आगे निकल गये। यह इनके अटूट मनोबल का परिणाम था। यह इन्हींकी प्रखर विद्वत्ता एवं व्यवहार-कुशलता थी जिसके कारण माधवदेव, दामोदरदेव आदि सन्त इनके प्रिय शिष्य बने और एकशरणिया धर्म को फैलाने में अभिनन्दनीय साहस एवं प्राणवत्ता का परिचय दिया। यही कारण है कि इनके द्वारा प्रचारित धर्म आज भी असम के घर-घर में व्याप्त है तथा किसी समय शाक्तों का मुख्य गढ़ होते हुए भी आज वैष्णव-प्रदेश के रूप में विख्यात है। शंकरदेव के कारण अब यहाँ सर्वत्र यही ध्वनि सुनायी पड़ती है :

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्,
एको देवो देवकीपुत्र एव।
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा
मन्त्रोऽप्येकस्तस्य देवस्य नाम॥

यही भावना असमिया में इन शब्दों व्यत हुई :

शास्त्रत उत्तम गीता भागवतधर्म्मत उत्तम ज्ञान।
देवत उत्तम देवकीनन्दन चरणे करोहो प्रणाम॥

शंकरदेव कृष्णभक्त थे। अतः इनके साहित्य में कृष्णभक्ति की धारा उत्ताल तरंगों से तरंगायित है। इसका आधार है भागवत। इनके पहले यहाँ कृष्ण का इतना बड़ा भक्त कोई दूसरा नहीं था, इसी तरह इससे पूर्व कृष्णभक्ति का इतना परिपक्व तथा परिष्कृत रूप असमिया-साहित्य में सर्वथा दुर्लभ है। इस सम्बंध में यह कथन समीचीन प्रतीत होता है :

'महापुरुष शंकरदेव ने असम की जनता को नया धर्म दिया, ज्ञान और कर्म के बीच रहनेवाली अखण्ड भक्ति दी और दिया भगवान् कृष्ण पर हिमालय-सा अटल विश्वास। उन्होंने समाज में फैले अनाचारों की जड़ें काट डालीं, देश और धर्म की दुर्दशा देखकर उनका कोमल हृदय पिघल उठा और अपनी आत्मा की शान्ति के लिए उन्होंने अपने हाथ में लेखनी धारण की। असमिया-साहित्य में सूर्योदय शंकर की वाणी से ही हुआ।'

शंकरदेव की शिष्य-परम्परा अभी तक अक्षुण एवं गतिशील है। इस दिशा में इन्होंने अभूतपूर्व संगठन-व्यवहार की क्षमता तथा पटुता का परिचय दिया। आज भी महापुरुषिया धर्म के विस्तार में 'नामघर' और 'सत्र' का अतुलनीय स्थान है। ये धर्मकेन्द्र उत्तर भारत के मन्दिरों एवं पीठों के समान हैं जहाँ महापुरुषिया धर्म की मशाल अविराम गति से जल रही है।

शंकरदेव का जनतन्त्रीय, न्यायपरक तथा उदार दृष्टिकोण इतिहास की अमूल्य धरोहर है। इनके चुम्बकीय व्यक्तित्व के कारण महापुरुषिया धर्म असम के घर-घर में छा गया तथा अन्य धर्मों की नींव क्षीण हो गयी जिसे हम समाप्तप्राय कहें तो अत्युक्ति न होगी। आज भी इस प्रदेश में उसीका साम्राज्य है तथा उसकी शिष्य-परम्परा अक्षुण्ण है।

शंकरदेव की प्रतिभा बहुमुखी थी। अतः इन्होंने अपने मत के प्रचार के लिए विपुल साहित्य का सृजन किया। बहुज्ञ होने के कारण इन्होंने अनेक विषयों पर लेखनी चलायी। ये असमिया-साहित्य के मूलाधार माने जाते हैं। महापुरुष शंकरदेव असम के सबसे बड़े सन्त, धर्मप्रचारक, उपदेशक और समाज-सुधारक ही नहीं, सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार के रूप में भी वन्दनीय हैं। यदि धार्मिक क्षेत्र में ये विराट् हैं तो साहित्यिक क्षेत्र में भी अप्रतिम हैं।

सामान्यतः निम्नलिखित रूप से हम शंकर-साहित्य का नामोल्लेख कर सकते हैं :
संस्कृत : भक्तिरत्नाकर, तोटय।

काव्यग्रंथ (असमिया) : १. भागवत पुराण—प्रथम, द्वितीय, तृतीय, अष्टम, दशम और द्वादश स्कंध २. रामायण (उत्तर काण्ड), ३. रुक्मिणीहरण काव्य, ४. निमि-नवसिद्ध संवाद ५. वैष्णवामृत ६. गुणमाला, ७. भक्तिप्रदीप, ८ अजामिलोपाख्यान, ९. कुरुक्षेत्र १०. भटिमा, ११. रासलीला, १२. कंसवध, १३. अमृत-मंथन १४. कीर्तन, १५. प्रह्लाद-चरित, १६. कीर्तनघोषा।

ब्रजावली (ब्रजबुली): बरगीत तथा छह नाटक—(पत्नीप्रसाद, केलि-गोपाल, कालिय-दमन, रुक्मिणी-हरण, पारिजात-हरण तथा राम-विजय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकरदेव ने अनेक रूपों में असमिया-साहित्य की अभिवृद्धि की है। गद्य, पद्य, पद्यात्मक गद्य, अनुवाद, विभिन्न मौलिक पाठों का संपादन, संगीत, गीत आदि द्वारा इन्होंने साहित्य की श्रीवृद्धि की। शंकरदेव संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् थे। वैष्णववाद में संस्कृत में रचित 'भक्ति-रत्नाकर' नामक ग्रन्थ से और उनके अंकीय नाटों में प्राप्त संस्कृत छन्दों से यह भलीभाँति सिद्ध है। कालपरम्परा की दृष्टि से वे असमिया के प्रथम महाकवि हैं और श्रेष्ठता की दृष्टि से उनका स्थान असमिया भाषा के कवियों में सर्वोच्च है। वैष्णव-आन्दोलन का युग वस्तुतः अशान्ति और उत्साह का युग है। इस काल की सबसे प्रमुख विशेषता थी—प्रगति के लिए एक अधीर व्याकुलता और यह बात सारे उत्तर भारत पर लागू थी। यह व्याकुलता मध्ययुगीन प्रवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल थी। अपने धार्मिक मत और सिद्धान्तों का प्रचार करने की दृष्टि से शंकरदेव ने ऐसे काव्यों और नाटकों की रचना का आरम्भ किया जिनका तात्त्विक आधार शास्त्र था। शंकरदेव में रूपान्तरकार के सभी गुण विद्यमान थे। इनका भागवत का रूपान्तर जिसे "वेदान्त का परम तत्त्व (वेदान्त इतो परम तत्त्व) कहा गया है, असमिया-साहित्य के लिए अभूतपूर्व उत्साह एवं प्रेरणा का स्रोत सिद्ध हुआ। इनकी अतिसामान्य कविता 'हरिश्चन्द्र आख्यान' में भी, जो इनकी किशोरावस्था में लिखी मानी जाती है, असामान्य प्रतिभा का पूर्वाभास मिलता है। विशेष रूप से इन्हें प्रतिष्ठा और लोकप्रियता के शिखर पर पहुंचानेवाला इनका काव्यग्रंथ 'कीर्तन' है। इसमें इनकी मौलिकता एवं तेजस्विता की विलक्षणता दिखायी पड़ती है। इनके बरगीत तथा अंकिया नाटों (नाटकों) पर, जिनकी भाषा ब्रजावली (ब्रजबुली) है, जितना अधिकार असमिया-साहित्य का है, उतना ही हिन्दी तथा मैथिली-साहित्य का भी। ये तीनों भाषाएँ उन्हें अपनी संपदा समझती हैं। अतः प्रकारान्तर से शंकरदेव किसी न किसी रूप से इन तीनों साहित्यों के लिए विवेच्य हैं, एकदम अपने-जैसे हैं। उस समय ब्रजावली भाषा का प्रयोग असम के लिए सर्वथा एक नवीन प्रयास था, चमत्कारक था। इसी तरह उस समय में नाटक लिखकर और रंगमंच पर अभिनेता के रूप में आकर

शंकरदेव ने अतिशय साहस और अदम्य उत्साह का परिचय दिया तथा असमिया-साहित्य के इतिहास में नये अध्याय का प्रारम्भ किया, जो आज भी गवेषणा का विषय है।

एकांकी नाटकों की उद्भावना करके उस साधु साहित्यकार ने असमिया-साहित्य में नयी विधा को ही जन्म नहीं दिया, अपितु एक नयी दिशा का अन्वेषण भी किया जिसकी परम्परा आजतक विद्यमान है। वैष्णवमत के प्रचार में 'अंकिया नाट' की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। सचमुच शंकरदेव एक सफल एवं दक्ष नाटककार ही नहीं, सफल अभिनेता, प्रशंसनीय शिल्पी, सुरुचिपूर्ण संगीतज्ञ, रंगमंच के पोषक और चारु चित्रकार भी थे।

आजके घोर भौतिकतावादी युग में भी असम में शंकरदेव-प्रवर्तितनव वैष्णववाद में लोगों की असीम आस्था है तथा गाँव-गाँव ही नहीं, नगरों में भी इनके धर्म-प्रचार के मुख्य केन्द्र 'नामघर' कार्यरत हैं और यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान 'सत्र' उसे जीवन्तता प्रदान कर रहे हैं। ये दोनों धार्मिक महत्त्व के साथ-साथ सामाजिक लोककल्याण के शिविर जैसे हैं। असम की प्रथम यात्रा के बाद शंकरदेव के कार्य-कलापों से अभिभूत होकर अपने एक लेख में महात्मा गांधी ने 'यंग इंडिया' में लिखा था।

"A great Vaishnavite revival under Sankardeva in the sixteenth century has made the Assamese people kindly, tolerant and humane. There is no sign of that form of untouchability which is to be found in Southern India, though there are many racial wrongs which ought to be done away with."

—M. K. Gandhi : Young India, 1922.

'यदि राजनीतिक दृष्टि से विवेचना करें तो देखेंगे कि महापुरुष शंकरदेव ही प्रथम महान् भविष्यद्रष्टा हैं जिन्होंने असम को राष्ट्र की मुख्य चिन्तनधारा से संलग्न और प्रेरित किया। राष्ट्रीय एकता के दृष्टिकोण से शंकरदेव आज भी वैसे ही प्रासंगिक हैं जैसे पहले थे। सचमुच उनकी प्रतिभा सागर के समान है। दोनों ही विशाल हैं पर गंभीर हैं, दोनों ही तालयुक्त और गतिशील हैं, पर शान्त भी हैं और दोनों में ज्वारभाटे आते-जाते हैं, जो निरन्तर ही परस्पर सन्तुलित होते रहते हैं।'

महापुरुष शंकरदेव एक दीर्घजीवी व्यक्ति थे। विश्वास किया जाता है कि वे ११९ वर्षों तक इस धराधाम पर विद्यमान रहे। धर्म, संस्कृति एवं साहित्य का यह महान् अग्रदूत अपने जीवन में सतत लोककल्याण के मार्ग पर दृढ़ता से अग्रसर होता रहा। इन्होंने अपना पार्थिव शरीर सन् १५६८ ई० में मातृभूमि को अर्पित कर दिया। जबतक असम की अस्मिता है तबतक शंकरदेव स्मरणीय एवं, पूजनीय रहेंगे।

महापुरुष शंकरदेव के भक्तिविषयक तीन पद नीचे दिये जाते हैं :

१. बरगीत (राग गौरी)

सोई सोई ठाकुर मोइ !
सोई सोई ठाकुर मोइ जो हरि परकाशा।
नाम धरत रूप स्मरत ताकेरि हामु दासा॥
पण्डित पढ़े शास्त्र मात्र सार भकते लिये।
अन्तरजल फुट कमल-मधु मधुकरे पिये॥
जाहे भकति ताहे मुकुति भकते ए तत्व जाना।
जैसे वणिक चिन्तामणिक जानिया गुण बखाना॥
कृष्ण-किंकर शंकर कह भज गोविन्दक पाय।
सोहि पंडित सोहि मंडित जो हरिगुण गाय॥

हिन्दी रूपान्तर :

मेरा ठाकुर जो हरि के निशि-वासर गुण गाये।
मैं हूँ उसका दास जपे जो नाम, रूप को ध्याये।
पंडित पढ़ते शास्त्र भक्त तो सारमात्र गह लेता।
जल के भीतर खिले कवल पर मधु मधुकर पी लेता॥
भक्ति जहां है मुक्ति वहाँ है भक्त तत्त्व यह जाने।
जो पहचाने चिन्तामणि को गुण भी वही बखाने॥
कृष्णदास शंकर यह कहता भज माधव के पाय।
वह पंडित है, सम्मानित है जो हरि के गुण गाय॥

२. बरगीत (राग केदारा)

पावे परि हरि, करुहो कातरि !
पावे परि हरि करुहो कातरि प्राण राखबि मोर।
विषय-विषधर-विषे जराजर, जीवन ना रहे थोर॥

अथिर धन जन-जीवन यौवन
अथिर एहु संसार।
पुत्र परिवार सबहि असार
करबो काहेरि सार॥
कमल-दल जल चित्त चंचल
थिर नाहे तिल एक।
नाहि भय भवभोगे हरि हरि
परमपद परतेक॥
कहतु शंकर ए दुःख-सागर
पार करा हृषिकेश।
तुहु गति मति देहु श्रीपति
तत्व-पंथ उपदेश॥

हिन्दी रूपान्तर :

पाँव परूँ हरि करूँ प्रार्थना प्राण राखिये मोर।
विषय-सर्प के विष से जर्जर जीवन रहे न थीर॥
अस्थिर धन, जन, जीवन, यौवन अस्थिर यह संसार।
पुत्र, गृहस्थी सब असार हैं, कौन बने आधार॥
कमल-दल-जलसम चित्त चंचल स्थिर नहीं पल एक।
भव-भय भोगे नहीं करे जो चरण-कमल अभिषेक॥
शंकर कहे कि दुखसागर से पार करो हृषिकेश।
अब तुम ही गति, मति दो श्रीपति तत्त्व-पथ उपदेश॥

३. बरगीत (राग धनाश्री)

वन में गोचारण के लिए जाते हुए किशोर कृष्ण के जगमोहन रूप का वर्णन :

हरेहु माय, चललि विपिने मधाई।
वेणु विषाण, निशाने आवत, हरषे धेनु धाय॥
उहि जगमोदन कन्धे दधि उदन
गोधन आगु बुलाय।
बंकिम नयन सरोरुह हासि
हेरइते भुवन भुलाय॥
मदन मदनरूप पेखि पुनु पुनु
सुरुचि पड़य सुरनारी।
सोहि जगजोव वियोग अब सहबि
कैचन चित्त हामारि॥
हरि-विरहानल आकुल गोपिनी
दरशन दिवसे न पाय।
हरिगुण कहि रहि प्रेमे भुरय नोर
शंकर एहु रस गाय॥

ता. का. झा

श्रीकृष्ण मिश्र

असम के भक्ति-आन्दोलन में श्रीकृष्ण मिश्र का विशिष्ट स्थान है। ये अपने समय के प्रसिद्ध भक्त और दामोदरदेव द्वारा प्रवर्तित 'ब्रह्म-संहिता' के अनुयायी थे। कहा जाता है कि एकबार ये गुरु-दर्शन के लिए कामरूप से वैकुण्ठपुर-सत्र (कूच बिहार) गये। कमलाकान्त आतै ने इन्हें सादर 'वासाघर' (निवास) दिया। वहाँ गुरुदेव ने इनकी ओर किंचित् क्रोध से देखा :

प्रभुर चरण देखि वाक लागि
चिन्त उतावले करे।
अल्प क्रोधकरि कृष्ण ये मिश्रक
देखा नेदय दामोदर॥

श्रीकृष्ण मिश्र ने अनुभव किया कि गुरुजी ने उन्हें त्याग दिया। इससे चिन्तातुर हो इन्होंने अपने को धिक्कारा और आत्मग्लानि से व्यथित हो अनेक दिन निराहार एवं अनिद्रा में व्यतीत किये। भक्त कमलाकान्त ने दामोदरदेव को एकान्त में मिश्रजी के विषय में सब कुछ बता दिया। तब गुरु दामोदरदेव ने श्रीकृष्ण मिश्र को अपने पास बुलवाया। श्रीकृष्ण मिश्र ने गुरुदेव को दंडवत प्रणाम किया तथा उनके दोनों चरणों में अपना सिर रखकर करुणक्रन्दन करने लगे। भाव-विह्वल होकर गुरु ने मिश्रजी के सिर पर हाथ रखकर उठने के लिए संकेत किया। मिश्रजी ने अपनी भूल स्वीकार करते हुए कहा :

इतो अपराध क्षमा करियोक
स्थान दिया चरणत।

दामोदरदेव ने उन्हें क्षमादान से उपकृत किया :

मुनि दामोदर आश्वास विस्तर
करिला कृष्ण मिश्रक॥

तबसे ये आजीवन गुरु के निर्देशानुसार भक्ति के प्रचार में संलग्न रहे। इन्होंने 'दामोदर-चरित' नामक एक ग्रंथ का प्रणयन किया। उस ग्रन्थ में दामोदरदेव और उनके अनुयायियों का सुन्दर वर्णन है।

इनके दो छंद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

नमो नारायण विघिनि-खण्डन
अनादि अनन्त हरि।
कलिर लोकक निस्तार करिला
दामोदर रूप धरि॥

'अनेक विघ्नों को नाश करनेवाले हे अनादि-अनन्त नारायण! तुम्हें प्रणाम है। कलिकाल के लोगों के उद्धार के लिए तुमने दामोदर (दामोदरदेव) रूप धारण किया।

(२)

हेन जानि आन एरि ताने गुण नाम स्मरि
साधियोक आपुन कुशल।
दुर्लभ मनुष्य-तनु सेन्थराइ न पाइवाहा
नकरिबा इहाक बिफल॥
तेजियो विषय धान्द रामनाम गले बाँधा
तेबे से संसार सुख तारि।
नुशुनाहा यदि हित आसि पाइला यमदूत
नरक पथक निबे धरि।
इटो यम-यातनात तारन्ता नाहिके आन
भक्त-बत्सल हरि बिने॥

'यह जानकर तथा दूसरी बातें (संसारविषयक चिन्ताएँ) छोड़कर कृष्ण-नामस्मरण कर अपनी पारमार्थिक कुशलता-सिद्धि के लिए साधन करो। मानुष-तन दुर्लभ है, यह जल्दी नहीं मिल सकता। अतः इसे विफल मत करो। सांसारिक विषयों की चिन्ता छोड़ो। राम-नाम को हृदय से स्वीकार करो। तभी इस संसार से तुम्हारा उद्धार होगा। यदि तुम मेरी बात नहीं सुनोगे तो यमदूत तुम्हें नरक ले जायँगे। यमयन्त्रणा से त्राण पाने के लिए भक्तवत्सल हरि के बिना दूसरा कोई सहायक नहीं है।'

श्रीधर कंदली

श्रीधर कंदली महापुरुष शंकरदेव के समसामयिक थे। इनका जन्म गौहाटी से १६ मील दूर 'हाजो' नामक गाँव में हुआ था। असम के सन्तों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका 'धुनुचा-यात्रा' नामक काव्य हार्दिक आनन्द देनेवाला है। इसमें 'द्विपत्नीत्व' की भयंकरता तथा उससे उत्पन्न तनाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अत्यन्त सरल भाषा में किया गया है। इनकी काव्यप्रतिभा से आकृष्ट होकर महापुरुष शंकरदेव ने इनके 'धुनुचा' नामक काव्य को अपने कीर्तन-महाकाव्य में परिशिष्टरूप में रखा था। इससे श्रीधर कन्दली की महत्ता का पता चलता है।

असमिया ग्राम्य-समाज के चित्रांकन में श्रीधर कन्दली अद्वितीय हैं। इनका लोकप्रिय काव्य 'कानखोवा' आज भी घर-घर में वैष्णव लोरीकाव्य के रूप में प्रचलित है। डा० काकति के अनुसार 'यह वैष्णव कवि की अन्तर्मुखी कल्पना की मनोरम रचना है। एक ओर इसमें बाल-जीवन का निष्कपट प्राणवन्त प्रतिबिम्ब है, तो दूसरी ओर यह प्रशान्त भक्तिभावपूर्ण चन्द्र की तरह विराजमान है।'

श्रीकृष्ण के शैशव के वर्णन में इन्होंने अपनी प्रवीणता एवं सहृदयता का परिचय दिया है। इनके दो पद नीचे दिये जा रहे हैं :

(१)

घुमति जाओरे आरे कानाइ
हुरे कान-खोवा आसे।
सकल शिशुर कान खाइ खाइ
आसे तोमार पासे॥

'रे कान्हा, तू सो जा। वह कान खानेवाला राक्षस (कानखोवा, कल्पित भयानक राक्षस) आ रहा है। दूसरे बच्चों के कान खाकर अब वह तेरे पास आ रहा है, अतः तू जल्दी सो जा।'

(२)

अनादि स्वरूपे जगत सृजिलो
चराचर भेद करि।

समस्ते जगत प्रतिपाल करि
आत्मारूपे आछोधरि ॥
—कानखोवा

‘बालक कृष्ण माता यशोदा से कहते हैं कि मैंने अनादि रूप में स्थावर जंगम सबका भेद करके जगत् का सृजन किया है और मैं सारे संसार का पालन करता हूँ, साथ ही आत्मरूपेण सबको भलीभाँति धारण भी करता हूँ।

ता. का. झा

सनातनदेव

सनातनदेव बड़ यदुमणि के पुत्र थे। अनुमानतः इनका जन्म १६वीं शताब्दी के प्रथम दशक में हुआ था। इनकी मृत्यु उसी शताब्दी के सप्तम दशक में मानी जाती है। ये उच्चकोटि के भक्त थे। इनके रचित प्रायः पचास भक्तिपूर्ण गीत अब भी प्रचलित हैं। नमूने के रूप में दो नीचे दिये जाते हैं :

(१)

मुकुति न लागे आन तुवा पद बिना।
यार एन सुख प्रभु जनाहा आपोना ॥
सालोक्य न लागे प्रभु एके लोके वासा।
समान ऐश्वर्यं साँचि न करोहो आशा ॥
न लागे सामीप्यक निकटे स्थित।
सारूप्य समान रूप न करो वांछित ॥

‘प्रभो! तुम्हारे चरणों के बिना मैं मुक्ति की भी कामना नहीं करता। तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि किसका मन किसमें रमता है। हे प्रभो! मैं सालोक्य नहीं चाहता, सार्ष्टि सामीप्य एवं सारूप्य की भी अभिलाषा नहीं। मैं मात्र भक्ति के लिए भक्ति करता हूँ।’

(२)

कान्हे गोपिनी सब परम आक्रांति।
सूर्य बिने दिनर नाहिके येन भ्रान्ति ॥
चान्द बिने रजनी नज्वले येन भाले।
सखि भाइ गोपिनोर गोपाल सकले ॥
ब्रजबासी बिने कृष्ण मोद गेल दूर।
शून्य देखि कान्हे गोपी परि गोपपुर ॥

‘कृष्ण के विरह में गोपिकाएँ व्याकुल होकर विलाप करती हैं। जैसे सूर्य के बिना रात और चन्द्र के बिना दिन तमसाच्छन्न हो जाता है वैसे ही कृष्ण के अभाव से व्रजवासियों की प्रसन्नता तिरोहित हो गयी है। कृष्ण के बिना गोकुल अन्धकारपूर्ण हो गया है। कृष्ण के विरह में व्यथित गोपिकाएँ पृथ्वी पर गिरकर बेचैन हो करुण क्रन्दन करती हैं।’

सार्वभौम भट्टाचार्य

सार्वभौम भट्टाचार्य का आविर्भाव १५४० ई० में प्राग्ज्योतिषपुर में हुआ था। ये पहले आस्थावान शाक्त थे, किन्तु महापुरुष शंकरदेव से प्रभावित होने के बाद इन्होंने उनसे महापुरुषिया धर्म की दीक्षा ले ली और फिर अपना सारा जीवन वैष्णवधर्म के उन्नयन-हेतु अर्पित कर दिया।

ये अध्ययनार्थ वाराणसी गये। वहाँ अध्यापक विश्वेश्वर चक्रवर्ती के सान्निध्य में संस्कृत का गंभीर अध्ययन किया। इस क्रम में इन्होंने पद्मपुराण का भी अनुशीलन किया तथा उसका असमिया में ‘स्वर्ग-खण्ड-रहस्य’ नाम से पद्यानुवाद किया। इनकी अन्य साहित्यक कृतियाँ हैं : शंकरदेव का जीवन-चरित्र, भागवत एवं भविष्यपुराण का अनुवाद। इनमें इनका अगाध पाण्डित्य परिलक्षित होता है। कहा जाता है कि सार्वभौम भट्टाचार्य की पत्नी भी बड़ी विदुषी थीं।

इन्होंने कूच बिहार के राजा नरनारायण की राजसभा में विख्यात बंगाली पण्डित रघुनन्दन भट्टाचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। इस पर राजा ने इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। सार्वभौम भट्टाचार्य का देहावसान-काल १५८६ ई० माना जाता है। इनके दो पद उद्धृत हैं :

अव्यक्त मूर्ति बहु स्वरूपे धरिबो।
निज अंश कृष्ण बुनि ताते से कहिबो ॥
पूर्वभाव स्वरूपत तोमात कहिबो।
परम आनन्द भावे रसत मजिबो ॥
—स्वर्गखण्ड, पद्मपुराण

'मैं अव्यक्त रूप से बहुरूप धारण करूँगा और कृष्णरूप में मेरा पूर्णावतार होगा। तब पूर्णभावेन तुमसे कहूँगा और परम आनन्दित भाव से भक्तिरस में निमज्जित होऊँगा।'

(२)

श्रवण कीर्तन भक्ति भकतक दीबो।
सज्जनक दिया महा प्रीतिक साधिबो॥
अंश-कलाविभूतिर यत शक्ति लइ।
वसुदेव गृहत जन्मिबो मइ॥

भगवान् कहते हैं कि 'मैं भक्तों को श्रवण-कीर्तन भक्ति और सज्जनों को अतिशय प्रेम दूँगा। समस्त विभूति के साथ मैं वसुदेव के घर अवतार ग्रहण करूँगा।'

ता. का. झा

हरिदेव गुरु

हरिदेव गुरु एक महान् सन्त थे। दामोदरदेव की तरह ये भी वैदिक वैष्णवधर्म 'ब्रह्म-संहति' के अनुयायी थे। इनके पूर्व-पुरुष नरोत्तम द्विज कन्नौज (उत्तर प्रदेश) के मूलनिवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये वेदाचार्य एवं दर्शनशास्त्रज्ञ थे। सातवीं शती में कामरूपाधिपति भास्करवर्मन काशी से नरोत्तम द्विज को कामरूप ले आये। नरोत्तम के पुत्र कृष्णदत्त द्विज भी प्रख्यात पण्डित थे। उनके पुत्र हरदत्त और हरदत्त के पुत्र उमाकान्त थे। उमाकान्त के पुत्र पञ्चानन, पञ्चानन के पुत्र सूर्यबड़ और उनके पुत्र अजनाभ थे। वे महान् पण्डित थे। उन्होंने प्रान्त के प्रसिद्ध विद्याकेन्द्र नवद्वीप में संस्कृत का अध्ययन किया था। पहले अजनाभजी बहृति ग्राम में निवास करते थे, लेकिन वहाँसे वे अश्वक्लांत नामक तीर्थस्थान में आ गये। अन्त में वे पूर्व असम के नारायणपुर में निवास करने लगे थे। भगवान् कृष्ण की कृपा से पिता अजनाभ और माता पारिजाती के गर्भ से सन् १४९३ में प्रभु हरिदेवगुरु का जन्म हुआ।

कहा जाता है कि हरिदेवजी ने वाराणसी में वेद एवं दर्शन का अध्ययन किया था। महाप्रभु चैतन्यदेव ने हरिदेव को ताल-पत्र पर लिखित एक भागवत-ग्रन्थ उपहार में दिया था। इन्होंने हयग्रीव-माधव का भी प्रसाद और अनुग्रह प्राप्त किया था। कुछ समय बाद ये जगन्नाथ पुरी चले गये। तीन महीने के बाद ये जगन्नाथपुरी से लौट आये और बहृति ग्राम के आस-पास एक हरि-मन्दिर निर्माण किया तथा उसमें वासुदेव की प्रतिष्ठा की। उसके बाद ये कामरूप जिले के बहरी नामक गाँव में चले आये और वहीं निवास करने लगे। 'हरिदेव-चरित' के अनुसार सन् १५९४ ई० में इनका तिरोधान हुआ।

कहा जाता है कि हरिदेव अलौकिक कार्य करने में सक्षम थे। इनमें अन्धों को दृष्टिशक्ति प्रदान करने की क्षमता थी, बिना दुविधा के ये विष-पान भी कर सकते थे। ये खल, असभ्य, दस्यु आदि जनों को भी वचनामृत से सत्पथ पर लाते थे।

दामोदरदेव की तरह हरिदेव ने भी वैष्णवभक्तिधर्म का व्यापक प्रचार किया। इनका भक्ति-धर्म वैदिक एवं पौराणिक भक्ति का एक समन्वित रूप है। धर्मशास्त्र-अनुमोदित नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का अनुसरण, हरिदेव के धर्ममार्ग की विशेषता है। इन्होंने विष्णु, सात्त्विक देवी-देवताओं और पंचदेवों की पूजा का समर्थन किया। दामोदरदेव के वैदिक कर्मकाण्ड पर इनका विश्वास था। इसलिए इन्होंने श्राद्ध, तर्पण आदि का भी अनुमोदन किया। ये अपने शिष्यों को उपदेश देते थे :

नारायण गणेश दिनेश शिव शिवा
भक्तिभावे पूजिवाहा पंचइ देवता।
पितृश्राद्ध तर्पणादि करिबा सादरे
भागवत-पूजा करिवाहा तार पोरे॥

—हरिदेव-चरित

'नारायण, गणेश, दिनेश, शिव एवं शिवा इन पञ्चदेवों की भक्ति से पूजा करो। पितृ-श्राद्ध, तर्पणादि आदरपूर्वक करो। इसके बाद भागवत-पूजन करो।'

हरिदेव के भक्त इनका 'व्यास-भक्त, कल्पतरु' रूप में श्रद्धार्चन करते थे। चरितकार ने लिखा है :

सेहि हरिदेव व्यासभकत-कल्पतरु
तान पदयुगलत नमस्कार करु।
भवसागरर सिटो नाविक उत्तम
सार-कर्न्ता श्रेष्ठ बुलि कहे साधुगण ॥

—हरिदेव-चरित

'हरिदेव व्यासदेव के सदृश हैं और भक्त के लिए कल्पतरु हैं। इनके चरणयुगल में बार-बार नमस्कार करता हूँ। ये भव-सागर के उत्तम नाविक हैं। साधुगण इनको एकमात्र कर्ता कहते हैं।'

महापुरुष शंकरदेव इनका बहुत सम्मान करते थे। यही कारण है कि शंकरदेव ने सात दिनों तक हरिदेव के सत्र में भी एक उत्सव मनाया था। इसलिए हरिदेव के सत्र को मानेरि (मान) रूप से आज भी जाना जाता है।

इनके कोई पुत्र नहीं था। इसलिए मृत्यु के पूर्व इन्होंने अपनी पुत्री भुवनेश्वरी को धर्मगुरु निर्वाचित किया। इनके शिष्यों में हरिचरण देव, जगन्नाथ देव और नारायण देव प्रमुख थे। असम के जनमानस में इनकी अलौकिक सिद्धियों के विषय में अनेक स्मृतियाँ सुरक्षित हैं। कहा जाता है कि इन्होंने अंधों को दृष्टि-शक्ति प्रदान की थी और निर्भय होकर विषपान भी किया था। हरिदेव की भक्ति-भावना के स्वरूप-प्रकाशक दो पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

किन्तु कृष्णभकत बाकी देवगणे
नकरिबा निन्दावाद।
भक्त निन्दाबानी अपराध जानि
न पान्त कृष्णे आह्लाद ॥

—हरिदेव-चरित

'हे कृष्णभक्त! तुम इतर देवों की निन्दा मत करो। भक्तों की निन्दा अपराध है, इससे श्रीकृष्ण भी आह्लादित नहीं होते।'

(२)

हेन जानी सबे निन्दावाणी एटि
समस्तत कृष्ण जानी।
सबे विष्णु जानिया निश्चय
एरिबाहा निन्दा-बाणी ॥
आकाशर हन्ते यत जल परे
समुद्र करे गमन।
अन्यान्य देवको सेवा करिलेओ।
केशवे करे गमन ॥

—हरिदेव-चरित

'हे भक्त! तुम यह निश्चय मान लो कि सर्वत्र विष्णु विराजमान हैं। अतः किसीकी निन्दा मत करो। जिस प्रकार आकाश से पानी गिरकर समुद्र में चला जाता है, उसी प्रकार अन्य देवों की उपासना भी केशव (कृष्ण) को प्राप्त होती है।'

ता. का. झा
न. च. श.

हरिनारायण द्विज

हरिनारायण द्विज कोर्चुं सत्र के पाँचवे सत्राधिकार तथा भरत आता के सुपुत्र थे। ये उत्तम कवि एवं नाटककार थे। 'ठाकुर-चरित' तथा 'उद्धव-यान' नाटक इनकी श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। इन्होंने अनेक भक्तिविषयक पदों की रचना की थीं। यहाँ इनके कृष्ण-भक्तिव्यंजक दो पद दिये जा रहे हैं :

(१)

ध्रु० हरिगुण गावत साधु उद्धवे
गोविन्दचरणे मने धरिया उत्सवे।
कि पुण्य करिले ब्रजरमणि सकल
अणुक्षणे चिन्ते कृष्णचरण युगल।
कृष्णर भक्ति जाति अजाति नचावे
यिमत भजइ सेइ मते गति पावे।
मोहोर बाञ्चनि इटो गोपि-पदधूलि
प्रेमे निमजिला हरिदास एहि बुलि।
गावे गावे गोपीक नमिला हरिदासे
भणे हरिनारायणे गोपि-रेणु आसे।

'साधु उद्धव गोविन्द के चरणों को आनन्द से हृदय में धारण कर हरिगुण गाते हैं। व्रजनारियों ने कौन-सा पुण्य किया, जो निरंतर कृष्ण के चरण-युगल का चिन्तन किया करती हैं। कृष्ण-भक्ति जाति-अजाति का भेदभाव नहीं मानती। जो जैसे भजन करता है वैसी ही गति पाता है। मैं उसी

गोपीपद-धूलि की कामना करता हूँ। हरिदास (उद्धव) यह कहकर प्रेम में डूब गये। प्रत्येक गोपी को उन्होंने नमन किया। हरिनारायण कहता है कि वह गोपी-चरण-रेणु की कामना करता है।'

(२)

ध्रु० कह रे उद्धव सत्य रे हामारि
प्राण माधवर बात।
बान्धवक पालि राम बनमालि
सुखे आछा मथुरात॥
पितृ मातृ आमि वृन्दावन-गोरि
सखा व्रजबासि गरु।
मोहोर पालन बुलि कि सुमरा
कृष्णभक्त कल्पतरु॥
आउर कि बहुरि गोकुले आसिबा
आमाक देखिबा हरि।
सितो मुखपद्म कैसानि देखिबो
आमि सबे नेत्र भरि॥
सुन्दर नासिका हास्य मनोहर
सुमरिते निर झरे।
एहि बुलि नन्द शोके बियाकुल
हरि बोला निरन्तरे॥

'उद्धव, हमारे प्राण माधव की सत्य बात बताओ। अपने बान्धवों का पालन करते हुए बलराम और वनमाली कृष्ण मथुरा में सुख से तो हैं?

'हम (उसके) जो माता-पिता हैं, वृन्दावन गिरि है, व्रजवासी सखा हैं, गाये हैं, हमने जो उसे पाला-पोसा, उन्हें भक्तकल्पतरु कृष्ण कैसे स्मरण करता है? क्या वह पुनः लौटकर गोकुल आयेगा और हमें देखेगा? हम नयन भरकर उस मुखकमल को फिर कब देखेंगे? उसकी सुन्दर नासिका, मनोहर हास का स्मरण करते आँखों से नीर झरता है। यह कहकर नन्द शोक से व्याकुल हो उठे। निरंतर हरि बोलो।'

न. व.

हरिराम देव

हरिराम देव काल-संहति के मायामरा शाखा के डाल खुटियापोता सत्र के तृतीय सत्राधिकार थे। ये बड़े विद्वान् थे। इन्होंने अनेक भक्तिपरक पदों की रचना की है। यहाँ इनके दो पद दिये जा रहे हैं:

(१)

ध्रु० : शरणे पशिलो कृष्ण चरणेसे तोर।
यैते यैते जन्म धरो कर्मफले मोर॥
तयु भक्तसङ्गे नाम आसोक मुखत।
एतेके प्रार्थना करो तयु चरणत॥
यदि तुमि निनिस्तारा मइ पातकीक।
पतितपावन नाम लैबा तेबे किक॥
मोर कु भरसा नाहि तयु पादपद्म।
पशिलो शरणे नाथ न करिबा छद्म॥
नोपजे भकति बिने तुमि नारायण।
कहे हरिरामे पक्षि भक्तत शरण॥

'हे कृष्ण! मैंने तुम्हारे चरणों में शरण ली है। जहाँ-जहाँ अपने कर्मफल के अनुसार जन्म लूँ, वहीं तुम्हारी शरण लेता रहूँगा।

'तुम्हारे भक्तों के साथ तुम्हारा नाम हमारे मुख में रहे, यही प्रार्थना तुम्हारे चरणों में करता हूँ। यदि तुम मुझ पापी का उद्धार न करोगे तो पतितपावन कैसे कहलाओगे? तुम्हारे पाद-पद्म को छोड़ मेरा और कोई सहारा नहीं, है। हे नाथ, तुम्हारी शरण में आया हूँ, छद्म न करना। हे नारायण! तुम्हारी कृपा बिना भक्ति नहीं उपजती। हरिराम कहता है, मैं भक्तों की शरण में आया हूँ।'

(२)

शुन शुन लोक भागवत मत।
कृष्णइ दिले विरिञ्चि पाद्म कल्पत॥
ब्रह्माइ दिले नारदक इटो फल रहस्यक
नारदे व्यासक आनि दिल॥
न गैल अकणो भागि इडाले सिडाले लागि
शुकमुखे भूमित परिल॥
एहि मते कदम्बर आइला भागवत।
शुकमुखे आसि भैल भूमित बेकत॥

'हे लोगो! भागवत-मत का विचार करो। कल्प के प्रारम्भ में कृष्ण ने इसे ब्रह्मा को प्रदान किया था।

'ब्रह्मा ने यह रहस्यमय फल नारद को दिया। नारद ने व्यास को प्रदान किया। इस डाली से उस डाली में लगते रहने पर भी यह जरा भी नहीं टूटा। शुक के मुख से यह धरती पर गिरा। इस प्रकार कदम्ब (रूपी) भागवतशास्त्र आया और शुकदेव के मुख से पृथ्वी पर व्यक्त हुआ।'

न. व.

हरिहर आता

हरिहर आता का जन्म असम के वर्तमान शिवसागर जिले के अन्तर्गत नाजिरा ग्राम में हुआ था। इनके बड़े भाई का इसलिए राजकीय आज्ञा से वध कर दिया गया, कि वे एक बहुत बड़े ज्योतिषी थे। इस तरह राजा की दृष्टि में इनका गुण ही इनके लिए अवगुण एवं प्राणघातक सिद्ध हुआ। भ्राता की निर्मम हत्या से क्षुब्ध होकर हरिहर आता आहोम राज्य छोड़कर कामरूप चले आये और माधवदेव से दीक्षा ली।

हरिहर आता उदारमना थे। धर्म एवं गुरु-सेवा में इनकी अटूट आस्था थी। ये सांसारिक वासनाओं से पूर्णतः मुक्त थे।

इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में एक दन्तकथा प्रचलित है। कहा जाता है कि एक दिन हरिहर आता ने (मृत्यु के निकट आने पर) गाय के चरवाहों को एक कुआँ खोदने के लिए कहा। चरवाहों ने उनके कथनानुसार एक कूप तैयार किया। दूसरे दिन हरिहर आता कुएँ के पास ध्यान करने लगे और अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ एकीभूत कर लिया। बाद में ये उस कुंए में प्रवेश कर गये तथा वहाँ एकत्र लड़कों से कुंए को मिट्टी से भर देने को कहा। लड़कों ने वैसा ही किया। दूसरे दिन ग्रामवासी यह समाचार सुनकर अत्यन्त दुःखी हुए तथा उन्होंने कुंए से मिट्टी निकालकर जब देखा तो कुंए के अन्दर हरिहर आता का कुछ भी अवशेष नहीं मिला। इससे सभी आश्चर्यचकित रह गये।

महापुरुष माधवदेव के हृदय में हरिहर आता का बड़ा प्रेमपूर्ण स्थान था। कहा जाता है कि इन्होंने मधुपुर सत्र से आने के समय में दो गीत लिखे थे :

राग : वसन्त

ध्रु० हरि देर रे बाप, पशिलो शरणे।
नेरिबा बाँधव मोक जीवने मरुणे॥
सनक सनन्दन योगी याहाकु धियाय।
सकले निगमे याक बिचारि नापाय॥
सहस बयने यार नयवान्त सोमा।
अधमे जानिबो केजे तोराहार महिमा॥

'हे हरिहर! मैं (कवि) तुम्हारी शरण में आश्रय लेता हूँ। तुम मेरे बान्धव हो। तुम मुझे जीवन से मृत्यु तक कभी मत छोड़ो।

जिस ईश्वर का ध्यान सनक, सनन्दन आदि योगी करते हैं, जिसके विषय में सकल निगम भी पूर्ण विचार नहीं कर पाते तथा सहस्रमुख शेष भी जिसकी महिमा का बखान नहीं कर सकते, तो मैं अधम तुम्हारी उस महिमा का वर्णन कैसे कर सकता हूँ ?'

राग-भटियाली

ध्रु० मोर पतित-पावन प्रभु हरि हेर रे।
बाप, किना गति हइल, हामारे॥
दुर्ल्लभ लभिया पुनु भारते मानवो तनु।
नाम लइते नपारो तोमारे॥

'हे हरिहर! तुम मेरे पतित-पावन प्रभु हो। हे बाप! (आदरणीय) मेरी क्या गति हुई? भारतवर्ष में मुझे यह दुर्लभ तन मिला। फिर भी मैं तुम्हारा नाम नहीं ले सका।'

ता. का. झा
न. च. श.

होरु यदुमणि देव

होरु यदुमणि देव बड़े यदुमणि की ही भाँति गोपाल आता के शिष्यों में गिने जाते हैं। वैष्णवधर्म के प्रचार के लिए इन्होंने गजला, आमतल्ला आदि स्थानों में कई सत्रों की स्थापना में सक्रियता दिखायी।

ता. का. झा
न. च. श.

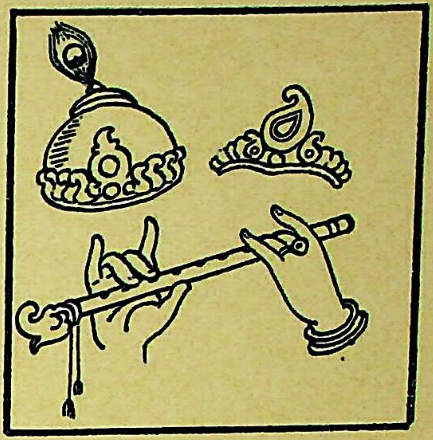

उड़ीसा में राधाकृष्ण-भक्ति का विकास

—डा० नीलमणि मिश्र

—डा० शंकर लाल पुरोहित

—डा० अजय कुमार पटनायक

उड़ीसा के कृष्ण-भक्त

—डा० शंकर लाल पुरोहित

—डा० अजय कुमार पटनायक

उड़ीसा में राधाकृष्ण-भक्ति का विकास

उत्कल की सांस्कृतिक धारा श्री जगन्नाथजी के प्राकट्य से ही प्रारम्भ होती है। श्रीकृष्ण के लीला-संवरण के विषय में श्रीमद्‌भागवत, हरिवंश आदि पुराणों में जो आख्यायिका मिलती है, श्री जगन्नाथजी की उत्पत्ति का वही मूलस्रोत है।

कलियुग के प्रारम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने नित्यधाम-गमन की इच्छा की। 'एरका-वन' में यदुवंश के विनाश के उपरान्त वे लतामण्डप में योगनिद्रा में लीन हो गये। इसी बीच 'जरा' नामक शबर के शराघात से उनका लीला-शरीर निश्चेष्ट हो गया। उस देह का दाह-संस्कार किया गया, किन्तु चिताग्नि में नाभि-मण्डल भस्म नहीं हो पाया। उसे भस्म करने का पुनः प्रयत्न किया गया। इतने में आकाशवाणी हुई : 'यह नाभिचक्र भस्म नहीं होगा। कलियुग में मैं दारु-ब्रह्म के रूप में प्रकट होऊँगा। इसे समुद्र में विसर्जित कर दो।'

जरा शबर के प्रति भी शून्यवाणी हुई : 'तुम्हारे पूर्वजों के इच्छानुसार मैं माधवरूप में प्रकट हूँगा और तुम्हारे वंश के लोग मेरे सेवक बनेंगे।'

गिरिजनों, शबरों की वृक्षपूजा से श्रीमाधव-उपासना का सम्बन्ध कब और किस परिस्थिति में स्थापित हुआ, इसके बारे में कोई प्रामाणिक तथ्य उपलब्ध नहीं होता। किन्तु अव भी उड़ीसा के शबरों में श्री जगन्नाथजी के प्रतीकरूप में वृक्षपूजा की जाती है और श्री जगन्नाथजी के सेवकों में ये 'सुआर' अन्यतम माने जाते हैं।

श्रीकृष्ण के नाभिमण्डल से श्री जगन्नाथजी की उत्पत्ति होने के कारण उड़ीसा में श्रीकृष्ण और श्रीजगन्नाथ में अभेद-भावना की जाती है और श्रीजगन्नाथ की सारी उपासना-प्रक्रिया में श्रीकृष्णलीला की झलक पायी जाती है। जगन्नाथजी के मन्दिर में श्रीमद्‌भागवत के दशमस्कंध में वर्णित श्रीकृष्ण-जन्म आदि सारी लीलाओं के उत्सव समारोहपूर्वक मनाये जाते हैं। साथ ही श्रीजगन्नाथ के अन्य वेशों के साथ शकटासुर एवं प्रलम्बासुर का वध, वनभोज, कालीय-दमन, गोवर्धन-धारण आदि लीलाएँ भी सजधज के साथ होती हैं।

उड़ीसा की मूर्तिकला में श्रीकृष्ण का आविर्भाव ईसा की दशवीं शताब्दी में हुआ। भुवनेश्वर के प्रसिद्ध छन्देश्वर अथवा राजरानी-मन्दिर में मुरलीधर श्रीकृष्ण की एक भव्य मूर्ति पायी जाती है। वहाँ श्रीकृष्ण त्रिभंगमुदा में हाथ में वंशी लेकर सहास्य वदन खड़े हैं। इस मन्दिर के आराध्यदेव यद्यपि इन्द्रेश्वर शिव हैं, फिर भी उत्कल में वासुदेव श्रीकृष्ण की उपासना की प्रधानता के कारण शिल्पियों ने श्रीकृष्ण की मूर्ति मन्दिर के मध्यभाग में बनायी है।

इसके परवर्ती काल में उड़ीसा की मूर्तिकला में गोपीनाथ श्रीकृष्ण की मूर्ति दिखाई देती है। मूर्ति की इस परिकल्पना से एक ध्यानमन्त्र (ध्यान-श्लोक) का सम्बन्ध है :

कस्तूरीतिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभं
नासाग्रे वरमौक्तिकं करतले वेणुः करे कङ्कणम्।
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं सुललितं कण्ठे च मुक्तावली
गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणिः॥

उत्कलीय शिल्पियों ने इसी श्लोक मन्त्र के अनुसार मूर्तियों का निर्माण किया है। ऐसी भव्य मूर्तियों की उपासना उड़ीसा के अनेक मन्दिरों में की जाती है। उड़ीसा राज्य-संग्रहालय में संरक्षित चार गोपीनाथ-मूर्तिग्रों के अतिरिक्त पुरी जिले के हीरापुर, दानमुकुन्दपुर, सरकणा, श्रीमन्दिर, साक्षीगोपाल, बालेश्वर जिले की क्षीरचोरा-गोपीनाथ आदि मूर्तियों की उपासना शताब्दियों से की जा रही है।

ईसा की ११ वीं सदी में निम्बार्कस्वामी के उत्कल-आगमन के फलस्वरूप उड़ीसा में कृष्णभक्ति की धारा प्रबल वेग से स्वच्छन्द रूप में बहने लगी और यहाँके दारु-विग्रह श्री जगन्नाथजी को श्रीराधा-कृष्ण के सम्मिलित स्वरूप के रूप में मान्यता मिली। कवीन्द्र रघूत्तम तीर्थ (१६ वीं शती ई०) के एक श्लोक से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्री जगन्नाथजी की चतुर्धा मूर्ति प्रकृति, पुरुष, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तथा राधा-कृष्ण के सम्मिलित स्वरूप का मूर्तरूप है :

यो द्वेधा प्रकृतिः पुमानिति मतः स्त्रीपुंसदेहाश्रितो
यस्त्रेधा विधि-विष्णु-शङ्करवपुर्धारी दरीदृश्यते।
श्रीमन्नीलगिरौ च दारुतनुधृग् योऽसौ चतुर्धा स्थितो
राधाकृष्णतनूधरो विजयते वृन्दावने स प्रभुः॥
—मुकुन्दविलास महाकाव्य

आचार्य निम्बार्क के अनन्य भक्त उत्कलीय वैष्णव-कवि जयदेव का आविर्भाव ईसाकी बारहवीं सदी के मध्य हुआ। तबतक उड़ीसा की धर्मसाधना में वज्रयानी बौद्धों का तांत्रिक प्रभाव अप्रतिहत था। पञ्च-मकारसेवी इन वज्रयानियों के दबदबे से न केवल उड़ीसा की राजशक्ति प्रभावित थी, वरन् साधारण जनता भी आतंकग्रस्त थी। सांस्कृतिक पतन तथा उत्थान के इसी संधिकाल में उत्कलीय शासनक्षेत्र में 'गंग'-राजवंश का उदय हुआ।

इस वंश के प्रथम शासक थे अनन्तवर्मा चोड़गंगदेव। वे परम वैष्णव थे, इसीलिए उत्कलीय धर्मधारा में प्रवाहित वज्रयानी प्रभाव के मूलोच्छेद के पक्षपाती रहे। राजनीति और धर्मनीति के परम ज्ञाता होने से उन्होंने यह कार्य अत्यन्त चतुरता से किया। इस दिशा में उनका पहला कदम था उत्कल के 'बड़ठाकुर' श्री जगन्नाथजी को 'राष्ट्रदेव' के रूप में घोषित करना। इसके पश्चात् उन्होंने श्रीक्षेत्र पुरी से वैष्णवमत का प्रचार आरम्भ कर दिया। आपने श्री जगन्नाथजी को बलदेव, सुभद्रा तथा सुदर्शन से संलग्न कर चतुर्धा मूर्ति बनवायी और गणेश, भास्कर, शिव, दुर्गा, विष्णु आदि पञ्चदेवों में विष्णु को प्रमुख मान्यता दी। इसके परिणामस्वरूप वैष्णवमत का परिपोषक ब्राह्मणवर्ग, जो वज्रयानियों के दबदबे में आकर सामाजिक स्तर पर अपनापन खो बैठा था, उनके साथ हो गया। इन ब्राह्मणों के परामर्श के अनुसार अनन्तवर्मा ने श्री जगन्नाथजी के लिए एक भव्य तथा उत्तुंग मन्दिर निर्मित करवाने की योजना बनायी और अपने शासनकाल में ही 'श्रीमन्दिर' की नींव डाल दी।

इसी धर्मप्राण राजवंश के अन्यतम राजा राघवदेव के शासनकाल में उड़ीसा के पुरी जिले की पुण्यतोया प्राची नदी के किनारे किन्दुबिल्व नामक ब्राह्मण-संकुल गाँव में अमर कवि जयदेव का आविर्भाव हुआ। ये श्री जगन्नाथजी के अनन्य भक्त थे। 'गीत-गोविन्द' की रचना के साथ-साथ ये अपने आराध्यदेव श्री जगन्नाथजी की भी उपासना करते रहे। मैथिल कवि चन्द्रदत्त ने अपनी 'भक्तमाला' में इस सम्बन्ध में लिखा है :

जगन्नाथपुरीप्रान्ते देशे चैवोत्कलाभिधे।
किन्दुबिल्व इति ख्यातो ग्रामो ब्राह्मणसंकुलः॥

तत्रोत्कले द्विजो जातो जयदेव इति श्रुतः।
विद्याभ्यासरतः शान्तः पुरुषोत्तमपूजकः॥

निर्माय गीतगोविन्दं पुस्तकं पुरुषोत्तमे।
निवेद्य कृतकृत्योऽभूत्, जयदेवो महामनाः॥

चन्द्रदत्त ही नहीं, मैथिल कवि केशव मिश्र ने भी अपने 'अलंकार-शेखर' नामक ग्रन्थ में 'गोवर्द्धन आचार्य' का एक श्लोक उद्धृत किया है, जिससे जयदेव की उत्कलीयता के बारे में स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध होता है :

ये केऽप्युत्कलभूपते तव सभा-सम्भाविताः पण्डिता-
स्तत्र श्रीजयदेवपण्डितकविस्तन्मूर्ध्नि विन्यस्यति॥

इन दोनों संस्कृत कवियों के अतिरिक्त हिन्दी के महान् भक्तकवि नाभादासजी के परमशिष्य प्रियादासजी ने अपनी 'भक्तमाल' की टीका में लिखा है :

किन्दुबिल्व ग्राम तामें भये कविराजराज
भर्‍यो रसराज हियो तनमन चाखिये॥

द्विज जैदेव नाम मेरो ही सरूप ताहि।
देवो ततकाल मानि मेरी कही साखिये॥

मराठी कवि महीपति अपने 'भक्तविजय' में उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करते हैं :

जगन्नाथ क्षेत्र समीप जाण।
किन्दुबिल्व ग्राम नामाभिधान॥

ब्राह्मणवंशी अवतार पूर्ण।
तेथे घेतला श्री व्यासे।

त्यानी जयदेव कविने कवण
गीतगोविन्द ग्रन्थ केला॥

उत्कल के वरदपुत्र महाकवि जयदेव ने 'गीत-गोविन्द' की रचना ईसा की १२वीं शती में की थी। उसमें 'श्रीराधा-कृष्ण का 'रतिकेलि-कलाविलास' ही मुख्य वर्णनीय विषय है। जयदेव ने प्राचीन उत्कलीय परम्पराओं में से दशावतार वंदना तथा माधव-उपासना की झलक गीत-गोविन्द के प्रारम्भ में देकर अपनी जातीयता का परिचय दिया है :

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।

इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधा-माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः॥

ईसा की छठी शती के उत्कलीय नरपति माधवराज के अभिलेख में इष्टदेव के रूप में 'चक्रधर भगवान् माधव' (**प्रवृत्तचक्रचक्रधर इव भगवान् माधवः श्रीमाधवराजकुशली**) का उल्लेख मिलता है।

ईसा की नवीं शताब्दी के राजा शत्रुभंज ने बौदकन्धमाल जिले के गन्धराड़ी नामक स्थान में 'नीलमाधव' की प्रतिष्ठा की थी। उस मन्दिर में शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी 'नीलमाधव' की भव्यमूर्ति विराजमान हैं। शत्रुभंज त्रिभुवनकलस नामक एक अन्य राजा ने 'सन्तोषमाधव' की प्रतिष्ठा की थी। गंगवंश के अन्यतम शासक इन्द्रवर्मा द्वारा ईसवी सन् ८११ में 'लोकमाधव' की प्रतिष्ठा हुई थी। पुरी जिले के कंटिलो तथा निआली नामक ग्रामों में अब भी नीलमाधव की भव्यमूर्तियाँ विद्यमान एवं पूजित हैं।

इन माधव-विग्रहों के अतिरिक्त प्राची नदी के तट पर 'त्रिवेणीमाधव' आदि बारह माधवों की स्थापना की गयी थी। उत्कल के पुण्यपीठ जाजपुर की 'वैतरणी' नदी के किनारे भी 'आदि माधव, अनन्त माधव, चम्पक माधव, प्रसन्न माधव, भोग माधव, गोविन्द माधव आदि द्वादश माधवों की स्थापना हुई थी।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जयदेव के पूर्ववर्ती काल से उड़ीसा में माधव-उपासना की परम्परा चली आ रही थी। परवर्ती काल में शैवों, शाक्तों तथा तन्त्रयानियों के प्रभाव के कारण यह माधवीय-परम्परा लुप्तप्राय हो गयी, लेकिन परम वैष्णव गंगवंशीय राजाओं की सहायता से उड़ीसा में फिर माधव-उपासना जीवन्त हो गयी। महाकवि जयदेव द्वारा गीत-गोविन्द में भगवान् माधव की जय-गाथा गाने का यही रहस्य है।

कविराज जयदेव की एक अन्य उल्लेखनीय परम्परा है 'दशावतार-वर्णन।' इन्होंने मंगलाचरण-श्लोकों के उपरान्त गीति-छन्द में दशावतारों की स्तुति की है। कवि जयदेव श्रीजगन्नाथ को परब्रह्म तथा 'दशाकृतिकृत' मानते थे। इसीलिए इन्होंने 'केशवधृत दशविधरूप, जय जगदीश हरे' गाकर अपनी श्रद्धा समर्पित की है। इससे यह भी विदित होता है कि जयदेव श्रीकृष्ण और श्रीजगन्नाथ में अभेद-भावना रखते थे।

'गीत-गोविन्द' में श्रीराधाकृष्ण की अमूर्त लीलाओं के वर्णन हुए हैं। काव्यशास्त्र के अनुसार कवि जयदेव ने इस संगीतमय महाकाव्य में विप्रलंभ श्रृंगार की अनोखी छटा प्रस्तुत की है।

'गीत-गोविन्द' की कथावस्तु को बारह सर्गों में विभक्त किया गया है जिनमें कायिक चेष्टाओं की परिपूर्णता पायी जाती है। कवि जयदेव की ऐसी अनोखी कलात्मक कृति की भारतभर में अनेक अनुकृतियाँ पायी जाती है। उन अनुकृतियों में उत्कलीय कवियों की अनुकृतियाँ लगभग बीस हैं। उनमें श्रीराधाकृष्ण-चरित पर आधारित कुछ कृतियों का विवरण यहाँ दिया जाता है।

कविचन्दराय दिवाकर मिश्र ने 'गीत-गोविन्द' की पहली अनुकृति 'अभिनव गीत-गोविन्द' के नाम से ईसा की १५वीं शती में की थी। ये उस समय के अन्यतम पण्डित थे। पहले ये कर्णाटाधिप कृष्णदेवराय की सभा में थे। अपनी प्रसिद्ध काव्यकृति 'भारतामृत-महाकाव्य' में इस तथ्य का उल्लेख करते हुए ये कहते हैं :

कर्णाटाधिपकृष्णरायसदसि ख्यातस्य विद्वत्तया।

'अभिनव गीत-गोविन्द' की रचना करके इन्होंने उसे अपने संरक्षक राजा गजपति पुरुषोत्तमदेव को समर्पित किया है। यह गीतकाव्य दस सर्गों में विभाजित है। इन सर्गों के नामों से पता चलता है कि कवि ने ऐसा करते हुए गीत-गोविन्द को सामने रखा है :

इति श्रीपुरुषोत्तमदेवगजपतिकृते अभिनव-गीतगोविन्दे विरहिणीवर्णने विधुरो राधो नाम प्रथमः सर्गः।
नायिकाभिलाषवर्णने सोत्कण्ठवैकुण्ठो नाम द्वितीयः सर्गः।
अभिसारिकावर्णने मुदितराधो नाम तृतीयः सर्गः।
कलहान्तरितावर्णने मूढराधो नाम चतुर्थः सर्गः।
विप्रलब्धावर्णने विदग्धमाधवो नाम पञ्चमः सर्गः।
वासकसज्जावर्णने संक्षुब्धराधो नाम षष्ठः सर्गः।
खण्डितावर्णने विलक्षपुण्डरीकाक्षो नाम सप्तमः सर्गः।
मानिनीवर्णने अकुण्ठो वैकुण्ठो नाम अष्टमः सर्गः।
प्रोषितभर्तृकावर्णने अनुकूलो राधो नाम नवमः सर्गः।
स्वाधीनभर्तृकावर्णने नन्दमुकुन्दो नाम दशम सर्गः।

आचार्य जयदेव ने केवल दस-बारह रागों के प्रयोग से गीत-गोविन्द की चौबीस गाथाओं को गाने के लिए निर्देश किया है, लेकिन 'अभिनव गीत-गोविन्द' के रचयिता ने उन राग-रागिनियों में से कर्णाट, गोण्डकिरी, मंगलगुज्जरी, वसन्त, रामकिरी आदि छह रागों को ग्रहण करते हुए पचपन गीत-छन्दों का प्रयोग अपनी रचना में किया है। ये राग हैं : अमरपंचम, आभारी, ककुभ, गान्धार, घण्टारव, चिन्तादेशी, छायानट, तोड़ी, दीपक, देशाक्ष, धनाश्री, नटनारायण, नारायण गौड़ा, पूरबी, बेलाबली, भूपाल, मल्लार, मालश्री, रेहगुप्ति, ललित, शंकराभरण, सामबराड़ि, सोम, हिन्दोल आदि।

महाकवि जयदेव ने श्रीराधा-माधव की 'रहःकेलि' का जय-जयकार करके 'गीत-गोविन्द' का प्रारम्भ किया है। ठीक इसी तरह 'अभिनव गीतगोविन्द' के रचयिता ने श्रीकृष्ण की सुरीली 'साकूत वेणुध्वनि' की स्तुति करके काव्य का श्रीगणेश किया है :

कालिन्दीजलकेलिलोलतरुणी-रावीत-चीनाम्बरा
निर्गत्याङ्गजलानि सारितवती आलोक्य सर्वा दिशः।

तीरोपान्तमिलन्निकुञ्जभवने गूढं चिरात्पश्यतः
शौरेः सम्भ्रयन्निमां विजयते साकूतवेणुध्वनिः॥

इस 'मंगलाचरण'-श्लोक के बाद कवि ने सरस्वती की वन्दना को है। उसके उपरान्त खलजनों की निन्दा तथा परोक्षरूप से अपनी कविता की प्रशंसा करते हुए 'गीत-गोविन्द' के श्लोक **'वाग्देवता-चरितचित्रितचित्तसद्मा'** की भाँति वे लिखते हैं :

राधामुराररिमणोय-रहस्यलीला-सन्दोहसुन्दरममन्दगुणाभिरामम्।
साहित्यसार-समुदायबुधः प्रबन्धमेतं करोति पुरुषोत्तमभूमिभर्ता॥

श्री जयदेव ने मंगलाचरणसमेत अन्य प्रशस्ति-श्लोकों की रचना के उपरान्त दशावतारी श्री जगन्नाथजी के मत्स्य, कूर्मादि अवतारों की स्तुति की है। राजकवि पुरुषोत्तम ने भी ठीक इसी तरह जयदेवीय परम्परा की अनुकृति की है :

वारिपूरित-गगनकन्दर - जलधिमग्न - महासुरं
शंखनामकमाशु जित्वा कलितवेदमनातुरम् ।
नमत मीनशरीरमद्भुतमखिलमुनिजनवन्दितं
जनन - पालन - नाशकारण - नीलगिरिपतिमच्युतम् ॥

दशावतारों की स्तुतियों में कविराज जयदेव ने नवम अवतार के संदर्भ में **‘निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्’** आदि लिखकर भगवान् बुद्धदेव का वर्णन किया है, लेकिन राजकवि पुरुषोत्तम ने श्री जगन्नाथजी को परब्रह्म का अवतार मानकर बुद्ध की जगह श्रीकृष्ण की वन्दना की है :

गोप-गोकुलरक्षणक्षण-धारितातुलभूभृतं
नीलमणिमय-दण्डसङ्गतमालपत्रमिवोधृतम् ॥
नमत कंसासुरनिसूदनमखिलमुनिजनवन्दितं
जनन-पालन-नाशकारण-नीलगिरिपतिमच्युतम् ॥

‘अभिनव गीत-गोविन्द’ के प्रत्येक सर्ग की पुष्पिका से पता चलता है कि राजकवि ने ‘गीत-गोविन्द’ की कथावस्तु के पदचिह्नों पर अपनी रचना का प्रवाह आगे बढ़ाया है और नायिका श्रीराधा की भिन्न-भिन्न स्थितियों—जैसे अभिसारिका, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, वासकसज्जा, खण्डिता आदि—का वर्णन विशेष रूप से किया है ।

‘गीत-गोविन्द’ के अन्तिम सर्ग में श्रीराधा प्रियतम यदुनन्दन से ‘निधुवन-क्रीड़ा’ के अनन्तर वेश-रचना के लिए अनुरोध करती हैं। जयदेव ने श्रीराधा द्वारा **‘कुरु यदुनन्दन चन्दनशिशिरतरेण करेण पयोधरे’** अथवा **‘रचय कुचयोः पत्रं चित्रं कुरुष्व कपोलयोः’** वर्णन करके रसिक पाठकों तथा भक्तजनों को प्रमुदित किया है। किन्तु ‘अभिनव गीत-गोविन्द’ की नायिका श्रीराधा के प्रियतम मानमयी प्रियतमा के अनुगत जन की तरह स्वयं उनकी वेश-रचना करते हुए कहते हैं :

संयमयामि सुकेशि मनोरम-विगलित-कबरीभारम् ।
प्रणय-महीरुहे फलमिह विदधे चन्दन-तिलकमुदारम् ।

● ● ● ●

आभरणानि यथापदमिह तव निदधे वपुषि निकामम् ।
नृप-पुरुषोत्तम-गीतं सुभगं भावयतु प्रियकामम् ॥

राजकवि की रचना में एक उल्लेखनीय विशेषता यह पायी जाती है कि आपने मंगलाचरण के उपरान्त एकबार दशावतारों की स्तुति करने के बाद अन्त में पुनः उनका वर्णन पाँच श्लोकों में किया है और सर्ग के अन्तिम श्लोक में चिदानन्दमय, सृष्टिक्रिया के हेतुभूत, विश्वत्राण-परायण तथा मायाकल्पित-मूर्ति श्री जगन्नाथजी को प्रणाम-निवेदन किया है :

नित्यानन्दचिदात्मकाय सहजप्रद्योतमानत्विषे
हृत्पद्मान्तरवासिने-ऽखिलजगत्सृष्टिक्रियाहेतवे ।
विश्वत्राणपरायणाय समये तस्यैव संहारिणे
मायाकल्पितमूर्तये भगवते देवाय तुभ्यं नमः ॥

उड़ीसा राज्य-संग्रहालय की एक पुस्तक से सूर्यवंशीय राजागजपति श्रीपुरुषोत्तमदेव की विरुदावली के साथ 'अभिनव गीत-गोविन्द' की प्रतिलिपि के बारे में सूचना दी गयी है, जिससे पता चलता है कि उस पुस्तक की प्रतिलिपि श्रीधर शर्मा नामक किसी लिपिकार ने ७ अप्रैल, रविवार १४६४ ई० को की थी।

उड़ीसा के इतिहास से पता चलता है कि सूर्यवंशी गजपति पुरुषोत्तमदेव १४६६ ई० से लेकर १४९७ ई० तक राजगद्दी पर विद्यमान थे। 'अभिनव गीत-गोविन्द' की प्रतिलिपि १४६४ ई० में होने के कारण उसकी मूल रचना कम से कम बीस-पचीस साल पहले हुई होगी।

उत्कल में 'गीत-गोविन्द' की अनुकृतियों में दूसरी पुस्तक है : राय रामानन्द पट्टनायक द्वारा लिखित 'श्रीजगन्नाथवल्लभ' नाटक। भक्तकवि राय रामानन्दजी पट्टनायक गजपति पुरुषोत्तमदेव के सुपुत्र गजपति प्रतापरुद्रदेव (१४७९-१५३४ ई०) के अधीन राजमहेन्द्री के शासक थे। कवि श्रीपट्टनायक ने अपने आश्रयदाता प्रतापरुद्रदेव की सन्तुष्टि के लिए श्रीराधाकृष्ण-लीलामृत पर आधारित 'श्रीजगन्नाथवल्लभ' नाटक की रचना की थी। आपने नाटक के प्रारम्भ में राज-प्रशस्ति के साथ-साथ नाटक की रचना के बारे में भी लिखा है :

यन्नामापि निशम्य सन्निविशते सेकन्दरः कन्दरं
स्वं वर्गं कलवर्ग-भूमितिलकः सास्त्रं समुद्वीक्ष्यते।
मेने गुर्जरभूपतिर्जरदिवारण्यं निजं पत्तनं
वातव्यग्रपयोधिपोतगमिव स्वं वेद गौडेश्वरः॥

श्रीभवानन्दरायस्य तनुजेन श्रीहरिचरणालङ्कृतं श्रीजगन्नाथवल्लभं नाम गजपतिप्रतापरुद्रदेवप्रियं रामानन्दसङ्गीतनाटकं निर्माय समर्पितमभिनेष्यामि।

यह नाटक पाँच अंकों में पूर्ण हुआ है। इसकी कथावस्तु ठीक 'गीत-गोविन्द' की तरह श्रीराधाकृष्ण की लीलाओं पर आधारित है। कवि रामानन्द ने इसमें अठारह गीतों का सन्निवेश किया है, साथ ही कई रागों का भी निर्देश है। ये राग हैं : नट, केदार, वसन्त, गोण्डकिरी, गान्धार, तोड़ी, वराड़ी, सामगुज्जरी, मल्हार, देशख्य, कर्णाट, मालव, ललित, मंगलगुज्जरी, रामकेरी, सामतोड़ी आदि।

कवि ने नाटक के पाँच अंकों में पूर्वराग, भाव-परीक्षा, श्रीराधाभिसार, श्रीराधासंगम आदि लीलाओं का वर्णन किया है। इन्होंने 'श्रीजगन्नाथ-वल्लभ' में अठारह गीतों के बहत्तर श्लोकों का उल्लेख भी किया है। 'गीत-गोविन्द' के षष्ठ सर्ग में वर्णित श्रीराधा की कामदशा 'पश्यति दिशि दिशि' की तरह सखी मदनिका से कहलवाया है :

निरवधि - नयन-सलिल-भवसादे।
पतित-कृशा परिचलति न पादे॥

माधव मनसिज-गुरुतर-बाधा।
हरि हरि कथमपि जीवति राधा॥

शिव शिव शमयति तदपि न कामम्।
निवससि चेतसि कथमिव वामम्॥

गजपति - रुद्र - नृपति - मविगीतं ।
सुखयतु रामानन्द-सुगीतम् ॥

आलोचकों तथा अनुसंधाताओं के मतानुसार यह कहा जा सकता है कि भक्तकवि रामानन्द पट्टनायक ने श्रीचैतन्यदेव के उड़ीसा-आगमन के पहले 'श्रीजगन्नाथवल्लभ' नाटक की रचना की थी, जिसे सुनकर महाप्रभु के मन में अतुलित आनन्द का संचार हुआ था। रामानन्द के सिद्धान्त 'अचिन्त्य-भेदाभेद' के गूढतत्त्वों से श्रीचैतन्यदेव अत्यन्त प्रभावित हुए थे और उन्हें गुरुवत् सम्मान दिया था।

'गीतगोविन्द' की शैली में निर्मित तीसरी उत्कलीय रचना है: 'रुक्मिणीपरिणय महाकाव्य'। उड़ीसा के दक्षिणांचल में स्थित बौद-राज्य के अधिपति नारायणभंज द्वारा इसकी रचना ईसा की १६वीं शती के पूर्वार्ध में हुई थी। इसमें मात्र छह सर्ग और चालीस श्लोक हैं। प्रत्येक सर्ग में दो-दो अर्थात् कुल बारह गीति-कविताएँ हैं। इन बारह गीतों में ग्यारह रागों का प्रयोग हुआ है। ये हैं: कर्णाट, कामोद, गुज्जरी, गौरी, दक्षिणश्री, देशाख्य, भैरवी, बराड़ी, वसन्त, मालव तथा मालवगौड़ा। 'रुक्मिणी-परिणय' के प्रत्येक सर्ग की कथावस्तु सर्गों की पुष्पिकाओं से संकेतित होती है। यथाः

इति श्रीभंजवंशावतंस-कंसारिचरणाम्बुजमधुकर-नारायणदेवकृतौ
रुक्मिणीपरिणये महाकाव्ये रुक्मिणीवर्णनं नाम प्रथमः सर्गः।
वैदर्भीपूर्वानुरागो नाम द्वितीयः सर्गः।
विवाहोद्योगो नाम तृतीयः सर्गः।
दूतीसम्भाषणो नाम चतुर्थः सर्गः।
द्विजदूतो नाम पञ्चमः सर्गः।
विवाहो नाम षष्ठः सर्गः।'

राजा नारायणभंज ने अपने पूर्ववर्ती गीतकाव्यों-'गीत-गोविन्द', 'अभिनव गीत-गोविन्द' तथा 'श्रीजगन्नाथवल्लभ' नाटक से प्रोत्साहित होकर ग्यारह गीति-छन्दों के प्रयोग द्वारा बारह गीतों की रचना की है। ये कविताएँ 'गीत-गोविन्द' आदि पूर्ववर्ती काव्यों से निम्नकोटि की होने पर भी उस परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ हैं। उदाहरण के रूप में यहाँ 'गीत-गोविन्द' की लोकप्रिय कविता 'ललित-लवङ्गलता-परिशीलन, कोमल-मलय-समीरे की अनुकृति पर आधारित 'वसन्त' राग में लिखित एक गीत उद्धृत किया जाता है:

सुमधुर-कोकिल - मधुकर-कूजित,
मुखरित-नगरवनान्तम् ।
प्रविशति तव विरहाकुलमतिशय-
मिममुपकुरु तव कान्तम् ॥

कुरु सखि न विफलमिह मधुकाले ।
यौवनभरमिममायत-लोचन-
मधुरिपुमनुसर बाले ॥

मुकुलित - किंशुक-बकुल - रसाल-
केतकि-सकल-सुकान्तम् ।
मलयज-धीर-पवनमपि कलयति,
तव विरहे स दहन्तम् ॥
मधुरिपुरपि सखि मधुसमयप्रति-
भयमुपयाति सखेदम् ।
ऋतमवधेहि समयमनुप लय,
हरिहृदयं त्वदभेदम् ॥
मधुमथनेतर-तरुण-नवीनतर-
सुन्दर-मनोरथ-नीतम् ।
श्रवणपथं नय मधुरतरं
जननृप-नारायण - गीतम् ॥

संस्कृत गीति-परम्परा में लिखित 'गीत-गोविन्द' की चौथी अनुकृति है 'मुकुन्द-विलास'। इसकी रचना १६६७ ई० में बाणपुर के राजा श्रीजगन्नाथ हरिचन्दन के आश्रय में यतीन्द्र रघूत्तम तीर्थ द्वारा हुई थी। गीत-गोविन्द की तरह इस गीत-काव्य में भी बारह सर्गों का विधान हुआ है और उसका प्रतिपाद्य गोपीनाथ श्रीकृष्ण की लीलाएँ हैं। कवि यतीन्द्र रघूत्तम अद्वैत-संप्रदाय के अनुयायी थे। अतः इस रचना में 'अद्वैत-सिद्धान्त' की झलक पायी जाती है। मुकुन्द-विलास के मंगलाचरण के श्लोकों के उपरान्त श्री जगन्नाथजी के वर्णन में अपने सिद्धान्त का परिचय देते हुए यतीन्द्र रघूत्तमतीर्थ ने "यो द्वेधा प्रकृतिः पुमान्" प्रतीक का श्लोक लिखा है जो प्रस्तुत भूमिका के प्रारंभ में उद्धृत है।

बाणपुर-नरेश जगन्नाथ हरिचन्दन के इष्टदेव दक्षेश्वरजी की परितुष्टि के लिए इस मनोरम काव्य की रचना की गयी थी। कवि ने लिखा है :

श्रीजगन्नाथदेवस्य श्रीबाणपुरपालिनः ।
शिवस्य परितोषाय काव्यमारभ्यते मया ॥

भक्तकवि रघूत्तम के इस गीत-काव्य में सर्गों का विभाजन इस तरह हुआ है :

इति श्रीमुकुन्दविलासे महाकाव्ये यतीन्द्ररघूत्तमतीर्थपादकृतो
गोपीपूर्वानुरागप्रकटनं नाम प्रथमः सर्गः ।

इसी तरह यथाक्रम अन्य सर्गों में गोपी-वाग्विलास, नारद-उपदेश, गौरीशंकर-पूजन, गोपी-पटापहरण, गोपी-कामोद्दीपन, गोपी-विरह, मुकुन्द-विरह, गोपी-गोविन्द-वाग्विलास, रास-विलास, गोपी-कृष्ण-जलक्रीड़ा आदि का वर्णन हुआ है।

'मुकुन्द-विलास' के कथा-प्रवाह की यह विशेषता है कि इसमें श्रीराधा का नाम कई श्लोकों में वर्णित होने पर भी लीलाओं के वर्णन में उनका प्राधान्य परिलक्षित नहीं होता। कवि द्वारा **'राधा-कृष्ण-तनूधरो विजयते', 'श्रीराधिका-बल्लभम्', 'चिन्तयन्तं राधिकाबन्धुम्'** आदि का उल्लेख कई स्थलों पर किये जाने पर भी कथावस्तु में श्रीराधा की प्रधानता नहीं है, किन्तु गोपियों की लीलाएँ ही विशेष रूप से प्रकटित हुई हैं।

यतीन्द्र रघूत्तम ने 'मुकुन्द-विलास' के छंदों को सुगेय बनाने के लिए अनेक रागों का समावेश किया है। ये राग हैं : तोड़ी, मल्हार, मंगलगुज्जरी, बालधनाश्री, वसन्त, सिन्धुड़ा, ललित, मालवगौड़ा, मालश्री, गुण्डकिरी, गौरी, सामगभा, सारंग, केदार आदि।

नटनागर श्रीकृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए देवर्षि नारद के उपदेशानुसार गोपियाँ गिरिराज-सुता की स्तुति करती हैं। कवि रघूत्तम ने उस गीत को गीत-गोविन्द के **'श्रितकमलाकुचमण्डल'** की शैली पर लिखकर अत्यन्त मनोज्ञ तथा सरस बना दिया है :

प्रणतजन-प्रियकारिणि, भयहारिणि,
विमलकमलमुखि देवि, जय गिरिराजसुते।
स्मरहर-कामदकामिनि गजगामिनि,
सुरुचिर-काञ्चनगौरि जय गिरिराजसुते।
सुरगणसम्भवकामिनि वरदायिनि
हतवति महिषवरं जय गिरिराजसुते।
अमरचय-स्तुति - तोषिणि, रणरोषिणि,
भुवनमनोहरशीले, जय गिरिराजसुते॥

× × ×

कुरु मम नन्दसुतं पतिं मम सङ्गतिम्,
अनघ-रघूत्तमगीते, जय गिरिराजसुते॥

और भी कई स्थलों पर कवि ने गीत-गोविन्द की तरह अपनी कविताओं को कोमल-कान्त-पदावली से रंजित कर जनमानस को भक्तिभाव-प्लावित करने का प्रयास किया है। रासरसिक श्रीकृष्ण की अनिर्वचनीय शोभा का वर्णन करते हुए नारदजी कहते हैं :

विकचकुन्द कुमुदवृन्द मल्लो लसति कानने।
कैरववन सुरभि-पवन मृदु नवदल-चालने।
पश्यत वनमालिनं रास-नटन-शालिनम्॥
सकलचन्द्र विमलसान्द्र किरणराजि-राजिते।
कुसुमपुञ्ज रुचिर-पुञ्ज मधुपमधुर-गुञ्जिते॥
मदनरङ्ग युवतिसङ्ग रसतरङ्ग-चञ्चलम्।
प्रियतमाली मुखनिभाली चारु चटुलमञ्जुलम्॥
झणिति झणिति शिञ्जिततति नर्त्तित-शतकामिनीम्।
नवनव रसरास रभस कोटिगुणित यामिनीम्॥
इदमघहर विहरणवर-मखिलसदनुमोदितम्।
चिन्तय हृदि धृत-मुरभिदि यतिरघूत्तम-मोदितम्॥

'श्रीकृष्ण-लीलामृत' कवि नित्यानन्द की एक प्रौढ़ रचना है। ये उड़ीसा के नयागढ़ राज-दरबार के सभाकवि थे। आरंभ में इन्होंने 'शिव-लीलामृत' की रचनाकर राजा गदाधरसिंह मान्धाता (१७ वीं शती ई०) को समर्पित किया था।

इस रचना में शिव की लीलाओं का मनोरम वर्णन किया गया है। 'गीत-गोविन्द' की शैली पर आधारित होने पर भी यह एक सफल गीतिकाव्य नहीं कहा जा सकता।

इसमें जो कमी रह गयी थी उसे कवि ने 'श्रीकृष्ण-लीलामृत' नामक अपनी दूसरी रचना में पूरा किया है। उस समय नयागढ़ छोड़कर वह एक दूसरे देशीराज्य खण्डपड़ा के राजा वनमाली सिंह के आश्रय में चला गया था। अतः यह उन्हींको समर्पित है। 'श्रीकृष्ण-लीलामृत' के प्रत्येक गीत के अन्त में राजा वनमाली-सिंह का नाम आया है। काव्य के प्रारम्भ में भी इसका निर्देश है :

गर्गान्वयोदन्वदुदीतशीतधामाभिरामा कृतिरुग्रधामा।
श्रीमान् य आसीद् वनमालीनामा नृपोऽर्थकामाधिकदानशौण्डः॥

तदीयनामाङ्कित-गीतबन्धं कर्त्तुं प्रवर्ते रुचिरं प्रबन्धम्।
श्रीकृष्णपादाम्बुज - भृङ्गगेयं श्रीकृष्ण-लीलामृत-नामधेयम्॥

इस रचना में श्रीकृष्ण की रासलीलाओं का 'गीत-गोविन्द' की ही शैली पर वर्णन है। इसके आठ सर्गों में 'गोपिका-पूर्वानुराग, कैशोर-लीला, श्रीराधा-विरहावतार, कामित-राधामाधव, विरहीवर-वर्णन, दुःसाध्य-राधा, प्रमुदित-माधव, सानन्द-मुकुन्द आदि प्रसंगों की अवतारणा की गयी है। उसके साथ ही प्रस्तुत ग्रंथ में अड़तीस गाथाएँ तथा उन्तीस रागों का समावेश है। ये राग हैं : 'आशावरी, आहारी, कर्णाट, कल्याण-आहारी, कामोदी, केदार, गौरी, चिन्ताकेदार, दक्षिण- कामोदी, देशक्ष, धनाश्री, नट, नाद, भैरव, भैरवी, मंगलगुज्जरी, मल्हार, मालव, मुखावरी, रामकेरी, ललित, वराड़ी, वसन्त, विभास, शंकराभरण, सारंग, सौराष्ट्रगुज्जरी आदि।

'श्रीकृष्ण-लीलामृत' में काव्यशास्त्रानुमोदित नायिकाओं के चरित्र-चित्रण, विप्रलम्भ, सम्भोग आदि का वर्णन 'गीत-गोविन्द' की भाँति ही सुचारु रूप से किया गया है। कोमल-कान्त-पदावली के संयोग से वह अत्यन्त आकर्षक बन गया है। नमूने के रूप में श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन तथा विरहिणी राधा की मदनावस्था के चित्रण-विषयक गाथाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :

पश्यत नन्दकुमारं प्रणमत नन्दकुमारम्।
रुचिरतनुरुचि-गुञ्जितमारं मञ्जुकुसुम-सुकुमारम्॥

मुरली-वादन-लोलम्।
कुण्डल-लुलित-कपोलम्॥

कनक-रुचिररुचि-पीतनिचोलम्।
विटपि-विटप कृत-दोलम्॥

व्रजपुर-बालकखेलं वदनविधूतविधुहेलम्।
तपनसुतातट-विहरणशीलम्।
विधिविस्मापन-लीलम्॥

तनुजित-मसृणसारं तरल-हृदय-मणिहारम्।
वनमालीमतिकरुणमुदारं तरुणसुभगमतिसारम्॥

× × ×

अविरतविगलित-नयनजलार्जित-जर्जरभावदुकूला ।
न वदति किञ्चन रहसि सखीजनमपि कुतुकप्रतिकूला ।
माधव ! तव विरहे बत राधा
ध्यायति किमपि निमीलितलोचनमुपचित-मनसिजबाधा ॥
अशन-वसनमपि विष-विषधरमिव
पश्यति नश्यति लीला ।
दक्षिणमनिलमनलमिव सम्प्रति
परिहरति भ्रमशीला ।
माधव……………………।
प्रणयिजनाय मनागपि नेच्छति
नयनाञ्चलमपि दातुम् ।
यतते सततमुपायशतै रजनीकर-करमपिधातुम् ॥
माधव………………………॥
सजल-नलिनदल-संचय-कल्पित-
तल्पग-सुभगशरीरा ।
स्मरति भवन्तमृते वनमालिन-
मपरं न परमधीरा ॥
माधव…………………… ॥

इस गीत-काव्य में कवि नित्यानन्द को 'शिव-लीलामृत' से कहीं अधिक सफलता मिली है । आलोच्य कवि ने जयदेव के पदचिह्नों पर चलने का प्रयास करते हुए 'गीत-गोविन्द' की अमृत-निःस्यन्दिनी शब्दावली के स्वारस्य से भक्तों के हृदय को अनुरंजित करने का स्तुत्य कार्य किया है ।

'श्रीकृष्ण-भक्त-वात्सल्य' नाटक के रचयिता राजा रामचन्द्र गजपति १५६८ ई० में राजगद्दी पर अधिष्ठित हुए थे । ये कवियों और विद्वानों का सम्मान करते थे । इन्होंने स्वयं भी संस्कृत और उड़िया में ग्रन्थों की रचना की है । इनके द्वारा रचित 'श्रीकृष्ण-भक्त-वात्सल्य' नाटक में श्रीकृष्ण की लीलाओं की झाँकी मिलती है । इसे नाटक न कहकर 'एकांकी' कहना अधिक समीचीन होगा । इस एकांकी में वासुदेव श्रीकृष्ण की भक्त-वत्सलता मनोरम ढंग से अंकित की गयी है । श्री जगन्नाथजी के 'गुण्डिचा-महोत्सव' अथवा रथयात्रा के अवसर पर इस एकांकी का प्रदर्शन हुआ था । इसलिए कवि ने नाटिका के मंगलाचरण के उपरान्त सूत्रधार से कहलवाया है :

'अये ! अद्य खलु नीलशैलशिरोमणेः भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्य केनापि कारणेनाऽनवसररसप्रयुक्त-हृदयस्य साम्प्रतं अभिनवेन्द्रद्युम्ने गजपतौ श्रीरामरम्यचरणकमलरोलम्बरामचन्द्रदेवे कोटिजन्मार्जित-सुकृत-प्रभावातिकृपावशतः दारुमयमधुरमूर्तेः पुण्डरीकाक्षस्य गुण्डिचामहोत्सवोऽयं तदनन्तरसंस्थः भगवन्तमनादि-मध्यान्तमनन्तमालोक्य जन्म सफलयामि ।

गजपति रामचन्द्रदेव के दरबार में जीवदेव आचार्य के सुपुत्र श्रीजयदेव ने 'पीयूष-लहरी' नामक एक एकांकी की रचना की थी । इस एकांकी में श्रीकृष्ण की रासलीला का वर्णन है । इसकी भाषा सरल, सुबोध और गीत-गोविन्द की शैली पर आधारित है । कवि ने इस एकांकी में उत्कल के प्रतिष्ठित विग्रह

श्रीजगन्नाथ तथा रासरसिक श्रीकृष्ण की अभेद-कल्पना की है। कवि ने स्वयं इस एकांकी का प्रदर्शन श्रीमन्दिर के नाट्यमण्डप में किया था। इसके आरम्भ और अन्त का अंश नीचे दिया जाता है :

अहो भगवतो भागवतजनशीतमयूखस्य नीलाचलमौलिमण्डनमहानीलमणेर्गरुडध्वजस्य प्रासादे प्रसादमिलिताः सामाजिकाः—

शुभमस्तु सर्वजगतां निरन्तरं
न रिपोरपि स्फुरतु वैपदं पदम्।
जगदीश्वरकपटदारुविग्रहः
करुणकटाक्षलहरीं विमुञ्चतु ॥

इति श्रीमत्कविडिण्डिम-पण्डितभूजीव-जीवदेवभव-जयदेवकृता श्रीकृष्ण-लीलाविधायिनो पीयूष-लहरी समाप्ता।

उड़ीसा के महान् संगीतज्ञ तथा भक्त कवि श्रीकृष्णदास बड़जेना महापात्र ईसा की १६वीं शती के अन्यतम कलाकार थे। ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार ये उत्कलीय गजपति मुकुन्ददेव के सभाकवि तथा माने हुए संगीतज्ञ थे। कहा जाता है कि इन्होंने दिल्ली जाकर बादशाह अकबर को अपनी कला का चमत्कार दिखाया था जिसके कारण 'आइने अकबरी' में इनके बारे में प्रशंसात्मक उल्लेख है।

इनके द्वारा 'गीत-प्रकाश' शीर्षक एक संगीत-ग्रंथ की रचना हुई थी। इनकी लेखनी से 'राधाकृष्ण-केलि' शीर्षक एक गीत-काव्य भी निस्सृत हुआ था। इस पुस्तक की पूर्ण प्रतिलिपि प्राप्त नहीं है, फिर भी उपलब्ध पृष्ठों से यह पता चलता है कि इन्होंने 'गीत-गोविन्द' की कोमल-कान्त-पदावली का अनुसरण किया है। यथा :

किञ्चिदुपञ्चय चञ्चलनयने
सञ्चित - बहुलावण्यम्।
वचनमिदं विधुमण्डलमधुना
सुविशतु मानमगम्यम् ॥
किमिति करोषि कृशोदरि रोषम् ?

• • •

वचनमुदीरय मधुमययामिनि,
मृदुमद-सस्मित-कान्तम्।
राधामाधव-केलि-कथारस-
खचितं नवविधि - गीतम्।
सुखयतु सज्जनचित्तसन्ततं
कृष्णदासकवि - गीतम् ॥

• • •

मुञ्च मानिनि मानतिमिरमयि मुखसुधाकरमुज्ज्वलम्।
कुरु कृशोदरि विरहदहनो दहतु नहि मम मानसम् ॥
वितर सखि विकचाम्बुरुहमुखि,
मधुरतर-मधुरामृतम् ॥

कृष्णदासजी द्वारा लिखित प्राचीन हिन्दी भाषा की भी कुछ रचनाएँ पायी जाती हैं। 'गीत-प्रकाश' ग्रंथ में इन्होंने 'गौरी' राग का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है :

चौआ चन्दन अनु अंगे चढ़ाओ
बढ़ तारे गगन आजुँ है बन्द।
आजुँ कोकिल-धुनि पुन-पुन सुन,
विमल पवन बहु मन्द - मन्द॥
आजुँ गोविन्द मिलत मोरे मन्दिर,
सुनत पुलक - पूरित सब अंग।
हेरत - नयन अमृतरस सिंचत,
कुसुम सेजुँ करत अतिरंग॥

इनकी कृतियों राधाकृष्ण-लीला पर आधारित 'रस-कल्लोल' काव्य उड़िया-साहित्य की अत्यंत लोकप्रिय कृति है।

संगीतज्ञ कृष्णदासजी बड़जेना के परवर्ती बाणपुर के राजा रघुनाथ हरिचन्दन माने हुए काव्यकार तथा संगीतज्ञ थे। इनके दरबार में विष्णुदास नामक एक प्रख्यात पण्डित थे। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि पण्डित विष्णुदास ने कविताओं की रचना में इनकी सहायता की है।

इन्होंने भी गीत-गोविन्द की अनुकृति पर एक गीत-काव्य की रचना की थी। इस ग्रंथ का नाम अबतक प्राप्त नहीं हो सका। केवल संगीत-ग्रंथों में इसके कुछ पद मिलते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हरिचन्दनजी ने राधाकृष्ण-लीलाओं पर आधारित एक गीतकाव्य की रचना की थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

अभिसर नागर यामुनकुञ्जं
प्रकटय बालारति-रसपुञ्जम्॥
वहति मृदुलतर-शीतलवाते,
कथमपि जीवति सा त्वयि याते॥
भामिनी तव गुणगणदीना,
हरिचन्दन प्रभु - रति-रस-लीना॥

× × ×

लोकय सखि विधुरुदयति गगने,
अभिसर सम्प्रति सुरुचिरगमने।
कुचयुगलं कुरु चन्दनसङ्गम्,
वर्द्धय यदुपति मनसिजरङ्गम्।
धारय मञ्जुल-मौक्तिक-हारम्,
हर हर नटवर मदनविकारम्।

वहतु शिरसि हर इह वरगङ्गा,
सन्तत - शोभित - विपुलतरङ्गा।
इह हरि राधा-सङ्गमरचनम्।
बाण-नगर - हरिचन्दन-वन्दनम्।

१७ वीं शताब्दी ई० के कवि शतञ्जीव मिश्र द्वारा 'मुदित-माधव' शीर्षक कृष्णकाव्य की रचना हुई थी। ये उड़ीसा के पूर्वतन खण्डपड़ा राज्य के दरबारी कवि थे। इनके 'मुदित-माधव' ग्रन्थ की प्रतिलिपि अबतक अलभ्य है, किन्तु इनके सुपुत्र अनादि मिश्र द्वारा लिखित 'मणिमाला' नाटिका में 'मुदित-माधव' का एक उद्धरण पाया जाता है :

आः ज्ञातं यज्जनकस्य श्रीशतञ्जीवकवेः मुदित-माधवाभिधगीतकाव्यगानामृतोर्मिणा सामाजिकजन-हृदयं निमज्जयामः।

अनादि मिश्र कविराज शतंजीव मिश्र के सुपुत्र थे। इनके द्वारा 'केलि-कल्लोलिनी' तथा 'रासगोष्ठी-रूपकम्' शीर्षक श्रीराधाकृष्ण-लीलाविषयक दो ग्रंथ लिखे गये थे। 'केलि-कल्लोलिनी' काव्य में पाँच सर्ग हैं। इसकी आलोचना से स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने उड़ीसा में रचित पूर्ववर्ती गीतकाव्यों से प्रेरणा ग्रहण की थी। उदाहरण के रूप में यहाँ उससे तीन श्लोक दिये जाते हैं :

श्रीराधा-कुचकुम्भकुङ्कुमरजोराजी - विराजत्तया,
सन्ध्यादीधिति-सान्द्रसुन्दरतरः निन्दन्नमन्दं नभः।
सुस्मेरः स्मरचन्द्रसागर हृदि श्यामादिरामाजने,
वृन्दारण्यवरेण्य - कल्पविटपी गोपीपतिः पातु वः॥

× × ×

मदनमुदित - राधाकृष्ण - हासैकफेना-
विलसित-रसलीलोल्लोल-कल्लोलिनीयम्॥
प्रतिपदमनुरागा-ऽनल्परागाब्जतुङ्गा,
स्फुरतु रसिकसिन्धौ केलि-कल्लोलिनीयम्॥

× × ×

तुङ्ग-रङ्गसङ्ग-भृङ्गवासितस्य दम्भतः,
कामकामवल्लकीय-सान्द्रमन्द्रमाश्रितम्।
केलिशालि-सारसालि-कूजितस्य कैतवात्,
काञ्चीदाम-शिञ्जितं च यावदेव योषिताम्॥

इनकी दूसरी कृति है 'रासगोष्ठी-रूपकम्'। इसकी रचना इन्होंने खण्डपड़ा के राजा वनमाली जगद्देव की सभा में रहकर की थी। काव्य के मंगलाचरण में रासोल्लास-विलासी भगवान् श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि का वर्णन है। नीचे दी गयी कविता से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गोपीश श्रीकृष्ण की लीलाएँ ही 'रासगोष्ठी-रूपकम्' की विषय-वस्तु हैं।

कालोऽसौ कलहंसकेलि-कलिका-प्रोल्लास-कल्पद्रुमो
गोपीशस्य विलासरासरचितं चित्रं प्रियार्थास्पदम् ॥
धीरश्रीमदनादिविप्र - कविताभावाम्बु-कादम्बिनीं,
सङ्गीताध्वशतानुगा वयमपी-स्यानन्दमास्कन्दति ॥

१८ वीं शती ई० के उत्कलीय संस्कृतज्ञ कवियों में गोविन्द सामन्तराय का स्थान सुप्रतिष्ठित है । ये श्रीनित्यानन्द के अनुयायी तथा प्रसिद्ध स्मृतिकार थे । 'सूरी-सर्वस्व' शीर्षक ग्रन्थ इनकी प्रसिद्ध कृति है। इसके अतिरिक्त इन्होंने १७६८ ई० में 'समृद्ध-माधव' नामक एक रूपक भी लिखा था जिसमें श्रीराधाकृष्ण की लीलाएँ वर्णित हैं। सात अंकों में विभक्त इस नाटक में गोकुल-मंगल, विप्रलब्धा राधा, सानन्द-गोविन्द, लब्ध-मनोरथ, सर्वनिर्वाण, तथ्य-मनोरथ आदि नामों से अंकों का विभाजन हुआ है।

'समृद्ध-माधव' नाटक में प्राप्त सूत्रधार की उक्ति से पता चलता है कि यह नाटक रसों और ध्वनियों से पूर्ण एक सुन्दर रचना है। इसे कवि ने रोचक बनाने का पूरा प्रयास किया है :

तस्य कृतिः कृतिरचिरं,
चिरं रसादिध्वनि - प्रचुरम् ॥
नव्यं काव्यं मुदितं
मधुरं हि समृद्धमाधवं नाम ॥

कृष्णभक्तकवि कमललोचन खड्गराय का आविर्भाव १८ वीं शती में हुआ था । इनके द्वारा रचित 'संगीतचिन्तामणि', 'गीत-मुकुन्द' और 'ब्रजयुव-विलास' आदि रचनाएँ राधाकृष्णविषयक हैं। ये श्रीकृष्ण खड्गराय के सुपुत्र तथा गोविन्द कविभूषण सामन्तराय के पौत्र थे। 'संगीत-चिन्तामणि' ग्रन्थ में श्रीराधाकृष्ण की अष्टकाल-लीलाएँ वर्णित हैं। इसमें 'गीत-गोविन्द' की तरह अनेक राग-रागिनियों का समावेश हुआ है। इसका प्रतिपाद्य विषय श्रीराधाकृष्ण की निशान्त-लीला, प्रातः-लीला, पूर्वाह्न लीला, अपराह्न-लीला, सायाह्नलीला, प्रदोष-लीला, नक्त-लीला और रास-लीला है। इसके गीतों को सुगेय बनाने के लिए कवि ने गुज्जरी, रामकेरी, कामोदी, धनाश्री, मंगलधनाश्री आदि राग-रागनियों का प्रयोग किया है। 'संगीत-चिन्तामणि' के मंगलाचरण में कवि ने लिखा है :

यद्यद् वृन्दावनवनभुवि भक्तभावानुसाराद्
राधाकृष्णाविह विहरतः स्पष्टमेवाष्टकाले ।
तत्तत्सवं हृदि रसविदामेव वर्वीत नित्यं
प्रेमश्रेणीचरणशरणः सोऽस्तु सन्देहकृद् यः ॥

× × ×

सङ्गीतचिन्तामणिनाम्नि काव्ये
प्रीतिस्तु हीनप्रभवेऽपि भव्या ।
सिद्धे बुधानां मधुमक्षिकाभिः
माध्वीरसे बुद्धिरुदेति साध्वी ॥

इनकी रचनाओं में 'गीत-मुकुन्द' तथा 'ब्रजयुव-विलास' प्रमुख काव्यग्रन्थ हैं। 'गीत-मुकुन्द' गीत-गोविन्द की शैली पर रचा गया है। इसके चौदह अध्यायों में संगीत-मंगल, वृन्दावनानद-दर्शनहर्ष, संजात-

कुंजोत्सव, सानन्द-किशोर, चन्द्रोदयानन्द, सोज्जागर-नागर, विप्रलब्ध-राध, सातंक-पंकजाक्ष, बाधित-माधव, निर्माण-भाव, किशोरविहार, मनोहर ललित, नील-नलिन, मंगलानंग-खेलन आदि का वर्णन है। इसे गेय तथा मनोरंजक बनाने के लिए गुज्जरी, वसन्त, आशावरी, रामकेरी, गुण्डकेरी, धनाश्री, मालव, देशीवराड़ी आदि राग-रागिनियों का समावेश किया गया है।

उदाहरण के रूप में कवि की काव्यप्रतिभा से विमण्डित एक गीत यहाँ उद्धृत किया जाता है :

मस्तक-विलसदखण्डशिखण्ड-कमण्डलमण्डित-केशम् ।
मदन-शतार्बुद-गर्वदलनकर-विरचित-नटवरवेषम् ।
राधे, भज व्रजराजकुमारम्, वरमुरलीकरमुक्तेतरहारम् ॥

गुञ्जित-कञ्जविलोचन-मञ्जुलगतिजित-खञ्जनपुञ्जम् ।
सितकरसुन्दर-हसितमधुररस-दधदधिगतकुञ्जम् ॥
कलधौतामल-लोलितमलकावलि-कवलित-भावम् ।
गण्डसितमणि-कुण्डलमण्डल-भङ्गितरङ्गविशालम् ॥

शोध से पता चलता है कि राधा-कृष्णविषयक काव्यरचना की लम्बी परम्परा में श्रीजयदेव से लेकर कमललोचन खड्गराय तक अनेक उत्कलीय कवियों ने योगदान किया है। इस प्रशस्त परम्परा से प्रभावित होकर उड़ियाभक्ति-साहित्य की कृष्ण-काव्यधारा विकसित हुई है।

उत्कलीय संस्कृत कवियों की जितनी रचनाओं की चर्चा प्रस्तुत निबन्ध में की गयी है, उनके अतिरिक्त और भी कई कवियों ने इस विषय को अपनी रचनाओं का आधार बनाया है जिनमें से श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध की गोप-लीलाओं पर आधारित कवि जीवदेवाचार्य की रचना 'भक्ति-भागवत' महाकाव्य, रामचन्द्र खड्गराय के 'नव-हरिचरित' और 'सरसानन्द-कौमुदी' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन संस्कृत काव्यों की प्रेरणा से सारलादास, बलरामदास, नरसिंह शेण प्रभृति उड़िया भाषा के कवियों ने ईसा की १५ वीं शती से लेकर १९ वीं शती तक राधाकृष्ण-लीला पर आधारित शताधिक ग्रंथों की रचना की है।

इससे स्पष्ट है कि उड़िया-साहित्य में कृष्णचेतना का प्रारंभ उसके इतिहास के आदिकाल अर्थात् १५वीं शती ई० से ही परिलक्षित होता है। शूद्रमुनि सारलादास के 'महाभारत' में कृष्ण महानायक की भूमिका में अवतीर्ण हुए हैं। इसमें वे पृथ्वी का भार उतारनेवाले लीलापुरुषोत्तम के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। वे परम कूटनीतिज्ञ, असाध्य-साधक तथा असीम शक्तिसम्पन्न महापुरुष हैं। इसके साथ ही भक्तकवि ने राधा तथा गोपियों के साथ की गयी उनकी माधुर्य-केलि का भी चित्रण किया है, जिसका पथ उत्कल के ही यशस्वी गीतिकाव्य-प्रणेता जयदेव 'गीत-गोविन्द में शताब्दियों पूर्व प्रशस्त कर गये थे।

सोलहवीं शती के प्रथम चरण में चैतन्य के उत्कलागमन के परिणामस्वरूप उत्कलीय धर्म, दर्शन तथा साहित्य के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ आया। चैतन्य के पूर्व तथा समकालीन कवि प्रायः साधक और दिव्यद्रष्टा थे। निवृत्तिमार्ग अपनाकर जीवन्मुक्ति की साधना करना उनका लक्ष्य था। ईसवी सन् १५०९ में महाप्रभु चैतन्य का नवद्वीप से उत्कल में आगमन हुआ। उस समय उड़ीसा में गजपति प्रतापरुद्र का शासन चल रहा था। योगमंडितसाधना के पृष्ठपोषक तथा अग्रदूत के रूप में उड़ीसा के पंचसखा—बलराम, जगन्नाथ,

अच्युतानन्द, अनन्त और यशोवन्त अपनी लेखनी चला रहे थे। दिव्यभावापन्न, उज्ज्वल रसलीन चैतन्य महाप्रभु को प्रतापरुद्र की पृष्ठपोषकता तथा पंचसखाओं का सान्निध्य प्राप्त हुआ। अतः 'गौड़ीय वैष्णवधर्म' के नाम से श्रीचैतन्य ने सबसे पहले उड़ीसा में ही अपने भक्ति सिद्धान्त का प्रचार और प्रसार किया। इसमें वृन्दावनविहारी, द्विभुज, वेणुकर श्रीकृष्ण को सच्चिदानन्द-अवतारी ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया।

गौड़ीय वैष्णवधर्म के प्रसार से न केवल उड़ीसा की धर्मधारणा में नवीन चेतना का विकास हुआ, वरन् उड़िया-साहित्य में भी कृष्णकाव्य की एक व्यवस्थित परंपरा चल निकली। कवियों ने अपनी कृतियों में वृन्दावन-तत्त्व, रागानुगा भक्ति तथा परकीया-भावनापरक राधाकृष्ण-लीलाओं के आकर्षक चित्र प्रस्तुत किये और राधा अथवा गोपी-प्रेम को ही केन्द्र में रखकर काव्य-रचना की। इसके फलस्वरूप कृष्ण-साहित्य माधुर्य-रस से आप्लावित हो और भी आकर्षक हो गया।

पंचसखाओं में से जगन्नाथदास एक ऐसे महापुरुष थे जो अपने अमर ग्रन्थ 'भागवत' के कारण उड़ीसा के गाँव-गाँव तथा गली-गली में चर्चित हुए। संस्कृत भागवत के अनुसरण पर रचित होने पर भी उनकी उड़िया भागवत की भाषा अत्यन्त सरल, सरस और सहजबोध्य थी। इससे वह समाज के सभी स्तर के लोगों की जिह्वा पर अनायास नर्तन करने लगी। श्रीजगन्नाथदास ने 'गौड़ीय वैष्णवधर्म' और 'पारम्परिक उत्कलीय योगपरक शब्द-साधना' के बीच समन्वय-प्रतिष्ठा के उद्देश्य से अपने महान् ग्रंथ की रचना की थी। संस्कृत भागवत के श्रद्धाप्रधान भक्तिधर्म के स्थान पर उड़िया भागवत में ज्ञानमिश्र भक्तिधर्म और शून्य-साधना का प्रतिपादन किया गया है। इसमें प्रकृति, आत्मा और परमात्मा सभी एकीभूत होकर सहज, सरल, नवाक्षरी छन्द की सहायता से भक्ति को काव्यमय कोमलता प्रदान करते हैं। 'गोप-लीला' में वर्णित विरहिणी नायिकाओं की छटपटाहट काममूलक न होकर परमात्मा से मिलने की आत्मा की सहज आकुलता का प्रतीक है। 'रासलीला' के अन्तर्गत चीर-हरण-प्रसंग भी छिछले शृंगार का नहीं, अपितु परमात्मा के समक्ष आत्मा के समर्पण का सूचक है। यहाँ तक कि प्रकृति भी यहाँ कामोद्दीपक के रूप में नहीं, बल्कि भक्तिभाव की स्निग्ध पृष्ठभूमि के रूप में अंकित हुई है। इसमें परमपुरुष और प्रकृति के महालिंगन की अनुपम अद्वैतता की सृष्टि हुई है। पंचसखाओं में अच्युतानन्द तत्कालीन चैतन्यप्रचारित प्रेमभक्तिधर्म तथा राधाकृष्ण की कैशोर-लीला के प्रति आकृष्ट नहीं थे। उन्होंने उसकी योगपरक व्याख्याकर शून्यवादी भूमिका प्रदान करने में ही अपनी रुचि दिखायी। संस्कृत 'हरिवंश पुराण' के विषय पर आधारित होने पर भी अच्युतानन्द की श्रेष्ठ कृति 'हरिवंश' अपने ढंग की मौलिक रचना है।

शास्त्र-पुराण-बहिर्भूत अभिनव परिकल्पना को लेकर भक्तकवि भूपति पण्डित का काव्य 'प्रेम-पंचामृत' सामने आता है। इसमें गौड़ीय गोस्वामियों की 'अनयाराधिनी' नाम्नी कृष्णप्रेयसी को उन्होंने 'वृन्दावनी' नाम देकर कृष्ण की विविध लीलाओं का मनोरंजक वर्णन किया है। निजेन्द्रियसुख की कामना न कर कृष्णसुख-संपादन को ही गोपियाँ अपना परम तथा चरम लक्ष्य मानती हैं। इसमें सोलह सहस्र गोपांगनाओं को देवकन्या, वेद-कन्या, ऋषिकन्या एवं गोपकन्या के भेद से विभाजित किया गया है। 'प्रेम-पंचामृत' का आध्यात्मिक तत्त्व भागवत-समर्थित होने पर भी भक्तकवि भूपति की नूतन परिकल्पना से मण्डित हो अत्यन्त कमनीय हो गया है।

सत्रहवीं शताब्दी के उड़िया-काव्यों में जहाँ सार्वजनीनता तथा रसचर्या पर बल दिया जाता था, अठारहवीं शती तक आते-आते उसमें क्रमशः आलंकारिकता, शृंगारिकता एवं पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रधानता हो गयी। इन्हीं रीतियुगीन प्रवृत्तियों को लेकर बहुशास्त्रवेत्ता, प्रकाण्डपण्डित तथा रसमर्मज्ञ कवि उपेन्द्रभंज

उड़िया काव्य-जगत् के सम्राट् बनकर आये। हिन्दीकवि केशव की कृतियों की भाँति इनकी रचनाओं पर भी क्लिष्टता का आरोप लगाया जाता है, फिर भी असाधारण लोकप्रियता तथा अनुयायियों की संख्या को देखते हुए आपके काव्य की सरसता तथा प्रभावशीलता को स्वीकारना पड़ता है। 'वैदेहीश-विलास' जैसे अद्वितीय रामकाव्य की सृष्टि कर प्रसिद्ध रामभक्त कवि के रूप में परिचित होने पर भी उपेन्द्र के कृष्ण-साहित्य की महत्ता निर्विवाद है। उनकी बहुसंख्यक रचनाओं में कुछ पौराणिक आख्यानों पर आधारित काव्यग्रन्थ भी हैं, जिनमें 'छन्द-भूषण' और 'कला-कउतुक' नाम के दो कृष्ण-काव्य इन्हें कृष्णभक्त कवि के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त हैं।

'छन्द-भूषण' में 'क' से 'क्ष' तक चौतीस वर्णों को वर्णद्वय बनकर ३४ छन्दों या सर्गों की रचना हुई है जिनमें कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन अत्यन्त सहज-सुन्दर तथा सरस रूप में हुआ है। कृष्णजन्म से लेकर कौरववंश-ध्वंस तक के प्रसंगों की अवतारणा कर उपेन्द्र ने अपने गहन-पुराण-ज्ञान का परिचय दिया है। बालकृष्ण के शरीर की शोभा, बाल्य-चपलता, बालसुलभ चेष्टाओं तथा नन्द-यशोदा के अकृत्रिम स्नेह-ममता का सूक्ष्म तथा स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करना इसकी सबसे बड़ी विशेषता है। यहाँ कृष्ण गोप-युवतियों तथा मथुरा के नर-नारियों के मन को मुग्ध करने में जितने चतुर दिखाये गये हैं उतने ही वे वक्रासुर,वत्सासुर, धेनुकासुर आदि के संहार तथा कालीय-दमन से लेकर कंस, जरासंध, शिशुपाल आदि के वध और कौरवकुलनाश की योजना में दक्ष चित्रित किये गये हैं। वस्तुतः 'छन्द-भूषण' में कृष्ण के लोकरंजक और लोक-रक्षक दोनों ही रूप भलीभाँति उभर कर आये हैं।

'कला-कउतुक' केवल दस छोटे-छोटे सर्गों का ग्रन्थ है। प्रारंभ में उपेन्द्रभंज ने चन्द्रावली और कृष्णलीला-विषयक काव्य की रचनाकर कवि बनने की अपनी मनोकामना व्यक्त की है। इस रचना के आदि और अन्त में मात्राहीन छंद का प्रयोग कर उन्होंने अद्भुत पाण्डित्य का परिचय दिया है। जहाँ तक वर्ण्य-विषय का प्रश्न है, 'कला कउतुक' आद्यन्त शृंगाररसाश्रित है। पालने से ही कृष्ण का कनखियों से देखना गोप-रमणियों में रोमांच उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। जैसे-जैसे वे बढ़ते हैं, क्रमशः कन्दर्प की कान्ति विकसित होती है और गोपियों में कामोद्दीपन होता है। अतः सर्वत्र गोपी-कृष्णप्रेम के परकीयात्व का ही चित्रण हुआ है। वृषभानुनन्दिनी राधा तथा चन्द्रभानुनन्दिनी चन्द्रावली प्रमुख परकीया नायिकाएँ हैं। बीच-बीच में चन्द्रावली के मन में परकीय-प्रेम के प्रति आग्रह उत्पन्न करने लिए विभिन्न कल्पित कथाओं की योजना की गयी है। इस तरह शृंगारी वातावरण बनाये रखने तथा विविध प्रकार की गोपी-कृष्ण की प्रेमलीलाएँ संघटित कराने में उपेन्द्रभंज किसी अन्य वैष्णवकवि से कम नहीं हैं।

इनके परवर्ती सदानन्द कविसूर्य ब्रह्मा श्रीचैतन्य को पूर्ण अवतार माननेवाले व्रजवासी गोस्वामी संप्रदाय के अनुयायी थे। अन्यान्य वैष्णव-संप्रदायों के साथ सद्भाव न रहने के कारण वे राधा-कृष्ण के स्वकीया-परकीयाभाव के उपासक थे। राधा-कृष्णप्रेमसंवलित उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति 'युगल-रसामृतलहरी' में इस स्वकीया-परकीया प्रेमलीला का ही वर्णन हुआ है। राधाभाव के बिना कृष्ण की कल्पना तक नहीं की जा सकती, ऐसा उनका विचार था।

'विदग्ध-चिन्तामणि' के रचयिता प्रसिद्ध कवि अभिमन्यु सामन्त-सिंहार इनके शिष्य थे। रागानुगा भक्ति के प्रचार के उद्देश्य से रचित होने पर भी भक्ति, रसचेतना, शब्दवैभव, रीतिबद्धता आदि गुणों से समन्वित होने के कारण 'विदग्ध-चिन्तामणि' एक उत्कृष्ट काव्यग्रन्थ बन गया है। इसके तीन सर्गों में कवि

ने क्रमशः राधा, विशाला, कृष्ण, मधुमंगल और दुर्वासा ऋषि के द्वारा राधा-कृष्णप्रेम की महत्ता का वर्णन कराया है। राधा-कृष्ण के मिलन का भव्य वर्णन करने पर भी कवि का मानस विप्रलम्भ शृंगार में ही अधिक रमा है।

अभिमन्यु सामन्त-सिंहार के समय तक आते-आते-वैष्णव-समाज में दीर्घकाल से प्रतिष्ठित स्वकीया और परकीया प्रेम को लेकर चलनेवाले विवाद का अन्त हो चुका था। सन् १७६६ ई० में वैष्णव पंडितों में छः महीने तक होनेवाले शास्त्रार्थ के पश्चात् परकीयातत्त्व को मान्यता प्राप्त हो गयी थी। अतः रागानुगा भक्ति के साधक होने से सामन्त-सिंहार ने 'विदग्ध-चिन्तामणि' में इसे प्रमुखता दी। जहाँ स्वकीया-प्रेम जागतिक तथा विषयवासना से सम्बद्ध है वहाँ परकीया-प्रेम न तो प्रयोजनाश्रित है और न वस्तु-संपर्कित ही। अतः कवि ने इसे शून्यवादियों की योगसाधना से भी कठिन तथा महनीय बताया है। विशाखा और मधुमंगल के कथोपकथन से कवि ने जिस तरह परकीया-प्रेम का विश्लेषण कर नारी-सुलभ शंकाओं का समाधान प्रस्तुत किया है, उससे इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा रस-तत्त्वज्ञान का परिचय मिलता है। पूर्वानुराग की रीतिमय तथा नाटकीय अभिव्यक्ति के पश्चात् संभोग-शृंगार का वर्णन भी उत्तेजक एवं हृदयाकर्षक बन पड़ा है। किन्तु रसिकशिरोमणि कृष्ण जहाँ एक साधारण प्रेमोन्मादग्रस्त लम्पट के रूप में चित्रित हुए हैं, वहाँ प्रेम का भव्य रूप विखण्डित होता दिखाई देता है। फिर भी काव्यात्मकता की दृष्टि से यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि कविसम्राट् उपेन्द्रभंज ने उपमा-विलास, अर्थ-गौरव एवं पदलालित्य से समन्वित 'विदग्ध-चिन्तामणि' के रूप में उड़िया-साहित्य को एक अनुपम कृति भेंट की।

उत्तर मध्यकालीन उड़िया-काव्यों में नूतन काव्य-शैली के प्रवक्ता तथा प्रेमाभक्तितत्त्व के व्याख्याता के रूप में कवि भक्तचरण उच्चस्थान के अधिकारी हैं। उनका 'मथुरा-मंगल' विशुद्ध वैष्णवीय रसमाधुरी पर आधारित है। रस की पुष्टि, प्रसाद गुण तथा काव्यकान्ति की दृष्टि से यह किसी आलंकारिक काव्य से कम नहीं है। अर्थालंकार का सहज तथा सुन्दर प्रयोग 'मथुरा-मंगल' की उल्लेखनीय विशेषता है। शीर्षक से लगता है कि आलोच्य काव्य में कंस के निधन से मथुरा में मंगल-संपादन पर ही बल दिया गया होगा, पर ऐसी बात नहीं है। इसमें कृष्ण की बाललीला तथा कंसवधादि घटनाओं का बहुत ही संक्षिप्त वर्णन हुआ है। इसका मुख्य कारण काव्यसृष्टि के पीछे रचयिता का उद्देश्य गोपीभाव का विस्तृत निरूपण रहा है। अतः 'मथुरा-मंगल' में विरहिणी गोपिकाओं की अनन्यासक्ति का अनावृत रूप शृंगाराश्रित करुणरस के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। भागवत के गोपी-उद्धव-संवाद का अनुसरण कर ज्ञान पर प्रेमाभक्ति की विजय दिखाते हुए भक्तचरण ने अपने धर्मदर्शन की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

लगभग इसी समय प्रसिद्ध हास्यरस-कवि यदुमणि महापात्र का उड़िया कृष्णकाव्य के मंच पर अवतरण एक स्वतन्त्र दिशा का उन्मोचन करता है। भंजीय-शैली में रचित श्लेषात्मक काव्य 'प्रबन्ध-पूर्णचन्द्र' यदुमणि के स्वाभाविक उक्ति-वैचित्र्य के कारण उड़िया-साहित्य में बेजोड़ है। पौराणिक कथावस्तु पर आधृत होने पर भी इसमें काल्पनिक घटनाओं की प्रधानता है। यदुमणि के प्रत्युत्पन्नमतित्व तथा अलौकिक काव्यशक्ति का इसमें पदे-पदे दर्शन होता है।

रीतियुगीन कवियों में कविसूर्य बलदेव रथ, गोपालकृष्ण, वनमालीदास आदि के छोटे-छोटे गीतों में कृष्णचरित के मधुमय चित्र अंकित हैं। कविसूर्य द्वारा 'चौंतीसा' शैली में रचित 'चौंतीसा' गीति-कविता का समाहार 'किशोरचन्द्रानन्द-चम्पू' उड़िया-साहित्य में ही नहीं, समग्र भारतीय वाङ्मय में एक अनूठी रचना है। अपूर्व नाटकीयता के साथ-साथ संगीतात्मकता के सुंदर परिवेश में राधा-कृष्ण-प्रेमलीला

का संघटन प्रस्तुत चम्पूकाव्य का प्रतिपाद्य रहा है। इस संलापधर्मी गीति-नाट्य की नायिका ललिता है, जो एक हास्यमयी, लास्यमयी और रहस्यमयी पात्री के रूप में समग्र वैष्णव-साहित्य में अद्वितीय है।

गोपालकृष्ण की 'पदावली' में प्रेमलीला के विविध भावों के बीच पतिव्रता और परकीया का द्वन्द्व अत्यन्त हृदयस्पर्शी बन पड़ा है। भाषा, भाव, प्रकृति तथा परिवेश सभी दृष्टियों से यह उड़िया-संस्कृति के मूल स्वर को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार संगीतात्मकता एवं भावाभिव्यक्ति का लोभनीय कौशल, सरल, निराडम्बर भाषा का प्रयोग, अनुराग का वैचित्र्य एवं प्रेम की अभिनव परिकल्पना से मंडित उड़िया-कृष्णसाहित्य की परम्परा में वनमालीदास की वाणी में राधाकृष्ण की प्रेमचर्या जीवंत हो उठी है। कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य, यौवन, वेशभूषा, चाल-ढाल तथा राधा की मोहिनी शक्ति के सूक्ष्म वर्णन के साथ द्वन्द्व-स्पन्दन, अनुराग, प्रणय-विदग्धता, आत्मसमर्पण आदि का सूक्ष्म चित्रण वनमालीदास की सबसे बड़ी विशेषता है।

इन हिन्दू कृष्णभक्तों के साथ ही उत्कल के उदारचेता मुसलमानों ने भी वैष्णव-भक्तिधारा में अवगाहन कर युगीन धर्मचेतना के विकास में अपूर्व अंशदान किया है। इनमें सालबेग का नाम सर्वोपरि है। वे 'रसखान' की भाँति ही कृष्ण तथा उनके प्रतिरूप महाप्रभु जगन्नाथ के अनन्योपासक थे। इसी प्रकार हिन्दी के स्वामी हरिदास और बैजू बावरा की पद्धति पर रसिकशिरोमणि का संगीतार्चन करनेवाले उड़िया कवि गौरहरि एवं गौरचरण के भी पदों में अखंड संचेतना और अविरल भक्ति-भावना प्रवाहित हुई है।

उड़िया के कृष्ण-भक्तिसाहित्य के ऐतिहासिक विकास का अनुशीलन करने से विदित होता है कि उसके आदिकालीन भक्तों पर सहजिया-संप्रदाय की संभोगपरक साधना का काव्यशैलीगत ही सही, पर्याप्त प्रभाव पाया जाता है। इसकी एक क्षीण परंपरा कुछ परवर्ती भक्तों की रचनाओं में भी लक्षित की जा सकती है। इसकी दूसरी विशेषता है, सगुण कृष्णभक्ति के साथ ही निर्गुण तथा योगपरक राधा-कृष्णोपासना की एक समर्थ धारा का अस्तित्व। इसके सूत्र पंचसखा भक्तों, विशेष रूप से अच्युतानन्द की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। बाद में भी अनेक कृष्णभक्तों ने इस भावना को अपनी भक्तिचर्या में स्थान देकर विचार-स्वातंत्र्य का परिचय दिया है। इसके फलस्वरूप उड़िया भक्तिसाहित्य में निर्गुण-सगुण का विवाद उठने की स्थिति ही नहीं आयी और निर्गुण-भावना सगुण-साधना की सहायिका के रूप में अभिन्नरूपेण विकसित हुई।

इस समन्वयात्मक भावना के मूल में महाप्रभु जगन्नाथ के श्रीविग्रह के आविर्भावसम्बन्धी मत तथा दार्शनिक मान्यताएं थीं। तत्त्वतः वृन्दावनविहारी कृष्ण से अभिन्न होते हुए भी देशकालानुसार उनके साथ ऐसी अनेक विशिष्टताएं जुड़ गयी थीं जिनके सूत्र व्रजलीला और उसपर आधृत उत्तर-भारतीय कृष्णभक्ति-साहित्य में विकसित नहीं हो सके थे। उड़िया कृष्णभक्तों ने भगवान् जगन्नाथ को नीच-ऊँच तथा ब्राह्मण-शूद्र को समदृष्टि से देखनेवाले, पतितोद्धारक के रूप में चित्रित किया है। सामाजिक व्यवहार में छुआछूत के त्याग का श्रीधाम एक प्रेरक आदर्श बन गया। भक्तों के जीवनवृत्तों में ऐसी अनेक घटनाओं का वर्णन मिलता है जिनमें स्वयं भगवान् ने प्रकट होकर दलितों एवं अस्पृश्यों द्वारा अर्पित भोग सादर ग्रहण किया था। इससे हिन्दू-समाज की एक बद्धमूल कुप्रथा के उन्मूलन तथा परिष्कृत धर्मचेतना के माध्यम से राष्ट्रीय संस्कृति के विकास में झारखंडवासी लीलापुरुषोत्तम और उनके अनुयायियों के योगदान का महत्त्वाङ्कन सहज ही किया जा सकता है।

उड़ीसा की इस परम्परागत वैष्णवभक्ति के श्रीजगन्नाथ, लिंगराज और कोणार्क के मंदिर प्रकाश स्तम्भ के रूप में आज भी प्रतिष्ठित हैं। चतुर्धाम में एक होने से जगन्नाथपुरी धर्मप्राण हिन्दुओं की आस्था का प्रमुख केन्द्र है। विभिन्न परम्पराओं एवं सम्प्रदायों के आचार्य इसे अपना कार्यक्षेत्र बनाकर सैकड़ों मठ-मंदिर, गद्दी-अखाड़े तथा आश्रम स्थापित कर जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करते रहे और इन सबके माध्यम से भक्ति की अखण्ड धारा प्रवाहित होती रही। कितने भक्तों ने जगन्नाथ की शरण ली है, अर्घ्य दिया है, इसकी कोई क्या गणना कर सकेगा ? उड़ीसा में एक अर्धाली प्रसिद्ध है :

जगन्नाथे सोल कला तहुं कलाए नंदबला।

अर्थात् भगवान् जगन्नाथ सोलह कलायुक्त हैं, उनमें से एक कला नंद के बालक कृष्ण हैं। हिन्दी भाषी वृन्दावनविहारी कृष्ण का ही प्रतिरूप मानकर उनको अपनाये हुए हैं :

झारखंड में आय बिराजे वृंदावन के वासी।

उड़िया जनसमुदाय अनादिकाल से उन्हें अपना इष्टदेव तथा नियामक मानता आया है। उत्कल के गजपति महाराज जगन्नाथजी से शिरोपाव प्राप्तकर उनके प्रतिनिधिरूप में ही राज्य-संचालन करते रहे हैं।

इस प्रकार राजा से प्रजा तक सभी वर्गों के जगन्नाथ-भक्तों की अखंड परम्परा युगों से प्रवहमान रही है। श्रीचैतन्यदेव के पश्चात् उत्कल में श्रीराधा-कृष्णभक्ति अनेक रूपों में विकसित हुई। बांकी, प्रतापपुर, गौरांगपुर, कुआंग, कटक, कोरापुट आदि स्थान इसके प्रमुख प्रेरणास्थल बन गये। इनके अतिरिक्त गंजाम, मयूरभंज, बालेश्वर, पुरी आदि जिलों में विभिन्न सम्प्रदायों और मतों से सम्बद्ध पीठ कृष्णभक्ति के प्रचार में संलग्न हैं। उनमें श्रीराधा-कृष्ण के साथ ही गौरांग महाप्रभु के द्विभुज, चतुर्भुज और कहीं-कहीं षड्भुज विग्रह की पूजा होती है। इन सबकी अपनी एक विशाल शिष्य-परम्परा है। स्वतंत्र गृहस्थाश्रमी भक्तों का एक विशाल समुदाय इसके अतिरिक्त है। जयदेव तथा चैतन्यसेवित श्रीजगन्नाथ की इस विहारभूमि के कण-कण में श्रीराधा-कृष्ण-भक्ति समायी है। उन कणों की भाँति यहाँके भक्त भी संख्यातीत हैं।

डा० नीलमणि मिश्र
डा० शंकरलाल पुरोहित
डा० अजयकुमार पटनायक

उड़ीसा के कृष्ण-भक्त

अगणि नायक

अगणि नायक के विषय में केवल इतना पता चलता है कि ये उन्नीसवीं शती के भक्त-गीतकार थे। इनका 'बालबोध चौंतीसा' वात्सल्यभाव की एक अनुपम कृति है जिसकी प्रारंभिक पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

कृष्ण कमनीय मधुरवाणी,
कहि कारुण्य करे नंदराणी।
कोकिलकु चाहिं कहे बचन,
काहाकु डाकि देबि क्षीरपान?
कोइलि लो शुण,
कृष्ण बलराम बोइले भिन्न ॥

'कमनीय कृष्ण की कितनी मधुर वाणी थी। करुणा में भर स्मरण करती हुई नन्दरानी रो रही हैं। कोयल की ओर देख कर वे कहती हैं कि अब किसे बुलाकर दूध पिलाऊँगी? हे कोयलिया! कृष्ण और बलराम दूर अलग हैं।'

इनकी अन्य रचनाओं के विषय में कोई विवरण प्राप्त नहीं है।

शं० पु०

अच्युतानन्ददास

अच्युतानन्ददास का जन्म १४८३ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम दीनबन्धु और माता का नाम पद्मावती था। इनकी जन्मभूमि नेमाल या लेम्बाल से एक मील दूर कटक जिले के तिलकणा नामक ग्राम और साधनास्थली नेमाल रहा रहा है। यह स्थान चित्रोत्पला नदी के तट पर है। इन्होंने स्वयं-को यद्यपि शूद्र लिखा है, किन्तु कहीं-कहीं 'करण' या कायस्थ भी बताया है। इससे यह निर्विवाद है कि ये ब्राह्मण नहीं थे। अपनी शिष्य-परम्परा में ये गोपालों के वंश में उद्भूत माने जाते हैं।

माता-पिता की अकेली सन्तान होने से इनका लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार से हुआ। पिता ने अध्ययन की व्यवस्था की, किन्तु इनका उसमें मन नहीं लगा जिससे अभिभावक बहुत चिन्तित रहते थे। लौकिक शिक्षा में रुचि न होने पर भी बाल्यावस्था से ही इनका मन निरंतर भगवच्चिन्तन में लीन रहता था। ये प्रायः गाँव के पश्चिम एक बरगद के पेड़ के नीचे बैठकर ध्यान किया करते थे। कहा जाता है कि एक दिन वहीं इन्हें तन्द्रावस्था में गुरु-ब्रह्म जगन्नाथजी का साक्षात्कार हुआ। इससे इनके ज्ञाननेत्र खुल गये और अल्पकाल में ही संस्कृत के अच्छे विद्वान् बन गये।

एकबार ये पिता के साथ श्रीमन्दिर का दर्शन करने गये। संयोगवश उन दिनों चैतन्यदेव पुरी में ही निवास कर रहे थे। बड़दांड पर जब अच्युतानन्द ने उन्हें साष्टांग प्रणाम करके चरण-स्पर्श किया तो इनके मानस में एक नये ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हो उठी। चैतन्यदेव भी इनका प्रगाढ़ भक्तिभाव देखकर गद्गद हो उठे। उन्होंने सनातन गोस्वामी को इन्हें दीक्षा देने का आदेश दिया। गोस्वामीजी ने महाप्रभु के आदेशानुसार इन्हें पञ्चाक्षरी श्याम-मन्त्र का उपदेश दिया। इसके बाद अच्युतानन्द के स्वभाव में अद्भुत परिवर्तन हो गया। पुरी से अपने गाँव तिलकणा में आकर ये जगन्नाथजी का निरंतर ध्यान करते हुए नामकीर्तन में मग्न रहने लगे।

कुछ दिनों तक गाँव में रहकर ये पुनः पुरी गये। वहाँ इनकी भेंट जगन्नाथदास से हो गयी। चैतन्यदेव ने इन पर पुनः कृपा की और कौपीन तथा दण्ड प्रदान कर संन्यास ग्रहण करने की अनुमत दे दी। जगन्नाथदास से इन्होंने रास, कीर्तनादि का अच्छा ज्ञान पाया। कहा जाता है कि महाप्रभु ने स्वयं इन्हें संगीतशास्त्र की शिक्षा दी जिससे आगे चलकर ये रासलीलाओं की रचना कर सकें।

चैतन्य महाप्रभु तथा जगन्नाथदास की कृपा पाकर इनमें पूर्णभक्ति का उदय हो गया। इसके बाद ये तीर्थाटन के लिए निकल पड़े और रामेश्वर, द्वारका, चित्रकूट, अयोध्या, काशी, मथुरा, वृन्दावन, प्रयाग आदि पुण्यस्थलों के दर्शन किये। इस प्रकार इन्हें भारत के एक बहुत बड़े भाग के सीधे सम्पर्क में आने का अवसर मिला। यात्रा से लौटकर ये अपने सखा यशोवन्तदास से मिलने गये। इसी क्रम में ये अढंग पधारे। वहाँ के राजा रघुराम की कन्या चम्पावती इनके कीर्तन पर मुग्ध हो गयी। उसकी दृढ़ता के आगे हार मानकर इन्हें विवाह कर गृहस्थ बनना पड़ा। किन्तु गार्हस्थ्य जीवन में भी ये विषय-भोग में लिप्त न होकर अबाध रूप से साधना-पथ पर चलते रहे। कालान्तर में चम्पावती के गर्भ से गदाधर नामक पुत्र का जन्म हुआ।

इसके पश्चात् रणपुर के राजा इन्हें सादर अपने यहाँ लिवा ले गये। वहीं इन्होंने 'हरिवंश' महापुराण के आधार पर उड़िया में सात खण्डों में 'हित-हरिवंश' की रचना की। ग्रन्थ पूरा करके ये लेम्बाल लौट गये और अन्तिम समय तक वहीं रहे।

इन्होंने अपने जीवनकाल में उड़ीसा की राजनीतिक स्थिति में अनेक उलट-फेर देखे थे। महाराज प्रतापरुद्रदेव के दिवंगत होने पर मुंकुददेव सिंहासनासीन हुए। मुसलमानों का आक्रमण हुआ जिससे इनकी साधना-भूमि अराजकता से प्रभाविंत हुई। फलतः सामाजिक उत्थान का कार्य अत्यन्त जटिल हो गया। चैतन्यदेव के उपदेशानुसार इन्होंने 'हरे राम हरे कृष्ण' मन्त्र को अमोघ बताया और जगन्नाथजी या श्रीकृष्ण को ही शून्य पुरुष (परब्रह्म) मानकर उनकी निराकार उपासना का प्रचार किया। इन्होंने राधा-कृष्णभक्ति को निराकार उपासना का मूलाधार माना। फलस्वरूप उड़िया भक्तिमार्ग में निर्गुण और सगुण का अपूर्व समन्वय स्थापित हो गया।

अच्युतानन्ददास ने उत्तरी भारत के अपने समकाल के अन्य वैष्णव भक्तों की भाँति ही जाति-वर्ण-धर्म से ऊपर उठकर मानवमात्र की समता भावना का प्रचार किया। इन्होंने गोपालों के लिए 'गोपाल ओगाल' और कैवर्तों (धीवरों) के लिए 'कैवर्त-गीता' लिखी। इसी माध्यम से ये समाज के निम्नतम वर्ग तक पहुंच सके। इनकी रचनाओं और आदर्श जीवन-पद्धति ने समकालीन जीवन पर गहरी छाप छोड़ी है।

कहा जाता है कि इनकी निराकार उपासना पर श्रीमन्दिर की सेवा-पूजा का संचालक ब्राह्मणवर्ण क्षुब्ध हो उठा। उनसे प्रभावित हो महाराज प्रतापरुद्रदेव ने स्वयं इनकी परीक्षा लेने का निश्चय किया। इन्होंने अपनी अलौकिक सिद्धियों तथा अद्भुत ज्ञानशक्ति से महाराज की अनेक सैद्धान्तिक शंकाओं का सम्यक् प्रकारेण समाधान किया। निराकार-साधना द्वारा समाधि प्राप्तकर उन्हें भगवत्स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन भी कराया। इससे मुक्ति-मण्डप में उपस्थित सभी विद्वान् आश्चर्य-चकित हो उठे और विरोधी पण्डितों को नतमस्तक होना पड़ा। इस घटना ने इनका मार्ग निष्कण्टक बना दिया।

उन दिनों आमी नदी की उपत्यका (निकटवर्ती भूमि) में तांन्त्रिक साधना का जोर था। वहाँके साधक अपनी अद्भुत सिद्धियों से लोगों को अभिभूत कर अनाचार में प्रवृत्त करते थे। पंचसखाओं ने चरित्रबल तथा साधना से प्राप्त आत्मशक्ति द्वारा उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर वैष्णव-साधना में प्रवृत्त किया जिससे उस क्षेत्र की जड़ता शनैः शनैः समाप्त होने लगी। हीन तन्त्राचार से विरत हो सदाचार का मार्ग अपनाने का उपदेश कर भक्त अच्युतानन्द ने समाज को अंधविश्वास के गर्त से निकाला तथा सात्त्विक धर्माचरण का मार्गदर्शन किया।

इनकी परधाम-यात्रा सन् १५८५ ई० में हुई। उत्कल के 'पंचसखा' भक्तों में इनका विशिष्ट स्थान है। आज भी इनकी शिष्य-परम्परा में यह विश्वास चल रहा है कि कलियुग में कृष्ण-सखा सुदामा अच्युतानन्द के रूप में अवतरित हुए थे।

इनकी रचनाओं की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में एक बड़ी समस्या इसलिए बनी हुई है कि श्रद्धालुओं और भक्तों ने बहुत से ग्रन्थ लिखकर इनके नाम पर प्रचलित कर दिये हैं। इनमें अधिकांश भविष्य-वाणियाँ हैं। इन्हें 'पटल' और 'मालिका' ग्रन्थ कहा जाता है। निराकार साधना-संबंधी कृतियों में तत्त्व-दर्शन का विवेचन है जिनमें आत्मा-परमात्मा, पिण्ड-ब्रह्माण्ड के विषय में वेदान्त-सम्मत विस्तृत चर्चा पायी जाती है।

इनकी 'शून्य-संहिता' में संक्षेप में चैतन्यसम्बन्धी घटनाओं का उल्लेख कर पंचसखाओं की परीक्षा तथा सद्गुरु की महिमा का वर्णन है। पिण्ड-ब्रह्माण्डतत्त्व का निरूपण कर निराकार की लीला का रहस्य समझाया गया है। कृष्ण की आठों पटरानियाँ यह रहस्य जानना चाहती हैं। कृष्ण उन्हें गरुड़ की पीठ पर नित्यवैकुण्ठ ले जाते हैं। वहाँ गोपियों के साथ कृष्ण की नित्य रासलीला चलती रहती है। पटरानियों को अपने उच्च कुल पर गर्व था, वे गोपियों के प्रति तिरस्कार का भाव रखती थीं। किन्तु श्रीकृष्ण गोपियों की श्रद्धा-भक्ति को स्वकीया भक्ति से श्रेष्ठ प्रमाणित कर उनका गर्व खण्डित कर देते हैं।

मान्यता है कि ये दिव्यधाम में सुदामा-सखा के रूप में उपस्थित थे। घोर कलि आने पर श्रीकृष्ण ने यादवों का संहार किया और उत्कल में आकर दासरूप धारण किया। अच्युतानन्द के अनुसार 'हरे राम, हरे कृष्ण' महामन्त्र के आधार पर नीलाचल धाम की चतुर्धा मूर्ति का तात्त्विक स्वरूप समझना चाहिए। इस प्रकार अच्युत ने सभी गाथाओं में जगन्नाथजी को सर्वोपरि रखा है।

डा० रत्नाकर चइनी ने इनके लिखे ताड़पत्रीय ग्रन्थों की संख्या ७२ बतायी है जिनमें प्रमुख ये हैं: अणाकार-संहिता, गुरुभक्ति-गीता, राधारा-हास, वृन्दारा-हास, ब्रह्म-शांकोली, उदय-कहाणी, दश पटल, चौबीश पटल, अवतार-मालिका आदि। जनश्रुति है कि अच्युतानन्द ने एक लाख पदों की रचना की है। जो भी हो, इनके विशाल साहित्य में प्राचीन भारतीय संस्कृति का ओजस्वी रूप सुरक्षित है। उदाहरणार्थ यहाँ इनकी कुछ उक्तियाँ उद्धृत हैं:

चक्षु कु जेपरि पिछड़ा आबोरि भक्त कु तेन्हें गोसाइँ।
दीन अच्युत से भावरे कहिले प्रभुपादे चित्त देई॥

'प्रभु-चरणों में चित्त देकर अच्युत कहते हैं कि हे गुसाइं! आप भावयुक्त (भक्तिभावापन्न) भक्तकी उसी प्रकार रक्षा करते हैं जिस प्रकार हमारे नेत्रों की ये दोनों पलकें।'

समोद्रर बालि केहु गणिबा पारिब।
श्रीकृष्णर नाम केहु कलना करिब॥

'भला, संसार में ऐसा कौन है जो समुद्र की बालुका के कण गिन सके? वैसे ही श्रीकृष्ण-नाम के गुणों की कलना कौन कर सकता है?'

सूर्य अनले शीतकि रहिपारे प्रदीपे अंधार नाश।
श्रीहरि महिमा श्रवणे पातेक राशि होइ थाए नाश॥

'क्या सूर्य की तपती किरणों में शीत रह सकता है? जैसे दीपक के प्रकाश से अंधेरे का नाश हो जाता है वैसे ही श्रीहरि की महिमा के श्रवणमात्र से घोर पातकों का विनाश हो जाता है।'

इसके अतिरिक्त अच्युतानन्द की जगन्नाथजी के प्रति एक और प्रार्थना देखें:

दीनबंधु मो दुःख न गला जे
तुंभे दीनबंधु मो बंधु नोहिले
मो बंधु होइब के।
दीनबंधु बोलि जाहाकु कहन्ति
सेहित परम योगी
दुःखी लोकंकर दुःख-निवारण
सुखी लोकंकर भोगी॥

'अच्युतानन्द कह रहे हैं कि हे दीनबन्धु! तुम मेरा दुःख नहीं मेट पाये। दीनबन्धु कहलाते हो, पर मेरे बन्धु नहीं हो पाये। क्या तुम मेरे बंधु बनोगे? जिन्हें 'दीनबंधु' कहा जाता है वे ही परम

योगी हैं, वे ही दीन-दुःखी जनों का दुःख-दर्द मिटाते और सुखी लोगों को योगी बनाते हैं।'

अधर पटनायक

अधर पटनायक अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में विद्यमान थे। इनका जन्म नयागढ़ (जिला पुरी) के गंभारडिह गाँव में हुआ था। इन्होंने 'विनय-पत्रिका' की शैली में गीत लिखे हैं। नीचे इनकी 'वृन्दावन-विहार' शीर्षक विशिष्ट रचना से दो पद उद्धृत किये जाते हैं :

श्यामसुंदर वृंदावन-विहार करन्ते एक दिनक रे।
संगे पंचशत आठ सखा घेनि पुष्प तोलन्ति आनंद रे॥
एहि समये, प्रवेश होइबे राधिका।

नाना सुबेश होइ पाशे अछंति सप्त पंचाबन नायिका॥
देखिण ए रीति सकल युबतो सुबास कुसुम तोलिले।
जण-जण के समकरि तोलिण कृष्ण छापुरे मिलिले॥
ब्रजकिशोर, सखां कु बांटि करि देले।

उगलिला ऊर्नबिंश फूल हरि चूल मूलरे ता खोसिले॥

'एक दिन श्यामसुन्दर वृन्दावन में विचरण कर रहे थे। साथ में उनके पाँच सौ आठ सखा थे। वे सखाओं के साथ आनन्दमग्न हो पुष्प-चयन में लगे थे। तभी राधिकाजी वहाँ प्रवेश करती है। उनके साथ नाना प्रकार की सुन्दर वेशभूषा से सज्जित तीन सौ पचासी नायिकाएँ हैं। श्याम की यह रीति देख सारी युवतियाँ भी सुगंधित पुष्प चुनने लगीं। सभी एक-एक फूल लेकर कृष्ण के पास चलीं तो व्रजकिशोर ने एक-एक फूल सखाओं के बीच बाँट दिया। जब उन्नीस फूल बच गये तो उन्हें हरि ने अपने केशों में खोंस लिया।

शं. पु.

अनन्त आचार्य

गदाधर पण्डित के शिष्यों में अनन्त आचार्य का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया जाता है। ये वृन्दावन में श्री गोविन्दजी की सेवा में नियुक्ति थे। श्री वीरभद्र प्रभु के वृन्दावन में पधारने के समय दूसरे वैष्णवों के साथ ये भी उनके स्वागत के लिए गये थे। इनके शिष्य श्री हरिदास पण्डित वृन्दावन में वैष्णवों की सभा में चैतन्य-भागवत का पाठ करते थे। इन्होंने कविराज गोस्वामी को 'श्रीचैतन्यचरितामृत' लिखने का कृपादेश प्रदान किया था।

शं.पु.

अभिमन्यु सामन्त-सिंहार

अभिमन्यु सामन्तसिंहार का जन्म १७५७ ई० में जाजपुर के निकटस्थ गोलकुण्ड नामक ग्राम में हुआ था। 'प्रेमकला' में ये अपने सम्बन्ध में स्वयं लिखते हैं :

जंबूद्वीपे भारतखण्डे ए सार मही।
महोदधि जाज नग्र मध्य रम्य तहिं॥
सुविहार स्थान एणु थिबरु से देश।
गोलकुंड नामे ग्राम तहिंत प्रकाश॥
ब्राह्मी नदी से ग्रामर सीमा भेदि वहि।
विराट गोधन रहिबार स्थान सेहि॥

'सामन्त-सिंहार' या 'सामन्त-शिरोमणि' उपाधि इनके पूर्वजों को मुगलकाल में किसी उच्चपदस्थ राजकर्मचारी की रक्षा के उपलक्ष्य में प्राप्त हुई थी। तबसे यह इनकी वंश-पदवी हो गयी।

इनके पिता का नाम इन्द्रजीत सामन्त-सिंहार था और माँ थीं तुलसी देवी। आठ पत्नियाँ होते हुए भी उन्हें किसीसे सन्तान नहीं हुई। कहते हैं कि सदानन्द कविसूर्य ब्रह्मा के परामर्श पर जमीन्दार पिता ने यज्ञ किया। भगवान् के आशीर्वाद से उन्हें यह पुत्ररत्न मिला जो विष्णुभक्त था। ,

आगे चलकर अभिमन्यु स्वयं सदानन्द के शिष्य बन गये। उन्होंने अभिमन्यु को संस्कृत काव्य, अलङ्कार, व्याकरण, धर्म-दर्शन आदि की शिक्षा दी। चौदह वर्ष की आयु में ही इनका विमला देवी से विवाह हो गया और उन्नीस के हुए तो पिता का स्वर्गवास हो गया। पिता की मृत्यु के बाद इन पर सांसारिक दायित्व आ गया। एकबार इन्होंने पत्नी से कहा कि 'अभी मेरे क्षणिक वियोग से इतनी बेचैन हो जाती हो

तो मेरे मरने के बाद तुम कैसे रहोगी ?' पत्नी का उत्तर था : 'तुम्हारे बाद मैं जी कर क्या करूँगी ?' एक दिन कहींसे लौटते समय इन्होंने अनुचर के हाथ में पगड़ी और कटार देकर कहा : 'जाकर रानी से कह दो कि उन्हें बाघ खा गया।' सेवक जब घर आया तो रानी दरवाजे पर प्रतीक्षा में खड़ी थी। पति को मृत्यु का संवाद सुनते ही वह ज्यों-की-त्यों मूर्तिवत् खड़ी रह गयी। इसके कुछ ही समय बाद अभिमन्यु ने आकर देखा तो पत्नी प्राणहीन हो जड़ बनी खड़ी है। इस करुण वियोग ने अभिमन्यु को मर्माहत कर दिया। उन्होंने घर-परिवार और जमींदारी का सारा दायित्व अपने छोटे भाई और बेटों को सौंप दिया और स्वयं विरक्त होकर उत्तरोत्तर राधाभाव में निमग्न होते गये।

इसके बाद वृन्दावन-यात्रा की इच्छा हुई तो अभिमन्यु पचास वर्ष पार कर चुके थे। मील, दो मील चले नहीं कि थकावट ने आ घेरा, अतः वहीं रुक गये। अन्तिम घड़ी जानकर घर से राधा-कृष्ण की मूर्ति मँगवा ली। उसीको देखते-देखते इन्होंने प्राण त्याग दिये। यह घटना १६०८ ई० में घटित हुई।

इनकी अधिकांश रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित हैं, दो-तीन अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाएँ ही छपी हैं। इनमें प्रारम्भिक रचनाएँ हैं : 'बाघ-गीत', 'चढेई (चिड़िया) गीत' और 'फुल बउलबेणी-गीत'। बाद की प्रौढ़ रचनाओं में 'प्रेमकला', 'रसवन्ती', 'प्रेम-चिंतामणि', 'सुलक्षणा' तथा 'विदग्ध-चिंतामणि' की गणना की जाती है। प्रारम्भिक रचनाओं में कवि ने शिकार जैसे राजसी विषयों को लिया है, पर आगे चलकर राधा-कृष्ण की आनन्ददायिनी केलि-क्रीड़ा तथा भक्त-मन की आकुलता का वर्णन हुआ है। इनमें कवि के प्रारम्भिक जीवन का सामन्तीय रूप पीछे रह जाता है। पग-पग में रागमार्गी अभिमन्यु के दर्शन होते हैं। 'प्रेम-चिंतामणि' राधा के प्रेम-वर्णन को लेकर रचित है। इनकी भक्ति का चरम उत्कर्ष 'विदग्ध-चिन्तामणि' में हुआ है। इसमें विदग्ध श्रीकृष्ण से राधा का मिलन और वियोग वर्णित है। यह इनके जीवन के अन्तिम दिनों की रचना है जो सहसा देहावसान हो जाने से अधूरी ही रह गयी। संक्षेप में कवि ने इसमें कृष्ण के जन्म और गोपलीला आदि, गोपांगनाओं के साथ उनकी प्रीति, विरह, मिलन, दूती-प्रसंग आदि का विस्तृत चित्रण किया है।

इससे पूर्व रूप गोस्वामी ने संस्कृत में 'विदग्ध-माधव' नाटक रचा था। उपेन्द्र भंज ने भी विप्रलंभ शृङ्गार के अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किये थे। किन्तु अभिमन्यु ने न तो इसमें पाण्डित्यपूर्ण ढंग से शृङ्गार रस को अवतीर्ण किया और न विषयवासना को ही अनावश्यक रूप से अधिक महत्त्व दिया। इनकी यह रचना उच्च संगीतात्मकता के साथ रमणीय शृङ्गार-लोक का द्वार उन्मुक्त करने में समर्थ है। यह कृति भक्तों को अतीन्द्रिय भक्तिरस में निमज्जित करने के साथ ही विद्वानों को अपूर्व काव्यरसास्वादन कराती है। अभिमन्यु यद्यपि उच्च वर्ग में जन्मे और जीवनभर उसी वातावरण में रहे, फिर भी उनकी व्यक्तिगत जीवनचर्या अत्यन्त सादी और सरल थी। बाहरी जीवन के सारे वैभव-आडम्बरों से दूर रहकर ये कृष्ण के असीम ऐश्वर्य एवं अपार शोभामय रूप में निमग्न रहे। यही आनन्दमय रूप इनका उपजीव्य रहा। इसी कारण इनकी कृतियाँ राधा-कृष्ण के एकांतिक प्रेम-चित्रण के मोहक प्रसंगों के साथ ही निश्छल भक्तिरस का अक्षय कोष बन गयीं।

इनके वियोगवर्णन की यह विशेषता है कि विरह गोपियों में ही नहीं, कृष्ण में भी सममात्रा में वर्तमान है।

'विदग्ध-चिन्तामणि' के कुछ मार्मिक प्रसंग नीचे दिये जाते हैं :

दिनु दिनु हरि बढ़ाइले प्रेमसिंधु लहरो।
काहाकु केतेरूपे रसाइले,
काहाकु प्रेम-जले भसाइले।
काहा मनरे मन मिशाइले,
काहा नखरे मही चषाइले।

'कृष्ण ने दिनोंदिन प्रेमसिंधु में लहरें बढ़ाना आरम्भ कर दिया । किसीको किसी रूप में रसपूर्ण कर दिया, किसीको प्रेमजल में बहा दिया किसीके मन में मन मिला दिया तो किसीके नाखून धरती कुरेदने लगे ।'

मां यशोदा कृष्ण को सम्बोधित करती हुई कह रही हैं :

डाकन्ति रे श्यामघन !
रंकुणिरतन आनंदधाम !
रे कलाकान्हु ! उठ उठ भांगि श्रम रे ।
देखि तो श्रीमुख-चांद, नयन-चकोर हेब आनन्द ।
रे कलाकान्हु, तोष मो हृदकुमुद रे ।
धेनु पयोधरे भारो, वत्सा इच्छारे हेमाराब करि ।
रे कलाकान्हु हेउछति कते परि रे ।

यशोदा कृष्ण को पुकारती हुई कह रही हैं :

'हे श्यामघन ! हे रंकिनी के आनन्दधाम ! हे सांवरे कान्हा ! उठो, आलस छोड़ जाग जाओ । तुम्हारा श्रीमुखचन्द्र देखकर मेरे नयनचकोर आनंदित हो उठेंगे । हे सांवरे कान्हा ! मेरे हृदयकुमुद को संतुष्ट करो । उधर देखो धेनु पयोधर के कारण बोझिल हो रही है । बछड़े की कामना करके रंभा रही है । हे सांवरे कान्हा ! वे कितनी व्याकुल हो रही हैं ! अब तुम जाग उठो ।'

जोवन गले एतिकि करिब ।
श्यामनाम मो हृदे लिहिब ॥

श्यामरूप मूर्ति हृदे लदाइ ।
श्याम वसन अंगेर छोड़ाइ ॥

श्याम गतिपथे गो ।
मो शब पोतिब आपणा हाथे ॥

जेबे एमंत करि न पारिब ।
तमाले कोल कराइ थोइब ॥

कृष्णवंशो शुभुथिब जेणिकि ।
कर्णकरि देइथिब तेणिकि ॥

सबु सर्जनि कि गो ।
हात धरि मागुछि एतिकि गो ॥

राधा जब कृष्ण-मिलन के लिए अत्यंत विकल हो उठती हैं तो वह सहज और सरल भाव से सभी सखियों से हाथ पकड़कर निवेदन कर रही हैं कि 'यदि मेरे प्राण चले जायँ तो फिर सखियो, इतना करना कि मेरे हृदय पर 'श्याम' नाम लिख देना, एक श्यामरूप की मूर्ति रख देना और श्याम वस्त्रों से मेरे अंग को ढँक देना । इसके बाद श्याम के ही गतिपथ (गमनागमन) पर अपने हाथों मुझे गाड़ देना । अगर इतना न कर सको तो फिर एक काम तो अवश्य कर देना कि मुझे तमाल वृक्ष के नीचे सुला देना । मेरे कान उस ओर कर देना जिस ओर कृष्ण की वंशी सुनाई देती हो ।'

शं.पु.

अभिराम परमहंस

अभिराम ठाकुर आरंभ में क्रांतिकारी राष्ट्रचेता, और समाज-संस्कारक थे । इन्हें इसका बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा । इनके लिखे अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ अंग्रेजों के हाथों में पड़कर नष्ट हो गये, इन्होंने महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन का खुलकर समर्थन किया । इतना ही नहीं, 'भक्ति और अध्यात्म' के बीच भी राष्ट्रीय स्वतंत्रता को गौण नहीं समझा । अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'कलि-भागवत' में इन्होंने भविष्यवाणी ही कर डाली कि 'यदि अंग्रेज प्रकृतिदत्त चीजों पर कर लगायेंगे तो उनका राज समाप्त हो जायगा ।' इनकी धारणा थी कि बिना अधिक रक्तपात के सन् १९४१ ई० के बाद अंग्रेज यहाँ से चले जायँगे, और यही हुआ । किन्तु उस समय 'कलि-भागवत' पर अंग्रेज सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया और उसकी सारी प्रतियाँ जब्त कर लीं । इस छोटी-सी पुस्तक पर कई वर्षों तक प्रतिबंध लगा रहा जो १९४७ के आरंभ में हटा । आजीवन धर्मप्रचार के बाद इन्होंने 'करमला' आश्रम (जिला पुरी) स्थापित किया और वहीं अन्तिम समय तक साधना करते रहे ।

यहाँ इनके उपर्युक्त ग्रन्थ से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :

कहइ अभिराम बाइ। शुण तु मन नरसांइ।
अधिभूतरे आशा नाहिं ! अचिंता चिंता थिब काहिं ॥
आध्यात्मिकरे प्रेमभक्ति। एणु आनंद मोर मति।
विषया रसे नहिं आश। तेणुटि सदा मुं निराश ॥

'अभिराम भोले कह रहे हैं कि रे मन-नरपति ! तुम सुनो। अभिभूतों से कोई आशा नहीं। वहाँ अचिन्त्य के ध्यान से आनन्द मिलेगा। विषय-रस की कोई लालसा नहीं। अतः मैं सदा आपकी शरण में हूँ।'

बाबा के लिखे ग्रन्थों में अमृत-गीता, (३ खण्ड), भजनामृत-संग्रह (७ भाग), भक्ति-कल्लोल (३ भाग), वैष्णव-गीता, स्तुति-रत्नहार, गजेन्द्र-गीता, योगाभिसार, हंस-मिलन, फणी-रास, चउतिसा-मंजूषा, भक्ति-पञ्चामृत, सहज-सेवा, तथा भाव-कल्लोल प्रमुख हैं।

शं.पु.

अमृतवाणी दास

अमृतवाणी दास को 'जगन्नाथ - चरितामृत' में जगन्नाथदास का शिष्य कहा गया है। इन्हें मंजरी-परम्परा में 'योगानन्दा' माना गया है। इनके जीवन तथा कृतियों के विषय में कोई विवरण उपलब्ध नहीं है।

शं. पु.

अरक्षित दास

अरक्षित दास १८वीं सदी के विशिष्ट साधक थे ये बड़खेमण्डी के राजा के छोटे भाई थे। सहसा वैराग्य उदित हो जाने से राजसी ठाठ-बाट त्यागकर ये पुरी चले आये। वीतराग तो हो ही चुके थे, फलतः अस्त-व्यस्त वेश-भूषा देख इन्हें जगन्नाथ-मंदिर में प्रवेश की अनुमति नहीं मिली। इसलिए निराश हो ये वहाँसे लौट पड़े और ललितगिरि-खण्डगिरि के पास प्रसिद्ध बौद्ध-कीर्तियों के निकट रहने लगे। इन्होंने इन्हीं पहाड़ियों में 'महीमण्डल-गीता' नामक महत्त्वपूर्ण कृति की रचना की थी। इसके अतिरिक्त 'भक्ति-टीका' और 'शरीर-भेद' नामक दो छोटी-छोटी रचनाएँ भी इनके नाम पर प्रचलित हैं। कहा जाता है कि इन्होंने कुछ भजन भी लिखे थे, किन्तु वे अब उपलब्ध नहीं हैं।

शं.पु.

आखण्डलदास

जगन्नाथदास के सोलह शिष्यों में आखण्डलदास का भी नाम आता है। पहले इन्हें 'आखण्डल मेकाय' कहा जाता था। आखण्डल जगन्नाथ महाप्रभु के आगे अहर्निश प्रदीप प्रज्वलित करने की सेवा में नियुक्त थे। यही सेवा आगे चलकर 'आखण्डल-सेवा' कहलाने लगी। साम्प्रदायिक ग्रन्थों के अनुसार इनका वासस्थान पुरी के अन्तर्गत बालिसाही में माना जाता है, किन्तु सम्प्रति उसका पता लगाना कठिन है।

दीक्षा के बाद आखण्डल मेकाय को 'दास' कहा जाने लगा। इन्हें गुरुसेवा में 'अन्नथाल' और 'स्वर्णथाल' सेवा का अधिकार मिला था। मंजरी-परम्परा में ये 'सत्यानन्दा' के रूप में बताये जाते हैं।

शं. पु.

आर्तदास

आर्तदास का जन्म अनुमानतः अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में हुआ था। गुआतिरा ग्राम में (जिला पुरी के नीमापाड़ा कस्बे के पास) एक स्थान आज भी 'आर्तदास का घर' नाम से सुरक्षित है। ये कृषक परिवार में उत्पन्न हुए थे। प्रसिद्ध है कि हल जोतते समय इनपर मेघ छाया कर देते थे। अतः ऐसे अलौकिक पुरुष से खेती-बारी का काम करवाने में लोग संकोच करते थे। कहते हैं कि विवाह के चार दिनों बाद ही इन्होंने संन्यास ले लिया था और एक छोटी-सी गादी (आश्रम) बनाकर रहने लगे थे। आस-पास के लोग इनके दिव्य भजन और धर्मोपदेश सुनने जमा होने लगे। दूसरे गाँववाले इन्हें बुला ले जाते और वहाँ इनकी गादी की स्थापना होती। कहते हैं कि इस प्रकार इन्होंने सैकड़ों गादियाँ स्थापित कीं। इसी क्रम में घूमते हुए ये डेलांग (जिला पुरी) के निकटवर्ती बाइधरदास के मठ बेनुपड़ा में पहुँचे।

उन्होंने इन्हें अपना योग्य उत्तराधिकारी मानकर उस मठ का दायित्व सौंप दिया। आर्तदास वहीं रहकर भजनभाव करने लगे।

इनकी सिद्धियों के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहते हैं कि जब इन्होंने संन्यास-दीक्षा ले ली तो एक दिन इनकी माँ ने बड़े करुण स्वर में पूछा : 'मेरा कैसे गुजर-बसर होगा ?' ये धान जमा करने के एक बर्तन की ओर संकेत करते हुए बोले : 'इसमें से नित्य धान निकालती रहना, पर खोलना नहीं।' माँ ने कुछ दिनों तक वैसा ही किया। एक दिन उत्सुकतावश उसने उसे खोल दिया और तब से वह धान मिलना बन्द हो गया।

संन्यासी-जीवन की इनकी एक और कथा है। एक दिन जब ये वंशी बजाते हुए झूमते जा रहे थे तो उस क्षेत्र का अंग्रेज बन्दोबस्त अधिकारी घोड़े पर बगल से निकला। घोड़ा वश में न रहा। अफसर ने क्रोध में इन पर चाबुक उठायी। पुरी आकर देखा तो घर में सभी बीमार हैं। साहब समझ गया कि यह सब बेनुपड़ा के संन्यासी के अपमान का ही फल है। लौटकर उसने क्षमा माँगी। आर्तदास ने हँसकर कहा 'जा-जा, तेरे घर में सब स्वस्थ हैं।' लौटने पर घर में उसने सभीको स्वस्थ देखा। इस वचनसिद्ध महात्मा के चमत्कारों की ऐसी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। इनके दिव्य नेत्रों के सामने धर्महीन समाज का चित्र स्पष्ट दिखायी देता था।

इनके देहान्त के बारे में किंवदन्ती है कि बहुला एकादशी के दिन बेनुपड़ा का सुदर्शन नामक व्यक्ति जगन्नाथजी के दर्शन कर लौट रहा था। अठरनला (पुरी नगर की सीमा पर) पर देखा तो आर्तदास पुरी जा रहे हैं। उसने अचम्भे में पूछा 'महाराज ! मठ छोड़कर कैसे आ गये ?' उत्तर दिया, 'ठाकुर को आड़प-मण्डप में देखकर आने को मन कर रहा है। लो, यह निशानी मठ के माधवदास को दे देना, वह उसकी देख-रेख करता रहेगा।' गाँव में आकर देखा तो वहाँ महाराज ने नाम जपते-जपते देह त्याग दिया है। उसने लोगों से सारी बातें कहीं। अन्तमें माधवदास को गद्दी पर बिठाया गया।

आर्त्तदास वैष्णव सन्त थे। परम्परा में इन्हें ब्रह्म-संप्रदाय में दीक्षित बताया जाता है। ये अच्युत गोत्र और अनन्त शाखा के अन्तर्गत आते हैं। इन्होंने अपने भजनों, गीतों एवं भविष्यवाणियों में निराकार जगन्नाथ की वन्दना की है। वीरताहीन कोई जाति टिक नहीं सकती। अतः वे जगन्नाथजी से निवेदन करते हैं : 'प्रभो ! लोगों का म्लेच्छों से उद्धार करने की कृपा करो। दनुज-नाशन-हेतु एक बार फिर चक्र धारण करो।'

इनके भजन सरल और सहज भावों में रचे गये हैं। आर्त्तदास सदा ग्रामीण, अनपढ़ एवं समाज के निचले वर्ग के लोगों को सम्बोधित करते हैं। अतः इनकी रचनाओं में शास्त्रीय गुत्थियों का अभाव है। यहाँतक कि पिण्ड-ब्रह्माण्डसम्बन्धी निर्गुण तत्त्व को भी इन्होंने सहज ढंग से जनसामान्य की समझ में आने योग्य शब्दावली में ही व्यक्त किया है। 'बउला चौंतीसा' इनकी बहुत प्रसिद्ध रचना है। इन्होंने सामाजिक उत्थान और चारित्रिक उन्नति पर विशेष बल दिया है। अपनी सहजता और हृदय में गहरे प्रवेश करने के गुण के कारण ही ये गीत उड़ीसा में अत्यन्त लोकप्रिय हो सके हैं। उदाहरणार्थ इनके कुछ पद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

भावावेश में भराहुआ कवि जगन्नाथजी को कितनी विह्वलता से देख रहा है, इसका वर्णन इस पद में देखिये :

सुंदर देउले हरि ! हे सुंदर देउले हरि !
सुंदरींकि घेनि बिजे करिछंति, महाप्रभु हे !
शंख-चक्र-गदाधारी !

'इस सुन्दर देवल में हे हरि ! आप कितने सुन्दर लग रहे हैं ! साथ में सुन्दरी (सुभद्रा) को लेकर हे महाप्रभु ! आप विराजमान हैं ! हे महाप्रभु, हे शंख-चक्र-गदाधारी ! आप अनुपम हैं।'

इनका एक आर्तभावपूर्ण पद उड़ीसा में अत्यंत लोकप्रिय है जिसकी प्रथम पंति इस प्रकार है :

पतित बाना आउ केते बेलकु ।

'हे प्रभु ! पतितों को उद्धार करनेवाली परम्परा कब निभाओगे ?'

अन्यत्र वे निवेदन करते हैं :

आहे नीलाद्रि-बिहारी
निशि-दिवस छामुरे जणाउछि
दुःख न गला मो हरि ।

• • •

भावकु निकट प्रसन्न हुअन्ति
अभावकु दूर हरि ।
भणिले आरत किछि मागु नाहिं
मागुछि चरण-धूलि ॥

'हे नीलाद्रिबिहारी ! रात-दिन आपके आगे विनय करता रहता हूँ । मेरा दुःख कभी नहीं गया.... आप भावों से ही निकट होते हो, सारे अभाव दूर कर देते हो । आर्त कह रहा है वह कुछ माँग नहीं रहा है । चाहता है कि बस, आपके चरणों की धूल ही उसे मिल जाय ।'

शं. पु.

ईश्वरदास

ईश्वरदास के संबंध में विशेष विवरण तो नहीं मिलता, किन्तु वासुदेवतीर्थ और गोपीनाथ वाजपेयी द्वारा इनके ग्रंथों की परीक्षा किये जाने का उल्लेख आता है । इससे इनके अठारवीं सदी में विद्यमान होने का अनुमान लगाया जाता है । आर्तवल्लभ महान्ती ने लिखा है कि ईश्वरदास ने 'चैतन्य-भागवत' की रचना 'चैतन्य-चन्द्र' के १५० वर्ष बाद की थी । कहते हैं कि इनके द्वारा चैतन्यदेव के जीवन के संबंध में वर्णित घटनाओं पर शंका प्रकट की गयी । मुक्ति-मण्डप पण्डित-सभा (जगन्नाथ-मंदिर की विद्वत्-सभा) में कवि की उपस्थिति में पाठ किया गया । बड़े-बड़े वैष्णव पण्डितों ने सुनकर सन्तोष प्रकट किया । भगवान् के आशीर्वाद से ही सारी शंकाओं का समाधान हो गया । कवि ने पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि उसने जगन्नाथजी की आज्ञा से ही इस चरित्र की रचना की है । अपने वैष्णव-स्वभाव के अनुरूप दीक्षा (संन्यास) न ले पाने का दुःख इन्हें जीवनभर बना रहा । वैसे इनकी जाति द्विज थी, इनको 'क्षितिवंशी' कहते हैं, जिसका तात्पर्य है ज्योतिषी ।

चैतन्यदेव के जीवन का बहुत बड़ा भाग पुरी में बीता था । उनके लीलाभाग को उड़िया में अवतरित करनेवालों में ईश्वरदास का स्थान महत्त्वपूर्ण है । वंगीय वैष्णव-चरितकारों ने चैतन्यदेव के उत्कलीय अनुयायियों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला है । ईश्वरदास ने अपनी रचना में उनका सम्यक् सन्निवेश किया है । ये लिखते हैं :

मर्त्ये मनुष्यदेह धरि । अनादिनाथ देव हरि ॥
नदिया नग्रे अवतार । पशुजन्मरु कले पार ॥

'अनादिनाथ देव (जगन्नाथ) ने स्वयं कलियुग में मनुष्यदेह धारण किया है । नदिया नगर में यह अवतार हुआ और लोगों को पशुजन्म से पार किया ।'

चैतन्य के नदिया में जन्म लेने के संबंध में वे अन्यत्र लिखते हैं : 'वरुण ने जब लक्ष्मी का विवाह संपन्न किया तो नीलाचन क्षेत्र कन्यादान में दिया । अतः यह दानभूमि कहलाती है । भगवान् ने दानभूमि में जन्म ग्रहण करना उचित नहीं समझा, अतः उसके पास ही नदिया में जन्म लिया ।' इसके बाद इन्होंने चैतन्यदेव के जीवन की घटनाओं को पद्य में वर्णित किया है जिसमें चैतन्यदेव के श्रीक्षेत्र में आकर पंचसखाओं (जगन्नाथदास, बलरामदास आदि) के साथ की गयी लीलाओं का विशेष उल्लेख है । इनमें पुरी के गजपति महाराज प्रतापरुद्र द्वारा दीक्षा-ग्रहण की घटना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । दोल-पूर्णिमा के दिन जगन्नाथजी के आदेश पर मंदिर में ठाकुरों के

आगे चंदन-चर्या करते-करते इनकी ज्योति जगन्नाथ-जी के दिव्य विग्रह में लीन हो गयी।

इनके द्वारा पौराणिक शैली में लिखा गया 'चैतन्य-भागवत' ग्रन्थ वैष्णवों में अत्यन्त आदर के साथ पढ़ा जाता है। इसकी भाषा सरल तथा शैली लोकरंजक है। वृन्दावनदास-लिखित 'बंगला-चरित' से ईश्वरदास का वर्णन कई जगह साम्य रखता है। किन्तु परंपरागत वैष्णव आचार्यों द्वारा लिखे चैतन्य-चरितों से इसमें प्रायः मत-पार्थक्य मिलता है।

'चैतन्य-भागवत' में जगन्नाथजी का यशोगान ही ईश्वरदास का मुख्य लक्ष्य है। प्रारंभ में ही वे लिखते हैं :

राम जे राम राम राम।
राम गोविंद कृष्ण श्याम॥

जयतु जय जगन्नाथ।
श्रीनीलकंदरे उदित॥

नाम जे श्रीपुरुषोत्तम।
पुरुष मानंक उत्तम॥

'हे राम, राम, राम आप ही गोविन्द हैं, श्याम और कृष्ण हैं। हे जगन्नाथ, तुम्हारी जय हो। आप नीलकंदरा में उदित हुए। यहाँ आकर श्रीपुरुषोत्तम नाम धारण किया; क्योंकि आप पुरुषों में श्रेष्ठ माने जाते हैं।

शं. पु.

उद्धवदास

उड़ीसा के वैष्णवों में 'अतिबड़ी' संप्रदाय का विशेष स्थान है। उड़िया-भागवतकार जगन्नाथदास के अनुयायियों की संख्या काफी है। आरम्भ में उनके सोलह शिष्यों के नाम पर सोलह शाखाएँ स्थापित हुई थीं। जगन्नाथदास को श्रीराधा का अवतार माना जाता है। उद्धवदास उनके शिष्य थे किन्तु सखी के रूप में उनकी सेवा में रत रहते थे। इनको गुरु की 'वनमाला-सेवा' एवं 'सुधा-पात्र-सेवा' का अधिकार प्राप्त था। विभिन्न शाखाओं के ग्रन्थों में इन्हें विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। अधिकांश ग्रन्थों में इन्हें 'चित्रलेखा' का रूप बताया गया है। कहा जाता है इनकी गादी (मठ) तिर्तोल (कटक) में थी। किन्तु आधुनिक विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। इनके सम्बन्ध में इससे अधिक विवरण नहीं मिलता।

[illegible]

उपेन्द्र भंज

महाकवि उपेन्द्र भंज उड़ीसा के दक्षिण में प्रसिद्ध घुमसुर (सम्प्रति गंजाम जिला) के राजा नीलकण्ठ भञ्ज के ज्येष्ठ पुत्र थे। अतः इन्हें युवराज पद पर अभिषिक्त किया गया। बाद में पिता की गद्दी भी प्राप्त हुई। इनका विवाह बाणपुर की राजकन्या से हुआ, किन्तु कुछ ही समय बाद उसकी मृत्यु हो गयी। इस सम्बन्ध में कहा जाता है कि एकबार उपेन्द्र राजकार्य से कुछ दूर एक ठिकाने को गये थे। निर्धारित समय पर नहीं लौटे तो चिन्तित रानी ने एक ब्राह्मण को खबर लाने भेजा। वह किसी और के मृत होने की खबर लेकर लौट आया। रानी को लगा कि वह कुछ छिपा रहा है। राजा की मृत्यु की दुश्चिन्ता में ही उसने प्राण त्याग दिये। लौटने पर उपेन्द्रभंज अत्यन्त दुःखी हुए। फिर जीवनभर उसकी स्मृति में अनब्याहे रहे। कुछ लोगों का विश्वास है कि दुर्गा के वरदानस्वरूप इन्हें काव्य-शक्ति प्राप्त हुई, किन्तु उपेन्द्र ने स्थान-स्थान पर लिखा है कि 'मुझे राम-तारक मंत्र की कृपा से सब सिद्ध हुआ है।' इन्होंने अनेक स्थलों पर 'हरि' और 'हर' की वन्दना की है, किन्तु अधिकांश रचनाओं में श्रीराम की ही स्तुति है। अतः उपेन्द्र को रामभक्त कहा जाता है। फिर भी इनकी रचनाओं में पंचदेवोपासक होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। इन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग पुरी में ही बिताया।

इनका विश्वास था कि पुरुषोत्तम क्षेत्र में श्रीराम ही जगन्नाथ के रूप में पूजा पाते हैं और जगन्नाथ ही श्रीकृष्ण हैं। गोपियाँ पहले राम के समय में ऋषि-कन्याएँ थीं। द्वापर में उन्होंने गोपकन्याओं के रूप में जन्म लिया था और रामरूपी कृष्ण के साथ लीलाएँ

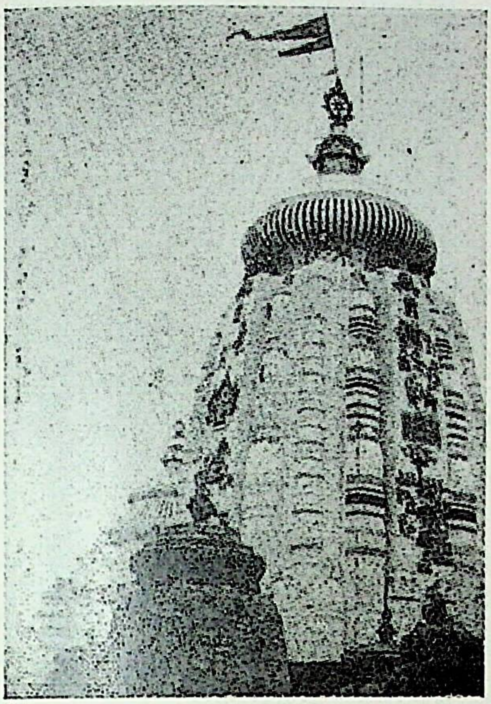

श्री जगन्नाथ मंदिर पुरी (उड़ीसा)

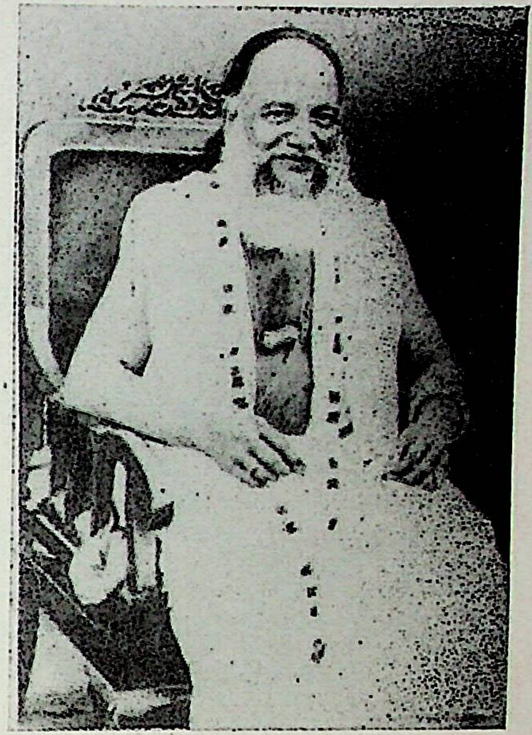

ठाकुर अभिराम परमहंस (पृ० १००)

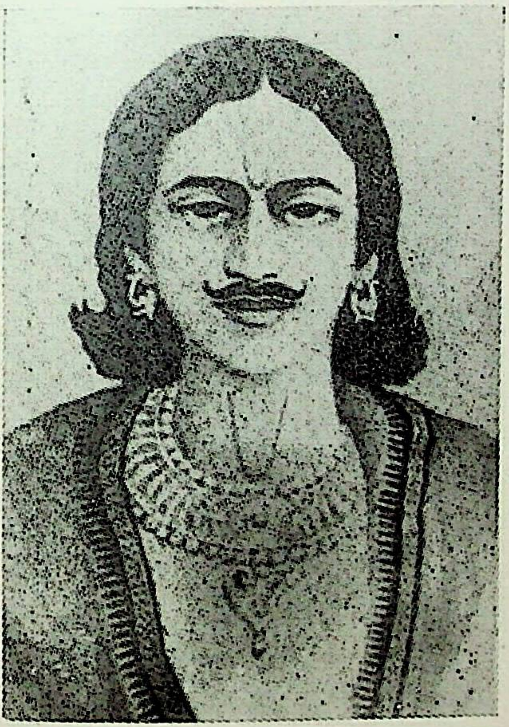

कवि सम्राट् उपेन्द्रभंज (पृ० १०४)

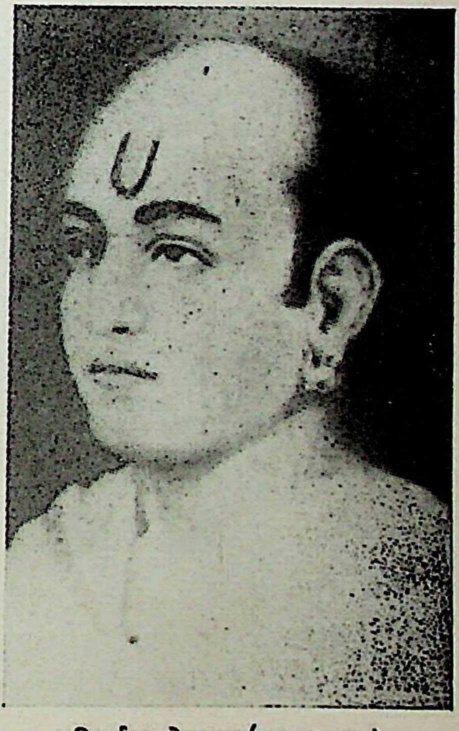

कविसूर्य बलदेव रथ (पृ० १०७)

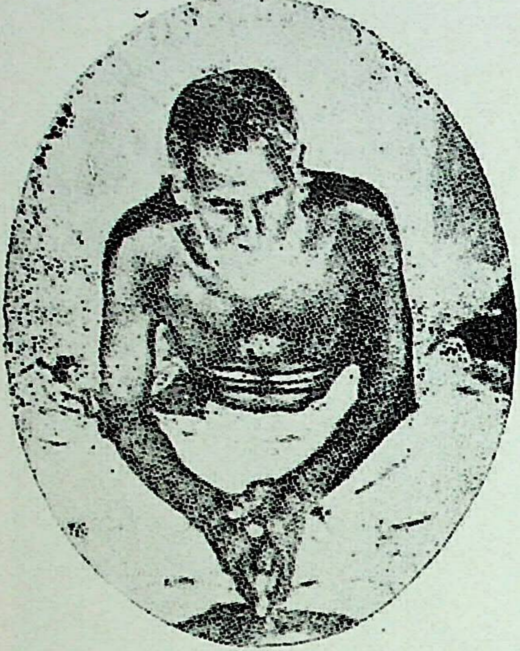

श्री किशोर दास (पृ० ११२)

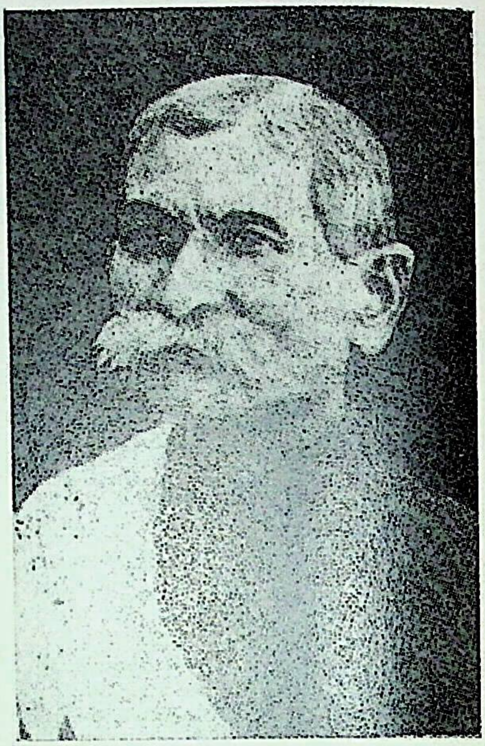

श्री गंगाधर मेहेर (पृ० ११६)

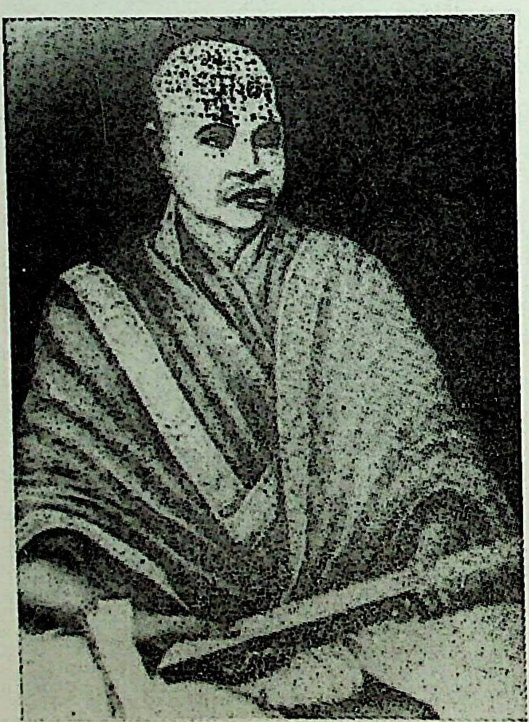

पं० चन्द्रशेखर मिश्र (पृ० १२६)

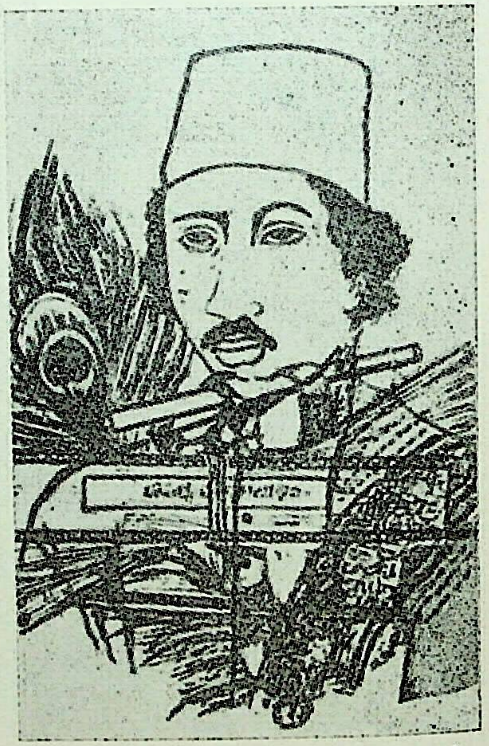

श्री अभिमन्यु सामन्त सिंहार (पृ० ९८)

की थीं। इस प्रकार इन्होंने राम, कृष्ण और जगन्नाथ की अभिन्नता का प्रतिपादन किया है।

इनके विशाल काव्य-भण्डार के अधिकांश काव्य काल्पनिक हैं। शृङ्गाररसप्रधान इन काव्यों में 'रसिकहारावली, लावण्यवती एवं कोटिब्रह्माण्डसुन्दरी' प्रमुख हैं। इनका रीति-ग्रन्थ 'रसपंचक' प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने चौंतीसा, पोई, बन्धकाव्य (चित्रकाव्य-ब्रन्धोदय) आदि अनेक स्फुट काव्यों की भी रचना की है।

रामचरित पर लिखा गया इनका 'वैदेहीश-विलास' सर्वाधिक प्रसिद्ध काव्य है। कहते हैं कि इनके दादा धनंजय भंज ने 'रघुनाथ-विलास' की रचनाकर इन्हें पढ़ने के लिए दिया। सम्मति माँगी तो उपेन्द्र ने कहा: 'काव्य तो उत्तम है, पर अलंकारों की कुछ कमी रह गयी है।' दादाजी इस पर मुस्कराये। बोले: 'ठीक है, अलंकारयुक्त रामकाव्य लिखकर दिखाओ' और उन्होंने आद्यानुप्रासपूर्वक इस विशाल काव्य की रचना की। इसमें रामजन्म से लेकर विवाह, वनवास और राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। तुलसी ने मानस में भी इसी सीमा तक कथा को रखा है। रामराज्याभिषेक के वैभव एवं आनन्दपूर्ण परिवेश में कथा की परिसमाप्ति होती है। उपेन्द्र भंज ने उड़िया के श्रेष्ठ रामकाव्य-रचयिताओं में अमर स्थान पाया है।

इन्होंने जगन्नाथजी की सेवा में तो अनेक स्तुतियाँ लिखी ही हैं, अलग से 'पुरुषोत्तम-माहात्म्य' नामक ग्रन्थ की भी रचना की है। 'छान्द-भूषण' में संक्षेप में कृष्ण की व्रजलीला का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त 'सुभद्रा-परिणय' में भी कृष्ण के चरित का वर्णन हुआ है। यहाँ इनकी सुन्दर रचनाओं से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

कविसम्राट् जगन्नाथजी से अपार करुणा में से थोड़ा अंश माँगते हुए कहते हैं:

कला श्रीमुख हे! नगला मोर दुःख
कलपतरु आश्रे करिछि मुँ
कि बोलिबे शुणि लोक।

• • •

कहे भंज वीरवर रमावर! प्रभु दीनजन रक्ष।
भासुछि ए भव दुस्तर अर्णव। मध्ये मुँ होइ निरख॥

'हे साँवरे! मेरा दुख तो मिटा ही नहीं, जब कि मैंने कल्पतरु का आश्रय लिया है। सुनकर लोग क्या कहेंगे?

'भंज वीरवर कहते हैं कि हे रमावर प्रभु! दीनजनों की रक्षा करें। इस दुस्तर भवार्णव में तैर रहा हूँ। मुझ असहाय को बचा लें।'

शं. पु.

कपिलनरेश

कपिलनरेश का जीवन-परिचय तो उपलब्ध नहीं, किन्तु इनके राधा-कृष्णभक्तिसंबंधी स्फुट पद मिलते हैं। उन्हीमें से एक पद यहाँ उद्धृत किया जाता है:

श्री राधा सखी से कहती हैं:

एका जमुनाकु गलि नीर पाइ गो, प्रिय सहि।
जाहाकु डरिलि हाबुड़े पड़िलि
कि करिबि बोलि मने बिचारिलि।
बेनि भुज तोलि, आलिंगन कलि,
देखि हँस हँस होइ गो॥ १॥
से कला कान्हुंकु, भय मो तनुकु
चउदिगु चाहिं जाए मुं घाट कु।
काहिं लुचिथिले से आसे बाटकु।
के जाइ ताकु कहइ गो॥ २॥
अंचल धरिण टाणन्ति बहन,
आस जिबा, निकुंज कानन,
बड़ हटिया जे नंदर नंदन
ताक चित्ते दया नाहिं गो॥ ३॥
श्रीमती वाणी, सहचरी सुणि
बोले तु कहाकु न कह मितणि
कपिलनरेश, चिंति वेणुपाणि
दूरु जुहार करइ गो॥ ३॥

"हे प्रियसखी! जब मैं जल भरने अकेली जमुना की ओर चली तो जिससे डरती थी वही सामने पड़

गया। मन ही मन सोच रही थी कि अब क्या करूँ? इतने में उसने दोनों भुजाएँ उठाकर हँसते-हँसते आलिगन कर लिया। उस साँवरे कन्हैया का मुझे बहुत डर लगता था। अतः चारों ओर देखती हुई घाट की ओर जा रही थी। पता नहीं, उसे कौन खबर कर देता है? कहीं भी छिपा रहता है, रास्ते में आ जाता है। आंचल पकड़कर खींचता है और कहने लगता है कि 'चल सखी! निकुंज-कानन चलें।' वह नन्दनन्दन बड़ा हठीला है, उसके चित्त में जरा भी दया नहीं।' राधारानी की यह बात सुनकर सखी कहती है: 'हे मीत!' यह बात किसीसे मत कहना। कपिलनरेश वेणुपाणि का स्मरण करके कहते हैं कि उसे दूर से ही जुहार।"

शं. पु.

करुणाकर दास

करुणाकर दास का जगन्नाथदास के शिष्यों में प्रमुख स्थान है। पुरी के बाँकी मुहाने के पास इनका मठ था। वह समुद्र की लहरों से ध्वस्त हो गया तो इन्होंने प्रतापरुद्र देव से मदद माँगी। बाद में बलगण्डी के पास इन्हें जगह मिली और ये वहाँ नये मठ का निर्माण करके रहने लगे। संप्रति यह मठ जीर्ण-शीर्ण दशा में है। इसे 'बड़मठ' कहा जाता है। करुणाकर दास गोसाइं अलौकिक शक्तिसम्पन्न भक्त थे। श्रीमन्दिर में बड़मठ को चामर-सेवा का अधिकार प्राप्त है। शं. पु.

करुणाकर पटनायक

करुणाकर पटनायक का जन्म १८०६ ई० में महाराज मुकुन्ददेव के शासनकाल में हुआ था। ये बड़ंबा के निवासी थे। इनके पिता का नाम गदाधर पटनायक था। इन्होंने कृष्ण-काव्य के परंपरागत रूप का अवलंबन करते हुए 'कृष्ण-रसामृत' की रचना की थी। इस ग्रंथ में कृष्ण के जन्म से लेकर द्वारका-गमन तक की लीलाओं का समावेश किया गया है। कई स्थानों पर इन्होंने अपनी उर्वरा कल्पनाशक्ति का सहारा लेकर काव्य को मनोज्ञ बनाया है। उड़ीसा में उस समय मुकुंददेव का शासन था। शं. पु.

कल्पलता जेमा

प्राचीन भक्त-वृत्तों में कल्पलता जेमा का कोई विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। इनकी रचनाओं से प्रतीत होता है कि ये जगन्नाथ के अनन्य भक्त रहे होंगे। यहाँ इनका एक पद उद्धृत है:

> जगबंधु नाथंकु मुछि नुहइ।
> जेणिकि चाहिँले तेणे श्रोमुख दिशइ॥
> धन्य तांक चका आखि, मन रहिथाए लाखि,
> बाहु टेकिछंति दु:खी तारिबा पाइँ॥ १॥
>
> मालामान लंबिथाइ पादतल जाएँ रहि
> छामुँरे गहलि भीड़े पशि नुहँइ॥ २॥
>
> जेणिकि देले नयन दिशइ कला बदन
> कटीरे जे पितांबर कि शोभा पाइ॥ ३॥
>
> कवि कल्पलता जेमा बोले दोषकर क्षमा।
> जेमा बोले पदि पड़ि उठिब नाहिँ॥ ४॥

'इन जगबन्धु नाथ को भी भला छोड़ा जा सकता है? जिधर देखो, उधर उन्हींका श्रीमुख दीख रहा है। उनके सुन्दर नेत्र धन्य हैं, मन उधर ही अटका रहता है। वे दुखीजनों का उद्धार करने के लिए सदा बाहु पसारे हैं। माला उनके चरणों तक लटक रही है। उनके दर्शनार्थ कितनी भीड़ लगी है! अंदर प्रवेश कठिन हो रहा है। जिधर नेत्र उठाता हूँ उधर ही साँवरे नयनवाले दीख रहे हैं। कटि पर पीतांबर सुशोभित है। कवि-कल्पलता जेमा कहता है कि हे प्रभु! अपराध क्षमा करो! चरणों में गिरने के बाद वहाँसे उठने को मन ही नहीं करता।'

शं. पु.

कवि लक्ष्मण

कवि लक्ष्मण का पूरा नाम लक्ष्मण मिश्र था। इनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है। इनका लिखा 'श्रीकृष्ण-लीलामृत' ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है। इसकी रचना १७८० ई० में हुई थी। यह वीरकेशरी देव का शासनकाल था। ये पुरी जिले के निवासी थे। इन्होंने राधाकृष्ण-लीलासम्बन्धी

श्रृंगारी पदों की रचना की है, जो आलंकारिक रीति पर लिखे गये हैं और भाषा की दृष्टि से संस्कृत-निष्ठ हैं।

शं. पु.

कविचन्द्र रामकृष्ण

कविचन्द्र रामकृष्ण का उपस्थिति काल अठारहवीं सदी माना गया है। इनका विशेष परिचय नहीं मिलता। मधुर गीतकारों में इनका विशेष स्थान है। इनके पदों का लालित्य और माधुर्य उड़िया-साहित्य के श्रेष्ठ कवियों द्वारा सराहा गया है।

इनका एक पद प्रस्तुत है जिसमें राधा अपने हृदय के भाव व्यक्त कर रही है :

से नबीन युवावर मो नयने नाचिला,
से स्नेह कु भावि भावि, पुलक अश्रुरे द्रवि,
मन ताकु धन परि निति हृदे संचिला ॥
के जाणह काहा चित्त, के करिछि काहा हित,
जाहाकु कहिलि से तो मो प्राण पांचिला।
प्रीति मादक रे बुड़ि, गले के पारिब छाड़ि।
के शुमिछि प्रीति तेजि के महीरे बंचिला।
दिअंति अब मुरछि, से त पाशकु धरिछि।
जीब गले जिब से मो मनरु न घंचिला ॥
रामकृष्ण कवि शंशी भावे श्रीकिशोरी भाषि,
जासिलि दुःखलता फल फलि याचिला ॥

'वह नवयुवावर ! मेरे नेत्रों के आगे नाच उठा। उस स्नेह को सोच-सोचकर पुलकाश्रु बह रहे हैं। मन उसे ही धन की तरह हृदय में सहेजे हैं। कौन जाने किसका चित्त किसका उपकार कर रहा है ? जिसे कहूँ वही तो मेरे प्राणों का शत्रु हो रहा है ! भला, प्रीति के मादक मधु में डूबकर फिर कोई उबर सकता है ? भला संसार में प्रीति छोड़कर कोई जी सकता है ? देखो, उन्होंने थाम रखा है। चाहे जीव चला जाय, पर वह तो प्राणों से तनिक भी दूर नहीं हट सकता। रामकृष्ण कहते हैं कि श्री किशोरीजी सोच रही हैं कि अब मेरी दुःखलता फलीभूत होकर पक चुकी हैं अर्थात् मेरे दुःख नष्ट होने की स्थिति में आ गये हैं।'

शं. पु.

कविसूर्य बलदेव रथ

जीवनीकार कुलमणिदास ने बलदेव रथ का जन्म-काल १७८९ ई० बताया है, जब कि आलोचक सच्चिदानन्द मिश्र १७७८ ई० मानते हैं। इनके पिता का नाम उज्ज्वल रथ था। बचपन में इन्होंने संस्कृत और उड़िया पढ़ी थी। नाना के घर रहे। बाद में जलंतर दरबार में आकर कुछ वर्ष रहे और पर्याप्त सम्मान पाया। इनका देहान्त १८४५ ई० में हुआ।

जलंतर (जिला गंजाम) के राजा ने इन्हें 'कविसूर्य' की उपाधि प्रदान की थी। उस समय उड़िया में संगीतप्रधान रचनाओं का बहुत प्रचार था। बलदेव रथ की रचनाएँ मधुर एवं गेय होने के कारण सर्वत्र लोकप्रिय हैं। राधा-कृष्ण-प्रेमसंबंधी गीतों और चंपूकाव्य की रचना में ये सिद्धहस्त थे। इनका 'किशोर-चन्द्रानन-चम्पू' बहुत प्रसिद्ध है। जयदेवकृत 'गीत-गोविन्द' की तरह इस गीतिकाव्य में भी राधा-कृष्ण-प्रेम का विह्वलकारी चित्रण मिलता है। राधा-कृष्ण किशोरावस्था में प्रणय-मग्न हैं। इस प्रणय के बीच ललिता दूती दोनों की परीक्षा करती है। उस समय ऐसा लगता है कि वह किसी धूर्त दूती का कार्य कर रही है। लेकिन अन्त में उसीके प्रयत्नों से दोनों का मधुर मिलन संभव होता है। बलदेव रथ ने इस गीति-नाट्य में कृष्ण-लीला के बहुपरिचित दृश्य को अत्यन्त मनोरम ढंग से प्रस्तुत किया है। संगीतात्मकता इस लघु-रचना को और भी उत्कृष्ट बना देती है। ये स्वयं भी प्रसिद्ध गीतकार थे। इनके द्वारा रचित श्रीकृष्ण-लीलासम्बन्धी प्रचुर चौपदियाँ (गीत) मिलती हैं।

रचना-शैली के उदाहरणस्वरूप कुछ गीत यहाँ प्रस्तुत हैं।

सखी ललिता राधा का अटूट प्रेम देखकर विनोद-वचन की व्याख्या करती हुई कहती है :

बोलि देलि सिना गले हसि
विश्वे तो सम काहिं विश्वासी ?

बांधिवाकु मो मन तु फाशि
विशेष रे मो हृदंतर तोते जणा रे ।।

‘हँसी में कह दिया तुझे। अन्यथा इस विश्व में तुझजैसी विश्वसनीया कहाँ मिलेगी ? मेरे मन को तूने प्रगाढ़ रूप से बाँध लिया है। तू ही मेरे अंतस्तल की गहराई में निहित भाव को समझती है।’

मिलन के बाद कवि शब्द-चातुरी के साथ प्रार्थना कर रहा है :

क्षमाधिप जगद्देव समापन करे हे,
श्रमार्त हेबारु भव-भ्रमातिशयरे हे।
व्यथा-निबह हर, प्रथा चलु मिहिर
पथांतरकु हर रथादिरु अमर।
मथामणि निकर रथांगयुत कर
कथा विनय मोर वृथा न कर हे।।

‘हे प्रभु, यद्यपि मैं क्षमायोग्य नहीं, पर हे क्षमाधिप जगद्देव ! आप मेरा आवागमन समाप्त कर दें। इस संसार के भ्रम में अतिशय मोहित हो गया हूँ। मेरे जैसे पापी के क्षमा पाने की कथा पृथ्वी से सूर्यगति के पथ आकाशमंडल तक व्याप्त हो जाय। हे अमरों के शिरोमणि ! हे चक्रधारी ! मेरी विनयपूर्ण बातों को आप व्यर्थ न करें।’

जगन्नाथजी के प्रति इनकी अनन्यभक्ति का द्योतक एक पद इस प्रकार है :

केहि सरि कि, प्रभु पणे नीलाद्रिकेशरि कि।
जा ठारे जुरिछि दुखिजन दया नखठारु शिखा सरिकि।।
कि कहिबा आउ तांक श्रीचरण अनुसरण चातुरीकि।
बजाउछन्ति विभीषणे आगरे जगत विजय तुरीकि।।
सानकु बड करिबारे उड़ाइछन्ति ध्वजमंजरीकि।
देख नागनर गंधर्व किन्नर उपरे ध्रुव नगरीकि।।
कि कहिबि तांक पीरति करिबा कीरतिचंद्र माधुरीकि।
रक विप्र पाद धुआइ जा देले रमा करे रत्न झरिकि।।
क्षमा सागर जे जाहांकु भजिले काल किंकरकु डरीकि।
बोले कविसूर्य आन उपायकु पेल्लिदिअ गिरि दरीकि।।

‘भला इस सृष्टि में प्रभुपन में इन नीलाद्रिकेशरी की समता कौन कर सकता है ? जिनके पास नख से शिख तक दुखीजनों के प्रति अपार दया भरी है, उनके श्रीचरणों के अनुसरण में कितनी बुद्धिमत्ता है, यह क्या कोई बना सकता है ? विभीषण उनके आगे जगत्-विजय की तुरी बजा रहे हैं अर्थात् जगत्-जेता बन गये हैं। उनकी ध्वज-पताका इसी बात की साक्षी है कि वे छोटों को बड़ा कर देते हैं। देखो, इस ध्रुवनगरी में नाग, नर, गंधर्व, किन्नर कितने समाविष्ट हुए हैं ? उनके स्नेह-प्रेम और कीर्तिरूपी चंद्र की माधुरी का गायन कौन कर सकता है ? रमा के हाथ में रत्नझारी थमाकर रंक-विप्र के चरण धोकर क्या कुछ नहीं दिया ? हे क्षमासागर ! जो आपका भजन करे, उसे कालकिंकर का क्या डर है ? कविसूर्य कहते हैं कि और तो क्या, चाहे गिरि से गिरा दो या नदी में डाल दो, कोई डर नहीं।’ शं. पु.

कान्हु खुण्टिया

कान्हु खुण्टिया जगन्नाथदास के शिष्य थे। कहीं-कहीं इन्हें ‘कन्हेई खुण्टिया’ और कहीं ‘कन्हाई खुण्टिया’ कहा गया है। पिता का नाम निरंजन खुण्टिया था। ये पुरी में हरचण्डीसाही के निवासी थे। अब भी इनके वंशधर जमीदार खुण्टिया नाम से जाने जाते हैं। जाति से ये ब्राह्मण थे। प्राचीन काल से ये लोग हरचण्डी की पूजा-अर्चना करते रहे हैं। लोकप्रसिद्ध है कि इनके किसी पूर्वज ने मार्ग में पड़नेवाली नदी की बाढ़ के कारण चण्डीपूजा की सामग्री मन्दिर में न पहुँचाकर उसी नदी में प्रवाहित कर दी तो वह पूजा चण्डी ने स्वीकार कर ली और पूर्वज के पीछे-पीछे उनके गाँव के समीप तक आ गयी। वहाँ रेत में नूपुरों की ध्वनि सुनायी पड़ने के कारण पूर्वज ने पीछे देख लिया तो देवी वहीं स्थिर हो गयीं। आज भी खुण्टिया के वंशधरों के आवास से हरचण्डी का मन्दिर कुछ ही दूर पर स्थित है। पुरी के ‘बड़ओड़िआ मठ’ के कार्यक्रमों में इनको भी आमन्त्रित किया जाता है।

श्रीजगन्नाथदास के सोलहों शिष्य गुरु की सेवा में सखीभाव से नियुक्त थे। कान्हु खुण्टिया को ‘पीतवस्त्र

और 'दिव्याअलंकार सेवा' का अधिकार मिला था। संप्रदाय के ग्रन्थों के आधार पर इन्हें मञ्जरी-परंपरा में 'शशिरेखा' कहा गया है।

इनका लिखा 'महाभाव-प्रकाश' ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसमें इन्होंने तत्त्वचर्चा को प्रधानता दी है। शं. पु.

कान्हुचरण

कान्हुचरण का कोई परिचय प्राप्त नहीं है। रचनाओं से ये एक सच्चे कृष्णभक्त प्रतीत होते हैं। नीचे इनका एक पद उद्धृत है :

मोहन हेला त तुंभर अपकोरति !
नाश कला क मुख शशअंक मयूख।
आश्य कमल मूरति मूरति……॥ १ ॥

वल्लि रस हिंगुल खलिबा इंद्रनील।
पटि सुगण्डें भरति भरति॥ २ ॥

माति आश्लेषे भुजे काति सम करजे।
तनु होइछि करति करति॥ ३ ॥

भाषे कान्हुचरण कल जा आचरण।
आजहुँ पर पिरति पिरति॥ ४ ॥

'हे मोहन, तुम्हारी अपकीर्ति ही हुई। किसके मुखचन्द्र के मयूख ने इस कमलमूर्ति को नष्ट किया ? वल्लिरस में हिंगुल घोंटने की तरह का इन्द्रनीलवर्ण गण्डस्थल पर झलक रहा है। किसके आश्लेष में माते थे, जो अब रह-रहकर पीड़ा दे रहा है। कान्हुचरण कह रहे हैं कि 'हे कृष्ण, तुमने जो किया, आज प्रीति परायी ही कर दी।' शं. पु.

कार्तिकदास

श्रीकृष्ण-लीला को भक्तों ने व्रजलीला, मथुरालीला और द्वारका-लीला इस प्रकार तीन खण्डों में बाँटा है। अपनी-अपनी रुचि और निष्ठा के अनुसार एक या अधिक लीलाओं को इन भक्तों ने बार-बार अपनी प्रतिभा के बल पर नूतन रूप प्रदान किया है। मथुरा-लीला के ऐसे ही विशिष्ट गायक थे-कार्तिकदास। इनका काल प्रतापरुद्र देव के कुछ पूर्व माना जाता है। कवि अर्जुनदास का नाम इनकी रचना में आया है, अतः संभव है कि इनका जन्म अर्जुनदास के समय या बाद में हुआ हो।

अभीतक इनकी केवल दो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं : 'रुक्मिणी-विभा' और 'राम-रावण-युद्ध'। रुक्मिणी-विभा विशेष लोकप्रिय काव्यग्रन्थ है। इस रचना का मूल आधार पद्मपुराण एवं श्रीमद्भागवत में वर्णित रुक्मिणी की कथा है। दस छांदों (सर्गों) में रचित इस काव्य के प्रारम्भ में कार्तिकदास जगन्नाथजी एवं व्यासजी की वन्दना करते हुए स्पष्ट कर देते हैं कि देवों के अतिरिक्त वे लौकिक प्राणियों की प्रेमलीला का वर्णन नहीं कर सकते। जय-विजय के शाप से कथानक उठाते हैं। फिर रुक्मिणी का जन्म-वृत्तान्त एवं उसके स्वयंवर की अवतारणा करते हैं। इसके बाद क्रम से स्वयंवर-रचना, कृष्ण-बलराम द्वारा रुक्मिणी का अपहरण तथा भीष्मक के हाथों कन्यादान कराना आदि कथाभाग का विन्यास किया गया है।

कवि ने विवाह का विशद वर्णन किया है। व्रज से नन्द, यशोदा एवं गोपियाँ आकर इसमें भाग लेती है। स्वर्ग से इन्द्रसहित सारे देवता तथा मृत्युलोक के सभी राजा आते हैं। विवाहोपरान्त कृष्ण-रुक्मिणी की मधु-शय्या का विधान किया गया है। इस प्रसंग में शृङ्गार की सीमित छाया के कारण रचना की रोचकता में कहीं कमी नहीं आयी है। विषय की महत्ता, भाषागत सरलता तथा वर्णनात्मक संयम के कारण रचना लोकप्रिय हो गयी है।

कवि का भक्तहृदय इस ग्रन्थ में आद्यन्त भक्ति के माहात्म्य-वर्णन में लीन रहता है। एक स्थान पर जय-विजय जब यह सुनते हैं कि वैर-भाव से रहेंगे तो सात जन्मों तक हरिसेवा का अवसर मिलेगा और भक्तिभाव से रहने पर मात्र तीन जन्म, तो दोनों द्वारपाल वैरभाव का ही वर माँगते हैं। कवि की दृष्टि में प्रभु के लिए वैरी और भक्त का अंतर वैसा नहीं है, जैसा हम लौकिक स्तर पर सोचते हैं। इसके

अतिरिक्त इस रचना में देवकी एवं यशोदा का मातृचरित्र पराकाष्ठा पर पहुँचा है। अपने गौरव के अनुरूप ही दोनों गंभीर एवं विनम्र हैं। एक दूसरे के प्रति स्नेह एवं अनुरागपूर्ण तथा श्रद्धामयी हैं।

इनको दूसरी प्रमुख कृति है—राम-रावण-युद्ध। इसमें सरल भाषा एवं अनलंकृत शैली में परंपरागत राम-रावण-युद्धसंबंधी अंश को काव्य का रूप दिया गया है। आकार में भी यह कृति लघु है। लक्ष्मण को शक्तिबाण लगता है, फिर रावण का वध होता है। इन दोनों घटनाओं के बीच की कथा को ग्रंथ का आधार बनाया गया है।

कार्तिकदास की 'रुक्मिणी-विभा' का एक मोहक प्रसंग उनकी काव्यप्रतिभा के परिचयार्थ यहाँ दिया जा रहा है :

यशोदा कु चाहिण देवकी हँस हँस।
तुंभर पुत्रकु अलता सुवेश॥

पुत्र कु कोड़रे धरिन जाणई मुँहि।
केमंत करिण स्तनु क्षीरपान देइ॥

रुषिबा हसिबा दुइ भाव मुं न जाणी।
केमंते बोलिबि मोर पुत्र चक्रपाणि॥

पुत्रंक ठावरे येते तुंभ भान मत।
सकर्लाहि जाण तुभे जगत बिदित॥

शुणिण यशोदा देवी प्रसरइ मन।
स्नेहभरे लोतक बहइ धन धन॥

बोलंति यशोदा तुंभे अट भाग्यवंत।
तुंभर उदर जात कल गो अनंत॥

एतेक बोलिण दुइ चरण धरिण।
दुइ माथे कलेक से अलता भूषण॥

'यशोदा की ओर देखती हुई देवकी हँसकर कहती हैं कि अपने पुत्र को अलता आदि से सजा तो दो। मैं तो पुत्र को गोद लेना भी नहीं जानती और न मुझे स्तनसे दूध पिलाना ही आता है। रूठना-हँसना भी मैं नहीं जानती। तुम तो सब कुछ जानती हो। यह सुनकर यशोदा आनंद से भर उठती है, आँखों से प्रेमाश्रु बह चलते हैं। यशोदा कहती हैं कि देवकी! तुम धन्य हो, जो अपने उदर से अनंत को जन्म दिया। इतना कहकर दोनों माताएँ एक-दूसरी से मिलती हुई श्रीकृष्ण को अलते से सजाने में लग गयीं।'

एक स्थान पर कवि जगन्नाथजी की शोभा का वर्णन कर रहे हैं :

तरुण तमाल नीलगतमाल शाल उज्ज्वल वदन,
धवल कमल कालिंदी कमल मध्ये सूर्य प्राये शोभन,
दिशइ श्रीवने बेनिनयन।
सुअधर छबि निंदे उदे रबि पल्लब बधूति प्रसून।
शितरे सगत शाखार सहित सुघट मुकुट बिराजइ
सुगंड मंडल मंडित कुंडल मार्तंड चंडकु खंडइ,
प्रलंब श्रीभुज दंड देख प्रिये।
पतिते शरण पशिबा कारण भाबरु एन्हें शोभा पाए।

शं. पु.

कालीचरण दास

कालीचरण दास का जन्म १८९२ ई० में हुआ था। दीक्षा के बाद गुरु ने इनका नाम कालीचरण के स्थान पर 'कृष्णचरण दास' रखा। चैतन्य-लीला के आधार पर इन्होंने 'चैतन्यमंगल-पाला' की रचना की है। इसके अतिरिक्त 'गौरगोबिंद-भजनमाला' तथा 'ओडिआ-कीर्तन' नामक इनके दो काव्य-संग्रह प्रकाशित हैं। इनका गोलोकवास सन् १९८३ में ९१ वर्ष की अवस्था में हुआ।

शं. पु.

कालीचरण पटनायक

कालीचरण पटनायक का जन्म बड़ंबा में १८९८ ई० में हुआ था। पिता दुर्गाचरण पटनायक बड़ंबा के राजघराने में काम करते थे। जन्म के बाद इनकी आँख न खुली तो काली की मनौती मानी गयी और आँख खुल गयी, इसी कारण इनका नाम 'कालीचरण' रखा गया। इनका परिवार आस्तिक था, अतः इन्हें भक्ति के संस्कार जन्म से ही मिले। इनके पिता का सम्बन्ध कई रियासतों से था। अतः भ्रमण,

साहित्य-चर्चा एवं संगीत-श्रवण का इन्हें पर्याप्त अवसर मिला। आरम्भ में 'वरणमाला' शीर्षक इनके भक्ति-गीतों का एक संग्रह प्रकाशित हुआ। बाद में कई और कविताएँ तथा उपन्यास निकले। इनकी प्रसिद्धि से प्रभावित होकर पुरी के गजपति महाराज रामचन्द्र देव ने इन्हें अपनी सभा में सम्मान दिया और पुरस्कार-स्वरूप १९२६ में 'कविचन्द्र' की उपाधि प्रदान की। तब से ये कविचन्द्र कालीचरण बन गये। फिर तो उन्हें नाट्याचार्य, पद्मश्री, मानद डाक्टरेट आदि अनेक उपाधियाँ मिलती गयीं। संगीत और साहित्य की साधना बढ़ती चली। इन्होंने पहले 'राधारमण-रासोत्सव' नाम का रासदल, फिर नाट्यसंघ बनाया। इनके माध्यम से उड़ीसा में चारों ओर रासलीला के विभिन्न प्रदर्शन कर इन्होंने अपार ख्याति पायी। १९३९ में उन्होंने 'उत्कल थियेटर्स' की स्थापना की तथा दस वर्षों तक अभिनय और मंचन चला।

इसके बाद कालीबाबू उड़िया संगीत और नृत्य के अनुसंधान में जुट गये। ओड़िसी नृत्य-संगीत की शास्त्रीयता के सूत्र ढूंढ़कर उन्हें विद्वत्-समाज के समक्ष उपस्थापित किया गया। इससे ओड़िसी को गौरवमय स्थान मिला।

संगीत-नाटकों में 'गीत-गोविंद, राधिका, चंद्रिका, मणिकर, देहि पदपल्लवमुदारम्' आदि इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने जयदेव, अतिबड़ी जगन्नाथदास, चक्री, सारलादास आदि तीस एक नाटक लिखे हैं। 'कुम्हार-चक्र' आत्मकथा पर केन्द्रीय साहित्य अकादमी ने उन्हें पुरस्कृत किया है। जयदेव के जन्मवृत्त एवं गीत-गोविन्द के उड़िया में काव्यानुवाद ने इन्हें साहित्य-जगत् में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी बना दिया। इनका देहावसान कटक में १९७८ में हुआ। इन्हें जगन्नाथ महाप्रभु से सम्मानसूचक 'चामर-नियोग' (चँवर-सेवा) का अधिकार मिला था।

यहाँ इनका जगन्नाथजी के स्वरूप का परिचय देनेवाला एक पद उद्धृत है :

करि कराउ निमित्त आउ सबु
तो कथा तु जाणु मणिमा।
अंधरे हेउ साहा तु पुणि चउबाहा
विधिरे अजणा तो सीमा
हे महाबाहु, तु एका तोहरि उपमा
घड़ि घड़ि के आन मन बंधन ज्ञान
गोचर नुहे तो गरिमा
हे महाबाहु !

'प्रभु, आप ही सब करते-करवाते हो, बाकी सब तो निमित्तमात्र हैं। हे महाबाहु, अपने कार्यकलाप आप ही जानो। चतुर्बाहु ! आप अंधे के सहायक होते हैं। आपकी सीमा विधाता तक को अज्ञात है। हे महाबाहु ! आपकी उपमा आप ही हैं। घड़ी-घड़ी में परिवर्तन हो रहा है, मन और ज्ञान सब बंधन में हैं, आपकी गरिमा कौन जान सकता है ?'

इनका एक अन्य पद देखिये। जगन्नाथजी रथ-यात्रा के लिए निकले हैं। दर्शन कर करोड़ों नर-नारी कृतकृत्य हो रहे हैं। कविचन्द्र कितने आत्मविभोर हैं, इस पद में देखें :

आज नव साजरे हेउ जगबंधु सजरे
नंदिघोष रथे बिजे तेजि तुलि शेजरे।
पतितपाबन बाना
उड़े गगने अना
बरषे आषाढ़ धारा
तहिँ कि नाहिँ पसरा
पुलकभरे
कोटि कोटि नारी-नर
कण्ठे कण्ठे शुभे संगीत मंगल
'दुख-नाशन जगन्नाथ भज रे।'
विजय-रथे कला शिरीमुख
निरेखि हरे जनमन-दुःख
बंद मानस द्वंद पदरज रे।

'आज जगबंधु ने नव-साजसज्जा की है। शय्या त्यागकर नंदिघोष-रथ पर विराजमान (आरूढ़) हुए हैं। आकाश में उनकी पतितपावनता का बाना (पताका)

फहरा रहा है। आषाढ़ी मेघ धाराप्रवाह बरस रहे हैं, पर उधर किसीका ध्यान नहीं। पुलकित हुए कोटि-कोटि नर-नारी समवेत स्वर में गा रहे हैं : "दुख-नाशन जगन्नाथ भज रे" साँवरे श्रीमुख रथासीन हो गये हैं। उनको निरखकर जन-मन का दुःख दूर हो जाता है। रे मानुष ! उनके चरणयुगल की रज की वन्दना कर।'

शं. पु.

किशोरचन्द्र राजेन्द्र

किशोरचन्द्र राजेन्द्र चिकिटि के राजा विश्वम्भर राजेन्द्र के पुत्र थे। पिता की मृत्यु के बाद १८८७ ई० में ये गद्दी पर बैठे। इनकी लिखी कुछ चौपदियाँ मिलती हैं। इनके अतिरिक्त झूलन-चंपू, वसन्तरास, राधा-प्रेमलीला, कृष्ण-लीला, विदग्ध-माधव आदि इनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी प्राप्त हुई हैं। इनकी परलोक यात्रा १९०३ ई० में हुई। शं. पु.

किशोर दास

किशोरदास अठारहवीं सदी के गौड़ीय वैष्णव थे। ओड़िया के विशिष्ट साहित्यकार कविसूर्य सदानन्द ब्रह्मा के ये दीक्षागुरु थे। इनकी लिखी कृष्णभक्ति-विषयक कुछ कविताएँ मिलती हैं। शं. पु.

कुञ्जबिहारी भ्रमरवर

कुंजबिहारी भ्रमरवर पालूर (जिला गंजाम) के राजवंश में उत्पन्न हुए थे। कृष्णलीलासम्बन्धी इनके लिखे कुछ गीत मिलते हैं। इनके जीवनचरित से सम्बद्ध कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। शं. पु.

कुलमणि राजेन्द्र

कुलमणि राजेन्द्र का कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। राधाकृष्ण-लीलाविषयक कुछ पद प्राप्त हैं। यहाँ एक पद उद्धृत है :

कह गो दूती मोते काहिं गले हरि गो।
श्रीखंड चूलिआ से मो नवघन काला गो।
पिंडरु पराण के मो हरि घेनि गला गो॥
येणिकि चाहिंले नेत्रे ता रूप दिशिला गो।
असन बसन विष पराए होइला गो।

येते रूपे आंभठारे मुहांस कले गो।
ऐबे से मुछिबे बोलि परते न थिला गो॥
गोपपुर जनशिरी नंदनंदन गो।
आसिबे बोलि नइले कि विचारि मने गो॥

कुलमणि राजइन्द्र कृष्णपादे चिन्ति गो।
कहन्ति ए रसे राधा विरह भारती गो॥

"राधा पूछ रही हैं कि 'हे दूती, बता हरि कहाँ गये ? वे श्याम, नवघन, श्रीखण्डचूल मेरे पिण्ड से प्राण लेकर कहाँ चले गये ? जिधर देखती हूँ, नेत्रों में उसीका रूप दीखता है। अब तो असन-वसन सब विष-प्राय हो गये। हममें जितना रूप था—वे इधर देखेंगे, यह विश्वास भी न था। वे तो नन्दनन्दन स्वयं इस गोपपुर की जनश्री (शोभा) है। वे आयेंगे तो ? अन्यथा क्या करूँगी ? सोच तो सही।' विरह में डूबी राधा इस प्रकार सखी के आगे चिन्ता कर रही हैं।"

शं. पु.

कृपामय देव

कृपामय देव बड़खेमण्डी (जिला गंजाम) के राजा लक्ष्मीनारायण देव के तीसरे पुत्र थे। इनका जन्म १८७७ ई० में हुआ। इनके लिखे फुटकर पदों से इनकी कृष्ण-भक्ति का परिचय मिलता है। १९२२ ई० में ये दिवंगत हो गये।

शं. पु.

कृपासिन्धु दास

कृपासिन्धु दास का जन्म १७५५ ई० में डालिजोडा (जिला कटक) में हुआ था। इन्होंने अपनी रचना 'व्रज-विहार' में ग्रन्थ-समापन की जो तिथि दी है उसीके आधार पर इनका यह काल-निर्णय है। ये जाति के कायस्थ और नारी-कवयित्री वृन्दावती दास के पौत्र थे। इनके पिता का नाम भागीरथी खरसोधा पटनायक था। 'व्रजविहार' के अतिरिक्त 'सखी-चातुरी' और 'चतुर्धा मूर्ति-वर्णना' नामक दो

श्री अतिबड़ जगन्नाथदास
(पृ० १२९)

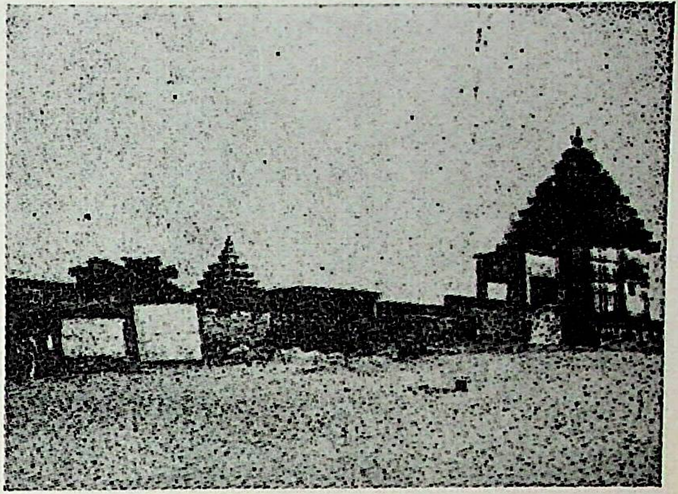

सुवार गौरांग : जगन्नाथ पुरी में चैतन्य महाप्रभु का निवास-स्थल
(पृ० १३०)

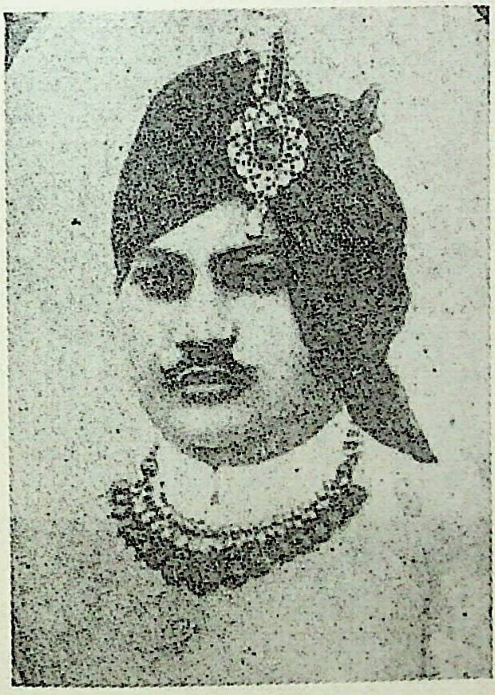

महाराज रामचन्द्र देव (पृ० ८४)

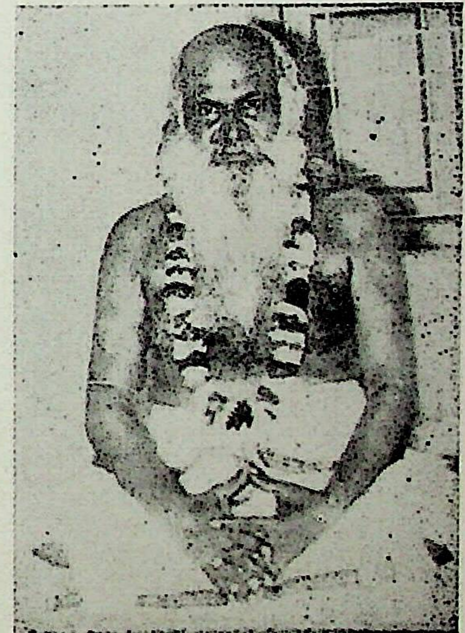

श्री बायाबाबा (पृ० १६७)

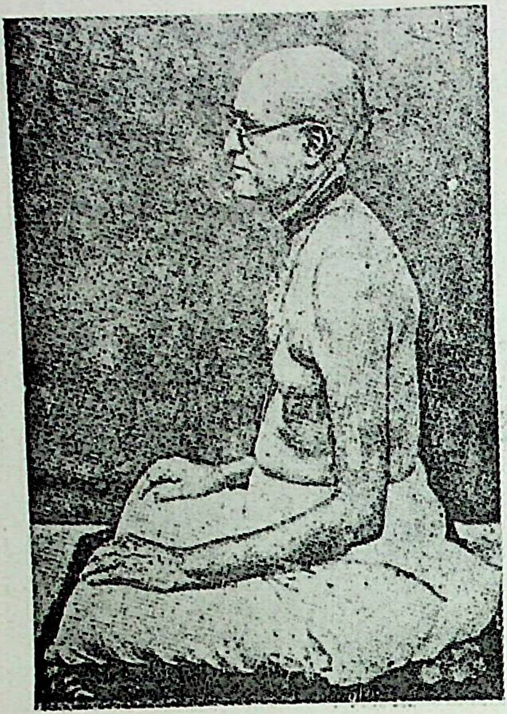

श्री भक्तिसिद्धांत सरस्वती ठाकुर (पृ० १७७)

श्री मधुसूदनदास (मधु बाबा) (पृ० १८३)

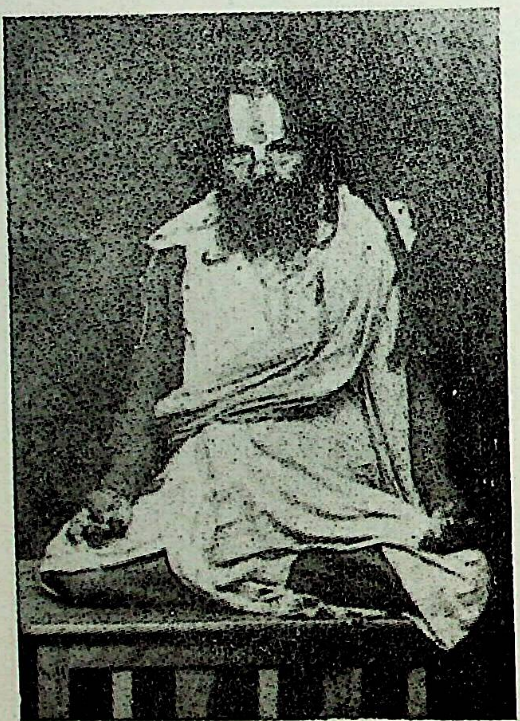

महंत रामदास (पृ० २०१)

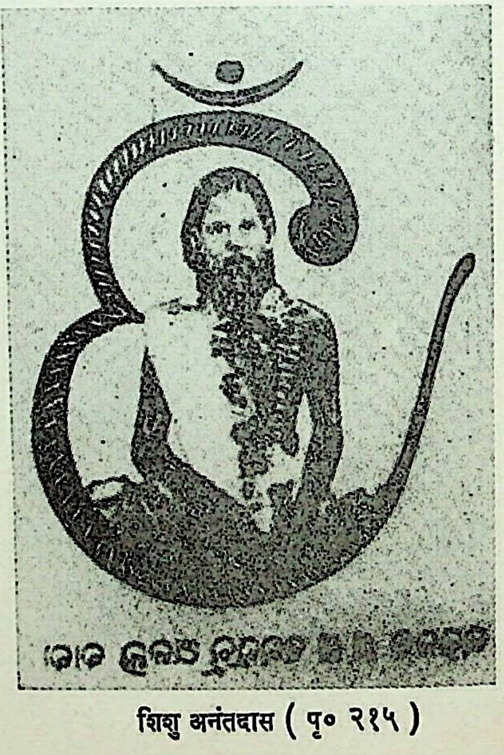

शिशु अनंतदास (पृ० २१५)

अन्य छोटी-छोटी रचनाएँ भी इन्होंने लिखी हैं। इनकी प्रसिद्धि 'ब्रज-विहार' के ही कारण है। इनका मूल निवास डालिजोड़ा ग्राम था, फिर भी इन्होंने जीवन का बहुत बड़ा भाग श्रीक्षेत्र में व्यतीत किया और वहीं रहकर प्रभु जगन्नाथजी की कृपा से काव्य-रचना करते रहे।

'ब्रज-विहार' में इन्होंने श्रीकृष्ण के बाल्यकाल से कैशोरअवस्था तक की गोपलीला का वर्णन किया है, विशेषकर नायिका-भेद के आधार पर राधा के सौन्दर्य का निरूपण किया गया है। इसमें विरहिणी राधा का अत्यन्त मार्मिक चित्रण मिलता है। राधा का पत्र लेकर दूती कृष्ण के पास जाकर उनकी दीनदशा का वर्णन करती है। यहाँ उसी प्रसंग से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :

कहिबारे आउ अछि कि से रामा,
रहिबारे नाहिं जीवन।
सहिबारे नाहिं चंदन सुमन,
बहिबारे नाहिं खण्डन॥
कृष्ण हे! अहिबारे सम मणुछि,
सहिबारे तुंभ दर्शन वशरु,
दहिबारे काम लागिछि॥

दूती कह रही है कि 'हे कृष्ण! उस रामा के बारे में अब और कहने को क्या रह गया? उसका जीवन नहीं रह सकेगा। वह तो चंदन और पुष्प तक सह नहीं पाती। कुछ भी कहना उसे सर्पदंशन-सा लगता है। तुम्हारी दर्शनाभिलाषी वह इतनी व्याकुल है कि उसीका लाभ लेकर काम उसे जलाने में जुट गया है। हे कृष्ण! उसकी सुध लो!'

शं. पु.

कृष्णचन्द्र कर

कृष्णचन्द्र कर बारंगपालि (जिला सम्भलपुर) के निवासी थे। इनका जन्म १८०१ ई० में हुआ था। इनकी लिखी 'कुंज-विहार' काव्यकृति प्रकाश में आयी है जिसका श्री शिवप्रसाद दास ने सम्पादन किया है। इसमें ब्रज और मथुरा-लीला का पारम्परिक वर्णन मिलता है। ग्रन्थकार ने इस रचना की प्रत्येक पंक्ति के आदि में 'क' वर्ण का प्रयोग किया है। इनका परलोकवास १८६४ ई० में हुआ। शं. पु.

कृष्णचन्द्र राजेन्द्र

कृष्णचन्द्र राजेन्द्र चिकिटि (जिला गंजाम) के राजा थे। इनका शासनकाल १७७० से १७९० ई० तक माना जाता है। उड़िया में इनकी लिखी 'राम-लीला' गीतिनाट्य को पर्याप्त लोकप्रियता मिली है। इसके अतिरिक्त इन्होंने करीब ५०० चौपदियाँ भी लिखी हैं जिनमें से कुछ कृष्णभक्तिविषयक हैं। शं. पु.

कृष्णदास

कृष्णदास जगन्नाथदास के षोडश शिष्यों में थे। सदाशिव रथ शर्मा के अनुसार पुरी में 'बलगण्डी का वड़मठ' इन्हींके द्वारा स्थापित है जो आज ध्वस्त अवस्था में है। कुछ लोग 'दीनकृष्ण दास' के 'दीन' शब्दको हटाकर उन्हें जगन्नाथदास का शिष्य प्रमाणित करते हैं। किन्तु 'दीनकृष्ण' की रचनाओं में कहीं भी जगन्नाथदास के शिष्यत्व की बात नहीं आती। अतः विद्वानों ने यह मत स्वीकार नहीं किया है। सम्प्रदाय में मान्यताप्राप्त ग्रन्थों के आधार पर कृष्णदास 'गुरु के चित्रपट की सेवा' किया करते थे। मञ्जरी-परम्परा में इन्हें 'कृष्णवल्लभा' बताया गया है।

शं. पु.

कृष्णदास बाबाजी

कृष्णदास बाबाजी का जन्म उड़ीसा में १७ वीं शताब्दी में हुआ था। इनका जन्मस्थान अज्ञात है। बचपन का नाम 'बटकृष्ण' था। पिता सनातनजी कानूनगो थे। उनकी मृत्यु के बाद सती होने को उद्यत माता ने इनसे कहा : 'तुम्हारे लिए घर-संसार नहीं है, जाकर वृन्दावन में हरिभक्ति करो।'

एक दिन ये बिना कुछ लिये घर से निकल पड़े और वृन्दावन में ब्रह्मकुण्डवासी वैष्णव चरणदास के आश्रम में पहुँचे। वैष्णव चरणदासजी ने इन्हें दीक्षा दी और नाम रखा 'कृष्णदास'। ये चार वर्ष वहीं रहे। गुरु महाराज के देहत्याग के बाद इन्हें इच्छा हुई

कि गोविन्दजी के दर्शन किये जायँ। अतएव ये जयपुर गये। जयपुर के महाराज इनसे अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने गोविन्ददेव की सेवा में इन्हें रख दिया। दस वर्ष तक ये भगवान् गोविन्ददेव की अर्चना करते रहे। एक दिन भगवान् को अर्पित दिव्य भोग कृष्णदास ने छककर खाया तो कामविकार से ग्रसित हो गये। उससे मुक्त होने के लिए जयकृष्णदासजी की प्रेरणा से ये जंगल में जाकर तप करने लगे। घोर साधना के फलस्वरूप इनकी आँखें चली गयीं।

एक दिन जब ये नदी में स्नानकर ध्यान कर रहे थे, किसीने मधुर स्वर में कहा : 'बाबा! भगवान् का भजन करने के लिए देह का भी ध्यान रखा करो। गाँव में जाकर भिक्षा लाया करो। लो यह अञ्जन, सखी ने भेजा है। इसे लगा लो, आँखों को कुछ लाभ हो जायगा।' नूपुर की ध्वनि गूंजी और नारी-मूर्ति ओझल हो गयी।

बाबा ने अंजन लगाया और कुछ क्षणों के बाद आँखें खोलीं तो दृष्टिशक्ति लौट आयी थी। सारा वृन्दावन दीख रहा था। किन्तु इन्हें एक ही विकलता थी कि वह कौन थी? आराध्य देवी बिना दर्शन दिये चली गयी। बस, वे अनशन पर बैठ गये। तीसरी रात अचानक दिव्य प्रकाश से कुटी आलोकित हो उठी। स्मित हास से देवी ने कहा : 'बाबा कृष्णदास! दुःख कैसा? तुम मेरे ही हो। वत्स, चक्षुदान करने के लिए सखी ललिता को भेजा था। अब गोवर्धन चले जाओ। भक्तों को प्रेम-साधना का सहज उपाय बताओ।'

बाबा देवी की प्रेरणा से गोवर्धन चले आये। शास्त्राभ्यास में लीन रहने से भजन में बाधा पड़ने लगी। सोचने लगे कि क्या करें? ललिता ने ही आशीर्वाद दिया : 'आज से तुम शास्त्रों की व्याख्या में सिद्ध हुए। शास्त्र तो अनन्त हैं, शास्त्राध्ययन न हुआ तो न सही। तुम अपनी साधना के बल पर भजन कर गूढ़ तत्त्व भक्तों के आगे प्रकट कर सकोगे।'

एक दिन दक्षिण के एक पण्डित कृष्णदास की कुटी में आये और विद्वानों की निन्दा करने लगे। कृष्णदास ने विनम्र होकर कहा : 'सामवेद के कुछ मन्त्रों का वाचन करें।' पण्डित ने सुललित कण्ठ से कुछ मन्त्र सुनाये। बाद में कृष्णदास ने स्वयं गाकर शुद्ध उच्चारण कर सुनाया। सुनकर पण्डित विनयावनत हो गये और अपनी भूल समझ गये।

कुछ ही दिनों में कृष्णदास की ख्याति चतुर्दिक् फैल गयी। लोग कहते : 'महाप्रभु के वरदान के कारण ही इनकी शास्त्रव्याख्या इतनी दिव्य होती है। कथा-प्रवचन के समय ये दिव्यधाम में विचरण करते हैं। वहाँसे अनुपम शब्द-पुष्पों का चयन कर श्रोताओं के आगे रखते हैं। प्रसिद्ध सन्त हरिदासजी ने 'वैष्णव-जीवनी' में इनके सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कथाओं का उल्लेख किया है। शं. पु.

कृष्णशरण

कृष्णशरण का कोई परिचय नहीं मिलता, फिर भी इनके राधा-कृष्ण-भक्तिसंबंधी स्फुट पद मिलते हैं। यहाँ एक पद उद्धृत किया जा रहा है :

नवनागर सुंदर! प्रीति जाणिलि तुंभर।
नुआ करि जेउँ! प्रीति कल ताकु, मोपरि न कर॥

साहि पड़िशांक मना, गुरुजनंक मानना।
न मानि न बुझि, अपथे चालिबा फल फलिब ना॥

आलि मुं करम, रखि न देला धरम।
मोह परि ताकु, क्लेश न देले न सहिबरि धरम॥
बेलहुँ मुं जाणिलि, सत पराये मणिलि।
कहिले कि हेब मो हृद-वेदना परमादरे पड़िलि॥
अबलांकु देइ दुःख, अरजिल केते सुख।
कृष्णशरण कहइ बारे, न टेकिल मुख॥

राधा मानभरे स्वर में कृष्ण के आगे कह रही है कि 'हे नवनागर! तुम्हारी प्रीति जान गयी। मेरे प्रति ऐसी यह नयी प्रीति मत करो। अड़ोस-पड़ोस के लोगों द्वारा मना करना, गुरुजनों की उपेक्षा, बिना समझे-बूझे इस अपथ में चलना— इसका फल फलेगा ही। मेरे

कर्म ऐसे ही हैं, धर्म की चिन्ता ही नहीं की। मेरी तरह उसे क्लेश होगा तो धर्म सहेगा ? मैं समय पर ही जान गयी, उसकी बातें सच-सरीखी मान बैठी। अब हृदय की वेदना कहने से क्या होगा ? मैं प्रमाद (भ्रम) में पड़ गयी। तुमने अबला को दुःख देकर कौन-सा सुख कमा लिया ? एकबार भी मेरा मुँह उठाकर (चिबुक टेककर) नहीं निहारा।'

शं. पु

कृष्णसिंह

प्रसिद्ध काव्यप्रेमी कृष्णसिंह गंजाम जिले के धराकोट के नरेश थे। इन्होंने १७३९-१७८८ ई० के बीच संस्कृत महाभारत का उड़िया में काव्यानुवाद किया था। 'राधा-विरह चौंतीसा' इनकी अन्य प्रसिद्ध गीत-रचना है, जिसमें राधा के विरह का विस्तृत वर्णन किया गया है।

यहाँ इनका एक पद दिया जा रहा है, जिसमें दूती कृष्ण के आगे जाकर राधा की विरह-व्यथा का वर्णन कर रही है :

प्रीति करि रहि अछि के टाण पणे,
ये सिना करिछि ता मन जाणे।
दूति कर धरि धरि एकान्ते भेंटे सुन्दरी,
के कर निवेशो नाहिं ता चरणे॥

सरस विनय गिर कहि कहि पछे तार,
के अवा जाइ नाहिं से जाए जेणे।

कपट निराश वाणी रमणीमणिर शुणि
काहा हृद न फुटिछि फुल - बाणे॥

महत हानी कि डरि प्रियाकु चाटु न करि,
केबे लेखा होइछि सुरसिक पणे।

श्याम आगे दूती कहि एबरि किबार केहि,
नृप कृष्णसिंह कि मनकु आणे॥

'सुंदरी राधा दूती का हाथ पकड़कर एकांत में उससे भेंट करके सरस, विनयपूर्वक कह रही है कि भला प्रेम करके किसमें दृढता रह सकी है ? जिसने प्रेम किया वही यह जान सकता है। रमणीमणि राधा की ऐसी निराशाभरी वाणी सुनकर किसका मन नहीं टूट जायगा ? अतः बिना किसी चाटुकारिता या कपट के वह श्यामसुन्दर के आगे कहती है कि भला ऐसे किसीको बिना मन में लाये रहा जाता है ?'

शं. पु.

श्री केदारनाथ दत्त

केदारनाथ दत्त का जन्म कटक जिले के केन्द्रापाड़ा के निकटस्थ छोटी मंगलपुर नामक गांव में हुआ था। बाद में साधक के रूप में ये 'सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर' के नाम से प्रसिद्ध हुए। शरीर पर प्रचुर लोम होने के कारण गाँववालों में ये 'बालुआ बाबू' के नाम से जाने जाते थे। आज भी उस गाँव में महात्मा केदारनाथ के पितामह द्वारा प्रतिष्ठापित राधामाधव और श्रीजगन्नाथ के विग्रह पूजित हो रहे हैं। इन्होंने केन्द्रापाड़ा में स्कूल तथा कटक में कई मठों का निर्माण कराया था।

इन्होंने वेशधारी कपटी वैष्णवों की तीव्र आलोचना की है। ढोंग रचनेवाले ऐसे बाबाओं को 'कलिर चेला' की संज्ञा देते हुए ये लिखते हैं :

एइ त एक कलिर चेला,
मुण्ड नण्डा कौपीन पिन्धा तिलक नाके गला रे माला।

'यह एक कलियुग का चेला है, जिसने सिर मुड़ाकर, कौपीन पहन, नाक पर तिलक दिये गले में माला पहन ली है।'

उड़ीसा के मठों के संस्कार के लिए इन्होंने अखबारों में लिखकर तथा छोटी-छोटी पुस्तकें छपाकर जनता में जागृति पैदा कर दी। शिक्षा-कार्यों में इनकी निष्ठा तथा धर्मशास्त्र में अगाध पाण्डित्य देखकर उड़ीसा के तत्कालीन कमिश्नर 'रेवेंसा' ने इन्हें 'डिपुटी मजिस्ट्रेट' नियुक्त किया था। श्रीजगन्नाथ-मंदिर की सुशृंखल परिचालन-व्यवस्था का प्रवर्तन करके इन्होंने ही धर्म के नाम पर उभरते अनेक कुसंस्कारों का डटकर सामना किया और निर्भीकता के साथ उन्हें हटाकर पवित्रता का प्रवर्तन किया।

१८७४ ई० की ४ फरवरी को पुरी में ही इनके पुत्ररत्न के रूप में महापुरुष 'प्रभुपाद' का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने आगे चलकर विश्वभर में गौड़ीय धर्म का प्रसार किया।

पुरी में कुछ काल तक साधना कर चुकने के बाद इन्हें नदिया जिले के 'डिपुटी कमिश्नर' के रूप में जाना पड़ा। वहाँ भी इन्होंने अपनी भगवत्-साधना जारी रखी।

अ. प.

गंगाधर दास

गंगाधर दास के जीवनविषयक कोई तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। रामदासकृत 'दाढर्यता-भक्ति' में इनके सम्बन्ध में एक कथा दी गयी है। प्रतापरुद्र देव (१६वीं शती) के समय की बात है। गंगाधर और उनकी पत्नी श्रिया चैन से रहते थे। एक दिन श्रिया पुत्र न होने के दुख से उद्विग्न हो उठीं। अगले दिन पति ने एक शिशु लाकर गोद में रख दिया। नाम था श्रीकिशन। माँ ने खूब लाड़-प्यार से उसे पाला। एक दिन गंगाधर दास कहीं बाहर गये थे। लौटते समय रास्ते में गिर गये और उनके प्राण-पखेरू वहीं उड़ गये। किन्तु जब यह दुःखद वृत्त घर पर पहुँचा तो उस शिशु ने कहा: 'यह कैसे संभव है? मुझे देखे बिना वे जा नहीं सकते।' जब गंगाधर दास का मृत शरीर घर लाया गया तो वे सचमुच जी उठे।

एक दिन पुत्र श्रीकिशन घर में सब कुछ छोड़कर ओझल हो गये। पुत्र-वियोग में गंगाधर दास और उनकी पत्नी दोनों ने साधु-सन्तों को सर्वस्व दान करके अपने प्राण त्याग दिये। इस प्रकार दोनों की कथा लोकमुख पर आज भी जीवंत है।

प. पु.

गंगाधर मेहेर

गंगाधर मेहेर बरपाली (जिला संभलपुर) में सन् १८६२ ई० में रक्षा-बन्धन के दिन उत्पन्न हुए थे। ये जाति से तन्तुवाय (जुलाहा) थे। थोड़ी-बहुत शिक्षा पाने के बाद इन्होंने जातिगत व्यवसाय अपना लिया।

इनमें प्रारंभ से ही काव्यप्रतिभा थी। 'कीचकवध' काव्य के प्रकाशन के बाद इनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। इससे प्रभावित होकर कोड़ासाबर के जमींदार ने इनकी आर्थिक सहायता की। इन्होंने पारिवारिक कार्य छोड़ दिया और काव्य-रचना में लग गये। इनका देहान्त १९२४ ई० में हुआ। इनकी रचनाओं में ईश्वर-भक्ति का प्रगाढ़ रूप मिलता है। 'अर्घ्य-थाली' में इनके स्फुटगीतों का सुन्दर संग्रह है।

इनके सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य 'तपस्विनी' में वनवासिनी सीता का विरह वर्णित है। राम द्वारा परित्यक्ता सीता वाल्मीकि के आश्रम में रहती हुई पति के वियोग में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करती हैं। तभी उन्हें राम द्वारा सीता की स्वर्णमूर्ति स्थापित करके यज्ञ करने की सूचना मिलती है। 'तपस्विनी' में इसी सन्दर्भ को मार्मिक रूप से चित्रित किया गया है।

गंगाधर नवयुग की चेतना के भक्त हैं। यहाँ इनकी एक भक्ति-रचना उद्धृत की जा रही है। ये भगवान् के समक्ष निवेदन कर रहे हैं:

विश्व-जीवन हे तुंभंकु करुणा-सिंधु।
बोलिबाकु मन बलु नाहिं, जेणु सिंधु तव कृपा-बिंदू॥

तुंभ भजनरे हेबि नाहिं नाथ माला जपिबाकु बाध्य।
कोटि कोटि ग्रह कंठि से मालार के जपिब करिब साध्य॥
देह नाहिं बल, पादधूलि घेनि, पारिब नाहिं मो मुंड।
कोटि कोटि रवि धूलिरूपे तुम्भ पादे होइछंति रुंड॥
कि देइ पूजिबि जाहा मुं देखुछि सबु तुंभर प्रसाद।
जाहा परसाद तांकु अरपिले हेब सिना अपराध॥
मुंकार मातर मोर नुहें बोलि कहिबाकु नाहिं बाट।
दूरु श्रीचरणे अर्पण करुछि घेन ता विश्व-सम्राट्॥

'हे समग्र विश्व के प्राण! तुम्हें करुणासिन्धु कहने को मन नहीं करता; क्योंकि सिन्धु तो तुम्हारी कृपाराशि का एक बिन्दुमात्र है। तुम्हारा भजन करने के लिए माला पिरोने की इच्छा नहीं होती; क्योंकि

तुम्हारी माला के एक-एक मनके में कोटि-कोटि ग्रह गुँथे हुए हैं, फिर कैसा जप करके तुम्हें साध सकूंगा ? इतना बल भी नहीं है कि मेरा मस्तक तुम्हारे चरणों की धूल तक धारण कर सके। यहाँ तो करोड़-करोड़ सूर्य तुम्हारे चरणों की धूलसदृश बिखरे हैं। क्या देकर तुम्हारी पूजा करूँ ? जबकि देख रहा हूँ सब कुछ तुम्हारा ही प्रसाद है। जिसका प्रसाद है उसे वही अर्पित करने पर तो अपराध ही होगा। यह मैं या मेरा कहना ही 'अहम्' का प्रतीक है, पर और कोई मार्ग भी तो नहीं है। अतः दूर से ही श्रीचरणों में इसे अर्पित कर रहा हूँ। हे विश्वसम्राट्! इसे ग्रहण करो।'

आजके निराशा, दुःख और भय-अवसादपूर्ण जीवन में गंगाधर की अमृतवाणी एक अद्भुत आस्था, आनन्द और विश्वास का संचार करती है। देखिये :

विश्व देख मधुमयरे जीवन, विश्व देख मधुमय !
मधुर झरण करिब हरण, तो पाप, मरण-भयरे जीवन ॥

जननीर स्नेह, जायार प्रणय बुध, बंधु सदालाप।
जनक आदर, एक एक झर, तड़ि देउछंति तापरे जीवन ॥

नव नव कर्म, नव नव मर्म नव नव ज्ञान-पथ।
नवीन आलोके देखांति ए लोके मधुझर शत शत रे जीवन ॥

'हे विश्ववासियो ! देखो, यह जीवन कितना मधुमय है। समूचा जीवन मधुमय हो रहा है। इस जीवन का मधुर झरना तुम्हारे सारे पाप और मरण-भय दूर कर देगा। यहाँ जननी का स्नेह, जाया का प्रणय, बुधजनों एवं बन्धु-बान्धवों का सदालाप, पिता का आदर सब एक से एक झरने हैं। जीवन में ये झरने सारे तापों को दूर भगा देते हैं। मानव के नव-नव कर्म-उद्योग, नव-नवीन व्याख्या, ज्ञान के नित-नूतन पथ सब जीवन में सदा नवीन आलोक प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार इस लोक में शत-शत मधु-निर्झरों की सर्जना होती है और जीवन मधुमय बनता है।'

कवि को संपूर्ण जागतिक जीवन मधुमय हो दिखाई दे रहा है। सचमुच कितनी आस्था और विश्वास के सागर में डुबकी लगा रहे हैं गंगाधर मेंहेर ! यह अपार भगवद्भक्ति का ही प्रसाद है।

शं. पु.

गंगामाता

गंगामाता का मूल नाम 'शचीदेवी' था। ये उत्कलप्रदेश के खुटिया राजवंश की राजकुमारी और गदाधर पण्डित की शिष्या थीं। इन्होंने हरिदास पण्डित से दीक्षा तथा लक्ष्मीप्रिया ठाकुरानी से वेदाश्रय ग्रहण किया था। हरिदास पण्डित के आदेश से आपने राधाकुण्ड में कठोर भजन के पश्चात् नीलाचल क्षेत्र में संन्यास लिया। इनकी उत्कट तपश्चर्या से प्रसन्न हो भगवान् जगन्नाथ द्वारा स्वचरणनिःसृत जल से स्नान कराये जाने के कारण ये 'गंगामाता' नाम से प्रसिद्ध हो गयीं।

गंगामाता के गोवर्द्धन से पुरी आने के समय सार्वभौम का निवास लुप्तप्राय था, केवल राधा-दामोदर के शालिग्राम ही वहाँ थे। ये भिक्षा द्वारा उनकी सेवा चलाती रहीं। मन्दिर में इनके भागवत-पाठ से आकृष्ट हो पुरी के गजपति मुकुन्ददेव ने श्रीजगन्नाथ द्वारा स्वप्नादिष्ट होकर कुछ भूसम्पत्ति इन्हें देनी चाही। शचीदेवी ने पहले तो इनकार किया, किन्तु बाद में सार्वभौम स्थान के उद्धार के लिए यह दान स्वीकार कर लिया।

एकबार वारुणी पर्व के समय श्वेतगंगा में स्नान करती हुई शचीदेवी गंगा के प्रवाह में बहकर श्री-मंदिर के पास पहुंच गयीं। आधी रात का समय था, चोर समझकर लोगों ने इन्हें बन्दी बना लिया। फिर श्रीजगन्नाथ महाप्रभु के स्वप्नादेश से राजा मुकुन्ददेव ने इन्हें मुक्त करके मन्त्र प्रदान करने के लिए अनुरोध किया। इन्होंने उन्हें मन्त्रदान (दीक्षा) दिया। गुरु-दक्षिणा के रूप में मुकुन्ददेव ने इन्हें विशाल भूसम्पत्ति देने का प्रस्ताव रखा तो शचीदेवी ने उसे ठुकरा दिया। केवल वैष्णवसेवा के लिए रोज दो हँडियों में

अन्न-प्रसाद, एक हाँडी सब्जी, एक प्रसादी, वस्त्र और एक सौ साठ कौड़ियों को मध्याह्न में धूप (पूजा) के बाद मठ में भिजवाने की अनुमति दी। आज भी उतना ही महाप्रसाद राजभोग के बाद मठ में आता है और गंगामाता की समाधि को अर्पित किया जाता है। पुरी में गंगमाता का मठ आज भी अपनी परम्परा निभाता जा रहा है।

श्रीरसिकराय का विग्रह पहले राजस्थान में जयपुर के एक ब्राह्मण के घर पर था। श्री जगन्नाथ के स्वप्नादेशानुसार उस ब्राह्मण ने उसे श्री गंगामाता को अर्पण किया था। वे प्रतिदिन तीन प्रहर विग्रह-सेवा और तीन प्रहर लीला-स्मरण करती थीं। आश्विन शुक्ल पक्ष की एकादशी के दिन शिष्य-मण्डली के साथ हरिनाम-संकीर्तन करती हुई श्रीगंगामाता आराध्य की नित्यलीला में प्रविष्ट हो गयीं।

अ. प.

गदाधर द्विज

गदाधर द्विज का विशेष परिचय नहीं मिलता, फिर भी राधा कृष्ण-भक्तिपरक इनकी कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं। यहां एक पद उद्धृत किया जा रहा है :

रे धरणी-मंडना !
दुर्दण्ड प्रचंड कुसुम-कोदंड कामसंताप खंडना ॥
बसिथिब धीरा धरालोक परा, धराधरवरस्तना।
नरेन्द्र-नन्दना करींद्र-गमना, सुरेन्द्र मन मोहना रे ॥
रामावाणी सुणि प्राणी राजे. निद्रा न थिब नयना।
घड़िकि घड़ि शुणि घोर घड़घड़ि उड़ि जिबनि चेतना ॥
चहक चंपक दाहक कनक, हरिताल गोरोचना।
सते कि मते कि केतकी गोरीकि, करिब सेहु भावना रे ॥
द्विज गदाधर भणे कविराज, गोपपुर नन्दकन्हा।
बोले धिक् प्रीति मोतिदन्तो मोर, पाइला एड़े वेदना ॥

श्रीकृष्ण के विरह में डूबी गोपी सोच रही है कि 'हे धरणीमण्डन, दुर्दण्ड-प्रचंड, कुसुम-कोदंड काम के संताप का खण्डन करनेवाले ! वह (राधा) क्या धरती की तरह धैर्य रखे नतमुख बैठी रहेगी ? हे नरेन्द्र-नन्दन, करीन्द्र-गमन, सुरेन्द्र-मनमोहन उसकी वाणी सुनकर किस प्राणी की आँखों में कणभर भी नींद रहेगी ? कहीं मेघों की गरज सुनकर उसकी चेतना तो डूब नहीं जायगी ? चंपे की यह चहक, कनक की दाहक, हरिताल और गोरोचन आदि की तरह केतकी-सी उस गोरी की भावना मुझे भी अपने सरीखी कर लेगी। हे गोपपुर के नंद-कान्हा ! तुम्हारी प्रीति को धिक्कार है जो मोती जैसे दांतोंवाली मेरी सखी को इतनी वेदना सहनी पड़ी।'

शं. पु.

गदाधर पण्डित

गदाधर पण्डित का आविर्भाव सन् १४८६ ई० की वैशाखी अमावस्या के दिन हुआ था। इनके पिता का नाम माधव मिश्र और माता का नाम रत्नावली था। १२ वर्षों तक ये चटगाँव के वेलटि गाँव में रहे। फिर अपने मामा के यहाँ नवद्वीप चले गये। ये ब्रह्मचारी थे। इनके गुरु श्री पुण्डरीक विद्यानिधि थे। नवद्वीप से ये श्रीक्षेत्र आये और तोटा गोपीनाथ में रहकर श्रीमद्भागवत सुनाने लगे। कहा जाता है कि बूढ़े हो जाने पर इनके कूबर निकल आया। उस स्थिति में गोपीनाथ-विग्रह की अंगरागादि सेवा करने में असमर्थ हो जाने से इन्होंने मृत्यु की इच्छा प्रकट की। यह जानकर स्वयं गोपीनाथ ने अपने पैर समेटे और इनकी सेवा-प्राप्ति के लिए छोटे हो गये। आज तक वह विग्रह उसी अवस्था में है।

पुरी के महाराज प्रतापरुद्र देव ने गोपीनाथजी की सेवा में जमीन-जायदादि देना चाहा, पर इन्होंने राजानुग्रह स्वीकार नहीं किया और मधुकरी वृत्ति से ही सेवाकार्य चलाने का निर्णय लिया। पुरी में १५३४ ई० को ४७ वर्ष की आयु में इनका देहान्त हुआ। इनकी एकमात्र रचना 'प्रेमामृत-स्तोत्र' मिलती है जिसमें श्रीकृष्ण के नवोत्तरशत नाम कीर्तित हुए हैं।

अ. प.

गणेश मिश्र

गणेश मिश्र कटक जिले के जगतसिंहपुर क्षेत्र में १८८४ ई० में उत्पन्न हुए। बाल्यावस्था से ही भग-

वद्भक्ति में लीन रहने की इनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। चौबीस वर्ष की आयु में इन्होंने वैष्णवधर्म में दीक्षा ग्रहण कर ली। ज्योतिष एवं तन्त्रशास्त्र में इनको अच्छी गति थी। ये स्वभाव से अत्यन्त विनम्र एवं विनयी होते हुए भी अपनी स्पष्टवादिता के लिए प्रसिद्ध थे। इन्हें पूर्वजन्म-वृत्तान्तज्ञान तथा भविष्य-गणना में अद्भुत सफलता प्राप्त थी। १८१६ ई० में ये भ्रमणार्थ सुन्दरगढ़ गये थे। वहाँ इन्होंने तत्कालीन महाराज की मृत्यु के सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर दी। फलतः उसी समय बन्दी बना लिये गये। किन्तु जब पण्डितजी की गणना सत्य प्रमाणित हुई तो युवराज ने इन्हें ससम्मान आमन्त्रित किया और राजसभा में स्थायी पण्डित के रूप में प्रतिष्ठित किया। पण्डितजी वहाँ चालीस वर्षों तक रहे। वहाँ पहली बार इन्हींकी प्रेरणा से नाम-संकीर्तन की धारा प्रवाहित हुई थी। बाद में आश्रम स्थापित कर ये वहीं रहने लगे। जर्मन विद्वान् डा० हेनरी स्ट्रीटन ने पण्डितजी के सान्निध्य में शैवधर्मसम्बन्धी अनेक रहस्यों का समाधान प्राप्त किया। इनके भक्त तथा प्रशंसक उड़ीसा और उसके बाहर भी चारों ओर हैं। मृत्यु के दिन वृन्दावन में शिष्य के हाथ से सहसा इनका चित्र लुप्त हो गया। इस प्रकार की अनेक अलौकिक घटनाएँ हुईं। इनका महाप्रयाण १९७२ ई० में हुआ।

यद्यपि इनकी अनेक रचनाएँ, विशेषतः रीतिकालीन परंपरा में लिखी गयी काव्यकृतियाँ, अभी भी अप्रकाशित है, फिर भी 'श्रीगुरु-गीतमाला' नामक राधाकृष्ण-वन्दनासम्बन्धी पदों और उपदेशात्मक छन्दों का इनका संकलन प्रकाशित है। इनकी दृढ़ भक्तिभावना की प्रकाशक दो रचनाएँ यहाँ दी जा रही है :

(१)

राधामोहन हे ! कि सुख पाइल एथि।
बंशी तेजि हरि, शंख-चक्रधरि, बसिबार एक रीति॥
बरज-बालक संग रे कालक वृंदाबने बुलुथिल।
एबे ता पाशोरि नीलगिरि दरी मउन होइ रहिल॥
गोपांगनाकर पालटा अंबर कदंबरे थिल बाँधि।
लुचाइ सेमान एथि बड़पण देखाउछ कृपानिधि॥
गोपे गउड़पि शोमंदिरु लबणी खाउथिल चोरिकरि।
गणेश बिचारे धरापड़िगले प्रभुपण जिब सरि॥

जगन्नाथजी को सम्बोन्धितकर भक्तकवि उनकी व्रजलीला का स्मरण दिला रहा है : 'हे राधामोहन ! इसमें तुम्हें क्या सुख मिला जो वंशी को छोड़कर अब शङ्ख-चक्र धारण किया ? यह बैठने की कैसी रीति है ? व्रज-बालकों के साथ वृन्दावन में घूमते रहते थे। अब वह सब भूलकर नीलगिरि में मौन होकर बैठ गये ! वहाँ गोपांगनाओं के उतारे वस्त्रों को कदम्ब की डाल में बाँध दिया था। वह 'मान' तो छिपा लिया और अब हे कृपानिधि ! बड़प्पन दिखा रहे हो ! व्रज में ग्वालिनों के घरों में चोरी से मक्खन खाया करते थे। वह सब प्रकाश में आ जायगा तो यहाँ तुम्हारा सारा प्रभुत्व मिट जायगा (तुम्हारी पोल खुल जायगी)।'

(२)

मरण समय हेला आसि हरि,
तेबे तुंभ दया नोहिला !
मोह पाइँ सिना रहिथिल लुचि,
एणिकि से भय न रहिब किछि।
निश्चिंतरे एबे बिहरिब भबे,
तुंभरि प्रतिज्ञा रहिला॥ १॥
मिछे देखा देइ भुलाइ मो मन,
श्रीमुखरे जाहा कहिछ से दिन,
मणि ताकु सत्य चाहिँ चाहिँ पथ !
जीबन-रजनी पाहिला॥ २॥
मिथ्या संसारकु सत्य मणि लोभे,
सुखे आशे जाहा संचिछि ए भबे,
गृह परिजन दारा सुत धन,
सबु तुंभ पाइँ रहिला॥ ३॥
कहिबाकु आउ नाहिँ समय,
तुम्भ इच्छा पूर्ण हेउ इच्छामय,
जाणंतु जगते आश्रे करि तोते,
गणेश अनाथ होइला॥ ४॥

'हे हरि ! अब तो अन्तिम समय आ गया है, फिर भी तुम्हारी कृपा नहीं मिली। तुम मेरे कारण छिपे-छिपे रहते थे। अब वह भय कुछ भी नहीं रहेगा। संसार में निश्चिन्त होकर घूम सकोगे। तुम्हारी प्रतिज्ञा ही रही। तुमने व्यर्थ ही मेरा मन लुभाया ! श्रीमुखारविन्द से जो कहा था, मैंने उसे सच मान लिया। रात-दिन, जीवनभर राह ताकता बैठा रहा। मैंने इस झूठे संसार को ही सच मान लिया। सुख की आशा में घर-बार, सुत-दारा और धन-द्रव्यादि जो कुछ संचित किया, अब सब तुम्हारे लिए छोड़े जा रहा हूँ। हे इच्छामय ! तुम्हारी इच्छा पूरी हो। संसार के सभी लोग जान लें कि तुम्हारी शरण में रहकर भी गणेश अनाथ हो गया।'

शं. पु.

गुणमणि सुत

गुणमणि सुत के जीवनसम्बन्धी तथ्य सर्वथा अज्ञात हैं। इनके द्वारा विरचित कुछ फुटकर पद मिलते हैं जिनसे राधाकृष्ण के चरणों में इनकी प्रगाढ़ आस्था व्यंजित होती है :

श्यामबंधु आसिबे मोहररे मंडिथिबि केलिपुर,
घसिथिबि परा घनसार अंग।
केश करि फुल भररे,
एथि कि आउ मो लाभरे सजनी,
से जेबे हेबे सुलभ,
सबु अलंकार मण्डन्ति सिना मो,
देहरे प्राण-बल्लभ ॥

• • •

गुणमनि सुत कहिरे सजनी !
मनोरथ मोर एहि,
दंपति रसरे माति न जाणिलि,
रजनी जिबार पाहि ॥

राधा बैठी-बैठी सोच रही है : 'हे सखी ! श्यामबन्धु के आने का समय हो रहा है, मैं केलिपुर मण्डित कर लूं। लेकिन इन सबसे मेरा और क्या लाभ, जब वे मुझे प्राप्त हो जायँगे ? सबकी देह पर अलंकार शोभा पाते हैं, पर उस समय मेरी देह की शोभा तो वे प्राण-वल्लभ ही होंगे।'

गुणमणि सुत कह रहे हैं : 'हे सजनी ! मेरे मन में रह-रहकर यही विचार आता है कि रात बीतने आ रही है और मैं दम्पति-रस में डूबना भी न जान सकी।''

शं पु.

गोदावरी गोसाँई

जगन्नाथदास के सोलह शिष्यों में गोदावरी अथवा 'गोवर्धन' नाम के एक शिष्य का उल्लेख आता है। इसकी पुष्टि 'नित्यगुप्त-चूडामणि', 'पादपद्म-सुधानिधि', 'हरिभक्ति-प्रेमकारिका' तथा 'गुरु-प्रणाली' आदि सांप्रदायिक ग्रन्थों से भी होती है। शिष्यवर्ग गुरु की सेवा सखीभाव से करते थे। गोदावरी को चामर-सेवा का दायित्व मिला था। मंजरी-परंपरा में इन्हें चन्द्रकान्ति' बताया गया है।

गोदावरी का जन्मस्थान वैद्येश्वर (जिला पुरी) में हुआ था। ये जाति से वैदिक ब्राह्मण थे। खण्डपड़ा के राजा ने इन्हें पथरचकड़ा में बसाया और कुछ जमीन भी दी। तदनुसार गोदावरी खण्डपड़ा के राजपुरोहित बन गये। यह पुरोहिती इनके वंशधर आज भी करते आ रहे हैं। ये भक्तितत्त्व के गहन विचारक थे। अनुमान किया जाता है कि 'भक्तिरत्न-चूडामणि' इन्हीं की रचना है। शं. पु.

गोपालकृष्ण पटनायक

गोपालकृष्ण पटनायक का जन्म पारलाखेमंडी (जिला गंजाम) के एक राजकीय पंजीकार वनवासी पटनायक के घर सन् १७८५ ई० में हुआ था। इन्होंने विनायकदास गोस्वामी से वैष्णव-दीक्षा ली और गुरु का आदेश होने पर गीतों की रचना की थी। बाबा वैष्णवचरण दास ने इनका संकलन किया था।

गोपालकृष्ण ने कृष्णप्रेम को अतिसहज भाव से ग्रहणकर उनके बाल-सौन्दर्य एवं बाललीला का मनोहर चित्रण किया है। सूर की ही भाँति इन्होंने भी सहज जीवनचर्या के रूप में राधा-कृष्ण के प्रेमका

वर्णन ,मुक्तकों में ही किया है। राधा-कृष्ण का प्रेम साहचर्य के आधार पर प्रगाढ़ होता है। भक्ति-भावना से भावित इनके कुछ पद यहाँ उद्धृत हैं।

कृष्णानुराग में मग्न राधा सखी से कह रही हैं :

मुँ श्यामबंधु भलिकि गो,
सम नोहिबि जे पद-धूलिकि गो।
तामरस-वन केलि अलिकि,
कि मणि नियोजु गिरि मल्लीकि।
तुल करु मोते वनमालिकि।
शुणिले जने मारिबे तालिकि ।।

‘मैं भला श्यामबन्धु-सरीखी हूँ ? उनकी पादधूलि के समान भी नहीं हो सकूंगी। तामरस-वन में केलि करनेवाले के लिए क्या सोचकर वनमल्ली नियोजित कर रही हूँ ? अरी ! तू मेरी तुलना उन वनमाली से कर रही है ? सुन लेंगे तो लोग ताली पीट-पीटकर हँसेंगे।’

अन्ततोगत्वा राधा का यह अनन्य प्रेम आत्मोत्सर्ग में परिवर्तित हो जाता है। किसी भी अपवाद या निन्दा की परवाह न करती हुई वे कहती हैं :

श्याम अपवाद मोते लागि थाउ, प्राणसहि
निति सेहि चितारे मो दिन जाउ।
चाहिं देले थरे से श्रीमुख,
कोटिए कोटि जन्मर दुःख,
लिभि जाउछिरे पराण मितणि,
जे जेते बोलिले बोलुथाउ ।।

‘मैं कृष्णापवाद को अपने से जुड़ा रहने देना चाहती हूँ। चाहती हूँ कि मेरे सारे दिन उन्हींकी चिन्ता में बीतें। एकबार उनके श्रीमुख को निरख लेनेभर से कोटि-कोटि जन्मों के दुःख मिट जाते हैं। प्राणों से सारे दुःख दूर हो जाते हैं। अतः हे प्राण-सखी ! कोई कितना कहे, यही चाहती हूँ कि मेरे नाम के साथ यह कृष्ण का अपवाद सदा जुड़ा रहे।’

शं. पु.

गोपाल तेलंगा

गोपाल तेलंगा अठारहवीं शताब्दी में संभलपुर के महाराज अजीतसिंह के अधीन एक सैनिक थे। इन्होंने भागवत, रामायण, महाभारत आदि धर्मग्रन्थों का श्रवण करने के बाद ‘अध्यात्म-रामायण’ का उड़िया-रूपान्तर किया था। ये नित्य नियमपूर्वक जगन्नाथजी के दर्शनार्थ जाया करते थे। रामायण के रूपान्तरण में इन्होंने नवाक्षरी छन्द का प्रयोग किया है जिससे इनके जगन्नाथदास द्वारा प्रभावित होने का अनुमान किया जाता है। यह कार्य १७४१ से १७४५ ई० के बीच सम्पन्न हुआ था। उन दिनों संभलपुर मराठों के अधीन था।

शं. पु.

गोपालदास

पहले इनका नाम ‘गोपाल मेकाप’ था, जगन्नाथदास से दीक्षा लेने के बाद ही ये ‘गोपालदास’ कहलाये। ये महाराज प्रतापरुद्र के समकालीन और जाति के ब्राह्मण थे। इनका साधना-पीठ रेमुणा के निकट मरह गाँव (जिला बालेश्वर) में बताया जाता है। अब यह मठ लुप्तप्राय है। इन्हें व्यजन और व्यंजन-सेवा का अधिकार मिला था। मंजरी-परम्परा में ये ‘परानन्दा’ के रूप में माने जाते थे। गोपालदास के लिखे ग्रन्थों में ‘पादपद्म-सुधानिधि, ‘द्वादशकुण्डली-पुराण’, ‘नामरत्न-सुधानिधि’, ‘जगन्नाथ-चरितामृत’ आदि प्रमुख हैं। गुरु के आदेश पर इन्होंने किसीको शिष्य नहीं बनाया। भक्ति के साथ योग-साधना में भी इनकी रुचि थी। उसके विषय में इनकी कुछ रचनाएँ मिलती हैं।

शं. पु.

गोपीनाथदास

गोपीनाथदास पुरी के बड़ओड़िया मठ के अधिकारी थे। बाद में इन्होंने गोपीनाथपुर (जिला कटक) में भी मठ की स्थापना की थी। कहा जाता है कि पुरी में प्रतापरुद्रदेव ने जगन्नाथदास पर प्रसन्न होकर उनके लिए श्रीमन्दिर से कुछ दूरी पर आवास

बनवा दिया था। यही अब बड़ओड़िआ मठ है। जगन्नाथदास ने इस स्थान का दायित्व गोपीनाथदास को सौंपा था।

कहा जाता है कि इन्हें गुरु की रत्नछत्र-सेवा का अधिकार मिला था। ये मंजरी-परम्परा में 'चित्रकला' के अवतार माने जाते हैं। इन्होंने अपने शिष्य माधवानन्ददास को गोपीनाथपुर के मठ का अधिकारी नियुक्त किया था। वे अलौकिक शक्तिसम्पन्न थे। उन दिनों पास के एक मठ के महन्त थे -वल्लभानन्द स्वामी। वे गर्व में भरे हुए बाघ पर बैठकर गोपीनाथपुर आ रहे थे। माधवानन्द स्थिति जान गये। अतः वे एक टूटी दीवार पर बैठकर उनका स्वागत करने के लिए आगे आ पहुँचे। यह देखकर मठाधीश को अपनी भूल का पता चल गया।

गोपीनाथपुर मठ में बहुत-सी गायें थीं। लोगों ने पुरी जाकर गुरु गोपीनाथदास से शिकायत कर दी कि माधवानन्द गायों की सेवा में त्रुटि करते हैं। यह सुनकर एक दिन गुरु परीक्षा लेने आये। देखा तो माधवानन्द गोखाद्य के अवशिष्टांश से ही तीन ग्रास लेकर रह जाते हैं। गोपीनाथदास आनन्दविह्वल होकर बोल उठे : 'तुम धन्य हो ! तुम तो मेरे भी गुरु हो।' इससे माधवानन्द और भी विनयावनत होकर धरती से शरण माँग बैठे। कहा जाता है कि धरती फट गयी और माधवानन्ददास उसमें समा गये। माधवानन्द की गोसेवा की परम्परा आज भी वहाँ चालू है। इस स्थल की धूल को अलौकिक गुणसम्पन्न बताया जाता है। देह त्याग के पश्चात् गोपीनाथपुर मठ में ही गोपीनाथदास की समाधि बनायी गयी है।

इनकी लिखी ताड़-पोथी में 'माघमाहात्म्य-टीका' और 'महाभारत' के अष्टादश पर्व मिलते हैं। किन्तु 'खुदरकुणी पुराण' अथवा 'तअपोई' इनका सर्वप्रसिद्ध लघुग्रन्थ है। गोपीनाथदास ने इसे गुरु को अर्पित कर दिया था। भाद्रपद के प्रत्येक रविवार को लड़कियाँ व्रत रखकर इस कथा का पारायण करती हैं। इसमें 'तअपोई' के सात भाइयों, सात बहनों तथा विधवा ब्राह्मणी के साथ हुई घटनाओं का वर्णन है। इस कृति में मंगला या शक्ति को प्रधानता दी गयी है।

इधर गोपीनाथपुर के मठ के अधिकारी नयनानन्दजी ने गुरु माधवानन्द के गुण-कीर्तन में एक पद्य-रचना प्रकाशित करवायी है। कीर्तन-मण्डली गुरु-प्रतिमा के आगे इसका गायन करती है।

शं. पु.

गोवर्धन महापात्र

जगन्नाथदास के सोलह शिष्यों में गोवर्धन महापात्र की भी गणना की जाती है। इन्होंने धराकोट के निकट पुटगोवर्धनपुर (जिला गंजाम) में मठ स्थापित किया था। दीक्षा के बाद इन्हें 'गोवर्धनदास' की संज्ञा मिली थी। मञ्जरी-परम्परा में इन्हें 'चन्द्रकान्ति' का प्रतिरूप माना जाता है। शं. पु.

गोविन्ददास

गोविन्ददास उन्नीसवीं शती के विशिष्ट कवि थे। इनकी 'महिषासुर-मानश्री', 'मंगला-मालश्री', 'चुंडगमालश्री' आदि कई छोटी-छोटी रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं। 'गोपिका-कोइलि' नामक इनका गीत गोपियों की दीनदशा का करुणार्द्र संगीत है। यह चौंतीसा-शैली में लिखा गया है, जिसकी कुछ प्रारम्भिक पंक्तियाँ ये हैं :

कोइलि कलरब कर्णे शुणि
क्रोधभरे बरज-रमणी।
कांदि कहंति आकुल होइ,
कोइलि, कुत्सित जीवन अछि किपाइ ए ?
कमलमुख न देखि
कोइलि, कि कारणे फुटि न जाइ आँखि ए ?

'कोयल का कलरव अपने कानों से सुनकर व्रजबालाएँ क्रोध में भर जाती हैं। व्याकुल हो रोती-रोती वे उससे कहती हैं कि री कोयलिया ! यह कुत्सित जीवन किसलिए मिला है ? उन कमलमुख श्रीकृष्ण को बिना देखे ये आँखें फूट क्यों नहीं जाती ?'

शं. पु.

गोविन्द भंज

गोविन्द भंज १८ वीं शती में विद्यमान थे। इनकी गणना 'केन्दूझर' राजवंश के विशिष्ट कवियों में की जाती है। इनकी दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—'चरण-सुधानिधि' और 'रामगीता'। यहाँ इनकी रचनाओं से एक उद्धरण दिया जा रहा है।

भक्तकवि जगन्नाथजी से निवेदन कर रहा है :

कृपासिधु, दीनबंधु ! काहिं कि करुणा उणा ?
मोहपरि दीनहीन धराधामे नाहिं शुणा ॥
भावि जा न थिलि मने बसाइ उच्च आसने।
सुखसंगे दुःख देबा रीति त न थिला जणा ॥

• • •

नृपति-सुत गोबिंद चितइ पदारबिंद।
हे मधुहारी मुकुंद ! मो दुर्भाग्य कर चूना ॥

'हे कृपासिन्धु, दीनबन्धु, आपकी करुणा कम क्यों हो रही है ? मुझ जैसा दीन-हीन, धराधाम में किसीने नहीं सुना होगा। सोचा भी न था कि ऊँचे आसन पर बिठाकर सुख के साथ दुःख देने की भी आपको रीति है।

• • •

'नृपति-सुत गोविन्द आपके पादारविन्द का ध्यान करता रहता है। हे मधुहारी मुकुन्द ! मेरे दुर्भाग्य को आप चूर्ण-विचूर्ण कर दें।' शं. पु.

गोविन्दराय गुरु

गोविन्दराय गुरु का जन्म १८६१में ग्राम पितल (जिला गंजाम) में हुआ था। ये उसी जिले के धराकोट के राजा के दीवान थे। 'वृन्दावन-चन्द्रानन-चंपू' इनकी एक लोकप्रिय रचना है। इन्होंने उड़िया, बंगला एवं संस्कृत में चैतन्यदेव की वन्दनाएँ की हैं। इनके राधाकृष्ण-प्रणय सम्बन्धी पदों पर कविसूर्य बलदेव रथ का प्रभाव दीखता है। 'रायगुरु-पदावली' में इनके गीतों का संग्रह प्रकाशित है। १९०१ ई० में ४० वर्ष की अल्पायु में ही इनका परलोकवास हो गया। शं. पु.

गोविन्दशूर देव

गोविन्दशूर देव तरला (जिला गंजाम) के राजकुमार थे। इनका जन्म १८८७ ई० में हुआ था। ये नयागढ़ (जिला पुरी) महाराज के भानजे थे। राजघराने से सम्बद्ध होने के कारण इन्हें राज्याधिकार भी मिलता, किन्तु अपने रास-दल के लिए इन्होंने राजपद काम हो त्याग दिया। इन्होंने ही सर्वप्रथम उड़ीसा में राधाकृष्ण-रासदल की स्थापना की थी। पूर्णतः समर्पित-भावना से १९ वीं शती के अन्त में इन्होंने रास-परम्परा द्वारा राधाकृष्ण-भक्ति को दृढ़ करने का स्तुत्य कार्य किया। ये आजीवन नाटक से जुड़े रहे। इनकी मृत्यु भी रंगमंच पर ही हुई। अन्तिम दिनों में ये नयागढ़ में आकर रहने लगे थे। इनका देहावसान १९३९ ई० में हुआ। शं पु.

गौरचरण अधिकारी

गौरचरण अधिकारी का जन्म १८१४ ई० में खुर्धा के पास लेहंग ग्राम (जिला पुरी) में हुआ था। ये रणपुर के पुरुणाबस्त के मठाधीश सदानन्द ब्रह्मचारी के शिष्य थे। वैष्णव-दीक्षा के बाद ये चैतन्य-विग्रह स्थापित कर नियमित रूप से पूजा-पाठ किया करते थे। बाद में पुरुणाबस्त मठ के अधिकारी बने। १८९० ई० में इनका वहीं देहान्त हुआ। इनके पुत्र हरेकृष्ण मिश्र ने पिता द्वारा रचित गीतों को संगृहीत कर पुरी के राधावल्लभ-मठ के महन्त राधाचरणदास गोस्वामी के माध्यम से उसका प्रकाशन करवाया है।

'गौरकृष्ण-शतक' में गौरचरण के लिखे कृष्ण-लीला, अद्वैत-मण्डल, अष्टकाल, अष्टरस, पंचस्पृहा, चमत्कार-चन्द्रिका, शरद-राहास, नवानुराग गौर-रस आदि ग्रन्थों का पता चलता है। भक्त गौरचरण एक अच्छे गायक भी थे। इन्होंने व्रजबोली एवं बंगला में भी कुछ भक्तिमूलक गीतों की रचना की है। इनमें कृष्ण का पूर्वराग, विरह, झूलन, नौका-बिहार, वस्त्र-हरण आदि अनेक मनोहारी लीलाएँ वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने जगन्नाथजी की कई यात्राओं तथा वेशों का भी मोहक चित्रण किया है। भाषा की सह-

जता और संगीतोन्मुखी आकर्षण के कारण इनके गीत, चौंतीसा तथा भजन बहुत प्रसिद्ध हैं। दीक्षा देने का अधिकार प्राप्त होने के कारण इन्होंने अनेक लोगों को वैष्णव-संप्रदाय में दीक्षित किया था। अतएव ये 'अधिकारी' कहलाये। इनके रचे बंगला-उड़िया मिश्रित कीर्तन आज भी प्रचलित हैं। इनकी भावधारा के व्यंजक दो पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

लालसी नुह विषय-व्याल जाल नाशके उपाय भाल,
माल तुलसी धरिण जपतु, बालमुकुंद नाम तुरे।
श्यामल वर्न रुचिर गात्र अमल कमल वक्र नेत्र,
ध्याने देख तु ज्ञान-नयने पूर्ण होइब काम रे॥

'मैं विषय-व्याल का लालची नहीं हूँ। भवजाल को काटने का उपाय सोच रहा हूँ। रे मन, तू तुलसी-माला धारणकर बालमुकुन्द का नाम जपा कर। श्यामवर्ण, मनमोहन, रुचिर-गात्र, कमलसे निर्मल और वक्र नेत्रों को ही तू अपने ज्ञान-नयनों द्वारा ध्यान से देखता रह। तेरी सारी मनोवाञ्छाएँ उसीसे पूर्ण होंगी।'

एक अन्य पद में जगन्नाथजी की ओर देखते हुए मुग्धभाव से वे निवेदन करते हैं :

(२)

नोल-चक्रे हे. देख उडुछि बाना।
पतितपाबन नामटि या ना॥
आस आस बोलि पातकीमानंकु
डाकुअछि परा संगात अना।
नेतध्वजाबर उडि फरहर
उड़ाइ देउछि भव-यातना॥

• • •

गौर द्विजमणि श्रीक्षेत्रे रहणि,
पाइँ करु थाइ सदा भावना।
सते हेबे साहा बलिआर बाहा,
संपूर्ण करिबि मन-कामना॥

'अरे देखो, नीलचक्र पर वह पताका फहरा रही है। इसीका नाम तो है 'पतितपावन बाना' (पतित-पावन पताका)। यह दूर से ही पातकी जनों को पुकार रही है कि आओ, इधर चले आओ। अरे मित्रो, इधर देखकर चले आओ। वह श्रेष्ठ पताका फहर-फहर कर भव-यातना को एकदम उड़ा देती है।

• • •

'गौरचरण सदा श्रीक्षेत्र में रहने की ही कामना करता है। हे बलियार भुज ! आप कब यह आकांक्षा पूरी करेंगे ?'

शं. पु.

गौरहरि दास

गौरहरि दास का वास्तविक नाम 'गौरहरि परिछा' था। दीक्षा ग्रहण करने के बाद ये गौरहरि दास हो गये। इनके जोवन के संबंध में विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है।

इनका कार्यस्थल पारलाखेमंडी (जिला गंजाम) था। ये वैष्णव भक्त थे। इनके दीक्षा-गुरु गोविन्ददास थे जो संभवतः रसिकानन्द के शिष्य थे। गौरहरि ने 'गीत-गोविन्द' का सुन्दर अनुवाद किया था। इनकी अन्य रचनाओं में 'अष्टकाल-सेवा' प्रसिद्ध है, जो भगवान् की अष्टयामसेवा-परंपरा की विशिष्ट रचना है। गौरहरि सनातन, रूप और जीव गोस्वामी द्वारा प्रतिपादित चैतन्य-भक्ति के अनुयायी थे। पचास वर्षों तक ये 'मंजूषा' रियासत के राज-दरबार में रहे। अतः कई पीढ़ियों के शासकों के साथ इन्हें काव्य-चर्चा का दीर्घ अवसर मिला। संगीतात्मकता इनके गीतों का विशेष गुण है। इनके अनेक गीत और चौंतीसा संकलित हो चुके हैं। इनकी चौपदियाँ प्रायः राधा-कृष्ण-प्रेमलीला को लेकर लिखी गयी हैं। इनके गीतों की भाषा व्रजबोली, उड़िया, बंगला और तेलुगु-मिश्रित है। इन्होंने राधा के परकीया रूप का चित्रण किया है।

यहाँ इनकी राधा-कृष्ण भक्तिभावना का व्यंजक एक पद उदधृत है।

एक सखी आकर कृष्ण के सामने राधा की विरह-दशा का वर्णन करती हुई कहती है :

जने हँसाइबा जुकति कि एहा
जणाउछि छामुरे ।
जाति नीति स्थिति जालिदेइ मति
जमाइ देइछि जे तुंभ चरणरे ।।

जागरणरे निशि जाक अछि बसि
जनहीन पर्णकुटोरे ।
जोगी परकार जाम हे तुंभर
चित्रपट रखि जपुछि जे तारे ।।

'ऐसे अनुभवों को हास्यास्पद बनाना कौन-सी युक्ति है ? मैं आपके आगे उसकी स्थिति स्पष्ट कर रही हूँ। जाति, नीति, स्थिति सब जलाकर उसने अपना मन आपके चरणों में लगा रखा है। अपनी जनहीन, सूनी कुटी में किसी जोगी की तरह वह सारी रात जागती हुई बैठी रहती है। हे कृष्ण! वह तुम्हारे चित्र को सामने रखकर, तुम्हारा ही नाम जप रही है।'

भक्तिरसाश्रित एक अन्य गीत में वे लिखते हैं :

मोरे एहि अनुग्रह कर हे,
अनेक दिनरु मुँहि सतसंगत करि नाहिं ।
बिषया-विषकु पिइ देइछि हे भावग्राही !
किपरि रे हेबिटि उद्धार हे ।।

'मैंने कितने दिन हुए, कोई सत्संग किया ही नहीं, केवल विषयरूपी विष ही पीता रहा। हे भावग्राही, मुझपर अनुग्रह करके बस इतना बता दो कि मेरा उद्धार कैसे होगा ?'

शं. पु.

गौरांगदास

गौरांगदास महात्मा भक्तचरणदास के शिष्य थे। इसके अतिरिक्त इनके जीवनविषयक और कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। गुरु की आज्ञा से इन्होंने सानमठ का दायित्व संभाला था, जिसकी स्थापना रानी मुक्तादेवी के दान से हुई थी। इन्होंने उसमें प्रतिष्ठित श्रीराधा-मोहनमूर्ति की आजीवन सेवा-पूजा की और उनके नाम-जप तथा लीला-गान में ही तल्लीन रहे। इनका परलोकवास इसी मठ में हुआ।

अ. प.

गौरीदास

जगन्नाथदास के सोलह शिष्यों में प्रतापरुद्रदेव महाराज की रानी गौरापाट महादेई का नाम भी आता है। रानी के लिए स्त्री-गुरु की आवश्यकता हुई तो चैतन्यदेव ने जगन्नाथदास से स्त्री-अंग धारण कर दीक्षा का आदेश दिया। जगन्नाथ की देह में स्त्री-सुलभ लक्षण प्रकट हुए और उन्होंने रानी को मन्त्र-दीक्षा दी। बाद में रानी का नाम 'गौरीदास' हो गया। उन्हें गुरु की कपूर तथा चन्दन-सेवा का अधिकार प्राप्त हुआ था। मञ्जरी-परंपरा में उन्हें 'योगनन्दा' का रूप माना गया है। कहते हैं कि जगन्नाथदास ने उन्हें महाप्रभु जगन्नाथजी की मूर्ति में राधा-कृष्ण की युगल-मूर्ति के दर्शन कराये थे। राजा और रानी ने श्रद्धास्वरूप श्रीमन्दिर के पास एक मठ बनवा दिया। वही आगे चलकर 'बड़-ओड़िया मठ' कहलाया। इनकी कोई रचना नहीं मिलती।

शं. पु.

घनश्याम कर

घनश्याम कर का वृत्त अज्ञात है। पदों की भाषा के आधार पर इनके १९ वीं सदी में विद्यमान होने का अनुमान लगाया जाता है। इनके गीतों का संकलन बाबा वैष्णवचरणदास के संग्रह में प्राप्त होता है। वहाँ इनके लिए 'स्वर्गीय' शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे भी उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। 'संगीत-सागर' में इनके कई पद संगृहीत हैं। इन्होंने प्रमुखतः राधा-कृष्ण के मिलन एवं विरह का वर्णन किया है। यहाँ इनकी रचना से एक पद उद्धृत है। राधा कृष्ण की भर्त्सना करती हुई कह रही हैं :

फेरि जाअ मो पाशरु बंशीवदन ।
चाटु भारतो न भाष मधुसूदन ।।
रस जाणे जे नबोना सज पंकज-बदना ।
तारे जाइ अनुसर नंदनंदन ।

नोहिले कि कष्ट देइ न आसन्त भावग्राही ।
प्रेमरज्जुरे नागरी कला बंधन ॥

'हे वंशी-वदन ! मेरे पास से लौट जाओ । हे मधुसूदन, चाटुकारितापूर्ण भाषा मत बोलो । पंकज-वदना, नवीना रस जानती है, नन्दनन्दन ! तुम जाकर उसीका अनुसरण करो । अन्यथा वादा करके भी हे भावग्राही ! तुम न आते ? इस प्रकार वह नागरी उन्हें प्रेम-रज्जु में बाँध लेती है ।'

शं. पु.

चन्दन हजूरी

चन्दन हजूरी का जन्म १८२७ ई० में पुरी में भीमसेन हजूरी के घर हुआ था । भीमसेन जगन्नाथजी की चन्दन-सेवा में नियुक्त थे । पिता ने भगवान् से कहा : 'मेरे बेटे का भार तुम पर है ।' तभीसे उनका नाम 'चन्दन' पड़ गया । आगे चलकर ये झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की सेवा में चले गये और उनके 'धर्मबन्धु' बने । कालान्तर में महारानी लक्ष्मीबाई ने इन्हें सेनापति का पद दिया । स्वाधीनता के उस संग्राम में चन्दन उपनाम 'चाखी खुंटिया' ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी । बाद में ये पुरी चले आये और अन्त तक जगन्नाथजी की ही सेवा में रहे । इनकी 'लक्ष्मीबाई' नामक रचना की पाण्डुलिपि अभी भी अप्रकाशित है ।

भक्ति-भावना परक इनका एक पद यहाँ उद्धृत है :

चाखिआ रहि दूरे, चिन्तइ नेत्र स्थिरे,
ये वेश बड़ श्रृंगारकु ।
चिन्तबा मात्रे मने, शीतल प्राण जेन्हे,
बरषा नाशे अनलकु, रे पापनेत्र ।

राधानाम अंकित, महाभाव जड़ित,
रचना अटे अप्राकृत, रे पापनेत्र ॥

'चाखिया (चन्दन) दूर रहकर स्थिर नेत्रों से उन महाप्रभु का बड़श्रृंगार-वेश देख रहे हैं । उसके ध्यानमात्र से प्राण वैसे ही शीतल हो जाते हैं जैसे वर्षा अनल को शान्त कर देती है । (अतः वे कहते हैं कि) हे पापी नेत्र ! तू राधानाम-अंकित महाभाव से परिपूर्ण इस रचना को देख । यह अप्राकृत रचना है । रे पापी नेत्र, इन्हें निरख !'

शं. पु.

चन्द्रमणि दास

चन्द्रमणि दास के जीवन के विषय में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है । केवल कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं जिनमें से एक गीत यहाँ उद्धृत है :

आहे नंद-चाट नट हटहटा करना हे,
सटा बटा थहा कथा कहि मन-मोहना हे ।
बाट घाट जगुथाउ, नानादि नट लगाउ ,
बिट कपट लंपट भेट हुअना हे ॥
तटिनी तट निकट, हेउ सेहिठारे भेंट ,
केते जाण नट कूट शठ जटना रे ॥

निपट कालिआ तनु झपट त वृंदावनु
मुराट करे नयन आड़े चाँहना हे ॥

शोभा चंद्रिका मुकुट दिशुथाइ झट झट
कहइ चंद्र निपट उच्चाट लगाना हे ॥

राधा विकल होकर कृष्ण के आगे कह रही है : 'हे नन्दसुत ! इतना अधिक परेशान मत करो । ऐसी हँसी-खुशी की बातें कहकर मन मत मोहो । तुम बाट-घाट में घात लगाये खड़े रहते हो । हे विट, कपटी ! यों आकर न मिलो । हे निपट श्यामतन ! मेरी आँखों की ओर मत देखो । तेरा चन्द्रिका से बना मुकुट शोभापूर्ण, सुहावना दिख रहा है । मन में इतना उच्चाटन भरे दे रहे हो ।'

शं. पु.

चन्द्रशेखर मिश्र

चन्द्रशेखर मिश्र का जन्म खण्डपड़ा (जिला पुरी) में १८८४ ई० हुआ था । इनके पिता नारायण मिश्र और माँ मुक्तादेवी थीं । मधुसूदन दास ने कुछ समय इन्हें 'उत्कल-सम्मिलनी' के प्रचारकार्य में रखा था । बाद में ये टीचर्स ट्रेनिंग स्कूलों के संस्कृत-शिक्षक पद पर नियुक्त हो गये । इन्होंने उड़ीसा के विशिष्ट ज्योतिर्विद् सामन्त चन्द्रशेखर की जीवनी लिखकर उन्हें लोक में प्रतिष्ठा दिलायी । इनकी

प्रवृत्ति प्रारम्भ से ही धर्म में थी। नौकरी से अवकाश लेने के बाद ये भजन, गीत, चौंतीसा आदि लिखने और धर्मचर्चा करने में लीन हो गये। १९७३ ई० में इनका देहावसान हो गया। 'साहित्य अकादमी' ने इनके पदों का संकलन प्रकाशित किया है।

जगन्नाथजी की सेवा में गाया गया इनका एक गीत यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

अधम-तारण दुरित-नाशन दीनबंधु दैतारि।
जगन्नाथ, जगत-करता हरि ॥
अद्भुत देखाइछ क्षिति मध्यरे सरब जने।
काहिंकि मो पाइँ सिंधुसुता सांइ दया न बहुछ मने ॥

'हे अधम-तारण, दुरित-नाशन, दीनबन्धु, दैत्यारि जगन्नाथजी! आप ही जगत् के कर्ता हैं। इस संसार में आपने सबको अपनी अद्भुत लीला दिखाई है। मेरे लिए हे सिन्धुसुता के स्वामी! तनिक भी दया मन में नहीं लाते ?'

शं. पु.

चन्द्रशेखर सिंह

चन्द्रशेखर सिंह के भी जीवनविषयक सूत्र अज्ञात हैं। कुछ पद मिलते हैं जिनमें से एक यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

तु मो जीवन बुलि कहिबिरे।
मुं तो पराण बोलि कहिबिरे ॥

जेहु जाहार दास ता ठारे एड़े निराश,
गंडकु शोभा पाउछि रे।
मने पड़िले स्नेह, झड़ि पड़ुछि देह,
केते सताप देह सहुछि रे ॥

• • •

चंद्रशेखर भणि भाषे मुरली-पाणि
केड़े संताप देह सहुछि रे।

मानिनी राधा के क्षणिक वियोग से दुःखी कृष्ण कह रहे हैं : 'तुम मेरी प्राणेश्वरी हो, यह बात घूम-घूमकर कहूँगा। मैं प्रचारित करूँगा कि मैं ही तुम्हारा प्राणधन हूँ। जो जिसका दास है उसीसे इतनी निराशा! क्या यह बात शोभा देती है? इसका स्मरण करते ही देह उदास हो जाती है। यह देह कितना सन्ताप सह सकेगी ?'

• • •

'चन्द्रशेखर बोलते हैं, मुरलीधर कहते हैं कि हे सखो! यह देह कितने कष्ट में है!'

शं. पु.

चन्द्रशेखरसिंह सामन्त

चन्द्रशेखरसिंह सामन्त के जीवन से सम्बन्धित तथ्य अज्ञात हैं। रचना के रूप में कुछ स्फुट गीत प्राप्त होते हैं। उन्हींमें से एक गीत यहाँ उद्धृत है।

एक सखी कृष्ण के प्रति उलाहनाभरे स्वर में कहती है :

सखि जिर्बाण जोवनेटि किशोरी,
शोरिबे त दया न कल हरि।
  हरिणी-नेत्राकु अछ कि मंच करि,
  करी गीत तुमंभु सुमरि सुमरि,
  सरि जिब से सिना,
  तुंभ लागि नवीना,
  बिना अकारण रे कल जा एबे अना,
  अनादर कलाणि सब्र भोज नवीना,
  बिना दरशनरे तुमरि ॥

भरिथिला जेते भूषा जेते चतुरी,
तुरिते पकाइलाणि बाहार करि,
करि ताकु एपरि,
कि यश हेब हरि,
हरि किरण मनुअछि अनल परि,
परित्येज्या कलाणि शेज तुलि नागरी,
गरीब माने जवा अधरी ॥

'हे हरि! वे किशोरीजी जीवनरहित हो जायँगी। फिर भी तुमने सरसों के दाने जितनी भी दया न की। उस मृगनयनी पर क्या मन्त्र चला दिया जो वह तुम्हें स्मरण करते हुए समाप्त हो जायगी? वह नवीना अब तुम्हारे कारण सारे भोगविलास का अनादर कर रही है। तुम्हारे दर्शन के बिना वह अकारण प्राण छोड़

रही है। मिलने के उल्लास में उसने जितने वस्त्राभूषण धारण किये थे, सबका अविलम्ब परित्याग कर बैठी है। उसे ऐसा करने से तुम्हें क्या मिलेगा? वह तो चन्द्र-किरणों को भी अग्नि-सा दाहक मान रही है। जवाकुसुम-से अधरोंवाली उस सुन्दरी ने कोमल शय्या भी त्याग दी है। वह नागरी बहुत दुःखी है।'

शं. पु.

चक्रपाणि पटनायक

चक्रपाणि पटनायक गंडास जिले के निवासी थे और ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में विद्यमान थे। इसके अतिरिक्त इनका कोई अन्य वृत्त उपलब्ध नहीं होता। अपने समय में ये आशुकवि के रूप में विख्यात थे। संस्कृत में लिखित 'गुंडिचा-चंपू' इनकी विशिष्ट रचना है। इन्होंने उड़िया में 'कृष्ण-विलास'नामक २१ सर्गों का एक महाकाव्य लिखा है।

शं. पु.

चक्रपाणिराज (सिंह)

चक्रपाणिराज (सिंह) का जीवन-परिचय अज्ञात है। इनके कुछ फुटकर पद मिलते हैं जिनकी भाषा एवं रचना-शैली से इनके १९ वीं शती में विद्यमान होने का अनुमान किया जाता है। 'संगीत-सागर' में इनके अनेक पद संगृहीत हैं जिनमें राधा-कृष्ण की संयोग-वियोगात्मक उभय स्थितियों के मार्मिक चित्र अंकित हैं। यहाँ कृष्ण द्वारा राधा के रूप-वर्णन का एक चित्र प्रस्तुत है :

से जाहा जेमा अति मनोरमा,
त्रिभुवने नाहिं तार समान उपमा।
श्रीमुख संपूर्ण इंदु, अधर निंदइ बंधु,
कपाले सिंदुर-बिंदु अति मनोरमा॥

नयने तरंग रंग, विभंग करे कुरंग,
श्रीअंग निंदइ ताहा गांगेय सुषमा।
चतुरी चातुरी करि, चाहांणि भंगिरे मारि,
थकाइला एककरीगत छाड़ि क्षमा॥

भला से नव-युवती, मोती-पंति दंती दुती,
गति जित सुगति रे मंडिला क्षमा।
चक्रपाणिराज भणि, शुणि दूती कृष्णवाणी
मिलाइ भावे गो आसि घनश्याम शमा॥

'वह बाला अत्यन्त मनोरम है। उसके लिए उपमा त्रिभुवन में नहीं है। उसका मुख पूर्णचन्द्र है, अधर किसी भी बंधूक से मधुर है। माथे पर सिन्दूर-बिन्दु शोभा पा रहा है। नयनों में तरंगों का रंग है, जो कुरंग को भी विभंग कर देता है। श्रीअंग गांगेय की सुषमा को भी निन्दित करता है। अपने हृदय पर उस दूती ने चतुराई से भंगिमा के साथ हाथ रखा। भला वह नवयुवती जिसकी मोती जैसी दन्तावली है, चक्रपाणिराज कहते हैं कि उस सखी को लाकर घनश्याम से भेंट करा दो।'

शं. पु.

चाँद कवि

चाँद कवि या चाँददास रामचन्द्र देव (१५६८ १६०० ई०) के राजत्वकाल में हुए थे। इनके लिखे स्फुट गीतों के अतिरिक्त 'गोपीचन्दन' नामक स्वतंत्र काव्यग्रन्थ भी उपलब्ध है। इसमें गोपियों के साथ कृष्ण की रासलीला तथा रुक्मिणी आदि पटमहारानियों के गर्वखण्डन का वर्णन है।

इनका लिखा कृष्ण-वन्दना का एक गीत यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

पूतनादि बक-शकट षण्ड दनुजकुल निवारिले।
यामलार्जुन आदि पतित कुल अवहेले तारिले।
गोप-रक्षणे गिरि उभारि सुरपति-गर्व इषिते गंजिले।
गोपे गोपीमठ रंजिले।
विपिने भोजने विनोदे चतुरानन भ्रम भंजले॥
मोह भरेण शरण जनर तदुपरि रे।
चार पणे छिन्नमति चांद भणिले॥

'पूतना, बक, शकट आदि दनुजों का नाश किया। यमलार्जुन आदि पतितों के कुल (समूह) का उद्धार किया। गोपों की रक्षा के लिए गिरि को उठाकर

सुरपति का गर्व सहज ही खण्डित किया। गोप-गोपियों का रंजन किया। मोह-भ्रम में पड़ा हूँ। चाँद छिन्नमति दासरूप में चरणों का आश्रित है।'

शां. पु.

चिन्तामणि महान्ती

चिन्तामणि महान्ती का जन्म १८६७ ई० में कुलमुलाई ग्राम (जिला बालेश्वर) में हुआ था। पिता का नाम मदनमोहन महांती और मां का नाम नेत्रमणि था। बचपन से ही ये अध्ययनशील प्रवृत्ति के थे। प्रारंभ में शिक्षक बने, बाद में पत्रिका के सम्पादक बनकर गंजाम चले गये जहाँ काफी समय तक रहे। इनकी कविताओं की लोकप्रियता ने ही इन्हें 'कविशेखर' बना दिया। राष्ट्रीय चेतना और आस्तिक विचारधारा ने इन्हें उड़ीसा में अप्रतिम कवि और चिन्तक रूप में परिचित कराया। यद्यपि ये जीवनभर अभावों से जूझते रहे, फिर भी इनकी साहित्य-सेवा अविच्छिन्न चलती रही। इनका देहान्त १९४३ ई० में हुआ।

इनके रचे घुमसुर-महोदधि, महेन्द्र, उत्कल-कमला, मेघासन आदि काव्य प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त सुभद्रा, शिशुपाल-वध, सप्तरथी आदि इनके रचे पौराणिक काव्य हैं। इन्होंने अनेक खण्ड-काव्यों, भ्रमण-वृत्तान्तों और उपन्यासों से उड़िया-साहित्य को समृद्ध किया है। कई गीतों में इन्होंने जगन्नाथजी की प्रशस्त वन्दना की है।

प्रस्तुत छंद में कविशेखर दीनभाव से निवेदन कर रहे हैं :

जगन्नाथ जगबंधु हे दारु-ब्रह्म प्रतिमा।
विख्यात जगते तुंभर महादान महिमा॥
जे जाहा मागुछि करुछ तार बांछा पूरण।
मो भाग्य कु एका किपांइ हेल एड़े कृपण ?

'हे प्रभु जगबन्धु! दारुब्रह्म, जगन्नाथ! आपकी महादान देने की महिमा जगत् में विख्यात है। जो जब भी जो कुछ माँगता है आप उसकी इच्छा पूरी कर देते हैं। फिर मेरे भाग्य में ही इस प्रकार कृपण क्यों बने ?'

शां. पु.

चैतन्यदास

चैतन्यदास के जन्म-समय के सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती। प्रतापरुद्र देव (खड़ियाल रियासत, जिला कालाहाण्डी) के शासन-काल में इन्होंने 'विष्णु-गर्भपुराण' की रचना की थी। यह समय पंचसखा-युग के बाद का है। अतः यही इनका उपस्थिति-काल माना जा सकता है।

'विष्णुगर्भ पुराण' में इन्होंने निरंकार, अलेख तत्त्व के विवेचन के साथ ही विष्णु के अवतारों, उनकी भक्ति, योगसाधना एवं शून्यब्रह्म की व्याख्या दण्डी वृत्त (छन्द) में की है।

विष्णु के अवतारों के सम्बन्ध में ये लिखते हैं :

विष्णु स्वरूप धरि से धर्म करे उदे।
पुण्य अर्जि अधर्मुकु रखइ धर्म मध्ये॥
जीव-रक्षा प्राप्त परिपालक निमन्ते।
धर्मस्वरूप होइ रहिला जगते॥

'निराकार ब्रह्म स्वयं विष्णुरूप में धर्म-स्थापना के लिए उदित होते हैं। वे पुण्य अर्जन करके धर्म की स्थापना करते हैं। जीव की रक्षा एवं परिपालन के लिए वे संसार में धर्मस्वरूप होकर निवास करते हैं।'

शां. पु.

जगन्नाथ दास (अतिबड़)

जगन्नाथदास (अतिबड़) महाप्रभु चैतन्यदेव के समकालीन और कपिलेश्वरपुर गांव के निवासी थे, जिसकी स्थापना गजपति कपिलेन्द्रदेव ने की थी। इनका कुल-परंपरा से जगन्नाथजी की सेवा-पूजा का अधिकार रहा है। इनके परिवार को श्रीमन्दिर की चन्दन और चामर-सेवा का दायित्व दिया गया है। आगे चलकर इन्होंने अपनी उपाधि ही 'दास' अर्थात् महाप्रभु का सेवक रख ली। तदनन्तर गजपति महाराज पुरुषोत्तमदेव ने इन्हें वृत्तिस्वरूप बारह माण भूमि प्रदान की थी।

जगन्नाथदास के संबंध में बहुप्रचलित किंवदंती है कि युग-युग में कृष्ण के 'पंचसखा'-अवतार धारण करते रहे हैं। सतयुग में अगस्त्य, अंगिरा, मार्कण्डेय, वाल्मीकि और पराशर तथा त्रेता में जांबवान्, अंगद, नल, नील और सुषेण हुए। इसी प्रकार कलियुग में अनंत, अच्युत, यशोवंत, बलराम और जगन्नाथ इन पाँचों ने उस परम्परा में अवतार ग्रहण किया था। विशेषतः जगन्नाथदास के बारे में कहा जाता है कि रास करते समय राधा और कृष्ण दोनों एक दूसरे की ओर देखकर हँस पड़े। कृष्ण के हास से श्रीचैतन्य और राधा के लास्य से जगन्नाथदास का आविर्भाव हुआ।

चैतन्यदेव जब उड़ीसा पधारे तब जगन्नाथदास की आयु पन्द्रह वर्ष के लगभग रही होगी। विद्वानों ने १५१० ई० को चैतन्य के उत्कल में प्रथम बार आगमन का वर्ष माना है। अतः इनका जन्म १४९५ के आस-पास हुआ होगा। पुरी के 'बड़ ओड़िआ मठ' और 'सात लहड़ी मठ' में प्रतिवर्ष भाद्रशुक्ल अष्टमी को इनका जन्मोत्सव मनाया जाता है।

जगन्नाथदास बचपन से ही अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे। इन्होंने रामायण, महाभारत, भागवत आदि महापुराणों का अध्ययन बहुत शीघ्र समाप्त कर लिया था। जगन्नाथ-मन्दिर में बट-गणेश के पास बैठकर ये नियमित रूप से भागवत बाँचते और धर्मचर्चा करते थे। क्रमशः महाप्रभु की सेवा में इनका अनुराग बढ़ता गया। ज्ञान पीछे छूटता गया और योगमार्ग भी अप्रिय लगने लगा। भक्ति की लौ एकबार लगी तो बस तीव्र से तीव्रतर होती गयी। उसी दीप्तिमान शिखा को देखकर चैतन्य के मुख से सहसा निकल पड़ा 'अतिबड़ी'। प्रातः बड़े भोर से देर गये रात में 'बड़सिंगार' तक महाप्रभु श्रीजगन्नाथ की सेवा, उनका नामकीर्तन और उनकी लीला का गायन यही इनका कार्यक्रम था। इसीमें ये अपनी सुध-बुध खोये रहते थे। सांसारिकता इन्हें अपनी ओर खींच नहीं पायी। बराबर 'चका डोला' (विशाल नेत्र) के आगे जीव के उद्धार की कामना करते रहते थे।

कालान्तर में भगवत्कृपा से ये श्रीमन्दिर में जनभाषा में भागवत के सुललित पद्यानुवाद की रचना में लीन हो गये। इस कार्य में इन्होंने बलरामदास का अनुसरण किया जब कि परम्परा में प्रचलित है कि ये बलरामदासजी के दीक्षागुरु थे। जो भी हो, बलराम और जगन्नाथदास दोनों समसामयिक थे और उनमें परस्पर प्रगाढ़ बन्धुता थी। इनके द्वारा नवाक्षर छन्द में किये गये भागवत के रूपान्तरण ने सबको मोह लिया। राजा प्रतापरुद्र देव से लेकर सामान्य निरक्षर जनता तक सभी इनके प्रशंसक और भक्त बन गये। भागवत का गायन और टीका सुनने के लिए अपार भीड़ उमड़ने लगी। विशेषकर स्त्रियों के बीच वह और भी लोकप्रिय हुई। भागवत के पठन-पाठन की यह परम्परा सारे प्रदेश में फैल गयी। हर गाँव में 'भागवत-घर' और वहाँ प्रतिदिन सायं पुराणादि धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त भागवत-पाठ की परम्परा चल पड़ी। सारे उत्कल को एकता के दृढ़ सूत्र में बाँधने का जितना कार्य भगवान् जगन्नाथ ने किया, उनके सेवक जगन्नाथदासकी भागवत ने उसका सर्वतोभावेन अनुसरण किया है।

मन्दिर में भगवद्-दर्शन की सुविधा तो थी, पर इनके कारण वहाँ जनसमागम बढ़ता गया। अतः वह स्थान इनको छोड़ना पड़ा। सागर तो पास ही था। भक्तराज ने आकर उसीसे एकान्त स्थान की याचना की। कहते हैं कि सागर सात लहर पीछे हट गया। उस जमीन पर जगन्नाथजी के दास का मठ बन गया। ऐसे स्वामी का कौन अपना और कौन पराया? **विष्णु-भगत प्राणीकर जगते नाहिं आत्म-पर।** फिर भी दासजी इस ओर उदासीन ही रहे। ये भगवान् का 'हरे राम, हरे कृष्ण' मन्त्र जपते सरल जीवन-यापन करते रहे। प्रतिदिन प्रातःकाल प्रभु के जागने से लेकर रात में शयन करने तक ये सेवा में लीन रहते थे। यह मठ 'सात लहड़ी मठ' के नाम से प्रसिद्ध है।

कहते हैं कि देव-कन्याएँ प्रतिदिन मठ में आकर दास की सेवा करती। लोगों में यह बात फैल गयी।

स्वयं महाराज प्रतापरुद्र ने जाकर मठ में छिपे-छिपे देखा तो दो देवकन्याएँ इनके चरण चाँप रही हैं। स्नानादि के बाद इनके वस्त्र सुखा रही हैं, भोजन करवा रही हैं। दासजी राजा का उद्देश्य जान गये। बोले : 'मैं तो महाप्रभु की दासी हूँ, अतः स्त्री-भावापन्न हूँ। तब मेरी सेवा स्त्री के अलावा और कौन करेगा ? चाहें तो आप सन्देह में इन्हें पकड़वा सकते हैं।' जैसे ही राजा ने उन्हें पकड़वाने का प्रयास किया, वे अन्तर्धान हो गयीं। राजा लज्जित हो दासजी के अलौकिक भाव के आगे नतमस्तक हो गया। प्रतापरुद्र की रानी तक को दासजी से मन्त्र-दीक्षा लेनी पड़ी। इससे पूर्व महाराज स्वयं उनके दर्शन को जाया करते थे। प्रणाम करने के बाद सिर उठाकर देखते तो दासजी अष्टभुजरूप में विराजमान हैं। शंख, चक्र, गदा और पद्म के अतिरिक्त दो हाथों में धनुष और बाण धारण किये हैं और शेष दो हाथों से, मुस्कराते हुए, वंशी बजा रहे हैं।

जनश्रुति है कि जब एकबार काशी के दिग्विजयी पण्डित ब्रह्मानन्द जगन्नाथधाम पधारे तो इन्हें देखकर सहम गये। लेकिन दासजी ने अपनी सरल वाणी से उनका समाधान किया। ब्रह्मानन्द को नतमस्तक होना पड़ा। इस प्रकार दिग्गजों तक के शिर झुकानेवाले जगन्नाथदास साठ वर्ष की अवस्था में पञ्चतत्त्वात्मक शरीर त्यागकर सूक्ष्म-शरीर से जगन्नाथ महाप्रभु में समा गये।

जगन्नाथदासजी ने तिरोधान होने से पहले ही कह दिया था कि 'जो इन पादुकाओं की पूजा करेगा वही इस मठ का अधिकारी होगा।' तदनुसार हरिहरदास पहले अधिकारी बने। अब तो एकांगी परम्परा बन गयी है।

शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि के मर्मज्ञ होते हुए भी जगन्नाथदास ने सर्वोपरि महत्त्व भगवन्नाम-कीर्तन को ही दिया है। इनके लिए पुरुषोत्तमक्षेत्र ही नित्य वृन्दावन है। यहीं गुप्त कालिन्दी और मथुरा हैं। अतः ये श्रीक्षेत्र पुरी और श्रीजगन्नाथ की सेवा को ही परम-पुरुषार्थ मानते हैं और श्रीजगन्नाथ में ही ॐकार की भी प्रतिष्ठा करते हैं। कलियुग में मन्त्रराज है 'हरे राम, हरे कृष्ण!' यही महामन्त्र नित्यमन्त्र है। इतना ही नहीं, 'हरे' शब्द में बलदेव, 'राम' में सुभद्रा तथा सुदर्शन और 'कृष्ण' में जगन्नाथ सन्निविष्ट हैं। ज्ञान और भक्ति दोनों के रूप जगन्नाथ ही है। अतः दासजी कहते हैं कि 'जो निर्मल चित्त से नाम का आश्रय लेकर उनके रूप-गुणों का श्रवण-कीर्तन करता है उसके हृदय में महाप्रभु निवास करते हैं। परमात्मा ही पुरुष है और प्रकृति है नारी। अतः जीव नारीभाव से ही परम पुरुष का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है। राधाभाव से पूर्ण आत्म-निवेदन किया जाय तभी कृष्ण की प्रेमाभक्ति का रसास्वादन सम्भव है। ये राधा-कृष्ण स्वयं जगन्नाथ हैं।'

यही है दासजी की रागानुराग भक्ति का स्वरूप! इसीमें भक्त और भगवान् का सम्पर्क निहित है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि दासजी ने स्वकीया प्रेमाभक्ति का प्रतिपादन किया है। जहाँ आत्मा है राधा और परमात्मा है कृष्ण! यही स्वधर्म है। जगन्नाथजी में परम प्रेम का प्रकट रूप 'रासलीला' सदैव लगी रहती है। नीलाचल धाम ही उनका निजधाम है।

यद्यपि मात्र भागवत ही दासजी की प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, फिर भी योगमार्गी विचारधारा-वाले अनेक ग्रन्थ इनके नाम पर प्रचलित हैं। उनका प्रतिपाद्य आत्मा-परमात्मा, सृष्टितत्त्व, पिण्ड-ब्रह्माण्ड और षट्चक्र-साधना है। प्रतीत होता है कि दासजी की अनुपम लोकप्रियता और भागवत के व्यापक प्रचलन के कारण ब्रह्मज्ञानसम्बन्धी यह विशाल साहित्य उनके नाम पर चल पड़ा। इस सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण यह भी है कि थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ पंचसखाओं की समूची चिन्तनधारा और साधना-पद्धति ज्ञानमिश्र-भक्ति के अन्तर्गत आ जाती है। अधिकांश रचनाएँ मात्र तत्त्वचर्चा को लेकर लिखी गयी हैं। यह तत्त्व-दर्शन बहुत मौलिक नहीं

लगता। उसमें इनको योगमार्गी परम्परा की सर्वमान्य बातों का ही विवरण-विश्लेषण दिया गया है। अतः उसकी असन्दिग्धता प्रमाणित होने के बाद ही दासजी के चिन्तन से उसका तालमेल बैठाने की बात सोची जा सकती है अथवा यह स्थिर किया जा सकता है कि 'भागवतकार जगन्नाथ' तथा योगी जगन्नाथदास एक ही हैं या भिन्न ?

संस्कृत के श्रीमद्भागवत के अनुसरण पर दासजी ने छोटे-मोटे कई ग्रन्थ लिखे, किन्तु सर्वप्रमुख भागवत ही है। दुरूह दार्शनिक तत्त्वों, धर्मसम्बन्धी गूढ़ तथ्यों तथा सिद्धान्तों को सामान्य पाठक के लिए सहज और सुबोध रूप में प्रस्तुत करना इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है। नवाक्षरी छन्द इसी एक ग्रन्थ के बल पर अमर हो गया और भक्ति का मार्ग सर्वसुलभ बन गया। यद्यपि ओडिया भागवत के कथानक में कुछ स्थानों पर दासजी ने मौलिकता लाने का प्रयास किया है, फिर भी उसका मुख्य सौन्दर्य उसकी वर्णनशैली तथा अत्यन्त ललित शब्दयोजना है। नवाक्षरी को ओडिया भाषा का सर्वोत्कृष्ट छन्द बनाने का श्रेय इन्हींको है। साथ ही रास, चौपदी, कोइलि (कयलि पद), चौंतीसा आदि दसियों रचनाओं के माध्यम से ओडिया काव्य-भण्डार को अपूर्व समृद्धि प्राप्त कराने में इनका पूरा योगदान रहा है।

दासजी अपने जीवनकाल में ही किंवदन्ती बन गये थे तब फिर पिछली पाँच सदियों में उनके नाम पर कितना कुछ जोड़-घटाव नहीं चला होगा ? इनके शिष्यों और अनुयायियों की संख्या अपार है। उनमें सोलह मुख्य माने गये हैं। इन शिष्यों ने आगे चलकर उत्कल में विभिन्न स्थानों पर मठों की स्थापना की। इस प्रकार दासजी के नाम पर 'अतिबड़ी' नाम से विशेष सम्प्रदाय क्रमशः बढ़ता गया। इन दीक्षित शिष्यों एवं अनुयायियों के अतिरिक्त सारा समाज ही इनका मानस शिष्य बन गया। इनके व्यापक प्रभाव के कारण ओडिया में गाँव-गाँव में मठ-मन्दिर, तथा गादी बनायी गयी है जहाँ नियमित रूप से भागवत का पाठ और सत्संग होता है और अभ्यागत साधु-महात्मा विश्राम तथा सत्संग करते हैं।

भक्तशिरोमणि जगन्नाथदास के व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभाव उत्कल के सम्पूर्ण जनजीवन पर पड़ा। उसने इस प्रदेश के निवासियों के हृदय में अध्यात्मतत्त्व का जो रश्मिदीप प्रज्वलित किया, उसने उनकी जीवन-पद्धति को भक्ति का ऐसा सुदृढ़ आधार प्रदान किया जिसके बल पर वह हर तूफान, हर झटके और हर तरह की कसौटी पर खरी उतरकर अपनी अस्मिता की रक्षा कर सकी।

यहाँ दासजी की सुप्रसिद्ध रचना 'भागवत' से कुछ छन्द उद्धृत किये जा रहे हैं :

कृष्णर नाम उच्चारण। न शुणे जाहार श्रवण॥
ताहार कम जुगब कांथे। बिबरे दिशंति जेमंते॥

'जिन श्रवण-रन्ध्रों में 'कृष्ण' का नाम नहीं पड़ता, वे दोनों दीवार के विवर की तरह दिखाई पड़ते हैं।'

जगन्नाथ ए सोल कला। तहुँ कलाए नंद-बला।

'श्रीजगन्नाथ पूर्णचन्द्रसदृश सोलह कलायुक्त हैं। नन्दलाल (श्रीकृष्ण) उन्हींकी एक कला हैं।'

सकल तीर्थ तो चरणे। बदरिका जिबि कि कारणे॥

'हे प्रभु, सारे तीर्थ तो तुम्हारे चरणों में हैं। फिर बदरिका धाम किस हेतु जाएँ ?'

'भागवत' के अतिरिक्त जगन्नाथदास की कुछ अन्य रचनाएँ भी मिलती हैं। इन्हींमें से एक है 'जगन्नाथ-कोइलि' जो अत्यन्त करुणाभरी चौंतीसा-शैली में लिखी गयी हृदयद्रावक रचना है। उसके दो पद उद्धृत हैं :

कोइलि कि कर्म कला अकूर।
कृष्ण घेनि गला मधुपुर॥
कर्मे एहा लेखा होइथिला,
कृष्ण मो अनाथ करिय गलाजे॥

किंपाइ अछि पाप जीबन,
काहा मुख चाहिँ बंचिबि दीन जे।
कोइलि खरा बेले शिशुमेले।
खेलु थांति से कालिंदी-कूले॥

खंड दूध घृत सर नेइ,
खुआइ पुअंकु कोले धराइ ए।
खंडिला तेते सुख के मोर,
खल दइब कला एते दूर लो॥

माता यशोदा कह रही हैं : 'कोयलिया ! अक्रूर ने कैसा क्रूर कर्म किया ! कृष्ण को मधुपुर लेकर चला गया। कदाचित् मेरे भाग्य में ही यह लिखा था कि कृष्णे मुझे अनाथ कर चले जायँगे। अब ये पापी प्राण क्यों रुके हुए हैं ? भला अब किसका मुख देखकर शेष दिन जिऊँगी ?

'कोयलिया ! दुपहर में शिशु-सखाओं के बीच कालिन्दी के कूल पर वे खेलते रहते; खांड, घी, मलाई आदि लेकर मैं जाती और बेटे को गोद में भरकर खिला देती ! किसने मेरे इस सुख को खंडित कर डाला ? खल दैव ने यह सुख भी मुझसे दूर कर दिया, छीन लिया !'

शं. पु.

जगन्नाथदास (शिष्य)

अतिबड़ जगन्नाथदास के सोलह शिष्यों में चार प्रमुख थे। जगन्नाथदास (शिष्य) इन्हीं चारों में से एक थे। सखी-सेवा में ये पुष्प-रचना के अधिकारी माने गये हैं। मंजरी-परंपरा में उन्हें 'किशोरीजी' कहा गया है। इन्हें पञ्चतत्त्वदर्शन और नीलाद्रि-सेवा में सिद्धि मिली थी, फिर भी अपनी साधना पर किसी प्रकार का गर्व नहीं था। 'चारण' के अनुसार तराबोई (जिला पुरी) में इनकी गादी थी। गुरु ने इन्हें 'भविष्य-पुराण' लिखने का आदेश दिया था, किन्तु उसकी पाण्डुलिपि अभीतक अनुपलब्ध है। इनके नाम से 'पादपद्म-सुधानिधि' नामक ग्रन्थ मिला है जिसमें सोलह शिष्यों की परंपरा, दीक्षा-पद्धति, नाम-तत्त्व, पञ्चसखा-जन्म आदि का विस्तृत वर्णन है।

शं. पु.

जगन्नाथ नारायण देव

जगन्नाथ नारायण देव का जन्म अठारहवीं सदी के प्रथमार्ध में हुआ था। पारलाखेमण्डी (जिला गंजाम) के गजपति महाराज अनन्त पद्मनाभ देव के कोई सन्तान न थी, अतः उन्होंने जगन्नाथ नारायण देव को दत्तक पुत्र के रूप में ग्रहण किया था। इन्होंने कुल चार दशक तक शासन किया। इनके समय में दक्षिण के नवाब जफर खां ने आक्रमण कर चार जमीदारों को बंदी बना लिया। नारायणदेव ने चढ़ाई कर जफर खां को परास्त किया और जमीदारों को मुक्त करवाया। इसके अनन्तर इन्होंने कटक तक का क्षेत्र जीतकर 'खुरधा' पर आक्रमण किया, किन्तु उस मोर्चे पर हार खानी पड़ी। इनका विवाह मयूरभंज की राजकन्या से हुआ था। जीवन के अन्तिम दिनों में इन्होंने वैष्णव-दीक्षा लेकर गले में कण्ठीमाला पहन ली और वृन्दावन-यात्रा पर चले गये। इस प्रकार एक अत्यन्त संघर्षमय युग का समापन हुआ।

इनका लिखा 'वृन्दावनचन्द्र-विहार' कृष्ण की वृन्दावन-लीला और मथुरा-लीला पर रचित काव्य है। कृष्ण ने गोकुल में ११ वर्ष ६ मास, मथुरा में १३ वर्ष ६ मास एवं द्वारका में १०० वर्ष लीला की थी। 'वृन्दावनचन्द्र-विहार' में मथुरा और गोपलीला का ही समावेश हुआ है।

ये संगीतशास्त्र के भी पण्डित थे। 'संगीत-नारायण' इनकी प्रख्यात रचना है जो उड़िया में संगीत एवं नृत्यशास्त्र का एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसमें वाद्य-यंत्रों का सम्यक् वर्णन मिलता है। इतना ही नहीं, नाटक और नाट्यशाला के संबंध में भी यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दस्तावेज माना जाता है।

संगीत एवं नाट्यशास्त्र के आचार्य होने पर भी इन्हें भक्ति-साधना में ही पूर्ण मानसिक शान्ति मिली।

इस भावना को इन्होंने 'वृन्दावनचन्द्र-विहार' में इन शब्दों में व्यक्त किया है :

शर्करा स्वादु शूकर न जाणिला।
पराये न रुचे खलकु।
एहि पीरति संचे सुजनकु ॥

ब्रज-पर्यटन साधुसंग मुँ जे।
होइलि एथि योग्यकु, हे सुजने !

'शर्करा का स्वाद शूकर नहीं जान पाता। इसी तरह दुष्टों को यह (राधा-कृष्ण-प्रेम) नहीं रुचेगा। यह प्रीति सुजनों को आनंददायिनी लगती है। इसी कारण मैं साधुजनों के साथ व्रज-पर्यटन के योग्य हो सका।'

शं. पु.

जगन्नाथ पाणि

जगन्नाथ पाणि का जन्म भद्रख (जिला बालेश्वर) में १८४६ ई० में हुआ था। इनके लिखे पौराणिक नाटकोंके रूपांतर काफी प्रचलित हैं। लोकनाटक मंडलियाँ (जैसे यात्रादल) इनका मंचन कर धन्य हो जाती हैं। इनके कृष्णचरितविषयक लोकनाट्य विशेष लोकप्रिय हैं। १८९७ ई० में ये दिवंगत हो गये।

शं पु.

जदुमणि महापात्र

जदुमणि (यदुमणि) महापात्र आठगड़ के निवासी थे। इनका जीवनकाल १७९५ से १८६६ ई० तक माना जाता है। 'फुल-चागुंड़ी' नाम से इनके गीतों का एक संग्रह १९०४ ई० में प्रकाशित हुआ था, उससे एक पद यहाँ दिया जा रहा है।

राधा अपनी सखी से कह रही है :

मोह-गति एका श्रीपति दूती रे !
नाहिरे जीवन-धन, काहिरे प्रयोजन,
एहु गुरुजन जातिपँति रं ॥
मानस नयन प्राण, करिछि मुं समर्पण,
दर्पण परि ताहाकु प्रीति रे ।
साहिं गो मानापमान, सेहि सोदर समान,
महीपरि बहिअछि छाति रे ॥
तू जे बेलु अछु छाड़, मुं जे करि अछि दृढ़,
से श्याम स्नेहकु ए जगति रे।
मान्धाता वदति रसे, बीस थिबि तांक पाशे,
एहि बांछा मोर दिन-राति रे।

'हे सखी ! मेरी तो एक ही गति है कि श्रीपति की सेविका होऊं। उस जीवन-धन के बिना और किसी वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं। गुरुजन, जाति तथा पाँति किसीका कोई भरोसा नहीं। मनसा, नेत्रों और प्राणों से मैं तो उन्हींको समर्पित हो चुकी हूँ। दर्पण की तरह साफ-साफ वे ही दिख रहे हैं। हे सखी ! धरती की तरह मैं सारे मानापमान सहूँगी। तू तो कहती है कि इन्हें छोड़, जब कि मैं इन्हें और भी दृढ़तापूर्वक पकड़े हुए हूँ। इस जगत् में उन श्याम का प्रेम ही सब कुछ है। बस, रात-दिन उनके पास बैठी रहूँ, यही मन में कामना है।'

शं. पु.

जनार्दन पति

जनार्दन पति जगन्नाथदास के चार प्रमुख शिष्यों में थे। सांप्रदायिक ग्रन्थों के अनुसार इन्हें जगन्नाथजी की वेश-सज्जा करने का अधिकार प्राप्त था। जगन्नाथदास के शिष्य होने पर ये 'रत्नपात्र-सेवा' में नियुक्त हुए थे। मंजरी-परम्परा में इन्हें 'प्रेमानन्दा' का प्रतिरूप माना गया है। गुरु ने इन्हें 'द्वादश-कुण्डली' नामक ग्रन्थ की रचना का आदेश दिया था। किन्तु अभी तक इनके नाम पर 'अष्टोत्तरशतनाम' नामक ग्रन्थ ही उपलब्ध हो सका है। जगन्नाथजी जैसा गुरु पाने पर भी इन्हें अहंकार छू तक नहीं गया था। राजा द्वारा पुरी में इनके रहने की नियमित व्यवस्था की गयी थी। अतः ये निरंतर पुरी में ही रहकर जगन्नाथजी की सेवा करते रहे। प्रसिद्ध है कि नीलचक्र का दर्शन करते-करते इन्होंने देह त्यागी। कुछ लोग छतिया के पास कुमुड़ा जयपुर (जिला कटक) में इनकी गादी

होने की बात कहते हैं, पर अब वहाँ उसका कोई चिह्न उपलब्ध नहीं है।

शं. पु.

जनार्दन पुजारी

जनार्दन पुजारी का जन्म १८९३ ई० में रेढ़ाखोल (जिला संभलपुर) के दीवान दाशरथी पुजारी के घर हुआ था। जनार्दन ने चिकित्साविज्ञान की पढ़ाई कर संभलपुर में दवाखाना खोला। इसके बाद अध्ययन-हेतु इन्होंने विदेश-यात्राएँ भी कीं। डॉ० पुजारी ने अपने चिकित्साज्ञान का उपयोग लोककल्याण में ही किया। संभलपुर से कुछ दूर चिपलिमा में इन्होंने एक आश्रम की स्थापना करके नियमित रूप से भागवत-पाठ एवं हरिकीर्तन की व्यवस्था की। ये भगवद्-भजन और परोपकार को ही अपने जीवन का लक्ष्य समझते रहे। सात्त्विक जीवन के प्रतिरूप डॉ० पुजारी अपने जीवनकाल में चिकित्सा-निपुणता के साथ आध्यात्मिक चेतना के प्रसारकरूप में प्रतिष्ठित हुए। इनका देहावसान १९६१ ई० में हुआ।

शं. पु.

जनार्दन षण्ड

कुजंडा (जिला कटक) के राजा जनार्दन षण्ड ने 'झूलन-गीत' लिखा है। राधा-कृष्ण के प्रेमालाप को लेकर रचे गये उनके गीत अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

शं. पु.

तिलछ महापात्र

तिलछ महापात्र पुरी के गजपति प्रतापरुद्र देव के समकालीन थे। उनके शासनकाल में जगन्नाथजी की सेवा-विधिसम्बन्धी सारे दैनिक कार्यक्रमों को एक नया रूप प्रदान किया गया था। इन्हीं दिनों नित्य-नैमित्तिक सेवा में अनेक पंड़े-पुजारी नियुक्त हुए। तिलछ महापात्र उन्हींमें से एक थे। इनके जीवनसम्बन्धी अन्य तथ्य अज्ञात हैं। ये भगवान् जगन्नाथजी की श्रद्धापूर्वक सेवा करते और आनंद से रहते थे। इनकी सेवा-सिद्धिसम्बन्धी अनेक जनश्रुतियाँ परम्परा में प्रचलित हैं। यहाँ एक दो दी जा रही हैं।

कहा जाता है कि एक दिन तिलछ महापात्र की पारी में जगन्नाथजी की अंगसज्जा की सेवा सम्पन्न होनी थी। एक-एक करके प्रातःकाल की विधियाँ की जा रही थीं। फूल, माला, चंदन आदि सब उतार दिये गये। फूलवाले की प्रतीक्षा थी कि ताजे फूलों से भगवान् का शृंगार हो। इसी बीच अचानक खबर आयी कि महाराज गजपति दर्शनार्थ पधार रहे हैं। यह अप्रत्याशित समाचार पाकर तिलछ महापात्र एकदम चौंक उठे कि महाप्रभु एकदम निराभरण हैं, एक भी फूल चढ़ा नहीं हैं। राजा अभी आयेंगे तो दर्शन के बाद उन्हें प्रसादस्वरूप क्या देंगे? हाय, फूलवाला अब भी आ जाता! किन्तु उसने भी विलंब कर दिया। यह देख तिलछ महापात्र ने अपने ही सिर के पुष्प-गुच्छसे फूल निकाले और देवविग्रह को अर्पित कर महाराज को दर्शन कराया। लौटते समय वे ही पुष्प प्रसादस्वरूप महाराज की अंजली में रख दिये। उन्हें मस्तक से लगाकर महाराज राजमहल लौट आये।

राजमहल में लौटकर देखा तो प्रसाद के फूलों में केश था। वे सोचने लगे कि 'यह कैसे सम्भव हुआ? लगता है, पुजारी ने ये फूल अपने केशगुच्छ से निकाल कर दिये हैं। यह तो मेरा सरासर अपमान है।' अविलम्ब तिलछ महापात्र को बुलाया गया। महापात्र क्या करते! कसूर तो बहुत बड़ा था, एक तो जगन्नाथजी को अपने अंग में लगे फूल अर्पित किये, दूसरे फिर वे ही फूल लेकर महाराज को अर्पित किये।

राजा ने देखते ही कड़ककर पूछा: 'जगन्नाथजी के प्रसादस्वरूप मिले फूलों में केश कहाँसे आ गया? क्या महाप्रभु के मस्तक पर भी केश हैं? तिलछ क्षण-भर अवाक् रह गये। फिर बिना सोचे-समझे बोल बैठे: 'हाँ महाराज, केश हो सकते हैं।'

महाराज ने तमककर कहा : 'ठीक है, कल प्रातः हम आयेंगे। दर्शन कराने का दायित्व आपका रहेगा।' तिलछ महापात्र बिना कुछ कहे सिर झुकाकर लौट आये। लौटते समय सिंहद्वार से ही भगवान् को प्रणाम किया और अपने निवास पर चले गये। दिन-भर चिन्तामग्न बैठे रहे। पत्नी ने बार-बार भोजन के लिए पूछा। रात घिर आयी, किन्तु उठे नहीं। इतने में नासिका में अकस्मात् 'दवणा' फूलों की महक आयी और वे चौंक उठे। उन्हें लगा, जैसे सामने धुंधले में कोई खड़ा कह रहा है : 'महापात्र ! भूखे क्यों बैठे हो ?'

तिलछ आश्चर्यचकित हो मन ही मन सोचने लगे कि 'ऐसा स्वर कभी सुना नहीं। फिर इतना स्नेहभरा अपनापन, जैसे जन्म-जन्मान्तर का कोई परिचित हो।' एक धीमी-सी मुस्कान तिलछ महापात्र के समूचे अस्तित्व को भिगोती गूंज उठी : 'अरे भैया ! तुमसे किसने कह दिया कि तुम्हारे प्रभु गंजे हैं ?' और वह धुंधली मूर्ति उसी अंधकार में विलीन हो अदृश्य हो गई। साथ ही दवणा-फूलों की सुगंध भी क्रमशः वायुमण्डल में विलीन हो गयी।

पत्नी ने आकर पूछा : 'क्यों जी, किससे बातें कर रहे थे। अच्छे-भले, अंदर तक नहीं बुलाया। घर आये किसीकी यों परिचर्या की जाती है ?' उन्होंने एक लंबी सांस खींचकर कहा : 'चलो, परिचर्या ही परिचर्या होगी कल जीते रहे तो ! तुम 'परवाल' मुट्ठी-दो मुट्ठी हो तो ले आओ।' अचानक इस स्वर-परिवर्तन पर पत्नी ने थोड़ा-सा चिवड़ा भिगोया और 'नवात' एवं केले कुचलकर उसमें मिला लाकर रख दिया। तिलछ महापात्र ने भगवान् की ओर हाथ जोड़े और उसे ही प्रसादस्वरूप ग्रहण कर सो गये।

प्रातःकाल तिलछ महापात्र ने आकर देखा कि प्रभु के मस्तक पर लंबे-लंबे, घने घुंघराले केश झूल रहे हैं। तभी भेरी, तुरही, घंट आदि की ध्वनि भर गयी कि महाराज दर्शनार्थ पधार रहे हैं। इतने में तेज कदमों से चलकर महाराज रत्नवेदी के समीप आकर खड़े हो गये। निर्विकल्प भाव से तिलछ महापात्र ने सामने से दीप उठाया और दर्शन कराये। मंगल पढ़ा और महाप्रभु के पास दीप ले गये। प्रकाश में अच्छी तरह निरखकर महाराज पृष्ठभाग में गये। तिलछ महापात्र ने उधर भी दीप किया। महाराज ने आश्चर्यचकित हो कहा : 'इतने लंबे घुंघराले केश ! क्या है यह लीला ?' महापात्र ने 'जय हो महाप्रभु' कहा और दीप घुमा दिया।

महाराज कुछ क्षण विस्मयाभिभूत खड़े रहे। लेकिन अभी उनकी शंका का पूरा समाधान नहीं हुआ था। उन्होंने अवसर का लाभ उठाकर धीरे से एक लट में से कुछ केश पकड़े और झटके से खींच लिये यह जाँचने के लिए कि कहीं तिलछ ने रातों रात नकली केश-गुच्छे लाकर भगवान् के सिर में तो नहीं लगा दिये।

सहसा तिलछ महापात्र के मुँह से चीख निकली 'अरे-अरे ! यह क्या किया ? मेरे अपराध की सजा महाप्रभु को क्यों ? महाराज ने घबराकर देखा कि महापात्र के सिर से रक्त की धारा बह रही थी। महाराज को अब अपनी गलती का अनुभव हुआ। भगवान् के आगे तो वे सदैव झुकते आये, आज उन्हें भक्त के आगे भी झुकना पड़ा। उन्होंने अपने एक हाथ से तुरंत तिलछ महापात्र के सिर से बहती रक्तधारा रोकी और दूसरे हाथ से उन्हें अपने पाश में ले लिया। वे पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे : 'मैंने अज्ञानवश महाप्रभु और उनके अनन्य भक्त को कष्ट दिया। धृष्टता क्षमा करें।'

राजा और भक्त दोनों बाहर निकले। तिलछ विभोर हो धीरे-धीरे गर्भगृह से आ रहे थे। भक्तवर के पीछे-पीछे गजपति महाराज चल रहे थे। मन में पश्चात्ताप भरा था—कितना कष्ट दिया जरा-सी बात पर ! तिलछ महापात्र भगवान् जगन्नाथ की अहेतुकी कृपा का अनुभव कर डगमगाते कदमों से चले आ रहे थे।

संयोग की बात है कि इनकी कोई भी रचना उपलब्ध नहीं है। इनकी भावसिद्धि ही जीवन की सर्वोत्कृष्ट गाथा है।

शं. पु.

त्रिपुरारि दास

त्रिपुरारि दास का जन्म ईसा की अठारहवीं शती में डंथड़ा (जिला कटक) के कुसुंदा ग्राम में हुआ था। ये जाति के कायस्थ थे। बलराम और कृष्ण की बाललीला का वर्णन करने के बाद इन्होंने मथुरा-लीला का भी मोहक चित्रण किया है। लीलाप्रवाह के बीच-बीच आपका प्रकृति-चित्रण अत्यन्त आकर्षक है। ये एक सच्चे कृष्ण-भक्त प्रतीत होते हैं।

शं. पु.

दनाई दास

दनाई दास का आविर्भावकाल १४८० से १५२० ई० के बीच माना जाता है। इनकी कृतियों के अनुशीलन से विदित होता है कि जगन्नाथदास को भागवत-रचना के बाद ही उनकी रचना हुई होगी। बचपन में इनका नाम 'जनार्दन' था जो आगे चलकर 'दनाई' बन गया। जगन्नाथदास के एक शिष्य का नाम 'जनार्दन दास' था। संभवतः ये उनसे अभिन्न थे।

इनके ग्रंथों में काला पहाड़ के आक्रमण और तज्जनित क्षति के संबंध में कुछ संकेत मिलते हैं। इससे अनुमान लगाया जाता कि ये सोलहवीं शती के शेषार्ध में घटित इस दुर्घटना के बाद तक जीवित थे। इसके अलावा इनके जीवनसंबंधी कोई तथ्य नहीं मिलता।

इनकी रचनाएँ बहुत थोड़ी, लेकिन लोकप्रिय हैं। 'राग गोपीभाषा' इनका छोटा-सा काव्यग्रन्थ है। कृष्ण मथुरा जाकर वहीं आठ-दस बरस रह गये। इस विरह-काल में गोपियों की दशा का वर्णन इसमें किया गया है। लोक-लाज भूलकर वे खुलकर कृष्ण-प्रेम की चर्चा करती हैं: 'यदि इस बात का पता होता तो कृष्ण को कभी जाने ही न देतीं, कंस का कोप जैसे-तैसे सह लेतीं।' हर गोपी को विभिन्न घटनाओं के माध्यम से कृष्ण के गुण स्मरण आते हैं। उनमें से कुछ तो मानवश यहाँ तक कहती हैं कि कंस को मारने के बाद उन्हें बड़प्पन मिल गया, अब ब्रज की याद कहाँ रहेगी?' कोई अनशन कर प्राण त्यागने की बात कहती है तो कोई उनके उपकारों का स्मरण कर अनिष्ट-चिन्तन न करने को कहती है। इस प्रकार स्मरण करते-करते उन्हें दिव्य ज्ञान हो जाता है।

यह ग्रन्थ सरल एवं साहित्यिक भाषा में रचित है। इसी शैली में उड़िया में और भी अनेक रचनाएँ मिलती हैं। इनके पद सरस और मर्मस्पर्शी हैं। इसीलिए ये विशेष लोकप्रिय हुए। दनाई दास ने 'सान-कनड़ा' और 'बड़-कनड़ा' नाम से दो चौंतीसा लिखे हैं। इन्होंने 'हरे राम, हरे कृष्ण' महामन्त्र के जप को मानव-जीवन का लक्ष्य बताया है।

यहाँ 'गोपीभाषा' का एक पद उद्धृत किया जा रहा है:

एक गोपी बोइला नोहे किछि।
मोते भल बुद्धिए दिशुअछि॥
गोपपुरजाक रुन्ड होइबा।
करे बाउँश लकुड़ि धरिबा॥

मधुपुरकु बोलि जिबा धाइँ।
जाइ कटके पिशिबा धसाइ॥
तांक सन्निधे होइबा प्रवेश।
तांकु बोलिबा कृष्ण गोपे आस॥

जेबे न छाड़िबे मधु-युवती।
गोल करि आपिबा शिरीपति॥

कृष्ण-विरह में गोपियाँ चर्चा कर रही हैं। इसी बीच एक गोपी सुझाव देती है: 'सब लाठी लेकर मधुपुरी चलें। जबर्दस्ती नगर में प्रवेशकर उनके पास पहुँच जाएँ। कृष्ण से कहें कि तुम गोप (ब्रज) वापस चलो। यदि वहाँ की युवतियाँ न छोड़ें तो उनके साथ संघर्ष करके श्रीपति कृष्ण को छुड़ाकर ले आयें।'

नीचे चौतीसा-शैली में लिखे इनके एक गीत के कुछ अंश उद्धृत हैं। यशोदा कोयल के आगे अपना दुःख प्रकट कर रही हैं :

कृष्ण सुमरि यशोदा राणी,
कांदि लोडुंछंति बेणुपाणि।
कुहु शबद शुणि पचारि कोइलि,
कृष्ण आसिबे कि ए गोपपुरी ले।
कहलो कोयलि स्वरूप करि,
कोइलि कि दोषे मते मुरुछिले हरि लो।

'कृष्ण को स्मरणकर यशोदा रानी दुःखी हो रही हैं, वेणु-पाणि को स्मरण कर रही हैं। कोयल की कुहू-ध्वनि सुनकर पूछ रही हैं कि अरी कोयल! क्या कृष्ण फिर कभी गोपपुर में आयेंगे? जरा स्मरण कर बोलो तो सही कि किस दोष से वे मुझे भुलाकर चले गये?'

शं. पु.

दशपल्ला युवराज

दशपल्ला युवराज दशपल्ला रियासत के युवराज थे। इन्होंने राधाकृष्ण के सम्बन्ध में अनेक गीतों की रचना की है। इनका रचना-काल १९ वीं सदी के अन्तिम भाग में पड़ता है। इसके अतिरिक्त इनका कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। इनके गीत उड़ीसा में काफी लोकप्रिय हैं। एक गीत यहाँ दिया जा रहा है।

राधा का प्रेम स्मरणकर कृष्ण कह रहे हैं :

प्रिय सजनी, कि रसे रसिला?
नवीना बाला खेलाई डोला सरागे चाहिं मंदे हसिला॥
से मृगदशा पुलाउ नाशा सरस संदर्भ वाणी भाषिला।
पल्लवाधरी नवकिशोरी अनायासे संतापकु नाशिला॥
सरसमना होइ सुमना कि भंगिरे मदनरे पशिला।
कुंजनरेश कहे ए रस श्याम कहे मोर मन तोषिला॥

'हे प्रिय सजनी! तुमने मुझे कैसे रस में भर दिया? नवयौवना बाला ने नेत्र चंचल कर स्नेहपूर्वक देखा और मुस्करा उठी। उस मृगसदृश नयनोंवाली ने नासा फुलायी और सरस-सुन्दर वाणी में बातें कीं। पल्लव से अधरवाली नवकिशोरी ने अनायास ही सन्ताप दूर कर दिया। वह सरस मनवाली सुप्रसन्न होकर कैसी भंगिमा में मदन के राज्य में प्रवेश कर गयी! कुंज नरेश कहते हैं कि राधा के इस भाव ने मेरे मन को तुष्ट कर दिया।'

शं. पु.

दामोदर दास

दामोदर दास के जीवन के सम्बन्ध में कोई तथ्य नहीं मिलता। इनका लिखा 'रसकोइल चौंतीसा' विषयवस्तु की दृष्टि से अनुपम है। प्रारम्भ में इसमें राधाकृष्ण का मिलन वर्णित है। आगे चलकर विरह की मर्मवेधी दशा का वर्णन मिलता है। चौंतीसा काव्यविधा के रचनाकारों में इनका नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

यहाँ इनके चौतीसा से दो पद उद्धृत हैं :

(१)

नयने ता रूप देखिलि जाहा।
नपारइ कहि बचने ताहा॥

न रुचइ मोते सदन-सुख।
न देखि देखिलि कला श्रीमुख॥

से निवेदन मोर छेन गो।
निचे प्राणबंधु देइ मोहे रख,
आजहुं तोर अभिन्न गो॥

'इन नेत्रों से मैंने जो रूप देखा, उसे वाणी में कह नहीं पाऊँगा। उसे देखने के बाद से मुझे सदन-सुख बिल्कुल नहीं रुचता। और कुछ नहीं, बस उस श्याम-सुन्दर के मुख को ही देखें। अतः हे सखी! मेरा निवेदन स्वीकार करो, उन प्राणबन्धु को निश्चित रूप से देकर मुझे रख लो। मैं आज से तेरी अभिन्न हो जाऊँगी।'

एक अन्य-प्रसंग में सखी कृष्ण से कह रही है :

(२)

नयनरु नीर न रहे तार।
निरंतरे नास जपइ तार॥

न रुचइ अन्न न माड़े नींद,
नतनु फुलशरे तनु भेद से ॥
न जीअइ तो न गले से ।
निचे तिरीहत्या दोष कु पाइबु,
नारीशिरोमणि मले जे ॥

'उसके नेत्रों से नीर थमता ही नहीं, वह निरंतर तुम्हारा नाम जपती रहती है। उसे न नींद आती है और न अन्न अच्छा लगता है। उसकी फूल-सी देह कैसी हो गयी है ? तुम्हारे बिना गये वह जी नहीं सकेगी। निश्चित ही वह नारीशिरोमणि मर गयी तो तुम्हें स्त्रीहत्या का दोष लगेगा।' शं. पु.

दामोदर दास (द्वितीय)

दामोदर दास (द्वितीय) का जीवनचरित उपलब्ध नहीं है। डा० आर्तबल्लभ महांती ने इनकी रचना 'रसकुल्या चौंतीसा' को पंचसखा-युग से पूर्ववर्ती बताया है। इसका बाद के रचनाकारों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इससे कवि और भक्तरूप में इनके महत्त्व की सूचना मिलती है। इनका एक पद प्रस्तुत है :

कह राही सखी दूति काकु,
कदंबमूले देखिलि कृष्णकु,
कलाकलेबर रंगा अधर,
कपोले कस्तूरी चिता सुन्दर से।
कुबलय-फल नासे जे
कामबिकार कलाक प्राणबंधु देखि सुधानंद दासे जे ॥

राधिका दूती से कह रही है, कि 'मैंने कदंब-तले कृष्ण को देखा, साँवरे रंगाधर को देखा। उनके कपोलों पर कस्तूरी की चित्रकारी की गयी थी, कुवलयफल जैसी नासिका है। उन सुधानन्द-प्राणबन्धु को देखकर कामविकार हो गया।' शं. प.

दामोदर द्विज

दामोदर द्विज का विशेष परिचय नही मिलता, मात्र कुछ स्फुट गीत मिलते हैं। उन्हींमें से एक यहाँ उद्धृत है।

सखी वंशी-ध्वनि सुनकर कहती है :

निअना हे निअवकाश बंशी करे ।
निअत पथ, कराए च्युत शुणिवारे जाहा डाकरे ॥
नियम करि, छन्ति हे हरि, गोपपुर श्रेष्ठ लोकरे ॥
निअ अटक, यमुना-तट, चित्त हुए दक दकरे ॥
निअलसर उपायकर, दाम बोले बुड़े भेलारे ॥

'हे माधव ! वंशी धारण न करो। यह मर्यादा-पथ से विचलित कर देती है। इसकी ध्वनि सुनकर गोपपुर के निवासियों ने नियम ही कर लिया है, लोग थम जाते हैं। यमुनातट पर खींच लेते हो, रोक लेते हो, हृदय धक्-धक् करने लगता है। दामोदर दास कहते हैं कि हे हरि ! ऐसे शिथिल लोगों का भी तो कुछ उपाय करो।'

इनके द्वारा वर्णित रथ-यात्रा प्रसंग के लम्बे गीत के कुछ अंश उद्धृत किये जा रहे हैं :

सजनी गो चाहां बारे नयने,
नाल-शइल-केशरी आसिबे ए सदने ।
स्वर्ण-मार्जनी कर धरिण नृपवर,
चालन्ति धीर धीर सिंचि पनीर नीर
बसिण तिनिमूर्ति करिबे एथिगति,
देबे भकते मुक्ति हरष वदने ।
किरगरे झुलि झुलि ठाबे ठाबे रहिण,
आगे कि श्वेत अचल करि करि गमन ।
पुष्प-चूड़ा भे शोभन, किब ढाल तपन
मोहुछि जनमन देखि बाकु उच्छन्न ।
हुड़ाहुडि होइण गमन्ति साधुमनि,
उठन्ति बलराम तालध्वज विमाने ॥

• • •

आगे पछे तिनि रथ करुछंति गमन,
बलडांडि ठारे रहि पंति भोग करिण ।
गुंड़िचा घर लागे, मिलिले जाइ बेगे,
सिंधुप्राये कल्लोल शुभे मुख चहल ।
द्विज श्रीदामोदर, जोड़िय बेनिकर,
मागइ मुक्तिपद चाहिए कला आनने ॥

एक सखी दूसरे से कह रही है : 'एक बार इन नेत्रों को खोलकर देख ! नीलशैल-केशरी (जगन्नाथ)

इस सदन में आ रहे हैं। नृपश्रेष्ठ (पुरी के गजपति महाराज) स्वर्ण-सम्मार्जनी (सोने की झाड़ू) लिये धीरे-धीरे पवित्र जल छिड़कते रथ की परिक्रमा कर रहे हैं। अब तीनों मूर्तियाँ (जगन्नाथ, सुभद्रा तथा बलभद्र) विराजमान होकर भक्तों को मुक्ति प्रदान करने के लिए प्रस्थान करनेवाली हैं। देख तो सही, किस ढंग से वे झूलते-झूलते श्वेत चँवर झुलाते रुकते-थमते आ रहे हैं! सर्वप्रथम बलभद्र पुष्प धारण किये जनमन को मोहित करते, आकुल करते पधार रहे हैं। साधु-संत दर्शनार्थ कैसे व्याकुल हो रहे हैं? प्रभु बलराम तालध्वज रथ में आसीन हो रहे हैं।

• • •

तीनों रथ हँसी-खुशी से बढ़ रहे हैं, बलगंडी में रुककर भोग स्वीकार कर फिर तीव्रता से आगे बढ़ते हैं और जाकर गुंड़िचा-गृह में रुकते हैं। सिन्धु-सा हर्षनाद हो रहा है। इन श्याम के मुखारविंद को देखते हुए ही द्विज दामोदर मुक्ति माँग रहे हैं।'

शं. पु.

दामोदर पटनायक

दामोदर पटनायक का जन्म १८६३ ई० में ढेंकानाल में हुआ था। थे लंबे समय तक ढेंकानाल रियासत के दीवान पद पर रहे। इनकी लिखी 'कपिलास क्षेत्र' और 'भल-पिला' नाम की दो महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इनके कई भक्तिभावपूर्ण पद 'संगीत-सागर' में संकलित हैं। इनका देहान्त १९१५ ई० में हुआ।

जगन्नाथजी के प्रति इनके आकुल समर्पण का एक चित्र निम्नलिखित पद में देखा जा सकता है :

धन्य प्रभु कांहि लुचि अछ हे,
देखाअ रूप मोहन।
निकट रे थाइ अंतर कराइ,
दहुछ कियाँ जीवन हे ॥

'हे प्रभु! आप धन्य हैं। छिपे क्यों हैं? एकबार तो वह मोहनरूप दिखा दो। आप एकदम निकट होकर भी अंतर कर रहे हो। जीवन को क्यों जला रहे हो?'

शं. पु.

दाशरथी दास

कवि दाशरथी दास का जन्म कायस्थ कुल में १८वीं सदी में हुआ था। इनके समकालीनों में कवि-सूर्य ब्रह्मा, वनमाली दास आदि आते हैं। इन्होंने कलियुगाब्द ४८३२ (तदनुसार १७३१ ई०) में 'ब्रजविहार' ग्रन्थ पूरा करने की बात लिखी है। वैष्णव-दीक्षा होने के बाद 'दास' उपाधि धारण कर ये निराडंबर भावसे रहने लगे थे। इनकी रचनाओं में ब्रजलीला के गायन का विधि-निषेधमय स्वरूप उपलब्ध है। अपने मत के प्रतिपादन में इन्होंने भागवत तथा अन्य पुराणों के उद्धरण दिये हैं।

अबतक इनकी एकमात्र रचना 'ब्रज-विहार' ही प्रकाश में आयी है। इसकी विषय-वस्तु कृष्णजन्म से लेकर मथुरा-गमन और फिर राधा, यशोदा, गोपियों आदि के विरह को लेकर चलती है।

इसके साथ ही जगन्नाथ-धाम के नीलगिरि के समानांतर गोवर्धन-गिरि पर सुदशा-व्रत के लिए गई हुई भ्रूभंगी और मल्लिका के वार्तालाप में इन्होंने अभिनव कथानक की अवतारणा की है। इसमें विश्वावसु शबर और इंद्रद्युम्नके पुरोहित विद्याधर का कथा-प्रसंग वर्णित है। नीलगिरि की जगह गोवर्धन पर जगन्नाथजी के संबंध में बहुप्रचलित किंवदती का प्रत्यारोपण किया गया है। संभवतः नीलाचलनिवासी जगन्नाथ और वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण में अभेद-स्थापना के लिए ही कथा को इस प्रकार नये रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार कवि ने अत्यन्त सरल और सरस ढंग से श्रीकृष्ण की लीला गायी है।

यहाँ इनके तीन पद उद्धृत किये जा रहे हैं :

(१)

एमँते बने गमँते युबती, हरिरूप शोभा देखि भावंति।
दिशंति सेहुं जेणे चाहे भीरु, श्यामल मंजुल तमाल-तरु ॥

पक्षी कोलाहल मुरली-नाद, मलय समीर अंग सुगंध।
श्रवण अवतंश कर्णिकार, पराग पीतबसन आकार ॥
चंचल नेत्र कि खंजन पक्षी, केकी टेकि पुच्छ चूल कि अछि।
मल्ली कढ़ि नाशा गजमोतिकि, जबापुष्प बिंबाधर ज्योतिकि ॥

गोपियाँ कृष्ण को देखकर वन की दुविधा में पड़ जाती हैं: 'कृष्ण की भौंहें तमाल तरु की कान्ति धारण किये प्रतीत होती हैं। कृष्ण की मुरली का नाद पक्षियों का कोलाहल है, उनकी देह की सुगंध ही मलय-पवन है, उनके श्रवण अवतंस ही कर्णिकार हैं, पीतांबर परागसदृश है। उनके चंचल नेत्र ही खंजन है। मस्तक पर स्थित चन्द्रिका ही केकी है। नासिका का गजमोती मल्लिका की कली और उनके बिम्बाधर की ज्योति जवापुष्पसदृश है। इस प्रकार वन की सारी शोभा ही आकर श्रीकृष्णचन्द्र में समाहित हो रही है।'

(२)

पादे पड़िण मागु अछि मोर घेन निबेदन,
एहि ग्रंथकु न देब सखीभाव बिनु आव ॥
रत्नकम गुणी रत्नकम कबिला जाणइ,
लौहकार तार श्रम गुण किछि न जाणइ।
सेहि रूपे सर्वशास्त्रे एहि ब्रजलीला सार,
अन्य पुराणे काव्य-नाटके नुहइ गोचर।
सखी-रसे जे रसिक सेहु ए रसे बंचइ,
जेहु अमृत भुंजइ सेहु सकल तेजइ।
कृष्ण-चरणयुगे शरण दाशरथि दास,
एहु रस आप्यान रे न रुचइ आन रस।

'कवि चरणों में गिरकर निवेदन करता है कि यह ग्रन्थ ऐसे लोगों के आगे कभी न रखना जिनमें कृष्ण के प्रति अनुराग-भावना न हो। जैसे जौहरी ही हीरे के गुण जान सकता है, लुहार उसका मूल्य या गुण कुछ नहीं बता सकता, वैसे यह 'ब्रजलीला' ग्रन्थ सारे शास्त्रों का सार है। अन्यान्य पुराण, नाटक, काव्य आदि में यह नहीं मिलेगा। जो व्यक्ति अनुराग-भावापन्न होगा वही इस अमृत का पान कर सकता है। वह सब कुछ त्यागकर उन्हींकी शरण में चला जायगा। अतः दाशरथी दास कहते हैं कि मैं सदा कृष्ण के चरणयुगल की शरण में हूँ, उन्हें छोड़कर दूसरे किसी विषय में मुझे आनन्द ही नहीं आता।'

(३)

राधा एक सखी से कृष्ण का रूपवर्णन करती हुई कहती है:

से रूप कु देखि नाहिं आखि रे प्रिय सखी।
दिने जाइ थिलि यमुना-जलकु,
अनाइलि सखि कदंब-फूल कु।
ढलिथिला चूल अलप बामकु,
मो मन रहिला लागि रे ॥

• • •

याद रखिछन्ति त्रिभंगी छंदरे,
बाउछन्ति बंशी मधुर-मधु रे।
बोले दाशरथि निवेदन करे,
तांक पदमपादे लाखि रे ॥

'हे सखी, मैंने तो उस रूप को आँखों से सीधा देखा ही नहीं। उस दिन यमुनातट पर गयी थी, जल भरने। कदम्ब के पास यों ही जल में दृष्टि चली गयी तो देखा कि कुछ बाँयी ओर उनके केश ढले हुए थे।······उनकी छबि उस जल में देखी। वहीं मेरा मन अटक गया। उनकी त्रिभंगी मुद्रा में उनके स्मरण बँधे हुए हैं। वे मधुर-मधुर बंशी बजा रहे हैं। दाशरथि निवेदन कर रहे हैं कि मैं तो उन्हींके पादपद्मों में रह गयी।'

शं. पु.

दिनमणि

दिनमणि का समय उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में माना जाता है। इन्होंने भक्ति-गीतों के सोलह पंक्तियोंवाले छन्द लिखे हैं जिनमें राधा-कृष्ण का प्रेमप्रसंग वर्णित है। 'राधाकृष्ण-षोडशा' का एक

गीत यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। राधा अपनी सखी से कह रही है :

अनाइ देलि !
अछि अेते छंद बोलि जाणि न थिलि।
अहिभुज चंद्रकु मुं कलि न पारिलि।
अनिमिष इश धत्त परित मपिलि गो।
अधीर चंचला जथा दिशे झिली मिलि।
अनुपम गंडे मणि-कुंडल देखि लि गो।
अमल तरल हार बकश्रेणी बोलि।
अनुपम करिबार दंड कि पाइलि गो ?
अग्नि बिना जले देह किछि न जाणिलि।
अपघने घरिके दंभकु दिए पेलि गो।
अंबुद श्याम ए जेतेबेलु विचारिलि।
अही दंशि देला परि पोड़ाकु लभिति गो।
अनारते छन छन होइ त रहिलि।
अटक नुहइ मन जेणिकि चाहिलि गो।
अनायत्ते दिनमणि बोले मुं पड़िलि।
अछि कि उपाय सखि न कहिले मलि॥

राधा कह रही है कि 'हे सखी ! उधर देखा भर था। इसमें इतना छन्द (छल-कपट) है, मैं तो नहीं जानती थी। अहिभुजचन्द्र को मैं पहचान न सकी।

शं. पु.

दिवाकर दास

भक्तप्रवर दिवाकर दास का स्थान जगन्नाथदास के सोलह प्रमुख भक्तों में आता है। जगन्नाथदास के चलाये 'अतिबड़ी संप्रदाय' को तात्त्विक एवं दार्शनिक आधार प्रदान करने का कार्य इन्होंने ही किया।

इनका जन्म ब्राह्मण कुल में निमदास के पुत्ररूप में हुआ था। माता का नाम चंपादेवी था। इनके गुरु का नाम नवीनकिशोर मिलता है, जिन्हें जगन्नाथदासजी की ही परंपरा में माना जाता है। इनके विस्तृत जीवनसूत्र अप्राप्य हैं। इनके लिखे 'जगन्नाथ-चरितामृत' के आधारपर इन्हें जगन्नाथदास का परवर्ती स्वीकार किया जाता है।

दिवाकर दास उड़िया-साहित्य में प्रथम 'वैष्णव-वार्ता'-लेखक कहे जा सकते हैं। इन्होंने 'अतिबड़ी संप्रदाय' की साधना एवं उसके तात्त्विक आधार के विवेचन को ही अपना लक्ष्य बनाया था। किन्तु उसके साथ ही जगन्नाथदास की जीवनी का विस्तृत समावेश कर उड़िया जाति के प्रमुख प्रेरणास्रोत भागवतकार जगन्नाथदास और इनके अनुयायियों की गाथा को भव्य रूप प्रदान करने का श्रेय भी इन्हें ही प्राप्त है। अन्यथा भक्तिकालीन इतिहास की उतनी सारी दुर्लभ सामग्री सदा के लिए विस्मृत ही रह जाती। उत्कलीय वैष्णव-भावना का वैशिष्टच लक्षित करने के लिए दिवाकर दास के 'चरितामृत' में प्रभूत सामग्री उपलब्ध है।

ये पुरीक्षेत्र को ही नित्य वैकुण्ठ मानते थे। अतः कहीं और जाने की आवश्यकता नहीं समझते थे। ये जगन्नाथ भगवान् को अवतारी और सर्वात्मा कहते हैं और इस संबंध में नानाशास्त्र-पुराणों से प्रमाण देते हैं। इनकी मान्यता के अनुसार इसी नित्य वैकुण्ठ में नित्य राधा-कृष्ण के साथ लीला-हेतु ही जीव इस मर्त्यभूमि में आते है। जगन्नाथदासजी की जीवनी के साथ जुड़े तत्कालीन राजा प्रतापरुद्र के संबंध में भी अनेक प्रसंग मिल जाते हैं। स्थान-स्थान पर भक्ति-तत्त्व की व्याख्या और नाम-माहात्म्य भी इस ग्रंथ रत्न में उपलब्ध है। इन्होंने छंद भी भागवत का ही ग्रहण किया है। अतः यह ग्रंथ सरल और लोकोपयोगी बन गया है। निःसन्देह 'जगन्नाथ-चरितामृत' उड़िया संस्कृति के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्ष पर यथेष्ट प्रकाश डाल सका है। दिवाकर दास अपने संप्रदाय के लिए ही नहीं, समूची जाति के लिए एक अनुपम कार्य कर गये हैं। इसके माध्यम से इन्होंने जगन्नाथ महाप्रभु और उनके भक्त जगन्नाथदास दोनों की अद्भुत सेवा की है।

'जगन्नाथ-चरितामृत' से यहाँ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :

छठे अध्याय में ये जगन्नाथजी और श्रीक्षेत्र की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं :

जेते जेते विष्णु अवतार ।
एहि क्षेत्ररु से बाहार ॥
श्रीजगन्नाथहि परम ।
एथुं बाहार केते ब्रह्म ॥

ए देव देबंक उत्तम ।
ए क्षेत्र श्रेष्ठ पुरुषोत्तम ॥
जेतेक पुण्यस्थान मही ।
एहि क्षेत्ररु जात सेही ॥
जेतेक तीर्थ ए संसार ।
एहि क्षेत्ररु से बाहार ॥

‘विष्णु के जितने भी अवतार हुए हैं, वे सभी इसी क्षेत्र से निकले हैं। श्रीजगन्नाथजी परम (श्रेष्ठ) हैं, अतः पता नहीं, इनसे कितने ब्रह्म स्वरूपों का आविर्भाव हुआ है ? ये देव ही देवों में श्रेष्ठ हैं, अतएव यह क्षेत्र ‘पुरुषोत्तम क्षेत्र’ कहलाता है। धरती पर जितने भी पुण्यस्थल हैं, वे सब इसीसे उत्पन्न है। जितने तीर्थ इस संसार में फैले हैं, सब इसीसे आविर्भूत हुए हैं। इस प्रकार यह क्षेत्र अत्यन्त महिमामय है।

शं. पु.

दिव्यसिंह देव

दिव्यसिंह देव का विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। इनके रचे राधा-कृष्ण की प्रेमलीलाविषयक कुछ स्फुट पद मिलते हैं। इन्हींमें से एक यहाँ दिया जा रहा है।

श्रीकृष्ण राधा से मीठे-मीठे शब्दों में कह रहे हैं :

रमणी तुरे गुमान न कर मोरे !
न कर गोरी चारु बिंबाधरी
कुंद-वदनी तु नागरीवर रे ।
नाहिं मो दोष काहिं पाइं ए रोष,
काश हास परकाश हास
कइलाशवासी पर बास भयकु रे
तो विन स्मर-शर करे प्रहार,
शरणागत मुं तो करुणाकर
करुणा-वरुणालय घुअणा तेज रे !
तुहि मो धीरा धरा न कर गीरा,
गंडरे करकु न मंड पुंडरिक
नेत्री दंडदिअ दोषकु धरि रे ।

श्रीहरि वाणी शुणि तोष रमणी
गंगवंश-कुलपंकज दीनमणि
दिव्यसिह पंकज ए रसे भणि रे !

‘हे रमणी ! तुम मेरेलिए गुमान न करो। हे गोरी, बिम्बाधरी, कुन्दवदनी, नागरीश्रेष्ठ ! मेरा इसमें कोई दोष नहीं है, व्यर्थ रोष क्यों कर रही हो ? तेरे विना कामदेव मुझपर प्रहार कर रहा है, अतः मैं तेरी करुणा का प्रार्थी, तेरे शरणापन्न हुआ हूँ। तुम घृणा छोड़ दो। मेरा धैर्य तुम्हीं हो, हाथ छाती पर न रखो, तुम जो चाहे मुझे सजा दो। गंगवंश में उत्पन्न दिव्यसिंह देव कहते हैं कि इस प्रकार श्रीहरि की वाणी सुनकर रमणी संतुष्ट हो गयी।’ शं. पु.

दीनकृष्ण दास

दीनकृष्ण दास का जन्म सुवर्णरेखा नदी के तट पर स्थित जलेश्वर (जिला बालेश्वर) के निकट एक छोटे से गाँव में एक क्षत्रिय परिवार में हुआ था। यहीं इनके वंशज रहते आये हैं। इनके मन में जगन्नाथ के प्रति अपार निष्ठा थी। अतः जीविका की खोज में अपनी जन्मस्थली छोड़कर ये पुरी की ओर चले आये। कुछ दिन खुर्धा रियासत के पास भीमनगर में रहे। वहाँके सामन्त ने इनकी यथाशक्ति सहायता की, किन्तु जातीय स्वभाव के कारण ये वहाँ टिक नहीं पाये। जीवनभर इसी अस्थिरता के कारण दीनकृष्ण को एक से दूसरे और फिर तीसरे स्थान पर आश्रय के लिए भटकना पड़ा। फिर भी अधिक समय पुरी और खुर्धा में ही बीता।

जब ये पुरी में निवास कर रहे थे, महाराज दिव्यसिंह देव का ध्यान इनकी ओर गया। इनके काव्य-कौशल पर मुग्ध होकर उन्होंने इन्हें सम्मान दिया। तत्कालीन पण्डित लोकनाथ विद्याधर ने महाराज के नाम पर एक काव्य-रचना की थी। महाराज ने दीनकृष्ण से भी ऐसा ही करने का अनुरोध किया। बदले में यथेष्ट द्रव्य भी देने का आश्वासन दिया। किन्तु दीनकृष्ण ने विनम्रतापूर्वक कह दिया कि 'महाराज'! मैंने तो अपना सर्वस्व जगन्नाथजी के चरणों में अर्पित कर दिया है। अब उनके अलावा किसी और का दासत्व कैसे स्वीकार करूँ? मैं तो उन्हींकी सेवा में गीत गाता फिरता हूँ। आप मुझे क्षमा करें।'

दूसरी बार आग्रह करने पर भी जब ये काव्य-रचना के लिए तैयार नहीं हुए तो राजा को क्रोध आ गया। उन्होंने आवेश में स्पष्ट कह दिया : 'यदि यह काम कर दिया तो आपको अनेक ग्राम मिलेंगे, अधिकार मिलेगा; क्योंकि मैं राजा हूँ। अन्यथा जीवन की आशा छोड़ दो। देखता हूँ, कौन आकर तुम्हारी रक्षा करता है?' राजा की इस धमकी का दीनकृष्ण ने भी अपने क्षात्र स्वभाव के अनुरूप खरा उत्तर दे डाला : 'मेरे तो प्रभु जगन्नाथ ही हैं, उनकी कृपा ही मेरी शक्ति है।'

दीनकृष्ण बन्दी बना लिये गये। तरह-तरह के कष्ट दिये जाने लगे। किन्तु उसकी कोई परवाह न कर ये जगन्नाथ के ही ध्यान में मग्न रहे। अन्ततोगत्वा भगवान् का आसन डिग गया। रात में चुपचाप महाप्रसाद लेकर वे भक्त के पास पहुँचे। अपने हाथों उनकी हथकड़ी और पैर की बेड़ियाँ काट डालीं। स्वप्न में राजा को अपना रुद्ररूप दिखाया। प्रातःकाल ही राजा ने अपनी गलती समझकर इन्हें बन्दीशाला से मुक्त कर दिया और धन-रत्न द्वारा सम्मानित किया।

दीनकृष्ण इस घटना से बहुत दुःखी हुए। वे तो जीवनभर भगवान् जगन्नाथ की ही सेवा में लिखते रहना चाहते थे। अतः उन्होंने कहा :

कवि जा करे मुर्खंकु स्तुति
एथिरु बड़ नाहि बिपत्ति।
एथिकि प्रति छाति रे,
काति मारिबा भल हे॥

'कवि ही यदि मूर्खों की स्तुति करने बैठ जाय, तो इससे बड़ी विपत्ति नहीं होगी। इससे तो अच्छा यह होगा कि वह छाती में छुरा भोंक ले।'

यह है दीनकृष्ण के हृदय में स्थित कवि, जो अपने स्वाभिमान के विरुद्ध प्राकृतजन की स्तुति करने में कभी मुखर नहीं हुआ। इनका मन सदा भगवद्भक्ति में ही रमा रहा।

दीनकृष्ण जितने बड़े भक्त थे, उतने ही बड़े कवि भी। कविकर्म के प्रति सचेष्ट होकर उन्होंने 'रस-विनोद' की रचना की। काव्य-शास्त्र एवं छन्दशास्त्र के नियमों का कड़ाई से पालन किया, फिर भी इनके काव्य में किसी प्रकार लालित्य की हानि नहीं हुई और न उसे क्लिष्टत्व-दोष ने घेरा। उसमें नैसर्गिकता की रक्षा की गयी, यह एक बहुत बड़ी बात थी।

उन दिनों हरिनाम-संकीर्तन की धारा प्रखर होती जा रही थी। दीनकृष्ण ने उन्हें 'विष्णुजन' कहकर सम्मानित किया है। किन्तु भक्तों को उनसे उच्चतर स्थान दिया है।

'रस-विनोद' इनकी एक श्रेष्ठ काव्यकृति है। इन्हें जब आर्थिक विपन्नता ने आ घेरा तभी इसकी रचना हुई। ये कहते हैं : 'इस भावधनपूर्ण ग्रन्थ को वाणिज्य करने के लिए भक्तों के हाथ में दे दिया। इससे यथेष्ट धन प्राप्त किया जा सकता है। इस ग्रन्थ में नित्य विष्णु के नित्यरास का वर्णन किया गया है। गीता, भागवत, रामायण, महाभारत सहित अनेक ग्रन्थों में निहित तत्त्वज्ञान का इसमें सन्निवेश किया गया है। जगन्नाथ-मन्दिर और जगन्नाथ-तत्त्व का विशद वर्णन है। अन्त में योगतत्त्व की चर्चा एवं संक्षेप में तत्कालीन राजनीतिक जीवन का चित्र अंकित है। इन सबमें प्रमुखता दी गयी है नित्यस्थल (नित्य वैकुण्ठ) में श्रीराधा और कृष्ण के प्रेमसुख

को। यह नित्य विष्णु स्वयं जगन्नाथ हैं जो श्रीक्षेत्र में निवास करते हैं। युग-युगान्तर में यह लीला चलती रहती है जिसमें गोपीप्रेम की प्रधानता है। इस गोपीप्रेमकथा का विस्तार दीनकृष्ण ने आगे चलकर 'रस-कल्लोल' में किया है। कृष्ण गोपियों के साथ नाना प्रकार की लीलाएँ करते हैं। कंस कपट कर 'धनुयात्रा' देखने के बहाने उन्हें मथुरा बुलवा लेता है। कृष्ण कौतुक ही कौतुक में अनेक राक्षसों का वध कर डालते हैं। इस प्रकार दीनकृष्ण ने मुख्यतः व्रज और मथुरा इन दो लीलाओं का ही प्राधान्य दिखाया है। इनमें भी अधिक विस्तार गोपियों की प्रेमलीला को दिया गया है। इस प्रसंग में इन्होंने नारी-सौंदर्यवर्णन एवं रति-विलास-वर्णन में विशेष रुचि दिखाई है। किन्तु यह सारा वर्णन भगवदाश्रित है, अतः इसे अश्लील नहीं कह सकते।

उड़िया के श्रृंगार-साहित्य में 'रस-कल्लोल' उच्च स्थान का अधिकारी है। इनके द्वारा रचित अनेक चौंतीसा तथा अन्यान्य लघुग्रन्थ भी हरिभक्ति के ही अंतर्गत आते हैं। उनमें भी इनकी जगन्नाथ एवं श्रीक्षेत्र के प्रति अगाध श्रद्धा परिलक्षित होती है। इनमें कुछ प्रमुख हैं: मधुमंगल, प्रस्ताव-सिन्धु, गुणसागर, ज्ञानसागर, नावकेलि आदि।

नीचे इनके दो पद उद्‌धृत किये जा रहे हैं:

(१)

कृष्ण कंसनगर जिबा शुणि,
कातर सकल कलाकरमुखी।
काकुस्त होइ धीरे कहति,
कोमलरे कंकण नयन रे रखि॥

हे कृपानिधि !
केमंते मुछिकु तुंमकु,
कहु हे बिचार आंमकु,
केउं मंत्रबल रे हृदय-कमल रे,
धइल एमंत दंभकु॥

"कृष्ण अब मथुरा चले जायँगे' यह समाचार सारे ब्रज में फैल गया तो गोपियाँ कातर हो उठीं। व्याकुल हो वे सब चंद्रमुखी अपने कोमल कंकण नेत्रों पर रखकर धीरे से पूछ रही हैं कि हे कृपानिधि! हम तुम्हें कैसे छोड़ पायेंगी? विचारकर इतना तो बता दो कि किस मंत्र के बल पर आपने अपने हृदय-कमल में इतनी अधिक दृढ़ता प्राप्त की?"

प्रभु जगन्नाथ के अनुग्रह से अपने को शक्तिशाली अनुभव करता हुआ कवि उनसे निवेदन करता है:

(२)

जहिं थिले थिलि जहिंगले गलि,
काहाकु मो अछि भये।
निरंतरे जेबे नीलाद्रिसिंहकु,
करि थिबि एका लये॥

जल स्थल महाअरण्य अनल,
अनिल दुर्गम पथ,
अरक्षित कु जेबे से न रखिबे,
शंख-चक्रकु किपाँ हस्त॥

हरता करता चालन्ता प्रभु से
विशेष करुणामये।
दीनबांधव नाम रे जेउँ बाना उड़े
ब्रह्मलोक जाए॥
जगत जंत्र चालंता यंत्रकार
अटन्ति देवाधिराज
बोले दीनकृष्ण सबु प्रकारे मो
भरसा गरुड़ध्वज॥

'हे प्रभु जगन्नाथ! जहाँ-जहाँ आप थे, वहाँ-वहाँ मैं था। जहाँ-जहाँ आप गये, मैं गया। फिर मुझे किसका भय होगा? बस, मैं एकटक नीलाद्रिसिंह की ओर देखता रहूँ तो फिर किसका डर? जल, थल, अरण्य, आग, अनिल, दुर्गम पथ कहीं भी यदि अरक्षित की आप रक्षा न करेंगे तो फिर बतायें, हाथ में यह शंख-चक्र किसलिए धारण कर रखा है? हे प्रभु! आप तो हर्ता-कर्ता, चलते-फिरते प्रभु हैं।

फिर विशेष करुणामय भी हैं। आपकी दीनबंधु नाम की पताका, ब्रह्मलोक तक फहराती है। इस संसाररूपी यंत्र के चालक आप देवाधिदेव ही हैं। दीनकृष्ण कहते हैं कि मुझे सारा भरोसा आप गरुड़ध्वज का ही है।'

शं. पु.

दीनबंधु षडंगा

दीनबंधु षडंगा लंबे समय तक खण्डपड़ा (जिला पुरी) के राजा नारायण महाराज के आश्रित सभा-कवि थे। राजा स्वयं संगीतज्ञ, विद्वान् तथा विद्वानों के विशिष्ट पृष्ठपोषक थे। वे १६८८ ई० तक जीवित थे। अतः दीनबंधु का समय सत्रहवीं सदी का मध्य-भाग पड़ता है। इन्होंने श्रीमद्भागवत का उड़िया में काव्यानुवाद किया था। आज भी 'खाडंगा भागवत' शीर्षक इस अनुवाद-ग्रंथ का उड़ीसा में काफी आदर है। ये वैष्णव जयरामदास से अत्यंत प्रभावित थे। इनका छंदोबद्ध उड़िया भागवत प्रामाणिक एवं रोचक है। शं. पु.

दीनबंधु हरिचन्दन

दीनबन्धु हरिचन्दन का जन्म सत्रहवीं सदी के मध्यभाग में हुआ था। ये विशिष्ट वैष्णव-कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके लिखे सैकड़ों भजन और चौपदी अबतक अप्रकाशित ही हैं। भक्तकवि सदानन्द कविसूर्य ब्रह्मा ने इनको बहुत आदर का स्थान दिया था। नीचे इनका एक पद उद्धृत किया जा रहा है :

श्रीकृष्ण राधा से विनती कर रहे हैं :

काहिं शिखिलु ए रीति रे बंधु।
धनुबिना, शरबिना, करबिना करिबाकु क्षत्रो वृत्ति रे॥
दिने यमुना-कूलरे नीपतरु-मूलहे मुरली-पाणि।
नागरीवर कटाक्ष-शरे विंधा होइण कहन्ति वाणी॥

अनायास रे बंधु तो नेत्रशर मोर हृदय काटइ।
पछकु मोड़ि होइ चाहिंबा क्षीण पाषाण हेले फुटइ॥

दिशइ नाहिं या मम मर्मे भेदि जाइ एहि एक परमाद।
बाजिवा क्षणि हृदय चमकइ नेत्रकु दिए प्रमोद रे॥
प्रिय वाणी शुणि रमणीक मणि श्रीमुखे आच्छादिवास।
लज्जित हेले कइह दीनबंधु हरिचन्दन ए रस रे॥

"रे मीत ! तूने यह रीति कहाँ सीखी, धनुष-बाण या हाथों के बिना क्षत्रिय-वृत्ति कैसे कर लेती हो ?'

"उस दिन यमुनातट पर नीपतरु के तले मुरली हाथ में लिये नागरीशिरोमणि राधा के कटाक्ष-शर से विंधकर कह रहे हैं : 'हे सखि ! तुम्हारे नेत्र-शर अनायास ही मेरे हृदय को विद्ध कर देते हैं। तुम्हारे मुड़कर देखते ही पाषाण तक विदीर्ण हो जाता है। यही एक कठिनाई है कि जो नहीं दीखता सो मर्मतक भेद कर देता है (कटाक्ष)। छूते ही हृदय को चौंका देता है। हाँ, नेत्रों को प्रमुदित कर देता है।' ऐसी मधुर वाणी सुनकर रमणीशिरोमणि राधा का श्रीमुख कांति से भर उठता है। इस रसपूर्ण वार्तालाप को सुनकर वे लजा जाती हैं। दीनबंधु हरिचंदन वर्णन कर रहे हैं।''

शं. पु.

दुःखी श्याम

दुःखी श्याम का विशेष परिचय ज्ञात नहीं होता। फिर भी राधा-कृष्ण-केलि सम्बन्धी इनके स्फुट पद मिलते हैं जिनमें से एक यहाँ दिया जा रहा है।

सखियाँ फूल तोड़ने आयी हैं। तभी आपस में कह रही हैं :

तोल तोल एहि फूल यतने गुंथिबा।
माल करि श्रीकृष्णर गले लंबाइबा॥

कुंद कंचन मोते गो दिशे के हे शोभा।
नागेश्वर कनिअर देखि मन लोभा॥

देखो मधुकाले कुंजे मालती फुटिबा।
आर सखी बोले नेइ श्रीकृष्ण भेटिबा॥

जुइ फुल नेइ देब जुर करे युवा।
माधवीरे माधव मनकु तोषिबा॥

चंपा चमत्कार देख कि उपमा देबा।
चंचले अंचल करबीर केहि अवा॥

दुःखी श्याम बोले आनु गोपकु न जिबा।
एहि स्थाने रही कृष्ण पाशरु न जिबा॥

'हे सखी ! सावधान होकर ये फूल तोड़ो । इनकी माला गूंथकर श्रीकृष्ण के गले में झुला देंगी । देख तो, यह कुंद, कंचन मुझे कितना सुंदर दीख रहा है। नागेश्वर और कनेर उधर मन मोह लेते हैं। देखो तो सखी ! कुंज में मालती आदि इस मधुऋतु में खिले हैं। इन्हें ही लेकर कृष्ण से भेंट करेंगी। वह युवती जूही तोड़ती है और सोचती है कि माधवी के साथ कृष्ण से मिलकर उन्हें तुष्ट करेगी। शीघ्र इधर आकर तो देख ! चंपा कितना चमत्कारी दिख रहा है, करवीर भला कैसा अनुपम खिला है। दुःखी श्याम कहते हैं कि अच्छा, अब हम इसी स्थान पर रहेंगी, व्रज नहीं जायँगी ।'

शं. पु.

देवदुर्लभ दास

देवदुर्लभ दास के जीवन के विषय में कोई सूत्र उपलब्ध नहीं होता। प्राप्त ग्रन्थों के इतना ही पता चलता है कि ये वीरकेशरी देव के समकालीन थे। रचनाओं में इन्होंने अपनी छाप 'देव' दी है।

इनका एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ है 'रहस्य-मंजरी'। इसमें श्रीकृष्ण की द्वारिका-लीला का प्रसंग लिया गया है, जो इस प्रकार है एक दिन अकस्मात् कृष्ण अनमने और उदास हो गये। रुक्मिणीजी ने आकर उनकी इस दशा का कारण पूछा। श्रीकृष्ण ने निःसंकोच कहा कि 'यहाँ कोई उनकी प्राणसखी नहीं। गोपियों जैसा समर्पण एवं अंतरंगता यहाँ कहाँ ?' इस पर वे कृष्ण को जली-कटी सुनाती हैं। कृष्ण ने उन्हें समझाया कि 'गोपीभाव क्या है, उनसे प्रेमतत्त्व कैसे सीखना पड़ता है। प्रेमभक्ति पाने पर स्त्रीभाव आ जाता है, पुरुषभाव से दर्शन संभव नहीं।'

इस प्रकार गोपियों के रूप और गुण का वर्णन सुनकर आठों पटरानियों में ईर्ष्या होती है। उधर व्रज में राधा का विरह चरम अवस्था को जा पहुँचता है। वे माया-कन्याओं को कृष्ण के पास भेजती हैं। माया-कन्याएँ वहाँ जाकर करुण स्वर में कृष्ण को राधा और गोपांगनाओं का दुःख गाकर सुनाती और अंतर्धान हो जाती हैं।

कृष्ण पटरानियों के साथ अचानक गोपपुर आते हैं। राधा-कृष्ण विहार करते हैं। अष्ट पट्टमहिषी ओट में रहकर इस दिव्य-लीला का अवलोकन करती हैं। उसी रात वे द्वारका वापस लौट आते हैं।

इतने पर भी क्रोध शांत न होने पर वे रुक्मिणीजी को लेकर नित्य गोलोक जाते हैं। वहाँ त्रिपुरेश्वरी रास्ता रोक लेती हैं और रुक्मिणीजी को मन्त्रसिद्धा करके रास्ता छोड़ देती हैं। यह दिव्य-लीला देखकर रुक्मिणीजी की सारी मनोग्रंथियाँ खुल जाती हैं। फिर कृष्ण और रुक्मिणी लौट आते हैं।

इस प्रकार कवि ने कृष्ण की अनंत लीलाओं में से कुछ अंश लेकर चौबीस सर्गों में यह काव्य लिखा है।

भाषा शास्त्रनिष्ठ न होती हुई भी प्रवाहपूर्ण और आकर्षक है। कृष्णचरित का माधुर्यभाव से वर्णनकर कवि लोकप्रिय हो गया। देवदुर्लभ दास ने विभिन्न पुराणों से इस कथावस्तु का आहरण किया है, ऐसी बात नहीं। अनेक अवसरों पर उन्होंने अपनी कल्पनाशक्ति का भी परिचय दिया है। ऐसे ही एक-दो प्रसंग यहाँ उद्धृत हैं :

(१)

चरण अरुण राजे,
कनक नूपुर साजे।
कटि किंकिणी घंटी,
ठणरण कंकण झंक बाजे॥
सखि तु जाउ कि ना,
कन्हाइ प्राणकु जाउ कि ना।
रतन बसन हार कंकण,
जाहा मागु ताहा देउ कि ना॥

'गोपांगना एक सखी से कहती है कि उनके अरुण चरणों में कनक-नूपुर बजते हैं, कटि में किंकिणी की घण्टी बजती है, ठन-ठन ध्वनि निकलती रहती है। सखी, तू वहाँ जाती है या नहीं। उन कन्हैया

के प्राणों के पास चलती है या नहीं। रत्न-वस्त्र, हार,कंगन वे जो कुछ भी माँगे, देगी या नहीं ?'

(२)

पाठमान जेबे अंत करि कहिथांते ॥
महिमा अनंत बोली किपा लेखि जाते ।।

जे जेते कहिला तार केतेक प्रमाण ।
एते एते बोलि तथ्य के के माने जाण ॥

'यदि ग्रन्थों में उनकी महिमा का अन्त हो जाता तो फिर वे उनकी महिमा को अनन्त क्यों लिखने जाते ? जिसने जितनी उनकी महिमा लिखी, उतना ही उसका प्रमाण बन गया। इस प्रकार तथ्य बनते गये। प्रमाण बढ़ते गये। फिर भी उनकी महिमा का अन्त नहीं हुआ।' **शं. पु.**

देवानन्द दास

देवानन्द दास महाराज मुकुन्ददेव (द्वितीय) के समकालीन बताये जाते हैं। इन्होंने १७७४ ई० में 'वैचन्द्र-गीता' लिखी थी। इसके अतिरिक्त 'अणाकार-संहिता' नाम से इनका एक अन्य तत्त्व-विवेचनमूलक ग्रंथ प्रसिद्ध है। इनकी कृतियों में कहीं-कहीं नंददास की छाप भी मिलती है। बहुत संभव है, ये खुर्धा महाराज के दरबार में नियुक्त रहे हों। इनकी रचना की भाषा कोमल एवं ललित है। गोपियों की प्रेम-क्रीड़ा संबंधी प्रसंगों का इन्होंने मनोरम वर्णन किया है।

शं. पु.

द्वारिकादास

द्वारिकादास का जन्म १६०३ ई० में कटक के पास धूलिसर ग्राम में हुआ था। इनके पिता रामदास परम वैष्णव थे। इन्होंने अपनेको बलरामदास का परवर्ती कहा है और शूद्रकुल में उत्पन्न बताया है।

कहते हैं कि उगुली ग्राम के जमींदार की एक कन्या थी। उसके हाथ में एक बाल उग आया। इसे अशुभ लक्षण मानकर घरवाले चिंता में पड़ गये। लेकिन द्वारिकादास ने हाथ देखकर उस कन्या को सुलक्षणी बताया। जमींदार ने कन्या इन्हें अर्पित कर उसके साथ इनका विवाह कर दिया। कुछ दिनों तक ससुराल में रहकर ये पास के ही गाँव डोमपड़ा में चले आये। इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर लोगों ने वहाँ कुछ जमीन दे दी, फिर ये वहीं बस गये। यहाँ इनसे अनेक लोगों ने दीक्षा ग्रहण की। कुछ ही दिनों में इनका नाम चारों ओर फैल गया। किंतु व्यावहारिक जीवन से उदासीन रहने के कारण घर की हालत कभी अच्छी नहीं रही। उस स्थान को छोड़कर इन्होंने कुछ समय पुरी में भी बिताया। अंतिम दिनों में डोमपड़ा के भगीपुर ग्राम में चले आये और वहीं शरीर त्यागा।

इनके पूर्ववर्ती भक्त बलरामदास ने 'गुप्त-गीता' नामक ग्रंथ लिखा था। अपनेको उनका अवतार माननेवाले द्वारिकादास ने उसमें छः अध्याय जोड़कर उसका नाम ही बदल दिया। अब वही बृहदाकार ग्रंथ 'छत्तीस गुप्तगीता' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें ब्रह्मज्ञान की सरल भाषा में चर्चा है और पिण्ड-ब्रह्माण्ड आदि अनेक तत्त्वों का विशद विवेचन है। इस ज्ञानमिश्रा भक्ति का निरूपण ही इनके तत्त्वदर्शन का मूलाधार है। किस प्रकार निराकार एवं अरूप ब्रह्म रूप धारण करता है, यह विभिन्न संवादों के माध्यम से सरस शैली में वर्णित है। इसके अतिरिक्त 'देहरूपी रथ के निर्माणकर्ता भगवान् हैं, मन राजा और महाकाल रानी हैं' इस प्रकार इन्होंने एक आकर्षक रूपक की रचना करके काल के अधीन होकर मन किस प्रकार नाचता है, इसका विवेचन किया है।

इनका एक पद नीचे दिया जाता है :

राणी परिहास करइ जेबे ।
राजा परिहास करइ तेबे ॥

राणी शुइ थिले राजा शुअइ ।
राणी जागिले राजा जागइ ॥

राणी चाहुले राजाहिं चाहिं ।
एमंत अभेद राजा राणी दुइ ॥

'जब रानी (काल) हँसती है तो राजा (मन) हँसता है। रानी सोये तो राजा को नींद आती है और जब रानी जाग उठती है तब राजा की नींद टूटती है। रानी के देखने पर राजा को दीखता है। इस प्रकार कालरूपी रानी और मनरूपी राजा दोनों में अभेद हो गया है अर्थात् मन काल के अधीन चल रहा है।'

शं. पु.

द्वारिकावल्लभ दास

द्वारिकावल्लभ दास माधवानन्द दास की शिष्य-परपंरा में आते हैं। इन्होंने पुरी के 'सान ओहिआ मठ' की स्थापना की थी। इनका विस्तृत वृत्त उपलब्ध नहीं होता और न इनकी किसी रचना का ही पता चलता है। शं. पु.

द्विज पद्मनाभ

द्विज पद्मनाभ का विशेष परिचय ज्ञात नहीं है। फिर भी इनके राधाविषयक कुछ पद मिलते हैं, जिनसे विदित होता है कि ये प्रिया-प्रियतम की माधुर्य-लीला के उपासक थे। इनका एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है।

विरहिणी राधा पश्चात्ताप कर रही हैं :

सुवा देह चुनाकलि न जाणि,
कि नारखार मुं हेलि मितणी।
ए गोप नागरे नागरा बाजुछि,
शुणि कान्हा करणि ॥

जेते झिंगासि बोलइ जरती,
मोर हृदय हुअइ करति,
आहा करिबाकु साहा केहि नाहि
श्याम गलाकाटि देलेणि ॥

चालि न पारइ तार भयरे,
लाजे नकहइ पदे काहारे,
कुलांगना कूल रखिदेउ नाहिं,
पथर छाति हेलाणि ॥

पोड़ु पोड़ु ए पर पीरति वा,
एते अपबाद किपा सहिबा,
यमुना-स्नाहाद हेलाणि स्वपन,
असक विष हेलाणि ॥

द्विज पद्मनाभ बोले श्रीमती,
श्याम प्रेमरे न बला मति,
भालु भालु दिव सरिब,
कर पछरे लुह पोछिलाणि ॥

"बिना जाने मैंने इस सोने-सी काया को माटी कर लिया। हे मितवा! मैं कितनी दुर्दशा को प्राप्त न हुई? कान्हा की करनी के नगारे सारे गोपनगर में बज रहे हैं। जितना भी कहो, मेरा हृदय जल रहा है। श्याम ने तो गला ही काट डाला है, कोई सहानुभूति के दो शब्द भी कहनेवाला नहीं। उसके भय से चलना कठिन हो गया है, लाज से लड़खड़ा रही हैं, कुलांगनाएँ कुलमर्यादा संभाल नहीं पा रही हैं। छाती पत्थर की हो गयी है। जले, आग लगे इस परप्रीति को! इतना अपवाद कौन सहे? यमुना-स्नान तक सपना हो गया और भोजन विष बन गया है। द्विज पद्मनाभ कहते हैं कि राधा कहती हैं कि "श्याम के प्रेम में बुद्धि न लगाओ, अन्यथा सोचते-सोचते दिन वीत जायगा' और वह हाथ से आँसू पोछने लगी।"

शं. पु.

धनंजय भंज

उड़ीसा में कला-साहित्य के लिए प्रसिद्ध राजघरानों में घुमसुर का विशिष्ट स्थान है। इस वंश के राजाओं में साहित्यानुराग-परम्परा से चला आ रहा था। इसी घराने में धनंजय भंज का जन्म १६११ ई० में हुआ था। इनका शासनकाल संगीत, कला, तथा साहित्यचर्चा के लिए तो प्रसिद्ध है ही, स्वयं भी ये उच्चकोटि के कवि थे। गृहकलह विशेषतः रानी के षड़यंत्रों के कारण इनके अंतिम दिन बहुत कष्ट में बीते। इनकी मृत्यु १७०१ ई० में हुई।

इनकी प्रमुख रचनाएँ कल्पना-प्रसूत हैं। कल्पना-प्रधान कथाओं पर आधारित इनके काव्यग्रंथों में

'इच्छावती, अनंगरेखा तथा त्रिपुरमोहिनी' प्रसिद्ध हैं। इन प्रेमाख्यानों में धनंजय ने उड़िया में श्रृंगारवर्णन की परंपरा को सुदृढ़ किया। इन्होंने प्रायः राजघराने के ही नायक-नायिकाओं को लेकर उनके प्रणय-प्रसंगों का आकर्षक वर्णन किया है। इन उपाख्यानों ने काफी लोकप्रियता पायी। आगे चलकर उपेन्द्र भंज ने इस काव्यशैली को सर्वोच्च आसन पर पहुँचाया। यह घराना रामोपासक माना जाता है। इसलिए धनंजय भंज ने 'रघुनाथ-विलास' की भी रचना की है। इस काव्य में पारंपरिक रामकथा का पुराणप्रसिद्ध रूप सुरक्षित है। इसके अलावा भी इनके अनेक फुटकर गीत लोकप्रसिद्ध हुए हैं।

उपर्युक्त परिस्थितियों में भी धनंजय ने जगन्नाथजी के प्रति अपनी अकुण्ठ श्रद्धा व्यक्त की है। पुरी में आने पर इन्हें असीम आनन्द मिलता था। विशेषकर 'अनंग-रेखा' काव्य में इन्होंने अनेक स्थलों पर जगन्नाथजी के प्रति अपार श्रद्धा और उनके दर्शन से प्राप्त असीम आनंद व्यक्त किया है। ये ग्रंथारम्भ ही नीलाचलनाथ की वन्दना से करते हैं। इसके बाद हर खण्ड में यही परंपरा चलती है। धनंजय की रचनाओं के प्रमुखता श्रृंगार-वर्णन की मिलती है। आगे चलकर रीतिकालीन साहित्य पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। गीतों की एक समृद्ध परंपरा का ही निर्माण हो गया।

इनसे प्रेरणा लेकर परवर्ती उत्कलीय साहित्य में संस्कृत की जगह उड़िया का प्रयोग बढ़ता गया। मुगल-शासन के अन्तर्गत विपरीत परिस्थितियों में भी अपनी संस्कृति, धर्म और धारणाओं की सुरक्षा के लिए यह राजघराना निरन्तर सचेष्ट रहा। इन आकर्षक राज-कथानकों के उपस्थापन से जनता के मन में धैर्य एवं आशा का संचार संभव हो सका। इनके लिखे छोटे-छोटे चौंतीसा अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

सुललित पदावली में जगन्नाथजी के प्रति इनके प्रेमोद्गार की छटा इस एक अर्धाली में देखी जा सकती है :

सेबिण नीलाद्रिनंद,
होइछि अति आनंद।
छेद प्रभु मोर,
मायाबंध हे आदिकंद॥

'नीलाद्रिनन्द श्री जगन्नाथजी की सेवा करके मन में अपार आनंद उत्पन्न हुआ है। हे प्रभु, हे आदिकंद! आप मेरे इस मायाबंधन का छेदन करें।'

शं. पु.

धरणीधर मिश्र

धरणीधर मिश्र का आविर्भावकाल १७वीं शती माना जाता है। इसके अतिरिक्त इनके जीवनविषयक अन्य तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। इनकी प्रसिद्धि का मूलाधार इनके द्वारा की गयी 'गीत-गोविन्द की टीका' है। जगन्नाथ-मंदिर में गीत-गोविन्द के पद नियमित रूप से गाये जाने के कारण मध्यकाल में उत्कलीय वैष्णवों का यह मुख्य उपजीव्य ग्रंथ बन गया था। पुरुषोत्तम देव के समय में वैष्णवधर्म राजधर्म बन जाने के बाद तो इसका महत्त्व और भी बढ़ गया। संभवतः इन्हीं दिनों (१७वीं सदी में) गीत-गोविन्द के अनुवाद की परंपरा चली। उसका सर्वाधिक लोकप्रिय रूपान्तर इन्हींके द्वारा प्रस्तुत हुआ है। आलंकारिक पं० जगन्नाथ मिश्र ने इनके अनुवाद की महत्ता स्वीकारकर अपने शिष्य उद्धव को उसकी टीका लिखने के लिए प्रेरित किया था। ताड़-पोथियों में उपलब्ध उक्त उड़िया अनुवाद के आधार पर ही उन्हें ख्याति और आदर मिला है।

नीचे लिखे गीत-गोविन्द के मूल पद के साथ धरणीधर का रूपांतर और उसका आक्षरिक हिंदी-पाठ दिया जा रहा है :

मूल :

चंदन-चर्चित नीलकलेवर पीतवसन वनमाली,
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डित गण्डयुगस्मितशाली।

उड़िया अनुवाद :

नील कलेवर हरि, शोहे चंदन,
कटितटे पीत पट से परिधान।
मंडित गंडयुगले, मणिकुंडल,
लीलाए चलंते शोहे मुखमंडल।
विलासिनी नाना रंगे, करंति केलि,
बजाइ सुस्वरे वेणु, श्रीवनमाली॥

शं. पु.

नन्ददास

नन्ददास ने कहीं पर अपना परिचय नहीं दिया है और न अन्य स्रोतों से ही इनके जीवनसम्बन्धी सूत्र प्राप्त होते हैं। अपनी कृतियों में इन्होंने स्वयं को द्वारिकादास का परवर्ती रूप बताया है, जब कि द्वारिकादास ने स्वयं को बलरामदास का अवतार कहा है। द्वारिकादास ने १६८१ ई० में 'छत्तीस गुप्त-गीता' लिखी थी। इसके आधार पर द्वारिकादास का आविर्भाव सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ होगा। नन्ददास के विषय में कहा जाता है कि ये शूद्रकुल में उत्पन्न हुए थे।

ये निराकार ब्रह्म के उपासक थे। इन्होंने जगन्नाथ के निराकार रूप का वर्णन अपनी रचनाओं में किया है। सगुण-निर्गुण के बीच सौमनस्य के अभाव में एक समय ऐसा आया था, जब जगन्नाथ को अपना आराध्य माननेवाले दोनों प्रकार के भक्तों के बीच गहरी खाइं बन गयी थी। नन्ददास ने अपनी 'अणाकार-संहिता' की रचना अच्युतानन्द की ही तरह पिण्ड-ब्रह्माण्डसम्बन्धी ब्रह्मज्ञान को लेकर की है। प्रतिमा-पूजा एवं अन्य प्रकार की स्थूल उपासना-विधियों के स्थान पर इन्होंने शून्य ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया है और नाम-जप की महिमा गायी है। दारु-ब्रह्म जगन्नाथ में इन्हें अपनी आराधनासम्बन्धी सारी बातें मिल जाती हैं। अतः इन्होंने ध्यान, साधना आदि द्वारा आचरण शुद्ध कर परम ब्रह्म जगन्नाथ की आराधना पर जोर दिया है।

परमात्मा की भक्ति के लिए आवश्यक बातों की चर्चा करते हुए ये कहते हैं :

मोर भकति जो जाणइ।
शुभ अशुभ तार नाहिं॥
सकल त्याग करि थाइ।
मोर चरणे चित्त देइ॥
संसारमध्यरे बिहरे।
पर अपर न बिचारे॥
नाहिं ता मान अपमान।
सकल जगत समान॥

—अणाकार-संहिता

भगवान् कहते हैं कि 'जो मेरी भक्ति जानता है उसका शुभाशुभ कुछ नहीं रहता, वह सबसे ऊपर उठकर मेरे चरणों में मन लगाये रहता है। सारे संसार में वह अपने-पराये का भेदभाव किये बिना समभाव से विचरण करता है। उसे मान अथवा अपमान की चिन्ता नहीं रहती। वह सारे जगत् को समान मानकर चलता है।' शं. पु.

नारायण दास

नारायण दास का कोई जीवन वृत्तांत नहीं मिलता। इतना निश्चित है कि ये पीताम्बरदास के पूर्ववर्ती हैं। इन्होंने 'हरिवंश' का सात खण्डों में उड़िया अनुवाद किया था। इस ग्रन्थ के निर्माण के विषय में ये कहते हैं कि 'हरिवंश श्रीकृष्ण के मुख से निःसृत है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं उन्हें लेखनी प्रदान की। उसीसे भगवत्कथा की रचना हुई।' ये वेदाध्यायी थे। अतः अपने इस ग्रन्थ में इन्होंने शास्त्र-सम्मत बातों का ही समावेश किया है। इस सम्बन्ध में इनका नम्रतापूर्ण निवेदन है :

कृपानिधि कृपाकरि जेबे कर त्राहि।
तबे आपणंक कथा मुहि लेखिबइं॥

'हे कृपानिधि ! आप जब कृपाकर मेरी रक्षा करेंगे तभी आपकी कथा लिखने में सक्षम हो सकूंगा।'

इस ग्रन्थ में इन्होंने जगन्नाथजी के नीलगिरि-आविर्भाव की कथा विस्तार से कही है। शं. पु.

नारायण देव

पारलाखेमण्डी राज्य का उड़ीसा के इतिहास में अत्यंत महत्त्व है। वहाँके जगन्नाथ-मंदिर तथा उसकी परंपरा अत्यन्त प्राचीन और समृद्ध है। उस के राजा गजपति महाराज कहलाते रहे हैं। ईसा की १८वीं सदी में विद्यमान यहाँके महाराज नारायण देव परम वैष्णव थे। वे अत्यंत वीर, योद्धा तथा दानी होने के साथ कला-मर्मज्ञ एवं संगीतज्ञ भी थे। उनके धर्मपिता राजा अनंत पद्मनाभ को कोई संतान न थी। अतः उन्होंने जगन्नाथ नारायण को गोद ले लिया।

एक ताड़-पोथी में इनका संक्षिप्त इतिहास सही-सही मिल जाता है। तदनुसार नारायण देव ने चालीस वर्ष पाँच महीने शासन किया। इनका गोदावरी से छत्रगढ़ तक के क्षेत्र पर अखंड अधिकार था। इन्होंने शासन (जागीर) और धार्मिक कीर्ति-स्थलों का निर्माण कराया। जब जाफर खाँ नामक नवाब ने गंजाम के कई जागीरदारों को बंदी बना लिया तो गजपति महाराज ने जाफर खाँ को विजयनगर तक पीछाकर धर दबोचा और सारे जागरदारोंको ससम्मान छुड़ा लाये। फिर फौज लेकर इधर आये और बाणपुर में भगवती-पीठ की स्थापना की तथा कपिलेश्वर महादेव का मंदिर बनवाया। कटक में शिवभट्ट नामक मराठा शासक को परास्त किया और आगे बढ़कर मयूरभंज तक सारे इलाके को मुक्त कर लिया। इस प्रकार समूचे उत्कल से विदेशी सत्ता का लोप कर देने के बाद इन्होंने अपना अभियान समाप्त कर दिया। अब इनमें धर्मभाव जागृत हुआ और ये तीर्थ करने वृन्दावन चले गये। दीक्षा लेकर कंठी धारण कर ली तथा कृष्ण-पदांक का अनुसरण कर साहित्य और संगीत की साधना में जीवन का अवशिष्ट अंश बिताने लगे। यह बात १७६७ ई० के आस-पास की है।

यह कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि निरंतर युद्धरत रहते हुए भी नारायणदेव एक श्रेष्ठ कला-साधक तथा साहित्यसेवी प्रमाणित हुए। इन्होंने उत्कृष्ट संगीत-ग्रंथ 'संगीत-नारायण' और 'संगीत-कौमुदी' की रचना की है। इन ग्रन्थों में संगीत की उत्पत्ति, उसके भेद, वाद्ययन्त्रों का वर्णन, स्वर, मूर्छना और तान का विशद वर्णन है। फिर अलंकारों का वर्णन है। इसमें संगीत के साथ ही नृत्यकला का भी विशद निरूपण किया गया है। अन्त में उदाहरणस्वरूप अनेक गीत सन्निवेशित हैं।

'वृन्दावनचन्द्र-विहार' ग्रन्थ में इन्होंने कृष्णजन्म की कथा का विस्तार से वर्णन किया है। इसके अनुसार कृष्ण ने ब्रज में जन्म से ११ वर्ष ६ महीने, मथुरा में १३ वर्ष ६ मास तथा द्वारका में १०० वर्षों तक लीला की थी। श्रीकृष्ण की गोपलीला तथा मथुरा-लीला का विस्तार से वर्णन किया गया है। कवि ने अपनी वृन्दावन-प्रीति का इन शब्दों में वर्णन किया है :

शर्करा स्वादु शूकर न जाणिला
पराये न रुचे खल कु।
एहि पीरति सँचे सुजन कु
ब्रज-पर्यटन साधु संग होइलि एथि योगाकु॥

'शर्करा का स्वाद शूकर भला कैसे जान सकेगा ? इसी तरह खलों को यह प्रीति (ब्रज-प्रीति) कैसे सुहायेगी ? मैं केवल साधुजनों के संग के कारण इस ब्रजपर्यटन के योग्य बन सका।' शं. पु.

नारायण पटनायक

नारायण पटनायक का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। इनके लिखे राधाकृष्ण-केलिविषयक कुछ स्फुट पद मिलते हैं। उनमें से एक यहाँ उद्धृत किया जाता है :

थिल काहिं गो श्याम थिल काहिं,
तुम थरि आउ जणे देखा नाहिं॥

जालिण जागर, होइ उजागर,
बसि चाहिं निशिगला पाहि॥

कह हे मोहन, ए काहा वसन,
पिंधिऊछ तुभ मुखे लाडा नाहिं॥

हे लवणी-चोरा एहि मुखे परा,
कहिथिलि मुं आसिबि देह छुंट ॥

न रहि निदिषे, जाअ तार पाशे,
नारायण भाषे, पदमपाद ध्यायि ॥

'हे श्याम, तुम कहाँ थे ? तुम्हारे जैसा कोई दूसरा कहीं दिखता ही नहीं। दीप जलाकर रातभर उजागर होकर बैठे-बैठे तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही। रात इसी तरह बीत गयी। हे मोहन, ये किसके वस्त्र पहने हो ? तुम्हें लाज नहीं आती ? हे माखन-चोर, तुमने मेरी देह छूकर (शपथ खाकर) इसी मुँह से कहा था न कि 'आऊँगा !' ठीक, तुम पलभर भी यहाँ न रहो, वहीं उसके पास चले जाओ। नारायण इनके पादपद्मों का ध्यान करते हुए कह रहे हैं।' शं. पु.

नीलकण्ठ भंज

नीलकण्ठ भंज प्रसिद्ध रीतिकवि उपेन्द्र भंज के पिता थे और १७ वीं शती में विद्यमान थे। इनका शासन-काल १७०१ से १७०३ ई० तक था। इनकी लिखी दो चौपदियाँ मिलती हैं। 'चौपदी-चन्द्रोदय' में इनके कई गीत संकलित हैं। शं. पु.

नीलाम्बर दास

नीलाम्बर दास के समय के बारे में कोई सूचना नहीं मिलती। उड़ीसा के 'पुराण-लेखकों' में इनका विशिष्ट स्थान है। इनके द्वारा उड़िया भाषा में लिखे पुराणों में पद्मपुराण, जैमिनि-पुराण आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी सर्वाधिक चर्चित कृति 'देउलेतोला' है। इसमें महाराज इन्द्रद्युम्न द्वारा श्रीक्षेत्र में जगन्नाथ, बलभद्र, सुभद्रादि मूर्तियों की स्थापना का इतिहास है। इनके अतिरिक्त पुरुषोत्तम-मन्दिर के निर्माण की कथा भी इसमें विस्तार से दी गयी है। इन्होंने ये कथाएँ अत्यन्त सरल एवं सहज लोकभाषा में लिखी हैं। इसीसे वे बहुत लोकप्रिय हुई हैं। शं. पु.

नृसिंह पटनायक

नृसिंह पटनायक अठागढ़ (जिला गंजाम) के निवासी थे। इनका समय अठारहवीं सदी का प्रथमार्ध माना जाता है। कृष्ण-काव्य रचयिता के रूप में ये ख्यातिप्राप्त है। इन्होंने 'व' आद्य अनुप्रास के नियम से काव्य-रचना की और उसका नाम रखा 'वासुदेव-विलास'। इसमें अलंकारों के उत्कृष्ट प्रयोग हुए हैं। डा० सुदर्शन आचार्य ने पूरे काव्य का संग्रह किया है। इसका कुछ अंश १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ था। शं. पु.

नृसिंह भ्रमरवर

नृसिंह भ्रमरवर ढेंकानाल रियासत के राजा थे और खुर्धा-राजा मुकुन्ददेव के समकालीन थे। इनके गुरु पुरीनिवासी गोदड़िया जगबन्धु दास थे जो अपनी चमत्कारिक शक्ति के कारण प्रसिद्ध थे। नृसिंह भ्रमरवर की कृष्णलीला सम्बन्धी एक छोटी-सी रचना 'देश-बोली' नाम से मिलती है। इसमें कृष्णजन्म से लेकर कंसवध तक की कथा को सरल भाषा में वर्णित किया गया है। शं. पु.

पंकजचरण दास

पंकजचरण दास का विशेष विवरण अबतक ज्ञात नहीं हो सका है, केवल कुछ स्फुट गीत मिलते हैं। एक गीत में राधा कहती हैं :

काहिंकि मोह नामटा,
काहिंकि ए ब्रजे हाट।
बसि केलि नीपमूले से नन्दपुअटा,
रसि बंशी बाइबार नशुणे केउँटा ॥

किए ताकु चाहुँ नाहिं जमुना लेउटा,
मुं अनाइलाकु हेला अपबाद घटा ॥
केउँ गोपिनी मानंकु त करे से थट्टा,
मो द्वारे लागिछि किआं ता कलंक अठा।
किए जाए नाहिं सहि से निकुंज तोटा,
पंकज कहे जाणिलि मो कपाल फटा।

'मेरे नाम की ही व्रज में इतनी चर्चा क्यों चल रही है ? भला, उस नन्द के लला का इस कदंब-तले

वंशी बजाना किसने नहीं सुना ? यमुना से लौटते समय किसने उसे नहीं देखा ? और जब मैंने देख लिया तो अपवादों की घटा ही घिर गयी ! उस कुंजवन में कौन नहीं जाता ? पंकज कहते हैं कि राधा क्षोभ करके कहती है कि यह तो मेरे ही भाग फूटे हैं।'

शं. पु.

पतितपावन पटनायक

पतितपावन पटनायक का जन्म डिमिरिसेना (जिला पुरी) में १८७३ ई० में हुआ था । ३४ वर्ष की अल्प वय में ही १९०७ ई० में इनकी मृत्यु हो गयी। इन्होंने कृष्णलीलासंबंधी अनेक गीतों की रचना की है, जिनसे विदित होता है कि ये रसिक साधक थे। एक गीत में वियुक्ता राधा द्वारा दूती से कहे गये वचन यहाँ उद्धृत हैं :

दूति गो मोर शुण उत्तर ।
आणि देबु मोते नन्दकिशोर ।
हटिया नागर नन्दनन्दन
प्रीतिपणे मुं कि ताकु भाजन ॥

हटिया नागर नन्द-कन्हाइ
मो धैर्य ध्वंसिले बंशी बजाइ ॥

कहिले कि हेब हृद बेदना
एकातांक ठारे मोर भावना ॥

से नन्दनन्दन पते रसिक
पतितपावन पटनायक ॥

'हे दूती ! मेरी बात तो सुन। मुझे नन्दकिशोर ला दे। हठी नागर हैं नन्दनन्दन। मैं भला प्रीति में उनके समान हो सकूँगी ? उन हठी नन्द-कन्हैया ने मेरा सारा धैर्य नष्ट कर डाला। वंशी बजाकर सब बिगाड़ दिया। अब हृदय की यह वेदना व्यक्त करने से क्या होगा ? मेरा मन तो उन्हींके पास है। उन नन्द-नन्दन के चरणों में रसिक पतितपावन पटनायक है।'

शं. पु.

पद्मचरण दास

पद्मचरण दास का जन्म सन् १८६८ ई० में गुहारिया साही (जिला बालेश्वर) में हुआ था। ये जाति के कायस्थ थे। १८९० ई० में कटक से बी० ए० पासकर शिक्षक बन गये। कम आयु में ही पत्नी-वियोग हो गया। अतः एकलौती कन्या का विवाह कर देने के बाद सांसारिक मोह कम होना स्वाभाविक था। ढेंकानाल रियासत के युवराज की शिक्षा-दीक्षा का भार इन्हें सौंपा गया। अपनी कर्मनिष्ठा एवं चारित्रिक दृढ़ता के बल पर ये राज्य के दीवान हो गये। महाराज की असामयिक मृत्यु के बाद इन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और सन्यास ग्रहण कर लिया। अब ये पद्मचरण दास के नाम से जाने गये। इसके बाद इनका एकमात्र कार्य रात-दिन राधा-गोविंद की पूजा-सेवा रह गया। इन्होंने संस्कृत के अनेक ग्रंथों का उड़िया में रूपान्तर करके वैष्णव-भक्ति को पुष्ट किया। १९४० ई० में पेट के रोग से इनका देहावसान हो गया।

इन्होंने दाशरथीदासकृत 'ब्रज-विहार' काव्य को संशोधितकर प्रकाशित कराया, श्रीकृष्णचैतन्यदेव, राय रामानंद आदि संबंधी तीन-चार ग्रन्थों की रचना भी की। उस समय के विशिष्ट साहित्यिक राधानाथ से इनका संपर्क था किन्तु अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण उनसे भिन्न दिशा में रहे। राधानाथ को रूपवादी कहें तो पद्मचरण रूपातीत वादी थे। इनके द्वारा किया गया 'चैतन्य-चरितामृत' का उड़िया अनुवाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने श्रीकृष्ण की लीला को आधार बनाकर बंगाल में प्रचलित 'बंगला-कीर्तन' की तर्ज पर उड़िया में स्वरमाधुरीयुक्त अनेक कीर्तन-पदों की रचना की है। यह एक विशेष सेवा थी जिसके द्वारा उड़िया में भक्ति-पदावली के क्षेत्र में इन्होंने अपूर्व योगदान किया।

शं. पु.

पद्मदास

पद्मदास उन्नीसवीं सदी के भक्त हैं। इनके कई पद 'संगीत-सागर' में संगृहीत हैं जिनसे इनकी कृष्णभक्ति का परिचय मिलता है। ये जनपद के कवि कहे जाते हैं।

इनका एक पद नीचे दिया जाता है। श्रीकृष्ण रसिक-भावना में मानिनी राधा की मनुहार कर रहे हैं :

सुनाबरना मोरे मान कांहि कि ॥
मोते न चाहुँ किंपा महीकि ॥
जाणु जाणु शुणु शुणु हेलु बाइकि ।
दास दोष कले बुझामणा नांहिकि ॥

आरे मृगलोचना, मने किंपा शोचना,
समरमुखे बिचना।
टेक मुख, कलकंठ बचना,
कामकेलि रंचना।
किणा मुं तोहार जाणु नाहुकि ॥

'हे स्वर्णवर्णा! मुझसे मान किये क्यों बैठी हो? मेरी ओर देखने के बजाय धरती की ओर क्यों देख रही हो? जानते-समझते हुए भी तुम पागल हो रही हो। कोई दास यदि अपराध कर बैठे तो क्या उसका समाधान नहीं है? अरी मृगलोचने! मन में चिंता किस बात की है? स्मर मुख में भरे हो, सिर उठाओ। हे कलकण्ठी! कामकेलि की संरचना करो। मैं तो तुम्हारा खरीदा हुआ हूँ, क्या यह नहीं जानती?'

शं. पु.

पद्मनाभ अनंग भीमदेव

पद्मनाभ अनंग भीमदेव (१८७२ ई० से १९०४ ई० तक) पारलाखेमण्डी (जिला गंजाम) के शासक थे। 'संगीत-सागर' में इनके अनेक पद संकलित हैं। संस्कृत में इन्होंने चैतन्य-वन्दना की है। ये उच्चकोटि के कृष्णोपासक माने जाते हैं।

शं. पु.

पद्मनाभ श्रीचन्दन

पद्मनाभ श्रीचन्दन खुर्धा के निकटवर्ती बांकी राज्य के नरेश थे। इनका राजत्वकाल १७३५ से १७५७ ई० तक माना जाता है। बांकी और पुरी का शताब्दियों से घनिष्ठ संबंध रहा है। पुरीधाम के श्रीविग्रहों के लिए मार्गनिर्देश बांकी की अधिष्ठात्री देवी 'चर्चिका' से ही मिलते हैं। प्रायः बांकी और खुर्धा नरेशों की लड़ाई भी हुई है, फिर भी आपसी सौहार्द बना रहा है। पद्मनाभ स्वयं कवि और गुणग्राहक भी थे। जगन्नाथजी में इनकी अटूट श्रद्धा थी। इनका प्रमुख काव्यग्रन्थ है 'शशिरेखा'। यह नायिकाप्रधान शृङ्गारी काव्य है। इनका लिखा 'कांतनिकटकु नरेशसुतार पत्र' (कान्त के प्रति राजकुमारी का पत्र) लोकप्रिय गीति-रचना है।

अपने ग्रन्थ 'शशिरेखा' में पद्मनाभ ने जगन्नाथजी की रथयात्रा और बाहुड़ा-यात्रा का विशेष वर्णन किया है। अन्त में लक्ष्मी और नारायण की भेंट का मनोरम चित्रण है। कवि ने स्पष्ट लिखा है कि जगन्नाथजी की कृपा से ही मैं 'शशिरेखा' की रचना कर सका हूँ :

शिरे कर देइ पुनि एमंत जणाइ,
आहे प्रभु जगन्नाथ ब्रह्मांड गोसाईं ॥

मनोरथ करिछि भुं प्रबंध-रचना,
नोहइ से सिद्ध तब अनुग्रह बिना ॥

'सिर पर हाथ ले जाकर (नमस्कार कर) कहते हैं कि हे प्रभु जगन्नाथ! आप अखिल ब्रह्माण्ड के गुसाइं (स्वामी) हैं। मैंने प्रबन्ध-काव्यरचना का मनोरथ किया है। हे प्रभु! आपके अनुग्रह के बिना यह कभी पूरा नहीं हो सकता।' शं पु.

परशुराम बिहारी

परशुराम बिहारी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विशेष तथ्य प्रकाश में नहीं आ पाये हैं। डा० वंशीधर महांती के अनुसार ये सत्रहवीं शती में विद्यमान थे

और 'पंचसखा' की संत-परम्परा में थे। इनका लिखा 'ब्रह्मज्ञान-गीता' उड़ीसा में अत्यन्त लोकप्रिय है। निर्गुण ब्रह्मतत्त्व के प्रतिपादन में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

अपने एक पद में जगन्नाथजी की ओर लक्ष्यकर ये कहते हैं :

गुरु जे शिष्य जगन्नाथ,
एहांकु घेनि बुझ तत्त्व।
बाल-बृद्ध-तरुण नोहि,
निर्वाण पुरुषटि सेहि ॥

'जगन्नाथ ही गुरु हैं और वे ही शिष्य हैं। इन्हींसे तत्त्व को समझने की चेष्टा करो। वे बाल-वृद्ध-तरुण नहीं हैं, वे ही निर्वाण-पुरुष हैं।' शं. पु.

पार्वतीचरण दास

पार्वतीचरण दास का जन्म बालेश्वर जिलेके सोरो नामक स्थान में १८७० ई० में हुआ था। उड़िया में कीर्त्तन-साहित्य के रचनाकारों में इनका प्रमुख स्थान है। ये ढेंकानाल के दीवान थे, किन्तु बाद में विरक्त साधु बन गये थे। इनके भतीजे नन्दकिशोर दास उड़ीसा की विधानसभा के लम्बे समय तक अध्यक्ष रहे हैं। इन्होंने राधाकृष्ण-भक्तिसंवलित अनेक रचनाएँ की हैं। इनका लीला-प्रवेश १९४० ई० में हुआ। शं. पु.

पिण्डीक श्रीचन्दन

मध्यकालीन उड़ीसा के जनजीवन पर चैतन्य का प्रभाव प्रत्यक्ष-परोक्ष हर तरह से परिलक्षित होता है। इनकी प्रेरणा से नाम-संकीर्तन की तो एक व्यापक परम्परा ही गाँव-गाँव में प्रचलित हो गयी है। इसके अतिरिक्त उन्हींके प्रभाव से ब्रजभाषा (ब्रजबुली) का भी यहाँ पर्याप्त प्रचलन रहा। काव्य-रचना के क्षेत्र में उड़ीसा में इसका काफी प्रयोग हुआ, क्योंकि यह कृष्णजन्म-भूमि की भाषा थी। यहाँ ब्रजबोली में रचे सैकड़ों पद उपलब्ध होते हैं। पिण्डीक श्रीचन्दन ऐसे ही भक्तों की गणना में आते हैं। इन्होंने 'बसन्त-रास' नामक एक छोटे-से ग्रन्थ की रचना ब्रजबोली में की है।

उदाहरणस्वरूप ब्रजबुली-मिश्रित उड़िया का एक छन्द यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

ओहे माधव तब विरहे दुखी राइ
प्रखर मनसिज बिशिख भयभर
तुहुँ भावे लीन होइ हे।
रेंदवत खेद अधीर भइ निन्दित
चंदन चाँद उदीआरा
बिषधर पुट गरल बहिआवत
मानत मलय-समीर हे।

एक सखी कृष्ण से कह रही है कि 'हे माधव! तेरे विरह में राधा दुःखी है। कामदेव के तेज बाणों के कारण भयभीत है और तुम्हारे भावों में लीन है। खेद से अधीर होकर चन्दन और चाँद के उजियाले की निन्दा कर रही है। विषधरों का गरल हवा में बहा आता है, पर वह उसे मलय का समीर मान रही है।' शं. पु.

पीताम्बर दास

पीताम्बर दास का जन्म १७३५ ई० में गंजाम जिले की ऋषिकुल्या नदी के तटवर्ती एक गाँव में चतुर्वेद ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके पिता बालुकेश्वर उच्च संस्कृति-सम्पन्न थे। अपने पूर्व-जन्मों का वृत्तान्त देते हुए इन्होंने लिखा है कि मैं प्रथम जन्म में कालिदास और फिर जगन्नाथदास के रूप में उत्पन्न हुआ। फिर हुआ बलरामदास और चौथे में विप्र नारायणदास, पाँचवें में सारला दास, छठे में महादेव दास, अब सातवें में पीताम्बर दास के रूप में जन्मा हूँ। इस कथन में काल तथा स्थान-सम्बन्धी कोई क्रम नहीं है। कवि-जगत् में कवि की आत्मा के लिए काल की अवधारणा तिथि-मास में बँधी नहीं होती। सम्भवतः इसीलिए इन्होंने स्वयं को कालिदास, सारलादास, बलरामदास, जगन्नाथदास आदि की आत्मा से अभिन्न बताया है। पुराण-परम्परा में 'नृसिंह-पुराण' की रचनाकर इन्होंने विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। इनकी यह रचना परम्परागत 'नृसिंह-पुराण' का अनुवाद नहीं है। इस

ग्रन्थ को सात खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक खण्ड एक-एक 'रत्नाकर' के नाम से उल्लिखित है। ये कहते हैं कि 'ब्राह्मण-मुख से जो सुना सो मैंने शारदा के आशीर्वाद से लिखा।'

इन्होंने समकालीन जीवन से भी बहुत कुछ संग्रह किया है। निःसन्देह ये स्वयं 'ब्रह्म-संप्रदाय' के वैष्णव भक्त थे, पर इनकी रचना में तनिक भी साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं है। ये सभी सम्प्रदायों के प्रति सद्भाव-प्रदर्शन करते हैं। इनका मठ ऋषिकुल्या के तट पर स्थापित है जो गंजाम जिले के तहर ग्राम में स्थित है। कहते हैं, इन्हें जीवन में घोर आर्थिक कठिनाई भोगनी पड़ी। जो हो, कवि ने 'नृसिंह-पुराण' में जगन्नाथजी का गुणगान अकुण्ठ चित्त से किया है।

इन्होंने नृसिंह को विष्णु भगवान् से अभिन्न माना है। नृसिंह-कथा के प्रसंग में ये लिखते हैं: 'लक्ष्मी से विवाह के बाद नृसिंह प्रभु गरुड़ की पीठ पर बैठकर नीलगिरि के रास्ते वापस लौटते हैं।'

'नीलगिरि-माहात्म्य' में इन्होंने जगन्नाथ, महाप्रसाद, द्वादश त्यौहार आदि का वर्णन किया है। ये पुरुषोत्तम क्षेत्र को लक्ष्मीनारायण की रासस्थली के रूप में चित्रित करते हुए लिखते हैं:

ए मर्त्यमण्डलकु ए अटे नित्यस्थल।
से नित्यस्थले अछंति से आदिमूल।
जगन्नाथ अवतार परे सर्वमूर्ति।
कलेवर धरि प्रभु जन्मु थांति क्षिति॥

नीलगिरि का गौरव बताते हुए भगवान् कह रहे हैं कि 'इस मर्त्यलोक में यह (पुरुषोत्तम-क्षेत्र) नित्यस्थल है। यहीं सृष्टि के आदिमूल विराजमान हैं। जगन्नाथ अवतार के बाद सारी मूर्तियाँ शरीर धारण कर इस पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करती हैं।'

नृसिंह-अवतार की कथामें प्रसंगवश ये लिखते हैं:

सृष्टि-सर्जना कलु त अछि नीलगिरि।
बलभद्र जगन्नाथ महिमा बिस्तारि॥
आजन्मरु बारकाठि हेंलाणि त युग।
ताहांकु दर्शन कले हेब आंभ भाग्य॥
नृसिंह बोइलें शुण हे कश्यप बत्सि।
श्रीजगन्नाथ रूप मुं आगरु होइछि॥
आठ अबतार याक पछे जाइ हेंलि।
बुझिले से जगन्नाथ मुहिं एका बोलि॥

'जबसे सृष्टि का निर्माण हुआ, तभीसे नीलगिरि पर्वत है। वहाँ बलभद्र-जगन्नाथ अपनी महिमा का विस्तार करते हुए निवास करते हैं। तीन चौथाई युग बीत गया, उन्हें दर्शन का सौभाग्य मिला है। नृसिंह कहते हैं कि हे कश्यप! मैंने पहले जगन्नाथ-रूप ही धारण किया शेष अवतार तो पीछे हुए हैं। वह जगन्नाथ मैं ही कहलाता हूँ।' शं. पु.

पुरुषोत्तम अनंगभीमदेव

पुरुषोत्तम अनंगभीमदेव बड़खेमण्डी (जिला गंजाम) के महाराज थे। इनका जन्म १७२८ ई० में और मृत्यु १७७६ में हुई थी।

इनकी सभा में पण्डित सोमयाजी नामक एक विद्वान् थे जिन्होंने 'गंगवंशानुचरितम्' नामक एक चम्पूकाव्य की रचना की थी। प्रस्तुत काव्य में महाराज के गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है और उनके द्वारा अनेक राज्यों पर विजय पाने का विशद वर्णन है। महाराज साहित्यकारों के सुप्रसिद्ध आश्रयदाता थे। उपर्युक्त रचना से इनका वैष्णव होना प्रमाणित है। पुरी से दूर खेमण्डी राज्यक्षेत्र तक चैतन्य की वैष्णवी प्रेमधारा कितने वेग से प्रवाहित हुई, यह पुरुषोत्तम अनंगभीमदेव का जीवन स्पष्ट करता है।

इनका लिखा 'कृष्णकेलि-तरंगिणी' काव्य प्रकाश में आया है। इसमें अद्भुत पद-लालित्य पाया जाता है। कृष्ण मध्याह्न में क्रीड़ा कर रहे हैं, इसी बीच उनकी वंशी की चोरी हो जाती है। इस सन्दर्भ को आधार बनाकर कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ में कौतुक-क्रीड़ा का सुन्दर चित्रण किया है।

'कृष्णकेलि-तरंगिणी' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें राधा की विरह-विह्वलता का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है। उसकी कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं :

(१)

के बोलइ मोर भाग्य दिशिला।
बंशीधर करु मुरली गला ॥
निरंतर धरे मोहरि नाम।
शुणिले मनरे उत्कट काम ॥
चित्त छन्न छन्न
पाशोरि बास व्यसन अशन ॥

राधा के दर्शनोपरान्त श्रीकृष्ण में सात्त्विक विकार दिखाई देते हैं। अपनी एक सखी से राधा कह रही है कि 'अरी, कोई कह रही थी कि मेरा भाग्य भी कैसा है ? वंशीधर के हाथ से मुरली ही गिर पड़ी। निरन्तर वे मेरा ही नाम रटते रहते हैं। सुनकर मन में काम जाग रहा है। चित्त व्याकुल हो रहा है और अन्न-वस्त्र, व्यसनादि सब भूल गयी हूँ।'

(२)

अन्यत्र कृष्ण राधा के रूप की प्रशंसा में कह रहे हैं :

भला ता मुख छबि काहिं नाहिरे।
रहि पालटि गलाचाहिं चाहिंरे ॥
कान्ति जलरु उच्च लावण्य सरसिज,
मोड़ि देलानि मंद बात बहिरे।
जंगम हेमलता रे चंद्रदेवता,
पंक फलुछि लोटछि महिरे ॥
भ्रूलता इंगितारे इंद्रधनु आकार,
शर बिधुछ मो उरकु चाहिंरे।
भणे पुरुषोत्तम, बोलन्ति घनश्याम,
भल यतबे गढ़ि अछि बिहिरे ॥

'उसके मुख की छबि अन्यत्र कहीं नहीं है, यह देखकर स्तब्ध रह गया। कांतिरूपी अगाध जल में वह लावण्य का कमल खिला है, मानो मंद-मंद पवन ने उसे झुका दिया है। मानो किसी जंगम हेमलता पर चन्द्रदेवता छाया कर रहे हैं। उसकी भ्रूलता कैसा संकेत कर रही है ? इन्द्रधनु-सी मुड़ी है, वह मेरे हृदय को बींध देती है। घनश्याम कहते हैं और पुरुषोत्तम नृप लिखते हैं कि विधाता ने अत्यन्त यत्नपूर्वक इसका निर्माण किया है।'

शं. पु.

पुरुषोत्तम दास

पुरुषोत्तम दास के जीवन-चरित के सम्बन्ध में विशेष विवरण नहीं मिलता। इनकी कृतियों में उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि ये महाराज प्रतापरुद्र देव के समकालीन और सत्रहवीं शती में विद्यमान थे। इन्होंने अपने को कहीं-कहीं 'पुरस्तम' लिखा है। यह शब्द पुरुषोत्तम का ही अपभ्रंश-रूप है। उड़ीसा में जगन्नाथजी को 'पुरस्तम' कहते हैं। इससे अनुमान है कि पुरुषोत्तम दास ने अपना जीवन पुरी के आस-पास ही बिताया होगा।

इन्होंने उड़ीसा की लोकप्रिय कहानी 'कांची-कावेरी' के आधार पर 'कांची-कावेरीचरित' की रचना की थी। इस ऐतिहासिक घटना के अनुसार पुरी के गजपति महाराज पुरुषोत्तमदेव कांची (कर्णाटक) की राज्यकन्या पद्मिनी (पद्मावती) के रूप पर लुब्ध हो गये। उन्होंने कांचीराज के पास विवाह का प्रस्ताव भेजा। कांची के राजा ने गजपति की जगन्नाथ-सेवा (रथयात्रा के अवसर पर स्वर्ण-सम्मार्जनी से बुहारना) की हँसी उड़ाते हुए सम्बन्ध करने से अस्वीकार कर दिया। महाराज पुरुषोत्तमदेव ने अपमान का बदला लेने के लिए उन पर आक्रमण कर दिया, किन्तु विजय पा न सके। जनश्रुति है कि दूसरी बार आक्रमण करने पर स्वयं जगन्नाथ, बलभद्र आगे-आगे गये और कर्णाट-नरेश को हराकर राजकन्या के साथ ही उनके इष्टदेव का विग्रह भी ले आये।

कांची के राजा को अपमानित करने के लिए इन्होंने राजकुमारी को अपने किसी मन्त्री को देने का निश्चय

कर लिया। पर मन्त्री ने चतुराई से रथयात्रा के दिन छेरा-पँहरा (स्वर्ण-सम्मार्जनी से जगन्नाथ के आगे बुहारी) के समय राजकन्या को महाराज को ही अर्पित कर दिया। इस प्रकार समस्या का समाधान हो गया। जगन्नाथजी ने भी कर्नाटक के राजा का अभिमान दूरकर अपना मान रखा और भक्त की मदद की। इस अत्यन्त लोकप्रिय कथा को कवि ने सरल भाषा में पद्यबद्ध किया है। इसमें कांची के इष्टदेव गणेश और उत्कल के इष्टदेव जगन्नाथ का आमने-सामने युद्धवर्णन बहुत ही प्रभावशाली है।

इस प्रकार पुरुषोत्तम दास ने उड़ीसा की बहुप्रसिद्ध कथा को लेकर इस छोटे-से काव्यग्रन्थ की रचना की है। भाषा की सरलता तथा लोकप्रिय चौदह अक्षरी छन्द के प्रयोग के कारण यह कथा बाद में बहुत लोकप्रिय हुई और नाटक, कविता तथा अनेक रूपों में लिखी जाकर विस्तृत होती गयी। इस प्रसिद्ध रचना के दो छन्द नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

पहण्डि बिजय बेले ओड़िशा राजन।
चंदन छेरा पकाइ खरकन्ति पुण ॥

तेत्रिश कोटि देबता करिर्न्ति जे स्तुति।
एमंत देखिला जहुँ दक्षिण नृपति ॥

'पहण्डि-विजय' (भगवान् जगन्नाथ का आकर रथ में विराजमान होना) के समय उड़ीसा के राजा आपके आगे चन्दन का छिड़काव करते बुहारी फिराते हैं। दक्षिण-नृपति ने देखा कि तैंतीस करोड़ देवी-देवता आपकी स्तुति-वंदना करते रहते हैं।'

फिर काले और सफेद घोड़े पर बैठकर जगन्नाथ, बलभद्र आगे-आगे चलते हैं। मार्ग में ग्वालिन से दूध माँगते हैं। ग्वालिन उनके रूपमाधुर्य पर मुग्ध होकर मन ही मन सोचती है :

बड़लोकर ए पुत्र दुहे युवाकाले।
मन मो रहिला लाखि चाहिबां मातरे ॥
राउत, माहुँत हेउ कि अबा पदाति।
युवाकाले थय नोहे मदन-संपत्ति ॥
देखिबि मुँ आग एथि नयन पुराई।
किछि नदेइ पछे मागणा जांतु खाइ ॥

'ये किसी बड़े आदमी के पुत्र हैं, युवावस्था में चले आये हैं। मेरा मन तो इन्हें देखते ही चुंबक-सा खिच गया। ये कोई रावत हों, महावत हों या पदातिक। यौवन में मदन के कारण मन स्थिर नहीं रह पाता। पहले जी भर कर इन्हें देखूँगी। ये बिना कुछ दिये, चाहे बिना मूल्य के ही दूध पी जाएँ।'

शं. पु.

प्रतापरुद्र देव

पुरी के गजपति महाराज को जगन्नाथजी का सेवक माना जाता है। वे जगन्नाथजी की ओर से उनके प्रतिनिधिस्वरूप शासन का दायित्व संभालते हैं। सूर्यवंशी नरेशों का कार्यकाल जगन्नाथजी के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है।

गजपति पुरुषोत्तम देव के पुत्र प्रतापरुद्र देव का जन्म १४९७ ई० में हुआ था। इन्होंने पिता के समय में ही युवराज रूप में शासन का अनुभव प्राप्त कर लिया था। किन्तु गद्दी पर बैठने के बाद इन्हें विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। उड़ीसा की सीमा सुदूर दक्षिण तक जा पहुँची थी।

इतने लम्बे-चौड़े राज्य को सुशासित बनाये रखना एक दुष्कर कार्य था। उधर विजयनगर में शक्तिशाली हिन्दू राजा कृष्णदेवराय ने गद्दी सम्भाली थी और बीजापुर की कुतुबशाही ने भी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी थी। इसी प्रकार उत्तर में गौड़-प्रदेश से भी कड़ी चुनौती का सामना करना पड़ा। बंग के सुलतान ने राज्य के भीतर आकर लूट-पाट मचाना आरम्भ कर दिया था। ऐसी स्थिति में गोविन्द विद्याधर के कपटाचरण के कारण महाराज को सुलतान के मुकाबले पीछे हटकर दक्षिण में कृष्णदेवराय से संधि करनी पड़ी।

इसी बीच १५१० ई० में चैतन्यदेव का उड़ीसा आगमन हुआ। प्रतापरुद्र उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व

से बहुत प्रभावित हुए। चैतन्यदेव ने इन्हें युद्ध से विरत रहने और मन को कृष्णनाम में अनुरक्त रखने का उपदेश दिया। प्रतापरुद्र हृदय से चैतन्य के अनुयायी बन गये। उनके राज्य के अन्यान्य अनेक उच्चपदस्थ अधिकारीं भी राजकाज से विमुख हो हरिनाम-स्मरण में डूब गये। चैतन्यदेव के स्वर्गारोहण से पहले ही प्रतापरुद्र देव ने राज्यभार अपने पुत्र को सौंपकर स्वयं संन्यास ग्रहण कर लिया। इन्होंने अपने जीवनकाल में 'सरस्वती-विलासम्' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ में धर्म तथा आचार-व्यवहारादिसंबंधी नियमों का संकलन है।

फकीर भंज

फकीर भंज घुमसुर राजघराने में उत्पन्न हुए थे। इन्हें प्रसिद्ध भक्त धनञ्जय भंज का पूर्ववर्ती माना जाता है। इनके कुछ स्फुट गीत उपलब्ध होते हैं, उनमें से एक यहाँ प्रस्तुत है। राधा उत्कण्ठाभरी प्रतीक्षावस्था में कहती है :

कान्हु आजि आसिबे रे, हरषे सेनेह बाणी भाषिबे रे।
कररे धरि से कर, बिनवरे मति मोर तोषिबे रे॥
चंदनीरे चंद्रकरे, बसाइ धीरे अंकटे बसिबे रे।
गंडरे देइ चुंबन, भुजे करि आलिंगन बसिबे रे॥
खसाइ अंगु बसन, मिशाइ मनकु मन मिशिबे रे।
उत्कंठिता ताप बार कहइ भंज फकीर नाशिबे रे॥

'आज कृष्ण आयेंगे, वे हर्ष-स्नेहमय वाणी बोलेंगे। हाथ में हाथ थामकर विनय द्वारा मेरी बुद्धि को संतुष्ट कर देंगे। चाँदनी में वे मुझे अपने अंक में लेकर बैठेंगे। गण्डस्थल पर चुंबन देकर भुज-आलिंगन में लेकर रससिक्त होंगे। अंग से वस्त्र विवर्त कर मन से मन मिला लेंगे और (इस तरह उत्कण्ठिता) राधा का ताप दूर करेंगे।'

शं० पु०

बन्धु महान्ती

बन्धु महान्ती महाराज प्रतापरुद्र देव (१६ वीं शती-पूर्वार्ध) के समसामयिक थे। प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार इनका जन्म पुरी के निकटवर्ती जाजपुर नामक गाँव के एक कायस्थ परिवार में हुआ था। इनके घर की स्थिति अत्यन्त साधारण थी। वयस्क होने पर इनका विवाह हुआ जिससे कालान्तर में दो कन्याओं और एक पुत्र के ये पिता बने। जीविका का कोई सुपुष्ट साधन न होने से इनकी गृहस्थी अभावग्रस्त ही रही। उस स्थिति में भी ये प्रसन्नवदन एवं संतुष्ट रहते थे। ये समय का अधिकांश जगन्नाथजी के भजन, सत्संग और साधुसेवा में बिताते थे।

दैवयोग से इन्हीं दिनों पुरीक्षेत्र में भीषण अकाल पड़ा। भुखमरी से चारों ओर हाहाकार मच गया। मृत्यु की काली छाया मँड़राने लगी। पाँच कुटुम्बियों के भरण-पोषण की गम्भीर समस्या बन्धु महान्ती को व्याकुल करने लगी। इस घोर संकट के समय में इन्हें कोई सहारा देनेवाला नहीं था। पत्नी के पीहर में भी उसके माता पिता तथा भाई दिवंगत हो चुके थे। एक दिन पत्नी ने पूछ ही लिया : 'कोई तुम्हारा अपनी जान-पहचान का हो तो वहीं चलकर कुछ दिन रहें। यह बुरा समय निकल जाय, तब फिर लौट आयेंगे। बच्चों की दुर्दशा देखी नहीं जाती।' यह सुनकर महान्ती सोचने लगे, 'कौन है मेरा सगा? अपना कोई नहीं, क़हीं नहीं।' अचानक मुँह से निकल पड़ा : 'हैं तो सही, किन्तु चालीस कोस पर। वे पुरुषों में श्रेष्ठतम है। वहाँ जाने पर तो सारे कष्ट मिट जाते हैं.....' यह कहते हुए ये उन परम सखा की करुणाशीलता का स्मरणकर गद्‌गद हो उठे। पत्नी ने बात मान ली।

कुछ दिनों के लिए दूर जाना है, इसलिए उसने घर का सामान बाँधकर ठीक कर लिया। साथ लेने के लिए था ही क्या? बस, थोड़ा-बहुत सत्तू! बच्चों को साथ लेकर दोनों चल पड़े। पहली बार घर छोड़कर बाहर निकले थे। चिलचिलाती धूप से पैरों में छाले पड़ गये। रात-दिन चले तो भी चार दिन लग ही गये। बन्धु महान्ती के न देह में थकावट थी और न मन में। बच्चों और पत्नी से कहते : 'बस, थोड़ीं दूर और चलना है। महानदी पार हो चुकी।

आगे देखो, पताका लहरा रही है.। नीलचक्र दिखाई दे रहा है। वहीं चलना है।'

सायंकाल तक महान्ती परिवार बड़दांड पर पहुंच गया। पाँचों प्राणी रास्ते का कष्ट भूलकर उस नये स्थान को उत्सुक नेत्रों से देखते ही रह गये। बंधु महान्ती के आनन्द की तो सीमा ही न थी। अब महाप्रभु के दर्शन संभव हो सकेंगे। उस दिन अपार भीड़ थी। अतः सिंहद्वार पर स्थित 'पतित-पावन' विग्रह के दर्शन किये। लेकिन पत्नी अभी भी कुछ नहीं समझ पा रही थी। सोच रही थी कि 'क्या हो गया है इन्हें? कहाँ गये इनके अंतरंग मित्र? ये यहाँ क्या करने आये? कैसी सनक सवार हो गयी, घर उजाड़ आये, यहीं आने के लिए।' आखिर उससे रहा न गया और पूछ ही बैठी : 'कहां हैं वे मित्र?' बंधु महांती ने समझाया : 'आज उनके यहाँ बहुत सारे अतिथि आये हैं। अतः हम सुबह तक यहीं रहेंगे। ठहर जाओ। कल उनसे भेंट करेंगे।' इतना कहकर वे श्रीमन्दिर के दक्षिण पार्श्व में उस नाली के पास जा बैठे, जहाँ से रसोई घर का मांड़ बहकर जाता है। रात में थोड़ा-थोड़ा मांड़ लेकर सबने पिया। फिर वहीं विश्राम करने बैठ गये। बंधु महान्ती को तो परम संतोष हो रहा था। थके-हारे शिशु सो गये। पत्नी को भी नींद आ गयी।

बंधु महान्ती की आँखों में वही साँवरे-सलोने जगन्नाथ का विशाल वपु था। वह अश्रुभरे नेत्रों से कह रहे थे : 'इतने बड़े ब्रह्माण्ड में मैं भी एक प्राणी हूँ। हे प्रभु! तुम तो करुणा-सागर हो, एक बूंद, बस वह एक बूंद, न मिली तो यह सब छिन्न-भिन्न हो जायगा।' वे कहते जा रहे थे और उसे सम्मुखस्थ भावमूर्ति सुन रही थी। उनकी पुकार उनके कानों तक पहुंची या नहीं, वे जान नहीं पाये। महाप्रभु से कोई उत्तर नहीं मिल रहा था। इसी एकाकी आलाप में बैठे-वैठे वे तंद्राच्छन्न हो गये। श्रीमन्दिर का नित्य का कार्य निर्विघ्न चलता रहा। रात देर तक चहल-पहल चलती रही। बड़सिंगार-वेश का सजाकर भोग लगाया गया। फिर पौढ़ाकर द्वार वंद कर दिये गये।

किन्तु वह मात्र काष्ठप्रतिमा तो थो नहीं। जगत् के नाथ मन ही मन बेचैन होते रहे। उनके आगे बन्धु महान्ती किसीसे छोटे तो नहीं थे। अपने शरणागत सखा की आर्त वाणी सुनकर सिंहासन पर निश्चेष्ट कैसे बैठे रहते? असमय ही उठ पड़े। आधी से अधिक रात बीत चुकी थी। भंडार से रत्नथाली निकाली। सब प्रकार का मिष्ठान्न सजाया और धीरे-धीरे दक्षिण की ओर अग्रसर हुए। प्राचीर के पास पेडानाला (मांड़ की नाली) के निकट जाकर सपरिवार सोते हुए सखा को धीरे से पुकारा : 'बंधु महान्ती।'

एक ही बार में इस मधुर ध्वनि ने उनकी तंद्रा तोड़ दी। बन्धु महान्ती चौंक उठे। पत्नी को भी जगा लिया। नयी जगह! चारों आँखें उत्सुकता से इधर-उधर ढूंढ़ रही थीं। सोचा—'इतनी बड़ी पुरी! पता नहीं, यहाँ कितने महान्ती रहते होंगे? मुझे ही बुलाया होगा, यह कोई आवश्यक नहीं।' पत्नी ने कह दिया : 'क्या नींद में बहक गये? अभी तो रात का तारा आधा आकाश भी पार नहीं कर पाया है। सो रहो जी।' लेकिन पत्नी की बात पूरी होने से पहले ही वही धीर-स्थिर आवाज पुनः आयी : 'अहो जाडपुरिया बन्धु!' महान्ती उठकर खड़े हो गये। मन्त्रमुग्ध से जिस ओर से शब्द आ रहे थे, उधर कुछ कदम आगे बढ़ा कर बोले :

'कौन? हमें किसने बुलाया?'

उन्होंने हाथ में भोजन की थाल लिये हुए सामने खड़े एक ब्राह्मण को यह कहते हुए सुना :

'लो! यह थाल भेजा है।'

बन्धु महान्ती द्वंद्व में पड़ गये कि किसने भेजा है और क्यों भेजा है? इस अपरिचित नगरी में कौन है जो भोजन का थाल भेजने की बात स्मरण रखता है?

वृद्ध ने केवल यही कहा : 'भैया, बालकों को भोजन तो करा दो।' और चुपचाप थाल रखकर वहाँसे वापस चला गया।

बन्धु महान्ती इसी उधेड़बुन में थे कि पत्नी ने धीरे से थाली उठायी। बच्चों को थपथपा कर जगाया। इतने दिनों की भूख, भला मांड़ से कैसे बुझती? क्या ओसकणों से भी प्यास मिटती है? इन्हें ऐसा दिव्य व्यंजन जीवन में पहली बार मिला था। सब कुछ भूलकर खाते गये। पाँचों तृप्त हो गये। खा-पीकर थाल धोया। थोड़ा आगे बढ़कर उस वृद्ध को ढूंढ़ा, पर वहाँ रात्रि के घने अंधकार के सिवा कुछ न था। मन में ही कहा : 'सुबह देखा जायगा।' फिर थाल सिरहाने रखकर सभी सो गये।

भोर में यथासमय श्रीमन्दिर के द्वार खुले। प्रातःकालीन पूजा-अर्चना प्रारंभ हुई। भंडार खोला गया। देखा तो वहां रत्नथाल नहीं था। सूपकारों में हलचल मच गयी। थाल ढूंढ़ा गया। कहीं न मिला। चारों ओर समाचार आग की तरह फैल गया कि 'भंडार में रत्नथाल नहीं मिल रहा है।' उधर से गुजरते समय मन्दिर के पुजारी बन्धु महान्ती के पास उस चमचमाते थाल को देखकर चौंक उठे। पूछताछ की गयी, इन्हें तत्काल बंदी बना लिया गया और वे चोर घोषित कर दिये गये। लौह-साँकल में बंधे बन्धु महान्ती यह सब कुछ देखते-सुनते, मुस्कराते रहे। उन्होंने अधिकारियों से रात की घटना का वर्णन किया। सब कुछ सच-सच कह दिया। किन्तु कौन सुनता? कौन विश्वास करता? बन्धु महान्ती के मुँह से केवल इतना निकला : 'ठीक है, जो हरि-इच्छा!'

जगन्नाथजी से यह अन्याय नहीं देखा गया। उन्होंने रात में ही राजा प्रतापरुद्र को स्वप्नादेश दिया : 'राजन्! यह क्या किया? तेरे घर कोई अतिथि आये तो कैसा व्यवहार करेगा उस मित्र के साथ? मैंने उसे भोजन दिया, तेरा इसमें क्या छीजा? तू शीघ्र उसे मुक्त कर···। प्रतापरुद्र देव की आँखें खुल गयीं। प्रातःकाल सारी घटना पर विचार किया गया। राजा ने इन्हें अत्यन्त आदरपूर्वक अपने पास बुलवाया। अपनी गलती के लिए क्षमा-याचना की। ससम्मान दक्षिण-द्वार के पास इनके स्थायी निवास, भोजनादि की व्यवस्था कर दी गयी। महाराज भी भगवान् श्रीजगन्नाथ के परम भक्त के सान्निध्य से कृतार्थ हो गये।

भक्तवत्सल श्रीजगन्नाथजी की सख्य-भक्ति की यह अनुपम गाथा श्रद्धालुओं को आज भी भावविभोर कर देती है। बन्धु महान्ती की न तो कोई कृति उपलब्ध है, न उनके रचनाकार होने का ही कहीं उल्लेख मिलता है।

शं. पु.

बजरीदास (प्रथम)

बजरीदास (प्रथम) के जन्मस्थान या वंश-परंपरा का कोई पता नहीं चलता। प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार केवल इतना ज्ञात हुआ है कि ये ढेकानाल जिले के अशोकखोला गढ़ में रहते थे। इन्होंने १६७२ शकाब्द में (१७५० ई०) संस्कृत की प्रसिद्ध रचना 'गीत-गोविंद' का सरल उड़िया में काव्यानुवाद किया था, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ।

शं. पु.

बजरीदास (द्वितीय)

बजरीदास (द्वितीय) सत्रहवीं सदी के अंतिम चरण में विद्यमान थे। ये जगन्नाथपुर के निवासी थे। इनका 'भल-मंद (भला-बुरा)-चौंतीसा' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। उसके कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :

भल-के : कृष्ण नामे पीरति कबि कला कीरति
कामदेव सुरति कमला युबतो सखी
भल ए।

घोष-यात्रा-दर्शन घर जगमोहन।
घठ चिंतिला ज्ञान घृत छेनि भोजन सखी
भल ए।

मंद के :
धर्महीन मनुष्य धर्महीन देश
धैर्यहीन दास घाँउड़िहीन अश्व सखी
मंद ए।
लक्षण न थिला नारी लोचन न थिला बारि
लोचने न थिला काली लाज न थिला बाली
सखी मंद ए।

अच्छा क्या : कृष्णनाम में प्रीत, कवि बखाने ऐसी कीर्ति।
कामदेव सुरति, कमला-सी युवति।
हे सखि ये भले हैं।
रथयात्रा के दर्शन घर हो जगमोहन (श्रीमन्दिर)
घट (काया), चिंतन ज्ञान, घृतसहित खान-पान।
हे सखि ये भले है।

बुरा क्या : धर्महीन मनुष्य, धर्महीन देश।
धैर्यहीन दास, सवारहीन अश्व ॥
लक्षणहीन नारी, लोचन बिना वारी।
नेत्र बिना काला, लाज बिना बाला ॥
हे सखि, ये बुरे हैं।'

शं. पु.

बलदेव विद्याभूषण

बलदेव विद्याभूषण का आविर्भाव बालेश्वर ज़िले के रेमुणा-निकटस्थ किसी गाँव में ईसा की १८वीं सदी में हुआ था। इन्होंने चील्का-किनारे के किसी एक पण्डित से व्याकरण, अलंकार, न्याय तथा वेदा का अनुशीलन कर महीशूर में वेदान्त का अध्ययन किया। तदनन्तर ये मध्व-सम्प्रदाय में शिष्यत्व ग्रहणकर पुरी में पण्डित-वर्ग को शास्त्रार्थ में पराजित किया और तत्त्ववादी मठ में निवास करने लगे। पश्चात् ये रसिकानन्द देव के प्रशिष्य कान्यकुब्जवासी पण्डित श्री राधादामोदर से प्रभावित होकर उनसे 'षट्सन्दर्भ' का अध्ययन कर गौड़ीय वैष्णवधर्म की ओर आकृष्ट हुए और श्रीराधा-दामोदर का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया।

इन्होंने पीताम्बर दास के पास भक्तिशास्त्र तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती से वृन्दावन में 'भागवत' का अध्ययन किया। इनके दो प्रधान शिष्य थे—उद्धवदास और नन्दन मिश्र।

ये अपने समय के धुरंधर विद्वान् माने जाते थे। प्रस्थानत्रयी तथा विष्णुसहस्त्रनाम पर माध्वमतानुसार भाष्य-रचना कर इन्होंने अपार कीर्ति अर्जित की।

अपने मत के प्रचारार्थ इन्होंने अनेक शास्त्रार्थ किये जिससे माध्व-सम्प्रदाय की, समकालीन वैष्णव-संप्रदायों में इनकी प्रतिष्ठा बढ़ी। भक्त-समाज में इन शास्त्रार्थों से सम्बद्ध कई जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। उनमें से एक यहाँ दी जाती है।

जयपुर के प्रसिद्ध गोविन्ददेवजी के मन्दिर में पहले श्री गोविन्दजी की पूजा होती थी और बाद में श्रीनारायण आदि की। श्रीसंप्रदाय के कुछ वैष्णवों ने इस परंपरा का विरोध किया। उनका कहना था कि नारायण-पूजा पहले की जानी चाहिए। महाराज ने इस परंपरा के परिवर्तन से पहले एक बहुत बड़ी विद्वत्सभा का आयोजन किया। वृन्दावन के वैष्णवों को इस संबंध में विचार-विमर्श-हेतु बुलवाया गया। तत्कालीन वैष्णवों में मूर्धन्य पं० श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुरोध पर बलदेव विद्याभूषण को भी जयपुर जाना पड़ा। श्रीसंप्रदाय के पंडितों ने वहाँ विद्याभूषण से पूछा : 'प्रस्थानत्रयी के किस भाष्य के आधार पर तर्क प्रस्तुत करेंगे ?' विद्याभूषण ने कहा : 'मैं मध्वभाष्य के आधार पर अपने मतवाद का विश्लेषण करूँगा।' किन्तु पंडितों ने कहा : 'वहाँ तो कृष्ण की ही प्रतिष्ठा है, राधा की नहीं।' अब तो विद्याभूषण बड़ी दुविधा में पड़ गये। अगला दिन शास्त्रार्थ के लिए निश्चित था। रात में गोविन्दजी की शरण गये। भगवान् ने भाष्य-रचना का आदेश दिया। रातोरात भाष्यसंबंधी सारी बातें स्पष्ट हो गयीं। इन्होंने उसका नाम दिया : 'गोविन्द-भाष्य'; क्योंकि इसकी रचना श्रीगोविन्दजी की

कृपा से ही संपन्न हुई थी। अगले दिन इन्होंने शास्त्रार्थ में भाग लिया। श्री-संप्रदाय के वैष्णवों के सारे तर्क 'गोविन्द-भाष्य' के सामने फीके पड़ गये। बलदेवजी की इस अद्भुत विजय पर जयपुर-नरेश चमत्कृत हुए। उन्होंने इनको 'विद्याभूषण' की सम्मानसूचक उपाधि प्रदान की।

पं० बलदेवजी के मतानुसार ईश्वर व्यापक किन्तु भक्तिग्राह्य है। परमेश्वर से उनके गुण और शक्ति भिन्न नहीं हैं। केवल लोकाचार के कारण उन्हें भिन्न कहा जाता है। इन्होंने ब्रह्म की त्रिविध शक्ति को स्वीकार किया है।

इन्होंने 'गीता' और 'भागवत' पर टीका के अतिरिक्त व्याकरण और ज्योतिष संबंधी भी कुछ ग्रन्थों की रचना की। तब इनकी ख्याति उड़ीसा की सीमा लांघकर अखिलभारतीय स्तर तक पहुंच गयी थी। गौड़ीय वैष्णवधर्म को शास्त्रीय भूमि पर प्रतिष्ठित करने का इनका प्रयास वैष्णव भक्तिदर्शन को एक अमूल्य देन है।

शं. पु.

बलराम दास

बलराम दास का जीवन-चरित्र बहुत कुछ अनुद्घाटित है, फिर भी अंतस्साक्ष्य के आधार पर इन्हें पुरी के आस-पास चंद्रपुरनिवासी बताया जाता हैं। इनके पिता सोमनाथ महापात्र थे। दीक्षा के बाद ये महापात्र से 'दास' बन गये। इनके अब्राह्मण होने के संबंध में 'मुक्तिमण्डप-सभा' को लेकर एक प्रसंग प्रचलित है। जगन्नाथ-मन्दिर में स्थापित 'मुक्तिमण्डप-सभा' हिन्दूधर्म की व्याख्या और व्यवस्था देनेवाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था मानी जाती है। एक समय इस संस्था में वेद-वेदान्त पर विशेष चर्चा हो रही थी। छद्मवेश में बलराम दास वहाँ खड़े थे। उन्होंने एक अत्यन्त जटिल तत्त्व का सरल भाषा में समाधान प्रस्तुत कर दिया। इस पर ब्राह्मणों को क्रोध आ गया। उन्होंने महाराज तक शिकायत पहुँचा दी और इन पर अनधिकार-चर्चा का आरोप लगाया। बलराम दास ने कहा : 'मैं ही क्या, जिसे स्पर्श कर लूं वह भी वेदान्त की चर्चा करने में समर्थ हो जाय।' अगले दिन परीक्षा के समय बलराम ने हरिदास नामक एक शूद्र के मस्तक पर हाथ रखा तो वह अबाधगति से वेदान्त का विवेचन करने लगा। प्रतापरुद्र और तत्कालीन पण्डित-समाज को बाध्य होकर इनका प्रभाव मानना पड़ा।

बलराम दास का सारा जीवन इसी प्रकार की परीक्षाओं से गुजरा। एक बार रथयात्रा के समय वेश्या के यहाँसे आकर ये सीधे जगन्नाथजी के रथ पर चढ़ गये। इनके शरीर पर वेश्यागमन के चिह्न देखकर पण्डों ने इन्हें भर्त्सनापूर्वक रथ से उतार दिया। अपमानित भक्त समुद्र के किनारे जाकर इस प्रकार प्रतिज्ञा के साथ बैठ गया कि 'ठीक है, मैं तो चला। अब देखता हूँ, कौन तेरे रथ की रस्सी खींचता है ? तेरे बाप की सौगंध है, तेरा सेवक होऊँ तो विचार करना।' इसके बाद बालू पर तीन रेखाएँ खींच रथ बनाकर बलराम दास बैठ गये। फिर राजनिर्मित रथ टस से मस नहीं हुआ। राजा को स्वप्नादेश हुआ कि 'भक्त तक जाकर अपनी गलती स्वीकार कर लो।' इस प्रकार भगवान् ने अपने भक्त बलराम दास की टेक की रक्षा की।

इन सबसे बलराम दास के व्यक्तित्व की असाधरणता पर प्रकाश पड़ता है। ये तत्कालीन रूढ़ियों के विरुद्ध घोर क्रांतिकारी रूप लेकर खड़े हुए थे। इन्होंने हिंदू-धर्म पर ब्राह्मणों के एकाधिकार का तीव्र विरोध किया और वेद, योग-साधना आदि के द्वार सभी वर्णों के लिए खोल दिये।

बलराम दास ने शास्त्रज्ञान को संस्कृत ग्रन्थों से आहरण कर लोकभाषा में जन साधारण की समझ में आने योग्य शैली में प्रस्तुत किया। रामायण, गीता, वेदांत, योग आदि के अनेक गूढ़ तत्त्वों और सिद्धान्तों को इन्होंने जनसाधारण के धरातल पर उतार लाने में अद्भुत सफलता पायी। इसमें ब्राह्मणों

तथा उनके समर्थक तत्कालीन सामन्तों के घोर विरोध का इन्हें सामना करना पड़ा। किन्तु इनकी चारित्रिक दृढ़ता, आत्मशक्ति तथा उत्कृष्ट भक्ति से अन्ततः सभी नतमस्तक हुए।

इनके व्यक्तित्व की एक और महत्त्वपूर्ण दिशा है, तत्त्वचर्चा से चैतन्यदेव को प्रभावित करना। जब जगन्नाथदास ने दीक्षा का प्रश्न उठाया तो महाप्रभु ने बलरामदास को उनसे दीक्षा ग्रहण करने का आग्रह किया और यह दीक्षा केवल मंत्र लेने जैसी नहीं रही। 'रामायण' की रचना के पीछे बलरामदास का दृष्टिकोण भी प्रेरणा का एक स्रोत रहा है। इनसे पूर्व 'महाभारत' और 'विलंका रामायण' की रचना सारलादास द्वारा लोकभाषा में हो चुकी थी। रामायण को दांडीवृत्त (छंद) देने का कार्य इन्होंने किया। यह एक क्रांतिकारी कदम था। आगे चलकर उड़ीसा में पुराणों एवं संस्कृत महाकाव्यों के आधार पर ग्रन्थ-रचना की समृद्धिशाली परंपरा चली, जिसमें उड़िया भागवत की कथा 'सुमेरु' का महत्त्व रखती है ।

इतना ही नहीं, इनके द्वारा विरचित 'दांडी रामायण' का पाठ जगन्नाथ-मन्दिर के जगमोहन-मंड़प में होने लगा। इस प्रकार बलरामदास का महत्त्व उनके जीवनकाल में ही स्थापित हो चुका था। सारे उड़ीसा प्रदेश में यह छोटा-सा ग्रन्थ बड़े आदर से पढ़ा जाता है। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है—एकबार लक्ष्मी ने अपने चांडाल भक्त का आतिथ्य ग्रहण किया। इस पर महाप्रभु बलराम के आदेश पर जगन्नाथजी ने लक्ष्मी का त्याग कर दिया। इस अकारण कोप पर लक्ष्मी ने भी उन्हें शाप दिया कि बारह वर्ष तक निरन्न रहना पड़ेगा। इसके फलस्वरूप बहुत भटकने के बाद भगवान् जगन्नाथ और बलराम दोनों को लक्ष्मी के ही द्वार पर जाना पड़ा। वहाँ दोनों ने अन्नग्रहण किया और साथ ही यह वचन दिया कि भविष्य में कभी चांडाल तथा ब्राह्मण में भेद नहीं करेंगे। तब जाकर लक्ष्मी श्रीमंदिर लौटीं। भक्तप्रवर बलरामदास ने अत्यंत सरल और सहज भाषा में हिन्दुओं में फैली जात-पाँतसंबंधी रूढ़ियों पर कठोर प्रहार किया है। इसलिए जगन्नाथजी के आगे और विशेषकर आनन्द-बाजार (जहाँ महाप्रसाद मिलता है) में इस प्रकार का छुआछूत-संबंधी विचार नहीं किया जाता।

इसके अतिरिक्त बलरामदास के नाम पर बट अवकाश, विराट्गीता, सप्तांग योगसार-गीता' आदि अनेक भक्ति तथा योग-साधनासम्बन्धी ग्रन्थ मिलते हैं। किन्तु समूचे साहित्य में न कहीं चैतन्यका उल्लेख प्राप्त होता है और न उनका प्रभाव ही लक्षित होता है। चैतन्यदेव-प्रचारित मार्ग को राज्याश्रय मिलने के बाद बलराम जैसे क्रान्तिकारी तथा स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए पुरी में रहना अनावश्यक और कठिन हो गया होगा। अतः उनकी वाणी मौन हो गयी। वे श्रीमन्दिर से कुछ दूर कुशभद्रा के किनारे चले गये और नीमापाड़ा कस्बे से छह मील दूर बिलकुल एकान्त में जाकर रहने लगे। वहीं इनके जीवन का अन्तिम भाग बीता। आज भी एरबंज में बलरामदास की समाधि है। यह ग्राम बलरामदास के भक्तों का एक पवित्र तीर्थ है। यद्यपि अभी भी यह जीर्ण-शीर्ण अवस्था में हैं और वहाँतक पहुँचना सहज नहीं है, फिर भी इनके अनुयायी वहाँ बराबर आते रहते हैं।

बलरामदास ने वाल्मीकि-रामायण को आदर्श मानकर उड़िया भाषा में सात काण्डों में 'दाण्डी रामायण' की रचना की। जगन्नाथजी के जगमोहन-मण्डप में निरंतर इसका पाठ होता था। अतः इसका एक और नाम 'जगमोहन-रामायण' पड़ गया। यद्यपि इसमें राम की कथा आद्यन्त वाल्मीकि के अनुसार है, पर बलरामदास ने इसमें कुछ लोकप्रचलित आख्यानों को भी सन्निविष्ट कर दिया है। राम के वनवास को उड़ीसा के विभिन्न तीर्थों से जोड़ा तथा राम के सैन्य-सामन्तों में उड़ीसा के भी अनेक अधिपतियों को रखा गया है। इतना ही नहीं, इन्होंने उड़ीसा के अनेक पर्व-त्योहारों, रीति-रिवाजों तथा दैनन्दिन जीवन के सूक्ष्म

ब्यौरों को भी सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। अतः उड़िया भाषा ही नहीं, उड़िया-संस्कृति और जन-जीवन का भी व्यापक चित्र इस ग्रन्थ में उभर कर आया है।

योगसम्बन्धी ग्रन्थों में इनका रूप अधिक उभरकर आया है। उनमें यौगिक क्रिया-कलापों का गहन विश्लेषण मिलता है। पिण्ड-ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी तत्त्वों पर विशेष चर्चा की गयी है। इन ग्रन्थों में 'गुप्तगीता, वेदांतसार, भगवद्‌गीता, ब्रह्माण्ड भूगोल, सप्तांगसार टीका' आदि प्रमुख हैं। किन्तु 'वट अवकाश' और 'भावसमुद्र' नामक दो छोटी-छोटी रचनाएँ अत्यधिक लोकप्रिय हुई हैं।

बलरामदास के व्यक्तित्व एवं रचनाओं को लेकर भ्रान्तियों का अभीतक अन्त नहीं हो पाया है। 'मत्त बलराम' नाम से एक और भक्तकवि का नाम बार-बार आने के कारण यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वास्तव में 'दांडी-रामायणकार' सिद्ध बलरामदास और मत्त बलरामदास एक ही हैं या भिन्न-भिन्न? 'रामतारक मन्त्र' के साधक भी ये ही हैं या कोई दूसरे? जो हो, दांडी-रामायणकार बलराम के इष्टदेव जगन्नाथ हैं। इन्हीं चतुर्धा मूर्ति के आगे इनका सारा रचना-संसार समर्पित है।

यहाँ इनकी रचनाओं के कुछ अंश उद्‌धृत हैं :

(१)

दीपरु दीप लगाइ जेमंते,
तेजगुण मांकरे एकत।
काज्यीकाज्ये भिन्नाभिन्ने नोहइ,
जगन्नाथ श्रीकृष्ण एक देही।
नित्य गोलोक-क्षेत्र जे एक,
उपदेशरे जाणंति बिबेक॥

'तेज आदि गुण उसी प्रकार सर्वत्र प्रकाशित होते हैं जिस प्रकार एक दीप से दूसरा दीप जलकर प्रकाशित होता है। कार्य-कारण में इसी प्रकार श्रीजगन्नाथ और श्रीकृष्ण भिन्न नहीं हैं। विवेकपूर्वक उपदेश सुनने पर नित्य गोलोक और श्रीक्षेत्र एक ही हैं, इस बात को भक्त समझ सकता है।'

—वेदांतसारगुप्त-गीता

(२)

जाहा देखुछु ए ब्रह्मांडे। समस्त अछि एहि पिंडे।
ब्रह्मांडे जेतेक भिआण। पिंडरे अछइ समान॥

'इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ देखते हो वह सब इसी पिण्ड में है। ब्रह्माण्ड का सारा खेल इस पिण्ड में भी उसी प्रकार है।'

—अमरकोष-गीता

शं. पु.

बलराम दास (द्वितीय)

बलराम दास (द्वितीय) के जीवनसम्बन्धी तथ्य सर्वथा अज्ञात हैं। पत्रिका-शैली में लिखे गये इनके कुछ गीत मिलते हैं। इनमें भ्रमर को दूत बनाकर उसके माध्यम से पत्र भेजने की परम्परा बहु-प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त छप्पन पदों में कविता लिखने को 'छप्पन-पदिया' शैली कहा जाता था। इसी तरह पैंतीस पदों में 'पंचतिरिश-पदिया' लिखे गये। बारहमासा-शैली में भी पद मिलते है। यहाँ बारहमासा-शैली के दो पद उद्‌धृत किये जा रहे हैं :

आद्य मार्गशीर शिशिर शीत,
श्रीकृष्ण जाणन्ति राधिका-चित्त।
दुःखोर जीवन दुखी संगात,
काहुँ आणिदेबि कमलाकान्त मो,
कान्हु रे॥

पौषे चंद्राबली जपइ बसि,
हस्ते बनमाली कंठे तुलसी।
से दिन गाइब गोविन्दबर
कृष्णकथा जाक पड़े मनर मो
कान्हु रे॥

'मार्गशीर्ष के प्रारम्भ में रातें ठण्डी होती हैं। श्रीकृष्ण राधा के चित्त की स्थिति जानते हैं। हे दुःखी के प्राण! दुःखी के संगी उन कमलाकान्त को कहाँसे

लाकर दूँ ? पौष महीने में चन्द्रावली हाथ में वनमाला और गले में तुलसी धारण करके बैठी हुई जप रही है। उन दिनों गोविन्दवर के गुण गा रही है, मन में कृष्ण की सारी बातें ताजा हो रही हैं। हे मेरे कन्हैया !'

शं. पु

बामनि महापात्र

जगन्नाथदास के सोलह शिष्यों में बामनि महापात्र ऐसे एक शिष्य हैं जिन्होंने अपनी वंश-परंपरा से चली आती महापात्र-कुल की पहचान बनाये रखी। गुरुसेवा में इन्हें मणिपादुका-सेवा का अधिकार मिला था। मंजरी-परंपरा में ये 'कृष्णप्रिया' के प्रतिरूप कहे जाते हैं। ये वीरहरे-कृष्णपुर (पुरी के निकट) में उत्पन्न हुए थे। यहीं इन्होंने जगन्नाथदास से दीक्षा ली थी। इनकी प्रसिद्धि हो जाने पर खण्डपड़ा के राजा ने आकर इनसे दीक्षा ले ली। तबसे ये राजगुरु कहलाये और वहांसे कुछ दूर हटकर इच्छापुर में मठ बनाकर रहने लगे। संप्रति वह स्थान जीर्ण-शीर्ण है, यद्यपि इनके वंशधर आज भी खण्डपड़ा राजपरिवार के राजगुरु हैं। इनकी कोई रचना नहीं मिलती।

शं. पु.

बाया बाबा

बाया बाबा हमारे-आपके युग के ही परम भक्त हैं। अभी कुछ वर्ष पहले (१९८१ ई०) अनन्त चतुर्दशी के दिन इन्होंने तिरासी वर्ष की आयु में काया त्यागी है।

बाबा का जन्म बालिसाही पाटणा ग्राम में हुआ था। इनके पिता श्री लालू मंगराज और जननी श्रीमती रूपसी देवी थीं। बचपन में स्वजन इन्हें 'वंशीधर' कहकर पुकारा करते थे। स्कूल-कालेज की पढ़ाई के बाद इन्होंने कुछ दिन कनिका-रजवाड़े के यहाँ नौकरी की। लेकिन प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य रामदास बाबाजी महाराज से दीक्षा लेने के बाद इनके वीतरागी मन को सांसारिक चमक-दमक बाँधे न रख सकी। घर-संसार से विरक्त होकर इन्होंने हिमालय की ओर प्रस्थान किया और भगवन्नाम-जप की सिद्धि प्राप्तकर ये पुनः उड़ीसा लौट आये। परमार्थ का संकल्प लेकर इन्होंने पदयात्रा की तथा गांव-गांव घूमकर नाममंत्र की दीक्षा दी। जगह-जगह हरिनाम के अखण्ड जाप के लिए केन्द्र स्थापित किये तथा लोकहित के लिए अनेक आश्रम और मठ स्थापित कर वहाँ अन्नदान, रोगी, दीन-दुःखी की सेवा आदि की व्यवस्था की। इनके द्वारा स्थापित प्रमुख मठ-आश्रम कटक, पुरी, भुवनेश्वर, केन्द्रापाणा तथा वृन्दावन में हैं। इनमें अखण्ड महामन्त्र 'हरे कृष्ण, ··· हरे राम ' का कीर्तन चलता है।

बाबा के पास न कोई मन्त्र-तन्त्र, न भाषण-दीक्षा, न कोई चमत्कार, न अलौकिक सिद्धि और न कोई भौतिक आकर्षण था। केवल ये एक बात कहते : 'अरे ! बाया कहता है, इस कल्पतरु के नीचे बैठो। मुझसे क्या माँगते हो ? यह कल्पतरु सब कुछ देगा।' इस तरह ये सदैव नाम-कल्पतरु के नीचे आश्रय लेने का ही उपदेश देते रहे। ये अपने लिए कभी 'मैं' का प्रयोग नहीं करते थे। कहते थे कि 'मैं' अहम् का प्रतीक है। शिष्यों को भला आदमी बनने के लिए चेतावनी देते रहते थे। देहत्याग की बेला में भी बाया ने सरल शब्दों में संसार का गूढ़तम उपदेश दिया :

बाबाट रे जीवन रे भल मणिष हुआ।
बाया तुंभकु आशीर्वाद करु अछि॥

'अरे बाबू ! अच्छे आदमी बनो। बाया की यही मंगल-कामना है।'

जो भी बाया के पास जाता उसे तांबूल भेंट करते। यही बाया का प्रसाद होता। इसमें भी माधुर्य, स्नेह और अपार करुणा होती। पान में रस है, माधुर्य है। और है अमित प्रेम ! इसी कारण बाया आगंतुक को प्रसादस्वरूप तांबूलचर्या सहास्य अर्पित करते।

शं. पु.

बालिगाँ दासिया

बालिगाँ दासिया का आविर्भाव १७वीं शती ई० में पुरी जिले में निमापाड़ा के समीपस्थ बालिगाँव

में हुआ था। ये बाउरी नामक शूद्रजाति के थे और जुलाहे का काम कर जोविका चलाते थे। जगन्नाथजी में प्रगाढ़ श्रद्धा एवं अनन्य भक्ति के कारण ये अपने समय में अद्वितीय भक्त के रूप में विख्यात थे। इनकी भावसिद्धिसम्बन्धी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि इनके मन में जगन्नाथजी को कुछ भेंट अर्पित करने की तीव्र इच्छा रहती थी, किन्तु गृहस्थी के जंजाल में फँसे होने से पुरी-यात्रा के लिए समय नहीं निकाल पाते थे। एक दिन इनको पता चला कि पास के गाँव से कुछ लोग श्रीक्षेत्र जा रहे हैं। दासिया ने एक नारियल ले जाकर उनके मुखिया से निवेदन किया कि 'जाते हो तो इसे जगदीश को दे देना। वह स्वयं आकर अपने हाथ से लें तभी सौंपना, अन्यथा मेरा नारियल मुझे ही लौटा देना।' यात्रियों ने पागलपन समझकर हँसी-हँसी में नारियल ले लिया। पुरी पहुँचकर जब सभी लोग गरुड़-स्तंभ के पास से दीप अर्पण करते हुए जगन्नाथजी का दर्शन कर रहे थे तो मुखिया ने वह नारियल भी वहींसे ऊपर हाथ उठाकर अर्पित करना चाहा। देखते ही देखते रत्नवेदी से श्रीजगन्नाथ की दाहिनी बाहु प्रसरित होती गयी। वह बाहु गरुड़स्तंभ के पृष्ठभाग तक पहुंची, नारियल ग्रहण किया और धीरे-धीरे फिर से स्थिति यथावत् होती गयी। सब लोग इस अद्भुत लीला को देखते रह गये। आस-पास के गाँवों में बात फैल गयी। 'दासिया बावरी' क्रमशः 'भक्त बावरी' बन गये। लेकिन इससे दासिया पर कोई प्रभाव न पड़ा। भगवान् में अटूट श्रद्धा तो आरंभ से ही थी, केवल उसका प्रचार नहीं था। इस घटना ने उसे लोकविश्रुत कर दिया।

इसी प्रकार की एक और जनश्रुति है—एक दिन दासिया आम की पोटली लेकर भगवान् को अर्पित करने के लिए स्वयं श्रीक्षेत्र की ओर चल पड़े। पंडों ने इतने रसीले आम एक निपट गँवार के पास देखकर उन्हें हथिया लेना चाहा। दासिया को उनकी चतुरतापूर्ण बातों की चिंता न थी। उसने मन ही मन श्रीजगन्नाथ का ध्यान किया और ऊपर की तरफ एक-एक आम फेंकता गया। वे आम ऊपर शून्य में लीन होते गये। दासिया ने ऊँचे स्वर में कहा: 'महाराज, आप भोग तो ले लें इस अकिंचन द्वारा अर्पित!' उपस्थित पंडे तथा अन्य लोग दासिया की इस सनक पर हँस पड़े। कुछ लोग अंदर रत्नवेदी तक गये। वहाँ देखते हैं तो आम की गुठलियाँ और छिलके अलग-अलग पड़े हैं। सभी इस अलौकिक भेंट पर चकित रह गये। लोगों की दासिया के प्रति अपार श्रद्धा हो गयी।

दासिया ने वहीं प्रभु के दर्शन करने का संकल्प किया। भगवान् का दशावतार रूप कैसे देखा जाय, यह विचार करते ही उसे नीलचक्र में मत्स्य, कूर्म आदि सभी अवतारों के दर्शन हो गये।

कहते हैं, भगवान् एक दिन इनके आगे ब्राह्मणवेश में प्रकट हुए। कपड़ा बुनने की धुन में ये उन्हें पहचान न पाये। पूछ बैठे: 'कहिये ब्राह्मण देवता! आपका कैसे आना हुआ?' लेकिन उस ओर आँख उठाकर देखते हैं तो उनके रक्तिम अधरों पर विलक्षण-सी मुस्कान थी। दासिया अपनी उस चिरपरिचित मुस्कान को बिसरा न सके। मन ही मन जान गये कि ब्राह्मणदेव भोजन करने पधारे हैं, रत्नवेदी त्यागकर एक अछूत कहे जानेवाले दासिया के घर। फिर बोले: 'आपकी भी भूख और प्यास विचित्र है।' महाप्रभु ने कहा: 'तुम अपनी भक्ति की बात लिखते क्यों नहीं!' ये बोले: 'जुलाहा हूँ, निपट अनपढ़ हूँ।' भगवान् ने भक्त के लिए स्वयम् लिख देने की बात कही और कलम लेकर लिखने बैठ गये। इनके नाम पर 'आगत भविष्य' नामक एक छोटा-सा ग्रन्थ लिख दिया। इसमें भोई-वंश के राजाओं का वर्णन मिलता है। इसके कुछ विवरण जगन्नाथ-मंदिर में नियमित रूप से लिखी जानेवाली मादला-पांजी (मर्दलाकृत पंजिका) से मिलते हैं। कहते हैं कि इनकी लोकोत्तर भक्ति की ख्याति सुनकर उड़ीसा के प्रसिद्ध 'पंचसखा' भी इनसे मिलने

आये थे तथा अपने प्रश्नों के चमत्कारिक उत्तर पाकर वे बहुत ही संतुष्ट हुए थे।

दासिया के जीवन में ऐसी अनेक अलौकिक घटनाएँ घटी हैं जिनसे इनकी प्रगाढ़ भक्ति प्रमाणित होती है। प्रसिद्ध है कि इनकी पत्नी ने एक बार साग बनाया। दासिया ने हाँड़ी देखकर अनुभव किया कि मानो उसमें खीर पकी है, जिस पर सफेद मलाई पड़ी है, बीच में साग की वे सांवली पत्तियां पड़ी हैं। यह तो जगन्नाथजी का जीवंत रूप है। इसे ग्रहण कैसे करूँ ?

दासिया बावरी की अनन्यासक्ति की ऐसी प्रचुर कथाएँ भक्तसमाज में आज भी कही और सुनी जाती हैं। इनके मूल नाम का पता नहीं। शूद्र-जाति में उत्पन्न होने से 'दासिया' और बालिगांव में जन्म लेने के कारण 'बालिगाँ', संयुक्त रूप से इनके 'दासिया बालिगाँ' अथवा 'बालिगाँ दासिया' अभिधान का कारण बन गया।

शं. पु.

बिछन्दचरण पटनायक

बिछन्दबाबू का जन्म १९०१ ई० में जाँआला ग्राम (जिला पुरी) में हुआ था। इनके पिता श्रीगोलोकचन्द्र पटनायक और माता राधादेवी थीं। १९२६ ई० में इन्होंने बी० ए० पास किया। उसके बाद एल-एल० बी० पासकर वकालत प्रारंभ की। बाद में उसे छोड़कर सरकारी नौकरी कर ली। इसके अनन्तर कुछ समय तक उड़ीसा सरकार के 'लोकसंपर्क विभाग' में 'उत्पादन अधिकारी' के पद पर रहे। अवकाश ग्रहण करने के बाद 'उड़ीसा साहित्य अकादमी' में शोध-सहायक के पद पर कार्य किया।

उड़ीसा में अनुसंधान एवं प्राचीन-ग्रन्थ-उद्धार की प्रमुख संस्था 'प्राची' के ये प्रमुख कार्यकर्ता थे। इन्होंने 'शशिरेखा ओ चौंतीशा मधुचक्र' का संपादन किया है। बाद में गौरचरण अधिकारी की कविताओं का संपादन कर प्रकाशित करवाया। दीनकृष्णदास को परिचित कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य भी इन्हींके द्वारा हुआ।

ये महाकवि उपेन्द्र भंज के बहुत बड़े प्रशंसक थे। 'भंज-जयन्ती'-आन्दोलन के ये सूत्रधार थे। इनके लिखे भजन 'जणाणादि' प्रकाशित हुए हैं। इन्होंने 'विनय-पत्रिका' तथा 'रामचरित-मानस' का भी उड़िया भाषा में अनुवाद किया है। १९६१ में आपका देहावसान हो गया। इनकी रचनाओं से कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं।

जगन्नाथजी रथयात्रा में निकल रहे हैं। उस अनुपम दृश्य का अंकन करते हुए ये कहते हैं :

आहे नीलाचल-बिहारी ,
पातकि पातक खण्डनकारि।
नबकलेबर दरशन तुंभ,
पातक सृष्टिकि देउछि सारि।
प्रेम-चिंतामणि उजाड़ि देबाकु,
रथे आरोहिछ रथांगधारी॥

• • •

मो संचित कर्म बलाउछि मोरे,
न पारइँ बहि ता अति भारि।
कांध मों उश्वास कर विश्वबास,
पातको बिछंद डाके पुकारि॥

'हे नीलाचल-बिहारी, हे पातकी जन के पातकों का खण्डन करनेवाले! आपके नवकलेवर के दर्शन-मात्रसे पातकसृष्टि समाप्त हो जाती है। प्रेमचिन्तामणि देने के लिए ही आपने रथांगधारी के रथ में आरोहण किया है।

'अपने संचित कर्म मुझे भारी पड़ रहे हैं। मैं उनका बोझ नहीं उठा पा रहा हूँ। यह पातकी बिछंद हाँफ-हाँफकर पुकार रहा है।'

शं. पु.

बिहारी दास

संभलपुर का 'गोपालजी मठ' अपनी विशिष्ट परम्परा और सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए प्रसिद्ध रहा

है। १८४६ ई० के आस-पास इस मठ के संस्थापक बिहारी दास जगन्नाथ का दर्शन करने राजस्थान से चलकर उड़ीसा आये थे। दर्शन के बाद जब वे ढेंकानाल (संभलपुर) के घोर जंगल से होते हुए लौट रहे थे तो कहा जाता है कि टेंढ़ाखोल में वनवासियों ने उन्हें समलाई देवी के आगे बलि चढ़ाने के लिए पकड़ लिया।

बिहारी दास को एक युक्ति सूझी। उन्होंने कहा : 'देवी के गर्भगृह में मुझे बन्द कर दो। देवी की खाने की इच्छा होगी तो खा लेगी, अन्यथा मुझे छोड़ देगी। तुम लोग सिर पर हत्या का पाप क्यों लेते हो ?' बात समझ में आ गयी। आदिवासियों ने उन्हें रात में देवी के प्रकोष्ठ में बन्द कर दिया। प्रातः बिहारी दासजी को हँसता-खेलता पाया गया। सबकी आँखें खुल गयीं। संभलपुर महाराज ने इनसे वहीं रहने का आग्रह किया और इन्हें महानदीके किनारे समलाई-मन्दिर के पास कुछ जमीन भी प्रदान की। ये वहीं रह गये। तबसे समलाई के आगे नरबलि बन्द हो गयी और बिहारी दासजी अपने निम्बार्क-संप्रदाय के मठ की स्थापना कर वहीं रहने लगे।

शं. पु.

बिहारीदास (द्वितीय)

बिहारीदास (द्वितीय) प्रथम बिहारीदास की परंपरा में दसवें महन्त थे। इनका बचपन का नाम 'शत्रुघ्न त्रिपाठी' था। इनका जन्म १८६५ ई० में लर्भंगा ग्राम में (जो अब हीराकुण्ड बाँध में समा गया है) हुआ था। इनके मन में दीन-दुखियों के प्रति असीम करुणा की धारा प्रवाहित होती रही। १९०० ई० में संभलपुर और आस-पास के क्षेत्र में बहुत बड़ा अकाल पड़ा। अपने मठ में इन्होंने अन्न-क्षेत्र खोल दिया। इस प्रकार दीन-दुखी जनों के लिए बिना मूल्य अन्न की व्यवस्था की। ३६ वर्ष की आयु में ये नागपुर के चीफ कमिश्नर एन्ड्रयू साहब के पास गये। फिर एक प्रतिनिधि-मंडल बनाकर लार्ड कर्जन से मिलने गये। उनसे मिलकर इन्होंने संभलपुर में उड़िया भाषा के प्रचलन की बात उठायी और कचहरी में भी इसी भाषा के प्रयोग का समर्थन किया। इस प्रकार इन्होंने जनसेवा का एक नया मार्ग प्रशस्त किया।

आगे चलकर स्वाधीनता-संग्राम के दौर में इन्होंने संभलपुर में कांग्रेसियों को अकुण्ठ सहायता प्रदान की थी।

१९१५ ई० में 'उत्कल-सम्मिलनी' के अधिवेशन में महन्त महाराज को विशिष्ट सदस्य के रूप में आमंत्रित किया जाता था। अपने व्यस्त सामाजिक कार्यक्रम के बीच भी इनकी भक्ति-साधना का क्रम चलता रहा और ये अनेक छोटे-मोटे ग्रन्थों की रचना भी करते रहे। इन्होंने 'नरसी मेहता' और 'हनुमान-चालीसा' का सुललित उड़िया में अनुवाद किया। 'अध्यात्म-साहित्य', 'वनविहार-चम्पू', 'चंउतिशा-हार' शीर्षक से इन्होंने अध्यात्मसंबंधी कई रचनाएँ प्रकाशित करायीं तथा जगन्नाथ की रथयात्रा के बाद लक्ष्मी-जगन्नाथ के उत्तर-प्रत्युत्तर को काव्यरूप में प्रकाशित किया। १९२६ ई० में ये देवलोक सिधारे।

इनका पूरा साहित्य प्रकाशित नहीं है। इसलिए अभी तक उसका साहित्यिक मूल्यांकन नहीं हो सका। फिर भी अपनी लोक-सेवा और निष्ठा के लिए ये निरंतर स्मरण किये जाते हैं।

इनकी रचनाओं से कुछ उद्धरण यहाँ दिये जा रहे हैं। 'कृष्णस्तव' के प्रसंग में ये लिखते हैं :

नमस्ते श्रीकृष्णमूरति दुष्टंकु कुल हत।
मकर-कुंडल गंडरे तेजरूप अनंत ॥
ब्रजनांगनाकर बल्लभ नमस्ते कृष्णमूर्ति।
आंभकु से प्रभु दुर्लभ काहुँ पाइबुं गति ॥

बालकाले मायाधर से मायाभाव विस्तारि।
मृत्तिका-भक्षणे मातांकु देखाइले त्रिपुरारि ॥
कि कहिब कृष्णचरित्र बेद-अगम्य मूर्ति।
माया देखाइबा पाइँ से कोप-क्रांति बहंति ॥

'दुष्टकुल का नाश करनेवाले श्रीकृष्ण की मूर्ति को प्रणाम करता हूँ। मकर-कुण्डल में उनके गण्डस्थल का अपार तेज प्रकाशित हो रहा है। वह कृष्ण-मूर्ति जो व्रजांगनाओं को अतिप्रिय है, भला हमें

उन प्रभु के दर्शन कहाँ संभव हैं? वह गति कहाँ मिलेगी? बाल्यकाल में उन मायाधर ने अपनी माया का विस्तार किया, मिट्टी खाने के मिस से उन त्रिपुरारी ने अपना रूप माँ को सुलभ कराया। वेदों के लिए अगम्य उन कृष्ण का चरित्र कौन वर्णन कर सकेगा? माया दिखाने के लिए भी वे कोप धारण कर लेते हैं।'

शं. पु.

बैकुण्ठनाथ ब्रह्मचारी

बैकुण्ठनाथ ब्रह्मचारी का जन्म १९१३ ई० में टांगी के पास विश्वनाथपुर (जिला कटक) में हुआ था। बचपन का नाम 'बट' था। इनके पिता चौधरी चैतन्यकर एवं माता सुभद्रा देवी थीं। बाल्यावस्था में ही माता-पिता के दिवंगत हो जाने से ये अनाथ हो गये। होश संभालने पर कुछ दिनों तक स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लिया, फिर सारी जमींदारी अपने एक रिश्तेदार को सौंपकर घूमने निकल पड़े। घूमते-घूमते रंगपुर (पूर्वी बंगाल) पहुंचे। वहाँ एक बंगाली परिवार ने इन्हें पुत्ररूप में अपना लिया। ब्रह्मपुत्र के तट पर योगमाया-आश्रम के निरंजन ब्रह्मचारी उस परिवार के गुरु थे। उन्हींसे इन्होंने दीक्षा ली। उस समय गुरु ने इनका नाम रखा 'बैकुण्ठनाथ'। गुरु भी इनकी साधना से प्रसन्न हुए और उन्हींके आदेश पर १९३३ ई० में जलौका की मणिनाडा गुफा में ये साधना के लिए चले गये।

मणिनाडा गुफा में पहले से कोई बूढ़ी योगिनी रहती थी। बैकुण्ठनाथ के आने के पंद्रह दिनों बाद ही उसका देहान्त हो गया। लगभग सात वर्षों तक इन्होंने गुफा में रहकर साधना की। तदनन्तर उस से निकलकर पास के केन्द्रापड़ास्थित नृसिंह-हिकिरी मठ में गये। लोगों ने वहीं रहने का अनुरोध किया। वह मठ 'नामाचार्य बाया' का था। बाया बाबा भी इनका बहुत सम्मान करते थे। बाद में इन्होंने 'सत्य-सेवा-मण्डल' नाम से एक संस्था का संघटन किया। अहिंसा-व्रत का पालन करते हुए मानवमात्र की सेवा करना इस संस्था का उद्देश्य था। बाबा का आश्रम 'जलौका-धाम' आजके भौतिक-दैहिक इच्छाओं की पूर्ति में भागते-दौड़ते व्याकुल मानव के लिए शान्ति एवं दिव्य चिन्तन का केन्द्र बना हुआ है। इनके बनाये भजन, पद, और गीत अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

बाबा बैकुण्ठनाथ की उदार मानवीय दृष्टि इन शब्दों में व्यक्त हुई है:

धर्मभाव केबे नुहे भेदभाव,
मणिषे मणिषे द्वंद।
हिन्दू बौद्ध जैन ख्रीष्ट इसलाम,
नाम भितरे आबद्ध॥

सत्यर शरण सत्य इ संधान,
सनातन धर्म नीति।
सत्यपथ छाड़ि आन पथ गढ़ि,
धरमर नाहिं स्थिति॥

'धर्मभाव में कभी भेदभाव नहीं हो सकता। यह मानव-मानव के बीच द्वंद्व की बात कभी नहीं कहेगा। हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई और इसलाम सभी एकनाम में आबद्ध हैं। सत्य की शरण और सत्यानुसन्धान ही मानवमात्र का सनातनधर्म है, उसकी नीति है। सत्यमार्ग को छोड़कर अन्य किसी पथ पर धर्म की स्थिति नहीं हो सकती।

एक भजन में बाबा ने जगन्नाथजी की व्याज-स्तुति करते हुए कहा है:

थका होइ एका बइठिरे हरि।
बहिछ काहाकु चाहिं॥

• • •

तुंभ ठकपणे बड़ धूर्तजणे,
जाणिअछि आगु परा।
गोपे केउँ सेवा न पाइल अबा॥
ठकिण गल मथुरा, हे खण्ट!
अट लंपटपणरे श्रेष्ठ, हे खण्ट॥
मोते देले दिअ जेते कष्ट, हे खण्ट!
इष्ट बोलि भाबिछि बैकुण्ठ हे खण्ट!

'हे हरि ! यों थके-हारे अवाक् देखते बैठे हो ! किसे देख रहे हो ? क्या मेरी आवाज तुम्हारे कानों में पड़ती ही नहीं ? मैं पहले से ही जानता हूँ कि आप कितने धूर्त हैं, ठग हैं। बताओ, गोकुल में आपको कितनी सेवा मिली ? फिर भी उन्हें ठगकर मथुरा चले ही गये। हे लंपटपने में श्रेष्ठ ! आप मुझे चाहे जितना कष्ट देना हो, दे लो; क्योंकि आप ठग हैं। फिर भी मैंने आपको इष्ट मान लिया तो मान ही लिया। बस, मैं नहीं बदलता।'

शं. पु.

ब्रजनाथ बड़जेना

ब्रजनाथ बड़जेना अठारहवीं शती के विशिष्ट उड़िया कवि हैं। इनके पूर्वज पुरी के आस-पास रहते थे। बाद में ये लोग ढेकानाल रियासत में चले आये। वहीं ब्रजनाथ का १७१५ ई० में जन्म हुआ। पिता का नाम श्री बालुकेश्वर पटनायक था। ढेंकानाल रियासत के राजा त्रिलोचन महीन्द्र बहादुर ने इनकी काव्य-प्रतिभा पर मुग्ध होकर इन्हें 'बड़जेना' उपाधि प्रदान की थी। आगे चलकर यही इनकी वंशानुगत उपाधि हो गयी। ब्रजनाथ केवल 'बड़जेना' नाम से ही प्रसिद्ध हो गये। इन्होंने कई बार श्रीक्षेत्र की यात्रा की और लम्बे समय तक वहाँ निवास भी किया था। इनकी रचनाओं में गुंड़िचा-यात्रा (रथ-यात्रा) का जो जीवंत चित्रण मिलता है उसमें 'दिव्यसिंह देव' का नाम आता है। दिव्यसिंह उस समय खुर्धा के राजा थे। वे इनके प्रशंसक थे। ब्रजनाथ के जीवन में आर्थिक कठिनाइयाँ बराबर बनी रहीं। इसके लिए इन्हें बार-बार तत्कालीन राजा के आगे निवेदन करना पड़ा। राजा ने जागीर में एक छोटा-सा गाँव और कुछ धन भी दिया, फिर भी समस्या जैसी की तैसी बनी रही। बुढ़ापे में भी इस कठिनाई ने इनका पीछा नहीं छोड़ा। अन्तिम दिनों में ये पुरी में ही जाकर रह गये। वहीं १७९३ ई० में इनका देहान्त हुआ।

ये जगन्नाथजी के परम भक्त थे, किन्तु व्रज और पुरी के बीच विवाद की स्थिति से अत्यन्त दुःखी थे। ये इस प्रकार की विभेदकारी विचारधारा के विरुद्ध थे। अतः इन्होंने जगन्नाथ और ब्रजविहारी कृष्ण को सदैव एक माना। इतना ही नहीं, इनमें अंतर करने की बात का इन्होंने घोर विरोध किया। इनकी दृष्टि बहुत उदार एवं व्यापक थी। शाक्तों और शैवों के प्रति भी इनके मन में आदर रहा। इस दृष्टि से उड़िया के कुछ समन्वयवादियों में इन्हें रखा जा सकता है। इनके मत में मूलवस्तु भक्ति है। इसके लिए गाँव के छोर पर स्थापित मूर्ति से लेकर तीर्थ के अधिदेवता तक किसीके भी विरोध को आवश्यकता नहीं। ये अपने को सदा भगवत्-चर्चा में लीन रखते थे। इनकी कुछ रचनाएँ शुद्ध उड़िया में हैं, कुछ की भाषा ब्रजी (ब्रजबोली) है। यद्यपि ये रचनाएँ शुद्ध ब्रजी या ब्रजबोली में नहीं है, फिर भी बड़जेना को जगन्नाथ जितने प्रिय हैं, वृन्दावन-विहारी भी उतने ही प्रिय हैं। तदनुरूप उड़िया जितनी इनकी अपनी है, ब्रजबोली भी इन्हें उतनी ही प्रिय है। अतः जगन्नाथजी की लीला, विशेषकर उनकी रथयात्रा का मनोरम वर्णन ये ब्रजबोली में करते हैं। 'गुंड़िचा बिजे' शीर्षक अपनी एक छोटी-सी रचना में बड़जेना ने सुगम-सुललित ब्रजभाषा का प्रयोगकर जगन्नाथजी की रथयात्रा का वर्णन किया है। इसमें उक्त अवसर पर अनुष्ठित विविध विधियों—यथा देवों की सजावट, रथों की साज-सज्जा, तीन देवों का आगमन, रथारूढ़ होना, महाराज द्वारा स्वर्ण-सम्मार्जनी से बुहारी निकालना, रथ खींचकर गुंड़िचा-मन्दिर तक ले जाना आदि बातों का सूक्ष्म और ब्यौरेवार वर्णन मिलता है। चलचित्र की तरह बदलते परिवेश और उसमें क्रमशः आनेवाली प्रत्येक स्थिति का इन्होंने सजीव अंकन किया है। हिन्दी और उड़िया भाषा का मिला-जुला प्रयोग रचना को अत्यन्त आकर्षक बना देता है। यह भी इनकी समन्वय की ही चेष्टा है जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई।

इन्होंने वृन्दावन-लीला का एक दृश्य 'श्याम-रासोत्सव' में प्रस्तुत किया है। यह उड़िया भाषा में लिखी गयी है। अनेक राग-रागिनियों में रची यह

कृति शरद-रास की परम्परा पर आधारित है। यहाँ रास के प्रसंग में गोपियों की एकान्तिक भक्ति का सुन्दर चित्रण हुआ है। कृष्ण भी इनकी अनन्य श्रद्धा के वशीभूत होते हैं, यह उक्त प्रसंग में गोपियों के विरह-वर्णन के माध्यम से स्पष्ट हुआ है। कवि की कृष्ण-भक्ति-चेतना का यहाँ उत्कृष्ट परिचय भी मिलता है।

इसके अतिरिक्त ब्रजनाथ का 'समर-तरंग' एक और महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रंथ है। समकालीन युद्ध-प्रसंगों को लेकर इन्होंने इस वीररससिक्त काव्य की रचना की है। रीतिकाल में यह अपने ढंग की एक अनूठी कृति है। उड़िया जाति एक समय वीरजाति के रूप में प्रतिष्ठित थी। इस काव्य में प्राप्त दुर्ग एवं शस्त्रनिर्माण, सैन्य-संचालन तथा युद्ध-वर्णन से इस परंपरा की एक स्पष्ट भावमूर्ति बनती है। इस समय मराठा सरदार चिमणाजी ने उड़ीसा के कुछ भाग पर आक्रमण किया था। इसका मुकाबला ढेंकानाल के राजा त्रिलोचन महेन्द्र बहादुर ने किया। इस संदर्भ में वीरतासूचक अनेक प्रसंगों की उद्‌भावना हुई है। 'समर-तरंग' में कवि ने आश्रयदाता का प्रशस्ति-गान तो किया है, किन्तु वीरत्व-विन्यास के संदर्भ में चाटुकारिता की दृष्टि से कहीं भी प्रतिभा का दुरुपयोग नहीं किया।

इनकी एक अन्य रचना है 'केलि-कलानिधि'। इसका विषय है शृंगार-निरूपण। उपेन्द्र भंज की शैली में यह अलंकारप्रधान कृति है। इसी प्रकार 'गोपी-विलाप' की रचना में 'भ्रमर-गीत' की तरह ब्रजनाथ ने कृष्ण के मथुरागमन के बाद की घटनाओं का करुण चित्रण किया है। इसमें रसिक नागर के विरह में गोपियों की गहन व्यथा का वर्णन है। देशभाषा में कृष्ण-गोपी-प्रेम का वर्णन कर ब्रजनाथ ने उस रस को जनसामान्य तक पहुँचाने का प्रयास किया है।

इस संदर्भ में 'गोपी-विलाप' की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :

कउँ सजनी तहिँरे बोइला।
आंभे मरण गो आसि होइला॥

ताकु पासोरि कि आउ पारिबा।
पछे झुरि झुरि सिना मारिबा॥

केते स्नेह करि मन मंडन।
एबे एकाबेले कले खंडन॥

दिन दिनक चरित कहिले।
न सखि! युगकरे लिखिले॥

कृष्ण के विरह में एक सखी दूसरी से कह रही है कि 'अब तो हमारा मरण ही आया समझो। क्या इस जीवन में कभी उन्हें हम भुला सकती हैं? चाहे विसूर-विसूर कर मरना पड़े, फिर भी उन्हें भूल पाना असंभव है। कितने स्नेह के साथ मन में बिठाया था, उन्होंने वह सारा (स्नेह) चूर-चूर कर डाला। एक-एक दिन की कथा क्या कहूँ? युग-युगों तक लिखने पर भी वह कभी समाप्त न होगी।'

जगन्नाथजी की रथयात्रा के लिए तैयारी का एक पद 'गुंडिचा-विजे' से नीचे उद्धृत किया जाता है :

श्रीराधापति पद चिंतके सकल विघ्नकर नाश।
कर तहिँ नरहरि गुंडिचा जात विधि प्रकाश॥

खिचड़ी भोग की विनोद को सारके,
नंदकुमार हैं त्यारि।
मंगल आरति ख्याल भए चले,
साथ में देवी नीलांबरधारि॥

'श्री राधापति के चरणों का चिंतन करते हैं जिससे सारे विघ्नों का नाश हो जायगा। इसके बाद गुंडिचा-यात्रा (रथयात्रा) का वर्णन किया जा रहा है।'

'खिचड़ी का भोग लग चुका है। उसे लेने के बाद नंदकुमार आनंदपूर्वक चलने को प्रस्तुत हो रहे हैं। मंगला आरती हो चुकी है। अब साथ में नीलांबर धारिणी देवी (सुभद्रा) को लेकर चलने को सज रहे हैं।'

शं. पु.

ब्रजबिहार श्रीचंदन

ब्रजबिहार श्रीचन्दन बांकी रियासत के प्रसिद्ध राजा थे। इनका राज्यकाल १७८६ से १८१३ ई० तक माना जाता है। इनका 'निशामणि-चौंतीशा' नामक काव्य-संकलन प्रकाशित हुआ है। इसमें राधा-कृष्ण-चरित का वर्णन है। उदाहरणस्वरूप एक पद यहाँ उद्धृत है।

एक सखी राधा के पास जाकर श्याम के विरह का वर्णन कर रही है :

श्याम बड़दुःखी काम रे सखी !
पीड़ित कुसुम-शरे छिड़िछि रे उरहार उरहार ॥
उठुछि क्षण के लुठुछिरे अवनी रे अवनी रे ॥
कंपुछि कातरे अंग जपुछि रे तोर नाम तोर नाम ॥
भजिछि कुशकु शोके मठिछि तो बिरह रे तो बिरह रे ॥
छाडुछि ऊर्ध्वे निश्वास ताडुछिरे हृदे कर हृदे कर ।
शोइछि पल्लव परे थोइछि रे तोर ध्यान तोर ध्यान ।
कहइ शोरि चंदन बहइ रे नेत्रु-नीर नेत्रु-नीर ॥

'हे राधिके ! श्याम कामाधिक्य से पीड़ित हैं। कुसुम-शर से पीड़ा पाकर उनका हृदय-हार टूट गया है। वे पल-पल उठते-गिरते हैं, धरती पर लोट रहे हैं। कातर होकर उनका अंग-अंग काँप रहा है। वे निरंतर तेरा नाम जप रहे हैं। चिंता में, तेरे विरह में कुश धारण किया है। बार-बार दीर्घ साँस छोड़ रहे हैं, कातरतावश अंग काँप रहा है। हृदय पर हाथ पटक रहे हैं। पत्तों पर लेटे हैं। तेरे ध्यान में पड़े हैं। श्रीचंदन कहते हैं कि श्रीकृष्ण के नेत्रों से तेरे विरह में नीर बह रहा है, निरंतर नीर बहता ही जा रहा है।'

शं. पु

ब्रजराजसिंह देव

ब्रजराजसिंह देव पद्मसिंह देव के पुत्र थे। इनका जन्म १८५१ ई० में हुआ था। इनकी माता रंभादेवी थी। बचपन से ही ये उड़िया और संस्कृत के अध्ययन में रुचि रखते थे। १८७६ ई० में ये खड़ियाल (जिला कालाहाण्डी) के युवराज बने और १८८९ ई० में सिंहासनारोहण किया। अपनी सच्चरित्रता, उदारता एवं आस्थामय जीवन के कारण ये एक लोकप्रिय शासक के रूप में प्रसिद्ध हुए। १९०७ ई० में इनका देहान्त हो गया।

इन्होंने युवावस्था में 'रूपमंजरी', 'शोभावल्लरी', 'प्रबंधचरित्र', 'चौंतीसा-त्रय' आदि काव्यग्रंथों की रचना की थी। 'संगीत-गुच्छ' इनके प्रसिद्ध भक्ति-गीतों का संग्रह है। बाद में इन्होंने 'सत्यनारायणव्रत-कथा' की भी पद्य में रचना की थी। इनके पौत्र अनूपसिंह देव भी इन्हींकी परंपरा में एक धर्मपरायण और सरस्वती-आराधक के रूप में सुख्यात हैं।

ब्रजराज सिंह देव की प्रसिद्धि 'ब्रजबधू-विलास' के कारण है। इस काव्य की कथा श्रीमद्भागवत में वर्णित गोपलीला के आधार पर है। इसमें बाललीला के अतिरिक्त कृष्ण द्वारा अनेक असुरों के वध की कथा भी सन्निविष्ट है। कृष्ण के मथुरा जाने के बाद गोपियों की दीनदशा एवं उद्धव द्वारा दूतकार्य का विशेष उल्लेख है। समूचे काव्य में 'व,ब' के आद्य अनुप्रास का निर्वाह किया गया है।

यहाँ गोपियों की विरहावस्था का एक मार्मिक चित्र दिया जा रहा है :

बंधन नीबि काहार अस्तबास्ते फिरिबार,
नेत्र पतनरे एहा प्रते हेउछि ।
बले मन्मथ कोष करि जे केड़े साहास,
जूर करि अबा केहि नेइ जाउछि ॥
बड़ पराक्रमी होइला ।
विश्वजयकर्ता बित्तहरण कला ॥

'किसी गोपी का नीवी-बंधन अस्त-व्यस्त होकर खुला जा रहा है। किसीके नेत्र ही झुके जा रहे हैं और सूचना दे रहे हैं। कितना साहस कर मानो मन्मथ इनके मनोकोष को लूटकर जबरदस्ती ले गया है। उस महान् पराक्रमी और विश्वविजयकर्ता ने इनका सारा वित्त हरण कर लिया है।'

एक अन्य पद में जगन्नाथजी की वन्दना करते हुए ये कहते हैं :

रसिकवृंद हृद-कुमुदमुद।
करिबाकु उदय ए छांद चांद ॥
हे नीलाचल-नभ-रजनीकर।
तुंभ बिमलकंज बेनि पयद ॥
कहे तहिंरे रखि निज मानस।
श्रीव्रजराजसिंह युव-नरेश ॥

'हे रसिक जनों के हृदय-कुमुद के हेतु! छंदों के चंदरूप में उदय होनेवाले नीलाचल-नभ के रजनीकर! आपके युगलचरण विमल कंज के समान हैं। ब्रजराजसिंह नरेश उनमें अपना मानस सदा लीन रखते हैं।'

शं. पु.

भक्त चरणदास

भक्त चरणदास का जन्म पुरी जिले में खुर्दा के पास के सानपदर गाँव में १७२९ ई० में एक कायस्थ-परिवार में हुआ था। इनका माता-पिता द्वारा रखा गया नाम था 'वैरागीचरण पटनायक'। बड़े होने पर इन्होंने माध्वमत में दीक्षा ले ली थी। इसका उल्लेख इनके 'मथुरा-मंगल' नामक ग्रन्थ में इन शब्दों में मिलता है:

माधव आचार्यं सम्प्रदा, हरइ अज्ञान-अविद्या।

वैरागीचरण सचमुच वैरागी थे। इन्होंने अपने माता-पिता तथा वंश-परम्परा का कहीं भी नामोल्लेख तक नहीं किया है। बचपन में ही इन्होंने संस्कृत के न्याय, पुराण, काव्य-शास्त्रादि में पर्याप्त पाण्डित्य अर्जित किया था, साथ ही उड़िया के प्रसिद्ध काव्यों का भी अध्ययन किया था। अपने दोनों काव्यग्रंथों 'मथुरा-मंगल' और 'मनशिक्षा' में इन्होंने अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का सरल और सहज प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त इन्होंने दो वैद्यक-ग्रंथों का भी प्रणयन किया था, जो अद्यावधि अप्रकाशित हैं। 'मनशिक्षा' में भी वैद्यरूपी श्रीकृष्ण द्वारा चैतन्य महाप्रभु के साथ उपमा के माध्यम से नाना रोग तथा उनके प्रतिकार की चर्चा करने का उल्लेख है। 'मथुरा-मंगल' में प्रसंगानुसार मल्लयुद्ध का रोचक वर्णन मिलता है। संभवतः यह उस कला में भी इनके अनुभव का ही द्योतक हो।

ये एक प्रकाण्ड पण्डित तथा पूर्णतः विरक्त महात्मा थे। गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में इनकी अनन्यनिष्ठा थी। कालान्तर में इनकी भक्त के रूप में ख्याति बढ़ी तो खुर्धा के गजपति दिव्यसिंह देव की बहन मुक्तादेई ने इनसे दीक्षा ले ली।

रानी मुक्तादेई-प्रदत्त सानपदर मठ में स्वयं न जाकर इन्होंने अपने किसी गुरुभाई को भेज दिया था। सानपदर के दोनों मठों में से बड़े मठ में पतित-पावन श्री गोपीनाथ और राधाकृष्ण की युगलमूर्ति प्रतिष्ठित है तथा छोटे मठ में राधा-मोहन युगलमूर्ति विराजित हैं। सुनाखला ग्राम में भी इनका मठ अवस्थित है।

जीवन के अंतिम दिनों (१८१३ ई०) में ये कीर्तन करते हुए सुनाखला (जिला पुरी) ग्राम से चलकर पुरी आ गये और कुछ दिन वहाँ एक मठ में रहे। इसी स्थान पर कीर्तन करते-करते इन्होंने अपनी देह त्यागी। उस समय इनकी आयु ८५ वर्ष की थी।

भक्तचरण दास का प्रमुख काव्यग्रन्थ है 'मथुरा-मंगल।' इसमें विनयपूर्वक भगवद्-वन्दना के बाद सत्संगति की महिमा गायी गयी है। कंस धनुषयज्ञ के बहाने कृष्ण-बलराम को लाने के लिए अक्रूर को भेजते हैं, ताकि उनकी हत्या सहज ही की जा सके। संध्या को अक्रूर गोप पहुँचते हैं तो कृष्ण-बलराम के पदचिह्न देखकर विभोर हो उठते हैं। वे कंस का उद्देश्य छिपा नहीं पाते। सारे व्रजवासी विरोध करते हैं। गोपियाँ तो बिगड़कर कहती हैं: 'क्या अक्रूर जबर्दस्ती ले जायगा? हम उसका रथ तोड़ डालेंगी।' नंद-यशोदा भी विरोध करते हैं। किन्तु कृष्ण सबको समझाकर चार दिनों का करार कर चल पड़ते हैं। व्रज में विरह-कातरा गोपियाँ और नन्द-यशोदा रह जाते हैं। कृष्ण मथुरा पहुंचकर मधुवन

में टिकते हैं। वे अपनी रूप-माधुरी से मथुरावासियों को मोह लेते हैं। रास्ते में कुब्जा से चंदन ग्रहण कर उसे अपूर्व सुन्दरी बना देते हैं। कंस की रंगशाला में जाकर वे धनुष देखने की इच्छा प्रकट करते हैं। मना करने पर जबर्दस्ती प्रवेश कर वे धनुष उठा लेते हैं और उसे तोड़कर मण्डप से लौट आते हैं। अगले दिन कंस की सारी योजना को चूरकर कृष्ण उसके द्वार पर ही हाथी को थकाकर मार डालते हैं, फिर चाणूर आदि असुरों का वधकर वे मंच पर चढ़ जाते हैं। कंस उन्हें देखते ही भयभीत हो उठता है। वे सहज ही उसका वध कर देते हैं, फिर उग्रसेन को सिंहासन पर बिठाते और देवकी-वसुदेव को कारागार से मुक्त करते हैं।

बहुत दिनों बाद कृष्ण को ब्रज का स्मरण हो आता है। तब वे सखा एवं गोपियों के नाम संदेश लिखकर उद्धव के हाथ भेजते हैं। यशोदा द्वार पर आकर देखती और पहले उन्हें कृष्ण समझ लेती हैं। बाद में कृष्ण को न पाकर दुःखी होती हैं। वे 'कान्हा-कान्हा' कहती बिलख उठती हैं। गोपियों को उद्धव समझाते हैं। उन्हें ब्रह्म का ध्यान करने का उपदेश भी देते हैं, किन्तु इस ज्ञानोपदेश से वे और भी दुखी हो जाती हैं। गोपियों की एकांतिक भक्ति देखकर उद्धव की आँखें खुल जाती हैं। वे लौटकर गद्गदभाव से कृष्ण के आगे गोपियों की निष्ठा का वर्णन करते हैं। राधा का मार्मिक संदेश कृष्ण को विचलित कर देता है। वे विह्वल हो जाते हैं।

इस प्रकार इस काव्य में ब्रज-वनिताओं का विरह और मथुरा में कृष्ण की लीला दोनों का वर्णन किया गया है। पूरा कथानक भागवत के दशम कंध की छाया में चलता है। किन्तु भक्तचरण ने रीति-कवियों की अलंकृत शैली के स्थान पर सरल भाषा में लीला-गायन किया है। यह माधुरी और लालित्य-भरा काव्य उड़िया-साहित्य में अपनी रमणीयता में बेजोड़ है।

इसके अतिरिक्त इनकी 'मनशिक्षा' नाम की एक और छोटी-सी कृति मिलती है। इसमें वैष्णवमत की रीति-नीति, शिक्षा एवं आचार-विचार के वर्णन के साथ कवि ने गुरु-महिमा गायी है। विभिन्न संप्रदायों की चर्चा करते हुए वे कृष्णनाम की विशिष्टता प्रतिपादित करते हैं।

किन्तु इससे आकार में लघु होने पर भी इनकी अत्यन्त लोकप्रिय रचना है 'मनबोध-चौंतीसा'। इसमें सहज भाषा और मार्मिक शैली में ये संसार और जीवन की अनित्यता पर प्रकाश डालते हैं। उपदेशात्मक होते हुए भी चौंतीस पदों की यह रचना अत्यन्त मर्मस्पर्शी बन पड़ी है। इसमें क्षणभंगुर मानव-जीवन में हरिनाम की नित्यता प्रतिपादित की गयी है। 'कला-कलेश्वर' शीर्षक कृष्णलीला-संबंधी इनका एक और चौंतीसा है। इसमें कृष्ण की मथुरा-लीलासंबंधी कुछ अंश संकलित हैं।

यहाँ भक्तचरण के 'मनबोध-चौंतीसा' की कुछ पंक्तियों को उद्धृत करना समीचीन होगा :

केते दिनकु मन बांधिहु आंट,
कि घेनि जिबु तोर छुटिले घट रे।

खंडि जे खंडि तोर पंजरा काठि,
खाउण थिबे श्वान शृंगाल बाँटि रे॥

खट पलंके मन शेजाइ शोउ ,
खल दुर्गन्ध हेब ए खल देहुँ रे।
गलेणि तो संगरु जेतेक जन,
गंठिरे बांधि नेले के केते धन रे॥
गुरु गोविन्द नाम तुंडें न बोलु,
गाढे मज्जिण नित्ये धन अर्जिलु रे॥

'रे मन ! तू कितने समय के लिए ठिकाना बनाये है और जब घट से प्राण छूटेंगे तो क्या लेकर जायगा ? तेरा पंजर और यह काया खंड-खंड हो जायगी, तब उसे कुत्ते-सियार बाँट-बूंटकर चट कर जायँगे। तू खाट-पलंग-सेज में कितना मन किये हैं ? जब देह छूटेगी तब वह कितनी दुर्गन्धमय हो जायगी ? तेरे साथियों में से जितने गये, वे गाँठ में कितना धन ले गये ? फिर भी नित्य धन कमाने में ही लगा हुआ है, अपनी जीभ पर कभी गोविन्द का नाम नहीं लाता।'

कृष्ण मथुरा जाने को उद्यत हैं। गोपियाँ आकर उन्हें स्नेहपूर्ण शब्दों में राम के समकक्ष रखकर कहती हैं :

दशरथ-सुत पाए नंद-सुत,
करुछत आणि विचार।
से छाड़िथिले सिना एक नायिका,
तुंभे त छाडुछ अपार ।।

कृष्ण हे से बधिले एक बालिकि,
तुंभे येते बाली मारि जाउ अछ।
मने हेजि पारु नाहँ कि ।।

तुंभे कृष्णचंद्र से श्रीरामचंद्र,
एणु मित्रगुण बहिछ।
से तात-मात छाड़ि बने पशिले,
तुंभे एबे तेजि जाउछ ।।
कृष्ण हे से नेहथिले सहोदर,
तुंभे सेहि रूपे भ्रातांकु नेउछ।
दुहें हेल एक प्रकार ।।

ताँकु सुमंत्र रहुबरे बसाइ,
घेनि गला घोट बनकु।
तुंभकु अक्रूर सेहि परकारे,
नेउअछि मधुबन कु ।।
कृष्ण हे से सगे नेउथला नारी,
एहि गुणे तुमे उणा पड़ु आउ अछ।
आउ सकल गुणे सरि ।।

गोपियाँ कह रही हैं : 'हे नंद-सुत! तुम भी दशरथ-सुत की तरह ही जाने का विचार कर रहे हो। उन्होंने तो एक ही नायिका छोड़ी थी, तुम तो अनंत को छोड़कर जा रहे हो। उन्होंने तो एक बालि का वध किया, किन्तु अब तुम समझ नहीं पा रहे हो कि कितनी बाली (बालाओं) का वध कर रहे हो? ठीक ही तो है, तुम कृष्णचंद्र हो और वे रामचंद्र, अतः मित्रता का निर्वाह कर रहे हो। वे पिता और माता को छोड़कर वन चले गये, अब तुम भी वैसे ही छोड़कर जा रहे हो। हे कृष्ण! उन्होंने साथ में सहोदर को लिया था, तदनुरूप तुम भी अपने भ्राता को संग लिये जा रहे हो! इस तरह दोनों एक ही प्रकार के हुए। इतना ही नहीं, उन्हें सुमंत्र रथ पर बैठाकर घोर वन में ले गये थे। इसी तरह तुम्हें अक्रूर रथ पर चढ़ाकर मधुवन ले जा रहे हैं। बस, थोड़ा-सा अंतर है तो यही कि वे अपने साथ नारी ले गये थे। इसी एक गुण में तुम उनसे उन्नीस ठहरते हो। अन्यथा किस बात में उनसे कम हो?'

गोपियों की दीन-दशा का एक और चित्र देखिये :

तुंभे गला दिनु जाहा होइलाणि
ताहा जाणन्ता नाँहि केहि।
तुंभ बिना तिनि लोकरे के अछि
जाणिमाकु नंद-कन्हाइ।
सते कि थरे बिजे हेंब एथिकि,
छाँमुरे तुंभर बसि शुणाइबु
दुःख-रत्नाकर पोथिकि ।।

गोपियां कह रही हैं : 'हे कृष्ण! तुम्हारे जाने के बाद हमारी जो दुर्दशा हो गयी उसे कोई नहीं जान सकता। इस त्रैलोक्य में तुम्हारे बिना हे नंद-कन्हैया! कौन है हमारा? सचमुच एकबार फिर यहाँ पधारो तो सही। देखो, तुम्हारे आगे बैठकर अपने इस दुःख-रत्नाकर (दुःख-सागर) की पोथी बाँचकर सुना देतीं अर्थात् हम तुम्हें अपना सारा दुःख सुना सकतीं और कौन है जो इसे सुन सकेगा?'

शं. पु.

भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

भक्तिसिद्धान्त सरस्वती का आविर्भाव माघ कृष्ण पंचमी, शुक्रवार सं० १९३१ (६ फरवरी, १८७४ ई०) को जगन्नाथपुरी में जगदीश-मंदिर के पास श्रीभक्तिविनोद ठाकुर तथा श्रीमती भगवती देवी के पुत्ररूप में हुआ था। पिता ने श्रीजगन्नाथ की पराशक्ति विमला देवी के नाम पर शिशु का नाम 'विमलाप्रसाद' रखा।

इनके जन्म के छह मास बाद श्रीजगन्नाथ का रथ-महोत्सव आया। उस वर्ष वह रथ श्रीजगन्नाथ-

देव की ही इच्छा से इनके घर के द्वार तक आकर रुक गया और जगन्नाथजी वहाँ तीन दिनों तक विराजते रहे। इस बीच अखण्ड कीर्तन-महोत्सव चलता रहा। चौथे दिन शिशु को श्रीजगन्नाथ का माला-प्रसाद तथा महाप्रसाद देकर अन्नप्राशन कराने के बाद ही रथ आगे बढ़ा। जन्म के दस महीने बाद बालक को साथ लेकर माँ राणाघाट (बंगाल) चली गयीं और वहीं इनका पालन-पोषण तथा प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा हुई। १८८५ ई० में पिता के साथ इन्होंने गौरांग पार्षदगण की जन्मस्थली कुलीन ग्राम, सप्तग्राम आदि स्थानों के दर्शन किये।

जब ये पाँचवीं कक्षा के छात्र थे तभी इन्होंने गणित तथा फलित ज्योतिषशास्त्र में अपूर्व प्रतिभा का प्रदर्शन किया। पिता ने इनकी रुचि देखकर उस समय के प्रख्यात पण्डित महेशचन्द्र चूड़ामणि द्वारा इनके लिए गणित एवं ज्योतिषशास्त्र की विधिवत् शिक्षा की व्यवस्था कर दी। इनकी लोकोत्तर प्रतिभा देखकर महाभागवत गुरुवर्ग इन्हें 'सिद्धान्तसरस्वती' नाम से पुकारने लगा।

१८९३ ई० में इन्होंने अध्ययन-हेतु कलकत्ता के संस्कृत कालेज में प्रवेश लिया। वहाँ इन्होंने वैदिक विद्वान् पं० पृथ्वीधर शर्मा से व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया। १८९७ ई० में इन्होंने कलकत्तास्थित 'भक्ति-भवन' में 'सारस्वत चतुष्पाठी' की स्थापना की। इस संस्था में गणित तथा ज्योतिष के अध्ययन की उत्तम व्यवस्था की गयी। इसके द्वारा इन्होंने 'ज्योतिर्विद्-बृहस्पति' आदि कई मासिक-पत्रिकाओं तथा ज्योतिषशास्त्र के कई प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन किया।

लोकविद्या आध्यात्मिक प्रगति में बाधक होगी, यह सोचकर इन्होंने संस्कृत कालेज की पढ़ाई बंद कर दी। इसके बाद १८९५ ई० में ये त्रिपुरा चले गये और वहाँ राज्याश्रय में रहकर 'राजरत्नाकर' ग्रंथ के सहकारी सम्पादक का कार्य करने लगे। यहीं राजा राधाकिशोर माणिक्य बहादुर ने राज्यकार्य देखने के लिए इन्हें त्रिपुरा से कलकत्ता भेजा, किन्तु इनका मन उसमें नहीं लगा। भक्ति-भावना उद्दीप्त होने से इन्हें महाराज ने १९०५ ई० में पूर्ण वेतन पर पेंशन दे दी जिसे इन्होंने १९०८ ई० तक स्वीकार किया। तदनन्तर ये सर्वत्यागी बन गये।

१८९८ ई० में ये पिता के साथ तीर्थयात्रा के लिए निकले। काशी, प्रयाग होते हुए गयाधाम के दर्शन किये। इसी क्रम में नवद्वीप-यात्रा के अवसर पर १८९८ ई० के शीतकाल में इन्हें श्री गौरकिशोर गोस्वामी नामक महाभागवत अवधूत परमहंस के दर्शन हुए। उनके चरणों में स्वयम् को समर्पित कर इन्होंने दो वर्षों बाद १९०० ई० में भागवती दीक्षा ले ली और तबसे ये 'भक्तिसिद्धान्त सरस्वती' हो गये।

१९०० ई० के मार्च महीने में इन्होंने पिता के साथ बालेश्वर होकर रेमुणा में क्षीरचोरा गोपीनाथ-जी के दर्शन किये और भुवनेश्वर होकर जगन्नाथ-पुरी आये। इसी समय इनका पुरीधाम से घनिष्ट सम्पर्क हुआ। यहाँ रहते हुए १९०२ ई० में भक्तों के अनुरोध पर स्थायी निवास की व्यवस्था-हेतु इन्होंने सानासन मठ में श्री गिरधारी आसन का सेवा-भार ग्रहण किया। कालक्षेप के लिए उक्त कार्य से समय निकाल कर ये श्रद्धालुओं को श्रीचैतन्य-चरितामृत की कथा भी सुनाते रहे।

कुछ दिनों बाद श्रीभक्तिविनोद के आदेश से ये नवद्वीप चले गये। वहाँ इनकी भेंट महात्मा वंशीदास तथा चरणदास लालाजी नामक दो प्रसिद्ध महात्माओं से हुई। यहाँसे १९०४ ई० की जनवरी में ये पुनः तीर्थाटन के लिए निकले। पहले सीताकुण्ड तथा चन्द्रनाथ की यात्रा की। तदनन्तर २३ फरवरी १९०५ को दक्षिण भारत की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। सिंहाचल, राजमहेन्द्री, मद्रास, पेरम्बुपुर, तिरुपति, कांजीवरम्, कुंभकोणम्, श्रीरंगम्, मदुरा प्रभृति स्थानों का दर्शन कर कलकत्ता होते हुए ये मायापुरी पधारे। वहाँ रहते हुए १९०५ ई० से इन्होंने महाप्रभु की वाणी का प्रचारकार्य आरम्भ किया। इसके बाद वैष्णव-

सभा-सम्मेलनों में उपस्थित होकर भागवत-मत तथा चैतन्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन एवं प्रचार इनकी जीवनचर्या बन गयी। भक्तिग्रन्थों के प्रचारार्थ इन्होंने कृष्णनगर, कलकत्ता तथा मायापुर में मुद्रणालयों और भारत तथा विदेशों में श्री चैतन्य गौड़ीय मठ के ६६ प्रचार-केन्द्रों की स्थापना की। इनकी वैष्णव-निष्ठा का अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है। आजीवन श्रीराधाकृष्ण के भक्तिरस में निमज्जन का दिव्यानन्द प्राप्त करते हुए पौष कृष्ण चतुर्थी बृहस्पतिवार १६३७ ई० में रात्रि के अंतिम प्रहर में इन्होंने श्रीधाम मायापुर में श्रीराधा-गोविन्द-मिलिततनु गौर-सुन्दर की अप्राकृत नित्यलीला में प्रवेश किया।

इनकी उपदेशावली के कुछ कण नीचे दिये जाते हैं :

(१) जीव की बहिर्मुख रुचि को बदलना ही सर्वापेक्षया दयालु का एकमात्र कर्तव्य है। माया के जाल से एक जीव की रक्षा कर सको तो अनंत-कोटि अस्पताल बनाने की अपेक्षा, वह अनन्तगुणा परोपकार का कार्य होगा।

(२) श्रीकृष्ण के अतिरिक्त विषयों का संग्रह करना ही हमारी मूल व्याधि है।

(३) सरलता का दूसरा नाम ही वैष्णवता है, परमहंस वैष्णवगण सरल होते हैं, इसलिए वे ही सर्वोत्कृष्ट ब्राह्मण हैं।

(४) श्रीहरिनाम - ग्रहण और भगवान् का साक्षात्कार दोनों एक ही हैं।

(५) जिनमें स्वतः भगवत्सेवा की वृत्ति जागृत नहीं हुई, उन सब लोगों का संग कितना ही प्रीतियुक्त क्यों न हों, परित्याग करना चाहिए।

शं. पु.

भगवानदास गोस्वामी

भगवानदास गोस्वामी पूर्व-बंग के ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे वयस्क होने पर समुद्रतट पर झोपड़ी बनाकर हरिनाम का जप करते रहे। बाद में भगवान् के आदेश से गंगामाता-मठ (पुरी) में आकर इन्होंने श्री राधामूर्ति की स्थापना की। कालान्तर में ये उस मठ के महन्त भी बन गये। यहाँ इन्होंने मोहनराय नामक श्रीविग्रह की प्रतिष्ठा की।

इनसे गंजाम के धराकोट-नरेश श्रीरामचन्द्र-सिंह देव ने दीक्षा ली थी। इन्होंने गंजाम के गंजा गाँव में एक मठ की स्थापना कर श्रीगौर नित्यानन्द की मूर्ति भी स्थापित की थी। अन्त में ये वृन्दावन चले गये और वहीं निर्वाण-लाभ किया।

अ. प.

भगवानदास बाबाजी

भगवानदास बाबाजी का समय उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध है। इनका जन्मस्थान उड़ीसा में कहाँ था, इसका पता नहीं। ये बचपन से ही चैतन्य की प्रेमा-भक्ति में निमज्जित रहते थे। घूमते-घूमते वृन्दावन पहुंचे और वहाँके सिद्ध कृष्णदास नामक एक संत के शरणापन्न हो गये। गुरु से दीक्षा प्राप्तकर उन्हींके आदेश पर ये अंबिका कालना (जिला बर्दवान) चले गये और वहाँ श्रीनाम-यज्ञ-विग्रह की स्थापना की। इनके चमत्कारों से आकृष्ट हो अनेक भक्त वहाँ पहुँचने लगे।

एक दिन बर्दवान के महाराज भी दर्शनार्थ आये। बाबा अचानक चीखे : 'मारो, मारो, भगा दो इसे।' सब अवाक् रह गये! महाराज चुपचाप खड़े देखते रहे। बाबा ने आँखें खोलीं और पूछा : 'आप कब पधारे? प्रसाद लिया?' महाराज ने उनसे कुछ ही देर पूर्व उनके उस व्यवहार का कारण पूछा। बाबा ने कहा : 'वृन्दावन में सेवा कर रहा था, बकरी आ गयी। उसे भगा रहा था। आप तो अतिथिदेव हैं।'

महाराज ने पत्र लिखकर पता लगाया तो बात सच निकली।

इनके विषय में ऐसी अनेक अलौकिक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रचलित हैं। जब ये पुरी में रहते थे तो श्रीमंदिर से इनके लिए महाप्रसाद लाया जाता था। पहले एक सर्प वहाँ आता और कुछ लेता, तब बाबा

प्रसाद ग्रहण करते। एक दिन शिष्य ने उस सर्प को लकड़ी से बाहर फिकवा दिया। बाबा अत्यन्त दुःखी हुए। बोले : 'ये तो मेरे नाम-ब्रह्म के बड़े भाई अनन्त-देव हैं। इनके प्रति इतनी निष्ठुरता क्यों ?'

इस प्रकार बाबा सभी जीवों के प्रति करुणापूर्ण भाव रखते थे। नाम-ब्रह्म की धारा के व्यापक प्रसार में बाबा का प्रयास अविस्मरणीय रहेगा। इनकी कोई रचना नहीं मिलती।

शं. पु.

भागीरथी रणा

भागीरथी रणा की जीवनविषयक कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। 'संगीत-सागर' में इनके कुछ कृष्णभक्तिव्यंजक गीत संगृहीत हैं। 'चौपदी-रत्नाकर' (पाण्डुलिपि) में भी इनकी कई रचनाएँ मिलती हैं।

शं. पु.

भिखारीचरण पटनायक

भिखारीचरण पटनायक का जन्म १८७७ ई० में हुरासाही (जिला कटक) की केंद्रपड़ा तहसील में हुआ था। पिता का नाम साधुचरण महांती और माता पितेई देवी थीं। मामा ने इन्हें गोद ले लिया था। ये वकालत पासकर कटक में वकील बन गये। बाद में इनमें स्वदेशी तथा कुटीर-शिल्प के प्रति रुचि जागृत हुई। साहित्य के प्रति विशेष अनुराग था ही। १९०१ ई० में इनके प्रथम नाटक का प्रकाशन हुआ। १९२१ में इनके लिखे भजनों और गीतों का संकलन 'गीत-लहरी' नाम से प्रकाश में आया। इसके बाद 'पुरुषोत्तमदेव', 'सुशीला' आदि अनेक नाटक प्रकाशित हुए। कटक में 'साहित्य-भवन' की स्थापना में इनका प्रमुख योगदान रहा है।

इन्होंने दीर्घकाल तक 'पुअर इण्डस्ट्रीज काटेज' में काम किया। अंग्रेज सरकार ने इनकी सेवाओं के लिए इन्हें रायसाहब, रायबहादुर आदि की सम्मानित उपाधियाँ दी थीं। उत्कल विश्वविद्यालय ने इन्हें मानद 'डाक्टरेट' की उपाधि प्रदान की थी। इनका देहावसान १९६२ ई० में हुआ। इनके लिखे भक्तिगीत आज भी उड़ीसा में अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

श्री जगन्नाथजी के पतितपावन रूप से आकृष्ट होकर ये लिखते हैं :

जय पतित-पावन !
तब पतितपावन बाना करि दरशन,
धन्य पतित-जीवन धन्य पतित-नयन।
पतित-रोदन शुणि प्रभु जनार्दन,
पतित-पावन मूर्ति करिछ धारण ॥

बसि नीलाचले लगाइछ केते आयोजन
ब्राह्मण चाण्डाले अन्न एकत्रे भोजन।
जगत भितरे एहि अपूर्ब घटण,
सर्बे निर्बिकार करि श्रीमुख-दर्शन ॥

ज्ञानी, ध्यानो पुण्यबंत जन आगमन।
(देखि) विस्मृत हेल कि प्रभु पतित-मोचन ॥

'हे पतितपावन ! आपकी जय हो ! आपके इस पतितपावन वेश का दर्शन कर पतितजनों के नेत्र धन्य हो गये, पवित्र हो गये। हे प्रभु ! जनार्दन ! आपने पतितों का रोदन सुनकर यह पतितपावन मूर्ति धारण की है। नीलाचल-धाम (पुरी) में विराजमान होकर आपने यह आयोजन कर रखा है कि ब्राह्मण, चाण्डाल सब एकत्र होकर भोजन कर रहे हैं। जगत् में यह कितनी अद्भुत बात है ! ये सब निर्विकार भाव से आपके श्रीमुख का दर्शन कर रहे हैं। ज्ञानी, ध्यानी, पुण्यवान् लोगों का अहर्निश आगमन होता है। उन्हें देखकर क्या आप पतित का उद्धार करना ही भूल गये ?

भीम (सेन) दास

भीम(सेन)दास का जन्म पुरी के समीपस्थ मलीपाड़ा नामक गाँव के एक कायस्थ-परिवार में हुआ था। पिता का नाम चन्द्रशेखर महापात्र और माता का वृन्दावती था। इन्होंने अपनी रचना 'भक्ति-रत्नावली' का निर्माणकाल शक सं० १६१४(१६९२ ई०) लिखा है, अतः यहीं इनका उपस्थिति-काल माना जा

सकता है। इनकी माता स्वयं कवियित्री थीं। उनकी एक कृति के अनुसार दीक्षा लेने के बाद ये 'भीमसेन महापात्र' से 'भीमसेन दास' नाम से संबोधित किये जाने लगे। रचनाओं में कहीं-कहीं इन्होंने अपने को 'शिशु-भीमदास' भी लिखा है, किंतु यह शब्द इनके नाम का अंग न होकर वैष्णव-सुलभ विनम्रता का द्योतक प्रतीत होता है।

जगन्नाथजी का सान्निध्य प्राप्त होने तथा भक्त-परिवार में जन्म लेने के कारण इनका मन प्रारंभ से ही भगवदुन्मुख था। दीक्षा के बाद से तो ये साधन-भजन में ही लग गये।

इनकी दो रचनाएँ मिलती हैं: 'भक्ति-रत्नावली' तथा 'हरिभक्ति-चन्द्रोदय'। इनमें से प्रथम सरल उड़िया में लिखी गयी है और द्वितीय विष्णुपुरी की रचना का नवाक्षरी वृत्त में अनुवाद है। ये दोनों कृष्णभक्ति से सम्बन्धित कृतियाँ हैं। इनकी गणना उड़िया के अच्छे कवियों में होती है।

शं. पु.

भीमा धीवर

भीमा धीवर कटक के उत्तरी भाग में जाजपुर के आस-पास कहीं रहते थे। वे धीवर कुल में उत्पन्न होने के कारण अपने को सदा 'जाति रे मुं हीन' (हीन जाति) कहा करते थे।

इन्होंने 'कपटपाशा' नामक काव्य की रचना महाभारत के कथानक के आधार पर की है। शकुनि ने प्रवंचनापूर्ण पासा खेलने के लिए विशेष प्रकार की गोटियाँ बनवाकर युधिष्ठिर को क्रीड़ा के लिए आमन्त्रित किया था जिसमें दुर्योधन ने युधिष्ठिर को हरा दिया। उस खेल में युधिष्ठिर ने द्रौपदी को भी दाँव पर लगा दिया और हार गये। दुःशासन द्रौपदी को नंगा करने चला, तब कृष्ण ने उसका चीर बढ़ाया। इस प्रकार ग्रन्थ के समापन तक आते-आते कवि ने जगन्नाथजी का गुणगान आरम्भ कर दिया है। इसी कारण यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ। भक्तकवि के लिए कृष्ण और जगन्नाथ एक हैं। उदाहरणस्वरूप इनकी रचना से एक पद उद्धृत है:

शुण हे सुजनजन मुँ छार पामर हीन।
करिबाकु योग्य निकि महाभारत॥
अर्थंकु अर्थ मिशाइ पदकु पद पकाइ।
छन्द प्रतिबन्धरे मुँ कलइ गीत॥
साधुजने न घेन दोष।
कहें हीन भीमा कृष्ण चरणे आश॥

'हे सुजन जन! मैं तो क्षार, पामर, हीन हूँ। महाभारत का गान करने के अयोग्य हूँ। अर्थ से अर्थ मिलाकर पद से पद जोड़कर छन्दों की जुगत बिठायी है। हे साधुजन! इसमें दोष ढूँढ़ने से क्या होगा? मैं तो हीन भीमा हूँ, पर मुझे कृष्णचरणों की ही आशा और भरोसा है।'

अपनी लज्जा-रक्षा में असमर्थ द्रौपदी क्रोध में विशेष मुखर हो जाती है और पाण्डवों को सम्बोधित करती हुई कहती है:

द्रौपदी बोले आहे पावनि धिक तुंभर प्रण।
निर्लंज होइ जीअ किपाँइ पांडव पाँच प्राण॥
लज्जा तुंभर नाहिं मुखर जणे रखिल नाहिं।
तुंभकु आश्रा करिण मुंहि अनाथ होइलइं॥

'द्रौपदी कहती है कि तुम्हें धिक्कार है। तुम पाँचों पाण्डव निर्लज्ज होकर किसलिए जी रहे हो? तुममें से किसीने अपने मुँह पर लज्जा नहीं रखी। मैं तुम्हारे सहारे पर निर्भर होकर आज अनाथ हो गयी हूँ। मेरी लज्जा किसीने नहीं रखी।'

शं. पु.

भूपति पण्डित

भूपति पण्डित के जन्म के बारे में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। अंतस्साक्ष्य से इतना ही पता चलता है कि ये 'पश्चिमा' थे। उड़ीसा में 'पश्चिमा' मध्यप्रदेश और विशेषकर छत्तीसगढ़ इलाके से आनेवाले यात्री को कहते हैं। बहुत सम्भव

है, भूपति हिन्दीभाषी क्षेत्र से श्रीक्षेत्र आये हों। वह दिव्यसिंह देव का समय था। राजा ने इन्हें आदर दिया, अतः ये यहीं बस गये। इनके गुरु कोई चैतन्यदास थे जिनसे इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। गोपिका-भक्तिमार्ग में इनकी प्रगाढ निष्ठा थी। इन्होंने अपनी रचनाओं में सर्वत्र गोपियों को ही भक्तिमार्ग का श्रेष्ठ साधक बताया है।

कहते हैं, कुछ लोगों ने महाराज दिव्यसिंह देव के सामने चुगली कर दी कि 'भूपति तो ठग कवि है। इधर-उधर कई ग्रन्थों से चुराकर रचनाएँ राजा के आगे पढ़ देता है और प्रशंसा-भाजन बन जाता है।' इसपर इन्हें चुनौती दी गयी कि यदि आपमें कवित्व है तो भागवत से बहिर्भूत कोई रचना करके दिखाओ। इसके उत्तर में इन्होंने 'प्रेम-पंचामृत' नामक लघुकाव्य लिखा। उसमें वृन्दावती-हरणसम्बन्धी एक प्रसंग समाविष्ट करके कृष्णभक्तिसम्बन्धी कुछ मौलिक उद्भावनाओं के साथ उसे राजा के आगे प्रस्तुत किया। उसे पढ़कर पण्डित लोगों ने भूपति का लोहा मान लिया। जो हो, भक्त का मान पुनः लौट आया, यही सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी।

भूपति पण्डित का 'प्रेम-पंचामृत' राधाकृष्ण-भक्ति को लेकर लिखी गयी प्रसिद्ध रचना है। इसमें गोपी-भेद, कृष्ण-भक्ति के स्तर, मान-भंजन, कृष्ण की लीला आदि का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया गया है। भूपति राधाकृष्ण-प्रेम का आदर्श कामनारहित प्रेम मानते हैं अर्थात् पूर्णकाम होकर ही राधाकृष्ण को पाया जा सकता है। इसी सन्दर्भ में गोपियों में गर्व होता है तो कृष्ण उसे खण्डित करते हैं। यह सब अत्यन्त सरल और सहज भाषा में कहा गया है।

इनके रचे 'उद्धव-चौंतीसा, और 'भूपति-चौंतीसा' दो अन्य ग्रन्थ भी मिलते हैं। 'उद्धव-चौंतीसा' में अनेक कवित्वपूर्ण उक्तियों के माध्यम से उद्धव के ज्ञान और योग का उपहास तथा गोपियों की प्रेम-भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। इस चौंतीसा में राधाकृष्णतत्त्व के वर्णन की शैली अनूठी है। गोपियाँ कहीं कृष्ण की भर्त्सना करती हैं, कहीं उन्हें गालियाँ देती हैं, पर सबके अन्तस् में हैं गम्भीर अनुराग।

यहाँ उसी अनुराग-भावना का व्यंजक एक पद उद्धृत किया जा रहा है :

योग साध बोलि बोल हें उद्धव !
यदुनाथ आज्ञां देले।
जाणिलु कुबुजा योगेश्वरी,
तांकु योगमार्ग शिखाइले।।
उद्धव हे ! यदुनाथ बड़यति।
योग शिखिलु एका रात्रे,
ता तहुं षोल सहस्र युवती।।

'हे उद्धव ! आप योगसाधना करने के लिए हमें कह रहे हैं। क्या ऐसी आज्ञा तुम्हें यदुनाथ ने स्वयं दी है ? हम अब समझ गयी हैं कि कुब्जा सच्ची योगेश्वरी है। उसने कृष्ण को योगमार्ग सिखा दिया। यदुनाथ भी बहुत बड़े योगी हो गये। उन्होंने एक ही रात में ऐसा योग सीखा, तभी तो उनकी सोलह सहस्र युवतियाँ हैं।'

शं. पु.

मणि दास

मणि दास पुरी के ही रहनेवाले थे। सपरिवार जैसे-तैसे गुजारा कर लेते थे। ये प्रभुभक्ति में मगन रहते थे और प्रतिदिन प्रातः-सायं श्रीमंदिर अवश्य जाते थे। वहाँ गरुड़-स्तंभ के पास खड़े हो नारियल की 'टोकसी' बजाते, भाव-विह्वल हो नाचते लगते और भजन गाकर लौट आते।

एक दिन ये नियमानुसार जाकर प्रभु का गुणगान करने और भावमग्न होकर नाचने लगे। इन्हें होश ही न रहा कि पास में कोई पण्डा बैठा पुराण बाँच रहा है। पण्डे ने संकेत भी किया, पर इन्हें कोई पता न चला। अन्ततः पण्डा क्रुद्ध हो गया। इन्हें डाटते हुए बोला : 'मूढ़ ! विष्णुपुराण के पास नाचता

है, उछल-कूद कर रहा है।…' कहते हुए उसने इन्हें धक्का दिया। टोकसी हाथ से छूटकर गिर पड़ी और स्वयम् मणि दास भी धक्का सह न पाने से गिर पड़े। फिर झाड़-झूड़कर ये किसी तरह खड़े हुए। सारे श्रोता देखते ही रह गये। फिर इन्होंने रुआंसे-से होकर जगन्नाथ की ओर देखते हुए वहाँ से यह कहते चले आये कि 'ले संभाल ये टोकसी! इतने लोगों के आगे गिरा दिया रे जगा!'

मंदिर में प्रभुसेवा का कार्य चलता रहा, मणि दास घर में आकर पड़े रहे। अन्ततः प्रभु स्वयं भक्त के पास आये, प्रेम से मनाते हुए उसका सम्मान किया, अपने हाथों उसे प्रसाद खिलाया और महाराज गजपतिको स्वप्न में आदेश दिया कि 'भक्तों को उनके कार्यों में किसी प्रकार की बाधा न दी जाय।' महाराज ने गरुड़-स्तंभ से पुराण-पण्डा को हटवा दिया और उसकी व्यवस्था लक्ष्मी-मंदिर के आगे करवा दी। भक्त मणि दास की महिमा का बखान आज भी होता है।

शं. पु.

मधु दास

मधु दास का कोई परिचय प्राप्त नहीं है। राधा-कृष्ण-केलिसंबंधी इनके स्फुट पद मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि ये मधुरभाव के साधक थे। यहाँ इनका एक पद उद्धृत है।

राधा कृष्ण के विरह में उत्कण्ठित हो कह रही हैं:

के देब श्यामबंधुकु आणि लांच,
देबि ताकु नास बसणी गो।
निरेखी ताहार बदन ठाणि,
ओष्ठ-सुधा देह रखन्तु किणि॥
मो उर शेजरे शुअंति आणि,
शेष होइजिबा जाए रयेणी।
जेतेबेलु मो पाशरु मेलाणि,
दिअन्ति गण्डे चुंब टाणिगो॥
ए बचन गोर सखिर शुणि
तोषे दास मधु ए गीते भणि॥

'श्यामसखा को लाकर मुझे जो देगा उसे मैं नाक का बेसर देकर पुरस्कृत करूँगी। उनके (कृष्ण के) वदन की ठउनि देखकर…अब वे होंठो का सुधारस देकर खरीद लें मुझे। भला कोई उन्हें लाकर मेरे हृदय की सेज पर लिटा जाता, रात उसीमें बीत जाती। जब वे मेरे पास होते, गण्डस्थल पर कसकर चुंबन देती!' इस प्रकार कहकर सखी के आगे राधा तनिक आश्वस्त होती हैं। (कवि) दास मधु गीतों में उसी स्थिति का गान कर रहे हैं।'

शं पु.

मधुसूदन दास

मधुसूदन दास को जगन्नाथदास का शिष्य बताया जाता है और तेन्तुलियापड़ा की पदनपुर-गादी को उनका साधना-पीठ माना जाता है। सोलह शिष्यों की परंपरा में ये 'मधुमती' के रूप में मान्य हैं। मंजरी-सेवा में इन्हें वाद्ययंत्र बजाकर गीत गाने का दायित्व दिया गया है। इनके विषय में कोई और तथ्य ज्ञात नहीं है।

शं. पु.

मर्दराजराय सिंह

मर्दराजराय सिंह का कोई परिचय प्राप्त नहीं है। किंतु इनके राधा-कृष्णसंबंधी स्फुट पद मिलते हैं। यहाँ एक पद उद्धृत है जिसमें कृष्ण की राधा के दर्शन की उत्कण्ठा चित्रित है:

सुंदरी नेला चित्त मोहिरे।
सजनी कटे कर देह रमणी वर,
मंडि जे आसु थिला महीरे॥
मंद-मंदरे हसि मो नेत्र गला तोषिरे,
चंचलापांग केणि चाहिंरे।

आह से रूप शोभ नयन मन लोड़ा,
बचने के पारिब कहिरे॥
देखिला बेलुं तार लाबण्य कलेबर,
हेलि मुं तार किणा देहीरे।

कहिबा भंगि रहि आसिबा भंगि काहिं,
नाहि नोहिब थिब नाहिंरे।

कहइ मर्दराज शुण नागर ब्रज,
रमणी-शिरोमणी सेहिरे॥

'उस सुंदरी ने मेरे चित्त को मोहित कर लिया। अपनी सखी के हाथों में हाथ डाले धरती पर वह चली जा रही थी। अपनी मंद-मंद मुस्कान से मेरे नेत्रों को तुष्ट कर दिया। अपने चंचल नेत्रों के कोने से देखकर मोहित कर लिया। अहा! आज मन नेत्रों की राह से उसी रूप और शोभा को चाह रहा है। भला शब्दों द्वारा उसे कोई व्यक्त कर सका है? जब से उसके लावण्यमय कलेवर को देखा, मैं तो उसका क्रीतदास बनकर रह गया। कहने की भंगिमा से कुछ भी तो नहीं कह पाया। उसके सरीखी नागरी! मर्दराज कहते हैं कि हे ब्रजनागर! वैसी रमणी-शिरोमणि न कहीं थी और न होगी।'

शं. पु.

महादेव दास

महादेव दास का जन्म शूद्रकुल में हुआ था। इन्होंने स्वयम् को 'अपण्डित' कहा है। ये पीतांबर-दास के पूर्ववर्ती थे।

इनकी प्रसिद्ध रचना 'विष्णुकेशरी पुराण' है। इसमें विष्णु की महिमा तथा प्रह्लाद की भक्ति का प्रतिपादन है। इन्होंने इसी शैली पर कुछ पुराणों की रचनाकर विष्णुतत्त्व का प्रचार किया। इनके लिखे 'कार्तिक-माहात्म्य' में कृष्ण की स्तुति तथा गुणगान किया गया है। इसीलिए आज भी कार्तिक के महीने में भक्तलोग श्रद्धापूर्वक उसका पारायण करते हैं। इन्होंने जगन्नाथ महाप्रभु की आज्ञा से 'मार्कण्डेय पुराण' की रचना की है। यहाँ इनका एक पद उद्धृत किया जाता है:

जगन्नाथ स्वामी नीलकंदर निवास,
ताहांकु सेबिलि मुहिं महादेव दास।
तेणु सरस्वती देवी दया कले मोते,
पवित्र पुराण मोर प्रसरिला चित्ते।
जगनाथंक आज्ञारे कहिबि जा मुहिं॥

'जगन्नाथ स्वामी का निवास नीलकंदरा में हैं। मैं महादेव दास उन्हींकी सेवा करता रहा। अतः सरस्वती ने मुझपर दया की और पवित्र पुराण मेरे द्वारा लिखा जा सका। स्वयं जगन्नाथजी की आज्ञा से ही इसका गायन हो सकेगा।'

इसके अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत में रचित 'नीलाद्रि-महोदय' का भी उड़िया में सरल रूपांतर किया है। यह ग्रंथ जगन्नाथजी की भक्ति एवं पूजा-विधि के विधान के संबंध में एक प्रामाणिक कृति मानी जाती है। इसे उड़िया में रूपान्तरित करके इन्होंने सर्वजनसुलभ कर दिया और स्वयं भी लोकप्रियता प्राप्त की है।

शं. पु.

महेन्द्रसिंह सामन्त

महेन्द्रसिह सामन्त पुरी जिले की खंडपड़ा रियासत के राजकुमार थे। इनका जन्म १८७८ ई० में हुआ था। इन्होंने युवावस्था में अनेक गीतों की रचना की थी जिनमें 'वृन्दावनचंद्र-विनोद' को अधिक ख्याति मिली। इसमें अक्षरक्रम से 'अ' से 'क्ष' तक आरंभ होनेवाले ३४ गीत संकलित हैं। इनकी रचना से एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है।

एक सखी राधा से कह रही है:

नब नीप-कुंजे नटबर बिजे रे नारी राजे!
निखिल तेजि तो स्मरणे रसन्ति,
नीरज-नयनु नीर बरषन्ति,
नीरस बदन खेदे न हसन्ति,
नाहान्ति सखी समाजे रे॥

नाग-गमने अविलंब,
निश्चय मानसे कर अबलंब,
निशा अर्ध हेला हेजा नहु लब,
निर्मल शरणी साजे रे॥

नीलमणि जिणि झलि शाली तनु
निशाकर रजे गंडिअछि कान्हु ।
निशित नाराच प्रहारे अतनु,
निंचित पुलक पुंजरे ॥

न्यस्तकर तोषे मस्तके मल्लीलि,
नितुल निचोल दुकूल बल्लीकि ।
निज अंगे घेनि विरच चालिकि,
नृप सुत तोते भजे रे ॥

'हे सखी ! देख, नवकदंब के कुंज में वे नटवर विराजमान हैं। वे सबको छोड़ तेरा ही स्मरण करने में रस पाते हैं। उनके पद्मनेत्रों से नीर बरस रहा है, बदन नीरस हो रहा है, हास जरा भी नहीं है। वहाँ गमन कर, मन में उन्हींका अवलंब कर। अब देख, आधी रात होने आयी। देख, कंदर्प ने बाणों के प्रहार से रोमांच भर दिया है। मस्तक को मल्लिका से सुशोभित कर, दुकूल-सज्जित होकर अपने अंग को सुंदर चालयुक्त कर आगे बढ़। नृपसुत तुम्हारे इसी दृश्य का भजन कर रहा है।'

शं. पु.

महेश्वरराय गोस्वामी

महेश्वरराय गोस्वामी का जन्म धनंजयपुर में हुआ था। गंगामाता-मठ के इतिहास से पता चलता है कि ये पहले स्मार्त्त ब्राह्मण थे। अपने पितृ-पुरुषों का तर्पण करने श्रीक्षेत्र में आये थे। यहाँ गंगमाता का दर्शन और उपदेश-लाभ कर इन्होंने स्मार्त्तमत त्यागकर अष्टाक्षरी गोपालमन्त्र ग्रहण कर लिया। इन्होंने पुरी के स्वर्गद्वार पर भजन-कीर्तन कर बहुत कम समय में सिद्धि प्राप्त की और गंजाम जिले में शुद्ध-भक्ति का प्रचारकर प्रचुर कीर्ति अर्जित की।

अ प.

माधव महाराज

माधव महाराज का जन्म सं० १९०३ मार्गशीर्ष तृतीया को बंगलादेश के फरीदपुर जिले के कोचनपाड़ा गाँव में हुआ था। इनके पिता निशिकान्त बन्द्योपाध्याय एवं माता शैवालिनी देवी थीं। बचपन में ही पितृ-वियोग हुआ, माता के उपदेश से इन्होंने रामायण, महाभारत, गीतादि कण्ठस्थ किये। कठोर संयम का पालन करते हुए इन्होंने समाजसेवा को ही अपना जीवनलक्ष्य बना लिया। कहते हैं, इन्होंने स्वप्न में ही नारद से दीक्षा ली थी, पर स्वप्न के बाद दीक्षा भूल गये और फिर हरिद्वार और हिमालय में जाकर तपश्चर्या करने लगे। कुछ दिनों बाद गुफा में से दैववाणी हुई : 'घर जाओ, तुम्हें उधर ही गुरु मिलेंगे।'

फलतः ये हरिद्वार लौट आये। वहाँ किसी सम्मान्य व्यक्ति द्वारा दत्तक (गोद) लेने का प्रस्ताव आया, पर इन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया और वहाँसे कलकत्ता पहुंचे। वहाँ श्रीचैतन्य-मठ के प्रतिष्ठाता प्रभुपाद का दर्शन करने के बाद इन्होंने १९२७ ई० में श्रीराधाष्टमी के दिन २४ वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण की। इनका पितृप्रदत्त नाम था 'हेरम्बकुमार बन्द्योपाध्याय', दीक्षा के उपरान्त नाम पड़ा 'हयग्रीव ब्रह्मचारी'।

तदनन्तर इन्होंने पुरी में आकर वहाँके टोटा गोपीनाथ मठ में श्रीमद् भक्तिगौरव वैखानस महाराज से संन्यास लिया। तभीसे ये 'माधव महाराज' हुए। इन्होंने जीवन में अनेक भक्तिमूलक तथा समाजोन्नतिपरक कार्य किये जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

१. पूर्व में गौहाटी, उत्तर में वृन्दावन, पश्चिम में चण्डीगढ़ तथा दक्षिणमें हैदराबाद में प्रचार-केन्द्रों की स्थापना।
२. निःशुल्क संस्कृत-शिक्षा के लिए प्रतिष्ठानों की स्थापना।
३. विश्वधर्म के तुलनात्मक अध्ययन के लिए पाठागार-निर्माण।
४. प्राथमिक एवं उच्च माध्यमिक शिक्षा-केन्द्रों की स्थापना।

५. दातव्य चिकित्सालय की स्थापना।
६. कई शाखा-मठों की स्थापना।
७. बारह वर्षों के सुदीर्घ प्रयास से पुरी के गौड़ीय मठ का उद्धार।

२७ फरवरी १९७९ ई० मंगलवार को प्रातः नौ बजे कलकत्ते में इनका देहावसान हुआ।

अ. प.

माधवी दासी

चैतन्य महाप्रभु ने उड़ीसा में जो भक्तिधारा प्रवाहित की, उसमें 'पंचसखा' ही नहीं, अन्य भी अनेक स्रष्टा अवगाहन कर धन्य हुए। चैतन्य का श्रीक्षेत्र-निवास बहुत लंबा था। उस अवधि में जो भी उनके संपर्क में आया, उनके चुंबकीय व्यक्तित्व से बदल गया। राजा से लेकर रंक तक सभी उस रंग रँग गये। इन्हीं लोगों में 'माधवी दासी' का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है।

इनका जन्म वेण्टकार ग्राम (जिला पुरी) में हुआ था। इन्हें स्वयं महाप्रभु ने दीक्षा दी थी। माधवी दासी महाप्रभु चैतन्य की अनुयायिनी थीं। इनके दो भाई थे मुरारि महांती और शिखी महांती।

एक दिन माधवी शिखी महांती को साथ लेकर श्रीचैतन्य के दर्शनों के लिए जा रही थीं। उन्होंने मुरारि को भी संग लेना चाहा, पर मुरारि तो कट्टर नास्तिक थे। वे बिगड़ उठे : "मैं किसी आदमी में ईश्वरत्व होने का विश्वास नहीं करता। आदमी-आदमी ही होता है, देवता नहीं। क्या करूँगा जाकर?' फिर भी माधवी ने स्नेहपूर्वक एकबार चलने का आग्रह किया तो लाचार हो उन्हें साथ जाना पड़ा।

महाप्रभु के पास पहुंचने पर भी मुरारि के मन की तिरस्कार-भावना ज्यों-की-त्यों बनी रही। किन्तु श्रीचैतन्यदेव ने उसकी ओर केवल मुस्कान बिखेरी। उसमें अंगीकार का स्नेह था, सदाशयता थी। फिर भी मुरारि का अवज्ञाभाव तिलभर भी कम नहीं हुआ। दर्शन कर तीनों लौट आये और रात में सो गये। किन्तु मुरारि अनमने होते जा रहे थे, उदासी घनी हो रही थी। अचानक नींद टूटी और वे चीख पड़े। माधवी और शिखी पास के कमरे से दौड़े आये। देखा तो मुरारि में सात्त्विक विकार दिखाई दे रहे हैं। वे अपनी सत्ता भूलकर कृष्णसत्ता में डूबते जा रहे हैं। माधवी का श्रम सार्थक हो गया। श्रीचैतन्य की करुणादृष्टि से एकबार में ही मुरारि बदल गये। आगे चलकर वे दीक्षा का अधिकार भी पा गये। यह था भक्तिमयी माधवी का अर्पण!

ये भगवद्भजन और उन्हींकी लीला-गायन में लीन रहतीं थीं। इनका जीवन-यापन एकदम सरल, निराडंबर था। ये आजन्म अविवाहिता रहीं। अपने श्यामघन की सेवा ही इनके जीवन का एकमात्र ध्येय हो गया। चैतन्य महाप्रभु ने इन्हें श्रीराधा-सखी के रूप में स्वीकार किया था। इनकी रचनाएँ बंगला, ब्रजबुली, उड़िया एवं संस्कृत चारों भाषाओं में मिलती हैं। इन्होंने संस्कृत में 'पुरुषोत्तम नाटक' लिखा है जो अब अप्राप्य है। इनके दो रससिक्त पद नीचे दिये जा रहे हैं।

उड़िया में लिखा गया इनके एक प्रसिद्ध भजन की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है :

(१)

चकानयन हे जगु जीवन श्रीहरि !
कातरे जाणाण करुछि छामु रे।
शुण प्रभु श्रुति डेरि।

• • •

मुँ छार निर्मांखी तुमर पण कु अयोग्य नारी॥
करुछि दइनि जोड़िकर बेनि शुण माधवी गुहारी॥

'हे सुंदर नेत्रोंवाले जगन्नाथजी! हे जीवन! हे श्रीहरि! कातर होकर आपके आगे अपना दुख प्रकट कर रही हूँ। आप जरा अपने कान इधर करके सुनें। आपने अहल्या, द्रौपदी, शबरी, पिंगला आदि का उद्धार किया।…कितनी कीर्ति है! मैं क्षाररूपा नगण्य नारी आपको सेवक होने के योग्य नहीं हूँ।

दोनों हाथ जोड़कर विनती कर रही हूँ कि करुणा करें।'

इनके रचे ब्रजबुली गीतों में से एक यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

(२)

राधामाधव बिलसइ कुंजक माँझ।
तनु-तनु सरस परस रस पीवइ,
कमलिनो मधुकर राज ॥
सचकित नागर कंपइ थर-थर,
शिथिल होइल सब अंग।
गदगद कहये शहभेल अदरश,
कब होयब तछु संग ॥

सोधनी चाँद बदन किये हेरब,
सुनब अमियामय बोल।
इह मझु हृदय तायकिये मेटब,
मोइ करब किए कोल ॥

ऐछन कतहु कलपइ माधव,
सहचरि दुरहि हास।
अपरुप प्रेंम विधादित अंतर,
कहतहिं माधवी दास ॥

शं. पु.

मानगोविन्द ओता

मानगोविन्द ओता उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे। इनका !और कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। इनकी दो रचनाएँ 'संगीत अष्टकाल' तथा 'मन-उन्माद चौंतीसा' प्रकाशित हैं। उन्हींमें से एक छन्द यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। यशोदा कृष्ण को जगा रही है :

उठरे धन हेलाणि दिन,
मठ न कर वनमालो रे !
बोलन मानि बुलिलु धन बन गलिरे,
श्रीअंगरें जाइबिब केते कंटा गलिये।
संग करिबाकु गोपसुत हेलें मेलिरे
चंपक लबंगलता छेनिकरु केलि रे ॥
बलराम वस्त्र किंपा पिधिछु बदलि रे
कालि काहा संगे धन कारिथिलु कलिरे।

एहा शुणि श्रीमुखरु उठे जृम्भा बली रे,
भणिले मानगोबिंद लुटि जाइ महीरे ॥

'हे मेरे जीवन-धन, वनमाली ! दिन उग आया, अब उठ, आलस न कर। मेरा कहा न मानकर तू बन-बन फिरता रहा, कितने काँटे पाँव में चुभ गये होंगे ! साथ करने के लिए ये गोप-ग्वाले मिले और चंपक, लवंगलता के संग क्रीड़ा करता फिरा। तू बलराम के वस्त्र क्यों पहने है ? कल किसके साथ कलह किया ? सुनकर श्याम को जम्हाई आने लगी। मानगोविन्द कह रहे हैं कि कृष्ण पृथ्वी पर लोट जाते हैं।'

शं. पु.

मार्कण्डेय दास

मार्कण्डेय दास के जीवनसम्बन्धी तथ्य सर्वथा अंधकाराच्छन्न है। केवल आविर्भावकाल के विषयमें एक बाह्य साक्ष्य प्राप्त है और वह है इनकी एकमात्र रचना 'केशव-कोइलि' की टीका, का जगन्नाथदास जैसे भक्त-शिरोमणि द्वारा किया जाना। इससे स्पष्ट है कि ये सोलहवीं शती से पूर्व के कवि हैं। अधिक से अधिक इन्हें जगन्नाथदास का समसामयिक कहा जा सकता है। किन्तु जगन्नाथदास के स्तर के भक्त के लिए अपने किसी समसामयिक की रचना पर टीका लिखना विश्वसनीय नहीं लगता। सभी वैष्णव भक्त-कवियों ने अपनी जाति-परम्परा की उपाधि त्यागकर भगवद्-शरणागतिसूचक 'दास' शब्द ग्रहण कर लिया था। अतः नाम के आधार पर इनकी जाति के सम्बन्ध में भी कोई अनुमान लगाना कठिन है।

इनकी एकमात्र तथा लोकप्रसिद्ध रचना 'केशव-कोइलि' गीतशैली में लिखी गयी है। उड़िया में कोयल को सम्बोधित करके विपुल साहित्य लिखा गया है। कृष्ण वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले गये हैं। माँ यशोदा उनके वापस आने की लम्बी प्रतीक्षा करती हैं। अन्ततः जब वे इस निष्कर्ष पर पहुँचती

हैं कि अब कान्हा लौटकर आनेवाला नहीं है तो उनका दुःख क्रमशः अन्दर ही अन्दर घनीभूत होने लगता है। उस स्थिति में वे धीरे-धीरे पुरानी स्मृतियों को उलटते-पुलटते कृष्णलीला के सारे रहस्य से परिचित हो जाती हैं। उनका ब्रह्मत्व, उनका लीला-हेतु, मथुरा-प्रस्थान आदि सारी बातों को हृदयंगम कर लेती हैं। फिर भी वे कृष्ण के विषय में अपनी मूलभूत संकल्पना बदल नहीं पातीं। चाहे कृष्ण का वसुदेवपुत्र या परात्पर ब्रह्म होना हो, वे माखन-मिश्री खाते कान्हा को स्मरणकर विकल हो उठती हैं। यही इन संबोधित गीतों की सबसे बड़ी विशेषता है।

'कोइलि'-परंपरा के ये गीत कृष्ण को उनके मथुरागमन से पूर्व विविध प्रकार की लीलाओं में उपस्थित करते हैं। 'केशव-कोइली' नामक इस रचना ने मार्कण्डेय दास को उड़िया-साहित्य में अमर बना दिया है। यह कृति चौंतीस पदों में रचित है। इनमें आद्यानुप्रास के साथ अन्त्यानुप्रास का भी सुंदर प्रयोग हुआ है। इन लघु अथच अतिसरल पदों में वात्सल्य रस की अनुपम व्यंजना हुई है। तभी तो यह रचना इतनी अधिक जनादृत हो पायी! इस शैली का अनुसरण कर अनेक परवर्ती भक्तकवियों ने संबोधित गीत लिखे हैं। यहाँ इसका एक पद उद्धृत किया जाता है।

यशोदा माता कह रही हैं :

कोइलि लो !
फलिबाकु मोर नाहि आश।
फलिबार फल गला बसुदेब पाश॥
लो कोइलि !

'रे कोयल! अब मेरे फलवती (सन्तानोत्पत्ति) होने की कोई आशा नहीं है। जो फल प्राप्त हुआ था, वह तो वसुदेव के पास चला गया। रे कोयलिया!'

शं. पु.

मुकुन्द देव

मुकुन्ददेव पुरी के गजपति महाराज थे। कवि-सूर्य बलदेव ने अपने गीत इनके नाम पर लिखे थे। इनकी स्फुट गीत-रचनाएँ ही प्राप्त होती हैं। एक गीत यहाँ प्रस्तुत हैं।

राधा सखी से कृष्ण के सम्बन्ध में कह रही हैं :

आखि आखि मेल काले गोटिजाक मोर,
पिठि करि गले पुणि आउ के काहार।

शठ पुरुषंकर मानस अगोचर,
निकर हेलाणि श्याम आने रसिबार।

कलि न थिलि मानस बोलि मुं तांकर,
कहिला बेलकु सखि, हेंति ऐते दूर।

श्रीमुकुन्ददेव क्षितिपति भाषिबार,
सतो मंति भुला श्याम प्रीति कि जुहार॥

'जब आँखों में आँख डाल देते हैं तो समूचे वे मेरे हो जाते हैं और पीठ फेरते ही कौन किसका रहता है? शठ पुरुषों का मन कौन जान सकता है? श्याम के मन को कौन पहचाने? मैंने तो उनके मन की थाह मापी ही न थी। हे सखी! मापने तक तो इतनी दूर हो गयी। राजा मुकुन्ददेव कहते हैं कि सती की मति भी भुला दे, ऐसी श्याम की प्रीति को को नमस्कार!'

शं. पु.

यदुमणि महापात्र

यदुमणि महापात्र का जन्म १७९५ ई० में आठगढ़ (जिला गंजाम) में हुआ था। बाद में ये नयागढ़ (जिला पुरी) में इटामारी के निवासी हो गये। ये फिर आजीवन इटामारी के सामन्त के आश्रय में रहे। जाति से बढ़ई थे। इनके रचे भक्तिगीतों और चौपाइयों का उड़िया में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका देहान्त १८६६ ई० में हुआ। इन्होंने रुक्मिणी-परिणय की कथा लेकर 'प्रबंध-पूर्णचन्द्र' नामक काव्य की रचना की थी। यह ग्रन्थ कल्पना-विलास के लिए प्रसिद्ध है। उड़ीसा में इनका नाम हास्य-रसिक एवं आशुकवि के रूप में

विख्यात है। 'यदुमणि-रहस्य' इनकी रचनाओं का संग्रह है। यहाँ इनकी रचना से दो पद उद्धृत हैं।

जगन्नाथजी के समक्ष कवि निराली भंगिमा से प्रार्थना कर रहे हैं। उन्हें गजेन्द्र-मोक्ष, बलि-वर-प्रदान, सुदामा का दारिद्र्य-निवारण तथा गोपियों के अंगीकार का स्मरण दिलाते हुए ये कहते हैं :

(१)

पातकि-मुकुटश्रेणी शिरोमणि यदुमणि,
मन तिले नेइ न पारिब।
एहा उद्धारणे जेबे,
चित्त देइ पार लबे,
तेबे सिना जाण बोलाइब,
हे नीलाचल-कलाकार।

सत कि ए मिछ,
नेल जाहा देल ताहा,
एथकु किपाइँ महा-
दातापणे पताका बंधिछ हे॥

'मैं तो पातकियों की मुकुटश्रेणी का शिरोमणि हूँ। मेरा मन तिलभर भी नहीं ले सकोगे। इसके उद्धार की यदि रत्तीमात्र इच्छा करोगे, तभी नीलाचल के कलाकार कहला सकोगे। तुम ही बताओ, मैं यह सच कह रहा हूँ या झूठ? तुमने तो जो भी दिया सो ले लिया। फिर महान् दाता होने की ऊँची पताका क्यों फहरायी है?'

अन्यत्र विह्वल होकर यदुमणि कहते हैं :

चका नयनकु तकारे मानस,
चका नयनकु तका।

'अरे मन! देख वे सुन्दर बड़ी-बड़ी आँखोंवाले वहाँ विराज रहे हैं। उन चकानयन (जगन्नाथ) की ओर देख।'

एक अन्य प्रसंग में राधा अपनी सखी से कह रही हैं :

(२)

मोहगति एका श्रीपति दूति रे!
नाहिँरे जीवन-धन, काहिँ रे प्रयोजन,
एहु गुरुजन जाति परे।
मानस नयन प्राण, करिछि मुं समर्पण,
दर्पण परि ताहुकु प्रीति रे॥

सहिगो मानापमान, सेहि सोदर समान,
महीपरि बहिअछि छाति रे।
तू जे बोलुअछु छाड़, मुँ जे करि अछि दृढ़,
से श्याम स्नेहकहु ए जगति रे॥

मान्धाता वदति रसे, बीस थिबि तांक पासे,
एहि बांछा मोर दिन-राति रे॥

'हे सखी! मेरी तो एक ही गति है कि श्रीपति की सेविका हूँ। उस जीवन-धन के बिना और किसी वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं। गुरुजन, जाति तथा पति किसीसे कोई काम नहीं। मन से, नेत्रों और प्राणों से मैं तो उन्हींको समर्पित हो चुकी। दर्पण की तरह साफ-साफ वे ही दिख रहे हैं। हे सखी! इस धरती की तरह मैं सारे मानापमान सह लूँगी। तू तो कहती है कि उन्हें छोड़, जबकि मैं उन्हें और भी दृढ़तापूर्वक थामे हूँ। इस जगत् में उन श्याम का प्रेम ही सब कुछ है। बस, रात-दिन उनके ढिग बैठी रहूँ, यही मन में वांछा है।'

शं पु.

यशोवंत दास

उड़ीसा के वैष्णव साधकों के 'पंचायतन' में चौथा नाम यशोवंत दास का आता है। इनके जीवन-परिचय के लिए 'चौरासी आज्ञा' ही एकमात्र आधिकारिक रचना मानी जाती है। वैसे कुछ तथ्य अच्युतानंद-रचित 'उदय-काहाणी' में भी उपलब्ध हैं। यशोवंत दास को अधिकांश विद्वान् चैतन्यदेव का समसामयिक मानते हैं।

इनके पिता का नाम जगु मल्लिक और माता का नाम रेखादेवी था। इनका जन्म क्षत्रिय-वंश में

माना जाता है। जगन्नाथदास आदि को ये अभिन्न सखा मानते थे। जीवन के प्रारंभ से ही इनमें उदासीन-भाव आ गया था और वर्षों तक तीर्थाटन करते रहे। ये पुरी में ही चैतन्यदेव के संपर्क में आये थे। जब दीक्षा लेकर अपने गाँव अढंग (जिला कटक) लौटे तो वहाँके जमींदार रघुराम इनकी प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए और इन्हें अपनी बहन ब्याह दी। फिर ये वहीं एक मठ स्थापित करके रहने लगे।

इनके संबंध में किंवदंती है कि श्रीचैतन्यदेव ने पनस (कटहल) का बीज लेकर जगन्नाथदास को दिया। उन्होंने उसकी पौध बना दी। बलरामदास ने डाल और पत्ते लगाये। यशोवंत दास ने उसे फलों से लाद दिया। इस प्रकार पंचसखाओं का संकेत-भाषा (संध्या-भाषा) द्वारा उड़ीसा में वैष्णव-धर्म के प्रचार में योगदान तथा दार्शनिक महत्त्व स्पष्ट किया गया है। ये कहते हैं कि 'इस विशाल बोधिद्रुम के नीचे मुझे ज्ञान प्राप्त हुआ है अर्थात् भक्ति की प्रशस्त छाया में ही ज्ञान का जन्म होता है। अत: कर्मकाण्ड से विरत हो निष्कपट भाव से भगवद्भक्ति का सहारा लेना चाहिए।' रघुराम ने यशोवंत के भीतर अशरीरी जगन्नाथजी का दर्शन किया था। इस प्रकार भगवान् और भक्त की अभिन्नता का प्रतिपादन यशोवंत दास की बहुत बड़ी विशेषता थी।

इनके अलौकिक व्यक्तित्व के विषय में विभिन्न रचनाओं में अनेक घटनाओं की चर्चा मिलती है। कहते हैं, महाराज प्रतापरुद्र देव ने एकबार इन्हें सुगंधित चन्दन जगन्नाथ को अर्पित करने के लिए दिया। इन्होंने उसे स्वयं लगा लिया। दूत ने जाकर महाराज को यह बात बता दी। राजा ने क्रुद्ध होकर जवाव तलब किया तो यशोवंत ने बताया: 'चन्दन तो जगन्नाथजी को ही अर्पित हुआ है।' देखा गया तो सचमुच दारु-विग्रह पर चन्दन लगा हुआ है। भक्त और भगवान् की एकता प्रमाणित करने के लिए इन्होंने इस प्रकार के अनेक चमत्कार दिखाये जिनसे विदित होता है कि ये अपने समय के महान् साधक थे।

यशोवंत-रचित विशाल साहित्य मुख्यतः ज्ञान-भक्ति की चर्चा से भरा है या फिर उसमें स्थान-स्थान पर अलौकिक कार्य-कलापों का विस्तृत विवरण हैं। कहीं-कहीं तन्त्र-मन्त्र की सिद्धिविषयक चर्चा भी मिलती है। ब्रह्मज्ञान में ही प्रेमाभक्ति है, इसका सर्वांगपूर्ण विवेचन इनके द्वारा रचित 'प्रेमभक्ति-गीता' में मिलता है। इनकी मान्यता है कि 'नीलाचल (पुरी) सारे तीर्थों का तीर्थ-स्थल है। श्री राधा लीलामयी हैं। सहस्रार पद्म में राधा और कृष्ण की नित्यलीला चल रही है। भक्त उनकी खोज करता है। राम-नाम में ही राधा-कृष्णतत्त्व एकाकार है। योगमाया के माध्यम से मानव-शरीर में भी राधा-कृष्ण की नित्यलीला चल रही है। साधक भक्त ही उसे उपलब्ध कर पाता है। इस प्रेमाभक्ति की प्राप्ति ही भक्त का मुख्य लक्ष्य है। इसकी उपलब्धि पुरुष रूप में नहीं हो सकती। इसके लिए स्त्रीभावापन्न होना आवश्यक है।'

इनकी कृतियों में अत्यन्त सरल और जन-साधारण के स्तर की भाषा का प्रयोग हुआ है। फिर भी दार्शनिक जटिलताओं के कारण बहुत साधारण ढंग से कहे गये संवाद (बणभोजी, आत्मपरचे गीता आदि) भी सामान्यतया बोधगम्य नहीं रह गये हैं। इनकी भक्ति-साधना में योग-साधना के तत्त्व समाविष्ट हैं, किन्तु राधा-कृष्ण की ओर इनका आकर्षण असंदिग्ध है। इनकी साधना प्रचारात्मक न होकर अन्तर्मुखी है। इसमें देह की शुद्धि का बहुत अधिक महत्त्व है। यशोवंत के शिष्य सारे उत्कल में बिखरे हैं। फिर भी इनके ग्रन्थों का सही विश्लेषण और व्याख्या अभीतक विस्तृत रूप से नहीं हो पायी है। इनके 'गीतगोविन्द-चन्द्र' के पदों को जोगी द्वार-द्वार तन्मय होकर गाते हैं। नाथ और कनफटे योगियों के भजनों की तरह इनकी रचनाओं की भी सर्वत्र लोकप्रियता देखी जा सकती है।

यहाँ इनकी 'प्रेमभक्ति - ब्रह्मगीता' से एक छन्द उद्धृत है :

जेमंत भक्ति रे निर्वाण,
मुक्तिर अटइ निर्गुण ।
जेमंत दारुब्रह्म गोप्य,
ओंकार जगन्नाथ रूप ॥

• • •

आगे भकति पछे मुक्ति,
येणु ए दारुब्रह्म-मूर्ति ॥

'भक्ति में जिस प्रकार निर्वाण और निर्गुण में मुक्ति है, उसी प्रकार ॐकार भी जगन्नाथरूप दारुब्रह्म में गोप्य है। इस दारुब्रह्म की मूर्ति के आगे मुक्ति से भी अधिक महत्त्व भक्ति का है।'

शं. पु.

रघु अरक्षित

रघु अरक्षित के प्रारंभिक जीवन के विषय में केवल इतना ज्ञात है कि ये मूलतः वंगदेश के निवासी और सम्पन्न परिवार के थे। दुर्भाग्यवश सारी संपत्ति नष्ट हो गयी। अतः परम रूपलावण्यवती पत्नी अन्नपूर्णा को उसके पीहर में छोड़कर ये पुरी चले आये और यहाँ भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन करते हुए जगन्नाथजी के भजन में तल्लीन हो गये। दामाद की यह दशा देखकर ससुरालवालों ने अपनी बेटी राजमंत्री को ब्याहने का विचार कर लिया। इसका पता पाते ही पतिव्रता अन्नपूर्णा विचलित हो उठी। उसने तीर्थयात्रियों के हाथ चुपचाप एक पत्र अपने पति रघु के पास भेज दिया। किसी तरह पत्र इनके पास पहुंच गया। अर्थाभाव से रघु का ससुराल पहुंचना असंभव था। अतः इन्होंने जगन्नाथजी के समक्ष अपनी विवशता निवेदित कर दी। भगवान् के वैतालिक ने रातों-रात सोये रघु को ले जाकर ससुराल में पहुंचा दिया। प्रातः जगने पर वस्तुस्थिति जानकर ये जगन्नाथजी का स्मरण करते हुए अश्रुलोचन हो गये। सास-ससुर भी अचानक जामाता को देखकर स्तंभित रह गये। लोक-लाज से डरकर उन्होंने विवाह का प्रस्ताव रोक दिया और रघु को नहलाधुलाकर घर में सम्मान से रखा।

फिर भी सास-ससुर के मन में दुर्भावना भरी हुई थी। अतएव भोजन में विष मिलाकर इनके आगे थाल रख दिया। पत्नी अन्नपूर्णा ने पत्र लिखकर इन्हें इस षड़यंत्र की भी सूचना दे दी। रघु ने ग्रास हाथ में लेकर श्रीजी को नैवेद्य अर्पित किया। अगला ग्रास मुंह में लेने लगे तो वह हाथ से नीचे गिर गया। इसी बीच पत्नी का लिखा पत्र उन्हें दिख गया। रघु उसे पढ़कर सारा रहस्य जान गये। इन्हें दुःख इसी बात का हुआ कि मैंने भगवान् को विष खिला दिया। अतएव भक्त ने चुपचाप स्वयं भी उस भोजन को खा लिया। विष के कारण इनका शरीर नीला पड़ गया। इन्हें मरा हुआ जानकर सास-ससुर प्रसन्न हो गये और तत्काल ही इनका शरीर यह कहकर गाड़ दिया कि सर्पदंश से दामाद की मृत्यु हो गयी है।

अन्नपूर्णा इससे बहुत दुःखी हुई। उसने पति के आराध्यदेव श्रीजगन्नाथ-विग्रह के समक्ष रो-रोकर दुख जता दिया। भक्तवत्सल भगवान् के कानों में उसकी पुकार पहुंच गयी और उन्होंने अपने अमृतकरों से रघु को विषमुक्त कर दिया। प्रातः लोग यह देखकर आश्चर्यचकित हो उठे कि रघु भगवान् के आगे हरिनाम का कीर्तन कर रहे हैं।

अब तो सास-ससुर घबरा गये। उन्होंने राजमंत्री को खबर भेज दी कि 'कन्या अपने पति के साथ पुरी जा रही है। हम किसी प्रकार उसे रोक नहीं पा रहे हैं।' यह समाचार पाकर मंत्री ने सदलबल पहुंचकर रघु का रास्ता रोक लिया। इन्होंने अचानक विपत्ति आयी देख जगन्नाथजी को पुनः हृदय से स्मरण किया। इसी बीच दो शक्तिशाली अश्वारोही वहाँ आ पहुंचे। उन्होंने अपने अतुल पराक्रम से मंत्री की सेना तितर-बितर कर दी और रघु

अपनी पत्नी के साथ सकुशल श्रीक्षेत्र पहुंच गये। यहाँ ये पूर्ववत् भिक्षा-वृत्ति और भजन-साधन में कालयापन करने लगे।

अब अनेक लोग श्रीमंदिर के पार्श्व में स्थित इनके झोपड़े में पहुँचने लगे। रघु-दम्पती घर में जो होता, उसीसे अतिथि-अभ्यागतों की सेवा करते। एक दिन अचानक तीन-चार वैष्णव आ पहुंचे। घर पर कुछ भी भोजन-सामग्री नहीं थी। रघु की पत्नी तो अतिथि-परायण थी ही। उसने हाथ के गहने बेचकर अतिथियों का सत्कार करने का संकल्प कर लिया। रघु अतिथियों के साथ थे। अतः बेचारी पत्नी को ही साहूकार के यहाँ जाना पड़ा। रूप-यौवनसंपन्न युवती को देख साहूकार ने गहनों के बदले रुपये देने से इनकार कर दिया और उससे रमण की बात कही। पत्नी ने लौटकर रघु को सारी स्थिति कह सुनायी। उन्होंने अतिथिदेवता के निमित्त साहूकार का प्रस्ताव स्वीकार कर लेने की स्वीकृति दे दी। अन्नपूर्णा ने जाकर साहूकार से कह दिया कि 'रात में घर पर आ जाना।' इसके बाद उससे द्रव्य लेकर बाजार से सामान खरीदा और अतिथि के लिए भोजन पकाया। प्रसाद-ग्रहण करने के बाद अतिथियों को ससम्मान बिदा कर दिया गया।

रूप-लोलुप साहूकार रात में दबे पाँव रघु के घर आ पहुंचा, किन्तु भीतर दिव्य प्रकाश देखकर स्तब्ध रह गया। वह यह देख हतप्रभ हो गया कि साक्षात् जगन्नाथजी अन्नपूर्णा की सेवा ग्रहण कर रहे हैं। वह काँपता-काँपता बाहर ही खड़ा रहा। इसी बीच प्रातःकाल हो गया। तब साहूकार अंदर जाकर अन्नपूर्णा-सी सती-साध्वी के चरणों में लोट गया और बहुत-सा धन-द्रव्य देकर क्षमा-याचना करने लगा। यह सब कुछ देखकर भी रघु पूर्णतः अविचलित थे।

अपने सम्पर्क में आनेवाले लोगों से रघु प्रायः कहा करते थे कि 'लीलामय का ध्यान करो। उससे सारे पापों का मोचन होगा।' इसके अनन्तर रघु अरक्षित ने अपना शेष जीवन श्री जगन्नाथजी की सेवा-पूजा में ही बिताया।

शं. पु.

रघुनाथ भंज

रघुनाथ भंज का शासनकाल १७२८ ई० से १७५० ई० तक माना जाता है। उड़ीसा में मयूरभंज रियासत के सूर्यवंशी राजाओं का अपना विशिष्ट स्थान है। प्राचीन समय में सम्पूर्ण उत्तरी भारत और जगन्नाथ-क्षेत्र के बीच आवागमन के लिए मयूरभंज महत्त्वपूर्ण स्थान था। अतएव पण्डितों, साधु-संन्यासियों, तीर्थयात्रियों का समुदाय यहींसे होकर गुजरता था। मयूरभंज राजपरिवार ऐसे लोगों को आश्रय देने के लिए प्रसिद्ध रहा है। यहाँकी राजसभा में अनेक पण्डितों की उपस्थिति की विशिष्ट परम्परा रही। श्रीचैतन्यदेव जगन्नाथपुरी जाते समय इसी मार्ग से होकर गये थे। मार्ग में उन्होंने जहाँ-जहाँ विश्राम किया, उनमें से कुछ स्थान तो आज भी पवित्र तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हैं। पहले यह क्षेत्र 'हरिहरपुर' नाम से विख्यात था। यहाँकी राजधानी हरिहरपुर गढ़ सम्प्रति बारीपदा से दक्षिण-पूर्व में करीब दस मील पर स्थित है। यद्यपि अब यह स्थल जीर्ण-शीर्ण हो चला है, पर सदियों तक भंज-राजाओं ने यहींसे मयूरभंज का शासन चलाया और साधु-संत-महात्माओं की सेवा की थी।

रघुनाथ भंज ने 'रसलहरी' नामक शृङ्गार-ग्रन्थ की रचना की थी। इसका विषय काल्पनिक है। नायिकाप्रधान यह काव्य निषध के राजकुमार पुष्पतिलक और कांची की राजकुमारी रसलहरी के पूर्वानुराग, प्रेम तथा विवाह की कथा पर आधारित है।

अपनी कोमलकान्त पदावली, संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण और भाव-प्रवणता के कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त समादृत रहा है।

शं. पु.

रघुनाथ परिछा

कविचन्द्र रघुनाथ परिछा का जन्मकाल १८०२ ई० बताया जाता है। ये गंजाम के निवासी थे। इनका और कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। इनके अनेक भजन संकलित हैं। इसके अलावा इन्होंने 'राधामाधव-विलास', 'लक्षण-चन्द्रोदय', 'नीतिशतक', 'संगीत-रामलीला', 'संगीत-कृष्णलीला' आदि ग्रन्थों की भी रचना की है। यहाँ इनका एक पद उद्धृत किया जाता है।

राधा चली जा रही हैं। कृष्ण रास्ता रोककर खड़े हो जाते हैं। राधा को देर हो रही है। वे कृष्ण से कहती हैं :

आउ बाट ओगालि,
हट न कर बनमाली हे।
हेला उछुर, जिबि एबाट,
पुजिबि मुं करमालि हे॥

ए टापुराकु, सहिजिबाकु,
मुँ नुहइ चंद्रमालि हे।
पद्मादि सही, देखि न सहि,
देबे सिना करतालि हे॥

एपरि गेले, अटक कले,
रहिबे किसंग अलिहे।
निशामुखरे, न गले पुरे,
शाशु हेबे सिना चलिहे॥

भंगि तुमर, देखिले मोर,
पद हेउ नाहिं चालि हे।
कहे रघुनाथ, कवि निशानाथ,
ध्यायि राधाकृष्ण-केलि हे॥

'हे वनमाली!' मार्ग रोककर अब और हठ न करो। देखो, देर हो रही है। अब जाऊँगी, जाकर पूजादि करूँगी। हे चन्द्रमाली! मैं इस हँसी-ठट्ठा को सहने-योग्य नहीं। पद्मा आदि सखियाँ देख न सकेंगी और तालियाँ बजायेंगी। इस तरह नेह करने, रोक लेने पर क्या सखियाँ साथ रहेंगी? हे वनमाली! निशा होनेवाली है, यदि गाँव में न पहुँचीं तो सास बिगड़ जायगी। इधर तुम्हारी भंगिमा देख मेरे पाँव भी आगे नहीं बढ़ते। रघुनाथ निशानाथ का ध्यानकर राधाकृष्ण की यह केलि-क्रीड़ा गा रहे हैं।'

शां. पु.

रघु बेहेरा

रघु बेहेरा अनुमानतः १५वीं सदी के भक्त हैं। ये जाति के धीवर थे। इनका स्थान पिपिली (जिला पुरी) में था। एक दिन समुद्र के किनारे इन्होंने मछली पकड़ी तो लगा कि कोई अपराध कर रहा हूँ। ये तो मत्स्यावतार रूप में भगवान् हैं। तत्काल ध्यान-मग्न होकर बैठ गये। भगवान् ने इन्हें दिव्य चेतना दी।

इस घटना के बाद ये घर-बार छोड़ साधु बन गये। कहते हैं, एक दिन किसी बालक ने इनकी देह में कील गड़ा दी। बालक अचेत होकर गिर पड़ा। रघु ने भगवान् के आगे प्रार्थना की तो बालक की चेतना लौट आयी। ये नित्य भिक्षा माँगकर लाते और जो मिलता, उसीसे भगवान् को भोग लगाकर भोजन करते।

एक दिन अन्न थाल में परोसा और जगन्नाथजी का स्मरण किया कि प्रभु पधारकर भोग स्वीकारें। उधर पुरी में श्रीमंदिर में पुजारी भोग लगाने को तैयार थे। किन्तु भगवान् के दर्शन ही न हुए। वे सोचने लगे कि कहीं कुछ गड़बड़ तो नहीं है। गजपति महाराज ने भी हाथ जोड़कर प्रार्थना की। आदेश हुआ : 'हम पिपिली में रघु के घर भोजन कर रहे हैं। तुम भी वहीं चले जाओ।' महाराज अविलंब पिपली चले आये। देखा तो रघु विभोर हुआ भगवान् को निहार रहा है। भोजन समाप्त हो चुका है। राजा की उपस्थिति से प्रभु अंतर्धान हो गये। इसके बाद महाराज रघु को सत्कारसहित पुरी ले आये और वहीं सम्मानपूर्वक इनकी व्यवस्था कर दी।

शां. पु.

रघुनाथ राजगुरु महापात्र

रघुनाथ राजगुरु महापात्र का समय १९वीं सदी का उत्तरार्ध माना गया है। ये आठगढ़ (जिला गंजाम) के निवासी थे और वहाँके राजा नारायण मर्दराज के सभापण्डित थे। इनके द्वारा रचित गीतों का संग्रह 'चौपदी-कलानिधि' प्रसिद्ध है। यहाँ इनकी रचना से एक छंद उद्धृत है।

संभोग-चिह्नांकित कृष्ण को देखकर नायिका कह रही है :

श्यामसुन्दर हे जणागला तुंभ रीति।
केऊँ बाला प्रीतिरु होइला एते गति॥

अंग अलस अनंग रति परसंग-मोदक भोगरु।
रंग दिशइ कुरंग-नेत्र तरंग-रहित उदाररु॥

अंगनार उत्तुंग कुच परसंग रस संभोगरु।
कर शोभा चंदन कस्तूरी संयोगरु॥

'हे श्यामसुंदर! तुम्हारी रीति अब मैं जान गयी। किस बाला के संग प्रीति से ऐसी दशा हुई? अंग अलसाया हुआ, अनंग-रतिप्रसंगरूपी परसंग के मोदक खाने के कारण तुम कैसे हो गये? तुम्हारा रंग कुरंग के नेत्रों की तरह दिख रहा है। हलचल ही नहीं। उत्तुंग कुच-प्रसंग और रस-प्रसंग के कारण यह दशा है। तुम्हारे करों में चंदन और कस्तूरी के संयोग से यह शोभा हो रही है।'

शं पु.

रसानन्द

रसानन्द का जीवनवृत्त अज्ञात है। कुछ विद्वान् इनका आविर्भावकाल ईसा की १७वीं तो कुछ १८वीं शताब्दी मानते हैं। 'प्रभात अवकाश' में इनके कुछ गीत संकलित हैं। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा रचित राधा-कृष्ण-लीलासंबंधी कुछ भजन भी उपलब्ध हुए हैं। यहाँ इनकी रचनाओं से एक उदाहरण दिया जाता है :

नीलचक्रे उड़ुछि बाना,
चित्त चइतन हरि-भजना।
उत्तरु उजाणि बहुछि त्रिबेणी,
मध्य रे गंगा-यमुना॥

ढल ढल ज्योति शून्ये बिराजुछि,
से रूप देखिले हेबु भेटणा।
पाणि पंक नाहिं फुटि अछि कइँ,
करुछि दिव्य बासना॥

अदृश मूरति दृष्टि रे रहिछि,
जेन्हें बारमाढ़ अटइ सुना॥

अथल कूलरे देउल रहिछि,
लहड़िकि टल महल सिना॥

पण्डा नाहिं जहिं भोग पाउछि,
शून्यरे बाजुछि घंट बाजणा।
गंगा से जमुना सरस्वती-धार,
बुड़े पारिबाकु होइछि मना॥
भण रसानंद नवघन चांद,
हजाइ देउछि मोह चेतना॥

'देखो नीलचक्र में उनकी पताका फहर रही है। हे चैतन्य चित्त! उधर देख, उनका भजन कर। उत्तर से त्रिवेणी जोर से बह रही है और मध्य में गंगा-यमुना। वहाँ शून्य में चमकती ज्योति विराजमान है। वह रूप देखते ही विभोर हो जाओगे। देख, वहाँ न पंक है, न पानी, फिर भी कुँई खिली है और उसकी दिव्य सुगन्ध उठ रही है। वह अदृश्य ही दृष्टि में छाया है, उधर अपार स्वर्ण की कांति है। थलहीन कूल पर वह देवल विराज रहा है, उसके पास केवल लहरें हिलोरे मार रही हैं। न पंड़ा है, न पढ़िहारी। सब भोग पा रहे हैं, वहाँ शून्य में ही घण्टा-मार्दल बज रहे हैं। गंगा-सरस्वती और यमुना की धार है, पर डूबने की मनाही है। रसानंद कह रहे हैं कि उस नवघनचंद्र को देखें, तो वह सारी मोह-चेतना खो देगा।'

शं. पु.

रसिकानन्द

रसिकानन्द का पहले का नाम 'रसिकमुरारि' था। इनका जन्म १५९७ ई० में सुवर्णरेखा नदी के तट पर स्थित रयनी नामक गाँव में हुआ था। पिता अच्युतानन्द देव थे। उन्होंने इनका नाम रसिकमुरारि रखा।

१८ वर्ष की आयु में इन्होंने महात्मा श्यामानन्द से दीक्षा ग्रहण की। कुछ समय बाद ये प्रेमाभक्ति के प्रचार में निकल पड़े। संपूर्ण उड़ीसा की पदयात्रा की। उन दिनों यह प्रदेश मुगलों के अधीन था। उड़ीसा के सूबेदार अहमद बेग ने रसिकानन्द की परीक्षा लेनी चाही। उस समय घूमते हुए रसिकानन्द बाणपुर (जिला पुरी) में गये हुए थे। यह क्षेत्र उन दिनों एक जंगली हाथी के उपद्रव से आतंकित था। सूबेदार ने रसिकानन्द को कैद कर लिया और कहा कि 'यह साधु यदि इस हाथी को हरिनाम सुनाकर वश में कर ले तो छुटकारा मिल जायगा, अन्यथा इसे कठोर सजा भुगतनी होगी।'

कहा जाता है कि रसिकानंद के प्रेममन्त्र के आगे मत्त हाथी झुक गया। इस चमत्कार से प्रभावित होकर सैकड़ों मुसलमानों ने चैतन्य-मत स्वीकार कर लिया। इतना ही नहीं, अहमद बेग भी इनकी शरण में आ गया। कुछ समय बाद रसिकानन्द ने पुरी में 'कुंजमठ' की स्थापना की। मयूरभंज के राजा से जो श्रीविग्रह इन्हें मिला था, उसकी स्थापना मेदिनीपुर के एक गाँव में कर दी गयी। अतः वह गाँव 'गोपीवल्लभपुर' नाम से आज भी ख्यात है। लाखों लोग रसिकानन्द के शिष्य हो गये।

उन दिनों रेमुणा (जिला बालेश्वर) कृष्णभक्तों का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ गोपीनाथजी का प्रसिद्ध पीठ है। यहाँके ठाकुरजी 'क्षीरचोरा गोपीनाथ' कहलाते हैं। ठाकुर के माहात्म्य का वर्णन इनके शिष्य किशोरानन्द ने किया है। रसिकानन्द का जीवनचरित भी उसमें उपलब्ध होता है। यह ग्रंथ बंगाल में काफी लोकप्रिय है। रसिकानन्द ने अपने आराध्य क्षीरचोरा गोपीनाथ के मंदिर में श्रीविग्रह के समक्ष १६७४ ई० में शरीर त्यागकर नित्यलीला में प्रवेश किया।

शं. पु.

राजकवि कृष्णचन्द्र सिंह

धराकोट (जिला गंजाम) के राजा कृष्णचन्द्र सिंह का जन्म १७३९ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम नीलाद्रि सिंह था। १७८१ ई० में ये राजा बने और सात वर्ष तक शासन किया। ये संस्कृत भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। महाभारत का अनुवाद-कार्य इनके बड़े भाई ने प्रारंभ किया था। द्रोणपर्व का अनुवाद उन्होंने किया है। शेष पर्वों का अनुवाद कृष्णचन्द्र सिंह ने किया है।

इन्होंने ग्रन्थ में कविसुलभ नम्रता एवं दैन्य प्रकट किया है। यहाँ इनकी रचना से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :

सूचो मुखे कि गिरिबर हुए टालि।
पण्डिते ए कथा छेनिब मने भालि॥

मुर्ख-मानंकरे मुँ अति हि मुर्ख।
मो गीत शुणि कर्णे नोहिब विमुख॥

गगांक जल सम व्यासंकर बाणी।
गोते मुँहि जाहा होइलि बखाणि॥

'भला सूई की नोक से गिरिवर को हटाया जा सकता है? पण्डितगण इस बात को विचारें। मैं तो मूर्खों में अतिमूर्ख हूँ, फिर क्या मेरे गीत सुन कोई विमुख न होगा? फिर भी यह व्यासदेव की वाणी गंगा की तरह अतिपवित्र है। इसे ही मैंने गाया है।'

शं. पु.

राजकवि नटवर भ्रमरवर

राजकवि नटवर भ्रमरवर खंडपड़ा (जिला पुरी) के राजा थे। इनका जन्म १८३७ ई० में हुआ था। ये १८६७ में गद्दी पर बैठे थे। इन्होंने 'कृष्णकल्प-

लता' नामक कृष्णकथासंबंधी एक काव्यग्रन्थ की रचना की थी। इसमें राधा-कृष्ण-केलि का मधुर वर्णन किया गया है।

इसकी 'घ' आद्यानुप्रास की छटायुक्त कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

घोर बरषा प्रबेश हेला,
घनाघन प्रभा प्रकाशिला।
घड़घड़ि नादे मयूर प्रमोदे,
टेकि कलाप मत्ते नाचिला ॥ से समये !

'घोर वर्षाकाल आकर उपस्थित हुआ है। घनाघन प्रभा प्रकटित हुई है। मेघों की गरज से मयूर प्रमुदित हो नाच उठे। अपने पंख उठा उस समय वे नृत्य में डूब गये हैं।'

सखी कृष्ण से विरह-विह्वला राधा की दशा का वर्णन करती हुई कहती है :

घोषुछंति एका श्यामनाम,
घट विचेष्टा करइ काम।
घोरि होइ गला सुवर्ण-शलाका,
तुला-कांति अतिमनोरम ॥ से नूतना !

'वे नूतना (नवीना) कान्तिमय हैं। अत्यन्त मनोरम हैं। केवल श्याम का ही नाम रट रही हैं। काम उनकी काया को बेहाल किये दे रहा है। स्वर्ण-शलाका घिसकर पतली होने की तरह वे एकदम क्षीण हो गयी हैं।'

शं. पु.

राज हरिचन्दन (दीनबन्धु)

राज हरिचन्दन (दीनबन्धु) का जन्म सन् १७९० से १८०० ई० के बीच किसी समय सरंगी (जिला गंजाम) के राज-परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराज हरिचंदन था। उनकी १८१५ ई० में मृत्यु हो गयी। इसके बाद ये गद्दी पर बैठे। इनकी रचना 'राधा-विलास' प्रसिद्ध है। इसमें राधा-कृष्ण के जन्म से लेकर कंसवध तक की कथा समाविष्ट है। काव्य में कल्पना-विलास को जगह-जगह प्राधान्य दिया गया है। इन्होंने अपनी रचनाओं में 'दीनबन्धु' नाम भी दिया है।

इन्होंने चैतन्य-सम्प्रदाय के सन्त नरसिंहदास से वैष्णव-दीक्षा ली थी। डॉ० जानकीवल्लभ महांती के मतानुसार दीनबन्धु ने 'राधा-विलास', 'मथुरा-विहार', 'मथुरा-माहात्म्य', 'चैतन्य-चरित्र' आदि अनेक भक्तिग्रन्थों की रचना की थी। तीस वर्ष तक शासन करने के बाद इन्होंने राज्यभार पुत्र को सौंपा और संन्यासी की तरह रहने लगे। भगवन्नाम जपते-जपते इन्होंने १८५० ई० के आस-पास प्राण त्यागे। इनके पुत्र श्यामकिशोर भी धर्मपरायण एवं नीतिज्ञ थे।

दीनबन्धु ने 'चौपदी-भूषण' में मथुरा-लीलासंबंधी प्रसंगों को विषय बनाकर पदों की रचना की है। ये व्रज-दर्शन के लिए व्याकुल रहते थे। इनकी इस आंतरिक अभिलाषा का दर्शन निम्नलिखित पद में किया जा सकता है :

श्रीवृन्दावन केबे करिबि दर्शन।
व्रजनिवासी संगे देखुथिबि रंगे
गोबिन्द-लीला स्थान मान।
बुलि द्वादश बन हरष करि मन
देखिबा राहास पुलिन ॥

'श्रीवृन्दावन के दर्शन कब कर सकूँगा ? कब व्रजवासियों के संग रंगस्थल का दर्शन करूँगा और गोविन्द-लीला के स्थानों को देख सकूँगा। कब घूम-घूमकर द्वादश वनों का दर्शन कर मन हर्षित हो उठेगा ? और कब रास-पुलिन को देख सकूँगा ?'

कवि के हृदय में श्रीराधा के ध्येय भगवान् कृष्ण के जगत्-उद्धारक चरणकमल सदैव विराजमान रहते हैं। अतः वे उन्हींसे प्रार्थना करते हैं :

बंदे सच्चिसुत पदारबिंदे।
सदानन्दे कनक-सुंदर बंदे ॥

भक्तगण-सुखद गुणमणि-भूषण-भूषिते।
राधिका प्रियरूपा गुण विनोदे॥

पतितपावन जित मुकुटमणि-मण्डिते।
जगत-उद्धार कर श्रीहरि नादे॥

शं. पु.

राजा पद्मनाभ श्रीचन्दन

राजा पद्मनाभ श्रीचन्दन बांकी (जिला कटक) के राजा थे। 'श्रीचन्दन' उपाधि इन्हें खुर्धा-महाराज से प्राप्त हुई थी। वंश-परम्परा से बांकी के राजागण इस उपाधि का प्रयोग करते रहे हैं। पद्मनाभ का शासनकाल १७३५ से १७५७ ई० तक माना जाता है। बांकी-राजघराने का जगन्नाथजी से अत्यन्त घनिष्ठ संबंध रहा है। महाराज इन्द्रद्युम्न ने जब अवंती से नीलगिरि की यात्रा की थी तो यहाँ विश्राम किया और पण्डित-सभा का भी आयोजन किया था। आज भी चर्चिका (यहाँका देवीमंदिर) के आगे आदेश पाकर जगन्नाथजी के अनेक विधि-विधान संपन्न होते हैं।

पद्मनाथ अत्यंत धर्मनिष्ठ एवं संस्कृतिपोषक राजा थे। स्वयं कवि एवं शास्त्रज्ञ होने के साथ ये जगन्नाथजी के बहुत बड़े भक्त थे। इन्होंने अपने काल्पनिक काव्य-ग्रन्थ 'शशिरेखा' के प्रारम्भ में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है।

जगन्नाथजी की सेवा में ही इन्होंने यह श्रृंगार-प्रधान रचना प्रस्तुत की है। यहाँ एक वंदना उद्धृत की जा रही है :

शिरे कर देइ पुणि एमंत जणाइ।
आहे प्रभु जगन्नाथ ब्रह्मांड-गोसाइँ॥

मनोरथ करिछि मुं प्रबंध-रचना।
नोहइ से सिद्ध तव अनुग्रह बिना॥

जणाउछि कर जोड़ि एहि आज्ञा देब।
शशिरेखा प्रबन्ध करिबि निर्भा हेब॥

एते कहि स्तुति भणि पाये पड़िशोइ।
पुनः पुनः कर जोड़ि अग्रे उभा होइ॥

प्रभु प्रसन्नरु व्यक्त हेला सीउकार।
कहु अछि जने शुण एबे रससार॥

'मस्तक पर हाथ रखकर बिनती कर रहा हूँ कि हे प्रभु श्रीजगन्नाथजी, ब्रह्माण्ड के गोसाइँ! मैं प्रबंध (काव्य)-रचना का मनोरथ कर बैठा हूँ। आपके अनुग्रह बिना वह संपन्न नहीं होगा। आज्ञा दें, 'शशिरेखा' प्रबन्ध-काव्य का निर्वाह करें। बार-बार हाथ जोड़े खड़ा हूँ। प्रभु प्रसन्न होकर विनय स्वीकार कर ही लेते हैं। तभी यह रससार कह रहा हूँ। गुणीजन इसे सुनें।'

शं. पु.

राजा रघुनाथ जगदेव

राजा रघुनाथ जगदेव बाणपुर (जिला पुरी) के राजा थे। १६५५ ई० में आपने गद्दी संभाली थी। इसके अतिरिक्त इनके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है। 'चन्द्रमुखी' छाप से इनके राधा-कृष्णसंबन्धी गीतों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। यहाँ एक गीत उद्धृत है।

राधाभाव से कवि कह रहे हैं :

निरते नीरद नभ देहो।
मुखे चुंबन दिअ माधोइ॥
तोर सुधाधर-पान न करिण।
न रुचइ मोते ए चन्द्र चंदन॥

निरुपमान सुधाकरानन।
मंद मंद सुहास शोभन॥
धरणीधर-धर मदन मोहन।
प्राणनाथ तु तोष मो मन॥

• • •

शुणि हरष मुरारि।
गरु ताप-मन दूर करि॥
रघुनाथ जगदेव नृप भणि।
रखबारे मोते सारंगपाणि॥
नयन जित नट जुगल खंजन।
हेले यामलार्जुन-भंजन॥

कोटि मन्मथ-गर्व-गंजन।
कामिनीबर चित्त-रंजन॥

'सदा इस नभ-सी देह में नीरद की तरह हे माधव ! तुम चुंबन दिया करो। तेरे अधरों की सुधा का पान किये बिना चन्द्र-चन्दन कुछ भी अच्छा नहीं लगता। हे निरुपमान ! तुम्हारे चन्द्रवदन पर मंद-मंद मुस्कान अत्यंत शोभा पा रही है। हे धरणीधर-धर, मदनमोहन, प्राणनाथ ! मेरे मन में संतोष भर दो।'

'सुनकर मुरारी हर्षित होकर ताप दूर कर देते हैं। हे सारंगपाणि ! नयनजित ! नटनागर ! युगल खंजन ! तुम यमलार्जुन-भंजक हो, कोटि-कोटि मन्मथ का गर्व गंजन करनेवाले हो। हे श्रेष्ठ ! कामिनियों के चित्त का रंजन करनेवाले श्याम तुम्हीं हो।'

शं. पु.

राजा रघुनाथ हरिचन्दन

राजा रघुनाथ हरिचन्दन बाणपुर के अन्तर्गत वंकाड़ (जिला पुरी) के राजा थे। इन्होंने १६५५ ई० में कुछ ही समय तक राज्य किया था। पारिकुद-राजवंश उड़ीसा में काफी प्रसिद्ध रहा है। जब भी जगन्नाथजी पर संकट आता था, उनका विग्रह यहाँ लाकर छिपा दिया जाता था। इसके अतिरिक्त दक्षिण जाने के लिए यहींसे होकर राजपथ आगे बढ़ता था। अतः यहाँ बराबर साधु-संतों, पण्डितों एवं तीर्थयात्रियों का आगमन लगा रहता था। यहाँके राजा स्वयं धर्म-परायण थे और भक्तों, संतों एवं कवियों को अयाचित सहायता एवं आश्रय देते थे।

इनकी रचना 'लीलावती' काल्पनिक काव्य है। इसके प्रारम्भ में नीलगिरि का माहात्म्य है तथा बाद में अनेक देवी-देवताओं का वर्णन आता है। इसमें रथयात्रा तथा जगन्नाथजी की चतुर्धा मूर्ति का भी चित्रण किया गया है। बाद में नायिका का शृङ्गार-प्रधान वर्णन मिलता है। इनकी एक और काल्पनिक रचना 'हंसवती' है। इसमें भक्ति और काव्य दोनों तत्त्वों का अद्भुत समन्वय है। उड़िया के भक्त-कवियों में इनका विशिष्ट स्थान है।

शं. पु.

राजा त्रिविक्रम भंज

'त्रिविक्रम' नाम के उड़ीसा में कई राजा हुए हैं। इन्होंने स्वयं को 'सूर्यवंशी क्षत्रियवर' आदि कहा है। इनकी लिखी रचनाएँ शृङ्गारप्रधान हैं। इनमें से एक शृङ्गारप्रधान ग्रन्थ है 'कनकलता'। इसके रचयिता हैं राजा त्रिविक्रम भंज। बहुत सम्भव है कि ये अठारहवीं सदी के उपेन्द्र के परवर्ती कवि रहे हों। इन्होंने बार-बार अपने ग्रन्थ में श्रीकृष्ण की वंदना की है। इस आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि घुमसुर के राजा त्रिविक्रम भंज (१७७३–१७८२ ई०) ही 'कनकलता' के रचयिता थे। अबतक उड़ीसा में शृङ्गारप्रधान काव्यरचना की सुदृढ़ परम्परा स्थापित हो चुकी थी। शृङ्गार के अतिरिक्त आपकी भक्ति-भावनापूर्ण रचनाएँ भी बहुत प्रभावपूर्ण हैं।

यहाँ इनके द्वारा रचित वन्दना का एक छन्द दिया जाता है :

जय जय शंख-चक्रधर कंजकर,
जय घनचय-अंग जन-जनभय हर।
जय कंजपद सद अनंत-शयन,
कनक-सम वसन नरंक अयन॥

'हे शङ्खचक्रधारी ! आपकी जय हो। आपके कर कंजसदृश हैं। हे हरे ! घनसमूहसदृश आपके अंग जन-जन का भय दूर करते हैं। हे कंज-पद ! सदा अनंत-शयन करनेवाले आप कनकसदृश वस्त्राभूषण-धारी हैं।'

शं. पु.

राधाप्रिया देवी

राधाप्रिया देवी आठगढ़ के राजा विश्वनाथ देव की पटरानी थीं। इनके १८ पद मिले हैं। इन्होंने पदों में अपनी छाप 'राज्ञी राधाप्रिया' रखी है।

इनके पदों से विदित होता है कि ये सखीभाव की उपासिका थीं।

शं. पु.

राधिकामणि देवी

राधिकामणि देवी का कोई परिचय प्राप्त नहीं है। इनके राधा-कृष्णसंबंधी कुछ गीत मिलते हैं। यहाँ एक गीत उद्धृत किया जाता है।

वसंत ऋतु में राधा अपनी सखी के आगे विरह-दशा का वर्णन कर रही हैं :

मधुकाल होइला सजनी,
दिशे सुंदर दिबा-रजनी।
रुतुपति रसघेनि कलेणि बिजे,
महीतल प्राणी चित्ते सुख उपजे॥
सरोबरे शोभित नलिनी !

अरबिंद अशोक गोलाय निआली।
फुटि शोभा पाउछंति भलिकिभलि॥
नाहिं ए काले सारंगपाणि !

आनंदे भ्रमे भ्रमर कुसुम-बने।
मकरंद पान करे सराग मने॥
करि निज सरागें दयिनी !

भाषंति राधिका दूति जाऊ बहन,
आणि भेटाऊ मोहन मो प्राणधन॥
द्वति चले आणि बेणु-पाणि !

'हे सखी, मधुकाल आ गया। दिन-रात सब सुंदर हो गये। ऋतुपति अब रस लेकर विराज रहे हैं। धरती पर सभी प्राणी सुखी-चित्त हैं। सरोवर में नलिनी खिल चुकी है। उधर अशोक, अरविंद, गुलाब आदि के फूल खिलकर शोभा पा रहे हैं। कुसुम-वन में भ्रमर आनन्द से गुंजार कर मकरंद-पान कर रहा है। राधिका देवी कहती हैं कि 'हे बहन, अब तुम जाओ और प्राणधन, वंशीपाणि मोहन को लाकर मुझसे मिला दो।'

शं. पु

रामकृष्ण पटनायक

रामकृष्ण पटनायक का जीवन-परिचय अभीतक अज्ञात है। इनके गीतों की भाषा के आधार पर इन्हें १८ वीं शती ई० में विद्यमान बताया जाता है। 'संगीत-सागर' में इनके २५ गीत संगृहीत हैं। कुछ ही समय पूर्व इनकी एक हस्तलिखित पोथी मिली है जिसमें सैकड़ों गीत संकलित हैं। इनमें पूर्वरागसम्बन्धी पद अधिक हैं।

शं. पु.

रामचन्द्र

रामचन्द्र का परिचय अनुपलब्ध है। इनका उपस्थिति-काल अठारहवीं सदी ई० बताया जाता है। इनकी रची कुछ वंदनाएँ और भजन उपलब्ध हैं।

जगन्नाथजी के आगे अपने उद्धार के लिए प्रस्तुत इनकी आर्त प्रार्थना यहाँ उद्धृत की जा रही है :

दीनबांधव होइ दीने दया नोहिला,
तो भरसा करि हरि ! बिअर्थे प्राण गला।
जगबंधु हे !
जेते जेते दूरे जेते जेते मोक्षण हेल,
तुंभरे भरसा करि द्रुपदराजकुमारो,
शुणिछि थिल उधरि,
मो दुःख न लागिला॥

• • •

रामचंद्र ! हे गोबिंद ! ताहा शुणिला,
भुजकु अछ बढ़ाइ बोलुछ मुं रखि नाहिं।
आउ किए आहे हरि,
पाण्डबंकु रखिला॥

'हे प्रभु ! आप 'दीनबांधव' कहलाते हो, पर दीन पर दया नहीं आयी। हे हरि ! तुम पर भरोसा किया और सारा जीवन व्यर्थ ही चला गया। हे जगबंधु ! जितने लोगों को मोक्ष मिला, सब तुम्हारे आसरे थे। तुम्हारा भरोसा किया था द्रुपद-राजकुमारी ने। सुना है, उसका उद्धार हो गया। फिर भी मेरे दुःख की चिंता नहीं हुई तुम्हें ?

'रामचन्द्र कहते हैं कि हे गोविन्द ! सुना है कि तुम खाली भुजा पसारे बैठे हो और कहते हो मैं किसीको नहीं रखता। तो मैं पूछता हूँ कि फिर पांडवों को किसने रखा ?'

शं. पु.

रामचन्द्र दास

जगन्नाथदास के सोलह शिष्यों में रामचन्द्र दास का उल्लेखनीय स्थान है। इनके द्वारा रचित 'पंचभूत-गीता' प्रमुख भक्तिग्रंथ है। गुरुसेवा में इन्हें 'मुक्तामाल-सेवा' का अधिकार प्राप्त था। मंजरी-परम्परा में इन्हें 'रतिमंजरी' का रूप बताया गया है। कहते हैं कि जगन्नाथदास को गुरुरूप में पाकर अनेक शिष्यों को गर्व हो गया था। किन्तु रामचन्द्र दास इस प्रकार के विकार से सर्वथा मुक्त रहे। इनकी लिखी हुई ताड़पत्र-पोथियाँ मिली हैं। इनमें 'गुरु-शिष्य-संहिता' और 'अमरकोष' प्रमुख हैं। ये पुरी में ही रहा करते थे और यहीं देहत्याग किया।

कहते हैं कि निमापड़ा (जिला पुरी) के पास इनकी गादी थी। इन्हें 'रासबाड़ी-मठ' से संबद्ध बताया जाता है। चैतन्यदेव यहींसे होते हुए कोणार्क गये थे। यहाँ उन्होंने अपना आश्रम स्थापित किया था। 'निमाई' नाम चैतन्य का था, अतः इस स्थान का नाम 'निमापड़ा' हो गया। रासबाड़ी-मठ के महन्त कृष्णदास गोस्वामी के अनुसार चैतन्यदेव की चरण-रज की स्मृति में ही 'निमाईपड़ा' या 'निमापड़ा' को बसाया गया है।

उड़ीसा की कृष्णभक्त-परंपरा में रामचन्द्र दास अपनी विनम्रता एवं सरलता के लिए प्रसिद्ध हैं।

शं. पु.

रामचन्द्र देव (प्रथम)

रामचन्द्र देव (प्रथम) का जन्म पुरी के गजपति-राजवंश में १५६८ ई० में हुआ था। वयस्क होने पर पिता की मृत्यु के बाद ये सिंहासन पर बैठे। इनके जीवन के विषय में इससे अधिक और कुछ ज्ञात नहीं। ये साहित्यानुरागी होने के साथ ही भक्त एवं रचनाकार भी थे। इन्होंने 'श्रीकृष्णभक्ति-वात्सल्य' नामक नाटक की रचना की थी। इनके गीतों में जगह-जगह बंगला का प्रभाव परिलक्षित होता है, जो वंगीय भक्तों के प्रति इनकी श्रद्धा का प्रतीक है।

प्रस्तुत पद में राधा अपनी अथाह वेदना व्यक्त कर रही हैं :

सखि तुहि जाआरे मो नांआरे,
श्याम ठारे कह बारे।
तार अबशरे मो दिन न सरे,
गड़ि गड़ि बसुधारे ॥

'हे सखी ! तू जा और श्याम के आगे एकबार तो मेरा नाम कह। उनके बिना मेरा दिन ही नहीं बीतता। धरती पर लोटते-लोटते बेहाल हुई जा रही हूँ।'

शं. पु.

रामचंद्र देव (द्वितीय)

रामचन्द्र देव (द्वितीय) का विशेष परिचय प्राप्त नहीं है। अनुमानतः ये उन्नीसवीं शताब्दी ई० में विद्यमान थे। इनके राधा-कृष्ण-केलिसंबंधी स्फुट गीत प्राप्त होते हैं। एक गीत यहाँ उद्धृत है। इसमें वासकसज्जा राधा का वर्णन किया गया है :

काहिँ कि नइले श्याम ए जामिनी रे,
जहिँ कि थिला मो आशा तो बृथा रे।

मंडन केलि बासकु कतिबिधि रे,
खंडन कलेगो आशा न आसि मातिकापुरे।

भला जे मुं बसिथिलि दिब्यबेशरे,
भला से नागर रे बिहिले संताप मोरे।
रजनीकर मिशाइ गंध सामूरे,
सजना मुं रखिथिलि नागबल्लि सहितरे।
आण जा बंशीपाणिकि एबे सत्वरे,
भणे रामचंद्र देओ कृष्णंकु भायि मनरे।

'आज रात में श्याम क्यों नहीं आये ? मेरी आशाओं पर पानी फेर दिया। केलिगृह को कितनी विधि से मंडित किया था, फिर भी आशा भंग कर दी और वे नहीं आये। मैं दिव्यवेश में सजी बैठी रही और वे नहीं आये। मैंने उनके लिए कितना कुछ प्रस्तुत कर रखा था। कृष्ण की भावना करते हुए, राधा सखी से कहती हैं कि जा, उन वंशीपाणि को शीघ्र ला।'

शं. पु.

रामदास

रामदास का जन्म ब्रह्मपुर (जिला गंजाम) से कुछ दूर गोपालपुर के पास डुरा ग्राम में अठारहवीं शती ई० के चौथे दशक में हुआ था। ये यहाँ एक छोटे-से देवालय के अधिकारी थे। यह प्रमुखतः हलवाहे ब्राह्मणों का गाँव कहा जाता है। रामदास इन लोगों के दीक्षागुरु थे। इनके पिता का नाम लछमनदास था। इनके गुरु थे श्रीगदाधर दास। मठ की सेवा करने के साथ-साथ रामदास सरकारी गुमाश्ते का भी कार्य करते थे।

इन्होंने 'दार्ढ्यंता-भक्तिरसामृत' की रचना खुर्धा में नरेश वीरकेशरी देव (१७३६-१७९३ ई०) के समय में की थी। १७७० ई० में इस विशाल ग्रन्थ का आधा भाग पूरा हुआ। उत्तरार्ध की रचना २५ वर्ष बाद दिव्यसिंह देव के समय की गयी।

इस ग्रन्थ का मुख्य विषय जगन्नाथजी की प्रेमाभक्ति है। इनके साथ ही इसमें भक्ति-निमज्जित जनों के पवित्र चरित्र का भी वर्णन किया गया है। भक्तों की यह चरितावली पूर्णतः ऐतिहासिक नहीं है। इसमें वर्णित कुछ चरित्र वास्तविक, कुछ पौराणिक तो कुछ काल्पनिक हैं। यहाँ इनकी रचना से एक छन्द उद्धृत है :

केवण कर्म कले प्राणी,
यातना न बाधिब पुणी।
गोविन्द भकति लहिबे,
जन्म मरण पाशोरिबे ॥

'प्राणी कौन-सा कर्म करे जिससे फिर उसे कोई यातना न हो ? प्राणी गोविंद की भक्ति करे। इसके बाद जन्म-मरण सब छूट जायगा।'

शं. पु.

राय रामानन्द

राय रामानन्द का जन्म पुरी जिले के बेंटपुर नामक गाँव (ब्रह्मगिरि थाना, जिला पुरी) में हुआ था। इनके पिता का नाम भवानन्द पटनायक था। इनके चार भाई थे : १. गोपीनाथ, २. वाणीनाथ, ३. कलानिधि और ४. सुधाकर। इनके पिता भवानन्द स्वयं चैतन्यदेव के अन्तरंग भक्त थे। चैतन्यदेव स्नेहपूर्वक कहा करते : 'ये पंचपाण्डव हैं, तुम्हारी संतान। कोई किसीसे कम नहीं है।' भवानन्दजी का गजपति महाराज प्रतापरुद्र देव के साथ घनिष्ठ सम्वन्ध था। महाराज ने राय रामानन्द को दक्षिण में अपने प्रतिनिधि शासक के रूप में गोदावरीतीर स्थित राजमहेन्द्री में भेजा। इनके भाई गोपीनाथ को उत्तर में मेदिनीपुर में नियुक्त किया। अन्य भाई भी राजपदों पर आसीन थे। महाराज ने ही रामानन्द को 'राय' की उपाधि प्रदान की थी। चारों भाइयों में रामानन्द ही प्रेमाभक्ति के साधक थे। सांसारिक जीवन में रहते हुए भी ये साधना के समस्त स्तरों को पारकर हरिभक्ति के उच्चतम शिखर तक पहुँच गये थे।

चैतन्यदेव जब परिव्राजक के रूप में दक्षिण जा रहे थे तो राजपण्डित वासुदेव सार्वभौम ने उन्हें परामर्श दिया : 'आप वहाँ रामानन्द राय से मिलें। विद्यानगर में वे उत्कल राजा के प्रतिनिधिस्वरूप शासन कर रहे हैं। शूद्र एवं विषयी मानकर उनकी उपेक्षा न करें। प्रेमाभक्ति-साधना के वे अधिकारी पुरुष हैं। पृथ्वी पर ऐसा रसज्ञ भक्त दूसरा कोई नहीं है। एक समय मैंने उनका कितना उपहास नहीं किया ? पर प्रभु के प्रसाद से उनकी भक्ति-साधना का मर्म समझ पाया हूँ।'

कविराज कृष्णदास ने चैतन्यदेव और रामानन्द के आध्यात्मिक परिचय के प्रसंग को अत्यन्त मार्मिक भाषा में उपस्थित किया है :

चैतन्य पूछते हैं : 'रामराय ! जिस भजन की सहायता से जीव को परम तत्त्व की प्राप्ति होगी, वह समझाकर कहो ।' रामानन्द ने विनम्र होकर कहा : 'प्रभु ! आप सर्वज्ञ हैं । मुझसे क्या पूछ रहे हैं ?' चैतन्य के अनुरोध पर वे बोले : 'वर्णाश्रम-निर्देशित स्वधर्माचरण ही साधना है ।' फिर उन्होंने विभिन्न साधनाओं का वर्णन किया । उसके बाद श्रीकृष्ण के आगे कर्म-समर्पण के तत्त्व, ज्ञानमिश्रित भक्ति, दास्य, सख्य, वात्सल्यमय भक्ति आदि साधनाओं का निरूपण किया । चैतन्यदेव ने कहा : 'यहीं न ठहरो, आगे बढ़ो, और आगे ।' रामानन्द भी भावावेश में थे । कहने लगे : 'प्रभु ! इस साधना के बाद है कान्ता-प्रेम । वही वैष्णवों का सर्वसाध्यसार है ।' चैतन्य महाप्रभु ने फिर कहा : 'तृप्ति नहीं हो रही है, और कुछ हो तो कहो ।' आत्म-विस्मृत होकर रामानन्द ने कहा : 'प्रभु ! इसके बाद है केवल राधा-प्रेम । यही है प्रेम का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप और सार । श्रीकृष्ण हैं सत्-चित्-आनन्दमय । उनका आनन्दांश ह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीराधा हैं । यह राधाप्रेम ही महाभाव है । यही खींच ले जाता है भक्त को प्रेमसाधना के चरम स्तर तक ।' चैतन्य ने फिर कहा : 'पिपासा मिट नहीं रही है और कहो ।' तब रामानन्द ने कहा : 'प्रभु ! वहाँ स्वरूप और शक्ति दो भिन्न तत्त्व नहीं रह जाते । राधा और कृष्ण की युगल-सत्ता वहाँ एक हो जाती है और रसराज महाभाव सब एकरूप, सब एकाकार । यही है अचिंत्य भेदाभेद, भावाविष्ट दशा ।' चैतन्य ने रामानन्द के मुँह पर हथेली रख दी : 'यह अत्यन्त निगूढ़ तत्त्व है, रामानन्द । यह बात न बोलो ।' फिर दोनों महाभाव में निमग्न हो, संज्ञाहीन स्थिति में पहुँच गये । आत्मिक स्तर पर दोनों का परिचय पुनर्जीवित हो गया ।

इसके बाद राय रामानन्द ने राजकीय पद त्याग दिया और उड़ीसा लौटकर पुरी में रहने लगे । प्रतापरुद्र ने पहले की तरह उनका वेतन चलाये रखा । वे जगन्नाथवल्लभ मठ में रह गये । एक दिन भक्त प्रद्युम्न मिश्र श्रीमुख से कृष्णलीला-श्रवण का अनुरोध करने लगे । चैतन्यदेव ने कहा : 'सुनना ही चाहते हो तो रामानन्द के पास जाओ । लीलारस में वे सर्वज्ञ हैं । उनके मुँह से ही तो मैं सुनता हूँ ।'

उन्हीं दिनों रामानन्द ने संस्कृत में 'जगन्नाथ-वल्लभ' नाटक लिखा था । अभिनय से पूर्व प्रस्तुति चल रही थी । दो तरुणियों को रामानन्द समझा रहे थे चेहरे के हाव-भाव, भ्रूलताओं की भंगिमा और कटाक्ष का गूढ़ रहस्य । कृष्ण के सुखवर्धन की भूमिका थी उनकी । रामानन्द थे इन नायिकाओं की सखी । प्रद्युम्न मिश्र सब देखकर निराश लौट आये । चैतन्य के आगे संशय प्रकट किया तो उन्होंने समझाया : 'देखो, रामानन्द की शक्ति ! रूपवती तरुणियों के संपर्क में आकर भी वे निर्विकार हैं । प्रेम-साधना में सिद्धि पाकर ही वे इस सर्वोच्च अवस्था को पहुंचे हैं ।' अगले दिन प्रद्युम्न मिश्र फिर वहाँ गये । उन्होंने देखा कि रामानन्द कृष्ण-रस की चर्चा करते हुए भाव-विह्वल हो जाते हैं । तब जाकर उन्हें रामानन्द का माहात्म्य समझ में आया ।

कहना न होगा कि राय रामानन्द जैसे भक्तितत्त्व के निगूढ़ रहस्यवेत्ता को प्रकाश में लाने का मुख्य निमित्त उनका चैतन्य महाप्रभु के साथ प्रगाढ़ संबन्ध बना । गौड़ीय वैष्णवों ने उनकी यशोगाथा का अपनी रचनाओं द्वारा चतुर्दिक् प्रसार किया ।

साधना के इस परम रहस्य को आयत्त करने के कारण ही प्रेमाभक्ति-साधना में जहाँ श्रीचैतन्य को राधाभावस्वरूप तथा दामोदर को ललिताभावस्वरूप माना जाता है, वहाँ राय रामानन्द को विशाखाभाव का स्वरूप माना जाता है ।

राधाकृष्ण-लीलासंबन्धी इनकी एक रचना 'मर्म-निरूपण' नाम से मिलती है । जगन्नाथजी की सेवा-पूजासंबन्धी इनकी कृति 'दण्डात्मक-लीला' कलकत्ता से प्रकाशित हुई है । संस्कृत एवं व्रजबोली में भी इनकी रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं । किन्तु इनकी

उड़िया रचनाओं का अब तक पता नहीं चल सका है। या तो ये पोथियाँ काल के गर्भ में दब गयीं अथवा योगमार्गीय साधकों की उपेक्षा का शिकार हो गयीं। रागानुगा भक्तिमार्ग की उच्चतम साधना का इतिहास रामानन्द के नाम से जुड़ा है। इनका यथार्थ भौतिक परिचय आज भी अज्ञात है।

यहाँ इनको भाव-साधना का परिचायक 'ब्रजबुली' में रचित एक पद उद्धृत है :

पहिलहि राग नयन-भंग भेल।
अनुदिन बाढ़ल अवधि ना गेल॥

ना सों रमण ना हाम रमणी।
दुहुं मन मनोभाव पेशल जानि॥

ए सखि सो सब प्रेम-काहिनो।
कानुठामें कहबि बिछुरह जानि॥

ना खोजलूं दूति ना खोजलूं आन।
दुहुँक मिलने मध्यत पाँच-बान॥

अब सो बिरागे तुहँ भेलि दूति।
सुपुरुख-प्रेमक अइछन रीति॥

बर्द्धन-रुद्र नराधिप-मान।
रामानंद राय कबि भाण॥

'नेत्रों के प्रथम मिलन में ही राग (प्रेम) हो गया और वह दिनोंदिन बढ़ता ही गया। उसकी कोई अवधि न रही। तब न वे रमण रहे और न हम रमणी। दोनों के मन पूर्णतः पिसकर एक हो गये।

'हे सखो! यह सब प्रेमकथा है, कान्ह के आगे जाकर कहना कि किस तरह बिछुड़ी हुई हूँ। तब न दूती खोजी और न किसी अन्य को। दोनों के मिलन के बीच पंचबाण (काम) की ही मध्यस्थता थी। अब विरह के समय तू दूती मिली है। सुपुरुष के प्रेम की यही रीति है। प्रतापरुद्र महाराज के नाम पर रामानन्द राय कवि भणित कर रहे हैं।

शं. पु.

लक्ष्मीकान्त महापात्र

लक्ष्मीकान्त महापात्र का जन्म बालेश्वर जिले में १८८८ ई० हुआ था। बाल्यावस्था में ही इन्हें ऐसी व्याधि हो गयी थी जिससे इनकी अंगुलियाँ गल गयीं। अतः ये कलम नहीं पकड़ पाते थे, फिर भी बड़ी ही दृढ़ आस्था के व्यक्ति थे। किसी प्रकार लिखने का अभ्यास कर ही लिया। इनका मन गीत-धर्मी था। लेखनी से हास्य और व्यंग्य की जो धारा फूटती, अकल्पनीय होती। कवि-प्राणों में असीम वेदना भरी थी। इनका सारा परिवार राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम में कूद पड़ा था। राधा-कृष्ण के प्रति समर्पण-भावना तो लक्ष्मीकान्त के रोम-रोम में व्याप्त थी। इनके लिखे कृष्णकथासंबंधी कतिपय फुटकर गीत मिलते हैं। इनका देहावसान १९५३ ई० में हुआ।

इनकी वेदना-करुणासूचक कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं :

भेला मो जाउछि बुडि,
रख हे जगत साइँ।
आहुला देलिणि छाड़ि,
भरसा त दिशु नाहिँ॥

'हे जगत् के साइं (जगन्नाथ)! मेरा बेड़ा डूबने जा रहा है। मैंने पतवार छोड़ दी है। तुम्हारे सिवा तो और कोई भरोसा दीखता ही नहीं।'

शं. पु.

लक्ष्मीप्रिया ठाकुराणी

लक्ष्मीप्रिया ठाकुराणी को कुछ लोग श्रीरघुगोपाल गोस्वामी की शिष्या बताते हैं तो कुछ हरिदास पण्डित की। ये पण्डित हरिदास के समय में वृन्दावन में खुंटिया की राजकुमारी सतीदेवी के साथ राधाकुण्ड पर रहकर भजन और गोवर्द्धन की नित्य परिक्रमा किया करती थीं। ये नित्य तीन लाख हरिनाम का जाप तथा अत्यन्त आवेश एवं अनुरागयुक्त होकर युगलमूर्ति की सेवा करती थीं। गंगमाता-मठ की महन्त-परम्परा में

लक्ष्मीप्रिया ठाकुराणी का एक तैलचित्र है जिससे इनके उक्त स्थान के महन्त रहने का प्रमाण मिलता है।

अ. प.

लोकनाथ दास

लोकनाथ दास का एक अन्य नाम 'लोकनाथ विद्याधर' भी है। ये खुर्धा महाराज के मंत्री जगन्नाथ विद्याधर के पुत्र थे और अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में विद्यमान थे। इनका जन्मस्थान बाणपुर के पास रोठंग था। मुकुन्ददेव और उनके बाद दिव्यसिंह देव के समय उड़ीसा में विद्वानों का पर्याप्त जमघट था। साहित्य की दृष्टि से यह समय अत्यन्त महत्त्व का माना जाता है। इस समय अनेक विशिष्ट रीतिकाव्य-प्रणेताओं का प्रादुर्भाव हुआ। दुर्भाग्यवश यह युग जगन्नाथजी के लिए कठिनाइयों से भी भरा था। बार-बार के मुगल आक्रमणों ने उड़ीसा के धार्मिक तथा सांस्कृतिक केन्द्र श्रीजगन्नाथ-मन्दिर के वातावरण को अस्त-व्यस्त कर दिया था। श्रीविग्रह को बार-बार रत्नवेदी से ले जाकर गुप्त सुरक्षित स्थान 'चिलिका' झील के बीच स्थित द्वीपों में रखना पड़ता था। जगन्नाथजी पर जब-जब विपत्ति आयी, बाणपुर के राजाओं ने रक्षा की। लोकनाथजी की रचनाओं में इन घटनाओं का कई जगह उल्लेख आया है।

लोकनाथ दास का जीवन ऐसे ही संघर्षपूर्ण समय में बीता था। शृंगारिक एवं अलंकृत काव्य-परंपरा के विरुद्ध जाकर इन्होंने जगन्नाथजी की भक्ति को ही अपना आधार बनाया। कृष्ण तथा उनके प्रतिरूप जगन्नाथजी की भक्तिसंबंधी इनकी अनेक उत्कृष्ट रचनाएँ मिलती हैं।

इनके कुछ ग्रन्थ पाण्डुलिपि के रूप में मिले हैं। मुद्रित ग्रन्थों की संख्या थोड़ी ही है। कृष्ण की वृन्दावन-लीला के वर्णन से सम्बद्ध 'वृन्दावन-बिहार' और जगन्नाथजी के विभिन्न महोत्सवों का वर्णन करनेवाला 'नीलाद्रि-महोत्सव' नामक दोनों ग्रन्थ अप्रकाशित हैं।

'वृन्दावन-विहार' में राधाकृष्ण के मिलन का वर्णन है। यह मिलन वृन्दावन के कुण्डों में होता है। इस काव्य की भाषा संस्कृतनिष्ठ है। 'नीलाद्रि-महोत्सव' में इन्होंने जगन्नाथजी की 'गुंडिचा-यात्रा' (रथयात्रा) का आकर्षक चित्रण किया है। वर्षा के आरंभ में जगन्नाथजी के इस विराट् पर्व का विशद वर्णन हुआ है। इसके साथ ही महाप्रभु की द्वादश यात्राओं (पर्वों) की सूचना भी दी गयी है।

इसके अतिरिक्त 'पद्मावती-परिणय' तथा 'सर्वांग-सुन्दरी' इनकी नायिका-प्रधान दो शृङ्गारिक रचनाएँ मिलती हैं। ये दोनों ही प्रेमगाथाएँ हैं। वर्णन-चातुर्य पारम्परिक है। भाषा सहज और प्रवाहमयी है। दोनों ही ग्रन्थ बहुत लोकप्रिय हुए हैं। इनकी 'चित्र-कला' नामक एक और छोटी-सी रचना मिलती है जो रीतिकालीन विषयों के वर्णन से सम्बद्ध है।

इनके जगन्नाथसम्बन्धी पदों में से इनकी प्रतिभा के निदर्शनस्वरूप एक पद प्रस्तुत किया जा रहा है जो 'नीलाद्रि-महोत्सव' से लिया गया है :

ए रूपे बिजे करंते सुषंमा दिशंति येते,
कहिले कि तहिं लेश, हुअइ शेष ये।
तथापि एमंत चिंतिह केबल प्रबंध-रीति,
पूर्बरु संहति अछति ये।
यथा कथोचित होइ सदृश उपमा पाइँ,
सम उपमा यद्यपि तांहि किमपि ये।
तेबे हैं बर्णना करि नोहिले कबि-चातुरी,
कबित्व-लक्षण दुहें भले न रहे ये।
शोभित बचन नाहिं न कहिले है न हुइँ,
तेणु करि सिवा कहि, नोहिले काहिं ये।

'रूप-सौन्दर्ययुक्त प्रभु इस प्रकार विराजमान हैं कि कितना ही कहो, कभी शेष होता ही नहीं। यह सोचकर कि प्रबंध (काव्य) की यह रीति है, पूर्वसूरि कविगण कहते आये हैं। जैसा कहा जा चुका है कैसे भी, तो उसकी अबतक उपमा ही नहीं मिली। तब भी वर्णन कर रहे हैं, अन्यथा न कवि-चातुरी रहेगी और न कवि का यह वर्णन ही यथार्थ वर्णन होगा।

उसके लिए उपयुक्त शब्द मिलते ही नहीं और बिना कहे रहा नहीं जाता। अतः यह सब कहना पड़ रहा है। वरना कहाँ वे और कहाँ ये शब्द ?'

इस युग में उड़िया का शृंगार-साहित्य काफी समृद्ध हुआ। भक्तिधारा भी समानान्तर प्रवाहित होती रही। यह वह समय था जब मुगलों के आक्रमण से उड़ीसा के मन्दिर ध्वस्त हो रहे थे और यहाँका सारा सांस्कृतिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। लोकनाथ के काव्य में वह औदात्य और अनन्यता नहीं मिलती जो पूर्वसूरियों की कृतियों में मिलती है। फिर भी कृष्ण-चरितसम्बन्धी दो-तीन रचनाओं में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है।

नीचे 'वृन्दावन-बिहार' से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं :

आज मुं जाइथिलि वृंदावन,
देखिलि तहिं दिव्यपुरमान,
मदन तहिं होइला कि राजा,
केमंत करि पालिवटि प्रजा।
धन्य से नगर, केते जाहिर,
होइछि प्रचार।।

'मैं आज वृन्दावन गयी थी, वहाँ मैंने दिव्यघर देखे। लगता है, मदन वहाँ राजा हो गया है। भला वह प्रजा-पालन कैसे करेगा ? धन्य है वह नगर ! वहाँ कितने प्रकार की बातों का प्रचार हो रहा है ?'

इनकी शृङ्गारपरक रचना का एक उदाहरण देखें :

देखु देखु घोर तम घोटिला,
कांत आशा नारी राग नाशिला।
काम अजय कि प्रकाश हेला,
कालदेवता कि जगतजाक ग्रासिला ए।।

'नायिका प्रतीक्षा में बैठी है। देखते ही देखते घोर अंधेरा घिर आता है। उसके मन में कांत के प्रेम की आशा ही समाप्त हो चली। लगता है, जैसे (इस तिमिर में) काम के अजेयरूप का प्रकाश हुआ है अथवा कालदेव ही समूचे जगत् को ग्रस गया है।'

शं. पु.

लोकनाथ पटनायक

लोकनाथ पटनायक का जन्म पुरी में १८९७ ई० में हुआ था। पिता का नाम श्रीदामोदर पटनायक एवं माता का नाम शोभादेवी था। इन्होंने १९२५ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय से दर्शन विषय में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्तकर एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। उसके बाद वकालत पासकर पुरी में आकर प्रतिष्ठित वकील बने। १९६२ ई० में पुरी के गजपति महाराज ने इन्हें 'विद्यारत्न' की उपाधि से विभूषित किया। इन्होंने लगभग तीन हजार ओड़िशी भजन, चम्पू, पल्लीगीत, कीर्तन, शिशु-गीत आदि लिखे हैं। इनकी रचनाओं को 'संगीत-चन्द्रिका' नामक संकलन में प्रकाशित किया गया है। इन्होंने गीत-शैली में 'छन्द रामायण' की रचना की है। १९६५ ई० में इनका देहावसान हो गया।

यहाँ जगन्नाथ महाप्रभु की महिमा का उद्घाटन करनेवाला इनका एक छन्द उद्धृत है :

जगबंधु बड़ हटिआ
अघट घटिआ (रे अघट ...)
मंचारु पकाइं मामुकु माइला
बालिकि माइला पछपटिआ।।
नंदपुअ नुआ नटिआ
कपटिआ पोत पटिआ।
माइं संगे केते रंग लगाइला
बरज-जुबती पट लुटिआ।।

चका डोला बड़ गंठिआ
जगज्जन मन लुंठिआ।
काहाकु देइछ कोठिआ बेठिआ
काहाकु देइछ तुछा माठिआ।।

'हे जगबन्धु ! आप बड़े हठी हैं। आप अघट को घटित कर देते हैं, बहुत नटखट जो ठहरे ! मंच से

गिराकर मामा को मारा और बालि को पिछवाड़े से मारा। सचमुच नन्दलाल नटवर हैं, वे पीतपट पहननेवाले बहुत कपटी हैं। देखो ना, मामी के साथ कितना रंग लगाया? व्रज-युवतियों के वस्त्र लूटनेवाले हैं। सचमुच चकाडोला (विशाल नेत्र) बहुत गठीले हैं। जगज्जन का मन लूटनेवाले हैं। किसीको तो उन्होंने कोठा, बैठक दी है तो किसीके घर में खाली मटके रखे हैं।'

शं. पु.

वंशीवल्लभ गोस्वामी

वंशीवल्लभ गोस्वामी उड़ीसा में 'तामसा' (तमाशा) शैली के नाटकों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म १७२८ ई० में भद्रक के निकटवर्ती संगत नामक ग्राम में हुआ था। इन्होंने सात प्रकार के तमाशों की रचना की है। नाटक-मंडली बनाकर ये उनका मंचन भी कराया करते थे। उनमें प्रमुख हैं: भील तामसा, योगी तामसा, फकीर तामसा, लोलिन तामसा, मजाबाइ तामसा, मोगल तामसा और राधाकृष्ण तामसा।

'राधाकृष्ण तामसा' की संक्षिप्त कथावस्तु इस प्रकार है—गायें खो जाने पर कृष्ण ग्वाल-बालसहित उन्हें खोजने निकल पड़ते हैं। उधर गोपियाँ राधा के साथ मथुरा में दही बेचने निकली हैं। वे माथे पर दूध-दही की मटकियाँ लिये हैं। रास्ते में कृष्ण और राधा की भेंट हो जाती है। गोपाल दूर से इस दृश्य को देखते हैं। वे राधा से घाट पर दाण (कर) माँगते हैं। कर न देने पर रास्ता न देने का हठ करते हैं। तब राधा न केवल दूध-दही देने को सहमत होती हैं, वरन् जन्म-जन्मांतर की दासी होने के लिए भी स्वयं को उत्सर्ग कर देती हैं। राधा और कृष्ण का अपूर्व मिलन होता है और सभी ग्वाल-बाल मिलकर गीत गाने लगते हैं।

यह तमाशा व्रज, बंगला, फारसी, अरबी, उर्दू आदि अनेक भाषाओं के मिले-जुले शब्दों से निर्मित है। व्रजबोली-साहित्य की परम्परा में निर्मित यह एक दुर्लभ नाट्यकृति है। इनका लिखा 'मुगल तामसा' हाल में ही मंचित होकर ख्याति पा चुका है। उसी परंपरा में यह 'राधा-कृष्ण तामसा' अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

शं. पु.

वनमाली दास (पटनायक)

उड़ीसा में वनमाली दास नाम के कई कवि हुए हैं। वैष्णव भक्त वनमाली का प्रारंभिक नाम 'वनमाली पटनायक' था। इनका आविर्भाव पुरी में अठारहवीं सदी के आरंभ में होने का अनुमान किया जाता है। यह समय वीरकेशरी देव के राजत्व (१७३७-१७९२ ई०) का था। बचपन में विद्याध्ययन के समय से ही इनकी काव्य-रचना में विशेष प्रवृत्ति थी। उपेन्द्र भंज इनके आदर्श थे, अतः प्रेम और सौन्दर्य को लेकर इन्होंने अनेक शृंगारिक गीतों की रचना की है। गृहस्थ होने के कारण ये जल्दी ही स्वप्न और यथार्थ का अंतर समझ गये। उड़ीसा में यद्यपि 'दरबारी कवि' जैसी कोई परंपरा कभी नहीं रही, फिर भी राजकीय संरक्षण में रहनेवाले कवियों को राजानुग्रह के लिए कभी-कभी अपनी रचना उनके नाम पर अर्पित करनी पड़ती थी। वनमाली के कुछ गीतों के इसी प्रकार उत्सर्ग करने की बात का अनुमान लगाया जाता है।

कालान्तर में धीरे-धीरे ये जगन्नाथजी की ओर आकृष्ट होते गये। पुरी के ही एक मठ के महंत श्रीचरणदास के संपर्क में आने के बाद वैष्णवधर्म ने इन्हें और भी आकर्षित कर लिया। अब इनकी दृष्टि में जगन्नाथ ही श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण ही जगन्नाथ हो गये। इस बीच उड़ीसा की राजनीतिक स्थिति अस्थिर थी। अतः ये सब कुछ त्यागकर वृन्दावन चले गये और अंतिम दिनों तक वहीं रहे।

वनमाली दास की राधाकृष्ण-लीलाश्रयी रचनाएँ उत्तरोत्तर प्रेमाभक्तिमूलक होती गयीं। कवि ने दास्य-भक्ति में निमज्जित रहते हुए भी माधुर्य-भक्ति को श्रीकृष्ण की नैकट्य-प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन बताया

है। परिणत वय में ये वृन्दावन चले गये थे, फिर भगवत्-चिंतन और राधाकृष्ण की प्रेमलीला का गान ही इनकी जीवनचर्या हो गयी। यहीं इन्होंने अपनी ऐहिक लीला संवरण की। पुरी में इनका एक मठ है।

इनके समूचे रचना-संसार को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं: (१) भजन, इनमें राधा-कृष्ण के भक्तिभाव-प्रेरित गीत 'जणाल' आदि आते हैं। (२) मन-शिक्षा, इन पदों में उपदेशात्मकता का प्राचुर्य है। इस संदर्भ में संसार से वैराग्य तथा जीवन में चरित्र के महत्त्व को लेकर अनेक पद लिखे गये हैं। (३) लीला-पदावली, यह इनकी सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है। इन्होंने भगवान् की आनंददायिनी अनंत लीलाओं को छोटे-छोटे पदों में बाँधा है। इन रचनाओं में सरल और ललित पदावली का प्रयोग हुआ है। कृष्णभक्ति से उपजे इनके प्रेमसिक्त गीतों ने जनता के मन में गहरा स्थान बना लिया है। इन्होंने 'चाट इच्छावती' नामक एक छोटा-सा लोककाव्य भी लिखा है। वह भी भाषा की प्रांजलता और सहज अभिव्यक्ति के कारण बहुत लोकप्रिय हुआ है।

अपने मधुर गीतों के कारण इन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। यदि इनकी प्रारंभिक रचनाएँ लोकतत्त्व से समृद्ध हैं तो परवर्ती भगवत्तत्त्व से परिप्लुत। लोकतत्त्ववाली रचनाओं को ही 'ग्राम्यगीत' कहते हैं। भगवद्भक्तिसंबंधी रचनाओं में इन्होंने राधाकृष्ण की प्रेमलीला के अतिरिक्त जगन्नाथजी के विभिन्न पर्व-त्योहारों का भी सशक्त वर्णन किया है। कृष्ण-प्रीति की दृढ़ता के निदर्शन-स्वरूप ये कहते हैं कि 'राधा के विरुद्ध चारों ओर कुप्रचार हो चुका है, किन्तु वे उस ओर से निश्चिन्त हैं। वे मोहन-मुखपंकज को ही निरखते रहना चाहती हैं, चाहे कितनी भी निंदा हो या स्तुति, दोनों की उन्हें कोई चिंता नहीं।' इसी प्रेमभाव में तल्लीन वनमालीदास ने गीतों की रसमयी गंगा प्रवाहित की है जो हृदय को आनंदसागर में डुबो देती है। इनकी सरल शब्दावली और उसकी सहज गीतिमत्ता में सुगंधिपूर्ण स्वर्णहार की-सी छटा के दर्शन होते हैं।

इनके रचे कुछ पद यहाँ उद्धृत हैं:

(१)

जगन्नाथ हो, किछि मागु नाहिं मुं तोते।
धन मांगु नाहिं. जन मांगु नाहिं,
मागुछि सरधा बालिरु हाते॥

आन दरशन न लोड़े, नयन एका तुंभ देखा बिना।
शुणिबाकु कान, न इछइ आन, तुंभ चरिते कामना॥

जिह्वा न बांछइ, ग्राम्यगीत गाइबाकु रजनी-दिबस।
तुंभ नामाबली केबल संखाली, होइथाउ पीतबास॥

नासा मोर तृप्ति न लभइ आन, सुबास द्रव्य आघ्राणे।
तब छडामाल तुलसी कुसुम, चंदन कर्पूर ध्याने॥

मो हस्त अंगुलि राम बनमाली हरेकृष्ण जपुथाउ।
बोले वनमाली मो बेनि चरण, तो तीर्थ-भ्रमणे धाउँ॥

'हे प्रभु जगन्नाथ! मैं तुमसे न धन माँगता हूँ, न जन। मैं ऐसी कोई वस्तु नहीं माँगता। केवल श्रद्धा-सैकत अंजुलीभर माँगता हूँ। मेरे ये नेत्र तुम्हें देखने के सिवा किसी और के दर्शन की कामना न करें। कान तुम्हारे चरित्र के अतिरिक्त और कुछ सुनने की इच्छा न करें। रात-दिन यह जीभ और किसी संसारी ग्राम्यगीत को गाने की वांछा न करे। हे पीतांबरधारी! तुम्हारी नामावली ही मेरी प्रियसंपदा हो। मेरी नासा किसी अन्य सुगंधित द्रव्य का आघ्राण करना ही न चाहे। सारे चंदन-कर्पूर का ध्यान तुम्हारे श्रीअंग को स्पर्श कर चुकी तुलसीमाला में समाहित हैं। मेरे हाथ की अंगुलियाँ राम-कृष्ण का नाम जपते हुए माला फिराती रहें। वनमाली कहते हैं कि मेरे पाँव तो तुम्हारे दर्शनों के लिए सदा व्यग्र हो दौड़ते रहें।'

(२)

सही, निकुंज-बने बंशी बजाए गो।
श्रुति जुगें सुधा बरषाए गो॥
के बन-देबता कि मंत्र गाए,
पल्लबित करे द्रुम लताए गो॥
पतिव्रता सती मति भुलाए,

मनमथ-शरे तनु कँपाए,
लज्जा-ग्रंथि कि यत्ने फिटाए गो ॥

तोलिला कुसुम करु खसाए,
असंभब कु संभब कराए,
शुणा त न थिला आजि जाएँ गो ॥

बनमाली एहु रसरे गाए,
ता बिनु मुरली आन के पाए,
सही, सहि नागर कान्हा ए गो ॥

'हे सखी ! निकुंज-वन में यह वंशी कौन बजा रहा है ? श्रवण-युगल में कौन सुधा-वृष्टि कर रहा है ? अथवा यह कोई वनदेवता मंत्र गा रही है, जिससे कि द्रुम-लतादि पल्लवित हो रही हैं ? खग और मृग तक में प्रीति का संचार कर रहा है। मन्मथ के बाण से समूची देह थर्रा रही है, यहाँतक कि पतिव्रता सती तक की मति को यह भ्रमित कर रहा है। अहो ! देख, लज्जारूपी ग्रंथि को किस यत्न के साथ खोल रहा है ! धीरे-धीरे हाथ में थामें फूल को भी (बेसुध कर) खिसका रहा है। कैसे यह असंभव को भी संभव किये दे रहा है ? ऐसा आजतक कभी सुना नहीं गया ! स्वयं वनमाली इस रस में गा रहे हैं। अरे ! सुन, उनके बिना और कौन मुरली पा सकता है ? सखी ! वही नागर कन्हाई ही है जो वंशी बजा रहा है।'

राधा एक सखी से अपनी अवस्था का वर्णन करती हैं :

(३)

मोहन चातुरी लो प्रिय,
सहि हृदय कतुरी लो।
श्याम तपन-तनया-तट रे,
मुरली देइ सुरंग अधरे।
बजाउछि सखि मठ-मठरे,
लागि रहइ मानस ता ठारे॥
नंद-पुअकु बिचित्र अठारे,
गठिथिला बिहि केते माठिरे।
नोहिले कि नेत्र पड़े ताठारे,
लाखि रहइ न रहे मोठारे॥

छड़ाउछि लाज भय मिशाई,
काहिं पाइँ चित्त देलि रसाइ।
जाणि न थिली भगारी हँसाइ,
सती-बरत कु देलि भँसाइ॥

वनमाली बोले चिंता न कर,
मोहन तुंभर किणा किंकर।
चखाअ ताहांकु स्नेह-शाकर,
अनुसरि थिबि जोड़िण कर॥

'हे प्रिय-सखी, मोहन की चतुराई ऐसी है कि क्या कहूँ ? वह तो हृदय को खींच लेती है। श्याम यमुना के किनारे होठों पर मुरली रख लेते हैं और मजे में बजाते हैं। इससे मानस उन्हींमें लगा रहता है। नन्दसुत में पता नहीं कैसा गोंद लगा है जो मन उन्हींमें चिपका रहता है। क्योंकर मैंने संभ्रम, लाज, सब कुछ त्यागकर अपना मन वहाँ लगाया, अपना सतीव्रत भी बहा दिया ? उसे मैं पहचानती ही न थी। वनमाली कहते हैं कि मोहन तो क्रीत किंकर हैं। बस, उन्हें स्नेह-शर्करा चखा दो तो हाथ जोड़े चले आयेंगे।'

(४)

एक सखी दूसरी सखी से कह रही है :

आलो सहचरि !
हेलि लोहकार सण्डुआसि परि।
केतेबेले जले केबे बा अनले दुइ कथा समसरि।
पीरति करि के होए सुखी,
सखि, मुँ हेलि परम दुःखी।

'हे सहचरी ! मेरी दशा तो लुहार की संड़सी जैसी हो रही है। वह जैसे कभी जल में पड़ती है तो कभी अनल में। उसके लिए दोनों स्थितियाँ समान हैं। भला प्रीति करके कभी कोई सुखी हो सकता है ? हे सखी, मैं तो परम दुःखी हो गयी।'

वनमाली की अनन्य भक्ति का सूचक एक और पद यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। इसमें पतितपावन प्रभु के प्रति कवि का अनन्यभाव प्रकट हुआ है :

(५)

पतितपावन गतिदायक हे
अति त अरक्ष मुँहि।
कतिरे तुंभर एतिकि जमाण
क्षयुं छड़ा हेबि नाहिं॥

टेरा बाड़ पछे उभा होइथिबि
धूप अबकाश बेले।
छेरा पँहरा नउकरी पणरे
खटणी खटिबि हेले।
छत्रिश नियोगी मध्यरे
गणिब मणिमा हे मोते निति।
ढालुथिबि भावे चामर
आलट गाइ तुंभ गुण गीत॥

'पतितों का उद्धार करनेवाले, गति-मुक्ति देनेवाले हे नाथ ! मैं तो अनाथ हूँ, आपके सामने इतना ही निवेदन कर रहा हूँ कि बस, इस बाड़ के पास खड़ा रहूँ। धूप-आरती के समय सेवा का अवसर पा जाऊँ। फिर छत्तीस नियोगी (सेवकों का समूह-विशेष) सेवकों में मेरी गिनती हो। इस अधिकार को पा जाने के बाद नित्यप्रति चंवर हाथ में लिये आपके लीला-गीत गा-गाकर डुलाता रहूँ। बस, यही आपसे माँग है।'

शं. पु.

वनमाली दास (शिष्य)

जगन्नाथदास के सोलह शिष्यों में वनमाली दास का भी नाम लिया जाता है। बाणपुर के निकट भाटपड़ा ग्राम (जिला पुरी) में इनकी 'सिद्ध-गादी' होने की बात कुछ विद्वानों ने स्वीकार की है। किन्तु संप्रति इसका कहीं अता-पता नहीं चलता। वैसे अब भी यहाँ एक प्राचीन मठ अवश्य है, पर उसके इतिहास की कोई सूचना नहीं है। आजकल पास के ही खजुरिया-मठ के अधिकारी इस मठ की संपत्ति की भी देखरेख करते हैं। 'चैतन्य भागवत' तथा 'जगन्नाथ-चरितामृत' से वनमाली दास की शिष्य-परम्परा का पता चलता है। ये सोलह सखियों में 'मदनसुन्दरी' के प्रतिरूप माने जाते हैं। इन्हें गुरु की पीकदान तथा पद्ममाल-सेवा का गौरव मिला था। इनके लिखे अनेक भजन मिलते हैं। इन्होंने 'रास' की भी रचना की थी। इसी नाम के एक दूसरे भक्त संगीतकार वनमाली दास हुए हैं। नामसाम्य के कारण कुछ लोग उन्हें भ्रम से जगन्नाथदास के शिष्य वनमाली दास से अभिन्न मान लेते हैं, किन्तु यह शुद्ध भ्रान्ति है।

शं. पु.

वल्लभनारायण बेहेरा महापात्र

वल्लभनारायण बेहेरा महापात्र का जन्म कोरापुट, के कायस्थ राजमन्त्री के परिवार में अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ था। इन्होंने 'विष्णुपुराण(भाषानुवाद')', 'तीर्थ-चिन्तामणि' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की है। कहते हैं कि तीर्थयात्रा के क्रम में एकबार जब ये भुवनेश्वर में निवास कर रहे थे तो 'शिवगीता' जैसे विशिष्ट काव्यग्रन्थ की रचना सात दिनों के भीतर कर डाली थी। वैष्णव भक्तों की परम्परानुसार विष्णु तथा उनके प्रसिद्ध अवतार कृष्ण की भाँति ही शिव में भी इनकी प्रगाढ़ आस्था थी।

शं. पु.

विक्रमदेव वर्मा

विक्रमदेव वर्मा जयपुर (कोरापुट) के राजा और सिद्धहस्त कवि थे। 'विक्रम-रचनावली' में इनकी सभी कृतियाँ संगृहीत हैं। 'संगीत-राधा-माधव' इनकी प्रमुख काव्यकृति है। इसमें भजन एवं गीत संकलित हैं।

शं. पु.

विश्वम्भर राजेन्द्र देव

विश्वम्भर राजेन्द्र देव चिकिटि (जिला गंजाम) के राजा थे। चिकिटि परम्परा से साहित्यकारों का पृष्ठपोषक राज्य रहा है। इनका जन्म १८५१ ई० में हुआ था। इनकी रचनाओं में 'कृष्ण-लीला' तथा 'राधाप्रेम-लीला' प्रसिद्ध हैं। इन दोनों के अतिरिक्त इनके लिखे कुछ गीत (चौपदी) भी मिलते हैं। इनका एक पद उद्धृत किया जाता है।

कृष्ण के सौन्दर्य पर मुग्ध हो एक गोपी अपनी सखी से कहती है :

रे संगात चाहाँ ए नंदनंदन।
ए गोप नगरी थिबार नागरी स्तन कर्पुर-चंदन ॥

ए डाल घनकु मसाट वर्णकु,
थिकारुछि अपघन।
उदित बन रे बांछित दान रे।
श्रीहरि हरिचंदन रे ॥

'अरी ओ सखी ! इधर इन नन्दनंदन को देख तो सही। इस गोप-नगर की सभी नागरियों के स्तनों का कर्पूर-चन्दन स्वयं कृष्ण ही हैं। इनकी देह सजल मेघ और तमाल वृक्ष की निन्दा कर रही है।'

शं. पु.

विश्वनाथ खुण्टिया

विश्वनाथ खुण्टिया को स्नेहपूर्वक 'बिशि खुण्टिया' कहा जाता है। इनकी जीवनी का स्पष्ट उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता। संभवतः ये अठारहवीं सदी में दिव्यसिंह देव के आरम्भिक शासनकाल में विद्यमान थे। इनकी रचना में रथयात्रा के अन्तिम चरण 'बहुड़ा-यात्रा' के समय दिव्यसिंह देव की उपस्थिति का वर्णन मिलता है। इन्हें उपेन्द्रभंज का समसामयिक बताया जाता है।

कवि विश्वनाथ पुरी में आकर रहे और जगन्नाथ के गुणगान में ही इन्होंने जीवन विताया। जगन्नाथ को ही ये रामरूप में देखते हैं। इनकी प्रसिद्ध रचना 'विचित्र रामायण' है। रामायण के चिरपरिचित काण्डानुसार इन्होंने सर्ग-विभाजन किया है और विभिन्न रागों एवं छन्दों का प्रयोग करते हुए रामकथा को अत्यन्त सरस एवं अभिनेय बनाया है। उड़ीसा में आज भी इसे नृत्य-वाद्यसहित खूब चाव से लीलारूप में प्रस्तुत किया जाता है। बाद में अनेक लीलाधर्मी 'रामकाव्य' लिखे गये, पर बिशि की 'विचित्र रामायण' आज भी लोकप्रियता में सबसे आगे हैं। इसका कारण इसकी सहजता, नाटकीयता एवं छन्द-वैविध्य है।

'विचित्र रामायण' के आरम्भ में ही ये स्पष्ट कर देते हैं कि जगन्नाथ और अवतारी हैं उनके रामावतार के समय विभीषण उनके परम भक्त थे। कलियुग में भी विभीषण जगन्नाथजी की रथयात्रा के समय उनके दर्शनार्थ उपस्थित होते हैं। दक्षिण महोदधि के तट पर जगन्नाथरूपी राम और सीता के दर्शन कर विभीषण परम आनन्द पाते हैं। यात्रा-समाप्ति के बाद इन्होंने लक्ष्मीनारायण-मिलन की पारम्परिक विधि का मोहक वर्णन किया है। इस प्रकार इन्होंने जगन्नाथ, कृष्ण, राम आदि की अभिन्नता का प्रतिपादन कर मध्यकालीन भक्तों की उदार दृष्टि तथा समन्वयवादी प्रवृत्ति का सम्यक् निर्वाह किया है।

यहाँ विचित्र रामायण' के रथयात्रा-प्रसंग से कुछ अंश उद्धृत किया जा रहा है :

श्रीजगन्नाथ चढ़िण नंदिघोष,
गुण्डिचा-घरे बिजय।
देखि नाग नर गंधर्ब
किन्नर करुथांति जय जय ॥

रत्न-कुण्डल मुकुट ब्याघ्रनख,
बीरचूल कण्ठमाल।
हृदय पूरि पदक घंच,
घंच पद्‌ममाल पदतल ॥

'श्री जगन्नाथजी अपने नन्दिघोष नामक रथ पर विराजमान होकर 'गुंडिचा-घर' की ओर प्रस्थान कर

रहे हैं। यह अनुपम दृश्य देखकर नाग, नर, किन्नर, गन्धर्व सभी उनकी जयजयकार कर रहे हैं। उनके कानों में रत्नखचित कुण्डल एवं सुन्दर मुकुट है। व्याघ्रनख शोभा पा रहे हैं। लम्बे केश एवं गले में माला प्रलंबित है। घने पदक (रत्नजटित चौकी) से हृदयस्थल परिपूरित है एवं चरणों तक पद्ममाल शोभा पा रही है।

शं. पु.

विष्णु दास

विष्णु दास सत्रहवीं शती के पूर्वार्ध में वर्तमान थे। यह उड़िया में शृङ्गार-सौन्दर्यनिरूपण के चरम उत्कर्ष का युग माना जाता है। इन्होंने बाणपुर के तत्कालीन राजा रघुनाथ हरिचन्दन को काव्यशिक्षा दी थी। इनका अधिक समय पुरी में ही बीता। ये जाति के ब्राह्मण और कर्मकाण्ड के विशिष्ट ज्ञाता थे। जगन्नाथजी के प्रति इनकी अटूट भक्ति थी। इनकी सभी रचनाओं में कृष्ण या जगन्नाथजी के प्रति एकनिष्ठ प्रणति का भाव मिलता है। वनमाली दास और धनञ्जय भंज के काल में सौन्दर्यवर्णन-निपुणता होने के कारण इन्होंने अनेक राजसभाएँ मण्डित की थीं। ये संस्कृत साहित्य एवं काव्यशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी 'प्रेम-लोचना' शीर्षक शृंगारिक रचना मिलती है। इस काव्य की संरचना जायसीकृत 'पद्मावती' से कुछ हद तक तुलनीय है। इसमें निरूपित प्रेमपद्धति सूफी-शैली की नहीं है, फिर भी सौन्दर्य-वर्णन, पूर्वराग-वर्णन, सिंहल-यात्रा आदि अनेक विवरणों में समता का आभास मिलता है। नायक-नायिका के मिलन में हंसपक्षी का महत्त्व इसकी अपनी विशेषता है।

इसी प्रकार हंस का एक विशिष्ट प्रयोग विष्णु दास ने 'विरह-तरंग' में किया है। कृष्ण मथुरा आकर कंसवध के पश्चात् एक दिन चन्द्रमा को देखते-देखते अतीत में खो जाते हैं। वे विरह-वेदना से व्याकुल हो उठते हैं। अपने अंतरंग सखा उद्धव को बुलाकर उन्हें व्रज भेजते हैं। इधर व्रजनारियाँ कृष्ण-विरह में कातर हो दिन बिता रही हैं। उनका विश्वास है कि कृष्ण मथुरा में नवनागरियों के प्रेम में लीन होकर उन्हें बिसरा बैठे हैं। वे इसी प्रकार मिलकर विचार कर रही हैं कि कोई राजहंस वहाँ आ पहुँचता है। उसे बीच में बैठाकर वे अपना दुःख-दर्द सुनाती हैं और सन्देश कहती हैं : 'बस, तुम उनसे प्रेमविस्मरण-मन्त्र पूछ आओ। इतनी कृपा हम पर करो।' इसी बीच उद्धव वहाँ आकर उनकी दीनदशा देखते हैं। उनसे कृष्ण की विरह-वेदना का वर्णन कर लौट जाते हैं। इस प्रकार इस शृङ्गारप्रधान रचना में गोपांगनाओं और कृष्ण का प्रेम तथा विरह ही प्रमुख है।

इसके अतिरिक्त 'कलावती', 'सावित्री-चरित' आदि कुछ अन्य काव्यग्रन्थ भी इनके द्वारा लिखे जाने की बात विद्वानों ने कही है। चौंतीस पदों में रचे 'चौंतीसा' ग्रन्थ भी इनके नाम पर उपलब्ध हैं। इनमें संक्षेप में पारम्परिक प्रेम-कथानक लिखे गये हैं, जिनमें कहीं-कहीं इनकी कल्पनाशक्ति का निदर्शन हुआ है।

नीचे इनकी रचना-शैली एवं भक्तिभावना के व्यंजक तीन पद उद्धृत किये जाते हैं :

(१)

जाहा लोचन-युगल-अरविंद देखि खंजन निंदा कर,
चाहिंबा चंचल भाव शरधारे विनय होइ ओष्ठ धर।

हंस हे एबे ता नयन युगल,
निरंतरे नीरमान झरि झरि धोइहोइलाणि कज्ज्वल।

'जिन युगल-लोचनरूपी अरविंद को देखकर खंजन की निंदा करते, अब सहानुभूतिपूर्वक उन होठों को थामकर उनकी चंचलता को देखो। हे हंस! अब युगल नेत्रों से निरंतर नीर झरता ही रहता है और सारा कज्जल धुल गया है।

(२)

कृष्ण पद्मपाद चिन्ति विष्णु कहइ।
वचने कि स्वरूप ता शेष हुअइ॥

बचन न जाणइ जाणइ लोचन।
पुण केबल जाणइ रसिक जन ॥

'उन (श्रीकृष्ण के चरणकमल) के स्वरूप को भला कोई वचन से पूरा कह सकता है ? वाणी उसे नहीं जानती, लोचन ही उसके रूप को जानते हैं या फिर रसिकजन ही उसके संबंध में कुछ जान सकते हैं।'

गोपियाँ कृष्ण के विरह में अत्यंत व्याकुल हो जाती हैं। रात में चंद्रमा की ओर देखकर नाना प्रकार की भावनाएँ उनके मन में आती हैं। इनके 'विरह-तरंग' से इसी प्रसंग का एक छंद उद्धृत है :

(३)

तुंभ किरणे बहुत सुख पाइ
धिक्कारन्ते से आंभ मुख।
चाहिं चाहिं पुण पुण चुंबुथान्ति
अधिक लभुथांति सुख ॥

चंद्र हे दिने चंदन लेपि मोले
चिबुक के मोहर देइ बामकर
बहुत निंदा कले तोते।

'हे चंद्र ! तुम्हारी किरणों से अत्यधिक सुख पाकर उन्होंने हमारे मुख को बहुत धिक्कारा था। बार-बार तुम्हारी ओर देखकर चूम रहे थे और अधिक से अधिक सुख ले रहे थे। (किन्तु जब) मेरा चिबुक बाँये हाथ से उठाकर (मुखमंडल) देखा तब तुम्हारी बहुत निंदा की।'

शं. पु.

वृन्दावन दास

वृन्दावन दास महाप्रभु चैतन्य के समकालीन वैष्णव भक्त थे। इन्होंने 'चैतन्य भागवत' की रचना की थी। श्रीचैतन्य को इन्होंने 'सचल जगन्नाथ नीलाचले' अर्थात् जगन्नाथजी की सचल-प्रतिमा कहकर उनके प्रति अपनी भक्ति का परिचय दिया है।

शं. पु.

वृन्दावती दासी

वृन्दावती दासी का समय प्रतापरुद्र के राजत्व-काल में माना जाता है। जीवनी के बारे में इतना पता चलता है कि ये ईसाकी सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में विद्यमान थीं। उड़िया की नारी-कवियों में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। बहुत संभव है कि इनका प्रमुख ग्रन्थ सत्रहवीं सदी के अंतिम वर्षों में ही पूर्ण हुआ हो। इनका घर पुरी से लगभग २५ किलोमीटर दूर मलीपड़ा में था। इनके पति चन्द्रशेखर महापात्र करण कायस्थ थे। ससुरालवाले पारंपरिक वैष्णव थे। वृन्दावती जन्म से ही भक्ति-संस्कार से सम्पन्न थीं। अतः ससुराल में रहते हुए कृष्णभक्ति-साधना में इन्हें कोई बाधा नहीं पड़ी। अवश्य ही तत्कालीन साहित्यिक वातावरण भक्ति के प्रतिकूल था; क्योंकि प्रतापरुद्र के बाद दिव्यसिंह के शासन में रीति-काव्यधारा प्रबल थी। इसके बावजूद वृन्दावती प्रभुभक्ति में लीन होकर रचना कर रही थीं। इनकी रचना में कृष्णतत्त्व अत्यंत सरल भाषा में वर्णित है। इनकी एकमात्र कृति 'पूर्णतम चन्द्रोदय' ही अबतक उपलब्ध हो सकी है। इसमें व्रजलीला के साथ भागवत के प्रभाव से अन्यान्य लीलाओं का भी समावेश हुआ है। जीवन के अंतिम दिनों में ही ये इस कृति को पूरी कर पायी होंगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। रागानुगा भक्ति से अनुप्राणित होने के कारण इस ग्रंथ में कृष्ण की अनन्य भक्ति का वर्णन हुआ है। यह रचना पौराणिक शैली में अवश्य है, किन्तु पुराणों की तरह वर्णन-बहुल नहीं है। आरंभ में आलंकारिक होते हुए भी अंतिम अध्यायों की भाषा सहज प्रवाहमयी और प्राञ्जल हो गयी है। प्रसिद्ध भक्त भीमदास इन्हींके पुत्र थे।

वृन्दावतो के काव्यगौरवव्यंजक कुछ पंक्तियाँ उपर्युक्त ग्रन्थ से उद्धृत की जा रही हैं :

के कछु ताहांक सुन्दर,
नाहिं देबाकु पटांतर।
से अंगे अलंकार थाइ,
सुन्दर नोहिबे किपाइ।

बाम कुंडल अंश लोले,
भ्रूलता नेहिबे किपाइँ।
से भुरु चलिबाकु चाहिँ,
धइर्य कि पारिब रहि।
बंशी - बादने मनोहर,
कुंचित दिशइ अधर।
इषित हास परकाशे,
होइला परा होइ दिशे।
मरिबि मरिबि ता चाहिँ,
धइर्य धरि न पारइ॥

'कोई वताये कि उनका सौन्दर्य कितना है, मुझे तो तुलना कुछ सूझती ही नहीं। उन अंगों पर अलंकार पहुंच कर शोभित क्यों न होंगे? कुंडल कंधों तक दोलायित हो रहे हैं, धीरे-धीरे भ्रूलता चलायमान हो रही है। इन भौंहों का संचालन देखकर भला किसका धैर्य रह सकता है? वंशीवादन के समय वे मनोहर अधर कुंचित हो रहे हैं। तनिक-सा हास कैसा मोहक दिख रहा है। अब और धीरज न रहा, उन्हें ही देखते-देखते मरूँगी, उन्हें ही देखते मरूँगी। देखो ना वे मंजुल उँगलियाँ वंशी पर कैसे चल रही हैं?'

शं.पु.

वेणुधर (वैष्णवचरण दास)

वेणुधर (वैष्णवचरण दास) का जन्म १८९८ ई० में हुआ था। ये रणपुर (जिला पुरी) के राजा की रासमंडली में कार्य करते थे। वहाँ से भगतपुर (कटक) आये और स्वतंत्र रासमण्डली की स्थापना की। उड़ीसा में रासलीला ही नहीं, सभी प्रकार की लीला-रचयिताओं में वेणुधर अग्रिम स्थान के अधिकारी हैं। २९ वर्ष की आयु में इन्होंने वैष्णवी दीक्षा ली। इसके बाद वैष्णवचरण दास हो गये और सखीभाव से कृष्ण की उपासना इनके जीवन का लक्ष्य बन गयी। इन्होंने लिखा है :

निकुंज कु अभिसार कलाबेले, किशोरी-मुकुटमणि।
सिद्ध देहे सते दुःखी बेणुधर धरिब फुल बिंचणी॥

'जब निकुंज में अभिसार करने के लिए किशोरी-मुकुटमणि जायँगे, तब दुःखी वेणुधर फूलों का पंखा लेकर सेवा में होगा।'

वैष्णवचरण दास ने जयदेव के 'गीत-गोविन्द' और रूप गोस्वामी कृत 'विदग्ध-माधव' का उड़िया अनुवाद किया है। इनकी रची अनेक रासलीलाओं में मान-भंजन, पौगण्ड-लीला, व्रजवर्णन, निकुंज-बिहार, मथुरा-यात्रा, राधा-विनोद, निकुंज-मिलन राधा-प्रेमलीला, दोललीला, गोवर्द्धन-लीला, गोष्ठ-यात्रा आदि प्रमुख हैं। आपने खुले रंगमंच पर रास-लीला का प्रदर्शन करके लीला-परम्परा में एक नया प्रयोग किया था।

इन्होंने स्वयं तो असंख्य चौंतीसे लिखे ही, दूसरे भक्तों के गीतों और भजनों का संकलन भी किया। आपने 'गोपालकृष्ण पटनायक पद्यावली' का संकलन और संपादन करने के साथ ही विशिष्ट वैष्णव कवियों के सहस्त्राधिक पदों का संग्रह भी प्रकाशित करवाया है।

अंतिम दिनों में आप कोटसाही (टांगी के पास) में रहने लगे थे और वहीं राधा-गोविन्द-मठ की स्थापना थी। १९६२ ई० में इनका निकुंज-वास हुआ।

इन्होंने जगन्नाथजी के प्रति आत्म-समर्पण से पूर्ण अनेक पद लिखे हैं। एक पद यहाँ उद्धृत है :

अरक्षित बंधु आहे कृपासिंधु
अमल कमल डोला।

तिले मोह प्रति अकरुण नुह
प्रभुभक्त भावभोला हे!
दुरित-नाशन रथांगपाणि
रास-रसिक श्रीहरिंकि बा किस
अजणा मो दुःखश्रेणी हे।

'हे अरक्षितों के बंधु, हे कृपासिंधु! आपके कमल-नेत्र कितने पवित्र हैं। आप मेरे प्रति जरा भी अकरुण नहीं हैं। आप तो भक्त की भावना में डूब

जाते हैं। हे दुरित-नाशक, रथांगपाणि, रासरसिक, हे श्रीहरि आपको सभी जानते हैं।'

शं. पु

वैश्यहरि

वैश्यहरि का समय ईसाकी सत्रहवीं सदी के अंतिम भाग अथवा अठारवीं सदी के प्रारंभ में निश्चित किया जा सकता है। इनके गीतों में राधाकृष्ण-लीला के अनेक संदर्भ सुन्दर ढंग से परिस्फुट हुए है। यहाँ एक पद उद्धृत है :

राधा कृष्ण से अनुनय कर रही हैं :

हे पंकज-मुख ए कषणु रख,
कहंति श्रीमति सरिगल सुख।

मो शाशु जटिला नणन्द कुटिला,
प्रांगण रे मेल बसिछंति देख ॥

निशि हुए शेष आहे हृषिकेश,
होइच दिवस दिशे गिरि-शिख।

दक-दक छाति लभिलि मुं भ्रांति,
गुपत पीरति होइब परख ॥

भणे वैश्यहरि, चिंतंति श्रीहरि,
जाणि माहेश्वरी फेड़िबे दुःख ॥

"राधा कह रही हैं : हे पंकज-मुख ! इस कषण से रक्षा करो। सारा सुख सूख गया। मेरी सास अत्यंत जटिल है तो ननद है कुटिल। देखो, वे आंगन में बैठी हैं। हे हृषिकेश ! रात बीती जा रही है, गिरिशिखर पर सूर्योदय के लक्षण दीख रहे हैं। गुप्त प्रीत के सारे लक्षण दीख रहे हैं।' वैश्यहरि कहते हैं कि श्रीहरि विचार कर सारे दुःख दूर करेंगे।"

शं. पु.

वैष्णवपाणि

वैष्णवपाणि का जन्म सन् १८८२ ई० में हुआ था। इनका जन्मस्थान कोठपदा (जिला कटक) है। पिता सुदर्शनपाणि और मां चाँददेवी थी। इनका पितृप्रदत्त नाम 'शत्रुघ्न' था। ये बचपन में बहुत बीमार हो गये तो माता-पिता ने इन्हें वैष्णव-दीक्षा दिला दी। तबसे 'वैष्णवपाणि' कहलाये।

इनका प्रारम्भिक जीवन दारिद्रय में ही बीता। बाद में अपनी जाति से बाहर की कन्या से विवाह करने के कारण इन्हें जाति-बहिष्कृत किया गया। धीरे-धीरे इन्होंने अपना एक दल बना लिया। पहले ये कोठपदा के महंत की रंगशाला में अभिनय करने गये, किन्तु बाद में सुआंगु, यात्रा, गीताभिनय, गीतिनाट्य का मंचन करने लगे। आकर्षक अभिनय और अद्भुत रचनाकौशल के कारण इन्हें 'गणकवि' कहा जाने लगा। जनता के बीच इनकी लोकप्रियता अकल्पनीय थी। अपने जीवन के उत्थान-पतन का इन्होंने 'आत्मजीवनी-चरित' में मार्मिक चित्र खींचा है। इनके जीवन का उत्तर भाग घोर अभाव में बीता, पर ये अपनी निष्ठा में तब भी अविचल रहे।

उड़ीसा में कवि के रूप में जैसी प्रसिद्धि भक्त जगन्नाथ को मिली है वैसी ही ख्याति लोकनाट्यकारों में वैष्णवपाणि को प्राप्त है। इनके कुछ छंद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

निम्नलिखित पंक्तियों में अत्यंत काव्यमय ढंग से ये जगन्नाथजी से निवेदन कर रहे हैं :

पाणिर गुहारि पाणिरे
भासुछि बाणि सेवा करि करि।
पाशोरि न दिअ किशोरी-
बल्लभ आहे नीलाद्रि-बिहारी ॥

'पाणि (वैष्णव) की गुहार पाणी (जल) में बह रही है, वाणी की सेवा करता रहा, करता रहा। हे किशोरीवल्लभ, नीलाद्रि-बिहारी ! मुझे यों बिसार न दो।'

जगन्नाथ की मूर्ति को एक क्षण देखकर कवि विभोर हो जाते हैं :

कि मधुर तिनि मूरति, आहा भुला मन रे।
अटकि जाउछि नयन मन भुला मन रे।
छटके से सुधा करिण पान भुला मन रे ॥

'रे भूले मन ! यह त्रिमूर्ति कितनी मनोहर है। रे भूले मन ! नेत्र और मन इन विशाल नेत्रों के पास आकर अटक जाते हैं। रे भूले मन ! इस सौन्दर्य-सुधा का सुन्दर ढंग से पान कर।'

शं. पु.

शरणदास

शरणदास के जीवनीसंबन्धी तथ्य अभीतक अनुपलब्ध हैं। विद्वानों का मत है कि १५८१ ई० से पूर्व इनका समय नहीं हो सकता। पुरी में जगन्नाथजी के दोलोत्सव पर मुग्ध होकर इन्होंने 'चाचेरी-लीला' नामक ग्रंथ लिखा। यह प्रायः गद्य में ही रचा गया है, लेकिन इसे शुद्ध गद्य का उदाहरण भी नहीं कहा जा सकता। इसकी वर्णनशैली, वाक्य-विन्यास आदि में काव्यात्मकता के दर्शन होते हैं। जगह-जगह सुन्दर उपमाएँ सन्निविष्ट हैं। इस ग्रंथ का मुख्य विषय राधा-कृष्ण की प्रेमलीला है। इनकी राधा कृष्ण की विवाहिता हैं। इन्होंने राधा का चरित्र सर्वथा नये रूप में प्रस्तुत किया है।

यहाँ राधा लक्ष्मी का अवतार हैं और उनका पति चन्द्रसेन चन्द्र का अवतार। कृष्ण ने वेश बनाकर बता दिया कि सुहाग-रात में ही चन्द्रसेन मृत्यु को प्राप्त होगा। अतः अपनी कन्या को लेकर राधा का पिता कहीं जा छिपा। कृष्ण ने ही वेश बदलकर कहा : 'मैं वर बनकर चला जाता हूँ, विवाह की रात कन्या का स्पर्श नहीं करूँगा।' इस शर्त पर कृष्ण विवाह कर लेते हैं और उस रात मुँह फिराकर सोये रहते हैं। प्रातः अपने कुछ लक्षण छोड़कर चले जाते हैं। चन्द्रसेन नपुंसक होने के कारण राधा से डरा-डरा रहता है। एक दिन राधा के कान का बाला खो जाता है। वह संयोगवश कृष्ण को मिल जाता है। वे दोलोत्सव के अवसर पर विमान सजाते हैं। वहीं राधा से भेंट होती है। राधा को देखकर मुग्ध हो जाते हैं। राधा जब यमुना जाती हैं, कृष्ण और राधा के बीच मंत्रों का प्रयोग चलता है। अंततोगत्वा वृन्दावन में दोनों का मिलन होता है।

इस समूचे कथानक में शरणदास ने अपनी कल्पनाशक्ति के बल पर पारंपरिक कथा में नये-नये प्रसंगों को सन्निविष्ट किया है। राधा-कृष्ण के आपसी मंत्र-युद्ध में तत्कालीन समाज में व्याप्त बौद्ध तांत्रिकों का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

शं. पु.

शिशु अनंतदास

शिशु अनंतदास का जन्म १४८६ ई० में भुवनेश्वर से कुछ मील दूर बालीपटना गाँव में हुआ था। भविष्यवाणियों में लिखा है कि अनंतदास सूर्यवंश में उत्पन्न हुए थे। विभिन्न युगों में भगवान् के पाँच सखाओं में इनका भी नाम आता है। ये अपने को सबसे छोटा समझते थे। इसीसे इनके नाम के आगे 'शिशु' शब्द जुड़ गया और इनका संप्रदाय भी आगे चलकर 'शिशु-संप्रदाय' कहलाया। इन्होंने अपने जीवन को गुरुकृपा तथा साधना द्वारा उन्नत बनाया था। भुवनेश्वर के निकट खंडगिरि-पीठ बहुत दिनों तक इनका साधना-स्थल रहा है। यहीं इन्होंने अनेक भविष्यवाणियों तथा ब्रह्मज्ञानसंबंधी दार्शनिक साहित्य की रचना की थी।

परवर्ती काल में 'बारंग दास' इनके प्रधान शिष्य हुए। कटक जिले के जगतसिंहपुर तहसील में बारंग दास ने अपना मठ स्थापित किया। शिशु अनंत दास रचित अधिकांश साहित्य अबतक अप्रकाशित पांडुलिपियों के रूप में ही उपलब्ध है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संग्रह उड़ीसा-सरकार के संग्रहालय में है।

इन्होंने प्रायः सिद्धों की भाषा और प्रतीकों का प्रयोग किया है। इनकी कृतियों में मुख्यरूप से पिंड-ब्रह्मांडतत्त्व की व्याख्या और सृष्टि-प्रक्रिया का वर्णन मिलता है। इन्होंने चौदह ब्रह्मांड, पाँच मन, पचीस प्रकृति के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिये हैं। फिर 'हरे राम, हरे कृष्ण' इस षोड़शाक्षर-मंत्र का विश्लेषण किया है।

'हेतु' और 'मन' दो पात्रों के संवाद की शैली में परम जीव को लेकर ज्ञान और उसे ही कारण

कहकर उसका विश्लेषण किया है। निराकार को ही ये गुरु कहते हैं। इनके अनुसार परब्रह्म नारायण ही सृष्टि का सर्जन करते हैं। जीव-अजीव का भेद गुरुकृपा से ही मिटता है। गुरु-शिष्य की यह ब्रह्मज्ञानसम्बन्धी चर्चा प्रकाशमयी है, किन्तु भवग्रस्त जीवों को यह बाहर से अंधकारपूर्ण दिखायी देती है। इनका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'हेतु-उदय कहानी' है। इसके अतिरिक्त 'शिशु मन्त्र-विचार' जैसी इनकी कुछ छोटी-छोटी ताड़पत्र-पोथियाँ भी विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

शिशु अनन्तदास की भाषा प्राचीन ओड़िया गद्य का एक उत्कृष्ट नमूना है। इनकी अधिकांश रचनाओं में गद्य का ही प्रयोग हुआ है। शब्दावली सरल और लोकमूलक रखते हुए भी इन्होंने तत्त्वदृष्टि से गूढ़ बातें लिखी हैं। अतः इन शब्दों के माध्यम से तत्त्व ग्रहण करने के लिए गुरु का आश्रय लेना अत्यंत आवश्यक है। 'गुरु-सन्त-परम्परा' में इन्होंने जितने नाम दिये हैं, उनसे इनके बहुभाषाविद् तथा ज्ञानसम्पन्न होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। इनके अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं : 'भक्ति-मुक्तिदायक गीता', 'उदेबाखर', 'पिण्ड-ब्रह्माण्ड गीता', 'गरुड़-केशव चौंतीशा', 'अणाकार शबद' तथा 'अर्थंतारिणी'।

यहाँ इनकी रचना से कुछ छंद उद्धृत किये जाते हैं :

(१)

न जा तीर्थ-व्रत करि हृदे जप राम हरि।
कहंति अनंत शिशु तरिए भवकूप॥

'शिशु अनन्तदास कहते हैं कि हे प्राणी ! तीर्थव्रतादि की क्या आवश्यकता है ? तू हृदय में 'हरे राम' मन्त्र का जप करता रह, इसीसे तू संसाररूपी कूप से तर जायगा, उबर जायगा।'

(२)

मन कु स्तिरी वेश करि। होइबु नबीन किशोरी॥
• • •
ज्योति अंतरे दिब्यरूप। देखिब नील जे स्वरूप॥

'आत्मा या मन को स्त्री-वेश या राधाभाव में करके जब किशोरीभाव से अंतःकरण में उन्हें (श्रीकृष्ण को) भक्तिरस देकर देखोगे तो दिव्यरूप की वह ज्योति तुम्हें नीलस्वरूप में अवश्य उपलब्ध होगी। —'रहस-मंजरी'

शं. पु.

शिशु शंकरदास

शिशु शंकरदास का समय सोलहवीं सदी का मध्यभाग अनुमित किया जाता है। महाभारत के उषा-अनिरुद्ध-प्रणयप्रसंग को लेकर इन्होंने काव्य-रचना की है। 'उषाभिलाष' शीर्षक यह ग्रन्थ उड़िया में काफी लोकप्रिय है। यद्यपि यह प्रारम्भिक काव्य-रचना मानी जाती है, फिर भी अपनी सरल भाषा एवं सहज अभिव्यक्ति के कारण विशेष महत्त्व रखती है।

शं. पु.

श्यामकिशोर

श्यामकिशोर का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। इनके राधा-कृष्णसंबंधी कुछ स्फुट गीत मिलते हैं। यहाँ एक पद उद्धृत है।

श्रीकृष्ण राधा के आगे विनय कर रहे हैं :

आरे मो धनी न नाश मो आशा।
ए जगते तो बिनु बाला नाहिं मो भरसा॥

तु मोर नयन-तारा न लेख नखरे धीरा।
बुह तू बिमना धारा नोहिले गलि हि मरा॥

तो मान देखि मदन देउछि नाना कदन।
टेक तु चारु बदन आहा मो सुख-सदन॥

आरे सुनील-बसना कुंद-कोरक-दशना।
महो कि चाहिं बसना विनारु दास नाशना॥

कृष्ण बिनय भारती शुणि हेले तोष मति।
बठिले बेनि पिरति श्यामकिशोर बदति॥

"हे मेरे धन ! मेरी आशा का विनाश न करो। तुमही तो नेत्रों की तारा हो, नख से धरती न कुरेदो (विमन न बनो), अन्यथा मैं तो मर जाऊँगा। तेरा मान देखकर मदन मुझे किस तरह परेशान कर रहा है। हे मेरे सुख-सदन ! तनिक मुख ऊपर उठाओ। हे सुनील-वसना, कुंद-कोरक-दशना ! यों धरती की ओर देखती न बैठी रहो।' कृष्ण की यों विनय-वाणी सुन वे संतुष्ट हो गयीं। श्यामकिशोर कहते हैं कि इस तरह दोनों के बीच प्रगाढ़ प्रीति हो गयी।"

शं. पु.

श्यामकिशोर हरिचन्दन

श्यामकिशोर हरिचन्दन सरंगी (जिला गंजाम) के प्रसिद्ध कृष्णभक्त राजा श्यामचन्द्र हरिचन्दन के पुत्र थे। पिता के राज्य त्यागकर विरक्त होने पर ये गद्दी पर बैठे। अपने अंतिम दिनों में ये भी पिता की भाँति संन्यासी हो गये और संत 'चरणदास' नाम धारण कर लिया। पिता की तरह इन्होंने भी कई कृष्णभक्तिपरक काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें मुख्य हैं 'हरिवंश पुराण' का उड़िया में पद्यानुवाद, 'चौपदी-चंद्रिका' तथा 'महिमा-सागर।'

शं. पु.

श्यामसुन्दर देव

श्यामसुन्दर देव का जन्म १८०२ ई० में हुआ था। ये खुरधा (जिला पुरी) के गजपति वीरकेशरी देव के पुत्र थे। इन्होंने 'अनुराग-कल्पलता' काव्य की रचना की थी। इसकी विषयवस्तु राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला है। यह एक गीतबंध-काव्य है जिसके आठ अध्यायों को 'आठ स्तबक' कहा गया है। प्रत्येक स्तबक फिर 'आठ-आठ कुसुम' में विभाजित है। इस ग्रंथ का संपादन श्रीमती प्रमिला मिश्र ने हाल में ही किया है। इसमें सर्वत्र 'अ' वर्ण आद्यानुप्रास का प्रयोग हुआ है।

कवि ने प्रारंभ में ही जगन्नाथजी की वन्दना में दो पंक्तियाँ लिखती हैं :

अवनी बैंकुण्ठसम श्रीपुरुषोत्तम ।
अच्युत सर्वदा न तेजन्ति सेहु धाम ॥

'पृथ्वी पर श्रीपुरुषोत्तम-क्षेत्र वैकुण्ठ के समान है। स्वयं अच्युत इस धाम को कभी नहीं छोड़ते।'

शं. पु.

श्यामानन्द

श्यामानन्द का जन्म १५३४ ई० में चैत्र पूर्णिमा के दिन खड़गपुर के पास एक छोटे से गाँव में हुआ था। संप्रति यह बंगाल के मेदिनीपुर जिले से संबद्ध है। बचपन में इनका नाम 'दुखी' या 'दुखिया' रखा गया था। ये बचपन से ही गंभीर स्वभाव के थे। उसी समय से वैष्णवों में इनकी अपार श्रद्धा थी। कुछ बड़े होने पर 'भट्ट' नामक एक भक्त ने दीक्षा देकर इनका नाम 'दुखी कृष्णदास' रखा। वाद में ये वृन्दावन आकर श्री जीवगोस्वामी से मिले। वहाँ बारह बरस तक राधाकृष्ण-केलिकुंज में रहकर प्रभुसेवा में लीन रहे।

कहा जाता है इनकी निष्ठा से प्रसन्न होकर राधारानी ने इन्हें नूपुर प्रदान किये थे। वे ही नूपुर जब ये राधाजी के चरणों में अर्पित करने गये तो उन्होंने दुखी कृष्णदास के माथे पर नूपुर चिह्नअंकित कर दिया। उसे देखकर श्री जीव गोस्वामी ने आनंदित होकर इनका नाम ही 'श्यामानन्द' रख दिया और वह तिलक तब से 'श्यामानन्दी' कहलाने लगा। इसका पता पाकर इनके गुरु हृदयचैतन्य क्रुद्ध हो गये। वह वृन्दावन आये और सभा में बुलाकर धिक्कारते हुए बोले : 'तुमने गुरुप्रदत्त नाम और तिलक क्यों छोड़ा ?' श्यामानन्द ने विनम्र होकर कहा : 'यह तो गुरु का प्रसाद ही है। आपके आशीर्वाद से ही मिला है। गुरु ने उसे पोंछ डालने की आज्ञा दी तो श्यामानन्द ने विनम्रता से कहा : 'गुरुजी, यह आपका ही दिया हुआ है, अतः आप स्वयं ही ललाट से पोंछ दें।' गुरु पोछते-पोछते हार गये, किन्तु तिलक मिटने की तो बात क्या, वह और भी उज्ज्वल होता गया। गुरु लज्जित हो गये।

रात में राधाजी ने स्वप्न में उनको प्रबोध दिया तब हृदयचैतन्य ने अपनी भूल समझी और बारह दिनों तक महोत्सव करने का निश्चय किया। किन्तु श्यामानन्द ने विनीत स्वर में कहा : 'गुरुदेव, यह महोत्सव आपके लिए ही कर रहा हूँ।' तबसे यह महोत्सव प्रतिवर्ष स्नान-पूर्णिमा के अवसर पर वृन्दावन में श्रीपाट गोपीवल्लभपुर में मनाया जाता है। श्री जीव गोस्वामी ने प्रभु के आदेश से श्यामानन्द को वैष्णव-ग्रंथों और नाम के प्रचार के लिए उत्कल भेजा। रास्ते में दस्युओं ने धर्मग्रंथों से भरी इनकी पेटियाँ छीन लीं। दस्यु-सरदार पेटियों में धन की जगह ग्रंथ देखकर चौंका। ग्रंथों के स्पर्श से उसमें भी भक्ति का उदय हुआ। उसने ग्रंथ लौटा दिये।

ग्रंथों को लेकर ये गुरु के दर्शन कर उत्कल चले आये। कुछ दिनों तक हरिनाम-प्रचार करने के बाद पुनः वृन्दावन लौटे। लेकिन प्रभु के आदेश से फिर उत्कल आये। यहाँ सुवर्णरेखा नदी के तीर पर इन्होंने 'रसिकमुरारी' को दीक्षा दी। वे ही आगे चलकर 'रसिकानन्द' कहलाये।

श्यामानन्द द्वारा प्रवर्तित संकीर्तन-पद्धति को 'राणीहाटि संकीर्तन' कहा जाता है। इन्होंने रेमुणा-स्थित 'क्षीरचोरा गोपीनाथजी' के दर्शन किये। फिर भुवनेश्वर होते हुए पुरी पहुँचे। पुरी में इनके द्वारा स्थापित मठ अबतक विद्यमान है। इसे 'कुंज-मठ' कहा जाता है। राज-परिवार के अनेक लोगों ने इनसे दीक्षा ग्रहण की थी। बहुत से गैर-हिन्दू भी इनसे दीक्षा लेकर धन्य हुए थे।

गुरु के तिरोधान के बाद श्यामानन्द शोकविह्वल हो उठे। उस समय ये नरसिंहपुर में निवास कर रहे थे। वहीं रसिकानन्द को उत्तरदायित्व सौंपकर शान्त हो गये। यह बात १६३० ई० की है।

श्यामानन्द ने भगवान् के गुणगान में अनेक छंदों की रचना की है। ताड़-पोथियों का वह संग्रह आज भी गोपीवल्लभपुर में सुरक्षित है और पूजा जाता है। इनके द्वारा उड़िया में सहस्रों पद लिखे जाने की बात प्रचलित है।

शं. पु.

सत्यवादी नायक

सत्यवादी नायक का आविर्भाव पारिकुद (जिला पुरी) में ईसा की उन्नीसवीं शती में हुआ था। 'व्रजमाधुरी' नाम से इनकी एक गीत-कविता पुस्तक है। प्रतीत होता है कि इन्होंने अपने आश्रयदाता राजा को संतुष्ट करने के लिए उनके नाम पर भणिता कर दी है। इस रचना में कृष्ण-लीला की मथुरागमन तक की कथा का वर्णन है। उदाहरणस्वरूप इसका एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है।

एक गोपी सखी से कहती है :

पित कहसत,
काहँच मालिआ पीत-दुकुलिआ।
चिक्कण कालिआ ए काहा सुत ॥

'हे सखी! सच कहना कि गुंजामाला धारण करनेवाला और पीतांबर पहननेवाला, चिकना काला जो है, वह किसका पुत्र है?'

शं. पु.

सदानन्द कविसूर्य ब्रह्मा

सदानन्द कविसूर्य ब्रह्मा ने १७३८ ई० में जन्म ग्रहण किया था। 'प्रेमतरंगिणी' के आधार पर नयागढ़ (जिला पुरी) में शरणकुल के निकट स्थित भिकारीपड़ा को इनका जन्मस्थान कहा जाता है। जाति से ये सामवेदी ब्राह्मण थे। कुछ समय इन्होंने घुमसुर में व्यतीत किया। दशपल्ला के राजा ने इन्हें सखाभाव से कुछ दिन अपने पास रखा। बाद में मधुपुर के जमींदार के अनुरोध पर ये वहाँ चले गये। वहाँ इन्होंने मठ की स्थापना की। वैष्णव-धर्म में दीक्षा लेने से पूर्व इनका नाम 'सदाशिव आता' था। गाँव के पास ही प्रसिद्ध 'लडुकेश्वर महादेव' नामक तीर्थ अवस्थित है। चैतन्यमतावलम्बी बनने के बाद इनका नाम 'साधुचरण' रखा गया। 'सदानन्द' इनका बहुप्रचलित नाम रहा। यहाँ इन्हें मठ में 'महन्त महाराज'

कहते थे। वैष्णवगण इन्हें स्नेहवश 'व्रजमोहन' कहकर पुकारते थे। इनकी काव्य-प्रतिभा से प्रभावित होकर खुर्धा के गजपति वीरकेशरी देव ने इन्हें 'कविसूर्य ब्रह्मा' की पदवी प्रदान की थी। इन्होंने मधुपुर में स्थापित अपने मठ में 'रसिकराय' की प्रतिष्ठा की थी।

राजा घनश्याम नरेन्द्र ने इस मठ के रख-रखाव एवं निर्वाह के लिए कुछ जमीन जागीर के रूप में प्रदान की थी। उसके पेशकश को रकम यथासमय दाखिल न करने के कारण मराठों ने इन्हें बंदी बना लिया। कविसूर्य ब्रह्मा के लिए यह समय घोर दुःख का था। इस विपत्तिकाल में इन्होंने श्रीकृष्ण की महिमा के गायन में अपने को लीन कर लिया और केवल बयालीस दिनों में बन्दीगृह में ही 'युगल-रसामृत-लहरी' जैसे श्रेष्ठ काव्यग्रंथ की रचना कर डाली। कहा जाता है कि कुछ पहरेदार इनके अनुगत थे जिन्होंने चुपके से इन्हें मुक्त कर दिया। लौटकर राजा ने पेशकश की राशि भिजवा दी। इस प्रकार समस्या का समाधान हो गया।

पश्चात् जब राजा ने मठ की देख-रेख सीधे करना चाहा तो ये चुपचाप वहाँसे 'रसिकराय' की मूर्ति लेकर पड़ोस के वालिया गाँव में चले आये। वहाँ रासेश्वरी की मूर्ति पहले से ही प्रतिष्ठित थी। इन्होंने रसिकराय एवं रासेश्वरी का विवाह संपन्न कराया और यहीं उड़िया के विशिष्ट वैष्णव-कवि अभिमन्यु सामन्त सिंहार को दीक्षा दी जो कालान्तर में प्रतिष्ठित रीति-कवि बने।

तदनन्तर कविसूर्य ब्रह्मा महानदी के किनारे पवित्र-पड़ा ग्राम (जिला कटक) में चले गये। जीवन का अंतिम भाग वहीं बिताया और शरीर भी वहीं छोड़ा। इस गाँव में इनकी समाधि बनी है। यहाँके कानूनगो जमीदार ने इनकी सेवा-पूजा की थी और बाद में इनसे दीक्षा भी ली। अपनी ओर से उसने बहुत-सी भूमि भी मठ के नाम कर दी। प्रतिवर्ष यहाँ पौष अमावस्या में दिन महोत्सव (श्राद्ध-दिवस) मनाया जाता है। इस 'रासेश्वरी-रसिकराय' मठ में स्थापित रासेश्वरी का विग्रह शिला-निर्मित है तथा रसिकराय का विग्रह धातु का बना है। पास में ही चैतन्यदेव का काष्ठनिर्मित षड्भुजी विग्रह है।

इससे प्रतीत होता है कि कवि सूर्यब्रह्मा मधुरा-भक्ति ' कान्ताभाव) के उपासक थे। वैष्णव होते हुए भी ये परंपरानुसार 'दास' लिखने की जगह राजा द्वारा प्रदत्त उपाधि 'कविसूर्य ब्रह्मा' का प्रयोग करते थे। इससे वैष्णव भक्त इनसे रुष्ट रहते थे। इन्होंने स्वयं लिखा है :

कविसूर्य ब्रह्मा पद
ए आसि मोते हेला विपद हे।
विवेकजने वैष्णवजने वाद हे॥

"यह 'कविसूर्य ब्रह्मा' पद ही आकर मेरे लिए विपद बन गया। वैष्णव और विवेकीजन ही इस पर विवाद करने लगे हैं।"

इन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'यह जो कुछ लिखा जा रहा है उसमें मेरी कोई महत्ता नहीं है। यह तो प्रभु की कृपा का ही प्रसाद है। इसमें उन्हींका आनन्द समाया है।' इनकी अटूट राधाकृष्ण-भक्ति का एक प्रमाण यह भी है कि अपने काव्यग्रन्थों के आरम्भ में इन्होंने राधाकृष्ण की ही वन्दना की है।

कविसूर्य ब्रह्मा मधुरा-भक्ति (कान्ताभाव) के उपासक थे। अपनी रचनाओं में इन्होंने किशोरीजी और रसिकराय की माधुर्य-लीला का गान किया है। ये चैतन्यदेव को पूर्णावतार मानते थे। कृष्णभक्ति में अनन्य भाव से निमग्न होने के कारण भिन्नमतावलम्बी इनकी दृष्टि में अक्षम्य थे। इनकी दृष्टि में ब्रह्मा, शिव और दुर्गा आदि कृष्ण के ही अंश हैं। अतः पुराण-शास्त्रादि का ये वहींतक आदर करते थे जहाँतक वे व्रजभक्ति के पोषक हैं।

इन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें प्रमुख हैं : युगल-रसामृत-लहरी, प्रेम-कल्पतरु, स्तुति-चिन्तामणि, नाम-चिन्तामणि, चौर-चिन्तामणि, मोहन-कल्पलता और निष्ठा-नीलमणि।

इनके अतिरिक्त इन्होंने 'ललित-लोचन' नामक एक प्रेमकथात्मक काव्य की रचना काल्पनिक इतिवृत्त के आधार पर की है। इसमें युद्ध का चमत्कारिक वर्णन है। प्रेम-कल्पतरु और युगल-रसामृत-लहरी में राधा-कृष्ण की माधुर्य-केलि का मोहक वर्णन है। इनमें कवि सूर्य ने सहज लोकप्रचलित एवं अलंकृत दोनों प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया है। यह इनके अनेक भाषाओं पर असामान्य अधिकार का परिचायक है कि एक ओर जहाँ इनका काव्य लोकप्रसिद्ध हो सका, वहीं अपनी महत्ता के कारण पण्डित-वर्ग का भी श्रद्धेय बना और अपने युग के श्रेष्ठ कवि अभिमन्यु सामन्त सिंहार जैसों को आकृष्ट कर सका।

इनके द्वारा रचित 'निष्ठा-नीलमणि', 'नाम-चिन्तामणि' और 'स्तुति-चिन्तामणि' आदि रचनाएँ कृष्णनाम की महत्ता प्रतिपादित करती हैं। इन्होंने श्रीकृष्ण-तत्त्व का व्यापक प्रचार करने का संकल्प लिया था। इनकी धारणा थी कि जिस काव्य में श्रीकृष्ण-लीला का अभाव है, वह काव्य ही नहीं कहला सकता। इन्होंने अपने से पूर्ववर्ती या समकालीन कवि-प्रतिभाओं की कसौटी एकमात्र कृष्णप्रेम-रस को ही माना है। इनके लिए व्रज-लीला का महत्त्व द्वारका-लीला से कहीं अधिक है। आगे चलकर उड़िया साहित्य में व्रजलीला-गायन के उद्देश्य से रचना करनेवालों के लिए ये आदर्श बन गये।

इन्होंने कुछ वैष्णव-ग्रन्थों का बंगला से उड़िया में काव्यानुवाद भी किया था। 'युगल-रसामृत-लहरी' तथा 'युगलरसामृत-भँवरी' में राधाकृष्ण-प्रेमलीला का चित्रण हुआ है। इनकी रचनाओं में बंगला के अतिरिक्त यत्र-तत्र हिन्दीभाषा का भी प्रयोग मिलता है।

इनकी 'प्रेम-तरंगिणी' से राधाकृष्ण-भक्तिव्यंजक कुछ पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं :

जय बृषभानुसुता ब्रजेन्द्रकुमार।
राधाकृष्ण नाम सर्वेश्वरी सर्वेश्वर॥

जय-जय रसिका-रसिक-शिरोमणि।
किशोरी-किशोर वर्ण स्वर्ण नीलमणि॥
जाहा प्रेम-मदरे प्रमत्त अनुक्षण।
प्रीतिभंग संशये विह्वल अनुक्षण॥

'वृषभानुसुता एवं ब्रजेन्द्रकुँवर की जय हो! 'राधा-कृष्ण' नाम सर्वेश्वर एवं सर्वेश्वरी का है। हे रसिका एवं रसिक-शिरोमणि! तुम्हारी जय हो! उन किशोरीजी और किशोर का वर्ण स्वर्णिम तथा नील-मणिसदृश है जिनके प्रेम में मत्त होकर हम प्रतिक्षण प्रमत्त रहते हैं। प्रीतिभंग का संशयमात्र ही विह्वल किये रहता है।'

नीचे इनकी रचनाओं से कुछ पद उद्धृत किये जा रहे हैं :

(१)

रासेश्वरी रसिकरा शरण मोहर,
कविस्वभावरु कहि समस्त प्रकार जे।
कविसूर्य ब्रह्मा बिकि होइअछि दास,
राधाकृष्ण-मिलन मो प्रकृष्ट लालस जे॥

—मोहन-कल्पलता

'मैं उन रासेश्वरी और रसिकराय की शरण में हूँ जिनके बारे में ही कविस्वभाववश सब कुछ कह रहा हूँ। मैं कविसूर्य ब्रह्मा उनका दास हो चुका हूँ। उन राधा-कृष्ण के दर्शन की ही प्रकृष्ट लालसा इन प्राणों में हैं।'

(२)

कंदर्प-दर्प-भंजन घनांजन-गंजन चिक्कण कालिआ।
कुतुहलिया बालसंग मेलिया कुंजबिहारी कदंब-मूलिआ।
तुलातनु पातलिया, हे सुन्दर!
कोमल पत्रावतंसि आलिआ कुंजबिहारी कदंब-मूलिया।
कलापि-कलापचूलिआ कामिनी-कदंब धैर्य टालिया।
हे सुन्दर!

—युगल-रसामृत-लहरी

'हे कालिया (कृष्ण)! कंदर्प के दर्प को चूर-चूर करनेवाले! तुम घने अंजन-स्वरूप हो। हे कुंजबिहारी! कदंबतले जानेवाले तुम कुतूहल में बालसखाओं के साथ मिलकर खेलनेवाले हो। सेमर की रूई की तरह

तुम कोमलपत्रावतंसी हो, कलापी हो। कामिनी-कदंब का धैर्य डिगा देनेवाले हो।'

(३)

नाना सुबेश होइ पाशे अछंति सप्त पंचावन नायिका।
देखिण ए रीति सकल जुबती सुबास कुसुम तोलिले ॥
जण-जण के समकरि तोलिण कृष्ण छापुटे मिलिले।
ब्रजकिशोर सखांकु बांटिकरि दे ले।
उगुलिला ऊनविंश फूल हरि चूलमूल रे ता खोसिले ॥

'एक दिन श्यामसुन्दर वृन्दावन में विचरण कर रहे हैं। उनके साथ पाँच सौ आठ सखा हैं। सखाओं के साथ आनन्दमग्न हैं तथा पुष्प-चयन में लगे हैं। तभी राधिकाजी वहाँ प्रवेश करती हैं। नाना प्रकार की सुन्दर-वेशभूषा में सज्जित उनके साथ तीन सौ पचासी नायिकाएँ हैं। यह रीति देखकर सारी युवतियाँ सुगंधित पुष्प चुनने लगीं। सभी एक-एक फूल लेकर कृष्ण के पास चलीं। एक-एक फूल ब्रजकिशोर ने सखाओं के बीच बाँट दिया। उनमें उन्नीस फूल बच गये जिन्हें हरि ने माथे के केशों में खोस लिया।'

कविसूर्य ने कृष्ण-विरह में डूबी राधा की व्यथा चौंतीसा-शैली में रचित 'कमलमुखी कोइलि' में व्यक्त की है :

(४)

कोइलि कि कले कमलमुख।
करि गले त मोते निरेख ॥
कढंति ये आलिंगने हार।
काहिं मथुरा काहिं गोपपुर ॥
कमलभावे काहा न करे।
कि करिथिला कि कला मोहर ये ॥

राधिका कह रही हैं :

'अरी कोयलिया! देख तो, कमलमुख श्रीकृष्ण ने क्या कर डाला?' वह गले से निकाल कर उनके आलिंगन की स्मृति हार दिखाती हुई कहती हैं कि कहाँ मथुरा और कहाँ गोपपुर? उन कमल-भव ने क्या नहीं किया? क्या किया मैंने, और उन्होंने मेरी क्या अवस्था कर डाली?'

शं. पु.

सनातन दास

सनातन दास गौरांग दास के शिष्य थे। भक्तचरण दास के बाद इन्होंने सुनाखला तथा सानपदर के मठों का भार ग्रहण किया था। इनकी निष्ठा अपनी तुलना नहीं रखती। ये उद्‌भट विद्वान् थे। कविपंडित श्रीचन्दन ने इनका शिष्यत्व ग्रहण किया था तथा इन्हींसे प्रेरित होकर 'वसन्त-रास' की रचना की थी।

गौरांग दास के प्रथम शिष्य श्रीकृष्ण दासने अनेक वर्षों तक वृन्दावन में रहकर और वैराग्य धारण कर मदनमोहन की सेवा में समय बिताया था। उनके लौटने में विलम्ब देखकर इन्होंने श्री ब्रजबन्धु दास को द्वितीय शिष्य के रूप में ग्रहण किया और कृष्णदास के लौटने पर उन्हें छोटे मठ का तथा ब्रजबन्धु को बड़े मठ का सेवाभार अर्पण किया था। उनके बाद बड़े मठ की व्यवस्था का दायित्व रघुबर दास और मोहन दास ने सम्भाला था।

अ. प.

सारला दास

सारलादास का जन्म ईसा की १५वीं शती के प्रथम दशक में उड़ीसा के कटक जिले के झंकड़ नामक गाँव के एक कृषक-परिवार में हुआ था। ये जाति के परिड़ा (शूद्र) थे, किन्तु वंश-परंपरा से 'मुनि' (देवी-पूजकों का एक वर्ग) कहलाते थे। इनका मूल नाम 'सिध्देश्वर' था। ये बचपन से ही झंकड़ ग्राम की अधिष्ठात्री सारला देवी के भक्त थे। अतः वयस्क होने पर इन्होंने अपना नाम बदलकर 'सारला दास' रख लिया और कृतियों में यही नाम दिया। झंकड़ ग्राम में, जो कटक से लगभग ५० कि०मी० पूर्व में स्थित है, इनकी आराध्या सारला देवी का प्रसिद्ध मंदिर अबतक उस क्षेत्र की जनता का मुख्य धार्मिक पीठ बना हुआ है।

बाल्यावस्था में इन्होंने अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया था। उससे आगे पढ़ाई की व्यवस्था न हो सकी। बड़े होने पर इन्होंने उत्कल के प्रख्यात राजा गजपति कपिलेन्द्र देव (सन् १५३५ से १५६० ई०) की सेना में नौकरी कर ली और अपनी कार्यकुशलता से शीघ्र ही नायक का पद प्राप्त कर लिया। इस दायित्व के कारण इन्हें अनेक युद्धों में भाग लेना पड़ा। महाराज के साथ इन्होंने दक्षिण के अभियानों में अनेक स्थलों पर अपने शौर्य का परिचय दिया। इस कारण इन्हें उत्कल ही नहीं, अन्य पड़ोसी राज्यों की भौगोलिक स्थिति, देव-मंदिरों तथा सांस्कृतिक परंपराओं की भी अच्छी जानकारी प्राप्त हो गयी। आगे चलकर इसका उपयोग इन्होंने अपनी रचनाओं में किया।

इस प्रकार कुछ वर्षों तक राजसेवा करने के बाद ये घर लौटे और वंशानुगत व्यवसाय कृषिकर्म में लग गये। इसके साथ ही माँ सारला की उपासना भी चलती रही। इसी बीच एक विचित्र घटना घटी।

कहा जाता है कि एक दिन अपने खेत में ये बैठे हुए कुछ गा रहे थे। तभी उस ओर से एक सुंदरी गुजरी। उसे देखते ही इन्होंने गाना बंद कर दिया। इसके तत्काल बाद ही एक वृद्धा उधर से जाने लगी और इन्हें संबोधित कर बोली : 'अभी तो गा रहे थे, बन्द क्यों कर दिया ?' सारला दास ने कहा : 'मैं तुम्हारे आगे यों ही बेसुरा गीत कैसे गाता ?' तब वृद्धा ने कहा : 'तू विष्णु-चरित्र का गायन कर, अन्य गीत छोड़।' इसे देवी का ही इंगित मानकर ये घर लौट आये। लेकिन सामर्थ्य कहाँ ? शास्त्र-पुराण से अपरिचित थे तो यह भार कैसे उठाते ? इसी चिन्ता में सो गये।

देवी ने स्वप्न में आदेश दिया : 'उठ-उठ, मेरी वाणी का विस्मरण मत कर।' ये रोमांचित हो उठ कर बैठ गये। देखते हैं तो सिरहाने लेखन-सामग्री रखी है। इस घटना के बाद सारला देवी को ही अपना गुरु मानकर ये अनवरत लिखते गये और महाभारत जैसे विराट् ग्रन्थ की रचना कर डाली। अपने इस ग्रन्थ में ये बार-बार कहते हैं : 'सारला स्वयं मेरे कण्ठ पर विराज रही है, सब उसीने लिखा है।'

उस समय धार्मिक साहित्य-रचना के क्षेत्र में संस्कृत का प्राधान्य था एवं शास्त्र-पुराणादि की चर्चा के लिए भी मात्र संस्कृत की मान्यता थी। सारला दास ने इस रूढ़ि को तोड़ा। इन्होंने उड़िया की जनभाषा में महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ का न केवल युगानुसार अनुवाद किया, प्रत्युत एक प्रकार से पुनर्लेखन का कार्य भी किया। महाकवि ने युगीन परिवेश का चित्रण कर ग्रन्थ को अत्याधुनिक बनाया एवं भाषा को स्थिर रूप प्रदान किया। तत्कालीन समाज ने पहले तो इस प्रकार के परिवर्तन का घोर विरोध किया, किन्तु अन्ततोगत्वा उसे सारला दास की अदम्य प्रतिभा, लोकप्रियता एवं काव्य शक्ति के आगे झुकना पड़ा। महाभारत की लोकप्रियता उड़ीसा एवं उसके आस-पास के समूचे क्षेत्र में असंदिग्ध है।

सारला दास ने अपने पूर्वजन्म के सम्बन्ध में लिखा है कि "मैं शिव का द्वारपाल नन्दी था। शापवश मर्त्यलोक में जन्म लेना पड़ा। प्रथम कालिदास के रूप में, फिर 'महाकाल' नाम से और अन्त में तीसरी बार सारला दास के रूप में अवतरित हुआ हूँ।" आज भी तेंतुलियापदा ग्राम के पास एक मठ है जिसे 'गुसाइं मठ' कहा जाता है और माना जाता है कि यह कभी सारला दास का आश्रम रहा था। जीवन का अन्तिम भाग इन्होंने यहीं बिताया था।

अबतक भी 'परिड़ा' या 'परिजा' उपाधिधारी कुछ लोग स्वयं को सारला दास का वंशधर बताते हैं। इससे अधिक तथ्य इनकी जीवनी के सम्बन्ध में अबतक प्रकाश में नहीं आ पाये हैं।

महाभारत की रचना करते समय कवि ने मूल की सर्ग-संख्या समान रखी है, शेष सर्गों (पर्वों) के नामों में उनके क्रम में अपनी समझ के अनुसार परिवर्तन किया है। उन्होंने अनेक पात्रों के चरित्र के सम्बन्ध में मौलिक उद्भावनाएँ प्रस्तुत की हैं। छोटे-

मोटे कथानक और लोक-प्रचलित उपकथाएँ तो इसमें न जाने कितनी संकलित हुई हैं। पिछली पाँच शताब्दियों से इस ग्रन्थ की अनेक लोगों द्वारा प्रतिलिपियाँ की गयीं। प्रत्येक ने मूल रूप को कुछ न कुछ विकृत कर दिया है। अतः कितना भी सम्पादित संस्करण निकाला जाय, संस्कार का अवकाश रह ही जाता है।

सारला दास ने परंपरा से हटकर कृष्ण, कुन्ती, द्रौपदी आदि पात्रों के चित्रण में युगानुकूल यथार्थवादी दृष्टि से परिवर्तन किया है। जो हो, उड़िया भाषा की शैशवावस्था में सारला दास का इतना विराट् परिदृश्य लेकर ग्रन्थ-रचना करना साहस की बात थी। इन्होंने जितना बड़ा महाभारत रचा है, विश्व में आकार-प्रकार की दृष्टि से बहुत कम ग्रन्थ उसकी समता कर सकेंगे। स्वाभाविक रीति से प्रवहमान सरल भाषा का प्रयोग इनकी एक और विशेषता है। सामान्य-जनसुलभ भाषा में तात्त्विक उच्चता प्राप्त करना सारला दास जैसे युगान्तकारी कवि के लिए ही संभव था। इनके छोटे-छोटे कथन उदाहरणस्वरूप प्रत्येक उड़ियाभाषी की जिह्वा पर नैसर्गिक रूप में विद्यमान हैं। एक समय था जब सारला दास द्वारा निर्मित भावधारा से उड़िया जाति एक अदम्य उच्चता तक पहुँच गयी थी।

इनके लिखे ग्रन्थों की संख्या भी अबतक अनिर्णीत है। महाभारत के अतिरिक्त 'सप्तकाण्ड रामायण' 'चण्डी-पुराण' और 'विलंका रामायण' नामक तीन और ग्रन्थ इन्होंने लिखे। 'चण्डी-पुराण' की रचना यद्यपि मूल संस्कृत ग्रन्थ देवी-भागवत के आधार पर हुई है, फिर भी कवि ने अनेक स्थानों पर स्वतन्त्रता से काम लिया है। इसका मुख्य विषय चण्डी की महिमा का प्रतिपादन ही रहा है। इसी तरह 'विलंका रामायण' में भी कवि ने सीता के चरित्र को नयी शक्ति और गरिमा प्रदान की है। यहाँ राम का चरित्र गौण हो जाता है। सहस्रशीर्ष रावण के वध में राम के असमर्थ होने पर सीता वहाँ जाती हैं और पञ्चसायक के माध्यम से राक्षस को हीन-वीर्य कर देती हैं। तब वह सीता को भार्या के रूप में प्राप्त करने का प्रस्ताव करता है। वे उसे पहले राम को युद्ध में पराजित करने को कहती हैं। इसके बाद वह राम के हाथों मारा जाता है। इस रचना में भी सारला दास ने अतिसरल एवं धाराप्रवाह शैली में कथा का निर्वाह किया है।

वस्तुतः समूची उड़िया-संस्कृति और साहित्य पर सारला दास का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। इन्होंने भक्ति, योग और कर्म का जो लोकाकर्षक रूप स्थापित किया, भाषाई लोक-चेतना में घुल-मिलकर वह एक संजीवनी का काम करता रहा। इसके फलस्वरूप जगन्नाथजी के प्रति जनता का प्रगाढ़ भाव खण्डित नहीं हो पाया। उसमें विपरीत परिस्थितियों के थपेड़े सह सकने की एक आंतरिक शक्ति उत्पन्न हो गयी।

जगन्नाथजी को सारला दास ने विशिष्ट ढंग से देखा है। अपने 'महाभारत' में वे बार-बार जगन्नाथ को 'कृष्ण' कहते हैं। उसमें वर्णित इनकी कथा (कृष्ण के अदग्ध पिण्ड को यहाँ लाकर जगन्नाथ-रूप में पूजना) पुराणों में उपलब्ध परम्परा से अलग है। यहाँ भी सारला दास की मौलिक अवधारणा-शक्ति का परिचय मिलता है।

अद्भुत रचना-शक्ति तथा कृष्ण-भक्ति के कारण ये 'उत्कलीय व्यासदेव' के नाम से प्रसिद्ध हो गये। इसके साथ ही उड़िया भाषा के आदिकवि होने से महाभारत में इनके द्वारा वर्णित कृष्ण-चरित उड़िया-साहित्य के प्रथम कृष्ण-भक्ति काव्य के रूप में समादृत हुआ है।

यहाँ महाभारत के उद्योग पर्व से कुछ पंक्तियाँ सारला दास की काव्यशक्ति, कल्पना-वैभव एवं सहज शैली के दिग्दर्शनार्थ दी जा रही हैं :

महाभारत प्रारम्भ होने से पूर्व दुर्योधन के कहने पर सब मिलकर युद्ध के नियमादि के बारे में सिद्धान्त तय करते हैं :

गुरुंक मुखरे जेऊँ सस्त्र-शिक्षा अछि होइ ।
प्रयोग करिब ताहा रण मध्ये थाइ ॥

संग्राम-काले जाहाकहं जे पारिब मारि ।
युद्ध रहिले बुझिब निज मह्त्र परि ॥

हास-परिहास खेला करिबाक सेकाले ।
कुटिलता न करिब केहि अन्तराले ॥

पुणि सहस्र धरि येबे करिब समर ।
महाशत्रु बोलि मने करिब विचार ॥

ये सकल कथा शुणि सर्बे नियम करिले ।
समस्तक साक्षीरूपे श्रीहरि रहिले ॥

'निश्चित होता है कि गुरु के पास जो शस्त्रविद्या सीखी है, युद्ध के दौरान उसीका प्रयोग किया जायगा। संग्राम-काल में जिसे जो पायेगा मार सकेगा, लेकिन युद्ध समाप्त होने के बाद उसे अपने मित्र के समान समझेगा। तब हास-परिहास में भी खेल जैसे रहना होगा। तब कोई अन्तःकरण में कुटिलता धारण नहीं करेगा। हाँ, फिर शस्त्र धारण करने के बाद समर में उसे महाशत्रु मानकर चलेगा। इस प्रकार सारी बातें सुनकर सबने निश्चय कर लिया कि इनका पालन करेंगे और उन सबके साक्षी बने स्वयं श्रीहरि भगवान।'

शं. पु.

सारियाभिक

सारियाभिक का तात्पर्य है 'भिक्षुक सारिया'। इसके अतिरिक्त इनका और कोई परिचय उपलब्ध नहीं है। इनका मात्र एक पद भक्तों के बीच प्रचलित है। इसी एक पद को लिखकर भिक्षुक सारिया अमर हो गये। उसमें इन्होंने प्रभु जगन्नाथ के प्रति अनन्य भक्ति व्यक्त की है। यहाँ इनका वही पद उद्धृत है :

थका मन चाल जिबा, चकानयन देखिबा ।
शंख नाभि-मण्डल रे, बेनि नेत्र पसालिबा ॥

बाटरे बाट मंगला, देखिबा अटरनला ।
पांच मन एक मेला, नरेंद्र स्नान करिबा ॥

पहंचिबा बड़ दाण्डे, से रेणु पाइबा तुण्डे ।
छता तले रहि दण्डे, साधुंक सेवा करिबा ॥

सिंहद्वारे भिड़ाभिड़ि, बाजुऊछि बेतबाड़ि ।
ठेलि देइ जिबा माड़ि, धक्का बाजिले सहिबा ॥

बाइशि पाबछे बिका, हेउछि कैबल्य चखा ।
हाण्डिक पड़े सीउका, मन रंका छड़ाइबा ॥

गरुड़ पछरे देख, दिशुछि कला श्रीमुख ।
कहइ सारिआ भिक, बलरामंकु कहिबा ॥

'रे थके-हारे मन ! चल, उन विशाल नेत्रों को देखें और शंख-नाभिमण्डल में अपने दोनों नेत्र प्रक्षालित करें (पवित्र हो लें)। मार्ग अटरला (सीमा पर) तथा बाट में मंगला देवी पड़ेंगी, उनके भी दर्शन होंगे। फिर नरेंद्र-सरोवर में पंचमन को एक प्राण कर स्नान करें। अब बड़दाण्ड (जगन्नाथ) मन्दिर के आगे के विशाल पथ पर पहुंचेगे और वह पवित्र रेणु मस्तक पर धारण करेंगे। वहाँ छत्ता-तले रहकर साधु-सेवा का लाभ उठायेंगे।

'सिंहद्वार पर तो बड़ी भीड़भाड़ होगी। वहाँ पवित्र बेंत लगेगी। लोग धक्का भी देंगे। फिर भी सब सहकर आगे बढ़ेंगे। इन बाइस पवनछों (श्रीमन्दिर में ऊपर उठने के लिए बनी पावच्छ) पर कैवल्य मिलता है, उसे चखेंगे। एक-एक हण्डी एक चवन्नी भर में मिल जाती है। मन का सारा दारिद्रय छुड़ा देंगे। अब देख, गरुड़ स्तंभ के पीछे खड़े होकर दृष्टि डालकर वह साँवला श्रीमुख (जगन्नाथ)! कितना सुन्दर दिख रहा है! सारियाभिक कहता है कि 'चल बलरामजी से भी कुछ कहेंगे।'

प्रभुदर्शन के लिए अग्रसर होते हुए भक्त-हृदय की यह लालसा तथा निश्छल अभिव्यक्ति स्पृहणीय है।

शं. पु.

सालबेग

आज भी जब रथयात्रा (आषाढ़ शुक्ला द्वितीया) के दिन जगन्नाथजी का रथ चलते-चलते अचानक एक पल प्रशस्त बड़दांड पर थमता और फिर घर्र-घर्र करता आगे की ओर चल पड़ता है तो आखिर पतितपावन का यह विशाल नंदिघोष क्यों रुकता है? न कोई बाधा, न उठान, न कोई राजमहल, न किसी अन्य विधि-विधान की प्रतीक्षा! यहीं है वह समाधि, जहाँ महाप्रभु के प्रिय भक्त सालबेग चिर-विश्राम कर रहे हैं। भगवान् वहाँ रुककर इन्हें दर्शन देते हैं और फिर रथ आगे चल पड़ता है। देवाधिदेव अपने भक्तों, प्रियजनों, सभीको दर्शन देने और मिलने के लिए रत्नवेदी से चलकर मार्ग पर आते हैं और यह यात्रा दस दिनों तक अत्यन्त बड़े समारोह के साथ संपन्न होती है। हर भक्त के लिए इस अवसर पर बड़दांड पर उपस्थित होना अनिवार्य माना जाता है और जो दर्शन नहीं कर पाता : 'रथे तु वामनम्…' वह अपने को बहुत ही भाग्यहीन समझता है।

सालबेग प्रभु जगन्नाथ के अनन्य भक्त थे। संभवतः ये सत्रहवीं शती के प्रथम चरण में विद्यमान थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती। कहते हैं, इनके पिता लालबेग जहाँगीर के राजत्वकाल में बंगाल के सूबेदार थे। उन दिनों उड़ीसा बंगाल के ही अधीन था। लालबेग इसी संदर्भ में उड़ीसा आये और कटक में सालभर तक रहे। एक विधवा ब्राह्मणी के संपर्क में आने पर उसके गर्भ से सालबेग का जन्म हुआ। इसी बीच लालबेग की मृत्यु हो गयी। यह घटना सन् १६०८ की है।

सालबेग का लालन-पालन माँ की छत्रछाया में हुआ। यह समय जगन्नाथ-मन्दिर के लिए बहुत कठिन था। मुगल अत्याचारों से जगन्नाथजी भी अछूते नहीं रहे। इसी दौरान सालबेग किसी युद्ध में घायल हो गये। ये घावों से उबर नहीं पा रहे थे। माँ ने बालमुकुंद का ध्यान करने को कहा। सालबेग का मन जगन्नाथ की ओर उन्मुख हुआ। रात में मानो जगन्नाथजी ने इनके क्षतों को सहलाया और इन्हें आसन्न-मृत्यु से बचा लिया।

इसके बाद ही जगन्नाथजी इनके आराध्य हो गये। लेकिन मुगल-संतान होने के कारण इनका श्रीमंदिर-प्रवेश वर्जित रहा। यह इनके लिए अत्यंत परिताप का विषय था कि न हिन्दू इनके हाथ का पानी पीते हैं और न मुसलमान इन्हें मुसलमान मानते हैं। फलतः ये वृन्दावन चल पड़े। वहाँ जाकर श्रीकृष्ण के बालमुकुन्द रूप का दर्शन कर कृतार्थ हो गये। तभी ध्यान आया कि रथयात्रा बहुत पास आ गयी है। ये श्रीक्षेत्र की ओर लौट पड़े। इन्हें बहुत लम्बा मार्ग पैदल ही तय करना पड़ा। चलते-चलते थककर रास्ते में ही बीमार हो गये। रथयात्रा का दिन आ गया, पर वहाँ ये पहुँच नहीं पाये। सालबेग ने अपने आराध्य जगन्नाथजी से वहीं पूछा : 'क्या मैं तुम्हें रथ में नहीं देख पाऊँगा? क्या मेरे पहुँचने तक रथ में खड़े रहोगे?' कहा जाता है कि भक्त की पुकार पर रथ रुका ही रह गया। सालबेग के दर्शन करने तक जगन्नाथजी वैसे ही खड़े रहे।

इस अलौकिक चमत्कार ने सारे रूढ़िवादियों और यवनों से घृणा करनेवालों को चौंका दिया। अब तो सालबेग की गणना जगन्नाथ के अनन्य भक्तों में की जाने लगी। फिर भी सालबेग बाहर ही खड़े रहकर पतितपावन के दर्शन करते और करुणासिंधु की लीला का गायन करते थे। अन्ततोगत्वा इन्होंने वहीं आसन जमा लिया, जहाँ इनके लिए महाप्रभु को रुककर लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। तिरोधान के बाद उसी पवित्र धूल में 'बड़दांड' के किनारे ही इस अनन्य भक्त को सदा के लिए स्थान दे दिया गया।

इनके कुल सौ के लगभग भजन और लीलागायन-संबंधी पद अबतक जर्जरित ताड़-पोथियों से उद्धृत हो सके हैं। मुख्य विषय राधा-कृष्ण की प्रेमलीला और जगन्नाथजी की वंदना है। इसके अतिरिक्त देवी-वंदना और शिवस्तवन-संबंधी भी इनके कुछ पद

उपलब्ध हुए हैं। दो-एक पद हिंदी में भी लिखे बताये जाते हैं।

इन्होंने मुख्यरूप से जगन्नाथजी के लीला-गायन और वंदन में ही अपनी लेखनी का प्रयोग किया है। श्रीरंग के चरणों में विनय-प्रणिपात कर अपनेको धन्य समझते रहे हैं। इन्होंने अत्यंत भक्तिपूर्वक जगन्नाथजो के चरित्र का भिन्न-भिन्न राग-रागिनियों में गायन किया है।

इनके पद साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं। संगीतशास्त्र की कसौटी पर भी ये पद खरे उतरते हैं। रसानुकूल भाषा के प्रयोग में ये सिद्धहस्त हैं। अभी भी इनके बहुत से पद संगृहीत नहीं हो पाये हैं। फलतः इनके कृतित्व का सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो सका है। इनके कुछ पद यहाँ उद्धृत हैं :

(१)

आहे नीलशइल प्रबल मत्तबारण।
मो आरत नलिनीबनकु कर दहन॥

गजराज डाक देला ग्राह-युद्ध बेलेण।
चक्र पेषि नक्र नाशि कृपा कल आपण॥

द्रौपदी ये चिंता कला कुरुसभा तलेण।
कोटि बस्त्र देइ तांक लज्जा कल बारण॥

हरिणी कि घोरबने पड़िथिला कषण।
डाकिला मात्रके हरि रक्षाकल आपण॥

रावणर भाइ बिभीषण गला शरण।
केते केते बिपत्तिरु रखि अछ आपण॥

अजामिल डाक देहा जीव जिबा बेलेण।
तेड़े बड़ पानी गला बइकुंठ भुवन॥

प्रहलाद पिता से ये बड़ दुष्ट दारुण।
स्तंभरु बाहारि ताकु बिदारिला तक्षण॥

नीलाचले बिजे करि बौद्ध अबतारेण।
बेनि भुज टेकि प्रभुं जाचुअछ शरण॥

कहे सालबेग हीन-जाति रे मुं यवन।
श्रीरंगाचरण-तले रख मोते शरण॥

'हे नील-शैलवासी (जगन्नाथजी)! प्रबल मत्त हस्ती की तरह मेरे दुःखरूपी नलिनी-समूह का नाश कर दो। ग्राह से युद्ध के समय जब गजराज ने टेर लगायी तो आपने ही शत्रु-नाश के लिए चक्र भेजकर अविलंब कृपा की। कुरु-सभा में द्रौपदी ने स्मरण किया, तब भी आपने अपार वस्त्र देकर उसकी लज्जा बचायी। हरिणी जब वन में संकट में पड़ी तो पुकारते ही आपने उसकी रक्षा की। रावण का भाई विभीषण जब शरण में आया, तो कितनी विपद से आपने उसकी रक्षा की? अजामिल ने जब प्राण निकलते समय पुकारा, तो इतना बड़ा पापी भी वैकुंठ चला गया। प्रह्लाद के पिता अत्यंत दुष्ट थे। स्तंभ विदीर्ण कर आप तत्क्षण प्रकट हुए। वे ही प्रभु अब बौद्धावतार में नीलाचलनिवासी हुए हैं। युगल-बाहु पसार कर शरण देने को तत्पर बैठे हुए हैं। सालबेग कहता है कि हे प्रभु, मैं तो हीन यवन जाति का हूँ, मुझे अपने श्रीरंग-चरणों में शरण प्रदान करें।'

मुरली को संबोधित कर विरहिणी राधाजी कहती हैं :

(२)

मुरली !
तोर शरण गलि रे, मुरली !
आउ न डाकिबु राधिका बोलि, रे मुरली।
जाति तोर कंटा बाऊंश सिना।
गोपस्तिरींकर पराणघेना।
जाति तोर कंटा बाउँश खंड।
हस्तरे धरिछि कुसुम-कांड॥

यमुनार पाणि बहे उजाणि।
पाषाण तरल शुणि या धुनि॥

मुरलि के आणि दिअंति मोते।
भसाइ दिअंति यमुना-स्रोते॥

कहे सालबेग जाति रे हीन।
राधाकृष्ण बिना नाहिं मो आन॥

"अरी मुरली ! मैं तेरी शरण में हूँ, तू राधा नाम लेकर और न पुकारना ! तू कंटीली जाति में जनमी अवश्य है, पर हम गोप-ग्वालाओं के तो तूने प्राण ही ले लिये। तू बाँस-कुल में उत्पन्न है और तुझे कुसुम के काण्ड-सदृश कृष्ण धारण किये हैं। तेरी ध्वनि सुनकर यमुना का जल उफन आता है और पाषाण भी पिघल जाता है। हाय ! कोई मुझे लाकर वह मुरली देता तो मैं उसे अविलंब यमुना के जल में प्रवाहित कर देती।' दीन-हीन सालबेग कहता है कि राधा-कृष्ण के बिना मुझे और किसीका भरोसा नहीं है।"

शं. पु.

सिद्ध हरिदास

जगन्नाथदास के सोलह प्रमुख शिष्यों में से एक थे 'हरिदास'। परमभक्त हरिदास ने सिद्धि प्राप्त की थी। इसी सिद्धि के बल पर इन्होंने गुरु के स्त्री-अंग के दर्शन किये। इन्हें गुरु की 'रत्नताड़-सेवा' का अधिकार मिला था। मंजरी-परम्परा में ये 'श्रिया' के अवतार माने जाते हैं। गुरु ने इन्हें पुरी में समुद्र के पास स्थित 'सात लहड़ी मठ' का अधिकारी नियुक्त किया था। जगन्नाथदास ने कहा : 'कोई शिष्य जाकर मेरे खड़ाऊँ पहनकर यहाँ ले आये।' कोई तैयार न हुआ तब हरिदास आगे बढ़े। औरों ने मना किया, पर ये निर्भय होकर खड़ाऊँ पहनकर चले आये। एक शिष्य ने क्रुद्ध होकर गुरु के खड़ाऊ पैरों में डालने के अपराध पर इन्हें कुष्ठरोगी होने का शाप दे दिया। हरिदास तुरंत कोढ़ी हो गये। लेकिन गुरु दयार्द्र थे। उन्होंने कहा : 'इन खड़ाउँओं को धोकर जलपान कर लो।' वैसा करने पर तुरंत इनका कुष्ट दूर हो गया। इसके बाद गुरु के आदेश पर गादी में वे ही खड़ाऊँ पूजे जाने लगे।

कहा जाता है कि बाद में हरिदास गोपीनाथपुर के मठ में आकर भागवत-पाठ करने लगे थे। किन्तु वहाँ इनका माधवानंद दास से मतभेद हो गया। दोनों के सिद्धि प्राप्त होने की बात सर्वप्रचलित है। वहाँसे चलकर ये विरूपा नदी के जल में मृगचर्म डालकर पार करके कपिलास पर्वत की ओर जा रहे थे। परंतु रास्ते में कनमिरा पर्वत के मनोरम दृश्य के कारण वहीं डेरा डालकर रह गये। उन दिनों ढेंकानाल रियासत की रानी कोढ़ से पीड़ित थीं। जब राजा इनके दर्शनार्थ आये तो इन्होंने कहा : 'मैं जानता हूँ, जाओ रानी कोढ़ से मुक्त है।' राजा ने लौटकर देखा तो सचमुच रानी पूर्णतः आरोग्यलाभ कर चुकी थीं। राजा ने प्रसन्न होकर एक विस्तृत भूखण्ड और जंगल इनकी सेवा में अर्पित कर दिया। हरिदासजी ने उस 'तइला' नाम के जंगल को साफ करवा कर वहाँ 'तइलापड़ा-आश्रम' की स्थापना की। आजकल वही 'तेलियापड़ा' 'सिद्ध हरिदास गादी' के नाम से प्रसिद्ध है। इस मठ में गृही मठाधीश होने की परंपरा है। विभिन्न स्थानों पर इस मठ के कई शाखा-मठ भी स्थापित हैं।

हरिदास के नाम पर 'मयूर-चंद्रिका', 'काली-दलन', 'गोपीनाथ-चौतीसा' आदि ताड़-पोथियाँ मिली हैं। कहा जाता है कि जगन्नाथदास रचित 'नित्यनीलाद्रि-विलास' नामक प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथ की हरिदास ने उड़िया में सुबोध टीका लिखी थी। यह टीका उपलब्ध नहीं है। हरिदास की लम्बी शिष्य-परंपरा आज भी जीवित है।

शं. पु.

सीमाद्रि पटनायक

सीमाद्रि पटनायक का जन्म पारलेखंडी में १९०७ ई० में हुआ था। अपने समय के ये उस क्षेत्र के विशिष्ट शिक्षक माने जाते थे। नाटककार तथा संगीतकार होने के साथ ही ये भक्तिकाव्य-रचयिता के रूप में भी प्रसिद्ध थे।

इनकी लिखी हुई पृथ्वीराज, जयदेव, ययातिकेशरी, ब्रजामृत प्रभृति वैष्णव-रचनाएं प्रकाशित हुई हैं। ओडिशी गीतों में इन्होंने कर्णाटकी राग का प्रयोग कर विशेष कीर्ति अर्जित की है। इनका शरीरान्त १९६३ ई० में हुआ। इनका एक छंद देखिये :

उत्कंठिता गोपी का एक चित्र है :

दुआर बंदधरि श्रीमुख आगुसरि ।
आहा से धीरि-धीरि चाहाँ माधुरी ॥

पिंपुड़ि चोबारे के केबे जाए कि मरि ।
कथाशरे किलोह बथाबा जाए सरि ॥

'अहा ! द्वार पर वह श्रीमुख की प्रतीक्षा करती देख रही है। अहा ! वह धीरज धारण करनेवाली माधुरी दृष्टि से देख रही है। वह दृश्य कैसा है ! भला चींटी काटने से कोई मरता है ? बातों से कहीं व्यथा दूर होती है ?'

शं पु.

सुलक्षणा पटनायक

सुलक्षणा पटनायक का जन्म १८२६ ई० में तिगिरिया (जिला कटक) में हुआ था। इनकी विशेष शिक्षा-दीक्षा नहीं हुई। इनके पिता का नाम दाशरथि बेवती पटनायक था। ढेंकानाल के नित्यानंद पटनायक के साथ इनका विवाह हुआ। संयोगवश १८८१ ई० में पतिदेव दिवंगत हो गये। इसके बाद ये अध्यात्म-साधना में लीन रहने लगीं। ये प्रायः तुलसी-पत्र पर भगवन्नाम लिखा करती थीं। इन्होंने शेष जीवन शुद्धाचार का पालन करते हुए बिताया। देव-पूजा, पुराण-श्रवण और गीतगोविन्द-गायन ये ही इनके मुख्य कार्य थे। बीच-बीच में जगन्नाथजी के दर्शनार्थ पुरी चली जाती थीं। अवकाश मिलने पर अलता में सींक डुबो-डुबोकर दीवार पर कविता लिखा करती थीं। जीवन के अंतिम दिनों में प्राचीन भक्ति-कविता की परंपरा में लिखी गयी ये कविताएँ 'पारिजात-माला' शीर्षक से प्रकाशित हुई हैं। इनमें इन्होंने अपना भक्ति-भाव सरल एवं अकृत्रिम भाषा में व्यक्त किया है और निष्कपट भाव से जगन्नाथजी के आगे अपना हृदय खोलकर रख दिया है। इसी विषय का एक पद यहाँ उद्धृत है :

आहे नीलगिरि-चाँद ।
ए माया शांखोलि काटि बनमाली ।
पादपद्म तले मोते बांध हे !

• • •

सुलक्षणा ध्याने जोड़िण कर,
श्रीनन्दनन्दन हे कृपाकर ।
गरुड़-आसन श्रीमधुसूदन,
पतिते हुअ करुणा-हृद हे ।

'हे नीलगिरि के चंद्र जगन्नाथजी ! वनमाली ! आप माया की यह सांकल काट दें। अपने पाद-पद्मों में मुझे बांध लें। फिर सुलक्षणा हाथ जोड़कर कहती है कि हे नंदनंदन ! आप कृपा करें। हे गरुड़ासन, हे मधुसूदन, आप पतितों पर करुणा करें।'

शं. पु.

सोमनाथ सिंह (जगदेव)

सोमनाथ सिंह अथवा 'सोमनाथ मर्दराज' अनगुल (जिला ढेंकानाल) के अंतिम राजा थे। इनका जन्म अनगुल १८०० ई० में हुआ था और वहीं १८५३ ई० में इनकी मृत्यु हुई। ढेंकानाल के राजा के साथ इनका युद्ध भी हुआ था। नृसिंहराय गुरु ने 'बुढापंक युद्ध-पोथि' में इस युद्ध का काव्यात्मक वर्णन किया है। ये अंग्रेजों के घोर विरोधी थे। अंग्रेजों ने इन्हें गिरफ्तार कर पहले कटक में और बाद को हजारीबाग में रखा। वहीं ये जीवन के अंतिम समय तक रहे और १८५३ ई० में इनका देहान्त हो गया।

सोमनाथ ने कुछ चौंतीसे और सौ के आस-पास कृष्णलीलासंबंधी गीत लिखे हैं। इनमें 'सुन्दरी-चौंतीसा' राधा-कृष्ण के उत्तर-प्रत्युत्तर से युक्त एक मनोहारी रचना है। इनके लिखे कुछ गीत जगन्नाथ और विष्णु-वंदना के भी मिलते हैं। सोमनाथ ने सरल भाषा में गीत रचे हैं। अतः ढेंकानाल जिले में आज भी ये गीत काफी लोकप्रिय हैं।

नीचे इनका एक गीत उद्धृत है जिसमें राधा के वितर्क का वर्णन है :

(१)

केणे जलु लाइबा पुणि,
यमुना-तटे मुरली-पाणि ।

देखि नटवर लगाइब हट,
बोलिब काहिंकि आस मितणि ॥

देइगले मुल छाड़िदेबा बाट,
नोहिले घरकु जाअ सजनो ।
केते आउ कथा लगाइब सेहि,
उछुर होइबे बोलणा शुणि ॥

"अब पानी कहाँसे लायें ? यमुना-तट पर तो वह मुरली-पाणि, मुरलीधर होंगे । हमें देखकर वे नटवर हठ पकड़ बैठेंगे । कहेंगे, 'हे मितवा ! क्यों आयी ? प्राप्य दोगी, तभी रास्ता छोड़ेंगे । नहीं तो हे सजनी ! घर वापस जाओ ।' अब उनसे कोई कितनी बहस करे ? उनकी बातें सुनकर और व्याकुलता भर जायगी ।"

अन्यत्र कृष्ण की वंशी-ध्वनि सुनकर व्याकुल राधा सखी से कहती हैं :

(२)

आरे पिक-भाषी, घनश्याम,
वंशी रे मुं गलि भासि !
शुणिला बेलु छन्न-छन्न,
होउअछि एबे मोर मन ।
कंपु अछि तनु न जाए मो मनु,
कि करिबि कह मदालसी ॥

हट लगाइला एका थाइ,
केते नारी गोपपुरे नाहिं ।
बृन्दावने जाइ, मुरली बजाइ,
मोर गुमान पकाए नाशि ॥
जेबे चित्तकु करइ स्थिर,
अधिके बिंधइ पंचशर ।
मरमे भेंदइ अज्ञ न हुअइ,
भातिले न सरे दिवानिशि ॥

'हे पिक-बयनी ! मैं तो श्याम की वंशी सुनकर बह गयी । जबसे सुना है, बेहाल हो गयी हूँ, बेचैन हूँ । तन काँप रहा है । हे मदालसा, कहो क्या करूँ ? मेरे मन से वे किसी तरह जाते ही नहीं । एकांत देख हठ किया, गोपपुर में कितनी नारियाँ हैं ! वृन्दावन जाकर मुरली बजायी और मेरा सारा गुमान नष्ट कर डाला । जब चित्त स्थिर करती हूँ, वह पंचशर से और अधिक बिंध जाता है, मर्मभेद हो जाता है । जितना ही सोचती हूँ, रात-दिन कभी समाप्त ही नहीं होता ।'

शं. पु.

श्रीधर स्वामी

श्रीधर स्वामी का जन्म चौदहवीं शती में उत्कल के बालेश्वर जिले में रेमुणा के पास हुआ था । यहाँ गोपीनाथ का प्रसिद्ध मंदिर है । कहा जाता है कि आज भी इनके वंशधर वहीं निवास करते हैं । इनके गुरु का नाम स्वामी परमानंद था । उनके चरणों में इनकी अपार श्रद्धा थी । आगे चलकर ये पुरी आ गये और शंकराचार्य द्वारा स्थापित पीठ के आचार्य पद पर आसीन हुए । इस पीठ की आचार्य-परंपरा भी इस बात की पुष्टि करती है ।

शांकर-मतवादी होते हुए भी इन्होंने अद्वैत-दर्शन और भक्ति दर्शन के बीच समन्वय स्थापित किया था । इनकी मान्यता है कि जीव और परमेश्वर के बीच भेदाभेद है । अनादि अविद्यायुक्त जीव का आत्मज्ञान परमेश्वर की तरह स्वतः संभव नहीं होता । इस दृष्टि से जीव और परमेश्वर में कुछ अंतर है । दोनों चित्-रूप और चेतना के अंश की तरह अभिन्न हैं । अतः जीव और परमेश्वर के बीच अत्यंत भेद की कल्पना ठीक नहीं । जीव अल्पज्ञ जो ठहरा । यह अल्पज्ञता ईश्वर के अधीन है, किन्तु परमेश्वर सर्वज्ञ है । अतः जीव और परमेश्वर में भेद होते हुए भी दोनों अभिन्न हैं । जैसे फेन समुद्र से उत्पन्न होने पर भी पृथक् ही प्रतिभासित होता है वैसे ही जीव और ब्रह्म का संबंध भेदाभेदभावसंपन्न है । यही श्रीधर स्वामी का भेदाभेद-मत है ।

एकबार किसी अनुयायी ने श्रीधरस्वामी-रचित 'भागवती टीका' के बारे में प्रभु चैतन्य के सम्मुख कुछ कह दिया । सुनते-सुनते महाप्रभु ने बीच में रोककर कहा : 'जो स्वामी को नहीं मानता, वह वेश्यासदृश है ।'

ये एक जगह कहते हैं : 'भगवद्-विग्रह नित्य है, अपरिच्छिन्न और सत्य है। भगवान् की श्रीमूर्ति या अवयव कभी मिथ्या या मायिक नहीं हो सकते। भागवत में यही बात कई जगह प्रतिपादित है।

अन्यत्र ये लिखते हैं : **श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमामि तत्।** इस प्रकार के शाश्वत भावों के कारण ही एकबार काशी में जब 'भागवत' को लेकर विवाद छिड़ा, तो स्वयं भगवान् शिव ने यह कहकर समाधान किया कि 'व्यासदेव भागवत के प्रणेता हैं, फिर भी मर्म समझ पाये या नहीं, कोई नहीं कह सकता। नृसिंह की कृपा से श्रीधर ने भागवतसंबंधी विचार और गूढ़तत्त्व समझे हैं।' अतः उनकी टीका को सर्वाधिक प्रामाणिक व्याख्या के रूप में स्वीकृति दी गयी।

गीता पर इनकी 'सुबोधिनी टीका' और भागवत की 'भावार्थ-दीपिका' संश्लिष्टता एवं गूढ़ार्थ-व्यंजकता के लिए प्रसिद्ध है।

उड़िया भागवत के रचयिता जगन्नाथदास ने इनके पद-चिह्नों का अनुसरण कर अपार कीर्ति अर्जित की। श्रीधर स्वामी की उपर्युक्त दोनों कृतियाँ टीका-ग्रंथ होने पर भी भारतीय धर्म-दर्शन को समझने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

शं. पु.

श्रीनिवास राजमणि

उड़ीसा में 'मंजूषा'-राजघराने का साहित्य एवं कला के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसी वंश के श्रीनिवास राजमणि ने कवि के रूप में अपूर्व ख्याति प्राप्त की है। इन्होंने 'अमरु-शतक', 'मिताक्षरा' तथा 'भागवत' का सरल उड़िया में अनुवाद किया है। इन्होंने कृष्णलीला के आधार पर ५१ चौपदियों की रचना १८१२ ई० में की थी जो 'मुक्ता-लतावली' नाम से प्रकाशित है। किन्तु अब यह ग्रन्थ विलुप्त है। 'मुक्ता-लतावली' नामक इक्यावन पदों की इस रचना का मात्र अंतिम पद मिला है, जिसकी पुष्पिका की कुछ पंक्तियां यहाँ उद्धृत की जा रही हैं :

घेन सुधीरे सुधीरे ए हरिचरित,
मुक्ता-लताबली ग्रंथ कलि समापत।

बुझि रस मोर दोष न धर मानस,
मायाबी कृष्णर मायाकेलिकृत रस हे॥

'हे सुधीवृन्द ! आप धीरज के साथ इस हरिचरित को स्वीकार करें। यह 'मुक्ता-लतावली' अब समाप्त कर रहा हूँ। इससे रस ग्रहण करें। मेरे दोषों को मानस में न रखें। यह तो मायावी (मायापति) कृष्ण की माया (लीला) का केलिकृत रस है, उसे ही आनंदपूर्वक ग्रहण करें।'

पुष्पिका में कवि पुनः कहते हैं :

संगीत-भंगीरे गीत करि अछि जेते,
कवि सिना जाणिबे कविता क्लेशकेते॥

इन गीतों की रचना संगीतपूर्ण भंगिमा में की गयी है। काव्य-रचना में कितना क्लेश होता है, इसे कवि ही जानेंगे।'

शं. पु.

श्रीहरि दास

श्रीहरि दासजी का जन्म गोपवंश में रामकृष्ण दास के यहाँ हुआ था। इनके नाम के पहले बहुधा 'शिशु' शब्द का प्रयोग मिलता है। ये 'शिशु'-संप्रदाय के भक्त कहे जाते हैं। 'मयूर-चन्द्रिका' में ये लिखते हैं :

शुण हे भक्त जनगण, कहइ तुंभ श्रीचरण।
गोपाल-कुले जन्म मोहर, श्रीरामकृष्णक कुमर॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इनके पिता का नाम रामकृष्ण था और गोपाल-वंश में इनका जन्म हुआ था। आगे चलकर इन्होंने राय रामानन्द को अपना दीक्षा-गुरु बना लिया।

वैष्णव भक्तों में ये अग्रणी माने जाते हैं। इनकी रचनाओं द्वारा प्राप्त विवरण से पता चलता है कि इन्होंने श्री चैतन्य के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया था। इन्होंने अपनी रचना में उनका श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। राधा-कृष्णभक्ति तो इनके रक्त में पैतृक-परंपरा से ही थी। गुरु की कृपा से वह और भी दृढ़ हो गयी। राधा-कृष्ण-प्रेमतत्त्व की जो व्याख्या गुरु ने श्री चैतन्य के आगे की थी, उसका वर्णन इन्होंने अपने नाना गीतों में किया है। श्रीहरि दासजी की जीवनी के संबंध में कोई अन्य तथ्य उपलब्ध नहीं होते। इतना प्रमाणित है कि ये चैतन्य के समसामयिक और प्रतापरुद्र के राजत्व-काल में विद्यमान थे। ये कविता को राधा-कृष्ण-तत्त्व-वर्णन का माध्यम समझते थे। इनकी रचनाओं में केवल 'मयूर-चन्द्रिका' का ही संधान मिल सका है। इसमें राधा-कृष्णप्रेम ही आद्यंत वर्णित है।

एक दिन राधाजी कृष्ण को कुंज से निकलते हुए देख रही थीं। उन्हें श्रीकृष्ण के सिर पर मयूर-चन्द्रिका का प्रकाश दिखाई पड़ा। उन्हें लगा, जैसे वहाँ असंख्य रंगमयी चन्द्रिकाएँ नृत्य कर रही हैं। उसीमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड परिव्याप्त हैं। उनका कोई आदि-अन्त नहीं मिलता। ऐसे समय में कृष्ण पास आकर मोहक मुद्रा में चाटु-वाक्य कह रहे हैं। श्रीराधा के कुछ समझ में नहीं आता। आये भी तो कैसे? श्रीकृष्ण यदि पूर्ण ब्रह्म हैं, सनातन हैं तो श्रीराधा भी पूर्णशक्तिमयी हैं। इनकी हुँकार से ही ॐकार की सृष्टि है। यहीं सहस्रनेत्र और पद्मनेत्र एक हो जाते हैं। श्रीकृष्ण ही बहुऐश्वर्यसहित सत्, माया और जीव इन तीनों शक्तियों को लेकर कुंज-विहार कर रहे हैं। इनके हृदय में अशेष ब्रह्माण्ड भरे हैं।

चंद्रिका का विश्लेषण करते हुए कवि कहते हैं कि इसके केंद्र में बिंदु है जो कज्जल जैसा लग रहा है। यही है अंधकार-शून्य, महाशून्य का स्थान, निराकारपुर, निगम का स्थान। यहीं श्रीकृष्ण का प्रकाश होता है, ज्योति का आविर्भाव होता है और चौदह ब्रह्माण्डों की सृष्टि होती है। इसी ज्योति से चार वर्ण उत्पन्न होते हैं। इन्हीं चार वर्णों से द्वादश-वर्ण होते हैं और ये ही द्वादश कुंज हैं। यमुना-तट पर स्थित सारे सौंदर्य में इन्हींकी उपस्थिति है। प्रत्येक कुंज में राधा-कृष्ण विविध भावों से आनंद-उपभोग करते हैं।

कवि ने प्रभु जगन्नाथ और कृष्ण में अभेद स्थापित करते हुए कहा है कि पूर्ण ब्रह्म जगन्नाथ के मस्तक पर मयूर-चन्द्रिका अनन्त शोभा पा रही है। उनके विशाल नेत्रों में राधा-कृष्ण की युगल-मूर्ति विराजमान हैं। हर युगल नेत्र में वही मूर्ति प्रतिभात होती है। अतः सभी प्राणियों में उन्हींकी स्थिति है। यही 'मयूर-चन्द्रिका' का तत्त्वज्ञान है। ऐसी अलौकिक 'मयूर-चन्द्रिका' से कुछ पंक्तियाँ यहाँ दी जा रही हैं।

एक सखी श्रीराधा से, चन्द्रिका का तत्त्व समझाती हुई दर्पण की उपमा देकर कह रही है :

(१)

जेपरि दर्पणे मुख चाहिंले निरेखि।
ताहार मध्यरे निज प्रतिबिंब देखि॥

हसिदेले जेन्हें प्रतिबिंब दिए हसि।
भंगि देखाइले मध्य भ्रूभंगि प्रकाशि॥

सेहिमति ब्रह्म-निरूपण-दर्पण रे।
निज माधुर्यास्वादन कर चन्द्रिका रे॥

'जैसे दर्पण में हम अपना मुख देखना चाहते हैं तो उसमें अपना प्रतिबिंब निरखते हैं। हम हँसें तो वह प्रतिबिंब भी हँस पड़ता है। कोई भंगिमा दिखायें तो वह प्रतिबिंब भी वही भंगिमा दिखाने लगता है। इसी तरह यह चन्द्रिका ब्रह्मनिरूपणरूपी दर्पण है। इसमें माधुर्य का आप आस्वादन करें। जैसे आप देखना चाहेंगे, इस चन्द्रिका में वैसा ही आनन्द प्राप्त कर सकेंगे।'

द्वादश कुंजों की शोभा का वर्णन करते हुए कवि प्रकृति के सारे फलक पर राधा-कृष्ण की युगल-जोड़ी का ही दर्शन करता है :

(२)

चतुर्दिग बृक्षे बसि खेचर,
फल पुष्प खाइ करंति स्वर।
राधा-कृष्ण-भावे पक्षी-निचय,
क्रीडुछंति पुंस-योषा उभय।
कमल कुमुद कुसुम मान,
कोकनद दिशे अति शोभन॥

तापरे भ्रमर चुंबइ बसि,
क्रीड़ा करंति सारस-सारसी।
यमुना-जले उठइ कल्लोल,
कि संदर दिशे उभय कूल॥

'चारों ओर वृक्षों पर पक्षी बैठे फल-फूल खाकर मधुर स्वर कर रहे हैं। राधा-कृष्ण के भाव से इस पक्षीसमूह के नर-मादा के जोड़े क्रीडा कर रहे हैं। राधा-कृष्ण की स्मृति में कमल, कुमुद कुसुम झूम रहे हैं। कोकनद अत्यंत शोभा पा रहा है। वहाँ भ्रमर बैठकर चुंबन ले रहा है। सारस-युगल क्रीड़ा करते हुए विहार कर रहे हैं। यमुना के जल में हिलोरें उठ रही हैं। उनसे दोनों कूल कितनी अपार शोभा पा रहे हैं !'

कवि ने जगन्नाथजी में श्रीकृष्ण के इसी शिखीचूल-वाले रूप का दर्शन किया है। 'ब्रह्म-निरूपण' के स्थलों में उसने अनेक तत्त्वों का विश्लेषण किया है। इसके लिए उसने सर्वत्र संस्कृतनिष्ठ पदावली का आश्रय लिया है। फिर भी सरसता आद्योपान्त प्रवाहित रही है। राधा-कृष्ण की निकुंज-लीला का रमणीय वर्णन इसकी उल्लेखनीय विशेषता है। इन्होंने एक स्थान पर जगन्नाथजी के निराकार रूप का वर्णन करके उसमें नित्य राधा-कृष्ण का निवास बताया है। इस प्रकार कवि ने दोनों में अभिन्नता दिखायी है।

अन्यत्र कृष्ण को आता देख राधा का भ्रम इन शब्दों में वर्णित है :

(३)

मस्तकरे चूड़ा नाना पुष्प बेढ़ा, तापरे शिखीचंद्रिका।
चलिला पराये नृत्य करथाए, देखि मुं हेलि ताटका॥

• • •

पुणि गो दूतिका पुरि अछि पखा, अनंत कोटि ब्रह्मांड।
पवित्ररे ज्ञान, कलि मने मन एहि कि ब्रह्म अखंड॥

'सिर पर नाना पुष्प धारण किये कृष्ण जब कुंज से आ रहे हैं तो भ्रम होता है, जैसे वहाँ कोई शिखी हो। उनके चलने पर उस शिखी के नृत्य करने जैसा दिखता है। सखी ! मैं तो स्तब्ध रह गयी। और हे सखी ! उन पंखों में लगता है, कोटि ब्रह्मांड समाये हैं। मन ही मन सोचती रही हूँ कि कहीं ये ही तो अखंड ब्रह्मांड नहीं हैं ?

शं. पु.

हनुमान् राय गुरु

हनुमान् राय गुरु का जन्म पितल (जिला गंजाम) में १८२७ ई० में हुआ था। १९४० ई० में प्रकाशित 'राय गुरु-ग्रंथावली' में इनकी और 'गोविन्द राय गुरु' दोनों की भक्ति-रचनाएँ संकलित हैं। इनका देहावसान सन् १८९१ ई० में हुआ।

शं. पु.

हरिकृष्ण राज

हरिकृष्ण राज का विशेष परिचय प्राप्त नहीं होता। इनके रचे राधा-कृष्ण-प्रेमविषयक कुछ पद मिलते हैं।

श्रीकृष्ण राधारानी के आगे निवेदन करते हैं :

सारस-नयनी अनारे थरे,
मंदे हसि चन्द्रानना !
न नाश दासंकु हेब अपयश,
यश-रक्षिणी विचार तो मानस रे।
न सहि मो नां रे के कि कहिअछि,
अछिद्र चारुकेशी नबीना॥

विनाश करे तो बिना पंचशर,
सरस-बचना निराश न कर रे।
करक कुंद-वृंद सुंदर,
दंतीपति जित सुगयना ॥

• • •

सुना गोरी तोष शुणि कृष्ण भाष,
भाषइ हरिकृष्ण राज ए रस रे।
रस रे तोषिले से नीरद-अंग,
अंगना-रत्न घन-जघना ॥

"हे सारस-नयनी ! चंद्रानना ! एक बार तो मंद मुसकान कर इधर देख लो ना ! इस दास का सर्वनाश न करो। हे यश-रक्षिणी ! मन में विचार तो करो कि इससे तुम्हें अपयश प्राप्त होगा। सह न सकने के कारण कोई कुछ, कोई कुछ कह देगा, पर हे अच्छिद्र चारुकेशी, नवीना ! तुम विचार न करो। हे सरसवचना ! तुम्हारे बिना पञ्चशर (कामदेव) मेरा विनाश कर रहा है।....' कृष्ण की यों रसमयी वाणी सुनकर राधारानी तुष्ट हो जाती हैं। हरिकृष्ण राज इस रस का वर्णन करते हैं। रमणी-रत्न, घन-जघना ने रस से नीरद-अंग को तुष्ट कर दिया।"

शं पु.

हरिगोपाल दास

हरिगोपाल दास का जन्म बलभद्रपुर ग्राम (जिला कटक) के सालेपुर थानान्तर्गत एक ब्राह्मण-वंश में हुआ था। पिता का नाम था बालकृष्ण पति। ये श्री पुरीदास गोस्वामी के शिष्य थे। गोस्वामीजी ग्रंथों के प्रसार-हेतु कटक के सच्चिदानन्द-मठ में रहकर कार्य करते रहे। उन्होंने प्रेस की स्थापना भी की थी।

हरिगोपाल दास आजन्म ब्रह्मचारी थे। इन्होंने भारतभर का भ्रमण कर अपनेको अनुभव-समृद्ध किया था। ये विनम्रता के मूर्तिमंत रूप थे। प्रो० हृदयानंद राय अपने संस्मरण में इनके विषय में लिखते हैं 'एकबार बाबाजी ने मुझसे कहा : 'मन करता है, पुरी रेलवे स्टेशन पर जीवनभर रिक्शा खींचता रहूँ, ताकि तीर्थयात्रा के लिए आनेवाले साधु-संतों की सेवा का अवसर मिले। इससे परोक्ष में कितना बड़ा पुण्य मिलेगा।' राय महाशय ने स्थिति का दूसरा पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा : 'इससे साधारण लोग पुरी जाना बंद कर देंगे। साधु-संतों को रिक्शे में बिठाकर स्वयम् तो ये पुण्य कमायेंगे, पर इनसे रिक्शा खिंचवाकर अपरिचित लोग कितना नुकसान कर बैठेंगे ?'

'षट्-संदर्भ' ग्रंथ के प्रकाण्ड विद्वान् हरिगोपाल दासजी का देहावसान १९६३ ई० में हुआ। इन्होंने 'श्रीकृष्ण-प्रेमतरंगिणी', 'श्रीकृष्णलीलामृत' तथा 'श्रील सनातन गोस्वामी' नामक तीन उड़िया-ग्रंथों का प्रकाशन करवाया है। इन्होंने 'श्रीपुरीदास गोस्वामी स्मृति-संघ' की स्थापना की और गुरु-प्रवर्तित कार्य पूर्ण करने में जीवनभर लगे रहे।

शं. पु.

हरिबंधु बेवर्ता

हरिबन्धु बेवर्ता पारलाखेमंडी के निवासी थे। इनका जन्म १८२६ ई० में हुआ था। इन्हें गोपालकृष्ण पटनायक का समसामयिक कहा जाता है। डा० सुधीरचंद्र महांती ने इन्हें 'मंजरीभाव' का सेवक बताया है। स्वयं को ये 'ललिता की सहचरी' मानते थे। इनके पदों की भाषा सरल और अनलंकृत है। ये अच्छे संगीतज्ञ थे, इसमें संदेह नहीं। इन्होंने अनेक अल्पज्ञात रागों में रचनाएँ की हैं। इनका एक संकलन 'हरिबंधु-पद्यावली' प्रकाशित है। इनकी परधाम-यात्रा १८९६ ई० में हुई। इनका एक पद नीचे दिया जाता है :

श्याम प्रेमसिंधु संग हेबा पाइं, वाहिनी पराए बहि।
गुरुकुलशील द्रुम इ कुलरु, उपाड़ि देबत रहिगे ॥

श्याम के प्रेमरूपी समुद्र में नदी के रूप में साथ रहने के लिए गुरु-कुल-शील आदि दोनों किनारों पर

लगे हुए अनेक द्रुम हैं। जो उन्हें उखाड़ कर फेंक देगा, वही रह पायेगा।

शं. पु.

हरिवंश दास

हरिवंश दास का मूल नाम 'हरिवंश राय' था। ये दीक्षा के बाद 'हरिवंश दास' कहलाये। इनका जन्म शक सं० १७१८ (१७९६ ई०) में हुआ था। इन्होंने प्रचुर मात्रा में भक्तिपूर्ण पदों की रचना की थी जो 'प्रेम-कल्पलता' में संकलित हैं। यह ताड़पोथी अबतक अप्रकाशित है। इसके अतिरिक्त 'राधा-माधव-कुतूहललीला' (१७९६ ई०) नामक इनकी एक अन्य कृति भी मिलती है। इन्होंने कृष्णदास गोस्वामीकृत 'गोविन्द-लीलामृत' का उड़िया में काव्यानुवाद किया था।

शं. पु.

हरि (वैश्य)

हरि (वैश्य) का समय १७ वीं सदी का अंतिम चरण या १८वीं का प्रथम चरण माना जाता है। इनके अधिकांश प्राप्त पद राधा-कृष्णभक्ति से परिपूर्ण हैं। 'संगीत-सागर' में इनके द्वारा रचित गीत मिलते हैं। यहाँ इनका एक मार्मिक गीत उद्धृत है।

राधा कृष्ण के न आने पर निराश होकर कहती हैं :

गो प्राणनाथ कले निराश ॥
केड़े आशा रे मुँ होइ थिलि सुबेश।
पोड़ि जाउ सजनी मो कपाल-दोष ॥

हिकाहापुरे रहिले से रसिक पुंस।
पाहि जाउछि राति, नइलेक श्रीपति ॥

बिरहे सरिलि मुँ कि करिबि गोदूती।
कृष्णचन्द्र बदन-दर्शने सुख-प्राप्ति ॥

घर बर तेजिलि श्याम-स्नेह रे माति।
कुसुमे मण्डलि केलि-व्रास ॥

'कृष्ण अबतक नहीं आये। राधा की चिंता बढ़ गयी। अतः वे सखी से कहती है : 'अरी ! प्राणनाथ ने तो आज बहुत निराश किया। मैं कितनी आशा लेकर सुवेश कर बैठी थी। मेरा भाग जले, इसीका दोष है। वे रसिक-नागर किसके यहाँ रुक गये ? रात बीती जा रही है। अन्यथा श्रीपति के विरह में मैं तो समाप्त हो जाऊँगी। हे सखी, हे दूती ! अब क्या करूँ ? कृष्णचन्द्र का वदन देखने से ही सुख मिल सकता है। श्याम के स्नेह में डूबकर मैंने घर-द्वार सब छोड़ दिया। अपने-आपको कुसुमों से मंडित किया।'

शं पु.

हाड़ी दास

हाड़ी दास का जन्म १७७२ ई० में चंपापुर (जिला कटक) में संक्रांति के दिन हुआ था। ये जाति के लुहार थे। पिता का नाम चेमेइ ओझा था। इनके संस्कार बचपन से ही भक्तिमूलक थे। युवावस्था में ही दीक्षा लेकर ये अपनी वंश उपाधि छोड़कर 'दास' बन गये। अल्प वय में पत्नी का देहांत हो गया। अतः इन्होंने दूसरा विवाह किया। अपनी कुल-परम्परा के व्यवसाय में लगे रहने पर भी ये अध्यात्म-चर्चा तथा भजन में लीन रहते थे। फलतः सांसारिक अभाव-असुविधा लगी रहती थी। इससे दुखी होकर एकबार पत्नी मायके चली गयी, किन्तु इस सबका हाड़ी दास पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इनके पास कुछ भी अपना कहने जैसा न था। बस, कृष्णभक्ति में लीन रहकर अपने छोटे-से झोपड़े में संतोषमय जीवन बिताते थे।

इनका स्थान घोर वन में था। वहीं ये जाति-वर्ण से ऊपर उठकर भगवान् के बारे में चर्चा करते थे। ये अत्यन्त प्रखर सामाजिक क्रान्तिकारी थे। अतः समाज में ब्राह्मणों के वर्चस्व और धार्मिक कृत्यों में पुरोहितों के एकाधिकार का इन्होंने खुलकर विरोध किया। इससे ब्राह्मणों के हितों पर आँच आने लगा। इसकी शिकायत दर्पाणी के नवाब गुलजार हुसैन तक पहुँची। हाड़ी दास को बुलाकर सफाई माँगी गयी।

इन्होंने निर्भीक होकर कहा : 'नीलाचलनाथ जगन्नाथ का कैवल्य सबके लिए समभाव से उपलब्ध है, फिर भेदभाव कैसा ?' इनके इस मत पर व्यंग्य करते हुए पूछा गया : 'कैवल्यं तो केवल श्रीक्षेत्र में ही मिलता है, अन्य स्थानों पर फिर क्या हो ?' हाड़ी दास ने अपने हाथ में लिये काष्ठपात्र को तुरत प्रभु की ओर किया और सबके सामने वहीं कैवल्य प्रसाद निकाल कर वितरित किया। नवाब एकदम आश्चर्याभिभूत हो गये। उन्होंने इनके विरुद्ध सारे अभियोग वापस ले लिये। नवाब ने इन्हें कुछ देना चाहा, लेकिन इन्होंने अस्वीकार कर दिया। बहुत अनुरोध करने पर कहा : 'पास ही छतिया की पहाड़ी पर वटवृक्ष की छाया में जितनी भूमि है, वही दे दी जाय।' नवाब ने सम्मान के साथ वह भूमि हाड़ी दास को अध्यात्म-साधना के लिए अर्पित कर दी।

वही वटवृक्ष और उसके नीचे की वह जगह हाड़ी दास के सारे लेखन का स्थल रहा। इनके शिष्यों में विभिन्न जाति और वर्ण के लोग थे। उन्हींमें से कुछ लोगों ने हाड़ी दास के उपदेश लिपिबद्ध किये।

हाड़ी दास अपने को अच्युतानंद का अवतार मानते थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में जगन्नाथतत्त्व, सगुण-निर्गुण-समन्वय, नाम-माहात्म्य और योग-साधना-संबंधी निराकारवादी दर्शन का प्रतिपादन किया है और परकीया से हटकर स्वकीया-प्रीति की श्रेष्ठता दिखायी है। इनका कथन है : 'ब्रह्म अचिन्त्य हैं, स्वेच्छा से नानारूप धारण करता है, सबमें उसीकी सत्ता विद्यमान है। इसे जाने बिना जीव मायाबद्ध हो तर्क-वितर्क में पड़ा भटकता रहता है। वह वासुदेव की भावप्रीति का मर्म नहीं जान पाता। भक्ति की सहायता बिना कोई क्या कर्म करेगा और उसमें क्या सफलता पायेगा ?

कहा जाता है कि हाड़ी दास ने योगसाधना द्वारा आत्मदर्शन प्राप्त किया था। सिद्धि पाकर ये त्रिकालदर्शी हो गये थे। अपने आश्रम में भविष्यवाणी की थी कि यही स्थान जगन्नाथजी का प्रसिद्ध पूजास्थल होगा। छतिया का विशाल जगन्नाथ-मन्दिर और उसके चारों ओर निर्मित धार्मिक पीठस्थल उसीके प्रतिफल हैं। छतिया और आस-पास में इनके धर्म-दर्शन का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। हाड़ीदास ने अपनी मृत्यु की तिथि बहुत पहले ही घोषित कर दी थी।

हाड़ीदास तत्त्वतः निर्गुण जगन्नाथ के उपासक थे किंतु पुरीक्षेत्र में सगुण जगन्नाथ की उपासना को व्यापक लोक समर्थन प्राप्त था इसलिए इनके मत का अपेक्षित प्रचार न हो सका।

इनकी रचनाओं में प्रमुख हैं—नोलमाधव गीता, शंखनाभि, गृहसम, व्यास-विषे, क्षेत्रमहात्म्य, लक्ष्मीधर-विलास, अनंतगुप्त - गीता, भावनावर, स्वरशास्त्र एवं निश्चलज्ञान-गीता।' इनके भक्ति-भावसंवलित गीत बहुत लोकप्रिय हैं। उड़ीसा में साधु-संतों की मंडली में हाड़ी दास के गीत कहीं भी सुने जा सकते हैं।

यहाँ इनके कुछ छंद दिये जा रहे हैं :

(१)

बसिजिबाकु बड़ आंटे भाटा देई हेलाणि आसि।
बासुदेव सिना शयने अछ निद्रा अलसि ॥

श्रीपाद-पद्म बासनारु स्वामी देखिलि एहा।
श्रीअंगे डांकण माइले किया नो हुछि दया ॥

'हे प्रभु ! आकर बैठ गये ! नींद में अलसा कर कैसे शयन को चले गये ? हे स्वामी ! इन पादपद्मों में आकर इच्छा हो रही है कि डांकण (सुआ) चुभोकर आपकी गहरी निद्रा भंग कर दूँ। आप इन दीन-दुखियों पर दया क्यों नहीं करते ? कैसे भूल गये अपना यह कर्तव्य ?'

पुरी से दूर बैठे हुए इन्होंने अपने एक गीत में प्रभु जगन्नाथ के पास संदेश भेजकर निवेदन किया है :

(२)

रत्नसिंहासन मउड़-मणिकि कहिबु कथाए,
महोदधि-कूले कल्प-बट-मूले करिछंति विजए।
से चांद-बदन पंकज-लोचन
आउ किपां एड़े भेय
भात न मिलइ तुण न मिलइ
लूण बिना बड़ भये,

• • •

छतिआ ग्रामे रहि हीन हाड़ि
जणाउछि पद्म पाए।
मोहकर्मंकु ने बधिर हेलकि
न शुण हे दयामये ।।

'जो रत्नसिंहासन पर शिरोमणि विराजमान हैं उनसे जाकर कोई पूछे कि द्रौपदीरूपी मृगी की रक्षा क्या भूल गये ? वे महोदधि-तट पर कल्पवट के नीचे अवस्थित हैं। चंद्रवदन, पंकजलोचन के रहते किसीको कैसा भय और कैसी चिन्ता ? न भात और न दाल मिलता है। नमक का भी अकाल हो गया। इतनों का तो तुमने उद्धार किया। मैं छतिया ग्राम में दूर रहकर आपके पद्मपाद में प्रणाम कर रहा हूँ। मेरे कर्मों के कारण ही आप बधिर हो गये ? आप दयामय होकर भी मेरी कोई विनती नहीं सुन रहे हैं।'

शं. पु.

उर्दू का कृष्णभक्ति काव्य

—डा० सलाम सन्दीलवी

उर्दू के कृष्ण-भक्त कवि

—डा० सलाम संदीलवी

—भगवतीप्रसाद सिंह

—डा० जहीर हसन

—डा० सैयदअली जैदी

क्रिश्न का पुजारी हूँ अली का बंदा हूँ।
'यगाना' शाने ख़ुदा देख के रहा न गया ।।

—मिर्ज़ा यास 'यगाना चंगेज़ी' लखनवी

उर्दू का कृष्ण-भक्ति-काव्य

विश्व के इतिहास का प्रत्येक युग इस तथ्य का साक्षी है कि जब दो जातियों में सम्पर्क स्थापित होता है तो दोनों एक दूसरे के विचार और जीवन-पद्धति से प्रभावित होती हैं। मध्यकाल में मुसलमानों के भारत-विजय के पश्चात् उनका हिन्दुओं से सम्पर्क हुआ तो दोनों एक दूसरे की सभ्यता और संस्कृति से शनैः-शनैः प्रभावित होने लगे। इसके शताब्दियों पूर्व व्यापार के सम्बन्ध में अरब भारत आये थे। उस समय उन्होंने गणित, ज्योतिष, दर्शन आदि विद्याओं के संस्कृत-भाषा के ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया था और इस प्रकार इनके बारे में भारत से बहुत कुछ सीखा था। विजेता के रूप में पूर्व-मध्यकाल में अफ़गानिस्तान की ओर से आनेवाले मुसलमान आक्रमणकारियों का शासन स्थापित हो जाने पर उनकी भाषा को राजभाषा का पद मिल गया। अतः भारतीय भाषाओं का उससे प्रभावित होना स्वाभाविक था। इसका प्रमाण पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्द बरदाई की प्रसिद्ध कृति 'पृथ्वीराज-रासो' है, जिसमें अरबी और फ़ारसी के शब्द प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं।

सांस्कृतिक आदान-प्रदान की यह भावना उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और वह इस सीमा तक पहुँच गयी कि हिन्दू मुसलमान फ़क़ीरों पर विश्वास करने लगे और मुसलमान हिन्दू योगियों के प्रति श्रद्धा रखने लगे। भारत में सूफ़ी सन्तों का आगमन महमूद ग़ज़नवी के समय से ही प्रारम्भ हो गया था। हज़रत दाता गंजबख्श हुज्वेरी (मृत्यु १०६३ ई०) का लाहौर में पदार्पण हुआ। इसके पश्चात् ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेर आये और वहीं स्थायी रूप से रहने लगे। मुहम्मद ग़ोरी के आक्रमण के समय वे वहाँ उपस्थित थे। उनका समय सन् ११४२ ई० से १२३५ ई० के बीच माना जाता है। कुतुबुद्दीन ऐबक के शासनकाल में हज़रत ख्वाजा बख्तियार काकी (११८६ ई० से १२३६ ई० तक) दिल्ली आये और ख्वाजा अजमेरी के शिष्य बने। इसी बीच पाक-पाटन में बाबा फ़रीद शकरगंज (११८६ ई० से १२६५ ई० तक) का आगमन हुआ। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में हजरत अली बू क़लन्दर पानीपत पधारे। इनके परवर्ती शेख़ निज़ामुद्दीन चिश्ती और उनके शिष्य अमीर खुसरो तुग़लक़-युग तक विद्यमान रहे। बहमनी-शासन में सैयद मोहम्मद गेसू दराज़ दक्षिण भारत में उपस्थित थे। इन सूफ़ी संतों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्ध को दृढ़ता प्रदान करने में अपूर्व योगदान किया। इन्होंने विजेता एवं शासक तुर्कों तथा विजित हिन्दुओं के बीच उत्पन्न कटुता, संदेह और भय की भावना दूर करने और एक दूसरे के विचारों को समझने के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। समकालीन शासकों पर उनका पर्याप्त प्रभाव था। इसलिए उन्हें यथेष्ट सफलता मिली। मुल्लाओं की सलाह से संचालित शासन-नीति में हिन्दू-दमन एवं शोषणचक्र की गति कुछ मंद हुई।

इसी समय भक्ति-आन्दोलन की धारा सारे भारत में वेग से प्रवाहित हुई। स्वामी रामानुज, चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य तथा स्वामी रामानन्द जैसे उदारचेता महापुरुषों ने जाति-पाँति के भेद को भुलाकर मानव-मात्र को एक सूत्र में बाँधने का प्रशंसनीय प्रयास किया। इस आन्दोलन से हिन्दू और मुसलमान समान रूप से प्रभावित हुए। जहाँतक सूफ़ियों का सम्बन्ध है, सांस्कृतिक सहयोग की दिशा में उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण

क़दम था इस देश की भाषा को अपनाकर उसे काव्य-रचना का माध्यम बनाना। फ़ारसी के विश्वप्रसिद्ध कवि अमीर खुसरो हिन्दुस्तानी तुर्क होने से हिन्दवी में धारा-प्रवाह रचना करने में गर्व का अनुभव करते थे :

तुर्क-ए हिन्दुस्तानियम मन हिन्दवी गोयम चूं आब।
शक्कर-ए-मिसरी न दारम कज़ अरब गोयम सखुन ॥

'मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ, मैं हिन्दवी पानी की रवानी के साथ बोलता हूँ। मेरे पास मिस्र की शकर नहीं है कि में अरबी में शायरी करूँ।'

अमीर खुसरो के व्यक्तित्व में भारत की शताब्दियों की संस्कृति सिमटकर साकार हुई थी। अपने ७५ वर्षीय जीवन में उन्होंने दिल्ली के सिंहासन पर ग्यारह बादशाहों को बैठते-उतरते तथा विलीन होते देखा था, उनके दरबारों और महफिलों की रौनक़ बढ़ायी थी और 'यकताए-ज़माना' शायर की गौरवपूर्ण पदवी प्राप्त की थी। दिनभर 'मुसाहबे-ख़ास' का जीवन बिताकर शाम होते ही वे अपने पीर मुर्शिद ख्वाजा निज़ामुद्दीन चिश्ती की तकिया में हाज़िर होकर आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करते और अपनी आशिक़ाना गजलों से उपस्थित लोगों के हृदय में इश्क की चिनगारियाँ भरते थे। इन दोनों दरबारों के अतिरिक्त खुसरो का तीसरा और सबसे अधिक व्यापक दरबार विशाल जनसमुदाय था। इसका मनोरंजन वे लोकभाषा अथवा हिन्दवी में कहे गये दोहों, पहेलियों मुकरियों, दो सखुना, बाबुल-गीतों तथा चुटकुलों द्वारा करते थे। इससे महलों से लेकर शहर के गली-कूचों तक उनकी शायरी की धूम मच गई थी। खुसरो की शायरी का यह मंच शासकीय आतंक और मजहबी भेदभाव से सर्वथा मुक्त था।'

अमीर खुसरो की इस असाधारण जनप्रियता के मूल में था उनका हिन्दोस्तान की धरती से प्रगाढ़ प्रेम। फ़ारसी की एक मसनवी में वे लिखते हैं :

हिन्द मेरा मौलिद ओ मादा ओ वतन।

'भारत मेरी जन्मभूमि, मेरी माता और मेरा देश है ।'

अन्यत्र वे 'जन्नत-निशान' के रूप में हिन्दुस्तान का अभिनन्दन करते हैं और उसे रूम, इराक, खुरासान और कंधार से बढ़कर मानते हैं :

तरजीहे मुल्के हिन्द ब-अक्ल ज़ हवाए खुश।
बर-रूमो, बर इराक़ो-ख़िरासानो-क़दहार ॥

इसी प्रकार उनकी दृष्टि में भारत की भाषा हिन्दवी का तुर्की तथा फारसी से ऊँचा स्थान है। इसका कारण वे उसका शब्द-माधुर्य बताते हैं :

इस्बाते-गुफ़्ते हिंद ब-हुज्जत कि राजिअ अस्ल।
बर पारसी व तुर्की जि अल्फाजे खुश-गवार ॥

हिन्दवी के इस माधुर्य ने खुसरो के पीर मुर्शिद शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया को भी आकृष्ट किया था। उनके नाम से एक रचना प्रचलित है :

परबत बांस मंगाव मेरे बाबुल नीके मंड़वा छवाव रे।
सोना दीन्हा रूपा दीन्हा बाबुल दिल दरियाव रे॥

हाथी दीन्हा घोड़ा दीन्हा, बहुत बहुत मन चाव रे।
डोलिया फंदाय पिया लै चलिहैं, अब संग नहिं कोउ आव रे॥

गुड़िया खेलन मां के घर रह गई, नहिं खेलन को दांव रे।
'निजामुद्दीन औलिया' बहियां पकरि चले, धरिहौं वाके पांव रे॥

इसी रंग से रंगे हुए खुसरो हजरत ख्वाजा के साथ भारतीय संस्कृति के वसंती भावों से मदहोश होकर धमाल खेलने में अपने जीवन की सार्थकता मानते हैं :

हजरत ख्वाजा संग खेले धमाल।
बाइस ख्वाजा मिल बन बन आये,
तामें हजरत रसूल साहब जमाल॥
अरब यार तेरो बसंत मनाया,
सदा रखिए लाल गुलाल॥

• • •

खुसरो द्वारा स्थापित हिन्दी काव्यरचना की इस परम्परा के विकास में परवर्ती युग के मुसलमान-कवियों ने उल्लेखनीय योगदान किया। उत्तर-मध्यकाल में कट्टरपंथी उलेमाओं के विरोध के बावजूद इसका वेग रोका न जा सका। औरंगजेब, मुहम्मद शाह प्रभृति मुग़ल बादशाह और उनके अनेक मुसलमान सामंत तथा उच्च अधिकारी स्वयं हिन्दी में काव्य-रचना करते थे और अपने दरबार में हिन्दी-कवियों को यथोचित आश्रय प्रदान करते थे। इससे स्पष्ट विदित होता है कि तत्कालीन मुस्लिम-समाज मुसलमान साहित्यकारों द्वारा हिन्दीभाषा का प्रयोग अवांछनीय नहीं मानता था।

धर्म और भाषा के अनिवार्य गठबंधन की दलील की धज्जियां उड़ाते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध प्रेमाख्यानकार कवि नूर मुहम्मद कहते हैं :

हिन्दू मग पर पांव न राखेउं।
का जो बहुतै हिन्दी भाखेउं॥
मन इसलाम मसल कै मांजेउ।
दीन जेवरी कस कर भांजेउ॥

अर्थात् 'हिन्दी में प्रचुर मात्रा में काव्य-रचना करने से मैं हिन्दू नहीं बन गया। मैंने इस्लाम के सिद्धान्तों से अपने मन को भलीभाँति माँजकर पक्का कर लिया है। अतः मेरे हिन्दू धर्म की ओर आकृष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता।'

उदार तथा दूरदर्शी सूफ़ी संतों ने हिन्दी के साथ ही हिन्दू-जीवन के आधारभूत धार्मिक त्यौहारों के प्रति भी समादर का भाव रखते हुए उनमें सम्मिलित होने और मुसलमानों द्वारा उनकी सामाजिक स्वीकृति दिलाने का भी प्रयास किया। इसके फलस्वरूप महलों से लेकर खानक़ाहों और झोपड़ियों तक वसंत और होली की धूम मचने लगी।

गोलकुण्डा के सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुब शाह (१५८०-१६११ ई०) ने वसंत के गीत गाये :

प्यारे वसंत का हवा आइया।
सकियां तन मुश्क जाफरान लाइया॥

सरद के मंदिर सआदत का खबर ले आया बसंत।
नैन-पुतलियां के चमन में फूल-फल लियाया बसंत॥

दिल्लीश्वर मुहम्मदशाह तो होली के रंग में डूबकर हमेशा के लिए 'रंगीले' बन गये। उनके राजत्व-काल में होली को राष्ट्रीय पर्व का दर्जा मिल गया। इस प्रसंग का उनका एक पद देखिये :

होरी को रितु आई सखी री,
चलो पिया पै खेलिए होरी।
अबीर गुलाल उड़ावत आवत,
सिर पर गागर रस की धरो री॥
मुहम्मदशा सबही मिलि खेलैं,
मुख पर अबीर मलो री॥

मुगलों, विशेष रूप से अकबर के शासनकाल में पारस्परिक समझदारी की यह भावना दृढ़तर हुई। इससे धार्मिक सद्भावना बढ़ी और हिन्दू-मुसलमानों में एक दूसरे की भाषा एवं साहित्य को गहराई से समझने तथा अपनाने की इच्छा जगी। हिन्दुओं ने फारसी का अध्ययन किया तथा मुसलमानों ने संस्कृत के अनुशीलन और हिन्दी-साहित्य-रचना में रुचि दिखायी। इसके फलस्वरूप अमीर खुसरो, मुल्ला दाऊद, कबीर तथा मलिक मोहम्मद जायसी के पदचिह्नों पर चलकर अब्दुर्रहीम खानखाना ने संस्कृत एवं हिन्दी में काव्य-रचना की, रसखान ने कृष्णभक्ति के गीत गाये, मिर्जा हुसैन अली ने बंगला भाषा में काली देवी की स्तुतियाँ लिखीं और अलाओल ने 'पद्मावत' का बंगला अनुवाद प्रस्तुत किया। मुगल बादशाहों की ही प्रेरणा से रामायण, महाभारत, गीता, पंचतन्त्र आदि संस्कृत ग्रन्थों के फारसी में उत्कृष्ट अनुवाद प्रस्तुत हुए।

इस प्रकार तसव्वुफ़ तथा वैष्णव भक्ति-आन्दोलन ने हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच की दूरी घटायी। दोनों धर्मों के विचारशील पथ-प्रदर्शकों ने उपासना के बाह्य-विधानों की उपेक्षा कर उपास्य की तात्विक

एकता का प्रतिपादन और सौमनस्य की स्थापना का प्रयत्न किया। यही वह सूत्र था जो इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच सहयोग और आत्मीयता के विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकता था।

कहना न होगा कि प्रेमतत्त्व को धर्म और भाषा से ऊपर मानकर इस प्रकार की वैचारिक उदारता की ज़मीन सूफ़ियों ने ही तैयार की थी।

अयोध्या के शाह जलालुद्दीन विसाली ने अपने उपदेशों द्वारा मैत्रीभावना और समझदारी बढ़ाने पर जोर दिया। उनकी मामुक़ीमा का एक छंद है :

कि चश्मां दिल मुबीं जुज़ दोस्त।
हर च बीनी बदां कि मज़हर ओस्त॥

'कि तू दिल की आँखों से दोस्त के सिवा और कुछ न देख, तू जो कुछ देखता है जान कि यह उसी (ईश्वर) का प्रकट रूप है।'

मलिक मुहम्मद जायसी भी प्रेम को ही पारस्परिक सद्भावना की स्थापना का मूलमंत्र मानते हैं :

तुर्की अरबी हिंदुई भाषा जेती आहिं।
जामें मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि॥

इस प्रकार सूफ़ी साधकों को मध्यकालीन हिन्दू-समाज में समादृत निराकारवादी नाथ-योगियों तथा निर्गुणमार्गी संतों से सौहार्द-स्थापना का सूत्र दोनों मतों में प्रतिष्ठित प्रेमतत्त्व के रूप में प्राप्त हो गया। सगुण उपासकों, विशेषतया कृष्णभक्तों, द्वारा चिरकाल से आराधना का प्रधान अंग मानी गयी कीर्तन-सेवा, इस प्रेम-भावना के विकास में अप्रत्याशित रूप से सहायक हुई।

ख्वाजा निज़ामुद्दीन चिश्ती के समय से ही कट्टरपंथी मुल्लाओं द्वारा इस्लाम विरोधी घोषित किये जाने और उनके प्रभाव से दिल्ली के सुलतानों द्वारा प्रतिबंधित 'महफ़िले समा' अथवा संगीतमय धार्मिक गोष्ठियों का लुके-छिपे आयोजन सूफ़ी फ़क़ीर तथा उनके अनुयायी करते रहे। इन गोष्ठियों में भावावेश के साथ हिन्दवी के ध्रुपद और विष्णुपद गाये जाते थे। इनके आयोजक सूफ़ी संतों का विश्वास था कि सितार तथा सरोद की स्वर-लहरी ग़ैब से निरन्तर आनेवाले इश्क़ के संदेशों का रहस्य बताती है। कालांतर में समा एक प्रकार से चिश्तिया-सम्प्रदाय की प्रेम-साधना का मुख्य अंग बन गयी। इनमें क़ुरान की आयतें भी हिन्दी रागों में गायी जाती थीं। ख्वाजा साहब के प्रिय शिष्य अमीर खुसरो ने उसके लिए हिन्दी रागों का आविष्कार और प्रचलित रागों में संशोधन किये।

'समा' में गाये जानेवाले कुछ पदों अथवा गीतों में निर्दिष्ट राधाकृष्ण की प्रेम-कथाएँ उन्हें अलौकिक संकेतों से परिप्लुत लगती थीं। इसलिए वे इन्हें सुनकर आत्मविभोर हो जाते थे। किन्तु इस प्रकार के आध्यात्मिक संगीत को उलेमा शरीअत-विरोधी मानते थे। उनके परितोषार्थ सूफ़ियों ने हिन्दवी के पदों में संकेतित कृष्णलीला के लौकिक प्रतीकों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की। प्रसिद्ध सूफ़ी संत अब्दुल वाहिद बिलग्रामी (जन्म १५०९ ई०) ने 'हकायके हिन्दी' में अपने समय में प्रचलित विष्णुपद, ध्रुपद तथा अन्य प्रकार के गीतों में प्रयुक्त कृष्ण के लीलाविषयक पदों की इस्लाम के सिद्धान्तानुकूल मर्मोद्घाटिनी व्याख्या प्रस्तुत की है, जो इस प्रकार है :

कृष्ण : रिसालत पनाह सल्लम (मुहम्मद साहब)।

गोपी : फरिश्ते।

कुबरी : दोषों तथा त्रुटियों से युक्त मनुष्य।

ऊधौ : मुहम्मद साहब या उनके अनुयायी, जो सेवक और स्वामी के बीच अभिकर्ता का काम करते हैं, अथवा जिबरील (फरिश्ता)।

पतिया या पाती : खुदा के यहाँसे उतरी हुई पुस्तक या बंदों का नाम ए-आमाल (कर्म-पंजिका) या खुदाई फरमान।

ब्रज या गोकुल : आलमे नासूत, आलमे मलकूत अथवा आलमे जबरूत।

जमुना या कालिन्दी : वहदत की नदी या ज्ञान-समुद्र।

मुरली या बाँसुरी : भाव के अभाव में प्रकट होने का संकेत।

कंस : नफ्स, वासना या शैतान।

मधुपुरी, मधुवन अथवा वृन्दावन : सूफियों के विश्वासानुसार ऐमन की घाटी अथवा हृदय को पावन बनाने अथवा आत्मा को प्रकाशमान करने के नियम।

मथुरा : ज्ञानियों (मार्फत वालों) का स्थायी मुक़ाम अथवा लक्ष्य।

जसोदा (यशोदा) : संसार पर ईश्वरीय कृपा का पूर्वनिश्चित सम्बन्ध।

नंदमहर : ईश्वर की सर्वदा प्राप्त होनेवाली दया।

गोरस (दही, दूध, मक्खन) : नाना प्रकार के उत्कृष्ट कार्य या गुण।

भौंरा : नफ्स का अंधकार।

पीत पिछौरी (पीताम्बर) : योगियों के सुख का रंग जो पीला होता है।

गोवर्द्धनधारी : ईश्वर की अमानत (धरोहर) का भार उठाने वाले रसूल सल्लम (मुहम्मद साहब)।

'कन्हैया मेरी बारी तुम बाद लगावत खोर' : कुरान की आयत जिसका अर्थ है—'मैंने मनुष्य को पूर्व से ही निर्बल, अंधकारावृत एवं मूर्ख पैदा किया है।'

ज्योति : मुशाहिदे (ब्रह्म-साक्षात्कार) का नूर।

सखी : मध्यस्थ अथवा ऐसा मित्र जो उसी मार्ग का हो, सन्मार्ग पर लानेवाले रसूल अल्लाह (मुहम्मद साहब) तथा उनके अनुयायी।

टीका या तिलक : उपकार की ज्योति, प्रेमियों का चिह्न।

इस व्याख्या से जहाँ एक ओर इस्लाम की तथाकथित पवित्रता-रक्षा के हिमायती मुल्लाओं कट्टरपंथी सामंतों तथा अधिकारियों की ज़बान बन्द हुई, वहीं दूसरी ओर इस्लामी दर्शन से तादात्म्य-स्थापना द्वारा कृष्णभक्त हिन्दुओं को अपनी ओर आकृष्ट करने का मार्ग भी निकल आया। यह प्रभाव एकांगी नहीं रहा, इसलिए कि प्रेम-साधना दोनों को इष्ट थी।

पारस्परिक सहयोग तथा विचार-विनियम के माध्यम की आवश्यकता अंततः उर्दू नाम की एक नयी भाषा की उत्पत्ति का कारण बनी। इसकी एक अपनी कहानी है।

पृथ्वीराज चौहान की पराजय के बाद १३वीं शताब्दी में पंजाब की ओर से आकर दिल्ली में बसनेवाले, मुसलमानों तथा यहाँके निवासी हिन्दुओं के बीच विचार-विनिमय के माध्यम रूप में प्रयुक्त खड़ीबोली 'हिन्दवी' के नाम से जानी जाती थी। कालान्तर में राजनीतिक विजय के पश्चात् सम्पर्क भाषा के रूप में दक्षिणी भारत पहुँचने पर इसे 'उर्दू-ए-मुअल्ला' की संज्ञा मिली। यह बाद में फारसी लिपि में लिखी जाने लगी और उर्दू के नाम से प्रसिद्ध हुई। अपनी मधुरता तथा प्रवाहात्मकता के बल पर आगे चलकर यह एक सशक्त साहित्यिक भाषा बन गयी।

उर्दू-साहित्यकारों ने आरम्भ से ही फ़ारसी साहित्य को आदर्श मानकर विषय-वस्तु तथा वर्णन शैली में उसका अनुसरण अपना लक्ष्य बनाया था। उनकी ग़ज़लों, रुबाइयों और मसनवियों का अनुशीलन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दूसरी बात जो उर्दू-काव्य पर फ़ारसी के प्रभाव का कारण बनी, वह उर्दू के अधिकांश कवियों का सूफी सन्तों और उनकी परम्पराओं से सम्बद्ध होना है। उर्दू के प्रथम कवि गोलकुण्डा के सुलतान मुहम्मद कुतुब शाह (१५८०-१६११ ई०) ने सूफी-विचारधारा से प्रभावित होकर फ़ारसी के सूफ़ी कवियों की भाँति अपनी कृतियों में प्रेमतत्त्व को महत्त्व दिया था और भारतीय काव्य-परम्परा के अनुसार प्रेमपात्र को स्त्रीरूप में प्रस्तुत किया था। उत्तरी भारत में उर्दू काव्य-परम्परा के प्रवर्तक शम्स वलीउल्ला 'वली' ने अपने मुर्शिद और फ़ारसी के कवि शाह गुलशन के अनुरोध पर अपने दीवान में प्रेमतत्त्व को यथोचित स्थान दिया था। उनके द्वारा स्थापित यह परम्परा परवर्ती उर्दू कवियों द्वारा पोषित एवं पल्लवित हुई। ख्वाजा मीर दर्द ने एक सच्चे सूफी फ़क़ीर की भाँति इश्क़-हक़ीकी की साधना में अपना जीवन बिताया तथा मीर हसन और मीर तकी ने अपनी ग़ज़लों तथा मसनवियों में प्रेम-पंथ की महत्ता का प्रतिपादन किया। किन्तु इस प्रेमतत्त्व का सर्वोत्कृष्ट रूप सर मुहम्मद इकबाल (मृत्यु १९३८ ई०) की फ़ारसी भाषा की सूफी रचना 'असरारे-खुदी' में अभिव्यक्त हुआ। उनके समकालीन एवं परवर्ती शायरों—जिगर मुरादाबादी तथा असग़र गोण्डवी ने उर्दू कविता में इसका अत्यन्त आकर्षक तथा परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया है। यह सूफ़ियाना रंग आधुनिक उर्दू-काव्य में भी व्याप्त है।

उर्दू काव्य में कृष्णभक्ति का सूत्रपात

भारत में हिन्दू और मुसलमानों को एक-साथ रहते एवं एक दूसरे की सभ्यता तथा संस्कृति से प्रभावित होते कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। अतः आदान-प्रदान का क्रम अलक्षित रूप से चलता रहा। उर्दू-साहित्य ऐसी रचनाओं से अत्यन्त समृद्ध है जिनमें भारतीय धर्म-साधना के उपजीव्य अवतारों तथा देवी-देवताओं, रीति-रिवाजों, त्यौहारों आदि की चर्चा अत्यन्त निष्ठा के साथ की गयी है। उनके रचयिता हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के अनुयायी हैं।

उर्दू के आविर्भाव के पूर्व से ही इस देश का सामान्य जनजीवन कृष्णभक्ति से प्राप्लावित था। अतः उर्दू-रचनाकारों पर राधा-माधव की भक्ति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

मध्यकालीन मुस्लिम धर्माचार्यों द्वारा की गयी कृष्णकथा के प्रतीकों की इस्लामी सिद्धान्तानुकूल व्याख्या के प्रकाश में इस्लाम के घेरे में रहते हुए भी उर्दू के कवि कृष्ण और कृष्णप्रेमसम्बन्धी गजल, नज्म, क़सीदे आदि बेख़ौफ लिख और गा सकते थे। इस प्रकार ईरानी सूफी दर्शन को भारतीय वातावरण

के अनुरूप नये साँचे में ढालने का रास्ता खुल गया। इससे उर्दू के उदारचेता शायरों को कृष्णभक्ति की रचनाएँ लिखने में प्रेरणा मिली। फलतः राधा-कृष्ण के नाम, रूप, लीला और व्रजधाम के प्रति गहरी आसक्ति व्यंजक प्रचुर रचनाएँ प्रस्तुत हुईं।

उर्दू कृष्णकाव्य-निर्माताओं के तीन वर्ग दृष्टिगत होते हैं। प्रथम में ऐसे रचनाकार आते हैं जो दार्शनिक तथा सूफ़ी विचार-पद्धति के हैं। वे हिन्दू-मुसलमान में भेद नहीं करते। इस वर्ग के कृतिकार अधिकतर उर्दू-साहित्य के आरम्भिक काल में पाये जाते हैं।

दूसरे प्रकार के रचनाकार वे हैं जो या तो स्वयं बादशाह या रईस थे या राज-दरबारों से सम्बद्ध थे। इनकी कृतियों में धार्मिक उदारता के दर्शन होते हैं। इस प्रवृत्ति के रचनाकार प्रायः उर्दू-साहित्य के मध्यकाल में आते हैं।

तीसरे प्रकार के रचनाकार वे हैं, जिनका सम्बन्ध वर्तमान युग से है। इनमें युगीन चेतना के अनुसार प्रगतिशील, मानवतावादी तथा कट्टरपन्थी सभी विचारधाराओं के साहित्यकार मिलते हैं। किन्तु इस प्रकार प्रवृत्ति के अनुसार विभिन्न युगों में विविध प्रकार के कृतिकारों का स्थापन तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। उदाहरणार्थ, सूफ़ी शायरों का सम्बन्ध केवल उर्दू कविता के प्रारम्भिक काल से नहीं है, बल्कि वे उसके विकास के प्रत्येक प्रवाह में दृष्टिगत होते हैं। इस संदर्भ में मध्यकाल के शाह अबू तुराब काकोरवी और बेदम वारसी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार आधुनिक काल के सूफ़ी शायरों में श्री अफ़क़र मोहानी एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। इन्होंने 'कन्हैया' पर जो कविता लिखी है, उससे कृष्ण के प्रति उनके आंतरिक लगाव का पता चलता है। राज्याश्रित कृष्णप्रेमी कवियों में इंशा अल्लाहखाँ ने भी सूफ़ीभावापन्न कृष्णभक्तिसम्बन्धी रचनाएँ लिखी हैं। वे पहले दिल्ली के बादशाह शाह आलम के दरबार से सम्बद्ध थे, बाद में लखनऊ के नवाब सआदत अली खाँ के आश्रय में अपना कवि-जीवन बिताया था। कहने का तात्पर्य यह कि कालविशेष में प्रवृति विशेष का उत्कर्ष पाये जाने पर भी उपर्युक्त तीनों प्रवृत्तियों के उर्दू-कवि न्यूनाधिक मात्रा में सभी कालों में पाये जाते हैं।

प्रथम स्वतंत्रता संग्राम (१८५७ ई०) के बाद उर्दू-काव्य में भारतीय सामाजिक परिवेश, देशप्रेम तथा हिन्दुओं के धार्मिक महापुरुषों के प्रति आस्था का रंग उत्तरोत्तर गहरा होता गया। उर्दू कवियों ने अपने काव्य को गंगा की गहराई, हिमालय की ऊँचाई और कृष्ण की महत्ता से अलंकृत करने के साथ ही उनकी वंशी के मधुर राग से जनमानस को भी अनुप्राणित किया। इनमें सीमाब अकबराबादी का कृष्णप्रेम अत्यन्त उदात्त एवं अभिनंदनीय है। श्रीकृष्ण के प्रति अपने आकृष्ट होने के पाँच कारण बताते हुए 'कृष्ण-गीता' नामक पुस्तक की भूमिका में वे कहते हैं :

(१) मुझे हिन्दू मज़हब के क़दीम अवतारों में श्रीकृष्ण से बड़ी अक़ीदत और मोहब्बत है। इसका एक सबब तो मेरा शायराना जौक़ है कि मुझे श्रीकृष्ण की जिन्दगी इकसर रूमानी और मुतलक़ मोहब्बत नजर आती है। हिन्दुस्तान में प्रेम और प्रीत यानी इश्क और मोहब्बत के जितने नग्मे फैले हैं उनका सरेचश्म मैं श्रीकृष्ण की मशहूर बाँसुरी ही को समझता हूँ।

(२) आगरा (अकबराबाद) व्रज की सरहद पर वाक़य है। मैं अकबराबादी होने की

हैसियत से व्रजवासी होने का दावा तो नहीं कर सकता, मगर उसका हमसाया ज़रूर हूँ। इसलिए मुझ पर श्रीकृष्ण का रूमानी असर एक फ़ितरी और उमरानी चीज़ है।

(३) मैं श्रीकृष्ण की जिन्दगी में एशिया के बाज़ पैग़म्बरों से मुआसलत पाता हूँ। इनके इब्तदाई हालात हज़रत मूसा से मिलते-जुलते हैं। हज़रत मूसा और श्रीकृष्ण दोनों अपने इब्तदाई सवाने-हयात में फ़ितरतन इतने क़रीब हैं कि फ़र्क़-ओ-इम्तियाज़ मुश्किल हो जाता है।

(४) भगवद्गीता की तालीम हर इन्सान के लिए मुझे यकसाँ मुफ़ीद और क़ाबिल-अमल नजर आती है। मैं इसके श्लोकों में सरतापा रुहानियत पाता हूँ।

(५) ऐसी नज्मों की तरदीज से मैं हिन्दुस्तान में मुत्तहिदा-क़ौमियत के लिए रवादारी और बेतअस्सुबी की बुनियाद रख रहा हूँ।

भारत के आध्यात्मिक पथप्रदर्शकों के प्रति इसी प्रकार की निष्ठा नज़ीर अकबराबादी और मौलाना हसरत मोहानी की रचनाओं में भी मिलती है। वे सूफ़ी-दर्शन से अत्यन्त प्रभावित थे। अतः दैरो-हरम (मन्दिर और मस्जिद) दोनों में खुदा का जलवा देखते थे।

नज़ीर कृष्णप्रेम में दीवाने मस्तमौला फ़क़ीर थे। स्वधर्मियों की आलोचना की परवाह न करके वे कन्हैया को अवतार ही नहीं, अवतारी मानते हैं, उनकी जन्मकथा तथा बाललीला के वर्णन में रस लेते हैं, बाँसुरी के लोक-मोहक प्रभाव का वर्णन करते हैं, शुकदेव द्वारा परीक्षित को सुनायी गयी भागवत-कथा की चर्चा करते हैं, बलदेवजी के मेले के रंग-रूप और झमेले का चित्रांकन करते हैं, रासलीला के दृश्य प्रस्तुत करते हैं, राधा-कृष्ण के विवाह का जश्न मनाते हैं, भक्त नरसी मेहता पर कृष्ण की कृपा का वृत्त प्रस्तुत करते हैं और आनन्द-विभोर हो 'हरिजी की जय' बोलते हैं।

मैं क्या क्या कहूँ वस्फ़ यारों उस स्याम बरन औतारी की।
सोकिश्न कन्हैया मुरलीधर मनमोहन कुंज-बिहारी की॥

जो भगती है सो उनको तो नित हरि का नाम सुहाता है।
जिस ज्ञान में हरि से नेह बढ़े वह ज्ञान उन्हें खुश आता है॥

यह लीला है उस नन्द-ललन मनमोहन जसुमति छय्या की।
रख ध्यान सुनो दडवत करो जय बोलो किश्न-कन्हैया की॥

श्रीकृष्ण में इतनी आसक्ति और उनके लीला-वर्णन में इतनी तन्मयता पहुँचे हुए मध्यकालीन भक्तों में ही दिखायी देती है।

प्रकृति से विनोदी और लखनऊ के ऐशो-इशरत भरे नबावी शासन में कवि-जीवन व्यतीत करनेवाले सैयद इंशा अल्लाह खां भी पीतपटधारी कृष्ण के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उनका जय-जयकार करते हैं :

साँवलेपन पर ग़ज़ब है धज बसंती साल की।
जी में है कह बैठिए अब जै कन्हैयालाल की॥

किन्तु वे इस बात से दुखी हैं कि अपना दास जानते हुए भी कृष्ण उन्हें दर्शन देकर कृतार्थ नहीं करते :

देवकी-नंदन तुम्हारे हम सा दास।
किस नहीं आते हो हमारे पास॥

कृष्ण-विरहिणी राधा की व्याकुलता के औचित्य का निदर्शन उन्होंने वैज्ञानिक युक्ति से किया है :

राधिका को चैन क्या आवे कन्हैया के बग़ैर,
वाक़ई काफ़ूर उड़ जाए अगर फ़िलफ़िल न हो।

कर्पूरांगी राधिका के प्राणों की रक्षा लवंगवर्ण श्याम के साहचर्य से ही संभव है। इस प्रकार की चमत्कारपूर्ण उक्ति कवि की उर्वर कल्पनाशक्ति का परिचायक है।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय लोकमानस में व्याप्त कृष्णभक्ति और कृष्णचरित की अजस्रधारा ने उर्दू कवियों की अन्तश्चेतना को उद्वेलित किया है। यद्यपि उनकी कृष्णविषयक रचनाओं में सिद्धान्त-प्रतिपादन अथवा भक्तितत्त्व के शास्त्रीय निरूपण की चेष्टा नहीं मिलती, तथापि कृष्ण-संचेतना के प्रसार और उसको संवेदना का धरातल प्रदान करने में उनकी भूमिका अत्यन्त प्रभावी रही है। यह कृष्णचरित की लोकस्वीकृति का परिचायक है।

कृष्ण-काव्य के ऐतिहासिक अनुशीलन में यह बात लक्ष्य करने योग्य है कि जहाँ हिन्दी के मुसलमान कवियों ने अपनी अहन्ता का कृष्णभक्ति में विलीन कर उनकी लीला का चित्रण भक्ति के रागात्मक धरातल पर किया है, वहाँ उर्दू के मुसलमान कवियों ने अपनी धार्मिक अस्मिता की, एक सीमा तक, रक्षा करते हुए हृदय की विशालता का परिचय दिया है। इस्लाम अवतारवाद में विश्वास नहीं करता और देवी-देवताओं की पूजा को कुफ्र मानता है। उसमें पूरा ईमान लानेवाले हमारे अनेक उर्दूकवि कृष्ण को 'नूर-स्याह' की संज्ञा देकर अवतार का गौरव देते हैं, लोकरक्षक मानते हैं और उनकी बांसुरी के स्वर में राष्ट्र को जाग्रत करने की अपार शक्ति का दर्शन करते हैं।

आधुनिक काल में मौलाना हसरत मोहानी, सीमाब अकबराबादी, साग़र निजामी, निहाल सीवहारवी, अफक़र मोहानी जैसे गण्यमान्य शायरों ने अपनी रचनाओं में कृष्ण के चरित और उपदेशों की, देश की वर्तमान परिस्थिति में, प्रासंगिकता रेखांकित की है।

मौलाना हसरत मोहानी अगर एक ओर शेख अब्दुल क़ादिर जीलानी से प्रेरणा प्राप्त करते दिखाई देते हैं तो दूसरी तरफ़ श्रीकृष्ण की बांसुरी और उनकी जन्मभूमि मथुरा से आत्मोत्थान का संदेश ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। अपने सातवें दीवान की भूमिका में वे लिखते हैं :

"हजरत श्रीकृष्ण के रहमत अल्लाह के बाब में फ़क़ीर अपने पीर और अपने पीरों के पीर हजरत सैय्यद अब्दुल रज्जाक बांसवी कदूसल्लाह के मुल्क-आशिक़ी का पैरो है।"

उनकी निम्नांकित पंक्तियों से यह भाव अधिक स्पष्ट हो जाता है :

कुछ हमको भी अता हो, कि ऐ हजरते किशन,
अक़्लीमें इश्क आपके जेरे कदम है ख़ास।

हमारी भी हो क़बूल मथुरा में हाज़िरी,
सुनते हैं आशिक़ों पर तुम्हारा करम है ख़ास।।

नीचे मथुरा पर लिखी गयी उनकी नज्म के दो शेर प्रस्तुत किये जाते हैं। इनमें से आखिरी शेर में 'नूरे-ए-स्याह' का प्रयोग सारगर्भित है :

मथुरा वो नगर है आशिक़ी का।
हम भरते हैं आरज़ू इसीका।।

वह नूर-ए-स्याह था कि हजरत।
सरचश्मा-फरोग़-आगही का।।

बासित बिसवान ने भी 'श्रीकृष्ण-जसोदा' शीर्षक रचना में (जो उनके काव्य-संकलन' शाहिद-ए-मानी' में संगृहीत है,) कृष्ण के प्रति अपनी अटूट आस्था व्यक्त की है। उसकी आरम्भिक पंक्तियां इस प्रकार हैं :

आग़ोश में जसोदा के है देवकी का लाल।
ख़ुशरंग ख़ुशनसीब ख़ुशअन्दाज ख़ुशजमाल।।

वह यों जबाने शौक से करती है अर्ज हाल।
वारी हजार जान से मैं ऐ माहे बेमिसाल।।

सीमाब अकबराबादी कितने आत्मविश्वास के साथ कृष्ण के क्रान्तिकारी आदर्श के सहारे दिल के टूटे हुए तारों को जोड़कर क़ौमी मुहब्बत के नये स्वर से सारे संसार को भावनात्मक एकता के सूत्र में बाँधने का दावा करते हैं :

गर्ज वह बांसुरीवाला अगर नहीं तो नहो।
तलाश करके मुझे उसकी बांसुरी ला दो।।

मैं उससे अज़सरे-नौ हिन्द को जगाऊँगा।
मैं आग उनसे मुहब्बत की फिर लगाऊँगा।।

मैं उसके नग़मों से जिन्दा जहाँ को कर दूँगा।
वफ़ा व हुस्न से फिर जिन्दगी को भर दूँगा।।

साग़र निज़ामी भारत ही नहीं, पूरे एशिया को शोषकों के पंजे से छुड़ाने के लिए कृष्ण का आह्वान करते हैं :

एशिया ग़ुलाम है उस ग़ुलाम को सुनो।
हिन्द डूबने को है, डूबते को थाम लो।।

साहिले मुराद तक हिन्दियों को लाओ तुम।
ए गोपाल झूमकर बांसुरी बजाओ फिर।।

मौलाना अफ़क़र मोहानी कृष्ण को सारे संसार के हक़परस्तों का प्रेरक तथा रहनुमा मानते हैं :

जो हैं आज भी हक़परस्ती के महरम,
वह ज़िन्दा हैं तेरे सहारे कन्हैया।
न वह कंस है और न वह दौर 'अफ़क़र'
मगर रह गये हक़ के प्यारे कन्हैया॥

अफ़क़र साहब के इस 'हक़' में मंसूर हल्लाज़ के 'अनलहक़' का दर्शन किया जा सकता है।

यहां उर्दू के केवल मुसलमान कृष्णप्रेमी शायरों के कलाम संकलित किये गये हैं। आलोच्य विषय पर काव्य-रचना करनेवाले हिन्दू शायरों को जान-बूझकर छोड़ दिया गया है। इस विचार से कि धार्मिक दृष्टि से अवतारवादो होने के कारण वे परम्परया कृष्ण से जुड़े हुए हैं। अतः उनकी एतद्विषयक रचनाओं में पूर्ण समर्पण तथा प्रगाढ़ भक्ति की अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। इसके विपरीत अवतारवाद विरोधी इस्लाम धर्मावलम्बियों द्वारा कृष्ण का मात्र श्रद्धापूर्ण स्मरण अभिनन्दनीय समझा जायगा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने तानसेन, रसखान, सेख, नबी, अहमद प्रभृति मध्यकालीन मुसलमान कवियों द्वारा कृष्णभक्ति के विकास में की गयी सेवाओं की अभ्यर्थना करते हुए कहा था :

इन मुसलमान हरिजनन पै,
कोटिन हिन्दुन वारिये॥

देश और समाज की परिवर्तित परिस्थितियों में, धार्मिक द्वेष तथा पृथकत्व की भावना के उभार के बावजूद, मध्यकाल एवं वर्तमान युग के उर्दू के मुसलमान शायरों ने तहेदिल से कृष्ण के प्रति भाव-सुमन अर्पित कर अपने को उसी सम्मान का अधिकारी बनाया है। इसके लिए कृष्णोपासकों का विशाल समुदाय उनका चिर ऋणी रहेगा।

डा० भगवती प्रसाद सिंह
डा० सलाम सन्दीलवी

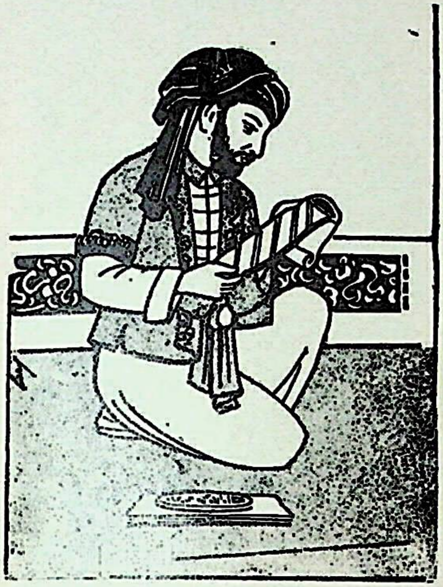

अमीर खुसरो (पृ० २३८)

सैयद मुहम्मद हुसेन 'अफ़क़र' मोहानी (पृ० २५०)

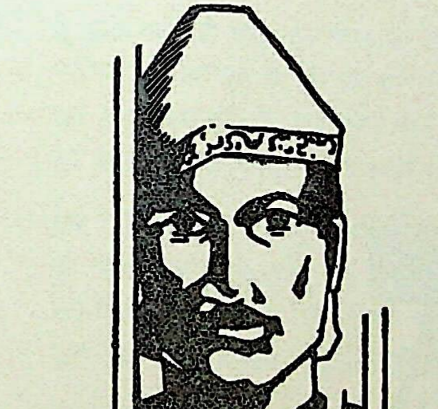

सैयद इंशा अल्लाह खाँ 'इंशा' (पृ० २५०)

सैयद फज़लुल हसन 'हसरत' मोहानी (पृ० २६६)

वली मुहम्मद 'नज़ीर' अकबराबादी
(पृ० २७८)

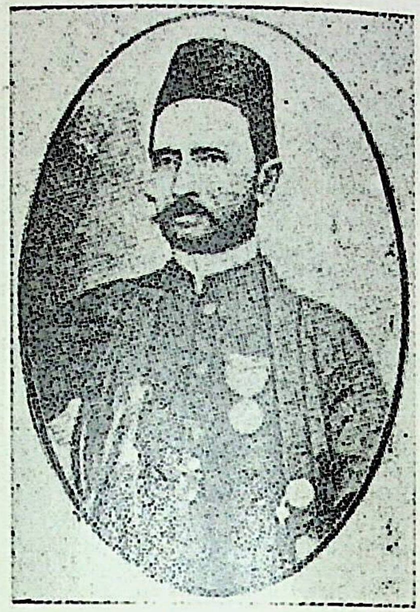

शाद अज़ीमाबादी
(पृ० २८३)

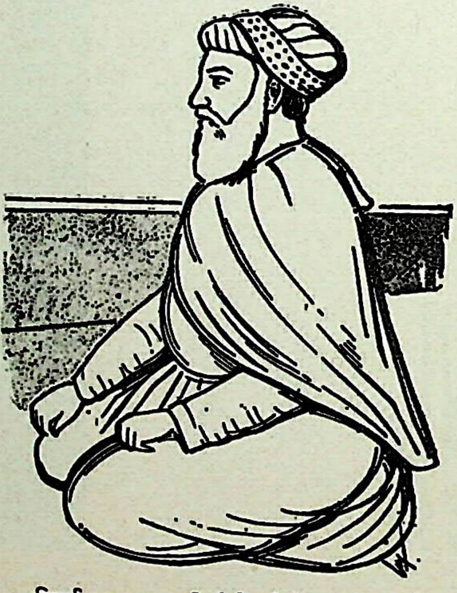

मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी 'सौदा' (पृ० २७२)

उर्दू के कृष्ण-भक्त कवि

अख़्तर शीरानी

अख़्तर शीरानी पंजाब के निवासी थे। उर्दू की इश्क़िया शायरी इनकी लेखनी का बल पाकर बहुत लोकप्रिय हुई। इनके नज्म तथा गीत अपने ज़माने में पंजाब के हरख़ास व आम की ज़बान पर थिरकते थे। इनकी मधुर रसपूर्ण रचनाएँ अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं। भारत और उसके निवासियों के दुःख-दर्द में डूबकर इन्होंने जो कुछ लिखा है, वह अपने आप में नये ज़माने का संदेशवाहक होने के साथ ही भारतीय संस्कृति में उनकी गहरी निष्ठा का परिचायक है।

ये इश्क़ के पुजारी थे और उसे कृष्ण का प्रतिरूप मानते थे। सांसारिक छल-प्रपंच से ऊबकर योगियों के लहजे में ये उससे एक दिव्यलोक में ले चलने का अनुरोध करते हुए कहते हैं :

ऐ इश्क़ कहीं ले चल, इस पाप की बस्ती से,
नफ़रत गहे आलम से, लानत गहे हस्ती से,
इन नफ़्स-परस्तों[1] से, इस नफ़्स परस्ती से,
दूर और कहीं ले चल, ऐ इश्क़ कहीं ले चल।

हम प्रेम-पुजारी हैं, तू प्रेम कन्हैया है,
तू प्रेम कन्हैया है, यह प्रेम की नैया है,
यह प्रेम की नैया है, तू इसका खेवैया है,
कुछ फ़िक्र नहीं ले चल, ऐ इश्क़ कहीं ले चल॥

इन चाँद-सितारों के बिखरे हुए शहरों में,
इन नूर की किरणों की ठहरी हुई नहरों में,
ठहरी हुई नहरों में सोई हुई लहरों में,
ऐ खिज्रे-हसीं ले[2] चल, ऐ इश्क़ कहीं ले चल।

संसार के उस पार इक इस तरह बस्ती हो,
जो सदियों से इन्सां की सूरत को तरसती हो,
औ जिसके नज़ारों पर तनहाई बरसती हो,
बस यूं हो वहीं ले चल, ऐ इश्क़ कहीं ले चल॥

संपा.

अनवर मियाँ

अनवर मियाँ बिसनगर के निवासी जनाब अजामियाँ के पुत्र थे। इनका जन्म वैशाख कृष्ण ७, सं० १८९९ (१८४२ ई०) में हुआ था। ये सैयद हैदरशाह फ़कीर के शिष्य थे। इनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि एक सिद्धहस्त शायर होने के साथ ही ये अच्छे साधक भी थे। इनका एक आत्मानुभवपूर्ण छंद नीचे दिया जाता है :

हरि को देखा दरसन में,
समझ कर मगन हुआ मन में।
जल में देखा, थल में देखा,
देखा पवन गगन में, रे भाई॥

कंकर-पाथर सबमें देखा,
मानव भया मगन में।
झाड़ में देखा, पात में देखा,
देखा फूल-फलन में, रे भाई॥

ठाम-ठाम में दरसन पाया,
ज्ञानरूप दरपन में।
तुममें देखा, हममें देखा,
देखा सब पुरषन में, रे भाई॥

कोई उस बिन नजर न आया,
हमको जग-दरसन में।
अकास देखा, पताल देखा,
देखा गहन गगन में, रे भाई॥

तीन लोक में उसको देखा,
रमता सबके मन में।

---

[1] विषय लंपटों। [2] सौदर्य-सागर।

उसके बिना कोइ चीज़ न देखी,
दरिया बस्ती बन में, रे भाई ॥

चौदह भुवन में आप समाया,
तरह-तरह के फलन में।
हर जगह में उसको देखा,
नूर भया लोचन में, रे भाई ॥

उस बिन दूजा कछू न देखा,
बोला सत्य वचन में।
उससे डोरी लगी है सबकी,
खींचे सब कारन में, रे भाई ॥

बाजीगर ज्यूं पुतलियों का,
खेल करे लोकन में।
कभी हमारा संग न छोड़े,
जाग्रत और सुपन में, रे भाई ॥

आठ पहर हाज़िर ही रहता,
ज्ञानी के चेतन में।

संपा.

अफ़क़र मोहानी

मौलाना अफ़क़र मोहानी उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के मोहान नामक कस्बे के निवासी थे। इनका जन्म सन् १८८७ ई० में हुआ था। मूलनाम 'सैयद मुहम्मद हुसैन' था। 'अफक़र मोहानी' इनका तखल्लुस था। ये मुख्यतः सूफी सन्त थे। इन्होंने फ़क़ीरों-जैसी ज़िन्दगी बितायी और अपनी कविता में साधना तथा भक्ति की अनुभूतियों को प्रधानता दी।

सात्त्विक जीवन बितानेवाले अफ़क़र मोहानी बड़े ही उदार विचारों के थे। सीधी-सच्ची बात ये जाति, धर्म तथा सम्प्रदाय से ऊपर उठकर निर्भीकता से कह देते थे। हिन्दू-मुसलमान में इनके लिए कोई भेद न था। इसी उदार भावना के कारण इनकी कविता मर्मस्पर्शी तथा सर्वजनोपयोगी है। इनकी भाषा-शैली मिली-जुली, प्रवाहपूर्ण, प्रभावोत्पादक तथा सीधी-सादी है। इनके दो दीवान 'फ़िरदौस-ए-मआनी' तथा 'नज़रगाह' प्रकाशित हो चुके हैं।

इनकी 'कन्हैया' शीर्षक कविता बहुत प्रसिद्ध है। उसकी कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

मैं सदक़े तेरे हक़ के प्यारे कन्हैया।
ज़मीं पर ख़ुदा के उतारे कन्हैया ॥

नहीं एक गोकुल पै मौक़ूफ़[1] जलवे,
तेरे हर कहीं हैं नज़ारे कन्हैया।

मज़ा तो यही है तेरी मारिफ़त[2] का,
कि हर क़ौम समझे हमारे कन्हैया ॥

वही तो हैं बस ज़िन्दा दार-ए-मुहब्बत,
तेरे इश्क़ के जो हैं मारे कन्हैया।

जफ़ा-ओ-सितम[3] के अंधेरों में पलकर,
बने खल्क में चाँद-तारे कन्हैया ॥

मिली है उन्हींको तो राह-ए-हक़ीक़त[4],
चले हैं जो तेरे सहारे कन्हैया।

अजब क्या मज़ालिम[5] की तारीकियों में,
ज़माना तुझे फिर पुकारे कन्हैया ॥

जो हैं आज भी हक़परस्ती के महरम[6],
वह ज़िन्दा हैं तेरे सहारे कन्हैया।

न वह कंस है और न वह दौर 'अफ़क़र',
मगर रह गये हक़ के प्यारे कन्हैया ॥

१. निर्भर २. अध्यात्म ३. अत्याचार ४. सत्पथ
५. अत्याचार। ६. जानने वाले। स. सं.

अफ़सोस

अफ़सोस साहब के बारे में केवल इतना ज्ञात है कि ये लखनऊ के रहनेवाले थे। इनकी फुटकर रचनाएँ मिलती हैं। उन्हींमें से गोपीविरह-प्रसंग का एक छंद नीचे दिया जा रहा है :

का संग फाग मचाऊँ री,
कुबजा-संग गिरधारी रहत हैं।

अँसुवन कौ सखि रंग बनायौ,
दोउ नैना पिचकारी रहत हैं ॥

बिरह में कल न परत पल-छिनहूँ,
व्याकुल सखियाँ सारी रहत हैं।

निसि-दिन कृष्ण-मिलन को सखियाँ,
आस लगाये ठाढ़ी रहत हैं ॥

'अफ़सोस' पिया की नेह सुरतिया,
निरखत नर औ नारी रहत हैं ॥

संपा.

अब्दुल असर 'हफ़ीज़' जालन्धरी

अब्दुल असर 'हफ़ीज़' जालंधर (पंजाब) के निवासी थे। किशोरावस्था में ही ये एक सफल तथा लोकप्रिय शायर के रूप में प्रतिष्ठित हो गये थे। इससे लाहौर के रेडियो विभाग में इन्हें एक उच्च पद पर नियुक्ति मिल गयी। फिर तो संगीतमय नज्मों और मादक गीतों के लिए ये सारे देश में प्रसिद्ध हो गये।

इनकी शायरी की सबसे बड़ी विशेषता है, इस देश की धरती से अपार प्रेम। इनकी रचनाएँ देश-प्रेम तथा भारतीय संस्कृति की विविध छटाओं के चित्रण में बेजोड़ हैं।

हफ़ीज़ साहब की सर्वप्रसिद्ध कृति है, 'शाहनामा-ए-इस्लाम'। इसने इन्हें उर्दू शायरों की प्रथम पंक्ति में बिठा दिया। कन्हैया की बाँसुरी पर लिखा गया इनका एक गीत प्रस्तुत है :

बाँसुरी बजाये जा।
कान्हा मुरलीवाले नन्द के लाल
बाँसुरी बजाये जा ॥

प्रीत में बसी हुई अदाओं से,
गीत में बसी हुई सदाओं से,
ब्रजवासियों के झोंपड़े बसाये जा।
सुनाये जा, सुनाये जा ॥

बांसुरी की लय नहीं है, आग है,
और कोई शै नहीं है, आग है,
प्रेम की यह आग चारसू लगाये जा।
सुनाये जा, सुनाये जा ॥

संपा.

अब्दुल खालिक 'निहाल' सीवहारवी

इनका असली नाम 'अब्दुल खालिक' था 'निहाल' तखल्लुस था। अतः इसी नाम से प्रसिद्ध हुए ? इनका जन्म सीवहारा (उत्तर प्रदेश) में १९०१ ई० में हुआ था। ये 'सायल' देहलवी के शागिर्द थे। १९५२ ई० में इनका परलोकवास हो गया। इन्हें अपने वतन और उसके निवासी हिन्दुओं की संस्कृति से गहरी मुहब्बत थी। इसकी अभिव्यक्ति इनकी उस पर लिखी गयी रचनाओं में हुई है।

श्रीकृष्णसम्बन्धी इनकी कविता की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :

ज़िन्दगी थी पायमाले[१] जबरो इस्तेलाए-ज़ुल्म[२]।
दूसरे अल्फ़ाज़ में यह दहर[३] था दुनियाए ज़ुल्म ॥

नग़मए बातिल[४] था हर सू बर्छियां ताने हुए।
कंस था अपनी ही हस्ती को ख़ुदा माने हुए ॥

क़ायनाते[५] जुज़्बे-कुल[६] का राज़दाँ[७] पैदा हुआ।
मुख्तसर यह है कि आक़ाए-जहाँ[८] पैदा हुआ ॥
नूर से मामूल[९] ज़ुल्मत-ख़ानए आदम हुआ।
किस तख़य्युल[१०] से तोलए नय्यरे[११]-आज़म हुआ ॥

उसने समझाया कि बहरे-बेकरां[१२] है ज़िंदगी।
आरज़ी[१३] उसको न कहना जाविदां[१४] है ज़िंदगी ॥

रब्त[१५] मुहकम है मियां आबिदो-माबूद[१६] इश्क़।
आफ़रीं नश गाह आबो गुल का है मक़सूद इश्क़ ॥

चश्म बीना होती इस आफ़ाक़[१७] में उरयां[१८] है हुस्न।
इन्तहाए हुस्न है यह जलवए-यज़दां[१९] है हुस्न ॥

१. दुर्दशाग्रस्त २. अन्याय ३. युग ४. झूठ
५. सृष्टि ६. अंश तथा पूर्ण ७. रहस्यज्ञाता
८. विश्व का स्वामी ९. आशान्वित १०. कल्पना
११. सूर्य १२. अपारसागर १३. क्षणभंगुर
१४. शाश्वत १५. सम्बन्ध १६. ध्याता और ध्येय
१७. संसार १८. नग्न १९. ईश्वर का दर्शन।

स. सं.

(क़ाज़ी) अशरफ़ महमूद

क़ाज़ी अशरफ़ महमूद के जीवनसम्बन्धी सूचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। काव्य-संकलनों में जो स्फुट रचनाएँ मिलती हैं उनसे विदित होता है कि इनके कृष्ण-लीला-वर्णन में मध्यकालीन भक्तकवियों जैसी तन्मयता है।

बालक कृष्ण के ठुमुक-ठुमुक कर चलने पर क़ाज़ी साहब की मुग्धता का एक शब्द-चित्र देखिये :

ठुमुक-ठुमुक पग, कुमुक कुंज-मग,

चपल चरण हरि आये, हो-हो चपल चरण हरि आये!
मेरे प्राण भुलावन आये, मेरे नयन-लुभावन आये ॥

निमिक-झिमिक-झिम, निमिक-झिमिक-झिम,
नर्तन पद-व्रज आये, हो हो नर्तन पद-व्रज आये !
मेरे प्राण०

अरुण करुण-सम, छिन्न-भिन्न तम,
करन बाल-रवि आये, हो-हो करन बाल-रवि आये ॥
मेरे प्राण०

अमल कमल-कर, मुरलि-मधुर-धर,
वंशी बजावन आये, हो हो वंशी बजावन आये ।
मेरे प्राण०

पुंज-पुंज-हर, कंज-गुंज-भर,
भृंग-रंग हरि आये, हो हो भृंग-रंग हरि आये ॥
मेरे प्राण०

झुन-झुन डुल-डुल मंजुल बुल-बुल,
फुल्ल मुकुल हरि आये, हो हो फुल्ल मुकुल हरि आये।
मेरे प्राण०

अन्यत्र देश की वर्तमान स्थिति में कृष्ण के प्रेम-संदेश के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए ये लिखते हैं :

आज भी तुम, श्याम ! सबके कण्ठ के कल-हार हो ।
प्रेमियों के प्राण-मन हो, प्रेम के उद्गार हो ॥

श्याम ! तुम से क्या कहूँ मैं आज ब्रज की दुर्दशा,
देख लो चलकर स्वयं ही, जो न अब इतबार हो ।
श्याम ! तुम मानो, न मानो, आज मेरी यह कथा,
दृष्टि उनकी बह रही है, अन्ध आँसू धार हो ॥

नाथ ! ब्रज को गोपियों के भस्म-सा है कर दिया,
अब डुबाना चाहते हैं, अश्रु-पारावार हो ।
एक पल भी छोड़ ब्रज को तुम न रहते थे कभी,
आज कैसे छोड़ पाये नाथ ! फिर घर-द्वार हो ॥

नाथ ! तुम आये यहाँ थे विश्वजन को तारने,
आज फिर कैसे उठाये हाथ में तलवार हो ।
प्रेम का प्रण भूल अपना आज हो रण में रमे,
हाय तुम तो प्रेम-घन हो विष्णु के अवतार हो ॥

कुंज-वन सब छोड़ अपना आज आये हो कहां ?
कर्मरत कब तक रहोगे प्राण में जो प्यार हो ।
नाथ ! उनसे क्या कहूँगा शीघ्र उत्तर दो मुझे,
हाय ! कैसे चुप खड़े हो नाव जब मझधार हो ॥

संपा.

(मौलाना) 'आज़ाद' अज़ीमाबादी

'आज़ाद' अज़ीमाबादी के जीवनसम्बन्धी तथ्य प्राप्त नहीं होते ! तख़ल्लुस के साथ निर्दिष्ट स्थान-वाचक शब्द 'अज़ीमाबादी' से विदित होता है कि ये बिहार के अज़ीमाबाद (पटना) नगर के निवासी थे। ये संत-प्रवृत्ति के अन्तर्मुखी कृष्ण-प्रेमी शायर थे, यह इनके निम्नांकित अशआर से स्पष्ट हो जाता है। इनकी मात्र फुटकर रचनाएँ मिलती हैं। उन्हींमें से एक प्रस्तुत है :

बजानेवाले के हैं करिश्मे,
जो आप हैं महो बेख़ुदी में।
न राग में हैं, न रंग में हैं,
जो आग है दिल की बाँसुरी में॥

किसी रंगीले की शोख़ियां हैं,
न रंग-गुल है, न अश्क़-शबनम,
उड़ा दिया चुटकियों में क्या-क्या,
रुला दिया है हँसी-हँसी में।

जो इजतराब[1] उस निगाह में है,
जो उस हँसी में है मौज-खूबी,
कहाँ वह बिजली की थरथरी में,
कहाँ वह फूलों की गुदगुदी में॥

न नूर पर जाके लखड़खड़ाये,
न दैरो-काबे में दिन गँवाये,
उस आइने-रू-का अक्से-जलवा,
अयाँ हुआ दिल की आरसी में।

हुआ न काफ़िर रहा तलाशी,
गया न मथुरा, गया न काशी,

मैं क्यों किसी दर की ख़ाक उड़ाता,
मेरा कन्हैया तो था मुझीमें॥

१. बेचैनी। संपा.

(शेख़) आशिक़ हुसेन 'सीमाब' अकबराबादी

इनका वास्तविक नाम 'शेख़ आशिक़ हुसेन' था 'सीमाब' उपमान था। इनका जन्म १८८० ई० में आगरा (अकबराबाद) में हुआ था। ये उर्दू-शायरी के विख्यात काव्यगुरुओं में गिने जाते हैं। इनके शिष्य देश के कोने-कोने में बिखरे हुए हैं।

अध्ययन समाप्त करने के बाद इन्होंने कुछ दिनों तक रेलवे में नौकरी की, किन्तु स्वच्छन्द प्रकृति ने इन्हें अधिक दिनों तक वहाँ टिकने नहीं दिया। नौकरी छोड़कर ये साहित्य-सेवा में लग गये। उर्दू के प्रचार-प्रसार के लिए इन्होंने 'कसरुल-अदब' नामक एक संस्था की स्थापना की और उसीके माध्यम से 'शाइर' नामक एक मासिक-पत्रिका निकाली। इनके नाम पर स्थापित 'सीमाब-सोसाइटी' ने उर्दू के विकास में अपूर्व योगदान किया है।

सीमाब को फ़सीहुल-मुल्क मिर्ज़ा 'दाग़' देहलवी के शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ था। अल्लामा इक़बाल इनके गुरु भाई थे। इक़बाल के जीवन की आरंभिक राष्ट्रीय विचारधारा कालान्तर में पूर्णरूपेण इस्लामी रंग में रंग गयी थी, किन्तु सीमाब मज़हब के तंग दायरे से बाहर रहकर आजीवन मानवमात्र के उत्थान तथा जागरण के गीत गाते रहे। पुरानी पीढ़ी के शायर होते हुए भी इनकी रचनाओं में क्रांति का स्वर प्रखर रहा। इनका कलाम देशभक्ति, धार्मिक-उदारता, प्रगतिशील विचार तथा दार्शनिक भावों से ओत-प्रोत है।

इनका जीवन-लक्ष्य इन शब्दों में कितनी सहजता से व्यक्त हुआ है :

वतन प्यारे वतन ! तेरी मुहब्बत जुज़्वे ईमां है।
तू जैसा है, तू जो कुछ है, सकूने-दिल[1] का सामां है॥
वतन में मुझको जीना है, वतन में मुझको मरना है।
वतन पर जिन्दगी को एक दिन क़ुरबान करना है॥

---

[1] हार्दिक शांति।

इस प्रकार गहरे देश-प्रेम ने ही इनको हिन्दू-धर्म और उसके अनुयायियों में रुचि पैदा की जो शनैः-शनैः आसक्ति में बदलती गयी। श्रीकृष्ण की ओर ये विशेष रूप से आकृष्ट हुए। इन्होंने उनकी गीता की विश्व की एक महान् कृति के रूप में अभ्यर्थना की और उनकी बाँसुरी को सारी मानवता के लिए प्रेम-संदेश का प्रतीक माना। कृष्ण-चरित्र पर लिखी गयी प्रचुर रचनाएँ इनके कृष्णप्रेम की परिचायक हैं। यहाँ उनमें से कुछ उद्धृत की जा रही हैं :

(१)

हुआ तोलूंव[1] सितारों की दिलकशी लेकर।
सरूर आँखों में नज़रों में ज़िन्दगी लेकर॥
गुज़स्ता सुबह मुहब्बत को ढूंढ़ने निकला,
एक आफ़ताब[2]-ए-मुहब्बत की रौशनी लेकर।

ख़ुदी के होश उड़ाने बसद-ए-नयाज़ आया,
नये पियालों में सहबा-ए-बेख़ुदी[3] लेकर॥

फ़ज़ा-ए दहर में गाता फिरा वह प्रीत के गीत,
निशात-ए-ख़ज़-ओ-सकूं[4]-रेज़ बाँसुरी लेकर।

रहा जमाल से अनवार बार मुद्दत तक,
ज़बान-ओ-दश्त में फ़ितरत की चांदनी लेकर॥

जहान-ए-क़ल्ब सरापा गुदाज़ बन ही गया।
हर एक ज़र्रा मुहब्बत का साज़[1] बन ही गया॥

जमाल-ओ-हुस्न के काफ़िर निखार से खेला।
रियाज़[2]-ए-इश्क़ को रंगीं बहार से खेला॥

समझ के आलम-ए-फ़ानी को एक बाग़ीचा,
कभी चमन से कभी कोहसार से खेला।

पयम्बरों की कभी रस्म की अदा उसने,
ग्वाला बन के कभी सब्ज़ा ज़ार से खेला॥

बजा के बांसुरी नग़मों[3] पै अपने वज्द[4] किया,
ख़ुद अपनी ज़िन्दगी-ए-पुरवक़ार से खेला।
बहा दिये कभी ठोकर से प्रेम के चश्मे,
कभी चमन कभी गंगा की धार से खेला॥
हँसी-हँसी में वह दुख-दर्द झेलता ही रहा।
किरिश्मबाज़ ज़माने से खेलता ही रहा॥

किया ज़माने को मामूर[१०] अपने नग़मों से।
सिखाये इश्क़ के दस्तूर अपने नग़मों से॥

सदाक़त और मुहब्बत की उसनें दी तालीम,
अंधेरियों में भरा नूर अपने नग़मों से।

बनाये तूर[११] तजल्ली से अपनी बन - बन में,
दिखाया जलवा-ए-मस्तूर अपने नग़मों से॥

लताफतों से किया अर्ज़-ए-हिन्द को लबरेज़,
कसाफ़तों[१२] को किया दूर अपने नग़मों से।

फ़लक को याद है उस अहद-ए-पाक की बातें।
वह बाँसुरी वह मुहब्बत की सांवली रातें॥

दिलों में रंग-ए-मुहब्बत को उस्तवार[१३] किया।
स्वाद-ए-हिन्द को गीता से नग़मा-ज़ार किया॥

जो राज़ कोशिश-ए-नुक्त[१४]-ओ जबां से खुल न सका,
वह राज़ अपनी निगाहों से आशकार किया।

नकोश सब्त[१५] किये अपनी रहनुमाई के,
ज़मीं को फैज़-ए-क़दम से फ़लक बकार किया॥

दिया जो दर्स ज़माने को बेमिसाल दिया,
किया जो काम ज़माने में यादगार किया।

उदासियों को नयी ज़िन्दगी अता कर दी,
हर एक ज़र्रें को दिल देके बेक़रार किया॥

जो मशरिब[१६] उसका न इस तरह आम हो जाता।
जहाँ से महव-ए-मुहब्बत का नाम हो जाता॥

—माखूज अज् कार-ए-अमरोज

१. प्रकट २. सूर्य ३. मदिरा ४. खुशी देनेवाली ५. शान्ति देनेवाली ६. बाजा ७. बाग ८ गीतों ९. झूमना १०. भरना ११. एक पर्वत का नाम जहाँ हज़रत मूसा ने खुदा को देखा था १२. गंदगी, १३. मज़बूत, १४. वाणी, १५. खोदे, १६. सिद्धान्त।

'वह बाँसुरी कहाँ है ?'

(२)

करो तलाश वह नै[१] जिसका नग़मा-ए-नौ[२] खेज़,
जहान-ए-कुहन[३] की ज़ुलमत में है अभी ज़ूखेज़॥

करो तलाश वही बांसुरी नवा जिसकी।
हज़ार फ़ितने फ़ना करके भी फ़ना न हुई॥

करो तलाश वही बांसुरी जो मथुरा में।
बनी रही दम-ए-ईसा क़फ-ए-कन्हैया में॥

करो तलाश वही बांसुरी कहीं होगी।
यहीं सुनी थी अभी उसको लैं[४], यहीं होगी॥

अगर है रूह क़दीम[५] और माद्द-ए हादिस[६]।
तो महर-ओ-माह-ओ-फ़लक क्यों न हो सके हादिस॥

हज़ारों साल की तामीर[७] से खुला यह राज़।
यहाँ है रूह से भी माद्दे की उम्र दराज़॥

वह क्या हयात जो महव-ए-हिजाब होके रहे।
है ज़िन्दगी वही जो बेनक़ाब होके रहे॥

नक़्श-ए-कुहना जो हैं यादगार-ए-अहद-ए-क़दीम।
वज़ूद उनका मोहक़्क़िक को अब भी है तसलीम॥

हनूज़ उनमें कुछ असरार पाये जाते है।
हयात-ए-खिज्त्र के आसार[८] पाये जाते हैं॥

कहेगा कौन कि यह अम्र-ए-इत्तफ़ाक़ी है।
फ़नाबदोश[९] है नक़्क़ाश नक़्श बाकी है॥

अगर यही अबदीय्यत है माद्दे का सिला।
तो फिर है रूह से दुनिया में माद्दा अच्छा॥

ग़र्ज़ वह बांसुरीवाला अगर नहीं तो न हो।
तलाश करके मुझे उसकी बाँसुरी ला दो॥

ज़रूर होगी वह महफ़ूज़ मौज-ए-गंगा में।
उसे तलाश करो मौज-ए-हाय जमुना में॥

मिलेगी वह किसी मन्दिर, किसी महाबन में।
ज़रूर होगी किसी ब्रज-ओ-बिन्द्राबन में॥

हुआ भी होगा जो शीराज़ा[१०] मुन्तशिर[११] उसका।
मिलेगा ख़ाक के ज़र्रों में कुछ असर उसका॥

अदब के साथ वह ज़र्रें यहाँ उठा लाओ।
शिकस्ता-साज़ के टुकड़े यहाँ उठा लाओ॥

उन्हें मैं जोड़ के फिर बांसुरी सुनाऊँगा।
जो नग़मे गाए गए थे वह मैं भी गाऊँगा॥

मैं उनसे अज़ सर-ए-नौ[12] हिन्द को जगाऊँगा।
मैं आग उनसे मुहब्बत की फिर लगाऊँगा॥
मैं फिर सजाऊँगा काशाना[13]-ए-मुहब्बत को,
मैं जगमगाऊँगा वीराना-ए-मुहब्बत को॥
मैं उसके नग़मों से ज़िन्दा जहाँ को कर दूंगा।
वफ़ा-ओ-हुस्न से फिर ज़िन्दगी को भर दूंगा॥
कलीम मैं न सही! साहब-ए-कलाम तो हूँ।
नहीं कृश्न मगर उनका हम पयाम तो हूँ॥

१. बाँसुरी २. नया ३. पुराना ४. धुन ५. पुरानी
६ नयी ७. निर्माण ८. चिह्न ९. मिटने वाली
१०. संगठन ११. विखरा हुआ १२. नये सिरे से
१३. घर।

'कृष्ण-सुदामा-मिलन' की तसवीर देखकर कवि 'नवाज़िश-ए-दोस्त' शीर्षक रचना में कैसी भाव-सृष्टि करता है, यह देखिये :

(३)

वह क्या इन्सान थे?
क्या दौर वह इन्सानियत का था?
उलूवेमरतबत[1] के साथ रंग-ए-इज्ज़[2] पैदा था।
ख़लूस-ऐ-नेमत-ए-मरहूम, ऐखोई हुई दौलत!
कभी इस ख़ुदग़रज़ दुनिया में तेरा दौर-दौरा था॥

वह दिल इन्सान ने पाया था दस्त-ए-फैज़-ए-फितरत से,
जो वसअत में महाबन और गहराई में जमुना था।
कोई हुस्न-ओ-शबाब-ओ-रंग-ओ-बू के शोख़ परदों में,
सबक़ इन्सान को इन्सानियत का देने आया था॥
ज़रूरी अज़ सर-ए-नौ जिनसे थी तनज़ीम[3] दुनिया की,
उन्हीं आँखों में जादू था उन्हीं होठों पै नग़मा था।
वह नग़मा जिससे इरफान[4]-ओ-विला[5] ने ज़िन्दगी पायी
वह जादू जिससे मसहूर इस जहाँ का ज़र्रा-ज़र्रा था॥
ग्वाला बन गया जब जोश में मौज-ए-नयाज़ आयी,
ज़हूर-नाज़-फरमाया तो गोकुल का कन्हैया था।
नवाज़िश[6] दोस्त की, इमदाद बेकस और बेबस की,
यही था मक़सद-ए-हस्ती, यही फ़ितरत का मन्शा था॥
वह नग़मा जिससे थी साज़-ए-शिकस्ता की पज़ीराई[7]।
वह जलवा जो अंधेरों के मुकद्दर का उजाला था॥
वह दरिया जिसको थी अपने ख़श-ओ-ख़ाशाक की परवा।
वह सहरा जिसको हर ख़ार अपना फूलों से ज्यादा था॥
गुल-ए-अफ़सुरदा[8] आग़ोश-ए-बहार रंग सामा में।
तअज्जुब क्या कि वह भी तो इसी गुलशन से पैदा था॥
बतौर-ए-नज़र एक अफ़सुरदगो पेश-ए गुलिस्तां थी।
शगुफ़्ता क़िस्मती उस नज़र का फितरी नतीजा था॥
अला[9] ऐ-ख़ुद गर्ज़, नापाक, नफ़रत आशना दुनिया।
वह तेरा दौर-ए-माज़ी क्या फ़क़त धोका ही धोका था॥
मुहब्बत ना-शनाश-ओ-दोस्त-कुश-ऐ-महफ़िल-ए-हस्तो।
तुझे हिर्स-ओ-हवा के ख़ब्त में बरबाद होना था॥

पुकार उस अपने अहद-ए-रफ़्ता[10], दौर-ए-माज़ी को।
सदाक़त और मुहब्बत ने जिसे जन्नत बनाया था॥
बुला उस बांसुरीवाले को उस मुन्नाद[11] फितरत कं।
मुहब्बत का भरी महफ़िल में जिसने गीत गाया था॥
वही गोकुल, वही ब्रज और वही मथुरा वही जमुना।
मगर अब वह नहीं जो ज़िन्दगी बरसानेवाला था॥
फ़साना हो गया 'सीमाब' वह गुलदस्ता-ए-माज़ी।
अरूस[12]-ए-दहर ने यक ख़ूबसूरत ख्वाब देखा था॥

१. उच्च श्रेणी २. नम्रता ३. शासन ४. ज्ञान
५. प्रेम ६. कृपा ७. स्वीकार होना ८. उदास ९.
सावधान १०. बीता हुआ समय ११. पुकारनेवाला
१२. समय कीदुल्हन।

स.सं.

(सैयद) इंशा अल्लाह ख़ाँ 'इंशा'

इंशा अल्लाह ख़ाँ हकीम माशा अल्लाह ख़ाँ के पुत्र थे। कहा जाता है कि इनके पूर्वज भारत में नजफ-अशरफ़ से आये थे। किन्तु अधिकांश विद्वान् उन्हें कश्मीर-क्षेत्र के एक सैयद-कुल का वंशज मानते हैं। वहाँ वे समरकंद से आये थे, फिर दिल्ली में आकर बस गये थे। कालान्तर में इनके पूर्वजों ने शाही

दरबार में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। इनका पैतृक व्यवसाय हकीमी था। चुग़ताई-राज्यकाल में इनके पिता मीर माशा अल्लाह खाँ को दिल्ली से मुर्शिदाबाद जाना पड़ा। इंशा अल्लाह खाँ का जन्म यहीं १७५५ ई० में हुआ। पिता ने इनकी शिक्षा की व्यवस्था सम्भ्रांत कुल के बच्चों के अनुरूप की। ये बाल्यावस्था से ही अत्यंत कुशाग्र-बुद्धि तथा प्रतिभाशाली थे। इन्होंने अल्पकाल में फारसी, अरबी, उर्दू, हिन्दी, पंजाबी, मराठी, पश्तो, कश्मीरी आदि भाषाओं में दक्षता प्राप्त कर ली।

परिस्थितियों की प्रेरणा से वयस्क होने पर इंशा को मुर्शिदाबाद से पुनः दिल्ली आना पड़ा। उन दिनों शाह आलम का शासन था। वे स्वयं शायर थे और साहित्यकारों को समुचित सम्मान देते थे। उन्होंने इन्हें अपना 'दरबारी' बना लिया। शीघ्र ही अपनी विनोदप्रियता तथा विद्वत्ता के कारण ये बादशाह के इतने प्रीतिपात्र बन गये कि इनके बिना उन्हें एक क्षण भी चैन नहीं पड़ता था। इससे आरंभ में इन्हें 'मिर्जा अज़ीम बेग' जैसे कुछ दरबारी शायरों का घोर विरोध झेलना पड़ा।

दिल्ली-दरबार की उत्तरोत्तर अवनति देखकर ये वहाँसे लखनऊ चले आये और शाहआलम के पुत्र मिर्जा सुलेमान शिकवा की छत्रच्छाया में रहकर कवि-जीवन व्यतीत करने लगे। मिर्जा सुलेमान ख़ुद अच्छे शायर थे, इसलिए उनकी उदारता से आकृष्ट मसहफ़ी, जुरअत, मिर्ज़ा क़ालित जैसे उच्च कोटि के शायरों से उनका दरबार अलंकृत रहता था। मिर्जा साहब ने इन्हें अपना काव्यगुरु बना लिया। इसके बाद नवाब के सलाहकार तफ़ज्ज़ुल हुसेन खाँ के प्रयास से ये नवाब सआदत अली खाँ की मुसाहबत में आ गये। नवाब साहब से इन्हें अपूर्व आत्मीयता तथा सम्मान प्राप्त हुआ।

दैवयोग से एक दिन बात ही बात में नवाब साहब इन पर नाराज़ हो गये और नौकरी से बरखास्त कर दिया। इस आकस्मिक झटके से इन्हें अपार कष्ट हुआ। कुछ दिनों तक उपेक्षा और अभाव का जीवन बिताकर ये परलोक सिधार गये। वसंत सिंह 'निशात' की निम्नांकित पंक्तियों से ज्ञात होता है कि यह घटना १२३३ हि० (१८१७ ई०) में घटी :

ख़बरे इन्तक़ाले मीर इन्शा,
दिले खमदीदः ता निशात।

साले तारीख़े ऊ ज़जाने अजल,
उर्फ़िए वक्त बूद इन्शा गुफ्त॥

इंशाकी निम्नांकित रचनाएँ मिलती हैं : कुल्लियात, दरियाए लताफ़त, रानी केतकी की कहानी तथा उर्दू और फ़ारसी भाषा में ग़ज़लों का दीवान। हिन्दी में लिखी गयी इनकी 'रानी केतकी की कहानी' खड़ीबोली गद्य की प्रथम रचना मानी जाती है। इन्होंने उर्दू और हिन्दी के साथ ब्रजभाषा में भी कविताएँ लिखी हैं, जिनमें कृष्ण-चरित तथा कृष्ण-प्रेम का निरूपण रीतिकालीन कृष्ण-भक्तों की शैली में किया गया है।

यहाँ इनकी कृष्ण भक्तिपरक रचनाओं से कुछ अंश नमूने के रूप में प्रस्तुत हैं :

(१)

जब छांड़ि करील की कुंजन को,
वहां द्वारका में हरि जाय ठये।
कलधौत के धाम बनाय घने,
महराजन के महराज भये॥
तज मोर के पंख औ कामरिया,
कछु औरहि नाते हैं जोड़ लये।
धरि रूप नये किये नेह नये,
अब गइयां चराइबो भूलि गये॥

(२)

लिपट कर किशन जी से राधिका जी यों लगी कहने,
मिला है चाँद से ए लो! अंधेरे पाख का जोड़ा।

(३)

राधका को चैन क्या आवे कन्हैया जी बग़ैर।
वाक़ई काफ़ूर उड़ जाय अगर फ़िलफ़िल न हो॥

(४)

सॉँवलेपन पर ग़ज़ब है धज बसन्ती शाल की।
जी में है कह बैठिये अब जै कन्हैयालाल की ॥
सैकड़ों आँखें कन्हैया बन के गोता खा गयीं,
क्यों कर 'इन्शा' नाफ़ को तेरी न समझे ब्रह्मकुंड ॥

'दर ज़बान अहल-ए- ब्रज' शीर्षक अपनी कविता में 'इंशा' साहब फरमाते हैं :

(५)

यक जो भोंडा भडुओं ने घेर लिया।
खूब सारस को हेर फेर लिया ॥

तो लगे कहने नन्द-गांव के जाट।
लाल जिव हो तो हैं अदीन के भाट ॥

सुध रखत मैं तुम्हारे माले की।
जो हो पोरे लछोड़े वाले की ॥

आयी कानन के बीच यूँ आपुन।
आज बहते दनां यूँ मुरली धुन ॥

किशन जियो हो करील के जंगल।
झाड़ू आपन लेने हैं अब दंगल ॥

कोटकिला बहूत के बनाये धाम।
द्वारका बीच जा लिया बिशराम ॥

यूँ कहत काम-बन महाराजा।
धन महाराजा धन महाराजा ॥

देवकी-नन्दन तुम्हारे हम सा दास।
किस नहीं आत हो हमारे पास ॥

तू बिना सूना है यह बंसी बट।
नानहा चीर-घाट नान आस्ट ॥

फेर चाहत न ़र यह बिन्दराबन।
श्री गोपाल आपके दर्शन ॥

कहनो तरसत है तुमका सेवा कुंज।
जमना जल यूं भरी भड़ों की पंज ॥

स. सं.

संपा.

इब्नुल हसन 'फ़िक्री' :

इब्नुल हसन 'फ़िक्री' के जीवन विषयक कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। इनकी कृष्ण-जन्म' सम्बन्धी एक कविता मिली है जो नीचे दी जा रही है :

भरी बरसात थी भादों की,
और रात ऐसी काली थी ॥

कि डरकर चाँद ने बदली की,
चादर मुँह पे डाली थी ॥

तो ऐसे वक्त भारतवर्ष,
का एक देवता आया ॥

ख़लूस और प्यार का परकास
इसने आके फैलाया ॥

अज़ल के रंगो-बू से जान आई,
इक गुले-तर में ॥

किया जल्वा ख़ुदा के नूर ने,
इन्सां के पैकर में ॥

ज़मी का चप्पा चप्पा,
उसके जल्वों से चमक उट्ठा ॥

फ़िज़ा रौशन हुई, चेहरा
ज़माने का दमक उट्ठा ॥

मिटाया उसने बातिल की,
हुकूमत को ज़माने से ॥

छुड़ाया उसने इन्सानों को,
ग़म के कैदख़ाने से ॥

वह देखो हुस्ने क़ुदरत लेके,
इस दुनिया में श्याम आया ॥

ज़माने के लिए बनकर,
मुहब्बत का पयाम आया ॥

संपा.

(क़ाज़ी) इहसानुलहक़ 'इहसान-बिनदानिश'

क़ाज़ी इहसानुलहक़ कस्बा कांधला जिला मुज़फ्फर नगर (उत्तर प्रदेश) के निवासी थे। इन्होंने अपना तखल्लुस 'इहसान बिनदानिश' रखा था। पिता का नाम क़ाज़ी दानिश अली था। इनका जन्म १९१४ ई० में हुआ था।

इनका जीवन घोर अभाव तथा कठिनाइयों में बीता था। जीविका के लिए इन्हें दिन में मजदूरी और रात में पहरा देने की नौकरी करनी पड़ी थी। इन विषम परिस्थितियों में भी इनका पढ़ना-लिखना जारी रहा। इन्होंने अपने जीवनानुभव के आधार पर विशेष रूप से मजदूरों और गरीबों पर कविताएँ लिखी हैं। इसलिए ये 'शायर-ए-मज़दूर' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी शायरी पर इक़बाल का व्यापक प्रभाव दिखायी देता है। इनके कई काव्य संकलन प्रकाशित हैं। उनमें प्रमुख हैं: आतिशे-खामोश, चराग़ाँ, नफ़ीर फ़ितरत तथा नवाएकारगर। इनका देहावसान १९८२ ई० में हुआ।

श्री कृष्ण की लोक-मोहक बाँसुरी पर लिखी गयी कविता ने इन्हें प्रसिद्ध कर दिया। वह नीचे दी जा रही है :

ब्रजबासियों में श्याम बाँसुरी बजाये जा !
मस्तियाँ उबल पड़ें,
मद भरी सदाओं से।
प्रेम रस बरस पड़े,
मनचली हवाओं से॥
मुस्करा रही है शाम, श्याम मुसकराये जा। बांसुरी···
गोपियों को सुध नहीं,
मस्तियों में जोश है।
रागरंग मे हैं ग़र्क़,
रंग मयफ़रोश है॥
झूमती है कायनात झूमकर झुलाये जा। बांसुरी····
सो गई है मन की हूक,
राज भाग जाग उठे।
गर्म हैं लगन के तार,
प्रेम राग जाग उठे॥
राग से जगाये जा, ख़्वाब से जगाये जा। बाँसुरी····

काज़िम :

काज़िम के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती।

गोपीभाव से कृष्ण भी फागलीला पर इनके द्वारा लिखी गई एक कविता मिली है। वह नीचे दी जा रही है :

फाग खेलन कैसे जाऊँ सखी री,
हरि-हाथन पिचकारी रहति है।
सबकी चुनरिया कुसुम-रंग-बोरी,
मोरी चुनरिया गुलनारी रहति है॥
कोई सखी गावति, कोई बजावति,
हमको तो सुरत तिहारी रहति है।
कहत है 'काज़िम' अपनी सखी सों,
सैयां की सुरत मतवारी रहति है॥

संपा.

(सैयद) कासिम अली 'अली'

सैयद कासिम अली के जीवनविषयक तथ्य अज्ञात हैं। इनकी रचनाओं से पता चलता है कि ये राष्ट्रीय विचारधारा के कृष्णप्रेमी शायर थे। नीचे इनका एक छंद दिया जाता है :

मोहन प्यारे ज़रा गलियों में हमारी आ जा।
आ जा, आ जा, इधर से कृष्ण-कन्हैया आ जा॥
दुःख हरने के लिए तूने न किया है क्या-क्या ?
फिर वह बंसी लिये जमुना के किनारे आ जा॥
लाखों गौएँ तेरी अब फिरती हैं मारी-मारी।
लगन तुझ से ही लगी नंद-दुलारे आ जा॥
तेरी इस भूमि में छाई है घटा ज़ुल्मों की।
तिलमिलाते हुए भारत को बचा ले, आ जा॥
परदये-ग़ैब से हो जाएँ इशारे तेरे।
अब नहीं ताब ग़मे-हिज्र की प्यारे आ जा॥

जल्द आ कि तेरे वास्ते 'अली' व्याकुल है।
कर्म-भूमि में वही कर्म सिखाने आ जा ॥

संपा.

ग़ुलाम मुस्तफ़ा कुली खां 'यकरंग'

इनका पूरा नाम 'ग़ुलाम मुस्तफा कुली खाँ' था। 'यकरंग' उपनाम से कविता करते थे। ये मुग़ल-सम्राट् मुहम्मद शाह के समकालीन रंगीन मिज़ाज के शायर थे। इनकी गणना उर्दू के प्रथम श्रेणी के पुराने कवियों में होती हैं। उच्चकोटि के शायर होते हुए भी ये बड़े निरभिमानी थे। अतः वृद्धावस्था में भी अपनी रची हुई कविताओं का संशोधन मिर्ज़ा जानेजानां मज़हर से कराते थे। समकालीन समाज में ये एक अत्यंत लोकप्रिय, खुशमिज़ाज और गुणी व्यक्ति माने जाते थे। अपने उपनाम के विपरीत ये लौकिक जीवन में अनेक रंगों में रंगे हुए थे। अपने विषय में ये स्वयं लिखते हैं :

इसको मत जानो मियां औरों की तरह,
मुस्तफा खां आश्ना यकरंग है।

श्रीकृष्ण के रूप और लीला पर आसक्ति-व्यंजक इनके कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

बाट चलत मोरी रोकत डगरिया,
ढीठ लंगर जसुदा को कन्हैया।
लपट-झपट मोरी गागर फोरी,
मसक गई मोरी सारी चुनरिया ॥
बरजोरी मोरी बहियाँ मरोरी,
लचक गई मोरी पतरी कमरिया।
'यकरंग' पिया कहो कैसी करूं मैं,
अबही निपट मोरी बारी उमरिया ॥

(२)

निसि दिन जो हरि का गुन गाय रे,
बिगड़ी बात बाकी सब बन जाय रे।
लाख कहूँ माने नहिं एकहूँ,
अब कहो, कब लग हम समझायें रे।
सोच-विचार करो कुछ 'यकरंग',
आखिर बनत-बनत बन जाय रे ॥

(३)

हरदम हरि-नाम भजो री !
जो हरदम हरि-नाम को भजिहौ, मुक्ति ह्वै जैहै तोरी ॥
पाप छोड़ के पुन्य जो करिहौ, तब बैकुंठ मिलोरी।
करम से धरम बनोरी ॥
सुर नर मुनि सब फाग खेलत हैं, अपनी-अपनी जोरी।
खबर कोई लेत न मोरी ॥
'यकरंग' पिय सौं जाइ कहौ कोई, हर घर रंग मचोरी।
सुर नर मुनि सब फाग खेलत हैं, अपनी-अपनी जोरी ॥
खबर कोई लेत न मोरी ॥

संपा.

(मौलाना) ज़फ़र अली खाँ

(मौलाना) ज़फ़र अली खाँ का जन्म सन् १८७० ई० में जिला सियालकोट के मेहरथ नामक गाँव में हुआ था। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से इन्होंने स्नातक की उपाधि प्राप्त की थी। अन्य भाषाओं की बहुत-सी रचनाओं को अनूदित कर के इन्होंने उर्दू-साहित्य की उल्लेखनीय सेवा की है। ये अनुवादक होने के साथ ही मौलिक प्रतिभावाले एक अच्छे शायर भी थे। 'बहारिस्तान' नाम से इनका एक दीवान प्रकाशित हुआ है। इनकी अधिकतर कविताएँ तो इस्लामी संस्कृति से अनुप्राणित है, किन्तु कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जिनमें हिन्दू धर्म और सभ्यता से जुड़े हुए विषय हैं। इन्होंने कृष्णकथाश्रित रचनाएँ भी स्फुट रूप से की हैं। इनका देहान्त सन् १९५६ ई० में हुआ।

शायर ज़फ़र अली खाँ की कविता 'गोकुल की बाँसुरी' की गूंज की कुछ पंक्तियाँ नमूने के रूप में प्रस्तुत है :

गोकुल की बांसुरी की गूंज

अगर कृश्न की तालीम आम हो जाए।
तो काम फ़ितनागरों का तमाम हो जाए॥

बपास खातिर-ए-हमसाया हरद्वार की रुह।
निसार हज़स्त-ए-ख़ैर-उल-अनाम हो जाए॥

मिटायें ब्रहमन-ओ-शेख़ अपने तफ़रक़े सारे।
ज़माना दोनों के घर का ग़ुलाम हो जाए॥

बिदेसियों की बड़ाई को धज्जियां उड़ जायें।
जहां प तेग़[1]-ए-वतन बे नयाम हो जाए॥

वतन की ख़ाक के ज़र्रों से चांद पैदा हों।
बलन्द इस क़दर उसका मुक़ाम हो जाए॥

मिलें लुढ़ाने को तौहीद[2] की शराब के ख़ुम।
तो सारी बज़्म अभी आतश-ब-जाम हो जाए॥

सलीक़ा वादाकशी का अगर हो यारों को।
शिकस्त-ए-तौबा का भी एहतमाम हो जाए॥

है इस तराना में गोकुल की गूंज।
ख़ुदा करे कि यह मक़बूल-ए-आम[3] हो जाए॥

१. तल्वार २. एकता ३. सर्वप्रिय।

संपा.

ज़ामिन

ज़ामिन साहब की जीवनी सर्वथा अंधकाराच्छन्न है। विरहिणी गोपियों के द्वारा कृष्ण के पास भेजे गये संदेश की गंगा-जमुनी-शैली में लिखी इनकी एक रचना मिलती है। उससे इश्किया-शायरी में इनकी रुचि तथा भाषा पर असाधारण अधिकार का परिचय मिलता है। छंद इस प्रकार है :

ज़बानी हाल यों कहना तू जाकर नामावर पहले।
हमारी आहे गिरियां को तू कर देना ख़बर पहले॥
भौंरा लोभी फूल का, कली-कली रस लेय।
कांटा लागा प्रेम का, हेर फेर जिव देय॥
तेरी उलफ़त के कूचे में नफ़ा पीछे ज़रर पहले।
सजन सकारे जायँगे, नैन मरेंगे रोय।
बिधना ऐसी रैन कर, भोर कभी ना होय॥
सुबह गर यार जायेगा तो अपना है सफ़र पहले॥
जिन नैनों से देखते, कहाँ गये वो नैन।
प्रीतम प्रीति बढ़ाय कै, अब लागे दुख दैन॥

हमारे क्या हुए प्यारे जो करते थे क़दर पहले।
पंख नहीं बिन पंख हौं, केहि बिधि उड़के जाउं।
दरस पियारे श्याम को, बिन पर कैसे पाउँ॥

मेरे सैयाद ज़ालिम ने उधेड़े बाल-पर पहले।
बह गए बालम बह गए, नदी किनार किनार।
आप तो पार उतर गए, हमें छोड़ मँझधार॥

सितमगर था तुझे लाज़िम मेरी लेनी ख़बर पहले।
आओ प्यारे नैन में, मूंदि पलक तोंहि लेउँ।
ना मैं देखों और को, ना तोहि देखन देउँ॥

करूँ ख़िदमत मैं आँखों से बिठा लूँ चश्म पर पहले।
आछे दिन पाछे गए, हरि से कियो न हेत।
अब पछताए होत का, चिड़ियाँ चुग गईं खेत॥
अक़्ल जाती है इस कूचे में ऐ 'ज़ामिन' गुज़ार पहले॥

संपा.

ताछिबशाह 'तालिब'

तालिबशाह का जन्म १७११ ई० में हुआ था। इनके जीवन और साहित्यिक कृतित्व के बारे में कोई सूचना प्राप्त नहीं हो सकी है।

मात्र कुछ फुटकर रचनाएँ मिलती हैं। नीचे गोवर्द्धनधारी कृष्ण पर इनकी रूपासक्ति-विषयक एक छंद दिया जाता है :

महबूब वागे सुहागे बने हैं।
सुमोहन गरे माल फूलों हिये हैं॥

महारंग माते अमाते मदन के,
विल.कत बदन खौरि चन्दन दिये हैं॥

यही बेश हरिदेव भृकुटी तुम्हारे,
सुलकुटी भंवर लेख या लख लिये हैं।

दिवाना हुआ है निवाना दरश का,
सु'तालिब' वही श्याम गिरवर लिये हैं॥

संपा.

शाह तुराब अली 'तुराब' काकोरवी

शाह तुराब अली उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ के समीपस्थ काकोरी नामक कस्बे के निवासी थे। इनका जन्म १८५७ ई० में हुआ था। पिता का नाम शाह काज़िम अली था। इन्होंने शायरी का आरम्भ फारसी से किया। इसके पश्चात् इनकी रुचि उर्दू-कविता की ओर हुई। इनके पिता शाह काज़िम ब्रजभाषा में कविता करते थे जिसका संग्रह 'सांत-रस' के नाम से छप चुका है। पिता की प्रेरणा से हिन्दी कविता से भी इनका गहरा लगाव हो गया। ये हिन्दुओं के धार्मिक महापुरुषों तथा त्यौहारों से मुहब्बत करते थे। 'होली', 'दीपावली' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनकी निम्नांकित पंक्तियों से विदित होता है कि ये ५२ वर्ष की आयु तक अवश्य जीवित रहे :

कब तक तुराब यार से ग़ाफ़िल रहेगा तू।
ग़फ़लत में उम्र तेरी तो बावन बरस गई॥

इनका लिखा उर्दू में एक दीवान बताया जाता है। उसके अतिरिक्त हिन्दी तथा उर्दू में इनकी और बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं।

कृष्ण की ब्रजलीला के विविध प्रसंगों पर लिखी गयी इनकी कुछ रचनाएँ नीचे दी जाती हैं :

कान्ह कुँअर के कारन राधा,
तन से भई पीरी दुबरी।

जब सों सिधारे स्याम द्वारका,
सूनी भई सब गोकुल-नगरी॥

रानी पुरानी भई बैरागिन,
राज करे नई नोखी कुबरी।

जा-जा के मर-मर के सखियाँ,
कूकत हैं दई काह करी॥

किन बिलमायो 'तुराब' पिया को
भूल गई जो सुध हमरी॥

(२)

नीकी लगत मोहें अपने पिया की,
आँख रसीली लाज भरी।

जादू कियो मो पर चितवन सों,
नींद गई मोरी चैन हरी॥

आंख लगत नहीं टुक देखे बिन,
देखे नजर भर जात मरी।

पी को न कुछ समझाउ री गुइयां,
मैं अस प्यार सों दर गुज़री॥

कहै 'तुराब' डरौं काहू सों क्यों
प्रीत करी का चोरी करी ?

(३)

हा हा मोको न छेड़ कन्हैया हौं तो दिनन की थोरी।
ब्रज में का इक हमहीं बसत हैं और बहुत हैं साँवर-गोरी॥

निकसी हूँ मैं आज मंदिर माँ, अपनी सास-ननद की चोरी।
फेंक न लाल गुलाल बसन पर, ऊजर है अबै चूनर मोरी॥
रंग सों बोरो न मोरी चुंदरिया खेलूं 'तुराब' वही संग होरी।

(४)

आयो बसंत भई मतवारी,
उमंग चलीं सब बारी-कुमारी।

कोई अबीर लिए भर झोरी,
कोई बनाए रहीं पिचकारी॥

कोई बजावत डफ कोई गावत,
कोई डगर में नाचत ठारी।

देखो तो कैसे बन बन आंई,
सुन्दर नार दई की सँवारी॥

लाल गुलाल लगाए मुख पर,
रंग से भीगी चुंदरिया सारी।
अब ही सों ब्रज में धूम मची है,
होरी खेलत श्याम बिहारी ।।

आप बचो रहे सब को रंगदे,
को है 'तुराब' अस चतुर खेलारी ।।

स. सं.

संपा.

दाना

दाना साहब की जन्मभूमि चांपानेर (गुजरात) थी। इनके गुरु सूफी सन्त क़ाज़ी गुलशन थे। इसके अतिरिक्त इनके जीवन के सम्बन्ध में और कुछ ज्ञात नहीं है।

संभव है ये दिल्ली के निवासी फ़ज़ल अली 'दाना' से अभिन्न हों, जो अपने समय के प्रसिद्ध लतीफ़ागो और हिन्दू संस्कृति के प्रेमी माने जाते हैं। होली पर लिखी गयी इनकी कुछ रचनायें मिलती हैं।

श्रीकृष्ण और उनकी लीलाभूमि वृन्दावन से इन्हें प्रगाढ़ प्रेम था। इनकी भक्ति भावना का व्यंजक एक छंद नीचे दिया जाता है :

मुरलीधर स्याम की साँवरी सूरत,
निरखत नैना छाकि रहे।
ब्रजवासी हुइ ब्रज ठाढ़ि रहूँ,
बंसीधर माधुर बेणु बहे ।।
बरसाना कुंज वृंदाबन में,
हरि दीसत नाहीं कौन कहे।
'दाना' ब्रज से नहिं दूर रहे,
यह जन्नत का सुख कौन लहे ?

इनके द्वारा लिखे गये हिन्दी के भी कुछ दोहे मिलते हैं :

'दाना के दिल में लगी, पीय दरस की आस।
बिरहिन ब्रज में आइ कै, ठाढ़ी ठौर उदास ।।
मनमोहन तुम हो कहाँ, ब्रजवासी सुखदैन।
सैयां तुम्हारे दरस बिन, 'दाना' बहावत नैन ।।
बिलखत आयू बीत गई, बीते जोबन बेस।
अब तो दरस दिखाइए, दर पे खड़ा दरवेश ।।

संपा.

नज़म

नज़म का जीवन-परिचय सर्वथा अज्ञात है। प्राचीन संग्रहों में इनका एक छंद संकलित मिलता है जिसमें बड़ी ही प्रवाह पूर्ण भाषा में ब्रज की पनिहारिनि की गत्यात्मक रूपछटा अंकित की गयी है :

चली झमक-झमक ब्रजनारी।
रही झूम-झूम मतवारी ।।
नैनों से जादू डाला।
सैनों से मार गई भाला ।।
चितवन बूंदी की कटारी।
चली झमक-झमक ब्रजनारी ।।
कहे नजम गले सोहे हरवा।
सर गगर, गगर पर करवा ।।
जल भरन चली पनिहारी।
चली झमक-झमक ब्रजनारी ।।

संपा.

नफ़ीस खलीली

नफ़ीस खलीली के जीवन-सम्बन्धी तथ्यों का पता नहीं चलता। मात्र कुछ फुटकर रचनायें मिलती हैं जिनसे विदित होता है कि कृष्ण की ब्रजलीला के गान और उनके रूप-वर्णन में ये बहुत रुचि लेते थे। निम्नांकित पंक्तियों से इसकी पुष्टि होती हैं :

कन्हैया की आँखें हिरन-सी नशीली।
कन्हैया की शोख़ी कली-सी रसीली ।।
कन्हैया की छबि दिल उड़ा लेनेवाली।
कन्हैया की सूरत लुभा लेनेवाली ।।

कन्हैया की हर बात में एक रस है।
कन्हैया का दीदार सीमी कफ़स है॥
कभी गोपियों में जो पनघट पै आये।
वह नखरे में आई तो ये हठ पै आये॥
किसी का सलामत दुपट्टा न छोड़ा।
जो भागीं तो कंकड़ से मटकों को फोड़ा॥
जो हाथ आई उसकी मरोड़ी कलाई।
बहुत क़सम खाई न छोड़ी कलाई॥
बिठाया जमीं पर पकड़कर किसीको।
रखा बांसुरी से जकड़ कर किसी को॥
गवालिन का मक्खन चुराकर जो भागे।
वह लाई शिकायत जसोदा के आगे॥
कहा 'तेरा मोहन सताता बहुत है।
चुराता तो है, परगिराता बहुत है?
कई एक पहले से घर में खड़ी हैं।
जसोदा से बस बारी-बारी लड़ी हैं॥
वहीं नागहां नन्द का लाल आया।
क़यामत की चलता हुआ चाल आया॥
कहा दूर से 'झूठ कहती हैं माता।
इसी ताक में यह तो रहती हैं माता॥
शिकायात अरज़ां, मजाक इनके सस्ते।
कहीं जाऊँ तो रोक लेती हैं रस्ते॥
ये छेड़ें मुझे और दुहाई न दूं मैं।
जो ठोकर, झटककर कलाई न दूँ मैं॥
जो पनघट पै इनको दिखाई न दूं मैं।
जो मुर्ली बजाता सुनाई न दूँ मैं॥
तड़पती हैं बेचैन होती हैं क्या-क्या।
मेरे ग़म मे आँसू पिरोती हैं क्या-क्या॥
न रात को मिला हूँ, न दिन को मिला हूँ।
महीनों के बाद आज इनको मिला हूँ॥
ये झूठी हैं गर शिकवा-बर-लब हैं आईं।
मुझे देखने के लिये सब हैं आईं॥

संपा.

नबी

नबी गुजरात के निवासी थे। इन्होंने प्रसिद्ध सूफी साधक दीन दरवेश से दीक्षा ली थी।

ये बड़े ही उदार विचारों के थे। भक्तों के संसर्ग तथा पर्यटन से हिन्दू-परम्परा में प्रचलित भगवान् कृष्ण की भक्तवत्सलता की कथाओं से ये पूर्णतया परिचित हो गये थे। निम्नाङ्कित छन्द में अपने उद्धार के लिए कृष्णाश्रय की याचना करते हुए ये निवेदन करते हैं :

मैं जानूं हरि अधम-उधारन,
पतित-उबारन स्वामी रे।
भक्त-वत्सल भूधरजी रे,
है एक नाम बहुनामी रे॥
प्रथम भक्त प्रह्लाद उबारे,
ध्रुव को अमर पद दीन्हा रे।
सुदामा के सब संकट काटे,
हँस हँस तंदुल लीन्हा रे॥
पंचाली को चीर बढ़ायो,
पाण्डव लिये उबारी रे।
कौरव-कुल को आप बिदारे,
अर्जुन को रथ-धारी रे॥
गिरधारी तेरो नाम बड़ो है,
जहर मीरा का पीया रे।
नामदेव की गाय जिवाई
दामा के जीवण जीया रे॥
सेन काज नाई बनि आये,
माधव का मल धोया रे।
ब्रह्मन के घर बास त्यागकर,
सदन कसाई मन मोह्या रे॥
बहुरंगी तोहे कौन बखाने,
गोबिन्द जी गर्व हारी रे।
दास 'नबी' को सरणे राखो,
डूबत नैया तारी रे॥

संपा.

निज़ामी

निज़ामी के लौकिक जीवनसम्बन्धी तथ्य सर्वथा अज्ञात हैं। पुराने काव्य-संकलनों में इनकी सूफ़ीभाव-व्यंजक रचनाएँ संग्रहीत हैं। उन्हींमें से कृष्णलीला-सम्बन्धी एक छंद प्रस्तुत है :

पनघट पर मोरी गागरिया,
निर्दई श्याम ने फोर दई।
जब नीर भरन घर से निकसी,
इक फाग बोल गयो मागरिया॥

दहिने दहजार बिलार गयो,
बाएँ कर छींकत छागरिया।
मोरी संग की सखी सब निकसि गईं,
जो सब गुन पूरी आगरिया॥

मोहे जान अकेली छेंकि लियो,
सर बांधे टेढ़ी पागरिया।
मेरी अरज-वरज एकौ नहीं मानी,
बसत कौन धौं नागरिया।

मन उठै क्रोध तन थरथराय,
पग पड़ै सुद्ध नहिं डागरिया॥

संपा.

(नवाब) न्यामत ख़ाँ 'जान'

न्यामत ख़ाँ जयपुर राज्यान्तर्गत फतेहपुर तालुके के नवाब अलफ़ ख़ाँ के पुत्र थे। ये 'जान' उपनाम से कविता करते थे। ये चार भाई थे, उनमें से एक इनसे बड़े थे और दो छोटे। इनके पूर्वज चौहान क्षत्रिय थे जो धर्मान्तरित होकर मुसलमान बने थे और 'कायमखानी' कहलाते थे। इस्लाम धर्म स्वीकार करने के बावजूद इनमें राजपूत-संस्कार विद्यमान थे और उस पर इन्हें गर्व था। इसके प्रमाण इनकी कृतियों में पदे-पदे मिलते हैं। उनमें से एक है इनका अपनी कृतियों में हिन्दू-पद्धति पर रचनाकाल देना। 'कथा-कनकावती' में ये लिखते हैं :

सोलह सै पचहत्तरै, जहाँगीर के राज।
तीन द्यौस में 'जान' कवि, यहु साज्यौ सबसाज॥

इससे यह भी विदित होता है कि ये मुगल सम्राट् जहाँगीर के समकालीन थे। 'छीता' नाम के प्रेमाख्यान की रचना इन्होंने सं० १६९३ (१६३६ ई०) में शाहजहाँ के शासन-काल में की थी। इनकी अंतिम रचना का निर्माण-काल सं० १७२१ (१६६४ ई०) है। इसके आधार पर अनुमान किया जाता है कि इनका देहावसान सत्रहवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध में हुआ होगा। अपनी सर्वप्रथम रचना इन्होंने सं० १६६९ (१६१२ ई०) में लिखी थी। इसके आधार पर इनका जन्मकाल सत्रहवीं शताब्दी ई० का पूवार्ध माना जा सकता है।

इन्होंने अपने धर्मगुरु का नाम शेख मुहम्मद चिश्ती लिखा है और उन्हें हाँसी का निवासी बताया है। इस प्रकार ये सूफ़ियों के चिश्तिमा-संप्रदाय से सम्बद्ध ठहरते हैं :

शेख मुहम्मद पीर हमारो।
अलह पियारो जग उजियारो॥

हाँसी में उनको विश्राम।
ज्यारत किये सरै सभकाम॥

कहा जाता है कि ये आशु कवि थे, और बड़ी-बड़ी रचनाएँ दो-तीन दिनों में पूरा कर लेते थे। इनकी कविता में प्रवाह तथा स्वाभाविकता आद्योपान्त पायी जाती है। इधर इनकी ७० कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। जिनमें अधिकांश प्रेमाख्यान हैं। उनकी भाषा अवधी है जिसमें यत्र-तत्र ग्वालियरी का पुट पाया जाता है।

हिन्दी के साथ ही ये उर्दू के भी अच्छे कवि थे। इन्होंने अपने प्रेमाख्यानों के विषय हिन्दू समाज में प्रचलित लोक कथाओं से लिये हैं। इससे इनके उदार धार्मिक दृष्टिकोण का पता चलता है। पं० झाबरमल शर्मा का मत है कि प्रसिद्ध कृष्णभक्त मुसलमान कवयित्री 'ताज' इनके पिता अलफ ख़ाँ के पितामह की सगी बहन थी। इससे स्पष्ट है कि कृष्णभक्ति के संस्कार इनको वंश परंपरा से प्राप्त हुए थे। यह

उर्दू भाषा में लिखी गयी इनकी निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है।

श्रीकृष्ण के लोकमोहक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए ये कहते हैं :

तिल नहीं मांग में ज़नानी के,
यह कन्हैया खड़ा है गोकुल में
आँख लड़ते ही हो गई आशिक़,
मोहनी थी मुए के काजल में।।

इसकी विषयवस्तु तथा वर्णनशैली कवि की सूफ़ी विचारधारा के सर्वथा मेल में है।

संपा.

(मौलवी सैयद) फ़ख़रुद्दीन

मुगल-साम्राज्य की स्थापना के बाद बड़ी संख्या में मुसलमान भारतवर्ष आये। कुछ लोग मुगल-दरबार में पद प्राप्त करने के लिए, कुछ व्यापार करने के लिए तो कुछ यहाँकी सम्पन्नता तथा सुखद वातावरण के वर्णन सुनकर ही आने के लिए लालायित हो गये थे। मौलवी सैयद फ़खरुद्दीन का खानदान कुछ ऐसा ही था जो मुगल-काल में ईरान से दिल्ली आया और फिर भारत के विभिन्न नगरों में बस गया।

सैयद फखरुद्दीन का जन्म १८३५ ई० में रायबरेली (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। इनके पिता सैयद अब्दुल अली नागौद में तहसीलदार थे। पिता के पास रहकर इन्होंने फारसी और अरबी की प्रारम्भिक पुस्तकें पढ़ीं। जब ये १३ वर्ष के थे, तभी पिता का देहान्त हो गया। अतः अपने नाना सैयद मुहम्मद ज़ाहिर के पास चले गये। नाना के देहान्त के पश्चात् ये लखनऊ चले आये और वहाँ पर तिब अर्थात् हकीमी का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त फ़ारसी, उर्दू और हिन्दी में भी विशेष योग्यता प्राप्त की। नौकरी की खोज में इन्होंने राजस्थान, सागर और हैदराबाद में काफी समय व्यतीत किया। इसी सिलसिले में कुछ दिन भोपाल भी रहे। इन स्थानों पर ये विभिन्न प्रकार की छोटी-बड़ी नौकरियाँ करते रहे, लेकिन अपने आत्मसम्मान को कभी ठेस नहीं लगने दी। जब कभी परेशान हो जाते तो अपने वतन वापस आ जाते थे। रोज़ा-नमाज़ के पाबन्द थे। शान्त प्रकृति के थे। किसी झगड़े-फसाद में नहीं फँसते थे। दोस्त-दुश्मन सबसे अच्छी तरह से मिलते थे। घर पर दवाइयों का ढेर लगा रहता था। गरीब से गरीब रोगी को भी ध्यान से देखते और दवा देते थे। यदि कोई गरीब चमार या कोली भी रात के वक्त आता तो घर से बाहर निकल कर उसका हाल पूछते। अगर कोई किसी रोगी को दिखाने इन्हें घर ले जाना चाहता तो उसके साथ हो लेते, रोगी को देखते और दवा दे देते थे।

एकबार नगर में प्लेग की बीमारी फैली जिसके कारण गाँव के गाँव वीरान हो गये। स्त्री, पुरुष, बच्चे-बूढ़े सब झोपड़ियों में पड़े हुए थे। ये स्वयं इन झोपड़ियों में जाते, रोगियों की देखभाल करते और दवा देते थे। इनके पास हर समय आने-जानेवालों की भीड़ लगी रहती थी। कोई अपनी नब्ज दिखाता, कोई ताबीज़ लिखवाता, कोई ग़ज़ल की फरमाइश करता तो कोई किसी शादी-ब्याह, उत्सव के लिए कविता लिखवाता था। ये हरएक की फरमाइश पूरी करते थे।

इन्होंने बहुत-सी पुस्तकें लिखीं। इतिहास, साहित्य, व्याकरण, आदि विषयों पर पद्य और गद्य में रचित इनकी प्रचुर कृतियाँ मिलती हैं। हिन्दी भाषा में लिखे उनके दीवान का नाम 'प्रेम-राग' है। उर्दू और फारसी काव्य में इनका उपनाम 'फख्र' था और हिन्दी भाषा में 'मीर'। इनका देहावसान १९०५ ई० में हुआ।

फ़ारसी, उर्दू और हिन्दी तीनों ही भाषाओं में इन्होंने काव्यरचना की है। उर्दू में कुछ गीत लिखे हैं और हिन्दी में भैरवी, सारंग, यमन, सोरठ, वसन्त, होली आदि रागों में पदरचना की है। इनमें राधा और कृष्ण की प्रेम-लीला का वर्णन किया

गया है जो बड़ा ही सहज-स्वाभाविक एवम् सुन्दर है। इनके एक पद की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

जाओ जी तुम कृष्ण-कन्हैया।
तुम अलगर्जी अपने गर्जें,
फिर कय्यों के नाहिं सुनैया॥

'मीर' कहूँ क्या स्याम की बातें।
है छैला चित का लेवैया॥

इनके कुछ प्रसिद्ध पदों की प्रारम्भिक पंक्तियाँ हैं :

बदरिया घिरी स्यामा नहीं आये रे।

• • •

स्याम कौन गुन गाये ऊधो।

• • •

सूनी सुन्दर बिन सेज हमारी।

• • •

आयी बसन्त बहार सखी री,
आयी बसन्त बहार।

• • •

मोहि गये मन साँवरिया,
नयनन नयना मिलाय।

इनके एक और गीत के शब्द इस प्रकार हैं :

लाग रही नित सुरत तिहारी,
सुध बिसरायो बलमहू हमारी।
मन के मनके फेर रही हूँ,
तन जल-भुन के बन गयो छारी॥

बैठी हूँ तुमरी आस लगाये,
राख्यो निरास न मोहि मैं वारी।
'मीर' सूं भेट करो हो मोहन,
निस-दिन तुम पै रहत बलिहारी॥

ज़. ह.

(सैयद) फ़जलुल हसन 'हसरत' मोहानी

मौलाना हसरत मोहानी का जन्म उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के मोहान कस्बे में सन् १८७८ ई० में हुआ था। शायरी का शौक़ इन्हें बाल्यावस्था से ही था। मैट्रिक पास करने के पहले से ही ये शेर कहने लगे थे। १९०३ ई० में इन्होंने अलीगढ़ से बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। उन दिनों स्वतंत्रता-आन्दोलन का ज़ोर था। अतः १९०४ ई० में कांग्रेस में सम्मिलित हो गये। आज़ादी की लड़ाई में इन्हें १९०८ ई० में दो वर्ष की कड़ी कैद की सज़ा दी गयी। १९१६ ई० में ये फिर बंदी बनाये गये और दो वर्ष की साधारण कैद की सजा भोगी। इसके बाद कुछ दिनों तक नजरबंद भी रहे। १९२० ई० के अनंतर ये गांधीजी के असहयोग आन्दोलन में आये और कई बार जेल गये। अपनी प्रगाढ़ देशभक्ति, उग्र राष्ट्रीय विचारों तथा त्याग के कारण इन्होंने पर्याप्त कीर्ति अर्जित की।

उर्दू शायरी में इनके उस्ताद 'जलाल' लखनवी थे। राजनीतिक आन्दोलन में सक्रिय योगदान करते हुए ही इन्होंने 'उर्दू-ए-मोअल्ला' नाम से एक मासिक-पत्रिका निकाली थी। इस प्रकार उर्दू की गद्य तथा पद्य दोनों विधाओं की इन्होंने स्मरणीय सेवाएँ कीं। अन्तिम दिनों में ये कानपुर आ गये थे। वहीं १९५१ ई० में इनका देहावसान हुआ।

इनकी शायरी सूफ़ी ख़यालात, स्वतंत्रता की चेतना, नवजागरण की भावना तथा भारतीयता के प्रति गहरी निष्ठा से भरपूर है। हिन्दू-मुस्लिम-सद्भावना की अत्यन्त प्रभावशाली अभिव्यक्तियों के लिए इनकी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। 'हसरत' साहब लोक-भाषा के गीतों की रचना तथा उर्दू की शेर-ओ-शायरी में समान रूप से सिद्धहस्त थे।

श्रीकृष्ण में इनकी बहुत आस्था थी। प्रतिवर्ष उनकी जन्मभूमि मथुरा जाने का इन्होंने नियम-सा बना लिया था। इनकी रचनाओं में प्रगाढ़ कृष्ण-भक्ति

व्यंजित हुई है। नमूने के रूप में कुछ यहाँ दी जा रही हैं :

(१)

काहे कहीं नहीं चैन बनवारी बिना।
रोये कटे सारी रैन मुरारी बिना॥

कोय जतन जिया धीर न धारे,
नींद न आवै रैन गिरधारी बिना॥

देखो सखी कोउ चीन्हत नाहीं,
अब 'हसरत' है ग़ैन[1] बिहारी बिना॥

[1] अंधेरा।

(२)

आँखों में नूर जलवए कैफ़ो करम हैं ख़ास।
जब से नज़र पै उनकी निगाहे करम है ख़ास॥

हमको भी कुछ अता हो कि ऐ हज़रते क्रिशन,
अकलीमे इश्क़ आपके ज़ेरे-क़दम हैं खास।

'हसरत' की भी क़बूल हो मथुरा में हाज़िरी,
सुनते हैं आशिकों पै तुम्हारा करम है ख़ास॥

(३)

कहाँ गये मोहिं बावरी बनाइ के ?
बावरी बनाइ के, झँकिया दिखाइ के। कहाँ गये०

आंसुन भीजि गयी है सिगरी,
रकत सो रंग भभूका चुनरी,
हसरत कौन बिथा सब हमरी,
आय सुने कहे श्याम से जाय के ? कहाँ गये०

(४)

तुम बिन कौन सुने महाराज ?
राखो बाँह-गहे की लाज।
ब्रजमोहन जब मिले, मनबसे,
हम भूलिन सब काम काज॥ तुमबिन····

भूलि कुराज सुराजहि 'हसरत'
प्रभु सों मांगत प्रेमराज॥ तुमबिन····

(५)

मू पै रंग न डार मुरारी।
बिनतो करत हूँ तुम्हारी॥

पनिया भरन कहँ जाने न देहैं,
श्याम भरे पिचकारी॥ मू पै रंग···

थर थर कांपत लाजन 'हसरत',
देखत हैं नर नारी॥ मू पै रंग····

(६)

मथुरा कि नगर है आशिक़ी का,
दम भरती है आरज़ू उसीका।

हर ज़र्रा-ए-सरज़मीन गोकुल,
दारा है जमाल-ए-दिलबरी का॥

बरसाने और नन्दगांव में भी,
देख आये हैं जलवा हम किसीका।

पैग़ाम-ए-हयात[1] जावदां था,
हर नग़मा[2]-ए-क्रिश्न बांसुरी का॥

वह नूर-सयाह[3] था कि 'हसरत',
सर चश्मा फरोग़[4]-ए-आगही का॥

[1] अमर जीवन का संदेश [2] गीत [3] श्याम ज्योति [4] ज्ञान की पूंजी।

स. सं.
संपा.

'फैयाज' ग्वालियरी

फैयाज़ साहब का पूरा नाम फैयाज़ुद्दीन अहमद खाँ है। इनका जन्म मध्यप्रदेश के शिवपुरी ज़िले के कौलारस नामक गाँव में १९ अक्तूबर १९०६ को हुआ था। पढ़ाई समाप्त करने के बाद इन्होंने सर्वेक्षण-विभाग में नौकरी कर ली। उसमें ३५ वर्ष तक सेवा-करने के बाद अतिरिक्त सर्वे अधिकारी पद से सेवा निवृत्त हुए।

काव्य-रचना में इनकी किशोरावस्था से ही गहरी रुचि थी। भाषा में शक्ति और शैली में अद्भुत

आकर्षण के कारण ये शीघ्र ही उच्चकोटि के शायरों में गिने जाने लगे। देश-प्रेम तथा सांस्कृतिक समन्वय इनकी शायरी के मुख्य विषय रहे हैं।

प्राचीन भारतीय महापुरुषों में ये कृष्ण से विशेष रूप से प्रभावित थे। उनके जन्म-दिवस पर १९४३ ई० में लिखी गयी इनकी प्रसिद्ध कविता नीचे दी जाती है :

कृष्ण-जन्माष्टमी

बरखा पे फिर निखार है ऐ जाने बरशिगाल[१]।
किश्तेहयात[२] पर है फिर अहसाने बरशिगाल ॥

नाज़िल[३] हो फिर ज़मीं पे, ब उनवानें[४] बरशिगाल।
तेरे बग़ैर हेच[५] है, सामाने बरशिगाल ॥

रितु है सियाह-मस्त, अंधेरी घिर आई है।
हर ज़र्रिए-जहाँ पे, जवानी सी छाई है ॥

आज अंधेरे पाख में ऐ जाने बरशिगाल।
फैला हुआ है शौक में दामाने बरशिगाल ॥

कैफ़े-सहर,[६] लताफ़ते-शब[७] है तेरी अता।
मस्ताना रंगे ताअते[९] रब[१०] है तेरी अता ॥

रक्सो,[११] सरोदो,[१२] इल्मो अदब है तेरी अता।
इस उजड़े घर में जो भी है, सब है तेरी अता ॥

दुनिया को तूने रहने के क़ाबिल बना दिया।
जिस ज़र्रा पर निगाह पड़ी, दिल बना दिया ॥

हर दिल में तेरी याद है दौराने बरशिगाल।
तू जाने बरशिगाल है, ऐ जाने बरशिगाल ॥

दौड़ा न दे रगों में जो वंशी तेरी लहू।
इक खुश्क-फ़लसफा[१३] थी, यह दुनियाए रंगोबू ॥

क़ायम है तुझसे हस्ती ए-कश्तीए-आरज़ू[१४]।
ऐ प्रेम के ख़ुदा, बख़ुदा, ना-ख़ुदा है तू ॥

बंसी भी है, अमल की भी मिज़राब[१५] हाथ में।
गीता के गीत गूंजते हैं क़ायनात[१६] में ॥

है नग़मा-बारियों[१७] में तेरी शाने बरशिगाल।
जां-बख़्शे-कायनात[१८] है तू जाने बरशिगाल ॥

यह बाजरे की ज्वार की उठती जवानियाँ
रंगे शफ़क़[१९] के साए में धानों की साड़ियाँ ॥

मक्का दुल्हन बनी हुई पुरवाई नग़मा-ख्वां[२०]।
बरखा की छागलों से यह सारंग का समां ॥

बारिश का सैले-आब हर-एक-सू रवाँ-दवां।
ऊदी[२१] घटा के कान में, सोने की बिजलियां ॥

फिर अष्टमी सजी है तेरी पेशवाई[२२] को।
फिर इन्तज़ारे-जलवा[२३] है, सारी खुदाई को ॥

फिर श्याम बनके आ सरे-ऐवाने-बरशिगाल[२४]।
ऐ, जाने-हिन्द ! जाने-चमन, जाने-बरशिगाल ॥

---

१. वर्षाकाल २. जीवन नौका ३. उतरना ४. शीर्षक ५. बेकार ६. प्रातःकाल की मधुरता ७. रात का आनंद ८. देन ९. वन्दना १०. ईश्वर ११. नृत्य १२. गान १३ शुष्क-दर्शन १४ इच्छा की नाव का अस्तित्व १५. वह तार का यंत्र जिससे सितार बजाया जाता है १६. दुनिया १७. गीत बिखराना १८. दुनिया को प्राणदान देने वाला १९. आकाश की कालिमा २०. बहता हुआ गीत २१. बैंगनी रंग की २२ स्वागत २३. दर्शन की प्रतीक्षा १४. बरसात के महल के किनारे।

संपा.

(मिर्ज़ा) बाकर अली 'हसरत'

मिर्ज़ा बाकर अली, 'हसरत' उपनाम से काव्य-रचना करते थे। इनका जन्म दिल्ली में बादशाह शाह आलम के समय में हुआ था। सन् आदि अज्ञात है। इनके पिता का नाम अबुल खैर था। वे अत्तारी का पेशा करते थे।

उर्दू शायरी से हसरत को बचपन से ही स्वाभाविक लगाव था। आगे चलकर इन्होंने उसमें कमाल हासिल किया। जब शाह आलम के दिन ख़राब हो गये तो इनको भी परिस्थितिजन्य अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कृतघ्न तथा क्रूर गुलाम क़ादिर ने अभागे बादशाह की आँखें निकालीं

और इसी प्रकार के अन्य अत्याचार करके लूट-पाट एवं बेग़मात शाही की बेइज्ज़ती का हंगामा किया। यह सब इन्होंने अपनी आँखों से देखा था।

ऐसी स्थिति में हसरत दिल्ली छोड़कर फैज़ाबाद चले आये। उस समय फैज़ाबाद अवध सूबे की राजधानी थी। वहाँ पहुंचकर इन्होंने नवाब शुजाउद्दौला के सामने एक क़सीदा पढ़ा। उसके पुरस्काररूप में इनके लिए कुछ वज़ीफ़ा निश्चित हो गया। शुजाउद्दौला की मृत्यु के पश्चात् जब आसफुद्दौला गद्दी पर आसीन हुए तो उनके सामने भी इन्होंने एक क़सीदा पढ़ा और वज़ीफ़ा प्राप्त किया। कुछ दिन फैज़ाबाद रहने के बाद ये लखनऊ चले गये। लखनऊ में रहते हुए ये उर्दू मुशायरों में बराबर भाग लेते थे, अतः कुछ ही दिनों में विख्यात हो गये। लखनऊ में ही सन् १८०६ ई० में इनका देहान्त हुआ और वहीं दफ़न कर दिये गये।

इनकी रचनाओं का एक संग्रह (कुल्लियात) प्रकाशित है जिसमें साक़ीनामा, मसनवी, तरजीबन्द, तरकीबबन्द, क़सीदे, रुबाइयाँ आदि संकलित हैं। इसके अतिरिक्त इनके दो दीवान गजलों के हैं। उनसे ऐसा आभास होता है कि इन्होंने एक ही प्रकरण पर बहुत-सी गजलें लिखी हैं। वैसे इनके क़सीदे और रुबाइयाँ अधिक प्रसिद्ध हैं।

इनकी कृष्ण-भक्तिसम्बन्धी रचनाएँ अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं। उनमें मध्यकालीन साम्प्रदायिक कृष्ण-भक्तों तथा सूफी-प्रेमाख्यानकारों की विरह-साधना के एक साथ दर्शन होते हैं। नमूने के रूप में कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :

(१)

मनमोहन श्याम से नैन लाग,
निसि दिन सुलग रही तन आग।
बिरह की रैन निपट अँधियारी,
रोवत-धोवत रहत जाग-जाग॥

प्रेम का रोग लगाइक 'हसरत'
राग-रंग सब दीन्ह त्याग।

(२)

मन लागी प्रेम के जोग की चाट।
रंग भभूत बसे ब्रज-घाट॥
श्यामनगर की भीख भली है,
का कीबे लै राजपाट।
फूलन सेज बिसारिके 'हसरत'
कमरी ओढ़ि बिछावत टाट॥

सै. जै.

'बासित' बिसवानी

'बासित' बिसवानी उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले के बिसवाँ नामक कस्बे में पैदा हुए थे। इनकी गणना उर्दू के अच्छे शायरों में होती हैं। इनका देहावसान १९३८ ई० में हुआ।

वर्ण्य विषय की विविधता इनकी रचनाओं की उल्लेखनीय विशेषता है। इनकी कविताओं का एक संकलन 'शाहिद-ए-मानी' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। राष्ट्र-प्रेम और भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था की भावना इनकी शायरी में आद्योपांत व्याप्त मिलता है। उदाहरण के लिए दो नज्में प्रस्तुत हैं :

होली

होली तन मन फूंक रही है,
दूर सखी गिरधारी हैं।
दिल भी टुकड़े-टुकड़े हैं और
ज़ख़्म-ए-जिगर भी कारी है॥
हाय अकेली खेल रही हूँ,
सारी डूबी सारी है।
ख़ून-ए-तमन्ना रंग बना है,
आँखों की पिचकारी है॥

कृश्न-ओ-जसोदा

आग़ोश में जसोदा के है देवकी का लाल।
खुश रंग, खुशनसीब, खुशअन्दाज़ खुशजमाल॥

वह यूं ज़बान-ए-शौक से करती है अर्ज़-ए-हाल।
वारी हज़ार जां से सुन ऐ माह-ए-बेमिसाल ॥

दुनिया यह जानती है कि तू नन्दलाल है।
दर-अस्ल देवकी का मगर नौनिहाल[2] है॥

मुश्किल को तेरी मैंने ही आसान कर दिया।
बच जाये तेरी जान, यह सामान कर दिया॥

बच्चो को अपनी जान से क़ुरबान कर दिया।
बाग़-ए-मुराद आप ही वीरान कर दिया॥

तुझको बचाया मैंने ही बेदाद[3]-ए-कंस से।
रह जाय यास देवकी तो काश बंस से॥

टुकड़ा है दिलका आंख का तारा तुही तो है।
दिल अपना कह रहा है हमारा तुही तो है॥

हमको हज़ार जान से प्यारा तुही तो है।
दिल अपना कह रहा है हमारा तू ही तो है॥

ऐ मेरे श्याम! क्या कहूँ कैसा हसीं[4] है तू।
क़ुरबान जाऊँ, राहत-ए-जान-ए-हज़ीं[5] है तू॥

मेरी हयात-ओ-[6]ज़ीस्त के सामान! मुंह से बोल।
सदक़े तेरी अदाओं के क़ुरबान, मुंह से बोल॥

ए भोलेभाले, ऐ मेरे नादान, मुंह से बोल।
ऐ मेरे दिल के टुकड़े, मेरी जान, मुंह से बोल॥

तू बोल या न बोल मगर जानती हूँ मैं।
तेरे हर एक इशारे को पहचानती हूँ मैं॥

आंखें हमारी शाद[7] हैं दीदार से तेरे।
शरमा रहे हैं फूल भी रुख़सार से तेरे॥

गोकुल में नूर फैला है अनवार[8] से तेरे।
पूछे तो कोई हाल तलबगार[9] से तेरे॥

क्या कह रही है देख जसोदा खड़ी हुई।
तेरे कदम से राजमहल झोपड़ी हुई॥

---

१. इच्छा का लहू २. पुत्र ३. जुल्म ४. सुन्दर
५. दुखी ६. जीवन ७. प्रसन्न ८. प्रकाश
९. प्रेमी।

स.सं.

बेदम वारसी

'बेदम वारसी' का जन्म इटावा में सन् १९३३ ई० में हुआ था। ये प्रसिद्ध शायर 'निसार अकबराबादी' के शिष्य थे। वारसी उर्दू में लिखते थे और हिन्दी में भी, किन्तु इनकी शायरी की मुख्य भाषा उर्दू और हिन्दी के सरल मिले-जुले रूप को ही मानना चाहिए। ये हाजी वारिस अली शाह के मुरीद थे और उनके आश्रम में बहुत दिन रहे। तसव्वुफ से बेदम को बहुत लगाव था। देशप्रेम की भावना और भारतीय संस्कृति से दृढ़ अनुराग इनकी रचना की अपनी पहचान है। कृष्ण की मधुर लीलाओं के छिटपुट प्रसंग इनकी रचनाओं में आये हैं। उदाहरण के लिए यह गीत देखें, जिसमें श्रीकृष्ण व्रज में होली खेलते हुए चित्रित किये गये हैं:

फागुन खेलन गये हैं बनवारी,
सखी व्रज में घमसान परो है।
ना देखें पिया अपनो परायो,
गिर्दा लगाये मारें पिचकारी।
बरजोरी कर मो पै अबिरा डार गये,
मसकी चोलिया भिगोय डारी सारी॥ सखी व्रज में०
जाको चाहें कान्ह एक पल में,
नैन मिलाय करें मतवारो।
जाय देखो वह झूमत आवे,
का बैरी और का हितकारी॥ सखी व्रज में०
चीन्ह लेब पहचान गये हम,
तुम हो वारस्ते [1]बांके बिहारी।
'बेदम' के चित से कहां जैहो,
जाने न दूंगी मैं तुम पर बलहारी॥ सखी व्रज में०

---

१. स्वच्छंद

स० सं०

मुहम्मद मक़सूद 'मक़सूद'

मक़सूद लखनऊ के निवासी और नवाब आसफ़ुद्दौला के समकालीन थे। उस समय सैयद इंशा

अल्लाह खाँ तथा शेख़ गुलाम हम्दानी 'मस्हफ़ी' अपनी उपस्थिति से अवध-दरबार की शोभा बढ़ा रहे थे। मस्हफ़ी ने अपने तज़किरों में मक़सूद की चर्चा की है।

मक़सूद की एकमात्र रचना 'बारहमासा' मिलती है। यह लोकभाषा से प्रभावित खड़ीबोली में लिखी गयी है। इसलिए भाषा की शुद्धता के हिमायती लखनऊ के तत्कालीन शायरों ने इनकी भरपूर उपेक्षा ही नहीं, निंदा भी की। मस्हफ़ी द्वारा फ़ारसी भाषा में लिखित तज़किरे से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उसका सारांश इस प्रकार है :

'मकसूद बाज़ार के शायर हैं। वे बहुत कम पढ़े-लिखे हैं, इसलिए शायरों की मजलिस में कदम नहीं रखने पाते। मेले-ठेले और विशेष कर होली के अवसर पर उनके कलाम गाये जाते हैं।'

मस्हफ़ी की यह धारणा द्वेषप्रेरित तथा निराधार प्रतीत होती है। इसलिए कि 'बारहमासा' के आरंभ में मकसूद ने फ़ारसी के विख्यात शायरों का नामोल्लेख किया है। इससे यह अनुमान लगाना असंगत न होगा कि ये परिनिष्ठित उर्दू से ही नहीं, फ़ारसी भाषा तथा साहित्य से भी घनिष्ठ रूप से परिचित थे :

कहा मक़सूद ने नै मैं हज़ूरी।
नहीं मैं अनवरी हूँ नै ज़हूरी॥

संभवतः मकसूद के 'बारहमासा' की लोकप्रियता से चिढ़कर उस ज़माने के तज़किरा-नवीसों ने इनके कलाम को 'खुराफ़ात और वाही' घोषित करके इन्हें शायरों की पंक्ति से बाहर कर दिया था। किन्तु प्रतिभा की सर्वथा उपेक्षा असंभव है, अतः परिस्थिति की प्रेरणा से मजबूर होकर शेफ्ता को अपने तज़किरे में भारतीय काव्य-परंपरा के हिमायती तथा संवर्धक मकसूद को स्थान देना पड़ा।

इसके विपरीत इसी ज़माने के एक निर्मल दृष्टि-सम्पन्न साहित्यकार हकीम कुदरतुल्ला 'क़ासिम' ने मकसूद की शायरी की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए इन्हें 'शीरीं कलाम' और 'सुलतानुश्शुअरा' (कवि-सम्राट्) को पदवी से विभूषित किया है।

प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ये १९वीं शताब्दी ई० के प्रथम चरण तक विद्यमान थे। मसनवी शैली में लिखे गये इनके 'बारहमासा' की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जा रही हैं।

कृष्ण के वियोग में व्याकुल गोपी सखी से अपनी अन्तर्व्यथा का वर्णन करती हुई कहती है :

लगा भादों मुझे दुख देने भारी।
घटा चहुं ओर झुक आई है कारी॥

भरी जल थल चढ़ीं नदियों की धारें।
सखी अब तक न आये पी हमारे॥

घटा कारी अंधेरी नित डरावे।
पिया बिन नींद बिरहिन को न आवे॥

अरे कागा, तू उड़के जा बिदेसा।
सलोने स्याम को लेकर संदेसा॥

ये सब हालत वहाँ तकरीर कीजो।
मेरा साविक गुनह तकसीर कीजो॥

कि उस जोगिन को तुम क्यों छोड़ बैठे।
तरफ़ उसकी से मुंह क्यों मोड़ बैठे ?

मुझे ग़म दिन ब दिन खाने लगा है।
अजल का दिन नज़र आने लगा है॥

न जानूं दरस पी का कब मिलेगा।
कमल इस मेरे जी का कब खिलेगा॥

सखी ! यह मास भादों भी सिधारा।
न आया आह वह प्रीतम पियारा॥

दीवानी पीकी मैं मेरा पिया है।
पिया का नाम-सुमरन मैं किया है॥

संपा.

(सैयद) मुहम्मद ज़ैदी 'तसव्वुर' लखनवी

सैयद मुहम्मद ज़ैदी 'तसव्वुर' लखनऊ के प्रसिद्ध शायर थे। आपके पिता का नाम मौलवी आबिद हुसैन था। ये मकबरा बाग, शेरगंज ड्योढ़ी आगामीर, लखनऊ में पैदा हुए थे। आरम्भिक शिक्षा घर पर ही अपने पूज्य पिता से फिर अरबी, फ़ारसी की तालीम सुलतानुलमदारिस में रहकर हासिल की। आपका खान्दानी माहौल दीनी और मजहबी किस्म का था। शेर-ओ-शायरी का शौक बचपन ही से था। मज़हबी, मुत्तकी और परहेजगार होने के साथ-साथ आप क़ौमी एकता के क़ायल थे। व्यावहारिक जीवन में आप हिन्दू-मुस्लिम-सद्भाव के प्रतीक थे।

बाल्यावस्था में आपने शायरी के मैदान में क़दम रखा। आप ग़ज़ल, क़सीदा, मर्सिया, मसनवी और नज्म के तत्कालीन शायरों की प्रथम पंक्ति में शुमार किये जाते थे।

आपका जन्म सन् १९१० ई० में अपने पैतृक निवासस्थान लखनऊ में हुआ था। अन्य स्रोतों से पता चला कि आपके पूर्वजों का निवासस्थान मौजा पियरोपुर, डाकघर औराई, जिला वाराणसी था। इनके वालिद साहब उसे छोड़कर लखनऊ चले गये थे और वहीं स्थायी निवास बना लिया था।

मिर्जा रज्जब अली बेग 'सुरूर' पर इनकी बड़ी श्रद्धा थी। इन्होंने अंग्रेजी की शिक्षा गवर्नमेण्ट इण्टर कालेज, हुसेनाबाद, लखनऊ में प्राप्त की थी।

हाई स्कूल पास करने के बाद इन्होंने कचहरी में नौकरी कर ली। वहाँ भी अपनी शायरी को बरक़रार रखा। इनके बातचीत के ढंग और वाणी में ऐसा आकर्षण था कि आपको लोग छोड़कर हटना पसन्द नहीं करते थे। ये स्वयम् भी सच बोलते थे और दूसरों को भी सच बोलने की ताकीद करते थे।

इन्होंने इबादतगाहों और देवताओं पर बहुत-सी नज्में लिखी हैं। दीनी मुसलमान होते हुए भी आप श्रीकृष्ण के भक्त थे। इसका प्रमाण इनके द्वारा विरचित नज्में हैं।

श्रीकृष्ण पर लिखे गये आपके चन्द अशआर बतौर नमूना पेश किये जा रहे हैं :

है मथरा नगर दर असल आशक़ी का।
कि भरती है दम क़ौम हर एक उसीका॥

हर एक ज़र्रा-ए-सर-ज़मी[1] अब भी गोकुल।
है पहने जिरह ख़ुशनुमा दिलबरो का॥
हक़ीक़त में था जावेदाने-हयात[2]।
हर एक नग़्मा यारों कृष्ण की बांसरी का॥

बन्दगाने ख़ुदा पर यह साया है किसका।
यह सब रहमतें और है जलवा उसीका॥
'तसव्वुर' में बातें भी करता था उससे।
दमे मर्ग भरता रहा दम उसीका॥

---

१. पवित्र भूमि का कण २. शाश्वत जीवन।

सै जै.

(मिर्ज़ा) मुहम्मद रफ़ी 'सौदा'

मिर्जा मुहम्मद रफ़ी सौदा का जन्म १७११ ई० में दिल्ली में काबुली दरवाजे के पास हुआ था। इनके पिता मिर्ज़ा मुहम्मद शफ़ी काबुल के निवासी थे। वे व्यापार के निमित्त भारत आये और फिर यहीं बस गये थे। पिता की सौदागरी वृत्ति के कारण ही सम्भवतः इन्होंने अपना उपनाम 'सौदा' रखा था। कुछ विद्वानों का विचार है कि सौदा अथवा प्रेमोन्माद इश्क का अनिवार्य तत्त्व है, इसीको ध्यान में रखकर इश्किया शायरी के स्तंभ इस शायर ने अपना तखल्लुस 'सौदा' रख लिया था।

इन्हें घर पर ही फ़ारसी की अच्छी जानकारी करायी गयी। शायरी में बचपन से ही रुचि थी, इसलिए इन्होंने पहले सुलेमान अली खाँ 'बेदाद' फिर शाह हातिम का शिष्यत्व ग्रहण किया। आरम्भ में

ये फारसी में ही शेर कहा करते थे, किन्तु वयोवृद्ध उस्ताद खाँ आरज़ू के अनुरोध पर उर्दू में काव्य-रचना करने लगे। असाधारण प्रतिभा तथा अनवरत अभ्यास से कुछ ही दिनों में इनकी गणना उर्दू के प्रसिद्ध शायरों में होने लगी।

उन दिनों दिल्ली के तख्त पर मुगल बादशाह शाह आलम विराजमान थे। इनकी ख्याति सुनकर उन्होंने इनसे 'राजकवि' बनने का प्रस्ताव किया और अपनी रचनाएँ इनके पास संशोधन के लिए भेजने लगे। किन्तु स्वाभिमानी होने के कारण इन्होंने उनके आश्रय में कवि-जीवन व्यतीत करना स्वीकार नहीं किया। इस बीच दिल्ली के कई साहित्य-प्रेमी उच्चपदस्थ उदार लोगों की सहायता से इनका समय सुखपूर्वक बीता। गुण-ग्राहियों की मृत्यु के बाद मजबूर होकर ६६ वर्ष की आयु में ये कुछ दिन फर्रुखाबाद के नवाब मुहम्मद खाँ बंगश के पास रहे, फिर १८२७ ई० में लखनऊ चले आये और नबाव शुजाउद्दौला के आश्रय में रहने लगे। ११८८ हि० (१८३० ई०) में उनकी मृत्यु हो गयी। इसके अनन्तर नबाव आसफुद्दौला ने इन्हें बड़े सम्मान के साथ रखा। लखनऊ में ही ८० वर्ष की अवस्था में १८३७ ई० में इनका शरीरान्त हुआ।

सौदा अपने जीवन-काल में ही लोक-प्रतिष्ठित हो चुके थे। इनकी फारसी तथा उर्दू रचनाओं का एक संकलन हकीम सैयद अस्लहुद्दीन ने तैयार किया था जिसमें इनके क़सीदे, मस्नवियां, मर्सिये, मतले, रुबाइयां, पहेलियां, मुख़म्मस आदि संगृहीत हैं। इन्होंने 'तज़किराए-शुअराए-उर्दू' नामक एक ग्रंथ लिखा था, किन्तु वह अब अप्राप्य है।

उर्दू-साहित्य को इनकी सबसे बड़ी देन भाषा का स्वरूप-संस्कार है। प्राञ्जलता तथा काव्यात्मक ओज के साथ ही व्यंग्य एवं विनोदप्रियता इनकी भाषा शैली की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

अपनी कृतियों में इन्होंने कुछ स्थलों पर हिन्दी के शब्दों और विषयों का सुन्दर ढंग से प्रयोग करके भाषा को मधुर एवं रोचक बनाने का प्रयास किया है। इन्हीं संदर्भों में एकाध स्थलों पर इन्होंने कृष्ण तथा अर्जुन का नाम लिया है। निम्नांकित पंक्तियों में प्रकारान्तर से ये प्रेमावतार कृष्ण की सर्वव्यापकता का उल्लेख करते हुए कहते हैं :

तरकश तरकश अलैंड सीना
आलम का छान मारा।

मिज़गां ने तेरे प्यारे
अर्जुन का बान मारा॥

मुहब्बत के करूँ भुजबल की
मैं तारीफ क्या यारो।

सितम परबत हो तो उसको
उठा लेता है ज्यां राई॥

नहीं है घर कोई ऐसा
जहाँ न देखा हो।

कन्हैया से नहीं कुछ कम
सनम मेरा वह हरजाई॥

संपा.

मुहम्मद समर यार खां 'साग़र निज़ामी'

सागर निज़ामी मशहूर शायर सीमाब अकबरावादी के शिष्य थे। इनका मूल नाम मुहम्मद समर यार खाँ था। इनका जन्म सन् १९०५ ई० में हुआ था। ९ वर्ष की आयु से ही ये शायरी करने लगे थे। ख्वाजा हसन निज़ामी के हाथ पर बैअत करने के कारण ये निज़ामी कहे जाने लगे। जन्म से मुसलमान होते हुए भी ये धार्मिक विचारों में अत्यंत उदार तथा राष्ट्रवादी थे। इनकी कविता का मूल स्वर देश-प्रेम है। उसे ये विचारों में ही नहीं, जीवन में भी सर्वोच्च स्थान देते थे। अपने एक पत्र में ये लिखते हैं :

'जहाँतक हिन्दोस्तान की आज़ादी, हिन्दू-मुस्लिम इत्तहाद और एक मुत्तहद (अखण्ड) आज़ाद मुल्क का सवाल है, मैं इनके मुकाबले में दुनिया की बाद-

शाहत को ठुकरा दूँगा। मुझे हिन्दोस्तान और उसकी आज़ादी अपने माँ-बाप, अपने भाई, अपनी बीबी और जान से भी ज्यादा अज़ीज़ है।'

ये अपने समय के उच्चकोटि के परिवर्तनवादी तथा प्रगतिशील शायर माने जाते रहे हैं। जीवन के उत्तर भाग में ये बम्बई चले गये थे। वहाँ फिल्मों के लिए गीत लिखने के साथ ये ही उर्दू में 'एशिया' नाम की एक मासिक पत्रिका भी निकालते थे।

इनकी रचनाओं में भाषा के दो रूप मिलते हैं: एक खड़ीबोली का सरल और आम बोलचालवाला रूप जो गीतों में हैं और दूसरा फ़ारसी पदावलीप्रधान रूप जो नज्मों, गज़लों आदि में मिलता है। दोनों ही शैली की रचनाओं में यत्र-तत्र कृष्ण-चरित की चर्चा मिलती है। उदाहरण के लिए निम्नांकित काव्यांश देखें, जो इनकी कृतियों के संग्रह 'वादा-ए-मशरिक़' से लिया गया है।

(१)

बिन्दरा के घाट हैं फिर तुम्हारे मुन्तज़िर।
मौज-ए-आब मुन्तज़िर हैं सितारे मुन्तज़िर॥

दर्द से भरी हुई हैं फ़ज़ायें मुन्तज़िर।
मंदिरों के साये में हैं घटायें मुन्तज़िर॥
गोपियों की ख़ाक में सोज़ इन्तिज़ार है।
हर कंवल के जाम में ख़ून सदबहार है॥

कोयलों की कूक में गीत का मज़ार है।
मौसम-ए-बहार एक दुख भरी पुकार है॥

हर क़दम प बादा-ए-ज़िन्दगी बहाओ फिर।
ऐ गोपाल झूम कर बंसुरी बजाओ फिर॥
ऐ गोपाल०

बंसुरी की तान से सुबह-ओ-शाम मस्त हों।
अर्श[१]-ओ-चर्ख़[२] मस्त हों बेनज़ाम मस्त हों॥

वज्द[३] में हों अक्ल-ओ-दीं, बेख़ुदी हो रक़्स[४] में।
बंसुरी की तान पर ज़िन्दगी हो रक़्स में॥

बंसुरी के कैफ़ से एक जहां हो रक़्स में।
एक जहाँ का ज़िक्र क्या, लामकां[५] हो रक़्स में॥

हां उठाओ बंसुरी, बंसुरी उठाओ फिर।
ऐ गोपाल०

नन्द कुटी में तुम मिस्ल-ए-माहताब[६] थे।
मिस्ल माहताब क्या अस्ल आफ़ताब[७] थे॥

हुस्न की शराब थे इश्क का शबाब थे।
अपनी ख़ुद नज़ीर थे, अपना ख़ुद जवाब थे॥

सिर्र[८] हर जमाल थे, राज़ हर जलाल थे।
हुस्न का कमाल थे, इश्क का मआल थे॥

अपने रुख़ से परदा-ए-ज़ाहरी उठाओ फिर।
एक जहाँ को हुस्न का हैरती बनाओ फिर॥

ब्रज की फ़ज़ाओं को नशा में रचाओ फिर।
ऐ गोपाल०

माह-ओ-आफ़ताब को हुक्म-ए-इन्सराम[९] दो।
फिर शब-ए-हयात को इज़्न[१०]-ए-सुबह-ओ-शामदो।

रुह-ए-मुस्तक़िल को फिर इशरत-ए-दवाम दो।
इश्क़ की शराब का तुन्द-ओ-तेज़ जाम दो॥

कुल फ़ज़ाँ ख़मोश है इज़्ज़त-ए-कलाम दो।
हुर्रियत[११] का दर्स दो, जंग का पयाम दो॥

एशिया गुलाम है, इस गुलाम की सुनो।
हिंद डूबने को है, डूबते को थाम लो॥
साहिल-ए-मुराद तक हिन्दियों को लाओ फिर।
ऐ गोपाल०

१. भूमि २. आकाश ३. झूमना ४. नाच ५. खुदा की ज़ात ६. चांद ७. सूर्य ८. मर्म ९. प्रबन्ध १०. आहार ११. आजादी।

(२)

ऐ मंदिर का राज़ पुजारिन।
ऐ फ़ितरत का साज़ पुजारिन॥

प्रेम नगर की रहने वाली।
हर की बतिया कहने वाली॥

सीधी सादी भोली भाली।
बात निराली गात निराली॥

गर्दन में तुलसी की माला।
दिल में इक ख़ामोश शिवाला॥

होठों पर पैमाने रक्सां।
आँखों में मयख़ाने रक्सां॥

ऐ देवी का रूप पुजारिन।
तेरा रूप अनूप पुजारिन॥ ऐ देवी का रूप०

लौट चली तू करके पूजा।
देख लिया ईश्वर का जल्वा॥

ठहर ठहर ऐ प्रेम पुजारिन।
मैं भी करलूं तेरे दर्शन॥

देख इधर घूंघट को हटाकर।
अपने पुजारी पर किरपा कर॥

सबकी पूजा ज़ोहदो-ताअद।
मेरी पूजा तेरी उलफ़त॥
हरि का घर है तेरा पैकर।
तू ख़ुद है इक सुंदर मंदिर॥ ऐ देवी का रूप०

(३)

हीरे मोती लाई मैं दासी मंदिर के पट खोल।
वह मोती हैं तेज से जिसके चन्दरमा छिप जाय॥

वह हीरे हैं जोत से जिनकी सूरज भी शरमाय।
नैनन का कांटा है उनको दस कांटे में तोल॥
पट मंदिर के खोल।
दो नैनन में सौ आंसू है दीवानी की भेंट।
नैन मेरे माटी हैं केवल भेंट है यह अनभेंट॥

उस मंदिर के खोल ज़रा पट जिसमें है गिरधारी।
वह गिरधारी जिन पर सारी दुनिया है बलिहारी॥
पट मंदिर के खोल।

(४)

पनघट की रानी

आई वो पनघट की देवी,
वोह पनघट की रानी।

दुनिया है मतवाली जिसकी।
और फ़ितरत दीवानी॥

रग रग जिसकी है इक बाजा,
और नस-नस ज़ंजीर।

कृष्ण मुरारी की बंसी है,
या अर्जुन का तीर॥

सर से पा तक शोख़ी की वो,
इक रंगीं तसवीर।

पनघट बेकल जिसकी ख़ातिर
चंचल जमना नीर॥

जिसका रस्ता टक टक देखे
सूरज सा रहगीर॥ आई वो०

स.सं.

संपा.

मेहरबान :

मेहरबान दिल्ली के प्रसिद्ध संगीतज्ञ उस्ताद मुजफ्फर खां के शिष्य थे। इन्होंने स्वरचित 'ख्याल' में राधाकृष्ण की माधुर्य-लीला का वर्णन किया है।

उनींदी राधा प्रियतम से असमय छेड़े जाने की मीठी शिकायत के साथ ही गले लगाने की इच्छा व्यक्त करती हुई कहती हैं :

जाग जाग जगा जगा मोहि को कान्ह लंगरवा
सोवन न दे घरि पल छिन ए माय।

नींद की माती अंखियाँ मोरी कछु न सुहावे,
'मेहरबान' अब राखो गले लगाय॥

संपा.

मोहसिन काकोरवी

भारत-भूमि की यह विशेषता रही है कि यहाँ विभिन्न धर्मावलम्बी तथा भाँति-भाँति की भाषाएँ बोलनेवाले आये और फिर यहीं के हो गये। मध्यकाल में मुसलमान बड़ी संख्या में यहाँ आये। वे अपने साथ अपना धर्म लाये, किन्तु उनकी भाषा और संस्कृति को भारतीय भाषाओं और संस्कृति ने बहुत अधिक प्रभावित किया। ऐसे ही एक कवि गुज़रे हैं मोहसिन काकोरवी।

मोहसिन साहब का जन्म सन् १८२६ ई० में लखनऊ के निकट प्रसिद्ध कस्बे काकोरी में हुआ था। इनके पितामह शाह हुसेन मुहम्मद एक विख्यात आलिम और सन्तप्रकृति के व्यक्ति थे। बचपन में ये उन्हींके पास रहकर शिक्षा प्राप्त करते रहे। उनके देहान्त के बाद ये अपने पिता के पास रहे। इनके विद्यागुरु मौलवी अब्दुल रहीम थे। शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् ये आगरा में नाज़िर के पद पर काम करते रहे। इनकी योग्यता देखकर मित्रों ने वकालत की परीक्षा पास करने का परामर्श दिया। इन्होंने वकालत की परीक्षा पास की और आगरा की दीवानी कचहरी में वकालत करने लगे। इनकी प्रसिद्धि और योग्यता से प्रभावित होकर सरकार ने इन्हें 'मन्सिफ' बनाना चाहा, किन्तु इनकी स्वतंत्र प्रकृति ने यह स्वीकार नहीं किया कि सरकार की नौकरी करें।

१८५७ ई० के दुःखद दिनों में मोहसिन आगरा में थे। लड़ाई-झगड़े और अंग्रेजों का अत्याचार बहुत बढ़ गया तो आप बीबी-बच्चों को लेकर काकोरी वापस आ गये और साहित्य-साधना में लीन हो गये।

उन दिनों लखनऊ में भी दंगा-फसाद शुरू हो चुका थे। अतः वहाँसे उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'अमीर' मीनाई भी काकोरी आ गये थे। दोनों बहुत दिनों तक साथ-साथ रहे। इनके काव्य से वे बहुत प्रभावित थे और इनका काफी सम्मान करते थे। इन्होंने लम्बी आयु पायी। १९०५ ई० में मैनपुरी में इनका स्वर्गवास हुआ।

मोहसिन ने ग़ज़ले, नातें और कसीदें लिखे हैं। इनको हज़रत मुहम्मद से बड़ा प्रेम था। इनकी भाषा सरल, प्रभावशाली और स्वच्छ होती है। सारे देश में इनकी प्रसिद्ध उस क़सीदे से हुई जिसकी पहली पंक्ति इस प्रकार है :

सिम्त काशी से चला जानिबे मथुरा बादल।

आलोचकों का मत है कि उर्दू-साहित्य में मोहसिन की 'शोहरत की बुनियाद' यही क़सीदा है। इसमें इन्होंने हिन्दुओं के पूज्य महापुरुषों एवम् तीर्थ-स्थलों का बड़े ही सहजभाव, श्रद्धा और प्रेम से वर्णन किया है। इनकी रचनाओं में व्रजभाषा की शब्दावली को उर्दू शब्दों के साथ बड़े ही सलीके से मिला-जुला कर प्रस्तुत किया गया है। इन्होंने हिन्दू-धर्म के प्रसिद्ध अवतारों और तीर्थों का वर्णन इस सुन्दरता से किया है कि उर्दूवाले उसे बड़े चाव से पढ़ते हैं और व्रजभूमि तथा राधा-कृष्ण के प्रति इनकी श्रद्धा को सराहते हैं। जैसा सौन्दर्य-वर्णन इनके उपर्युक्त प्रसिद्ध कसीदे में हमें मिलता है वैसा उर्दू के किसी दूसरे शायर के कलाम में दुर्लभ है। इनकी भाषा, शब्दावली तथा चित्रांकन खालिस हिन्दुस्तानी है।

इन्होंने बहुत-सी मसनबियाँ भी लिखी हैं। किन्तु इनकी नातें और क़सीदे अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ रुबाइयात भी हैं।

भारतीय संस्कृति के प्रभाव को प्रकट करनेवाला इनका मशहूर क़सीदा नीचे दिया जाता है :

सिम्त काशी से चला जानिबे मथुरा बादल।
बर्क़ के कांवे[1] पै लाती है सबाधे गंगा जल॥

घर में स्नान करें सर्व कदवाने गोकुल।
जाके जमुना पै नहाना भी है एक तूल अमल॥

ख़बर उड़ती हुई आयी है महावन में अभी,
कि चले आते हैं तीरथ को हवा पर बादल।

न खुला आठ पहर में कभी दो चार घड़ी,
पन्द्रह रोज हुए पानी को मंगल मंगल॥

डूबने जाते हैं गंगा में बनारस वाले,
नौजवानों को सनीचर है यह बुढ़वा मंगल।

खूब छाया है सरे गोकुल व मथुरा बादल॥
रंग में आज कन्हैया के है डूबा बादल॥
सतह अफ़लाक नज़र आती है गंगा-जमुनी,
रूप बिजली का सुनहरा है, रुपहला बादल।

राजा इन्द्र है परी ख़ानाए-मै का पानी,
नग़मये-नै का श्रीकृष्ण कन्हैया बादल॥

[1] सुन्दर स्त्रियाँ।

मौजुद्दीन 'मौज'

'मौजुद्दीन' इनका असली नाम था, पर 'मौज'-उपमान से कविता करते थे। इसके अतिरिक्त इनके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं। इनके कुछ छंद काव्य-संग्रहों में मिलते हैं। उनसे ज्ञात होता है कि इन्होंने कृष्णचरित पर मध्यकालीन भक्तों की शैली पर गोपीभावापन्न होकर फुटकर छंदों की रचना की है। उन्हींमें से एक यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

इतनी कोई कहो हमारी,
मनमोहन ब्रजराज कुंवर सों जा री।

पांव परस कर दरसन कीजो,
हूजो जोर दोउ कर ठारी॥

फिर पाछे इतनी कहि दीजो,
सुध लीन्हीं न एकहूं बारी।

फागुन आयो झाँझ-डफ बाजे,
भोर भई अति भारी॥

मोहिं तो आस तिहारे मिलन की,
भूल गई सुध सारी।
मोहिं गुलाल लाल बिन तोरे,
भई है रैन अँधियारी॥
अँसुवन कौ अब रंग बनो है,
नैन बने पिचकारी॥
बृन्दावन की कुंज-गलिन में,
ढूढ़त-ढूंढ़त हारो।
दैहो दरस मोहि अपनी 'मौज' से
ए हो कृष्ण-मुरारी॥
पिया! मोहि आस तिहारी॥

संपा.

रसरंग

रसरंग को कुछ विद्वान् झाँसी का निवासी मानते हैं, तो कुछ लखनऊ का। इनके जीवन-विषयक अन्य कोई विवरण प्राप्त नहीं है। इन्होंने उर्दू तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में राम-कृष्ण की रूपासक्ति-व्यंजक रचनाएँ की हैं। उनमें से एक प्रस्तुत है :

मेरे महबूब बांके ने,
चसम की चोट मारी है।
खड़ा है सामने ही में,
जरा नहि पलक टारी है॥

जिलाया उनी ने मुझको,
जिनों यह गांस मारी है।
तड़पता कधी ना जीता,
बिछोहा दर्द भारी है॥

संपा.

(मौलवी) लतीफ़ हुसेन 'नटवर'

मौलवी लतीफ हुसेन 'नटवर' तखल्लुस से कविता करते थे। यह स्वयं इसका प्रमाण है कि कृष्ण में इनकी गहरी आस्था की। इनके लौकिक जीवन के विषय में अन्य कई सूचना उपलब्ध नहीं है।

इनका एक छन्द नीचे दिया जाता है। इससे इनकी राष्ट्रीय एवं उदारवादी विचारधारा का पता चलता है :

किशुन तेरी गीता जगानी पड़ेगी।
नमाजी की हस्ती बचानी पड़ेगी॥

तअस्सुब की भुतनी जो सर पर चढ़ी है,
उसे मार-पिट के भगानी पड़ेगी॥

ये हिन्दू-मुसलमां असल में न दो हैं,
दुई ख़ुदगरज की मिटानी पड़ेगी॥

कुराँ जिसकी है पाक गीता भी उसकी,
छिपी यह कहानी जतानी पड़ेगी॥

मुहम्मद के कल्मे में मोहन की मुरली,
मधुर एक सुर में बजानी पड़ेगी॥

बने संग-असवद के बुत हैं हरम में,
यह बन्दों को महिमा बतानी पड़ेगी॥

अरब के मुसाफ़िर अब हैं हिन्दबासी,
न गठरी यहाँ से उठानी पड़ेगी॥

यहीं आबे-ज़मज़म है गंगा की घाटी,
उसी में डुबकियाँ लगानी पड़ेगी ॥
संपा.

वली मोहम्मद 'नज़ीर' अकबराबादी

'नज़ीर अकबरावादी' का मूल नाम 'वली मोहम्मद' था। ये १७४० ई० में दिल्ली में पैदा हुए थे। जब दिल्ली नगर अहमदशाह अब्दाली द्वारा आक्रान्त हुआ तो इनके पिता इन्हें साथ लेकर आगरा चले गये। इस तरह इनका पूरा परिवार आगरा में बस गया। इनकी शिक्षा अत्यन्त सामान्य थी। घर पर उन्हें मात्र फारसी का साधारण ज्ञान कराया गया, किन्तु अपने श्रम से उन्होंने उर्दू और फारसी में दक्षता प्राप्त कर ली। उसके बाद आगरे के एक स्कूल में कुछ दिन तक इन्होंने अध्यापन-कार्य किया। ये बड़े ही संतोषी जीव थे। अभावग्रस्त होते हुए भी लखनऊ के नवाब और भरतपुर के राजा के निमंत्रण पर आगरा छोड़कर नहीं गये। ये अत्यन्त मृदुभाषी, हँसमुख और मिलनसार थे। हिन्दू और मुसलमान सभी इनके प्रेमी थे। सभीसे हृदय से मिलते थे। हिन्दुओं के उत्सवों में उत्साह से भाग लेते थे। मज़हबी भेदभाव इन्हें छू तक नहीं गया था। इन्होंने १६ अगस्त १८३० ई० को शरीर छोड़ा, तब हजारों हिन्दू इनके जनाजे के साथ गये थे।

इन्होंने पूर्ववर्ती उर्दू-शायरों की पृथक्तावादी प्रवृत्ति से हटकर अमीर खुसरो द्वारा प्रदर्शित सांस्कृतिक संगम का मार्ग अपनाया। इस सम्बन्ध में ये लिखते हैं :

जब से शोख़ के फंदे में फँसे, टूट गये,
जितने थे मजहबो मिल्लत के जहाँ में बंधन।

इनकी शायरी का धरातल क्या, भाषा-शैली और क्या वर्ण्य-विषय, दोनों दृष्टियों से पूर्णतया भारतीय रहा। इन्होंने हिन्दुओं के पर्व-त्यौहार तथा भक्तों और अवतारों के चरित के साथ ही लौकिक जीवन की कठोर यथार्थता से सम्बद्ध-रोटी, बुढ़ापा, कामुक वृद्ध, कलियुग, आटे-दाल की फ़िक्र, कौड़ी का महत्त्व, मृत्यु की आमद, बनजारा, बुलबुल की लड़ाई, रीछ का बच्चा आदि विषयों पर कलम चलाकर लोकरंजन के साथ ही जो सदाचारपरक उपदेश एवं चेतावनी, सरल सुबोध भाषा में दी है, वह पूरी उर्दू शायरी में बेजोड़ है।

राधाकृष्ण की विविध क्रीड़ाओं, उनकी अवतार-लीला के रहस्यों, सुदामा एवं नरसी जैसे भक्तों के चरित तथा व्रज के पर्वोत्सवों का वर्णन इन्होंने जिस निष्ठा तथा भावमग्नता के साथ किया है, वह रसखान और आलम का स्मरण दिलाता है।

(१)

जन्म कन्हैया जी !

है रीत जनम को यूं होती,
जिस घर में बाला होता है।
उस मंडल में हर मन भीतर,
सुख चैन दो-बाला होता है ॥

सब बात बिथा की भूले हैं,
जब भोला भाला होता है।
आनंद मन्दीले बाजत हैं,
नित भवन उजाला होता है ॥

यूं नेक-नछत्तर लेते हैं,
इस दुनिया में संसार जनम।
पर उनके और ही लच्छन हैं,
जब लेते हैं औतार जनम ॥

फिर आया वाँ इक वक्त ऐसा,
जो आए गरभ में मन मोहन।
गोपाल मनोहर मुरलीधर,
सीकिश्न किशोरी कँवल नयन।
घनश्याम मुरारी बनवारी,
गिरधारी सुन्दर श्याम बरन।
प्रभुनाथ बिहारी कान्ह लला,
सुखदायी जग क दुख भजन ॥

सब साअत परगट होने की,
वाँ आई मुकट धरय्या की।

अब आगे बात जनम की है,
जय बोलो किशन कन्हैया की।
था नेक महीना भादों का,
और दिन कुछ गिनती आठन की।
फिर आधीरात हुई जिस दिन,
और हुआ नछत्तर रोहनी की॥
सब साअत नेक मुहूरत से,
वाँ जन्मे आकर किशन जभी।
उस मंदिर की अँधियारी में,
जो और उजाली आन भरी॥
वसुदेव से बोली देवकीजी,
मत डर भय मन में खेद करो।
इस बालक को तुम गोकुल में,
ले पहुँचो और मत देर करो॥
नंद और जसोदा बालक को,
वाँ हाथों छावों में रखते।
नित प्यार करे तन मन वारें,
सुथरी अबरन गहने वन के॥
जी बहलाते मन परचाते,
और खूब खिलौने मँगवाते।
हर आन झुलाते पालने में,
वह ईधर औ ऊघर बैठे॥
कर याद 'नज़ीर' अब हर साअत,
उस पालने और उस भोले की।
आनंद से बैठो चैन करो,
जय बोलो कान्ह झंडोले की॥

(२)

कन्हैया का बालपन

यारो, सुनो ये दधि के लुटैया का बालपन।
औ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन॥
मोहन सरूप नृत्य-करैया का बालपन।
बन बन के ग्वाल गौएँ चरैया का बालपन॥

ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन।
क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

उनको तो बालपन से न था काम कुछ ज़रा।
ससार की जो रीत थी उसको रखा बजा॥

मालिक थे वह तो आपी, उन्हें बालपन से क्या।
वाँ बालपन, जवानी, बुढ़ापा सब एक था॥

ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन।
क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन॥

परदा न बालपन का वह करते अगर ज़रा।
क्या ताब थी जो कोई नज़र भरके देखता॥

झाड़ और पहाड़ देते सभी अपना सिर झुका,
पर कौन जानता था जो कुछ उनका भेद था॥

ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन,
क्या क्या कहूं मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

सब मिलके यारो कृष्ण मुरारी की बोलो जय,
गोविन्द छैल कुंजबिहारी की बोलो जय॥

दधि-चोर गोपीनाथ बिहारी की बोलो जय,
तुम भी 'नज़ीर' कृष्ण मुरारी की बोलो जय॥

ऐसा था बांसुरी के बजैया का बालपन।
क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैया का बालपन॥

(३)

रासलीला

क्या आज रात फ़रहतो इशरत असास है।
हर गुल-बदन का ज़रीं व रंगीं लिबास है॥

महबूब दिलबरों का हुजूम आसपास है।
बज़्मे-तरब है ऐश है-फूलों की बास है॥

हर आन गोपियों का यही सुख बिलास है।
देखो बहार आज कन्हैया की रास है॥

नाचे हैं इस बहार से बन ठन के नन्दलाल।
सर पर मुकुट बिराजै है पोशाक तन में लाल॥

हंसते हैं छेड़ते हैं हर इक को दिखा जमाल।
सखियों के साथ देख के यह कान्हजी का हाल॥

हर आन गोपियों का यही सुख बिलास है।
देखो बहार आन कन्हैया की रास है ॥
हंसती हुई जो फिरती हैं साथ उनके गोपियां।
है उनमें राधा ऐसी की तारों में चन्द्रमां ॥

करती है कृष्णजी से हर एक आन आनबां।
आपुस में उनके रम्ज़ो-इशारात करके ध्यां ॥

हर आन गोपियों का यही सुख बिलास है।
देखो बहार आज कन्हैया की रास है ॥

(४)

बलदेव जी का मेला

आज मेले का है जो यां सामान।
आए हैं दूर दूर से इन्सान ॥
कोई दर्शन कोई दुआएं मान।
सब की होती हैं मुश्किलें आसान ॥

हर तरफ़ खिल रहे गुल-ओ-रैहान।
हार बग्घी मिठाई औ पकवान ॥

भीड़ अंबोह गुल दुकान दुकान।
और यही शोर हर घड़ी हर आन ॥

रंग है रूप है झमेला है।
जार बलदेवजी का मेला है ॥

(५)

रुक्मिणी-हरण-लीला

ऐ बिर्जराज कृष्ण मनोहर मदन गोपाल।
मैं दर्शनों की आप के मुश्ताक हूँ कमाल ॥

दिनरात तुमसे मिलने की रहती हूँ मैं निढाल।
दरशन से अपने मुझको भी आकर करो निहाल ॥

सब ध्यान में तुम्हारे ही रहता है मन लगा।

• • •

ज्यूं-ज्यूं वो हरि के आने में वां देर होती थी ॥
कोठे पर अपने रुक्मिनी वां चढ़ के रोती थी।
तकती थी हरिकी राह न खाती थी न सोती थी ॥

बेकल की तरह फिरती थी और होश खोती थी।
कुछ रुक्मिनी से रोने सिवा बन न आता था ॥

सिसुपाल और रुकुम का हुआ जब ये हालवां।
बलदेव जी ने उनके कटक सब भगा वां ॥

ले रुक्मिनी को हरि हुए फिर द्वारका रवां।
जब आन पहुँचे खुश हुए सब नर औ नारियां ॥
देखा जमाल उनका तो पाया बहुत भला ॥

(६)

बयान सीकिश्न व नरसी भगत

सब तज दिया हर ध्यान में यह प्रीत का ठहरा जतन।
करते भजन सी किशन का हर हाल में रहते मगन ॥

नरसी की परसी हो गई देकर मदन मोहन को मन।
चाहत से साँवल-शाह की अपना भुलाया तन बदन ॥
सब भक्त बातें साधली जो इष्ट में दरकार है ॥

• • •

मन में जो नरसी खुश हुए सब साधु यह कहने लगे।
सब हमने भर पाये रूप और हरि के दर्शन भी किये ॥

हुंडी बड़ी लिखते रहो हरि ने कहा है आपसे।
नरसी यह बोले उनसे वां अब किससे होकर पास के ॥
जो जो कहा सब ठीक है वह तो महा औतार है ॥

नरसी की साँवल-शाह ने जब इस तरह की पत रखी।
और यों कहा आगे को तुम लिखते रहो हुंडी बड़ी ॥

बलिहारी नरसी हो गये सीकिश्न ने यह कृपा की।
जिसको 'नज़ीर' ऐसों की है जी जान से चाहत लगी ॥
वह सब तरह हर काल में उसके निबाहे कार हैं ॥

(७)

श्री कृष्ण की बांसुरी

जब मुरलीधर ने मुरली अपने अधर धरी।
क्या क्या परेम प्रीत भरी उसमें धुन भरी ॥

लै उसमें राधे राधे की हरदम भरी खरी।
लहराई धुन जो उसकी इधर औ उधर जरी ॥

सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी।
ऐसी बजाई कृष्ण कन्हैया ने बांसुरी ॥

मोहन की बांसुरी के मैं क्या क्या कहूँ जतन।
लै उसकी मन की मोहिनी धुन उसकी चित हरन ॥

उस बांसुरी का आन के जिस जां हुआ बजन।
क्या जल पवन 'नज़ीर' पखेरू व क्या हिरन॥
सब सुनने वाले कह उठे जै जै हरी हरी।
ऐसी बजाई कृष्ण कन्हैया ने बांसुरी॥

(८)

हरि की तारीफ

मैं क्या क्या वस्फ कहूँ यारो
उस स्याम बरनऔतारी की।

श्री कृष्ण कन्हैया मुरलीधर
मनमोहन कुंजबिहारी को॥

गोपाल मनोहर सांवलिया
घनश्याम अटल बनवारी की।

नंदलाल दुलारे सुंदर छब
ब्रजचंद मुकुट झंकारी की॥

नित हरि भज, हरि भज, रे बाबा!
जो हरि से ध्यान लगाते हैं।

जो हरि की आसा रखते हैं
हरि उनकी आस बचाते हैं॥

जो भगती है सो उनको तो
नित हरिका नांव सुहाता है।

जिस ज्ञान में हरि से नेह बढ़े
वह ग्यान उन्हें खुश आता है॥

मन उनका अपने सीने में
दिनरात भजन ठहराता है।

सुख मन में उनके आता है
दुख उनके जी से जाता है॥

स.सं.
संपा.

वहाब

वहाब के जीवन-वृत्त के संबन्ध में प्रामाणिक सूचनाओं का अभाव है। बारामासा-शैली में लिखी इनकी कृष्ण-विषयक एक रचना मिलती हैं। उससे पता चलता है कि इनके गुरु का नाम 'मुहम्मद' था। उपर्युक्त 'बारामासा' से गोपी-विरह प्रसंग की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :

सखी री जेठ ये अब को बचेगा।
जबै वह घाम सिर ऊपर तपेगा॥
तिहूँ पर आग ना तन की बुझानी।
हुआ जरि स्याम सब जमुना का पानी॥

पड़े जल में अगिनि के जो फफोले।
सखी पूछे सभी लागो मलोले॥
कठिन पापी हमारा जीव है री।
एते दुख पर सखी घट पर रमै री॥

न भावे धूप ना छाहीं हमन को।
पवन पानी अधिक जारे हमन को॥
कहूं किससे सखी अपनी कहानी।
गिरीषम रितु हमें ऐसी बितानी॥

असाढ़ब साजि के दल मुझको घेरा।
कहो घनश्याम से जा हाल मेरा॥
नगारे मेघ के बाजे गगन पर।
बिरह की चोट मारी मेरे मन पर॥

लगे झींगुर नफीरी-सी बजावन।
पिया बिनु कान की चिनगी उड़ावन॥
कहानी का सखी जो भेद पावै।
सकल जगतन के पिव का ध्यान आवै॥

कहै 'ओहाब' सो परवीन चेला।
मुहम्मद है गुरू जिसका अकेला॥

संपा.

वाजिन्द

वाजिन्द के जीवन के विषय में कोई विश्वसनीय सामग्री प्राप्त नहीं होती। जनश्रुति के अनुसार ये बलख के राजकुमार थे। वहाँसे सेना के साथ भारत आते हुए मार्ग में इनकी फौज का एक ऊँट मर गया। इस घटना से इन्हें जीवन की क्षणभंगुरता का भान हुआ और सब कुछ त्याग कर फकीर हो गये। इसमें तथ्य कितना है, यह कहना कठिन है।

रचनाओं को देखने से पता चलता है कि इनका हृदय विरक्ति की उत्कट लहरों से उद्वेलित रहता था। इनकी भाषा में हिन्दी और फ़ारसी के साथ पंजाबी शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इससे उपर्युक्त जनश्रुति का अंशतः समर्थन हो जाता है।

आध्यात्मिक चिंतन में उदार होने के कारण इन्होंने कृष्ण के प्रति भी अपनी आस्था व्यक्त की है। कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं :

बार बार नर देह कहो कित पाइए।
गोविन्द के गुन-गान कहो कब गाइए॥
मत चूके अवसान अबे तन मां धरै।
पाणी पेनी पाल अग्यानी बांधरे॥

खान और सुलतान बड़े जग कावते।
देश विदेशा माझ जे हुकुम चलावते॥
खाग तणे बल भोम बया की साड़ियां।
जीव भये जम झाल मिले तन माटियां॥

करते रंग बिलास बैठकूं छेड़ियां।
मरद छरद मनवार कसुंबो केरियां॥
भोजन नवली भात सावदू साक के।
उड़ गए तूर समूर के जैसे आक के॥

यह दुनिया 'बाजिन्द' पलक का पेखना।
यामें बहुत बिकार कहौ क्या देखना॥
सब जीवन का नीव जगत आधार है।
जो न भजे भगवंत छठी में छार है॥

संपा.

शकील बदायूंनी

'शकील' का जन्म उत्तर प्रदेश के बदायूँ नगर में हुआ था। उर्दू के आधुनिक कालीन लोकप्रिय शायरों में इनका अपना अलग स्थान है। इनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार आकर्षक फिल्मी गीतों की रचना है।

इनका कृष्ण की पनघट लीला सम्बंधी एक गीत नीचे दिया जा रहा है :

मोहे पनघट पे नन्दलाल छेड़ गयो री।
मोरी नाजुक कलइया मरोरि गयो री॥ मोहे०

कंकरी मोहि मारी, गगरिया फोरि डारी,
मोरी सारी अनारी भिगोय गयो री॥ मोहे०

नयनों से जादू कियो जियरा मोह लियो।
मोरा घूंघट नजरिया से मोड़ गयो री॥ मोहे०

संपा.

शम्स वली अल्लाह 'वली' (दकनी)

इनका वास्तविक नाम 'शम्स वली अल्लाह' था, 'वली' तखल्लुस (उपमान) था। ये अहमदाबाद (दक्षिण) के एक प्रसिद्ध मुस्लिम सन्तकुल में पैदा हुए थे। इन्होंने घर पर ही फ़ारसी की साधारण शिक्षा प्राप्त की थी। दिल्ली के मुगल बादशाह मुहम्मद शाह के शासन-काल में ये 'अबुल आला' नामक व्यक्ति के साथ अहमदाबाद से दिल्ली चले गये और वहाँ सैयदुल्लाह गुलशन नामक प्रसिद्ध फारसी के कवि के मुरीद (शिष्य) हो गये। इनके ज्ञानार्जन का मुख्य साधन पर्यटन और विद्वानों का संसर्ग था।

वली उर्दू के प्रथम कवि माने जाते हैं। इनके पूर्ववर्ती मुसलमान कवियों की काव्य-भाषा फारसी या हिन्दवी थी। व्रज-भाषा तथा अवधी में भी उनकी रचनाएँ प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। किन्तु इन्होंने दरबारों में बोली एवं समझी जानेवाली फ़ारसी-बहुल हिन्दीभाषा में काव्य लिखना आरम्भ किया जो आगे चलकर 'उर्दू' नाम से प्रसिद्ध हुई। फकीरों के वंश में उत्पन्न होने के कारण इनकी कविता में आध्यात्मिकता का पुट स्थान-स्थान पर मिलता है। इनकी रचनाओं का सूफ़ियाना अंदाज इसी का प्रसाद है।

उर्दू-साहित्य को इनकी सबसे बड़ी देन है फ़ारसी के स्थान पर देशभाषा के रूप में उर्दू का स्वरूप निर्माण। एक नयी शैली का आदर्श प्रस्तुत करके इन्होंने भावी साहित्यकारों के लिए नवीन पथ का प्रवर्तन किया।

इनके देहावसान-काल के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं हैं।

'रिसाला नूरूल मार्फ़त-तसव्वुफ़' नामक इनकी रचना से पता चलता है कि ये सूफ़ियों के सुहरावर्दिया सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

इनके कृष्ण-प्रेम तथा अध्यात्म विषयक दो छंद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

लिया है जब से मोहन ने तरीक़ा ख़ुदनुमाई का।
चढ़ा है आरसी पर तब से रंग हैरत फ़ज़ाई का॥

(२)

बेवफाई न कर खुदा सूं डर।
जग हंसाई न कर ख़ुदा सूं डर॥

है जुदाई में ज़िंदगी मुश्किल।
आ जुदाई न कर खुदा सूं डर॥

उस सूं जो आश्नाई डर कर है।
आश्नाई न कर खुदा सूं डर॥

संपा.

'शाद'

शाद 'तखल्लुस' के कई शायर हुए हैं। इनमें से कृष्ण पर काव्यरचना करनेवाले कौन हैं, यह निश्चयपूर्वक बताना कठिन है।

इस उपनाम के रचनाकारों में 'शाद अज़ीमाबादी' सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इनका ग़ज़ल तथा रुबाई-शैली पर असाधारण अधिकार था। संयोगवश कृष्ण पर 'शाद' की जो रचना प्राप्त है वह रुबाई से मिलती-जुलती है। अतः वह इन्हींकी कृति हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इनका जन्म १८४६ ई० में अज़ीमाबाद (पटना-बिहार) में हुआ था। शायरी का शौक बचपन से ही था। बड़े होने पर ये शाह उल्फ़त हुसेन के शागिर्द हो गये। अभ्यास तथा प्रतिभा के बल पर इन्होंने ग़ज़ल, क़सीदा, क़िता, मरसिया, सलाम आदि शैलियों में लगभग ५० पुस्तकें लिखीं और इस प्रकार उर्दू काव्य की विभिन्न विधाओं में दक्षता प्रमाणित की। इनकी शायरी में 'मीर' की तरह आद्योपान्त 'ग़म' व्याप्त है जिससे इनका कलाम 'अलमिया' माना जाता है। इनका शरीरान्त १८२७ ई० में पटना में हुआ।

'दान-लीला' पर इनका एक छन्द नीचे दिया जाता है :

मोरी डगर चलत पत लीनी आज।
तुम्हें श्याम बिहारी न आवे लाज॥

कर बरजोरी मोरी बंहियां मरोरी,
ऐसी ढिठाई पर परे री गाज॥

सब ग्वालिन सों दान मांगतु हैं,
क्या ब्रज में है तुम्हारो राज?

'शाद' पिया हरि के गुन गावो,
याहो ते सब तोरे बनिहै काज॥

संपा.

सनद

सनद के जीवनसम्बन्धी कोई सूचना प्राप्त नहीं है। इनके उपलब्ध छन्दों से यह प्रतीत होता कि ये शास्त्रीय संगीत के अच्छे जानकार थे। कृष्ण की 'पनघट-लीला' विषयक इनके दो छंद प्रस्तुत हैं :

(१)

सखी अब क्या करूँ न माने री,
मोर मुकुट वाला ढीठ लंगरवा।
डगर चलत, पनिया भरत मोसे करत ठठोरी॥

सनद पिया मोरा नेक न मानै,
बरज थकी बार बार आय करत बरजोरी॥

(२)

मैका डगर चलत दीन्हीं गारी रे।
ऐसो ढीठ बनवारी गुइयां,
बिनती सकल करि हारी रे॥

नीर भरन सब सखियन संग मिलि,
चली हौं धाय सो प्यारी रे।
'सनद पिया' मग छेंक खड़ा मुझे,
निरखत सगरी पनिहारी रे॥

संपा

सबा मथुरावी

ब्रज-भूमि ने जहाँ 'सूरदास' और 'रसखान' जैसे महाकवियों के काव्य को विचार और भाव सामग्री देकर अमरत्व प्रदान किया, वहाँ कुछ उर्दू शायरों के कलाम को भी चार चाँद लगाये। इस भूमि की यह विशेषता है कि जो भी एकबार इसकी छटा देख लेता है, वह इसे भूल नहीं सकता। राधा-कृष्ण की प्रेमलीला, वन-उपवन, तड़ाग और कुंज-गलियों में ऐसा आकर्षण है कि जो एकबार यहाँ आता है, उसका मन यहीं रम जाता है। यदि किसी कारणवश कहीं चला भी जाता है तो कुछ ऐसी स्मृतियाँ साथ ले जाता है जो उसे जीवनभर तड़पाती रहती हैं। फिर जो कवि है, सहृदय है, वह यदि यहाँके वन-उपवन की बहार, प्रकृति की छटा और यमुना-किनारे घाटों पर आरती के समय जलती दीपमाला को देख लेगा वह सदाके लिए अपने दिल-दिमाग में कुछ अमर चित्र सँजो लेगा, जिन्हें वह गर्दन झुकाकर किसी भी समय देख सकता है।

कृष्ण-नगरी के एक ऐसे ही भक्त हैं, 'सबा' मथुरावी जो देशविभाजन के बाद पाकिस्तान चले गये थे। पाकिस्तान में रहते हुए भी इनके दिल-दिमाग पर राधा-कृष्ण के लीलास्थल, कृष्ण की बाँसुरी, कदम्ब-करील, आरती के समय दीपमाला की जगमगाहट जैसे दृश्य कुछ इस प्रकार अंकित रहे कि ये सोते-जागते इस नगरी का सजीव चित्र देखते और व्रज में बसे अपने मित्रों, शिष्यों और सम्बन्धियों को अपनी मधुर स्मृतियों से विभोर करते रहे।

'सबा' मथुरावी व्रज के एक क़दीम ख़ानदान से ताल्लुक़ रखते हैं जो मुगल-काल में यहाँ आकर बस गया था और दीन-धर्म तथा पूजा-पाठ में ही अपना समय व्यतीत करता था। इनके पिता ईदगाह में ईद-बकरईद की नमाज़ों का खुतबा पढ़ते थे। यह वही ईदगाह है जो आज भी कृष्ण-जन्मस्थान के निकट खड़ी है और पूरे संसार को भारत की धार्मिक सहिष्णुता का परिचय कराती है।

'सबा' साहब का जन्म मथुरा में १९१६ ई० में हुआ था। इनकी शिक्षा-दीक्षा आगरे में हुई और वहीं से इन्हें शेरोशायरी का शौक लग गया। इनके घर का वातावरण पाक साफ एवम् धार्मिक था। अतः इनका काव्य भी पाक-साफ़ और धार्मिक है। ये अपना समय पठन-पाठन में व्यतीत करते थे। 'सीमाब' अकबरबादी से इन्होंने काव्य की शिक्षा ग्रहण की और शीघ्र ही इस कला में प्रवीण हो गये। १९४० ई० में 'सीमाब' साहब ने इनको आशीर्वाद देते हुए कहा था कि 'अब तुम्हें इस्लाह की जरूरत नहीं है। तुम बहुत अच्छे शेर कहने लगे हो।' उन्होंने कुछ दिनों बाद फिर कहा, 'मैं तुम्हारे मुस्तक़बिल से बहुत पुरउम्मीद हूँ। तुम्हारी गज़लें और नज़्में, दोनों आगरा स्कूल की नुमाइन्दगी करती हैं।'

पाकिस्तान में काम करते हुए इनके अध्ययन तथा काव्यरचना का क्रम अबाधगति से चलता रहा। अबतक इनकी एक दर्जन से अधिक पुस्तकें छप चुकी हैं। इनके काव्य में धर्म और नीति की बात अधिक होती है। इन्होंने नज़्में, गज़लें, रुबाइयाँ, यात्रा-वर्णन, इतिहास, आलोचना तथा कहानियाँ सभी कुछ लिखा है। इनकी भाषा सरस और सरल उर्दू है जिसमें ये व्रजभाषा के शब्दों का भी खूब प्रयोग करते हैं। इनके काव्य में 'शराब' का जिक्र नहीं है, 'गुल' और 'बुलबुल' के किस्से भी नहीं है, हाँ प्रेम-मुहब्बत का ज़िक्र ज़रूर है।

देश-विभाजन के बाद इनका शरीर अवश्य पाकिस्तान में रहा, किन्तु इनकी आत्मा व्रज के गली-कूचों में ही रमी रही। यमुना-किनारे आरती के दीपों का प्रकाश इनकी आँखों में बसा रहा, कृष्ण की बाँसुरी की सदाएँ इनके कानों में गूँजती रहीं और कृष्ण-नगरी की स्मृति से इनके दिल-दिमाग प्रकाशित रहे। ब्रजभूमि से इतना प्रेम सर्वसाधारण कृष्ण-भक्तों में कम देखने को मिलता है। अपने इस प्रेम को इन्होंने रचनाओं में और काव्यबद्ध पत्रों में भलीभाँति प्रकट किया है। 'सबा' साहब ने अपना बचपन और जवानी यमुना की रेत और लहरों से खेलते

हुए गुज़ारी है, इसलिए इनके भाव-भरे पत्रों में मुरली की तान, व्रजबालाओं के अरमान, यमुना की लहरों का संगीत, गोप-गोपियों के गीत, राधा-कृष्ण का प्रेम और व्रज का मानव-प्रेम-संदेश, सभी कुछ समाविष्ट है।

२५ जनवरी १९७८ के अपने एक पत्र में यमुना किनारे के दीपों के प्रकाश का इन्होंने बड़ा ही सुंदर चित्रण किया है :

दूर होकर भी हूँ मैं शहरे नरारों में मुकीम,
ज़र्रा-ज़र्रा है जहाँ हुस्नो-मुहब्बत का चिराग़।
जिसका हर एक कुंज है कन्दील ज़ौक़े आगही,
जिसका हर एक घाट है इरफ़ान-ओ-हिकमत का
चिराग़॥

जिसकी जमुना में दिये वहते हैं मेरे शौक़ के,
जिसका हर एक क़तरा है मेरी हसरत का चिराग़।
मन्दिरों में जिसके रोशन शान्ति की शमा-ऐ-शौक़,
मस्जिदों में जिसकी जलता है मुहब्बत का चिराग़॥

'सबा' मथुरावी ने अपने बचपन और जवानी में 'कुंज-गलिन' की सैर की है और पग-पग पर कृष्ण और राधा की मुहब्बत के नक्श देखे हैं। ये नक्श इनके हृदय-पटल पर स्थायी रूप से अंकित हैं :

कृष्ण-नगरी तुझ पे हों लाखों सलाम,
तू है मेरा मरकज़े महरो वफ़ा॥

बाँसुरी से तेरी फूटे हैं जो गीत,
सुन रहा हूँ आज भी उनकी सदा॥

ये कृष्ण-नगरी का गुणगान करते अघाते नहीं, उसके प्रति अपनी मुहब्बत की बात बड़े ही काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं। निम्नांकित पंक्तियों में व्रज के सौन्दर्य को इन्होंने किस प्रकार उजागर किया गया है :

कृष्ण-नगरी साँवली सुन्दर अदाएँ हैं तेरी,
कृष्ण की नगरी है तू तेरी मलाहत को सलाम।
बंसरी उलफत की बजती है हवाओं में तेरी,
भीगी-भीगी इन हवाओं की लताफ़त को सलाम॥
मस्जिदों में तेरे जलवे मन्दिरों में तेरे हुस्न
हुस्न की पाकीज़ा नगरी तेरी अज़मत को सलाम॥

देश का विभाजन दुर्भाग्य ही था, किन्तु एक व्रजवासी के दिल में व्रज के प्रति जो श्रद्धा और प्रेम है वह कभी नहीं बँट सकता। इस तथ्यको भावात्मक रूप में प्रस्तुत करते हुए ये लिखते हैं :

हो गये तकसीम गो दीवारो दर,
बँट नहीं सकती मुहब्बत तो मगर।
दिल से दिल को आज भी एक राह है।
पूछने वालों के दिल में चाह है॥

जीवन की सांध्यवेला में शय्याग्रस्त होते हुए भी इनके दिल में 'दिल की जन्नत' मथुरा नगरी को सलाम करने की तीव्र इच्छा बनी रही, मथुरा आने, यहाँ के फल-फूल, पशु-पक्षी और कुंज-तड़ाग निहारने की लालसा सँजोए रहे। अपने मित्रों एवम् शुभचिन्तकों को ये पाकिस्तान में रहते हुए यही लिखते रहे कि वे इनके स्वास्थ्य-लाभ के लिए दुआ करें :

अजब आलम है अब बे रंगियों का,
शगुफ़्ता दिल नहीं है ख़स्ता तन में।
गुलों की आरज़ू हो काश पूरी,
दुआ कीजिये 'सबा' आये चमन में॥

इधर कई वर्षों से इनका पत्राचार बंद है। अन्य स्रोतों से भी इनके अस्तित्त्व विषयक कोई सूचना उपलब्ध नहीं है।

ज.ह.

सलीम शहज़ाद

सलीम शहज़ाद उर्दू कविता के आधुनिक दौर के गीतकार हैं। कृष्ण-प्रेमव्यंजक इनका एक मधुर गीत नीचे दिया जाता है :

महका बसंत, नार का जोबन गली-गली।
बरसा जो आज टूट के सावन गली॥
क्या ढूंढता है जाने मेरा मन गली-गली ?
जोगी है एक और है आसन गली-गली॥

नक्शा हरेक घर का मेरे घर-सा हो गया,
किसने लगा दिये हैं ये दर्पन गली-गली।
बालों में जिसने फूल लगाया था भूल से,
बदनाम हो गई वो पुजारन गली-गली॥

बासी यहाँ के इससे भी महरूम न कर दें,
फिरता है क्यों पसार के दामन गली-गली।

जीवन-किशन की खोज में फिरती है बावली,
मीरा-समान आज की जोगन गली-गली॥

अब तो गली-गली में है सीता-हरण का रास,
इस युग में पाये जाते हैं रावण गली-गली।

सब गीत मैंने एक मुसाफ़िर को दे दिये,
बनकर सदा फिरे है मेरा फ़न गली-गली॥

पग पग पे रंग-रूप का जादू चले 'सलीम',
लगता है आज मुझको मधुबन गली-गली॥

संपा

सुलतान

सुलतान के जीवन तथा रचनाओं के विषय में कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। प्राचीन संग्रहों में कुछ फुटकर अशआर संग्रहीत हैं। उन्हीं में से श्रीकृष्ण की रूपासक्ति-विषयक इनकी कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :

मोरा चतुर स्याम सों मन अटका।
बताओ गुइयां कोई जादू टोटका॥
'सुलतान' पिया बिन चैन न आवे।
मोरा मन है रहत भटका भटका॥

हाफ़िज़

हाफ़िज साहब का जीवनवृत्त अज्ञात है। प्राचीन काव्य-संकलनों में इनकी फुटकर रचनाएँ मिलती हैं।

व्रज में गोपियों के साथ कृष्ण के होली खेलने का एक दृश्य प्रस्तुत करते हुए ये लिखते हैं :

रंग नयो तेरो ढंग नयो तूं,
कान्हा नयो तेरी आन नई है।
तेरी सभा सब रंग रंगीली,
हरि को धुन औ शान नई है।

याके रूप को कौन पहचाने,
ध्यान सो हरि की पहचान नई है।

'हाफ़िज़' छली ने होरी में मोही,
मुरली नई तेरी तान नई है॥

संपा.

हामिदुल्ला 'अफ़सर मेरठी'

श्री हामिदुल्ला रचना में अपना तखल्लुस 'अफ़सर' रखते थे। इनका जन्म सन् १८९८ ई० में मेरठ में हुआ था। अरबी और फ़ारसी भाषा का पर्याप्त ज्ञान इन्होंने विद्यालय जाने के पहले घर पर ही प्राप्त कर लिया था। मेरठ कालेज से इन्होंने बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद ये उत्तर-प्रदेश सरकार के शिक्षाविभाग में नियुक्त हो गये। इन्होंने गवर्नमेण्ट जुबली कालेज लखनऊ में उर्दू के प्रवक्ता पद पर सेवा-निवृत्त होने तक अध्यापन-कार्य किया। सन् १९७४ ई० में इनका देहान्त हो गया।

'अफ़सर' साहब की गिनती अपने समय में उर्दू के प्रसिद्ध शायरों में होती थी। राष्ट्रप्रेम की भावना इनकी कविता का मुख्य स्वर है। यही राष्ट्र-प्रेम 'कृष्ण-जन्माष्टमी' के बहाने इनकी निम्नांकित कविता में उजागर हुआ है :

हुस्न ने पैग़म्बरी का रूप धारा ब्रज में,
इश्क़ के बल रास्ता सीधा दिखाने आये हैं।
सलोनी मोहनी सूरत के मालिक ऐ कृश्न!
दिन विलादत का तेरा हम भी मनाने आये हैं॥

ख़्वाबे-ग़फ़लत से जगाता था हमेशा तू जिन्हें,
आज तुझको ख़्वाब-ए-राहत से जगाने आये हैं।
बाँसुरी तेरी फिर ऐसे राग बरसाने लगे,
फिर फ़ज़ाओं में वतन का प्रेम लहराने लगे॥

स. सं.

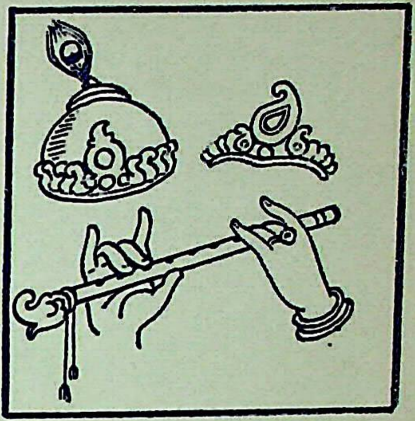

कर्नाटक में कृष्णभक्ति का विकास

—डा० एन० एस० दक्षिणामूर्ति

कर्नाटक के कृष्ण-भक्त

—डा० एन० एस० दक्षिणामूर्ति

—सुश्री भा० य० ललिताम्बा

कर्नाटक में कृष्णभक्ति का विकास

श्रीमद्भागवत में निर्दिष्ट 'उत्पन्ना द्राविडे साऽहं वृद्धि कर्णाटके गता' उक्ति प्रसिद्ध है, जिससे यह स्वयमेव स्पष्ट है कि कर्नाटक की भूमि अत्यन्त प्राचीन काल से भक्ति की दिव्य परम्परा के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। कर्नाटक सच्चे अर्थों में 'भारत की समस्त धार्मिक विचारधाराओं का प्रतिनिधि' कहा जा सकता है। यहाँ धार्मिक समन्वय के भी अनेक प्रयत्न हुए हैं। इस प्रदेश की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों ने शैव, वैष्णव, शाक्त आदि विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायों की वृद्धि एवं प्रसार में अपूर्व योगदान दिया है।

अत्यन्त प्राचीन काल से यहाँ सगुणोपासना की पद्धति प्रचलित रही है। भागवत-धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ ही यहाँ विष्णु या कृष्ण की उपासना के सूत्रपात के प्रमाण मिलते हैं। कर्नाटक के प्राचीन शिलालेखों में ऐसे श्लोक मिलते हैं जो विष्णु के स्तुतिपरक हैं, और ऐसे भी श्लोक द्रष्टव्य हैं जिनमें हरि-हर के अभेद-रूप की वन्दना की गयी है। उपलब्ध शिलालेखों में प्रथम उल्लेख्य 'हल्मिडि शिलालेख' में, जो सन् ४५० ई० का है, भगवान् विष्णु की स्तुति की गयी है जिसका हिंदी रूपांतर इस प्रकार है :

'दानवों के लिए प्रलयकालीन अग्नि के समान तथा सत्पुरुषों के लिए सुदर्शन के समान, लक्ष्मी से आलिगित, शार्ङ्ग नामक धनु को धारण किये हुए अच्युत जय प्राप्त करता है।' (एन० ए० आर०, १९३६ ई०, पृ० ७३)

कर्नाटक में विष्णु के प्रायः सभी प्रमुख अवतारों की उपासना प्रचलित है। भगवान् वराह के अवतार की स्तुति शिलालेखों में (द्रष्टव्य : 'एपिग्राफिया इंडिका' भाग १२,पृ० ३२९) देखी जाती है। ग्यारहवीं शती के एक शिलालेख (एपिग्राफिया इंडिका, भाग १३, पृ० २९०) में श्रीकृष्ण का नामस्मरण करते हुए शिलालेख का प्रारम्भ 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' से किया गया है। 'बेलूरु' के शिलालेख में बताया गया है कि वांछित फल प्रदान करनेवाले श्रीकेशव नाना धर्म-सम्प्रदायवालों से, अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार नाना रूपों में उपासित होते हैं (द्रष्टव्य : एपिग्राफ़िया कर्नाटिका भाग ५, बी १३, पृ० १४२, सन् १९३७ ई०)। शैव और वैष्णव धर्मों की अभिन्नता की घोषणा भी कुछ शिलालेखों में की गयी है (द्रष्टव्य : एपिग्राफिया कर्नाटिका भाग २, ए स.बी १३६, सन् १३६८ ई०, पृ० १२९)।

बारहवीं शती के पूर्व कन्नड़ में हिन्दू-परम्परा के अनुसार कृष्ण-साहित्य का निर्माण हुआ हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। अद्यावधि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर कर्नाटक में वैष्णव-भक्तिधारा को प्रवाहित करने का श्रेय रुद्रभट्ट को मिलना चाहिए जिनका 'जगन्नाथ-विजय' ग्रंथ भक्ति की दृष्टि से ही नहीं, साहित्यिक दृष्टि से भी कन्नड़-साहित्य के अनुपम ग्रंथों में है। रुद्रभट्ट अद्वैतवादी, स्मार्त और श्रोत्रिय ब्राह्मण थे। उनके 'जगन्नाथ-विजय' में स्मार्त-सम्प्रदाय के अनुसार विष्णु अथवा कृष्ण की स्तुति के साथ-साथ शिव शक्ति, सूर्य और गणपति की भी वंदना की गयी है। विष्णु की महत्ता का उद्घोष करना ही उनके काव्य का मूल उद्देश्य है। यह बात उनके इस कथन से सुस्पष्ट हो जाती है कि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के सृष्टि, स्थिति तथा लय के कारक होते हुए भी विष्णु ही आदिमूल हैं।'

रुद्रभट्ट ने अपने बारे में कुछ नहीं कहा है। केवल यह बताया है कि "चन्द्रमौलि प्रभृति विद्वान् प्रसन्न हो जाएँ, इस प्रकार 'शरदाभ्र चंद्रातप रुद्र' ने कृष्ण-कथा कही।" श्रवण बेलगोल के शिलालेख से ज्ञात होता है कि चन्द्रमौलि नामक विद्वान् कर्नाटक-नरेश वीरबल्लाल (सन् ११७२-१२१९ ई०) के मंत्री थे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि बारहवीं शती में रुद्रभट्ट विद्यमान थे और वे वीरबल्लाल के समकालीन थे। यद्यपि यह बताना कठिन है कि वे दरबारी कवि थे या नहीं तथापि इतना कहा जा सकता है कि उन्होंने राजा को प्रत्यक्ष देवता मानकर और उनमें भगवान् शिव के गुणों का अन्वयकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है।

रुद्रभट्ट के परवर्ती कवियों ने उनकी प्रशंसा की है। उनके द्वारा रचित दो ग्रंथों में 'जगन्नाथ-विजय' उपलब्ध है, जब कि 'रसकलिका' (रस-विषयक ग्रंथ) अनुपलब्ध है। 'जगन्नाथ-विजय' अठारह आश्वासों का बृहत् प्रबन्धकाव्य है। वह चम्पू-शैली में है। चम्पू-शैली कन्नड़ की विशेषता है। विष्णु-पुराण के आधार पर कृष्णकथा का वर्णन ही उस काव्य का उद्देश्य है। भक्ति-भावना से प्रेरित होकर, पूर्वसमुद्रतटीय पावन क्षेत्र पुरी में विराजमान अपने इष्टदेव जगन्नाथ के नाम से कवि ने 'जगन्नाथ विजय' की रचना की है। उसमें श्रीकृष्ण के एकोत्तरशत कृत्यों का वर्णन है, जिसमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर बाणासुर के साथ उनके युद्ध तक के प्रसंगों का अन्तर्भाव हो जाता है। काव्य के मंगलाचरण में यह शुभाशंसा की गयी है कि 'भूभार-विच्छेदन-विनोद करनेवाले कृष्ण हमें आनन्द-संदोह प्रदान करें।' इससे कवि की श्रीकृष्णविषयक प्रगाढ़ भक्ति तथा श्रीकृष्णचरित के रहस्य ज्ञान का उद्घाटन होता है।

कृष्ण-काव्यकारों में रुद्रभट्ट के बाद कुमारव्यास का नाम आता है, जो कर्नाटक के अत्यन्त लोकप्रिय कवि हैं। उनका वास्तविक नाम 'नारणप्पा' (या नारायणप्पा) था। कर्नाटक के गदुगु क्षेत्र में भगवान् वीर-नारायणजी का मंदिर है। ये ही वीरनारायण कुमारव्यास के इष्टदेव हैं। कहा जाता है कि कोलिवाडा कुमार-व्यास का जन्मस्थान है और गदुगु में उनके जीवन का अधिक समय व्यतीत हुआ था। वे स्मार्त ब्राह्मण तथा भगवान् वीरनारायण के परमभक्त थे। अपने इष्टदेव के सामने स्नान के बाद गीले कपड़े पहनकर वे तब-तक कविता पाठ करते थे जबतक वे सूख न जाएँ। यह उनकी भक्ति और दैवी-प्रेरणा का निदर्शक है।

कुमारव्यास की रचनाओं में 'महाभारत' अत्यंत प्रसिद्ध है। 'ऐरावत' नामक उनकी कृति की प्रामाणिकता पर विद्वानों ने संदेह प्रकट किया है। कुछ लोगों का अभिमत है कि सन् १४००-१४३० के आस-पास वे जीवित थे। इससे स्पष्ट है कि पन्द्रहवीं शती में उन्होंने काव्य-रचना की होगी।

'महाभारत' यद्यपि पाण्डवों की विजय-गाथा है तथापि उसमें श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व को प्रकाशित करनेवाले बहुत-से अंश अभिव्यंजित हैं। अतः कुमारव्यास की दृष्टि में यह महान कृति 'कृष्णकथा' ही है और कृष्ण को प्रसन्न करने के लिए ही उन्होंने उसका प्रणयन किया है। किंवदंती है कि उन्होंने अपनी रचना कर्नाटक के प्रसिद्ध संगीतज्ञ भक्तप्रवर पुरंदरदास को दिखायी थी और उसे देखकर वे अत्यन्त पुलकित हुए थे। इस सम्बन्ध में पुरंदरदासजी का एक सुलादि छंद भी प्रसिद्ध है।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि कुमारव्यास ने आदिपर्व से गदापर्व तक की कथा को ही अपनी रचना के लिए चुना। गदापर्व के अन्त में फलश्रुति होने के कारण आगे के पर्वों का वर्णन करना कवि को अभीष्ट प्रतीत नहीं हुआ। श्रीकृष्णदेव राय (विजयनगर के नरेश) के दरबारी कवि तिम्मण ने अपने आश्रयदाता की आज्ञा के अनुसार महाभारत के शेष पर्वों की रचना की।

कुमारव्यास का महाभारत 'कर्णाट भारतकथा-मंजरी', 'गदुगु-भारत' अथवा 'कुमारव्यास भारत' नाम से विख्यात है। वह नवरसों का निलय है, फिर भी भक्ति ही उसका केन्द्र-बिन्दु है। मंगलाचरण में कवि ने महाभारत के महत्त्व का उद्घाटन करते हुए कहा है : ''राजाओं के लिए 'वीर', द्विजों के लिए 'परम वेदसार', योगिजनों के लिए 'तत्त्वविचार', मंत्रिजनों के लिए 'बुद्धिगुण', विरहियों के लिए 'श्रृंगार' और विबुधजनों के लिए 'अलंकार' हो, इस प्रकार कुमारव्यास ने काव्यगुरु 'भारत' की रचना की।'' कला-कल्पना, भाषा-शैली आदि सभी दृष्टियों से वह अत्यन्त श्रेष्ठ काव्य और कवि की अमर कृति है।

श्रीकृष्ण की कथा का अत्यन्त आकर्षक अंश कन्नड़ भागवत में है। कुमारव्यास की शैली का अनुसरण करते हुए चाटु विट्ठलनाथ ने षट्पदी छंद में 'कन्नड-भागवत' की रचना कर सुयश प्राप्त किया। 'कन्नड़-कविचरिते' के लेखक आर. नरसिंहाचार्य के अनुसार कन्नड़-भागवतकार चाटु विट्ठलनाथ सन् १५३० ई० में विद्यमान थे। बेटगेरी कृष्णशर्मा ने लिखा है कि कन्नड़-भागवत केवल चाटु विट्ठलनाथ की कृति नहीं है, बल्कि नित्यात्मनाथ, विद्यानाथ, सदानन्द योगी और निर्वाणनाथ की रचनाएँ भी इसमें सम्मिलित हैं। इस सम्बन्ध में विशेष शोधकार्य नहीं हुआ है। लोकमानस तो अबतक चाटु विट्ठलनाथ को ही कन्नड़-भागवतकार मानता आया है।

कन्नड़-भागवत निश्चित रूप से भक्तिकाव्य है। उसके कवि ने शैली की दृष्टि से ही नहीं, प्रसंगों के वर्णन की दृष्टि से भी कुमारव्यास के मार्ग का अनुसरण किया है। कन्नड़-भागवत एक बृहत् काव्य है जिसमें २८० संधियाँ या अध्याय तथा बारह हजार से भी अधिक भामिनी षट्पदी छन्द है। वह हरिभक्ति का कोश है। जिस प्रकार संस्कृतभागवत में कृष्णकथा-निरूपण किया गया है, उसी प्रकार का वर्नंन कन्नड़-भागवत में भी है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि वह अनुवाद मात्र न होकर संस्कृतभागवत की अनुकृति है। उसके रचयिता के अनुसार हरि-गुण-चरित के वर्णन में भाषा-भेद बाधक नहीं है।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, संस्कृत के भागवत के क्रम का ही पालन कन्नड़-भागवत में किया गया है। उसके द्वादश स्कन्धों में दशम स्कन्ध शीर्षस्थ है। उसमें कृष्ण-कथा का विस्तृत और मनोहर रूप निरूपित है। चाटु विट्ठलनाथ ने श्रीकृष्ण की बाललीलाओं, गोपीगीत, रासक्रीड़ा आदि का चित्ताकर्षक वर्णन किया है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने कंस का चित्रण निरंतर भगवान् का नामस्मरण करनेवाले भक्त के रूप में किया है। कन्नड़-भागवत कन्नड़ के लोकप्रिय काव्यों में है।

कन्नड़ कृष्ण-काव्यकारों में लक्ष्मीश का नाम यहाँ उल्लेख्य है। लक्ष्मीश कन्नड़ के श्रेष्ठ कवियों में ही नहीं, भक्तों की पंक्ति में भी गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं। उनका 'कन्नड़ जैमिनि-भारत' कुमारव्यास-भारत के समान ही अत्यन्त लोकप्रिय है। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कहा जाता है कि चिक्कमंगलूरु जिले का देवनूर या सुरपुर उनका जन्मस्थान है। देवनूर में भगवान् लक्ष्मीनारायण का मन्दिर है। ये ही लक्ष्मीनारायण लक्ष्मीश के इष्टदेव हैं जिसका उल्लेख उनके काव्य में मिलता है।

लक्ष्मीश को 'कर्नाटक कवि-चूतवन चैत्र' की उपाधि प्राप्त थी। उनके आविर्भाव काल के विषय में मतभेद है। आज प्रायः सभी लोग यह स्वीकार करते हैं कि वे सोलहवीं शती में विद्यमान थे। उनका रचनाकाल सन् १५५० ई० के आस-पास माना जाता है। उनके काव्य में शैव और वैष्णव धर्मों का समन्वय हुआ है। प्रतीत होता है कि वे स्मार्त ब्राह्मण थे और भागवत-सम्प्रदाय को मानते थे। उनमें भक्ति की विशुद्ध

धारा बही है। उनकी दृष्टि में उनका काव्य वास्तव में श्रीकृष्णचरितामृत है। उन्होंने स्वयं कहा है 'पूर्णमिदु कृष्ण-चरितामृतम्'।

'कन्नड़ जैमिनि-भारत' संस्कृत जैमिनि-भारत के अनुरूप निर्मित है। उसे अनुवाद कहने की अपेक्षा अनुकृति अथवा स्वतन्त्र काव्यकृति कहना अधिक संगत होगा। वह सर्वांगसुन्दर महाकाव्य है। उसमें अनेक प्रसंगों के द्वारा श्रीकृष्ण के माहात्म्य का निरूपण किया गया है। कवि की दृष्टि में उसके नायक श्रीकृष्ण ही हैं। उसमें नाना पात्रों की अवतारणा के द्वारा श्रीकृष्ण की दिव्य-महिमा और भव्य-व्यक्तित्व का उद्घाटन किया गया है।

कन्नड़ जैमिनि-भारत में भक्ति, शृंगार और वीररस के अत्यन्त मनोहारी चित्र मिलते हैं। उसमें औचित्य का निर्वाह हुआ है। कवि ने अत्यन्त तन्मयता के साथ प्रत्येक प्रसंग का वर्णन किया है। उसमें स्वाभाविक रूप से अलंकारों का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। सुधन्वा, बभ्रुवाहन, लव-कुश, चंद्रहास जैसे पात्रों के वर्णन में कवि का कला-नैपुण्य प्रकट हुआ है। उनके द्वारा चित्रित स्त्री-पात्रों में सीता, प्रभावती, ज्वाला, चंडी और विषया के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पद-रचनाकार अथवा कीर्तनकार वैष्णव भक्तों को कन्नड़ में 'हरिदास' कहते हैं। हरिदासों की रचनाओं को हरिदास-वाङ्मय अथवा हरिदास-साहित्य कहा जाता है। कर्नाटक में हरिदास अथवा वैष्णव भक्तों की परम्परा तबसे मानी जाती है जबसे यहाँ वैष्णव-धर्म अथवा भागवत-धर्म का प्रचार हुआ। श्रीमध्वाचार्य और श्रीरामानुजाचार्य जैसे आचार्यों के प्रभाव के कारण कर्नाटक में वैष्णव-भक्ति का विशेष प्रचार-प्रसार हुआ। उनके पूर्व जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य के द्वारा भी यहाँ भक्ति को विशेष महत्व प्राप्त हुआ था। ध्यान देने की बात है कि हरिदासों में अधिक लोग माध्व-सम्प्रदाय के हैं, पर स्मार्त, अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के अनुयायी भी उनमें पाये जाते हैं।

अधिकतर विद्वान् मानते हैं कि नवीं शती से ही कन्नड में हरिदासों की परम्परा चली। किन्तु प्रसिद्ध हरिदास विजयदास के एक सुलादि छन्द से ज्ञात होता है कि यहाँ अत्यंत प्राचीन काल से ही ऐसे भक्तों की परम्परा रही है। अद्यावधि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जाता है कि कर्नाटक के हरिदासों के आदि-पुरुष अचलानन्ददास हैं। उनके समय के विषय में मतैक्य नहीं है। नवीं शती से पन्द्रहवीं शती के बीच में उनका समय दोलायमान है। किंतु अधिकतर विद्वानों का मत है कि वे नवीं शती में विद्यमान थे।

अचलानन्ददास का निवास-स्थान और संभवतः जन्मस्थान भी बेंगलूर जिले का हैगणपुर था। आजकल उनके वंशज तुमकूर जिले के तुरुवेकेरे में रहते हैं। दासजी स्मार्त ब्राह्मण थे और परम्परा से अद्वैत मत को माननेवाले थे। वे भागवत सम्प्रदाय में भी आस्था रखते थे तथा भगवान् नृसिंह के उपासक थे। आराध्य की स्तुति में उन्होंने कहा है : **भूतैर्यानपथानुगोचरपदः श्रीनारसिंहो गुरुः।** किंवदन्ती है कि वे अपनी उपास्य मूर्ति को पालकी में रखकर तीर्थयात्रा के लिए निकले तो उस पालकी को रुद्रगण ढोते थे। वे पंढरपुर में कुछ दिन पाण्डुरंग की सेवा करते हुए ठहरे। एक दिन मध्याह्न के समय चंद्रभागा अथवा भीमरथी नदी में स्नानकर अर्घ्य प्रदान करते समय उन्हें पाण्डुरंग विट्ठल के दर्शन हुए। श्रीविट्ठल के दर्शन से उन्हें अचल आनंद-प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसलिए वे अचलानंददास कहलाये। उनका प्राचीन नाम नरसिंह-दास था। तबसे उन्होंने 'अचलानंद विट्ठल' की छाप से पदों की रचना की। उन्होंने अपनी उपास्य-मूर्ति नृसिंह के साथ-साथ पांडुरंग-विट्ठल की मूर्ति भी प्रतिष्ठित की। उन्होंने पैदल ही देशभर की यात्रा की थी।

उनकी महिमा और प्रभाव के बारे में अनेक बातें कही जाती हैं। उनका अन्तिम समय कर्नाटक में व्यतीत हुआ था। कर्नाटक के राष्ट्रकूट राजा उनके व्यक्तित्व से अतीव प्रभावित हुए और उन्होंने उनको बारह ग्राम दान में दिये थे। उनके साथी भक्तों को भी ग्रामदान प्राप्त हुए थे। अचलानंददास को दिये गये ग्राम की प्रसिद्धि नृसिंहपुर नाम से हुई। उनके पदों में एकान्त भक्ति प्रकट हुई है।

अचलानंददास के उपरान्त हरिदासों की परंपरा का उल्लेख तेरहवीं शती में विद्यमान नरहरितीर्थ के समय से मिलता है। तुरीयाश्रम के पहले उनका नाम स्वामिशास्त्री था। वे उड़ीसा के गजपतिनरेश के यहाँ दफ्तरदार थे और राजा-प्रजा दोनों के आदर के पात्र थे। षट्शास्त्रों में निष्णात होने के कारण उनके व्यक्तित्व से लोग प्रभावित थे। जब मध्वाचार्यजी बदरीनाथ की यात्रा कर उड़ीसा आये तब उनके पांडित्य और उपदेशों से प्रभावित होकर स्वामिशास्त्री उनके शिष्य बने और संन्यास ग्रहण किया। उसी समय से उड़ीसा में द्वैत-वेदान्त का प्रचार हुआ। संन्यासी बनने के बाद भी आचार्यजी के आदेशानुसार गजपतिनरेश को अकाल मृत्यु के कारण उत्पन्न अराजकता की स्थिति को दूर करने के लिए वे वहीं रहे। नरेश की मृत्यु के समय महारानी गर्भवती थीं, भाग्यवश जब वे पुत्रवती हुईं और राजकुमार राज-काज सम्भालने योग्य हुआ, तब वे उडुपि चले आये। उन्होंने मूल राम-सीता-विग्रहों को गजपति राजा से परितोषिक के रूप में प्राप्त कर उन्हें मध्वाचार्य को समर्पित कर दिया। ज्ञात होता है कि आचार्यजी के बाद पद्मनाभतीर्थ और उनके पश्चात् नरहरितीर्थ सन् १३२४ ई० में आचार्य के आसन पर सुशोभित हुए।

नरहरितीर्थ संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे, कन्नड़ के प्रति भी उनका सहज आकर्षण था। भागवत-धर्म के प्रचार की दृष्टि से उन्होंने कन्नड़ में पद-रचना और गायन आवश्यक माना। उन्होंने कई पदों की रचना की है। किन्तु वे सब आज प्राप्त नहीं हैं, कुछ ही उपलब्ध हैं। उनके पद राग-तालबद्ध हैं। उनमें भक्ति की गरिमा का अभिव्यंजन हुआ है।

माध्व-सम्प्रदाय में यह श्लोक प्रसिद्ध है :

नमः श्रीपादराजाय नमस्ते व्यासयोगिने। नमः पुरंदरार्याय विजयार्याय ते नमः॥

भाव यह कि हरिदासों की परम्परा में उपर्युक्त चार भक्तों—श्रीपादराज, व्यासराय, पुरंदरदास और विजयदास के नाम बड़े आदर के साथ लिये जाते हैं। इनमें प्रथम नाम श्रीपादराज का है। भक्तों का विश्वास है कि श्रीपादराज (या श्रीपादराय) विभवमूर्ति हैं जिनका प्रातःकाल स्मरण करने मात्र से मिष्टान्न की प्राप्ति होती है। उनका व्यक्तित्व महान् था। उनके पिता का नाम 'शेषगिरि आचार्य' और माता का नाम गिरियम्मा था। तुरीयाश्रम के पहले उनका वास्तविक नाम लक्ष्मीनारायण था। चेन्नपट्टण के समीप अब्बूरु उनका निवासस्थान था। बालक लक्ष्मीनारायण अत्यन्त तेजस्वी थे। स्वर्णवर्ण तीर्थस्वामीजी ने उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनको शिष्य बनाना स्वीकार किया था। योगपीठ पर अलंकृत होने के बाद लक्ष्मीनारायण श्रीपादराय या श्रीपादराज के नाम से प्रख्यात हुए। श्रीमध्वाचार्यजी के शिष्य पद्मनाभ तीर्थ द्वारा स्थापित मुलिबागिलु मठ का आधिपत्य (महंती) श्रीपादराज ने स्वीकार किया था।

सकलशास्त्रज्ञ श्रीपादराज सिद्धपुरुष थे। व्यासराज (व्यासराय) उनके शिष्य थे। चंद्रगिरि के राजा सालुव नरसिंह उनके व्यक्तित्व से अतीव प्रभावित थे क्योंकि राजा सालुव नरसिंह को उन्होंने ब्रह्महत्या-दोष से मुक्त किया था। राजा ने उनको सिंहासन पर आसीन कर उनका कनकाभिषेक किया था।

श्रीपादराज ने पूरे देश की यात्रा की थी तथा शास्त्रार्थ में अनेक पण्डितों को पराजित करके अपने मत का प्रचार किया था। उनके पाण्डित्य से कई लोग प्रभावित हुए। उनके माहात्म्य और प्रभाव के सम्बन्ध में सम्प्रदाय में कई बातें प्रचलित हैं। कहा जाता है कि उन्होंने अपने शिष्यों पर अनुकम्पा कर मुलुबागिलु में ही उन लोगों को गंगा-स्नान करने का सुअवसर प्रदान किया था। पूजा के समय और उत्सवों में कन्नड भक्ति-गीत गाने की परम्परा श्रीपादराज ने ही प्रारम्भ की। उन्होंने कन्नड़ में भ्रमरगीत' 'वेणुगीत' और 'गोपीगीत' की रचना की है। उनके पद कर्नाटक में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। उनके पदों में एक श्रेष्ठ भक्त का हृदय प्रकट हुआ है। 'रंगविट्ठल' की छापवाले उनके पद भाषा-शैली की दृष्टि से भी उत्कृष्ट हैं। वे संस्कृत के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके पाण्डित्य का प्रमाण उनका 'वाग्वज्र' ग्रन्थ है। भक्त और दार्शनिक के रूप में उनका नाम चिरस्मरणीय रहेगा।

श्रीपादराज के शिष्य श्रीव्यासराय (व्यासराज) कर्नाटक के वैष्णव भक्तों में पर्याप्त प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म सन् १४४७ ई० में हुआ था। तुरीयाश्रम के पहले उनका नाम यतिराज था। उनके पिता का नाम बल्लण था। तपोनिधि ब्रह्मण्यतीर्थ के अनुग्रह से उनका जन्म हुआ था और उन्हींके कृपाकटाक्ष से वे न्याय-वेदान्त की शिक्षा प्राप्तकर विद्या-सिंहासन के उत्तराधिकारी हुए थे। श्रीपादराज के सान्निध्य में रहकर बारह वर्ष तक विद्याध्ययन करने के कारण ही वे श्रीपादराय के शिष्य माने जाते हैं। उनके आदेशानुसार ही उन्होंने चंद्रगिरि के नरेश सालुव नरसिंह के राजगुरु का पद स्वीकार कर अपार कीर्ति प्राप्त की थी। तिरुपति के भगवान् वेंकटेश अथवा बालाजी की उन्होंने कई वर्षों तक आराधना की थी। उनके नाम को प्रकाशित करानेवाला 'व्यासराज-मठ' अब भी विद्यमान है। सालुव नरसिंह के अनन्तर उनके पुत्र तम्मराय की इच्छा के अनुसार श्रीव्यासतीर्थ विजयनगर में विद्याकेन्द्र की स्थापना कर वहीं रहने लगे। विजयनगर के सम्राट् श्रीकृष्णदेव राय के राजत्वकाल में इनका नाम अधिक विश्रुत था और ये उनके आदर के पात्र बने थे। इन्होंने श्रीकृष्णदेव राय को कुहू योग से बचाया था। माना जाता है कि राज-दरबार में उनका बड़ा प्रभाव था। सम्भवतः वहाँ श्रीवल्लभाचार्यजी ने श्रीव्यासतीर्थ से शास्त्रार्थ किया था।

श्रीव्यासतीर्थ ने दक्षिण और उत्तर भारत की विजय-यात्रा की थी। उनके व्यक्तित्व से कई पण्डित और भक्त अतीव प्रभावित हुए थे। कर्नाटक के प्रसिद्ध भक्त पुरंदरदास तथा कनकदास उन्हींके शिष्य थे। वे दीर्घायु रहकर ९२ वर्ष की आयु में समाधिस्थ हुए।

श्रीव्यासतीर्थ श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। यद्यपि वे संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे तथापि उन्होंने कन्नड़ में सुन्दर भक्तिपूर्ण पदों की रचना की है। उनके पदों में 'श्रीकृष्ण' की छाप मिलती है। वे अपने शिष्यों के साथ पदों को गाया करते थे। भजन-सेवा द्वारा उन्होंने कर्नाटक प्रदेश में कृष्णभक्ति का प्रचार किया। साम्प्रदायिक दृष्टि से उन्होंने श्रीमध्वाचार्य के द्वैत-वेदान्त का प्रचार किया। उनके एक सुलादि छन्द में यह बताया गया है कि उनके द्वारा मध्वमत का उद्धार हुआ। ध्यान देने की बात है कि बंगाल के श्रीकृष्णचैतन्य श्रीव्यासतीर्थ को अपना गुरु मानते थे।

यह माना जाता है कि श्रीव्यासतीर्थ को श्रीरंग में शेषशायी रंगनाथ (महाविष्णु) के दर्शन हुए थे। वे अपरोक्ष ज्ञानी थे। उनके कन्नड़ में रचित पदों के अतिरिक्त 'तर्कताण्डव', 'न्यायामृत' और 'चन्द्रिका' नामक संस्कृत-ग्रंथ आज भी प्रसिद्ध हैं। उनके पदों में निर्मल भक्ति की धारा बही है। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि उनके कारण कर्नाटक में भागवत धर्म का अच्छा प्रचार हुआ और अनेक भक्तों को उनसे प्रेरणा मिली।

श्रीपुरन्दरदास का नाम कर्नाटक में ही नहीं, अन्य प्रदेशों में भी प्रख्यात है। सन्त, भक्त और महात्मा पुरन्दरदास श्रीव्यासतीर्थ के शिष्य थे, यह बात ऊपर बतायी गयी है। वे इतने श्रेष्ठ भक्त थे कि उनके गुरुजी ने ही उनके बारे में कहा था कि 'भक्त पुरंदरदास ही हैं।' सम्प्रदाय में उनके सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है :

मन्मनोभीष्टदातारं सर्वाभीष्टफलप्रदम्। पुरंदरं गुरुं वन्दे दासश्रेष्ठं दयानिधिम् ॥

कर्नाटक में भक्ति का जो प्रचार हुआ, उसके कारण अतीत के महात्माओं में पुरंदरदास का नाम विस्मृत नहीं किया जा सकता। वे अग्रणी भक्त थे। उन्होंने भगवान् की नाम-संकीर्तनसेवा के द्वारा अपने जीवन को सार्थक बना कर तथा लोगों को उपदेश देकर उनके जीवन का मार्ग प्रशस्त किया था। कन्नड-भक्ति-साहित्य को उनकी देन अनुपम और अविस्मरणीय है। कन्नड पद-रचना-साहित्य को उन्होंने नया आयाम प्रदान किया है। संगीत की दृष्टि से भी उनके पदों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे कर्नाटक संगीत के पितामह माने जाते हैं। कहा जाता है कि कर्नाटक संगीत के सर्वस्व श्रीत्यागराज स्वामी पुरंदरदास के पदों से प्रभावित हुए थे; क्योंकि त्यागराज की माता पुरंदरदास के गीतों को गाती थीं। सम्प्रदाय में लोग मानते हैं कि पुरन्दरदास नारद के अवतार थे।

पंढरपुर के श्रीपांडुरंग विट्ठल पुरंदरदास के उपास्य थे। उनके पदों में पुरंदर-विट्ठल की छाप मिलती है। उन्हींके एक पद के अनुसार उनके पदों की संख्या चार लाख पचीस हजार है। कुछ लोग इस संबन्ध में संदेह प्रकट करते हैं। फिर भी पुरंदरदास-सरीखे भक्त के लिए इतने पदों की रचना करना असम्भव नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे प्रतिदिन स्वरचित पदों का गान करते हुए घर-घर फेरी लगाते भिक्षा ग्रहण करते थे। उनका जन्म शक संवत् १४०६ (सन् १४८४ ई०) में हुआ था। पुरंदरगढ़ को उनका जन्मस्थान माना जाता है। उनके पिता का नाम वरदप्पा नायक था। भक्त बनने के पूर्व उनका नाम श्रीनिवास नायक था। जीवन में घटित एक प्रमुख घटना के कारण ३० वर्ष की अवस्था में वे विरक्त हुए और अपनी पत्नी सरस्वतीबाई तथा पुत्र मध्वपति के साथ गुरु की शरण में पहुंचे। कहा जाता है कि उन्होंने अपनी समस्त सम्पत्ति दान कर दी थी। इस प्रकार एक नामी करोड़पति प्रसिद्ध भक्त हो गये।

पुरंदरदास के पदों में 'पुरंदरविट्ठल' की छाप मिलती है। उनके पद क्या हैं, भक्ति के अनमोल रत्न हैं। प्रत्येक पद में उनके जीवन के दीर्घ अनुभव अभिव्यक्त हुए हैं। उनके वात्सल्य और माधुर्य भाव के पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आत्मनिवेदनसम्बन्धी पद भी प्रभावकारी हैं। लोकमानस पर उनके पदों का अमिट और मंगलदायक प्रभाव पड़ा है। परवर्ती भक्तों ने उन्हींके आदर्श को ग्रहण किया है। सम्प्रदाय में उनके पदों को इतना आदर दिया जाता है कि वे 'पुरंदरोपनिषद्' कहलाते हैं। सचमुच उनमें उपनिषदों का सार है। साहित्य और संगीत का मणि-कांचनयोग उनके पदों की अपनी विशेषता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि उनके पदों में भागवत पुराण का सार निहित है। उन्होंने अपने समय के समाज की आलोचना भी की है। मानव-प्रकृति का जितना सूक्ष्म ज्ञान उनको था उतना बिरले ही कवियों में देखा जाता है। वे मध्वाचार्य के द्वैत-दर्शन के अनुयायी थे फिर भी उनके पद साम्प्रदायिकता की सीमा में आबद्ध नहीं हैं। उनका संदेश तथा सदाचार परक उपदेश समस्त लोगों के लिए है। मुक्तक पदों के रचनाकार होते हुए भी वे महाकवि के आसन पर विराजमान हैं। कर्नाटक के अग्रणी कवियों की श्रेणी में उनका नाम कभी विस्मृत नहीं किया जा

सकता। यही नहीं, सोलहवीं शती के महान् भारतीय कवियों में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी भाषा सरल-सुबोध है, शैली में लालित्य, माधुर्य और सहज आकर्षण है।

पुरंदरदास के समान ही कनकदास भी महान् भक्तकवि थे। वे श्रीव्यासतीर्थ के शिष्य तथा पुरंदरदास के समकालीन थे। वे अपने गुरु के पूर्णरूपेण कृपापात्र थे। उच्च कुल में उत्पन्न न होने पर भी पूर्वजन्म के संस्कार के कारण वे भगवान् की अनन्त कृपा के अधिकारी हुए। उनका जन्मस्थान धारवाड़ जिले का 'बाडा' नामक स्थान माना जाता है। उनके पिता का नाम बीरप्पा और माता का नाम बन्चम्मा था। वे अपने माता-पिता के इकलौते बेटे थे। ज्ञात होता है कि वे बाल्यकाल से भगवान् के भक्त नहीं थे, बाद में भक्त बने और संसार से विरक्त हुए। भगवान् ने स्वप्न में उनको 'दास' बनाया था।

कागिनेले नामक स्थान में कनकदास ने भगवान् आदिकेशव का मंदिर बनवाया था। उपास्य होने के कारण उनके पदों में 'आदिकेशव' की छाप मिलती है। वे सहज प्रतिभा से युक्त थे और जनकवियों की पंक्ति में उनका आदरपूर्ण स्थान है। उन्होंने मुक्तक पदों की ही रचना नहीं की है, प्रबन्धात्मक विशेषताओं से युक्त सुन्दर ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। 'मोहन-तरंगिणि, 'रामधान्यचरिते' और 'नलचरित्रे' ऐसी ही रचनाएँ हैं।

कनकदास की भक्ति और ज्ञान की महत्ता को अभिव्यक्त करनेवाली कई घटनाओं का उल्लेख किया जाता है। उन सबका सारांश यही है कि वे भगवान् के अनन्य भक्त थे और उन्होंने अपना जीवन सार्थक किया था। उन्होंने उडुपि, तिरुपति और बेलूर जैसे तीर्थस्थानों की यात्रा की थी। उडुपि के श्रीकृष्णमंदिर में 'कनककिण्डि' अर्थात् कनक की खिड़की नाम से एक स्थान है जहाँसे उन्होंने श्रीकृष्ण के दर्शन किये थे।

कनकदास दीर्घजीवी थे। कहा जाता है कि वे ९८ वर्ष की आयु तक जीवित रहे। उनके पदों में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और आत्मप्रबोध का समन्वय है। भाषा-शैली की दृष्टि से वे उत्तम माने गये हैं। उनके गायन और श्रवण से शान्तिलाभ होता है और मन में सात्त्विक भाव दृढ़ होते हैं।

१५वीं-१६वीं शती के कृष्णभक्त कवियों में 'वैकुण्ठदास' का भी नाम महत्वपूर्ण है, जो व्यासतीर्थ, वादिराज और पुरंदरदास के समकालीन थे। उनका वास्तविक नाम केशवैयंगार्य था और वे रामानुज-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे बेलूर के निवासी थे जो कर्नाटक का एक प्रसिद्ध शिल्पकलाकेन्द्र है।

वैकुण्ठदास बेलूरु के भगवान् केशव के अनन्य भक्त थे। कहा जाता है कि वे भगवान का साक्षात्कर कर धन्य हुए थे। उनकी महिमा को प्रकट करनेवाली अनेक किंवदंतियाँ हैं। पुरन्दरदास, वादिराज आदि भक्त-महात्माओं ने अपनी-अपनी यात्रा के समय बेलूरु में वैकुण्ठदास से भेंट ही नहीं की थी, उनके मुँह से भगवान् का लीलागान सुनकर वे अत्यन्त आनंदित भी हुए थे। उनके पदों में 'वैकुण्ठ' अथवा 'केशव' की छाप मिलती है। भक्ति की अनन्यता उनके पदों की विशिष्टता है। उनके पदों में अभिव्यंजना का सौकुमार्य है।

कर्नाटक के विख्यात भक्त-महात्माओं में वादिराज का नाम भी उल्लेखनीय है। उनका जन्म सन् १४८० ई० में हुआ था। उनका वास्तविक नाम 'भूवर' था और उनके पिता का नाम था 'रामभट्ट'। साध्वी के मठाधीश यतीश्वर वागीश से तुरीयाश्रम स्वीकार कर 'भूवर' 'वादिराज' हुए थे। उन्होंने व्यासतीर्थ के

सान्निध्य में रहकर विद्याध्ययन किया था। माना जाता है कि वे चतुषष्टिकलाओं में प्रवीण थे और विजयनगर के सम्राट् श्रीकृष्णदेव राय से सम्मानित हुए थे। उडुपि के अष्ट-मठों में एक 'साध्वी मठ' है। वादिराज उस मठ के अधीशों में बहुत प्रसिद्ध हैं। वे संस्कृत और कन्नड़ के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके सोलह से भी अधिक संस्कृत ग्रंथों में 'रुक्मिणीश-विजय' और कृष्णाष्टक' के नाम प्रसिद्ध हैं। उनके कन्नड़ ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं: कन्नड़ तात्पर्य-निर्णय, वैकुण्ठ-वर्णने, गुण्डक्रिया, लक्ष्मीशोभाने हाडु, स्वप्न-गद्य, भ्रमरगीत फुटकर पद और 'सुलादि' छन्द। वर्णक्रम से सप्त तालों में राग-भाव के अनुसार गाये जानेवाले गीतों को 'सुलादि' कहते हैं।

वादिराज बड़े तपस्वी थे। वे हयग्रीव के उपासक थे। १२० वर्ष की आयु में अर्थात् सन् १६०० ई० में वे सशरीर समाधिस्थ हुए थे। उनके पदों में 'हयवदन' की छाप मिलती है। उत्तम शैली में रचित उनके पदों में भक्ति का विशुद्ध रूप प्राप्त होता है।

कर्नाटक के हरिदासों की परम्परा में विजयदास और उनके प्रमुख शिष्य गोपालदास का नाम श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है। विजयदास को सम्प्रदाय में भृगु महर्षि का अवतार माना जाता है। उनका जन्म सन् १६८२ ई० में हुआ था। उनकी मृत्यु-तिथि सन् १७५५ ई० मानी जाती है। वे हैदराबाद के चीकरपरवि ग्राम के निवासी थे। यौवनावस्था तक का उनका जीवन गरीबी में व्यतीत हुआ। साधु-सन्तों की संगति के परिणामस्वरूप वे महिमामण्डित हुए। जब स्वप्न में उनको पुरंदरदास का अनुग्रह प्राप्त हुआ, तबसे वे सिद्धपुरुष हो गए। उनके पदों में 'विजय विठ्ठल' की छाप मिलती है। सरल और सुबोध कन्नड़ में लिखे गये उनके पद भक्ति और ज्ञान से मण्डित हैं। उनकी महिमा को प्रकट करनेवाली कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। यद्यपि उन्होंने कृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं की भी स्तुति की है, तथापि कृष्ण के प्रति उनकी विशेष भक्ति प्रकट हुई है।

विजयदास का शिष्यत्व स्वीकार करने से पूर्व ही गोपालदास भक्त के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। उनका वास्तविक नाम भागण्णा था। देवदुर्ग के पास मोसरकुल्लु में सन् १७२१ ई० में उनका जन्म हुआ था। वे गायत्रीदेवी के उपासक थे और सिद्धि प्राप्त कर चुके थे। काशी-यात्रा के समय उन्होंने विजयदास के दर्शन किये थे। तभी से उनके शिष्य बनकर उन्होंने गोपालदास की छाप से कन्नड में पद-रचना करना प्रारंभ किया। कमलपत्र पर जल-बिन्दुओं के समान उन्होंने सांसारिक जीवन व्यतीत किया। अपने गुरु की आज्ञा के अनुसार उन्होंने श्रीनिवासाचार नामक व्यक्ति के उदर रोग को दूर ही नहीं किया, अपितु उन्हें आयु के चालीस वर्ष दान में भी दिये। श्रीनिवासाचार उनके शिष्य बने और जगन्नाथदास नाम से हरिदासों में प्रसिद्ध हुए। गोपालदास के कृष्णविषयक पदों में प्रगाढ़ भक्ति-भावना और प्रभावात्मकता पाई जाती है।

श्री निवासाचार, उपनाम जगन्नाथदास का जन्म रायचूर जिले के मानवी नामक स्थान में सन् १७२७ ई० के आस-पास हुआ था। षट्शास्त्र-पारंगत होने के कारण पंडितों में उनका बड़ा सम्मान था। इसीसे उत्पन्न अहंभाव के कारण उन्होंने भक्त विजयदास का अनादर किया था, परिणामतः उदरशूल रोग से पीड़ित हुए। कालान्तर में गुरुकृपा से वे उदरोग से ही नहीं, भवरोग से भी मुक्त हो गये। उनकी मृत्यु सन् १८०९ ई० में हुई। उनके पदों में 'जगन्नाथ-विठ्ठल' की छाप मिलती है। उनकी रचनाएँ हैं: हरिकथामृत सार, तंत्रसार, ब्रह्मसूत्र, दशोपनिषद् गीता का भाष्य और फुटकल पद। ये सभी ग्रंथ कन्नड़ में हैं और उत्तम भाषा-शैली के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके कतिपय पदों में श्रीकृष्ण के महिमापूर्ण व्यक्तित्व का सुन्दर चित्रण है।

कन्नड़ कृष्णभक्ति-साहित्य की श्रीवृद्धि प्रसन्नवेंकटराय, श्रीव्यासतत्त्वज्ञ, श्रीव्यास विठ्ठल, श्री वेणुगोपाल विट्ठल, गुरुगोपाल विट्ठल, वरदगोपाल विठ्ठल, सुरपुर के आनन्ददास, महीपति दास, भाग्यनिधि विठ्ठल, प्राणेश विट्ठल, हेलवनकट्टे गिरियम्मा, तुंगम्मा, मोहनदास, श्रीनिवास दास चिक्कदेवराज, चिक्कुपाध्याय, नवसालपुरि तिप्पणार्य और नारायणदास प्रभृति भक्तों की रचनाओं से हुई है। इनमें श्रीकृष्ण की लीलाओं के वर्णन के साथ-साथ उनके भक्तवत्सल रूप का सुन्दर ढंग से उद्घाटन हुआ है। महीपति दास (या महीपति राय), गिरियम्मा, चिक्कदेवराज आदि की रचनाएँ कन्नड-साहित्य में अपनी विशेषताओं के कारण महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर चुकी हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि कन्नड़ कृष्ण-साहित्य में राधा का उल्लेख बहुत बाद में हुआ है और राधा के लिए उतना विशिष्ट स्थान भी नहीं है। यद्यपि कन्नड़ में माधुर्यभावसम्बन्धी पदों की रचना हुई है, तथापि उनमें राधा का उतना महत्त्व तथा अन्य भाषा क्षेत्रों नहीं दिया गया जितना हिन्दी में स्वीकार किया गया है। उन्नीसवीं शती के पूर्व, सम्भवतः किसी कन्नड़-कवि ने 'राधा' को प्रधानता दी हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। सुरपुर के आनंद दास (१९वीं शती) उपनाम कमलेश-विट्ठल के पदों में हमें राधा का वर्णन देखने को मिलता है। कन्नड़ में श्रीकृष्ण के वैवाहिक जीवन और लोकोत्तर कार्यों का वर्णन विशेष रूप से किया गया है।

कन्नड़-साहित्य की एक और विशेषता यह है कि हिन्दू-परंपरा के कृष्ण-काव्यों के अतिरिक्त जैन-परम्परा के कृष्णकाव्य भी यहाँ उपलब्ध होते हैं। ऐसे काव्यों में कृष्ण का व्यक्तित्व भिन्न प्रकार से चित्रित हुआ है। वे परम्परागत कृष्णभक्ति-साहित्य के अन्तर्गत नहीं आते। अतः यहाँ उनके सम्बन्ध में विवेचन नहीं किया गया है।

डा० एन. एस. दक्षिणामूर्ति

कर्नाटक के कृष्णभक्त

अचलानन्ददास

कर्नाटक के कृष्णभक्त कवियों में अचलानन्ददास का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। इनका समय ईसा की नवीं शती माना जाता है। इनके पदों में 'अचलानन्द विट्ठल' की छाप मिलती है। इनके वंशके कई भक्तों के भी पद मिलते हैं। कुछ प्रक्षिप्त पदों को देखकर कतिपय भाषाविदों ने इनका समय सोलहवीं शती माना है, जो वस्तुतः सत्य नहीं है। इनके वंशज 'तुमकूर' जिले के 'तुरुवेकेरे' में अब भी पाये जाते हैं। उनके कथनानुसार भी अचलानन्ददास का समय नवीं शती ही सिद्ध होता है।

अचलानन्ददास स्मार्त-संप्रदाय के ब्राह्मण और परम्परा से अद्वैत-दर्शन के माननेवाले थे। इनके वंशज अद्वैतमत के अनुयायी होते हुए भी भागवत-संप्रदाय से सम्बद्ध रहे हैं। कहा जाता है कि अचलानन्ददास का निवास-स्थान बेंगलूर जिले का 'हैगणपुर' स्थान था और इनका जन्म वहीं हुआ था। इनको इतनी लोकख्याति प्राप्त हुई कि इनके वंशज इन्हींको अपने वंश का मूलपुरुष मानने लगे। इनकी महिमा का वर्णन करनेवाले एक स्तोत्र में बताया गया है कि ये नरसिंह के उपासक थे-'भूतैर्यानपथानुगोचरपदः श्रीनारसिंहो गुरुः।'

ऐसा कहा जाता है कि अपने शिष्यों के साथ पादचारी होकर इन्होंने संपूर्ण भारतवर्ष का पर्यटन किया था। पालकी में अपने इष्टदेव की प्रतिमा को गरुड़ और हनुमान् की मूर्ति के साथ रखकर ये रास्तेभर तंबूरा हाथ में लेकर गाते हुए भावविभोर हो जाते थे। कहते हैं कि इनके इष्टदेव की पालकी को रुद्रगण ढोते थे जो सर्वसाधारण लोगों को दिखाई नहीं देते थे। समकालीन जनसमुदाय की इन पर अपार श्रद्धा थी।

अपनी यात्रा के संदर्भ में जब ये पण्ढरपुर आये तब एक विचित्र घटना घटी। संध्योपासना के क्रम में चंद्रभागा अथवा भीमरथी नदी में अर्घ्य-प्रदान के समय तृतीयांजलि में इन्हें श्रीपाण्डुरंग विट्ठल के दर्शन हुए। पाण्डुरंग विट्ठल श्रीकृष्ण का ही अवतार-विशेष है। श्री विट्ठल का दर्शन प्राप्त होने के दिन से आनन्द में लीन रहने के कारण इनका नाम 'अचलानन्ददास' पड़ गया। इसके पूर्व इनका नाम 'नृसिंहदास' था। इन्हें भगवान् के दर्शन प्राप्त होने के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध है जिसके अनुसार दर्शन प्राप्त करने की तिथि शालिवाहन शक ८०१ विलम्बी संवत् चैत्र शुक्ल दशमी सिद्ध होती है :

> काशीति संख्या शककालकेऽब्दे
> विलम्बिवर्षे कलिचैत्र-शुक्ले।
> पक्षे दशम्यां दिनमध्यकाले
> प्रत्यक्षकोऽभूद् गुरु विट्ठलाख्यः॥

पाण्डुरंग विट्ठल के दर्शन के बाद से ये विट्ठल के भक्त हो गये। इन्होंने नरसिंह की मूर्ति के साथ विट्ठल की भी मूर्ति प्रतिष्ठित की और पालकी में उन मूर्तियों को रखकर पैदल ही पूरे देश की यात्रा की।

उत्तरी भारत में गंगास्नान के बाद जब ये नेपाल पहुंचे, उस समय की एक घटना का उल्लेख किया जाता है। संयोगवश उसी दिन नेपाल के राजा का पुत्र साँप के डसने से मर गया था। लोगों के मुँह से भक्त अचलानन्ददास की महिमा सुनकर राजा ने इनकी शरण में आकर अपने पुत्र को जिलाने की प्रार्थना की। इन्होंने गरुड़-मंत्र के पुरश्चरण द्वारा सर्प को आकृष्ट कर उससे विषपान कराकर राजपुत्र को जीवित कर दिया। अतीव प्रसन्न होकर राजा ने इनका आदर-सत्कार किया तथा इन्हें अनेक रत्नाभरण आदि

प्रदान किये। किन्तु इन्होंने उन्हें ग्रहण नहीं किया, केवल कुछ शालिग्राम स्वीकार किये। कहा जाता है कि इन्होंने वहाँ प्राप्त छह शालिग्रामों को छह शाखा-पीठों में स्थापित किया, किन्तु अब इसके प्रमाण शेष नहीं रहे कि वे शाखापीठ कहाँ-कहाँ हैं ?

अचलानन्ददास के अंतिम दिन कर्नाटक में ही बीते। उस समय के कर्नाटक-नरेश रट्ट अथवा राष्ट्रकूट इनके व्यक्तित्व से अत्यंन्त प्रभावित हुए थे। उन्होंने इन्हें बारह ग्राम दान में दिये थे तथा इनके साथी भक्तों को भी जीविका-निर्वहण-हेतु कुछ ग्राम दिये थे। उन नरेशों ने अचलानंददास के नाम से जो ग्राम-दान दिया, वही बाद में 'नरसिंहपुर' नाम से प्रख्यात हुआ।

ज्ञात होता है कि अचलानन्ददास की संतति-परम्परा में क्रमशः मुद्दुविट्ठल, गोपीनाथ, हरिदास, तिम्मण्णदास और पाण्डुरंगदास नामक भक्त हुए।

अचलानन्ददास के कुछ फुटकल पद मिलते हैं। उनका ठीक प्रकार से संकलन या संपादन नहीं हुआ है। यह ज्ञात नहीं हो सका है कि फुटकल पदों के अतिरिक्त इन्होंने कोई और रचना भी की थी या नहीं। इस बात में संदेह नहीं कि ये संस्कृत और कन्नड दोनों भाषाओं के अच्छे पण्डित तथा सिद्ध पुरुष थे।

अचलानन्ददास के दो पद नीचे दिये जा रहे हैं :

(१)

नोडिदरे नोडु माताडु तायिगलेन्दु
नोडि भ्रमिखलु वेड परसतियर ॥ (टेक)
दारियोळु भयवेन्दु चोररोळु पोगुवरे
गेरुबीजद तैल लेपिसुवरे।
अरण्यमध्यदलि मृगविरलु तुरगवेन्देरुवरे
परसतिय पापिमनवे ॥
प्रीतियिं परसतिय मनेगागि इन्द्रनति
कातुरति पागि मैततादनु।
सीतेगोसुगवागि रावणनु ताकेट्ट सोतु
द्रौपेदिगे कोचक केट्टनु ॥
हसिय एक्केयकायि नसुगुन्नि तुरुचियनु
तृषेगे मेल्लुवरेनो व्यसनवंतेन्दु ॥
विषव सेविसिदंते परसतिय बयसि
नी विषयकेळपुवरेनो पापिमनवे ॥
केंट्टवर दृष्टान्तविन्नेष्टु हेळिदरेनु बिट्ठु
विडुवरे तम्म केट्ट गुणव।
कट्टिनोळगिट्टु उत्कृष्ट जनगळ संग
कोट्टु सलहय्य अचलानन्दविट्ठल ॥

'देखो तो देखो, बोलो माताएँ समझकर ! पर-स्त्रियों को देखकर भ्रमित मत हो। रास्ते पर जाते समय भय मानकर क्या चोरों के साथ जाया जाता है, क्या काजू का तेल शरीर पर लगायेंगे ? क्या जंगल में जंगली मृगों को देखकर उन्हें घोड़ा मानकर उन पर चढ़ा जाता है ? हे पापी मन ! परस्त्री भी वैसी ही है। प्रेम और आतुरता से परस्त्री के घर जाकर इन्द्र छिद्र-देही हुआ। सीता के लिए रावण नष्ट हुआ, द्रौपदी से पराजित मनवाला कीचक विनष्ट हुआ। भूख लगने पर क्या धतूरा जैसी वस्तुएँ खायेंगे ? परस्त्री की वांछा विषसेवन के समान है। हे पापी मन ! तुम विषय की ओर क्यों खिंच जाते हो ? बुरे लोगों के दृष्टान्त कितने भी क्यों न कहें, क्या वे अपनी बुराई छोड़ देते हैं ? हे अचलानन्दविट्ठल ! सत्संग में नियमबद्ध रहकर रक्षा करो।'

(२)

गण्ड माडिद पुण्य हेण्डतिगे समपालु,
हेण्डति माडिद पुण्य गण्डनिगिल्ल।
गण्ड माडिद पाप हेण्डतियदल्ल
हेण्डति माडिद पाप गण्डनिगे एल्ल।
तोण्डरक्षक अचलानन्दविट्ठल
नी गण्ड ना हेण्डति ॥

'पति के पुण्य का आधा भाग पत्नी का है, पत्नी के पुण्य का भाग पति को नहीं है, पति का पाप पत्नी को नहीं है, पर पत्नी का सब पाप पति को ही है। दासों के रक्षक ! हे अचलानन्दविट्ठल ! तुम पति हो, मैं पत्नी हूँ।'

एन. एस. द.

अच्युतदास

भक्त अचलानन्ददास द्वारा स्थापित छह भागवत धर्मपीठों में से एक पीठ की परंपरा के अन्तर्गत अच्युतदास का नाम लिया जाता है। ये पुरंदरदास, वैकुण्ठदास आदि के समकालीन थे और सोलहवीं शती में विद्यमान थे। अपने समय के कीर्तनकार भक्तों में इन्होंने विशेष ख्याति अर्जित की थी। ज्ञात होता है कि इन्होंने शास्त्राध्ययन कम किया था, पर इनके हृदय में भगवान् की कृपा प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा थी। ये भगवान् के अनुग्रह से शास्त्रार्थ में विजयी हो जाते थे। यात्रा के अवसर पर ये बेलूरु गये थे, तब शास्त्रार्थ के लिए भक्त वैकुण्ठदास को इन्होंने ललकारा था। वैकुण्ठदास के व्यक्तित्व से ये अनभिज्ञ थे। मदभरे वचन के कारण इनकी आँखें और जिह्वा बेकाम हो गयीं। तब वैकुण्ठदास की भक्तिपूर्ण प्रार्थना से प्रसन्न होकर बेलूरु के भगवान् केशव ने इन पर अनुग्रह किया और इनकी आँखें तथा जिह्वा ठीक हो गयी। इन्होंने अपनी समस्त रचनाएँ वैकुण्ठदास को समर्पित कर दी। अतः 'वैकुण्ठदास' छाप से भी इनके कई पद मिलते हैं।

एन. एस. द.

अडवि रामदास

कन्नड़ भक्त गाथाओं से ज्ञात होता है कि अडवि रामदास सत्पुरुष थे। इनका जन्म उत्तर कर्नाटक में हुआ था। कश्मीर से जो ब्राह्मण कर्नाटक आकर बस गये थे, ये उन्हींके वंश से संबद्ध थे। इन्होंने कन्नड़ में 'कदरुण्डुलिगि हनुमय्या' की छाप से पद-रचना की है। इनके वंशज मैसूर-नरेश मुम्मडि (तृतीय) कृष्णराज ओडेयर (१७९४-१८६४ ई०) से समाहृत हुए थे। इनकी महिमा के सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं।

एन. एस. द.

आनन्ददास (सुरपुर के)

सुरपुर के आनन्ददास का जन्म ईसा की १९वीं शती के प्रथम चरण में तुंगातटीय चीकलपरवि ग्राम में हुआ था। बचपन में ही इनके माता-पिता चल बसे, इस कारण ये अपने भाई शेष के साथ सुरपुर आकर बस गये। यहाँ इन्हें तत्कालीन महापंडित राजाचार्य ने आश्रय दिया। इन्हें मधुर कण्ठ प्राप्त था और एक वैष्णव गायक से इन्होंने गायन-कला सीखी थी। जब सुरपुर के राजा को इनके कण्ठ-माधुर्य के विषय में पता चला तब उन्होंने इन्हें राज-दरबार की नर्तकियों को संगीत की शिक्षा देने के निमित नियुक्त किया। वहाँ इन्होंने वीणा-वादन सीखा और भारतीय संगीत का भी ज्ञान प्राप्त किया। राज-दरबार में रहने से प्रतिभाशाली व्यक्तियों से इनका परिचय हुआ, शास्त्र-वेदान्त का ज्ञान भी मिला। जगन्नाथदास के शिष्य श्रीशदास जब सुरपुर गये, तब आनन्ददास ने उनसे भक्ति की दीक्षा ली और 'कमलेशविट्ठल' की छाप से पदरचना करने लगे।

इनके जीवन का अधिकांश समय सुरपुर में ही बीता। इनके पदों में संगीत और साहित्य का सुन्दर संगम मिलता है। सुरपुर के राजा ने इनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इनका कनकाभिषेक किया था। राजा के स्वर्गवास के बाद इनके जीवन का पासा पलटा। प्रोत्साहन न मिलने के कारण इन्हें दरिद्रता का सामना करना पड़ा। इसके बाद एक दिन स्वप्न-प्रेरणा के अनुसार ये सुरपुर को छोड़कर कोल्हापुर चले गये। शीघ्र ही श्रीमहालक्ष्मी का अनुग्रह हुआ। वहाँ इनकी संगीत-सभा हुई जिसमें इन्हें पर्याप्त धन तथा सोना प्राप्त हुआ। फिर ये उडुपि गये, वहाँ अष्ट-मठों में इनका समुचित सम्मान हुआ। तत्पश्चात् ये मैसूर गये। वहाँ इन्हें कुछ विलम्ब से राजदर्शन प्राप्त हुआ, फिर भी राजा इनके गायन से परम प्रसन्न हुए और इनका कनकाभिषेक किया। मैसूर के सदाशिवराय, वीणासम्बय्या प्रभृति विद्वानों ने इनकी सराहना की। फिर ये सुरपुर वापस आ गये, किन्तु वहाँ बहुत दिन नहीं रहे। ब्रिटिश राजनीति से ये संतुष्ट नहीं थे। अतः मंत्रालय चले गये। वहाँ इन्होंने नृसिंह-मंत्रोपासना

करके सिद्धि प्राप्त की। इसके बाद श्रीराघवेन्द्रस्वामी की कृपा भी इन्हें प्राप्त हुई। अन्त में ये सुरपुर में ही रहने लगे। कहा जाता है कि वहाँ श्रीवेंकटेश-देवालय में कीर्तन-सेवा करते समय इन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। कन्नड़ में इनके पद, जावलि और आख्यायिकाएँ मिलती हैं। इनकी भक्ति के निदर्शक दो पद नीचे उद्धृत हैं :

कण्डु धन्यनादे श्रीउडुपिकृष्णन कण्णारे ना। (टेक)
कण्डु धन्यनादेनो ब्रह्माण्ड नखदियोडेद हरिय
तण्डतण्डदि पूजेगोळ्ळुत पाण्डवरने सलहिदवनि ॥
(सह टेक)

गेज्जे कालकडगविट्टु मज्जिगे कडेगोल पिडिदु
हेज्जे पंक्तियूटवुण्डु गुज्जुवेष धरिसिदवन ॥

एण्टु मठद यतिगळुतन्न बंटरेंदु पूजेगोळ्ळुव
कण्टक कंसादिगळने दण्टिनंददि सीळिदवन ॥

एसु जन्मद सुकृतवो कमलेशविट्ठलराय तव
दासजनरभिलाषेयित्तु कूसिनंददि पोषिसुवन ॥

‘मैं आँखें भरकर श्री उडुपिकृष्ण को देखकर धन्य हुआ। देखकर मैं धन्य हुआ हरि को, जिसने ब्रह्माण्ड को अपने नख से भेद दिया। विविध पूजा प्राप्त करनेवाले पाण्डव-पालक को देखकर (मैं धन्य हुआ)। पायल और घुंघरू धारण कर, दही-मथनी (हाथ में) रखकर सैकड़ों की संख्या में भोजन करानेवाले और वामनरूप धारण कर चुके (कृष्ण को देखकर धन्य हुआ)। आठ मठ के यति मेरे दास हैं— इस प्रकार पूजा प्राप्त करनेवाले और कंटक (के समान रहनेवाले) कंसादि को गाजर-मूली की तरह जिसने काट डाला, उसे (देखकर धन्य हुआ)। न जाने कितने जन्मों का सुकृत है ? अपने भक्तों का शिशु के समान पोषण करनेवाले, उनकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाले कमलेशविट्ठल को (देखकर धन्य हुआ)।

(२)

बेडुवदेन भवविमोचन ॥ (टेक)
आव साधनके आवुदु कडे तव
पावन पदद सेवे दोरेतमेल् ॥
अमरेशन पद भ्रमिसिदुदके सिरि
कमलेशविट्ठलवे नमगे दोरेतमेल् ॥

‘हे भवमोचन ! माँगने के लिए क्या रह गया है ? जब तुम्हारी पावन पाद-सेवा प्राप्त हो गयी। किस साधन का कौन-सा अन्त है ? जब हम चाहते थे कि अमरेश का पद पायें, वह मिल जाने के बाद हे कमलेशविट्ठल ! (अब माँगना क्या है ?)’।

कहा जाता है कि अपने अंतिम समय में आनन्ददास ने यह पद गाया था।

एन. एस. द.

कनकदास

कनकदास की गणना कर्नाटक के अत्यन्त प्रसिद्ध वैष्णव भक्तों में होती है। वादिराज, पुरन्दरदास और कनकदास श्रीव्यासतीर्थ के प्रधान शिष्य थे। ये सभी गुरु की अशेष कृपा के पात्र हुए। इनके द्वारा कर्नाटक में भागवत-धर्म का व्यापक प्रचार हुआ।

इनका जन्म धारवाड़ जिले के बाडा नामक गाँव में १६वीं शती के आरम्भ में सन् १५०८ ई० में हुआ था। ये जाति के गड़रिया थे। उच्च कुल में उत्पन्न न होने पर भी भगवान् की अनन्त कृपा से ये अन्यतम भगवद्भक्त हुए। इनके पिता का नाम बीरप्पा और माता का नाम बच्चम्मा था। बीरप्पा सैकड़ों गाँवों के किसानों से कर वसूलकर अपने समय के विजयनगर के राजा को समर्पित करने का अधिकार रखनेवाले एक छोटे राजकर्मचारी ही नहीं, एक प्रकार से उक्त गाँवों के सर्वाधिकारी थे। ये योद्धा भी थे। अतएव राजा के कृपापात्र बन गये थे। इनके पूर्वज शैव थे। रामानुजाचार्य के प्रभाव से जब कर्नाटक में वैष्णव धर्म की व्याप्ति हुई, तब बीरप्पा भी वैष्णव-मत में दीक्षित हो गये और तिरुपति के बालाजी अथवा वेंकटेश्वर के भक्त बन गये। इन्होंने अपने इकलौते बेटे का नाम उन्हीं भगवान् के संक्षिप्त नाम के आधार पर ‘तिम्मप्पा’ रखा। ये तिम्मप्पा ही बाद में ‘कनकदास’ के नाम से प्रख्यात हुए।

यह कथा प्रचलित है कि एक बार भूमि खोदते समय तिम्मप्पा को अपार धनराशि प्राप्त हुई। धन या कनक की राशि प्राप्त होने के कारण लोगों ने इन्हें 'कनकनायक' कहा। बाद में कनकनायक 'कनकदास' हो गये। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि पहले कनकदास के मन में वैराग्य नहीं था। भगवान् ने स्वप्न में इन्हें दर्शन दिया और कहा कि 'तुम मेरे दास बनो।' तब भी कनक दास नहीं बने। एक बार युद्ध के मैदान में जब ये घायल होकर गिर पड़े, तब इन्हें भगवान् के दर्शन हुए और ये शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। कहा जाता है कि भगवान् ने उस समय यह वचन दिया था कि 'जब भी तुम चाहोगे तब मैं दर्शन दूँगा।' इस घटना के बाद ये दास बन गये।

कनकदास ने 'कागिनेले' नामक स्थान में आदिकेशव का मन्दिर बनवाया। इनके पदों में 'आदिकेशव' की छाप मिलती है। ये श्रेष्ठ कवि थे। बाल्यावस्था में इन्होंने क्या पढ़ा-लिखा, यह ज्ञात नहीं है। संस्कार-विशेष ने ही इन्हें कवि बनाया। इनके भक्तिरसपूर्ण पद कर्नाटक में अत्यंत लोकप्रिय हैं। इन्होंने 'मोहन-तरंगिणि,' 'रामधान्यचरित्रे' और 'नलचरित्रे' जैसे सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है।

इनकी महिमा को प्रकाशित करनेवाले कई प्रसंग प्रचलित हैं। एक बार एकादशी के दिन गुरु व्यासराय ने अपने शिष्यों को, जिनमें कनकदास भी थे, खाने के लिए एक-एक केला देकर बताया कि इसे ऐसे स्थान में खाना जहाँ कोई न हो। दूसरे दिन उन्होंने सबसे उसका विवरण पूछा। प्रत्येक शिष्य ने अपना कौशल प्रदर्शित करते हुए बताया कि उसने फल कैसे खाया? जब कनकदास से पूछा गया तो कनकदास ने फल गुरु के सामने रखते हुए कहा, 'मुझे ऐसा कोई स्थल दिखाई न पड़ा, जहाँ भगवान् न हों, अतः मैं इसे खा नहीं सका।' कनकदास की बात सुनकर गुरु अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और उन्होंने इनकी बहुत सराहना की।

ये अहंकार का नाश भक्ति-साधना का एक अनिवार्य अंग मानते थे। कहते हैं कि एक बार गुरु व्यासराय ने अपने शिष्यों को अलग-अलग बुलाकर पूछा : 'तुममें से कौन वैकुण्ठ जा सकता है ?' सभी संकोच से मौन हो गये। किन्तु कनकदास ने तत्काल निवेदन किया, 'सम्भव है, मैं जाऊँ तो जा सकता हूँ।' यह सुनकर गुरुबन्धुओं ने अहंकारी कहकर इनकी निन्दा प्रारम्भ कर दी। गुरुदेव ने कनकदास से अपने कथन को स्पष्ट करने का आदेश दिया। तब ये बोले : 'मैं' की भावना मिटने पर ही सम्भव है कि कोई वैकुंठ प्राप्त कर सके, यही हमारे कहने का तात्पर्य है।' गुरुदेव यह तात्त्विक उत्तर सुनकर बहुत प्रसन्न हुए।

कनकदास ने उडुपि, तिरुपति, बेलूरु आदि पुण्यस्थानों के दर्शन किये थे। यद्यपि ये भगवान् के परम भक्त थे, तथापि उडुपि के श्रीकृष्ण-मंदिर में इन्हें भगवान् के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। एक बार ये गर्भगृह के पीछे की ओर खड़े होकर भगवान् की स्तुति करने लगे। कहा जाता है कि तब भगवान् ने मुड़कर खिड़की के द्वारा इन्हें दर्शन दिये। आज भी उडुपि के कृष्ण-मन्दिर में 'कनक-किंडि' नाम से वह खिड़की प्रसिद्ध है। भक्तगण उस खिड़की के द्वारा भगवान् के दर्शन कर कनकदास की महिमा का स्मरण करते हैं।

कनकदास के भगवत्साक्षात्कार की कथाएँ सुनकर एक दिन गुरु व्यासराय ने इनको अपने अन्य अनुयायियों को भी भगवान् का दर्शन कराने की आज्ञा दी। कनकदास ने इसे शिरोधार्य कर आराध्य देव से प्रार्थना की। दूसरे दिन पूजा के समय भगवान् कुत्ते का रूप धारण करके आये, किन्तु अज्ञानी भक्तों ने कुत्ते को मठ में प्रवेश करते देखकर उसे मारकर भगा दिया। इसलिए उनके जिज्ञासु गुरुभाई दर्शन करते हुए भी अज्ञानवश उसके लाभ से वंचित हो गये। अतः गुरुदेव ने इन्हें पुनः आदेश दिया : 'इस बार पवित्र रूप में भगवान् से दर्शन देने की प्रार्थना

करो।' कनकदास ने इष्टदेव से फिर निवेदन किया और इसके फलस्वरूप भगवान् अबकी बार 'नाग' बनकर आये। उसे देखते ही सभी भक्त डर के मारे मन्दिर से बाहर भाग गये। यह देखकर गुरुदेव बोले : 'संशयग्रस्त तथा अपवित्र चित्तवाले लोग प्रभु को पहचान नहीं सकते। इसके लिए तो दिव्यदृष्टि चाहिए और वह उन्हींकी कृपा से प्राप्त होती है।'

इसी प्रकार इनकी भगवत्कृपा-सिद्धि सम्बन्धी एक और कथा प्रचलित है। कहते हैं कि एक बार तिरुपति के भगवान् वेंकटरमण ने अपने विवाहोत्सव में इन्हें सम्मिलित होने का आदेश दिया और अपने पुजारियों को इनके स्वागत का निर्देश दिया। कनकदास फटे-पुराने कपड़े पहने श्रीधाम पहुंचे और मंदिर की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। पुजारियों ने पूछा : "तू कौन है ? कहाँसे आ रहा है ? तूने कनकदास को देखा है ? वे कैसे आ रहे हैं ?' ये बोले : 'पूज्यवर कैसे कहूँ कि मैं कौन हूँ और कहाँसे आ रहा हूँ ? दास पीछे आनेवाले के आगे और आगे आनेवाले के पीछे रहते हैं।' यह सुनते ही पुजारी इन्हें पागल समझ उपेक्षाकर भीतर चले गये।

कनकदास दूर से ही भगवान् का दर्शन करके सीढ़ियों के पास ही भूखे प्यासे लेट गये और अपने विवाह में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रण देकर बुलाने के बाद भी भगवान् से इस प्रकार के निष्ठुर व्यवहार की शिकायत करने लगे। वेंकटेश भगवान् भक्त की स्थिति पर द्रवित हो गये और स्वयं रसोइये का रूप धारण कर अपना राजसी भोग-प्रसाद लाये और इन्हें सन्तुष्ट किया। इनके जीवन का अधिकांश समय तिरुपति में बीता। इन्होंने ९८ वर्ष की आयु में सन् १६०६ ई० में दिव्यधाम के लिये प्रस्थान किया।

प्रसिद्ध है कि अंत में ये भगवान् श्रीनिवास में लीन हो गये। इनके पदों में आत्मप्रबोध है। उनके गायन और श्रवण से भक्तों के मन में सात्त्विक भावों का उदय होता है और शांति प्राप्त होती है। इनके पद भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के आगार हैं। साहित्यिक दृष्टि से भी उनका विशेष महत्त्व है। इनके जीवन का उच्च आदर्श अत्यन्त प्रेरणाप्रद है। यहाँ इनके दो पद दिये जाते हैं :

(१)

मगनेंदाडिसुवळु मोग नोडि नगुवळु ॥ (टेक)
जगदुद्धारन मोग मोगदोळिरिसिकोण्डु ॥ (सह टेक)
कालल्लंदिगे गेज्जे तोळमणियुदण्डे
फालद अरळेलेयु कुणिये।
नीलदुडिगेयुट्ट बालने बायेंदु पालुणिसुव
पुण्य येंतु पडेदळय्या ॥

बण्ण सरगळिडे रन्नदनेवळ होन्नघंटेयु फणफणरेन्नलु
पन्नगशयनने कुणियोम्मे कुणियेंदु कुणिसिनगुव
पुण्य येंतु पडेंदळय्या ॥

पोडविय ईरडि माडिद देवन कुडिबेरलने
करदलि पिडिदु।
अडियिडु मगने मेल्लडियिडु एनुतलि नडेगलिसुव
पुण्यवेंतु पडेदळय्या ॥

कुक्षियोळीरेळु जगवन्नु सलहुवन रक्षिपरुण्टे त्रैजगदोळगे
पक्षिवाहन नीनु अंजबेडेनुतलि रक्षेयिडुव
पुण्य येंतु पडेदळय्या।
शंखचक्रगदापद्मधारकन पंकजाप्त शतकोटितेजननु।
संख्येयिल्लद आभरणगळ तोडिसि अलंकरिसुव
पुण्य येंतु पडेदळय्या ॥

सागरशयनन भोगिशयनन मेले योगनिद्रेयोळिप्प देवन।
आगममुनिगळु काणद वस्तुव तूगित पाडुव
पुण्य येंतु पडेदळय्या ॥

पन्नगशयनन उन्नंतमहिमन सन्नुत भक्तर सलहुवन।
पन्नगारिवाहन देवरदेव चन्नकेशवन नेंतु पडेदळय्या ॥

'माता यशोदा पुत्र समझकर क्रीड़ा कराती हैं, मुख देखकर हँसती हैं, जगदुद्धारक के मुख पर मुख रखती हैं। (इसने) पैरों में पायल, बाहुओं में मणियों का आभरण, फाल पर नाचनेवाली आभूषण-कांति

और नील वस्त्र पहने हुए बालक को 'आओ' कहकर दूध पिलाने का पुण्य कैसे प्राप्त किया? नाना वर्ण की मालाओं, रत्नहार और 'घण-घण' करनेवाली सोने की क्षुद्र-घंटिकाओं से युक्त पन्नगशयन को 'नाचो, नाचो' कहकर नचाने का पुण्य कैसे प्राप्त किया? जिसने भूमि को दो पैरों में नाप लिया था, उसकी उँगली का अग्रभाग पकड़कर 'पुत्र, धीरे-धीरे पैर रखो' कहकर चलना सिखाने का पुण्य कैसे प्राप्त किया? जो अपने पेट में चौदह भुवनों को रखकर रक्षा करता है, क्या तीनों लोकों में कोई उसकी रक्षा कर सकता है? 'पक्षिवाहन, तुम डरो मत' कहकर रक्षा (अनिष्ट-निवारण के लिए रखी जानेवाली काजल की बिंदी) लगाने का पुण्य कैसे प्राप्त किया? शंख-चक्र-गदा-पद्मधर, शतकोटि सूर्य के तेज से परिपूर्ण को अगणित आभूषण पहनाकर अलंकार करने का पुण्य कैसे प्राप्त किया? सागरशयन, भोगिशयन, योगनिद्रा में लीन, आगम-मुनियों के लिए अगोचर तत्त्व को पालने में झुलाने का पुण्य कैसे प्राप्त किया? पन्नगशयन, उन्नत-महिम, सन्नुत (भक्तिभाव से नमन कर रहे) भक्तों के रक्षक, पन्नगारिवाहन, देवदेव, सुन्दर केशव को कैसे प्राप्त किया?

(२)

बदुकिदेनु बदुकिदेनु भववेनगे हिंगित्तु
पदुमनाभन पाददोलिमे येनगाय्तु ।। (टेक)

हरितीर्थप्रसाद जिह्वेगे दोरकितु,
हरियनामामृतवु किविगोदगितु ।
हरिदासरु एन्न बंधुगळादरु,
हरिय श्रीमुद्रे आभरणवाय्तु ।।

मुक्तरादरु एन्न नूरोंदु कुलदवरु,
मुक्तिमार्गके योग्य नानादेनु ।
अकळंक श्रीहरिय भक्तिगे मनवोलिदु,
रुकुमिणीयरस कैवशनादनेनगे ।।

इंदेन्न जीवक्के सकल संपदवाय्तु,
मुंदेन्न जन्म साफल्यवाय्तु ।
तंदे श्रीकागिनेलेयादि केशवराय,
बंदेन्न हृदयदलि नेलेयागि निंत ।।

'धन्य-धन्य हूँ मैं। मेरे लिए भव-सागर सूख गया, पद्मनाभ की पादसेवा मुझे प्राप्त हुई। हरि का चरणोदक-प्रसाद मेरी जिह्वा को मिला, हरि का नामामृत मेरे कानों को मिला, हरि-दास मेरे बन्धु-बान्धव हुए, हरि की श्रीमुद्रा आभरण हुआ। मेरे एक सौ एक कुल के लोग मुक्त हो गये। मैं मुक्ति-मार्ग के योग्य बना। अकलंक भक्ति पर रीझकर रुक्मिणीनाथ मेरे वश में आ गये। आज मेरे लिए सभी सम्पदाएँ सुलभ हैं, आगे का मेरा जीवन सफल हुआ। पिता कागिनेले के आदिकेशव आकर मेरे हृदय में स्थिर होकर रह गये।'

एन. एस. द.

कुमार व्यास

कर्नाटक में कदाचित् ही ऐसा कोई व्यक्ति होगा जिसने कुमारव्यास का नाम न सुना हो। आधुनिक युग के प्रसिद्ध कन्नडकवि कुवेम्पु (डॉ० के. वी. पुट्टप्पा) ने कुमारव्यास के बारे में लिखा है :

कवि कुमारव्यास गायेगा
तो कलियुग द्वापर हो जायगा
तन में विद्युत-नद लहरायेगा।
(मूल कन्नड पद्य का अनुवाद)

कुमारव्यास महाकवि ही नहीं, एक महान् भक्त भी थे। इनका वास्तविक नाम 'नारणप्पा' (नारायणप्पा) था। इनके जीवनचरित और काल के विषय में मतभेद है। कहा जाता है कि कोळिवाडा इनका जन्मस्थान है। इनके जीवन का बहुत समय गदुगु में व्यतीत हुआ था। गदुगु में भगवान् वीरनारायण का मंदिर है। नारणप्पा वीरनारायण के परम भक्त थे। किंवदन्ती है कि ये अपने इष्टदेव के सामने गीले कपड़े पहनकर तबतक छंदवद्ध स्तुति करते रहते थे जबतक वे सूख न जायँ। दैवी-प्रेरणा का यह एक निदर्शन है। गदुगु वीरनारायण के मंदिर में आज

भी एक जगह दिखाई जाती है जहाँ बैठकर ये कविता करते थे।

कुमारव्यास स्मार्त थे या वैष्णव, इस सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। प्रायः लोग यह मानते हैं कि ये स्मार्त थे और भागवत-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनकी रचनाओं में 'महाभारत' ही प्रसिद्ध है। उसे 'गदुगु-भारत' अथवा कन्नड़-भारत कहते हैं। वस्तुतः उसका नाम 'कर्णाटकभारत-कथामंजरी' है। 'ऐरावत' इनकी एक अन्य कृति कही जाती है, किन्तु विद्वानों ने उसकी प्रामाणिकता पर संदेह व्यक्त किया है।

इनका समय ईसा की पंद्रहवीं शती माना जाता है। कुछ लोगों के अनुसार ये सन् १४००-१४३० ई० के आसपास विद्यमान थे। कहा जाता है कि नारणप्पा (कुमारव्यास) ने अपनी कृति 'भारत' लिखने के बाद उसे भक्तप्रवर पुरन्दरदास को दिखाया (अथवा पढ़कर सुनाया) था। पुरन्दरदास उससे पुलकित हुए थे और उन्होंने एक सुळादि (सप्त तालों में वर्णक्रम से किसी राग में गाया जानेवाला पद) में इन (कुमारव्यास) की प्रशंसा की थी। वह सुलादि इस प्रकार है :

हरिशरणारेन्न मनेय मेट्टलु मने
परम पावनवायितु,
हरिशरणरेन्नकूडि मातनाडे मनवु
करणंगळु पावन्न।
हरिशरणरु एन्न मनेयलुण्डरे एन्न-
वर इप्पत्तोन्दु कुलपावन,
हरिगदुगिन वीरनारायणस्वामि
हरिपुरंदरविट्ठलरेय ॥

भारत आगमगोचरवेंदु वि-
चारिसे मनुजरिगे गोचरवप्पंते,
वीरनारायण नी कवियेनिसीदे कु-
मारव्यासर्निद भारत विरचिसिदे ॥ ···

'हरिशरण (विष्णुभक्त) मेरे घर आये तो मेरा घर परम पवित्र हुआ। हरिशरणों ने मेरे साथ मिलकर बात की, मेरे मन-करण (इन्द्रियाँ) पावन हुए। हरिशरणों ने मेरे घर में प्रसाद ग्रहण किया तो मेरी इक्कीस पीढ़ी के पितृगण पावन (तृप्त) हुए। हरि वीर-नारायणस्वामि ! हरि पुरन्दर विट्ठल प्रभु ! महाभारत आगमगोचर है। मनुष्यों के लिए वह गोचर हो, इस लिए तुम कवि हुए और कुमारव्यास द्वारा तुमने भारत की रचना कराई।

कुछ विद्वानों ने कुमारव्यास को विजयनगर के नरेश श्रीकृष्णदेव राय के राजत्वकाल में विद्यमान बताया है।

कन्नड़ में महाकवि 'पम्प' के बाद समग्र भारत की रचना करनेवाले कवियों में कुमारव्यास का ही नाम लिया जाता है। यहाँ 'समग्र' का अर्थ महाभारत के सभी पर्व नहीं है। जो काव्य के प्रमुख भाग हैं, वे ही 'समग्र' हैं। कुमारव्यास ने 'आदिपर्व' से 'गदापर्व' तक की कथा को अपने काव्यशिल्प के लिए स्वीकार किया था। गदापर्व के बाद के पर्वों को लिखना सम्भवतः उनका उद्देश्य नहीं था, क्योंकि गदापर्व के अन्त में उन्होंने 'फलश्रुति' दे दी है। यहाँ यह स्मरणीय है कि श्रीकृष्णदेव राय की आज्ञा के अनुसार उनके दरबारी कवि 'तिम्मण' ने 'कन्नड-भारत' के शेष पर्वों की रचना की है।

'वीरनारायण ही कवि हैं और लिपिकार कुमारव्यास हैं' कहनेवाले इस कवि ने श्रीकृष्ण को ही अपने काव्य का नायक माना है और काव्यात्मक दृष्टि से भी वे ही नायक हैं। श्रीकृष्ण नहीं तो महाभारत कैसा ? कुमारव्यास की रचना का आधार महर्षिव्यास का महाभारत है, पर वह अनुवाद न होकर एक स्वतन्त्र महाकाव्य है। उसमें कन्नड-जन-जीवन के सुन्दर चित्र अंकित हुए हैं तथा कविप्रतिभा, कन्नड़त्व और भक्तिरस का त्रिवेणी संगम हुआ है।

कुमारव्यास का 'भारत' नवरसों का निलय है। भक्ति उसकी जीवनाडी है। ग्रंथ के प्रारम्भ में कवि ने महाभारत के महत्त्व का उद्घाटन करते हुए कहा

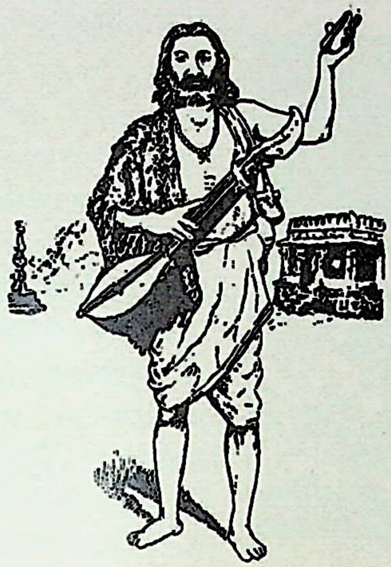

श्री कनकदास (पृ० ३००)

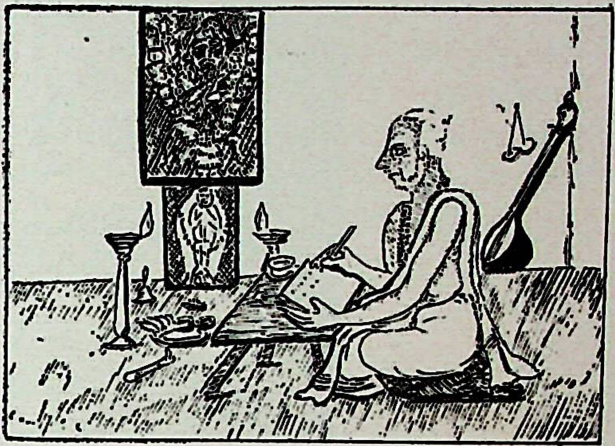

श्री जगन्नाथ दास (पृ० ३११)

श्री पावंजे लक्ष्मीनार्णप्पय्या (पृ० ३१९)

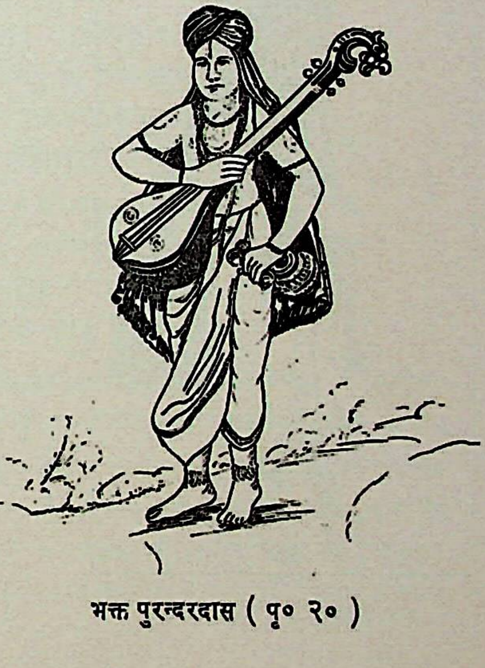

भक्त पुरन्दरदास (पृ० २०)

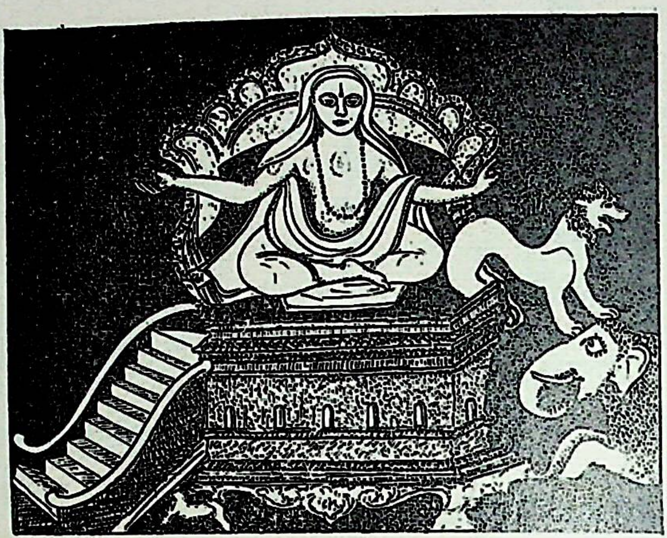

श्री व्यासराय (पृ० ३४५)

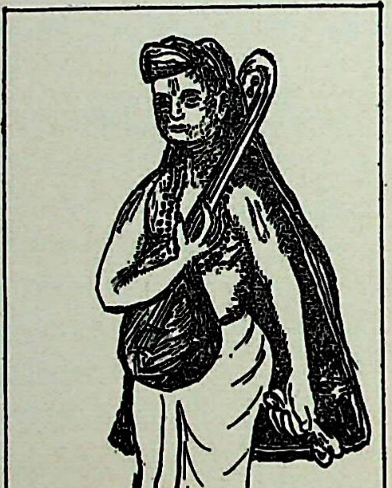

भक्त विजयदास (पृ० ३३६)

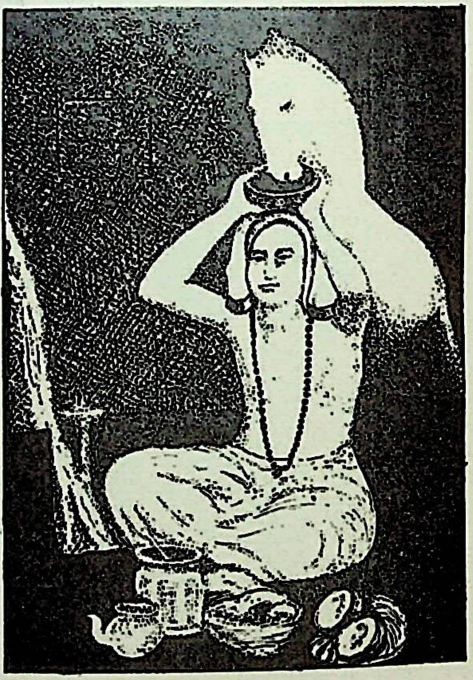

श्री वादिराज (पृ० ३३४)

है : "राजाओं के लिए 'वीर,' द्विजों के लिए 'परमवेद का सार', योगिजनों के लिए 'तत्त्वविचार,' मंत्रिजनों के लिए 'बुद्धिगुण,' विरहियों के लिए 'शृंगार' और विबुधजनों के लिए 'अलंकार' हो, इस प्रकार कुमारव्यास ने 'काव्य के गुरु भारत' की रचना की। कवि की इस प्रकार की उक्तियों को हम गर्वोक्ति नहीं कह सकते। वे ग्रंथ की महत्ता को घोषित करती हैं। कुमारव्यास के काव्य का महत्त्व आज भी उसी प्रकार अक्षुण्ण है जिस प्रकार उसकी रचना के समय स्वीकार किया गया था। वह एक अमर काव्य है। कथानक की रमणीयता और कौशलपूर्ण चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त मनोहर वर्णन, उत्तम संभाषण, औचित्य का निर्वाह, मध्यकालीन कन्नड भाषा की स्वाभाविक मधुरता, शैली की प्रभावशीलता आदि गुण उसे महान् घोषित कर रहे हैं।

नीचे कन्नड-महाभारत के दो छंद उद्धृत किये जाते हैं :

(१)

यज्ञदधिपतियीतनीतनु
यज्ञपुरुषनु स्रुक्-स्रुवादी
यज्ञ साधननीतनीतनु मंत्रकालात्म
यज्ञवीतनु कर्मवीतनु
यज्ञदलि यज्ञमाननीतनु
यज्ञफलवी देवकीसुतनेंदना भीष्म ॥

"यज्ञ के अधिपति ये हैं। ये यज्ञपुरुष हैं, स्रुक्-स्रुवादि (घी और भात आदि हविर्द्रव्य होमने की लकड़ी के पात्र) यज्ञ-साधन ये हैं, ये ही मंत्र-कालात्मा हैं, यज्ञ ये हैं, कर्म ये हैं, यज्ञ में यजमान ये हैं, यज्ञ-फल ये देवकीनंदन हैं' यह भीष्म पितामह ने बताया है।"

(२)

विश्वशिल्पद कुशलहस्तनु
विश्वरक्षेय मंत्रवादियु
विश्वसमिधेगळग्निकार्यद बोम्मचारि वटु
विश्वनाटक सूत्रधारनु
विश्वविस्मयदैन्द्रजालक
विश्वदंतस्स्यूत चेतननीत नोडेन्द ॥

'देखो, ये विश्वशिल्प के कुशल शिल्पी हैं, विश्व की रक्षा करनेवाले जादूगर हैं, विश्व-समिधाओं (पलास की लकड़ी के टुकड़े) से अग्निकार्य करनेवाले ब्रह्मचारी वटु हैं, विश्वनाटक के सूत्रधार हैं, विश्व-विस्मय के ऐन्द्रजालिक हैं और विश्व के अंतस्स्यूत चैतन्य हैं।'

एन. एस. द

गुरु गोपालविट्ठल

प्रसिद्ध भक्त गोपालदास के छोटे भाई का नाम 'शीनप्पा' था। इन्होंने अपने भाई से ही भक्ति की दीक्षा ली और उन्हींके समान अपरोक्ष-ज्ञानी हुए। इनके पदों में 'गुरु गोपालविट्ठल' की छाप मिलती है। इनके विषय में अधिक बातें ज्ञात नहीं हैं। इनका एक पद नीचे दिया जाता है :

कोट्ट बिडारदलि एष्टु दिन जीविसलि
कष्ट पडलारे हरिये ॥ (टेक)

कोटलेय संसार-सागरदि सिलुकि ना
पाडुबडलारे हरिये ॥ (सह टेक)

कट्टागळु सडलिदुवु बळेमोळे
कदलिदुवु नेट्ट कंभगळकु सिदुवु।
तोट्टि पडसालेगळु बट्टबयलादवु
कट्टि होदिसलारेनो स्वामि ॥

आरेरडु हरिदुवु हारिहोयितु
होदिके जारिबिछुवु गळुगळु।
आरमूरेम्ब तलेबागिलेल्लवु कुसिदु
सोरुतिदे नाल्कु कडेगे स्वामि ॥

गेणेळु निच्चणिणे बाणदनेलेसूत्र क्षोणियोळु ओड्याडुत।
प्राणनायक गुरु गोपालविट्ठल आनन्दनिलयवास श्रीश ॥

'हे हरि! प्रदान किये गये निवास (देह) में कितने दिन जीवित रहूँ? कष्ट नहीं भोग सकता! व्यथा के संसार-सागर में पड़कर मैं पीड़ित नहीं रह सकता। हे हरि! बाँधी गयी रस्सियाँ (नसें) शिथिल पड़ गयी

हैं, कीलें (संधिस्थान) हिल रही हैं, रोपे गये स्तम्भ (सुदृढ़ पैर) बलहीन हो गये हैं, घर के आँगन के आदि भाग (देह के समस्त व्यापार) खुले दिखाई पड़ते हैं (कुंठित हो गये हैं)। हे भगवान् ! इनकी मरम्मत नही करा सकता (दृढ़ नहीं कर सकता)। छः और दो = आठ (अहंकार–अन्न, अर्थ, यौवन, स्त्री, विद्या, कुल, रूप और व्यवसाय से सम्बन्धित) निरर्थक हो गये हैं। ऊपर छत के पत्ते उड़ गये हैं, बाँस नीचे खिसक गये हैं (शरीर की रक्षा करनेवाला चर्म, हड्डियाँ शिथिल हो गयीं हैं)। छः और तीन = नौ (देह के नव-द्वार) एवं मुख्य द्वार के निस्सार (शक्तिहीन) होने के कारण हे भगवान् ! चारों ओर पानी चू रहा है (अपने अधिकार में नहीं है)। सात-सात अंगुल की सीढ़ियों (रस, रक्त, मांस, मेदस्, मज्जा, अस्थि और शुक्र ये सात देह के पोषक धातु हैं) के लिए पाँच (पाँच तत्त्व) सूत्र हैं जिनके कारण भूमि पर यह घर (सात बित्ते प्रमाणवाली देह) चलायमान है और इसके सूत्रधार (प्राणनायक) आनन्दनिलय, श्रीश, गुरु गोपालविट्ठल हैं।'

एन. एस. द.

गोपालदास

गोपालदास का नाम कर्नाटक में सर्वत्र प्रसिद्ध है। ये विजयदास के शिष्यों में प्रथम माने जातेहैं। भक्तरूप में दीक्षित होने के पूर्व इनका नाम 'भागण्ण' (ण्णा) था। इनका जन्म सन् १७१८ ई० के आस-पास हुआ था। इनके पिता का नाम मुरारि राय और माता का वेंकम्मा था। झीनप्पा, दासप्पा और रंगप्पा उनके छोटे भाइयों के नाम थे। रायचूर जिले के मोसरकल्लु गाँव में इनका जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में ही पिता का स्वर्गवास होने के कारण ये कष्ट में पड़ गये और माता वेंकम्मा तथा भाइयों के साथ गद्वाल के पास संकापुर चले गये। वहाँ ये हनुमानजी के एक मन्दिर में रहते थे। ग्राम के अधिकारी की कृपा से उपनीत हुए। 'गायत्री से बढ़कर कोई मंत्र नहीं है'— इस तत्त्व को जाननेवाले भागण्ण ने दो वर्ष पर्यन्त गायत्री का जपकर सिद्धि प्राप्त की। तबसे ये श्रेष्ठ कवि, त्रिकालज्ञानी और भविष्यवक्ता हो गये। गद्वाल के राजा तक इनकी ख्याति पहुँची तो राजा ने घर-बार देकर इनका सम्मान किया।

भागण्ण बाद में उत्तनूर में आकर बस गये। वहाँ इनकी आर्थिक स्थिति सुधर गयी। जो कुछ प्राप्त होता, उसीमें संतुष्ट रहते। कभी-कभी वेंकटेशदेवालय में बैठकर ये कन्नड़ भक्तिगीतों की रचना किया करते थे। उन गीतों में 'वेंकटकृष्ण' की छाप है। कहा जाता है कि ये भक्तिपरवश हो गीत गाते और नाचते थे। कालान्तर में काशी आकर ये विजयदास नामक वैष्णव महात्मा के शिष्य बन गये और गोपालदास नाम से प्रख्यात हुए। तबसे इन्होंने 'गोपालविट्ठल' छाप से पदों की रचना की। बाद में इन्होंने अपने भाइयों को भी भक्ति की दीक्षा दी।

गोपालदास के पदों में जीवन के मार्मिक अनुभव अभिव्यक्त हुए हैं। इनसे गुरु विजयदास के विषय में भी कई बातें ज्ञात होती हैं। कहा जाता है कि इन्होंने दो बार आसेतु-हिमाचल यात्रा की थीं, किन्तु पंढरपुर नहीं गये थे। 'नीलकुदुरेयनेरि' (नीले घोड़े पर सवार होकर) नामक 'सुलादि' में इस बात का उल्लेख है कि पंढरीनाथ ने स्वयं घुड़सवार के रूप में आकर इन्हें जागृत किया था। इनकी महिमा को प्रकट करनेवाली इस प्रकार की कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं।

मानवि नामक स्थान में श्रीनिवासाचार्य नाम के एक व्यक्ति रहते थे। विजयदास के प्रति अनादर करने के कारण वे उदरशूल के शिकार होकर अपमृत्यु को प्राप्त हुए। तब गोपालदास ने अपने गुरु विजयदास की आज्ञा के अनुसार अपनी आयु से चालीस वर्ष प्रदान कर उनको अपमृत्यु से बचाया। वे ही बाद में गोपालदास के शिष्य बने और जगन्नाथदास नाम से प्रसिद्ध हुए।

विजयदास द्वारा रचित कंकणाकार सुलादि के रहस्य को गोपालदास ने चित्रपट पर चित्रित कर

उपासकों का बड़ा उपकार किया है। कहा जाता है कि वह चित्र आज भी इनके वंशजों के यहाँ विद्यमान है। ये प्रतिवर्ष तिरुपति की यात्रा करते थे और अपने अन्तिम समय में तिरुपति-यात्रा से उत्तनूर आकर इन्होंने भाइयों से अपने जन्म-जन्मान्तर के बारे में बताते हुए कहा : मेरी सारी सम्पदा कुएँ के भीतर गुप्त रखी जाय। बाद में जब इसी वंश में मेरा जन्म होगा, तब मैं स्वयम् वह सम्पदा गंगा ले जाऊँगा।' इसके अनन्तर दर्भासन पर बैठकर श्वासनिरोध के द्वारा इन्होंने अपने प्राण त्यागे। इनके वंशज आज भी इनके पुनर्जन्म की प्रतीक्षा में हैं। इनके पदों में भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का सुन्दर वर्णन है।

इनके दो पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

एनु बेडलि निन्न बलिगे बंदु
नीनित्त सौभाग्य निबिडवागिदे एनगे ॥ (टेक)

जननिय कोडु एन्दु जगदीश बेडुवेने
जननि एनित्तळा ध्रुवरायनिगे।
जनकनु कोडुयेंदु जयवंत बेडुवने
जनकनेनित्तनै प्रह्लादगे ॥

अनुजननु कोडु एन्दु अनुनयदि बेडुवेने
अनुजनेनित्तनै आ वालिगे।
धनवन्नु कोडु एन्दु दैन्यदलि बेडुवेने
धनगळिसिद सुयोधननेनादनै ॥

सतियळ कोडु एन्दु संतसदि बेडुवेने
सतियिं द्युनामक वसुवेन पडेद !
सुतरन्नु कोडु एन्दु सुगण निन्न बेडुवेने
सुतरिंद धृतराष्ट्र गति एनु पडेद ॥

बंधुगळ कोडु एन्दु चंददलि बेडुवेने
बंधुग ळेनित्तरै गजराजगे।
अंदणव कोडु एन्दु अतिशयदि बेडुवेने
अंदणवनेरिद नहुषनेनादनै ॥

बेडुवेनु नानोंद बेडतक्कुद देव
नीडेनेम्बुदु निन्न मनदिच्छे
मूडलाद्रीश श्रीगोपालविट्ठल ॥

'तुम्हारे पास आकर क्या माँगू ? तुमने जो संपदा दी है वही परिपूर्ण है। हे जगदीश ! क्या यह माँगू कि जननी दो ? ध्रुव को जननी ने क्या दिया ? हे जयी ! क्या यह माँगू कि जनक दो। प्रह्लाद को जनक ने क्या दिया ? विनयपूर्वक क्या यह माँगू कि अनुज दो, बलि को अनुज ने क्या दिया ? क्या दैन्यपूर्वक धन माँगू ? जिस सुयोधन ने धन प्राप्त किया, उसकी क्या दशा हुई ? प्रसन्नतापूर्वक क्या यह माँगू कि पत्नी दो, द्यु नामक वसु (महाभारत में वर्णित भीष्म) ने पत्नी से क्या प्राप्त किया ? हे सुगुण ! क्या तुमसे माँगू कि पुत्र दो, पुत्रों से धृतराष्ट्र की क्या गति हुई ? सुचारु रूप से तुमसे क्या यह माँगू कि सम्बन्धी दो, गजराज को सम्बन्धियों ने क्या दिया ? क्या विशेष रूप से यह माँगू कि पालकी दो, पालकी पर चढ़े नहुष का क्या हुआ ? हे देव ! माँगने योग्य एक वस्तु मैं माँगूगा, देना तो तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। हे पूर्वपर्वत (तिरुपति) के अधिप, श्रीगोपाल-विट्ठल, मेरे स्वामी ! ऐसा करो कि मैं दूसरों से कुछ न माँगू।'

(२)

एके ममते कोट्टु दणिसुवि रंग
नी करुणदि एन्न पालिसो कृष्ण ॥ (टेक)

निन्न भजिसलु अन्य विषयंगळि
गेन्ननोप्पिसुवुदु नीतवे।
मन्निसि दयदि नीनेन्न पालिसिदरे
निन्न नेमके प्रतिकूलवे रंग ॥

तनुवु तन्नदु अल्ल तनुसम्बधिगळारो
तनुवारो तानारो अवरिंगे।
धनमोदलाद विषयगळ अनुभव हिं-
दण जनुमदंतल्लवे रंग ॥

इंद्रियंगळ विषयदिंद भेदिसे गो-
विंद निन्न मनके बारदे।

इंदिरेयरस ब्रह्मादि-वंदित निन्न
बंधकशकुतिगे नमो नमो रंग ॥

अरितु अरितु एनगल्लवादरु
विरकुति विषयदि बारदु ।
करुणासागर निन्न स्मरणेयोंदल्लदे
मरुळु नीगुव बगेगाणेनो रंग ॥

एंदिगे इन्नु निन्न चित्तक्के बरुवुदो
अंदिगे उद्धरिसो करुणिये ।
सुंदरविग्रह गोपालविट्ठल सुख
सांद्र भवमोचक नमो नमो रंग ॥

'हे कृष्ण (रंगनाथ) ! क्यों ममत्व प्रदान कर (मुझे) भ्रमित कर रहे हो ? कृपया मेरी रक्षा करो। कृष्ण ! जब मैं तुम्हारा भजन करता हूँ, तब अन्य विषयों में डाल देना क्या उचित है ? हे कृष्ण ! दयानिधि ! क्षमा करके मेरी रक्षा करोगे तो क्या यह तुम्हारे नियम के प्रतिकूल पड़ेगा ? तन अपना नहीं है, तन का संबंध रखनेवाले कौन होते हैं ? उनके लिए तो तन का और हमारा कोई उपयोग नहीं है। हे कृष्ण ! क्या धन आदि विषयों की प्राप्ति पूर्वजन्म के कर्मानुसार नहीं होती ? हे गोविन्द ! क्या इन्द्रियों के विषयों से (मुझे) विमुख रखना पसन्द नहीं करते ? हे इन्दिरापति ! ब्रह्मादि-वंदित कृष्ण ! तुम्हारी बंधक-शक्ति को बार-बार नमस्कार ! जानते हुए भी तुम मेरे नहीं हुए, विषय-भोग से मेरी विरक्ति और साधन-भ्रांति अन्य कोई भी दूर नहीं कर सकता। जब कभी तुम्हारे मन में आये तभी उद्धार करो। हे करुणाकर, सुन्दर-विग्रह, गोपालविट्ठल, सुखसान्द्र, भवमोचक कृष्ण ! तुम्हें बार-बार नमस्कार !'

एन. एस. द.

चाटु विट्ठलनाथ

कन्नड के भक्त-कवियों में चाटु विट्ठलनाथ का विशिष्ट स्थान है। इन्हें 'कन्नड भागवतकार' होने का गौरव प्राप्त है। 'कविचरिते' के लेखक आर. नरसिंहाचार्य के अनुसार कन्नड-भागवत के कवि चाटु विट्ठलनाथ सन् १५३० ई० के लगभग विद्यमान थे। बेटगेरी कृष्णशर्मा के अनुसार कन्नड-भागवत के कवि केवल चाटु विट्ठलनाथ ही नहीं, नित्यात्मनाथ, विद्यानाथ, सदानन्द योगी और निर्वाणनाथ भी हैं। किन्तु लोकमानस अबतक चाटु विट्ठलनाथ को ही कन्नड-भागवतकार के रूप में स्वीकार करता आया है। कुछ भी हो, इस बात में संदेह नहीं कि चाटु विट्ठलनाथ 'भागवत' जैसा भक्तिपूर्ण ग्रन्थ कन्नड-साहित्य को देकर यशोभागी हुए हैं। कहा जाता है कि ये नाथ-सम्प्रदाय के अनुयायी थे।

कन्नड-भागवत एक बृहद् काव्य है। उसमें २८० संधियाँ (अध्याय) और बारह हजार से भी अधिक भामिनी षट्पदी छन्द हैं। इसका आधार संस्कृत भागवत है। इसे पूरा अनूदित काव्य न कहकर अनुकृति कहना अधिक संगत होगा। यह एक दृष्टि से हरिभक्ति-कोश है। संस्कृत भागवत में कृष्ण-कथा का जैसा क्रम और निरूपण है, कन्नड-भागवत का क्रम तथा रूप ठीक वैसा ही है। कवि के अनुसार हरि-गुण-चरित के वर्णन में भाषा-भेद बाधक नहीं होता।

चाटु विट्ठलनाथ ने कन्नड के लोकप्रिय कवि, महाभारतकार कुमारव्यास की शैली का अनुकरण किया है। कुमारव्यास के कारण ही कन्नड में भामिनी षट्पदी छंद अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। चाटु विट्ठलनाथ ने भी अपने भक्तिपूर्ण काव्य के लिए उसी छन्द को स्वीकार किया तथा भक्ति के प्रसंगों के वर्णन में कुमारव्यास के पथ का अनुगमन किया।

कन्नड-भागवत के प्रथम और द्वितीय स्कन्ध पीठिकारूप में है। तृतीय स्कन्ध से भागवत कथा का आरम्भ होता है। तृतीय से अष्टम स्कन्द तक ब्रह्मा का उदय, जय-विजय-शाप, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रियव्रत, जड़भरत, अजामिल, वृत्रासुर, प्रह्लाद, त्रिपुरासुर, गजेन्द्र, समुद्र-मन्थन, प्रभृति प्रसंगों तथा मोहिनी, वामन, मत्स्य आदि अवतारों की कथाएँ हैं। नवम स्कन्ध में अम्बरीष, भगीरथ, राम परशुराम आदि के चरित हैं।

कृष्ण-कथा का सुंदर और विस्तृत रूप दशम स्कन्ध में द्रष्टव्य है। यही ग्रंथ का प्रमुख भाग है। कृष्ण के निर्वाण की कथा एकादश स्कन्ध में है तो द्वादश स्कन्ध में भविष्यत् राजाओं का वर्णन है। यह ध्यान देने की बात है कि कथानक के निरूपण में कवि ने विशेष उत्साह दिखाया है। इन्होंने कृष्ण की बाल-लीलाओं, रासक्रीड़ा आदि का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। रात-दिन भगवान् का नामस्मरण करनेवाले भक्त के रूप में कंस का चित्रण पाठकों का ध्यान आकृष्ट करता है। सुन्दर भाषा और मनोहर शैली में काव्यरचना होने के कारण वह पंडित-पामर सभी में लोकप्रिय हुआ है।

कन्नड़-भागवत के दो छन्द नीचे दिये जा रहे हैं :

(१)

जो जो जगत्कारण चिन्मय
जो जगमंगळ गुणोदय
जो जगज्जन्मस्थितिप्रळयावहने जो जो
जो जगत्पावनने जो जो
जो जगज्जीवनने जो जो
जो जगद्व्यापकने जगद्वंदितने जो जो जो ।।

'माता यशोदा कहती है : 'सो जा, सो जा जगत्कारण, चिन्मय ! सो जा। जगत् के मंगल-गुणोदय सो जा। जगज्जन्मस्थिति-प्रलयावह ! सो जा, सो जा। हे जगत्पावन ! सो जा। हे जगज्जीवन, सो जा। हे जगद्व्यापक ! सो जा। हे जगद्वंदित ! सो जा, सो जा, सो जा !'

(२)

लीलेयलि मोलेयुण्डु दणिदा
बालकन मोगनोडि मुद्दिसि
सालदेने मग्गुललि महिमननप्पि कुळ्ळिर्दु
लालिसुत लक्ष्मीकराम्बुज
लालितांघ्रिय बायिदेरेयलि
बाले कंडळु कमलजाण्डकटाहमण्डलव ।।

'लीला से माता के स्तन का दूध पीकर थके बालक के चेहरे को देखकर (माता यशोदा) प्यार करने लगीं। (दूध) अपर्याप्त जानकर उन महान् बालक को गले लगाकर बैठी और लालन करने लगीं। (तब) बाला (यशोदा) ने लक्ष्मीकराम्बुज से लालितअंघ्रि (बालक) के खुले मुँह में ब्रह्मांड को देखा।'

एन. एस. द.

चिक्क देवराज

अप्रतिम वीर नरपति चिक्क देवराज ओडेयर (राजत्व काल सन् १६७२-१७०४ ई०) मैसूरके राजा थे। इनके राजत्व-काल में मैसूर-राज्य में वैष्णव-धर्म का विशेष प्रचार हुआ। इन्होंने राज्य की सम्पत्ति इतनी अधिक बढ़ायी कि इनको 'नवकोटि नारायण' कहा जाता था। ये स्वयं कवि थे और कवियों के आश्रयदाता थे। इनके समय में 'कन्नड-चंपू' काव्य-शैली ने नया आयाम देखा। इनके तीन काव्य प्रसिद्ध हैं: 'चिक्क देवराज बिन्नप' (विनय), 'श्रीगीतगोपाल', 'भागवत शेष धर्म मत्तु' भारत। 'चिक्कदेवराज बिन्नप' में यदुगिरि नारायण को सम्बोधित करके लिखे गये ३९ विनय-गद्य हैं जो भक्ति के निदर्शक है। उनमें वैष्णव-धर्म के तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है। गीत-गोविन्द की शैली में इन्होंने 'श्रीगीत-गोपाल' की रचना की है। वह गीत-प्रबन्ध है और उसमें सात सप्तपदियाँ हैं। वह भक्ति का प्रतिपादक सुन्दर ग्रन्थ है। उसमें गोपालकृष्ण को जगाने और गोपियों के विरह का लालित्यपूर्ण वर्णन है। विशुद्ध, आकर्षक कन्नड-शैली, भावोन्मेष तथा संगीतात्मकता के कारण 'गीत-गोपाल' कन्नड-साहित्य की एक अनुपम कृति मानी गयी है। 'भागवत, शेष धर्म मत्तु भारत' एक टीका-ग्रन्थ है। कुछ विद्वानों ने उसे चिक्क देवराज के मंत्री तिरुमलार्य की कृति मानी है।

'गीत-गोपाल' से दो पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

(१)

मूडवेळगायितेच्चरु मुद्दु गोपाला
आडुव मक्कळ निन्ननरसुत्ते बंदिवे नोडु ॥ (टेक)

मंगळमूरुति येळमक्कळ माणिकवे
तंगाळिय तण्पे नेरेंदिगळ सोंपे ।
मुंगुरुळनोसरिसे मोहनतिलकविट्टु
सिंगरिये निन्न मरिसगवेयेच्चरु बेग ॥

कट्टाणिमणिये येन्नकंद कण्ण पुण्यवे
पट्टदकुवर भूमिभाग्यफलवे ।
कट्टिद पोन्गेज्जे कालकडग घलिघलिरेने
दट्टडियिडुव कुलधनवे नीनेच्चरु बेग ॥

पोन्न पुत्थळिये पोच्च पोसपूविन सेंडे
कन्नडि कळसवे येन्न रन्नदोडवे ।
पोन्नुडेयनुडिसि मेय्य पोगर पोसतेनिसुवे
एन्नेळ गोवळराय येन्नाने येच्चरु बेग ॥

'माता यशोदा अपने लाल श्रीकृष्ण को संबोधित करती हुई कह रही हैं : 'प्यारे गोपाल, हे मंगलमूर्ति ! देखो तुम्हारे खेलनेवाले साथी बालक आ गये हैं। हे छोटे बच्चों के माणिक्य ! शीतल हवा की शीतलता और पूर्णचन्द्र की सुन्दरता ! आगे के बालों को सँवारकर मोहनतिलक लगाकर तुम्हारा अलंकार (सिंगार) करूँगी। छोटे सिंह ! जल्दी जागो। हे अनर्घ्य मणि, मेरे लाल, नेत्रों के पुण्य, राजकुमार, भूमिभाग्यफल ! बाँधे गये घुंघुरू और नूपुरों की झनक-झनक ध्वनि के साथ डगमग चरण रखनेवाले कुलधन ! जल्दी उठो। सोने की पुतली ! नव-नव पुष्पों के कंदुक (गेंद), दुलारे, मेरे रत्नाभरण ! पीताम्बर पहनाकर तुम्हारी छवि नवीन कर दूँगी। हे मेरे छोटे गोपाल-राज, मेरे गज ! जल्दी जागो।'

(२)

मंगळमूरुति मेय्दोरनम्मा
मनविडिदिरिलारेनम्मा ॥ (टेक)

नलियुतेन्निदिरिगे नडेतंदनम्मा ।
नडेदु नाणिगडिसिदनम्मा
हलवु मेय्सिरिगळ हरहिदनम्मा
हरसि हदगेय्दनम्मा ॥

कडेगण्ण तेरेगळ कविसिदनम्मा
कविसि कैगिडिसिदनम्मा ।
कुडुवुर्दुगळ कुणिसिदनम्मा
कुणिसि कग्गालेगोण्डनम्मा ॥

कोळल नुडिसि मोसगोळिसिदनम्मा
गोपालनेल्लिदनम्मा ।
ओळवगेयोळगेन्ननोडगुगेय्दनम्मा
ओळगुगेय्दोविदनम्मा ॥

एक गोपी दूसरी गोपी से कह रही है : 'अरी ! क्या मंगलमूर्ति तुझे दिखाई पड़े ? अब मैं अपने आपको वश में नहीं रख सकती। अरी ! नाचते हुए वे मेरे सामने आये और आकर मेरी लज्जा दूर कर दी। कई प्रकार से शरीर में पुलक उत्पन्न किये ! आशीष देकर परिपक्व किया। तिरछी दृष्टि की लहरें फैलाकर मुझे उन्होंने परवश कर दिया और रोमांच उत्पन्न कर दिया। मेरे व्यक्तित्व का ही नाश कर दिया। बाँसुरी बजाकर मुझे धोखा दिया। अरी ! वे गोपाल कहाँ हैं ? मुझे उन्होंने अपने वश में कर मेरी रक्षा की।'

एन. एस. द.

चिक्कुपाध्याय

मैसूर के राजा चिक्क देवराज ओडेयर (सन् १६७२-१७०४ ई०) के मंत्री चिक्कुपाध्याय पंडित और कवि के रूप में सुविख्यात हैं। इनका वास्तविक नाम लक्ष्मीपति था। ये यजुश्शाखा के पुरुकुत्स गोत्र के श्रीवैष्णव ब्राह्मण रंगाचार्य के पुत्र थे। काँची के वरदराज भगवान् इनके इष्टदेव थे। भक्ति-भावना से प्रेरित होकर इन्होंने वैष्णव-धर्म के प्रतिपादक अनेक ग्रंथों की गद्य और पद्य में रचना की है। उनकी संख्या तीस से अधिक बतायी जाती है। उनमें रुक्मांगद-चरित, विष्णुपुराण, दिव्यसूरिचरित, कमलाचल-माहात्म्य, तत्त्वत्रय और हस्तगिरि-

माहात्म्य विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने कुछ टीकाएँ भी लिखी हैं। संस्कृत और कन्नड़ दोनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। इन्होंने चम्पू-शैली में काव्य-प्रणयन द्वारा विशिष्टाद्वैत मत का प्रचार किया। इनकी पद-रचना सुन्दर है, किन्तु गद्य-शैली और भी मनोहर है।

इनके 'विष्णुपुराण' से दो छंद नीचे किये जा रहे हैं :

(१)

नीने ब्रह्मनुमीशनुं रविविधात्रं धातृवुं शक्रनुं
नीने वायुवुमग्नियुं वरुणनुं वित्तेशनुं धर्मनुं।
नीनेयिंदुवुमेल्लमुं बगेये नीने विश्वविश्वंगळं
नींनिंतागि पोदळ्दु रक्षिसुवे तत्तच्छक्ति भेदंगळिं॥
(४.१३९)

'अक्रूर भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहते हैं : 'भगवन्! तुम ही ब्रह्मा हो, शंकर हो, रवि, विधाता, शक्र हो। तुम ही वायु, अग्नि, वरुण, कुबेर और धर्म हो। तुम ही चन्द्र और सब कुछ हो। विचार करने पर तुम ही सम्पूर्ण विश्व हो। इस प्रकार तुम तत्-तत् शक्ति-भेद से विश्व की रक्षा करते हो।'

(२)

हरियिल्लदंबरं चं-
दिरनिल्लद रात्रि जीवमिल्लद देहं।
हरियिल्लद विपिनं नीं
स्फुरिसदमद्व्रजमजस्त्रफलमेनिक्कुं॥ (२.१०४)

'जैसे चन्द्रमा के बिना रात का आकाश और जीव के बिना देह अच्छा नहीं लगता, वैसे ही हरि के बिना विपिन और व्रज सूना प्रतीत हो रहा है।'

एन. एस. द.

चौण्डरस

चौण्डरस ब्राह्मणकुल में उत्पन्न बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के मध्य (११८५-१२४०) में विद्यमान वैष्णव कवि थे। इनके पिता का नाम मधुसूदन एवं माता का नाम मल्लाब्बा था। इनके सरस कवीश्वर नामक एक भाई भी थे। इनका विवाह लक्ष्मी से हुआ था।

ये पंढरपुर के विट्ठल भगवान् के भक्त थे। 'पण्ढरीराय-भृंग विट्ठलम् विट्ठलपादाम्भोजजात भृंग' आदि शब्दों का इनके काव्य में बार-बार प्रयोग मिलता है। इनके द्वारा विरचित वाणासुर-विजय कृष्णभक्तिपरक रचना है।

कृष्णभक्ति-व्यंजक इनका एक श्लोक नीचे दिया जा रहा है :

सकलांतर्यामी जीवप्रकट विविध चैतन्यरूपं जगद्व्या-
पकभावं विष्णुवेदांगमतांत सततं सार्वसम्बन्धदिं को॥
तुर्तदिदानाउदं बाण्णिसिदोडदु हरिस्तोत्रमेंदीगळी चि
त्रकथाविस्तारमं बण्णिसलोडरिसिदे सत्कविश्रेणि-
मेच्चल॥

'सकलांतर्यामी, जीवप्रकर, विविध चैतन्यरूप, जगद्व्यापक, एकभाव, विष्णु, कहो। आगम-समूह द्वारा निरंतर सर्वसम्बन्धों तथा कौतूहल से किसीका वर्णन करने पर वह हरिकीर्तन ही होगा। इस चित्रकथा का विस्तार से वर्णन करके मैंने कवियों के समूह की प्रशंसाके योग्य रचा।'

ललिताम्बा

जगन्नाथ दास

सम्प्रदाय में जगन्नाथदास के सम्बन्ध में यह श्लोक प्रचलित है :

जलजेष्टनिभाकरं जगदीश पदाश्रयम्।
जगतीतलविख्यातं जगन्नाथगुरुं भजे॥

ये गोपालदास के शिष्य थे। विजयदास इनके परम गुरु थे। हरिभक्त बनने के पहले इनका नाम श्रीनिवासाचार्य था। सन् १७२७ ई० में रायचूर जिले के मानवी नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम था नरसप्पा (जो हरिदास

बनने के बाद, नरसिंहदास कहलाये) और माता का नाम 'लक्ष्मक्का' था।

बालक श्रीनिवास बड़ा होनहार था। उसमें स्वाभाविक रूप से कवित्वशक्ति थी। एक बार जब इनको साथ में लेकर उसके माता-पिता मंत्रालय के श्रीराघवेन्द्र मठ के स्वामी श्रीवरदेन्द्र तीर्थ के दर्शन के लिए गये थे, तो इनकी प्रतिभा से स्वामीजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। इनके मुँह से 'वरदेन्द्र पंचक' रचना के छंद सुनकर वे अत्यंत प्रभावित हुए। उन्होंने इन्हें अपने पास ही रहने की आज्ञा दी। वहीं रहकर श्रीनिवास कवि, वाग्मी और षट्शास्त्र-पारंगत होकर श्रीनिवासाचार्य हुए। बाद में गुरु की आज्ञा के अनुसार 'मानवी' आकर इन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया।

श्रीनिवासाचार्य ने परान्न-निषेध का नियम रखा था। ये अतिशुद्धवादी थे। एकबार विजयदास ने इनसे भगवान् का प्रसाद ग्रहण करने का अनुरोध किया तो ये उदरशूल का बहाना कर गये और प्रसाद ग्रहण न करके विजयदास का अनादर किया। फलस्वरूप आगे चलकर वास्तव में इनको उदरशूल से पीड़ित होना पड़ा। अंततः स्वप्न में श्रीराघवेन्द्र स्वामीजी से आदेश पाकर सपरिवार चीकरपरवि में स्थित विजयदास की शरण में गये। विजयदास ने इन्हें अपने शिष्य गोपालदास के पास भेजा। गोपालदास की मंत्र-शक्ति से इनका उदरशूल शान्त हुआ। इसके बाद जब ये गोपालदास के साथ ब्रह्मोत्सव के लिए तिरुपति गये थे तो वहाँ अपमृत्यु के शिकार बने। गोपालदास-ने गुरु की आज्ञा से अपनी आयु से ४० वर्ष प्रदान कर इनको जीवित किया। तत्पश्चात् ये गोपालदास के शिष्य बने और उनसे विस्तार के साथ बिम्बोपासना का क्रम जाना।

'जगन्नाथदास' नाम से इनकी जो प्रसिद्धि हुई, उसके सम्बन्ध में बताया जाता है कि जब ये अपने गुरु से हरिदास-दीक्षा चाहने लगे तो गुरु गोपालदास ने कहा : 'दीक्षा पंढरपुर में मिलेगी।' तदनुसार ये पंढरपुर पहुँचे। भीमरथी (भीमा) नदी में स्नान करते समय इनको 'जगन्नाथविट्ठल' अंकित शिला प्राप्त हुई। यही छाप इनके पदों में प्राप्त होती है। पाण्डुरंग विट्ठल का दिव्य दर्शन प्राप्तकर ये ज्ञानी हुए और बारह दिन वहीं रहकर भगवान् की सेवा की। फिर अपने गुरु के पास आकर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया और परमगुरु का भी आशीर्वाद पाने के बाद अपने निवास-स्थान को लौट आये।

जगन्नाथदास ने अपने जीवनकाल में भागवत-धर्म के प्रचार का अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया। इन्होंने उत्तर भारत की यात्रा की और संस्कृत में संकीर्तन-पदों का प्रचार किया। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। इन्होंने गीता, ब्रह्मसूत्र और दशोपनिषदों का कन्नड़ में अनुवाद किया है। इनके 'हरिकथामृतसार' और 'तंत्रसार' ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। जनसामान्य को दृष्टि में रखकर इन्होंने नवग्रहस्तोत्र, तुलसी-स्तोत्र, शंकर-स्तोत्र आदि रचनाएँ कीं। इनके कुछ फुटकर पद भी प्राप्त होते हैं।

इनकी महिमा को प्रकट करनेवाली कई दन्त-कथाएँ प्रचलित हैं। स्थान-स्थान पर इन्हें आदर-सम्मान प्राप्त हुआ। तत्कालीन मैसूर के दीवान पूर्णय्या ने पालकी प्रदान करके इनका बड़ा सम्मान किया था। इनका निवासस्थान अब मंदिर बन गया है, जहाँ इनकी स्मृति के चिह्न पालकी और तंबूरा रखे हुए हैं। कहा जाता है कि सन् १८०९ ई० में भाद्रपद शुक्ल नवमी के दिन, भजन करते समय ब्रह्मरंध्र के मार्ग से इन्होंने अपने प्राण त्याग दिये।

भक्त के रूप में जगन्नाथदास का निश्चय ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्य और संगीत की इन्होंने अकथनीय सेवा की है। इनकी विशुद्ध भक्ति के व्यंजक दो पद नीचे दिये जा रहे हैं :

(१)

तटित्कोटिनिभकाय जगन्नाथविट्ठलय्या
विट्ठलय्या ॥ (टेक)

भजिसुवे निन्ननु अजभवसुरनुत
भक्त कामतरु कुजनकुठार ॥

नी करुणिसदे निराकरिसळु एन्न
साकुवरारु दयापरमूरुति ॥

शरणागतरनु पोरवेनेम्ब तव
बिरुदु कायो करिवरद जगन्नाथ ॥

'करोड़ों विद्युत् के समान शरीरवाले जगन्नाथ-विट्ठल, विट्ठल, हे अज-भव-सुरनुत, भक्तकामतरु, कुजनकुठार ! मैं तुम्हारा भजन करता हूँ। हे दया-मूर्ति ! तुम करुणा न कर यदि तिरस्कार करोगे तो मेरा पालन कौन करेगा ? हे करिवरद जगन्नाथ ! तुम अपने 'शरणागतरक्षक' विरुद की रक्षा करो।'

(२)

कृष्णराय निन्न कृत्यंगळनेल्ल
सृष्टियोळगे ना बीरल्या ॥ (टेक)

शिष्टरोळगिट्टु चिरकालदलि एन्न
कष्टव बिडिसवे इद्दीय ॥ (सह टेक)

जनन-मरण-शून्य वेनिसिकोण्डु गोपि-
तनय नागिद्दद्दु हेळल्या ।
सनकादिसेव्यमानने तुरुगळहिण्डु
वनदल्लि चरिसिद्दु हेळल्या ॥

दनुजभंजननाद घन महिमने माग-
धनिगंजि ओडिद्दु हेळल्या ।
दाणेयिल्लद सत्व रणदोळु पार्थगे
अनुगनागिद्दद्दु हेळल्या ॥

श्रुतितत्तिगळ वेद्य प्रतिथिल्लद दैव
सति निन्ननगलिद्दु हेळल्या ।
शतमोदबंधने सुतरपेक्षिसि-भूत-
पतियन्नु बेडिद्दु हेळल्या ॥

सतत तृप्तनागि क्षितियोळु बेण्णेय
मितिमीरि मेद्दद्दु हेळल्या
कृतिदेविरमणने अतिप्रीतियल्लि गोप
सतियर कूडिद्दु हेळल्या ॥

भूतळदोळु देवतेगळोडने ई
रीति-चरिसिद्दु हेळल्या ।

भीतिरहित जगन्नाथविट्ठलने अ-
द्भुत महिमनेंदु पेळल्या ॥

'हे कृष्णराज ! मैं संसार में तुम्हारे कृत्यों का विस्तार क्या करूँ ? शिष्टों के बीच चिरकाल से तुम मुझे कष्टरहित नहीं कर रहे हो। क्या मैं यह बताऊँ कि जन्म-मरणरहित होकर तुम गोपीतनय बनकर रहे ? हे सनकादिसेव्यमान ! वन में तुमने गायों को चराया, क्या इसके बारे में बताऊँ ? हे दनुज-भंजन, घनमहिम ! क्या मैं बताऊँ कि तुम मगधराज शिशुपाल से डरकर भाग गए ? क्या मैं बताऊँ कि तुम रण में अद्वितीय वीर पार्थ का अनुगमन करनेवाले थे ? हे वेदवेद्य, अप्रतिम देव ! क्या मैं यह बताऊँ कि तुम अपनी पत्नी से बिछुड़ गये थे ? हे शतानंदित ! क्या मैं बताऊँ कि पुत्रों की अपेक्षा से तुमने शंकरजी से प्रार्थना की थी ? क्या मैं यह बताऊँ कि सतत तृप्त रहनेवाले तुमने भूमि पर असीम मक्खन खाया ? हे भूदेवी के रमण ! क्या मैं बताऊँ कि तुमने अत्यन्त प्रेम से गोप-स्त्रियों के साथ मिलन किया ? इस प्रकार क्या भूतल पर देवताओं के साथ तुम्हारा विहार करना बताऊँ ? भीतिरहित, जगन्नाथविट्ठल ! क्या यह बताऊँ कि तुम अद्भुत महिमायुक्त हो ?'

एन एस. द.

तिप्पणार्य (नवसाल पुरी)

कन्नड-साहित्य में 'यक्षगान' एक विशेष प्रकार का दृश्यकाव्य है। यक्षगान-लेखकों में तिप्पणार्य का विशिष्ट स्थान है। इनका 'कालियमर्दन' कृष्णविषयक यक्षगान है जिसमें इन की उत्कट भक्ति प्रकट हुई है। प्रतीत होता है कि ये उन्नीसवीं शती के अन्त में जीवित थे। इनकी रचना 'कालिय-मर्दन' की अन्तिम पंक्तियों से ज्ञात होता है कि ये उलुचुकम्मे शाखा के चित्रविश्वामित्र गोत्र के ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम श्रीरंग और गुरु का चन्द्ररसार्य था। ये सम्भवतः स्मार्त-

भागवत थे। इनके पदों में 'खाद्रि नृहरि' (नरहर या नृसिंह) की छाप मिलती है।

कृष्णभक्ति-प्रदर्शक इनके दो पद नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं :

(१)

एनु धन्यळो गोपियेष्टु पुण्यळो ॥ (टेक)
श्रीनिवासनाद कृष्णन श्रृंगरिसुवळु कैयदणिय ॥
(सह टेक)

• • •

परमतंत्र स्वातंत्रतरन खाद्रि नारसिंहन
तुरुगळन्नु कायपोगि तिरुगिबारेम्बुवळु ॥

'कितनी धन्य है गोपी (यशोदा)! कितनी पुण्यवती है? जो श्रीनिवास कृष्ण का इस प्रकार श्रृंगार करती हैं कि हाथ संतुष्ट हो जायँ। परमतंत्र स्वतंत्र खाद्रि नरसिंह से कहती हैं कि गायों को चराकर वापस आओ।'

(२)

जय जय ते जगत्रयदेव ॥ (टेक)
जयाब्जजादि संस्तुत नामधेय ॥ (सह टेक)

गोकुलखेलन गोकुलपालन नाकजनावन
श्रीकर शशिवदन अनेकरूप वैकुण्ठसदन
कंजदळेक्षण कुंजररक्षण मंजुळभूषण
रंजित शुभचरण धनंजयार्तिविभंजननिपुण
दानवशोषक दीनसुपोषक मानसभावज-
जनक खाद्रि नृसिंह दयानिरवधिक ॥

'जगत्त्रयदेव! तुम्हारी जय हो, जय हो। कमलसंभव आदि से संस्तुत-नामधेय! तुम्हारी जय हो। गोकुल में खेलनेवाले, गोकुल के पालक, स्वर्ग-जनों से नमस्कृत श्रीकर, शशिवदन, अनेकरूप, वैकुण्ठ-वासी, कंजदलेक्षण, कुंजर-रक्षण, मंजुलभूषण, रंजित-शुभचरण, धनंजय की आर्ति (पीडा) दूर करने में निपुण, दानव-शोषक, दीनों के पोषक, मन्मथ-जनक, असीम दयानिधि खाद्रि नरसिंह! तुम्हारी जय हो।'

एन. एस. द.

तिम्मप्पदास

तिम्मप्पदास का वास्तविक नाम 'तिम्मप्पय्या' था। ये तिरुपति के भगवान् वेंकटेश्वर के भक्त थे। इनका समय सन् १७७०-१८६० ई० के बीच माना जाता है। इनका जीवन प्रायः चिक्क नायकनहल्लि, श्रीरंगपट्टण, अरकलगूडु और मैसूर में बीता। ये मैसूरनरेश मुम्मडि (तृतीय) कृष्णराज ओडेयर के समकालीन थे। इनके वंशज आजतक इनके पूजा-विधान की रक्षा कर रहे हैं।

तिम्मप्पदास के पिता का नाम नारायण और माता का नाम चेन्नम्मा था। इनकी पत्नी का नाम वेंकम्मा था। ये स्मार्त ब्राह्मणों की बब्बूरु कम्मे शाखा में हुए उत्पन्न थे। श्रृंगेरी-मठ के शंकराचार्य की शिष्यपरम्परा में इनका उल्लेख किया जाता है। इनके साक्षात् गुरु वासुदेवार्य थे, जो सम्भवतः इनके दादा थे। अपने पदों में इन्होंने वासुदेवार्य के प्रति अत्यधिक सम्मान प्रदर्शित किया है। रामकृष्णार्य और नीलकंठार्य इनके विद्यागुरु थे। अपने पदों में इन्होंने उनका भी आदरपूर्वक स्मरण किया है।

इनकी निम्नांकित रचनाएँ बतायी जाती हैं : १. पूजाविधान कीर्तनेगलु (१०८ पद), २. गुरुस्तुति-पर कीर्तनेगलु (पद) ३. सद्गुरु बोधानुवाद सुधे (पद) ४ आत्मनिवेदन आदि फुटकर पद ५. श्रीकृष्णबाललीले मत्तु अक्रूर-प्रकरण (पद) ६. जीवकाय-संवाद (वैराग्यविषयक पद और कंद नामक छंद, जो अपूर्ण है) ७. ध्रुव-चरित्रे (सांगत्य छंद का काव्य) ८. परब्रह्म-प्रकाशिके (गद्य में वेदान्त-ग्रंथ) और ९. भगवद्विलासदाट (भगवद्-विलास-क्रीडा, जो गद्य में है और अपूर्ण है)।

श्री शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैतसिद्धान्त तथा भक्ति का मणि-कांचनयोग तिम्मप्पदास की रचनाओं की विशेषता है। इनके पदों तथा अन्य रचनाओं में प्रगाढ़ कृष्ण-भक्ति व्यंजित हुई है। यहाँ दो पद उद्धृत किये जा रहे हैं :

(१)

देवकिय गर्भदलि लोकव
काव कृष्णनु बंदु नन्दन
ठाविनलि ता बेळेदु गोवनु
काव नेवदलि गोपगोपी
भाववनु नेलेगोळिसि दुष्टर
जीववनु नेरे तेगेद हागे
माव कंसगे मुक्तियित्ता
मातृ-पितृ-बंधनव बिडिसिद
भागवतवू लालिसिदनु देवदेवा ॥

—'भागवत' (पद)

'लोकरक्षक कृष्ण देवकी के गर्भ से आकर नंद के यहाँ बड़े हुए, गायों को चराने के बहाने गोप-गोपी-भाव को स्थिरकर दुष्टों के प्राण निकालकर फेंकते हुए उन्होंने मामा कंस को मुक्ति प्रदान की। माता-पिता के बंधन को तोड़कर देवदेव ने भागवत का श्रवण भी किया।'

(२)

नीनोब्बने देवनेन्दु पेळुतलिहुदु
सानुनयबुळ्ळ श्रुतियु कृष्णा
एनोंदु रूपागि तोरिदरू सकलवू
नीनल्लदन्यवुण्टे कृष्णा
एनेम्बे चिन्न हलवंददाभरणदलि
काणिसिदरदु भेदवे कृष्णा
नीने देवात्मकनु नीने ग्रहरूपकनु
नीनोलिद नरगे भयवे कृष्णा ॥

—'श्रीकृष्णपारम्य'

'हे कृष्ण! श्रुति सानुनय बताती है कि तुम ही एकमात्र देव हो (सर्वं ब्रह्ममयम्)। किसी भी रूप में दिखाई पड़ो, तुम्हारे अतिरिक्त और क्या है? कृष्ण! हेम (सुवर्ण) नाना आभरणों के रूप में दिखाई पड़ता है तो क्या वह भिन्न है? कृष्ण! तुम ही ग्रहरूप हो, जिस पर तुम्हारी कृपा होगी उसको किसका भय है, कृष्ण!'

तुंगम्मा

आनन्ददास की पुत्री तुंगम्मा का जन्म रायचूर जिले में हुआ था। लोगों का कहना है कि ये मधुर स्वर से गाती थीं। इनका गायन सुनकर पशु भी मंत्रमुग्ध हो जाते थे। ये वेदान्त के दुर्बोध तत्त्वों को भी सुबोध शैली में बताती थीं। भक्त के रूप में इनके पुण्य-नाम का स्मरण किया जाता है। माध्व-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से ये भलीभाँति परिचित थीं। कहा जाता है कि इन्होंने कुछ फुटकर पद रचे हैं, किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं।

एन. एस. द.

नरहरि तीर्थ

ईसा की तेरहवीं शती के कृष्णभक्त कवियों में नरहरि तीर्थ का नाम सुप्रसिद्ध है। ये जगद्गुरु मध्वाचार्य के प्रत्यक्ष शिष्य थे। श्रीमध्वाचार्य के बाद पद्मनाभ और उनके बाद नरहरि तीर्थ आचार्य-पीठ में अभिषिक्त हुए। पूर्वाश्रम में नरहरि तीर्थ का नाम स्वामी शास्त्री था। ये उड़ीसा के गजपति राजा के आश्रय में दफ्तरदार थे। इन्होंने राजा-प्रजा का समान रूप से सम्मान प्राप्त किया था। ये षट्शास्त्र-कोविद थे और इसी कारण सभी लोग इनको बहुत मानते थे। जब श्रीमध्वाचार्य बदरीनाथ-यात्रा समाप्तकर उड़ीसा पहुंचे तो उनसे नरहरि तीर्थ की भेंट ही नहीं हुई अपितु शास्त्रार्थ भी हुआ। आचार्यश्री के पांडित्य तथा उपदेश से प्रभाहोकर नरहरि तीर्थ उनके शिष्य बने और उनसे संन्यास भी ग्रहण किया। उड़ीसा में द्वैत-वेदान्त का जो प्रचार हुआ, उसका मुख्यतः श्रेय इन्हीं को है।

संन्यास ग्रहण करने के बाद भी नरहरि तीर्थ आचार्य के आदेशानुसार गजपति-राज्य में ही रहे। जब गजपति राजा की अकाल मृत्यु हुई तब महारानी के गर्भवती होने से राज्य का उत्तराधिकारी चुनने के लिए हाथी की सूंड़ में पुष्पमाला दी गयी। आश्चर्य यह है कि हाथी ने वहाँ उपस्थित किसी भी राजकुमार को न चुनकर नरहरि तीर्थ को राज्य के

उत्तराधिकारी के रूप में चुना। यह दैविक घटना थी। 'इंडियन एण्टिक्वेरी' के लेखक जी. वेंकोंबराव के अनुसार सन् १२६३ ई० में नरहरि तीर्थ ने राज्य-संचालन का भार ग्रहण किया। महारानी के सौभाग्य से उनको पुत्र की प्राप्ति हुई। जबतक राजकुमार राज्य-कार्य संभालने में समर्थ नहीं हुए तबतक नरहरि तीर्थ वहीं रहे। तत्पश्चात् ये वहाँसे उडुपि आ गये।

इन्होंने मूल राम-सीता विग्रहों को गजपति राजा से पारितोषिक के रूप में प्राप्तकर श्रीमध्वाचार्य को समर्पित किया। परम्परागत रूप में अब भी इन विग्रहों की उपासना हो रही है। ज्ञात होता है कि पद्मनाभ तीर्थ के बाद नरहरि तीर्थ ने आचार्य-आसन को १६ नवम्बर सन् १३२४ को सुशोभित किया।

यद्यपि नरहरि तीर्थ संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पंडित थे तथापि इन्होंने भागवत-धर्म के प्रचार की दृष्टि से आवश्यक माना कि कन्नड में भगवान् का नाम-संकीर्तन रचा जाय। इन्होंने बहुत-से पद रचे हैं जिनका व्यापक प्रचार है। ये न केवल संन्यासी थे, अपितु राजर्षि थे और समाज के अभ्युदय के लिए वांछित उपदेश दिया करते थे।

इनके पदों की भाषा में प्रक्षिप्तता का अंश भी मिल गया हो तो आश्चर्य नहीं; क्योंकि मौखिक परम्परा से ही इनके पद अबतक प्रचलित हैं। वे सभी राग-तालबद्ध हैं। उनमें से दो नीचे दिये जा रहे हैं:

(१)

हरिये इदु सरिये। (टेक)

चरण सेवकनल्लि करुण वारदयाके॥ (सह टेक)

पतितनेन्दु श्रीपति रक्षिसदिरे
विततबाहुदे निन्न पतितपावन कीर्ति।

शक्त नीनागिद्दु भक्तनुपेक्षिसे
भक्तवत्सल नाम व्यर्थवागदे।

दिगिलिल्लदे ओद्द भृगुव पालिसिदे
नगधर एन्न विडुव जगे एनिदु।

हेय अजामिलन कायलिल्लवे स्व-
कीयने, ना परकीयने निनगे।

उंडु हिरण्यकन कंटक विडिसिद्दु
नंटने निनगे भंट नानल्लवे ?

केट्ट अहल्येय धिट्ट पालिसिदे
कोट्टळ अवळेन बिट्टद्दु नानेन।

धोरे निम्न मनसिगे सरिवंदंते माडु
मोरे होक्केनु ना नरहरि पूर्णने॥

'श्रीहरि! क्या यह ठीक है? चरण-सेवक के प्रति करुणा क्यों नहीं आती? पतित की रक्षा श्रीपति नहीं करेंगे तो तुम्हारी 'पतितपावन' कीर्ति सार्थक कैसे होगी? समर्थ होकर भी यदि तुम भक्त की उपेक्षा करोगे तो क्या 'भक्तवत्सल' नाम व्यर्थ नहीं होगा? निर्भय होकर जिस भृगु ने लात मारी उसका तुमने पालन किया। तब हे नगधर! मुझे छोड़ देने का यह विधान कैसा? क्या तुमने हेय अजामिल का रक्षण नहीं किया? क्या वह स्वकीय था और मैं तुम्हारे लिए परकीय हूँ? हिरण्यक के कंटक को तुमने दूर किया था, क्या वह तुम्हारा सम्बन्धी था और मैं तुम्हारा दास नहीं हूँ? पतिता अहल्या की तुमने पूरी रक्षा की, उसने तुम्हें क्या दिया और मैंने क्या नहीं दिया? हे स्वामी, हे परिपूर्ण! तुम अपने मनोनुकूल ही करो। मैं तो तुम्हारी शरण में आ गया हूँ।

(२)

एन्तु मरुळादे ना नेन्तु मरुळादे। (टेक)
एन्तु मरुळादे भवदोळु वळलिदे
संतत पोरे रघुकुल-तिलक॥ (सह टेक)
मातिनल्लि हरिदासतन नीतियल्लि प्रभुदासतन।
प्रीति-धनादि विषयदल्लि निर्भीति दैव-गुरु-द्रोहदलि॥
एकान्तदल्लि धनद गोष्ठि लोकान्तदि वैराग्यद गोष्ठि।
श्रीकान्तन सेवेगे अनुमान भूकान्तन सेवेगे सुम्मान॥

धर्मक्के ओन्दु कासु साविर होन्नु
अधर्मक्के कोटि होन्नु ओन्दे काळु।
धर्म माडलु बेसरिके अधर्म माडलु एच्चेरिके ॥

डोम्बनन्ते वयलिगे हरहि डम्पतनके कर्मवमाडि।
अम्बुजनाभगे दूरागि कुम्भीपाकक्के गुरियादे ॥

सतियर वैदरे ना वैय्वे श्रीपतिय वैदरे केलुत नगुवे।
मतिगेट्टु विषयलम्पटनागि······॥

यारिगागि धावति पडुवे इन्नारिगे ओड्वेय वच्चिडुवे।
नारि पुत्र मित्रादिगळु यारु वाररो संगडदो ॥

भजिसु ब्रह्मादिवंदित हरिय त्यजिसु कामादि दुर्विषय।
सुजन वंदितनाद नरहरिय भजिसु श्रीश श्रीरघुपतिय ॥

'मैं कैसा मूढ़ बना, कैसा मूढ़ बना ? रघुकुलतिलक ! भव में थक गया हूँ, निरन्तर रक्षा करो। बात करने में तो मैं हरिभक्त कहलाता हूँ पर व्यवहार में तो प्रभुता है। धनादि-विषयों में प्रीति रखता हूँ। देव-गुरुद्रोह के विषय में मुझे भय नहीं है। एकान्त में तो धन की बातें करता हूँ और बाहर वैराग्य की बातें। श्रीकान्त की सेवा का दिखावा करके भूकान्त अर्थात् राजा की सेवा में विशेष अनुरक्ति रखता हूँ। धर्म के लिए तो एक कौड़ी ही है जा एक हजार के बराबर है, अधर्म के लिए तो एक करोड़ है जो एक कौड़ी के बराबर है। धर्म करने में तो अनासक्ति और अधर्म करने में बड़ा उत्साह रहता है। डोम जैसे सब वस्तुएँ बाहर फैलाकर, दाम्भिक कर्म कर, भगवान् से दूर रहकर कुम्भीपाक नरक के योग्य बना हूँ। पत्नी को कोई गाली दे तो मैं उसे गाली दूँगा, पर भगवान् को कोई कोसे तो मैं हँसते हुए सुनूँगा। मतिहीन होकर विषयलम्पट बना हूँ।······किसके लिए मैं यह भाग-दौड़ करूँ और किसके लिए आभरण सुरक्षित रखूँ ? नारी, पुत्र, मित्रादि कोई भी साथ नहीं जायँगे। इसलिए (हे मन !) ब्रह्मादि-वंदित श्रीहरि का ही भजन कर और कामादि दुर्विषय छोड़ दे। सज्जनों से वंदित श्रीश, श्रीरघुपति, नरहरि का भजन कर।'

एन. एस. द.

नारायणदास

भक्त तिम्मप्पदास के ज्येष्ठ पुत्र नारायणदास का समय सन् १८२३ से १९०२ ई० तक माना जाता है। शृंगेरीमठ के शंकराचार्य के शिष्य-जनों में इनका नाम लिया जाता है। इन्होंने शृंगेरी के जगद्गुरु श्री नृसिंहभारती स्वामी (१८०७-१८७९ ई०) पर एक पद की रचना की है। ये 'बब्बूरुकम्मे' शाखा के ब्राह्मण थे। भगवद्भक्तों के लिए भी इन्होंने कुछ पदों की रचना की है। ये कन्नड़, संस्कृत और तेलुगु भाषाएँ जानते थे। इनका एक पद तेलुगु में है। सम्भवतः 'सालग्राम-लक्षणम्' नामक ग्रंथ इनका लिखा हुआ है। इन्होंने अधिक पदों की रचना तो नहीं की, फिर भी इनके पदों में विशुद्ध भक्ति प्रकट हुई है। श्री एम. वी. सीतारामय्या ने, जो इनके वंशज हैं, इनके ३७ पदों का संग्रह 'नारायणदासर कीर्तन-कुसुमांजलि' नाम से प्रकाशित किया है। उसमें से श्रीकृष्ण-भक्तिपरक दो पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं। इनके पदों में 'नारायण' की छाप है। ये तिरुपति वेंकटेश्वर के भक्त थे :

(१)

बारो बारो श्रीवेणुगोपाल एनगें नी
तोरो तोरो निन्न मूर्तिय ॥ (टेक)

वसुदेवात्मज वारिजलोचन
शशिमुखियर कूडि सरसवाडुत बा ॥

नीलाळकावृत नित्य निरामय
फालतिलक भक्तजालपोषक बा ॥

मकरकुण्डलधर मन्मथमोहन
प्रकटित महिम नी प्रभेय बीरुत्त बा ॥

मंदस्मितानन मधुर-मंजुळ-भाष
सिंधुगभीर पुरदरनुत बा ॥

नीलमेघश्याम निरुपम वनमालि
बालर कूडि नी नोलाडुत बा ॥

पीतवसन भक्तपातकहर सर्व-
भूतावासने पशुव्रातपालक बा ॥

निन्न महिमगळ वर्णिसलळवल्ल
पन्नगशयन सुपर्णवाहन बा ॥

भवशरधियोळ् बिद्दु भंगपडुतलिहे
भवभयहर एन्न बवणे तप्पिसे बा ॥

तिरुपति श्रीधर वेंकटेशने
तरळ नारायणदासगोलिदु बा ॥

'आओ, आओ श्रीवेणुगोपाल ! अपना रूप दिखाओ, दिखाओ। वसुदेवात्मज, वारिजलोचन ! शशिमुखियों (गोपियों) के साथ सरस क्रीड़ा करते हुए आओ। नील अलकों से आवृत, नित्य, निरामय, भालतिलक, भक्तजनों के पोषक ! आओ। मकर-कुण्डलधर, मन्मथ-मोहन, महामहिम ! अपनी प्रभा प्रकट करते हुए आओ। मंदस्मित-वदन, मधुर-मंजुलभाषी, सिंधु-गंभीर, पुरंदर (इंद्र) से वंदित ! आओ। नीलमेघ-श्याम, निरुपम वनमाली ! बालकों के साथ खेल-कूद करते हुए आओ। पीतांबरधारी, भक्तपापहर, सभी भूतों में रहनेवाले, गोवृंद की रक्षा करनेवाले ! आओ। तुम्हारी महिमा का क्या वर्णन किया जाय ? पन्नगशयन, सुपर्णवाहन ! आओ। भव-समुद्र में पड़कर विकल हूँ। भवभयहर ! मेरे कष्ट दूर करने के लिए आओ। तिरुपति, श्रीधर, वेंकटेश ! बालक नारायणदास पर कृपा करके आओ।'

(२)

बेग बारो रंग ! कुणि कुणियुत
बेग बारो रंग ॥ (टेक)

बेग बारो रंग बेडग बोरुत नीनु
सागरात्मजाकांत सरसिजाम्बक
दयदि बेग बारो रंग ॥ (सह टेक)

नंदगोपाल नवनीतचोर
कुंद तुलसीमाल
मंदहासमुख मदनजनक सुर-
वृंद-वंद्य सुखदायक नी दयदि ॥

वेणुगानलोल गोपिकाजार
दीनभक्तपाल
भानुकोटिनिभ भवभयपरिहर
काणिसु कमनीय मूर्तिय नी दयदि ॥

शेषगिरिनिवास गुरुवासुदेव-
वेष वेंकटेश
पाशवळिदु नारायणदासन
पोषिसु चिक्क नागपुरदि निरुत दयदि ॥

'हे कृष्ण ! जल्दी आओ, नाचते-नाचते जल्दी आओ। सागरात्मजाकांत, सरसिजाम्बक (कमलनयन) ! दयाकर तुम जल्दी आओ। नन्दगोपाल, नवनीतचोर, कुंदतुलसीमाल, मंदहास-मुख, मदनजनक, सुरवृंदवंद्य सुखदायक ! दया कर तुम जल्दी आओ। वेणुगानलोल, गोपिकाजार, दीनभक्तपाल, भानुकोटिनिभ, भवभयहर ! तुम दया करके अपनी कमनीय मूर्ति दिखाओ। शेषगिरि-(तिरुपति) निवास, गुरु वासुदेव-वेषधारी, वेंकटेश ! पाश दूर कर सदैव चिक्कनागपुर) चिक्कनायकनहल्लि-कवि का निवास-स्थान) में नारायणदास की सदय रक्षा करो।'

एन. एस. द.

पाण्डुरंगदास

कर्नाटक की कृष्णभक्त-परम्परा में सर्वप्रथम उल्लेख्य अचलानंददास की संतति-परम्परा में पाण्डुरंगदास का नाम आता है। तुमकूर जिले के तुरुवेकेरे नामक गाँव में इस वंश के लोग अबतक विद्यमान हैं। जिस समय तुरुवेकेरे पर 'अण्णय्यनायक' नामक छोटे सामंत राजा का आधिपत्य हुआ, उस समय पाण्डुरंगदास वहीं थे। इनका समय ईसा की सोलहवीं-सत्रहवीं शती माना जा सकता है।

पाण्डुरंगदास प्रभावशाली भक्त थे। इनके व्यक्तित्व से आकर्षित होकर अण्णय्यनायक ने इनके निवासस्थान पर गंगाधरेश्वर-मंदिर का निर्माण कराया था। इसके अतिरिक्त इनके लिए उन्होंने एक छोटा सा कृष्ण-मंदिर भी 'विट्ठल-देवालय' नाम से बनवाया था। वह मंदिर

आज भी भक्त पाण्डुरंगदास के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ लोग पाण्डुरंगदास से ईर्ष्या करते थे, उनके कारण ये नायक के कोपभाजन बने। बात यह थी कि पाण्डुरंगदास परान्न नहीं खाते थे। जो लोग इनसे ईर्ष्या करते थे, उनकी प्रेरणा से नायक ने गंगाधरेश्वर-मंदिर में एक भोज का आयोजन किया, जिसमें पाण्डुरंगदासनहीं गये। इससे कुपित हो नायक ने इनके वंशजों को प्राप्त बारह ग्रामों को छीन लिया। तब पाण्डुरंगदास विट्ठल-मंदिर में रहने लगे। बाद में इन्होंने उसके पास ही एक नृसिंह-मंदिर का निर्माण कराया और वहाँ अपने लिए भी निवास-स्थान बनवाया। कालान्तर में इनके वंशजों को मैसूरराजाओं द्वारा अपनी पूर्व सम्पत्ति प्राप्त हो गयी। इनकी रचना के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

एन. एस. द.

पावंजे लक्ष्मीनार्णप्पय्या

आधुनिक युग के कर्नाटक के हरिदासों (भक्तों) में पावंजे लक्ष्मीनार्णप्पय्या का नाम सुप्रसिद्ध है। इनका जन्म सन् १८५४ ई० में दक्षिण कन्नड़ जिले के अत्तूरु नामक गाँव में और स्वर्गवास सन् १९२४ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम वेंकटकृष्णय्या था। ये गौड़ सारस्वत ब्राह्मण थे। कुछ दिन ये श्रीकाशीमठस्थ श्रीभुवनेन्द्रतीर्थ स्वामीजी के आश्रय में रहे। इन्होंने जीवन में बहुत-से उतार-चढ़ाव देखे थे। इनका विवाह हुआ था, पर एक विरक्त की भाँति जीवनयापन करते थे। यद्यपि ये विशेष पढ़े-लिखे न थे; तथापि इनको आशु-कविता करने की शक्ति प्राप्त थी। इनके पदों में सरलता और सुबोधता है। अतः ये पंडित और सामान्य जनता दोनों के लिए समान रूप से समादरणीय रहे हैं। इनकी रचनाओं में 'लक्ष्मीनारायण' छाप पायी जाती है। उनमें सभी देवी-देवताओं के प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित हुआ है। कृष्णभक्तिपरक इनके दो पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

(१)

एनु पुण्यवो यशोदेय
परीक्षितराय
याव पुण्यवो यशोदेय ॥ (टेक)

चेन्न केशवन्न तन्न
चिन्ननेंदु मुद्दिसि
बण्णिसि मोलेयनुण्णिसि
चिन्नद तोट्टिलोळिट्टु तूगुव ॥

अगणित ब्रह्माण्डगळ त-
न्नुदरदोळगिसिदन
मुगुळुनगेय मोगव नोडि
मगनेंदाडि पोगळि पाडुव ॥

लक्ष्मीनारायणन प्र-
त्यक्ष बाललीय
चक्षुदणिये नोडुतन्य
पेक्षयिल्ल दिहळो अहो ॥

'राजा परीक्षित ! क्या ही पुण्य है यशोदा का, कैसा पुण्य है यशोदा का ? चेन्नकेशव (सुंदर बालक कृष्ण) को अपना लाल समझकर प्यार करती हुई, बखान करती हुई, स्तन्यपान कराती हुई, सोने के पालने में रखकर झुलानेवाली (यशोदा का क्या ही पुण्य है !) अगणित ब्रह्माण्ड को अपने उदर में रखनेवाले के मुस्कान-भरे मुख को देखकर, पुत्र समझकर गुणगान करने वाली (यशोदा का क्या ही पुण्य है !) अहा ! लक्ष्मीनारायण की बाललीला आँखें भरकर देखती हुई वे अन्य की अपेक्षा ही नहीं करतीं।'

(२)

राधाकृष्ण राधाप्रेमद सुप्र-
सीद श्रीद जय ॥ (टेक)
राधावक्षस्थलकृतभूषण
राधानयनाम्भोरुहपूषण
राधाश्लेषणतोषण राक्षस-
भीषणाघदूषण विशेषण ॥

राधारासक्रीडनासक्त
राधामानसंबोधनसूक्त
राधारमण राधार्तिहन
राधेंगितपारंगत सुस्थित ॥

राधालक्ष्मीनारायण जय
राधाराधितपद सुश्रेय
राधाकृतपरिचर्यं सून्नत–
वीर्यवर्य सूर्यान्तर्यंग ॥

'हे राधा के कृष्ण, राधा के प्रेम से प्रसन्न, श्रीद ! तुम्हारी जय हो, राधावक्षस्थलकृतभूषण, राधानयनाम्भोरुहपूषण (राधा के नेत्रकमलों को सूर्यवत् विकसित करनेवाले) राधाश्लेषणतोषण, राक्षस-भीषण, अघदूषण, विशेषण, रासक्रीडा में आसक्त, राधामान-संबोधनसूक्त, राधारमण, राधा-दुःखनिवारक, राधा-इंगित के ज्ञाता, सुस्थित, राधा-लक्ष्मीनारायण ! तुम्हारी जय हो। राधा से आराधित-चरण, सुश्रेय, राधाकृतपरिचर्यावाले, नमस्कृत होनेवाले, वीर्यवर्य, प्रकाशमान ! तुम्हारी जय हो।'

एन. एस. द.

पुरन्दरदास

सन्त, भक्त और महात्मा पुरन्दरदास कर्नाटक संगीत और कन्नड-साहित्य के शिरोमणि हैं। इनका नाम लोकविश्रुत है। सम्प्रदाय में इनके सम्बन्ध में यह श्लोक प्रसिद्ध हैः

मन्मनोभीष्टदातारं सर्वाभीष्टफलप्रदम्।
पुरंदरगुरुं वन्दे दासश्रेष्ठं दयानिधिम् ॥

ये स्वामी व्यासराय के प्रमुख शिष्य थे। संसार में शिष्य-गुरु की प्रशंसा करते दिखाई पड़ते हैं, पर शिष्य की प्रशंसा करनेवाले गुरु विरले ही होंगे। पुरंदरदास की निर्मल और परिपूर्ण भक्ति से प्रभावित होकर गुरु व्यासराय ने अपने एक पद में इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा है कि "भक्त है तो पुरंदरदास ! और गीत-नर्तन से श्रीकृष्ण की पूजा करनेवाले पूतात्मा पुरंदरदास !' कर्नाटक में भागवत-धर्म के प्रचारक महापुरुषों में पुरंदरदास का नाम सर्वोपरि है। कन्नड-समाज पर इनका प्रभाव अक्षुण्ण है। इन्होंने भागवत-धर्म के उपदेश के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया, पद-रचना-साहित्य को नया आयाम दिया। दक्षिण भारत में सर्वत्र इनका स्मरण किया जाता है। इनके पदों का गायन होता है। वस्तुतः ये 'कर्नाटक संगीत के पितामह' माने जाते हैं। कहा जाता है कि कर्नाटक संगीत के मेरुदंड श्रीत्यागराज स्वामी की माता पुरंदरदासजी के पदों को गाया करती थीं जिसका प्रभाव त्यागराज स्वामी पर पड़ा। पुरन्दरदास द्वारा सम्पन्न अनेक महान् कार्यों को देखते हुए श्रद्धालु लोग इन्हें 'मनुष्य के रूप में अवतरित देवता' मानते हैं। परवर्ती भक्तों ने अपने पदों में इस बात का उल्लेख भी किया है। इनके अग्रणी शिष्य विजयदास ने अपने एक पद में इनके चरित का गान करते हुए कहा है कि 'ये देवर्षि नारद के अवतार थे।'

पूना नगर से अठारह मील दूर 'पुरन्दरगढ़' नामक स्थान है जहाँ करोड़पति 'वरदप्प नायक' का निवास था। उन दिनों पुरंदरगढ़ एक प्रसिद्ध दुर्ग था। वह कर्नाटक के अन्तर्गत था और वहाँ कन्नड़ भाषा बोली जाती थी। पुरन्दरदास का जन्म वरदप्प नायक के यहाँ शक संवत् १४०६ (१४८४ ई०) में हुआ था। माता-पिता ने अपने बालक का नाम 'श्रीनिवास नायक' रखा। श्रीनिवास ने वयोधर्म के अनुसार विद्याध्ययन कर शास्त्र-पांडित्य प्राप्त किया, संगीत में रुचि होने के कारण उसकी भी साधना की। जब ये अठारह वर्ष के युवक हुए तब सरस्वती बाई नामक कन्या से इनका विवाह हुआ। सरस्वती बाई भी धनवान् पिता की पुत्री थीं। वह रूपवती और और गुणवती थीं। उनमें औदार्य की कमी नहीं थी। इसके विपरीत श्रीनिवास नायक में औदार्य का अभाव था, धन का लोभ था, लोभ-गुण ने इन्हें एक प्रकार से नास्तिक बना दिया था। ये सोना, चाँदी और रत्नों

के व्यापारी थे। बीजापुर, गुलबर्गा और विजयनगर के राजाओं तक इनकी प्रसिद्धि थी। कालक्रम से इनके चार बेटे और एक बेटी हुई। अन्तिम बेटे को छोड़कर शेष तीनों का विवाह भी हो गया। इतना सब होते हुए भी इनकी धनार्जन की पिपासा कम नहीं हुई। धन के प्रति इनके मन में जितना आकर्षण था, पत्नी-पुत्रों के प्रति उसका चतुर्थांश भी नहीं था। पैंतीस वर्ष की आयु होने पर भी इनमें अध्यात्म और धर्म की आसक्ति लेशमात्र भी नहीं थी। किंतु सरस्वती बाई आस्तिक तथा धर्माचरणतत्पर थीं।

इसी बीच श्रीनिवास नायक के जीवन में अकस्मात् एक विचित्र घटना घटी। परमात्मा की लीला विचित्र है। वे अपने भक्तों को कभी नहीं छोड़ते। एक बार एक वृद्ध ब्राह्मण इनकी दूकान के पास आकर बोला : 'मैं अपने पुत्र का उपनयन करना चाहता हूँ, सहायता करो।' नायक को दरिद्रों से घृणा थी। उन्होंने पहले कुछ नहीं दिया, बाद में ब्राह्मण के गिड़गिड़ाने पर एक कानी कौड़ी उसके सामने फेंक दी। पर वृद्ध उसको लिये बिना चला गया। फिर वह नायक की पत्नी के पास गया और उनसे सहायता माँगी। नायक की पत्नी सरस्वती बाई पतिपरायणा थीं। वे पति की आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं करती थीं। पति की सम्पत्ति दान देने का उन्हें अधिकार नहीं था। जब विप्र के मुख से उन्होंने सुना कि 'अपने मायके की वस्तु वह दान में दे सकती हैं' तब उन्होंने अपना नासाभरण उसे दान में दे दिया।

नासाभरण लेकर ब्राह्मण उसे बेचने के लिए नायक की ही दूकान पर गया। नायक को संदेह हुआ। वह ब्राह्मण को दुकान पर ही बैठाकर, नासाभरण को सुरक्षित रूप में पेटी में रखकर ताला बन्द कर के अपने घर आया और पत्नी से पूछने लगा : 'तुम्हारा नासाभरण कहाँ है ?' सरस्वती बाई पति के स्वभाव को जानती थीं, वे भयभीत हो गईं। उन्होंने कहा : 'पूजागृह में होगा।' पति का आदेश हुआ : 'उसे ले आओ।' सरस्वती बाई चिन्तित हुईं। वे पूजागृह में गयीं। उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की और विषपान कर अपने प्राण त्यागने की बात सोची। विष का प्याला हाथ में लेकर पान करना ही चाहती थीं कि ऊपर से उसमें नासाभरण आ गिरा। सरस्वती बाई चकित हो उठीं। वे दयालु भगवान् की लीला की मन ही मन स्तुति करने लगीं। नासाभरण लाकर अपने पति को सौंप दिया।

यह विचित्र लीला देखकर श्रीनिवास नायक चकित हो उठे। उन्होंने उलट-पुलट कर कई बार उसे देखा। यह वही था जिसे ब्राह्मण दुकान पर बेचने-हेतु लाया था। वे दौड़कर दुकान पर गये। तब तक ब्राह्मण वहाँसे चला गया था। पूछने पर मालूम हुआ कि वह मन्दिर के भीतर गया है। नायक ने अपनी पेटी खोलकर देखी। उन्हें उसमें नासाभरण नहीं मिला। पेटी से वह एकाएक कैसे लुप्त हो गया, यह एक आश्चर्य की बात थी। वे फिर घर आये और पत्नी से विवरण ज्ञात किया। तब उनके मन में रत्तीमात्र भी संदेह नहीं रह गया कि विप्रवेष में भगवान् पाण्डुरंग ही उनकी परीक्षा लेने के निमित्त पधारे थे। इस घटना से उनमें सहसा परिवर्तन हो गया तथा मन में तीव्र विरक्तिभाव का उदय हो गया। अपनी समस्त सम्पत्ति त्यागकर वे भगवान् के दास बन गये। पत्नी और पुत्र को साथ लेकर स्वप्न में मिले पाण्डुरंग-बिट्ठल के आदेशानुसार वे गुरु व्यासराय के पास हंपी गये।

भगवान् और गुरु की कृपा से श्रीनिवास नायक का व्यक्तित्व ही बदल गया। ये पुरन्दरदास नाम से प्रसिद्ध हो गये और 'पुरंदर-विट्ठल' की छाप से पदों की रचना आरम्भ कर दी। गुरूपदिष्ट मंत्र का जप करते हुए ये कृतकृत्य हो गये। कहा जाता है इन्हें भगवान् के मंगलमय दर्शन भी हुए, उस समय ये पुलकित होकर गा उठे :

इंदिन दिनवे शुभ दिनवु। इंदिन वार शुभवार।
इंदिन तारे शुभ तारे। इंदिन योग शुभ योग॥

इंदिन करण शुभ करण । इंदु पुरंदरविठ्टलरायन ।
संदरुशन फलवेनगाय्तु । संदरुशन फलवेनगाय्तु ॥

'आज का दिन ही शुभ दिन है, आज का वार ही शुभ बार है। आज का तारा ही शुभ तारा है, आज का योग ही शुभ योग है। आज का करण ही शुभ करण है। आज पुरन्दर-विट्ठल भगवान् के दर्शन का सुफल मुझे मिला, आज दर्शन का सुफल मुझे मिला।'

आनन्द-परवश होकर ये **कृष्णामूर्ति कण्णामुंदे नितिछंतिदे** (कृष्ण की मूर्ति मानो आँखों के सामने है) जैसे कई पद गाने लगे। इन्होंने पदों में अपनी पत्नी के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त की है जिनके कारण ये भक्त और ज्ञानी हुए और इन्हें परमात्मा के दर्शन हुए।

कर्नाटक में पुरंदरदास की महिमा व्यक्त करनेवाली अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। उनका सार यही है कि भगवान् पांडुरंगविट्ठल के ये पूर्ण अनुग्रह के पात्र थे। 'यथालाभ संतोष' इनके जीवन का आदर्श बन गया। ये अपनी पत्नी और पुत्र से कहते थे: 'जो मिलता है उसीसे संतुष्ट रहो, उधार मत लो, कल की चिन्ता मत करो।' इन्होंने देश के पुण्यक्षेत्रों के दर्शन किये और नाना संकीर्तन-पदों की रचना की। इनके पदों की संख्या चार लाख पचहत्तर हजार बतायी जाती है। आजके कई विद्वान् इस संख्या के संबंध में संदेह प्रकट करते हैं, किन्तु पुरन्दरदास के आशुकवित्व पर विश्वास करनेवालों को यह संख्या आश्चर्यजनक प्रतीत नहीं होती।

पुरंदरदास की रचनाओं में श्रीकृष्ण-लीला का जैसा वर्णन है, वह भागवतपुराण का सार है, उपनिषदों का निचोड़ है और है आध्यात्मिक ज्योति! इनके पदों को 'पुरन्दरोपनिषद्' कहा जाता है। अपने समय के समाज की इन्होंने खुलकर आलोचना भी की है। मानव-प्रकृति का जितना सूक्ष्म ज्ञान इन्हें था, उतना बहुत कम कवियों में देखने को मिलता है। भाषा, साहित्य और संगीत की दृष्टि से भी इनके पद अनुपम हैं। एक-एक पद एक-एक रत्न है। प्रत्येक पद में इनके जीवन का अनुभव बोलता है और वह अमूल्य संदेश से युक्त है। इनका गोलोकवास १५६४ ई० में हुआ।

इनके दो पद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:

(१)

नीनेको निन्न हंगेको निन्न
नामद बलवोंदिद्दरे साको ॥ (टेक)

करि मकरिगे सिक्कि मोरेयिडुतिरुवाग
आदिमूलनेम्ब नामवे काय्तो ॥ (सह टेक)

प्रह्लादन पित बाधिसुर्ा रुवाग,
नरहरियेम्ब नामवे काय्तो ।
बालेय सभेयल्लि सीरेय सेळेश्राग,
कृष्ण कृष्ण एम्ब नामवे काय्तो ॥

यमन दूतरु बंदु अजमिळनेळेवाग,
नारायणनेम्ब नामवे काय्तो ।
आमर ईमर एंदु ध्यानिसुतिरुवाग,
राम राम एम्ब नामवे काय्तो ॥

हसुळे आ ध्रुवराय अडविगे पोपाग,
वासुदेवनेम्ब नामवे काय्तो ।
निन्न नामके सरि काणेनु जगदोळगे,
घनमहिम श्रीपुरंदरविठल ॥

'भगवन्! तुम्हारी आवश्यकता ही क्या है? तुम्हारा उपकार भी क्यों? केवल तुम्हारे नाम का एकमात्र सहारा रहे तो पर्याप्त है। मकर से ग्रस्त गज जब 'पाहि-पाहि' पुकारने लगा, तब 'आदिमूल' नामक नाम ने ही रक्षा की। जब प्रह्लाद को उसका जनक ताड़ना देने लगा तब 'नरहरि' नाम ने ही उसकी रक्षा की। सभा में जब बाला (द्रौपदी) की साड़ी खींची जाने लगी तब 'कृष्ण-कृष्ण' नाम ने ही उसकी रक्षा की। यम के दूत आकर जब (घोर पापी) अजामिल को खींच कर ले जाने लगे तब 'नारायण' नाम ने ही उसकी रक्षा की (उसे मुक्ति दी)। अक्षर-महत्त्व भी न जाननेवाले (वाल्मीकि) 'मरा-मरा' कहकर जब

ध्यान करने लगे तब 'राम' नाम ने ही उनकी रक्षा की। बालक ध्रुव जब वन जाने लगा तब 'वासुदेव' नाम ने ही तो उसकी रक्षा की। हे घनमहिम, पुरंदरविट्ठल ! तुम्हारे नाम के बराबर इस जगत् में मैं और कुछ नहीं देखता।'

(२)

जगव सुत्तिहुदेळ्ळ निन्न मायवेय्या
निन्न सुत्ति-हुदेळ्ळ एन्नमनवैय्या।

जगकेळ्ळ बल्लिद नीनु निनगे बल्लिद नानु
मूरु जगवु निन्नोळगे नीनेन्नोळगे।

करियु कन्नडियल्लि अडगिप्प तेरनते
एन्नोळगडगिदेयो पुरंदरविठल॥

'भगवन् ! जगत् में सर्वत्र तुम्हारी ही माया फैली है, मेरा मन तो तुम्हारे चारों ओर है। तुम जगत् के धनी हो, मैं तुम्हारा धनी हूँ। तीनों लोक तुममें हैं, तुम मुझमें हो। हे पुरंदरविट्ठल ! जिस भाँति गज दर्पण में समा जाता है, उसी भाँति तुम मुझमें समा गये हो।'

(३)

गुम्मन करेयदिरे, अम्म नीनु गुम्मन
करेयदिरे, सुम्मने।
इद्देनु, अम्मिय बेडेनु, मम्मु उण्णुत्तेने,
अम्म अळुडदिल्ल।
...... चिण्णर बडियेनु, अण्णन बय्येनु,
बेण्णेय बेडेनु, मण्णु तिन्नुउदिल्ल॥

भगवान् कृष्ण माता यशोदा से कह रहे हैं : 'माँ ! काले भूत को नहीं बुलाना, मैं चुप रहूँगा, स्तन का दूध नहीं माँगूँगा, खाना खाऊँगा, रोऊँगा नहीं'.... बालकों को मारूँगा नहीं, भैया को गाली नहीं दूँगा, मक्खन नहीं माँगूँगा, मिट्टी नहीं खाऊँगा।'

भक्तिरस से परिपूर्ण इनका एक और छंद यहाँ दिया जा रहा है :

अम्म निम्म मनेगळल्लि-
नम्म रंगन काणिरेने॥
बोम्म मूरुति नम्म-
श्रीकृष्णनु निम्म केरियोळिल्लवे॥

काशिपीताम्बर कैयलि कोळलु-
पूसिद श्रीगंध मैयोळगम्मा।
लेसागि तुळसिय माले हाकिद-
वासुदेवनु बंद काणिरेने॥

करदलि कंकण बेरळलि उंगुर-
कोरळलि हाकिद हुलियुगुरम्म।
अरळेले कनक कुण्डल कालिलदिगे-
उरगशयन बंद काणिरेने॥

काललि किरुगेज्जे नीलद बाडलि-
नीलवर्णनु नाट्यवाडुतलि।
मेलागि जगवनु बायल्लि तोरिद-
मूलोकदोडेयन काणिरेने॥

कुंकुम कस्तूरि कुडि कुडि नामउ-
शंखचक्रंगळ, धोरसिहनम्म।
बिर्कदिद कोळ्ळूदुत्त पाडुत्त-
पंकजाक्षनु बंद काणिरेने॥

हदिनारु साविर गोपीर ओडेगूडि-
चदुरंगपगडेयनाडुवनम्म।
मदनमोहनरूप एदेयल्लि कौस्तुभ-
पदुमनाभनु ब्रंद काणिरेने॥

नोसलसुत्तिद पट्टि नडुविन ओड्याण-
एसेव कत्तुरि बोट्टु मैयवनम्म।
पसरिसि पट्टेय हाविगे मेट्टिद-
असुरांतक बंद काणिरेने॥

तेत्तोस कोटिदेवकंळ ओडगूडि-
हत्तवतारवनेत्तिदनम्म।
भक्तवत्सल नम्म पुरंदरविट्ठल-
नित्योत्सव बंद काणिरेने॥

हिन्दी पद्यानुवाद

जी, कहो तो अपने घर
हमारे रंग को देखा क्या ?

ब्रह्ममूर्ति हमारा श्रीकृष्ण
आपकी गली में नहीं है क्या ?

कासी पीताम्बर हाथ में मुरली
पुता चंदनगंध शरीर में।
सुंदर तुलसीमाला पहने
वासुदेव आया, देखा नहीं क्या ?
हाथ में कंगन उंगली में अंगूठी
गले में पहना व्याघ्रनख।
पीपल के पत्ते-सा कनक-कुण्डल, पाँवों में पैंजनी-
उरगशयन आया देखा नहीं क्या ?

कुंकुम-कस्तूरीपूरित पतला तिलक
शंख-चक्र धारण किया है।
गर्व से भर मुरली बजाते गाते
पंकजाक्ष आया, देखा नहीं क्या ?

सोलह सहस्र गोपिकाओं से
मिलकर शतरंज और पासा खेलता है।
मदनमोहनरूप छाती पर कौस्तुभ
पदुमनाभ आया, देखा नहीं क्या ?

माथे पर बँधी पगड़ी कमरबंध
कस्तूरी तिलक से शोभित शरीरवाला है।
फैलकर कालिय सर्प का मर्दन करनेवाला
असुरांतक आया, देखा नहीं क्या ?

तैंतीस करोड़ देवताओं को मिलाकर
दशावतार पाया।
भक्तवत्सल हमारा पुरंदरविठल
नित्योत्सव आया, देखा नहीं क्या ?

एन. एस. द.
ललिताम्बा

पोलाळ्व दण्डनाथ

पोलालव दण्डनाथ हिन्दी के आदिकालीन कवियों की तरह पराक्रमी और दरबारी कवि थे, किन्तु इनमें विष्णु भगवान् के प्रति अगाध भक्ति थी। ये होयसल राजा बल्लाल द्वितीय (११७३-१२२० ई०) और उनके द्वितीय पुत्र नरसिंह (१२२०-३५ ई०) के मंत्री और सेनापति थे। इस तरह इनका अस्तित्वकाल तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध निश्चित होता है। ये आंध्रप्रदेश के नारायणपुर ग्राम के रहनेवाले अत्तिराजा के पुत्र थे। इनकी माता का नाम नविलाडेयक्क था। दावणगेरे के शिलालेख में इनके व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला गया है। ये बचपन से ही अत्यन्त पराक्रमी एवं साहसी थे। अपने शौर्य के बल पर ही ये राजा के सेनापति बने। ये स्वभाव से महान् दानी और विश्वास से भक्त थे। अपनी प्रगाढ़ भक्ति के कारण ही इन्होंने हरिहर नामक ग्राम में हरिहरेश्वर स्वामी के लिए ११५ सोने के कलशों से सम्पन्न सुन्दर मन्दिर बनवाया एवं इसी गाँव के पास बानुवल्ली में लक्ष्मीनारायण का मन्दिर निर्मित कराया।

इनकी एक षट्पदी रचना हरिचरित का उल्लेख मिलता है, किन्तु वह अनुपलब्ध है।

ललिताम्बा

प्रसन्न वेंकटराय

कन्नड-भक्ति-साहित्य में प्रसन्न वेंकटराय का विशिष्ट स्थान है। ये विजयदास के समकालीन थे। इनके जीवन-चरित के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से ज्ञात नहीं है। इनका वास्तविक नाम वेंकटप्पा था। इनका जन्म बागलकोटे में हुआ था। बचपन में ही माता-पिता के दिवंगत हो जाने के कारण अपने बड़े भाई और भाभी की देख-रेख में ये बड़े हुए। भाभी का इनके प्रति कठोर व्यवहार था। वह इनको घर के काम-काज में लगा देतीं और खाना-पीना भी ठीक तरह से नहीं देती थीं। एक दिन ग्रीष्मताप से थके-माँदे देवर ने भाभी से पीने के लिए एक प्याला छाछ माँगा तो भाभी ने कठोर शब्द कहे जिससे इनको मार्मिक पीड़ा हुई और उसी समय ये अपने इष्टदेव तिरुपति के भगवान् श्रीनिवास के दर्शन के लिए चल पड़े।

तिरुपति में निवास करते हुए ये त्रिकाल संध्या-वंदन करते, भगवान् के दर्शन करते और उनसे अपनी आशा-आकांक्षाओं का निवेदन करते। ये विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे। एक दिन इन्हें गर्भगृह में भगवान् का साक्षात्कार हुआ। तब से ये ज्ञानी और कवि हो गये। इन्होंने 'प्रसन्न-कृष्ण, प्रसन्न-वेंकट' की छाप से पदों की रचना द्वारा भगवान् का गुणगान किया है। इन्होंने कई तीर्थक्षेत्रों की यात्रा कर भक्तोंसे समादृत होकर अपार कीर्ति प्राप्त की। तीर्थाटन के बाद ये अपने बड़े भाई के यहाँ चले गये और वहीं रहने लगे।

भागवत का पारायण करना और स्व-रचित पदों को गाते हुए भगवान् की सेवा करना इनका दैनंदिन कार्यक्रम था। कहते हैं कि हिंस्र पशु भी इनकी बात मानते थे। इनके पद वेदार्थ-गर्भित तथा आत्मप्रबोधक हैं। विजयदास ने भी इनके पदों की प्रशंसा की है। इनका स्वर्गवास बादामि में हुआ।

इनके दो पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

संगबागलि साधु संगवागलि ॥ (टेक)
संगदिंद लिंगदेह भंगवागलि ॥ (सह टेक)

अच्युतांध्रिनिष्ठर यदृच्छालाभतुष्टर।
निश्चयज्ञानवंतरादच्च भागवतर नित्य ॥

तंत्रसार अष्टमहामंत्र परिपूर्णस्नेह
यंत्रदिंद जगत्स्वतंत्रन गुरिमाडुववर ॥

पंचसंस्कारभेद पंचयुक्तरागि प्र-
पंच-सूत्र प्रसन्न-वेंकट पंचबाणनय्यनवर ॥

'भगवन् ! सदैव साधुजनों की संगति प्राप्त हो। उनकी संगति से लिंगदेह का भंग हो। नाशरहित परमात्मा के पादद्वय में भक्ति रखनेवाले यदृच्छालाभ-संतुष्ट, निश्चय-ज्ञानी, विशुद्ध भागवतों का सांगत्य- (संगति) नित्य ही (हो)। तंत्रसार, अष्टमहामंत्र-परिपूर्ण स्नेह-यंत्र से जगत् में पूर्ण स्वतंत्र (भगवान्) का दर्शन करानेवालों का सत्संग हो। पंच संस्कार-भेद (शंख, चक्र, गदा, पद्म और नारायण) और पंच जीव-भेद (जीव, जड़-भेद, जड़-जड़-भेद, परमात्मा-जीव-भेद और परमात्मा-जड़ भेद) युक्त जगत् को नचानेवाले मन्मथ के जनक प्रसन्न वेंकट को दिखानेवालों का सत्संग प्राप्त हो।'

(२)

आने बंताने बंताने बंतम्मा
दानव कदळिय काननव मुरिव ॥ (टेक) ॥
उंगुरगोरळ नीलांग चेल्वाने
कंगोळिग्ळोळेव व्याघ्रांगुळियाने।
भंगारदणुछंटे शृंगारदाने
मंगलतिलकद रंगनेम्बाने ॥

वलिवलिदाडुव एळेमरियाने
केळदिगोपरोळु रोळतनदाने।
घळिलु घळिलुरवदि नलिदाडुवान
मलतवरेदेमेले सुळिदाडुवाने ॥

नळिनभवरिगे ता निलुकद आने हलबु
कविगळिगे सिलुकट आने।
ओलविंद भकुतर सलहुव आने
बल प्रसन्नवेंकटनिलय नेम्बाने ॥

'माई ! हाथी आया, हाथी आया। दानव-कदलीवन को नष्ट करनेवाला (हाथी आया)। गोल-गोल गलेवाला, नील-वर्ण सुन्दर हाथी, व्याघ्रांगुलियों से आँखों को भासित होनेवाला हाथी, सोने की क्षुद्र-घंटिकाओं से अलंकृत हाथी, मंगलाकार रंग अर्थात् 'कृष्ण' नामक हाथी (आया)। इधर-उधर भ्रमण करनेवाला छोटा हाथी, स्नेह से गोपों के साथ रहनेवाला मित्र हाथी, 'घण-घण' रव से नाचनेवाला हाथी, सामना करनेवालों पर झपटनेवाला हाथी (आया)। ब्रह्मा और शंकर को भी प्राप्त न होनेवाला हाथी, कई कवियों की पकड़ में भी न आनेवाला हाथी, प्रेम से भक्तों की रक्षा करनेवाला, बलवान् प्रसन्न वेंकटनिलय नामक हाथी (आया)।'

एन. एस. द.

प्राणेशविट्ठल

'प्राणेशविट्ठल' की छापवाले पदों के प्रणेता लिंगसूगुरु के योगीन्द्रराय कर्नाटक के श्रेष्ठ भक्त और जगन्नाथदास के शिष्य थे। जगन्नाथदास से भक्ति की दीक्षा ग्रहण करने के बाद ये 'प्राणेशदास' अथवा 'प्राणेशविट्ठल' कहलाये। जगन्नाथदास इनको 'योगण्णा' कहते थे।

आत्मनिवेदनसम्बन्धी इनके दो पद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :

(१)

मनसु करगदे स्वामि ! (टेक)
दीननागि निन्न पाद नम्बिदेनो कृपासिंधो ॥ (सह टेक)

ओडलिगोसुगवागि परट अडिगळिगे नमिसि अवर।
बिडुनुडिगल केळकारे बेडलारे मुरारे ॥

जननि जनक नीने एन्दु निन्न नम्बिदे दीनबंधु।
एन्न पालिसो ईग बंदु मन्निसय्या कृपासिंधु ॥

दिनवु कलेदुहोयितल्ल प्राणेशविट्ठलय्या
मन्निसुवरोब्बरू इल्ला कायो बालगोपाल ॥

'स्वामिन् ! (तुम्हारा) मन नहीं पिघलता ? हे कृपासिन्धु ! दीन होकर मैंने तुम्हारे चरणों पर ही विश्वास किया है। देह-पोषण के लिए दूसरों के चरणों में नत होकर उनकी तुच्छ बातें मैं नहीं सुन सकता, माँग नहीं सकता। हे मुरारि, हे दीनबन्धु ! मैंने तुम पर ही विश्वास रखा है कि तुम ही मेरे माता-पिता हो। हे कृपासिन्धु ! अब आकर मेरी रक्षा करो, मेरी विनय सुनो। हे प्राणेशविट्ठल ! दिन बीत गये, विनय सुननेवाला कोई नहीं हैं। हे बालगोपाल ! रक्षा करो।'

(२)

बा बा बा बा बारेन्न दोरेये
वेडिकोम्बेनो हरिये ॥ (टेक)

बारो बेगने देव दयवेके बारदो
करुणासागर परम दयाकर ॥ (सह टेक)

दुरुळ हिरण्यन बाधेय ताळदे
तरल प्रह्लादनु मोरेयिडलु
घोररूपव ताळि कंभवन्नें सीळ्दि देव
नरसिंहने बंदु नी काय्दे ॥

हरि हरि एन्दु करिराजनु अंदु
परि परि विधदलि स्तुतिसलु निन्न
हरिये नी बेगदि बंदु नकन सीळि
करुणदिंदलि काय्दे परम कृपाळो
दीनवत्सल हरि परिपालिसेन्ननु
कैबिडदिरु नी मुरहरने
प्राणेशविट्ठलने निन्होरतेन्ननु
पोरेवर कापेनो धरणिमण्डलदि ॥

'आओ-आओ, आओ-आओ, आओ (मेरे) राजा हे हरि, (मैं) विनय करता हूँ। जल्दी आओ देव ! दया क्यों नहीं आती ? करुणासागर, परम दयाकर ! दुष्ट हिरण्यकश्यप के कष्ट को न सहकर बालक प्रह्लाद जब प्रार्थना करने लगा, तब भयानक रूप धारण करनेवाले हे नरसिंह देव ! तुम स्तंभ से निकल आये और उसकी रक्षा की। उस दिन नाना प्रकार से 'हरि-हरि-हरि' कहकर गजराज ने जब तुम्हारी स्तुति की, तब हे हरि ! तुमने जल्दी ही आकर नक्र को मारा और परम कृपालु ! तुमने करुणा करके (गजराज की) रक्षा की। दीनवत्सल हरि ! मेरी रक्षा करो। हे मुरहर ! मेरा हाथ मत छोड़ो। प्राणेशविट्ठल ! इस भूमण्डल में तुम्हारे सिवा (मेरी) रक्षा करनेवाला और कोई नहीं है।'

एन. एस. द.

बेलूर केशवदास

वर्तमान युग के पद गायकों में बेलूर केशवदास का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। इन्हें 'कीर्तनाचार्य' का सम्मान प्राप्त था। ये माध्व-सम्प्रदाय के कृष्णभक्त वेंकट सुब्बदास के पुत्र थे। इन्होंने कर्नाटक में ही नहीं, अन्य प्रदेशों में भी भगवान् पांडुरंग-विट्ठल की मूर्तियों की स्थापना की तथा नाम-भजन की व्यवस्था करके भक्ति का प्रचार किया। पद-रचना

अथवा कविता के लिए प्रसिद्ध न होने पर भी ये अच्छे गायक तथा कथावाचक थे। इन्हें कन्नड, तेलुगु, संस्कृत, अंग्रेजी आदि कई भाषाओं का ज्ञान था। इनकी रचना 'श्रीकर्नाटक-भक्तविजय' के चार संस्करण निकले हैं। यह ग्रन्थ इनकी ख्याति का मुख्य आधार है। 'श्रीहरिदास-साहित्य' और 'श्रीराघवेंद्रविजय' नामक इनकी दो अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त 'युक्तिमल्लिके' इनकी वेदान्तविषयक रचना है। इन्होंने द्वैतवाद के रहस्य को स्वयं भलीभाँति हृदयंगम करके उसके लोक-प्रचार का महत्प्रयास किया। 'हरिदास-साहित्य' में उद्धृत इनका एतद्विषयक एक श्लोक नीचे दिया जाता है :

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदः जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनम्,
अक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

एन. एस. द.

भाग्यनिधिविट्ठल

सवणूरु में खंडेराय नामक एक दीवान थे। उनके पुत्र का नाम दुर्वासराय था। कर्जगीदास से इन्होंने भक्ति की दीक्षा पायी। उसके बाद ये भाग्य निधि विट्ठल नाम से प्रसिद्ध हुए। ये माध्व-सम्प्रदाय को माननेवाले कृष्णभक्त कवि थे। मैसूर के दीवान 'पूर्णय्या' के समय ये मैसूर आये और वहाँके राजा मुम्मडि (तृतीय) कृष्णराज ओडियर के आश्रय में रहे। इनके फुटकर पद प्राप्त होते हैं जिनमें भाग्यनिधिविट्ठल छाप है। एक पद यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

धन निल्लदय्या साधन निलुवदय्या ॥ (टेक)
तनु निल्लदय्या दातनु एनिसरय्या ॥ (सह टेक)

हण पुट्टुकदु सुगुण पुट्टदैय्या
गुणनिधि हरिय नीनेंणिसि बाळय्या ॥

जनरु बरुवरु सज्जन बाररैय्या
अनुसरिसुत जीवन पोरेयेय्या ॥

भाग्यनिधिविट्ठलन आज्ञे इदैय्या
सुजनर सेविसि योग्य नेन्देनिसैय्या ॥

'धन स्थिर नहीं, साधन स्थिर है। शरीर स्थिर नहीं, अतः दाता कहलाओ। धन उत्पन्न होता है, सुगुण उत्पन्न नहीं होता। गुणनिधि हरि का स्मरण करते हुए तुम जीवन चलाओ। लोग आते हैं, पर सज्जन नहीं आते। सज्जनों का मार्गानुसरण करते हुए जियो। भाग्यनिधिविट्ठल की यही आज्ञा है कि सज्जनों की सेवा करते हुए योग्य कहलाओ।'

एन. एस. द.

महीपतिराय

महीपतिराय के पूर्वज बेलगाँव जिले के ऐगळि नामक गाँव के निवासी थे। वे राजदण्ड के कारण ग्रामाधिपत्य से वंचित होकर बीजापुर आकर वस गये। महीपतिराय वहीं रहते थे। ये कन्नड, उर्दू और फारसी के अच्छे पण्डित और कथावाचक थे। नृसिंह-देवालय में ये नित्य कथा बाँचते थे। कहते हैं कि एक दिन बीजापुर के सुल्तान मुहम्मद शाह देवालय की ओर से पालकी पर जाते समय इनका प्रवचन सुनकर इनकी ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने बाद में अपने महल में ही इन्हें कथावाचन के लिए नियुक्त कर दिया। कालान्तर में ये सुलतान के निजी खजानेदार (कोषाध्यक्ष) के पद पर आसीन हुए। हरम में भी इनका पर्याप्त प्रभाव था। बीजापुर में शाहनुंग और शाहनुंगी नामक सूफी भाई-बहन रहते थे जिनके प्रभाव से महीपतिराय ने भास्कर स्वामी का शिष्यत्व स्वीकार किया। भास्कर स्वामी उस समय के राजयोगियों में अग्रणी थे। उनके सान्निध्य में रहकर इन्होंने सिद्धि प्राप्त की।

महीपतिराय माध्व-सम्प्रदाय के वैष्णव थे, किन्तु इन पर अद्वैतवाद का भी पर्याप्त प्रभाव था। इनके गुरु सम्भवतः अद्वैतवादी थे, अतएव इनके पदों में भक्ति और ज्ञान का समन्वय पाया जाता है। इनकी यह विशेषता है कि इन्होंने कन्नड़ के अतिरिक्त हिन्दी

(अथवा दखिनी) में भी पद-रचना की है। इन्होंने सम्भवतः एक हजार से भी अधिक पद लिखे हैं जिनमें अब कुछ ही प्राप्त हैं। इनके पदों में कृष्ण के प्रति निर्मल भक्ति अभिव्यक्त हुई है।

इनके दो पद नीचे दिये गये हैं :

(१)

बारय्या भक्तवत्सल बारो श्री ।
हरि गोपाल सिरिसुखलोल ॥ (टेक)

सामगायनप्रिय समस्त लोकद श्रेय ।
नेमिसि बोरोदय स्वामि नम्मय्या ॥

अनाथरनुकूल मुनिजन प्रतिपाल ।
घनसुखद कल्लोळ दीनदयाळ ॥

मनमंदिरदोळु अनुवागि बंदु बाळु ।
दीन महिपतिगाळु घनवागि केळु ॥

'आओ भक्तवत्सल ! आओ। श्रीहरि, गोपाल, श्रीसुखलोल, सामगायनप्रिय, समस्त लोकों के श्रेय, नमन कर्ताओं के मंगलकारी, मेरे स्वामि ! (आओ)। अनाथों के अनुकूल, मुनिजनों के रक्षक ! अत्यन्त सुख देनेवाले, दीनदयालु ! मेरे मन-मन्दिर में व्यवस्थित रूप से आकर स्थिर हो जाओ। दीन, किंकर महीपति की बात अच्छी तरह सुनो।'

(२)

बारय्या भक्तवत्सल श्री
गुरु मुद्दु कृष्ण मदनगोपाल ॥ (टेक)

यादवकुलतिलक श्रीदेवदेव
साधुजनर पालक
उद्धवप्राणपोषक
आदिकेशव सदमल सुखदायक
इंदीवरदळनयन नन्दकुमार
सुंदर शुभवदन
माधव मधुसूदन
मदरधर वृंदगोकुलोद्धरण ॥
मुरहर संकरूषण उरगशयन
तोरय्या निम्म चरण
बारय्या नारायण
गरुडवाहन होरेयो महिपतिप्राण ॥

'भक्तवत्सल, श्रीगुरु, प्यारे, मदनगोपाल ! आओ। यादवकुलतिलक, श्रीदेवदेव, साधुजनपालक, उद्धवप्राणपोषक, आदिकेशव, सदमल-सुखदायक, इंदीवरदलनयन, नंदकुमार, सुन्दर-शुभवदन, माधव, मधुसूदन, मंदरधर, गोकुल-वृन्द का उद्धार करनेवाले, मुरहर, संकर्षण, उरगशयन, अपने चरण दिखाओ। आओ, नारायण, गरुड़वाहन ! क्या महीपति के प्राण भारी हैं ?'

एन. एस. द.

मोहनदास

कर्नाटक के प्रसिद्ध भक्तकवि विजयदास के शिष्यों में एक मोहनदास भी हैं। ये ईसा की अठारहवीं शती के अंतिम चरण में विद्यमान थे। कहा जाता है कि इनके पिता भीमप्पा नायक आनेगोंद्रि के प्रसिद्ध स्वर्ण-व्यापारी थे। उन्होंने मरते समय अपनी गर्भिणी पत्नी को असहाय कर अपनी समस्त सम्पत्ति अपने भाइयों को दे दी थी। गुरु विजयदास की असीम कृपा से कालान्तर में भीमप्पा नायक की पत्नी और उनका पुत्र समाज में विशेष सम्मान के पात्र बने। मोहनदास को गुरु विजयदास अपना पुत्र मानते थे। कहा जाता है कि गुरु ने इन्हें अकालमृत्यु से बचाया था। इनकी कृतियों में गुरु के प्रति सच्ची भक्ति प्रकट हुई है। ये पदों में 'मोहनविट्ठल' की छाप रखते थे।

मोहनदास माध्व-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनके पद कृष्णभक्ति से ओतप्रोत हैं। इनके फुटकर पदों में से दो नीचे दिये जाते हैं :

(१)

उडुपिय कृष्णने सडगर निनगेके ।
बडवनादवन भव मडुविनोळु नूकि ॥

मिडुकिसि नोडुवुदु तरवेनो हरिये।
ओडलिगोसुग निन्न बेडवंदवनल्ल ॥

दृढ़ भकुति ज्ञानगळ कोट्टु रक्षिसो धोरेये।
कडलशयन नम्म मुद्दु मोहनविट्ठल ॥

'हे उडुपि के कृष्ण ! तुम्हें यह वैभव क्यों ? हे हरि ! क्या यह उचित है कि जो दरिद्र है उसे भव की गहराई में फेंककर चुपचाप देखते रहो ? मैं अपनी देह-रक्षा के लिए तुमसे माँगने नहीं आया। हे राजा, सागरशयन, हमारे प्रिय मोहनविट्ठल ! दृढ़ भक्ति और ज्ञान देकर मेरी रक्षा करो।'

(२)

ऐवत्तारु देशदोळिप्पत्तोन्दु साविरदारनूरु
कैवल्य-साधन मंत्रव जपिसलु भववेत्तणदो
मोहनविट्ठल ॥

'छप्पन (दिव्य) देशों में इक्कीस हजार छह सौ कैवल्यसाधन मंत्रों का जप करने पर, हे मोहन विट्ठल ! भव कहाँ रहेगा ?'

एन. एस. द.

राघवेन्द्रस्वामी

यतीश्वर श्रीराघवेन्द्र स्वामी का नाम केवल कर्नाटक में ही नहीं, भारत के अन्य प्रदेशों में भी विख्यात है। स्वामीजी रायचूर जिले के मंत्रालय में सशरीर समाधिस्थ (वृन्दावनस्थ) हुए थे। सम्प्रदाय के अनुयायियों तथा उनके भक्तों का विश्वास है कि वे सात सौ वर्ष तक पामर जनों का उद्धार-करते रहेंगे।

पूर्वाश्रम में स्वामीजी का नाम वेंकटभट्ट था। इनके पिता का नाम तिम्मण्ण भट्ट और माता का नाम गोपम्मा था। तिरुपति के भगवान् बालाजी वेंकटेश्वर की कृपा से उत्पन्न होने के कारण तिम्मण्ण ने इनका नाम वेंकटभट्ट रखा था। ये गौतम गोत्र के थे। कुंभकोणम् के पास भुवनगिरि में इनका निवास स्थान था। बचपन में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण वेंकटभट्ट का ब्रह्मोपदेश (गायत्रीमन्त्र) इनके बड़े भाई गुरुराज द्वारा सम्पन्न हुआ था। इनकी बहन वेंकम्मा विवाह के बाद अपने पति लक्ष्मीनरसिंहाचार्य के साथ मदुरै में रहती थीं। वेंकटभट्ट ने बहनोई के आश्रय में ही रहकर वेद, वेदान्त, तर्क, व्याकरण आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। तत्पश्चात् कुंभकोणम् में स्वामी सुधीन्द्रतीर्थ का शिष्यत्व स्वीकारकर 'सुधा' नामक ग्रन्थ का अध्ययन ही नहीं किया, अपितु उस पर 'परिमला' नामक विमर्शात्मक व्याख्या का भी प्रणयन किया, जिसके कारण अपने गुरुदेव के साथ तञ्जाऊर जाने पर ये वहाँके प्रसिद्ध विद्वान् यज्ञनारायण दीक्षित को शास्त्रार्थ में पराजित कर 'महाभाष्य परिमलवेंकट भट्टाचार्य' प्रशस्ति से विभूषित हुए।

वेंकटभट्ट का विवाह सरस्वती नामक कन्या से हुआ। कुछ दिन इन्होंने गृहस्थ-धर्म का पालन किया और इनको लक्ष्मीनारायण नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। इसके अनंतर अपने गुरु स्वामी सुधीन्द्र के आदेशानुसार ये संन्यास ग्रहण कर उनके उत्तराधिकारी हुए। इससे व्यथित होकर इनकी पत्नी कुएँ में कूद पड़ीं और प्राणत्याग दिया। वेंकटभट्ट का आश्रम-नाम राघवेन्द्रतीर्थ हुआ। अपनी तपस्या के बल पर इन्होंने पत्नी को सद्गति प्रदान की। इतना ही नहीं, अपने पूर्वाश्रम के गोत्रजों के यहाँ विवाह के शुभ अवसर पर सरस्वती के नाम से 'सुवासिनी-पूजा' की परम्परा भी प्रचलित की।

राघवेन्द्रस्वामी शास्त्रों के पण्डित और तपस्वी तो थे ही, गुरु की कृपा से चौंसठ कलाओं में पारंगत भी थे। वीणा-वादन में ये विशेष पटु थे। इन्होंने कई स्थानों में दिग्विजय कर अनेक भक्तों को अपनी ओर आकर्षित किया और अपने मठ की कीर्ति चारों ओर फैलायी। इनके प्रति अपार भक्ति रखनेवाले आदवानी के सूबेदार असदुल्ला खाँ ने इनको 'मंत्रालय' जागीर में प्रदान किया। सन् १६७१ ई० में ये समाधिस्थ हुए।

इनके भक्तों का विश्वास है कि ये प्रह्लाद के अवतार थे। ये वेणुगोपाल के परम उपासक थे, इसलिए प्रतिदिन विविध देवविग्रहों की पूजा करते समय भी इनके मन में वेणुगोपाल का रूप विहार करता रहता था। वेणुगोपाल की स्वर्ण-प्रतिमा बनवाकर विशेष रूप से उनकी आराधना का क्रम भी इन्होंने रखा था। इनकी अधिकांश रचनाएँ संस्कृत में हैं। कन्नड़ में उपलब्ध इनका एक पद नीचे दिया जाता है :

इन्दु एनगे गोंविद निन्न पादार-
विंदव तोरो मुकुंदने ॥ (टेक)
मंदरोद्धारने नंदगोपनकंद
इन्दिरारमण गोंविद गोकुलानन्द ॥ (सह टेक)

नोंटेनेय्य भव बंधनदोळु सिळुकि
मुंदे दारिकापदे कुंदिदे जगदोळु
कंद नानेंदेन्न कुंदुगळेणिसदे
तंदे नी कायो कंदर्प जनकने ॥

मूढतनदि बळु हेडि जीवननागि
दृढ़भक्तिय माडलिल्लवो हरिये
नोडलिल्लवो निन्न पाडलिल्लवो महिमे
गाडिकार कृष्ण बेडिकोन्बेनो स्वामि ॥

धारुणियोळु भूभार जीवननागि
मेरेदप्पि नडेदु सेरिदे कुजनर
यारु कायुनरिल्ल सेरिदे निनगय्या
धीर वेणुगोपाल पारगणिसो स्वामि ॥

'हे गोविंद-मुकुंद ! आज तुम अपने पादारविंद मुझे दिखाओ। हे मन्दरोद्धारक, नंदगोपकुमार, इन्दिरा-रमण, गोविंद, गोकुलानन्द ! भवबन्धन में पड़कर मैं दुखी हूँ, इस जगत् में आगे का मार्ग न देखकर विकल हूँ। हे कंदर्पजनक, हे पिता! मेरी न्यूनताओं पर ध्यान न देकर, अपना बालक समझकर मेरी रक्षा करो। हे हरि! मूर्खता से बहुत डरपोक बनकर मैंने दृढ़ भक्ति नहीं की। मैंने तुम्हें नहीं देखा, तुम्हारी महिमा नहीं गायी। हे सुन्दर कृष्ण, हे स्वामी! मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ। इस भूमि पर मैं भूभार बना हूँ, दुर्जनों की संगति में पड़ा हूँ। कोई रक्षा करनेवाला नहीं है, तुम्हारी शरण में आया हूँ। धीर वेणुगोपाल, हे स्वामी ! अब मुझे पार करा दो।'

एन. एस. द.

रुद्रभट्ट

कन्नड़-साहित्य में वैष्णव भक्तिधारा को प्रवाहित करनेवाले कवियों में रुद्रभट्ट का नाम आदर के साथ लिया जाता है। ये अद्वैतवादी, स्मार्त, श्रोत्रिय ब्राह्मण थे। स्मार्त लोग पंचायतन की पूजा करते हैं। रुद्रभट्ट के काव्य में विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणपति की स्तुति की गयी है। फिर भी इनके मन में विष्णु के प्रति अतिशय प्रेम दिखाई पड़ता है। इन्होंने अपने काव्य में स्थान-स्थान पर विष्णु की महत्ता का उद्घोष किया है। यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारक माने जाते हैं तथापि उनके आदिमूल विष्णु हैं, इस बात की पुष्टि इनके काव्य से होती है।

रुद्रभट्ट ने अपने बारे में कुछ नहीं कहा है। इनकी कृतियों से ज्ञात होता है कि चन्द्रमौलि प्रभृति विद्वान् प्रसन्न हो जायँ, इस उद्देश्य से 'शरदाभ्र-चन्द्रातप रुद्र' ने कृष्णकथा कही। श्रवणबेळगोल के शिलालेख से यह प्रकट होता है कि 'चन्द्रमौलि' नामक पंडित कर्नाटक के राजा वीरबल्लाळ (११७२-१२१९ ई०) के मंत्री थे। अतएव यह स्पष्ट है कि रुद्रभट्ट वीरबल्लाळ के समकालीन थे और ईसा की बारहवीं शती में वर्तमान थे। फिर भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये दरबारी कवि थे। इन्होंने 'अरिकामध्वंसी, राजराजप्रतिष्ठानिरत, उमाकामिनीजीवितेश' जैसे शब्दों के प्रयोग द्वारा शंकर के गुणों का अन्वय राजा वीरबल्लाळ में कर उनकी स्तुति की है। सम्भव है कि राजा को प्रत्यक्षदेवता मानकर इन्होंने मात्र वीरबल्लाळ की स्तुति की हो। देवकवि, चिक्कुपाध्याय आदि परवर्ती कवियों ने भी रुद्रभट्ट की प्रशंसा की है। भट्टकलंक, मल्लिकार्जुन और विद्यानन्द के ग्रंथों में भी इनके कतिपय पद्य उद्धृत

किये गये हैं। इनके दो ग्रंथ बताये जाते हैं: 'जगन्नाथ-विजय' और 'रसकलिके' (रस-कलिका)। 'रसकलिके' मूलरूप में आज उपलब्धि नहीं है। सम्भव है कि वह रसविषयक ग्रंथ रहा हो।

चम्पूशैली में लिखित 'जगन्नाथ-विजय' रुद्रभट्ट की यशोदीप्ति का मूलाधार है। अठारह आश्वासों का यह प्रबन्ध बृहत्काव्य है, महाकाव्य है। कृष्णकथा ही इसका प्रतिपाद्य विषय है। भक्तिभावना से अनुप्राणित होकर कवि ने इस काव्य की रचना की है। पूर्वी समुद्रतट पर स्थित पावनक्षेत्र पुरी में विराजमान भगवान् जगन्नाथ कवि के इष्टदेव हैं। अतएव काव्य का नाम 'जगन्नाथ-विजय' रखा गया। इनको 'कविराज' और 'शरदाभ्र-चन्द्रातप' की उपाधियाँ प्राप्त थीं, यह बात इनके काव्य से ज्ञात होती है।

जगन्नाथ-विजय का आधार विष्णुपुराण है। वह सरस, सुबोध और उत्तम काव्य है। उसकी विशेषता यह है कि उसमें श्रीकृष्ण के एकोत्तरशत कृत्यों का वर्णन है जो उनके लौकिक और अलौकिक व्यक्तित्व के प्रमाण हैं। उसमें श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर बाणासुर के साथ उनके युद्ध तक के प्रसंगों का वर्णन है। काव्य के प्रारम्भिक मंगल-वृत्त में यह आशंसा की गयी है कि 'भूभारविच्छेदविनोद करनेवाले कृष्ण हमें आनन्द-संदोह प्रदान करें।' यह वाक्य श्रीकृष्णचरित के रहस्य को ही बतानेवाला है।

जगन्नाथ-विजय को देखने ने यह विदित होता है कि मात्र कथा कहना कवि का उद्देश्य नहीं है। कथा कहने के बहाने काव्य-समाधि अथवा भक्ति-समाधि में निमग्न रहना कवि का अभीष्ट है। इन्होंने कहा भी है: 'काव्य-समाधि द्वारा परमज्योति मुकुंद मेरे हृदय में स्थिर रहकर मुझे निर्मल तत्त्व का बोध करायें, इस अभिलाषा से मैंने इस प्रबन्ध की रचना की है।'

रुद्रभट्ट प्रतिभाशाली कवि हैं। इन्होंने कृष्णकथा का अत्यन्त आकर्षक और मनोहारी चित्रण किया है। प्रकृति-वर्णन, युद्ध-वर्णन और कविसमय के अनुसार वर्णन इनकी श्रेष्ठ प्रतिभा के निदर्शक हैं। इनके वर्णनों में सजीवता है और संभाषणों में रसप्रवणता। प्रस्तुत काव्य में इनका गहन अध्ययन और पांडित्य प्रकट हुआ है। इनका काव्य उपनिषद्, दर्शन और भक्तिरस की संगमस्थली है। इनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ है, पर क्लिष्ट नहीं है। इनकी शैली में सुबोध और सहज आकर्षण का गुण विद्यमान है। उसमें लालित्य है। इन्होंने औचित्यपूर्ण रीति से अलंकारों का प्रयोग किया है। सारांश यह है कि इनकी रचना एक श्रेष्ठ कलाकृति है।

ध्यान देने की बात है कि 'जगन्नाथ-विजय' जगत् के प्रभु की विजय है, उसमें विजय-भेरी का निनाद है और प्रसंगों में नियमितता की शृंखला है। वह 'हरिलीला' मात्र नहीं है। उसके कवि ने लीलागान के साथ-साथ विजयगान भी किया है। उसमें वर्णित विविध रसों के चित्र केन्द्रबिन्दु भक्ति के ही अनुगामी हैं। उसमें श्रीकृष्ण की बाललीला-वर्णन के प्रसंग में वात्सल्य-भक्ति के अत्यन्त मनोहारी चित्र अंकित हुए हैं।

'जगन्नाथ-विजय' के दो छंद नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं:

(१)

शकटविमर्दना मुसलि बारद मुन्नमे नम्म हेम-घं-
टिके घणलेम्ब नंदिनिय पालिदे नीं कुडियल्केनिन्न चें-
डिके बळेदप्पुदेंदबले नम्बिसे पाल्गुडिदगळब्बे चें-
डिकेयेनितुद्दवादुदेनुतुं बेसगोळ्व मुकुंदनोप्पुगुं ॥

कृष्ण के प्रति यशोदा कहती है: "शकटमर्दन ! स्वर्ण-घंटिका से 'घण-घण' शब्द करनेवाली हमारी नन्दिनी का यह दूध है। बलराम के आने के पहले ही तुम इसे पी जाओ तो तुम्हारी चोटी बढ़ जायगी' यों विश्वास दिलाकर (यशोदा ने , श्रीकृष्ण को दूध पिलाया। दूध पीते ही कृष्ण ने माता से पूछा: 'मैय्या ! अब मेरी चोटी कितनी बड़ी हुई है ?' इस प्रकार कहनेवाले कृष्ण सुशोभित हुए।"

(२)

हरि नीं मण्दिदे तिन्नें जननि पुसिदनेम्मग्रजंतोरु वक्त्रां-
तरमं नोडेंदु बायं तेरेवुदुमदरोळ् वारिधियेळुं कुलोर्वि-
धरवेळु द्वीपवेळु बेरसु जगमनीरेळुमं कूडे कंड-
च्चरिवट्टं मुच्चुमुच्चाननमनेनुतुमाकांते-
विभ्रांतेयादळ्॥

यशोदा कहती हैं : 'हरि ! तुमने मिट्टी खायी ?' 'नहीं खायी मैय्या ! हमारे बड़े भैया ने झूठ कहा ।' 'अपना मुँह दिखा ?' 'देखो' कहते हुए (कृष्ण ने) मुँह खोला तो उसके भीतर सात समुद्र, सात कुल-पर्वत, सात द्वीपों के साथ चौदह भुवनों को देख साश्चर्य यशोदा कहने लगीं 'बंद कर अपना मुँह, बंद कर !' वह कान्ता विभ्रान्त हो गयी ।''

एन. एस. द.

लक्ष्मीश

कर्नाटक के श्रेष्ठ कवियों की ही श्रेणी में नहीं, भक्तों की पंक्ति में भी 'लक्ष्मीश' का अत्यन्त गौरव-पूर्ण स्थान है। इनकी यशोदीप्ति का प्रमुख आधार 'जैमिनि-भारत' है जो सदियों से कर्नाटक की जनता के गले का हार रहा है। लक्ष्मीश की जीवनी के संबंध में विशेष बातें ज्ञात नहीं हैं। अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनका जन्मस्थान और निवासस्थान चिक्कमंगलूर जिले का 'देवनूर' अथवा 'सुरपुर' नामक गाँव था। देवनूर में लक्ष्मीनारायण-मंदिर है। भगवान् लक्ष्मीनारायण ही कवि लक्ष्मीश के इष्टदेव हैं जिनका उल्लेख काव्य में किया गया है। ये भारद्वाज गोत्रोत्पन्न थे। इनके पिता का नाम 'अण्णमांक' था। इनको 'कर्नाटककवि-चूतवन-चैत्र' की उपाधि प्राप्त थी। इनके रचनाकाल के विषय में मतैक्य नहीं है। अबतक की खोज के अनुसार ये सोलहवीं शती में विद्यमान थे और लगभग सन् १५५० ई० में इन्होंने अपना काव्य लिखा था। इनके सम्प्रदाय के विषय में भी मतभेद है। इनकी कृतियों में शैव और वैष्णव-धर्मों का समन्वित रूप देखा जाता है। बहुत-से विद्वान् मानते हैं कि ये भागवत-संप्रदाय के स्मार्त ब्राह्मण थे। इनकी कृति में भक्ति की गंगा प्रवाहित हुई हैं। वही इनकी दृष्टि में 'श्रीकृष्ण-चरितामृत' है।

संस्कृत और तेलुगु में जिस प्रकार 'जैमिनि-भारत' प्रसिद्ध है, उसी प्रकार कन्नड में भी विख्यात है। कन्नड जैमिनि-भारत काव्य-संसार का कल्पवृक्ष, सहृदय पाठकों की चिन्तामणि और रसिकों की काम-धेनु है। कथावस्तु की मनोहरता, कथोपकथन की उत्तम शैली, रस-परिपाक, शब्दालंकार, अर्थालंकार, पात्रों का उत्तम चरित्र-चित्रण आदि अनेक गुणों के कारण वह कवियों, लेखकों, पंडितों, गायकों, भक्तों, आलोचकों और जनसामान्य को भी अपनी ओर आकृष्ट करने में सर्वथा समर्थ है। यद्यपि वह संस्कृत 'जैमिनि-भारत' के आदर्श पर बना है, तथापि उसे पूर्णरूप से अनुवाद-ग्रंथ न कहकर अनुकृति कहना ठीक होगा। एक प्रकार से उसे स्वतंत्र ग्रन्थ कहें तो भी अनुचित न होगा। संस्कृत जैमिनि-भारत को 'कृष्ण-चरितामृत' नहीं कहा जाता, जब कि लक्ष्मीश का जैमिनि-भारत सच्चे अर्थ में 'कृष्णचरितामृत' है। कवि की दृष्टि में श्रीकृष्ण ही काव्य के नायक हैं, वे ही काव्य के प्राण हैं। काव्य के प्रत्येक पात्र द्वारा कवि ने श्रीकृष्ण का गुणगान कराया है। उसमें सर्वत्र श्रीकृष्ण की दिव्य महिमा और भव्य व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं।

जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरित-मानस में विराट् समन्वय की चेष्टा की गयी है, उसी प्रकार लक्ष्मीश के कन्नड जैमिनि-भारत में 'हरि-हर-समन्वय' की अनुपम चेष्टा दृष्टिगोचर होती है। उसमें स्थान-स्थान पर बताया गया है कि हरि-हर में भेद देखना पाप है। उदार मनोभावना के कवि होने के कारण लक्ष्मीश ने काव्य में अपने इष्टदेव लक्ष्मी-रमण के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं को भी स्थान दिया है और उनकी स्तुति की है। अन्यमत-सहिष्णुता लक्ष्मीश की विशेषता है। 'दासोऽहं' की भावना से परिपूर्ण होने के कारण उन्होंने काव्य के आरम्भ में इन शब्दों में वाग्देवी की प्रार्थना है :

काव्यमिदु भुवनदोळ् सकल जनरिंदे सु-
श्राव्यमप्पंतेन्न वदनाब्जदल्लि नी-
ने व्यापिसिदंमल सुमतियं
तायेनगे तायें नगेगूडि नोडि ॥

'हे माता ! सदय हो मेरी जिह्वा पर पधारकर मुझे अमल मति प्रदान करो, जिससे यह काव्य सर्वजन-सुश्राव्य हो।'

कवि अपने इष्टदेव की वीणा मात्र है। काव्य के कर्ता तो उसके इष्टदेव ही हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है :

....गी–
र्वाण-पुरनिलय लक्ष्मीवरं
ताने संगीत-सुकलानिपुणनु।
वीणेयिं गानमं नुडिसुवन्ददोळेन्न
वाणियिं कवितेयं पेळिसिदनु.........।

'गीर्वाणपुरवासी लक्ष्मीरमण ने, जो संगीतकला-निपुण है, वीणा-वादन करने की भाँति मेरी जिह्वा से सरस कविता कहलायी है।'

कन्नड जैमिनि-भारत में भक्ति, शृंगार और वीररसों के मनमोहक चित्र मिलते हैं। उसका शिल्प काव्य-शिल्प है, पुराण-शिल्प नहीं। कवि ने अत्यन्त तन्मयता के साथ कथानक का वर्णन किया है। इससे काव्य पढ़ते समय पाठक रसमग्न हो जाते हैं। सुधन्वा, बभ्रुवाहन, लव-कुश और चन्द्रहास की कथाओं में कवि का कला-नैपुण्य देखते ही बनता है। ऐसे कथा-प्रसंगों के वर्णन द्वारा कवि ने अपनी कृति को सच्चे अर्थ में 'श्रीकृष्णचरितामृत' बना दिया है। समस्त काव्य-व्यापार के सूत्रधार श्रीकृष्ण की होने के कारण उनके बिना काव्य का कोई भी स्थल कैसे शोभित हो सकता है? यह कहना सर्वथा समीचीन है कि यद्यपि कवि का सम्पूर्ण ध्यान श्रीकृष्ण पर केन्द्रीभूत है, तथापि अन्य पात्रों के चित्रण में उन्होंने कम कुशलता प्रदर्शित नहीं की है। बभ्रुवाहन, अर्जुन, सुधन्वा, यौवनाश्व, मयूरध्वज आदि पुरुष-पात्र तथा सीता, प्रभावती, ज्वाला, चण्डी आदि स्त्री-पात्र उनके काव्य-मंदिर की सजीव प्रतिमाएँ हैं। महाकाव्य की भव्यता लिये हुए इनके काव्य में 'वार्धक षट्पदी' छन्द का औचित्यपूर्ण रीति से प्रयोग हुआ है।

कन्नड जैमिनि-भारत के दो पद्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जो लक्ष्मीश की भक्ति-भावना के ही नहीं, भाषा-शैली के भी परिचायक हैं :

(१)

भयनिवारण सकल-सृष्टि-कारण जग-
न्मय जनार्दन दुष्टदैत्यमर्दुन नता-
श्रय धराधर कमलसंभवोदर
घनश्याम यदुकुल-ललाम।
लय-विवर्जित पुण्य-नाम निर्जित-दुरित-
चय-विराजित सर्वलोक-पूजित-पद-
द्वय कृपाकर कृष्ण बिडिसु
भीकरवनेंदर्जुनं घोषिसिदनु ॥

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं, 'हे भय-निवारक, सकल सृष्टि के कारक, जनार्दन! दुष्ट दैत्यों को मारनेवाले, कमलसंभवोदर, घनश्याम, यदुवंशतिलक ! तुम्हारा नाम सब बंधनों को दूर करनेवाला और पापों से विमुख करनेवाला है। सर्वलोक-पूजित तुम्हारे पद-द्वय को नमस्कार। हे कृष्ण ! कृपाकर इस विपदा से बचाओ।'

(२)

पुष्कर गदा शंख चक्र शोभितकर च-
तुष्कदिं श्रीवत्स-कौस्तुभाभरणदि
निष्कळंकेंदुमण्डल-सदृश वदनदिं नवपीतवासदिंद।
पुष्कल श्याम कोमल रमणीयक व-
पुष्कांतियिंदेसेव निन्न रूपेदेयोळिरे
दुष्कंटकद भीति येनगदेकेले देव सलहेंदना पार्थं ॥

कहते हैं : 'शंख-चक्र-गदा-पुष्कर से शोभित, श्रीवत्स-कौस्तुभाभरण से अलंकृत, निष्कलंक इन्दु-मंडलसदृश निर्मल-वदन, पीताम्बरधारी ! तुम

कोमल-रमणीय श्यामलं काया को कांति से लसित हो। तुम्हारा यह रूप जब मेरे मन में स्थित है तब विपदा से मुझे क्या डर है, देव ? मेरी रक्षा करो।'

एन. एस. द.

वरदगोपाल विट्ठल

भक्त के रूप में दीक्षा लेने के पूर्व 'दासप्पा' नाम से विख्यात वरदगोपाल विट्ठल कर्नाटक के प्रसिद्ध भक्त गोपालदास के दूसरे छोटे भाई थे। इन्होंने अपने भाई से ही दीक्षा ग्रहण की थी। अठारहवीं शती के कन्नड़ वैष्णव-भक्तों में इनका अन्यतम स्थान है। इनके पदों में सात्त्विक भक्ति का वर्णन हुआ है। इनके दो पद यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :

(१)

मंगलं मंगलं ॥ (टेक)
नदनंदन श्यामसुंदर शुभकाय
इन्दीवराक्ष मुकुंद मुरारे ॥
देवदेवेश नमो देहि कल्याणं
श्रीवर भूवर श्री श्रीनिवास ॥
राजित वरदगोपाल विट्ठल मह-
राज राज कल्पभुज सुतेज ॥

'नंदनंदन, श्यामसुंदर, शुभकाय, इंदीवराक्ष, मुकुंद, मुरारि का मंगल हो। देवदेवेश! तुम्हें नमस्कार। श्रीवर, भूवर, श्रीश्रीनिवास, राजाधिराज, आश्रित-कल्पवृक्ष, राजित वरदगोपाल विट्ठल! कल्याण करो।'

(२)

रामनाम भजिसिदवगे उंटे भवद बंधन ॥ श्री ॥ (टेक)
कामहरन सतियु सदा नेमदिंद भजिसुव ॥श्री॥
(सह टेक)
शिवनु धन्यनाद मौनियुवति पावनेयादलु
रवियसुतनु पदवि पडेद ध्रुवनु दिग्विजनेनिसिद ॥श्री॥
करिवर प्रह्लाद द्रौपदि वरविभीषणरेल्लरु
हरिय स्मरणेमाडि सौख्यभरितरागलिल्लवे ॥ श्री ॥
गिरिजे राममंत्रदिंद परम मंगलेयादलु
वरदगोपालविट्ठलन नाम दुरित-कानन-पावक ॥श्री॥

'रामनाम का भजन करनेवाले को क्या कभी भवबंधन होगा, जिसका (राम-नाम का) भजन कामहर (शंकर) की पत्नी (पार्वती) सदा निष्ठा से करती रहती हैं ? श्रीराम-नाम से शिव धन्य हुए, मुनि-पत्नी (अहल्या) पवित्र हुई, रवितनय (सुग्रीव) ने बड़ा पद पाया, ध्रुव दिग्विजयी कहलाये। गजराज, प्रह्लाद, द्रौपदी और श्रेष्ठ विभीषण ये सब हरि का स्मरणकर क्या अत्यन्त सुखी नहीं हुए ? गिरिजा राम-मंत्र से परम मंगला हुई। श्रीवरदगोपाल विट्ठल का नाम पाप (रूपी) अरण्य के लिए अग्नि है।'

एन. एस. द.

वादिराज

कर्नाटक में भागवत-धर्म का प्रचार करनेवाले भक्त-महात्माओं में वादिराज का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। दक्षिण कन्नड जिले के कुंभासि के समीप हविनकेरे में रामभट्ट और गौरी देवी नाम के दम्पति रहते थे। साध्वी-मठाधीश यतिश्रेष्ठ वागीश की भविष्यवाणी के अनुसार उस दम्पति को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। बालक का जन्म वन-प्रदेश में सन् १४८० ई० में हुआ था। स्वामी वागीश के आदेशानुसार ही रामभट्ट ने अपने पुत्र का नाम भूवर रखा जो बाद में उनका शिष्य हुआ। उन्हींके चरणों में बैठकर इसने विद्या सीखी और तुरीयाश्रम स्वीकार कर वादिराज नाम से प्रख्यात हुआ। वादिराज स्वामी वागीश के उत्तराधिकारी हुए। वागीश स्वामी के स्वर्गवास के बाद वादिराज व्यासतीर्थ के सान्निध्य में रहकर विद्याध्ययन करने के निमित्त विजयनगर गये और कृतकृत्य होकर गुरु के आज्ञानुसार अपने मठ लौट आये। चतुष्षष्ठि-कलाप्रवीण वादिराज की प्रतिभा से प्रभावित होकर विजयनगर के सम्राट् श्रीकृष्णदेव राय ने इनकी 'प्रसंगाभरण' कहकर स्तुति की थी।

उडुपि में जो आठ मठ हैं, उनमें साध्वी-मठ प्रसिद्ध है। श्रीमध्वाचार्य के छोटे भाई विष्णुतीर्थ साध्वी-मठ के मूलपुरुष माने जाते हैं। वादिराज उन्हींकी परम्परा में आते हैं। ये संस्कृत और कन्नड के प्रकांड विद्वान् थे। इनके द्वारा विरचित तथा संपादित संस्कृत ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं: १. गुरुराजीय सुधाटिप्पणी २. तत्त्वप्रकाशिकाटिप्पणी ३. तात्पर्यनिर्णय-टीका ४. तंत्रसारटीका ५. गुर्वर्थ-दीपिका ६. प्रमेय-संग्रह ७. युक्तिमल्लिका ८. सरस-भारती - विलास ९ भगवद्गीता - टिप्पणी १०. तीर्थ-प्रबन्ध ११. महाभारत-टिप्पणी १२. रुक्मिणीश-विजय १३. पाखण्ड-मतखण्डन १४. एकादशी-निर्णय १५. संकल्प - पद्धति तथा १६. कृष्णाष्टक आदि पचास स्तोत्र।

इनके द्वारा रचित कन्नड़ ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं: १. कन्नड़ तात्पर्य-निर्णय २. वैकुण्ठ-वर्णन ३. गुण्डक्रिया ४. लक्ष्मी-शोभाने हाडु- ५ स्वप्न-गद्य ६. भ्रमर-गीता ७. फुटकल पद और सुलादि (सप्त तालों में वर्णक्रम से राग-भाव के अनुसार गाये जानेवाले गीत)।

वादिराज महान् तपस्वी थे। वे हयग्रीव के परम उपासक थे तथा अपनी उपासना-शक्ति के आधार पर सिद्ध हुए थे। उडुपि के अष्ट-मठों में देवपूजा का जो क्रम निर्दिष्ट है, उसके प्रवर्तन का पूरा श्रेय वादिराज को ही है। आज भी उन मठों में पूजा के समय वादिराज की रचनाओं को भजन के रूप में गाया जाता है। दक्षिण कन्नड़ जिले में 'धर्मस्थल' नामक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है, वहाँ भगवान् मंजुनाथ (शिवलिंग) की स्थापना करनेवाले वादिराज ही थे। कहा जाता है कि ये १२० वर्ष तक जीवित थे तथा उत्तर कन्नड़ जिले के 'साध्वी' नामक ग्राम में अपने लिए बनवाये गये 'वृन्दावन' में सन् १६०० में सरीर प्रविष्ट हुए थे। साध्वी में इन्होंने त्रिविक्रम की मूर्ति की स्थापना की थी। इन्होंने आसेतुहिमाचल यात्रा की थी। सम्प्रदाय के भक्तों का विश्वास है कि ये भगवान् 'वामन' के अवतार थे।

वादिराज के जीवनकाल में जैन-धर्म के अनुयायियों का कर्नाटक में बोलबाला था। शासन भी उन्हीं लोगों का था। वादिराज के माहात्म्य से प्रभावित होकर तत्कालीन जैन-राजा ने इनका बड़ा सम्मान किया था तथा इनको हरे रत्नों (पन्ना) की विट्ठल-मूर्ति सर्मपित की थी।

इनके पदों में 'हयवदन' छाप मिलती है। उनमें कृष्ण की लीलाओं से सम्वन्धित वर्णन प्राप्त होते हैं जिनसे इनकी निर्मल कृष्णभक्ति व्यंजित होती है। नीचे इनके दो पद उद्धृत किये जाते हैं:

(१)

बारो मुरारि बालक शौरि ॥ (टेक)
सारविचारि संतोषकारि ॥ (सह टेक)

आट साकेळो मैयेल्ल धूळो
ऊट माडेळो कृष्ण कृपाळो ॥ १ ॥

अरुणाब्ज-चरण मंजुळाभरण
परम वितरण पन्नगशयन ॥ २ ॥

मनेगेद्दु बारो कोनेगेय्य तोरो
चिनुमय बारो नगेमुख तोरो ॥ ३ ॥

वेंकटरमण संकटहरण
किंकरामरगण वंदितचरण ॥ ४ ॥

अरविंद-नयन शरदिंदु-वदन
वरयमि सदन सिरि हयवदन ॥ ५ ॥

'आओ मुरारि, बालक शौरि, सारविचारवाले, संतोष पहुँचानेवाले! खेल पर्याप्त है, उठो। तुम्हारे शरीरभर में धूल भरी है। हे कृपालु कृष्ण! उठो, भोजन करो। हे अरुणाब्जचरण, मंजुलाभरण, परमवितरण, पन्नगशयन! उठकर घर चले आओ, अग्रहस्त दिखाओ। हे चिन्मय, आओ, अपना प्रसन्न वदन दिखाओ। हे वेंकटरमण (तिरुपति के भगवान् का नाम)! संकट दूर करनेवाले, किंकर-अमरगण,

वंदित-चरण, अरविंद-नयन, शरत्काल के चन्द्र-सदृश, श्रेष्ठ तपस्वियों के सदन, श्रीहयवदन ! (आओ) ।'

(२)

मातु मातिगे केशव नारायण माधव एनबारदे ॥
(टेक)

प्रातःकालदोळेद्दु पार्थसारथियेंदु प्रीतिलि नेनेये
सुप्रीतनागुव हरिय एतक्के नेनेय बारदु
हे जिह्वे एतक्के नेनेयबारदु ॥ (सह टेक)

जलजनाभन नामवु ई जगकेल्ल जननमरणहरवु
सुलभवागिह्रदु सुखके कारणविदु बलिद पापगळेल्ल
परिहरिसुवुदेंदु तिळिदु तिळियदिहरे !
हे जिह्वे ! तिळिदु तिळियदिहरे ॥ १ ॥

तरळे द्रोपदि सीरेय सेळेयुतिरे हरि नीने गति एनलु
परम पुरुष भवभंजन केशव दुरुळर मर्दिसि तरुणिगे
वरवित्त हरिनाम प्रियवल्लवे ?
हे जिह्वे ! हरिनाम प्रियवल्लवे ॥ २ ॥

हेमकशिपुसंभव ई जगकेल्ल नामवे गति एनलु
प्रेमदिंदलि बंदु कामितार्थंगळित्त स्वामि हयवदनन्न
नामवने नेनेयुत्त याम यामकु बिडदे
हे जिह्वे ! याम यामकु बिडदे ॥ ३ ॥

'हे जिह्वे ! बात-बात पर केशव, नारायण, माधव क्यों नहीं कहती ? प्रातःकाल उठकर 'पार्थ-सारथि' कहकर प्रेम से स्मरण करने पर सन्तुष्ट होनेवाले हरि का स्मरण क्यों नहीं करती ? हे जिह्वे ! क्यों नहीं रटती जलजनाभ का नाम ? वह इस जगत् के जन्म-मरण को हरनेवाला है, अत्यन्त सुगम है, सुख का कारण है, प्रबल पापों को भी दूर करने वाला है। यह जानते हुए भी क्या अनजानी रहोगी? हे जिह्वे ! अनजानी रहोगी क्या ? नारी द्रौपदी अपने वस्त्रापहरण के समय जब कहने लगी कि 'हे हरि, तुम्हारी ही शरण हूँ' तब परमपुरुष, भवभंजन केशव ने दुष्टों का मर्दन कर (उस) स्त्री को वर दिया। हे जिह्वे ! क्या तुझे हरिनाम प्रिय नहीं है, हरिनाम प्रिय नहीं है क्या ? हिरण्यकशिपु का पुत्र (प्रह्लाद) जब कहने लगा कि इस जगत् के लिए नाम की ही शरण है, तब स्वामी हयवदन ने प्रेम से आकर वांछित फल प्रदान किये, उनका नाम प्रत्येक प्रहर में निरन्तर स्मरण करो। हे जिह्वे ! याम-याम में निरन्तर (स्मरण करो) ।'

एन. एस. द.

विजयदास

कर्नाटक के वैष्णव भक्त-कवियों में विजयदास का प्रमुख स्थान है। सम्प्रदाय में इनकी स्तुति इस प्रकार प्रचलित है :

अज्ञानतिमिरांधस्य आत्मानन्दपदप्रदम् ।
विज्ञानविमलं श्रेष्ठं विजयार्यं गुरुं भजे ॥

तुंगभद्रा नदी के किनारे चीकलपरि नामक गाँव 'अश्वत्थनरसिंह क्षेत्र' के नाम से प्रसिद्ध है। उस क्षेत्र में भगवान् नृसिंह की सेवा कर भक्तजन अपनी अभिलाषा पूर्ण करते हैं। अठारहवीं शती के आरम्भ में वहाँ श्रीनिवासप्पा और कूसम्मा नामक अकिंचन ब्राह्मण दम्पति रहते थे। भगवान् अश्वत्थ नरसिंह की कृपा से उन्हें प्राप्त तीन पुत्रों में 'दासप्पा' ज्येष्ठ थे। ये ही बाद में 'विजयदास' नाम से प्रख्यात हुए।

दासप्पा की जन्मतिथि सन् १६८२ ई० मानी जाती है। कहा जाता है कि गरीबी के कारण बचपन में इनकी शिक्षा-दीक्षा नहीं हुई थी। मुट्ठीभर अन्न प्राप्त करने के लिए इनको लालायित होना पड़ता था। सोलह वर्ष की आयु में कुछ मदान्ध व्यक्तियों द्वारा अपमानित और दुःखी हो ये अपना गाँव छोड़कर काशी चले गये। वहीं इनके मन में भक्ति का भाव अंकुरित हुआ। वहाँ चार वर्ष रहकर ये पुनः अपने गाँव लौट आये। तब इनका विवाह अरळम्मा नामक कन्या से हुआ। कुछ दिन ये गृहस्थ बनकर वहीं रहे। माता-पिता की मृत्यु के बाद पत्नी को भी साथ लेकर ये पुनः काशी गये और श्राद्धादि द्वारा माता-पिता का ऋण चुकाया। इन्होंने यह निश्चय

किया था कि जबतक भगवान् का अनुग्रह प्राप्त न हो तबतक गाँव नहीं लौटना है।

कालान्तर में इनकी मनोभिलाषा पूरी हुई। एक दिन स्वप्न में इन्हें पुरन्दरदास के रूप में भगवान् के दर्शन हुए। उनके साथ व्यासकाशी (काशीका ही एक भाग) में व्यासजी के दर्शन किया और 'विजयविट्ठल' की छाप मिली। स्वप्न से जागृत होकर ये सचमुच सिद्धपुरुष हुए और 'विजयविट्ठल' की छाप से पद-रचना करने लगे। अब इनके दिन बदल गये। इनकी महिमा बढ़ने लगी। काशीनरेश तक ने इनका आदर-सम्मान किया।

विजयदास आशुकवि थे। इन्होंने विद्याध्ययन नहीं किया था, तथापि कन्नड़ भाषा में उत्कृष्ट पदों की रचना की है। इनके पद ऐसे सरल और सुबोध हैं कि सामान्य जनता भी पढ़कर समझ सकती है। इन्होंने अपनी पद-रचना द्वारा श्रुति, स्मृति, पुराण, वेदान्त आदि का सारतत्त्व जनता को उपलब्ध कराया इनके पदों में राग, ताल आदि की प्रौढ़ता है। होने के कारण, इनके द्वारा कर्नाटक संगीत की भी समुचित सेवा हुई है। इनके शिष्य गोपालदास, मोहनदास आदि ने गुरुदेव के महिमातिशय का वर्णन किया है जिससे ज्ञात होता है कि ये ज्ञानदृष्टिसम्पन्न थे। अज्ञों से इन्होंने शास्त्रार्थ कराया था और अपमृत्यु से अपने भक्तजनों को बचाया था।

देश के प्रमुख दिव्य क्षेत्रों का पर्यटन कर विजयदास ने भक्ति का प्रचार किया। चालीस वर्ष की अवधि में इन्होंने तीन बार भारत की यात्रा की थी। ७३ वर्ष की आयु पूरी होने पर सन् १७५५ ई० में इन्होंने 'चिप्पगिरि' नामक स्थान में अपना भौतिक शरीर त्याग दिया। इनके भक्तों के अनुसार ये 'भृगुमहर्षि' के अवतार थे।

विजयदास हरिभक्त थे। इन्होंने भगवान् विष्णु, उनके प्रमुख अवतारों, गणेश, शंकर, पार्वती आदि अन्य देवी-देवताओं की भी स्तुति की है। कृष्णभक्तिसम्बंधी इनके दो पद नीचे दिये जाते हैं, जो इनके भक्त-हृदय के परिचायक हैं:

(१)

बंदु निल्लो कण्ण मुंदे ॥ (टेक)
बंदु निल्लो निन्न पादके वंदिपे
इंरिरेयरस गोविंद मुकुंदने ॥ (सह टेक)

अरळिद केंदावरेय धिक्करिसुव
चरणारविंदव निरुत तोरो नीनु ॥

नीलालक भ्रमर कुण्डलमण्डित
मेलाद राकेन्दु मुखव तोरिसुतलि ॥

पदुम नेत्रने निन्न सदनवेनुत एन्न
हृदयदोळ् नितु ना मुददि भजिसुवंते ॥

करिय मोरेय केळि करुणदि बंदंते
करेदाग निन्न दिव्यचरण तोरिसुतलि ॥

अजभवादिळिगे निज पदवित्तंते
भजिय भक्तरिगोलिव विजयविट्ठलराय ॥

'हे इंदिरारमण! आकर आँखों के सामने खड़े हो जाओ। गोविंद, मुकुंद! आकर खड़े हो जाओ। मैं तुम्हारे चरणों में नमन करता हूँ। तुम प्रफुल्लित अरुण कमल को भी नीचा दिखानेवाले अपने चरणारविंदों को सदा दिखाओ। नील अलक, भ्रमर-कुण्डलमण्डित, श्रेष्ठ राकेंदु-मुख को दिखाते रहो। हे पद्मनेत्र! मेरा हृदय तुम्हारे लिए सदन है, यह मानकर खड़े हो जाओ, ताकि मैं आनन्द से भजन करूँ। गज की पुकार सुनकर जैसे सकरुण चले आये, वैसे ही जब मैं बुलाऊँ तब अपने दिव्य चरण दिखाते हुए (चले आओ)। जिस तरह ब्रह्मा, शंकर आदि को तुमने अपना पद प्रदान किया, उसी तरह भजन करनेवाले भक्तों पर प्रसन्न होनेवाले विजयविट्ठल! (मुझे भी दो)।'

(२)

कूगिदरु दनि केळदे शिरबागिदरु दयबारदे ॥(टेक)॥
भोगिशयन भुवनाधिपते निन्न
आगमनवेंदागुवुदो प्रभु ॥

भक्तरिगोलिद नीनु खरे एन्न
अत्त नोडुवुदु एके दोरे
चित्तावधान पराकु महाप्रभु
एत्तण रथवनु एत्ति बिसाडु दोरे ॥

सिंधुशयन शेषाद्रिवर सिरि-
मंदिर भक्तकुदुम्ब भर
सुंदर मूरुति बंदेन्न स्वप्नदि
निंदु पदद्वय चंददि तोरिसो ॥

करुणाशरधियु नीनल्ले कृष्ण
शरणागतरिगे दोरेयल्ले
मरेहोक्कवरिगे मरेयागुवुदु
सरिये जगदोळु विजयविट्ठलराय ॥

'हे भोगिशयन ! क्या पुकारने पर भी आवाज नहीं पहुँचती ? सिर झुकाने पर भी दया नहीं आती ? भुवनाधिपति, प्रभु ! तुम्हारा आगमन कब होगा ? सचमुच तुम भक्तों पर प्रसन्न होनेवाले हो तो मेरी ओर मुंह मोड़ने का क्या कारण है ? हे महाप्रभु ! तुम्हारी जय हो, तुम्हारी जय हो । हे स्वामि ! जहाँके रथ को वहीं उठाकर फेंक दो (कठोपनिषद् में बताया गया है कि 'आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु' अर्थात् आत्मा को शरीर मानो और शरीर को रथ । यहाँ विजयदास ने साधना-शरीर मानव-शरीर के बारे में कहा है) । हे सिंधुशयन, शेषाद्रिवर, श्रीनिवास, भक्तों के पोषक, सुन्दरमूर्ति ! मेरे स्वप्न में आकर तुम भलीभाँति अपने चरण-युगल दिखाओ। हे कृष्ण ! क्या तुम करुणा-समुद्र नहीं हो ? शरणागतों के लिए राजा नहीं हो ? हे विजयविट्ठल ! प्रभु की जो शरण में आते हैं, उनसे छिप जाना क्या इस जगत् में ठीक है ?

एन. एस. द.

वेंकटरमणदास

वेंकटरमणदास के पिता का नाम 'श्रीनिवासदास' था। ये उनके के समान ही अपने समय के प्रसिद्ध वैष्णव-भक्त थे और बीसवीं शती के प्रथम चरण में विद्यमान थे। इनके पदों में 'गुरुजयविट्ठल' की छाप मिलती है। इनकी रचनाओं में भक्ति की महिमा का वर्णन है। मूलतः कृष्ण-भक्त होते हुए भी ये शंकर में भी प्रगाढ़ निष्ठा रखते थे। ये माध्व-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इनके दो पद उद्धृत किये जाते हैं।

(१)

भूषणके भूषण हरिय नाम मिक्क
वेष भाषा भरणवेल्ल निर्नाम ॥ (टेक)

हरिय संदर्शनवे नेत्रक्के भूषणवु
हरिपाद प्रणतिये शिरके भूषणवु
हरियर्चनादिगळ करगळिगे भूषणवु
हरियात्रे माडुवदे चरणक्के भूषणवु ॥

हरिय नामामृतवु रसनेगे भूषणवु
हरिस्तोत्र पूर्णविद्यगे भूषण
हरियंगसंगवी तनुविगे भूषणवु
हरिय अनुरागवे मनसिगे भूषणवु ॥

हरिय स्मरिसुतलिहुदे स्थिरमतिगे भूषणवु
हरिगळकि बाळुवुदे जन्मक्के भूषण
हरिगे हिग्गुतलिहुदे करणक्के भूषणवु
गुरुजयविट्ठलन स्मृति सकल भूषणवु ॥

'हरि का नाम भूषण है, शेष वेष-भाषा- भरण सब नगण्य हैं। हरि के दर्शन ही नेत्रों के लिए भूषण है, हरि-चरणों में नमस्कार करना ही सिर के लिए भूषण है, हरि की पूजा आदि हाथों के भूषण हैं; हरि (को देखने के लिए) यात्रा करना ही चरणों के लिए भूषण है। हरि का नामामृत जिह्वा के लिए भूषण है; हरिस्तोत्र पूर्णविद्या (पारग) के लिए भूषण है; हरि का निर्माल्यादि शरीर के लिए भूषण है; हरि-प्रेम ही मन के लिए भूषण है। हरि का स्मरण करते रहना ही स्थिर मन का भूषण है, हरि से डरकर जीवन चलाना (सन्मार्ग पर रहना) ही जन्म के लिए भूषण है, हरि के निमित्त आनन्दित रहना ही कर्णों के लिए भूषण है, 'गुरुजयविट्ठल' की स्मृति सबका भूषण है।'

(२)

श्रीकैलासाधिपते नमस्ते ॥ (टेक)
श्रीकर सुखकर घन करुणाकर भवहर पुरहर ॥
(सह टेक)

बालेंदुमाळि रुण्डमालि पालितामराळि
कालान्तक पाहि दुरितजालहरण फालनयन ॥

हर गिरिजावरं सुन्दर करिचर्माम्बर शंकर
वर मृगधर परिशोभित निरुपमगुणभरितचरित ॥

जय भयकृद्‌भयनाशन जय जय वृषभध्वजविभूषण
जय जय गुरुजयविट्ठलन प्रियतम परिपूर्णकाम ॥

'श्रीकैलासाधिपति ! नमस्ते। श्रीधर, सुखकर, घनकरुणाकर, भवहर-पुरहर ! (नमस्ते)। बालशशि को सिर पर धारण करनेवाले रुंड (मुण्ड) मालाधारी, देवताओं की रक्षा करनेवाले, कालांतक, दुरितजालहरण, विशाललनयन ! रक्षा करो। हर, गिरिजारमण, सुन्दर, करिचर्माम्बर धारण करनेवाले शंकर, श्रेष्ठ मृगधर (चन्द्र) से शोभित और निरुपम गुणों से पूर्ण चरितवाले ! (नमस्ते)। हे भयकृत, भयनाशन, वृषभध्वज ! तुम्हारी जय हो, तुम्हारी जय हो। गुरुजयविट्ठल के प्रियतम, परिपूर्णकाम ! तुम्हारी जय हो, तुम्हारी जय हो।'

एन. एस. द.

वेंकटसुब्बदास

सुरपुर के आनन्ददास के शिष्यों में वेंकटसुब्बदास का नाम उल्लेखनीय है। इनके पिता 'वेंकटेशदास' सन् १७९८ ई० के आसपास कावेरी नदी के किनारे श्रीरंगपट्टणम्में रहते थे। वेंकटेशदास की सत्तर वर्ष की आयु में वेंकटसुब्बदास का जन्म हुआ था। बचपन में ही, जब इनकी आयु पाँच वर्ष की थी, ये अनाथ हो गये। इन्होंने धैर्य से कष्टों का सामना किया और मंत्रालय में स्वामी धर्मेन्द्रतीर्थ के आश्रय में रहकर शास्त्राध्ययन किया। इन्होंने इसके साथ ही आनन्ददास से संगीत का भी अभ्यास किया। बाद में ये बेलूर आकर बस गये। तबसे इनके वंशज 'बेलूर के दास' कहलाने लगे। अपने समय के ये प्रसिद्ध पद-गायक (कीर्तनकार) और माध्व-सम्प्रदाय के अनुयायी कृष्ण-भक्त थे। इनकी कोई विशिष्ट रचना नहीं है और न कवि के रूप में इनकी प्रसिद्धि ही है।

एन. एस. द.

वेंकटेशविट्ठल

द्वैतवादी वैश्यों के पुरोहित वेंकप्पाचार्य आनन्ददास के शिष्य थे और वेंकटविट्ठल की छाप से पद-रचना करते थे। इनका जन्म सन् १८१५ ई० में हुआ था और स्वर्गवास सन् १९२५ ई० में हुआ। इन्होंने २० हरिकथाएँ लिखी हैं और कुछ फुटकर पद भी रचे हैं। इनके पदों में संगीत और साहित्य दोनों का अपूर्व समन्वय मिलता है। इनका एक पद यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

कमलनयन वासुदेव बारो ।। (टेक)
सुमनसरिगे सुधेयनेरेद रमाकान्त बारो ॥
(सह टेक)

अनघ नानु नेनेयदिरलु मनसु तिळिसराले ।
नी बारे मुरारे मनसारे ॥

आटपाटनोटकूटबेट निन्नदागि ।
मनसागि अतित्यागि अमुभोगि ॥

इष्टु कष्टगळनु वेंकटेशविट्ठल बिडिसो
निन्ननोलिसो मर्म तिळिसो इष्टसलिसो ॥

'कमलनयन वासुदेव ! आओ। सुमनों (देवताओं) को अमृत प्रदान करनेवाले रमाकान्त आओ। अनघ! जबतक मैं स्मरण न करूँ तबतक मैं अपना मन नहीं प्रकट कर सकता (और तुम्हारा दर्शन नहीं पा सकता)। हे मुरारि ! दया करके आओ। खेल-कूद, मिलन-विहार और सुख-दुःख (आदि मेरी सभी क्रियाएँ) तुम्हें ही समर्पित हैं। हे वेंकटेशविट्ठल ! इन कष्टों का परिहार करो, अपना मर्म समझाओ और मेरी अभिलाषा पूर्ण करो।'

एन. एस. द.

वेणुगोपाल विट्ठल

भक्तों का यह विश्वास है कि बेलूर के वैकुण्ठदास मोदलकल्लु शेषदास और तिम्मण्णदास के रूप में जन्मान्तर पा चुके थे। विजयदास दिव्यज्ञान-सम्पन्न होकर काशी से लौटते समय चीकलपरवि पहुँचने के पहले जब 'अदवानी' में ठहरे थे तब वजीर तिम्मण्णदास को उन्होंने 'पंगनामद तिम्मण्णदास' कहकर सम्बोधित किया था और उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति प्रदान की थी। तभी तिम्मण्णदास उनके शिष्य हुए थे, किन्तु गुरु की आज्ञा न मिलने के कारण ये वजीर के पद पर काम करते रहे। ये जिस बसालत जंग नामक नवाब के यहाँ वजीर थे उसकी प्रेरणा से इनका एकमात्र पुत्र मुसलमान हो गया। वह बाद में नवाब की बेटी से शादी कर अदवानी का अधिपति बना। पुत्र के इस धर्मान्तरण से पिता का हृदय अत्यन्त दुःखी था, फिर भी ये अपने पद पर प्रजा-सेवा की दृष्टि से काम करते रहे। केवल इन्हींके कारण मराठों ने नवाब पर आक्रमण नहीं किया था। किन्तु नवाब ने इनको पुत्री के विवाह के समय अपनी चापलूसी करनेवालों की बात सुनकर इनका अपमान किया। परिणामस्वरूप 'मगलवेलि' नामक स्थान पर आकर इन्होंने ४२ दिनों तक प्रायोपवेश करने के बाद प्राण त्याग दिये। कहा जाता है कि बाद में अपनी गलती का अनुभव कर नवाब ने इनसे क्षमा-याचना की थी और प्रार्थना की थी कि वे अपने पद पर लौट आयें, किन्तु इन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया।

इनकी रचनाओं में 'वेणुगोपालविट्ठल' की छाप मिलती है, नमूने के दो पद नीचे दिये जाते हैं। कहा जाता है कि इनमें पहला पद इनकी अन्तिम रचना है :

(१)

पालिसुवुदु एन्न पावन्न वेणुगो-
पाल गुणगणपूर्णं, निन्नंघ्रि भजनेय
लोल्लरल्लिड्डु मुन्न आनन्दघन्न ॥ (टेक)
श्रीलतांगिय रमण शोभित
माले मुक्ताभरण भकुतर
काल कालके पोरेवदात वि-
शाल महिमने मेलु करुणदि ॥ (सह टेक)
एसु जन्मगळिंद भवदोळगे बंदु
वासवादुर्दरिद भवदोळगे परि परि
क्लेशपट्टे गोविंद खति सागरदोळु
ईसलारे मुकुंद नी कडियो बंध,
        वासुदेवानंत श्रीधर
        केशव दामोदराच्युत
        श्रीश सुँदरहास हरि स-
        र्वेश सज्जन पोषकेन
वासवानुज वासव विनुत
वासि पंथगळिल्लदिह सुख
दाश रावणनाश गैसिद
दाशरथे मनदाशे पूर्तिसि ॥
आरिगुसुरलि नानु, अल्पज्ञ जनरिगे
सारि पेळिदरेनु, सर्वज्ञ एन्ननु
दूर नोडदे माणु, नेनेवरिगे बेंबल
सारिद सुरधेनु-रथाण्डजनु
एरि मेरेव यदकुलोत्तम
मारजनक मंदरोद्धर
वारिजासन वदितांघ्रि
सार हृदयर साकुतिप्पने
क्रूर कुल कुठार, कुंभिणि
भार परिहर भव-विमोचक
नीरजाक्ष निगमवेद्य
आहार कौस्तुभ हृदयशोभित ॥
मनवनिल्लिसो जीया, दुर्लभदि बंदिह
मानवाग्रणि कायो स्थिरवल्लवो ई
तनुवु तिरुमलराय, इदरोळगे सलहलु
घनते निनगतिशय्या-विडु निन्न माया
वनजजाण्डव पडेदु सर्वर
दिनदिनदि पोरेयुत्त परमा
दनुज दिविजर मनेय माडि
अनुजदिनदोळगाडुतिप्पने

मुनिजन हृदयाळज मंदिर
विनगु दैवर गण्ड गजनृप
वनिते वसुधेय काय्द वेणु-
गोपाल विट्ठल ओदगि ईगले ॥

‘हे पावन वेणुगोपाल, गुणगणपूर्ण ! मेरी रक्षा करो। तुम पहले अपने पादसेवकों में मुझे रखो। हे आनन्दघन, श्रीलक्ष्मीरमण, शोभितमाला-मुक्ताभरण, समय-समय पर भक्तों की रक्षा करनेवाले, विशाल महिम ! विशेष करुणा से (मेरी रक्षा करो)। हे गोविन्द ! अनेक जन्मों से भव में आकर रहने से मैंने नाना प्रकार के दुःख पाये हैं, मैं क्रोध के सागर में तैर नहीं सकता। हे मुकुन्द ! इस बन्धन को काटो। हे वासुदेव, अनन्त, श्रीधर, केशव, दामोदर, अच्युत, श्रीश, सुन्दरहास, हरि, सर्वश, सज्जन-पोषक, वासवानुज, वासवविनुत (इन्द्र द्वारा नमन किये गये), रावण का नाश करनेवाले दाशरथे ! मन की अभिलाषा पूर्ण करो (मेरी रक्षा करो)। मैं किससे कहूँ ? अल्पज्ञ लोगों से कहने से भी क्या प्रयोजन ? सर्वज्ञ ! मुझे दूर मत करो। स्मरण करनेवालों का समर्थन करने की घोषणा करनेवाले, सुरधेनु, गरुडवाहन, यदुकुलोत्तम, मारजनक, मंदरोद्धारक, वारिजासन, वंदितांघ्रि भक्तों का पालन करनेवाले, तिरुमलेश (तिरुपति के भगवान्), क्रूरकुल-कुठार, भूमि-भारहारक, भवमोचक, नीरजाक्ष, निगमवेद्य, कौस्तुभहार से शोभित-हृदय, स्वामिन् ! मुझ पर दया करो। (मैंने) दुर्लभ मानवजन्म पाया है। मेरी रक्षा करो। हे तिरुमलेश ! यह तन स्थिर नहीं है, तुम अपनी माया दूर करो, त्यागो। इसमें (इस जन्म में) रक्षा करो तो तुम्हारी महिमा होगी। ब्रह्माण्ड की रचना कर सदा सबकी रक्षा करते हुए देव-दानवों के यहाँ रहकर अनुदिन लीला करनेवाले, मुनियों के हृदयाब्ज-मन्दिर, देवाधिदेव, गज-नृप-वनिता-वसुधा की रक्षा करनेवाले वेणुगोपाल विट्ठल ! अभी आकर (मेरी रक्षा करो)।

(२)

साकि सलहेंदु अतिव्याकुलदि बंदवन
नूकि बिडुवुदु उचितवे ?
एकु बुद्धियनित्तु जोकेमाडदे मनव
नेक माडुवुदुचितवे ?
बेकाद वरवकोडुवे लोकदवरिगे एन्न
काकुमाडुवुदुचितवे ?
श्रीकांत वेणुगोपाल विट्ठल निन्न
वाकु मन्निरसुतिरलु ना केडुवुदुचितवे ?

‘अत्यन्त व्याकुल हो पालन-पोषण पाने की इच्छा से आये व्यक्ति को बाहर निकाल देना क्या उचित है ? अच्छी बुद्धि प्रदान कर सन्मार्ग पर लाये बिना साधारण मानवों में रखना क्या उचित है ? लोगों को वांछित वर देते हो, मुझे इस तरह ठुकराना क्या उचित है ? श्रीकांत वेणुगोपालविट्ठल ! जब मैं तुम्हारी बात मान रहा हूँ तब मेरा भ्रष्ट होना क्या उचित है ?’

एन. एस. द.

वैकुंठदास

वैकुण्ठदास व्यासतीर्थ, वादिराज और पुरंदरदास के समकालीन थे। अतः इनका समय ईसा की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती माना जा सकता है। वैकुण्ठदास इनका प्रचलित और विख्यात नाम है। वास्तविक नाम ‘केशवैयंगार्य’ था। ये हव्वार (बड़े ब्राह्मण) शाखा के वैष्णव थे। इनका निवासस्थान बेलूरु था और जन्म भी वहीं हुआ था। अपने अन्तिम समय तक ये वहीं रहे। बेलूरु कर्नाटक के जगत्प्रसिद्ध शिल्पकला केन्द्रों में है। संस्कृत में उसे ‘वेलापुरा’ कहते हैं। कहते हैं कि आज जहाँ देवालय है, वह स्थान ‘वेला’ और ‘पुरी’ नामक दो अस्पृश्यों का था। राजा विष्णुवर्धन के समय वहाँ देवालय बना, इस शर्त पर कि रथोत्सव के अवसर पर तीन दिन हरिजनों को मन्दिर में प्रवेश करने की स्वतंत्रता रहेगी। स्थल पुराण के अनुसार मंदिर में जो केशव

भगवान् की मूर्ति है, उसकी आराधना गौतम महामुनि करते थे।

वैकुण्ठदास बचपन से ही भावुक थे। ये अपने समय का अधिकांश भाग भगवान् के मंदिर में ही व्यतीत करते थे। ये वेदाध्ययन और काव्याभ्यास कर चुके थे, फिर भी देखने में जड़ प्रतीत होते थे। यौवन में भी ये केशव के ही स्मरण-चिन्तन में लीन रहते थे। सदा यही सोचा करते थे कि मैं कब केशव को देखूँगा, कब उनके साथ सखा के समान, सेवक के समान और शिष्य के समान रहूँगा। माता-पिता के आग्रह से इनका विवाह हुआ, पर विवाह के दिन मंदिर में ही आकर रह गये, बाद में इन्हें समझाया गया कि जबतक कंकण-विसर्जन न हो जाय तबतक कहीं जाना नहीं, घर में ही रहना होगा। इनकी पत्नी सौम्यनायकी शांत स्वभाव की तथा साध्वी थीं। विवाह के बाद दस वर्ष पर्यन्त जबतक भगवान् के दर्शन न हुए, वैकुण्ठदास ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए दीक्षित रहे। जब भगवान् केशव के दर्शन हुए और उनका आदेश हुआ तभी इन्होंने दाम्पत्य-जीवन आरम्भ किया। इनकी इकलौती बेटी के वंशज आज भी बेलूरु में हैं।

वैकुण्ठदास श्रेष्ठ भक्त थे। इनके माहात्म्य से संबन्धित कई किंवदन्तयाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि साँप के डसने से मरे व्यक्ति को इन्होंने जिलाया था। शिष्य के रूप में स्वयं भगवान् ने इनकी सेवा की थी और इनके पिता के श्राद्ध के अवसर पर वे स्वयं ब्राह्मण के रूप में पधारे थे।

दक्षिण भारत में कांची और श्रीरंग प्रमुख वैष्णव-क्षेत्र हैं। वैष्णव-भक्त इन क्षेत्रों के दर्शन से परम संतुष्ट हो जाते हैं और वहाँ जाना अपना अहोभाग्य मानते हैं। एकबार वैकुण्ठदास के मन में श्रीरंग की यात्रा करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। ये अकेले यात्रा के लिए निकल पड़े। भगवान् की विचित्र लीला है। मादिहल्लि नामक स्थान तक पहुंचे थे। रास्ते में इनको वन्यजन्तुओं का डर लगा तो भगवान् की प्रार्थना करने लगे। प्रार्थना सफल हुई और ब्राह्मण के रूप में भगवान् के दर्शन हुए। तब इन्हें यह समझने में देर नहीं लगी कि जहाँ भगवान् हैं, वहीं श्रीरंग है। ये भगवान् से क्षमा-याचना कर बेलूरु लौट आये और अपने अन्तिम समय तक वहाँ से बाहर नहीं गये। श्री वादिराज, पुरन्दरदास आदि भक्त-महात्माओं ने यात्रा-व्याज से बेलूरु आकर वैकुण्ठदास से भेंट की थी और इनके साथ भगवान् के लीला-विनोद का गान करते हुए अत्यन्त तल्लीन हुए थे। उस समय के भक्तों का विश्वास था कि बेलूरु में विष्णु-समुद्र में स्नान और भगवान् केशव के दर्शन से से ही नहीं, वैकुण्ठदास के दर्शन से भी सुकृत-प्राप्ति होती है। गृहस्थधर्म का पालन करते हुए सत्तर वर्ष तक जीवित रहकर वैकुण्ठदास अन्त में परमपद को प्राप्त हुए।

वैकुण्ठदास के पदों में 'वैकुण्ठ' तथा 'केशव' की छाप मिलती है। इनके भक्तिरसपूर्ण पदों का साहित्य में विशिष्ट महत्त्व है। इनके दो पद यहाँ उद्धृत हैं।

निम्नांकित पद के विषय में कहा जाता है कि एकबार जब पुरंदरदास के साथ वैकुण्ठदास विष्णु-समुद्र में स्नानकरके लौट रहे थे तब एक हाथी ने इनको अपनी सूंड में दबा लिया था, उस समय इन्होंने यह पद गाया था। इसके बाद वह हाथी एक पेड़ के नीचे इन्हें उतार कर चला गया :

(१)

मदकरिय वदनक्के कवळवादेनल्लो
मदनपित उळुदिरे गति यारु ऐनगे ॥ (टेक)

तरळप्रह्लादन्न करे करे बडिसुतिरे
परिहरिसलेल्लिंद बंदोदगिदे।

मोरेयिट्ट करियध्वनि निनगेंतु
केळिदुदु शरणजन बंधो
दुरितगळ परिहरिसो ॥

उत्तम सुधन्व विभीषणरु मोदालद
पृथ्वियलि निन्नवर सलहिदन्ते ।
मत्ते नानीग गजदोडने कंगेडुतिरलु
अर्थियलि करपिडिदु सलहो केशवराय ॥

आदडेनायतु निन्नंघ्रियनु नंबिरलु
नी दयदि एन्नोळगे ई रूपदि ।
माधवने गजवागि बंदोदगिदेयो एनु
ना धन्य वैकुण्ठपतिये केशवराय ॥

'अहो ! मैं मतवाले हाथी के मुख का कौर बना हूँ। मदनजनक नहीं बचायेंगे तो और किसकी शरण है मुझे ? बालक प्रह्लाद पर जब हिंसाचार होने लगा तो उससे बचाने के लिए जाने कहाँसे तुम आ गये। शरण में आये गज का आर्तनाद तुम्हें कैसे सुनायी पड़ा ? हे शरण-बन्धु ! दुरितों को हरो। जिस प्रकार तुमने पृथ्वी पर अपने श्रेष्ठ भक्त सुधन्वा, विभीषण आदि की रक्षा की (उसी प्रकार) अब मैं हाथी के कारण विकल हो रहा हूँ। केशव ! मुझ आर्त का हाथ पकड़कर मेरी रक्षा करो। माधव ! हो सकता है कि अपने चरणों पर विश्वास करनेवाले मुझ पर दया करने के लिए तुम इस रूप में—हाथी बनकर आये हो। वैकुण्ठपति, सौन्दर्यनिधि ! मैं कितना धन्य हूँ ?'

(२)

बागिलनु तेगेदु सेवेयनु कोडु हरिये ।
कूगिडुव ध्वनियु केळिसुवुदिल्लवे निनगे ॥ (टेक)

परम पददोळगे विषधरन तल्पदलि नी
शिरिसहित हरुष वारधियोळिरलु ।
करिराज कष्टदिंदादिमूलानेंदु
करेयलाक्षण बंदु काय्दे जगवरिये ॥

कडु कोपदिं खळनु खडुगवने पिडिदु नि-
न्नोडेयनेल्लिहनेंदु जडिदु नुडिये ।
दृढ़ भकुतियलि शिशुवु बिडदे निन्ननु भजिसे
घडुघडिसि कंभदिंदोडेदु मूडिद हरिये ॥

यमसुतन राणिगक्षय वस्त्रवनित्ते
समयदलि अजमिळन पोरेदेयंदु
समयासमयवुण्टे भक्तवत्सल निनगे
कमलाक्ष वैकुण्ठ चन्न केशवराय ॥

'हे हरि ! किवाड़ खोलकर सेवा प्रदान करो। क्या मेरी पुकार तुम्हें सुनायी नहीं पड़ती ? परम पद में विषधर के तल्प पर लक्ष्मीसहित जब तुम हर्ष-वारिधि में निमग्न थे तो करिराज अत्यंत कष्ट के कारण, तुम्हें आर्त होकर पुकारने लगा और तुमने आकर उसकी रक्षा की, यह तो जगत् को विदित है। अत्यन्त क्रोध से दुष्ट (पिता) ने पकड़कर डाँटते हुए जब पूछा कि बताओ, तुम्हारा स्वामी कहाँ है ? तब दृढ़-भक्ति से शिशु प्रह्लाद तुम्हारा भजन करने लगा और हरि ! तुम 'घड़-घड़' शब्द के साथ स्तम्भ को फाड़कर निकल आये। यमसुत (धर्मराज) की रानी (द्रौपदी) को तुमने अक्षय वस्त्र प्रदान किया। समय पर तुमने अजामिल की रक्षा की। हे भक्त-वत्सल, कमलाक्ष, वैकुण्ठपति, सौन्दर्यनिधि ! तुम्हारे लिए समय-असमय क्या है ?'

एन. एस. द.

व्यासतत्त्वज्ञ

'ऐजि स्वामी' अथवा व्यासतत्त्वज्ञ नाम से प्रसिद्ध 'वेंकटरामाचार्य' का जन्म रायचूर जिले के अन्तर्गत ऐजि ग्राम में सन् १७०४ ई० में हुआ था। १८ वर्ष की आयु तक विद्याध्ययन में इनकी आसक्ति नहीं थी। गोपालदास के आदेशानुसार इनके पिता वेंकट नरसिंहाचार्य ने जब अपने घर में श्रीवेंकटेश्वर की पूजाकर प्रतिदिन पुत्र को भगवान् का प्रसाद देना प्रारम्भ किया तो एक वर्ष में ही वेंकटरामाचार्य प्रकाण्ड पण्डित हो गये। इन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया, पर पुत्र-प्राप्ति नहीं हुई। इनका दौहित्र ही इनका उत्तराधिकारी हुआ।

वेंकट रामाचार्य ने बीजपल्लि नामक स्थान में बारह वर्ष तक रहकर श्रीव्यासराय द्वारा प्रतिष्ठित

मारुति, (हनुमानजी) की उपासना कर सिद्धि प्राप्त की। इसके अनन्तर 'वासुदेवविट्ठल' की छाप से इन्होंने भक्तिपूर्ण पद लिखना प्रारम्भ कर दिया। ये बीजपल्लि से वेणीसोमपुर आकर रहने लगे। गदवाल के राजा ने इनकी ख्याति से प्रभावित होकर इन्हें सम्पत्ति प्रदान की। इन्होंने कुल १८ बार 'सुधा' का मंगलवाचन किया था। इनके शिष्यों की संख्या अपार थी।

इनकी महिमा को प्रकट करनेवाली अनेक कथाएँ लोगों में प्रचलित हैं। कहा जाता है कि इन्होंने वेणीसोमपुर में ही रहकर हंपे के भगवान् विरूपाक्ष के रथ को लगी आग शान्त कर दी थी और तिरुपति में फैली महामारो को दूर कर दिया था। सन् १८०० ई० में, ९६ वर्ष की आयु में इनका स्वर्गवास हुआ। वेणीसोमपुर में इनकी समाधि है। जगन्नाथदास ने इनका यशोगान किया है।

महात्मा व्यासतत्त्वज्ञ कन्नड और संस्कृत के उच्च कोटिके विद्वान् थे। मानस-स्मृति, भागवत सप्तमस्कन्ध की नन्दनन्दिनी टीका, गायत्री-सार-संग्रह, सुधायुक्त-रहस्य, न्यायामृत-मक्षिकाव्यजन चंद्रिका-शरदागमन, लघुप्रभा और रसरंजिनी जैसे संस्कृत ग्रन्थों की इन्होंने रचना की है। कन्नड़ में भी इनके पद और फुटकर पद्य मिलते हैं। इनके शिष्यों के अनुसार ये राजा द्रुपद के पुत्र 'धृष्टद्युम्न' के अवतार थे। इन्होंने स्वप्न-प्रेरणा के अनुसार वल्लूर ग्राम के तालाब में पड़े गोपालकृष्ण के सुन्दर विग्रह को दलदल से निकालकर वेणीसोमपुर में प्रतिष्ठित किया था। इनका भक्त-हृदय पदों में स्पष्ट अभिव्यक्त हुआ है। इनके दो पद यहाँ उद्धृत हैं :

(१)

बंद कृष्ण छंदंदिद बंद नोडे गोप-
वृंदंदिद नुदिसुत बंद नोडे ॥ (टेक)
गोव मेवनीव देव बंद नोडे।
देवतावाद्य गळिद बंद नोडे ॥
पाप पोप गोपरूप बंद नोडे।
ताप लोप लापटोप बंद नोडे ॥

भासुर सुख सूसुत बंद नोडे।
वासुदेव विट्ठल ता बंद नोडे ॥

एक सखी अपनी सहेली से कह रही है : 'देखो री ! बड़ी सुंदरता से कृष्ण आये, गोपवृन्द के साथ आनन्दित होते हुए आये ! देखो री ! गायों को चारा देनेवाले देव आये। देखो री ! देवता-वाद्यों के साथ आये ! देखो री ! पाप दूर करनेवाले गोपरूप कृष्ण आये ! देखो री ! ताप का नाश करनेवाले वैभवयुक्त कृष्ण आये। देखो री ! वासुदेव विट्ठल स्वयं आये।'

(२)

बारो बारो प्राणकान्त तोरो मुखव नोड्डुवे।
तोरि तोरि निन्न पद वारिजव नम्बिदे ॥ (टेक)

बारि बारिगु मार एन्न घोरिसुतिरुवनु।
गारु माडबेड एन्न सेरि आनन्द नोडो ॥

पंथ पाडबेड एन्न कंतुजनक लालिसो।
अंतरंगद बाधेगे ना चिंतेपडुतिरुवे ॥

वासुदेव विट्ठल निन्न दासियल्लवे नानु।
आसेयिंद बंदे परिहास माडबेड ॥

माधुर्यभाव की उपासनासे सम्बद्ध इस पदमें गोपबाला जैसी कोई वनिता कह रही है : 'हे प्राणनाथ ! आओ-आओ, अपना मुख दिखाओ, मैं उसे देखूँगी। (अपना मुख) दिखाकर (मुझे संतुष्ट करो)। मुझे तुम्हारे चरणकमलों का ही भरोसा है। बार-बार मन्मथ मुझे डरा रहा है। मुझे विकल मत करो, मुझसे मिलकर आनन्द प्रदान करो। मैं अन्तर की व्यथा के कारण चिन्तित हूँ ? अभिलाषा लेकर आयी हूँ, मेरा परिहास मत करो।'

एन. एस. द.

व्यासविट्ठल

कर्नाटक की हरिदास (वैष्णव-भक्त) परम्परा में माध्व-सम्प्रदाय के व्यासविट्ठल का नाम विस्मृत

नहीं किया जा सकता। ये विजयदास के समकालीन और 'सुधा'-पाठकों में अग्रणी थे। पंडितों में इनका बड़ा आदर-सम्मान था। इनका वास्तविक नाम 'सुब्बण्णाचार्य' था। एकबार पंडित-सभा में इन्होंने विजयदास को अनादर की दृष्टि से देखा। इनकी धारणा थी कि विजयदास को शास्त्रज्ञान नहीं है। विजयदास ने सभा में ही अपने एक अनपढ़ अनुचर द्वारा 'सुधा' के उस वाक्य का वाक्यार्थ कराया जिसके सम्बन्ध में सुब्बण्णाचार्य को संदेह था। तत्काल इनका भ्रम दूर हुआ और आँखें खुल गयीं। इन्होंने विजयदास की महिमा जानी और उन्हींसे भक्ति की दीक्षा ग्रहण की। तबसे इन्होंने 'व्यासविट्ठल' की छाप से पद-रचना प्रारम्भ कर दी। इनका एक पद नीचे उद्धृत है :

नेरे नम्बिदे मद्हृदयमण्टपदोळु
परिशोभिसुतिरो पाण्डुरंग ॥ (टेक)

शरणजनर संसार महाभय-हरण
करुण सिरि पाण्डुरंग ॥ (सह टेक)

नेरेदिह बहुजनरोळगिद्दरु मन
स्थिर निन्नल्लिरलि पाण्डुरंग।
परि परि विधदलि निन्न महापूजे
निरुतवेनगे कोडो पाण्डुरंग ॥

परदेवने निन्न लीलास्मृतियनु
निरुतवेनगे कोडो पाण्डुरंग ॥

पररपेक्षेयनु बिडिसि निरन्तर
परगतिपथ तोरो पाण्डुरंग।
सुखवागलि बहुदुःखवागलि
सखनीनागिरु पाण्डुरंग।
निखिलन्तर्गत व्यासविट्ठल
तव मुखपंकज तोरो पाण्डुरंग ॥

'हे पाण्डुरंग! मैंने पूरा विश्वास किया है, मेरे हृदयमण्डप में तुम परिशोभित रहो। हे पाण्डुरंग, करुणाकर! तुम अपने भक्तजनों के सांसारिक महाभय को दूर करनेवाले हो। यहाँ बहुत लोगों के बीच रहते हुए भी मेरा मन तुममें स्थिर रहे। पांडुरंग! मुझे निरन्तर नाना प्रकार से अपनी महापूजा करने का अवसर प्रदान करो। पांडुरंग, हे परदेव! तुम निरन्तर अपनी लीला-स्मृति प्रदान करते रहो। पांडुरंग! दूसरों की अपेक्षा मुझे मुक्त कर प्रगतिपथ दिखाओ! पांडुरंग! चाहे सुख हो चाहे दुःख, तुम मेरे सखा रहो। सबके हृदय में रहनेवाले व्यासविट्ठल, पांडुरंग! तुम मुझे अपना मुख-पंकज दिखाओ।'

एन. एस. द.

व्यासराय

व्यासतीर्थ अथवा व्यासराय का जन्म कावेरी-तटीय बन्नूरु (जिला मैसूर) में २२ अप्रैल १४४७ ई० को हुआ था। 'व्यासतीर्थ' इनका संन्यासाश्रम का अभिधान है। इससे पूर्व इनका नाम 'यतिराज' था। 'व्यासयोगि-चरित' के रचयिता सोमनाथ के अनुसार इनके पिता का नाम बल्लण था। इनकी अक्कमांबा और लक्ष्मीदेवी नामक दो पत्नियाँ थीं। बहुत समय तक संतान प्राप्त न हो सकने के कारण बल्लण ने प्रथम पत्नी लक्ष्मीदेवी की अनुमति से दूसरा विवाह किया था। अक्कमांबा उनकी दूसरी पत्नी थीं। बल्लण को अपने गुरु तपोनिधि ब्रह्मण्यतीर्थ के अनुग्रह से संतान-प्राप्ति हुई। सम्भवतः अक्कमांबा के गर्भ से एक पुत्र और पुत्री हुई तथा तदनन्तर लक्ष्मीदेवी के गर्भ से यतिराज का जन्म हुआ, जो बाद में ब्रह्मण्यतीर्थ के शिष्य हुए। ब्रह्मण्यतीर्थ ने यतिराज को न्याय-वेदान्त की शिक्षा दी। कालान्तर में उन्होंने यतिराज को 'व्यासतीर्थ' अभिधान देकर तुरीयाश्रम में दीक्षित किया। तदनन्तर उन्होंने व्यासराय को महामन्त्र का उपदेश देकर विद्या-सिंहासन पर अभिषिक्त करके अपना उत्तराधिकारी बनाया।

व्यासराय ने श्रीपादराय के सान्निध्य में रहकर बारह वर्षपर्यन्त अध्ययन किया था, इसलिए श्रीपादराय इनके गुरु माने जाते हैं।

विद्यागुरु के आदेशानुसार व्यासराय ने चन्द्रगिरि के राजा सालुव नरसिंह के राजगुरु पद पर रहकर अपार कीर्ति प्राप्त की और तिरुपति-क्षेत्र के भगवान् श्रीनिवास की बहुत वर्षों तक पूजा-उपासना की। सालुव नरसिंह के बाद उनके पुत्र तम्माराय की इच्छा के अनुसार व्यासराय विजयनगर में 'विद्या-केन्द्र' की स्थापना कर वहीं सुशोभित रहे। श्रीकृष्ण-देवराय के राजत्वकाल में इनकी यशोदीप्ति और भी अधिक हुई। इन्होंने श्रीकृष्णदेवराय को 'कुहू योग' की आपदा से बचाया था। इसीलिए ये राजा के द्वारा कनकाभिषिक्त हुए थे।

भारत के दक्षिणी तथा उत्तरी प्रदेशों में विजय-यात्रा कर व्यासराय अत्यन्त प्रख्यात हुए। अपने दिव्य व्यक्तित्व से इन्होंने साधारण जनता को ही नहीं, अनेक पण्डितों और भक्तों को भी प्रभावित किया था। इनके पाण्डित्य से विद्यागुरु श्रीपादराय इतने प्रभावित थे कि दिग्विजय-यात्रा के बाद जब ये उनसे मिले तब श्रीपादराय के श्रीमुख से सहसा ये उद्गार निकले : 'तुम्हारे कारण हमारी कीर्ति है, श्रीमदाचार्य (मध्वाचार्य) की कीर्ति है और हरि की कीर्ति है।' व्यासयोगी-चरित में उनके कथन का उल्लेख इस प्रकार किया गया है : 'अये, जगति विजयते केववं शारदायामेव हृद्या निखिलविद्या, भार्गव एव प्रतिभटप्रतिभया द्रतिभा, धिषण एवाप्रहृद-मेदुरमदावदावदता, विरक्तन एव विस्मापिततेजः, प्रपंचसुधाकर एव सकलजनमनःप्रीणणं नैपुण्यं, विभाव-सावेव विश्वासितलोकबुद्धिशुद्धिः, मेदिनीधराधिपभृंग एव विशेषधौरं धैर्य, मंदारमहीरुह एवानन्यसामान्य-वदान्यता, भगवति वासुदेव एव विचित्राणि चरित्राणि।

अभूतपूर्वाभ्युदये त्रिलोकी
पटीकुटी भो भवदुच्चकीर्ते।
समस्तमेतत्तु समेधमानां
त्वय्येकवास्तव्यतया समिन्धे॥

विजयनगर के महाराज श्रीकृष्णदेवराय गुरु व्यासराय के महान् व्यक्तित्व से अतीव प्रभावित थे। वे इनके आदेशानुसार पण्डितों और महात्माओं का आदर-सत्कार करते थे। व्यासराय स्वभावतः पण्डितों, साधु-सन्तों और महात्माओं का सम्मान करते थे, चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय या मत को माननेवाले क्यों न हों। जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य जब श्रीकृष्णदेवराय के दरबार में पहुँचे थे तब व्यासराय ने श्रीकृष्णदेवराय से उनका भव्य स्वागत-सम्मान कराया था। पक्षधर मिश्र, बसवभट्ट, विद्याधर प्रभृति पण्डित व्यासराय से शास्त्रार्थ में पराजित हुए थे। सम्भव है कि श्रीवल्लभाचार्य भी इनसे अत्यधिक प्रभावित हुए हों। कहते हैं कि मुगल-सम्राट् बाबर और बीजापुर के सुलतान आदिलशाह ने हरा छत्र, ऊँट आदि प्रदान करके इनके प्रति सम्मान प्रकट किया था। इन्होंने सन् १५०० ई० के लगभग हनुमानजी के ७३२ शिला-विग्रहों की स्थापना अनेक स्थानों में की थी। इनका मठ 'व्यासराय मठ' नाम से प्रसिद्ध है। मैसूर जिले के 'सोसले' ग्राम में वह अब तक विद्यमान है। इन्होंने तर्कताण्डव, न्यायामृत और चन्द्रिका नामक ग्रंथों की रचना की है जो इनके अगाध पांडित्य के प्रमाण हैं। इनमें चन्द्रिका तो अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस कारण इनको 'चन्द्रिकाचार्य' कहते हैं। ये तीनों ग्रन्थ संस्कृत में हैं। कन्नड में जो इनके जो पद प्राप्त हुए हैं वे इनकी निर्मल भक्ति के द्योतक हैं। कर्नाटक के प्रसिद्ध भक्तकवि और संगीतज्ञ पुरन्दरदास तथा कनकदास इन्हींके शिष्य थे। ये ९२ वर्ष तक जीवित रहे और ८ मार्च १५३९ ई० को आनेगोंदि के समीप तुंगभद्रा के नववृंदावन नड़ुगड्डे में समाधिस्थ हुए।

व्यासराय श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। इनके पदों में श्रीकृष्ण की छाप है। पदों की रचना कर के ये अपने शिष्यों के साथ उनका गान भी किया करते थे। भजन-सेवा और नर्तन-सेवा द्वारा इन्होंने दक्षिणी भारत में भागवत-धर्म का व्यापक प्रचार किया। इससे ये स्वयं तो तर ही गये, दूसरे लोगों के भी उद्धार का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

यह कहना असंगत न होगा कि व्यासराय के कारण मध्वाचार्य के द्वैत-सिद्धान्त का विशेष प्रचार हुआ। स्वयं इन्होंने अपने 'सुळादि' में बताया है कि इन्होंने 'मध्वमत का उद्धार' किया। बंगाल में द्वैतवाद का जो प्रचार हुआ, उसके कारण भी व्यासराय ही माने जाते हैं। महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य व्यासराय को अपना गुरु मानते थे।

कहा जाता है कि जब व्यासराय श्रीरंगनाथ के दर्शन के लिए श्रीरंगधाम गये थे तब इन्हें शेषशायी के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। श्रीरंगक्षेत्र में ही इन्होंने 'चन्द्रिका' का लेखन प्रारम्भ करके उसे शेषशायी को समर्पित किया। 'चन्द्रिका' के मंगल-श्लोक इनकी प्रगाढ़ कृष्ण-भक्ति के द्योतक हैं :

अस्पृष्टदोष गन्धाय कल्याणगुणसिन्धवे।
नमो नमो भक्तमुक्तिदायिने शेषशायिने॥

शमयन् भवसन्तापं रमयन् साधुचारितान्।
कृष्णमेघः कृपावृष्टिवृष्ट्या पुष्णातु मामपि॥

व्यासराय अपरोक्ष ज्ञानी थे। इनके कारण कर्नाटक में वैष्णवभक्ति की विशुद्ध धारा बही। इन्होंने अनेक भक्तों को प्रेरणा दी। कन्नड़ भक्ति-साहित्य को इनकी अतुलनीय देन है। इनके दो पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

हरिनाम जिह्वेयोळिर बेकु नरनादमेले॥ (टेक)

भूतदयापरनाग बेकु पातकवेल्लव कलेयलि बेकु।
मातुमातिगे हरि एन बेकु नरनादमेले॥

शांति शम दम हिडियलु बेकु भ्रांति अवगुण कलेयलु बेकु।
संतत सन्मार्गदलिर बेकु नरनादमेले॥

कामक्रोधव ता बिड बेकु ममते अहंकारव नीगलु बेकु।
सौम्यर संगदोळिर बेकु नरनादमेले॥

वेदशास्त्रवनोदलु बेकु बोधतत्त्वव तिळियलु बेकु।
माधवन स्मरणे माडलु बेकु नरनादमेले॥

तंदे कृष्णन दयपडेय बेकु बंदद्दुण्डु सुखपड बेकु।
चंदःगि जगदोळगिर बेकु नरनादमेले॥

'मनुष्यरूप में उत्पन्न होने के बाद जिह्वा पर हरिनाम होना चाहिए, भूतदया होनी चाहिए, समस्त पातकों से मुक्त होना चाहिए। मनुष्य होकर उत्पन्न होने के बाद बात-बात पर 'हरि' कहना चाहिए। शान्ति, शम और दम स्वीकार करने चाहिए, भ्रान्ति और अवगुण दूर करने चाहिए। मनुष्य होकर उत्पन्न होने के बाद सदैव सन्मार्ग पर चलना चाहिए। काम-क्रोध को छोड़ना चाहिए, ममता-अहंकार को दूर करना चाहिए। मनुष्य होकर उत्पन्न होने के बाद संत लोगों के साथ रहना चाहिए। वेद-शास्त्रों का पठन करना चाहिए, नीति और तत्त्व समझने चाहिए। मनुष्य होकर उत्पन्न होने के बाद माधव का स्मरण करना चाहिए, पिता कृष्ण की दया प्राप्त करनी चाहिए, जो कुछ मिलता है उसका अनुभव कर सुखी होना चाहिए। मनुष्य होकर उत्पन्न होने के बाद अच्छे ढंग से जगत् में रहना चाहिए।'

(२)

अंतरंगदलि हरि काणदवने
हुट्टु कुरुडनो॥ (टेक)

संतत सिरिकृष्णचरिते केळदवने,
जडमति किवुडनो एंदेंदिगु॥ (सह टेक)

हरुषदिंदलि नरहरिय पूजेय,
माडदवने कैमुरिदवनो।
कुरुवरसूतन मुंदे कृष्ण येंदु,
कुणियदवने कुण्टनो॥
नरहरिचरणोदक धरिसद,
शिर नायुण्ड हेंचुकाणो।
सुरवर कृष्णप्रसादविल्लद,
ऊट सूकर भोजनवो एंदेंदिगु॥
अमरेश कृष्णर्गर्पितविल्लदाकर्म,
असतिय व्रतनेमवो।
रमेयरसगे प्रीतियिल्लद,
वितरणे रण्डेकोरळ सूत्रवो॥

कमलनाभन पाडि पोगळदं,
संगीत गार्दभ रोदनवो।

ममतेयिंदलि केशवगे नमस्कार,
माडदवने मृगवो एंदेंदिगु ॥

जरे पुट्टु मरणव तोडेव,
सुधेय बिट्टु सुरेय सेविस बेडवो।

सुरधेनुविरलागि सूकर मोलेहालु,
करेदु कुडिय बेडवो ॥

करिरथतुरगविरलु बिट्टु,
केडहुव कत्तेयेरलि बेडवो।

परमपदवनीव सिरिकृष्णनिरलागि,
नरर सेविस बेडवो एंदेंदिगु ॥

'अंतरंग में जो हरि को नहीं देखता वही जन्मान्ध है। सदा श्रीकृष्ण-चरित को न सुननेवाला जड़मति सदैव के लिए बहरा है। प्रसन्नता से नरहरि की जो पूजा नहीं करता, उसके हाथ टूटे हुए समझो। अर्जुन के रथ को हाँकनेवाले के सामने जो 'कृष्ण' कहकर नहीं नाचता, वह लंगड़ा है। जो सिर हरिचरणोदक धारण नहीं करता, वह कुत्ते के भोजन करने का मिट्टी का बर्तन है। सुरवर कृष्ण का प्रसाद जो न हो, वह भोजन सदाके लिए सूकर-भोजन है। जो कर्म अमरेश कृष्ण को अर्पित नहीं होता, वह असती का व्रत-नियम है। रमापति को प्रसन्न न करनेवाला विनियोग विधवा के गले का (मंगल-) सूत्र है। जो संगीत कमलनाभ का यशोगान नहीं करता, वह गधे का रोदन है। जो प्रेम से केशव को नमस्कार नहीं करता, वह सदैव के लिए मृग है। बुढ़ापे को, जन्म-मरण को दूर करनेवाले अमृत को छोड़कर सुरा का सेवन मत करो। जब सुरधेनु है, तब शूकरी के थन का दूध मत पिओ। जब करि, रथ और तुरग है, तब उसे छोड़कर नीचे गिरानेवाले गधे पर मत बैठो। जब परमपद देनेवाले श्रीकृष्ण हैं, तब उनको छोड़कर कभी नरों की सेवा मत करो।'

एन. एस. द.

सिरि वेंकटविट्ठल

होन्नालि के वेंकटदास अथवा वेंकटप्पा मांध्व-संप्रदाय को माननेवाले कृष्णभक्त थे। इनका समय सन् १८०० ई० के आस-पास माना जाता है। इनके पदों में 'सिरि वेंकटविट्ठल' की छाप मिलती है। इनका एक पद यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

हरिये श्री हरिये निन्होरतु पोरेवरनु नानरियॆ ॥ (टेक)

आदिमूल निन्न पाद नम्बिदे भेदवेणिसदे मोददायक।

आर्दिदलि कायो सोदरमावन
वैरि मेदिनीपतिये निन्नारधने माडिसो ॥

दानवांतक नीने गति एंदु,
सा नुरागादि ध्यानमाडुवे।
मानाभिमानवु निन्न धोन गोपालकृष्ण,
भानुकोटितेज यन्न दीनतेय कले ॥

पंकजाक्ष मुकुंद माधव,
किंकरामरवंद्य श्रीहरि।
संकटगलनु हरिसि बिर्कादि पालिसुव,
कंकण धरिसिद सिरिवेंकटविट्ठल ॥

'हे हरि, श्रीहरि! तुम्हारे सिवा रक्षा करनेवाले अन्य को मैं नहीं जानता। आदिमूल! तुम्हारे चरणों का भरोसा है। हे मोददायक! भेद न देखकर आदर से (मेरो) रक्षा करो। हे मामा (कंस) के शत्रु, मेदिनीपति! ऐसा करो कि मैं तुम्हारी आराधना कर सकूँ। दानवांतक! मैं सानुराग ध्यान-स्मरण करूँगा, तुम ही मेरी गति हो। मानाभिमान तुम्हारे अधीन है। हे गोपालकृष्ण, भानुकोटिप्रकाश! मेरी दीनता दूर करो। हे पंकजाक्ष, मुकुंद, माधव, किंकरामरवंद्य श्रीहरि! संकट दूरकर प्रेम से पालन करने के लिए कटिबद्ध श्रीवेंकटेशविट्ठल!'

एन. एस. द.

श्रीनिवासदास

श्रीनिवासदास मैसूर के निवासी और वहाँके नरेश मुम्मडि कृष्णराज ओडेयर (१७९४-१८६८ ई०) के समकालीन थे। होन्नालि-दासों की परम्परा के

किसी भक्त से इनको दीक्षा मिली थी। इनके पदों में 'जयविट्ठल' अथवा 'सिरिजयविट्ठल' की छाप मिलती है। इन्होंने विनय-पदों के अतिरिक्त विष्णु के विश्वरूप और मोहिनीरूप का भी वर्णन किया है। मुम्मडि (तृतीय) कृष्णराज ओडेयर की अभिलाषा के अनुसार इन्होंने द्वारका-वर्णन भी किया था। ये द्वैतवाद को माननेवाले थे। पदों में इनकी भक्ति और कवि-हृदय प्रकट हुआ है। इनकी रचना से दो उद्धरण दिये जा रहे हैं :

(१)

इंदिराराध्यचरण यदुरमण।
इंदेन्न कायो करुण ।। (टेक)

हिंदे इंदु मुंदे एंदेंदिगू नीने,
तंदे तामि एंदु बंदु,
नम्बिदे स्वामि ।। (सह टेक) ।।

निन्नवर ओडनाउदे नक्कु,
ना खिन्ननुडिगलनाडिदे।
वेण्णेयनु मेल्लद सुण्णतिदवनंते,
कण्णु इद्दरु नानु कमरियोळु बिद्दे ।।

मनसु मृदुवागलिल्ल श्रीहरिये,
ममते निन्नोळो पुट्टलिल्ल।
मनसु मनसिनोळेल्ल कळवळिसि,
विषयगळ मनसिनिंदलि पेळ्वे
ई मातु पुसियल्ल ।।

देवरे ! नी मुनिदरे,
विडिसि मत्रवरादरु कावरे।
कावकोल्लुवुदेल्लनिनगे सल्लुवुदो।
जगजीवराराध्य जयविट्ठलनिगमवेद्य ।।

'इंदिराराध्यचरण, यदुरमण, दयालु ! आज मेरी रक्षा करो। पहले, आज और आगे सदा ही तुम ही मेरे माता-पिता हो, ऐसा मैंने भरोसा किया है। हे स्वामि ! तुम्हारे भक्तों के साथ नहीं रहा। मैंने उनके प्रति दुष्ट बातें कहीं। जैसे कोई मक्खन रहते हुए भी उसे न खाकर चूना खाता है वैसे ही मैं आँखें रहते हुए भी गहरे गड्ढे में गिर पड़ा। मेरा मन मृदु नहीं हुआ। श्रीहरि ! तुम्हारे प्रति मेरे मन में प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ। जागते-सोते मैं विषयों की कामना करता रहा, यह बात झूठ नहीं। यह मैं सच्चे हृदय से कह रहा हूँ। भगवन् ! तुम क्रोध करोगे तो क्या दूसरे लोग मुझे छुड़ाकर (मेरी) रक्षा करेंगे ? जगत् के जीवों के आराध्य, जयविट्ठल, निगमवेद्य ! पालन और संहार करना सब तुम्हारे हाथ में है।'

(२)

सुंदरतर द्वारावति नगर
सुत्त योजन द्वादश विस्तार
सिधूरदि तिद्दिदद गोपुर
शशिकोटि प्रभेगळ धिक्कार
ओंदारिंदलिहुदु प्राकार ।।

'सुंदरतर द्वारावती नगर है, जिसका चारों ओर से विस्तार द्वादश योजन है। वहाँके गोपुर सिंदूर से अलंकृत हैं। (वे इतने सुंदर हैं कि) शशिकोटि की प्रभा भी उनके सामने व्यर्थ है। वहाँ अनेक प्राकार हैं।'

एन. एस. द.

श्रीपति विट्ठल

श्रीपति विट्ठल अथवा श्रीपतिदास नामक हरिदास १८२० ई० के आस-पास विद्यमान थे। इनका वास्तविक नाम 'दोनप्पा' या 'दूसप्पा' था। ये गृहस्थ थे और माध्व-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। 'श्रीपति-विट्ठल' की छाप से इनके कुछ पद मिलते हैं। इनके बारे में विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। इनका एक पद नीचे दिया जाता है :

वेंकटेश भवसंकट परिहरिसो
निन्नवरवनेनिसो ।। (टेक)

पंकजाक्ष अकलंक महिम
हरिये आश्रितरिगे दोरेये ।। (सह टेक)
नाना जन्मगळलि तोळलि,
बंदे नोने मतियेन्दे।

हीनवृत्तिनलि चरिसि दिनव
कळेदे ई परिविदुळिदे ॥

ज्ञानाज्ञानकृताखिल-
दुष्कर्म अदरंत सुकर्म ।
नाना बंगेयलि रतिसुखवनुभविसि
दुविषयव बयसि ॥

धारुणिधनवनितादि
विषयदल्लि कामुकतनदल्लि ।
ज्ञानवरिये सन्मार्गकाणेनो
नानु उपायविन्नेनु ॥

यारिगे हेळलि यन्न
वर्तमाने नीने निदान ।
तोरिसि एन्ननु बिडदे
पालिसप्पा एणियदिरु तप्पा ॥

पापात्मक नानादरेनु
पेळो पावन नी हेलो ।
श्रीपद्मजभव प्रमुखनिर्जरेश
ना निन्नयदास ॥

नी पालिसिदरे गतियु
पारु मुंदे कारुण्ययदि तंदे ।
श्रीपतिविट्ठलने करपिडियो
वेग नीनुद्धरिसोग ॥

'हे वेंकटेश ! भव-संकट दूर करो, अपने लोगों में मुझे भी मिलाओ। हे पंकजाक्ष, अकलंकमहिमायुत हरि, आश्रितों के राजा! अनेक जन्मों में दुःखी होकर आया हूँ। कहता हूँ तुम ही (मेरी) गति हो। हीनवृत्ति से दिन काटकर इस प्रकार बचा हुआ हूँ। सभी दुष्कर्म और सुकर्म ज्ञान या अज्ञान से किये हैं। नाना प्रकार से रतिसुख का अनुभव कर, दुर्विषय की वांछा कर (तुम्हारी शरण आया हूँ)। भूमि, धन, वनिता आदि में, कामुकता में (मेरा चित्त रमा है)। मैं ज्ञान नहीं जानता, सन्मार्ग नहीं समझता। अब क्या उपाय है? किससे कहूँ मैं अपनी वर्तमान दशा? मूल कारण दिखाकर (दर्शन देकर)! मेरी रक्षा अवश्य करो। मेरी भूल पर विचार मत करो। भला मैं पापात्मा हुआ तो क्या? तुम तो पावन हो। ब्रह्मा, शंकर आदि प्रमुख देवताओं के प्रभु! मैं तुम्हारा दास हूँ। तुम रक्षा न करोगे तो और किसकी शरण है? हे श्रीपतिविट्ठल, जनक! सकरुण मेरे हाथ पकड़ो, अब तुम ही मेरा उद्धार करो।'

एन. एस. द.

श्रीपादराय

कर्नाटक के हरिदास (वैष्णव-भक्त) कवियों में अत्यंत प्रसिद्ध चार उल्लेख्य भक्तों में श्रीपादराय का नाम सर्वप्रथम आता है। कहा गया है :

नमः श्रीपादराजाय नमस्ते व्यासयोगिने ।
नमः पुरंदरार्याय विजयार्याय ते नमः ॥

भक्तों का विश्वास है कि श्रीपादराय विभवमूर्ति हैं, जिनका प्रातःकाल स्मरण करने मात्र से समय पर मिष्ठान्न की प्राप्ति होती है। इनके महान् व्यक्तित्व के बारे में परम्परा से बहुत-सी बातें प्रचलित हैं। इनके पिता का नाम शेषगिरि आचार्य था और माता का नाम था। गिरियम्मा बचपन में ये चन्नपट्टण के समीप अब्बूरु में रहते थे जहाँ इनके पिता खेती-बारी से जीवननिर्वाह करते थे। इनके पिता सामान्य पढ़े-लिखे और अत्यन्त निर्धन थे।

श्रीपादराय का मूल नाम 'लक्ष्मीनारायण' था। बालक लक्ष्मीनारायण अपने जन्मान्तरीय संस्कार तथा तेजस्विता के कारण पूज्य बना। बाल्यावस्था में वह गायों को चराता और मित्रों के साथ दशावतार का खेल खेलता था। अपनी टोली का वही नायक था। एक दिन संध्या के समय पालकी में बैठे स्वर्णवर्णतीर्थ स्वामी श्रीरंगपट्टण से अब्बूरु आ रहे थे। आकस्मिक रूप से उन्होंने लक्ष्मीनारायण को देखा और पूछा : 'अब्बूरु कितनी दूरी पर है?' लक्ष्मीनारायण ने अपेक्षित पुरुषोत्तमतीर्थ के मठ का विवरण दिया और कुछ शंकित होकर अपने घर चला गया तथा उक्त घटना का विवरण अपनी माता से

बताया। माता को डर था कि उनका इकलौता पुत्र उनसे छीना न जाय और उनकी बहन के पुत्र के समान संन्यासी न बन जाय। इसलिए उन्होंने अपने पुत्र को आवश्यक शिक्षा दी।

किन्तु विधि - विधान को कौन बदल सकता है? स्वर्णवर्णतीर्थ स्वामी पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामी के यहाँ ठहरे थे। दूसरे दिन शेषगिरि आचार्य को उभय यतियों का संदेश मिला। वे मठ में गये। यतियो से संभाषण किया। तदनुसार यह निश्चय हुआ कि मठ में ही लक्ष्मीनारायण का उपनयन संस्कार संपन्न हो और उसके माता-पिता मठ में ही रहा करें। उपनयन के अनन्तर लक्ष्मीनारायण बड़ा विद्वान् हुआ। उसकी मानसिक स्थिति अत्यन्त सम्पन्न थी। स्वर्णवर्णतीर्थ स्वामी बुढ़ापे में श्री रंगक्षेत्र में रहते थे। उन्होंने लक्ष्मीनारायण को संन्यास देकर अपना उत्तराधिकारी घोषित करना चाहा। लक्ष्मीनारायण के माता-पिता के लिए अब यह अस्वीकार्य नहीं था। उन्होंने अपने पुत्र को संन्यास-ग्रहण की अनुमति दे दी। उनके वंश का गौरव बढ़ा।

संन्यास-ग्रहण करने के बाद लक्ष्मीनारायण का नाम श्रीपादराज अथवा श्रीपादराय हुआ। योगपीठ में अलंकृत होकर इन्होंने लोकप्रसिद्धि प्राप्त की। स्वर्णवर्णतीर्थ स्वामी के पश्चात् जगद्गुरु श्रीमध्वाचार्य के साक्षात् शिष्य श्रीपद्मनाभतीर्थ से परम्परागत 'मुळ्विागिलु मठ' का आधिपत्य श्रीपादराय को प्राप्त हुआ।

श्रीपादराय सिद्ध पुरुष और सकल शास्त्रवेत्ता थे। व्यासराय अथवा व्यासतीर्थ इनके शिष्य थे। चन्द्रगिरि के राजा सालुव नरसिंह के यहाँ इनका विशेष आदर था। इन्होंने चन्द्रगिरि में निवास कर राजा से अनेक शान्तिकर्म कराये तथा उसके ब्रह्म-हत्या के कलंक को दूर किया। राजा ने संतुष्ट होकर इन्हें सिंहासन पर आसीन किया तथा इनका कनकाभिषेक भी किया। इसका उल्लेख 'श्रीपादराजाष्टक' में इस प्रकार है :

श्रीमद्वीरनृसिंहराजनृपतेर्भूदेवहत्याव्यथां
दूरीकृत्य तदर्पितोज्ज्वलमहासिंहासने संस्थितम्।
श्रीमत्पूर्वकवाटनामकपुरे सर्वेष्टसिद्धिप्रदः
श्रीश्रीपादयतीन्द्रशेखरमणिः भूयात्स नः श्रेयसे॥

श्रीपादराय ने पूरे देश की यात्रा की और उस क्रम में अनेक पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ भी किया था। इनके दिग्विजय के बारे में विस्तृत विवरण मिलता है। इनके पाण्डित्य से कई लोग प्रभावित हुए थे। इनसे ईर्ष्या करनेवाले कुछ पण्डित भी थे। कहा जाता है कि यात्रा के समय ऐसे कुछ पण्डितों ने इनका वाक्स्तम्भन करना चाहा, पर वे सफल नहीं हुए; क्योंकि श्रीपादराय मंत्रोपासक तथा सिद्धपुरुष थे।

काशी-यात्रा से लौटे श्रीपादराय को देखकर मुळ्बागिलु वासी शिष्य इनके दर्शन से अत्यन्त संतुष्ट हुए। उन्होंने अपने गुरु की प्रशंसा की एवं गंगास्नान न कर सकने की अपनी दीन स्थिति का भी निवेदन किया। श्रीपादराय के हृदय में उनकी दयनीय स्थिति पर अनुकम्पा उत्पन्न हुई। उन लोगों को इन्होंने आश्वस्त किया कि दूसरे दिन वहाँके नरसिंहतीर्थ में गंगास्नान का सुयोग प्राप्त होगा। दूसरे दिन प्रातःकाल श्रीपादराय की विशेष पूजा-उपासना से प्रसन्न होकर गंगामाता नरसिंहतीर्थ में अवतरित हुईं। सरोवर के ईशान-भाग से गंगा उतर आयीं। गंगा-दर्शन और स्नान से सभी लोग कृतकृत्य हो गये। भक्त तथा महात्माओं के दिव्य प्रभाव के सम्बन्ध में ऐसी बहुत-सी कथाएँ सर्वत्र प्रचलित हैं। श्रीपादराय के बारे में भी ऐसी कई किंवदन्तियाँ लोगों की जिह्वा पर हैं।

श्रीपादराय के समय तक पूजा-उत्सवों में संस्कृत श्लोकों का ही पठन-पाठन होता था। यह श्रेय श्रीपादराय को है कि इन्होंने पूजा-पाठ के समय कन्नड़ में भी पद गाने का क्रम चलाया। ये संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका 'वाग्वज्र' ग्रंथ इसका प्रमाण है। इन्होंने कन्नड़ में भी कई पद रचे हैं। इनके भ्रमर-गीत, वेणुगीत और गोपीगीत प्रसिद्ध हैं। इनका

समय ईसा की पन्द्रहवीं शती है। एक श्रेष्ठ भक्त और पदरचनाकार के रूप में इनके व्यक्तित्व की महत्ता सर्वस्वीकृत है। इनके पदों में 'रंगविट्ठल' की छाप मिलती है। इनके दो पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

निन्नधीन शरीर करण चेष्टेगळेल्ल,
निन्नधीन बंधमोक्ष नियतिगळु।
निन्नधीन योग्यते साधन साध्यंगळु,
निन्नधीन सुकृत दुष्कृत फलगळु॥

निन्नधीन विषयात्मक बुद्धिगळु,
निन्नधीन चराचरवेन्दु श्रुतिवाक्य।
निन्नमहिमेगो नमो अंतरात्मकने,
एन्न पालिप भार निन्नदो रंगविट्ठल॥

'प्रभो! शरीर और करण की सब क्रियाएँ तुम्हारे अधीन हैं। बंध-मोक्ष-नियम सब तुम्हारे अधीन हैं। योग्यता, साधन-साध्य सब तुम्हारे अधीन है। सुकृत और दुष्कृत के सब फल तुम्हारे अधीन हैं। विषयात्मक बुद्धि सब तुम्हारे अधीन है। यह श्रुतिवाक्य है कि चराचर तुम्हारे अधीन है। तबसब पाप-पुण्य तुम्हें कैसे व्याप्त नहीं होंगे? जीवों को पापभोग कैसे कराते हो? हे अंतरात्मक। तुम्हारी महिमा को नमस्कार, हे रंगविट्ठल! मेरी रक्षा का भार तुम पर है।'

(२)

एल्लाडि बंदे एन्न कृष्णय्य,
नो नेल्लाडि वंदे एन्न रंगय्य।(टेक)

वालय्य नीनेन्न कणमुंद।डदे। (सह टेक)

आलयदोळगे नीनाडदे वेण्णे,
पालु सक्करे नी वेडदे इल्लि।
वालरिंदोडगूडि आडदे मुद्दु,

बालय्य नीनेन्न कणमुंदाडदे॥

पट्टमुत्तिन वोगसे कंगळु,
फणेयोलिट्ट कस्तूरितिलकदंदवु।
दिट्टतनदि ओड्याडलु पुट्ट,
कृष्णय्य नीनेन्न कणसुंदाडदे॥

अष्टदिक्किलि अरसि काणदे ना,
दृष्टिगेट्टेनो निन्न नोडदे
इन्नेष्टु हेळलि केळवारदे,
रंगविट्ठल नीनेन्न कणसुंदाडदे॥

'कहाँ खेलकर आये मेरे कान्हा? कहाँ खेलकर आये मेरे श्रीरंग? मेरे लाल! तुम मेरी आँखों के सामने खेले बिना (कहाँ गये) लाल? घर में तुम खेले बिना, माखन-दूध-शक्कर माँगे बिना, यहाँ बालकों के साथ मिलकर खेले बिना, मेरी आँखों के सामने खेले बिना (कहाँ गये)? गोल मोतियों के समान विशाल नेत्र, भाल पर शोभित तिलक और धैर्य-साहस से युक्त छोटे कान्हा! तुम मेरी आँखों के सामने खेले बिना कहाँ गये? आठों दिशाओं में ढूँढ़कर मैं तुम्हें देखे बिना हताश हुई। कितनी बार कहूँ? रंगविट्ठल! क्या नहीं सुनते? क्या तुम मेरी आँखों के सामने नहीं खेल सकते?'

एन. एस. द.

हरपनहळ्ळि रामाचार्य

आनन्ददास के शिष्यों में हरपनहल्लि रामाचार्य सुप्रसिद्ध हैं। ये कुछ समय तक मंत्रालय में रहे थे। इनकी लिखी कतिपय आख्यायिकाएँ मिलती हैं। इनमें से कुछ कृष्ण-कथासम्बन्धी हैं। इनके विषय में विशेष विवरण ज्ञात नहीं होता। नमूने के लिए इनकी कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :

पोगि बरुवेने भूवर राणि। गंभीर वाणि॥
बागि बेडुवे परम कल्याणि। काळाहि वेणि॥

निन्न मगनिगे बंदुदेनु भय। नानिरलु विजय॥
घन्नवागिरलम्म निम्म जय।
सन्नहिसुवेनु रथव हेममय॥
काळगके समय।
मुन्न नडेसुवे मरुतवेग हय॥
माडुवे सहाय॥

सम्भवतः सुधेष्णा के प्रति बृहन्नला (अज्ञातवास में विराट् के यहाँ वेष परिवर्तित कर रहनेवाले अर्जुन) कहते हैं : 'मैं जाऊँगी महारानीजी ! गंभीर वाणी ! आशीर्वाद माँगती हूँ । परम कल्याणी, नागवेणि ! आपके पुत्र को क्या भय है ? जब मैं हूँ तब विजय ही है ! आपकी सदा ही जय हो । मैं हेममय रथ तैयार करती हूँ । यह युद्ध का समय है, पहले मारुत-वेगवाले घोड़ों को चलाऊँगी ! मैं सहायता करूँगी ।'

एन. एस. द.

हेळवनकट्टे गिरियम्मा

कन्नड़ कवयित्रियों में हेलवनकट्टे गिरियम्मा का नाम अत्यन्त सम्मान के साथ लिया जाता है। इनका आविर्भाव अठारहवीं शती में हुआ था। ये साधु-स्वभाव की महाभक्ता थीं। इनका जन्म धारवाड़ के समीप राणीबेन्नूरु में हुआ था। हरिहर और राणी बेन्नूरु में आज भी इनका नाम अत्यन्त लोकप्रिय है। कर्नाटक के अन्य स्थानों में भी इनके गीत और पद आदर के साथ गाये जाते हैं। बचपन से ही देवोन्मादिनी की भाँति इनका मन भगवान् में लीन रहता था। ये सांसारिकता से दूर रहती थीं। हरिहर के समीप मलेबेन्नूरु नामक गाँव है। वहाँके तिप्परस नामक एक भावुक युवक के साथ इनका विवाह हुआ था। किन्तु सांसारिकता से दूर रहनेवाली अपनी पत्नी गिरियम्मा की अभिलाषा के अनुसार ही तिप्परस ने उनकी पसन्द की दूसरी कन्या से पुनः विवाह किया। गिरियम्मा ने विवाह के समय अपने समस्त आभरण सौत को दे दिये।

गिरियम्मा में अलौकिक शक्ति थी। इनकी भविष्यवाणी सच निकलती थी। इनके स्पर्शमात्र से अस्वस्थ बच्चे स्वस्थ हो जाते थे। जनश्रुति है कि इसी कारण इनके भक्तों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। परिवार के लोग ही नहीं, साधारण जनता भी इनकी महिमा से परिचित थी।

मलेबेन्नूरु के निकट एक तालाब है, उसके पास ही श्रीरंगनाथ-देवालय है। स्थलपुराण के अनुसार उस तालाब का नाम 'पंगुतीर्थ' है। कहा जाता है कि एक पंगु को वहाँ लोगों ने आश्रय दिया था, इसलिए उसका यह नाम विख्यात हुआ। कालान्तर में वहाँ देवताओं की मूर्तियों की उपलब्धि के कारण देवालय निर्माण हुआ और वह पावन क्षेत्र माना जाने लगा। वह 'हेळवनकट्टे' नाम से प्रसिद्धहै। गिरियम्मा के साथ इसका नाम जुड़ने के पीछे एक कथा है।

गिरियम्मा अपने इष्टदेव श्रीरंगनाथ की सेवा में निरत रहती थीं। वह देवालय में चित्र-विचित्र रंगवल्ली आदि से अलंकार-सेवा करती थीं। प्रसिद्ध भक्त गोपालदास जब एकबार मलेबेन्नूरु आये तो गिरियम्मा द्वारा रचित रंगोली देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और वहीं उन्होंने अर्चनादि कार्य किये। भगवान् के दर्शन कर अंतरग में पुलकित हुए। उन्होंने गिरियम्मा की भक्ति की प्रशंसा की और इन्हें नित्योपासना के लिए श्रीगोपालकृष्ण की मूर्ति प्रदान की। तबसे गिरियम्मा यशोदा की भाँति भगवान् कृष्ण के लालन-पालन में तत्पर रहने लगीं। श्रीकृष्ण अपनी बाल-लीलाओं से वात्सल्यमयी भक्ता को संतुष्ट करते थे।

कुछ लोगों के मन में गिरियम्मा के प्रति असूया थी। उनकी दृष्टि में विवाहिता स्त्री को भजन और भक्ति का प्रचार करने का अधिकार नहीं था। मठाधिपति से शिकायत कर वे गिरियम्मा को समाज से बहिष्कृत कराना चाहते थे, किन्तु वे ऐसा नहीं कर सके। मठाधिपति स्वामी सुमतींद्रतीर्थ गिरियम्मा के भक्तहृदय को पहचानकर आनन्दविभोर हो गये। उन्होंने गिरियम्मा में यशोदा, देवकी और कौसल्या का ही रूप देखा और इनकी स्तुति की।

ज्ञान, योग और तपस्या से जिस परमतत्त्व को प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसे गिरियम्मा ने वात्सल्यभक्ति से बड़ी सरलता से पा लिया था। इनके पदों में विशुद्ध भक्तहृदय अभिव्यक्त हुआ है। इनकी

महिमा से सम्बन्धित कई कथाएँ प्रचलित हैं। चन्द्रहास-कथा, सीता-कल्याण, उद्दालक-कथा और फुटकर पद इनकी रचनाएँ हैं। 'ब्रह्मकोरवंजि' भी सम्भवतः इन्हींकी कृति है। इनके दो पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

मळेय दयमाडो रंग निम्म,
करुण तप्पिदरे उळियदु लोक। (टेक)

पशुजाति हुल्ले सारंग मृगगळु बहळ,
हसिदु बायारि बत्तिद केरेगे बंदु।
तृषेयडगदे तल्लणिरिः मूर्छेगोंडु,
देशेदेशेगे बाग्यिबडुत्तिहवय्य हरिये॥

घगेयागि द्रवगुंदि इरुव भाविय नीर,
मोगेमोगेदु पात्रेयलि नारियरु।
हगलेल्लु तरूतिहरु योचनेय माडुत्त,
बेगदिदलि तरिसो वृष्टियनु हरिये॥

संदुहोदुवु ज्येष्ठ आषाढ़ श्रावण,
बंदिदे भाद्रपद मासवीग।
इंदु पुरदंरगे हेलि वृष्टिय तरिसो,
संदेहव्याके हेळवनकट्टेय रंग॥

'हे रंग (कृष्ण) दया करो, आपकी कृपा नहीं है तो यह लोक नहीं बचेगा। हरिण, सारंग, मृग आदि पशु भूख-प्यास से व्याकुल हो सूखे तालाब के पास जाकर पिपासा पूर्ण न होने के कारण विकल और मूर्छित हो बार-बार हाय-हाय कर रहे हैं। हे हरि! धूप के कारण सूखे कुँओं के पास जाकर स्त्रियाँ खोद-खोदकर दिनभर बर्तनों में पानी ला रही हैं और चिंतित रहा करती है। हे हरि! जल्दी ही वर्षा कराओ। ज्येष्ठ, आषाढ़ और श्रावण मास बीत गये, अब भाद्रपद मास आ गया है। हे हेळवनकट्टे रंग (कृष्ण)! आज इंद्र से कहकर वृष्टि कराओ, संदेह क्यों?'

(२)

तोरबारदे निम्म चरितेय,
नररोलु नगेगेडुमाडदे। (टेक)

कल्लोलु कांतेय माडि,
कादवनेंदेल्लरु जगदोळु पेळुवरु।
अल्लिमाडिदहागे इल्लि तोरिसिदरे,
बल्लिदेन्नोडेय दोड्डवनेंदु सारुवे॥

अहह कुबुजेयळ तनुवनेत्ति,
महियोलु युवतिय माडिदेयेम्बरु।
बहु पराक्रमवन्नु ईग तोरिसिदरे,
अहुदो एन्नोडेय दोड्डवनेंदु होगळुवे॥

नीनेगतिएन्दु बंद भक्तन कण्णानव,
तिद्दिनिजतोरिसय्या।
दीनदयालु हेळवनकट्टे रंगय्या दानि
एन्नोडेय दोडवनेंदु होगळुवे॥

कहा जाता है कि पुंगनूर के राजकुमार की आँखें किसी कारणवश जब ज्योतिहीन हो गयीं तो वह भगवान् तिरुपति वेंकटेश्वर की सेवा कर एक आँख की ज्योति से युक्त हुआ। वह भगवान् के आदेशानुसार दूसरी आँख की ज्योति पाने के लिए भक्त गिरियम्मा के पास आया। भगवान् से प्रार्थना कर गिरियम्मा ने उसकी दूसरी आँख नंदादीप का काजल लगाकर ठीक कर दी। यह पद उसी संदर्भ में लिखा गया माना जाता है।

'प्रभु जग में अपनी हँसी न कराकर अपना चरित (माहात्म्य) क्यों नहीं दिखाते? जगत् में सब लोग कहते हैं कि शिला हुई नारी (अहल्या) की आपने रक्षा की थी। वहाँ जैसे किया वैसे यहाँ आप करके दिखायेंगे तो मैं घोषणा करूँगी कि मेरे प्रभु धनी हैं, महान् हैं। अहह! कुब्जा के शरीर को उठाकर युवती बनाया, ऐसा लोग कहते हैं। अब यह बड़ा पराक्रम दिखाओ तो मैं भी स्तुति करूँगी कि मेरे प्रभु महान् हैं। प्रभु 'तुम्हारी ही शरण हैं' कहकर आये भक्त की आँख की न्यूनता दूर कर अपनी महिमा दिखाओ। हे दीनदयालु हेळवनकट्टे रंग (कृष्ण)! तब मैं यह कहकर तुम्हारी स्तुति करूँगी कि मेरे प्रभु दानी हैं, महान् हैं।'

एन. एस. द.

कर्नाटक के कृष्णभक्तों की पूरक सूची

क्रमसं०	नाम	उपस्थितिकाल	रचनाएं
१.	अद्वैतानंद	१७ वीं शती ई०	केशवशतक
२.	अनंतराम आयंगर	अज्ञात	कृष्ण-पारिजात
३.	अपराल तम्मण्णा	१८५० ई०	कृष्णपारिजात, यक्षगान
४.	अभिनव जनार्दन दास	१८०० ई०	कीर्तन पद
५.	अलियर्लिगराज	१८२३-१८७४ ई०	कृष्णन् बाललीले, पारिजातापहरणम्
६.	आदि पम्प	९४१ ई०	विक्रमार्जुन-विजय, पंप-भारत
७.	एरिशेष	१८०० ई०	श्रीनिवास-कल्याण
८.	कृष्ण	१६८१ ई०	कृष्णार्जुनर-कालग (कृष्णार्जुन युद्ध)
९.	केशेडे सुब्बाराव	अज्ञात	श्री कृष्ण-सूक्ति
१०.	कोनय्य	१७५० ई०	कृष्णार्जुनर-संगर
११.	खयेलप्पा	१७०० ई०	कृष्ण-बाललीलासंबंधी पद
१२.	गुरुकृष्ण	१८३० ई०	तत्त्वद-कीर्तनेगलु-कृष्णन-बाललीले
१३.	गुरुप्रसाद	१६५० ई०	सुयोग-चारित्र
१४.	गोरूर नरसिंहाचार	१९ वीं शती	कृष्ण-चरितामृत
१५.	चामय्या	१७ वीं शती	देवराजेन्द्र-सांगल
१६.	चिदानंद	१७२५ ई०	हरिभक्ति-रसायन
१७.	चेन्निग	१७ वीं शती	प्रह्लाद-चरिते
१८.	चेलुवाम्बे	१७२५ ई०	कृष्णकर्णामृत-टीका
१९.	तिम्म कवि	१६७७ ई०	यादवगिरि-माहात्म्य, वेंकटगिरि-माहात्म्य
२०.	देवपार्य	अज्ञात	केशव-स्तुति
२१.	नंजय्या	१८६० ई०	राधा-विलास
२२.	नागरस	१६५० ई०	भगवद्गीता-टीका
२३.	नैरक्षर सुकुक्षी	१७५० ई०	भगवद्गीता-भाष्य
२४.	प्रधानि तिरुमलार्य	१६०० ई०	कर्णवृत्तान्त-कते
२५.	भूमिश कवि	१८८३ ई०	दशावतार-स्तोत्र, हरिलीलामृतसार
२६.	मध्वदास	१८०० ई०	कीर्तन, अभिमन्यु-कालग
२७.	मल्लरस	१६८० ई०	दशावतारचरित-चम्पू
२८.	माधव	१५०० ई०	माधवालंकार
२९.	मानमघुरे दास	१७८० ई०	जलक्रीड़े, रासक्रीड़ेसुदामकते
३०.	मुम्मडि कृष्णराज	१७९४-१८६८ ई०	कृष्णकथा-रत्नाकर
३१.	यादव	१८३० ई०	मुकुन्द-भक्त-कवि
३२.	योगानंदार्यवर्य	१९०० ई०	कृष्णनबाललोलेगळु
३३.	रंगाचार्य	१८०० ई०	प्रह्लादचरित्रे

३४. रत्न	९९३ ई०	साहस भीमविजय (गदायुद्ध), स्तुति
३५. रायवेलूरू शठ गोपालदास	१८ वीं शती	कीर्तन-पद
३६. लक्ष्म कवि	१७२३ ई०	भारत रुक्मांगद-चरित
३७. वरद विट्ठलदास	१७७५ ई०	कीर्तन-पद
३८. वरदेन्द्र	१७७४ ई०	तंत्रसार
३९. वराह तिम्मप्प	१७५९ ई०	कीर्तन-पद
४०. विजयराय	१७२५ ई०	कीर्तन-पद
४१. विट्ठलदास	१७६० ई०	कीर्तन-पद
४२. विमलानंद	१६८१ ई०	कृष्णार्जुनर-कालग
४३. वेंकट	अज्ञात	कृष्ण-संधान
४४ वेंकट कवि	१७५० ई०	कर्णाटकाष्टपदी (गीतगोविन्द की टीका)
४५. वेंकटदास (प्रथम)	१७५० ई०	अखंडानंद-स्वरूप
४६. वेंकटदास (द्वितीय)	१७८० ई०	कीर्तन-पद
४७ वेंकट लक्षम्मा	अज्ञात	कृष्ण-पारिजात
४८. वेंकट वरदाचार्य	१८७५ ई०	राधाकृष्ण, विलास-गोपिका-गीते
४९. वेंकट शौरि	१७०० ई०	कृष्णकथा
५०. वेंकटार्य शिष्य	१७०० ई०	कृष्ण-गोपी-विलास, यादवगिरि-माहात्म्य
५१. वेंकमार्य	१६५० ई०	कृष्णलीलाभ्युदय
५२. वेणुगोपाल दास	१७५० ई०	कीर्तनपद
५३. शान्त कवि बालाचारी सबकरी	अज्ञात	कृष्णमोहिनी-दुंदुभे कृष्ण-राधिका-विलास
५४. सरगूरू रामानुजाचार्य	अज्ञात	श्रीकृष्णलीले
५५. सालव	१५५० ई०	भारत
५६. सिंगरार्य	१६८० ई०	मित्रविंदा-गोविन्द-नाटक
५७. सुकुमार भारती	१५५० ई०	भारत
५८. सोमनाथ	१६५० ई०	रुक्मांगद-चरित
५९. श्रृंगारम्मा	१६८५ ई०	पद्मिनी-कल्याण
६०. श्रीद विट्ठलदास	१८०० ई०	कीर्तन-पद
६१. श्रीपतिदास	१८०० ई०	कीर्तन-पद
६२. श्रीश प्राणेश विट्ठल	अज्ञात	कीर्तन-पद
६३. श्री शैलार्य	१७०० ई०	कृष्णचरित्र
६४. हयवदन दास	१७५० ई०	कीर्तन-पद
६५. हरिदास	१७५० ई०	संक्षेप-भागवत

भा. य. ललिताम्बा

कश्मीर में कृष्णभक्ति का विकास

—डा० रामदयाल कटारा

कश्मीर के कृष्ण-भक्त

—डा० रामदयाल कटारा

—डा० (श्रीमती) कृष्णा रैणा

कश्मीर में कृष्णभक्ति का विकास

कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार कश्मीर का इतिहास महाभारत-काल से मिलता है। इससे पूर्व यहाँके इतिहास की झाँकी श्रीनीलमुनि के 'नीलमत-पुराण' में प्राप्त होती है। धर्म और दर्शन की दृष्टि से कश्मीर का इतिहास भारत के अन्य भागों से किंचित् भिन्न रहा है। भौगोलिक परिस्थितियों की विषमता के कारण भारत के अन्य प्रदेशों से इस पर्वतीय प्रदेश का सम्पर्क कम ही रहा है, जिसके फलस्वरूप यहाँका समसामयिक वोध एकांगी रह गया।

'राजतरंगिणी' की प्रथम तरंग में (श्लोक ५६ से ७३ तक) कृष्ण की मान्यता का संकेत मिलता है। कश्मीर-नरेश गोनन्द की मगध-नरेश जरासंध से घनिष्ठ मैत्री थी। इसीलिए कश्मीर-नरेश ने महाभारत में पाण्डवों की अपेक्षा कौरवों का साथ दिया था। मगध-नरेश ने गोनन्द को युद्ध में सम्मिलित होने का निमन्त्रण दिया था। इसी युद्ध में उसका निधन हो गया। इसके पश्चात् गोनन्द के पुत्र दामोदर ने गांधार के स्वयंवर में सम्मिलित होकर यादवों से अपने पिता का प्रतिशोध लेना चाहा, लेकिन वह भी परास्त होकर वीरगति को प्राप्त हुआ। उसकी अन्तर्वत्नी पत्नी का श्रीकृष्ण ने यहाँके ब्राह्मणों से राज्याभिषेक कराया, जो बाद में सगर्भा रानी यशोमती के नाम से प्रसिद्ध हुई। राज्याभिषेक के समय श्रीकृष्ण ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा था :

> कश्मीरः पार्वती तत्र राजा ज्ञेयो हरांशजः।
> नावज्ञेयः स दुष्टोऽपि विदुषा भूतिमिच्छता[1]॥

'कश्मीर देश स्वयं पार्वती का स्वरूप है और यहाँका राजा शंकर का अंश है। यदि यहाँका राजा दुष्ट भी हो तो भी समृद्धि चाहनेवाले व्यक्ति को उस की निन्दा नहीं करनी चाहिए।'

इस साक्ष्य से यह स्पष्ट होता है कि कश्मीरप्रदेश में श्रीकृष्ण की मान्यता एवं महत्त्व का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। भगवान् श्रीकृष्ण के इस कथन से कि 'कश्मीर स्वयं पार्वती है और यहाँका राजा शंकर का अंश है', कश्मीर में शाक्त एवं शैवमत की व्याप्ति का संकेत मिलता है। प्रचुरमात्रा में शक्ति तथा शैव आगम साहित्य और अमृतेश्वर, अनंतेश्वर जैसे विशाल शिव मंदिरों का निर्माण इसका प्रमाण है। कल्हण के समय तक शैवधर्म का जनमानस पर कितना प्रभाव था, इसका पता राजतरंगिणी की प्रत्येक तरंग के आरंभ में दिये गये शिवस्तुति परक श्लोकों से चलता है। उनके परवर्ती कवि श्रीवर ने भी स्वरचित 'जैन-राजतरंगिणी' में इस परंपरा का पालन किया है।

शैवमत के बाद छठवीं से आठवीं शताब्दी तक इस प्रदेश में बौद्धधर्म का व्यापक प्रचार रहा। इसका मुख्य कारण शासकों द्वारा उसका अनुगमन एवं प्रोत्साहन था। कर्कोट वंशीय ललितादित्य ने विहार तथा चतुःशालाएँ बनवाईं। उसके परवर्त्ती पालवंशी राजाओं में धर्मपाल (७६९-७८० ई०) देवपाल (८१०-८५१ ई०) जयपाल, गोविन्दपाल, मदनपाल प्रभृति स्वयं महायान धर्म के अनुयायी थे। उन्होंने विहारों के निर्माण

---

[1] राजतरंगिणी-कल्हण, प्रथम तरंग, श्लोक ७३।

तथा तांत्रिक साहित्य के प्राणयन में विशेष सहयोग दिया। 'अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता' तथा 'पंच-रक्षा' ग्रंथ की निम्नांकित पुष्पिका इसके प्रमाणस्वरूप द्रष्टव्य है :

'देयधर्मोऽयं प्रवरमहायानयायिनः खानोदकीय यशरापुरावस्थाने दानपतिशान्तिरक्षितस्य। यदत्र पुण्यं तद्भवत्वाचार्योपाध्याय मातापितृ पूर्वंगमं कृत्वा सकलसत्त्वराशेनुत्तरज्ञानावाप्तय इति।

श्रीमद् गोविन्दपालस्यादि सम्वत् १८ (अष्टादश) चादभरापाटकाववस्थित खानोदकीय यशरापुरे आचार्य प्रज्ञा।'[1]

इन विषम परिस्थियों में भी वैष्णव धर्म की एक क्षीण धारा बहती रही। कर्कोटवंशीय राजा दुर्लभ वर्धन ने श्रीनगर में विष्णु की एक मूर्ति 'दुर्लभस्वामी' के नाम से स्थापित की थी। उसके वाद ललितादित्य ने इस भूभाग के गौरव मार्तण्ड-मंदिर का निर्माण कराया और उसमें अन्य मूर्तियों के साथ विष्णु का भी विग्रह प्रतिष्ठित किया।

इसके पश्चात् उत्पलवंशीय महाराज अवन्तिवर्मान् के समय (नवींशती) से यहाँ वैष्णवधर्म का प्रचार होने लगा। ये वैष्णव मतानुयायी थे। इन्होंने श्रीनगर से २६ मील दूर अवन्तिपुर नामक स्थान पर भगवान् विष्णु का एक भव्य मन्दिर बनवाया था। हरिविजय के निर्माता कवि राजानक तथा आनंदवर्द्धन के आश्रयदाता रूपमें इनको प्रसिद्धि है। ईसा की दसवीं शताब्दी में आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'दशावतार-चरितम्' में श्रीकृष्ण के अवतार को विशेष महत्त्व देते हुए उन्हें भूमिभारहरण का निमित्त माना है। आचार्य अभिनवगुप्त के समय में गीता के पठन-पाठन के संकेत मिलते हैं। उन्होंने स्वयं इन्दुराज भट्ट से गीता का अध्ययन किया था। स्वरचित 'गीताभाष्य' में उन्होंने गीता के महत्त्वपूर्ण, किन्तु प्रायः उपेक्षित अंशों की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की है।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से नैतिक पतन तथा राजनीतिक अव्यवस्था के कारण घोर अराजकता का युग आरंभ हुआ। परिणामतः लगभग दो शताब्दियों तक वंशानुगत संघर्षों, विद्रोहों तथा षड्यन्त्रों का दौर चलता रहा जिसने इस पृथ्वी के स्वर्ग को नर्क से भी गई गुजरी स्थिति में पहुँचा दिया। अराजकता तथा अनाचार की इसत्रासदी का अन्त इसके अयोग्य दुराचारी और विलासी शासक हर्ष (१०८९-११०१ ई०) की मृत्यु के साथ हुआ। इसके बाद इसपर मुसलमानों का अधिकार हो गया। ऐसी स्थिति में वैष्णव विचारधारा के विकास की बात सोची भी नहीं जा सकती थी।

कश्मीर पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने के अनन्तर बलात् धर्मपरिवर्तन, मन्दिरों और मूर्तियों का ध्वंस, लूटपाट तथा हिंसा का जो ताण्डव हुआ उसमें यहाँ का सारा सांस्कृतिक रिक्थ नष्ट हो गया। धर्मोन्मादी शासकों ने परंपरागत धार्मिक साहित्य और कलाओं को इस्लाम विरोधी घोषित करके उन पर प्रतिबंध लगा दिया। इससे विद्वानों तथा कलाकारों ने वृत्ति और जीवनरक्षा के लिए कश्मीर छोड़कर इतर प्रदेशों में शरण ली। इस दृष्टि से सिकन्दर बुतशिकन का शासनकाल कश्मीर के मध्यकालीन इतिहास का सर्वाधिक कलंकित अध्याय रहा है।

दैवयोग से उसके पुत्र जैन-उल-आब्दीन के सिंहासन पर बैठते ही स्थिति बदल गई।

---

[1] लद्दाखप्रभा-५, पृष्ठ ५१।

वह अपने पिता सिकन्दर बुतशिकन की भाँति मूर्तिभंजक और हिन्दू-संस्कृति का विनाशक नहीं था। उदार तथा प्रजाहित साधक होने के कारण वह 'बड़शाह' के नाम से प्रसिद्ध है। उसने कश्मीरी भाषा को धर्मनिरपेक्ष साहित्यिक माध्यम के रूप में आश्रय देकर उसके विकास का मार्ग उन्मुक्त कर दिया। अपने राज-दरबार में उसने लोकभाषा-काव्यों और नाटकों को प्रोत्साहन दिया।[1] जैन-उल-आब्दीन ने उन कश्मीरी पंडितों को सम्मानपूर्वक वापस बुला लिया जो उसके पिता के समय कश्मीर छोड़कर उत्तरी भारत के अन्य प्रदेशों में जाकर बस गये थे। वे अपने साथ कृष्ण-भक्ति के बीज कश्मीर ले गये। इस प्रकार कृष्णभक्ति के परम्परागत केन्द्रों से सम्पर्क के कारण कश्मीर में कृष्ण की भक्ति तथा लीलाओं काप्रचार-प्रसार हुआ। इसके फलस्वरूप उनसे सम्बद्ध काव्यरचना का सूत्रपात् हुआ। आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'नर्ममाला' और 'देशोपदेश' में इन लीला-काव्यों की विशद चर्चा की है।

ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी में कवि भट्ट अवतार ने 'हरिवंश-पुराण' के आधार पर 'बाणासुर-कथा' की रचना की। मुगलों के शासनकाल में साहिब कौल ने 'कृष्णावतार' का कश्मीरी कविता में निरूपण किया। कवयित्री रूपभवानी ने अपनी रचनाओं में श्रीकृष्ण और राधा की रासलीलाओं का सरस वर्णन किया। सिक्खों के शासनकाल में कृष्णभक्त-शिरोमणि कवि परमानन्द ने कश्मीरी कृष्णकाव्य में मानो प्राण ही डाल दिये। उन्नीसवीं शती में श्रीकृष्ण राज़दान और लक्ष्मणजू बुलबुल ने अपनी काव्य-प्रतिभा से कृष्णकाव्य को एक नयी दिशा और अपूर्व शक्ति प्रदान की जिसने हिन्दू और मुसलमान दोनों पर जादू का-सा प्रभाव डाला। ठाकुरजी मनवटी ने हिन्दी और कश्मीरी दोनों भाषाओं में कृष्ण-काव्य की रचनाकर कश्मीरी साहित्य की श्रीवृद्धि में महान् योगदान किया। उन्नीसवीं शती में मानजुवअतार ने 'कृष्णावतार' लिखकर कृष्णभक्ति-काव्य को अपूर्व समृद्धि प्रदान की। कृष्णभक्ति-काव्य-रचना की यह परंपरा अबतक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। पृथ्वीनाथ कौल 'सायिल' जैसे अनेक आधुनिक कवियों की भक्तिपूर्ण रचनाओं से कश्मीरी साहित्य बहुविध सम्पन्न हो रहा है। इससे स्पष्ट है कि कश्मीरी कृष्णभक्ति-साहित्य की अपनी एक विशिष्ट तथा प्राचीन परम्परा रही है। ऐतिहासिक कारणों से अपेक्षाकृत क्षीण होते हुए भी उसने कश्मीर को इस विराट् देश की सांस्कृतिक धारा से जोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

डॉ० रामदयाल कटारा

---

[1] योऽभूत् सर्वकलानिधिः शुभविधिर्दाताभिगम्यो गुणी
काव्यज्ञो वहुभाषया गुणिरतः कारुण्य पुण्याकुलः।
सोंऽयं हन्त समीक्ष्यतेऽवनि तलोधिक् पापिनोऽस्मान्न शठान्
ये जीवचान्तिशुयोन पांति विपिनं संसा र तृष्णाजिताः॥

श्रीमत्तर्कादिविद्याभ्यासनरसलद्गर्वसर्वप्रवीण-
प्रेक्षोद्यद्दानमानोचितविचितयशोभूषिताशेषदेहः।
जैनोल्लभदीनो नरपतितिलकः सर्वशास्त्र प्रवीणः
कश्मीरान् योजयित्वा दिवमपिसगतो योजनायेवनष्टम्॥

—जैन राजतरंगिणी (श्रीवर पंडित विरचित)
प्रथम तरंग, श्लोक २६९-२७१

कश्मीर के कृष्णभक्त

अलक्षेश्वरी रूपभवानी

कश्मीर के कृष्ण-भक्त कवियों में अलक्षेश्वरी रूपभवानी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनका जन्म श्रीनगर (कश्मीर) के प्रसिद्ध मीरुदर-परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० माधवजू दर तथा माता का नाम सम्पत्ति था। रूपभवानी के जन्म के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि इनके पिता माधव जू दर प्रतिदिन प्रातःकाल चार बजे हारीपर्वत की प्रद्युम्नपीठस्थ भगवती शारिका की पूजा और दर्शन करने जाते थे। एक दिन जगदम्बा ने माधव जू की भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हो उन्हें दर्शन देकर कहा : 'माँगो क्या चाहते हो ?' पण्डितजी दर्शन पाकर झूम उठे। सच्चे भक्त होने से उन्हें किसी उच्च पद या धन की अभिलाषा नहीं थी। जगदम्बा के समक्ष शीश झुकाकर उन्होंने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक कहा : ''माँ मुझे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। मेरी यही इच्छा है कि आप कृपाकर मेरे घर में जन्म लें, ताकि मैं जीवनभर आपके दर्शन करता रहूँ।' माँ भगवती 'तथास्तु' कहकर अन्तर्धान हो गयीं। इसके बाद हारी पर्वत की परिक्रमा करके वे घर वापस आ गये। उन्होंने इस रहस्य को किसी पर प्रकट नहीं किया। इस प्रकार नौ मास बीतने पर विक्रम संवत् १६७७ (१६२० ई०) के ज्येष्ठ मास की पूर्णिमा को भगवती ने कन्यारूप में माधव जू दर के घर जन्म लिया। पुत्री के जन्म के समय माधव जू को लगा कि घर में सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश है। हारी पर्वत के सभी देवी-देवता वहाँ विद्यमान हैं और कन्या के मुख पर फूल बरसा रहे हैं।

रूपभवानी की आरम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। उन दिनों स्कूलों का प्रचलन ही नहीं था और लड़कियों का स्कूल जाना या पढ़ना बहुत ही बुरा माना जाता था। माधव जू एक उच्चकोटि के विद्वान् थे। उन्हें वेदान्त, धर्मशास्त्र, शैव-दर्शन, रामायण और महाभारत का अच्छा ज्ञान था। मुसलमान सूफी संतों से भी उनकी प्रायः ज्ञान-चर्चा हुआ करती थी। रूपभवानी ने हिन्दू धर्मग्रन्थों का अध्ययन अपने पिता के पास ही किया। संस्कृत और फारसी भी उन्होंने अपने पिता से ही सीखी। इस कारण रूपभवानी पिता को ही अपना गुरु मानती थीं। उन्होंने लिखा है :

युसुय ग्वर पिता सुय छुह मोल।
सुह इह प्रबल दीप प्रकाश।।

सुह इह सर्व क्वलस उदार खुन।
सुय इह ईश्वर सुह छुह ग्वर।।

'जो गुरु हैं, वे ही मेरे पिता हैं। उन्होंने मेरे हृदय में प्रकाश डाला। वे ही मुझमें ज्योतिर्मय दीपशिखा बने, वे ही मेरे वंश का उद्धार करनेवाले हैं। वे ईश्वर हैं और वे ही मेरे गुरु हैं।'

सात वर्ष की अल्पायु में ही रूपभवानी ने गृहस्थ-जीवन में प्रवेश किया। इनका विवाह श्रीनगर के हब्बाकदल मुहल्ले के एक धनाढ्य सप्रू घराने में श्री चतुर पण्डित के सुपुत्र श्री श्यामसुन्दर सप्रू के साथ हुआ। लेकिन सास के दुर्व्यवहार एवं पति के अबोध होने के कारण इन्होंने गृहस्थजीवन को तिलांजलि दे दी और घर से निकलकर लगभग पचास वर्ष तक पर्वतीय प्रदेश में घोर तपस्या की। इस अवधि में इन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं दैवी शक्ति से कश्मीर के प्रसिद्ध योगियों, सन्तों, फकीरों और सूफियों से शास्त्रचर्चा की तथा उन्हें प्रभावित किया। कश्मीर की घाटी में ये खूब घूमीं-

फिरीं तथा वहाँके तीर्थों को पवित्र किया। अपनी अलौकिक प्रतिभा और सिद्धियों के कारण ये 'अलक्ष्येश्वरी' के नाम से प्रसिद्ध हो गयीं।

इनके काव्य में ज्ञान और भक्ति का अद्भुत सामंजस्य देखने को मिलता है। यद्यपि इनका अपना क्षेत्र योग एवं दर्शन ही था, फिर भी भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं में इनकी प्रगाढ़ आसक्ति थी। गोपियों के साथ कृष्ण का रास इनके हृदय में निरंतर गूँजता रहता था :

गोपालजुव नाट्य करे गूपी सहाय।

'गोपाल श्रीकृष्ण गोपियों के साथ नाट्य कर रहे हैं।'

ये तपस्विनी, बहुज्ञ तथा परमसिद्धा थीं। कश्मीरी के साथ-साथ इन्होंने संस्कृत, फारसी, उर्दू और हिन्दी में भी काव्यरचना की है। इनके बाख (वाक्य) और गीत आज भी कश्मीर के हिन्दू तथा मुसलमान बड़े आनन्द के साथ गाते हैं।

रा. क.

ठाकुरजी मनवटी

कश्मीर की कृष्णकाव्य-परम्परा में ठाकुरजी मनवटी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये श्रीनगर के मुहल्ला नयी सड़क के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम ऋषकाक मनवटी था। इनके तीन पुत्र सर्वानन्द, बिदलाल तथा नित्यानन्द एवं दो पुत्रियाँ सोमुख और परमेश्वरी थीं। इनके छोटे पुत्र की मृत्यु अल्पायु में ही हो गयी। कहा जाता है कि ठाकुरजी मनवटी अपने मृत पुत्र के शव को स्वयं ही नाव पर रखकर घर लाये और घर पहुँचकर पत्नी से कहा: 'तुम्हारा बेटा मर गया है।' उनके इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ठाकुरजी उस आध्यात्मिक स्थिति तक पहुँच चुके थे जहाँ लौकिक मोह-बन्धन कुछ महत्त्व नहीं रखते।

श्री मनवटी सनातनधर्मानुयायी वेदान्तमार्गी पंडित थे। इनकी सम्पूर्ण कविताओं में वेदान्त की विचारधारा प्रवाहित है। मनवटी की प्रसिद्ध रचना 'अमृत-सागर' है, जो इनकी कश्मीरी और हिन्दी कविताओं का संकलन है। यद्यपि हिन्दी कविताएँ लिखने का श्रीगणेश परमानन्द ने किया था, लेकिन इनका विकसित रूप हमें मनवटी की कविताओं में ही देखने को मिलता है। कवि परमानन्द की अपेक्षा इनकी कविताएँ अधिक सुगम और हृदयग्राही हैं।

श्री मनवटी स्वभाव से अत्यन्त सरल और विनोदप्रिय थे। ये कश्मीरी फिरन (कश्मीर की सर्दी से बचने का विशेष वस्त्र), सिर पर साफा और पैरों में जूता पहना करते थे। मस्तक पर तिलक और गले में माला धारण किये रहते थे। अतिथि-सत्कार में इनका इतना विश्वास था कि कभी कोई व्यक्ति इनके घर से भूखा नहीं गया।

इनकी प्रसिद्ध रचना 'अमृत-सागर' में चिन्तन की गम्भीरता और उच्चकोटि की भावुकता के दर्शन होते हैं। अपने आराध्यदेव कृष्ण से अनुग्रह करने का निवेदन करते हुए ये कहते हैं :

अज्ञानकुन् मोहत बे छस्।
च्यानि अनुग्रह नीयम छस कस॥
विया गोर चेय शरण संपनस।
जन्म मरनुकम्य कड़तम बस॥

'हे भगवन्! मैं अज्ञान की ओर मोहित हो चुका हूँ। यदि आपका अनुग्रह मुझे आपके पास ले जाता, तो मेरी कितनी उत्तम स्थिति होती? हे गुरु! मैं आपसे शरणागति की भीख माँगता हूँ और यही विनय करता हूँ कि जन्म-मरण की व्याधि को समाप्त करो।'

रा. क.

परमानन्द

परमानन्द कश्मीर के कृष्ण-भक्त कवियों में शीर्षस्थ हैं। अष्टछाप के कवियों में जो स्थान महाकवि सूरदास का है, वही कश्मीर के कृष्णभक्त कवियों में परमानन्द का है। ये कश्मीर में लीलाकाव्य-रूप के प्रवर्तक एवं प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं।

इनका जन्म सन् १७९० ई० में कश्मीर के प्रसिद्ध तीर्थ मट्टन (मार्त्तण्ड) से सात मील दूर 'सीर' नामक ग्राम में हुआ था। इनका वास्तविक नाम 'नन्दराम' था, किन्तु काव्य-जगत् में ये 'परमानन्द' उपमान से ही प्रसिद्ध हुए।[1]

इनके पिता श्रीकृष्ण पण्डित मट्टन में पटवारी थे। वे फारसी भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। पिता ही इनके गुरु भी थे। संयोगवश इनके आराध्य भगवान् कृष्ण से पिता (श्रीकृष्ण पंडित) के नाम का मेल खाता था। इस प्रकार पिता, गुरु और आराध्य की उपासना ये एक ही नाम से किया करते थे। परमानन्द की माता का नाम सरस्वती था जो मट्टन के ही एक कुलीन कश्मीरी ब्राह्मण की पुत्री थीं।

परमानन्द को मातृभाषा की शिक्षा गाँव की पाठशाला में मिली। लेकिन फारसी भाषा का ज्ञान इन्हें अपने पिता श्रीकृष्ण पंडित से प्राप्त हुआ। सन् १८१५ ई० में इनके पिताजी का देहान्त हो गया और ये उनके स्थान पर मट्टन के पटवारी बना दिये गये। किन्तु परमानन्द जैसे ईमानदार, सरल-हृदय एवं भक्त व्यक्ति को यह पद रुचिकर न लगा, क्योंकि एक तो सफल पटवारी बेईमान, रिश्वतखोर और किसानों को पीड़ित करनेवाला होता था, दूसरे माल के बड़े-बड़े अधिकारी पटवारी से रिश्वत की साझेदारी के लिए जनता पर भाँति-भाँति के अत्याचार करते थे। कवि परमानन्द ने माल के एक क्रूर अधिकारी राधूमल मिश्र पर जो व्यंग्य किया है, उससे तत्कालीन पटवारियों की कठिनाइयों का आभास मिलता है :

मिसरा छू बे-नुक्त रोध।
बुत्र छुख यि दोदिसं दोद॥
विहित छु वुलरि जन।
हारन छु तुलरि जन॥
मटन छे खोहिश तस।
पटवार्यं दिन्य् धर्मंस॥
यारन छि मारन कस।
वोनितव यि वही क्याह।
गयि ना सही जाह॥

इस कविता की प्रथम पंक्ति बड़ी चमत्कारिक है। मिसर राधूमल शब्द फ़ारसी लिपि में लिखा जाय तो उसमें ऊपर-नीचे कहीं भी नुक्ता (बिन्दी) नहीं लगता। कश्मीरी भाषा में 'नुक्ता' शब्द का अर्थ है 'लगाम'। इस प्रकार 'बे-नुक्त' का अर्थ हुआ—बे-लगाम। मिसरा (मिश्र) शब्द उर्दू भाषा में वाक्यांश को भी कहते हैं। इस प्रकार 'नुक्ता' और 'मिसरा' शब्दों में निहित श्लेषार्थ पर ध्यान देने पर उपर्युक्त छन्द का अर्थ हुआ : "राधूमल मिश्र एक लगामहीन (क्रूर या बर्बर) व्यक्ति है। अब वह पटवारियों के लिए एक और बला है—रोग पर रोग है। उसने बूलर प्रदेश में डेरा डाला है। उसके मुँह से अंगारे बरसते हैं। उसकी मनोकामना है कि मट्टन में श्राद्ध के अवसर पर गोदान के बदले पटवारी दान में दिये जायँ, क्योंकि वे सेंत (मुफ़्त) में इधर-उधर मिल सकते हैं। अब पटवारी झुँझलाते हैं कि हम में से न जाने कौन-कौन इस पटवारी-बलिदान के लिए चुने जायें। भला पटवारियों का यह खाता भी क्या बला है जो कदापि शुद्ध नहीं होता।'

इनका पारिवारिक जीवन सुखी नहीं रहा। इनकी पत्नी मालछेद इनसे आयु में कुछ बड़ी, चिड़चिड़ी और कर्कशस्वभाव की थीं। पास-पड़ोस की स्त्रियाँ उनके स्वभाव से परेशान रहती थीं। उन्हें अपने पति की धन से विरक्ति और ईश्वर से आसक्ति रुचिकर नहीं थी। वे इनको भगवद्भक्त न मानकर एक आलसी एवं निकम्मा व्यक्ति समझती थीं। फलतः इन्हें बात-बात में पत्नी की झिड़कियाँ सुननी पड़ती थीं। इनके दो पुत्र वासराम और महानन्द अल्पायु में ही दिवंगत हो गये। इससे इन्हें अपार कष्ट हुआ। ये स्वयं कहते हैं कि मैं इस संसार से निराश हूँ।

---

[1] कवि श्रीमाला : कश्मीरी परमानन्द राष्ट्र भाषा प्रचार-समिति, वर्धा पृ० १३।

अकेला हूँ, पुत्रविहीन हूँ, मेरे नेत्रों का प्रकाश समाप्त हो गया है :

कुन त कीवल त सार सूरमच आश।
निपुतर न नयन न रुदभुत गाश॥

फिर भी इनके काव्य में इस तिक्त, विषाक्त तथा निराशापूर्ण जीवन का कहीं भी आभास नहीं मिलता। इनकी रचनाएँ भक्त की विरह-विह्वल आत्मा की परमात्मा के प्रति आर्त पुकार से ओतप्रोत हैं।

भक्तकवि परमानन्द मिलनसार, हँसमुख और संतोषी स्वभाव के थे। यही कारण था कि अनेक हिन्दू और मुसलमान इनके प्रशंसक, श्रद्धालु और मित्र थे। इन्हीं लोगों ने इनके नीरस जीवन को कुछ सीमा तक सरस बनाने में सहायता की थी। परमानन्द के शिष्यों में सर्वप्रथम श्री लक्ष्मण जू नागामी का नाम आता है। लक्ष्मण जू भी एक उच्चकोटि के कवि थे तथा 'बुलबुल' उपनाम से कविता करते थे। परमानन्दजी के एक मित्र पं० धर्मचन्द्र थे, जो प्रायः इनकी कविता को लिपिबद्ध करते थे। इनके एक और प्रिय शिष्य सालेह गनाई थे, जो इनकी सेवा-सुश्रूषा करते थे। इन दोनों के अतिरिक्त लछीराम, सहजराम तथा कशकाके को भी इनका शिष्य माना जाता है।

अपने स्वभाव के विपरीत होने के कारण अंततः इन्होंने पटवारी के पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद इन्होंने प्रकृति का खुली आँखों से निरीक्षण किया। इस बीच इन्होंने भागवत, लल्लपद तथा नंदऋषि के काव्य का अनुशीलन किया। समय निकालकर कुंडलिनी-योग की साधना भी की। संयोगवश इन्हीं दिनों इन्हें स्वामी आत्मानंद परमहंस नामक एक विद्वान् संन्यासी का सत्संग प्राप्त हो गया। वे कई महीने तक इन्हींके घर पर रहे। यह संपर्क इनके आध्यात्मिक विकास में अत्यन्त सहायक हुआ।

वृद्धावस्था के कारण इनका शरीर शिथिल होने लगा था और आँखों की ज्योति भी मन्द पड़ गयी थी। इसलिए उस समय ये दार्शनिक चिन्तन-मनन में ही मग्न रहते थे। जीवन के अन्तिम दिनों में ज्वर से पीड़ित होते हुए भी ये अहर्निश भगवद्भक्ति में लीन रहते थे। इन्होंने ८९ वर्ष की लम्बी आयु भोगकर १८७९ ई० में अपनी ऐहिक-लीला संवरण की।

भक्त परमानन्द को काव्य-रचना की प्रेरणा माँ सरस्वती की कृपा से प्राप्त हुई थी। आरम्भ में ये फारसी भाषा में 'ग़रीब' उपनाम से कविता करते थे। खेद है कि वे रचनाएँ अब अप्राप्य हैं। आज इनकी जो हस्तलिखित रचनाएँ और छपे हुए संकलन उपलब्ध हैं वे भी अनेक अशुद्धियों तथा प्रक्षेपों के कारण दुर्बोध हो गये हैं। मास्टर ज़िन्दा कौल ने बड़े परिश्रम के साथ इनकी रचनाओं को संकलित किया है जो किसी सीमा तक सफल कहा जा सकता है। वर्ण्य-विषय के आधार पर इनके काव्य को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

[अ] सर्वप्रथम इनके स्तोत्रकाव्य पर ध्यान जाता है। परमानन्द के स्तोत्र-गीतों में गणेश, शिव, विष्णु आदि देवताओं की विनती है। इनमें कवि ने अपनी दीनता एवं असहाय स्थिति का वर्णन करते हुए प्रभु से मुक्ति प्रदान करने की प्रार्थना की है।

[आ] द्वितीय वर्ग की रचनाओं में इनकी 'अमरनाथ-यात्रा' और 'कर्मभूमिका' शीर्षक कविताओं को रखा जा सकता है। इनमें कवि ने योगाभ्यास और रहस्यात्मक साधना पर अधिक जोर दिया है।

[इ] तृतीय वर्ग के अन्तर्गत कवि के तीन खण्डकाव्यों १. सुदामा-चरित, २. राधा-स्वयंवर तथा ३. शिव-लग्न को लिया जा सकता है। इनमें से 'सुदामा-चरित' में श्रीकृष्ण और सुदामा की पौराणिक कथा को छन्दोबद्ध किया गया है। 'राधा-स्वयंवर' में राधा और कृष्ण के विवाह और गोपियों के साथ कृष्ण की लीलाओं का निरूपण है। 'शिव-लग्न' में शिवपुराण के आधार पर 'शिव-पार्वती-विवाह' का रोचक वर्णन किया गया है।

[ई] चतुर्थ वर्ग में परमानन्द की उपदेशात्मक कविताएँ रखी जा सकती हैं। इनमें इन्द्रिय-निग्रह, वैराग्य, त्याग, भक्ति, सेवाभाव, प्रवृत्ति-निवृत्ति का समन्वय आदि विषयों पर सारगर्भित विचार व्यक्त किये गये हैं।

[उ] पंचम वर्ग के अन्तर्गत कवि परमानन्द की रहस्यवादी कविताएँ आती हैं। इनमें वेदान्त, अपरोक्ष-दर्शन, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, त्रिक्-दर्शन का आनन्दवाद, समरसता, शिवोऽहम् आदि सिद्धान्तों का तार्किक विवेचन किया गया है। निस्सन्देह ये रचनाएँ कवि की जीवनव्यापी साधना, आत्मबोध और गम्भीर तत्त्व-चिन्तन का प्रसाद हैं।

परमानन्द एक उच्चकोटि के वैष्णव भक्त और ज्ञानी थे, इसलिए इनके काव्य में भक्ति और ज्ञान का अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इनकी दृष्टि में साधक के लिए भक्ति और ज्ञान का समन्वित रूप ही अधिक उपादेश्य है। अपने 'सुदामा-चरित' खण्डकाव्य में इन्होंने जिस भक्ति-पद्धति का निरूपण किया है, वह महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्ग पर आधारित है। महाप्रभु ने सांसारिक दुःखों की निवृत्ति और ब्रह्म का बोध कराने के लिए कृष्णोपासना की उपादेयता का प्रतिपादन किया है। उनके पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए इन्होंने सृष्टि का मूल एवं उपादान कारण होने से, कृष्ण को सच्चिदानन्दस्वरूप माना है। इनकी मान्यता है कि प्रकृति और जीव ब्रह्म से ठीक उसी प्रकार प्रकट हुए हैं, जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी प्रकट होती है। भगवान् के इस अनुग्रह को प्राप्त करने-हेतु भक्त के लिए उनके प्रति आत्मसमर्पण करना आवश्यक है, क्योंकि निराकार ब्रह्म को मात्र बुद्धि के सहारे नहीं जाना जा सकता। ब्रह्म का साक्षात्कार उसके सगुण रूप के माध्यम से ही सम्भव है। इस प्रकार ये ब्रह्म के साकार और निराकार रूप में अभेद मानते हैं। 'सुदामा-चरित' में इन्होंने इसे भगवान् कृष्ण और माँ यशोदा के रूपक से स्पष्ट कर दिया है :

(१)

गुड़नस गुदोम गोस बुन छुटुये।
हरि यस छु कुस्तभ मालय त्रुटुये॥
अखंड ब्रह्माण्ड अविच्छनय॥

'उन्होंने (माँ यशोदा ने) पगहे को उनके (कृष्ण के) इर्द-गिर्द बाँधा, परन्तु पगहा नीचे से छोटा निकला। उनके गले में तो समग्र एवं सम्पूर्ण विश्व का कौस्तुभहार लटका हुआ है।'

(२)

वाटान लूस अख अकिस सत्यी।
कव जान गूदाम्य तति आस्य् कत्यी।
तोति तीच हन ओस भिचि छुटनय॥

'उनके (यशोदा के) पास बहुत से पगहे थे, कृष्ण को बाँधने के लिए। वे उन पगहों को परस्पर जोड़ते-जोड़ते थक गयीं। फिर भी वहाँ पहले कीसी कमी बराबर रहती थी।'

उपर्युक्त पदों में माँ यशोदा बुद्धि की प्रतीक हैं। यशोदा का कृष्ण को पगहे से बाँधना बुद्धि द्वारा ब्रह्म को सीमाबद्ध करने का प्रयास करना है। इस प्रकार परमानन्द के अनुसार ब्रह्म को मात्र बुद्धि के सहयोग से ज्ञान के कटघरे में कैद नहीं किया जा सकता। बुद्धि और हृदय के समन्वय से ही ब्रह्म की अनुभूति हो सकती है। परमानन्द का यही प्रमुख संदेश है।

परमानन्द के 'सुदामा-चरित्र' में श्रीकृष्ण और उनके बालसखा सुदामा के मिलन की प्रसिद्ध कथा है। भक्तकवि ने इस घटना को दार्शनिकता का स्पर्श देते हुए साध्य और साधक के परस्पर सम्बन्ध का मर्म-स्पर्शी का विवेचन किया है :

सुदामा पर्ननिस दरिद्र भावस।
नाव कोर तारिहे वरजनिस वावस॥
वुजि नजि अनुग्रह रजि लमनय॥

'सुदामा अपने दरिद्रता-पाश में जकड़े हुए थे। प्रबल आँधीं में वे (भवसागर में) अपनी नौका कैसे चला सकते थे ?'

दोह अकि सुदामा जीव प्योस यादय।
अनुग्रह वानियि लोयनस नादय॥

'अभी तो वे अनुग्रह-रज्जु को खींचने में असमर्थ थे। एक दिन कृष्ण को सुदामा जीव की याद आयी। तब उन्होंने अनुग्रह-वाणी से उन्हें (अपनी ओर आने को) पुकारा।'

वुनि ओस वातनय दारिका मन्दरो।
सखरित रुदमते श्याम सोन्दरो॥

'अभी सुदामा द्वारका-मन्दिर (महल) के पास पहुंचे भी नहीं थे कि श्यामसुन्दर पहले से ही (उनके स्वागत के लिए) तैयार खड़े थे।'

इस ग्रन्थ में कवि ने श्रीकृष्ण-जन्म-प्रसंग का वर्णन करते हुए लिखा है कि जब श्रीकृष्ण का जन्म हुआ तो अन्धकार प्रकाश में परिवर्तित हो गया। देवकीनन्दन की जय-जयकार हो! श्रीकृष्ण देश-काल से परे तथा मानस-अगोचर हैं, फिर भी उनके जन्म से सभीका मन आनन्दमग्न हो गया :

गटि मंज गाश आव चान्य ज्यनय
जय जय जय दीवकी नन्दनय।
दोशि काल रोस्त द्राख पननिय दोशे
मानसअगूचर पानस निशे॥

'शिव-लग्न' में इन्होंने शिव और पार्वती (शक्ति) के परिणय का वर्णन किया है। इस रचना के द्वारा कवि ने शिव को पुरुष और शक्ति को प्रकृति का प्रतीक माना है और इन्हींके संयोग से सृष्टि-विकास का संकेत दिया है।

परमानन्द के 'राधा स्वयंवर' में श्रीकृष्ण और राधा के विवाह का वर्णन है, किन्तु दार्शनिक अर्थ के साथ। यह विवाह प्रकृति एवं पुरुष के मिलन का द्योतक है। कवि कहते हैं :

गोकल हृदय म्योन तत्य चोन गूर्य वान,
चित विमर्शं दिप्तिमान भगवानो।

'मेरा हृदय गोकुल है जहाँ भगवान्, कृष्ण अपनी गायें रखते हैं, वास करते हैं और चिति का प्रकाश बिखेरते हैं। यह प्रकाश आध्यात्मिक प्रकाश है। इससे आत्मसाक्षात्कार होता है। गोकुल वह ऐतिहासिक स्थल है जहाँ कृष्ण और राधा की क्रीड़ा हुई है, जहाँ आत्मा और बुद्धि का विलास है :

ब्रच म्यानि गोपियि चेय पत लारान।
बांसुरी नाद बाद मतानो॥

नशिरित हिस त होश मशिरित पर त पान।
चित् विमर्शं दिप्तिमान भगवानो॥

'मेरे मन के विचार, इच्छाएँ गोपियाँ हैं जो केवल कृष्ण के प्रति आकृष्ट हैं। वे कृष्ण की बांसुरी की ध्वनि से अपने पर नियंत्रण खो देती हैं। अपने और पराये के भेद को मिटाकर वे सनातन सत्य के प्रति आकृष्ट हैं। बांसुरी की ध्वनि का केन्द्र स्वयं कृष्ण हैं जो परम आकर्षण हैं।

इसके पश्चात् परमानन्द यह व्यक्त करते हैं कि भगवान् कृष्ण को पाने की इच्छा अपने-अपने भावानुसार सभी करते थे :

वासुदीव दिवकी तव आस्य करान
गोधुख चय जन सन्तानो,
जसुदा त नंद गूर्य चय कुछि रछ्हान।

'वसुदेव और देवकी ने तप किया था कि श्रीकृष्ण ही उनके पुत्र हों। यशोदा और नंद चाहते थे कि वे श्रीकृष्ण का पालन करें। गोप-ग्वाले भी उन्हीं कृष्ण को चाहते थे।

जगन्माता का अवतार राधाजी बाल्यावस्था से ही बार-बार कृष्ण का नाम लेती थीं। उन्होंने सौंदर्य के देवता को श्याम के रूप में चाहा था। प्रत्येक अवतार में उन्होंने श्रीकृष्ण को ही वरण किया है, जैसे प्रत्येक

पक्ष में चन्द्रमा सूर्य से मिलन करता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं :

राधा माता कृष्ण-कृष्ण बोलान
श्याम रूप कामदीव ग्रेशानो
जन्म जन्म जून जन च सूयस मेलानः
यति जाव कृष्ण जुव त आव,
अवतारस गोकलवोत निशि यशुदाये।

इन पंक्तियों में परमानन्द कृष्ण के अवतारी रूप का वर्णन करते हैं। कृष्ण मथुरा में अवतार धारण करके जन्मे और यशोदा के पास गोकुल पहुंच गये।

गोकुल में ही वृषभानु के घर राधा ने जन्म लियाजिन्होंने जन्मते ही 'कृष्ण-कृष्ण' का नाम लिया। इसका वर्णन परमानन्द इस प्रकार करते हैं :

तत्य आयि राधा जन्मस छि वखनान
कृष्ण कृष्ण कृष्ण आस जपानो।

ये राधा गायत्री हैं, सावित्री हैं, उन्हें ही सरस्वती कहा जाता है, वे सब की इष्टदेवी हैं :

राधा छे गायत्री त सावित्री आसान
सरस्वती ति छिस बखनाने
प्रथ कुलची इष्ट देवी सुय पान॥

'सावित्री सूर्य या सविता की शक्ति है। श्रीकृष्ण, राधा और गोपियाँ सब इकट्ठे थे। जब श्रीकृष्ण ने राधा को अपने साथ ले लिया, गोपियाँ आश्चर्यचकित हो गयीं। श्रीकृष्ण माया के साथ लीला में मग्न थे। गोपियां दसों दिशाओं में राधा को खोज रही थीं। वे राधा के पदचिह्न खोज रही थीं, क्योंकि कृष्ण अपने पदचिह्न नहीं छोड़ते। पदचिह्न खोजते-खोजते उनकी सारी वासनाएँ समाप्त हो गयीं।' यहाँ परमानन्द का कथन हैं कि कृष्ण पदचिह्न नहीं छोड़ते और राधा छोड़ती हैं अर्थात् ईश्वर के कोई पदचिह्न नहीं हैं जब कि प्रकृति के चिह्न हैं, फिर भी दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। अतः यदि प्रकृति का स्वरूपज्ञान हो जाय तो अपने आप ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है। इसी कारण गोपियाँ (आत्माएँ) राधा के चिह्न ढूँढ़ती हैं जिसे कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है।

राधायि पत पत पाद आयि छारान
मुरली नाद आयि बोजामो,
पाद रटनय सोरि उपाद सोरानि।

'राधा के पीछे-पीछे गोपियां उसके चरणचिह्न खोजती हैं, वे मुरली का नाद सुनती हैं। उनके चरणचिह्नों की प्राप्ति से ही सब प्रकार के विकार छूट जाते हैं।'

"गोपियाँ राधा की माता से कहती हैं कि 'तुम राधा को क्यों नहीं समझाती? राधा और कृष्ण दोनों केलि करते है, दोनों छिप जाते हैं, स्नान करते हैं, आदि-आदि।' तब राधा माता से कहती है कि 'हे माता! वहाँ कृष्ण के अतिरिक्त और कोई नहीं होता। कृष्ण ही गोप, गोपिकाएँ और शिशुओं की रूप में होते हैं। लोगों को बातें करनी हो होती हैं।' इतने में बाँसुरी का नाद होता है। यद्यपि यह नाद दूर था, फिर भी अतिनिकट लग रहा था। अन्ततः राधा की भाँति उनकी माता भी उस नाद से आकृष्ट हो गयीं।

ताम गव नाद और मुरलो बायान
दूरो दूरि ल्युठ जन बोजानो,
मत्य मत्य माज्य द्राथि कूर पतलारान॥

'तब उन्होंने कृष्ण के अतिरिक्त और किसीको नहीं देखा। वे स्वयं ही अपने साथ क्रीड़ा कर रहे थे।'

एक कविता में परमानन्द प्रार्थना करते हैं कि हे गोपालक, गोवर्धन को धारण करनेवाले अवतार कृष्ण! यह पृथ्वी असुरों की कुसंगति से तंग आ गयी है अब इसके पापों के भार को नष्ट कीजिये :

कृष्ण जीव यित अवतारी गोपाल गोवर्धनधारी।
पृथ्वी छे आमच टंगय असुरन हन्दि कुसंग य
कास्तम पापन्य भारी, गोपाल गोवर्धनधारी।

एक अन्य कविता में कृष्ण का स्वरूपचित्रण करते हुए वे कहते हैं कि जो गोपालक, गोपीवल्लभ गोवर्धन को धारण करनेवाला है, जो गोकुल के पुष्पों का विकास है, गोपियों का सर्वस्व है, शंख, चक्र, गदा और पद्मका धारक है, मोर-मुकुट से विभूषित है पीताम्बरधारी है, कंस का संहार करनेवाला और द्वारका का राजा इन्द्र है वही कृष्ण हमारा आराध्य है :

गोपालो गोपिवल्लभो गोवर्धनधारो।
गोकुल के गुल-बहारो, गोपियान हंदि सारो।
गुंद चय हित्य पोश गुंदरो
शंख-चक्र-पद्म-गदाधर-मोर मुकुटधारो,
पीताम्बर-धर श्रीधर कंसनि संहारो
द्वारिका हंदि राजि इन्दरो।

रा. द. क.

कृ. रैणा

भट्ट अवतार

भट्ट अवतार का जन्म सन् १४४८ ई० में कश्मीर में हुआ था। ये अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान्, कवि और संगीतज्ञ थे। कहा जाता है कि इन्हें फिरदौसी का 'शाहनामा' कण्ठस्थ था। इन्होंने कश्मीरी भाषा में सर्वप्रथम 'बाणासुर-कथा' नामक खण्डकाव्य की रचना की थी, जिसकी पाण्डुलिपि 'भाण्डारकर शोध-संस्थान, पूना' में सुरक्षित है।

'बाणासुर-कथा' में श्रीकृष्ण के पुत्र अनिरुद्ध और उषा का प्रेमवर्णन, श्रीकृष्ण का बाणासुर पर ससैन्य आक्रमण, शिव-पार्वती का प्रादुर्भाव, बाणासुर का वध, श्रीकृष्ण की अपौरुषेय प्रतिभा के प्रति शिव की प्रशस्ति, विजयी कृष्ण का द्वारकागमन आदि कथाएँ वर्णित हैं। लेखक ने इस काव्य में श्रीकृष्ण को एक वीर योद्धा के रूप में चित्रित किया है। भगवान् शंकर उनके युद्धकौशल से प्रभावित होकर उनकी स्तुति करते हैं :

वीर सानो शुन विनय माधवा आदिदेवा।
नेता पते इत क्षण महाचक्रदिव्यास्त्ररोषे॥

'हे दिव्यास्त्र और चक्रधारी! हे आदिदेव माधव! मेरी विनययुक्त प्रार्थना सुनिये।'

भगवान् शंकर द्वारा कृष्ण की स्तुति करना पूर्व-मध्यकाल में कश्मीर में श्रीकृष्ण के बढ़ते हुए प्रभाव का द्योतक तथा शाक्त और शैवमत पर वैष्णव और भागवतधर्म की विजय का प्रतीक है। चौदहवीं शताब्दी में इतर प्रदेशों से सम्पर्क के कारण कश्मीरी जनमानस पर श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रभाव बढ़ने लगा था। दैत्यकन्या उषा को अपने प्रेमी अनिरुद्ध के यादव एवं श्रीकृष्ण का अंश होने पर गर्व था। उषा अनिरुद्ध के प्रति आर्कर्षित होती है। दोनों का प्रथम समागम बाणासुर के महल में होता है। गुप्तचर बाणासुर को सूचना देते हैं कि एक पुरुष अवैध रूपसे रनिवास में छिपा है, तो बाणासुर अनिरुद्ध को युद्ध के लिए ललकारता है। उषा अपने पिता और प्रेमी के बीच युद्ध की सम्भावना देखकर असमंजस में पड़ जाती है। वह अपने पिता की क्रूरता और प्रिय की सुकुमारता को देखकर अनिरुद्ध को युद्ध करने से रोकती है। वह कहती है :

च्छोनात अजनाकरा समेत एनिय मारणे।
क्षणेपाश मुकरा पिया मा गच्छ मारणे॥

प्रिय! सुनकर भी अनसुना कर। ये तुम्हें समवेत मारेंगे। मैं टूक-टूक हो जाऊँगी। हे प्रिय! मारने मत जाओ।'

रा. द. क.

मानजुवअतार

पं० मानजुवअतार का जन्म सन् १९०२ ई० में श्रीनगर के बहुरीकदल मुहल्ले में हुआ था। इनके पिता का नाम पण्डित ताबराम तथा माता का नाम पोशद्यद था। इनके पिता रैणावारी से थोड़ी दूर खानयार में किराने की दूकान करते थे। व्यापार में अच्छी आमदनी के कारण घर में सम्पन्नता थी, जिससे इनका बाल्य-जीवन बड़े ही सुख और आनन्द के साथ व्यतीत हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा घर के पास ही एक स्कूल में हुई, जिसमें अरबी, उर्दू और फारसी का

पठन-पाठन होता था। श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि धार्मिक ग्रन्थों के पढ़ने के कारण इन्हें संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान हो गया था।

इनका विवाह ग्यारह वर्ष की अल्प आयु में ही हो गया था। पत्नी का नाम चन्दा था। दैवयोग से इनका गृहस्थ-जीवन सुखमय नहीं रहा। सोलह वर्ष की आयु में ही पत्नी का देहान्त हो गया। किशोर-वय में पत्नी-वियोग का दुःख झेलते हुए भी इन्होंने धैर्य नहीं छोड़ा। थोड़े ही दिनों बाद इन्होंने दूसरा विवाह किया। दूसरी पत्नी से इनके एक पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। इनके पुत्र का नाम मदनलाल है जो अपनी पुश्तैनी दूकान पर काम करता है।

ये अत्यन्त साहसी और धैर्यवान् थे। सन् १९३१ ई० में हिन्दू और मुसलमानों के दंगे में इनकी दूकान और घर दोनों ही जला दिये गये। रहने और खाने की कोई व्यवस्था न थी। पिताजी इस आघात से पीड़ित होकर चल बसे। लेकिन इन्होंने अपना धैर्य नहीं छोड़ा और धीरे-धीरे फिर से दूकान चलाना आरम्भ कर दिया जिससे कुछ ही दिनों में इनकी स्थिति पूर्ववत् हो गयी। इनका निधन सन् १९७१ ई० के दिसम्बर मास में हुआ।

इनका ज्ञान और स्वाध्याय अत्यन्त विशाल था। ये भागवत के प्रसिद्ध प्रवचनकर्ता एवं अधिकारी पंडित थे। अरबी और फ़ारसी का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। चौदह वर्ष की आयु में ही इन्होंने 'कृष्णावतार' की रचना की थी, जिसमें भागवत के आधार पर कृष्ण-चरित का अंकन हुआ है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'हरिश्चन्द्र' तथा 'रुकमणी-मंगल' काव्यों की भी रचना की, जो अप्राप्य हैं। 'कृष्णावतार' का आधार श्रीमद्भागवत है, परन्तु कवि ने अपनी मौलिक उद्भावनाओं के द्वारा श्रीकृष्ण के चरित्र को नये रूप में प्रस्तुत किया है।

इनके दो छन्द नीचे दिये जाते हैं :

सर्वानन्द, बाल-गवण्यद परमानन्द बाल गूपालय।
पूतनायि गालिव ही मदसूदन ॥
तन मन स्वरय चोनुय दयान।
कृपायि चाजि सीत ही कृपासागर।
बवसागर क्या ह छु तार दोरलब ॥

'हे परमानन्द! बालगोपाल! सर्वानन्द! मैं आपकी वन्दना करता हूँ। पूतना को मारनेवाले हे मधुसूदन! तन-मन से आपका नामस्मरण करना चाहता हूँ। हे कृपासागर! आपकी कृपा से भवसागर पार होना दुर्लभ नहीं है।'

एक दिन राधा और कृष्ण की अचानक यमुना के तट पर भेंट हो गयी। दोनों एक दूसरे के रूप-सौंदर्य पर मुग्ध हो गये। कृष्ण ने राधा से उसका परिचय पूछा। राधा अपना परिचय देती हुई, कृष्ण की माखन-चोरी का उल्लेख करते हुए कहती हैं :

म्य छुम मा़नायि रादा कोरमुत नाव।
गिंदान गरि छस न्यवर द्रायस न अज़ताम ॥
च़ आसख कृश्न् मलिस असीय नाव नन्दबाब।
जिय्वान थअनि चूरि छुख तमिकिज मशहूर ॥

'मेरा नाम राधा है, मैं अधिकतर अपने आँगन में ही घूमा करती हूँ, बाहर नहीं जाती। सम्भवतः तुम्हारा नाम श्रीकृष्ण होगा। तुम्हारे बाप का नाम नन्दबाबा है। माखन-चोरी के कारण तुम गाँवों में प्रसिद्ध हो।'

रा. द. क.

लक्ष्मण जू बुलबुल नागामी

इनका वास्तविक नाम 'लक्ष्मण रैणा' था तथा 'बुलबुल' उपनाम था। ये मूलतः श्रीनगर के मुहल्ला मलयो (बानामुहल्ला) के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम पं० सुन्दर राजदान था। बुलबुल की प्रारम्भिक शिक्षा मदरसे में हुई जहाँ इन्हें फारसी का अच्छा ज्ञान प्राप्त हुआ। फारसी के अलावा इन्होंने संस्कृत, वेदान्त, त्रिक्दर्शन ज्योतिष आदि में भी पर्याप्त गति प्राप्त की थी। घर की आर्थिक स्थिति ठीक न होने से इन्होंने जीविकोर्जन के लिए अपने मुहल्ले में एक दूकान खोल ली। इसी बीच इनके माता-पिता

का निधन हो गया। भाइयों से अनबन हो जाने के कारण ये घर छोड़कर भारत-भ्रमण के लिए निकल पड़े। इस पर्यटन-क्रम में इन्होंने मथुरा, वृन्दावन, कलकत्ता, दिल्ली आदि स्थानों की यात्रा की। देशाटन में दो वर्ष बिताने के बाद ये घर लौट आये। यहाँ इन्हें खाद्यविभाग के मुख्य भण्डार-कार्मिक के पद पर नौकरी मिल गयी। नौकरी के सिलसिले में इन्हें नागाम नामक गाँव जाना पड़ा। यहीं इनकी शादी हुई और कालांतर में दो सन्तानें हुईं। बुलबुल के दिन सुख से बीतने लगे। नागाम को अपना निवास स्थान बनाने के कारण ये 'नागामी' कहे जाने लगे।

किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। एक दिन अचानक इनकी पत्नी घर की खिड़की से गिरकर मर गयी और कुछ ही दिनों में इनकी सन्तानें भी काल-कवलित हो गयीं। इन दुर्घटनाओं से इनका मन उद्विग्न हो उठा। मन की शान्ति-हेतु ये अपना समय साधुओं के सत्संग में बिताने लगे और नागाम छोड़कर प्रसिद्ध तीर्थस्थान 'मट्टन' चले गये। यहाँ पर कवि परमानन्द की ज्ञान-गरिमा से प्रभावित होकर इन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। परमानन्द के अनुरोध पर इन्होंने पुनः विवाह किया। दूसरी पत्नी से दो संतानें हुईं। पुत्र का नाम शिवजी तथा पुत्री का नाम ज़फरी था। संयोगवश दूसरे विवाह से प्राप्त इस पुत्ररत्न का भी निधन थोड़ी आयु में ही हो गया। यह पुत्रशोक उन्हें जीवनभर कचोटता रहा। कहा जाता है कि एकबार इनके पुत्र शिवजी किसी कार्यवश श्रीनगर जा रहे थे। बुलबुल ने उनसे एक तरबूज मँगवाया। शिवजी व्यस्ततावश तरबूज लाना भूल गये। क्रोध के मारें बुलबुल के मुँह से निकला : 'तूने मेरा कहना नहीं माना। जा, आठ दिन के अन्दर-अन्दर तेरी जिन्दगी का खात्मा हो जाय।' दुर्भाग्यवश ऐसा ही हुआ। शिवजी की मृत्यु से 'बुलबुल' को गहरा आघात पहुँचा। विशेष रूप से इसलिए कि उसका कारण इन्होंने अपने शाप को ही मान लिया। इसके फलस्वरूप गृहस्थ-जीवन से इन्हें विरक्ति हो गयी। अब ये अपना समय पढ़ने-लिखने और सत्संग में बिताने लगे। सन् १८९८ ई० में इनका निधन हो गया।

इनकी प्रमुख काव्य-रचनाएँ इस प्रकार हैं: १. सामनामा, २. नल-दमन, ३. ओमनामा, ४. चायनामा, ५. भजन-स्तुतियाँ, ६. राधा-स्वयंवर।

'सामनामा' एक संक्षिप्त काव्यकृति है। 'नल-दमन' खण्डकाव्य है जिसमें नल-दमयन्ती की कथा को आधार बनाया गया है। 'चायनामा' में चाय की प्रशंसा और उसके स्वाद पर तुकबन्दियाँ हैं। 'भजन-स्तुतियों' में कृष्ण के चरित का गान किया गया है। 'राधा-स्वयंवर' में राधा और कृष्ण की रूपमाधुरी के साथ उनके विवाह की कथा का वर्णन किया गया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि कवि परमानन्द के 'राधा-स्वयंवर' की पूर्ति इन्हींके द्वारा हुई, लेकिन इस सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलते।

इनकी रचना का एक उदाहरण प्रस्तुत है :

टोठतम म्य व्यआर्पन कृष्नयुवय्।
गूवरदन् चरणविन्ध चैन्य सोवय॥

चरण चाअय पंकज पादेन,
वरान् सन्तन त सादन।
खमा कर साअयन अपरादन॥

अलख महिमा च्चोन म्याह् वनिहय।
मन बोद वणीय तथ वातनये॥
पानय जानुख नेरेञ्जनय्॥

'हे कृष्ण ! मुझपर अब प्रसन्न हो जाओ। हे गोवर्धनधारी ! मैं आपके चरणारविन्दों की वन्दना करता हूँ। आपके चरण पंकज के समान हैं। ये ही चरण सिद्ध-सन्तों तथा साधुओं को परित्राण देते हैं। इसलिए हमारे अपराधों को क्षमा करो। आपकी अपार महिमा का बखान कौन कर सकता है? क्योंकि मन, बुद्धि और वाणी भी वहाँ पहुँच नहीं सकती। हे निरंजन ! आप तो स्वयं सर्व ज्ञाता हैं।'

रा. द. क.

श्रीकृष्ण राज़दान

श्रीकृष्ण राज़दान का जन्म २० नवम्बर सन् १८५० ई० को कश्मीर प्रदेश में अनन्तनाग से तीन मील दूर वनपोह नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता श्रीगणेशजू राज़दान अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध जमींदार थे। पूर्वजों से गणेशजी को पर्याप्त सम्पत्ति मिली थी, इसलिए शासकवर्ग इनका बहुत सम्मान करता था। श्रीकृष्ण राज़दान का पालन-पोषण बड़े लाड़-प्यार के साथ हुआ। इनकी देखभाल के लिए बहुत से नौकर रखे गये थे। इनकी माता अत्यंत धर्मपरायणा थीं। उनके धार्मिक संस्कार बालक राज़दान पर पड़े।

राज़दान के समय में भारत में बाल-विवाह की प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित थी। अतः इनका विवाह बचपन में ही हो गया। इनके ससुर एक प्रतिष्ठित जमींदार तथा अपने परगने के मुखिया थे। विवाह के समय पत्नी की आयु बहुत कम थी, इसलिए वे अधिकांशतः अपने मायके में ही रहा करती थीं। छोटी उम्र में विवाह होने के कारण बहुत समय तक इनके सन्तान न हुई। बाद में जो सन्तानें हुईं उनमें एक पुत्र को छोड़कर सभी काल का ग्रास बन गयीं। इस इकलौते पुत्र का नाम शंकरनाथ राज़दान था। पुत्रों की मृत्यु से इन्हें बहुत आघात पहुँचा, फिर भी सहनशील स्वभाव के कारण ये परिवार से विरक्त नहीं हुए।

श्रीगणेश राज़दान की यह प्रबल इच्छा थी कि उनका पुत्र साहित्य का प्रकाण्ड पंडित बनकर कश्मीर में उनका नाम उजागर करे। इस आकांक्षा की पूर्ति-हेतु उन्होंने उसको प्राचीन भारतीय धर्मग्रन्थों तथा शास्त्रों का अध्ययन कराया और बचपन से ही उसके लिए बड़े-बड़े कश्मीरी विद्वानों के सत्संग की व्यवस्था कर दी। पुत्र के एकाकीपन को दूर करने के लिए गाँव के अनेक बच्चों को शिक्षा की ओर प्रेरित कर उन्होंने उनकी शिक्षा का भार भी स्वयं वहन किया। साहित्य के प्रति अपनी गहरी लगन और निष्ठा के कारण बालक राज़दान ने बाल्यावस्था में ही वेदों, उपनिषदों तथा अन्य शास्त्रों का विधिवत् अनुशीलन कर लिया था। कश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय मुकुन्दराम शास्त्री के शिष्यत्व में इन्होंने शेष शिक्षा पूरी की।

श्रीकृष्ण राज़दान की काव्य-प्रेरणा के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा स्वप्न में शिवजी के दर्शन से मिली थी। इस सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि एकबार श्री राज़दान के पिता 'थज़िवोरे' (ब्रिज-बिहरा के पास एक तीर्थस्थान) में शंकरजी की पूजा करने गये। पिताजी इन्हें अपने साथ पूजा के लिए नहीं ले गये थे। इसलिए ये रोने लगे और बालहठ के कारण भूखे ही सो गये। स्वप्न में ये 'थज़िवोरे' पहुँचे भगवान् शंकर की मूर्ति ने साकार होकर इनका नाम लेकर उपस्थित लोगों के बीच में से इन्हें अपने पास बुलाया और अपने हाथ से कुछ लिखकर दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल जागने पर ये सीधे अपने गुरु के पास गये और स्वप्न की सारी कथा कह सुनायी। कहा जाता है कि इसी घटना ने इनकी बौद्धिक प्रतिभा को उजागर किया और इन्होंने कविता के संसार में पदार्पण किया। इस प्रकार नौ वर्ष की आयु में ही इनकी काव्य-साधना प्रारम्भ हो गयी। आरम्भ में इन्होंने सामान्य भजन लिखे, किन्तु बाद में फारसी में विधिवत् काव्य-रचना करने लगे, क्योंकि उस समय कश्मीर में फारसी में लिखने का अधिक प्रचार था।

जब ये बीस वर्ष के थे तभी इनके पिता की मृत्यु हो गयी। अल्पायु में ही गृहस्थी का भार इनके कन्धे पर आ पड़ा। इन्होंने इष्टदेव की कृपा और अपनी योग्यता से गृहस्थी के दायित्व का सफल निर्वाह किया। गृहस्थ-जीवन के साथइनकी काव्य-प्रतिभा विकसित होती गयी।

श्रीकृष्ण राज़दान की प्रमुख रचनाएँ हैं : 'कृष्ण-लीला', 'शिव-परिणय' अथवा 'शिव-लग्न' 'डल-लीला'

तथा 'भोग-लीला'। कुछ लोग 'शिव-परिणय' तथा 'शिवलग्न' को दो अलग-अलग कृतियाँ मानते हैं। किन्तु यह एक भ्रांत धारणा है, ये दोनों एक रचना ही के दो नाम हैं। 'शिव-परिणय' में यों तो अनेक भाषाओं के शब्द मिलते हैं, किन्तु कुल मिलाकर संस्कृत के शब्दों की अधिकता है। इनका गोलोकवास सन् १९२७ ई० में हुआ।

'कृष्णलीला-काव्य' की रचना कश्मीरी में हुई है। इसमें भगवान् कृष्ण के जन्म, बालक्रीड़ा, लोरी, बाल-सुलभ चेष्टाएँ, गोपियों का विरह-वर्णन आदि की अत्यन्त भावपूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। रासलीला से सम्बन्धित इनकी रचनाएँ आज भी कश्मीरी हिन्दू-परिवारों में विवाह आदि संस्कारों तथा उत्सवों के अवसर पर गायी जाती हैं। इनकी रचना के दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :

भगवान् कृष्ण के गुणों का बखान करते हुए ये लिखते हैं :

आँगनिक कुलि त्रावनस लगयो।
जसुदायि व्यश रूपहावनस लगयो॥

चन्द्रस क्रूंद बालनस लगयो।
गोकुलिक लूक पालनस लगयो॥

ब्रह्मा मन्दछावनस लगयो।
अक्रूरस आश्चर वुछनावनस लगयो॥

'हे कृष्ण! आँगन के वृक्षों को तोड़ डालने पर, माता यशोदा को विश्वरूप दिखाने पर, इन्द्र के गर्व को नष्ट करने पर, गोकुल के लोगों की रक्षा करने के लिए ब्रह्मा को लज्जित करने पर तथा अक्रूर को आश्चर्य दिखाने पर,–तुम्हारे इन समस्त गुणों पर, मैं बलिहारी जाता हूँ।'

अन्यत्र आराध्य के प्रति अपने प्रेमभाव को व्यक्त करते हुए ये कहते हैं :

असि कम वापथ करब त्याग
असिगछि आसुन कृष्ण राग।
सुय गोव तप जप योग अभ्यास
पाकेव रास गिन्दानो॥

'हम त्याग क्यों करेंगे? हमें भगवान् कृष्ण का प्रेम चाहिए। वही हमारी तपस्या है, वही योगाभ्यास है'–यही भाव रासक्रीड़ा करती हुई गोपियों में भी था।

रा. द. क.

साहिब कौल

भट्ट अवतार के पश्चात् कश्मीर की राजनैतिक स्थिति में सत्ता को लेकर अनेक फेर-बदल हुए। चक-वंश की पराजय के बाद यहाँकी शासन-सत्ता मुगलों के हाथ में आ गयी। मुगलों की राजभाषा फारसी थी। सत्ता द्वारा उसके पोषण एवं संरक्षण के कारण कश्मीर की लोकभाषा का विकास अवरुद्ध हो गया। शासक की अनुकूलता प्राप्त करने के लिए यहाँके कवियों और लेखकों को अपनी मातृभाषा की सेवा से विरत होकर फारसी सीखने के लिए बाध्य होना पड़ा। परिणामस्वरूप ईसा की १७ वीं शताब्दी ई० तक यहाँ कश्मीरी में बहुत कम साहित्य लिखा गया। कश्मीरी कवि साहिब कौल इसी शताब्दी में पैदा हुए थे।

साहिब कौल का जन्म सन् १६२९ ई० में श्रीनगर के हब्बाकदल मुहल्ले में हुआ था। कश्मीरी और संस्कृत दोनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। इनके पूर्वज शाक्त एवं शैवमत के अनुयायी थे। इन्होंने स्वयं भी शाक्तमत पर बहुत-सी पुस्तकें संस्कृत भाषा में लिखी हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं: देवीनाम-विलास, शिवसिद्धि-नीति और गुरुव्रत-चिन्तामणि। संस्कृत में वैष्णवमतसम्बन्धी इनकी एकमात्र रचना 'गीतासार' है।

कश्मीरी भाषा में लिखित इनकी चार काव्यबद्ध रचनाओं का उल्लेख मिलता है: (१) कल्पवृक्ष,

(२) जन्मचरित, (३) श्रीकृष्णावतार-लीला, (४) आत्मचरित ।

'कल्पवृक्ष' कश्मीरी भाषा की अत्यन्त प्रौढ़ रचना है जिसमें कश्मीरी के अतिरिक्त संस्कृत, फारसी, अरबी, पंजाबी, लद्दाखी आदि भाषाओं के प्रचुर शब्दों का प्रयोग मिलता है ।

'जन्मचरित' में मानव-जीवन का रहस्य दार्शनिक शैली में निरूपित किया गया है ।

'श्रीकृष्णावतार-लीला' में भगवान् कृष्ण के जीवन के परमार्थिक और लीलावतारी दोनों पक्षों के बीच सामंजस्य दिखाया गया है । सन् १८७५ ई० में जब प्रसिद्ध प्राच्यविद् बूलर कश्मीर आये, तो उन्होंने इस ग्रंथ को पाण्डुलिपि की खोज की । उनके पश्चात् ग्रियर्सन ने सन् १९२८ ई० में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल द्वारा इसको अंग्रेजी अनुवादसहित प्रकाशित कराया । ग्रियर्सन महोदय ने भ्रान्तिवश इस काव्य के रचयिता का नाम 'दीनानाथ' लिख दिया था जब कि नवीन खोजों के आधार पर इसके लेखक साहिब कौल ही ठहरते हैं । इस लीला-काव्य में श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर सुदामा से मिलने तक की कथा ली गयी है । श्रीकृष्ण की उदारता और अपार करुणा 'कृष्ण-सुदामाप्रसंग' में वन्य सरिता की भाँति उमड़ पड़ी है । भावों का आरोह-अवरोह और शब्द-चयन पाठकों को अनायास आकर्षित कर लेता है । कृष्ण-सुदामा-प्रसंग का एक स्थल द्रष्टव्य है :

कृष्ण जुवन् जोनुन त लोग प्रिछनस तय
सोदाम जुब छुय चेंतस केंह ।
लुकचारा न्यरहेव किथ् गिन्दनस तय ।।

'रह-रहकर सुदामा के मन में यह सन्देह उभरता है कि कृष्ण ने उसे स्पष्टरूप से पहचाना या नहीं । सुदामा की इस अन्तस्थ चिंता का निवारण करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं : 'हे सुदामा ! क्या तुम्हें वे दिन याद हैं जब हम बचपन में एक साथ खेलने जाते थे ?'

रा. द. क.

●

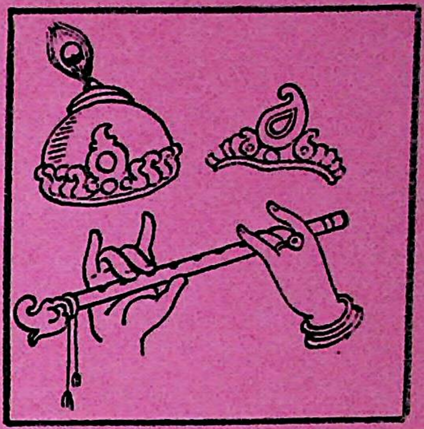

गुजरात में कृष्णभक्ति का विकास

—श्री के० का० शास्त्री
—डा० अंबाप्रसाद शुक्ल
—श्री लक्ष्मण पिंगलशी गढवी
—डा० रघुवीर चौधरी

गुजरात के कृष्ण-भक्त

—श्री के० का० शास्त्री
—श्री अंबाशंकर नागर
—डा० मणिभाई ई० प्रजापति
—श्री लक्ष्मण पिंगलशी गढ़वी
—डा० नरेश पंड्या
—डा० अंबाप्रसाद शुक्ल
—डा० रघुवीर चौधरी
—डा० (श्रीमती) अरुणा शुक्ला

गुजरात में कृष्णभक्ति का विकास

[गुजरात भगवान कृष्ण की ऐश्वर्यलीला की पुण्यभूमि रही है। मथुरा के बाद यही उनकी कर्मस्थली बनी थी। उसके स्मारक द्वारका, प्रभासपाटण तथा सुदामापुरी सहस्राब्दियों से कृष्णतीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हैं। मध्यकालीन भक्तों की अगाध कृष्णनिष्ठा के फलस्वरूप डाकोर तथा श्रीनाथद्वारा इनमें और जुड़ गये। श्रीमद्भागवत में भक्ति के ऐतिहासिक विकास के सिंहावलोकन के प्रसंग में 'गुर्जरे जर्जरां गता' का उल्लेख इस प्रदेश को दीर्घकालीन भक्ति-साधना का परिचायक है। कृष्णोपासना के इस अन्यतम उपजीव्य ग्रंथ का गुजरात में प्रचार दसवीं शताब्दी में हुआ। प्रसिद्ध है कि मूलराज सोलंकी ने भागवत महापुराण की ग्यारह सौ प्रतियां ब्राह्मणों को दान में देकर उसके लोकव्यापी प्रचार का उपक्रम किया था। परवर्तीकाल में निर्मित विपुल एवं उत्कृष्ट कृष्णभक्ति साहित्य इन परंपरागत प्रेरणाओं का ही प्रसाद था। —सं०]

प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर गुजरात में कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार ईसा की तेरहवीं-शती के उत्तरार्द्ध से परिलक्षित किया जा सकता है। बाघेला सारंगदेव का सन् १२९२ ई० का एक शिलालेख पाटण (महेसाणा जनपद) के निकटवर्ती अनावडा गांव से प्राप्त हुआ है। इसमें जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का 'वेदानुद्धरते' प्रतीक का दशावतार से सम्बन्धित श्लोक उत्कीर्ण है। किन्तु इससे पूर्व दीर्घकाल से भागवत-संप्रदाय (पांचरात्र अथवा सात्वत-मत) का इस प्रदेश में व्यापक प्रचार था, यह पांचवीं शताब्दी में निर्मित चतुर्भुज विष्णु के देवालयों के प्राप्त अवशेषों के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। जूनागढ़ के निकट पूर्व दिशा में गिरनार पर्वत की तलहटी में सोनरेखा नदी के दक्षिणी तट पर स्थित दामोदरजी के देवालय में राधा-दामोदर का प्रसिद्ध विग्रह प्रतिष्ठित है। इस मंदिर का निर्माण गुप्त-सम्राट् स्कंदगुप्त के समय में, उसके जूनागढ़ के अधिकारी चक्रपालि ने, सुदर्शन सरोवर के पूर्वभाग के ऊपर के स्थल पर, सन् ४५५ ई० में आरम्भ किया था तथा सन् ४५७ ई० में मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की थीं। इस मंदिर में उस समय के दो स्वरूप हैं। उनमें बड़े स्वरूप की बायीं ओर, दीवार के दक्षिण, पीठ देकर स्थित एक स्त्री-मूर्ति है। यह मूर्ति वस्तुतः लक्ष्मी की है, किन्तु गिरनारा ब्राह्मण 'राधा-दामोदर' को अपना इष्टदेव मानते हैं। ये लोग विष्णु को दामोदर और उनकी प्रिया लक्ष्मी को राधा स्वीकार करते हैं। इसलिए यहाँ चतुर्भुज त्रिविक्रम विष्णु को 'दामोदर' और उस पुरानी स्त्री-मूर्ति को 'राधा' कहा जाता है। यह स्पष्ट है कि दामोदर नाम तो भगवान् श्रीकृष्ण का ही है और यही नाम इस चतुर्भुज स्वरूप को दिया गया है। इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य एक और बात यह है कि राजस्थान में जोधपुर की उत्तर दिशा की ओर, कुछ किलोमीटर की दूरी पर स्थित मंदिर के टीले पर खड़ी दीवार पर, श्रीकृष्ण की बाललीला से सम्बन्धित उत्कीर्ण चित्र पांचवीं-छठी शताब्दी का माना जाता है। इससे यह प्रमाणित है कि पश्चिमी भारत में उस समय श्रीकृष्ण की भक्ति प्रचलित थी। उसका प्रसार सौराष्ट्र तक हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। सातवीं शताब्दी के आस-पास निर्मित 'स्कन्दपुराण' के 'प्रभासखण्ड' में प्रभासक्षेत्र के देवालयों के वर्णन मिलते हैं। इनमें भी अनेक देवालय चतुर्भुज विष्णु के थे, ऐसा अध्ययन से पता चलता है। प्रभास-पाटण (सौराष्ट्र का वर्तमान वेरावल) से पूर्व कुछ दूरी पर कदवार गांव में वराह का एक जीर्ण देवालय है जो संभवतः आठवीं शताब्दी का है। उसमें मण्डप के स्तम्भों पर दशावतार की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जिनमें कृष्ण की मूर्ति भी है।

मांगरोल से पचीस किलोमीटर की दूरी पर पोरबंदर के समुद्री किनारे पर श्रीमाधवरायजी तथा त्रिकमरायजी (दोनों त्रिविक्रम विष्णु) की भव्य मूर्तियाँ हैं। प्रभासपाटण में दैत्यसूदन के देवालय की भी मूर्ति इसी प्रकार की है। इन तीनों मूर्तियों के हाथ ऊपर उठे हुए हैं, यही इनकी विशेषता है। ये तीनों मूर्तियां बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी की हैं। इनमें माधवरायजी श्रीकृष्ण का ही नाम है जो मूलतः चतुर्भुज विष्णु को दिया गया है। बारहवीं शताब्दी के जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि ने अपने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' (संस्कृत-प्राकृत व्याकरण) के अंतिम अध्यायों में छह प्राकृत भाषाओं का व्याकरण दिया है। इसके अंतिम अध्याय के चौथे पाद में अपभ्रंश के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए दिये हुए अनेक पद्यों में राधा के नाम का निर्देश है। इन सबसे स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि १२वीं शताब्दी के पूर्व श्रीकृष्ण का माहात्म्य गुजरात, सौराष्ट्र तथा कच्छप्रदेश में व्यापक रूप से प्रसारित था।

नरसिंह मेहता (सन् १४१०-१४८० ई०) के पूर्व विरचित सुप्रसिद्ध जैनतीर्थंकर नेमिनाथ के संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश चरितों में श्रीकृष्ण का निर्देश, उनके काका (पितृव्य) के पुत्र के रूप में हुआ है। इसके अतिरिक्त जैन-महाभारत में भी श्रीकृष्ण का एक प्रतापी राजा के रूप में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। तात्पर्य यह कि बारहीं-तेरहवीं शताब्दी में इस भू-भाग के निवासी जैनों में भी श्रीकृष्ण की प्रसिद्धि थी। नरसिंह मेहता के पूर्व का भक्ति-साहित्य उपलब्ध नहीं है। किन्तु उसके सैकड़ों की संख्या में सुरक्षित पदों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण की भक्ति इस प्रदेश में बहुत पहले से प्रचार में थी।

मध्यकालीन गुजराती साहित्य में नरसिंह मेहता पहले व्यक्ति हैं जो दामोदर कृष्ण के उच्च कोटि के भक्त हैं। इन्होंने श्रीमद्भागवत और जयदेव के गीत-गोविन्द का भी अच्छा परिचय प्राप्त किया था तथा श्रीकृष्ण और राधा की लीला का वर्णन करते समय पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण और गर्गसंहिता का आधार लिया था, ऐसा उनके साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है। उनकी 'चातुरी-पचीसी' की प्रथम बारह चातुरियों में गीत-गोविन्द के राधा-कृष्णचरित्र का शृंखलाबद्ध निरूपण मिलता है, जब कि शेष तेरह स्वतंत्र हैं। श्रीकृष्ण को लेकर रचे हुए पदों, राससहस्रपदी और शृंगारमाला के छंदों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि वे एक निष्ठावान् कृष्णभक्त थे। उनके उत्तरकालोन कवि जनार्दन ने उषा-हरण (सन् १४९२ ई०) काव्य की रचना की है। उनके निकट परवर्ती भीम, मांडण, भालण आदि कवियों ने भी श्रीकृष्णविषयक उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं। नरसिंह मेहता से आरम्भ होनेवाले इस युग में अन्य कवियों के भी कृतित्व का महत्त्वपूर्ण अंश कृष्णविषयक है। इसीलिए गुजराती साहित्य के इतिहास में इस युग को 'आदि भक्तियुग' की संज्ञा दी गयी है। आयु में थोड़े-से बड़े नरसिंह मेहता के काका परबतदास (मांगरोल के सोरठ) भी कृष्णभक्त थे। उनके रचे हुए भक्ति-पद प्राप्त हुए हैं। भालण को छोड़कर शेष चारों भक्तकवियों ने द्वारका के श्री रणछोड़जी को संबोधित करते हुए पद-रचना की है। भालण के बालकृष्ण गोपालकृष्ण ही हैं। चरोतर के पाटीदार भक्तकवि कृष्णदास (श्री वल्लभाचार्यजी के तुरीय शिष्य तथा अष्टसखाओं में से एक) ने अपनी सैंकड़ों रचनाएँ व्रजभूमि में रहकर व्रजभाषा में की हैं। राजस्थान की मीरा (जो भालण की उत्तरकालीन थीं) के भी गुजरात में रहकर रचे हुए गुजराती पद विपुल संख्या में प्राप्त होते हैं। वह गिरिधरनागर कृष्ण को पति के रूप में मानती थीं। इस भावना का संकेत उनके पदों में मिलता है।

भीम कवि ने (जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है) 'हरिलीला-षोडशकला' (सन् १४८५ ई०) में समग्र भागवत की कथा को शृंखलाबद्ध आख्यान-पद्धति से सोलह कलाओं में विभक्त करके रचा है। उनके ५१ वर्षों बाद केशवराम कायस्थ द्वारा प्रभासपाटण में भागवत के दशम-स्कन्ध की लीला 'कृष्ण-क्रीडाकाव्य' (सन् १५३६ ई०) नाम से ऐसी ही आख्यान-पद्धति में लिखी गई थी। इन दो भक्तकवियों के बीच के समय

में १५०० ई० के आस-पास 'राहुलकान्ह' नामक भक्तकवि ने शार्दूलविक्रीडित छंद में गुजराती श्लोकों में कृष्णचरित्र की रचना की है तो उनके समकालीन गणदेवी के एक 'काकु-वसही' नामक भक्त ने शृंखलाबद्ध आख्यान-पद्धति में ६४० कडियों (चरणों) में कृष्णचरित्र गाया है। इन दोनों कवियों के समकालीन 'वासणदास' नामक भक्तकवि ने 'हरिचुआक्षरा' और 'कृष्ण-वृन्दावन-राधारास' की रचना की है, जिसमें एक सौ से अधिक शार्दूलविक्रीडित वृत्त प्रयुक्त हुए हैं।

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक दूसरे 'भीम' नामक पुष्टिमार्गीय वैष्णवकवि ने श्रीकृष्ण की लीला को विषय बनाकर 'रसिक-गीता' की रचना की है। सन् १५५३ ई० ब्रेहेदेव नामक भक्तकवि ने 'भ्रमरगीत' की रचना आख्यान-पद्धति में की है जिसका विषय उद्धव का व्रज की गोपियों को सांत्वना देना है।

श्री विट्ठलनाथ गुसांई के शिष्य रूपाल के गोपालदास की ऐतिहासिक कृति 'वल्लभाख्यान' श्रीकृष्ण और गुरु की भक्ति से ओत-प्रोत है।

सूरत के निवासी कायस्थ भगवानदास (सन् १६२७-१६९० ई०) पुष्टिमार्गीय वैष्णव थे। इन्होंने गुजराती एवं व्रजभाषा दोनों में कृष्णभक्ति के पद भावपूर्ण बनाये हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के अहमदाबाद के कवि 'अखा' ने 'स्वयं श्रीनाथजी व्यापी विलसी रहियो' टेक से से कृष्णभक्तिपरक पद रचे हैं।

पश्चिम सौराष्ट्र के माधवरायजी त्रिकमरायजी के देवालय में चार भक्तकवि हो गये हैं : लघु पीताम्बर (वल्लभाचार्यजी के ८४ शिष्यों में से एक, जो लोहाणा क्षत्रिय थे) कृष्णदास, दासभवान या भोवन दास और विजयो। इनके भावपूर्ण भक्तिपद श्रीमाधवरायजी और रुक्मिणी के विवाहोत्सव के अवसर पर प्रतिवर्ष (कार्तिक सुदी १२ और चैत्र सुदी १२ के दिन) आज भी गाये जाते हैं। भालण की तरह प्रेमानन्द भट्ट ने भी दशम स्कन्ध की अपूर्ण रचना की है जिसमें उन्होंने कुछ भक्तिपरक पद भी बनाये हैं। ज्ञानी भक्तों में मध्य गुजरात के प्रीतम कवि (सन् १७१८-१७९४ ई०) ने भी कृष्ण की लीला के पद गाये हैं।

प्रेमानन्द के समय के साथ 'आख्यान-युग' पूरा होता है। यहींसे संधि-काल के रूप में 'उत्तर भक्ति-युग' का प्रारम्भ होता है जो दयाराम और स्वामिनारायण सम्प्रदाय के भक्त कवियों के समय में समाप्त होता है। इस युग के आरम्भ (सन् १७०० ई०) से जामनगर के 'प्रणामी' सम्प्रदाय के प्रवर्तक एवं गुरु श्री प्राणनाथजी ने 'इन्द्रावती' उपनाम से भगवान् श्रीकृष्णकी विविध लीलाओं से सम्बद्ध भावपूर्ण पदों की रचना की है।

'सतपंथी' मुसलमान भक्तकवि राजे के रचे हुए ३२४६ पद प्राप्त होते हैं। अपनी रचनाओं की विशिष्टता के कारण ये नरसिंह और दयाराम से भी उच्च कोटि के कवि के रूप में मान्य हैं। अहमदाबाद के भक्तकवि पाटीदार रघुनाथ (जन्म सन् १७१९ ई०) ने व्रजभाषा के अष्टसखाओं (अष्टछापी भक्तों) के पदों का लालित्य गुजराती में उतारा है। उनके समकालीन रामकृष्ण भी उच्चकोटि के श्रीकृष्णभक्त थे। इन्होंने प्रचुर संख्या में भक्तिमयपदों की रचना की है। इसी अठारहवीं शताब्दी में विरचित पोरबंदर के पुष्टिमार्गीय आचार्य की पत्नी श्री शोभा माँजी के सुन्दर 'गरबा' भी इधर प्रकाश में आये हैं। इन्होंने इन गरबा गीतों की रचना 'हरिदास' उपनाम से की है। श्रीकृष्ण की रासलीला को केन्द्र में रखकर बनाये गये ये गरबे नवरात्र में गाये जाने के निमित्त रचे गये हैं।

जूनागढ़ में अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में नरसिंह मेहता के काका परबतदास के वंशज गायक-वाड़ी मजमूदार त्रिकमदास-भवानीदास वैष्णव अनेक भाषाओं को जाननेवाले अच्छे कवि हो गये हैं।

इन्होंने गुजराती में अनेक और उर्दू की परिपाटी में कुछ पदों की रचना की है। इनके गुजराती पदों की अंतिम पंक्ति में 'त्रिकमदास आशपरिपूरण' का उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट है कि ये कृष्णभक्ति में लीन होकर काव्यरचना करते थे।

जामनगर (सौराष्ट्र) के ध्राफा गांव के निकटस्थ धानाणी के 'आंबलडी' गांव के ब्राह्मण रणछोड़ भक्त (जन्म सन् १७३७ ई०) ने भी प्रचुर भक्तिगीतों धौल, ध्रुपद, धमार आदि की रचना की है। इनके विषय में इधर ही अनुसंधान हुआ है।

वल्लभ धोला (जन्म सन् १७०० ई० के आस-पास) मूलतः शक्ति के उपासक थे। इन्होंने माताजी के अनेक गरबे बनाये हैं, किन्तु 'व्रज-वियोग' शीर्षक एक गरबा भी रचा है जिसमें गोपिथों के कृष्णविरह का वर्णन है।

नर्मदातट-स्थित चाणोद के पार्श्ववर्ती डभोई में जाकर बसे हुए उच्चकोटि के पुष्टिमार्गीय भक्त-कवि दयाराम ने अपने पदों और गरबा-गरबियों से मध्य गुजरात की जनता को भक्तिभाव से आप्लावित किया है। उसी समय स्वामिनारायण वैष्णव-सम्प्रदाय के संस्थापक श्री घनश्याम (सहजानन्द स्वामी) के आठ शिष्य भक्तकवियों ने भी अपनी भक्तिभरी कविताओं से जनता के चित्त को रसमय किया है। इन आठों में से दो प्रेमानन्द 'प्रेमसखी' और ब्रह्मानंद मूर्धन्य भक्तकवि हैं जिन्होंने श्री सहजानन्द स्वामी को साक्षात् अक्षर-पुरुषोत्तम के रूप में प्रस्तुत किया है तथा भगवान् श्रीकृष्ण की लीला के सैकड़ों पद बनाये हैं। ये दोनों कृष्णभक्ति से रंगे हुए भक्त हैं।

उत्तर भक्तियुग को सर्वोत्तम उज्ज्वलता प्रदान करनेवाले चाणोद डभोई के भक्तकवि दयाराम ही है। इनके विषय में आगे विस्तार से चर्चा की जायगी। शुद्धाद्वैत-तत्त्वज्ञान और भक्तिमार्ग से सम्बन्धित काव्यग्रंथ, थोड़े-से आख्यान और सबल गद्य लिखनेवाले इस कवि ने भी विपुल संख्या में पद तथा गरबा-गरबियों की रचना की है। इनके कुछ पद परलक्षी हैं तो कुछ आत्मलक्षी। इनके गरबा परलक्षी हैं, किन्तु गरबी आत्मलक्षी हैं। गोपोभाव से इन्होंने छोटी-सी गरबी गायी है जो गुजराती साहित्य में अप्रतिम है। ये दोनों प्रकार की कृतियाँ नृत्तात्मक, अभिनेय तथा अत्यन्त प्रभावपूर्ण हैं।

अंत में एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि गुजराती भक्ति काव्य की प्रसिद्ध शैली 'गरबो' शब्द का इतिहास नरसिंह मेहता जितना ही प्राचीन है। उन्होंने अपने एक गरबा में इस शब्द का प्रयोग 'गोकुलनाथ गरबे रमे हते' कहकर किया है। भालण ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है, किन्तु उनके भावपूर्ण पदों में गरबा का प्रकार देखने को मिलता हैं। उनके बाद सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आविर्भूत भाणदास ने शक्तिमाता को केन्द्र में रखकर इकहत्तर गरबे लिखे हैं और 'माता गरबे रमे छे' इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग किया है। ये सब (गरबा) परलक्षी शैली के हैं। दयाराम के गरबा भी परलक्षी हैं, किन्तु कृष्ण से सम्बन्धित होने के कारण उनमें अनेक प्रकार के भाव मूर्त हुए हैं। इससे इनके ये 'गरबा' पूर्व के गरबा-गीतों से अलग पड़ जाते हैं।

के. का. शास्त्री

गुजरात और वल्लभ-संम्प्रदाय

आज जिसे गुजरात कहते हैं, एक हजार वर्षपूर्व उसका आकार इससे सर्वथा भिन्न था। अलबेरुनी के समय (१०वीं शताब्दी में) गुजरात आबू से लेकर जयपुर के बीच का प्रदेश माना जाता था। राजा मूलराज सोलंकी द्वारा ९४२ ई० में सारस्वत-मंडल (उत्तर गुजरात) पर अधिकार किये जाने के बाद ही इस

प्रदेश को 'गुजरात' की संज्ञा मिली। उनके परवर्ती राजा सिद्धराज जयसिंह ने १११६ ई० में सौराष्ट्र, कच्छ तथा मालवा को भी गुर्जर-प्रदेश में मिला लिया, किन्तु भोले भीमदेव के समय में स्थिति बदल गयी और गुजरात आबू के दक्षिणी भाग तक ही सीमित हो गया। गुजराती भाषा और साहित्य का आविर्भाव तथा विकास इसी उत्तरकालीन नये गुजरात में हुआ।

वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के पूर्व उत्तरी भारत के अन्य प्रदेशों की भाँति गुजरात में भी शैव तथा शाक्त साधनाओं का व्यापक प्रचार था। इनके अतिरिक्त जैनमुनियों का भी समाज के एक बृहत् अंश पर गहरा प्रभाव था। दोनों में बड़ा अंतर था। शैव-शाक्त साधनाओं में वामाचार हठयोग तथा ज्ञान की प्रधानता थी, किन्तु जैनमत के आचारशुद्धि और अहिंसा अनिवार्य अंग थे। इन परस्पर विरोधी साधनाओं के बवंडर में फँसी हुई किंकर्तव्यविमूढ़ जनता के मानस को वैष्णव भक्ति-आन्दोलन से एक नया प्रकाश मिला। गुजरात में इस दिव्य ज्योति का आगमन महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य के रूप में हुआ। महाप्रभु ने आराध्य के आदेशानुसार शताब्दियों पूर्व से प्रतिष्ठित भक्तिसाधना की इस केन्द्रस्थली में घूम-घूमकर भवग्रस्त जीवों के उद्धार-हेतु अपना संदेश जन-जन तक पहुँचाया। इसकी अपनी एक कहानी है।

पुष्टि-संप्रदाय के संस्थापक और शुद्धाद्वैत-दर्शन के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य जगत् के जीवों के उद्धार के लिए अत्यधिक चिंतित रहते थे। कहा जाता है कि उन्हें इस प्रकार दुःखी देखकर श्री ठाकुरजी प्रकट हुए और आचार्यजी से पूछा : 'तुम चितातुर काहे हो?' महाप्रभुजी बोले : 'जीव कौ स्वरूप तो तुम जानत हौ कि दोषयुक्त है। तो तुम सौ जीवन कौ संबंध कैसे होय?' तब श्री ठाकुरजी ने कहा : 'तुम (जा) जीव कौ नाम देउगे तिनकौ सकल दोष निवृत्त होइँगे, ताते तुम जीवन कौ अंगीकार करौ तथा जगत् में महात्मा जो जीव हैं, आप तिनको ब्रह्मसंबंध करावें तो लोक में जीव कौ दृढ़ विश्वास कोई एक को होय। ताते श्री ठाकुरजी के मुख ते ब्रह्मसंबंध की आज्ञा कराये। तामें जीवन कौ दृढ़ विश्वास कराये। जो श्री आचार्यजी को वचन दिये, जाकौ ब्रह्मसंबंध होइगो ताकौ न छोड़ेंगे। यह माहात्म्य जीवब्रह्मसंबंध करेंगे, ताते श्री ठाकुरजी सौ कहवाये।'[1]

ऊपर की घटना श्रावण शुक्ल एकादशी को मध्यरात्रि में घटित हुई थी। प्रातःकाल 'पवित्रा द्वादशी' थी। श्री महाप्रभुजी ने पवित्रा सिद्ध करके श्री ठाकुरजी को पहनाया तथा उसी समय 'सिद्धान्त-रहस्य' ग्रन्थ की रचना की। दामोदरदासजी थोड़ी दूरी पर सो रहे थे। आचार्यजी ने उनसे पूछा : 'दमाला![2] तैं कछु सुन्यौ?'

दामोदरदास ने कहा : 'महाराज! मैंने श्री ठाकुरजी के वचन सुने तो सही, परी समुझ्यौ नाहीं।'

आचार्यजी बोले : 'मोको श्री ठाकुरजी ने आज्ञा कीनी है जो तुम जीवन कौ ब्रह्मसम्बन्ध करवावो, तिनकौ हौं अंगीकार करूँगौ और जिनकौ तुम नाम देउगो तिनकौ सकल दोष निवृत्त होइगो। ताते ब्रह्मसम्बन्ध अवश्य करनौ।'[3]

प्रस्तुत प्रसंग से यह स्पष्ट विदित होता है कि बिना गुरु किये अथवा ब्रह्मसम्बन्ध करवाये दामोदरदासजी श्री ठाकुरजी के वचन सुन तो सके थे, पर समझ नहीं सकते थे। इसीलिए आचार्यश्री ने दामोदरदास

---

[1] 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', तामें दामोदरदासजी की वार्ता–१।

[2] आचार्यजी दामोदरदास को 'दमाला' कहते थे।

[3] 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', तामें दामोदरदासजी की वार्ता १-३।

को ब्रह्मसम्बन्ध के द्वारा प्रथम शिष्य बनाया। उक्त घटना इस दृष्टि से भी विशेष महत्त्व की है कि महाप्रभु को पुष्टि सम्प्रदाय की स्थापना की प्रेरणा इसी से मिली और संप्रदाय के सेवकों के वार्ता-साहित्य 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' का भी श्रीगणेश इसीसे हुआ। महाप्रभु वल्लभाचार्य और दामोदरदास का वार्तालाप तथा सत्संग, वार्ता-साहित्य की प्रथम वार्ता है। संप्रदाय में वार्ता-साहित्य का महत्त्व श्रीमद्भागवत एवं गीता से भी अधिक है। आचार्यजी महापुरुष थे। 'दमाला' के प्रति उनका वात्सल्यभाव दृढ़ तथा अगाध था। इसीसे आचार्यजी दामोदरदास (दमाला) से कहते हैं : 'दमाला ! यह मार्ग तेरेलिए प्रगट कियो है। भक्त बहुत हैं, परन्तु तेरे मैं बस हौं।'[1]

संप्रदाय में दामोदरदास 'ललिताजी' के स्वरूप माने जाते हैं। वे श्री ठाकुरजी को अत्यन्त प्रिय थीं। ललिताजी का सेवा भाव साम्प्रदायिक कीर्तन के एक पद में यथार्थ रूप से चित्रित है।[2]

आचार्यश्री ने श्रीमद्भागवत को पुष्टिमार्ग का धर्मग्रन्थ माना और विभिन्न प्रदेशों में पर्यटनकर अनेक स्थलों पर उसका प्रवचन तथा पारायण किया। तत्पश्चात् विद्वानों के साथ ब्रह्मवाद की चर्चाकर दिग्विजय किया, जिससे सारे भारत में उसके साथ पुष्टि-संप्रदाय का भी प्रचार हुआ। उन्होंने अपने शुद्धाद्वैत-दर्शन का आधार 'प्रमाण-चतुष्टय (वेद, गीता, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भागवत) को बताया और उसके विरोधी विद्वानों को परास्तकर अपना अनुयायी बनाया।[3]

महाप्रभुने गोवर्धन पर्वत पर अपने आराध्य श्रीनाथजी के लिए मन्दिर का निर्माण करवाकर उसमें उनकी मूर्ति प्रतिष्ठित की तथा उनकी चतुर्याम-सेवा की व्यवस्था की। इस मन्दिर की कीर्तन-सेवा आचार्यपाद ने श्रीकुंभनदास को सौंपी।[4] आराध्य के सामने इन्होंने ही सर्वप्रथम स्वरचित पद गाया।[5]

मन्दिर में विविध प्रकार की सेवाएँ वितरित करने के बाद उन्होंने पुष्टि-संप्रदाय के सिद्धान्तों की स्थापना और क्रमशः षोडश-ग्रन्थों की रचना की। आचार्यश्री ने श्रीकृष्ण को ही सत्-चित्-आनन्दमय परब्रह्म माना। इनकी दृष्टि से जगत् सत्य है। श्री शंकराचार्य की तरह ये उसको 'मिथ्या' नहीं मानते। माया के आवरण के कारण जीव दुःख प्राप्त करता है, परन्तु ब्रह्म-सम्बन्ध या नाम-निवेदन से वह परमानन्ददायिनी

---

१. 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', तामे दामोदरदास जी की वार्ता, १-३।

२. हँसि-हँसि दूध पीवत नाथ।
मधुर कोमल वचन कहि-कहि प्रानप्यारी साथ॥
कनक-कटोरा भर्यो अमृत दियौ ललिता हाथ।
लाड़ली अँचवाय पहले पाछे आप अघात॥
चिंतामनि चित बस्यौ सजनी निरखि पिय मुसकात।
स्यामा-स्याम की नवल छबि परि 'रसिक' बलि बलि जात॥

३. वेदा: श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधि-भाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्॥

४. 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', वार्ता ८३।

५. साँझ के साँचे बोल तिहारे।
रजनी अनत जागे नंदनंदन आये निपट सबारे॥
अति आतुर जु नीलपट ओढ़े पीरे बसन बिसारे।
'कुंभनदास' प्रभु गोवर्धनधर भले वचन प्रतिपारे॥

—'कीर्तन-प्रणाली के पद, पदसंख्या ४६७।

कृष्ण-भक्ति प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। जगत् के आविर्भाव और तिरोभाव के रहस्य को समझने के लिए भक्त या सेवक को 'अहम्' का त्याग तथा श्रीकृष्ण को सर्वस्व अर्पण करना पड़ता है। जगत् में वह जो कुछ कार्य करता है वह श्रीकृष्ण को अर्पण कर देता है। यही उसकी भक्ति है। इसीको 'आत्म-निवेदनासक्ति' कहते हैं जो उत्तम प्रकार की भक्ति है। सेवा के सम्बन्ध में आचार्यजी ने कहा है कि 'श्रीकृष्ण के लिए मानसी सेवा उतम है।'[1]

'पुष्टि' शब्द का अर्थ है 'पोषण' या अनुग्रह। श्रीमद्भागवत में कहा गया है : **पोषणं तदनुग्रहः**।[2] श्रुति में भी 'सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्' द्वारा' 'पुष्टि' शब्द का यही भाव बताया गया है। तात्पर्य यह है कि 'पुष्टि' शब्द हरि की कृपा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः जिसमें हरि की कृपा ब्रह्मसम्बन्ध या नाम-निवेदन के द्वारा प्राप्त होती है, उसे 'पुष्टि-सम्प्रदाय' कहते हैं।

आचार्यजी के लोक-विश्रुत आत्मज गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने पिता के द्वारा संस्थापित संप्रदाय को सुदृढ़ बनाया तथा 'चतुर्याम-सेवा' के स्थान पर 'अष्टयाम-सेवा' का आकर्षक स्वरूप प्रस्तुत किया। इसमें कीर्तन-सेवा को प्रधानता दी गयी है। इसलिए उन्होंने अपने पिता के चार शिष्यों—कुंभनदास, परमानन्ददास, सूरदास और कृष्णदास अधिकारी तथा अपने चार शिष्यों—चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी और नंददास, इन आठों को मिलाकर 'अष्टसखा' अथवा 'अष्टछाप' की स्थापना की। इनको अष्टयाम-सेवा में विविध अवसरों पर कीर्तन-सेवा सौंपी गयी। इसके फलस्वरूप परमानन्द और सूर ने 'सागर' का निर्माण किया जिसमें अवगाहनकर आज भी वैष्णवजन अपने को धन्य मानते हैं।

पुष्टि-संप्रदाय के अनुयायियों की संख्या बढ़ने पर उनके परितोषार्थ आचार्यश्री ने भारत-यात्रा की योजना बनायी। उन्होंने सम्पूर्ण भारत की तीन यात्राएँ कीं। आचार्यजी की इन यात्राओं का उद्देश्य अर्थ या यश प्राप्त करना नहीं था, किन्तु विभिन्न संप्रदायों के विद्वानों का समागम कर उनको शास्त्रार्थ के द्वारा अपने सिद्धान्तों को समझाना तथा बालकृष्ण की भक्ति का सच्चा स्वरूप बताकर जीवों का उद्धार एवं कल्याण करना था। इसमें तीर्थयात्रा तो गौण थी, वास्तविक उद्देश्य अपने मत का प्रचार करके भवग्रस्त जीवों को भगवदुन्मुख करना था।[3]

इस प्रकार देशाटन के माध्यम से महाप्रभु ने अपने प्रताप, विद्वत्ता, भक्ति और सुमधुर वाणी से तर्क एवं भावमय पद्धति द्वारा सम्पर्क में आनेवाले लोगों का हृदय जीतकर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पुष्टिमार्ग की महत्ता एवं प्रभुत्व का दर्शन कराया। इस प्रकार यात्रा करते हुए वे गुजरात की ओर भी आये।

श्री वल्लभाचार्यजी जब पहली बार गुजरात पधारे, तब वहाँ शैव, शाक्त, जैन आदि धर्मों का व्यापक प्रचार था। किन्तु इनमें सबसे अधिक प्रभाव शैवधर्म का था। शैवधर्म एक प्रकार से यहाँका राजधर्म था। गुजरात में इसके स्मारक अनेक शिवालय अबतक विद्यमान हैं। शिव के साथ सूर्यपूजा भी प्रचलित थी। मूळीगाँव (जिला : सुरेन्द्रनगर, सौराष्ट्र) में आज भी श्री मांडवराय (सूर्यनारायण) का विशाल मंदिर है। ये सूर्य-वंशियों के इष्टदेव थे।

---

१. 'कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता'—सिद्धान्त-मुक्तावली, श्लोक १।

२. श्रीमद्भागवत,–२.१०.४।

३. भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तस्थेन गदाभृता॥ —श्रीमद्भागवत १.१३.१०।

गुजरात की मध्यकालीन राजनीतिक परिस्थिति पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उसके अंतिम हिन्दूशासक राजा करण बघेला के बाद मुसलमानों की सत्ता दिन-प्रतिदिन दृढ़ होती गयीं। वे अपनी धर्मान्धता के कारण मंदिरों और मूर्तियों को तोड़कर हिन्दुओं की धार्मिक-भावना को ठेस पहुँचाते थे और उनको बलपूर्वक मुसलमान बनाते थे। हिन्दू-राजे पारस्परिक स्पर्धा तथा राग द्वेष से प्रेरित हो छोटी-छोटी बातों पर एक दूसरे से लड़ते रहते थे। इससे हिन्दूजनता के सामने अपने अस्तित्त्व तथा धर्म की रक्षा का प्रश्न प्रधान हो गया था।[१]

गुजरात की तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का अवलोकन करें तो पता लगेगा कि पूरा हिन्दू-समाज राजनीतिक अत्याचारों से निरंतर संत्रस्त रहता था। मुसलमानों से अपनी प्रतिष्ठा बचाने के लिए वे छोटी आयु में ही कन्याओं का विवाह कर देते थे। पुरोहितों और पंडितों की संकुचित तथा स्वार्थ पूर्ण मनोवृत्ति के कारण हिन्दुत्व का शीघ्रता से पतन हो रहा था।[२] गुजरात की ऐसी पतनोन्मुख सामाजिक परिस्थिति में ही महाप्रभु वल्लभाचार्य का वहाँ पदार्पण हुआ।

आचार्यजी सर्वप्रथम अंबिकावन से सिद्धपुर पधारे और बिंदु-सरोवर पर अपना डेरा डाला। उन्होंने अपने अन्तेवासी दामोदरदास से कहा : 'यहाँ पहले कर्दम ऋषि का आश्रम था तथा यहीं कपिलमुनि ने अपनी माता देवहूतिजी को सांख्यशास्त्र का ज्ञान दिया था। उस ज्ञान के प्राप्त होते ही देवहूतिजी इसी बिन्दु-सरोवर में प्रविष्ट होकर जलरूप हो गयीं थीं।[3]

यहाँ अद्वैतवादी ब्राह्मणों के साथ शास्त्रार्थ कर आचार्यश्री ने मायावाद का खंडन किया। ब्राह्मणों ने महाप्रभु से प्रश्न किया कि "शास्त्रानुसार 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' को सत्य मानें तो शालिग्राम के स्थान पर ब्राह्मणों की पूजा क्यों न की जाय?" इसका उत्तर देते हुए आचार्यश्री ने कहा : 'ब्राह्मणों की देह की पूजा नहीं होती। उनके संस्कार और विद्या की पूजा होती है। अतः केवल श्रीहरि ही पूजनीय हैं, अन्य नहीं।'

……

सिद्धपुर से आचार्यश्री बटेश्वर पधारे। फिर वहाँसे पाटण के लिए प्रस्थान किया। हाथों में सुवर्ण-दण्ड, पूजा की सामग्री, गोमुख, छत्र, पुस्तक, चामर, पादुका आदि लिये और शंखध्वनि करते हुए भगवत्सेवकों और शिष्यों के साथ श्रीविग्रह की शोभायात्रा पाटण नगरी के बीच से होती हुई एक सुंदर सरोवर के किनारे पहुँची। यहीं आचार्यश्री ने अपना डेरा डाला।

सिद्धपुर में श्री धनाचार्य सुंदरगुणी प्रतापसूरि, सौभाग्यसूरि प्रभृति जैनमुनियों के साथ आचार्यजी ने धर्मचर्चा कर उन्हें भक्ति की महिमा के साथ ही उसका सच्चा स्वरूप समझाया तथा यह भी बताया कि जो श्रीहरि को अपना सर्वस्व अर्पण कर आत्मनिवेदन करता है, वही भक्ति का अधिकारी बनता है। प्रमाण-चतुष्टय इस संप्रदाय के दर्शन का मुख्य आधार है।' इतना सुनने के बाद सभी मुनियों ने उनका सत्कार किया।

---

[१] श्रीवल्लभचरित्र, पृ० २।

[२] वही-पृ० ७।

[३] श्रीवल्लभचरित्र, प्रकरण ११।

अन्य स्रोतों में इसका भी उल्लेख मिलता है कि आचार्यजी द्वारका को जाते समय सिद्धपुर गये थे, जहाँ स्वामी रामानन्द के शिष्य वैष्णव राणा व्यास अपने अनुयायियों के साथ रहते थे। यहाँ आचार्यजी ने कुछ कालतक भगवद्-वार्ता की, फिर द्वारका की ओर अग्रसर हुए।[१]

पाटण से चलकर वे वडनगर पधारे। यहाँके निवासी नागर ब्राह्मण शंकर तथा भीमशंकर ने सधर्मी वैष्णवों को तुलसीमाला धारण करने का निषेध कर रखा था। आचार्यजी ने उनको बताया कि 'तुलसी-माला ब्रह्मस्वरूप होने से यज्ञोपवीत के रूप में पहननी चाहिए।' इससे अनेक नागर उनकी शरण में आ गये। आचार्यचरणों ने उनका ब्रह्मसंबंध कराया।

वड़नगर से चलकर आचार्यजी विशालनगर (बीसनगर) पहुँचे और बहुत से श्रद्धालुओं को नाम-निवेदन कराकर पुष्टिमार्ग का अनुयायी बनाया। यहाँ एक ब्राह्मणी को अपनी सेविका तथा अनेक लोगों को अनुयायी बनाकर वे डाकोर (डंकर्षि) पधारे। डाकोर में श्री रणछोड़जी (द्वारिकेशजी) के दर्शन कर गीता और भागवत का पारायण किया। उधर से नर्मदातटस्थ व्यास-आश्रम में श्री व्यासजी से भेंट करके वे भृगुकच्छ (भड़ौच) गये तथा वहाँके ब्राह्मणों को श्रीकृष्ण का परब्रह्मस्वरूप समझाकर अपना सेवक बनाया। भड़ौच में आज भी आचार्यजी की बैठक है।

भड़ौच से महाप्रभु अश्विनीकुमार-क्षेत्र सूरत गये। उनकी प्रतिभा तथा आध्यात्मिक तेज देखकर अनेक गुजराती अनुयायी बन गये। वहाँसे दुर्वासा-क्षेत्र (डुमस) होते हुए भाणखेतर होकर वे कपिलक्षेत्र (कवी) आये और अनेक लोगों को दीक्षा देकर कृतार्थ किया। वहाँसे चलकर रास्ते में त्रगडी गाँव में ब्राह्मणों को उपदेश देकर द्वारका की ओर अग्रसर हुए। किन्तु द्वारका न जाकर सीधे प्रभासक्षेत्र पहुँचे, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना देहोत्सर्ग किया था और श्री बलरामजी शेषस्वरूप धारण कर अपने धाम गये थे। यहाँ भागवत का पारायण करके सोमनाथ (वेरावल) गये जहाँ बहुत-से ब्राह्मणों की हरिभक्ति का मर्म समझाकर वैष्णव बनाया। सोमनाथ से जूनागढ़ के निकटस्थ गिरनार पर्वत पर गये और गोरख पंथी योगियों से धर्मचर्चा की। आगे चलकर वे द्वारका के पास मूल गोमती पहुंचे और एक संन्यासी को उपदेश देकर भागवत-सप्ताह किया। बाद में द्वारकेशजी के दर्शन को पधारे। वहाँ भगवान् को माला और भेंट अर्पित करके विधिवत् पूजन किया।

द्वारका से शंखोद्धार होकर श्रीचरण खंभालिया (जाम) गये, जहाँ एक प्रेत का उद्धार किया। उधर से कच्छ में स्थित नारायण-सरोवर पधारे। वहाँ उन्होंने मार्कंण्डेय ऋषि के आश्रम के पास एक वृक्ष के नीचे कथा-वार्ता की। यहाँ दो पुष्करणा ब्राह्मण वादो और वालो आचार्य की शरण में आये। उनको ब्रह्मसंबंध कराकर अपनी शरण में लिया। नारायण-सरोवर से आचार्यजी सिंध की ओर प्रस्थान कर गये। इस प्रकार उनकी गुजरात की प्रथम यात्रा समाप्त हुई।

दूसरी यात्रा के समय श्री महाप्रभु पंढरपुर से गुजरात की तापी नदी पारकर नर्मदा के किनारे के तीर्थों का दर्शन करते हुए अहमदाबाद के नरोडा गाँव में गोपालदास के घर पधारे और उनको ब्रह्मसंबंध कराकर अपना कृपापात्र बनाया। यहाँसे सुदामापुरी (पोरबंदर) होकर द्वारका गये, जहाँ भगवानदास द्विवेदी और माधवदास उनके शरणागत हुए। पोरबंदर से वे नागमती नदी के किनारेस्थित नवानगर

---

[१] 'शुद्धाद्वैत और भक्ति-मार्तंड' (मासिक अंक) सं० १९८३ ज्येष्ठ, वर्ष २, अंक ३।

आये और भागवत-सप्ताह किया। यहाँ राजा तपासी उनके दर्शन को आये और अपने अनेक अनुयायियों के साथ शिष्य बन गये। नवानगर से आचार्य चरण मोरध्वज राजा के गाँव मोरवी गये, जहाँ पुराकाल में श्रीकृष्ण पधारे थे। यहाँ भागवत-सप्ताह करके अहमदाबाद होकर सिद्धपुर के बिंदु-सरोवर पर आये। वहाँ पुत्र की कामनावाले दंपति को आशीर्वाद देकर पुष्करक्षेत्र की ओर चले गये। गुजरात की दूसरी यात्रा यहीं पूरी हुई।

श्री वल्लभाचार्यजी ने विवाह के बाद गुजरात की अपनी तीसरी यात्रा प्रारंभ की। तीसरी बार जब ये गुजरात आये तो पंढरपुर से रेवा-(नर्मदा) तटस्थ अनेक तीर्थों का दर्शन करते हुए खेरालु पहुँचे। वहाँ जगन्नाथ जोशी और उनके भाइयों को भक्ति का स्वरूप समझाकर उनको अपनी पादुका दी। आज भी जगन्नाथ जोशी के वंशजों के घर पर आचार्यजी की पादुकाएँ विद्यमान हैं। खेरालु से रूपालु होकर वे नरोडा पधारे।

नरोडा में गोपालदास के यहाँ भागवत-सप्ताह का आयोजन कर महाप्रभु ने अनेक जिज्ञासुओं को अपनी शरण में लिया तथा भक्ति का उपदेश दिया। नरोडा में भी आचार्यजी की बैठक है। उधर से राणा व्यास के यहाँ गोधरा आकर उनको भक्ति का उपदेश दिया और भागवत का पारायण किया। इसके स्मारक रूप में आचार्यजी की बैठक यहाँ स्थापित है।

गोधरा से उज्जैन होकर महाराजश्री द्वारका पधारे और वहाँसे कच्छ-भुज होकर उत्तर की ओर चले गये। इसी क्रम में महाप्रभु कुरुक्षेत्र होकर द्वारका आये और रणछोड़जी का दर्शन किया। उन्होंने द्वारका में गोविंद दवे नामक साचोरा ब्राह्मण को अपनी शरण में लेकर ब्रह्मसंबंध कराया। द्वारका से प्रस्थान कर वे नरोड़ा गये और गोपालदास पर अनुग्रह किया। यहाँ 'नवरत्न' ग्रन्थ की रचना कर उसके पाठ की सेवा उसे सौंपी। फिर अरैल (प्रयाग) चले आये। यहाँ कुछ दिन निवासकर अनुयायियों को सेवा का स्वरूप तथा 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मंत्र का महत्त्व समझाया।'

'निजवार्ता' से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि आचार्यजी रणछोडजी के दर्शन के लिए सिद्धपुर होते हुए द्वारका पधारे थे।[1] वहाँ एक ब्राह्मण ने बताया कि भक्त बोडाणा द्वारकेशजी को डाकोर ले गया है, इससे मंदिर खाली है। यह सुनकर महाराजश्री चिंतित हुए, किन्तु द्वारकेशजी ने उनको दर्शन देकर चिन्ता दूर कर दी।[2]

इसके बाद आचार्यश्री अहमदाबाद होकर रूपालु गाँव गये जहाँ इनकी बैठक आज भी है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में भी आचार्यश्री की गुजरात-यात्रा के विवरण के साथ इस तथ्य का उल्लेख मिलता है कि सूरत, भड़ौच, मोरवी, नवानगर, खंभालिया, मूल गोमती, द्वारका, शंखोद्धार, नारायण-सरोवर (कच्छ), जूनागढ़, प्रभासक्षेत्र (वेरावल-सोमनाथ), माधवपुर, त्रगडी, नरोडा, गोधरा, खेरालु, सिद्धपुर आदि स्थानों पर श्री महाप्रभुजी ने भागवत-पारायण किये थे और अपनी बैठकों की स्थापना की थी।

---

[1] १. निजवार्ता १७।

[2] २. निजवार्ता १८।

श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने 'दि गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है : "पुष्टि-संप्रदाय में से भक्ति की एक लहर उत्पन्न हुई जो सारे गुजरात में फैल गयी। सन् १४७७ ई० में जन्मे एक तेलगु ब्राह्मण ने इसका उत्तर में प्रचार किया। उन्होंने सारे भारत की यात्रा कर अपने संप्रदाय एवं सिद्धान्तों का उपदेश किया और वे इसके लिए गुजरात भी आये। उन्होंने व्रज में श्रीनाथजी के मंदिर की स्थापना की थी। उनका उद्देश्य भक्ति का प्रचार करना था।"

आचार्य वल्लभ के सुपुत्र श्री विट्ठलनाथजी ने अपने पिता द्वारा स्थापित संप्रदाय को अधिक लोकोपयोगी एवं आकर्षक बनाकर उसका व्यापक प्रचार किया। वे रासलीला में भाग लेकर स्वयं कृष्ण बनते थे।

श्री विट्ठलनाथजी ने गुजरात में आकर विशाल शिष्य-परम्परा का प्रवर्तन किया। इसकी पुष्टि गोपालदास के 'वल्लभाख्यान' से होती है। फलतः वैष्णवधर्म गुजरात के कोने-कोने में फैल गया। सोलहवीं शताब्दी में वृन्दावन से भक्ति की जो लहर गुजरात में आयी, उसके परिणामस्वरूप नरसिंह मेहता, दयाराम आदि भक्त-कवियों ने प्रचुर मात्रा में काव्य-रचना कर गुजराती साहित्य की श्रीवृद्धि की। इससे भागवत में वर्णित प्रेमाभक्ति सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य तथा आस्वाद्य हो सकी। इसीलिए भक्तशिरोमणि दयाराम का उद्घोष है :

श्रीवल्लभ-आश्रय बिना, साधन धर्म अशेष।
साध्ये हरि केवल भजे, लीलामा न प्रवेश ॥[1]

गुजरात के प्रसिद्ध विवेचक तथा संशोधक श्री के० का० शास्त्री महाप्रभुजी के विषय में लिखते हैं[2] :

"श्रीवल्लभाचार्यजी के तीन और गुजराती शिष्य हैं जिनकी व्रजभाषा में लिखित पद-रचनाएँ मिलती हैं।

पहले शिष्य, अहमदाबाद के पास के गाँव के साँचोरा ब्राह्मण भगवानदास थे। इनकी श्रीविट्ठल की प्रशस्ति में दो पंक्तियाँ मिलती हैं :

श्री विट्ठलेशचरनकमल पावन त्रैलोक्य-करन।
दरस परम सुन्दर वर वार वंदे ॥

दूसरे शिष्य, अहमदाबाद के पास के नरोडा गाँव के क्षत्रिय गोपालदास थे। इनके 'चोखरे' व्रजभाषा की विशिष्ट पद-रचनाएँ हैं, जो पुष्टिमार्गीय मंदिरों में विभिन्न उत्सवों पर गायी जाती हैं।

तीसरे शिष्य, रामदास मुखिया साँचोरा ब्राह्मण थे जो अहमदाबाद के किसी गाँव के थे। इनके भी पद मिलते हैं।"

श्री विट्ठलनाथजी के प्राकट्य के अनंतर भी महाप्रभु आचार्यजी गुजरात पधारे थे।

---

[1] पुष्टिपथ-रहस्य : कवि दयारामकृत।

[2] राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा द्वारा प्रकाशित 'रजतजयन्ती ग्रन्थ' के अन्तर्गत 'गुजरात की हिन्दी को देन', —लेखक : श्री के० का० शास्त्री।

आचार्य विट्ठलेश के गुजरात आने और संप्रदाय का सुदृढ प्रचार करने के सम्बन्ध में स्वामिनारायण सम्प्रदाय की 'शिक्षापत्री' में श्री सहजानंद स्वामी लिखते हैं :

सर्ववैष्णवराज-श्रीवल्लभाचार्य-नन्दनः ।
श्रीविट्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सवनिर्णयम् ॥
कार्यास्तमनुसृत्यैव सर्व एव व्रतोत्सवाः ।
सेवा रीतिश्च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि ॥[१]

महाप्रभु वल्लभाचार्य के बाद श्रीविट्ठलनाथजी ने स्वधर्मप्रचारार्थ गुजरात की छह यात्राएँ (संवत् १६१३, १६१६, १६१७, १६२३, १६३१ और १६३८ में) कीं। पूरे भारतवर्ष में उनकी ३८ बैठकें हैं। उनमें से गुजरात में उनकी छह बैठकें हैं : गोधरा, आमीणा, असाखा, खंभात, जामनगर, द्वारका तथा द्वारका के पास रायजी मन्दिर में। उन्होंने अपनी यात्रा के समय विभिन्न वर्णों और वर्गों के अनेक सेवक बनाकर अगणित जीवों का उद्धार किया।

श्रीगोपीनाथ और पुरुषोत्तमनाथजी के स्वर्गस्थ होने के बाद श्रीविट्ठलेश की प्रथम गुजरात-यात्रा सं० १६१३ में हुई। इसके पश्चात् दूसरी बार वे सं० १६१६ में अहमदाबाद, खंभात और गोधरा आये और संप्रदाय का प्रचार किया। यहाँ उन्होंने साठोदरा ब्राह्मण नागजी भट्ट को ब्रह्मसंबंध कराया और सेवा पधरायी। इसके बाद जहाँ-जहाँ श्रीविट्ठल पधारे, वहाँ नागजी भट्ट उनके साथ गये। भट्टजी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे और संप्रदाय के सिद्धान्तों के अच्छे ज्ञाता तथा विशिष्ट व्याख्याता थे।

गुजरात में श्रीविट्ठलनाथजी को संप्रदाय के प्रचार में सहायता करनेवाले भक्तों में अहमदाबाद के समीपस्थ असाखा के निवासी भाइला कोठारी मुख्य थे। उनके दामाद गोपालदास ने 'वल्लभाख्यान' अपने मुख से गाया और वह संप्रदाय की प्रसिद्ध रचना बनी। कहते हैं कि उन्होंने रासलीला का दर्शन किया था तथा उनके हृदय में आचार्यजी का स्वरूप विराजमान रहता था। ये श्री गुसांईजी महाराज के परम कृपापात्र थे। कहा जाता कि अपने पिछले जन्म में ये नरसिंह मेहता थे। श्रीविट्ठलेश ने गुजरात में संप्रदाय का इतना व्यापक तथा सुदृढ़ प्रचार किया कि संवत् १६३४ में इनको 'गोस्वामी' नाम से विभूषित किया गया। तबसे ये 'गुसांई जी महाराज' नाम से अभिहित किये जाने लगे।[२]

श्रीविट्ठलनाथजी के पश्चात् श्रीगोकुलनाथजी भी गुजरात आये। इस विषय में 'धोल-पद-संग्रह' के आमुख में प्रो० चंपकलाल सी० नायक लिखते हैं : 'श्रीमद्वल्लभाचार्यजी श्रीमद्विट्ठलेशजी और श्रीगोकुलेशजी प्रभु ने गुजरात पधारकर अनेक सौभाग्यशाली जीवों को अपनी शरण में लिया। उसके बाद श्रीवल्लभ-वंश के समर्थ और प्रतापी गोस्वामी बालकों ने गुजरात और सौराष्ट्र के कोने-कोने में जाकर पुष्टि-भक्ति-रस की अद्भुत व र्षा की। इसके फलस्वरूप गुजरात-सौराष्ट्र में अनेक भावुक भक्तहृदयों की उत्सवों, त्यौहारों, जन्म-बधाइयों और मांगलिक प्रसंगों पर पद गाने की रसवृत्ति का पोषण प्राप्त हुआ तथा गुर्जर लोक-संगीत में विविध राग-रागिनियों में धोळ, रस, गरबी, पद आदि का सर्जन हुआ।'

---

१. श्रीस्वामिनारायण-संप्रदाय शिक्षापत्री : श्लोक ८१, ८२।

२. विट्ठलेस्वर—(अंग्रेजी लेख) सद्गत एम० टी० तेलीवाला : 'शुद्धाद्वैत और भक्तिमार्तण्ड' (मासिक) सं० १९८४ मार्गशीर्ष, वर्ष २, अंक, ९।

श्रीगोकुलनाथजी के बाद श्रीहरिरायजी भी गुजरात पधारे और उन्होंने सांप्रदायिक सिद्धान्तों का उपदेश किया। उन्होंने वार्ता-साहित्य की महिमा और रहस्य समझाया तथा अनेक लोगों को संप्रदाय में दीक्षित किया। गुजरात में उनकी तीन बैठकें हैं : डाकोर, सावली (बड़ौदा के पास) और जंबुसर। इन तीनों स्थानों पर उन्होंने भागवत का पारायण किया था।[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्यजी के आगमन के बाद ही गुजरात में भक्ति की तरंगें स्वतंत्र एवं सुचारु रूप से लहराने लगीं जिनमें मज्जन कर अनेक वैष्णवों ने अपने को कृतार्थ किया। श्रीविट्ठलनाथजी ने अष्टयाम-सेवा को व्यवस्थित एवं कलात्मक स्वरूप देकर संप्रदाय के सिद्धान्तों और भक्ति को अत्यधिक व्यापक स्वरूप प्रदान किया। इससे विभिन्न जातियों के अनेक सेवक बने और पुष्टि-संप्रदाय गुजरात के कोने-कोने में फैल गया। श्रीगोकुलनाथजी ने संप्रदाय के वार्ता-साहित्य को भागवत से भी अधिक महत्त्व दिया और उसका मनोयोगपूर्वक प्रचार एवं प्रसार किया। इसके फलस्वरूप पिछले ५०० वर्षों में विभिन्न जातियों के लोग नाम-निवेदन अथवा ब्रह्मसंबंध प्राप्तकर वैष्णव बने और काव्यरचना तथा कीर्तन के माध्यम से उन्होंने भक्ति का प्रचार किया। आज कदाचित् ही गुजरात का ऐसा कोई भूभाग या स्थान मिले, जहाँ कोई पुष्टिमार्गीय भक्त या पूजास्थल न हो।

गुजरात को भगवान् कृष्ण की उत्तरवर्ती जीवनलीला का मुख्य केन्द्र होने का सौभाग्य प्राप्त रहा है। द्वारका तथा प्रभास-क्षेत्र इसके मुख्य केन्द्र रहे हैं, जहाँ प्रतिवर्ष हजारों लोग भारत के सुदूर प्रदेशों से दर्शन के लिए जाते हैं। तीसरा बड़ा तीर्थ डाकोर है जहाँ भक्त बोडाणा श्रीद्वारिकेशजी को बैलगाड़ी में बिठाकर ले गये थे। यहाँ भगवान् कृष्ण 'रणछोड़' नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका दर्शन तथा आराधना कर श्रद्धालु भक्त अपनी भावना और मान्यता के अनुसार अभीष्ट प्राप्तकर कृतार्थ होते हैं। इनके अतिरिक्त अहमदाबाद में श्रीनटवरलाल श्यामलालजी का मन्दिर, असाखा की श्रीगुसांईजी महाराज की बैठक, तुलसी-श्याम, जूनागढ़, बड़ौदा, सूरत, प्राचो (वेरावल के निकट गिर के जंगल में स्थित) आदि अनेक स्थान हैं जहाँ प्रतिवर्ष हजारों भक्त तीर्थयात्रा के लिए जाते हैं।

गुजरात के ये कृष्णतीर्थ उत्तर भारत के मथुरा-वृंदावन की भाँति ही श्रद्धालु गृहस्थों तथा सांप्रदायिक भक्तों के लिए अनादिकाल से अखण्ड प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। श्रीवल्लभाचार्य और उनकी परंपरा के महापुरुषों के अथक प्रयास से इस प्रदेश के बहुसंख्य जनसमुदाय के मानस में भक्ति-दीप प्रज्वलित हुआ जिसने उनके जागतिक जीवन को ही उल्लास तथा प्रकाशमय नहीं बनाया, अपितु उनका संस्कार मार्जन करके परमार्थ-पथ भी प्रशस्त कर दिया। महाप्रभु वल्लभाचार्य और पुष्टि-संप्रदाय की यह देन गुर्जर धर्म-साधना के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी।

डा० अंबाप्रसाद शुक्ल

चारण-कवियों की राधा-कृष्ण-भक्ति :

'चारण' शब्द का प्राचीनतम उल्लेख यजुर्वेद के २६वें अध्याय की दूसरी ऋचा में हुआ है :

यथेमां वाचं कल्याणीमापदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय चारणाय च॥

---

[1] 'निजवार्ता' 'घरुवार्ता', चौरासी वैष्णवन के चरित्र तथा २८ बैठकें, 'श्रीगोकुलनाथजी और श्रीहरिरायजी के बैठकन के चरित्र' पृ० ३२६।

इस ऋचा द्वारा चारों वर्णों से भिन्न उद्‌गमवाली एक विशिष्ट 'चारण'-जाति का पता चलता है। 'चारण' शब्द प्रेरणार्थक 'चर' धातु से बना है : 'चारयन्ति कीर्ति, विद्यां, ज्ञानं वा इति चारणः' अर्थात् कीर्ति, विद्या तथा ज्ञान का प्रचार करने के कारण इस जाति को 'चारण' संज्ञा मिली।

धर्म-नीति तथा राज-नीति के विवेकी के रूप में, सत्य के आग्रही और संयमशील के रूप में एवं राज्यव्यवस्था के अन्तर्गत राजा तथा प्रजा के बीच सनातन सम्बन्ध सुदृढ़ करने की दृष्टि से चारण-कुल भारतवर्ष का संस्कारसम्पन्न कवि-कुल है। चारणों द्वारा रचा गया साहित्य भारतवर्ष के साहित्य और इतिहास की अमूल्य धरोहर है।

चारणों का कृष्ण-भक्ति-साहित्य :

चारण-कुल ने परमतत्त्व की उपासना के साथ ही भारत-भारती के चरणों में असंख्य कवियों की भेंट अर्पित की है। साथ ही परमतत्त्व की आराधना भी की है। इन कवियों ने वीरकाव्य की भाँति ही कृष्ण-भक्ति-विषयक विपुल साहित्य प्रस्तुत किया है। इनकी जन्म तथा कर्मभूमि गुजरात और राजस्थान में वैष्णव-सम्प्रदायों का विशेष प्रभाव रहा है। इसके फलस्वरूप चारण-कवियों का उनसे प्रभावित होना स्वाभाविक था। इस दिशा में इस जाति की परंपरागत आस्तिकता तथा अनन्यनिष्ठा सहायक हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

चारण-कवियों द्वारा रचित कृष्ण-भक्ति-काव्य को देखने से उसकी दो प्रमुख विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। पहली विशेषता तो यह है कि कितने ही चारण-कवियों ने कृष्ण-भक्ति-साहित्य का सृजन उसी रीति से किया है जिस रीति से उसका वर्णन धर्मग्रन्थों, शास्त्रों, पुराणों, महाकाव्यों आदि में मिलता है। अर्थात् श्रीकृष्ण को परात्पर ब्रह्म मानकर उनके प्रति आदर, भय, समर्पण, तन्मयता आदि के विविध भाव धर्म के विविध पंथों में जिस प्रकार निरूपित हैं, वैसा ही वर्णन इन कवियों ने भी किया है।

दूसरी विशेषता है, चारण-कवियों द्वारा लोक-जीवन के विविध स्वरूपों तथा पक्षों को अभिव्यक्त करनेवाली कृष्ण-कथाश्रित काव्यकृतियों की रचना। ऐसी रचनाओं में चारण-कवियों ने अपने समाज को, उसके वातावरण को एवं अपने जीवन की सिद्धि तथा मर्यादा को अभिव्यक्ति दी है। इससे लोक-जीवन के विविध रूप भी उसमें प्रकट हुए हैं। श्रीकृष्ण के श्रीराधा, रुक्मिणी, गोपांगनाओं, नंद-यशोदामाता, जाति-बन्धुओं आदि के साथ सम्बन्धों का वर्णन सामाजिक जीवन के निश्चित मूल्यों के प्रकाश में इन कवियों ने जिस प्रकार किया है, वह अत्यन्त वास्तविक और जीवन्त है।

इन दोनों विशेषताओं से परिपूर्ण, चारण-कवियों की काव्यरचनाओं का किंचित् रसास्वादन उनके परिचय के साथ उद्धृत काव्यांशों द्वारा किया जा सकता है।

कृष्णभक्ति-साहित्य में चारण-कवियों की रचनाओं का विशेष महत्त्व दो कारणों से है : प्रथम यह कि इनकी ओजःपूर्ण कृतियों ने गुजराती ही क्या, समस्त भारतीय कृष्ण-वाङ्मय की एतद्विषयक न्यूनता को वीर, रौद्र आदि रसों की योजना द्वारा प्रभावी ढंग से पूरा किया है। दूसरा यह कि केवल वात्सल्य तथा शृंगार के आत्मानुभूतिव्यंजक अथवा आत्मलक्षी भावों और उनसे सम्बद्ध लीलाओं के वर्णन तक सीमित न रहकर इन कवियों ने कृष्ण-चरित्र का चित्रण समकालीन समाज के व्यापक सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में किया है। इससे वह केवल साधकों के लिए ध्येय और गेय न रहकर सहृदयमात्र के लिए आकर्षक और सुसंवेद्य बन गया है।

लक्ष्मण पिंगलशी गढवी

श्रीकृष्णोपासना में नवोन्मेष : स्वामिनारायण-सम्प्रदाय

[उत्तर-मध्यकालीन गुजराती जनजीवन को कृष्णभक्ति की ऊर्मियों से प्लावित कर आध्यात्मिक जागृति के साथ ही सामाजिक चेतना के प्रकाशमय पथ पर अग्रसर करने में स्वामिनारायण-सम्प्रदाय की उल्लेखनीय भूमिका रही है। श्रीजी महाराज (स्वामी सहजानंद) और उनके दीर्घदर्शी शिष्यों-प्रशिष्यों ने पूरे प्रदेश में घूम-घूमकर अपने चारित्रिक आदर्श, सरस पदों तथा प्रवचनों द्वारा जो भक्ति-मंदाकिनी प्रवाहित की, उससे अपूर्व शांति तथा तृप्ति प्राप्तकर असंख्य जीव कृतकृत्य हो गये। परंपरागत भक्तितत्त्वों को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार नये रूप में प्रस्तुत कर सर्वग्राह्य बनाने की दिशा में इस प्रबुद्ध सम्प्रदाय के धर्माचार्यों तथा संतों का प्रयास सर्वथा अभिनंदनीय रहा है। —सं०]

[1]इन संत-कवियों ने श्रीजी महाराज के उपदेश में निहित आचार-धर्म तथा दार्शनिक सिद्धान्तों को कविता के माध्यम से व्यक्त किया है। कविता सिद्ध हुई यह दूसरी बात है, इनका लक्ष्य कविता-सिद्धि नहीं था, तत्त्वदृष्टि अवश्य थी। अतः श्रीजी महाराज द्वारा प्रबोधित प्रगट की उपासना के विषय में संक्षिप्त जानकारी यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगी।

श्री लोया के 'वचनामृत' (१४) में श्रीजी ने कहा है :

"हम यह जानते हैं कि भगवान् के जो अवतार हो चुके हैं, वे सब नारायण के ही अवतार हैं; फिर भी इन अवतारों में हमें ऋषभदेवजी अत्यधिक प्रेमास्पद लगते हैं। उनसे कुछ न्यूनरूप में कपिलजी और दत्तात्रेय एक समान मालूम होते हैं। इन तीनों ही अवतारों की अपेक्षा करोड़ों गुना प्रेम हमें श्रीकृष्ण से है। हम तो यह मानते हैं कि अन्य समस्त अवतारों की अपेक्षा यह अवतार अत्यन्त महान् है तथा यह अधिक सामर्थ्यवान् भी है। इसमें अवतार तथा अवतारी का कोई भी भेद नहीं है। भगवान् के मत्स्य, कच्छपादि अन्य अवतार भी हैं, परन्तु उनमें हमारी अधिक रुचि नहीं है।

इस प्रकार हमारी तो यह उपासना है कि सबसे परे एक विशाल तेजपुंज है, जो नीचे-ऊपर और चारों ओर प्रमाणरहित तथा अनन्त है। उसी तेजपुंज के मध्यभाग में एक बड़ा सिंहासन है, उसके ऊपर दिव्यमूर्ति श्री नारायण पुरुषोत्तम भगवान् विराजमान हैं। उस सिंहासन के चारों ओर अनन्तकोटि मुक्त बैठे हुए उन नारायण के दर्शन करते रहते हैं। इन मुक्तों के सहित जो नारायण हैं, उन्हें हम निरन्तर देखते रहते हैं।"

(पृ. २६९, वचनामृतम्')

यहाँ तीन महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं :

(१) श्रीकृष्ण में अवतार-अवतारी का भेद नहीं है।

(२) तेजपुंज के मध्य श्रीनारायण विराजमान हैं।

(३) मुक्तों के सहित श्री नारायण को श्रीजी महाराज निरन्तर देखते हैं।

यहाँ श्रीकृष्ण के अवतार को सर्वाधिक महत्त्व देकर अन्यत्र श्रीकृष्ण से परम आत्मीयता तथा अभेद सिद्ध करके अपने भक्तों को विकल्प दिया है :

---

१. 'रंगभर सुन्दर श्याम रमे' : संपादक डा० रघुवीर चौधरी' से साभार।

"मेरी इन्द्रियों की वृत्ति प्रतिलोम होकर हृदय में स्थित आकाश में सदैव व्याप्त रहती है। उस हृदयाकाश में अतिशय तेज दिखायी पड़ता है। जैसे वर्षाकाल में बादल आकाश में छाये रहते हैं, वैसे ही मेरे हृदय में तेज ही तेज व्याप्त रहा है। उस तेज में एकमात्र भगवान् की मूर्ति ही दिखाई पड़तो है, जो अत्यन्त प्रकाशमान है। यद्यपि वह घनश्याम मूर्ति है, तथापि वह अतिशय तेज के कारण श्याम नहीं प्रतीत होती; बल्कि अत्यन्त श्वेत दीख पड़ती है।....उस मूर्ति को हम प्रकट प्रमाण रूप में अभी भी देखते हैं, सत्संग में नहीं आये थे, तब भी देखते थे, माता के गर्भ में स्थित रहने पर भी देखते थे, गर्भ में आने के पहले भी उसे देखा करते थे। हम बोलते हैं, यह भी वहाँ बैठे हुए ही बोलते हैं, आप सब भी वहीं बैठे हैं, ऐसा मैं देखता हूँ। परन्तु यह गढ़डा शहर या यह बरामदा बिल्कुल नहीं दिखाई पड़ता। जब जिस पुरुष को इस स्वरूप का ज्ञान हो जाता है तब उसकी हमारे समान किसी भी विषय-सुख में आसक्ति नहीं रहती। ...यह बात भी समझ लें कि 'तेजपुंज में जो मूर्ति है, वे ही ये प्रत्यक्ष महाराज हैं।' यदि इस बात को न माना जाय, तो इतना तो जरूर जान लेना चाहिये कि 'अक्षररूप तेज में जो मूर्ति है, उसे महाराज देखते हैं।' यदि ऐसा जान लेंगे तो भी हमारे प्रति आपका स्नेह बना रहेगा तथा उससे आपका परम कल्याण होगा।"

(पृ. ३४६-४७ 'वचनामृतम्')

इस उद्धरण में दो स्थापनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं :

(१) जो ब्रह्माण्ड में तेजोमूर्ति है वह श्रीजी के हृदयाकाश में भी प्रकाशमान है।
(२) जिस पुरुष को इस स्वरूप का ज्ञान हो जाता है वह श्रीजी की तरह अनासक्त हो जाता है।

ये दोनों स्थापनाएँ अवतारवाद का समर्थन करती हैं। श्रीजी अपने आपको एकमात्र अंतिम अवतार नहीं बताते। अपने भक्तों की दो श्रेणियों की सुविधा के लिए विकल्प प्रस्तुत करते हैं : तेजपुंज में जो मूर्ति है, वे ही ये प्रत्यक्ष महाराज हैं अथवा उस मूर्ति को ये महाराज देखते हैं।

तेजोमूर्तिरूप श्रीजी महाराज और तेजोमूर्ति के द्दष्टा श्रीजी महाराज इन दोनों में अंतर दिखाई देगा। एक स्वयं है, अन्य प्रेक्षक है। परन्तु तेजोमूर्ति का प्रेक्षक या द्रष्टा होना क्या कोई सामान्य बात है? जो मूल तेजोमूर्ति को देख सकता है, अपने चैतन्यमय अस्तित्व को प्रत्यक्ष देख सकता है वह अवतार ही है। यह न भूलें कि यहाँ मूर्ति मूर्ति को देखती है, ऐसा नहीं कहा गया कि 'चैतन्य चैतन्य का अनुभव कर रहा है।' ऐसा कहने पर श्रीजी का दर्शन बदल जाता, विशिष्टाद्वैत न रहता।

श्रीजी ने स्वयं कहा है कि शंकर के अद्वैत ब्रह्म के प्रतिपादन में उनकी रुचि नहीं है। रामानुजाचार्य ने क्षर-अक्षर से पर पुरुषोत्तम भगवान् का प्रतिपादन किया है। उसके प्रति समादर प्रकट करते हुए श्रीजी ने भक्ति के निमित्त गोपियों का तथा वैराग्य और आत्मनिष्ठा के निमित्त शुकदेवजी एवं जड़भरत का स्मरण किया है।

सांख्य, योग, वेदान्त और पांचरात्र इन चारों शास्त्रों को समन्वित रूप से समझने पर ही भगवान् के स्वरूप को समझा जा सकता है। किसी एक शास्त्र द्वारा भगवान् को समझने पर जो दोष आ सकता है वह दूसरे शास्त्र के निरूपण द्वारा टल सकता है, यह उपाय गुणग्राही दृष्टि का परिचायक है। केवल शुष्क ज्ञान नहीं, केवल अबोध भक्ति भी नहीं, परन्तु आत्मनिष्ठा, प्रीति, दृढ़ वैराग्य तथा स्वधर्म का एक साथ आग्रह है।

अपने को ब्रह्मरूप मानकर परब्रह्म की उपासना करनेवाला, नितान्त निर्वासनिक भक्त श्रीजी के उपदेश का परम आदर्श है। वैराग्य और प्रेमलक्षणा भक्ति में कोई कमी न हो, परन्तु इनके साथ अज्ञान भी हो तो ये वैराग्य तथा भक्ति क्षणजीवी सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु वैराग्य-भक्ति के साथ यदि परम-तत्त्व के विषय में आवश्यक समझदारी भी विकसित हो चुकी हो तो मुक्ति का यात्री चलित नहीं होता, ऐसी उनकी राय है।

(देखिये : 'सारंगपुर का वचनामृत', १८)

"जैसे अग्नि की बड़ी ज्वाला पर वर्षा का पानी पड़ जाय तो वह तुरन्त बुझ जाती है, किन्तु बिजली से उत्पन्न होनेवाली अग्नि का प्रकाश भले ही थोड़ा दिखायी पड़ता हो, फिर भी वह मेघमंडल में छिपी रहने पर भी नहीं बुझती, वैसे ही बिना विवेक के चाहे जितना ही वैराग्य रहे और भगवान् से प्रीति हो जाय, तो भी अग्निज्वाला के समान कुसंगरूपी पानी से उसका नाश हो जाता है। यदि विवेकपूर्वक वैराग्य और प्रीति बनी रहे तो बिजली की अग्नि के समान थोड़ी रहने पर भी उसका नाश नहीं होता।"

(पृ. १९१, 'वचनामृतम्')

इसी विचार-बिन्दु को एक अन्य उपमा-माला के सहारे 'वडताल वचनामृत–३' में स्पष्ट किया गया है :

"ब्रह्मानन्द स्वामी ने पूछा 'कि ऐसी असाधारण भक्ति किस उपाय द्वारा होती है ?'

श्रीजी महाराज बोले : 'ऐसी भक्ति तो महापुरुषों की सेवा करने से हो जाती है। ऐसे महापुरुष भी चार प्रकार के होते हैं। इनमें सबसे पहले तो दीप-सदृश, दूसरे मशाल-सदृश, तीसरे बिजली-सदृश और और चौथे वडवानल अग्नि-सदृश होते हैं। उन महापुरुषों में जो दीप-सदृश होते हैं वे तो विषयरूपी वायु से बुझ जाते हैं। जो मशाल जैसे होते हैं वे भी उससे अधिक विषयरूपी वायु लगने से बुझ जाते हैं। जो बिजली जैसे होते हैं वे तो मायारूपी वर्षा के पानी से भी नहीं बुझ पाते। जो वड़वानल अग्निसदृश होते हैं उनकी स्थिति भिन्न होती है। जिस प्रकार वडवानल समुद्र में रहने पर भी समुद्र के जल से बुझाये जाने पर भी नहीं बुझ पाता और समुद्र के जल को पीकर उसे मूल द्वार से निकाल डालता है, वह पानी मीठा होता है, उसे लाकर मेघ संसार में वर्षा करते हैं, उससे अनेक प्रकार के रस होते हैं; वैसे ही जो महापुरुष होते हैं वे समुद्री जल जैसे खारे जीवों को भी मीठा कर डालते हैं।...यह समझ लेना चाहिए कि बिजली की अग्निसदृश साधनदशावाले भगवान् के एकान्तिक साधु हैं तथा वड़वानल अग्नि जैसे सिद्धदशावाले भगवान् के परम एकान्तिक साधु हैं।"

(पृ. ४५१, 'वचनामृतम्')

बिजली या वड़वाग्नि-सदृश महापुरुषों को ब्रह्मरूप या अक्षररूप माना गया है। ब्रह्म या अक्षर होकर परब्रह्म या पुरुषोत्तम की उपासना करना अंतिम लक्ष्य है। याद रहे कि ब्रह्म तथा परब्रह्म के बीच जो भेद है वह सामयिक नहीं है, शाश्वत है। ब्रह्मरूप होनेवाला संत भी परब्रह्म या पुरुषोत्तम की एकान्तिक भक्ति ही चाहता है, उससे मिलकर एकरूप हो जाना नहीं चाहता, न तो ऐसा होना संभव है, ऐसा विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन है। परंतु उसके तीन तत्त्वों के स्थान पर पाँच तत्त्व बताये हैं। अतः कुछ विद्वान् इस सिद्धान्त को 'नव्य विशिष्टाद्वैत' भी कहते हैं। ये पाँच तत्त्व हैं :

(१) जोव : अणु जैसा सूक्ष्म, ज्ञानमय, शरीर में व्याप्त रहता है।

(२) **ईश्वर :** विराट्, सूत्रात्मा और अव्याकृत शरीर रखनेवाले ईश्वर को महामाया का बंधन है। ईश्वर को परब्रह्म की उपासना है।

(३) **माया :** त्रिगुणात्मिका है, भगवान् की शक्ति है। देह तथा देह के सम्बन्धियों में ममता पैदा करवाती है।

(४) **ब्रह्म :** इसे 'अक्षर' भी कहते हैं। यह कूटस्थ है। साकार रूप से यह पुरुषोत्तम नारायण की सेवा में रहता है, निराकार रूप से भगवान् का चैतन्यमय धाम है।

(५) **परब्रह्म :** साकार, सर्वोपरि, कर्ता और सर्वज्ञ है। जीव, ईश्वर, माया, तथा ब्रह्म का आधार है और अन्तर्यामी रूप से सबके हृदय में रहता है।

इस सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति में परब्रह्म के साथ ब्रह्म का भी बड़ा महत्त्व है। मुक्तों की सभा के साथ ही नारायण के दर्शन करने हैं, भक्तसहित भगवान् की उपासना करनी है, भगवान् और भगवान् के भक्त को सदा साकार-दिव्य समझना है। इसीलिए तो इन कवियों ने प्रगट के गुण गाये हैं :

प्रगट बिन प्यास न भागे, कहां नहि हे करतार।
ज्युं जळ भूमि में सभर भर्या हे, अर्थ न आवे लगार॥

• • •

प्रगट बिन प्रीछ अलोनी, कहा री भयो कथी ज्ञान।
ज्युं रवि कोटि कु चित्र के कीने, तम न हरन बिनु भान॥

('रंगभर सुंदर श्याम रमे', पृ० १०)

परब्रह्म तो सर्वव्यापी है, पर उसके प्राकट्य के बिना, अवतरण के बिना प्यास नहीं बुझती; पहचान अधूरी रह जाती है, भले ही ज्ञान कितना ही क्यों न परोसा जाय। ज्यों भूमि के भीतर जल सभर भरा हो परन्तु केवल उसकी जानकारी पा लेने से तृप्ति नहीं होती ज्यों सूर्य के कोटि चित्र अंकित कर लेने से अंधकार दूर नहीं होता, त्यों प्रगट अवतार की उपासना से ही मुक्ति मिलती है। ब्रह्मानंद भी गाते हैं :

प्रगट स्वरूप उपासी, धन सो प्रगट स्वरूप उपासी।
सब तीरथ हरि-चरने समझे, कोटि गया अरु काशी॥

• • •

नर-तन धर नट-रूप निरन्तर, बिचरत है जुग मांई।
महा मनोहर अतुलित मूरति, ब्रह्मानंद मन भाई॥

('रंगभर सुन्दर श्याम रमे', पृ० ३६)

बिहारीलाल को राधा-कृष्ण के गौर-श्याम चरण की सम्मिलित गति में, व्रजकेलि-निकुंज में ही पग-पग पर प्रयाग के दर्शन हुए थे। ब्रह्मानंद प्रगट हरि के चरणों में कोटि गया और काशी के दर्शन पाते हैं। अन्तिम पंक्तियों में श्रीजी के रूप में अवतार धारण करके विचरण करते पुरुषोत्तम नारायण का स्पष्ट उल्लेख है।

इन कवियों ने अनेक पदों में जीव, ईश्वर, माया ब्रह्म और परब्रह्म का परस्पर सम्बन्ध लयबद्ध किया है :

साधु सोई नाव संसार में।
प्रगट प्रमाण हरिपद प्रीति, नहीं आशक धन-नार में।
माया-कृत सोई सत्य न मानत, जानत दुख परिवार में॥

गुणातीत रहि हरि-गुण गावत, चिन्ता नाही जीत-हार में।
ब्रह्मानंद संत सोई सांचा, समझत सार असार में॥

इस पद में त्रिगुणातीत होकर, माया से मुक्त होकर प्रगट हरि के चरणों में संत के सहारे पहुँचने का मार्ग बताया है। संसार पार करने के लिए संतरूपी नौका से बेहतर साधन क्या हो सकता है ?

भक्तसहित भगवान् की उपासना का निर्देश तथा जीव, माया, ब्रह्म (गुणातीत संत) तथा परब्रह्म के इष्ट सम्बन्ध का संकेत भी इस पद में प्राप्त होगा।

निष्कुळानंद का एक विख्यात पद है :

मैं हूँ आदि अनादि, आ तो सर्वे उपाधि।
सद्गुरु मिलिया अनादि मिट गई सर्वे उपाधि॥

कहाँ काष्ट ने कहाँ कुहाडा, कहाँ है घडननहारा।
जब ते मोये सद्गुरु मिलिया, मिट गया सर्वे च.ळा॥

'जीव को आत्मतत्त्व का बोध सद्गुरु के द्वारा हो सकता है। इस पद में यही कहा गया है कि' मैं आदि-अनादि (मुक्त) हूँ' इस तत्त्व का अवबोध सद्गुरु के द्वारा ही हुआ। काष्ठ का सम्बन्ध मायावेष्टित जीव से है, 'कुल्हाडा' है सद्गुरु और 'घड़ननहारा' सर्जक है परब्रह्म।

जो जीव संतपद प्राप्त कर सकता है, वह अपने ब्रह्म होने का अनुभव कर सकता है :

कोण कुळ ने कोण कुटुम्बी कोण मात ने तात।
कोण भाई ने कोण भगिनी, ब्रह्म हमारी जात॥

प्रस्तुत पद में एक अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का भी निरूपण हुआ है। कुछ अन्य धर्मों की तरह श्री स्वामिनारायण संप्रदाय भी मानता है कि जबतक जीव पूर्णरूप से निर्वासनिक नहीं हो तबतक उसे पुनः अवतरित होना पड़ता है। संत-कवि निष्कुळानंद स्वीकार करते हैं कि पूर्वजन्म में हमारी तपस्या में कोई क्षति रह गयी। भगवान् जानते हैं कि इसी कारण हमें यह नर-तन धारण करना पड़ता है, बची हुई कामना से मुक्त हो जाने के लिए :

आगे तपसी तपसा करता रहि गई किंचित कामा।
ते कारण आ नर-तन धरिया सो जानत है रामा॥

संत-कवियों ने पुरुषोत्तम भगवान् के धाम का वर्णन भी किया है। श्रीजी महाराज के द्वारा किया गया वर्णन तथा गीता के पंद्रहवें अध्याय में अंकित दिव्य छवि में साम्य है :

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

जहाँ सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि का प्रकाश प्रभावकारी नहीं हो सकता जिसे ये प्रकाशित नहीं कर सकते, जिसे पाकर किसीको पुनः संसार में लौटना नहीं पड़ता वही मेरा परम धाम है।

कवि देवानंद गाते हैं :

हरि-धाम सदा सुखकारी।
एजी रवि-शशि को परकाश न पोचत, अनल रयो बल हारी।
तहाँ गयो सो फिर नहीं आवत, मुक्त भये नर-नारी॥
मिले वाकु कृष्ण-मुरारी।

इन कवियों के लिए जो श्रीकृष्ण हैं वे ही श्रीजी महाराज हैं। इन दोनों अवतारों की रूपछबि अंकित करते समय इनका संयत हृदय भी मचल उठा है, संत पूर्णरूप से कवि हो उठे हैं।

श्रीसहजानन्द स्वामी इन संत-कवियों के लिए आचार्य भी थे और अंततः प्रभु भी। अपने धर्माचार्य के जीव-हितावह उपदेश को शब्द तथा संगीत के योग से सुलभ करने का कवि-कर्म भी एक धार्मिक कर्तव्य था, कला की सिसृक्षा नहीं। परन्तु श्रीजी महाराज जानते थे कि किसे क्या कार्य करना है। जिनमें कविता और संगीत के प्रति सहज लगाव था, उन्हें इस कार्य में प्रवृत्त किया। इतना ही नहीं, जन्मजात प्रतिभा के संस्कार के लिए, व्युत्पत्ति और अभ्यास के लिए भी सुविधाएँ दीं। आश्चर्य होता है उनके संतों में कवियों की संख्या देखकर और उनके द्वारा रचित संस्कृत, गुजराती, हिंदी पदों एवं प्रबंधों की संख्या देखकर। स्वामिनारायणीय संत-साहित्य एक स्वतंत्र इतिहास का विषय है।

पूजाविधि वैष्णव-परंपरा से यथावत् ग्रहण की है। मंदिरों में पाँच आरतियाँ होती हैं। इन कवियों ने प्रत्येक आरती को लक्ष्य करके पद गाये हैं। सूरदास की तरह कुछ कवियों ने तो तत्क्षण गीत गाये हैं, जो बाद में उनके या उनके शिष्यों द्वारा लिपिबद्ध हुए। इसी प्रकार वसंतपंचमी आदि उत्सवों को भी इन संतों ने बखाना है :

आज अनुपम दिवस सखी री बसंत-पंचमी आई।
प्रेम-मगन होई प्रभु-संग खेले, बहुविधि रंग बनाई॥

भूषण वसन सुरंगी पहिरो, प्रेम से लयो पिचकारी।
श्वेत वस्त्र सब धरी श्याम रो, खेलन कु भये त्यारी॥

यहाँ चुनकर रखे गये मुक्तानंद स्वामी के पदों में से दूसरा प्रातः आरती के समय गाया गया है :

करत सिंगार आरती भोर।
विरह को ताप-संताप मिटत सब, निरखत नटवर नन्दकिसोर॥—(पृ. ३)

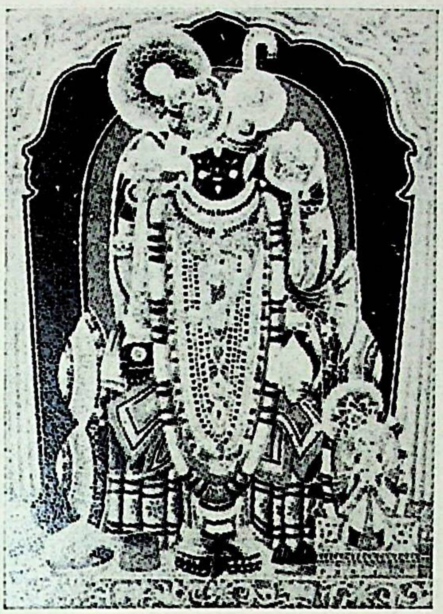

भगवान द्वारकाधीशजी, द्वारकापुरी

भगवान रणछोड़ जी, डाकोर (गुजरात)

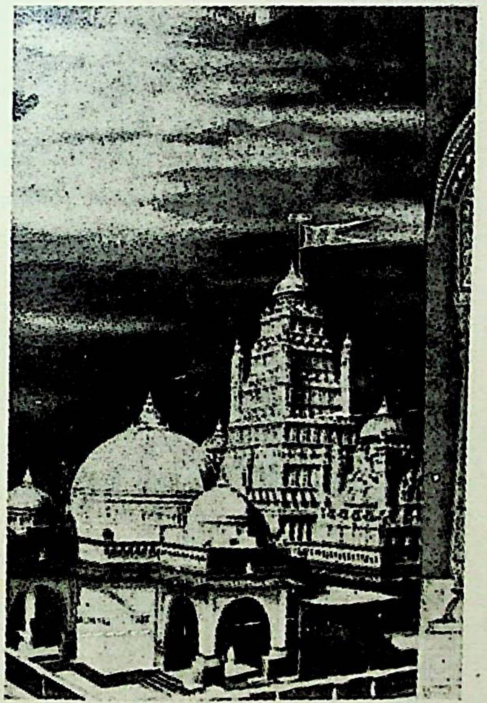

श्री रणछोड़जी का मंदिर, डाकोर (गुजरात)

श्री नरसिंह मेहता, जूनागढ़ (गुजरात)

(पृ० ४८९)

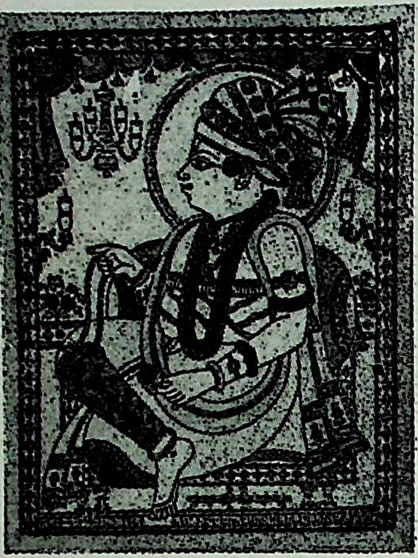

स्वामी सहजानंद (स्वामि-नारायण)
(पृ० ६३१)

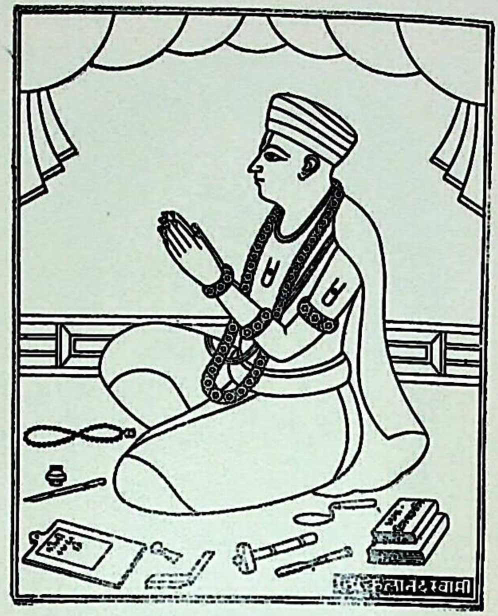

निष्कुलानंद स्वामी
(पृ० ५०८)

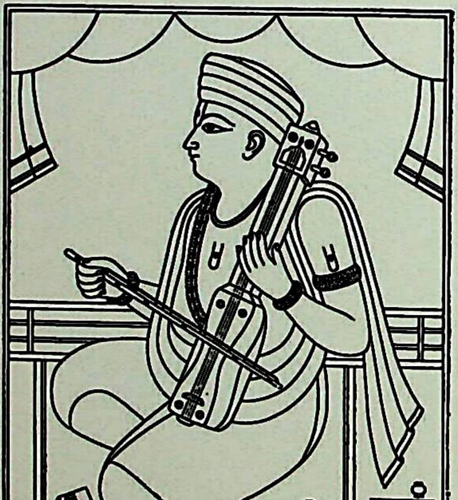

स्वामी प्रेमानन्द
(पृ० ५२९)

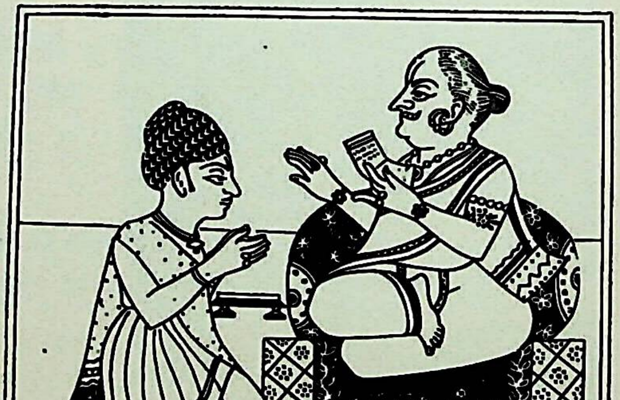

कविवर दयाराम अपने गुरु के साथ
(पृ० ४६८)

बारहवाँ पद शयन-आरती के अवसर पर गाया गया है :

पोढे प्रभु सकल मुनि के श्याम !
श्रीनारायण दिव्य मूरति, संतन के विशराम ॥

आरती के प्रसंग पर भक्तजनों के प्रति भी संत-कवि कृपादृष्टि करते हैं और प्रभु की प्रकट उपस्थिति में लौकिक सौन्दर्य को भी क्षणिक ममता से देख लेते हैं :

सखा सब आये द्वार, ले-लेकर पुष्पहार ।
कृष्ण कही टेरत है मंडळी तुमारी ॥
संग ले पूजा को साज, ग्वालन आई महाराज ।
सब ही के हाथ सोहे कंचन की थारी ॥ —(पृ. ११)

गोप-सखाओं के हाथों में पुष्पहार हैं और गोपिकाओं के हाथों में पूजा की थाली। आवश्यक सामग्री ही मानो अलंकार बन गयी है।

मंगळ गावती आवती नारी ।
शशिवदनी मृगनयनी सुंदर, नवल वसन शृंगार संवारी ॥

करती मधुर सुर गान मानिनी, दधि हरदी छिरकत भरी थारी ।
गज मोतिन के चोक पुराये, मनिमय तोरन बाँधे हैं द्वारी ॥ —(पृ. १५)

इन पंक्तियों का नाद-माधुर्य प्रशंसनीय है।

पूजा की सामग्री का वर्णन गद्यात्मक हो जाने की भीति बनी रहती है, परन्तु मुक्तानंद की लयसिद्धि अनन्य है। भले ही वे गुजराती प्रयोग या उच्चारण के साथ हिन्दी लिखते हों, हमें कविता का आनन्द दे सकते हैं, एक बड़ी मर्यादा को लाँघकर। दो लक्षण यहाँ उल्लेखनीय हैं चित्रोपमता तथा संगीतात्मकता ! संक्षेप में कहें तो मुक्तानंद की औपचारिक कविता में कहीं-कहीं चित्रोपम संगीत है।

आरती के पदों की अपेक्षा श्रीजी के रूपवर्णन के पद अधिक प्रभावकारी हैं। इनको दो भागों में बाँटा जा सकता है : (१) श्रीजी के पूर्वजीवन के विविध प्रसंगों एवं अवस्थाओं की महिमा तथा (२) सहजानन्द स्वामी के नाम से धर्मधुरा संभालने के बाद विचरण एवं स्वागत के विविध प्रसंगों के वर्णन-परक पद। प्रथम प्रकार के पद सूरदास आदि वैष्णव कवियों की रचना-रीति, अलंकार-योजना, भावाभिव्यक्ति आदि से प्रभावित हैं।

इन संत-कवियों को बाह्य साक्षात्कार तथा आंतर साक्षात्कार द्वारा जो आध्यात्मिक अनुभूति हुई, यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये सभी संत-कवि पहले जिनको श्रीकृष्ण मानकर रूप-वर्णन करते हैं, उन्हीं पूर्ण पुरुषोत्तम को बाद में श्रीजी के रूप में पाकर परम धन्यता का अनुभव करते हैं। सूरदास ने बाललीला का गान किया ही है, उस गान में केवल वर्तमान नाम रख देने से ही भक्तों के लिए सुविधा हो जाती हो तो फिर पूरा का पूरा नया पद क्यों ? इनको तो स्वयं भक्ति करनी थी और संख्यातीत भक्तों को उपासना का एक आधार देना था।

अध्ययन के लिए ये दो विषय किसी भी शोध-छात्र को चुनौती दे सकते हैं :

१. स्वामिनारायणीय संत-कविता पर वैष्णव-कविता का प्रभाव : विरासत के रूप में।

२. इन संतों की कविता में प्रगट प्रभु के रूप में श्रीकृष्ण तथा श्रीजी का अंकन तथा श्रीकृष्ण की छबि का श्रीजी की छबि में रूपान्तर।

'रंगभर सुन्दर श्याम रमे' के लिए चुने हुए इतने अल्प-संख्य पदों से भी उपर्युक्त दोनों उपपत्तियाँ पुष्ट होंगी।

श्रीजी के रूप-वर्णन की कविता इन कवियों के द्वारा हिन्दी की अपेक्षा गुजराती में सविशेष सिद्ध हुई है, फिर भी ब्रह्मानंद, प्रेमानन्द तथा अन्य कवियों ने परंपरागत काव्य-उपकरणों द्वारा कहीं-कहीं अभिनव सौन्दर्य जगाया है :

नव घनश्याम भये री, रसिक वर।
बीज समान झलक पीतांबर, अंग पर विलस रमे री।—(पृ० ३४)

• • •

मैं तेरी तें प्रीतम मेरा, अरस-परस एकतार।
मन की उलट भई गति मेरी, क्या जाणे संसार रे॥

• • •

चंगी रंगी पहर चाखडी, छडी अजब ले हाथ।
ब्रह्मानंद कहे रहो एहि छबि, नेनु आगे नाथ रे॥—(पृ० ४८)

उपर्युक्त पंक्तियों में पूर्वपरिचित पदावली के बीच 'अरस-परस एकतार' जैसे ताज-ब-ताज चंद अल्फाज तुरन्त छू लेते हैं। 'छड़ी अजब ले हाथ' के द्वारा श्रीजी की विशिष्ट मुद्रा का ही संकेत किया गया है। मोरपिच्छ और बांसुरी श्रीकृष्ण के प्रतीत हैं, प्रफुल्ल गुलाब के रूप-सौरभ श्रीजी की याद दिलाते हैं।

प्रेमानंद के पदों में भी श्रीजी की विशिष्ट छबि स्पष्ट झलक आती है :

दरस बिना मोरे तरसत नैना !
श्वेत पाघ बीच सुमन शिखर छबि, चाहत द्रग दिन-रेना॥—(पृ० ६६)

प्रेमानंद का कवित्व निर्विवाद है, फिर भी कहीं एक शब्द के परिवर्तन से पूर्ववर्ती कवि के गान को इन्होंने अपने इष्टदेव की पूजा-सामग्री बना दिया है। संप्रदाय में यह गीत विख्यात है :

रहो ज्युं मोरे नैनों में श्रीघनश्याम।
श्रीघनश्याम माधुरी मूरत, सुख-सागर छबि धाम॥

नरसिंह मेहता, मीरा, सूर, आदि की प्रतिध्वनियाँ कई पदों में लक्षित होती हैं।

यही प्रेमानंद दूसरे पद में श्रीजी-लीला को निजी पदावली में प्रत्यक्ष करवाते हैं :

लटक यह आय बसी उर मैया।
लटपटी पाग लटकते तोरे, लटकत चलत कनैया॥

लटक-लटक आवत घर मोरे, पाय पेर पनैया।
लटकत हँसत मधुर मुख बोलत, चितवनी चित्त-हरैया।
प्रेमानंद घनश्याम लटक पर, बार-बार बल-जैया।

यहाँ 'कनैया' शब्द भी श्रीजी का अभिधान बनकर आता है। किंवदन्ती है कि तुलसीदास के अनुरोध पर श्रीकृष्ण की प्रतिमा ने श्रीरामचन्द्र का रूप धारण करके दर्शन देने की कृपा की थी। उस न्याय के अनुसार श्रीकृष्ण-श्रीजी रूपान्तर भी संभव है। कृष्णानंद स्वामी का एक पद देखिये :

दिलदार छटा द्रग अटक रही, नटवर हरि प्यारे सांवरिया।

• • •

काबिल कामिल रंगरेल पिया, नैनन सें तन-मन छीन लिया।
हेरत है रूप उजागरिया, शिरदार चार नट-नागरिया॥

सब राजन के राजा वरिया, प्राननहु से प्यारा करिया।
ओरन कु उर में ना धरिया, कहे कृष्णानंद सुख-सागरिया॥—(पृ० १०१)

बाँधे आसमानी पाग ढरकत वाम भाग, वदन-छटा अति भारी नाथ तेरी वदन-छटा अति भारी आदि पद भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। ध्यान रहे कि कृष्णानंद स्वामी श्रीजी के समकालीन नहीं थे, परन्तु कृष्णानंद के लिए तो श्रीजी शाश्वत हैं, श्रीजी का प्रगट सौन्दर्य सर्मपित भक्त के हृदय में मुरझानेवाला है ही नहीं।

मुक्तानंद, ब्रह्मानंद और देवानंद की कवि-प्रतिभा का चरमोत्कर्ष कृष्ण-गोपी के रूपकात्मक प्रणय-गान में लक्षित होता है। दान-लीला एवं रास-लीला के पद इस दृष्टि से देखे जा सकते हैं। जहाँतक बाल-लीला का प्रश्न है, ये कवि सूरदास के प्रभाव में रहकर ही अपना भक्तिभाव प्रकट करते हैं, परन्तु दान-लीला और रास-लीला के पदों में इनके निजी कवित्व का भी योगदान है।

मुक्तानंद ने हिन्दी-गुजराती दोनों में अपने आराध्यदेव की ये लीलाएँ गायी हैं :

तें अति करत गुमान गुजरिया, तें अति करत गुमान।
जोबन के बल जोर जनावत, देत न मेरो दान॥

दही की मटुकिया छिन के तेरो, सब हि गर्व उतारूँ।
दधि-भाजन सब हि गोपिन हैं, चूर-चूर कर डारूँ॥—(पृ० ४)

यहाँ पाठक लौकिक कुतूहल से वृंदावन के बीच होते किसी कलह को नहीं देखता, यहाँ भगवान् अपने भक्त के साथ प्रणय-कलह के लिए आया है। तें अति करत गुमान गुजरिया' इस पंक्ति में जो चुनौती है

है वह भाषिक लालित्य लेकर आयी है। 'जोबन के बल जोर जनावत' में भी इसी तत्त्व का सातत्य है। दूसरे चरण में गोपी के गर्व को उतारने का जो उपचार बताया गया है, वास्तव में आत्मा को मायिक बंधनों से मुक्त करने की प्रक्रिया है।

बाद में तो स्वामिनारायणीय संत-कविता में संभोग-शृंगार का वर्णन भी मर्यादावादी होता चला गया, परन्तु मुक्तानंद व्रजनारी की प्रगल्भ दृष्टि से कृष्ण के उपकारों को देखते हैं। कुसुम पाने की प्रिया की कामना को संतुष्ट करने के लिए, उसी कामना में साझीदार होकर कृष्ण ने गोपी को ठीक इसी जगह कंधे पर चढ़ाया होगा, क्योंकि इनके पैर यहाँ रेती में गड़े दिखाई देते हैं। गोपी यहाँ कृष्ण की प्रशंसा भी कर लेती है, उस बहुनामी में बोझ वहन करने की बड़ी शक्ति है :

याहि ठोर त्रिय कांध चढाई, कुसुम लेत हित कामी रे।
अति सें पाओ गडे रेतिमहीं, बोझ बहत बहुनामी रे॥—(पृ० ५)

पूर्ण पुरुषोत्तम को मर्यादा तो छू भी नहीं सकती। ब्रह्मानंद भी लौकिक नियमों से मुक्त कृष्ण की छबि प्रस्तुत करते हैं :

प्रेम-सहित मारत पिचकारी, गावत मुख से गारी।
अरस-परस लपटाय रहे हैं, गोपिन से गिरधारी॥—(पृ० २२)

कविवर ब्रह्मानंदजी रास-लीला की भूमिका प्रशिष्ट शैली में तैयार करते हैं :

लहरो जमुना-नीर की, गहरी तरवर छांय।
ठाडे रति-पति मद-हरन, बनमाली बनमांय॥

कमल मनोहर केतकी, सुन्दर फूल सुवास।
करुनानिधि इच्छा करी, रमत अलौकिक रास॥—(पृ० ४३)

रास-लीला के पदों में एक सूक्ष्म कथातंतु भी दिया जाता है और उसीके आधार से मिलन के बाद विरह की अवस्था भी अंकित की जाती है। स्वतंत्र रूप से भी इन संत-कवियों ने गोपी का विरही हृदय व्यक्त किया है। प्रेमानंद का एक गेय पद इन पंक्तियों से शुरू होता है :

ज्युं ज्युं कडके खटके, थडके फडके मोरी छतियाँ।
गरजत गगन सघन घटा घन की, चऊँ दिश आई चडक्के॥—(पृ० १४)

प्राकृतिक परिस्थिति में जो विक्षिप्तता है, उसीका तूफान विरहिनी की संतप्त छाती के भीतर है। यहाँ स्वर-व्यंजन की संयोजना भी एक विशिष्ट नाद-माधुर्य निष्पन्न करती है।

कृष्ण के दृष्टिपात के प्रभाव से गोपी जल भरना भूल गयी हो– यह मुद्रा कई कवियों को प्रिय है, देवानन्दजी को तो प्रियतर है :

जमुना-तीर नीर भरवे गई, संग ले ग्वालन सारी।
नेन की चोट चलाई नटवर, जीवन जादुगारी॥

भूल गई जमुना-जल भरनो, लोट-पोट भई भारी।
धरनी पर ठरवे कु चाहत, देखो डरत नर-नारी॥—(पृ० ११३)

आधुनिक कविता का मूल्यांकन हम बिम्बप्रतीक की परिभाषा में करते हैं। इस कविता के प्रतीक वैष्णव-परंपरा के अनुसार ही अर्थ व्यक्त करते हैं। रूप-वर्णन तथा दान-लीला, रास-लीला की संमोहक क्रियाओं के चित्र दृश्य-बिम्ब के रूप में उद्धृत किये जा सकते हैं।

मुक्तानन्द की निम्नलिखित पंक्तियाँ कविकर्म की अनन्यता की गवाही देती हैं :

आलिंगन चुम्बन परस, करत विनोद विशाल।
बाल ज्युं निज प्रतिबिम्ब संग, त्युं खेलत नंदलाल॥

—मुखपृष्ठ : 'रंगभर सुन्दर श्याम रमे'

डॉ० चंद्रकान्त टोपीवाला ने आधुनिक शैली-विज्ञान की परिभाषा के आधार पर इन पंक्तियों का विश्लेषण करने के बाद निष्कर्ष के रूप में कहा है :

"केवलाद्वैत का मायामूलक प्रतिबिम्बवाद यहाँ नहीं है, शुद्धाद्वैत के पुरुषोत्तम की रमणेच्छा से युक्त यह सगुणमूलक प्रतिबिम्बवाद है। परन्तु मुक्तानन्द जैसा कवि सगुणमूलक प्रतिबिम्बवाद की सांप्रदायिकता को जिस कवितामूलक रमणीयता में प्रस्थापित कर पाया है, उसीमें उसकी ज्वलंत विजय है।"—

(पृ. ३०६ 'स्वामिनारायणसंत-साहित्य')

यहाँ जिसे डॉ. टोपीवाला शुद्धाद्वैत कहते हैं, उसे विशिष्टाद्वैत के रूप में भी पहचाना जा सकता है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब के दार्शनिक सम्बन्ध के स्थान पर उपमान-उपमेय का सादृश्य मानने पर, भक्तों पर बरसती पुरुषोत्तम की कृपा के रूप में आलिंगन आदि क्रियाओं का अर्थ घट सकता है। परन्तु उसकी आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना ही उल्लेखनीय है कि कवि की काव्यात्मक उपलब्धि और प्रतिपाद्य इतना ही है कि भक्ति की संगिनी बनने के कारण कविता का लीला-सौन्दर्य कम नहीं हुआ।

धर्म, दर्शन और कविता के त्रिवेणी-संगम का सौन्दर्य ब्रह्मानंद के इस पद में व्यक्त हुआ है :

हरि कु राधे नाच नचावे, हरि कु राधे नाच नचावे!

पावन में नेपुर करि दीने, कर चूरी ठहरावे।
मिल के जुथ सबे ब्रजनारी लाल कु प्यारी बनावे॥

कछनि कंबरिया दूर बहाय के, ले लेंघो पहिरावे।
पाघ उतार ओढाई चुनरियाँ, नैनन कजरा लगावे॥

मांग समार भाल दे बिन्दी, कर ग्रही ताल शिखावे।
राधे राधे कहान-कहान कहो, नचवत तान मिलावे॥

रूप बनाय लगाय के घुंघट, जसोमती पे ले जावे।
ब्रह्मानन्द कहे तेरे सुत कु, एहि कुंवरी परनावे॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को उपर्युक्त पद पढ़ने का मौका मिलता तो वे यह शिकायत जरूर करते कि 'महाकवि सूरदास ने बाल-लीला के अनेक मनोहर पद रचे हैं, फिर यह कैसे छूट गया? वे ब्रह्मानन्द के कविकर्म की प्रशंसा करते।

सुविदित है कि इस पद में निहित भाव अनेक पूर्ववर्ती वैष्णव कवियों ने गाया है। स्वामिनारायणीय संत-कवियों ने भी इसको दोहराया है, परन्तु ब्रह्मानंद ने इस पद में साद्यंत कवित्व सिद्ध किया है।

आरंभ में केवल एक खेल का निर्देश है। कहिये क्रीड़ा है या लीला? राधा ने हरि को हथिया लिया है। उम्र में कुछ छोटे तो थे ही! अब नाच नचा रही है। संगत शुरू हो जाने के बाद कौन किसका अनुसरण करता है, यह बात गौण हो जाती है। यहाँ हरि हैं कि राधा का कहा मानते हैं। मानो इसीलिए व्रज आये हों!

राधा मग्न है, बड़ा अच्छा लग रहा है इस खेल में। जो कुछ है अपने पास पहना रही है हरि को; यानी दे रही है अपना जो है। जो नहीं है, खोज लाती है सजाती है। नुपूर और चूड़ियाँ पहनाने के बाद अन्य ब्रज-नारियाँ राधा की सहयोगी बनती हैं और लाल को प्यारी बनाने में सक्रिय होती हैं। प्रेमलक्षणा भक्ति के नियमों के अधीन लीला आगे बढ़ती है। योग्य वस्त्र दिये जा रहे हैं तो काजल की कमी क्यों रह जाय? माँग भरने के बाद बिंदी भी क्यों नहीं? यह केवल उपचार नहीं, पूजा भी है अप्रकट रूप से!

आर्य-कन्या को गान-नृत्य आदि कलाओं का ज्ञान होना चाहिए। सभी सखियाँ साथ मिलकर ताल सिखाती हैं। इतना ही नहीं. अब जिसे राधा का रूप दिया गया है उससे कहती हैं: 'कहान-कहान कहो!' गोपी बनने के बाद कम से कम इतना तो करना ही चाहिए न?

सब कुछ हो चुका लीलया! नचाने का. तान मिलाने का दौर चलता है। जब किसी चीज की कमी नहीं रहती तो रूपसज्जा के साथ घूंघट की मुद्रा में माँ यशोदा के पास ले जाती हैं। क्यों? उन पर उपकार है। यशोदा के पुत्र को एक कन्या तो चाहिए ही! लो यह कुंवरी! ब्याहो! हाँ यही कुँवरी, इससे बेहतर पात्र नहीं मिलेगा!

अवतार के अन्तर्गत ही एक और अवतार! भक्तजनों की कृपा से!

इस लीला में सर्वाधिक महत्त्व किस घटना का है? कृष्ण को राधा बनाकर राधा तथा अन्य गोपियाँ उसे माता यशोदा के पास ले जाती हैं। यही तो अधिकृत स्थान था—माता का हृदय! प्रेमिका के हृदय से माता के हृदय तक! संत-कविता में यह प्रक्रिया अनिवार्य है।

पद के आरंभ में राधा की भूमिका मुख्य है, अन्त में वह यशोदा की शरण पहुँची है। क्या मान्यता पाने के लिए यशोदा कृष्ण को ही राधा के रूप में स्वीकार करेंगी? यही तो कुतूहल होता है प्रत्येक भक्त का! नरसिंह मेहता की भोली ग्वालन दही बेचते हरि को बेचने का का ऐलान करने लग गयी थी। अन्य कवियों को ऐसी भी गोपियाँ प्राप्त हुई हैं जो कृष्ण से अभेद अनुभव करके कृष्ण की ओर से 'राधे-राधे' बोलने लग गयी हों।

कृष्ण, जो राधारूप हुए हैं, अब कृष्ण से ब्याहने योग्य हैं, समर्पित होने योग्य हैं। पद पढ़ लेने पर पाठक के हृदय में लीला शमित होगी और विश्वख्यात परम चेतना का आनंदरूप उदित होगा। ब्रह्मानंद को यही अभीष्ट था।

जिसे मनुष्य का अवतार प्राप्त हुआ है, वह प्राणी निजरूप को पहचानकर, आत्मतत्त्व का ज्ञान पाकर, भक्ति के द्वारा ब्रह्मस्वरूप हो सकता है। यदि राधा कृष्ण बन जाती तो श्रीजी महाराज का विशिष्टाद्वैत अपनी सैद्धान्तिक भूमिका निभा न पाता। ब्रह्ममुनि यहाँ राधा के निमित्त राधा के उत्सव के अन्तर्गत कृष्ण की लीला का काव्यात्मक वर्णन करते हैं। यहाँ भक्ति प्रमुख है, दर्शन अन्तर्निहित है, कविता इन दोनों से फलित हुई है।

सूर आदि अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण के लीला-गान के द्वारा भक्तजनों को विरल आनंद दिया और श्रीमद्भागवत की परम्परा को आगे बढ़ाया। सहजानंदी कवियों ने कर्मरत लोकनायक कृष्ण के कुछ मनोहर चित्र दिये हैं। मुक्तानंद का एक पद भगवान् का धूलि-धूसरित सौन्दर्य बखानता है:

गौधन के संग आवे, सांज समे गौधन के संग आवे।
नटवर वेश रसिक नंदनंदन, मधुरी शी बेन बजावे॥

गौरज अंग उपर लपटानी, सो छबि अधिक सोहावे।
गोपीजन मनहरन मनोहर, मोरली में गौरी गावे॥

यह गौधन केवल गोकुल का नहीं है, यह संध्या गुजरात-सौराष्ट्र की भी है। बांसुरी यहाँ भी सुनायी देती है। श्रीकृष्ण तो बस माधुर्य का संचार करने आये हैं, उन्हें शायद पता भी नहीं है कि भक्तजन इस प्रेम-संगीत को सुनने के साथ-साथ उनके अंगों से लिपटी गौरज को भी देख रहे हैं, देखकर अधिक आनंदित हो रहे हैं। मुक्तानंद कहते हैं कि यह छबि अधिक सुहाती है। किसी भव्य मंदिर में लक्ष्मीजी के संग विराजमान भगवान् के सौन्दर्य की अपेक्षा, गायें चराकर लौटते, श्रमजीवी गोपालक कृष्ण के गोरज से मलिन अंगों का सौन्दर्य अधिक आनंद देता है। इस आनंद के साथ साथ मुझे अर्थ-समपर्क युगसंदर्भ भी प्राप्त होता है:

गोरज अंग उपर लपटानी सो छबि अधिक सोहावे!

इन संत-कवियों के कई गुजराती-हिन्दी पद आज भी गाये जाते हैं। स्वामिनारायण-संप्रदाय के अक्षर-पुरुषोत्तम सिद्धान्त की प्रवर्तक शाखा के संगीतकार संतों के मुँह से इन पदों का गान द्विगुणित आनंद देता है। प्रेमानंद का एक पद मन्ना डे ने बहुत सुन्दर गाया है। उस पद की आरंभिक पंक्तियाँ हैं:

प्यारे तोरी मोरी प्रीत न छूटे रे !
लगी है प्रीत तो सु श्यामसुंदर,
जैसे हीरो फोर्यो न फूटे रे॥

उपमान देखिये, परंपरागत है, परंतु यहाँ कैसा प्रस्तुत है—**'हीरो फोर्यो न फूटे रें !'**

यदि इतना ही कहना होता कि हमारी प्रीति अटूट है तो कई उपमान सुलभ थे, परन्तु वे सब भक्त और भगवान् की निर्हेतुक प्रीति की निर्मलता और कांति का अनुभव न करवाते! हीरा सुन्दर है, धवलोज्ज्वल है, सभी रंगों को अपने में सिमटकर प्रकाश देता है और कभी-कभी रंगों का चमत्कार भी दिखाता है। यह प्रीति शुद्ध है और शुष्क नहीं है। कैसे टूट सकती है? जैसे हीरा नहीं फूटता, वैसे ही हे श्यामसुन्दर प्रिय! तोसे लगी प्रीत नहीं छूट सकती, कभी नहीं।

मुक्तानंद का पद **हो पिया, पाया तो फिर क्या सोना** भी कविता की ऊँचाई को छूता है। श्रीयज्ञेश्वर स्वामी ने इस पद के विषय में एक किंवदन्ती बतायी थी: आत्मसाक्षात्कार के बाद मुक्तानंद स्वामी गढपुर-मंदिर के प्रदक्षिणा-पथ के पास बैठकर हाथ में तंबुर लिये रात बड़ी देर तक कीर्तन-भक्ति में मग्न रहते। एकबार किसीने पूछा: 'बड़ी देर हो गयी है स्वामीजी, सोना नहीं है?' इसके उत्तर में मुक्तानंद ने यह पद गाया था। सारी लौकिकता को, माया-जन्य सभी मोहक बंधनों को आसानी से छोड़ा जा सकता है, जब सर्वस्व का सार प्राप्त हो जाय! यहाँ नकारात्मक अभिगम है ही नहीं, उच्चतर भूमिका पाने का आनंद है। बहुत कम कवि ऐसी पंक्तियाँ लिखते हैं:

बख्तर पहेर के रण में निकसे, नरम-गरम क्या होना ?

सर्मपित भक्ति का बख्तर है, श्रीजी के संत वैराग्य-प्रेरित, ज्ञानयुक्त, आत्मदीप्त भक्ति को ही भक्ति मानते थे। जब ऐसी भक्ति का बख्तर धारण करके इतरेतर अंधकार से संघर्ष करने के लिए निकले हों तब नरम-गरम होने की सुविधा ही कहाँ बचेगी? इस पंक्ति में एक छटा शौर्य की भी है। शौर्य-लक्षणा त्याग पर आधारित थी इन संतों की प्रेम-लक्षणा भक्ति!

डा० रघुवीर चौधरी

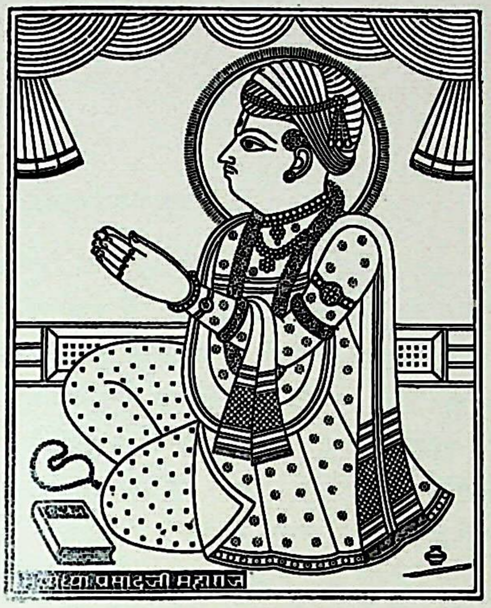
ध्याप्रसादजी महाराज

श्री अयोध्याप्रसाद (अवधप्रसाद) जी
(पृ० ४०५)

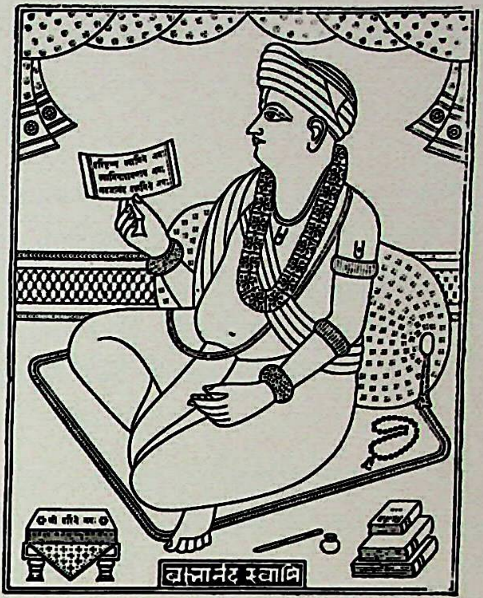

स्वामी ब्रह्मानंद
(पृ० ५४३)

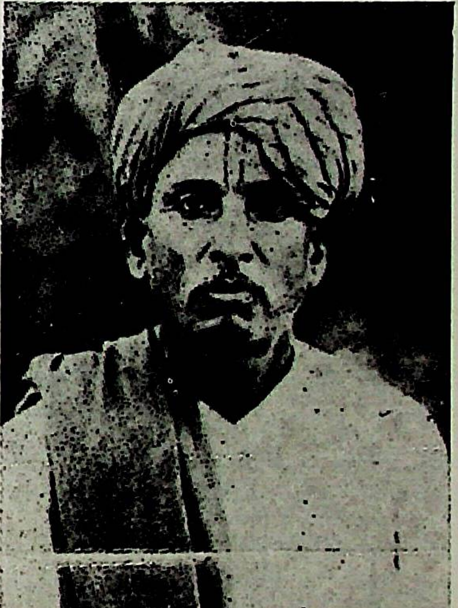

पं० काशीराम करशन जी बामणियां
(पृ० ४४२)

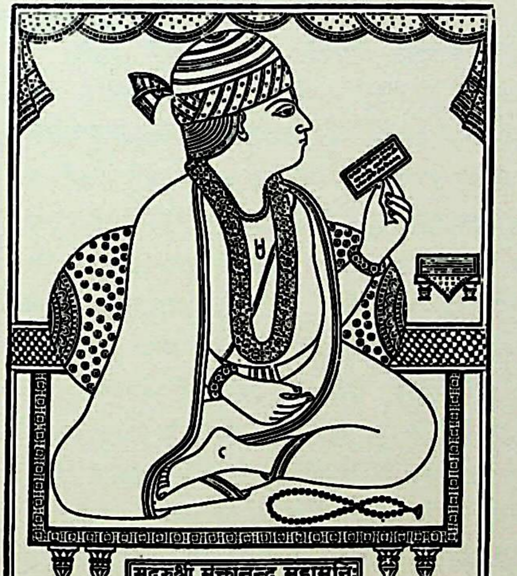
सद्गुरुश्री मुक्तानन्द महामुनिः

स्वामी मुक्तानंद
(पृ० ५७२)

गुजरात के कृष्ण-भक्त

अंबालाल भगत

भक्त अंबालाल का जन्म १८९० ई० के लगभग गुजरात में महेसाणा के समीप एक गाँव में हुआ था। ये जाति से पाटीदार (कुनबी) थे। सौतेली माँ के दुर्व्यवहार से त्रस्त होकर इन्होंने सन् १९०३ ई० में गृह त्याग दिया था। इन्होंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। अतः महेसाणा रेलवेस्टेशन पर पन्द्रह रुपये मासिक वेतन पर नौकरी प्राप्त कर ली। बाद में ये तारबाबू हो गये। अपनी आय का उपयोग ये साधु-महात्माओं की सेवा में करते थे। सादगीपूर्ण जीवन एवं उच्च विचार ही इनके जीवन-सूत्र थे। नौकरी करते हुए भी ये प्रतिदिन आठ घण्टे भजन-कीर्तन में व्यतीत करते थे। साबरमती के तट पर बैठकर ये नित्य मुरली-मनोहर श्रीकृष्ण के ध्यान में घंटों लीन रहते थे। यही इनकी दिनचर्या थी।

कहा जाता है कि इन्होंने अनेकबार श्रीकृष्ण का साक्षात्कार किया था। एकबार साबरमती के तट पर ध्यानस्थ अंबालाल के समक्ष एक वृद्ध पुरुष उपस्थित हुआ। वृद्ध को सन्त समझकर इन्होंने उससे मयूर-मुकुट-पीताम्बरधारी चतुर्भुज श्रीकृष्ण के दर्शन की कामना प्रकट की। उसी समय वृद्ध ब्राह्मण चतुर्भुज भगवान् के रूप में परिवर्तित हो गया। प्रेम में उन्मत्त भक्त अंबालाल उपास्यदेव के चरणों पर गिर पड़े। भगवान् ने भक्त को गले लगाकर धैर्यपूर्वक संसार के कार्य करने की आज्ञा दी और अन्तर्धान हो गये। आनंदविभोर हो ये नौकरी के स्थान पर विलम्ब से पहुँचे। ऊपर के अधिकारी के क्रोध के भय से इन्होंने नौकरी से अपना त्यागपत्र दे दिया और आबू पर्वत पर पहुंचकर उसकी चोटी की एक शिला पर सात दिन तथा सात रात तक तपश्चर्या करते रहे। इनकी साधना से प्रसन्न हो भगवान् लकड़हारा का रूप धारण कर पानी पीने के लिए इनके पास आये। भूखे-प्यासे अंबालाल पानी की खोज में निकल पड़े और धोती के छोर में पानी लाकर उसको पिलाया। इनकी श्रद्धा-भक्ति पर मुग्ध होकर भगवान् ने अपना चतुर्भुज स्वरूप प्रकट किया। इस घटना के बाद इन्हें पुनः नौकरी मिल गयी।

कुछ वर्षों के पश्चात् ये हरिद्वार के कुंभमेले में गये और वहाँ साधना में इतने मग्न हो गये कि फिर कभी वापस नहीं लौटे।

इनके द्वारा रचित पद प्राप्त नहीं होते।

म ई. प्र.

अनन्तप्रसाद वैष्णव

गुजराती साहित्य में अद्वितीय ऐतिहासिक उपन्यास के रूप में सुप्रसिद्ध 'राणकदेवी' के सर्जक, कविकेसरी, कीर्तनकार एवं भक्तराज के रूप में विख्यात श्रीवैष्णव अनन्तप्रसाद का जन्म दिनांक ३ जून १८६१ ई० को सौराष्ट्र के मांगरोल नगर में हुआ था। ये कृष्णभक्त नरसिंह मेहता के चाचा परवतदास के तेरहवें वंशज थे। ऐसी किंवदन्ती है कि परबतदासजी के घर पर द्वारकानाथ ने प्रकट होकर कहा था: "आजसे तुम्हारा परिवार 'वैष्णव' कहलायेगा।" अनन्तप्रसाद ने ऐसे परम वैष्णव परिवार में जन्म लिया था। इनके पिता का नाम त्रिकमलाल और माता का नाम रुक्मिणी था। वंशानुगत प्रभाव से भक्ति-भावसम्पन्न रुक्मिणी देवी अपने पुत्र अनन्त को नित्य लोरियों के माध्यम से ईश्वर के नाम-गुण एवं भक्तों की कथाएँ सुनाया करती थीं। इनके अनेक पूर्वज रामानुज-संप्रदाय में दीक्षित हुए थे, फलतः परिवार वैष्णवी भक्तिभावना में रँगा हुआ था। घर में विराजमान राधाकृष्ण-प्रतिमाओं के समक्ष नित्य उत्सव मनाये जाते थे और भजन-कीर्तन, पूजा-

सेवादि धार्मिक क्रियाएँ चलती रहती थीं। भोजन में भी अनन्त को राधाकृष्ण का प्रसाद मिलता। ऐसे धर्मनिष्ठ पारिवारिक परिवेश में बचपन से ही अनन्तप्रसाद का अंतस् भक्तिभाव से सम्पन्न हुआ। कहा जाता है कि एकबार प्रह्लादाख्यान सुनकर ये इतने प्रभावित हुए कि अपने घर के स्तंभ में नृसिंह भगवान् की अनुभूति करके नित्य उसकी पूजा करते थे।

आठ वर्ष की आयु में इन्होंने माता-पिता के साथ द्वारका की यात्रा की। बचपन से ही इनका कण्ठ कीर्तन गाने में अत्यन्त सुरीला था। माध्यमिक शिक्षा-काल के अन्तर्गत ही इन्होंने अनेक धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया, भजन तथा भक्तों के आख्यान कंठस्थ कर गाने लगे और पिंगलशास्त्र का अभ्यास करके स्वयं दोहा, चौपाई एवं पुराने भक्तों के पदों का अनुकरण कर पदरचना करने लगे। श्रीकृष्ण के प्रति इनका प्रेम इतना प्रगाढ़ था कि हिंडोल-लीला के दर्शन के समय ये प्रतिदिन नया हिंडोल-पद रचकर गाते थे।

मैट्रिक की शिक्षा पूर्ण होने पर इन्होंने सन् १८७८ ई० में गृहस्थ-जीवन में प्रवेश किया। पिताजी राधनपुर के दीवान थे। अनन्तप्रसाद भी वहीं हजूर-आफिस में नौकरी करने लगे। इनका सिद्धान्त था कि नौकरी में कर्तव्यभ्रष्ट होने से प्रभु रुष्ट होते हैं। अतः ये सदैव निष्ठा एवं लगन से काम करते और संध्या को घर आने पर हाथ में करताल लेकर प्रभुभजन गाने में लीन हो जाते थे। पक्षाघात से से पीड़ित पिता को तीर्थयात्रा कराकर इन्होंने अपनी पितृभक्ति का परिचय दिया था। परमात्मा की कृपा से यात्रा में इन्हें अपेक्षित सुविधाएँ उपलब्ध होतीं और बाधाएँ दूर हो जाती थीं। इससे भगवान् के प्रति इनका श्रद्धाभाव और भी दृढ़ हो गया। इन्होंने कहा है :

जेनुं नाम जगपति राखे, तेनु शानी होय खोट।
माथे शेठ मोटो रे, सेवक नुं अभरे भरे॥

पिता के दिवंगत होने पर २७ वर्ष की आयु में अनन्तप्रसाद ने राधनपुर के दीवान का पद प्राप्त किया और अपनी कार्यक्षमता से कालान्तर में 'रायसाहब' की पदवी से विभूषित हुए।

राजकार्य में व्यस्त होते हुए भी इन्होंने श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध का पद्यानुवाद किया और अनेक कीर्तन-आख्यान तथा पदों की रचना की।

सन् १९०३ ई० में ४० वर्ष की आयु में दीवान पद से मुक्त होकर इन्होंने शेष जीवन परमात्म-भक्ति में व्यतीत करने का संकल्प किया। इनकी भक्ति-भावना उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होती गयी और सारे गुजरात में अपनी रसमयी हरिकथाएँ सुनाकर जन-समाज में इन्होंने भक्ति की आनंदप्रदायिनी लहर फैला दी। नाथद्वारा की यात्रा करके इन्होंने अपने पद श्रीनाथजी को गाकर सुनाये। ये निःशुल्क आख्यान-कीर्तन करते थे। हरिकथा या आख्यान कहने की इनकी शैली रसमय थी। इनकी रहन-सहन भी अपने उपदेश के अनुसार ही सीधी-सादी थी। फलतः इनकी कथाओं ने श्रोताओं का सही अर्थ में संस्कार मार्जन किया। सर लल्लूभाई की सुपुत्री सुमति इनकी शिष्या हुई थीं।

पचपन वर्ष की आयु में अनन्तप्रसादजी श्रीरंगम् की यात्रा पर दक्षिण गये। वहाँ इन्होंने रंग भगवान् से अपने को वैकुंठ में बुला लेने की प्रार्थना की। वापस लौटते समय बम्बई में पाँव फिसलने से एक पँसुरी टूट गयी। बम्बई से माँगरोल पहुँचकर इन्होंने मित्रों से कहा : 'मेरी देह आजसे आठवें दिन महेसाणा के मेरे मित्र बाबाराय भाई के यहाँ गिरेगी।' ये महेसाणा पहुँचे। हालत अत्यन्त गंभीर हो गयी थी। उस समय किसीने श्रीकृष्ण का आख्यान कहना आरम्भ किया और जब कृष्णजन्म-प्रसंग का वर्णन होने लगा तो तुरन्त अनन्तप्रसाद आनन्द-विभोर हो बोल उठे : '**नन्द-घरे आनन्द भयो, जय कनैयालाल की, वाह प्रभु, वाह !' वाह !**' वे पूर्वकथित समय पर ही आषाढ़ शुक्ला तृतीया के दिन

(२६ जून १९१७ ई०) महेसाणा में अपनी धर्मपत्नी दमन गौरी की उपस्थिति में, मदनमोहन हवेली की पुष्पमाला धारणकर कृष्णनाम का संकीर्तन करते-करते दिवंगत हुए। निःसंतान होने से निर्वाण के पूर्व ही इन्होंने 'मेरी सारी संपत्ति का उपयोग धार्मिक कार्यों में हो' ऐसा मनीषा-पत्रक तैयार कर दिया था।

श्री बाबाराय भाई की सहायता से भक्तराज अनन्तप्रसाद के स्मारक के रूप में सन् १९३८ ई० में पाटन (उत्तर गुजरात) में 'वैष्णव वेदान्त-मंदिर' निर्मित हुआ।

अनन्तप्रसाद आशुकवि थे। ये बातचीत करते-करते पद बना देते थे। हिन्दी और गुजराती में करीब ६० ग्रन्थों की रचना करके ये जनमानस एवं विभिन्न राज-दरबारों में कीर्तन-केशरी, भक्त-शिरोमणि, महात्मा आदि विरुदों से अलंकृत हुए थे। 'दशम-स्कन्ध पद्यानुवाद' के अतिरिक्त इन्होंने 'तुकाराम-विठोबा आख्यान', 'नामदेव आख्यान', 'जनुबाई आख्यान', 'नामदेव-निश्चय आख्यान', 'कुँवरबाई नुं मामेरूँ' आदि १२५ से भी अधिक भक्त-आख्यानों का सर्जन किया एवं उपनिषद् और रामानुज के 'श्रीभाष्य' का गुजराती में अनुवाद किया। इनके प्रभुभक्ति-विषयक पद तथा भजन असंख्य हैं। भजनों के अंत में इनका नाम 'अनन्त', 'अनु' या 'अन्नु' मिलता है। इनका 'पदसंग्रह' (पृष्ठसंख्या १२००) हडाला के दरबार वाजसुरवाला द्वारा प्रकाशित हुआ था। इनके आखयान-काव्य 'विविध ग्रंथमाला' के अन्तर्गत 'सस्तु साहित्यवर्धक कार्यालय, अहमदाबाद' की ओर से दो भागों में प्रकाशित हुए हैं। अनन्तप्रसादजी 'आनंद' मासिक भी निकालते थे। इसी मासिक के द्वारा इनके कीर्तन एवं आख्यान लोगों के पास पहुँच जाते थे। इनका अप्रकाशित साहित्य हडाला के दरबार के पास है, ऐसा बताया जाता है।

गुजरात के कविवर नानालाल ने 'हरिसंहिता' की प्रस्तावना में अपनी वैष्णवता का श्रेय अनन्तप्रसाद को दिया है। सचमुच इनके जीवन में परम वैष्णव का प्रेरक स्वरूप आद्योपान्त झलकता है।

अनन्तप्रसाद की भक्तिभावना के अभिव्यंजक दो पद यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :

(१)

(राग : झिंझोटी)

जगतपति दामणे बँधाय।
जेनो करोडनी शक्ति मां,
फसेल छे सहु जीव-समुदाय॥
सुरवर मुनिवर ने ध्यान न आवे,
ते जसोदा ना करमां सपड़ाय।
श्रम के संकट कशुं नव एने,
मात्र स्वजन रीझववा चहाय॥
स्वतंत्र श्रीवर जोई भक्तवश,
जशोदा ना करमां सपड़ाय।
भक्ताधीन नी छाप राखवा,
दामोदर पोते गवाय॥

'जिसकी रीढ़ की शक्ति में सभी जीव-समूह फँसे हुए हैं, वे ही जगत्पति अपनेको दामन (रज्जु) से बँधवाते हैं। जो सुरवर-मुनियों के भी ध्यान में नहीं आते, वे ही यशोदा के कर में फँस जाते हैं। उनके लिए श्रम या संकट कुछ भी नहीं है, उन्हें तो केवल स्वजन को प्रसन्न करने की चाह है। श्रीवर तो स्वतंत्र हैं, किन्तु भक्त को अपने वश में देखकर वे यशोदा के कर में फँस जाते हैं। भक्ताधीन की अपनी छाप रखने के लिए वे स्वयं 'दामोदर' कहलाये।'

(२)

ठामे-ठामे धामे-धामे, बिराजे घनश्याम।
मनहर दुःखहर सुखकर सुंदर, अद्भुत एनां काम॥
हुं तो पळ-पळ देखुं दयाळ परचा तारी प्रीतिना।
आंधळानी अगवड जोइने रे, केम ना करे विचार॥
आंखो दीधी अणमोल बे ए वे केवो उपकार।
खावा पीवा एज आपे, सूता रक्षे छे राते,
उठाडे पाछा जाते॥

('कुँवरबाईनुं मामेरूं')

'घनश्याम श्रीकृष्ण प्रत्येक स्थल और धाम में विराजमान हैं। वे मनोहर, दुःखहर, सुखकर एवं सुन्दर हैं। उनके काम अद्भुत हैं। हे करुणामय ! मैं तो पल-पल तेरी प्रीति के परचे (प्रतीत) देखता हूँ। अन्धे की अड़चन देखकर वह क्यों न सोचे ? उसने तो दो अनमोल नयन दिये, यह कैसा अद्भुत उपकार है। खाने को और पीने को वही देता है, वही सोते हुए की रात में रक्षा करता है और पुनः स्वयं जगाता है।'

म. ई. प्र.

अनुभवानन्द

भक्तकवि अनुभवानन्द का उपस्थिति-काल ईसा की १७ वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। ये सौराष्ट्र के वडनगरा नागर ब्राह्मण जाति के थे। इनका मूलनाम 'नाथ भवान' था। अपने पूर्वाश्रम में ये शक्ति के उपासक थे। इन्होंने माँ अंबा की भक्ति की अभिव्यक्ति सुन्दर गरबों के द्वारा की है तथा श्रीकृष्ण की लीलाओं के भी स्फुट पद लिखे हैं। इनके माता-पिता, गुरु-परम्परा, सम्प्रदाय आदि के विषय में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

इनकी निम्नांकित कृतियाँ मिलती हैं : शिवगीता संवत् १७८८, (१७३१ ई०) राधा-कृष्णनो गरबो, चातुरीओ, विष्णुपद, ब्रह्मगीता, चौपाई संवत् १७८९, (१७३२ ई०) भागवतसार (कडी ५०४), चित्-शक्ति-विलास, अम्बाजीना स्तुति संवत् १७८१, (१७२४ ई०) ब्रह्मविलास संवत् १७७०, (१७१३ ई०) तथा गरबा-गरबी पद।

इनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि ये संप्रदायमुक्त भक्त थे। इसका प्रमाण श्रीकृष्णसम्बन्धी अनेक पदों की रचना के साथ ही अम्बाजीविषयक छंद-रचना है। जीवन की उत्तरावस्था में ये वैराग्य तथा ज्ञानमार्ग की ओर उन्मुख हुए और वेदान्त, तत्त्वज्ञान तथा ब्रह्मविद्या के विषय में भी स्फुट पदों की रचना की। इन्होंने ब्रह्मानुभूति के परमानन्द की काव्य के माध्यम से सफल अभिव्यक्ति की है। इनकी भक्ति-भावना की यह विशेषता है कि जिसका ये गुणानुवाद करते हैं, उसमें सर्वतोभावेन तन्मय हो जाते हैं।

व्रजवल्लभ श्रीराधा-कृष्ण की लीलाओं के स्फुट पदों का संग्रह 'विष्णुपद' उत्कृष्ट कोटि का ग्रंथ है। इनकी काव्यशैली संगीतात्मक है। माताजी के भक्तिव्यंजक गरबा के अतिरिक्त चातुरियाँ और कृष्णलीलाविषयक अनेक राग-रागनियों में निबद्ध 'अनुभवानन्द-वाणी' काव्य की दृष्टि से भी मधुर एवं अनूठी है।

इनके दो पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

तूं बड़ा, तूं बड़ा तूं बड़ा रे।
सबते सबते सांई तूं बड़ा रे॥

तेरो संकल्प में अनंत वैराट।
ऊँचा अद्भुत तेरा घाट॥

एको समे ब्रह्मांड तेरा सीस।
भूवन तेरे पाँच पचीस॥

चंद सूर्य दोउ तेरे नैन।
सारदा सोई ऐ तेरे बैन॥

तेरे उदर में सागर सात।
सप्त पाताल लौ चरन विख्यात॥

सगुण रूप को ऐसो बिस्तार।
निरगुन को कौन पावे पार॥

अध ऊर्ध्व दसों दिसा व्यापक रूप।
श्रुति सो बरनत ब्रह्मस्वरूप॥
कोई न पावे आदि मध्य अंत।
तू हो भयो है जगत और जंत॥

तूं ही प्रकासि अनुभवानंद।
निरगुन सगुन काहा निरद्वंद॥

(२)

बरखत अनुभव उमग्यो सावन।
जल थल होय रह्यो सब हरिया,
लागे खेत सोहावन॥

बिजुरी बिचार प्रकासे घन-घन,
गरज विमल गुन गावन।
याकुं खोजत कई युग बीते,
सो पायो मन-भावन॥

अं. शं. ना.

अमथा भगत

वल्लभ-सम्प्रदाय के अमथा भगत गुजरात के किसी गाँव की हवेली में नौकर का काम करते थे। बाल्यावस्था में ही इनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया था। परिवार में दूसरा कोई नहीं था। अतः ये गाँव के मुखिया के यहाँ रहकर गायों की सेवा करते थे।

गायों की सेवा करते समय इन्हें नित्य नन्दगोपाल का धाम वृन्दावन देखने की प्रबल इच्छा होती। अन्ततोगत्वा एक दिन भगवत्कृपा से हवेली के मुखिया और यात्रा-संघ के साथ इन्हें वृन्दावन जाने का अवसर प्राप्त हो गया। वृन्दावन के दर्शन करके ये भावविह्वल हो पागल-से हो गये। वहाँके वृक्षों को भी वैष्णव-तुल्य मान अमथाजी कृष्ण-प्रेम में खो गये। वल्लभ-सम्प्रदाय के तत्कालीन गोसांईजी के दर्शन कर ये कृतार्थ हो गये और वृन्दावन-गोकुल में गायों की सेवा के लिए रह गये। इनके हृदय की सच्ची भक्तिभावना देख गुसाँईजी बहुत प्रसन्न हुए। गोकुल-वृन्दावन की गायों की पूर्णरूप से सेवा करने में व्यस्त रहते हुए ये प्रायः भोजन करना भी भूल जाते थे। कहा जाता है कि तब भगवान् श्रीनाथजी स्वयं आकर इन्हें प्रसाद के लड्डू खिलाते थे।

अमथाजी की अप्रतिम गो-सेवा से प्रसन्न होकर श्रीनाथजी ने स्वयं उपस्थित हो इनको रासलीला के दर्शन कराये थे। इन्होंने अपना शेष जीवन गोकुल-वृन्दावन में श्रीनाथजी एवं गौओं की सेवा में व्यतीत किया।

इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं होती।

म. ई. प्र.

अवधप्रसाद (अयोध्याप्रसाद)

स्वामिनारायण-संप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी सहजानंद ने अपनी गद्दी के उत्तराधिकारी अपने दोनों भाई—रामप्रताप भाई तथा इच्छाराम भाई, के पुत्रों को बनाया था। रामप्रताप भाई के पुत्र का नाम अयोध्याप्रसाद तथा इच्छाराम के पुत्र का नाम रघुवीर था।

अयोध्याप्रसादजी का जन्म जेठ सुदी ११, सं० १८६५ (१८०८ ई०) के दिन हुआ था। इन्होंने स्वामिनारायण-स्तुति, उनके रूपवर्णन एवं प्रेमलक्षणा भक्ति के पद रचे हैं। पदों में ये 'अवधप्रसाद' छाप रखते थे। रूप-वर्णन में वर्णों का चुनाव इनके पदों की चारुता बढ़ा देता है। जैसे:

गुलाबी पाग धारी रे,
सोहे सांवरियो, गुलाबी पाग धारी रे।
केसर जामा धरे अभिरामा,
निलो दुपटो शुभ भारी रे॥

केसर घोरी अतिरंग रोरी,
कर कंचन पिचकारी रे।
रमे रसरंगे सब प्रफुलित अंगे,
निज सखा घेरे गिरिधारी रे।
'अवधप्रसाद' निरखिये शोभा,
तन मन प्राण जन वारी रे॥

इनका एक श्रृंगारवर्णन देखें:

नीलकंठ रहो अब मेरे, नैनन के नैरे।

सुंदर बदन कमलदल लोचन,
निरखत सब दुःख हो मोचन।
भाल विशाल इंदुदर लाजी के हो रहे चेरे॥

इसी प्रकार घनश्याम बाँधे शीर पागर्या, सहजानंद महाराज की मूरति तथा नेनुके मारे बान रे आदि पद आचार्यश्री की भक्ति को स्पष्ट करते हैं।

इन्होंने प्रभाती के पद भी लिखे हैं। जैसे: होत प्रात घनश्याम जगावे। इसी प्रकार इनके रचे होरी के भी पद हैं: होरी खेलन घर आवे, आदि।

इन्होंने काफी, कल्याण, खमांच आदि विविध रागों में पदरचना की है। इनकी प्रेमलक्षणा भक्ति सहजानंद स्वामी के प्रति अनन्यता लिये हुए है। इनका गोलोकवास सन् १९२४ ई० में हुआ।

नीचे इनके तीन भक्तिभावव्यंजक पद दिये जाते हैं :

(राग : खमाच)

प्यारा लागो श्रीघनश्याम,
तुरंग खेलावता रे।
शिरपर बांधी भारे शुभ पगीया,
भ्रूह के पर आंय लगीया।
पहिरे पीताम्बर शोभे,
सुख उपजावता रे ॥ तुरंग०

केशर तिलक भाल बिच सोहे,
चंचल चितवनी में चित्त मोहे,
बांहे बाजु तोरा शोर लटकावता रे।
उर पर हार हजारी ललके,
नासिका निकट तिल एक झलके,
री चोर दुपट्टो ओढ़ी मोरे घर आवता रे ॥ तुरंग०

भ्रकुटि कुटील नेंन की शोभा,
निरखी मुनिवर के मन लोभा,
'अवधप्रसाद' धारि छबि अंतर,
अतो सुख पावता रे ॥ तुरंग०

(राग : दादरा)

हमसे न्यारे न रहो गुमानी।
श्याम बिना पल एक न जावे,
स्नेह करी पछतानी ॥ हमसे०

नीर बिना ज्युं मीन मरत है,
तैसे ही जिया अकुलानी।
करि-करि नेह छेह दीयो हमकूं,
नेक दया नहिं आनी ॥ हमसे०

'अवधप्रसाद' के नाथ मिले बिन,
भरि आवत द्रग पानी ॥ हमसे०

(राग : केदारा, प्रभाती)

हेत कर्य हेत कर्य प्रगट घनश्यामशुं
राख्य हरि उर में प्यारी।

कोटि ब्रह्माण्ड के कारन श्रीहरि
अेवो घनश्याम अंतर में धारी ॥

शिर पर पाग गुलाबी धारी हरि,
कान में कुंडल-शोभा भारी।

भाल विशाल में तिलक केसर केरु,
निरखता वटाक्षय नर-नारी।

सुन्दर कंठ में हार गुलाब के
बायें बाजुबंध पुष्पकारी।

उरविषे श्रीवत्सचिह्न सोहे घणु,
निरखता सुख उर छाय तारी।

श्वेत वस्त्र नित धारत श्रीहरि
चंचल मूरति अति शोभे सारी।

'अवधप्रसाद' के नाथ कुं ले भजी,
मुक्त करे सब कष्ट हारी।

अ. शु.

अविचलदास

अविचलदास नडियाद के निवासी साठोदरा नागर ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम विष्णुदास था। इनका उपस्थिति-काल सं० १६८४ माना जाता है। अपना परिचय देते हुए इन्होंने लिखा है :

गुर्जर खंडे नडयड निवास।
नागर नारायणना दास।
विष्णुदाससुत अविचल वाण।
सफल सभाने दे कल्याण ॥

इनकी गणना गुजराती भाषा के अच्छे आख्यानकारों में की जाती है। 'आरण्यक पर्व' इनका बृहद् काव्यग्रंथ है। भागवत और आरण्यक पर्व की कथा एक पौराणिक भट्ट से श्रवण करके इन्होंने अपनी मति के अनुसार उनका अनुवाद किया है।

आरण्यक पर्व की कथा ७५ कडवों में विभक्त है। इसमें कवि ने प्रकृति-वर्णन का मनोहारी दृश्य प्रस्तुत कियां है।

प्रकृति-चित्रणविषयक इनका एक गुजराती पद द्रष्टव्य है :

पर्वत सरिता वनविस्तर।
दिव्यगंध फल फूलन परि ॥

शीतल जल पापसनां धाम।
वनमा विसमी घानी हाम ॥

तलाव वृक्ष फल फूलि रहे।
फूल सुन्दर शी शोभा कहे ॥

कुंज मनोहर गिरिनी धात।
नीरस्तरणे जल उत्तम भाग ॥

सुन्दरवन एक शोभा घणीं।
दीठी श्रेणी नभिखग नणी ॥

उक्त दो ग्रंथों के अतिरिक्त इन्होंने श्रीराधावल्लभ के पुष्टिमार्गीय अष्टसखा, नरसिंह मेहता और मीरा के पदों का भी संकलन किया है।

अं. शं. ना.

अविनाशानन्द

अविनाशानंदजी का जन्म सं० १८९० में वीरमगाम में हुआ था। इनका मूल नाम मोतीलाल था। इनके पिता का नाम भवानीशंकर तथा माता का नाम यमुनाबाई था। विसनगरा नागर ब्राह्मण-परिवार के संस्कार इन्हें जन्म से ही मिले थे। अहमदाबाद आकर विद्वान् पंडितों से इन्होंने संस्कृत का विशेष अध्ययन किया। वहाँ ये अपने बड़े भाई और भाभी के साथ रहते थे। एक छोटी-सी घटना से कवि के जीवन में महान् परिवर्तन हो गया। जैसे नरसिंह मेहता को भाभी के व्यंग्यपूर्ण शब्दों ने प्रभु की ओर उन्मुख किया था, वैसे ही एकबार भोजन के समय भाभी के अनुचित वचन कहने पर इनके जीवन में एक बड़ी क्रांति घट गयी। इन्हें संसार से विरक्ति हो गयी। ये विषण्ण होकर वहाँसे चल पड़े। जेतलपुर के स्वामिनारायण-मन्दिर में आनंदस्वामी के पास जाकर आश्वस्त हुए। केवल दस ही दिनों में पूर्वजन्म के संस्कार के कारण इनको तीव्र वैराग्य की प्राप्ति हुई।

जेतलपुर से अपनी माता के आग्रह पर ये अहमदाबाद आये और इनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। वैराग्य प्रबल होने के कारण इन्होंने विवाह करने से स्पष्ट इनकार कर दिया। इन्हें तो जन्म-जरा-मरण से परे भगवद्भक्ति का आनन्द प्राप्त होता था। संत-समागम के लिए ये अहमदाबाद में स्वामिनारायण-मंदिर के आचार्य श्रीअयोध्याप्रसादजी के पास रहने लगे। इनका दृढ़ वैराग्य और अनन्य भक्ति देखकर आचार्यश्री ने थोड़े ही समय बाद दीक्षा देकर इनका नया नाम 'अविनाशानन्द' रख दिया।

अविनाशानंद की कवित्वशक्ति को पहचानकर आचार्यश्री ने इनको भुज की प्रसिद्ध काव्यशाला में भेज दिया। वहाँ जाकर इन्होंने काव्यांगों, पिंगलशास्त्र आदि का गहन अध्ययन किया और साथ में काव्य-रचना भी करते रहे।

स्वामिनारायण-संप्रदाय में दीक्षित होते हुए भी अविनाशानंद संप्रदायमुक्त कवि थे। इन्होंने रासेश्वर श्रीकृष्ण की लीलाओं का भक्तिभाव से गान किया है। श्रीकृष्ण की बाललीला, दानलीला आदि प्रसंगों का इन्होंने बड़ा ही सुंदर एवं काव्यमय वर्णन किया है। इनकी काव्यशैली सुसंस्कृत, प्रसादगुणयुक्त एवं मधुर है।

'वासुदेव-माहात्म्य' और हरिरस-पिंगल' कवि की कृष्णभक्ति के दो कीर्तिस्तंभ हैं। इन्होंने अनेक स्फुट पदों की भी रचना की है। 'भाषा-भूषण,' 'कविप्रिया', 'काव्यकल्लोल', 'रसरहस्य', 'वेदांतपूर्ण' और 'भगवत्-पिंगल' जैसी बहुमूल्य कृतियों की रचना का इन्हें श्रेय प्राप्त है। इनके स्फुट पद 'अविनाशानंद-काव्य' में संगृहीत हैं।

राधा-कृष्ण के परम उपासक अविनाशानंद का गोलोकवास सं० १९२९ में हुआ। इनकी काव्य-रचना के दो उदाहरण प्रस्तुत हैं :

(१)

मोरे बाँके बिहारीलाल, चाल चित-चोर।
तोरे बँकि नैन विशाल, करेजरा-कोर॥
शीर बंको कलंगी धार, प्यार कर प्यारा।
मोरे खाबन दिल खुसयाल, ख्याल कर न्यारा॥
कर बनिता संग बिहार, हार धर हीय में।
मुख बोली अमृत बोल, कोलकर कोय में॥

(२)

छेल न छुबो छतिया हमार, फटिगो मेरो अंचरवा।
लाख टके को लीनी सारी, बिहारी नागर नन्दकुमार॥

उरज उत्तंग नहीं शाम चतुर पिया,
नाजुक नबीन लगार।
लोक नगर के देखे डगर में ठाड़े सब नर-नार॥
अविनाशानन्द कु जेल न कीजो,
छोटी में अति सुकुमार॥

अं. शं. ना.

आदित्यराम

आदित्यराम का जन्म सन् १८१९ ई० में जूनागढ़ में हुआ था। ये जाति के प्रश्नोरा नागर थे। इनके पिता वैकुण्ठराम संस्कृत के प्रकांड पंडित और कवि थे। इनकी माता उत्तमबाई सुरीले कंठ से प्रभुभक्ति के पद और भजन गाया करती थीं।

इनको बचपन से ही संगीत और काव्य के संस्कार माता-पिता की ओर से मिले थे। संगीत में इनकी अधिक रुचि थी। अतः उसके अभ्यास में निरंतर लीन रहते थे। बड़े होते ही इनकी संगीत-प्रतिभा की प्रशंसा होने लगी और ये माने हुए उस्तादों में गिने जाने लगे। जूनागढ़ के नवाब बहादुर खाँ ने इनका संगीत सुनकर और इनकी कवि-प्रतिभा को देखकर इन्हें राज्याश्रय प्रदान किया। सन् १८४० ई० में आश्रयदाता नवाब की मृत्यु हो जाने से ये जामनगर के जाम साहब श्रीविभाजी के आमंत्रण पर वहाँ जाकर रहने लगे। संभवतः वहीं इन्होंने पुष्टि-संप्रदाय में दीक्षा ले ली और जामनगर के श्री व्रजनाथजी महाराज के साथ समस्त भारत की यात्रा की। कवित्व और संगीतकला से अनेक राजे-महाराजाओं और संगीतज्ञों को प्रभावित करके इन्होंने एक अर्थ में तो दिग्विजय ही प्राप्त की।

ये संस्कृत, फारसी, गुजराती, मराठी और हिन्दी के अच्छे ज्ञाता थे। देशाटन के कारण ये बहुत-सी दूसरी भाषाएँ भी समझ और बोल लेते थे। व्रजभाषा के प्रति इनके हृदय में विशेष आदर और प्रेम था। अतः इनके कई पद व्रजभाषा में निबद्ध हैं। इन्होंने अपना 'संगीतादित्य' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ रत्न व्रजभाषा में ही लिखा है।

भक्तकवि आदित्यराम ने श्रीराधा-कृष्ण की लीलामाधुरी का संगीतात्मक वर्णन लालित्यपूर्ण पदावली में प्रस्तुत किया है। पुष्टिमार्गीय भक्त होने से इन्होंने राधा-माधव का गुणगान अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक किया है। कृतियों में इन्होंने कहीं-कहीं 'आदित' के साथ ही अपनी छाप 'रवि' या 'रविराम' भी दी है। व्रजभाषा में लिखी गयी 'संगीतादित्य' नामक इनकी शास्त्रीय कृति संगीतकला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। ताल, स्वर और राग-रागिनियों का इसमें सुंदर विवेचन एवं निरूपण किया गया है।

इनकी सुरीली और रससिद्ध वाणी से निःसृत राग और तालों में निबद्ध एक संगीतात्मक पद यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

(१)

श्रीरणछोड-वर्णन

(राग : भूप, त्रिताल, ठुमरी)

मोर मुगुट की लटक पर वारी।
शंख चक्र गदा पद्म बिराजे, मधुरि मुरत मतवारी॥

उर गुंजा बनमाल लसे और करन कुंडल छबि न्यारी ।
'आदित' प्रभु रनछोड को निरखत कोटि काम
बलिहारी ॥

कुछ पदों में इन्होंने पुष्टिमार्ग के आचार्यों और गुरु की महिमा का भी गुणगान किया है। राग देशी और त्रिताल में निबद्ध निम्नलिखित रचना में कवि ने व्रज-निधि श्री विट्ठलनाथ की महिमा का वर्णन किया है :

भज मन वल्लभ-विट्ठल नाम ।
तरुनि तनय तन धाम धरा धन,
आवत कोऊ न काम ॥ भज०

'आदित्यराम' व्रजनिधि पदपंकज,
व्रज-जन मन बिसराम ॥ भज०

अं. शं. ना.

आधार भट्ट

आधार भट्ट भरूच के खेडावाल ब्राह्मण थे। इनका उपस्थिति-काल ईसा की १७ वीं शताब्दी का मध्यभाग है। इनकी रचनाएँ हैं : 'शामळशानो विवाह' और कडवां (पद)। इनके जीवन के बारे में कोई सामग्री प्राप्त नहीं है।

'बृहत् काव्यदोहन, ग्रन्थ ८' में 'शामळशानो विवाह' लिपिवद्ध है। इस काव्य का एक अंश यहाँ उद्धृत है :

(दुहो)

नरसैयो निरखी रह्यो, रास रमे व्रजराज ।
निःशंक हरि निर्भे थया, तजी तारुणी लाज ॥

(चाल)

त्यारे लाज तजी गिरधारी ।
उलट्यो दधी कुंजबिहारी ॥

मोरली कर मोहन धारी ।
करे राग-रस ठसक भारी ॥

मानुनी कर जंत्र म्रदंग ।
करे थइ-थइ नवलो रंग ॥

सोल सहस्र सव आठ नारी ।
उलट्यो रस-सागर भारी ॥

जाणे सोळ कळानुं रूप ।
उलट्यो रससागर गुण-भूप ॥

'नरसिंह देख रहे हैं कि व्रजराय रास खेल रहे हैं। हरि निःशंक, निर्भय हो गये। तरुणी ने लज्जा छोड़ दी तब गिरधारी ने भी लज्जा छोड़ दी। कुंज-बिहारी उलट पड़े। मोहन ने हाथ में मुरली धारण की और भारी रस-राग करने लगे। मानिनी भी हाथ में जंतर (एक प्रकार का वाद्य) एवं मृदंग ले 'थाई-थाई' करने लगी। नया रंग आया। सोलह सहस्र और एक सौ आठ नारियाँ हैं। रससागर मानो प्रबलता से उमड़ पड़ा, मानो सोलह कला का रूप एवं रससागर, गुणसागर भूप उमड़ पड़ा।

म. ई. प्र.

आला कमा मालचडिया

आला कमा मालचडिया अहमदाबाद के धंधुका तहसील के समढोआला नामक गाँव के निवासी थे। इनका उपस्थिति-काल १८६५ ई० के आस-पास माना जाता है। ये उस गाँव के चारण जागीरदारों के राजकवि थे। इनकी उपाधि मालचडिया थी। इन्होंने भगवान् कृष्ण को 'शामळा' (साँवला रंगवाला) नाम से सम्बोधित कर एक भावभरी रचना की है जो 'शामळा-स्मरणमाला' नाम से प्रसिद्ध है।

इस पद के कुछ छंद नीचे दिये जा रहे हैं :

(सोरठा-दोहा)

राघव केशव राम, धरणीधर गिरिवर-धरण ।
नकळंक गोविंद नाम, श्रीधर माधव शामळा ॥

कृष्ण जदूपत कान, मोरलीधर त्रीकम मुकंद ।
विशंभर भगवान, छो घणनामी शामळा ॥

केशव तो जेवा कमण, वदियं खमियावान ।
भगतांनां भगवान, ते सहियां मेणा शामळा ॥

तें राखो द्रोपदी तणी, विट्ठल लाज विशेष ।
इं राखो अलेख, शरम अमाणो शामळा ॥

गोकुळ मथुरां गोमती, हरकाशी हरद्वार ।
देव तोळा देदार इं, सिधाय तीरथ शामळा ।

ओढण ताहळुं ओढियुं, निज त्रिलोकीनाथ ।
सोहागण जीं साथ सदाय राखो शामळा ॥

प्रीताळु मोरा पियू, अलग रहो मां आज ।
मे ताहाळो महाराज, सूडी पहेर्यो शामळा ॥

करुणाकर भांजणशकट, आवो आपो आप ।
मेटो हव मा बाप, शोस सदानो शामळा ॥

ल. पिं. ग.

इच्छाबाई

इच्छाबाई के विषय में केवल इतना ही पता चलता है कि इनका जन्म अकोर के एक सहस्र औदीच्य ब्राह्मण-कुल में हुआ था और युवावस्था में ही ये विधवा हो गयी थीं। कुछ दिनों बाद इनकी दृष्टि भी चली गयी। इसके पश्चात् इनमें भक्ति तथा वैराग्य की भावना जगी। ये जीवन-पर्यन्त पतिरूप में श्रीरणछोडजी की उपासना करती रहीं। रणछोडजी के 'प्रसाद' पर निर्वाह करती हुई ये डाकोर की गोशाला के पास पड़ी रहती थीं। इनकी मृत्यु सं० १९१५ के आस-पास हुई। सिद्धपुर के एक सज्जन भाणजी भाई पटेल ने इनकी उत्तरक्रिया और डाकोर के ब्राह्मणों एवं साधुओं को उसमें भोजन करवाया था। इच्छाबाई ने डाकोर में लगभग ३० वर्ष बिताये।

'बृहत् काव्यदोहन, ग्रंथ ७' में इनका एक पद उद्धृत है। जो इस प्रकार है :

मारा रूपाका रणछोड,
शोभा शी कहुं रे डाकोरनी ।

तभो द्वारकांथी आव्या रे,
बोडाणा ने मन भाव्या रे ॥

त्यों तो संघ भरायो सारो रे,
नाहावाने मारवणीओ आरो रे ।
त्यां तो गोमती लेहेरे जाय रे,
त्यां तो हरिनो भेटो थाय रे ॥

हरिने कान कुंडल लकेरे,
मुगटमां हीरा चलके रे ॥

मने मल्यो इच्छाबाई नो स्वामी रे,
सहु गोपिओ आनंद पामी रे ॥

'मेरे रूपवान् रणछोड़ ! डाकोर की शोभा क्या कहूँ ? तुम तो द्वारका से आये, बोडाणा के मन भाये। वहाँ तो संघ अच्छा जुटाया है, स्नान के लिए मक्खन जैसा घाट है। वहाँ तो गोमती लहराती है, वहीं तो हरि से भेंट होती है। हरि के कानों में कुंडल लटकते हैं और मुकुट में हीरे चमकते हैं। मुझे तो इच्छाबाई का स्वामी मिल गया है। सब गोपियाँ आनन्दित हुईं।'

म. ई. प्र.
ल. पिं. ग.

ईसरदास रोहडिया

'ईसरा परमेसरा' के रूप में ख्यात ईसरदास का जन्म यों तो राजस्थान के भादरेश (भद्रेश) गाँव में हुआ था, किन्तु युवावस्था में ये गिरनार की यात्रा करने सौराष्ट्र आये और लिम्बडी-जामनगर को अपना कार्यक्षेत्र बना लिया। ईसरदास बारोट-कुल के चारण थे। इनका समय सम्भवतः सोलहवीं शती का मध्य-भाग है। इनके जन्म-समय के सम्बन्ध में एक दूहा प्रचलित है :

संवत पंदर पनडोतरे, जन्म्या ईसरदास ।
चारण वरण चकार में, उणदिन हुवो उजास ॥

इनके गुरु का नाम पीताम्बर था। उन्हींकी प्रेरणा से इन्होंने भागवत का अभ्यास किया और 'हरिरस' नामक बृहत् भक्तिकाव्य-ग्रन्थ लिखा। इस तथ्य का निर्देश स्वयं ईसरदास उक्त ग्रन्थ के आरम्भ में करते हैं :

लागां हुं पहेलो लळो पीतांबर गुरु पाय ।
वेद पदारथ भागवत, पायो जेणे पसाय ॥

ये आरम्भ में लिम्बडी में रहते थे, किन्तु बाद में इन्हें जामनगर (नवानगर) के राजवी जाम रावल की राजसभा में कवि के रूप में स्थान प्राप्त हो गया। इस सम्बन्ध में एक किंवदंती प्रसिद्ध है।

'जाम रावल के दरबार में पीताम्बर भट्ट नामक एक महापंडित थे। वे निरन्तर भगवद्कथा सुनाकर दरबारियों को प्रसन्न करते थे। ईसरदास भी प्रतिदिन नये-नये कवित्त रचकर राजा को प्रसन्न करने की चेष्टा करते थे, किन्तु पीताम्बर भट्ट ईसरदास की निरंतर उपेक्षा करते थे। एक दिन क्रोधाविष्ट हो ईसरदास ने पीताम्बर को मौत के घाट उतारने का का निर्णय किया। आधी रात को शस्त्र लेकर ये पीताम्बर के घर पहुंचे और बाहर खड़े हो गये। इसी बीच इन्होंने घर के भीतर से पीताम्बर भट्ट और उनकी पत्नी का संवाद सुना। भट्ट पत्नी से कह रहे थे: 'राजसभा में एक ईसर बारोट अपने कवित्तों से राजा को प्रसन्न करता है। राजा मेरे सामने देखते हैं तब मैं सिर हिलाकर ईसर को कुछ देने नहीं देता। उस बेचारे को बड़ी तकलीफ है। उसके बच्चे भूखे मरते हैं। तुम सुबह उसके घर कुछ दाने भेज देना।' पत्नी ने पूछा: 'आप राजा को क्यों रोकते हैं?' पति ने उत्तर दिया: 'ईसर कुछ समझता नहीं। वह क्षुद्र मानव (राजा) की प्रशंसा में लगा है और अपना जीवन नष्ट कर रहा है। वह परमात्मा का गुणगान करे तो उसके दोनों लोक सुधर जायें। इसीलिए मैं राजा को कुछ देने से रोकता हूँ।'

ईसरदास यह संवाद सुन चकित हो गये। इन्हें पश्चात्ताप हुआ और अपने हथियार फेंक पीताम्बर के चरणों में जा गिरे। तत्पश्चात् ईसर ने पीताम्बर को गुरु बनाया और तभीसे ये भगवद्-भक्ति में रम गये।

गुरु पीताम्बर की आज्ञा के अनुसार ईसरदास ने चारणी पद्धति के वृत्तों में स्तुतिकाव्य 'हरिरस' लिखना प्रारम्भ किया। कहा जाता है कि छह महीनों में यह काव्य पूर्ण हुआ। ग्रन्थ पूरा होते ही इनको ऐसा आभास हुआ कि इनकी दृष्टि के समक्ष भगवान् कृष्ण नाच रहे हैं और ये उनकी वंशी के सुर सुन रहे हैं। इस घटना के बाद द्वारका आकर इन्होंने वह ग्रन्थ भगवान् द्वारकाधीश को अर्पित किया और द्वारका में पाँच वर्ष तक हरिरस-ग्रन्थ का पठन-पारायण करके कृष्णभक्ति की लहर-सी फैला दी। ग्रन्थ-समर्पण समारोह के अवसर पर जाम रावल भी उपस्थित थे। तभीसे इन्होंने अपना नाम 'ईसरदास' रखा। द्वारका में ये भगवान् श्रीकृष्ण के साथ बातचीत करते थे, ऐसी भी कई अनुश्रुतियाँ हैं।

ईसरदास के जीवन से सम्बद्ध असंख्य चमत्कारी कथाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि इन्होंने अपनी कृष्णभक्ति के प्रभाव से मृत्युशय्या पर पड़े अमरेली के वजाजी राजकुंवर करण को रोगमुक्त किया था और सिन्धुप्रदेश में एक परमार-माता के पुत्र सांगा को नदी में डूबने से बचाकर जीवनदान दिया था। इसी कारण ईसरदास की कीर्ति सौराष्ट्र, राजस्थान, सिन्धु आदि प्रदेशों में फैल गयी।

ईसरदास की पत्नी का नाम देवल बा था। इन्होंने मांगरोल में नरसिंह मेहता से भेंट की थी। यह बात मीठा-कवि ने अपने एक काव्य में बतायी है। ये १०७ वर्ष की आयु में संचाणा गाँव में दिवंगत हुए, ऐसा बताया जाता है।

ईसरदास की रचनाओं का प्रमुख विषय है राधा-कृष्ण-भक्ति। इनकी रचनाएँ हैं: 'हरिरस', 'छोटा हरिरस', 'बाललीला', 'रास-कैलास,' 'सभापर्व', आदि। इनका 'हरिरस' मुक्तिप्रदायक माना गया है:

कवि ईसर हरिरस कियो, दोहा तीन सौ साठ।
महा अधम पाये मुकत, जो कीजे नित पाठ॥

भावनगर के राजकवि स्व० पींगलसी पाताभाई ने 'ईसरदासनुं आख्यान' लिखा है, तो गोकुलदास द्वारकादास रायचुरा ने 'ईसर-दान' नामक उपन्यास की रचना की है। ईसरदास की अजर-अमर कीर्ति के ये प्रमाण हैं।

प्रसिद्ध है कि जिस समय इन्होंने अपना ग्रंथ 'हरिरस' द्वारका जाकर द्वारकाधीश को अर्पित किया उस समय श्रीकृष्ण ने वरदान दिया था कि जो कोई 'हरिरस' का प्रतिदिन पाठ करेगा, वह हर प्रकार से सुखी होगा तथा उसे मुक्ति प्राप्त हो जायगी। इससे आज भी 'हरिरस' सर्वत्र समादृत है।

'हरिरस' ग्रंथ के इनके द्वारा द्वारकाधीश को अर्पित किये जानेवाले प्रसंग से सम्बद्ध 'कन्ह आरती' की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

कन्ह आरती, कन्ह आरती,
मैढ हुवै नैयर द्वारामती।
वीणा शंख झालर बाजती,
गाजै जल, सायर गोमती॥

कन्ह आगै पंच दीपग जलैं,
किरीट कुण्डल झलहलै॥

आगें अम्बु सायर उछलैं,
धरणीधर शिर चम्मर ढलैं॥

दल चम्पक, जाइ तुलछी,
दम्या कपूर कस्तूरी कुमकुमा।
गुण ग्रंधव होये चहुँ गम्मा,
सह मलै पुंज चढ़ती सम्मा॥

घण भुंगल बाजै घणघणां,
वे पुस्तक हुऐ बांचणां।
ताय विकसै, तन भगतां तणां,
रणछोड़ महल रलियामणा॥

वाजित्र छत्तिस बजाडिये,
चन्दन पोहप शिर आडिये।
रणछोड़ कलाणा रमाडिये,
ईसराईम पाप उडाडिये॥

●

गोपालकृष्ण

कबहुंक धेनु लै बन जात।
सब ही सखा संग ब्रजनाथ॥

डगरी चलत सगरी गाय।
क्रीडा करत केसवराय॥

दधि की मथनियां सिर धार।
मथुरा चलीं गोकुल-बाल॥

विचरत जहां मोहन छैल।
निकसी आई वाही गैल॥

हरिजी दौरि ग्वालिनि हेर।
लीन्हों बीच बनमें घेर॥

'हमको दीजियै दधि-दान'।
'तुमको नन्दजी की आन'॥

लन्धन धीट वे कर जोर।
निरखें सखी नन्दकिशोर॥

कर नहिं कसहूँ की कान।
दधिकौ लैन आयौ दान॥

इतनी सुनत बात मुरार।
मटुकी लई शीश उतार॥

हरिजी कवल दधि के लेत।
ग्वालिनि जात गलची देत॥

लन्धन धीटवे तन मायं।
दै दै नैन सैन हसायं॥

धन-धन ब्रज्ज के आहीर।
जिनकी भई प्रभु से सोर॥

शंकर चतुर्मुख सुरराज।
मुख से कहैं 'धन महाराज'॥

होम्यौ जगनकौ नहिं लेत।
इनकी छाछ से बहु हेत॥

सुरभी चले सुन्दर श्याम।
टेरत गाय लै लै नाम॥

धोरी धूमरी करि टेर।
पोरी पीत पटकों फेर॥

गौओं चलीं जहँ गृह नन्द।
उलटे मनहुँ सात समन्द॥

होरी गावते सब ग्वाल।
उनके बीच मोहनलाल॥

गिरिधर करत मुरली-गान।
देखत देव बैठ विमान॥

चढ़-चढ़ अटा पै सब बाल।
निरखत नन्दजू कौ लाल॥

उड़ रज धरा अम्बर छाय।
जसुमति निकट मोहन जाय॥

माता-गोद बैठत कान्ह।
लागत गवाँ रज ऐसरान॥

इनके दरस पर लख बेर।
ईसर बारि डारौं फेर॥

(गाथा)

केशवः क्लेशनाशाय दुःखनाशाय माधवः।
नृहरिः पापनाशाय मोक्षदाता जनार्दनः॥

गोकोटिदानं ग्रहणे च काशी,
मकरे प्रयागेऽयुतकल्पवासो॥

यज्ञे च मेरुसम हेमदानं,
नहि तुल्य गोविन्द-नाम-समानं॥

हरि बिसारी तू सवै, हरि जागै तौ कज्ज॥
ओ अपराधी आतमा, अवगुन एह अलज्ज॥

◆

श्रीकृष्णस्वरूप-माधुरी

(छन्द : उधोर)

निरख्यों आज रूप-निधान।
कोटिक अनंग की छबि कान॥

माथे मुकुट पँखा मोर।
धुरवत मदन मुरली घोर॥

भाल विशाल, लोल कपोल।
राखत भानु-कोटिक ओल॥

भृकुटी बंक, भौंह कबानु।
झलकत कुण्डला जुग भानु॥

नासा कीर, पंकज नैन।
बोलत मधुर अमृत बैन॥

दशन अनार, पंकज आन।
ऊपर बिंब छबि अधरान॥

ग्रीवाकार मुत्रग गुंज।
तापर पटा श्यामल पुंज॥

यमुना सरस्वती अरु गंग।
सो मनु भई हैं इक संग॥

भारी ओपियत भुजदण्ड।
पोगर मनो फील प्रचण्ड॥

इनके पालव नख़ सु ओप।
राखैं वज्रकन सौ रूप।

करतर पीतपट लपटान।
कंचन लाल करत बखान॥

तप कर अरुन तरुन तपाय।
बैठो हेमगिरि की छायँ॥

केसरी कटि कदली जंघ।
तापर बने रूप त्रिभंग॥

ओपत चरण-अम्बुज लाल।
जो बिच उरध रेख बिसाल॥

अवतल गदा चक्र पदम्म।
प्रणमत कटैं कोट्टि करम्म॥

बाको लागि रज लड़ जात।
ताकौं ब्रह्म शिव ललचात॥

खेलत बाल जुथ्थ मुरारि।
गोकुल गाँव नन्दकुमार॥

इनके दरस पर लख बेर।
ईसर बारि डारौं फेर॥

हरि हरि कर परिहरि अवर,
हरिरो नाम रतन्न।
पांचौं पाण्डव तारिया,
कर दागियो करन्न॥

ए रे नर परिहरि अवरं,
हरि हरि सुमिर हियाह ।
सन्त सुदामा सारखा,
क्रोडी धज्ज कियाह ॥

चत्रभुज चरणां धार चित,
अकल अजोनी आंख ।
गोकुल गिरिधर ज्ञान ग्रहि,
रामनाम मुख राख ॥

त्रीकम बद्रीनाथ बुध,
जगमोहन जयकार ।
धनदाता आनन्दघन,
श्रीपति श्रवणां धार ॥

पुरुषोत्तम पूरण प्रभू
राघव गिरिधर रूप ।
मुरलीधर मोहन मुकुन्द,
भज लै त्रिभुवन-भूप ॥

राम कृष्ण नारायणा,
सच्चिदानन्द गोविन्द ।
वासुदेव विट्ठल विभू,
नरहरि गोकुल-नन्द ॥

आठ पहर आनन्द सों,
जप जिह्वा जगदीस ।
केशव कृष्ण कल्याण कहि,
अखिलनाथ कहि ईश ॥

केशव कहि-कहि सुमिरिये,
नव सोइय निरधार ।
रात-दिवस के सुमिरणै,
कबहुंक लगै पुकार ॥

कल्प वेद शास्तर-कथे,
सिध साधक सह कोय ।
अन्न बिन तृपति न ऊपजै,
हरि बिन मुकति न होय ॥

ल. पिं. ग.
म. ई. प्र.

उन्नडजी जाड़ेजा

उन्नड़जी खाकर (कच्छ) के निवासी थे। इनका समय १८३६-१८८२ ई० के बीच माना जाता है। इनके जीवनसम्बन्धी तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। इनकी रचनाएँ हैं : खुशबु-कुमार, मेघाडम्बर, भागवत-पिंगल, भागवत-गीता, उन्नड-बावनी, ब्रह्म-छत्तीसी, ईश्वर-स्तुति, नीति-मर्यादा, कक्का-कुण्डलिया, कर्म-बावनी तथा महाभारत। इस सूची से पता चलता है कि भक्त होने के साथ ही काव्यशास्त्र में भी इनकी अच्छा पैठ थी।

अ. शु.

उपेन्द्राचार्य नृसिंहाचार्य

उपेन्द्राचार्य प्रसिद्ध विद्वान् तथा भक्त श्रीनृसिंहाचार्य के पुत्र थे। माता-पिता से प्राप्त संस्कारों के फलस्वरूप इन्होंने सात वर्ष की आयु में योगविद्या सीख ली थी। दैवयोग से बारह वर्ष की छोटी आयु में ही ये पिता की छत्रछाया से वंचित हो गये। फिर माता मंगला देवी ने इनके पालन-पोषण तथा शिक्षा की व्यवस्था की। शैशवकाल से ही उपेन्द्र में आध्यात्मिक चिंतन, मनन और लेखन की वृत्ति अंकुरित हो गयी। आगे चलकर इन्होंने सामाजिक चेतना के द्वारा बहुजन-हिताय सिद्धेश्वर-समाज, विश्वबंधु-उद्यान, चारित्र्य-मंदिर आदि संस्थाओं का निर्माण किया।

अधिकारी साधकों एवं लोककल्याण को दृष्टि में रखकर इन्होंने पद, गरबा, रास, कीर्तन, संवाद, आख्यान आदि की रचना की। इनकी रचनाओं में प्रमुख हैं : 'श्रीउपेन्द्र-गिरामृत' (पदसंख्या १६००), 'सुदामाख्यान', 'शुक-जनकाख्यान', 'कालीयमर्दन-आख्यान' और 'दुर्वासाशाप-आख्यान'। १८०० पंक्तियों में बद्ध 'सुदामाख्यान' में पद, गीत, चौपाई, दोहा, साखी, गीति, देशी के अतिरिक्त हरिगीति, शिखरिणी आदि मात्रिक एवं वर्णिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। इस कृति का प्रमुख लक्ष्य है अनासक्ति, कृष्णभक्ति एवं गुरुकरुणा की महिमा को प्रस्थापित करना।

आचार्यश्री के सभी काव्यों का उत्सवों पर गान होता है। विशेषरूप से जन्माष्टमी के दिन रात को साधक-समुदाय द्वारा 'सुदामाख्यान' का आद्योपान्त पाठ-गान होता है, जो कृति की गुणवत्ता एवं लोकप्रियता का प्रमाण है।

साधकों के तत्त्वदर्शन का प्रमुख केन्द्र 'सद्गुरु-परमात्मतत्त्व-अभेद' होने से इस वर्ग के वाङ्मय में गुरुभक्ति-माहात्म्य का सिद्धान्त मूर्धन्यस्थानीय है। अतः उपेन्द्राचार्य ने भी 'सुदामाख्यान' में श्रीकृष्ण को गुरुबन्धु से उत्सुकता से मिलते हुए बताया है :

गुरुबन्धुनां दर्शन करीने आज हुं पवित्र थउं।

'गुरुबन्धु के दर्शन करके आज मैं पवित्र होऊँ।'

इनके काव्य में उपमा-उत्प्रेक्षा अलंकारों की छटा दर्शनीय है :

ललाट जाणे होय रजतरस-भर्युं सरोवर,
नीलोत्पलसम नयन, उग्यां बे तेनां तट पर।

'कृष्ण-सुदामा-संवाद' में भक्तकवि ने श्लेष एवं चातुरी का सुंदर प्रयोग किया है। आचार्यश्री के भक्ति-भावव्यंजक दो अंश नीचे दिये जाते हैं।

सुदामा श्रीकृष्ण की अतुल एवं अगम्य करुणा-शीलता देखकर प्रसन्नता व्यक्त करते हैं :

करुणा कृष्णनणी जे अतुल।
मने नव दीधुं अनर्थनुं मूल।

दइश जो हुं संपत्ति आने।
वही जाशे ये तो अभिमाने ॥

नहिं वहे ए पछी मुज ध्याने।
पछी ए तो पडशे अधःस्थाने ॥

विचारलुं कृष्णे आवुं अमुल्य।
करुणा कृष्णनणी ज अतुल।

'सचमुच कृष्ण की करुणा अतुलनीय है। मुझे अनर्थ का मूल (धन) नहीं दिया। उन्होंने सोचा, यदि मैं इसे संपत्ति प्रदान करूँगा तो यह अभिमान में बह जायगा। फिर मेरे ध्यान में नहीं बहेगा और अधः-स्थान पर गिरेगा। ऐसा अमूल्य विचार कृष्ण ने किया। सचमुच कृष्ण की करुणा अतुल है!'

सुदामा द्वारा की गयी श्रीकृष्ण की भावपूर्ण प्रार्थना में उपेन्द्राचार्य की कृष्णनिष्ठा उजागर होतीहै :

प्रभु! आप विना,
आ सघळुं मारे मन लुखुं-लुखुं,।
आथी सुन्दर मन्दिर बन्धुं,
कदी होये धन ते माध्य घणुं।
पण प्राणविनानुं तहे बनु,
प्रभु! आप विना।
प्रभु! हुं तो छुं घेलो कालो।
आ मन्दिरमां आवी महालो।
जो तमने सुदामो होय वहालो,
प्रभु! आप विना ॥

'प्रभु! आपके बिना मेरे विचार से सब कुछ रूखा-सूखा है। कदाचित् घर में अधिक धन हो तो मन्दिर सुन्दर बन सकता है। किन्तु प्रभु! प्राणों के बिना देह के समान आपके बिना वह मन्दिर सूना है। प्रभु! मैं तो काला-घेला (पगला) हूँ। यह सुदामा आपको प्रिय हो तो इस मन-मन्दिर में आकर विराजिये।'

म ई. प्र.

कटहरिया

कटहरिया पुष्टिमार्गी भक्तकवि तथा गुसाँई श्री-विट्ठलनाथजी के सेवक थे। इनके जीवन के विषय में विशेष जानकारी नहीं मिलती। गुसाँईजी ने जब अपनी पांचवीं व्रजयात्रा प्रारम्भ की थी तब ये व्रज में ही उनकी शरण में आये थे।

ये वृत्ति से डाकू थे। व्रज के सुनसान मार्गों में राहजनी तथा लूटपाट करना ही इनका व्यवसाय था। जब गुसाँईजी व्रजयात्रा कर रहे थे, तब इन्होंने अपने साथियों को लेकर उनके काफिले पर

आक्रमण किया। किन्तु गुसाँईजी के प्रभाव से ये उनकी शरण में आ गये और अपनी वृत्ति का परित्याग कर दिया। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में इनका वृत्त दिया गया है। कालान्तर में भक्ति के साथ ही इनके अंतस् में काव्यप्रतिभा का भी उन्मेष हुआ। श्रीनाथद्वारा में गोवर्धननाथजी के सम्मुख इनके द्वारा गायी गयी बधाई का पद नीचे दिया जाता है :

(राग : सारंग)

आज महामंगल महराने !
पंच शब्द धुनि भीर बधाई घर-घर वे रखवाने ॥

ग्वाल भरे कांवरि गौरस की वधू सिंगारन जाने ।
गोपी-गोप परस्पर छिरकत दधि के भार ढराने ॥

नामकरन जब कियौ गर्गमुनि मन्द देन बहु दाने ।
पावन जस गावत 'कटहरिया' जाहि परमेश्वर माने ॥

अ. शु.

करशनदास (क्रश्नाजी) छीपा

करशनदास जोधपुर जिले के जालोर परगने के रामशेण गांव के रहनेवाले थे। इनका जन्म संवत् १८९० (१८३३ ई०) में हुआ था। ये कपड़ा छापनेवाली छीपा जाति के थे, किन्तु व्यवसाय दरजी का करते थे। इन्होंने जुवादरा गाँव के रईस आशिया जीवनदास के पास काव्यशास्त्र का अध्ययन किया था। निर्धन होते हुए भी पूर्वसंस्कारवश इनका जीवन अत्यन्त पवित्र और दानशील था। इनके दरवाजे पर कोई भी साधु-सन्त, गरीब, अतिथि आता तो ये बड़े प्रेम और आदर के साथ उसका सत्कार करते थे। इनके इस कार्य से रामशेण के ठाकुर काबा परमार रुष्ट हो गये। परिणामस्वरूप इन्हें वह गाँव छोड़ना पड़ा और ये सपरिवार सिरोही (राजस्थान) के वड़ोदरा गाँव में जा बसे। वड़ोदरा के जागीरदार चारण ने इन्हें ससम्मान रहने के लिए मकान दिया। यहाँ भी ये कपड़ा सीकर परिवार का भरण-पोषण करते रहे। १८९९ ई० के भीषण अकाल में इनका भी परिवार संकट में पड़ गया। इसी समय इन्होंने 'प्रेम-पोकार' काव्य की रचनाकर प्रभु को प्रसन्न किया। फिर तो इनकी अच्छी उन्नति हो चली। किंवदन्ती है कि 'प्रेम-पोकार' की रचना के पश्चात् ये उसके 'अवतार-चरित्र' प्रसंग का नित्य वाचन करते थे। इसके फलस्वरूप सदैव इन्हें खर्चभर का धन प्राप्त हो जाता था। ये प्रभु के सच्चे भक्त थे। इनकी रचनाओं में 'प्रेम-पोकार' के अतिरिक्त एक अन्य ग्रन्थ 'करुणाष्टक' का उल्लेख मिलता है। इनका परलोकवास १९०१ ई० में हुआ।

इनका भावभरी रचनाओं के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं जो हिन्दी में हैं, किन्तु उन पर राजस्थानी का पुट है जिनका भाव ध्यान देने पर सरलता से समझ में आ जाता है :

(दोहा)

अगणित संत उधारिया,
तार्या भगत तमाम ।
अरजी हेक अनाथ री,
सुण जों श्रीघनश्याम ॥

(छन्द : मत्तगयंद)

श्रीघनश्याम सलाम गुलाम की,
बूड़त है भव-सिंधु में बेरो ।
तार अबार उबार मो त्रिकम-
नाथ बिना कुण समरथ नेरो ।
शेष महेश सुरेश के साहब,
व्यापक ब्रह्म बडा म बडेरो ।
संत अनंत की स्हाय करी हरि,
मोहन युं पकरो कर मोरो ॥

• • •

टेरत हूँ कहा सान न तोयकु,
कान न मांडत औरण केरो ।
दासकु त्रास पड़े दुख दारुण,
सोई रह्यो कहा सांज-सबेरो ।
में अबलिन महाबलि मोहन,
श्रीपत दीनहुँ आपको चेरो ।

संत अनंत की स्हाय करी हरि
मोहन युं पकरो कर मोरो ॥

• • •

नेण थको निज पंथ निहाळत,
वेण थकी कर कूक बिथासी ।
ढूंढत हो दशहु दिश धावत,
खोज न पावत वेदप्रकासी ।
कौन उपाय मिली अब केशव,
हाय प्रभू जग में हुई हाँसी ।
मो अबलिन कुं डार उजार में
नंदकुमार गयो कित नाशी ॥

• • •

आपकी लाज रखो अपने हथ,
ठाकुर मान लियो कहुं थोरो ।
जूड़ न भात आहीर के जानत,
सुंदरि के हरि अंबर चोरो ।
नारि के लाज घरोघर नासत,
गोकुल गाम में घालत घेरो ।
कूकत दास भयो अति कातर,
बोलत क्यूं न भयो कहा बेरो ॥

• • •

मात पिता गुरु बंधव मोहन,
और न ठाकर एक अनामी ।
त्याग करो मत दासकुं त्रीकम,
गोविंद पोरकी मोर गुलामी ।
मेरो निभाव है पाव मनोहर,
चेतन राम की पाव सलामी ।
अंतर हेक कुटुंब न ऊपर,
नंदकिशोर प्रियं घणनामी ॥

(छप्पय)

घणनामी गोपाल, जगतिपति अंतरजामी ।
पढत न आवे पार, अकलगत आप अनामी ।
जगत चराचर जोव, भरण-पोषण ब्रद भारी ।
अडग खंभ अदभूत, विषम दुःखहरन बिहारी ॥
करुणानिधान सब सुख करन, एक तुम्हारो आशरो ।
कमलानिवास 'कृशनो' कहे, दरिद्र निवारो दासरो ॥

ल. पिं. ग.

कलो

कलो का जन्म सौराष्ट्र के पोरबन्दर नगर के पास कोलीखड़ा गाँव में रबारी (ग्वाल) जाति में करीब डेढ़ सौ वर्ष पहले हुआ था । अनपढ़ होते हुए भी इनके हृदय में माँ शारदा का निवास था । बचपन में ही इनका विवाह हो गया था, किन्तु दो-तीन वर्षों के भीतर ही धर्मपत्नी दिवंगत हो गयी । फिर तो कलो ने पुनः विवाह करने का विचार छोड़ दिया और भक्ति-मार्ग के यात्री बन गये ।

पर्वतों और खेतों में घूम-घूमकर ये भगवान् के गीत-भजन गाने लगे । जगह-जगह से भजन गाने को इन्हें आमंत्रण मिलने लगे । पूर्ववर्ती भक्तकवियों के एवं स्वरचित भजनों को गा-गाकर कलो ने उस प्रदेश में परम भक्त के रूप में कीर्ति प्राप्त की ।

मंत्र-तंत्र में इनका विश्वास नहीं था, तथापि इनकी साधना से आकृष्ट हो लोग अपनी समस्याओं के समाधान के लिए इनके पास आने लगे । कलोजी सभीको मधुर बानी में उत्तर देते थे ।

इन्होंने 'जोडकणां' एवं भजनों की रचना की है । ये रचनाएँ रबारी (चरवाहा) जाति में आज भी गायी जाती है । इनकी मृत्यु का समय अज्ञात है, परन्तु इनका समाधि-स्थान अबतक कोलीखडा गाँव में विद्यमान है ।

'नटवर-भजनावली' में संगृहीत इनका एक भजन (थाल) अतीव प्रसिद्ध है । जो इस प्रकार है :

मारे घेरे आवजो मावा । सावरे ढेबरुं खावा ॥

बाजरानां बे ढेबरां ढीब्यां, ताजुं रे मेल्युं तेल ।
करच कोठी बानो काचरी मेली, गोळनी कांकरी मेल ॥

रींगणानुं मे भद्रथुं कीधुं आखा कारेलानुं शाक ।
कोडे करीने में कढी बघारी जमजो दीनानाथ ॥

लूखें पांखुं ढेबरुं ने वळी, माज्या घरनी छास ।
दूझाझामां तो छे बांकरां मारे, एवो गामडियो वास ॥

जल जमुनानी झारी लाव्यो छुं हाथ धूओ दीनानाथ ।
दास 'कलो'नो विनती मुंने राखो चरणमां वास ।।

'हे मावजी (कान्ह) प्रातः मेरे घर ढेबरा (चपाती) खाने आओ। वजरी के दो ढेबरे बनाये हैं और ताजा तेल रखा है। उसके साथ कोठींबा (एक फल) की कतरी और गुड की कंकड़ी भी रखी है। बैंगन का भरता है और आखा (साबूत) करैला की 'कलौंजी' बनायी है। प्रेम से मैंने कढ़ी बघारी हैं। हे दीनानाथ ! भोजन कीजिये। किसीके घर से माँगी छाछ है। दुहने के लिए तो मेरे पास केवल बकरियाँ हैं। ऐसा मेरा देहाती वास (रहन-सहन) है। यमुना-जल की झारी (भर) लाया हूँ। दीनानाथ ! हाथ धोइये। दास कलोकी विनती है, मुझे अपने चरणों में रखिये।'

'पांडवोंनो आंबो' शीर्षक इनके प्रसिद्ध पद का अंश प्रस्तुत है :

द्रोपदीजी तो महासतीजी,
लांबी काढे रे लाज ।
कर जोड़ी ऊभां रह्यां,
त्यां फल पाक्यां हजार ।
थाल भरी आंबो वेडोयो,
पुषी करोने फराल ।
हाथैनो वेडल आंबलो रे,
इ फल न मारे काम रे ।।

कुंताजी तो महासती ने,
अलौकिक अवतार ।
पाय लाज्यां एने पांडवो,
त्यारे फल पाक्यां हजार ।।

रुषी जमाडी राजी थयां ने,
बाडले वेच्यां पान ।
कलो ना स्वामी छे शामला,
एनां सत राख्यां भगवान ।।

'द्रौपदीजी तो महासती है, इन्होंने लम्बा घूंघट काढा है। ये हाथ जोड़ खड़ीं रही तो वहाँ हजारों फल पके। थालभर आम गिराया है। हे ऋषि ! फलाहार कीजिये। (ऋषि ने कहा :) 'हाथों से गिराये फल मेरे काम के नहीं हैं।' कुंतीजी तो महासती हैं, अलौकिक अवतार हैं। पांडव जब इनके पाँव लगे तब हजारों फल पके। ऋषि को भोजन कराया, हर्षित हुए और पान-बीड़ा दिया। कलो के स्वामी तो साँवरे कृष्ण हैं। भगवान् ने ही इनके सत की रक्षा की है।'

म. ई. प्र.

कल्याणजी

कल्याणजी डाकोर के वैष्णव कवि थे। इनका समय सन् १७८८ ई० के लगभग माना जाता है। इसके अतिरिक्त इनके जीवन के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है। इनकी लिखी पुस्तकें कई बतायी जाती हैं जो इस प्रकार हैं : छन्द-प्रभाकर, रसचन्द्रिका, अर्जुन-गीता, दशम स्कन्ध भागवत, प्रस्ताविक कुण्डलियाँ और स्फुट पद।

अ. शु.

कहानदास

गुजरात में 'कहानदास' नाम के दो भक्तकवि हुए हैं। इनमें से एक कहानदास की 'ओखा-हरण' और 'एकादशी-माहात्म्य' शीर्षक दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं। ये कहानदास औदीच्य ब्राह्मण हीरा के पुत्र थे।

दूसरे कहानदास के 'गोवर्धन-रास' और 'कृष्णजन्म-बधाई' के पद 'बृहत् काव्य-दोहन—ग्रन्थ ७' में संकलित हैं। पदों को देखने से स्पष्ट होता है कि ये कृष्णभक्त हैं। इनकी रचनाओं से दो पद यहाँ दिये जाते हैं :

(१)

हावे माता कहे छे वात रे,
विद्या कांहां शीख्यो,
सहु बलीया उपर बलीया रे,
आज तने में प्रोछ्यो रे ।

सोल सहस्रनो भेटज लइने
आव्यो तो मधरावे,
पहेला प्राण मासिना शोष्या,
अरे हमे देवने संहार्या हाथ रे ॥

मथुराथी चाली आवतां रे,
जमनाअे दीधो माग,
मामा साथे रणज रमीने,
तमे नाथ्यो कालीनाग रे।
एनी जन्मोतरीमां लखीयुं
हतुं बचन कह्युं गर्गाचार्य,
ते दहाडानो हुं विस्मय थई
छुं आज पारखु दीठुं अपार रे ॥

माताना मनमां प्रीतज उपजी
प्रेमे आलिंगन दीधुं,
कंठ वाली मुख चुंबन करीने
माताअे मन कर्युं मीठु रे।
हां जी गोपी-गोवालांने धीरज देवाने
करवा लीला-रंग,
दास कानीयाना स्वामी ने भजतां,
तेने पाप नहिं लेपे अंग रे ॥

“माता यशोदा कृष्ण से कहती हैं : ‘तूने ऐसी विद्या कहाँसे सीखी ? आज तो मैंने तुझे सबसे बलवान् देखा। तू तो मध्यरात्रि के समय सोलह सहस्र भेंट लेकर आया था। सबसे पहले मौसी के प्राण हर लिये। अरे ! तूने तो हाथों से देव का संहार किया। मथुरा से चले आने में यमुना ने तुझे मार्ग दिया। मामा के साथ युद्ध खेल तूने कालीय नाग का दमन किया। गर्गाचार्य का वचन था, तेरी जन्मपत्री में ही ऐसा लिखा था। उसी दिन से मैं विस्मित हुई हूँ और आज तो अपार परख हो गयी।’ माता के मन में प्रीति उत्पन्न हुई और प्रेम से आलिंगन किया। कृष्ण गोप-गोपियों को धैर्य देने और लीलारंग करने आये हैं। दास कहान (कवि) के स्वामी को भजने से अंग पाप से लिप्त नहीं होता।”

(२)

‘कृष्णजन्म-बधाई’

श्रावण[1] मास सोहामणो
अष्टमी ने बुद्धवार।
मध्यरात समे रोहिणी,
चन्द्र उदे जन्म्या मोरार ॥

हावे जन्म्या देव मुरार,
तेहना तेज तणो नहिं पार।
हावे प्रगट्या दीनदयाल,
माताजी मुख निहाल।
शंख चक्र ने गदा माल,
काने कुंडल पदम रसाल।
माताजी विमा से तांहे,
अमे कारागृहनी मांहे।
अमे शां विकर्मज कीधां,
रावा कंसे दुःखज दीधां।

‘सावन मास सुहावना है। अष्टमी और बुधवार है। मध्यरात्रि के समय रोहिणी नक्षत्र में चन्द्रोदय पर मुरारि ने जन्म लिया। अब देव मुरारि ने जन्म लिया। उनके तेज का कोई पार नहीं है। अब दीनदयाल प्रकट हुए। माता ने मुख देखा। कृष्ण की देह पर हाथों में शंख, चक्र, गदा और माला हैं। कान में कुण्डल और रसाल पद्म है। उस समय माता उद्विग्न होती हैं, हम तो काराग्रह के भीतर हैं।’

म. ई. प्र.

---

[1] गुजरात और महाराष्ट्र में अमान्त मास माना जाता है। पहले श्रावण शुक्ल, फिर श्रावण कृष्ण। इसलिए हमारे उत्तरी भारत का ‘भाद्रपद कृष्ण’ (जन्माष्टमी पक्ष) उधर का ‘श्रावण कृष्ण’ होता है।

कहानजी धर्मसिंह

कहानजी धर्मसिंह राजकोट नगर के निवासी थे। सौराष्ट्र के प्राचीन-अर्वाचीन लोक-साहित्य को सर्वप्रथम संकलित कर ग्रन्थ का आकार देने का गौरव इन्हींको है। इनके द्वारा जिन कृतियों को ग्रन्थबद्ध किया गया वे आज भी बहुमूल्य हैं। कहानजी स्वयं भी कवि थे। 'कहान-काव्य' में इनकी सर्वोत्तम रचनाएँ संगृहीत हैं। यह काव्य-संग्रह ग्यारह खण्डों में विभक्त है। मान्यता है कि कहानजी का देहावसान सन् १९३९ ई० में हुआ था। यहाँ इनके दो पद दिये जा रहे हैं :

(१)

रसिक कृष्णचन्द्र छबि न्यारी न्यारी,
कलापूर्ण विष्णु-अवतारी ॥
स्थापवा धर्म, अधर्म उथापवा,
नौतम नरदेहधारी।
लज्जा-पुष्टि-तुष्टि-कीर्ति-प्रदाता
वेद-वंद्य अविकारी ॥

कंसना वंशनो ध्वंस कर्यो,
केशी-चाणूर दैत्य संहारी।
कालियसर्पना दर्पने गाल्यो,
भक्तराज कैवारी ॥

बालमुकुन्द करी बाललीला
चोरलीला रुचिकारी।
गोप-गोपीसंग श्रीरंग वल्लभ,
रास रम्या गिरिधारी ॥

द्वारिकामां उद्धवादिने दोधो
बोध निगम निरधारी।
मित्र सुदामानुं दारिद्र टाल्युं,
गुरुगृहवास संभारी ॥

मथुरामां मायानुं मन्थन कीधु
पंच मकारने मारी।
गोकुलमां कुलमोटम मूकी,
गोविन्द गोधनचारी ॥

पुण्डरीकाक्ष वासु दश बांहू,
अभय वरद उपकारी।
ब्रह्माथी श्रेष्ठ श्री उत्पत्तिकर्ता,
सर्वेश स्वेच्छाचारी ॥

त्रण पगला भर्या आप त्रिविक्रम
शाश्वत शिष्टाचारी।
स्त्रीमात्रने दिव्य मातरूपे,
गणी श्रीपति पूर्ण शृंगारी ॥

पार्थने प्रथम कही ज्ञानगीता,
रथ चलाव्यो रसधारी।
जिव शिव शुद्धस्वरूप बतावी,
देहनी ममता निवारी ॥

तन जर्जर जीर्ण वस्त्र तजीने,
नवीन तजे नर-नारी।
कान नवुं तन चेतन धारे,
ज्ञान आप्युं गिरधारी ॥

(२)

चतुर कृष्णचन्द्र छबि न्यारी-न्यारी,
मोह्या भकत मुनि सदाचारी।

अकार बलभद्र उकार प्रद्युम्न ने
मकार अनिरुद्धधारी।
अर्द्धमात्रा ओंकार श्रीकृष्णनां
दर्शनना बलिहारी ॥

प्रकृति मूळ माया रूकमणीए
जगरचना विस्तारी।
शुद्ध गोपीरूप वेदऋचाओ
ब्रह्म श्रीकृष्ण-मुरारी ॥

कर्ण कुंडळ ते ओंकार झळके
ब्रह्मा विष्णु त्रिपुरारी।
पांचजन्य शंख पंचमहाभूत
दे उपदेश पुकारी ॥

कूंटस्थे मुगट तत्त्व ते कौस्तुभ
ज्ञान गदा मनोहारी।
धर्म अर्थ काम चार पदार्थे
भूजाओ दश शणगारी॥

धन्य श्रीकृष्णजयंती महोत्सव
शोभा बनी बहु सारी।
दर्शन दान दीजे दीनबंधु
कान सुलोचन ठारी॥

ल. पि. ग.

काका वल्लभ

काका वल्लभ का जन्म संवत् १७०३ (१६४६ ई०) में हुआ था। इन्होंने गुजराती एवं व्रजभाषा में काव्य-रचना की है। 'भगवदीयनाम-मणिमाला' नामक इनकी एक काव्यकृति पुष्टि-संप्रदाय में विशेष रूप से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक धोल-पद भी लिखे हैं। व्रजभाषा में इनकी 'चरणचिह्न-वर्णन' नामक काव्यकृति भी प्रख्यात है। इस रचना के अन्तिमांश में इन्होंने गोस्वामी हरिरायजी के प्रति सम्मानभाव इस प्रकार व्यक्त किये हैं :

अब श्री षोडस चिन्ह बखानूं,
चरनकमल उर अन्तर आनूं।
अनन्य पासन आसन मानौ,
श्री हरिराय प्रताप यह जानौ॥

अ. शु.

कान्ह राउल

पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यमान कान्ह राउल के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। किन्तु इनके द्वारा रचित वृत्त-बद्ध 'कृष्ण-क्रीडित' काव्य (१०४ श्लोक) से स्पष्ट होता है कि ये कृष्णभक्त थे। किंतु किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध नहीं थे।

'कृष्णक्रीडित' में इन्होंने कृष्ण का निरूपण पर-ब्रह्म-तत्त्व के रूप में किया है।

श्री के. का. शास्त्री 'कविचरित' में लिखते हैं : 'जैनेतर कवि राउल कान्ह ने सर्वप्रथम शार्दूल-विक्रीडित जैसे बड़े वृत्त में पुरानी गुजराती भाषा का एक महत्त्वपूर्ण खण्डकाव्य लिखा।'

'कृष्णक्रीडित' में कृष्ण-गोपी या कृष्ण-राधा के विविध भावों का मार्मिक प्रकाशन हुआ है। काव्य का प्रधान रस श्रृंगार है। उसमें भक्तकवि ने यमुनातट पर राधाकृष्ण-विहार, रासविहार आदि का वर्णन किया है। इसमें कृष्ण को खोजती गोपियों की विरहाकुल दशा का मार्मिक चित्रण हुआ है। इसकी एक बानगी लीजिये :

हींडई कामिनी कृष्ण-कृष्ण जपती तु दीह नोठई नहीं,
पूछई बात मिसिई सखी मुझ कहु को कृष्ण जाणुउ किहीं।

गोपी-कृष्ण-मिलन की एक झलक देखिये :

आवी उलटि उधसी स्मररसिइ प्रेमाकुली नाथ सूं,
हर्षी नेत्र गल्यां दया प्रभि तदा लूछ्यां हसी हास सूं।
ए शूं कामिनि कांई काजल गलई श्रीकृष्ण पूछयुं विसिइ,
स्वामी कांई वीसारि पावस समइ अन्यत्र कांई तूं वसइ॥

म. ई. प्र.

काशीदास मोरारजी

काशीदास का जन्मस्थान दयादरा गाँव था, किन्तु कारेला गाँव में रहते थे। ये अठारहवीं शताब्दी के मध्यभाग में विद्यमान थे। जाति से ये लोहार थे। पिता का नाम था मोरारजी। इनके जीवन के बारे में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है। 'बृहत् काव्यदोहन-ग्रन्थ ८' में काशीदास के थाल के पद प्रकाशित हुए हैं। उनमें से एक यहाँ दिया जा रहा है :

मारे घेर आवो रे, हरि प्रसाद खावाने।
विलंब न करशो रे, नौतम नहावाने॥

सौ हरिजन साथे रे, प्राणनाथ पधार्या।
चंदन-पाखडीए रे, चालंता भाल्या॥

आवीने उभा रे, मंदिरे मारामां।
मन मारु प्रीयुं रे, प्रीतम प्यारामां॥

कनक सिंहासन रे, मलीयागरना पाया।
ते पर बेठा रे, नंद-यशोदाना जाया॥

'हे हरि! प्रसाद खाने मेरे घर आइये। हे नरोत्तम! नहाने में विलम्ब न कीजिये। सब हरिजनों के साथ प्राणनाथ पधारे। चंदन की खड़ाऊँ पहने उन्हें चलते देखा। आकर मेरे मन्दिर में खड़े रहे। मेरा मन प्रीतम प्यार में लीन हुआ। कनक का सिंहासन है और चंदन के पाये हैं। उस पर नन्द-यशोदा के लाल बैठे हैं।'

म. ई. प्र.

काशीराम करशनजी बांभणियां

काशीराम करशनजी का जन्म मार्गशीर्ष कृष्ण ३ सं० १९३८ (१८८१ ई०) में पशवाली नामक स्थान में हुआ था। यह ग्राम जूनागढ़ के समीप कुतियाना नामक तालुके में स्थित है। इन्होंने यहींकी प्राथमिक पाठशाला में प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की। जब ये १६ वर्ष के हुए तो पितामह श्रीआनंदजी कल्याणजी ने इन्हें पोरबन्दर (सुदामापुरी) की राजकीय संस्कृत पाठशाला में भरती करा दिया। वहाँ इन्होंने तीन वर्षों तक संस्कृत व्याकरण, पंचकाव्यों तथा श्रीमद्भागवत का अध्ययन किया। इसके बाद मांगरोल (जिला : जूनागढ़) में ब्राह्मणों के लिए खोली गयी 'वैष्णव-सुबोधिनी' पाठशाला के अध्यापक बन गये। बाद में ये उसके प्रधानाचार्य हो गये। इस पद पर सं० २०१४ तक रहकर सेवानिवृत्त हुए। इसके अनन्तर ये अपने सुपुत्र पं० केशवराम काशीराम शास्त्री के साथ रहने के लिए अहमदाबाद चले गये। यहीं श्रावण शुक्ल प्रतिपदा सं० २०१९ को इनका गोलोकवास हुआ।

ये आरंभ से ही धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन में रुचि लेते थे। मांगरोल के अध्यापक-जीवन में इन्होंने वल्लभ-संप्रदाय के संस्कृत ग्रन्थों का गहन अनुशीलन किया था। इसी समय से ये संस्कृत तथा गुजराती में गेय पदों की रचना करने लगे थे। मांगरोल के निवासी तथा राधनपुर राज्य के दीवान अनन्तप्रसाद त्रीकमलाल परम वैष्णव तथा साहित्यप्रेमी थे। वे जब कभी मांगरोल आते तो इनकी रचनाएँ सुनते थे। उनके प्रोत्साहन से इन्होंने संस्कृत तथा गुजराती में प्रचुर मात्रा में पदों की रचना की। उनके तीन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

काशीरामजी कवि होने के साथ ही उच्चकोटि के वक्ता तथा संगीतकार भी थे। पुष्टिमार्गीय हवेली-संगीत में इनकी अच्छी गति थी। धार्मिक विषयों पर लिखे गये इनके लेख अनेक सांप्रदायिक मासिक पत्रों प्रकाशित हुए हैं। नीचे इनकी गुजराती पद्य तथा गद्य की भक्तिविषयक रचना के एक-एक नमूने दिये जाते हैं :

(१)

(राग : धनाश्री)

पेट पेट ने पेट जगत मां पेट पेट ने पेट।
पेट सारु जन जाय विदेशे, करे प्रपंच अनेक॥
विद्या भणवो ते ते सारु, करवी अंते वेठ॥

परणे स्त्री बालक ने पाळे, हुन्नर करे अनेक।
ते सारु गावे ने नाचे, कहे नीच ने श्रेष्ठ॥

फूवड़ने कहे लक्ष्मीमाता, करे नीचनी वेठ।
बापा-दादा करता बोले, रहे नीचनी हेठ॥

पेट नेष्ठनी पंचातोमां थयो हुँ छके फजेत।
श्रीराधा वरने ग्यो भूली, 'काशी' कहे चित चेत॥

(प्रेम-संगीता, पृ० ९)

(२)

'जेमां प्रतिपद व बांधेल होय परन्तु जो श्रीकृष्ण-नुं गुणगान जेमां कर्युं होय ते वाणी नुं खरूं बोलवुं छे. अने भले सुन्दर शृंगारिक पदोंथी भरपूर कविता होय परन्तु जे कवितामां श्रीहरिना गुणोनुं वर्णन न होय तो ते वाणीने 'काकतीर्थं' कहे छे. माटे आमां हरिना गुणो होवाथी दोषबुद्धिथी कदो कोई नहीं जुए अने आधुनिक बालकोना चित्तने खेंचवाने आधुनिक संगतिपदों छे ते बात सिद्ध छे।

(प्रेम-संगीता : प्रस्तावना, पृ० २३)

अं. शु.

कीकु वसही

कीकु वसही गणदेवर्ता नामक गाँव के निवासी औदिच्य ब्राह्मण थे। इनका समय सं० १५५० (सन् १४९३ ई०) के लगभग माना गया है। इनके जीवन-विषयक अन्य जानकारी उपलब्ध नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य बाललीलाओं का गुणगान गुजराती में सर्वप्रथम कवि नरसिंह मेहता ने अपने पदों में किया था। उनके बाद बाललीलाओं के विशद चित्रण का श्रेय भक्त-कवि कीकु वसही को है।

किसी संप्रदाय या गुरु-परम्परा से असम्बद्ध रहकर परम भागवत कवि कीकु वसही ने भागवत के दशम-स्कन्ध से बाललीला-माधुरी का रसपान करके वैसे ही मृदुल भावों में गुजराती में काव्य-सृजन किया है। नंदनंदन, व्रजवल्लभ, यशोमती-नंदन श्रीकृष्ण के बाल-स्वरूप का ध्यान कीकु ने विशेष रूप से किया है और वह सुंदर छबि हृदयपटल पर अंकित होने के बाद ही इनके शब्दों में अभिव्यक्त हुई है।

इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं : 'बालचरित' तथा 'अंगदविष्टि'। इनके द्वारा विरचित 'बालचरित' श्रीकृष्ण की बाललीला-माधुरी का रसपान करानेवाला गुजराती का एक अनमोल ग्रन्थ है। भागवत के दशमस्कंध के बालचरित्र और लीलाओं की कथा के आधार पर कवि ने गुजराती में बड़ा ही विस्तृत काव्य लिखा है। मधुरातिमधुर पावनकारी बाल-लीलाओं का ऐसा रससय आलेखन बहुत कम हुआ है। काव्यभाषा, भाव और शैली की दृष्टि से भी यह गुजराती साहित्य का अनुपम ग्रन्थरत्न सिद्ध होता है।

कवि ने अपने 'बालचरित्र' काव्य के कालिय-दमन-प्रसंग में नंद-यशोदा और गोप-गोपियों की विह्वलता और कालिय-दमन के बाद बाहर आते ही कृष्ण के पुनर्दर्शन और मिलन के हर्षोल्लास का काव्यमय वर्णन किया है। उससे एक अंश नीचे दिया जा रहा है :

सुणो वात माता दडवडी।
रुदन करो चाली चडवडी॥

नंदगोप मनि विह्वल थाई।
नयरलोक शुं यमुना जाई॥

गोकुल सकल सुणो खळभळयुं।
नंद केडि सवि आवि मळ्युं॥

गोपनारी सहु साये जाई।
करि विलाप यशोदामाई॥

कहि माता महीधरनी काज।
करूं प्राण हवि माहारा त्याज्य॥

दुख किहिनि कह्यु ं न जाय।
पुत्र-वियोग नहि सहिवाय॥

• • •

गोवाळा साजन परवर्यु।
गोव्यंद गोकुल माहि सांचर्यु॥

सरसा बंदी जन गाजति।
चंग मृदंग ढोल वाजति॥

इम पुहुता धारि त्रिभुवनराय।
हरखि ध्वल नारि सवि गाई॥

तलिया तोरण बांध्या बारि।
घरिघरि उच्छव जयजयकार॥

अं. शं. ना.

कुबेर

कुबेर के जीवनवृत्त एवं कृतित्व के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। 'बृहत् काव्य-दोहन, ग्रन्थ-६' में इनका लिखा 'श्रीकृष्ण-थाल' प्रकाशित हुआ है। वह यहाँ दिया जाता है :

मारे घेर आवजो मावा।
भावे तो ढेबरुं खावा॥
बाजरीनां बे ढेबरां कीधां,
तलियां ताने तेल।
तल पापडने कोचलो मांहीं।
वहोनु दडबुं मेहेल॥

मारा खेतरमाँ लोंबड़ी पाकी ।
आवी फुम तडेल ॥
कालंगडीनुं शाक खाओ तो ।
ओ दीसे छे बेल ॥
बाजरीनां बे ढेबरां कीछां ।
छीए मेहेल्यां वाही ॥
कर जोडीने कहे कुबेरो ।
भगवानदासनो भाई ॥

'हे मावजी (कृष्ण)! यदि भाये तो मेरे घर ढेबरा खाने आइये । बाजरे के दो ढेबरे बनाये हैं और उन्हें गर्म तेल में तला है। तले पापड़ और कतरी के अन्दर दही का लौंदा रखा है। मेरे खेत में लोंबड़ी (एक प्रकार की वनस्पति) पकी है। कालिंग का साग खाओ, देखो वह बेल दिखाई दे रही है। बाजरे के दो ढेबरे बनाये हैं और घी में मिलाये हैं। भवानदास का भाई कुबेर हाथ जोड़ कर कहता है।'

इससे यह ज्ञात होता है कि इनके भाई का नाम भवानदास था। ईसा की सत्रहवीं शती में विद्यमान भवान भगत नामक एक कनफटे कृष्णभक्त साधु का पता चलता है जो खंभात के निवासी थे। संभवतः कुबेर के भाई 'भवानदास' इनसे अभिन्न हों। उस स्थिति में कुबेर का भी उपस्थिति काल १७ वीं शती निश्चित किया जा सकता है।

म. ई. प्र.

कुसुम बेन हरिहर भट्ट

कुसुम बेन हरिहर भट्ट का निवासस्थान बम्बई था। इनके जीवन, जन्म आदि के बारे में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है। फिर भी यह ज्ञात होता है कि इन्होंने सर्वप्रथम सन् १९२६ ई० में अपनी माता त्रिवेणी बा की मृत्यु के बाद उनके संस्मरणरूप में काव्य-रचना प्रारंभ की। फिर उनकी साहित्य-साधना चल पड़ी। १९५४ में इन्होंने अपनो रचना 'भगवत्प्रसाद-भजनावली' का प्रथम भाग प्रकाशित करवाया और सन् १९७२ ई० में इसीका द्वितीय भाग प्रकाश में आया। इनकी रचना की कुछ बानगी इस प्रकार है :

(१)

गोविंद गोकुलनो आनंद
गोपाल गोपीवल्लभचंद ।
गोवर्धन - धारण रणधीर
वंदे गोमती-प्रिय श्रीवीर ॥

नारायण निराकारी
नरवीर नरउत्तम भारी ।
नरसिंह ते वळी नाथ्यो नाग,
वंदे हे नरकान्त सुभाग ॥

पीताम्बरने पद्मनाथ तुं
ध्यान पद्माश पुरुषोत्तमनुं ।
पवित्र पदमानंदनुं धाम
वंदे परमेश्वरनुं नाम ॥

ऐक्य - भावनाथी भरपूर
वंदे भारहरण हे शूर ।
श्रेयस्कर 'श्री'ना स्वामिन
चक्रधरण श्रीवरदानीन ॥

श्रीवत्सलधर सौम्य हे ईश
त्वं वंदे हे श्रीजगदीश ।
योगीश्वर श्रीयज्ञपति,
यशोदानंदने आनंद अति ॥

यमुना-जळना हे कलशोर,
यदुनाथक तमे माखणचोर ।
शीलायुद्ध श्रीशालीग्राम
शंख चक्र शोभाना धाम ॥

असुर सुर सर्वेने मान्य,
वंदे साधु वल्लभ ज्ञान ।
त्रिविक्रम हे त्रिलोकेश
त्रिवित्र तापहरण अभिवेष ॥

हरिणाक्षी - विधाला हरि,
हरिभक्तोंने सहाय करी ।

न्याय युद्धने सहाय दाता।
वंदे सृष्टितणा शाता।
उना हरिनाम की माया
भये पाप नाशेने पवित्र गणे।
कंठी हरिनी कंठमा धरे,
'कुसुम' कहे भव सागर तरे॥

(२)

राधानुं नाम मने प्यारुं रे लागे।
हुं वासकीमां छेडीश तान॥ टेक॥

निंदा करे भले मारी सौ रोज रोज।
घेला सौ व्रजमां तमाम॥ राधानुं ……

राधा हैये ने होठे राधा दिलठांमां गोठे,
राधा विना मारां सुना मंदिर अने,
सुना छे हृदयना धाम॥ राधानुं ……

राधा नहीं तो हुं विश्वमां कयांय नहीं,
राधाभक्ति स्वरूपने भूली जो जाशी तो,
कयांये नहीं मके विश्राम। राधानुं ……

भक्ति बिना नमो भुजवे नहीं पामो,
भक्ति प्रचारो ठामो ठाम।
भक्ति ए सोपान मुजने पासे आववा,
भूलशो नहीं राधानुं नाम। राधानुं ……

हुं ये भूलूं छुं भाव राधानुं लागे तान
घट घट मां राधा ए विश्राम॥
'कुसुम' ना भक्ति रूपी राधाराणी हो
जपजो श्री राधाकृष्ण नाम॥ राधा नुं……

(३)

श्याम हृदयमां राधा रमे ने
राधा ने हृदये श्याम।
भक्ति अने भगवान् भेंट्या छे
गौ लोक मोटुं धाम॥

गोपी पूछे छे मांहो मांहे आ
आश्चर्य मोटुं जपाय।
आपण सौने अलगां राखीने
राधाना प्रेमे तणाय॥

अली प्रीतनी रीत शुं आय!
श्याम हृदयमां राधा रमे ने
राधा ने हृदये शाम॥

कुंजन-वन मां कोयल टहुके
मोर गाये मल्हार॥

राधा ना प्रेमनुं किरण आपजे
अमारो तुं आधार॥

अरज स्वीकारो 'कुसुम' नी,
आज जीवन जगदाधार॥

ल. पिं. ग.

कृष्णदास

गुजरात में 'कृष्ण' नामधारी अनेक भक्त कवि हुए हैं। उनमें से कौन-सी कृति किस कृष्णदास की है, यह बताना कठिन है। एक शिवदास-सुत कृष्णदास द्वारा सं० १६७३ में चांपानेर में रचित 'सुदामा-चरित' प्राप्त होता है। ये जाति के खडायता ब्राह्मण थे। श्री के. का. शास्त्री ने अनुमान लगाया है कि समय की दृष्टि से इन्हीं शिवदास-सुत कृष्णदास ने 'मामेरु', 'हुंडी', 'रुक्मिणी-विवाह' आदि काव्यों की रचना की होगी। 'कर्मविपाक' कृति के रचयिता कृष्णदास इनसे भिन्न हैं। इनके अतिरिक्त सं० १७०२ के आस-पास एक अन्य पूंजासुत कृष्णदास की भी एक रचना 'पांडवीगीता' मिलती है।

इनमें से शिवदास-सुत प्रथम कृष्णदास की छापवाली 'रुक्मिणी-विवाह' नामक रचना में व्रजभाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है। ऊपर कहा जा चुका है कि 'मामेरुं' और 'हुंडी' के रचयिता एक ही हैं ऐसा मत श्री के० का० शास्त्री का है (कविचरित, भा० २, पृ० ४४७)। नरसिंह मेहता के जीवन प्रसंगों पर आधारित 'मामेरु' और 'हुंडो' ऐतिहासिक कल्पकाव्य हैं। विष्णुदास नामक एक अन्य कवि के समान कृष्णदास ने भी 'हुंडी' में भगवान् को द्वारका में

उपस्थित किया है। इन्हीं भक्तकवि ने 'हमचडी' (रुक्मिणी-हरण) भी लिखा है। 'मामेरु', 'हुंडी' और 'हमचडी' तीनों के रचयिता एक ही कृष्णदास हैं। इसका प्रमाण यह है कि तीनों रचनाओं के आरम्भ में 'दामोदर' का स्मरण किया गया है :

मामेरुं : 'कृपा करो दामोदर राय।'
हुंडो : 'श्री दामोदर जे रणछोड'।
हमचडो : 'श्री श्री दामोदर ना गुण गाइये।'

'हमचडो' में कृष्ण और रुक्मिणी का विवाह वर्णित है। 'मामेरु' और 'हमचडी' की हस्तलिखित प्रतियां सं० १७१८ की लिखी प्राप्त होती हैं। अतः कृष्णदास का समय सत्रहवीं शताब्दी का अंतिम चरण असंदिग्ध है।

कृष्णदास की भाषा-शैली एवं कृष्णभक्ति के परिचायक दो पदांश यहाँ दिये जाते हैं :

('हमचडी' में प्राप्त 'गोपी गरबी' का एक अंश)
आसूं मास रलैआंमणो रे, रुडुं ते गोकुल गांम।
गोपी च्याली शहुं रमवा रे, जोवा सुन्दर शांम॥
पहेरां भूंषण भावनां रे, कंठ एकाऊल हार।
कांने झाल्य झबूकती रे, झांझरनो झमकार॥

'रमणीय आश्विन मास है। सुन्दर गोकुल गाँव है। सब गोपियाँ सुन्दर श्याम कृष्ण को देखने और उनके साथ खेलने चलीं। उन्होंने मनचाहे भूषण पहने। कण्ठ में एकावली हार है, कान में झाल (एक प्रकार का कर्णाभूषण) चमकती है और पायल का झंकार हो रहा है।'

(मामेंरुं' का एक अंश)

महेते वहेलि करावी सूत्र।
चाल्या ते लीला अद्भुत॥

तिलक मनोहर कंठे माल।
सुन्दर करमा सोहे ताल॥

बेठा आसन वाळी करी।
श्री दामोदर मन मांहो धरी॥

कंठि आभूषण सालीग्राम।
जोवा म्यलीयू सारुं गांम॥

'नरसिंह मेहता बैलगाड़ी तैयार करके चल पड़े। वह लीला अद्‌भुत थी। उनके भाल पर तिलक, कण्ठ में माला और हाथ में सुन्दर 'करताल' शोभायमान थे। वे श्रीदामोदर कृष्ण का मन में ध्यान करके आसन लगाकर बैठे। आभूषणों में तुलसीमाला और शालिग्राम देखने सारा गाँव इकट्ठा हुआ।'

म. ई. प्र.

कृष्णानन्द स्वामी

कृष्णानन्द स्वामी 'अचिन्त्यानन्द स्वामी' अथवा 'अचिन्त्यानन्द ब्रह्मचारी' नाम से भी जाने जाते हैं। इनका बचपन का नाम 'गंगा-शंकर' था। इनका जन्म डाकोर के पास तृणोल गाँव में संवत् १८७९ (सन् १८२२ ई०) में हुआ था। इनके पिता का नाम दिनकर भट्ट था। इन्हें व्याकरण, पुराण, काव्य आदि की शिक्षा पिता से प्राप्त हुई थी।

इनका विवाह हुआ, किन्तु पत्नी की प्रकृति और आचरण ही ऐसा था कि पति को संसार से विमुख कर दे। इन्होंने अनुभव किया कि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही मानसिक शांति का आधार हो सकता है। उत्तरोत्तर इनकी अनासक्ति बढ़ती गयी और इन्होंने बाईस वर्ष की आयु में अपने तीन मित्रों के साथ गृहत्याग कर दिया।

ये तीन मित्र काशी में जाकर विद्याध्ययन करना चाहते थे, पर रास्ते में प्रेरणा हुई कि बड़ताल जाकर मन्दिर के दर्शन कर लें। बड़ताल आकर इन्होंने गोपालानन्द स्वामी तथा नित्यानन्द स्वामी के पास पढ़ना आरम्भ किया और यहीं इन्हें प्रभु-प्राप्ति का मार्ग प्राप्त हुआ।

इन्होंने ३९ वर्ष की आयु में (सं० १९१७ में) दीक्षा ग्रहण करके 'अचिन्त्यानन्द' नाम धारण किया। स्वामी अचिन्त्यानन्द ने पाँच वर्ष की अवधि में किसी के सिद्धान्त का खण्डन किये बिना ही अपने ज्ञान तथा

आचरण द्वारा श्रीजी महाराज की महिमा प्रख्यात कर दी।

‘श्री हरिलीला-कल्पतरु’ इन के अपार ज्ञान तथा पुरुषार्थ का द्योतक है। पदों में इन्होंने ‘कृष्णानन्द’ नाम दिया है। इनकी हिन्दी पद-रचनाएँ संख्या में विपुल नहीं हैं, किन्तु गेयता के कारण बहुत लोकप्रिय हैं, जिनकी कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :

नाचत थोम थननन, थननननन
नेपुर धुनी झननन झननननन।
तथा
दृगन सेन लई गई जोरन से छतियान
छेद करे रे।
कहा जानूं मोहे कहा कर डार्यो,
खान पान नहि भावे रे॥
पीर जोर से भई हूं दिवानी, परवश प्रान हरे रे।

अ. शु.

कृष्णा बाई

कृष्णा बाई ने बड़नगरा ब्राह्मण-परिवार में जन्म लिया था। इनका समय १८ वीं शताब्दी है। इनकी रचनाएँ हैं—रुक्मिणी-हरण, कृष्णनां हालरडां, सीताजीनी काँचली एवं अन्य प्रकीर्ण पद। ‘बृहत् काव्य-दोहन’, ग्रंथ ५ में ‘कृष्णनां हालरडां’ प्रकाशित हुआ है। इनका एक ‘हालरडां’ (लोरी) पद प्रस्तुत है :

हरि हालो रे, काहान जी हालो रे
नंदजी नो लालो रे, विधनो वहालो रे,
ते पोढयो पारणे। हरिहालो०

हरि ने पारणे जडया खाप रे,नंदजी तो बाप
झुलावे पारणुँ॥ हरि०

काना ने पारणे जड्या हीरा रे,
बलिभद्र जेवा वीरा झुलावे पारणुँ। हरि०

हरि ने पारणे हीरनी दोरी रे, सोभद्रा बने गोरी
झुलावे पारणुँ॥ हरि०

काना ने पारणे झांझां मोती रे,
मली व्रोजनी गोपी, झुलावे पारणुँ। हरि०
हालरु गाय कृष्णाबाई रे, कान जे छे सुखदाई,
झुलावुं पारणुँ॥ हरि०

‘हरि! हालो (बच्चे को सुलाने का उद्गार) कहान जी हालो! नन्दजी का लाला और विश्व का प्रीतम पालने में सोया है। हरि के पालने में अबरक जड़ा है। पिता नन्दजी पालना झुलाते हैं। कन्हैया के पालने में हीरे जड़े हैं। बलभद्र जैसे भाई पालना झुलाते हैं। हरि के पालने में हीरे की डोरी है। गोरी बहन सुभद्रा पालना झुलाती हैं। कान्ह के पालने में मोती जड़े है। व्रज की गोपियाँ मिल कर पालना झुलाती हैं। कृष्णाबाई ‘हालरा’ गाती हैं। कान्हजी तो सुखदायी हैं, मैं पालना झुलाती हूँ।’

म० ई० प्र०

कृष्णाराम

कृष्णाराम का आविर्भाव काल संवत् १७०० के आसपास माना जाता है। ये अहमदाबाद के भट्ट मेवाडा जाति के ब्राह्मण थे। इनके जीवनवृत्त के बारे में अधिक सामग्री प्राप्त नहीं है। इन्होंने विशेष रूप से श्रीकृष्ण और कृष्णभक्त नरसिंह मेहता के जीवन-प्रसंगों पर काव्य-रचना की है। इनकी रचनाएँ हस्तलेखों के रूप में प्राप्त होती हैं। वे हैं : रुक्मिणीहरण (संवत् १७३०), हुंडी (सं० १७१३), मामेरुं (सं० १७३७) और मोटो सुदामो।

कृष्णाराम की रचना का एक अंश यहाँ उद्धृत है:

आव्यो धरि आनन्द, शरणे सारंगपाणि॥
विटंबणानो वाल, दूर करो दामोदर।
जदुपति जाणो जात, संकट काटो सत्वर॥
प्रभुजी रुडो परे, डगतु मन स्थिर करिये।
माधव करिये महेर, अरजी उरे धरिये॥
गो ब्राम्भण प्रतिपाल, आहारे राखो अमने।
कृष्णाराम कंगाल, चरण शरण छे तमने॥

‘हे सारंगपाणि! आनन्द धारण करके आपकी शरण में आया हूँ, हे दामोदर! विपत्ति दूर कीजिये।

यदुपति ! जाति जानकर सत्वर संकट काटिये। प्रभुजी ! चंचल मन अच्छी तरह स्थिर कीजिये। माधव ! कृपा कीजिये, विनती पर ध्यान दीजिये। हे गो ब्राह्मण प्रतिपालक ! हमें अपने आसरे में रखें। यह कंगाल कृष्णाराम तुम्हारे चरणों में शरणागत है।

म० ई० प्र०

केवल कूबा

केवल कूबा का जन्म सन् १४६५ के आसपास सौराष्ट्र में द्वारका के समीप किसी गाँव में हुआ था। जाति के ये कुंभकार (कुम्हार) थे। इनके परिवार में पत्नी के सिवा और कोई न था। ये अपने पैतृक व्यवसाय से जीवन-निर्वाह करते थे। कर्जा लेकर भी साधु-सन्तों को भोजन कराने में ये आनन्द का अनुभव करते थे। साधु-सन्तों की सेवा और ठाकुर जी का भजन-कीर्तन इनकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं।

केवल कूबा के भक्ति-चमत्कार के सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। एक दिन कूबाजी के घर एक साथ दो सौ साधु भोजन करने आ गये। कूबा जी धर्म संकट में पड़ गये। इतने साधुओं को भोजन कराना सम्भव नहीं था। किन्तु कूबाजी ने सभी साधुओं को प्रेमादरपूर्वक बिठाया और स्वयं गाँव में साहूकार के पास पहुंचे। कर्जा बढ़ गया था। अतः साहूकार ने कूबा से कहा : 'मैं रुपये एक शर्त पर देता हूँ। तुम्हें मेरे लिए एक कुआँ बनाना पड़ेगा।' कूबाजी ने यह शर्त स्वीकार कर ली। रुपये लेकर भोजन-सामग्री प्राप्त की और सभी सन्तों को भरपेट खिलाया। दूसरे दिन भक्त और भक्तपत्नी कुआँ खोदने खेत में गये, किन्तु खुदाई के समय मिट्टी ढहने से कूबा जी ढेर के नीचे दब गये। लोगों ने वहाँ आकर देखा तो कूबाजी को बाहर निकालने में दूसरों की जान का खतरा था। सभीने सोचा, कूबाजी मर गये होंगे। किसीने इन्हें बाहर निकालने का साहस नहीं किया। इस घटना के एक वर्ष पश्चात् लोगों ने एक आश्चर्य देखा। कुएँ में दबे भक्त कूबाजी तो साक्षात् ठाकुर जी के सामने नृत्य-कीर्तन कर रहे हैं। सभीने हर्षनाद करके इनका सत्कार किया।

एक दूसरी जनश्रुति है। एक साधु कहीं से ठाकुरजी की मूर्ति अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने ले जा रहा था। मार्ग में वह कूबाजी के घर रात में ठहरा तो कूबाजी ने उस मूर्ति की सारी रात सेवा-उपासना की। सुबह साधु ने चलने की तैयारी की। जब वह अपनी मूर्ति उठाने लगा तो यह देखकर दंग रह गया कि मूर्ति न हिली, न डुली। वह कूबा के घर की धरित्री के साथ जुड़ गयी थी। अन्ततः साधु को मूर्ति सदा के लिए कूबा के घर छोड़ देनी पड़ी। यह कूबा जी की कृष्ण-भक्ति का ही प्रताप था। यह भी कहा जाता है कि ठाकुरजी ने कूबाजी को अपने गाँव के गोमती सरोवर में ही द्वारका नगरी के दर्शन कराये थे।

इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं होती।

म० ई० प्र०

केशरबेन गोपालजी जोशी

वैष्णवभक्त कवयित्री केशर बेन (बहन) सौराष्ट्र के पोरबन्दर नगर की निवासिनी थीं। इनका जन्म समय सन् १९०० ई० है। इनके पिता का नाम गोपाल जीवन जोशी और पति का नाम दामोदर राघवजी था।

कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रीति से प्रेरित हो केशर बहन ने असंख्य कीर्तन-पद रचे और गाये। ये कीर्तन पोरबन्दर के सत्संग-मंडल में भी गाये जाते थे। इन कीर्तनों का संग्रह 'केशर-कृष्ण कीर्तन-माला' नाम से तीन भागों में प्रकाशित है। प्रथम भाग में प्रार्थना, गीतागान, ज्ञान, वैराग्य, हरिदर्शन और दीनताविषयक कुल ५६ कीर्तन संगृहीत हैं। द्वितीय भाग में दीनता, प्रार्थना और शिक्षाविषयक ६१ कीर्तन हैं। अन्तिम अर्थात् तृतीय भाग में शिक्षा, प्रभु-आश्रय और भक्ति से सम्बद्ध कुल ५१ कीर्तन-पद हैं।

केशर बहन ने विविध रागों में श्रीकृष्ण का गान करके अपनी हार्दिक भक्ति-भावना, दीनता, नम्रता तथा दासता सरल शब्दों में अभिव्यक्त की है। इनकी भक्ति भावना के परिचायक दो कीर्तन-पद यहाँ प्रस्तुत हैं :

(१)

लटकाला सुंन्दरश्याम आवो आंगणे रे।
मारा अंतरना आराम आवो आंगणे रे॥ (टेक)

तमे दुखीयाना छो बेली छुं हुँ भवसागरयाँ अकेली,
मारी ब्हाँय पकडजो व्हेली, आवो आँगणे रे।
मारा अवगुणनो नहि पार, प्रभु एक तमारो आधार,
आवो वारे देव मुरार, आवो आँगणे रे॥

टहाला नाव डूबे छे म्हारं, साचुं सगपण एक तमारुं,
में तो शरण ग्रहुचां छे तमारुं, आवो आंगणे रे।
आवो आवो द्वारकांवासी, प्रभु छुं हुं तमारी दासी,
केशर तुज दर्शननो प्यासी, आवो आंगणे रे॥

'लटकेवाले सुन्दरश्याम ! मेरे आँगन में आइये। मेरे अन्तर के आराम, आँगन में आइये। तुम तो दुःखियों के सहायक हो, मैं भवसागर में अकेली हूँ। मेरी बाँह शीघ्र पकड़ो, आइये आँगन में। मेरे अवगुन का कोई पार नहीं, प्रभु ! एक तुम्हारा ही सहारा है। हे देव मुरारि ! मेरी सहायता के लिए आइये, आँगन में आइये। हे प्रीतम ! मेरी नैया डूब रही है, सच्चा सम्बन्ध तो एक तुम्हारा ही है। मैंने तो तुम्हारी शरण ग्रहण की है, आँगन में आइये। हे द्वारका के निवासी ! आइये, आइये। मेरे आँगन में आइये। केशर तुम्हारे दर्शन की प्यासी है, आँगन में आइये।'

श्री.कृष्ण कृपालु प्रभु रंग रसिया।
गोवर्धनधारी मारे मन बसिया॥ रे सखी !

तन मन सोप्यां में तो प्रभुना चरणमां।
हरिना गुण गाउँ सांभलुं करुणमां॥ रे सखी !

घडी न अलगा रेजो सदाये स्मरणमां। रे सखी !
नेहो लगाडो प्रभु अलगा न थइए रे,
पोताना होय त्यां तो दोडी दोडी जइए,
केशर करुणां करो भवपार थइए। रे सखी !

'हे सखी ! श्रीकृष्ण, कृपालु, प्रभु, रंगरसिया गोवर्धनधारी मेरे मनमें बस गये हैं। मैंने तो तन-मन प्रभु के चरणों में सौंप दिये हैं। हरि के गुण गाऊँ और अन्तःकरण में सुनूँ। हे कृष्ण ! एक घड़ी भर भी अलग न रहिये, सदैव मेरी स्मृति में रहिये। नेह लगा के प्रभु अलग न होइये। अपने हों, वहाँ तो दौड़े-दौड़े जायें। केशर कहती है-'करुणा कीजिये, जिससे हम भवपार हों।'

म. ई. प्र.

केशवदास वाल्मीक कायस्थ

केशवदास का आविर्भावकाल पन्द्रहवीं शताब्दी है। इनको वि० सं० १५२९ में लिखी केवल एक कृति 'श्री कृष्ण लीला काव्य' मिली है। उसके अन्त में इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :

सोरठ देश सोहामणो, पावन पुर प्रभास।
श्रीसोमेश्वर शारदा, अलि अंतर कैलास॥

बालम जाति तिहाँ बसे, कुल केरे कायस्त।
ते माँहि रदेरामनो, सेवक सेजे स्वस्त॥

तेहनो सुत हुं केशवदास,
करुं कीर्तन श्रीकमलावास॥

विनय-विनती कहूँ कर जोड़य।
रखे कोय कवि काठो खोडय॥

इस कथन के अनुसार केशवदास सौराष्ट्र प्रदेश में स्थित प्रभास-पाटण के निवासी थे। जाति के कायस्थ थे। इनके पिता का नाम रदेराम (हृदयराम) था। 'करूँ कीर्तन' से स्पष्ट होता है कि केशवदास वैष्णव-भक्त थे। प्रस्तुत कृति में एक दूसरे स्थान पर उल्लिखित 'माहे तारादेनो सुत कहे एम केशवदास' के अनुसार इनकी माता का नाम तारादे (देवी) था।

नरसिंह मेहता के समय में सौराष्ट्र में व्याप्त कृष्णभक्ति से प्रभावित केशवदास ने भागवत दशम-

स्कन्ध, हरिवंश, गर्ग-संहिता, ब्रह्मवैवर्ततापुराण, गीतगोविंद आदि ग्रंथों के सहयोग से ४० सर्गों में बद्ध 'श्रीकृष्णलीलाकाव्य' की रचना कर अपनी कृष्ण-भक्ति का उज्ज्वल रूप प्रकट किया था। गुजरात के प्रसिद्ध विद्वान् के० का० शास्त्री ने अपने ग्रंथ 'कविचरित-भाग १' में इस भक्तिकाव्य की प्रशस्ति की है। उनके मतानुसार यह कृति भालण के 'दशम-स्कन्ध' एवं प्रेमानन्द के 'दशमस्कन्ध' से भी उत्कृष्ट है। इसके अन्तर्गत कवि ने रस की पूर्ण प्रतिष्ठा की है। कृति में अनेक देशी रागों और मात्रिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। नरसिंह मेहता की पद्धति पर लिखित कई पद भी इसमें प्राप्त होते हैं। तेरहवें सर्ग में शार्दूलविक्रीडित वृत्त में रासलीला का वर्णन है। कृष्ण-राधा-लीलाप्रसंग, अभिनवो कृष्णविलास प्रभृति प्रसंगों में भक्त-कवि की मौलिकता प्रकट होती है। भागवतादि उपजीव्य काव्यग्रंथों के कथानकों के आधार पर कृष्णमहिमा का गान ही भक्तकवि का प्रमुख लक्ष्य है।

केशवदास संस्कृत भाषा के भी अच्छे जानकार थे। ये संस्कृत में काव्य-रचना की क्षमता रखते थे। यह बात इन्होंने स्वयं अपनी कृति में बतायी है :

सत्तावन श्री भागवत रूपक छे त्रेवीस।
सोल स्वयंकृत संस्कृत अमली कथा जगदीश ॥

इस प्रकार इन्होंने अपनी उपर्युक्त कृति में संस्कृत के स्वरचित १६ श्लोक रखे हैं। इन्हें व्रज-भाषा का भी अच्छा ज्ञान था। अपनी कृति में इन्होंने व्रजभाषा में सुन्दर पदों का निर्माण किया है। इन पदों के आधार पर श्री रामलाल चू० मोदी जैसे अनुसंधायक केशवदास का आविर्भाव वल्लभाचार्य के पश्चात् विट्ठलनाथ जी के समय में मानकर, इन पर पुष्टिमार्गीय अष्टसखाओं के काव्यों का प्रभाव बताते हैं। किन्तु श्री के० का० शास्त्री का मत है कि 'वल्भाचार्य की भागवत-टीका के अर्थों से केशवदास का अर्थघटन कुछ भिन्न प्रकार का है। अतः केशवदास पर श्रीवल्लभाचार्य का प्रभाव नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ये वल्लभाचार्य से भी पूर्वकाल में विद्यमान थे। निःसंदेह केशवदास वैष्णव थे और कृष्ण के अनन्य भक्त थे। (के० का० शास्त्री, कविचरित भा० १, पृ० ८४-८५)।

केशवदास की भक्ति-भावना के व्यंजक दो पद नीचे दिये जाते हैं। नरसिंह मेहता की पद्धति पर लिखित एक 'झूलणा' में इनकी अनन्य कृष्ण-निष्ठा व्यक्त हुई है। उसे नीचे दिया जा रहा है :

ठाकोर कृष्ण ने कृष्ण हितकर सदा,
कृष्ण विण अवर न देखूं दूजा।

कृष्ण गुरु, गोत्रज, इष्ट कृष्ण आपणो,
करूँ निरतर कृष्ण पूजा ॥

कृष्ण माय-बाप ने कृष्ण ज माओलो
परमात्मा कृष्ण प्राणधारो।

कृष्ण नो दास केशवदास ऊचरे,
सांभले वीनती एह मारी ॥

'कृष्ण ही ठाकुर हैं और कृष्ण ही सदा हितकारी हैं। मैं तो कृष्ण के बिना दूसरा नहीं देखता। कृष्ण ही हमारे गुरु, गोत्रज और इष्ट हैं। मैं तो निरन्तर कृष्ण की ही पूजा करता हूँ। कृष्ण ही माँ-बाप हैं और कृष्ण ही हमारे प्रिय हैं। परमात्मा कृष्ण हमारे प्राणधारी हैं। कृष्ण का दास मैं केशवदास ऐसा कहता हूँ कि कृष्ण मेरी विनती सुनते हैं।'

(२)

राग-धन्याश्री

सोनला केरुं रे सुंदर पालणूं मोतीडां केरां दोर।
हीरला केरा ते जड्या हंसला, माणिक
केरा मोर ॥

हर्षे हींडोले मात यशोमती, सुंदर शामलिया।
पीतांबर पातलिया, गुणनिधि गोवालिया ॥

'सोने का सुन्दर पालना है। उसकी डोर मोतियों की है। उस पर हीरे के हंस और मानिक के मोर

पड़े हैं। सुन्दर श्याम-कृष्ण को माता यशोमती आनन्द से झुलाती हैं। पीताम्बर (धारी) श्रीकृष्ण तो पतले हैं, गुणनिधि ग्वाल हैं।'

म० ई० प्र०

केशवदास वैष्णव

पुष्टि मार्ग के अनन्य उपासक, परम भागवत, वैष्णवकवि केशवदास का जन्मकाल १७वीं शती का अन्तिम चरण माना जाता है। इनके पिता का नाम देवजी था। ये खेंलाड वणिक् जाति के थे और पुष्टि-संप्रदाय के आद्य प्रवर्तक श्रीमद्वल्लभाचार्य जी के पौत्र श्री गोकुलनाथजी के अनन्य शिष्यों में से एक थे। पुष्टिमार्ग की मधुर भक्तिधारा में रसप्लावित होकर केशवदास ने अपनी कविता में पूर्ण पुरुषोत्तम व्रजेन्द्रनन्दन, मुरली-मनोहर श्यामसुन्दर की लीलाओं का रसपूर्ण आलेखन किया है।

'वल्लभवेल' और 'मथुरालीला' कवि के गुजराती साहित्य को दो अनुपम उपहार ग्रंथरत्न हैं। इनकी कृतियों में कहीं-कहीं ब्रजभाषा की कविता और संवाद मिलते हैं।

काव्य-रचना की दृष्टि से 'वल्लभवेल' उत्तमकोटि का ग्रंथ भले न हो, किन्तु उसका ऐतिहासिक महत्व सविशेष है। इन्होंने श्रीमद्वल्लभाचार्य और उनके पुत्र-पौत्रों के जन्म संवत् तथा जीवन-प्रसंगों का श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विस्तृत वर्णन किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

जे कुलमां पुरुषोत्तम प्रकट्या, ते कुल कहुं विख्यात।
संवत पदरसे ओगणत्रीस भर वैशाख ते माह॥

कृष्ण पक्ष एकादशी शुभवार शनि सत मास।
लोकरीत निरुपाधित प्रकट्या श्री आचार्य सुखराम॥

'मथुरालीला' कवि केशवदास का एक आख्यान-परक काव्य ग्रंथ है। इसमें इन्होंने श्रीकृष्ण की मथुरालीला के माहात्म्य का वर्णन किया है। श्रीमद्-भागवत के मूल कथानक पर आधारित अक्रूरागमन, उद्धव-संदेश, मथुराप्रवेश, कंसवध आदि प्रसंगों का गुजराती भाषा में रसमय आलेखन हुआ है। यह आख्यान कवि ने पुष्टि-संप्रदाय के अनुयायी होने के पहले लिखा होगा, क्योंकि इसका मंगल आरंभ गणपति, सरस्वती और गुरु की वंदना से हुआ है। यह आख्यान ग्रंथ कवि की उत्कृष्ट कवित्वशक्ति का परिचायक है। इस में कहीं गोपियों की विरह-विह्वल अवस्था का सूक्ष्म वर्णन है, तो कहीं उद्धव गोपियों को वेदान्त और तत्त्वज्ञान के उपदेशामृत द्वारा आश्वस्त करते दिखाये गये हैं। किन्तु लीला पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण तो सबसे परे हैं, स्थित-प्रज्ञ की तरह रथारूढ़ होकर वृंदावन-लीला समाप्त करके मथुरा चले जाते हैं। कवि ने जलकमलवत् अलिप्त श्रीकृष्ण का बड़ा ही सुन्दर शब्दचित्र प्रस्तुत किया है। पूर्णपुरुषोत्तम की मधुरातिमधुर लीला माधुरी का यही रहस्य है। इनकी रचना का एक उदाहरण प्रस्तुत है :

श्रीगुरुचर्ण प्रताप थी, निशामृतने नामुं शीश।
मथुरामहीमा गाईशुं जगतगुरु जगदीश॥

तेना चर्णप्रताप करी। श्रीकृष्णलीला विस्तरी।
दास केशव कहे, करजोड। नारायण भव बन्धन छोड़॥
पूरणकयुं ए आख्यान। मथुरा महिमा श्रीभगवान॥

अं. शं. ना.

केशव राम

केशवराम का आविर्भाव काल सं० १५६२ माना जाता है। इनकी एकमात्र कृति 'गोपी-संदेश' बतायी जाती है। इसके अतिरिक्त इनके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है।

अ. शु.

केशव लाल भट्ट

भक्त कवि केशवलाल हरिराम भट्ट, जाति के प्रश्नोरा नागर ब्राह्मण थे। इनका निवास स्थान मोरबी था। इनका जन्म संवत् १९०७ (सन् १८५०) बताया जाता है।

इन्होंने संवत् १९२४ (१८६७ ई०) में अपने पिता ब्रह्मनिष्ठ पण्डित जयकृष्ण जीवनराम से धर्मशास्त्र का अध्ययन किया था। शास्त्री शंकरलाल से संस्कृत का ज्ञान प्राप्तकर काव्यशास्त्र में भी निपुणता प्राप्त की। ये अच्छे पण्डित माने जाते थे। 'आर्य धर्म प्रकाश' के संपादक के रूप में इनकी सेवाएँ सुप्रसिद्ध हैं। इनका देहावसान सं० १९५२ में हुआ।

इनकी कविता के कुछ नमूने देखिये :

(१)

मन वोसरमां वनमाली,
मन वीसरमां वनमाली।
नटवर नाथ कारनी वालो,
करमां कुटिल नमाली ॥ (टेक)

जेनी सत्ता बगर जगतमां,
कोई न वस्तु बहाली।
क्षण यण जेणा वगर लगारे,
कोई खूणो नहि खाली ॥

धाम धरा धन जनने मेली,
चतुर जवुं छे चाली।
स्वार्थ तणो संबंध बधानो,
ने आखर छे खाली ॥

विषय भोग संभोग विषम छे,
तज ते साथे ताली।
केशव हरि भजवानुं भूवली,
शोद घुंचवणी घाली ॥

(२)

दीनानाथ दयाल नटवर,
हाथ मारो मूकशो मां।
हाथ मारो मूकशो मां,
हाथ मारो मूकशो मां ॥ टेक ॥

आ महा भवसागरे
भगवान हुं भूलो पड्यो छुं।
चौदह लोक निवास
चपलाकान्त आनक चूकशो मां ॥

ओथ ईश्वर आपनो
साधनविषे समजुं नहिं हुं
प्राणपालक पोत जोई,
शंख आखर फूंकशो मां ॥

मात तात सगां सहोदर,
जे कहुँ ते आप मारे,
हे कृपामृतना सरोवर
दास सारूं सूकशो मां।

शरण केशवलालनुँ छे,
चरण हे हरिराम तारूं,
अखिल नायक आ समय,
खोटे मशेपण खूटशो मां ॥

कवि केशवलाल भट्ट की काव्य प्रसादी अनुभवों एवम् स्वानुभवों के उद्गार रूप में काव्यमय वाणी में प्रवहमान है। ये अपनी कविताओं को 'अनुभवों के उद्गार नाम' से संबोधित करते हैं, यह सर्वथा संगत है। प्रकारान्तर से कहें तो केशवलाल भट्ट का अन्तःकरण भक्त का है। भक्त हृदय का भक्तिमय संगीत इनकी ईश्वर-स्तुति में सर्वत्र पाया जाता है।

ल. पिं. ग.

कोलबा भगत

कोलबा भगत का जन्म सौराष्ट्र के ओखा मण्डल के एक छोटे से गाँव में हुआ था। इनका जन्मकाल अज्ञात है। बचपन में ही ये अनाथ हो गये थे। अतः बड़े भाई ने इनका लालन-पालन किया।

बड़े भाई की पत्नी कोलबा को घृणा की दृष्टि से देखती थी। प्रातः से सायं तक ये सीम में भैंसों को चराने का काम करते थे। स्वभाव से ये शान्त और मितभाषी थे। सांसारिक विषयों से अनासक्त रहकर ये केवल कथा-श्रवण में रुचि रखते थे। नित्य मुहल्ले में ध्यान से रामायण-महाभारत की कथाओं का श्रवण करते और कथा के पात्रों के साथ एकरूप बन जाते। भैंसों को चराते समय ये कथा के पात्रों के मिट्टी के पुतले बनाते और उनके साथ जीवंत पात्रों के

समान बातचीत करते, खेलते और नाचते थे। एक दिन बड़े भाई की पत्नी (भाभी) ने यह दृश्य देखा और घर आकर पति के कान भरे कि कोलबा तो जंगल में जादू सीखता है और मिट्टी के पुतले जीवित बना कर साथ खेलता है। शायद हमें भी ऐसे पुतले बना कर मार डालेगा। पत्नी की बातों में आकर बड़े भाई ने कोलबा को घर से निकाल दिया।

घर से बहिष्कृत कोलबा ने सोच लिया कि अब तो द्वारका के भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे शरण हैं। भगवान् द्वारकाधीश के दर्शन की प्रबल कामना से इन्होंने पैदल ही द्वारका के लिए प्रस्थान किया। निरन्तर चलते-चलते पाँचवें दिन रात के समय ये द्वारका पहुंचे। तब तक द्वारकाधीश मन्दिर का द्वार बंद हो चुका था। दर्शन का समय बीत गया था। थका, हारा और अत्यन्त निराश कोलबा मन्दिर के चौक में पश्चिम दिशा में गिर पड़ा। जनश्रुति है कि कोलबा की प्रबल दर्शनेच्छा से प्रभावित हो भगवान् ने स्वयं अपने आवास मन्दिर को पश्चिमाभिमुख बना कर इन्हें उसी समय दर्शन दिया। तभी से द्वारका का पूर्वाभिमुख मन्दिर पश्चिमाभिमुख हो गया।

कोलबा ने कोई पद या भजन नहीं लिखा है। इनका जीवन ही एक महान् भक्ति काव्य है।

म. ई. प्र.

गिरधर

गुजराती भक्ति-साहित्य में रामायण के रचयिता के रूप में सुख्यात भक्तकवि गिरधर का जन्म बड़ौदा जिले के मातर गाँव में सन् १७८७ ई० में हुआ था। इनके पिता गरबउदास गाँव के तलाटी थे। जाति से दशालाड वणिक् (वैश्य) गिरधर ने एक परम वैष्णव के रूप में अपना व्यक्तित्व निष्पन्न किया। ये अल्पायु में माता-पिता से वंचित हो गये थे। बड़े होने पर विवाह क्रम से दो कन्याओं के साथ हुआ, किन्तु गार्हस्थ्य-सुख अधिक न मिला। अतः संसार से विमुख भक्त हरिरस के पान में मग्न हो गया।

गिरधर ने बल्लभ-विजय नामक विप्र के पास संस्कृत ओर हिन्दी का अध्ययन किया एवं काशी के वैष्णव गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम जी के सम्पर्क से पिंगलशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। इन्हीं के सत्संग से गिरधर वैष्णवी संस्कारों से प्रेरित हो भक्तिमार्ग के यात्री बने और कृष्णभक्ति के पद रचने लगे। आगे चलकर ये बड़ौदा के राधावल्लभीभक्त रंगीलाल महाराज के यहाँ मुनीम का कार्य करने लगे और उनके कृपापात्र बन गये।

इनकी कृष्णभक्ति इतनी भावपूर्ण एवं उत्कट थी कि एक वैष्णव-मन्दिर में प्रवेश न पाने से इन्हें प्राणान्तक आघात लगा और सन् १८५२ ई० में इनका स्वर्गवास हो गया। इनके देहोत्सर्ग के सम्बन्ध में एक दूसरी घटना भी बतायी जाती है। उत्तर भारत की यात्रा के समय इनके सहयात्री राधावल्लभी रंगीलाल जी महाराज ने इन्हें श्रीनाथ द्वारा जाने की अनुमति नहीं दी। इस निषेध से गिरधर की वैष्णवी भावना को गहरी चोट पहुँची और यात्रामार्ग में ही श्रीनाथजी का ध्यान करते हुए इनका देहोत्सर्ग हो गया।

प्रेमानन्द और दयाराम की भक्ति-कविता से प्रभावित हो गिरधर ने वैष्णव-सम्प्रदाय के प्रगाढ़ प्रभाव की छाया में राधा-कृष्ण विषयक प्रचुर पद-रचना की है। गुजराती आख्यान-कविता का अंतिम रूप इनके काव्यों में दृष्टिगत होता है। इन्होंने रामायण, राजसूययज्ञ, अश्वमेध, गोकुल-लीला, मथुरालीला, राधाविरहना बारमास, तुलसी विवाह, द्वारकालीला एवं भक्ति-श्रृंगार के गरबी और अन्य पद रचे हैं।

इनके 'तुलसी-विवाह' काव्य में तुलसी का विवाह कार्तिक शुक्ल एकादशी के दिन सम्पन्न होना वर्णित है। भागवत के दशम स्कन्ध के रूपान्तर के रूप में मथुरा-लीला या 'कृष्णलीला' में गिरधर ने वैष्णवी भक्ति-भावना के अनुरूप ललित मनोहर शब्दावली के माध्यम से अपनी प्रगाढ़ कृष्णभक्ति प्रकट की है।

भागवत पर आधारित 'गोकुल-लीला' और 'द्वारका-लीला' में भक्तकवि ने भागवत के श्लोकों का सुन्दर अनुवाद किया है। 'मैंने अपनी अल्पमति से हरिगुण गान रूप में कृष्ण-चरित्र की रचना की है।' ऐसा ये कहते हैं। इन्होंने चेतावनी दी है कि इस निर्मल प्रेम कथा के पठन तथा श्रवण के अधिकारी विषयविमुक्त-वैष्णवजन ही हैं :

श्री राधा कृष्णनी लीला,
रसात्मक वैष्णव जाणे सार।
जे विषयो विमुख दुष्ट खल,
निन्दक तेने नहि अधिकार ॥

प्रेमलक्षणा-भक्ति की परम्परा में गिरधर द्वारा रचित राधाकृष्णविषयक पदों में, विशेषकर 'आओ आओ रे नंदना लाल मारे धर आवो रे', 'ऊभा रहो अलबेलडाने कहुं एक छानी बात, सुन्दर शामलिया', 'तमे क्यां रमी आव्या रातडी, साचुं कहो सुन्दर श्याम नटवर नानडिया', 'मारा सम साचुं बोलो शामला, रसिया रजनी क्यां रमी आव्या रंग जो' आदि पद नरसिंह-दयाराम के कृष्णविषयक पदों का स्मरण दिलाते हैं।

गिरधररचित 'राधिका-विरहना मास' की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

"ऊधव जी अलबेलो क्यारे आवशे,
टोले मली पूछे दे ब्रजनार जो।
शा माटे मोहन जी मथुरां रह्या,
थया नमेरा जीवन प्राणाधार जो।
कार्तक मासे अक्रूर रथ लेई आविया,
राम कृष्ण ने बेसाड्या रथ मांह्य जो ॥

कपट करीने कामण गारे छेतयाँ,
ते दिवसथी फरी न अव्या आह्य जो।
शुं जाणुं जे जीवन जूठुं बोलशे,
विश्वासी ने वाह्यां विट्ठल वीर जो।
दगो करीने दामोदरे दुखियां कर्या,
कहो हवे कयम करी राखुं धीर जो ॥

'उद्धवजी ! अलबेला कब आयेगा, ?' ऐसा व्रज-नारियाँ एकत्रित हो कर पूछती हैं। 'मोहनजी मथुरा क्यों रहे ? जीवन-प्राणाधार तो निर्दय हुए। कार्तिक मास में अक्रूर रथ लेकर आये, रथ में बलराम-कृष्ण को बिठाया। उसी दिन से फिर यहाँ न आये, कपट करके मोहन ने धोखा दिया है। जीवन (कृष्ण) झूठ बोलेंगे, यह मैं क्या जानूं ? विट्ठलवीर ने विश्वासी को धोखा दिया है। धोखा देकर दामोदर ने दुखी किया है, अब कहिये कैसे धैर्य रखूँ ?'

म. ई. प्र.

गीगाभाई जेठाभाई गढ़वी

गीगाभाई का जन्म आंगणका नामक गाँव (जिला भावनगर) में हुआ था। ये चारणी साहित्य तथा लोकपरंपरा के प्रथम श्रेणी के साहित्यकार माने जाते हैं। इन दोनों विधाओं के संस्कार इन्हें बाल्यावस्था में ही कुल परम्परा से प्राप्त हुए थे। इनकी सारी काव्यप्रतिभा मानव-कल्याण-साधना को समर्पित थी।

इनकी एक मात्र कृति 'देशयश-प्रकाश' तथा कुछ कृष्ण भक्ति सम्बन्धी फुटकर पद मिलते हैं। इनके दो छन्द नीचे दिये जाते हैं :

(१)

कवित्त

कंमर पीतांबर त्युं शंख चक्र आदी कर,
काज ले सुधार मेरो भगत उधारन तूं ॥
कृष्ण रूपे सदामांको कष्ट हर लीनो सब,
ग्यंदकु बचावनरू ग्राहकुं बीदारन तूं।
धरम प्रचारन हीर्नकस्यपुके ध्वंस कारन,
भये हो बराह मही दंतपे सु धार तूं ॥
गीगो भनंत अबे कर ले सहाय मेरो,
काज प्रह्लाद नरहरी रूप धारन तूं ॥

(२)

गीत

दास रामरो प्रह्लाद जेने भरोसो तमारो द्रढ,
आठुही जांमरो घनश्यामरो आधार।

हामरो अभंगो अभे धामरो पामवा होंदो,
कामरो अजीत दैत जामरो कुमार ॥ १ ॥

पंथही वंशको तजयो हीरनाकंस को पुत्र,
दैत वीधा अंसकोना रंचकोहीं दोल।
पीताका ध्वंसको हेंतु गुरुकु बंचघो पेखे,
सारवा संसार भुत पंचफो सलील ॥ २ ॥

पाटी बीच लखे राम प्रह्लादकु धखे वीप्र
मंखे कयुं अरीकुं मखे कोपिगा भुपाल।
तात क्रोध चखे अवलोकी मार नखे तोंकुं,
कुंमखें जेहरी मीन अखे दुत काल ॥ ३ ॥

बहु समजायो गुरु सोय ना मनायो बाछ,
मन दुःख पायो पसें आयी जया महीप।
शीरकु नमायो अने सुनायो व्रतांत सर्ब,
हरी गुन गायी पुत्र भ्रमायो हरीय ॥ ४ ॥

चमकयो भोपाळ काळ जाळ बीप्र बात सुणी,
क्रोध प्रलेकाळ नराताळहो कराळ।
बोलावीयो बाळ ततकाळही कचेरी बीच,
यनो वीकराळ महा दैतरो पंजाळ ॥ ५ ॥

लघु पुत्र जाणो भुप दया दील आणी लेस,
वदे मुखे वाणी आप वखाणी वीशेस।
पुत्र तुं नीशाणी चुकी लजात कुळरो पाणी,
मतिका मुंसाणी व्रतो भ्रगाणी मलेस ॥ ६ ॥

प्रभुकु रटेगा तो तो कटेगो आयुष यानी,
जाणज्ये कटेगो शीर फटेगी जमीन।
हरीसे रटेगो सो तो मटेगो काळरो हाकी,
इंद्रादी लटेगो पाव चटेगो आधीन ॥ ७ ॥

वदेंही प्रहलाद प्राण प्यारो प्रभु व्रज वारो,
करुं केम न्यारो दील बारो कृष्णेस।
नंदरो दुलारो सदा भकत प्रीती पारो नाथ,
जपेही हजारो जीभ वारो जेने शेश ॥ ८ ॥

जणातां लाखही बातां तात मात समजाता,
बतातां अनंत लोभ करातांहीं बोध।
लसातां कुळरी गाथा अंत्ये नासीपास थाता,
करातां नेत्रही रातां बढातांहो क्रोध ॥ ९ ॥

धखायो असुर स्वामी तजो दे हरामी धंध,
लाव्य कां नकामी खाती कुळमेही लाल।
चक्रवती राज पामो वामो दे जींदगी सोद,
करमें नीहार्यं नांमो खाग आ कराल ॥१०॥

भकतमें नाथरो समराथरो प्रह्लाद भणे,
पार्थरो सारथो दीन पाल हे गोपाल।
गोपीयां साथरो वासी गाथरो अगाध गुण,
नाथ अनाथरो मोकुं करेगो नीहाल ॥११॥

ल. पिं. ग.

गुलाबदास

गुलाबदास पन्ना के निवासी थे। 'प्रणामी' संप्रदाय में दीक्षा लेने के बाद इन्होंने अपने जीवन का अधिक भाग गुजरात में बिताया। इनके बहुत से ब्रजलीला, रासलीला एवं चेतावनी के पद हिन्दी तथा गुजराती भाषा में लिखे मिलते हैं। इनकी 'बाराखड़ी' में ४० पद हैं। इन पदों में सामाजिक एवं धार्मिक विषयों, विशेषतः प्रणामी सम्प्रदाय के तत्वों का निरूपण किया गया है। एक उदाहरण प्रस्तुत हैं :

नना नारी नागिन नाहरी, इनका एक सुभाय।
जीवत सोखे पींडको, मरे नर कलेजा खाय ॥

मरे नर कलेजा खाय नारी का ऐसा फन्दा।
नाहर भक्षत मांस, नारि कर राखे बन्दा ॥

कहत 'गुलाब दास' यह नागिन का विषजाय।
नारीविष ना ऊतरे, कीजै कोट उपाय ॥

न. पं.

गोकुल

भक्त कवि गोकुल अहमदाबाद के निवासी नागर ब्राह्मण थे। इनका प्रामाणिक समय अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है। इनकी रचनाएँ हैं : कुण्डलिया और सवैया। इनमें अन्य विषयों के साथ कवि के कृष्ण भक्ति सम्बन्धी उद्गार अभिव्यक्त हुए हैं।

अ. शु.

गोकुलदास

गोकुलदास का जीवनवृत अज्ञात रहा है। इनकी तीन रचनाएँ इच्छाराम, सूर्यराम देसाई द्वारा संपादित 'बृहत्‌काव्यदोहन; ग्रन्थ-७ में प्रकाशित हैं। ये तीनों राधाकृष्ण-क्रीड़ाकाव्य हैं । इन से स्पष्ट होता है कि गोकुलदास राधाकृष्ण-भक्त कवि हैं।

इनका एक पद नीचे दिया जाता है :

राग होरी

खूब खेले जी, खूब खेले रे, फूल रड़ले खेले ।
आप आपणा उर हाट उतारी, ते अबील-गुलालमां
मेले रे ॥

नरकुंवरजी संगे शोभे, बलीभद्र बंधव खेले रे ।
संग सखीओ सहु राधाजी ने, ते हइडे हर्षवणी हेले रे॥

अरस्परस एक एकपें फंके, हाथ आवे तेने ना मेले रे ।
जन गोकुल प्रभु संगे गोपीओ, ते रमती रंगतणे रेले रे ॥

'बहुत खेलते हैं, बहुत खेलते हैं, फूल-गेंद से खेलते हैं। अपने-अपने हार उतार कर अबीर-गुलाल में मिलाते हैं। नंदकुंवर के साथ बांधव बलभद्र खेलते हैं, शोभा देते हैं। सखियों के संग राधाजी का हृदय फूला नहीं समाता। परस्पर सब एक दूसरे पर रंग फेंकते हैं, हाथ आये उसे कोई छोड़ता नहीं। गोकुल कहते हैं कि प्रभु के संग गोपियाँ रंग से खेलती हैं।'

म. ई. प्र.

गोकुलदास द्वारकादास रायचुरा

गोकुलदास रायचुरा का जन्म सौराष्ट्र के बाला गाँव में हुआ था। ये 'शारदा' मासिक पत्रिका के के संस्थापक थे। लोक-साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् के रूप में ये गुजरात के जन-जन से सुपरिचित थे। साहित्य की विविध विधाओं की विपुल संपदा को ग्रन्थ रूप में संकलित कर इन्होंने गुर्जर वाङ्मय की उल्लेखनीय सेवा की है। साहित्यकार होने के साथ ही ये एक अच्छे भक्त भी थे। आपका एक पद नीचे दिया जाता है :

व्रज मा जामी धून घरं तुज संगीतनो,
ताणे वाणे तुन घायल दिलडा कानुडा,
अवतरियो अवतार काव्यकला रस पोषण,
संगीतनो सरदार श्याम सदैव सोहामणो ।

व्रजवनितानां वृंद नृत्य करे नित नवां नवां,
गाई गुणियल छंद कृष्ण कृष्णना नादमां,
झांझ पखाजे घमकती, धून मची दिनरात,
तंबूर तारे रमकती, अंगुली रसराजनो ॥

हैये हैमुं नाचतुं गीत गीतने सूर,
कीधो घेला तूर संगीतना रसनानमो ।
जमां साचु संगीत कृष्ण आवता नित्य त्यों,
पद पद पूनित प्रीत कृष्ण कृष्ण रस नाममां ॥

धन ए व्रज वा लोक, धन गोकुल गोपालणी,
ज्यां संगीतनो झोक आठे पहोरे कृष्णनो ।
धन धन गोकुल गाम, धन जमुना धन नीर,
ज्यां गाता घनश्याम, संगीत धून सर्वदा ॥

"कान्हा ! व्रज के घर-घर में तुम्हारे संगीत की धुन भर गयी है जिसने हृदयों के ताने-बाने को छिन्न-भिन्न कर दिया है। सदैव सुहावना हमारा श्याम संगीत का सरदार है। 'कृष्ण-कृष्ण' के नाद से उसके सद्‌गुणों के छन्द-गीत गाता हुआ व्रज-वनिताओं का वृन्द नित नये-नये नृत्य किया करता है। झाँझ पखावज की धमकती धुन दिन-रात मची हुई है। तंबूरे के तारों पर रसराज की उँगलियाँ थिरकती रहती हैं। गीत-गीत के सुर पर प्रत्येक हृदय नाच उठता है। संगीत की रसतान ने उन्हें पागल बना दिया है। जिसका संगीत वास्तविक होता है, कृष्ण वहीं नित्य आया करते हैं। कृष्ण के सरस नाम से पग-पग पुनीत हो जाता है। धन्य हैं, व्रज के लोग, गोकुल और गोपालक धन्य हैं जहाँ आठों पहर संगीत के झोंके आते रहते हैं। गोकुल गाँव धन्य है, जमुना मैया धन्य है और धन्य है उसका नीर, जहाँ घनश्याम सदैव संगीत की धुन गाते रहते हैं।'

ल. पिं. ग.

गोपाल :

ज्ञानमार्गी कृष्णभक्त कवियों में गोपाल का विशिष्ट स्थान है। 'ज्ञानप्रकाश' काव्यग्रन्थ में अपना परिचय देते हुए इन्होंने लिखा है :

सतगुरु स्वामी श्री सोमराज।
कृपाथकी थयुं ग्रंथ नुं काज।।

जन्म भोम नंदावती गाम।
पिता खीमजी नारणदास नाम।।

तेहनो सुत ते दास गोपाल।
संत सकल तणुं ते बाल।।

इससे स्पष्ट है कि गोपाल नंदावती अथवा नादोतग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम खीमजी नारणदास और गुरु का नाम सोमराज था। जाति से ये मोढ़ वणिक् थे। इन्होंने अहमदाबाद में रहकर 'ज्ञानप्रकाश' और 'गोपालगीता' (सं० १७०६) जैसे दो ग्रन्थ-रत्नों की रचना की थी। ये वेदांती कवि अखा के समकालीन थे। 'अखेगीता' और 'गोपालगीता' की रचना एक ही वर्ष में हुई थी।

गोपाल ने 'ज्ञान-प्रकाश' और 'गोपालगीता' जैसे वेदान्त और ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना के साथ रासलीला एवं कृष्णभक्ति के भी कई स्फुट पदों की रचना की है।

ज्ञानप्रकाश में वेदान्त के गूढ़ रहस्य को सरल भाषा में निरूपित किया गया है। आरम्भ में गुरु-वन्दना है, फिर गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में ग्रन्थ का विस्तार किया गया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

नहीं समरथ त्रीभोवन को,
तमथी बुद्धिसागर बलिया।
कोटिक कोटि कलाना कर्ता,
कोई थी न जाए कलिया।।

दीन दयाल कृपाल कृपानिध्य,
तम्यो छो अंतर्यामी।
आस करी आव्यो तम चरणे,
शरणागत हुं स्वामी।।

इसी प्रकार 'गोपाल-गीता' में भी गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में जीव, जगत् और ब्रह्म के प्राकट्य स्वरूपादिका निरूपण केवलाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्म के स्वरूप को वेदान्त मतानुसार इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :

वसुन्धरा थी वेगलो जले ना लेपाय।
अग्नि तेने न दहे समीरे सोको न जाय।।
अंतःकरण मन बुद्धि नहीं तेहने नहीं चित्त अहंकार।
काम क्रोध न संभवे ते ब्रह्म अपरंपार।।
जनम मरण जरा नहिं ते जागतनो आधार।

इनकी यह ज्ञानमार्गी अथवा निर्गुण विचारधारा स्फुट पदों में भी अभिव्यक्त हुई है। 'बुद्धि बहुने शिखामण' शीर्षक के अन्तर्गत प्राप्त यह पद अवलोकनीय है :

'साँची समझण बुद्धि ने खोटी रे लागे।
संत मनावे तो मानवुं, हो लोलनी।।

विवेक विचारना बिछुआ घडावुं हर्षना घघरा बंधावुं।
ज्ञान वैराग्य बाजुबंध करावुं शांति नु रतन जडावुं।।

प्रेमना पुष्पो गलामां पेरावुं, चैतन नी चुंदडी चढावुं।
दास गोपाल कहे ए समझण साँची दक्षनो लक्ष बतावुं।।

अं. शं. ना.

गोपालदास

पुष्टिमार्गीय भक्त गोपालदास का जन्म उत्तर गुजरात के रूपाल (कलोल के पास) गाँव में हुआ था। ये जाति के वणिक् थे। इनका जन्म काल निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हैं। किन्तु प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार ये सन् १५७७-१५९२ ई० की समयावधि में विद्यमान ठहरते हैं।

गोपालदास के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है। अहमदाबाद के असाखा में स्थित वल्लभाचार्य की बैठक में विट्ठलनाथ गुसाँईजी के भाईला कोठारी नामक एक शिष्य रहते थे। उन्होंने गंगा-गोमती नामक अपनी कन्या का विवाह बाल्यावस्था

में ही गोपालदास के साथ कर दिया था। बाद में पता चला कि गोपालदास तो गूंगे हैं। अतः भाइला कोठारी ने इन्हें अपने घर पर निवास करने के लिए रख लिया। एक समय की बात है। द्वारका की यात्रा के समय विट्ठलनाथ जी भाइला कोठारी के यहाँ आये। गोपाल को देखकर उन्होंने पूछा 'यह मूक लड़का कौन है. कोठारी ने उत्तर दिया—'यह तो गंगा-गोमती का वर है।' विट्ठलनाथ ने कहा; गंगा-गोमती का वर तो सागर होना चाहिए।' भोजन के पश्चात् गोपाल को पास बुलाकर विट्ठलनाथजी ने अपने मुँह का चर्वित पान-बीड़ा गोपाल के मुँह में रख दिया। तुरन्त ही गोपालदास के मुँह से वाग्धारा फूट पड़ी और विट्ठलनाथजी की आज्ञा से इन्होंने 'बल्लभाख्यान' नामक काव्य लिखा। यह भी कहा जाता है कि जिस रात को गोपालदास के मुँह में विट्ठलनाथ जी ने पान बीड़ा रखा था, उसी रात को इन्हें (गोपालदास को) रासलीला के दर्शन हुए थे। इस प्रकार वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथ जी की कृपा से गोपालदास कवित्वशक्ति-संपन्न पुष्टिमार्ग के पथिक हो गये।

गोपालदास ने 'वल्लभ-आख्यान' में नव आख्यानों के माध्यम से गुरु विट्ठलनाथजी और उनके सात पुत्रों के जीवनवृत्त प्रस्तुत करके अपनी प्रगाढ़ भक्ति-भावना प्रकट की है। प्रस्तुत आख्यान-काव्य में केदारो, रामकली, धनाश्री, सामेरी, परज आदि रागों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। पुष्टिमार्गीय वैष्णव प्रायः इस काव्य को कंठस्थ करते हैं और समय-समय पर इनका गान होता है। इसकी दो विस्तृत टीकाएँ भी प्राप्त हैं। एक है-श्रीजीवनेशजी द्वारा व्रजभाषा में रचित टीका और दूसरी है-व्रजरायजी द्वारा संस्कृत भाषा में निर्मित टीका। ये टीकाएँ 'वल्लभाख्यान' एवं गोपालदास की लोकप्रियता का प्रमाण हैं।

गोपालदास ने 'भक्तिपीयूष' नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा है, जो अब अनुपलब्ध है, किन्तु इसके पद वैष्णवों के द्वारा गाये जाते हैं।

'बल्लभाख्यान' से तीन पद यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :

(१)

वंदु श्रीविट्ठल सुंदरवर,
नवघन श्याम तमाल।
जगतीतल उधार करवा,
प्रगट्या परमदयाल॥

श्रीपुरुषोत्तम स्वतंत्र क्रीडा,
लीला द्विजतनु धारि।
सात दिवस गिरिवर कर धार्यो,
वासव वृष्टि निवारि॥

ते प्रगट्यानुं कारण कहिये,
जो सुरता मन आणो।
करी कृपा हुँ करुं वीनती,
पोतानो करि जाणो॥

व्यापक रूप अद्वैत ब्रह्म जे,
तेजोमय कहेवाय।
आरजपंथ अधिकारी मुनिजन,
ते मांहे लय धाय॥

अक्षर आदि अखंड अनूपम,
उपमा कही न जाय।
अस्ति वस्तु सउ को मलि बोले,
निगम नेति नेति गाय॥

'नवीन घन और तमाल के समान श्याम श्री विट्ठल सुन्दर वर की मैं वन्दना करता हूँ। ये परम दयालु तो जगतीतल का उद्धार करने के लिए प्रकट हुए हैं। लीलामय द्विजतन धारण करके श्रीपुरुषोत्तम ने क्रीडा की। सात दिन तक गिरिवर हाथ में धारण करके उन्होंने इन्द्र-वृष्टि का निवारण किया। हे भगवान्! यदि स्वरूप की स्तुति मन में लायें तो प्रकट होने का कारण कहिए। मैं बिनती करता हूँ, कृपा कीजिए। मुझे अपना ही समझिये। व्यापक स्वरूप जो अद्वैत ब्रह्म है, वह तो तेजोमय कहलाता है। वही आर्य-पन्थ है और अधिकारी मुनिजन ही उसमें लीन

रहते हैं। परब्रह्म तो अक्षर जगत् का मूलकारण अखण्ड और अनुपम है। वह अनिवर्चनीय है, ऐसा सभी कहते हैं। वेद भी 'नेति-नेति' कहकर उसकी महिमा का गान करते हैं।'

(२)

सगुण सनेहो सांमला वाला,
अहर्निश दरशन आपो।
परमसुख देवाने काजे,
ब्रजमंडल स्थिर कर थापो॥

श्रीवल्लभकुंवर कोडामणा,
तमारुं नाम निरंतर लीजे।
रूप-सुधा-रस-माधुरी ते,
लोचन भरि भरि पीजे॥

ते पद क्यारे देखीशुं,
गोधन पूठे धाये।
ब्रजसुंदरी मुख सुख पामीने,
बारबार अघाये॥

'हे सगुण-सनेही श्याम प्रियतम! मुझे अहर्निश दर्शन दीजिए। परमसुख प्रदान करके मुझे ब्रजमण्डल में स्थायी निवास दीजिए। बाँकेवल्लभ कुंवर! हम तो निरन्तर नाम लेते हैं। आपकी रूप सुधा-रस माधुरी को नयन भर-भर कर हम पीते हैं। गोधन के पीछे दौड़नेवाले पाँव हम कब देखेंगे? व्रजसुन्दरी के मुखदर्शन का सुख पाकर हम कब तृप्त होंगे?'

(३)

जांहां वृंदावन आदि अचल शशी,
शरहरेन बहु वेश।
वनदेवी पद कुमकुम,
मुखसुख परसे रंजविशेष॥

कनकलता मालती मल्लिका,
विविध कुसुम मकरंद।
शीतल पवन झकोरे लहरी,
परसे अति आनंद॥

नाना पक्षीनी शब्द माधुरी,
शोभा तणो नहिपार।
कमल कुमुद नाना अलि सुंदर,
मधुर करे तांरां गान॥

पद्मपराग भरकत मणि स्फटिक,
श्री गोवर्धन सोहे।
ब्रह्म रुद्र तांहो कोणबापडा'
श्रीहरिना मन मोहे॥

श्यामा शीतल नयन सुंदरी,
जूथ तणो नहि पार।
विविध रास मंडल-,
रचना रचि खेले नंदकुमार॥

गोपालदास ने व्रजभाषा में भी काव्यरचना की है, किन्तु वे अभी तक अज्ञात और अप्रकाशित हैं।

म. ई. प्र.
अं. शं. ना.

गोपालदास क्षत्री

गोपालदास क्षत्री का जन्म अहमदाबाद के समीप नरोड़ा नामक गाँव के एक क्षत्रिय परिवार में हुआ था। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में इनकी कथा आयी है। उसके अनुसार ये सुपठित विद्वान, तार्किक तथा धनी-मानी व्यक्ति थे। गोसाइंजी की गुजरात-यात्रा के समय ये द्वारका में उनकी शरण में आये थे और वहीं शरण-मंत्र प्राप्त किया था। शरणागति के समय इनके साथ एक चार वर्ष का लड़का भी था। महाप्रभु ने उसे भी नाम-निवेदन कराया था। कहा जाता है कि महाप्रभु एक बार इनके घर, नरोड़ा भी गये थे।

वार्ता में गोपालदासजी का कवि के रूप में भी उल्लेख हुआ है:

और एक दिन विरह बहोत भयौ सो विरह कौ चोखरा करिके गाये।

केकी सिखंडी श्यामु घन कंठ मनोहर हार॥
धन्य ते दिन देखिऊँ नैनन नन्द कुमार॥

इनकी प्रामाणिक रचनाएँ नहीं मिलतीं। जीवन तथा कृतियों से सम्बद्ध कोई विवरण भी प्राप्त नहीं होता। मात्र 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में इनकी एक रचना उद्धृत है।

अ. शु.

गोपालदास परमहंस 'प्रेमसखी'

परमहंस गोपालदास 'प्रेमसखी' का सम्बन्ध गुजरात से है। यों तो इनकी जन्मभूमि गोरखपुर के पास 'मधुवन' नामक गाँव था; किन्तु बाद में ये गुजरात चले आये थे। इनका जन्म सं० १८१६ की आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा रविवार के दिन हुआ था। पिता का नाम पं० वेदमणि शर्मा और माता का नाम सुलक्षणादेवी था। धर्म और अध्यात्म के प्रति प्रबलप्रीति के कारण इन्होंने गृहत्याग किया और भ्रमण करते-करते ये द्वारका पहुंचे। संभवतः ये बाद में सूरत के प्रणामी-मन्दिर के अधिपति हुए थे।

इन्होंने प्रगाढ़ ज्ञान पाया और कल्याणकारी चमत्कार दिखाते हुए सं० १९१८ की आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा के दिन परधामवासी हुए। इनके मृत्यु-काल का निर्देश 'वृत्तान्तदीपिकाकार' ने किया है :

ओनइस सै संवत सोई जाने,
अष्टादश कहि साल बखाने।
मास अषाढ़ कृष्ण पख आये,
परिवा तिथि रविवार सोहाये॥

गोपालदास 'प्रेमसखी' ने अपने प्रियतम कृष्ण विषयक मधुर पदों की रचना की है। कृष्ण के विरह में व्यक्त इनके हृदयोद्‌गार अत्यन्त मर्मस्पर्शी है :

प्रिय मोहे पतिया पठाए।
सुनि सुनि जिय अकुलाए॥

अब तो शरन पिया तुमरी हो।
लीजै बाँह गहि मोर॥

अपने चरन मोहि राखिए।
अवगुन तजि पिअ मोर॥

मोहमाया से ग्रस्त संसार से मुक्त होने के लिए प्रेमसखी केवल प्रियतम कृष्ण के दर्शन की ही कामना करते थे।

इनके पदों में प्रणामी-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों की मनोहर अभिव्यक्ति हुई है। "कौन दिन होइहै सखी निज घर जावन' में परमधाम की ब्रह्म-प्रियाएँ और "निजघर" का निर्देश है। "निजघर" पहुंचने के लिए तो प्रिय कृष्ण की ही कृपा चाहिए। अतः भक्तकवि कहते हैं :

तुम ठाकुर मैं चेरी, सुनहु पिया बिनती मोरी।
रहिउँ सनाथ अनाथ भइउँ इत, चहुँदिश दुख झकझोरी॥

गोपालदास के पद 'निजानन्द भजनमाला' में संगृहीत हैं। इनमें से दो पद यहाँ उद्धृत है :

(१)

बिनती एक मोरि सुनो पिया,
तुम हो दीन दयाल।
मोसम अधम ना कोई काहूँ,
महा खल दुष्ट अपार॥

जड़ँ शठ नीच पतित मैं,
विमुख कियो प्रतिपाल।
महाघोर पाप मैं किह्यों,
ताथें विमुख मति मोर॥

अब कैसे सनमुख होऊं,
निशदिन रहे हिय साल।

(२)

बेगि दरस मोहि दीजे पिया,
म्हारो तलफि तलफि जिअ जाये॥

बिन जाने दुख भोग्यो,
जाने सहा नहिं जाये।
जोलों न देखीं नयन भर,
तोलों अगिनि बराये॥

म. ई. प्र.

गोविन्द गीलाबाई

गोविन्द गीलाबाई सिहोर के चौहानवंशीय राजपूत (खवास) थे। इनका जन्म-समय है–सं० १९०५ (सन् १८४८ ई०) श्रावण शुक्ल एकादशी, सोमवार। इनको प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा सिहोर में मिली, फिर एक जैन साधु के पास रहकर इन्होंने पिंगल और कोश का ज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद परिशीलन और पुरुषार्थसे हिन्दी-भाषा में कविता लिखना प्रारम्भ किया। इन्होंने हिन्दी में करीब २३ छोटे-बड़े ग्रन्थलिखे। प्रायः सभी कृतियाँ कृष्णविषयक हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं : 'गोविन्दग्रन्थमाला' (हिन्दी पद, १९११ ई०) 'राधामुख-षोडशी' (व्रजभाषा) 'गोविन्द-ज्ञान बावनी' आदि। राजकोट के ठाकोर महेरामणजी ने ७२ लहरियों में 'प्रवीणसागर' नामक ग्रन्थ लिखा था, जो अपूर्ण था। गोविन्दजी ने शेष १२ लहरियाँ लिखकर उसे पूरा किया। इनका देहावसान ८ जुलाई १९२७ ई० को हुआ।

यहाँ 'गोविन्द-ग्रन्थमाला' से एक पद उद्धृत है। इसमें श्रीकृष्ण की मुरली का प्रभाव निरूपित है :

छप्पय

सुनत मदन मन लज्यो तज्यो पतिव्रत व्रजनारी।
सिध समाध छुट गई, वेद धुनि ब्रह्म बिसारी॥

पशू चरत त्रिण चकित, थकित नभ चंद उडगन।
थकित पवन पुनि जमत नीर, गिरि चल्यो पुलकतन॥
पय पिबत न बालक बच्छ सब, खग मृग रस बस
अति मुदित।
बंसी "गोविन्द" व्रजचंदकी, वृन्दावन बाजत विदित॥

म. ई. प्र.

गोविन्द दास

गुजरात में 'गोविन्द' नामधारी कई भक्तकवि हुए हैं। एक गोविन्द ने 'मामेरु' नामक काव्य की रचना की है, जिसमें नरसिंह मेहता की पुत्री के सीमंत-प्रसंग पर किये गये 'मोसाळा' का वर्णन छः कड़वों में हुआ है। इसकी रचना सम्भवतः प्रेमानन्द के समय से पूर्व हुई है। एक दूसरे गोविन्द ने 'बारमास' काव्य लिखा है। 'रुक्मिणी-विवाह' और 'सुभद्रा-हरण' नामक दो काव्य गोविन्दराम के नाम से प्राप्त होते हैं।

सं० १७८२-९० के बीच विद्यमान गोविन्ददास ने 'राधा-हार', 'सत्यभामानुं रुसणुं', 'दाणलीला', पद' और 'रुक्मिणी-हरण' नाम से कृष्णविषयक काव्यों की रचना की है। इनमें से कुछ ग्रन्थ प्रकाशित भी हुए हैं। गोविन्द नामधारी ये सभी भक्तकवि अलग-अलग प्रतीत होते हैं। इनके जीवनवृत्त भी अज्ञात हैं।

गोविन्ददास कृत 'सत्यभामानुं रुसणुं' काव्य में पारिजातपुष्प के निमित्त कृष्ण और सत्यभामा का कलह वर्णित है। मानिनी एवं क्रुद्धा नारी कैसे वाग्बाण चलाती है, इसका सत्यभामा के माध्यम से मार्मिक चित्रण हुआ है। सत्यभामा के तीखे वचनों से श्रीकृष्ण पराजित हो जाते हैं।

गोविन्ददास कृत 'राधाहार' से एक पद यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

रसीला रसमां रह्या छो बुडी।
रंग रेल तणी छोल उडी॥

रसे रीझ्या श्रीवैकुण्ठ नाथ रे।
हरिये झाल्यो राधा जी नो हाथ रे॥
रिझ्या रिझ्या श्रीवनमाली।
राधा संगे लीधा करताली॥

राधा रूपे ने दीसे रूडी रे।
रे खडके कंकण ने वली चुडी रे॥

रसे रीझ्यां राधा राणी।
धन्य धन्य श्रीपुरुष पुराणी॥

मध्ये राधा किशोर किशोरी रे।
श्याम श्याम ने राधा गोरी रे॥

हरिये रमवानो रस स्थाप्यो।
पछे हार राधा जी नो आप्यो॥

हार गाशे जे नर ने नारी रे।
ते ते कृपा करे मोरारी रे॥

हरिये प्रेमी ने रस पायो ।
हार गोविन्ददासे गायो ॥

'रसिक श्रीकृष्ण रसमग्न हो गये हैं, रंगरेलियों की बौछार हो रही है। बैकुण्ठनाथ श्रीहरि रस से प्रसन्न हुए और राधाजी का हाथ पकड़ लिया। वनमाली रीझ गये, राधा से ताली लेने लगे। राधा रूप से सुन्दर दीखती हैं, इनके कंगन और चूड़ियाँ खनकती हैं। राधारानी रस से प्रसन्न हुई। पुराण-पुरुष को धन्य है। किशोर-किशोरियों के मध्य राधा हैं। श्रीकृष्ण साँवले हैं और राधा गोरी हैं। हरि ने क्रीडारस स्थापित किया और पश्चात् राधा जी का हार दे दिया। जो नर-नारी हरि का जैसा गान करेंगे वैसी ही कृपा मुरारी करेंगे। हरि ने अपने प्रेमी का रस पाया और उसी रस का गान गोविंददास ने किया।'

'सत्यभामानुं रूसणुं' का भी एक अंश प्रस्तुत है :

राज मारे घेर शिद आव्या ?
एम खीजी बोल्यां सतभामा ॥ राज मारे०
तमें गोवालिया मत कीधी । राज मारे०
एंडी अहिरनी छाश पीधी ॥ राज मारे०
तमे मर्द मटीने थया मेरी । राज मारे०
मारा बहाला मटीने थयां वेरी ॥ राज मारे०
तमे नारी ने वेशे नाच्या । राज मारे०
तमे जाचक थइने जाच्या ॥ राज मारे०
आवडी रुक्षमणी वाली कीधी । राज मारे०
मारे बापे केम परणावी दीधी ॥ राज मारे०
अपने वखडां घोळी शें ना दीधां ॥ राज मारे०
एमां गोंविदजी शुं जाणे । राज मारे०
ते तो लीला तमारी जाणे ॥ राज मारे०

'हे राजा, हे कृष्ण! मेरे घर क्यों आये ? खीझकर सत्यभामा ऐसा बोलीं। हे मेरे राजा! तुमने गोपबुद्धि की अहीर की बेटी की छाछ तो पी ली। तुम तो पुरुषत्व त्यागकर स्त्री हुए। मेरे प्रियतम! मिताई मिटाकर बैरी हुए। हे मेरे राजा! तुम तो नारी-वेश में नाचे और याचक बनकर माँगा। इतनी सी रुक्मिणी को प्रियतमा बना लिया। मेरे बाप ने तुम्हारे साथ मेरा व्याह क्यों किया ? मेरे राजा! हमें जहर क्यों नहीं दिया ? हे ईश! (भक्तकवि) गोविंदजी क्या जाने ? वह तो केवल तुम्हारी लीला ही जानता है।'

म. ई. प्र.

गोविन्दराम

गोविन्द राम पुष्टिमार्गीय कृष्ण-भक्त थे। इनके जीवन के विषय में अपेक्षित तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। ये अठारहवीं शताब्दी में विद्यमान बताये जाते हैं।

इनका एक पद नीचे दिया जा रहा है :

हेत करीने हरजी आजे मारे घरे आव्या रे ।
भामिनी मारुं भायगमोटुं आ फेरामा आव्या रे ॥
दरसन रीधां ने कारज सा, सुखे तेड़ी लाव्या रे ।
गोविन्दराम ना स्वामी श्यामला, मोतीड़े वधाव्या रे ॥

अ. शु.

गोविन्द लाल (मौनी बाबा)

गोविन्दलाल का जन्म सन् १८९६ ई० में अहमदाबाद में दशानागर वणिक् जाति में हुआ था। पिता का नाम केशवलाल और माता का रुक्मिणीबाई था। माता के द्वारा संस्कार-सिंचन से गोविन्दलाल में बचपन से ही भक्ति के भाव दृढ़ हो गये। सन् १९१७ ई० में पिता के निधन के पश्चात् परिवार का दायित्त्व गोविन्दलाल पर आया। मैट्रिक तक का विद्याभ्यास करके सन् १९१८ ई० में इन्होंने अपने पिता के स्थान पर कचहरी में नौकरी कर ली। ये अवकाश का समय सत्संग एवं धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन में बिताते थे। प्रत्येक एकादशी को मौनव्रत रखते थे। २५ वर्ष की आयु में इन्होंने चम्पागौरी के साथ दाम्पत्य-जीवन का आरंभ किया। इन्हें कृष्णकुमार और बालकृष्ण नामक दो पुत्र हुए। छोटी बहन के व्याह की जिम्मेदारी पूरी करके इन्होंने अपना चित्त कृष्णभक्ति में केन्द्रित किया। न्यायालय में ये सदैव घूस लेने से दूर रहे। छुट्टियों का समय ये वृन्दावन में

व्रजविहारी के सान्निध्य में व्यतीत करते थे। वृन्दावन-निवास के समय ये केवल मूंग और दूध लेकर सात्त्विक वृत्ति से भगवद्भजन में मग्न रहते थे।

जीवन में इन्हें अनेक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। सन् १९२९ ई० में अन्धी माता और पत्नी दोनों दिवंगत हो गये। बहन प्रभा भी विधवा हो गयी। सरकार की दृष्टि में ये इतने विश्वसनीय थे कि लाखों की लागत का कारोबार इन्हें सौंपा गया, किन्तु इस पद का इन्होंने कभी दुरुपयोग नहीं किया।

परंपरागत चौरासी कोस की 'व्रजपरिक्रमा' ये मौन व्रत लेकर करते थे। अतः 'मौनी बाबा' के रूप में इनकी ख्याति हो गयी। ये अपने कण्ठ में सदैव वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण का चित्र लटकाये रहते और कभी-कभी बाँसुरी भी बजाते थे। इसलिए लोग इन्हें 'तस्वीरवाला बाबा' या 'बाँसुरीवाला मौनी बाबा' के रूप में पहचानते थे। इन्होंने काशी, कलकत्ता, जगन्नाथपुरी, द्वारका और हरिद्वार की भी यात्रा की थी। अब तक गोविन्दलाल कृष्ण की उपासना 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्र के जप द्वारा करते थे। कहा जाता है कि एक दिन वृन्दावन में श्रीकृष्ण ने इन्हें ब्राह्ममूहूर्त में युगलरूप में दर्शन दिये और आराध्य देव ने स्वयं इन्हें युगलोपासना करने का आदेश दिया। तभी से ये 'राधे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण राधे राधे, कृष्ण राधे कृष्ण राधे, राधे राधे, कृष्ण कृष्ण' मंत्र का जप करने लगे और मुख में सदैव राधाकृष्ण की रजत-मूर्ति रखने लगे।

सन् १९५१ ई० में न्यायालय के असिस्टेण्ट सिविल सुपरिण्टेण्डेण्ट के पद से निवृत्त हो ये निवास के लिए वृन्दावन में जा बसे। आनन्दीबाई के मन्दिर में ये बैठते और माला (सुमिरिनी) द्वारा कृष्णनाम का जप करते थे। 'जपयज्ञ सर्वश्रेष्ठ है'-इस संदेश का प्रचार करते और स्नेही सम्बन्धियों को भेंट स्वरूप सुमिरिनी दिया करते थे। जनश्रुति है कि श्रीकृष्ण ने ग्वाल-बाल के रूप में इन्हें अनेक बार दर्शन दिये थे। कहते हैं एक बार इनके मुख की राधा-कृष्ण की प्रतिमा यमुना के जल में गिर गयी तो वृन्दावन-विहारी ने स्वयं छोटे बालक के रूप में आकर जल में डुबकी लगायी और प्रतिमा बाहर निकाल कर इनको दे दी।

इनके जीवन में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ हुईं। एक दिन 'राधाकृष्ण' मंत्र-जप करते समय मौनी बाबा पर बन्दरों का एक झुण्ड टूट पड़ा, तो कृष्ण ने गोपयुवक के रूप में आकर लकड़ी से सब बन्दरों को भगा दिया।

वृन्दावन में मौनी बाबा ने अपनी जीवनचर्या द्वारा अपरोक्ष रूपसे कृष्ण की महिमा का विस्तार किया। भीख माँगने की वृत्ति को ये प्रोत्साहन नहीं देते थे। निराश्रित बहनों को आजीविका के लिए इन्होंने वृन्दावन में ६०० चर्खे चालू कराये। भजन करते-करते भोजन का भी प्रवन्ध होता चले ऐसी अनूठी यह योजना थी। राधाकृष्ण की भक्ति साधना और निराधारों की सेवा करते-करते व्रजभूमि में ही अपना देहोत्सर्ग हो, ऐसी इनकी प्रवल इच्छा थी। इसी कामना के अनुसार ७६ वर्ष की आयु में वृन्दावन में 'राधाकृष्ण-राधाकृष्ण' रटते-रटते ये दिवंगत हुए।

मौनी बाबा ने गुजराती के अतिरिक्त हिन्दी और संस्कृत में भी पद-रचना की है। नमूने के रूप में हिन्दी और संस्कृत में विरचित इनके दो पद यहाँ दिये जाते हैं :

(१)

दीनदयाला गोपाला हरि,
बृंदावन मोहे बुला तो सही।
रो लूं रज चरण परस टुक,
प्रेमप्रसाद चखा तो सही॥

तेरे नगर में नित्य निवास करूं,
तेरी सेवा जाप किया ही करूं।
तेरे चरण धोय पिया ही करूं।
मोहे झांकी बिशाल करा तोसही।
चाहे डाल बना चाहे पात बना,
चाहे फूल बना, चाहे काठ बना,

चंदन शोभा बबूल बना,
कहूँ कांटे पे मोहे उठा तो सही ॥
तेरे कुंज के द्वार पे सदा मैं रहूँ,
भूखप्यास की बात कबहुं न कहूँ,
तेरे बिरह के नीर में सदा मैं बहूँ,
मुझे जनममरण से छुड़ा तो सही ॥

(२)

कदा वृन्दारण्ये विमलयमुनातीरपुलिने,
चरन्तं गोविन्दं हलधरसुदामादिसहितम् ।
अये कृष्ण स्वामिन् मधुरमुरलीवादन विभो,
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥ ॥

कदा कालिन्दीये हरिचरणमुद्रांकिततटे,
स्मरन गोपीनाथं कमलनयनं सस्मितमुखम् ।
अहो पूर्णानन्दाम्बुजवदन भक्तैकललनम्,
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥२॥

कदा द्रक्ष्ये पूर्णं पुरुषममलं पंङ्कजदृशम्,
दयां कर्तुं दीने परमकरुणाब्धे समुचितम् ।
अहो विष्णो स्वामिन् रसिकमुरलीमोहन विभो,
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥३॥

म. ई. प्र.

गौरी (गवरी) बाई

गुजराती राधाकृष्ण भक्त कवयित्रियों में गौरी बाई का विशिष्ट स्थान है। इनका जन्म सन् १७५९ ई० में राजस्थान के डूंगरपुर नगर के एक वडनगरा ब्राह्मण परिवार में हुआ था। पाँच वर्ष की छोटी आयु में ही इनका विवाह हुआ और दुर्भाग्यवश आठ दिन के बाद ही ये विधवा हो गयीं। फलतः बचपन से ही इनके हृदय में भगवद्भक्ति और संसार से विरक्ति उत्पन्न हो गयी। गीता और भागवत के अध्ययन से इनकी भक्ति-भावना परिपुष्ट हुई और काव्यत्व का उन्मेष हुआ।

अतीव देह सौन्दर्य और निर्मल भक्ति के प्रताप से गौरीबाई का व्यक्तित्व उज्जवल था। श्वेत-परिधान, कण्ठ में तुलसीमाला और भाल पर गोपीचन्दन का तिलक इनके सात्विक बाने के अभिन्न अंग बन गये थे। इनकी भक्ति और साधुवृत्ति के कारण डूंगरपुर, जयपुर और काशी के नरेशों का ध्यान इनके प्रति आकर्षित हुआ। डूंगरपुर के नरेश शिवसिंह ने इनके लिए बालमुकुन्द का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया। गौरीबाई उसी मन्दिर में स्थायी रूप से निवास करके कृष्णभक्ति में लीन रहने लगीं। राज्य की ओर से मन्दिर में सदाव्रत चलाने का भी प्रबन्ध किया गया था। इस प्रकार गौरीबाई के जीवन का पूर्वार्द्ध कृष्णोपासना में व्यतीत हुआ। इस कालावधि में इन्होंने कृष्णभक्ति के असंख्य भावपूर्ण पद लिखे। इनका भक्ति – सौरभ गुजरात-और राजस्थान में दूर-दूर तक फैल गया।

बालमुकुन्द के मन्दिर में प्रतिदिन आने वाले साधु-सन्तों में से किन्हीं की प्रेरणा से बाद में गौरीबाई का चित्त ज्ञान और योगमार्ग के प्रति आकृष्ट हुआ। साधुओं के सम्पर्क-सत्संग से इनका ज्ञानदीप प्रज्वलित हो उठा और ये योगसाधना में भी आगे बढ़ गयीं। इनके मुख से ब्रह्मज्ञान एवं वैराग्य की पदधाराएँ निःसृत हुईं। जीवन के उत्तरार्द्ध में ये रामानन्द सम्प्रदाय में दीक्षित हुईं।

कृष्णभक्ति संमन्वित इस वेदान्ती विचारधारा से अनुप्राणित हो गौरीबाई ने गोकुल-वृन्दावन जाने के लिए डूंगरपुर छोड़ दिया। मार्ग में जयपुरनरेश प्रतापसिंह ने इनका अच्छा आदर-सत्कार किया। गोकुल-वृन्दावन से होकर इन्होंने काशी में निवास किया और राजा सुन्दरसिंह को योगमार्ग सिखाया। राजा ने प्रसन्न हो इन्हें पचास सहस्र रुपये दिये। काशी के ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देकर तथा गया-श्राद्ध और जगन्नाथ जी की यात्रा करके गौरीबाई ने राजा से प्राप्त धन का सद्व्यय किया। सं० १८६५ में रामनवमी के दिन यमुना के तट पर वृन्दावन में इनका देहोत्सर्ग हुआ। कहा जाता है कि इन्होंने समाधि लेकर स्वतः देहत्याग किया था।

गौरीबाई के जीवन में घटित अनेक चमत्कार बताये जाते हैं। जयपुर के राजा प्रतापसिंह द्वारा सत्कृत गौरीबाई श्री कृष्ण के दर्शनार्थ उन्हीं के महालय में स्थित गोविन्द जी के मन्दिर में गयीं। उस समय मन्दिर का द्वार बन्द था। राजा प्रतापसिंह ने परीक्षा के लिए गौरीबाई से कहा, 'मन्दिर में बन्द द्वार के भीतर भगवान् का आभूषण श्रृंगार किया गया है। अब बताइये कि भगवान् को कौन-कौन से आभूषण पहनाये गये है ?' कहा जाता है कि उस समय मन्दिर के बन्द द्वार के बाहर खड़ी गौरीबाई के मुँह से कृष्णमूर्ति के आभूषणों का वर्णन करते हुए पद निकला। आभूषणों को बिना देखे यथार्थ वर्णन सुनकर सब दंग रह गये। किन्तु प्रभु को कैसा मुकुट पहनाया गया है, इसका कोई उल्लेख उक्त पद में नहीं था। इसके बारे में गौरीबाई से पूछा गया तो उत्तर मिला, 'महाराज, हृदय में हरि के जैसे दर्शन हुए, मैंने वैसा वर्णन किया है।' बाद में जब मन्दिर के द्वार खोले गए तो पता चला कि सचमुच ही मूर्ति पर मुकुट नहीं था, वह तो पीछे गिर गया था। गौरीबाई की ऐसी चमत्कारी सिद्धियों से प्रभावित हो राजा प्रतापसिंह इनके चरणों पर गिर पड़े।

गौरीबाई ने गुजराती और हिन्दी भाषा में कृष्ण-भक्ति, कृष्णलीला, तिथि, वार, गरबी एवं ज्ञान-वैराग्य-नीति विषयक विपुल पदों की रचना की है। इनमें सबसे अधिक पद कृष्णभक्ति के हैं। इनके ६०३ पदों का एक संग्रह 'गौरी-कीर्तनमाला' नाम से सन् १९३७ ई० में कमलाशंकर गोपालशंकर भचे ने प्रकाशित किया था। गुजरात विद्या सभा में इनकी कविताओं की एक हस्तप्रति सुरक्षित है।

मीराबाई के सदृश गौरीबाई भी पहुँची हुई कृष्ण-भक्त थीं। इनकी भक्ति का विकास सगुण से निर्गुण की ओर हुआ था। मीराबाई के पश्चात् ऐसा माधुर्य और भाव-वैभव अन्य कवयित्रियों में मिलना दुर्लभ है। गौरीबाई के पदों में सागर-सी प्रेमोर्मि, कर्णमधुर संगीतात्मक भाषा और भक्ति से आर्द्र अद्वैतनिष्ठा की अनुभूति होती है। श्रीकृष्णविषयक पदों में वसंत और हिंडोल के पदों के अतिरिक्त कृष्णचरित के अनेक प्रसंगों की रंगभरी अलौकिक सृष्टि गौरीबाई ने अपनी रचनाओं में प्रस्तुत की है। इन्होंने श्रीकृष्ण के लीला प्रसंगों का भाव विह्वल होकर मधुर गान किया है। श्रीहरि के रास में भी इन्हें परात्पर परब्रह्म के दर्शन होते हैं। अनेक पदों में श्रीकृष्ण की मुरली का मार्मिक प्रभाव-वर्णन चित्रित हैं :

मोहनी भरी मुरली बजाई, श्रवन सुन सुध बिसराई।
पशु पंखी सब रहे लोभाई, जल जमुना को नीर ठराई॥

गौरीबाई की साखियाँ कितनी उद्बोधक है :

गवरी गिरधर कु तजी, करे जगत में हेत।
तीन लोक में ठोर नहीं, अन्ते होय फजेत॥

गौगीबाई का अटल विश्वास है कि हृदय शुद्ध किए बिना श्रीगोपाल की प्राप्ति संभव नहीं :

अड़सठ तीरथ में फिरे, कोई बधारे बाल।
हिरदा शुध किया बिना, मिले न श्रीगोपाल॥

इनकी दृष्टि में वृन्दावन साक्षात् श्रीहरि का परमधाम है :

(१)

अखंडबृंदावन धाम छे, त्यां सदा अमारा बास,
त्यां अमे रहीए छे।

बहुबिध बाजां बाजे छे, ज्यां अपरमपार अपार,
त्यां अमे रहीए छे॥

बैकुंठ मेल्युं वाटमां, ज्यां चौद लोकथी न्यारी,
त्यां अमे रहीए छे।
चांदा सुरजने गम नथी, ज्यां प्होंचे विरलो लोक,
त्यां अमे रहीऐ छे।
शिव सनकादिक सेवे छे, जेनां नारद गाये गान,
त्यां ऊभैं रहीए छे।
च्यारु वेद ने गम नथी, जेनी लीला अगम अपार,
त्यां ऊभे रहीए छं॥

मारी आंख उलट उघड़ी छे, उपरथी अमृत वरस्या
कोइक पीवे छे।
गवरी ते रस पावे छे, ज्यां हरि रमे छे रास,
त्यां अमे रहीए छे।

'वृन्दावन तो अखण्ड धाम है, वहाँ हमारा स्थायी निवास है, वहाँ हम रहते हैं। जहाँ बहुविध बाजे बजते हैं, जो अपरंपार अपार है, वहाँ हम रहते हैं। वैकुण्ठ को तो हमने मार्ग में ही छोड़ दिया और जो चौदह लोक से न्यारा है वहीं तो हम रहते हैं। चन्द्र और सूर्य की भी जहाँ पहुँच नहीं, जहाँ विरले ही पहुँचते हैं, वहीं हम रहते हैं। शिव सनकादि जिसका सेवन करते हैं, नारद जिसके गान गाते हैं, चारों वेदों को जिसका पता नहीं है और जिसकी लीला अगम्य और अपार है, ऐसे धाम में हम निवास करते हैं। मेरी आँख खुल गयी है, ऊपर से अमृत बरसा, कोई विरला ही उसे पीता है, गौरी वही रस पीती और पिलाती है। जहाँ हरि रास खेलते हैं, वहाँ हम रहते हैं।'

(२)

मोहनी भरी मुरली बजाई, श्रवन सुन सुध बिसराई।
पशु पंखी सब रहे लोभाई, जल जमुना का नीर ठराई।
कामधेनु तृण नारी चराई, बछवाल को खीर न खाई।
स्वर्ग भुवन पाताल सुनाई, पदमणि मिल सब आई।
देवकन्या को दृग न चलाई, वेण नादे मोहो मोह पाई।
रवि शशी रथकु ठहराई, अपसरा निरखन कु आई।
जोगी मुनिजन मोह सब पाई, पवन पाणीरहे थंभाई।
शंकर सरीखा समाधि भुलाई, अमे ऊबला का करीए
कनाई।
गवरीदास जो दया कराई, रास रमवानी जुगती
बनाई।।

म. ई. प्र.

ज्ञानदास

ज्ञानदास प्रणामी-संप्रदाय के अनुयायी और श्यामाश्याम तथा ब्रजभूमि के उपासक थे। इनके जीवन-सम्बन्धी तथ्य अज्ञात हैं। केवल कुछ फुटकर पद मिलते हैं जिनसे इनकी उत्कृष्ट कृष्णभक्ति व्यंजित होती है। नमूने के रूप में एक पद की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं:

जग से है वृन्दावन न्यारा।
देखे कोई वराह संहिता, सब लोकन के पारा।

न. पं.

चतुर्भुज (चतुर्मुख ?)

भक्त चतुर्भुज कविरत्न भालण के पुत्र थे, ऐसी विद्वानों की मान्यता है। किन्तु कवि ने अपना परिचय कहीं पर भी भालणपुत्र के रूप में नहीं दिया है, अतः यह बात संदिग्ध प्रतीत होती है। इनके जीवनकाल के संबंध में भी हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते। सं० १६२२ में ये जीवित थे, ऐसा उल्लेख इनकी 'भ्रमरगीता' की पुष्पिका में मिलता है। जीवन-विषयक अल्प सामग्री के आधार पर ये संस्कारी विद्वान् ब्राह्मण-पुत्र और पौराणिक सिद्ध होते हैं। इन्होंने अपनी कृति में आराध्य का गुणगान तन्मय होकर किया है।

इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना 'भ्रमर-गीता' है। गुजराती के फागु-प्रकार की काव्य-रचना का यह एक मनोहारी उदाहरण है। प्रौढ़ काव्यशैली एवं रसप्रवाह-युक्त यह रचना गुजराती साहित्य को कवि का अनुपम उपहार है। 'भ्रमरगीता' में कृष्ण का मथुरागमन-प्रसंग चित्रोपमता धारण करता है। कवि ने गोपांगनाओं की विह्वलता बड़े ही अनूठे ढंग से चित्रित की है। वे कहती हैं:

हरि हवि शुं करी अहीं आवी।
नीरस नारी अम्हो थई अभावी।।

भ्रमरनी परि भला भाव जोया।
नवरस नगरनी नार मोह्या।।

गोपांगनाओं की बातें सीधी-सादी हैं, फिर भी कवि ने उन्हें अत्यंत हृदयस्पर्शी और मार्मिक बनाया

है। मथुरा से रथ में कृष्ण को लेने के लिए आये अक्रूर को वे बड़ा ही क्रूर और पापी बताकर तिरस्कार करती हैं।

चतुर्भुज अपने एकमात्र ग्रंथरत्न 'भ्रमरगीता' से नंदनंदन श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त एवं उत्कृष्ट कोटि के कवि सिद्ध होते हैं। इनकी रचना के तीन उदाहरण प्रस्तुत हैं :

(१)

भारती प्रार्थी प्रणमुंय वर्णवुंअ मदन मुरारि।
देव द्वारामतो जई रहिया, विरह हुई व्रजनारि॥

गोपकन्या करई वालडी रातडी किह्मई न विहाई।
वाहलु विदेसि जई रहिउ, अम्हें म्हेल्यां गोकुल मांहि॥

'सरस्वती की प्रार्थना कर प्रणाम करता हूँ, मदन मुरारी का वर्णन करता हूँ। देव तो द्वारका जाकर रहे, व्रजनारी विरही हुईं। गोपकन्यायें गोष्ठी करती हैं कि रात बिताई नहीं जाती। बालम तो विदेश जाके रहे और हमें गोकुल में छोड़ दिया।'

(२)

अक्रूर कीधुरे सारथि रथि बिइठा श्री रिणछोड़।
सुंदर दीसे साहोमणा, बलिभद्र बंधव जोड॥

कामिनी कृष्ण पूछिज धाई,
चोर छूटि छेहडा धसाई॥

विलविलइ विरुहणी साहियंहि,
वाहला विदेसि कां मूंकी जाई ?

(३)

श्रीकृष्ण का मथुरागमन

कहई नवयौवन नारी रे,
मारी नई रथ खेडि।
जावा देसुं नहीं तुम्हनी,
अह् मनइ तां साथि तेडि॥
मालव पाधरी पाए लागी,
रहु रहु जी राजन मान मागि।
नीरनिझरण झरि बहु नयणे,
दीन वचन वदिइ रे वयणे॥

नेह उपायु ति पहेलुं रे,
वहालु करवा छेह।
जल बिना किम रहइ माछली,
जीव बिना तिम देह॥

रथि रांमा मिली झूलिझूंबि कामिनी,
कृष्णनी करि बिलंबी।
प्रीछवी पद्मनी लाज लोपी,
सूधा संकेत करी चाली गोपी॥

चडथडीने रथ खेडया रे,
तेडया गोप आहीर।
विरहिणी वाट निहाळइ रे,
ढाळि नयणे नीर॥

सुंदरी कृष्ण जोइ जातां,
इम शुं कीधुं वेरी विधाता।
गद्गद कंठ नि जोई वाटि,
जोउं रे दुष्ट हीयां न फाटी॥

वहालिम् वळावी वळ्यां,
गली गली पडइ रे शरीर।
पाछा पग चाली नहि,
वही वळी नयणें नीर।

म. ई. प्र.

चाँद खाँ

चाँद खाँ का समय २०वीं शताब्दी है। ये मुसलमान थे तथा अपने समय के प्रसिद्ध कथक एवं ठुमरी के गायक थे। व्रजभाषा के प्रति इन्हें बहुत प्रीति थी। इनके ठुमरी-पदों में उत्कट कृष्णप्रेम व्यक्त हुआ है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

भाई रे, तोरी सांवरे लटपटीचाल।
मानों मद के रस झूमत,
आवत हो नन्दलाल॥

रैंन बीती करत केलि सौतिन संग,
सिंदूर भरि गयौ अधरन,
'चाँद' हरिमुख अंजन गाल ।

म. ई. प्र.

चेतनदास

जुगुलदासजी महाराज के शिष्यों में चतुरदास, चेतनदास और जीवनदास के नाम लिये जाते हैं। इनमें चेतनदास ने प्रणामी-साहित्य को अपने भावपूर्ण और उपदेशपूर्ण पदों से समृद्ध किया है। संसार के मायाजाल से दूर रहने की चेतावनी देते हुए ये कहते हैं—

बनी बहु मकड़ी की जालो, तामें मति फँसियो ।

संसार से मन हटाकर जब प्रिय में ही उसे केन्द्रित कर दिया जाये तो एक दिन वह स्वयं गा उठेगा--

"परदेशी बलमुवां आयं गए ॥"

अन्यत्र सामने उपस्थित प्रियतम को प्रेमपूर्ण शब्दावली में संबोधित करते हुए ये कहते हैं :—

मोहन नाचो हमारे आगे ।
तुमरे नाम हमही नीक लागे ॥
जग में नाच बहुत रंग होई ।
तुमरे नाच तुले ना कोई ॥

प्रियतम कृष्ण और उनकी बंशी के मधुर स्वर से विद्ध इनके अंतस् की तालावेली इन शब्दों में कितने मार्मिक रूप में व्यक्त हुई है :—

"श्याम रौरे मुरली में मारत बान ।
सुतल रहलि चिहुकि उठि जागे,
उडि गई नींद शब्द के तान ।
मुरली के चोट औषध नहिं लागे,
मन मतवाला फिरे बौरान ॥

इनकी भाषा में भोजपुरी शब्दों का बाहुल्य है। इससे यह विदित होता है कि इनके ज़ीवन का कुछ भाग किसी स्थिति में पूर्वी उत्तर प्रदेश से अवश्य सम्बद्ध रहा होगा ।

न. पं.

छोटमलाल बलदेवजी

बड़ौदाके निवासी कवि छोटमलाल बलदेवजी सं० १८६८ से १९६८ के बीच हुए। उनकी दो कृतियाँ 'छोटमकाव्य' और 'प्रश्नोत्तर-माला' का उल्लेख मिलता है। ये प्राचीन गुर्जर-साहित्य के शाश्वत उद्गाता माने जाते हैं । इन्होंने भक्तिरस सम्बन्धी अनेकविध काव्यों की रचना की है ।

यहाँ इनके दो पद उद्धृत किये जा रहे हैं—

(१)

राधावर श्री गोपाल सुखसागरा !
राजा महाराजा अधिराजा गिरिधरा ।
परमानन्द बयुगबंद व्रजचंद नंद नागरा ॥
राधावर०

कोट्यवधि कामधाम मुख मोहनी ।
पीतांबर अंगतनु श्याम सोहनी ।
खलके ललके उर पर जलहल कौस्तुभमनी ॥
राधावर०

बेंदी मृगमद सोहात तिलक भाल में ।
नीको नटरूप ललित वेश ब्याल में ।
प्यारी न्यारी मतवारी लटकाली लटक चालमें ॥
राधावर०

कंकन कर कटि मेखला सोहागनी ।
कुंडल-युग कर्ण चर्ण घुंघरू घनी ।
झलके ढलके भौ पर लट मोर-मुकुट दमके दामिनी ॥
राधावर०

अष्टदश रेष पद्म पायमें रही ।
बेजंती माल भृगु लांछन सही ।
बेना देना सुखचेना चित्त लेना हाथमें ग्रही ॥
राधावर०

बांकी छब छेल मदन मुरत माधुरी।
नेना रसरूप रसिक चपल चातुरी।
न्यारी सारी सुध टारी बनत आतुरी॥

राधावर०

ऐसो अलबेली छब देखि मन हरे।
दासानुज दास छोटम ध्यानमें धरे।
वारी वारी बलहारी बनवारी लाल सांवरे॥

राधावर०

इस पद की भाषा गुजरात में व्यवहृत तत्कालीन हिन्दी है। ध्यानपूर्वक पढ़ने पर इसका अर्थबोध सहज है।

(२)

बलिहारी रे विट्ठलनुं मुख न्याली।
मने लागी एसुं ताली॥

छबि जोइनेरे श्याम सुंदर लट काली,
एनी सुरत छेल छोगाली,
आज मलियारे वाटे जतां बनमाली॥

मने बांकी नजरे गाली,
मने त्यारनुं तो कांई थाए,
मे मुखडे ना केहेवाए,
मारो जीव झकोला खाए,
गई वारी रे सुधबुध सखे टाली॥ १॥

मने लागी………

अलबेले रे वाज्यो बांको अंबोड़ी,
काने कुंडलनी छे जोड़ी,
करे आंख तणो मचकोडो
हीडे हंसगति ठकराली,
हाथे वांसलडी छे रसाली,
तन कोमल ने वय बाली,
वश करणी रे की की कामणगाली॥ २॥

मने लागी ……

'बलिहारी है जो विट्ठल का मुँह निहार मुझे ऐसी व्याकुलता हो गयी। श्यामसुन्दर की लटकदार छबि और छैल छबीली सूरत देखकर मैं तल्लीन हो गयी। आज मार्ग में जाते हुए वनमाली मिले और उन्होंने मुझे तिरछी दृष्टि से निहारा। तब मुझे जो कुछ हुआ उसे मुख से नहीं कहा जा सकता। मेरा जीव झँकोरे खा रहा है और मैं सुध-बुध भूल गयी हूँ। उस अलबेले ने बांका जूड़ा बाँधा है। कानों में कुण्डल की जोड़ी लटक रही है। मन्द-मन्द मुसकान करते हुए गरूर से आँखें मटका रहे हैं। वे हंसगति के साथ ठकुराई की शान से घूम रहे हैं। हाथ में रसीली बाँसुरी धरे हुए हैं। तन कोमल है और वय है बालापन की। वश करनेवाली यह छोटीसी वशीकरण मोहिनी है। मैं उसे देख तल्लीन हो गयी।'

(३)

चरण शरण सुखधाम,
मुरत शुभ मंगलकारी प्रभु गिरधारी।
एवा चरण शरण सुखधाम॥

अन्य उपासन रे जप तप
आराधन तीर्थाटणनुं काम। मुरत०

सर्वे श्री हरि रूपमां आवी वसियुं नाम
ने सेव्या थी सहुमलेनथी,
खप श्रम साधन दाम। मुरत०

अमल कमळ दळ रे पददळ
नीचे सकळ तीर्थ अभिराम। मुरत०

अगणित कोटी अंडने जल थल जकत तमाम।
उरमां तेह समाई रह्या
एवी अकल कला कृति आय। मुरत०

गहन गति कोई पार न पाये
वा मेरे बल कल हाय। मुरत०

सगली सरिता नाड़ीओ रोम वनस्पति ठाम।
द्वादश रवि छे नेत्रमा
मनचंद्र एवा घनश्याम। मुरत०

अगम निगम विधि रे सुर मुनि
ईशा भूले रे भूले मूको काम। मुरत०

मुरली सत्य स्वरूप छे शंकर सदन विराम।
रच्या रूप गोविंद गोपी बनी
थया शेषरूपे बलराम। मुरत०

रे जगत जीवन तन मन धन
मारा प्यारा पूरण काम। मुरत०

एलीया श्री अविनाशीने भजिए आठे जाम।
छोटमदास सदा बनी तुं तुंसतो
थई रहेजे घटनो गुलाम। मुरत०

'प्रभु गिरिधारी के चरण-कमल सुख के धाम हैं और उनकी मूर्ति परम मंगलकारी है। अन्य उपासनाएँ—जप, तप, आराधन, तीर्थाटन सभी हरिरूप में आ बसते हैं। उसका नाम ऐसा महत्त्वपूर्ण है कि उसके सेवन से सब कुछ प्राप्त हो जाता है। वहाँ श्रम, साधन या दाम कुछ भी नहीं लगता। उनके निर्मल कमलदल जैसे चरणों में सभी तीर्थ आ बसते हैं। कोटि-कोटि अंड, जल, थल उनके उर में समाये हुए हैं। उनकी गति गहन है। कोई उसका पार नहीं पा सकता। सारी पावन सरिताएँ उनकी नाड़ियों और रोम-रोम में भरी पड़ी हैं। द्वादश रवि उनके नेत्रों में हैं और चन्द्रमा उनके मन में विराज रहे हैं। आगम, निगम, ब्रह्मदेव, सुर, मुनि सभी उन्हें देख सुध-बुध भूल जाते हैं। उनकी मुरली सत्य स्वरूप है, कल्याण का सदन और मन को विश्राम देनेवाली है। उन्होंने विविध रूप रचे हैं। गोविन्द गोपी बन गये और शेष बलराम बने। वे जगत-जीवन पूर्णकाम हमारे तो तन, मन, धन हैं। छोटमदास कहते हैं कि ऐसे अविनाशी हरि को आठ याम भजते रहें और उनके घर के दास बन जाएँ।'

ल. पिं. ग.

जगजीवन

इच्छाराम सूर्यराम देसाई द्वारा संपादित 'बृहत् काव्य दोहन' (ग्रंथ ८) में 'जगजीवन' छाप के दो पद प्रकाशित हुए हैं—'तने मोह्यो रे नंदिनी लाल' और 'जमनाजी ने कांठे रे'। इन दोनों पदों के परीक्षण से ज्ञात होता है कि जगजीवन राधाकृष्ण की प्रेमलक्षणा-भक्ति के गायक हैं। दोनों पदों में भक्त-हृदय की कृष्णासक्ति अभिव्यक्त होती है।

ये जगजीवन कौन थे? यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

इनकी भावभक्ति का परिचायक एक पद यहाँ दिया जाता है:

जमनाजी ने कांठे रे, व्हाले वाही वांसळी रे,
तेनो तेरुडो नाद रसाल ॥

चाली जईने जोइये रे सजनी शामली रे,
धंन धंन जशोदा ना रे बाल ॥

मोर मुगट रे हरिने शोभता रे,
गले सोहे गुंजमणिनो हार।
बांहे ते बांध्या रे बाजुबंध बेरखा रे,
पाये सोहे घुघरीनो घमकार ॥

जगजीवन रे प्रभु तमने बिनवुं रे,
तमो छो दीनानाथ दयाळ।
जमनाजी ने कांठे रे व्हाले वाही वांसली रे,
जुगजीवन परम कृपाल ॥

'यमुनाजी के तीर पर प्यारे बालम ने बाँसुरी बजायी। उसका नाद मधुर और रसीला है। हे सखी! चलो, जाकर श्यामल को देखें। यशोदा का बाल धन्य-धन्य है। हरि को मोरमुकुट शोभता है, गले में गुंजामणि का हार शोभायमान है। बाँहों में बाजूबन्द बाँधे हैं और पाँवों में घुंघुरु की झनकार सुहावनी लगती है। जगजीवन कहते हैं कि हे प्रभु! तुम्हें मनाती हूँ (मनाता हूँ), आप तो दीनानाथ और दयालु हैं। यमुनाजी के तीर बालम ने, परमकृपालु जगजीवन ने, बाँसुरी बजायी।'

म. ई. प्र.

जगन्नाथ

सत्रहवीं शताब्दी में विद्यमान जगन्नाथ भक्त का जीवनवृत्त अज्ञात रहा है। इनके नाम पर 'सुदामानुं

आंख्यान' और कुछ पद प्राप्त होते हैं। छगनलाल विद्याराम रावल द्वारा सम्पादित 'प्राचीन काव्यसुधा' (भाग २) में जगन्नाथ का एक कृष्णविषयक पद प्रकाशित हुआ है। उसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है :

छेलो कोई मोरलीवालो, दीसे रे कान धूतारो।
वृंदावन ने मारग जातां पालवडी साह्यो॥

महीने माखण लुंटे हमारुं, तन तीहारो तन,
रूपे रुडो रंगे रंगीलो, सहुमां सारो।
आल करे मारी अति घणी रे,
घेलो मोहन प्यारो॥

माता जशोदा मन तमें; जुओ ने विचारो।
जन-प्रभु जगन्नाथ नो स्वामी तेने न वारो॥

'वह कोई मुरलीवाला है। वह कृष्ण तो धूर्त दिखता है। वृन्दावन के मार्ग में जाते समय उसने तो मेरा आँचल थाम लिया। वह तो हमारा दही और मक्खन लूटता है। वह तो रूप में सुन्दर, रंग-रंगीला और सबमें अच्छा है। वह मोहन प्यारा तो मेरी बहुत देखभाल करता है। हे माता यशोदा! देखो और अपने मन में सोचो। वह कृष्ण तो मनुष्यों का प्रभु और जगन्नाथ का स्वामी है। उसे मत रोको।'

म. ई. प्र.

जन भगवान

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में 'जन' और 'भगवानदास' नामक दो भाइयों की वार्ता है, जिसमें इनका कवि होना बताया गया है। 'वार्ता' में इनका विवरण देते हुए लिखा है : "सो वे जन और भगवानदास वे दोऊ भाई व्रजवासी गोरवा में जन्मे। सो वे गोकुल में रहते। सो बालपन में श्री गुसांईजी की सरनि आये। सो श्री गुसांईजी के पास सुबोधिनी की कथा नित्य सुनते⋯और अपनी छाप कीर्तन करते।"

इनके विषय में कहा गया है कि ये उच्च परिवार के सदस्य थे। इनके पास खेती के लिए पर्याप्त भूमि थी, किन्तु ये खेती नहीं करते थे। एक बार गाँव के कुछ हितचिंतकों ने इनकी धरती पर खेती करवा दी और लाभांश के रूप में धान इनके घर भेज दिया। किन्तु इन्होंने वह सारा धान गायों को खिला दिया। कुछ धान दान में ब्राह्मणों को दे दिया। ये बड़ौदा (गुजरात) के निकटस्थ गाँव गोरवा के निवासी थे, किन्तु कालान्तर में गोकुल आकर रहने लगे थे।

'वार्ता' से यह स्पष्ट नहीं होता कि कवि के रूप में एक ही व्यक्ति चर्चित था अथवा दोनों भाई समान रूप से कवि थे। वार्ताकार के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि वे दो व्यक्ति थे, किन्तु वार्ता के अन्य अंश में लिखा है : 'यह पद जन भगवानदास ने गायौ।' इससे प्रतीत होता है कि जन भगवानदास एक ही व्यक्ति का नाम था। उसका मूलनाम 'भगवानदास' रहा होगा। 'जन' उसकी शरणागतिसूचक पदवी थी।

वार्ता में इनके पाँच पद उद्धृत किये गये हैं :

'प्रातः समै श्रीमुख देखन कौं,
सेवक जन सब ठाढ़े द्वार।'
'मंगल आरति कीजै भोर।'
'आगै आऊरी छकिहारो।'
'ग्वाल बधाई मांगन आए।'
'श्रीवल्लभगृह होत बधाई अनुदिन मंगलचार।'

इनके पद साधारण कोटि के हैं। इन्होंने आचार्यों की बधाई के पद अधिक लिखे हैं। ये गुसाइंजी के सेवक थे। वार्ता से इतना ही ज्ञात होता है कि ये कवि थे और पुष्टिमार्गीय थे।

अ. शु.

जन लक्ष्मीदास

गुजरात के प्राचीन काव्य-संग्रहों से पता चलता है कि जन लक्ष्मीदास नामक एक राधाकृष्ण-भक्तकवि ने अनेक स्फुट पदों की रचना की है। इनका समय सोलहवीं-सत्रहवीं शती के बीच माना जाता है। इनका जीवनवृत्त अज्ञात है। इनकी कई रचनाओं में व्रजभाषा का मिश्रण है। व्रजभाषा में रचित एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है :

आजु मरे सफल भए नेंन।
कोटि मनमथ रूप चतर जु,
निरखे गिरिधर चेंन॥

कोटिं रवि-छबि जोति आनन,
अंबर कोटिक मेंन।
जन लखिमिदास विचित्र बरुनी,
लिखी चित्र से ऐंन॥

म ई. प्र.

जनार्दन

जनार्दन का आविर्भाव सोलहवीं शताब्दी में हुआ था। इनकी केवल एक रचना 'उखा-हरण' प्राप्त होती है, जो उषा-अनिरुद्ध की कथा पर आधारित आख्यानकाव्य है। कृति में उल्लिखित 'खडायता विप्र निम्बासुत बोलि' और 'भणइ त्रवाडी जनार्दन' के आधार पर स्पष्ट होता है कि जनार्दन खडायता ब्राह्मण (तिवारी) थे और इनकी माता का नाम निम्बा था। 'उखा-हरण' की रचना सं० १५४८ में अमरावती में हुई, ऐसा निर्देश काव्य के प्रारंभ में हुआ है :

अमरावतीइ ऊपनु ग्रन्थ रत्ननो खाणि।
संवत पनर अडताल बरस मास दामोदर सार।
भणइ जनार्दन कार्तिगी एकादशी गुरुवार॥

श्री के० का० शास्त्री का अनुमान (कविचरित, भाग १, पृ० १४२) है कि अमरावती संभवतः खेड़ा जिले का उमरेठ गाँव है। किन्तु प्राचीन गुर्जर कवियों के सम्पादक दी० ब० केशवलाल, ह० ध्रुव कहते हैं कि अमरावती सौराष्ट्र का अमरेली है। किन्तु उमरेठ में खडायता ब्राह्मणों की अधिक संख्या होने से प्रतीत होता है कि खड़ायता विप्र जनार्दन उमरेठ के ही निवासी थे।

'उषा-हरण' में कडवाँ नामक ३६ गेय पदों में देशीबन्ध और सात राग हैं। कृति पर वीरसिंह के 'उषा-हरण' का प्रभाव परिलक्षित होता है। जनार्दन की दूसरी कोई रचना अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। उनकी कृति से एक पद यहाँ उद्धृत है :

ब्रह्माइ बढ़ता वारीया हरगोपाल रे।
ऊतारिया टोपसनाह, हरगोपाल रे॥
बन्ने एकिज जणिया हरगोपाल रे।
अणिया हरखा अथाह, हरगोपाल रे॥
वाणासुर तिहां आविथु हरगोपाल रे।
भाविथु नरपतिराय हरगोपाल रे॥
मया करुं अम माधवा हरगोपाल रे।
पीठि शमावी शंकरराय हरगोपाल रे॥
महाकाल महेसि थापियु हरगोपाल रे।
आपियु अवन्तीवास हरगोपाल रे॥
जनार्दन भणई तारियु हरगोपाल रे।
टालियुं भवनउ त्रास हरगोपाल रे॥

म. ई. प्र.

जनीबाई

जनीबाई का जन्म अनुमानतः १७७० ई० में महिसा में हुआ था। इनके गुरु का नाम था मीठु महाराज, जो शक्ति के उपासक थे। वस्तुतः जनीबाई राधाकृष्ण की उपासिका थीं, किन्तु गुरु के प्रभाव से शाक्तमत की भी साधिका बनीं। इनके नाम से ही इनकी वैष्णवी प्रीति प्रकट होती है। वैष्णव सम्प्रदायों में श्रीहरि के अनन्य भक्त 'जन' या 'निजजन' कहलाते हैं। भक्त-कवयित्री ने इसी शब्द का स्त्रीलिंगरूप उपनाम के रूप में प्रयुक्त किया है। स्वरचित छन्दों के अन्त में इन्होंने केवल 'जनी' लिखा है। अतः इनका मूल नाम भी अज्ञात रहा है।

जनीबाई ने हिन्दी और गुजराती रचनाओं में अपने जीवनवृत्त के विषय में कुछ नहीं कहा है, किन्तु इनके 'नाथजी प्रागट्य' काव्य में गुरु मीठु महाराज का जीवनचरित रसमयी वाणी में वर्णित है। मीठु महाराज अलौकिक पुरुष थे। उन्होंने गुजराती, हिन्दी एवं संस्कृत में काव्य-रचना की है। उनके प्रभाव में आकर जनीबाई ने अपना मूल वैष्णव-धर्म छोड़ दिया और शक्ति की आराधिका बन गयीं, किन्तु उसके साथ कृष्णोपासना भी चलती रही।

'श्रीनाथजी प्रागट्य' कविता में जनी के समय के बारे में कतिपय उल्लेख मिलते हैं। सं० १८४७ में गुरु स्वधाम गये और सं० १८५७ में उन्होंने जनी को पुनर्दर्शन दिये। सं० १८५४ में जनीबाई ने 'नव-नायिका-वर्णन' काव्य की रचना की। सं० १८६० में इन्हें युगलरूप का दर्शन हुआ और सं० १८६८ में बालाजी के दर्शन हुए। इस प्रकार जनीबाई की राधाकृष्ण की युगलोपासना और शक्ति की आराधना सार्थक हुई। सं० १८६८ में इनका निधन हो गया।

जनीबाई ने श्रीकृष्ण को ही अपना सच्चा प्रियतम माना है। प्रेमलक्षणा-भक्ति का यह रूप इनकी लिखी 'गिरधारी बिना छेलडी', 'छेल छबीलडी छेलडी' आदि गरबिओं में प्रकट हुआ है। किन्तु यह ध्यान में रहे कि जनीबाई के प्रियतम अद्वैत-ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण हैं। जीवात्मा और परमात्मा की अद्वैतसिद्धि ही प्रेमानुगा भक्ति की चरम सीमा है, यही इनकी भक्तिसाधना का लक्ष्य रहा है।

जनीबाई की अद्वैतपरक प्रेमानुगा भक्ति के दो पदांश यहाँ उद्धृत हैं :

(१)

प्रेम ने वश्य छे पीउजी अमारो,
अमो छुं पीउ जी ने वश्य।
अदृश्य हता ते दृश्य मुने थया,
हुं तो थई पीउ थी स्पर्श्य ॥

राख्या में तो मनथी रे,
पूर्ण प्रेमे दासी।
कामराज छे पीउ जी अमारो छे समरसने आधीन।
अमो रसियां छुं रमण रासनां,
रसमां थई गया लीन ॥

प्रभुजी अमारो रे बहु दीठो कामी।
घट घट मध्ये व्यापी रह्या छो,
प्रभु पूर्णरूपे छो एक।
नख-शिख सघले स्वामी,
सरखा अेवो पीउनो टेक ॥
दासीना उरमां रे रह्या अंतरजामी
अनित मटी गउ नीत्यमां,
मळते नीत्य थउ मुज तन।
प्रतिबिंब ते बिंबमां मलीउ,
एक थउ मुज मन ॥
छाया विरामी रे, 'जनी' ने मळ्यो सुखधामी ॥

'हमारा प्रीतम तो प्रेम द्वारा वश्य है, हम प्रीतम के वश्य हैं। जो अदृश्य थे, वे दृश्य हो गये, मैं तो प्रीतम से स्पर्श्य हो गयी। जिन्हें पूर्ण प्रेम से मन में रखा है, वे ही कामराज और समरस के अधीन हमारे प्रियतम हैं। हम तो रमण रास के रसिक हैं, हम तो रस में लीन हो गये हैं। अपने प्रभुजी को तो हमने बहुत कामी देखा। घट-घट में व्याप्त होते हुए भी वे एक पूर्ण परमात्मा हैं। स्वामी तो नख में और शिखा में सर्वत्र एक समान रहते हैं, यही इनकी टेक है। इस दासी के हृदय में 'अन्तर्यामी' रहते हैं। नित्य परमात्मा में मिल जाने से अनित्य दूर हो गया। मेरा शरीर नित्य हो गया। प्रतिबिम्ब बिम्ब में मिल गया, मेरा मन एक हो गया, छाया विलीन हो गयी और जनीवाई को सुख के धामस्वरूप, पूर्ण-परमात्मास्वरूप प्रियतम प्राप्त हो गये।'

(२)

आरती ओवाळो सखी आरती ओवाळो।
गउ धेन-चारी ने आवे गोवाळो ॥

कपूर भरो ने लावो कनकनो थाळो।
ज्योति स्वरूपनी ज्योति अजुआळो ॥

रश्मी 'जनी' ना प्रभु छे रे सनेही।
पामी पीउ ने हुं तो थई रे विदेही ॥

'हे सखी! गोधन चराकर गोपाल आ रहे हैं, आरती उतारो, आरती उतारो। कपूर भरकर कनक का थाल लाओ और ज्योतिस्वरूप की ज्योति (शिखा) जलाओ। जनीबाई के प्रभु तो स्नेही हैं। मैं तो प्रिय को पाकर विदेही बन गयी।'

जयराम

जयराम का जन्म संवत् १७५० में मोठ ब्राह्मण जाति में कच्छ में, हुआ था। इससे अधिक इनके जीवनविषयक और कोई तथ्य उपलब्ध नहीं हैं। इनकी दो रचनाएँ मिलती हैं : 'श्रीकृष्णनी थाल' तथा 'बभ्रुवाहन आख्यान' (सं० १७९४)। कृष्ण-महिमा-सम्बन्धी पद इनकी कृतियों के संग्रह में हैं, जो गुजराती प्रेस तथा फार्ब्स सभा में सुरक्षित हैं।

ल. पिं ग.

जसबा भगवानलाल

जसबा भगवानलाल का निवास अहमदाबाद में था, इनकी एक कृति 'हरियश-गीत' पायी जाती है जो संवत् १९१५ (१८५८ ई०) की रचना बतायी जाती है। इसके अतिरिक्त इनके विषय में अन्य कोई सूचना प्राप्त नहीं है।

कवयित्री जसबा के प्रभु-परायण काव्यों के पद सुन्दर, कर्णमधुर, भावबोधक और हृदयस्पर्शी हैं। कितनी ही पंक्तियाँ तो प्रासादिक काव्य-सरिता की झाँकी कराती हैं। ये पद गेयत्व-प्रधान हैं। इनके पदों में विषयों की विविधता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

इनकी कविता के कुछ नमूने इस प्रकार हैं :

(१)

कलियुगमां श्रीकृष्ण अमारु धन छे।
साचवी राख्युं शुद्ध पेटी मनमांह जो ॥ टेक ॥

लोभीने सौ लक्ष्य रहे थे द्रव्य भणी।
विषय ठगारा लूंटी रखेने जाय जो ॥ कलियुग०

श्रम करी श्रीकृष्णरूपी धन मेळव्युं।
जतन करीने जाळव्युं महाधन महान् जो ॥कलियुग०

श्रीमंत ने स्वप्नमां धननुं दुःख नहि।
द्रव्यतणुं सुख जागृतमां तो होय जो ॥ कलियुग०

धनिकने दुःख सहेवां नहि व्यवहारनां।
मस्त रहे जे द्रव्य दर्शननी मांह जो ॥ कलियुग०

श्रीमंतने शी तया रहें संसार जो।
अधिकारीने अर्पी राजी थाम जो ॥ कलियुग०

महाधनने महाभक्तों ते मेळवी शक्या।
शुकयोगी सनकादिक ने प्रह्लाद जो ॥ कलियुग०

पार्थिव द्रव्यथी दुर्योधन दुखीयो थयो।
पांडव सुखोया कृष्णद्रव्यनी मांह जो ॥ कलियुग०

सुदामाए स्नेह कर्यो श्रीकृष्ण श्याम मां।
मीराबाईए मोहीने मुकयुं राज जो ॥ कलियुग०

कलियुग मां द्रव्यज ते कृष्णनुं नाम छो।
स्मरण करतां भवनी भ्रमणा जाय जो ॥ कलियुग०

(२)

सवारमां उठीने शम दम राखवा
नित्य नारायण नाम लेवुं !
अवर कारजनें अळगुं करी,
अधकडी क्षणभर कृष्ण श्रीकृष्ण कहेवुं ॥

निज कर्मना मर्मथी कंईक संकट पड़े,
समजो समजावीने सहीरे रहेवुं।
नित्य अनित्य विचार वेगे करी,
श्रीहरिने गमे ते सहेवुं ॥

फळ इच्छित ते स्नेंह आवी मळे,
पूर्वनो पूंजी सौ दईने लेवुं ॥

कृष्ण चतुर बहु कहे एम शास्त्र सौ,
कांई तारे पडे नाई कहेवुं ॥

आगे असुरने सुर बहु तारिआ,
एने एनुं नथी विरद खोवुं।
राख विश्वास महाराजाधिराजनो,
आव्युं एनुं अलौकिक जोवुं ॥

नाम ए नाव ले लाभ बहु ल्हाव छे,
कृष्णकृपा बिना लेवुं अधरु।
'जस' कहे जागशे पुण्य जे प्राणीनां
नाम लीधुं तेनुं कार्या सधर्युं ॥

(३)

कहे जसोदा तने जागोने जदुपति,
समजुने शी रे निद्राज आवे ।
गोपी गोपाल आधार गौ वच्छनो,
तुज वडे सौ ने आनन्द आवे ॥

कहान शुं कहुं वळी मंडवी बहुमळी,
मध्यमां मोरली मधुर वाओ ।
संगीतमां जई वस्या समजु कहीं,
नव फस्या नृत्यने नाद तेवुं रे गाओ ॥

चित्वन थाय नहिं माय मपाय नहिं,
मनमां समजी मौन रहेवुं ।
जोवुं युक्ति थकी मळे मुक्ति नळी,
'जस' कहे कृष्ण श्रीकृष्ण कहेवुं ॥

ल. पि. ग.

जानकीबाई

जानकीबाई की जीवनीविषयक कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। रमणीक श्रीपतराय देसाई सम्पादित 'प्राचीन कवियों अने तेमनी कृतिओ' के आधार पर जानकीबाई की कतिपय रचनाओं का पता चलता है। उस ग्रन्थ में निर्देश है कि जानकीबाई रचित कृष्णलीला के पदों की हस्तप्रति गुजराती प्रेस के पास है। 'बृहत्-काव्य-दोहन' ग्रन्थ में भी इनका एक पद प्रकाशित हुआ है, जो यहाँ प्रस्तुत है। इससे विदित होता है कि ये श्रीकृष्ण की उपासिका थीं।

बांह गह्या की लाज,
प्रभु बांह गह्या की लाज ।
आज सुधी हुं अजाणी हुती,
प्रभु में ओळखीया छे आज ॥

भार भर्यो लेखे अलेखे,
पाणी उपर झांझ ।
घणी साहे कीधी प्रभु,
वनमां आप्यु अविचल राज ॥

कहे 'जानकी' हुं पामर प्राणी,
सरीयां हमारां काज ॥

'हे प्रभु बाँह गहने की लाज रखो, बाँह गहने की लाज रखो। आज तक मैं अनजान थी। आज मैंने प्रभु को पहचाना है। पानी पर झंझा के समान अब भार निकम्मा है। वन में प्रभु ने बहुत सहायता की और अविचल राज दिया। जानकी कहती है कि मैं तो पामर प्राणी हूँ, हमारे कार्य सिद्ध हो गये हैं।'

म. ई. प्र.

जामसुता जाडेचीजी श्रीप्रतापबाला

जाडेचीजी प्रतापबाला जामनगर के महाराजा रिडमलजी की राजकुमारी तथा जोधपुर के महाराजा तखत सिंह की महारानी थीं। इनका जन्म सं० १८९१ में और विवाह सं० १९०८ में हुआ था। ये परम विदुषी और भक्त-कवयित्री थीं। कविता करने का शौक इन्हें बचपन से ही था। इनकी रचनाएँ रसयुक्त और भक्तिभावना से ओत-प्रोत हैं। इन्होंने व्रजेन्द्रनंदन की रूप-माधुरी एवं लीला-माधुरी का लालित्यपूर्ण वर्णन अपने स्फुट पदों में किया है।

जामसुता के पदों का संग्रह 'प्रतापकुंवरी-रत्नावली' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके पदों की भाषा व्रज है, जिस पर राजस्थानी का प्रभाव दिखाई देता है। श्रीकृष्ण ही इनके एकमात्र आराध्यदेव हैं। उनकी क्रीडास्थली व्रजभूमि के प्रति इनका अनन्य अनुराग है। इनके कुछ भक्तिभावयुक्त पद उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हैं :

(१)

वारी थारा मुखडा री श्याम सुजान ॥
मंद मंद मुख-हास विराजे कोटिन काम लजान ।
अणियारी अखियाँ रसभीनी बाँकी भौंह कमान ॥

दाडिम-दसन अधर अरुनारे वचन-सुधा सुख-खान ।
'जामसुता' प्रभुसो कर जोरे, दो मम जीवनप्रान ॥

(२)

दरस मोहि देहु चतुर्भुज श्याम ।
करि किरपा करुना-निधि मोरे सफल करो सब काम ।

पाव पलक बिसरू नहिं तुमको याद करूं नित नाम।
'जामसुता' को यही बीनती, आनि करो उर धाम॥

अं. शं. ना.

जीवणदास (दासी जीवण)

गुजरात में जीवणदास नामधारी दो प्रसिद्ध भक्त हुए हैं। निर्गुण वेदान्ती होने पर भी दोनों ने राधा-कृष्ण-विषयक प्रेमलक्षणा भक्ति के प्रचुर पद रचे हैं। अतः दोनों को अभिन्न मानने की एक भ्रान्त धारणा भी प्रचलित है। वास्तव में दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। एक जीवणदास प्रसिद्ध वेदान्ती अखा की शिष्य-परम्परा के हैं तो दूसरे जीवणदास कबीरपंथी लोक-सन्त हैं, जो 'दासी जीवण' नाम से सौराष्ट्र में अत्यधिक लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध हुए। डा० योगीन्द्र ज० त्रिपाठी ने अपने ग्रन्थ 'अखो अने मध्यकालीन सन्त-परम्परा' (पृ० १०८-१६८) में अखा के शिष्य के रूप में जीवणदास के जीवनवृत्त का जो समीक्षात्मक एवं शोधपरक निरूपण किया है, उसके आधार पर सरलता से निर्णय किया जा सकता है कि उन जीवणदास से प्रस्तुत 'दासी जीवण' विरुदधारी जीवणदास भिन्न हैं।

जीवणदास (दासी जीवण) कबीरपंथी होते हुए भी राधाकृष्ण की प्रेमलक्षणा-भक्ति के अनन्यउपासक थे। इसलिए 'राधा के अवतार' कहे जाने लगे। इनके विषय में बहुप्रचलित मान्यता है :

जीवण जगमां जागिया, नरमांथी थिया नार।
दासी नाम दरसावियुं, अे राधा-अवतार॥

संत जीवणदास का उपस्थितिकाल निश्चित नहीं हो सका है। संभवतः ये संवत् १८०० (सन् १७४३ ई०) के आस-पास हुए। ये सौराष्ट्र के गोंडल नगर के समीपवर्ती घोघावदर गाँव के 'दाफड़ा' परिवार के चमार थे। पिता का नाम जगाभाई और माता का नाम शामबाई था। पिता ने बाल्यावस्था में ही इनका विवाह लाजुबाई नामक कन्या के साथ कर दिया। कहा जाता है कि इनकी दो पत्नियाँ थीं। गृहस्थ के रूप में अपने चर्म-व्यवसाय में व्यस्त रहते हुए भी इनका व्यक्तित्व मस्ताना था। लेकिन इनके जीवन में शीघ्र परिवर्तन आया जिससे प्रबल विरक्ति के वशीभूत होकर ये भक्तों के साथ भटकने लगे तथा पाँवों में घुंघरूं बाँधकर गोपाल-कृष्ण की धुन में नाचने लगे। लोग इन्हें पागल मानकर उपहास करते थे। अन्ततः इन्होंने गृहत्याग करके मोरारस्वामी के चरणों में आश्रय लिया। इन्होंने एक साखी में कहा है :

जीवण ज्योतुं जागियुं, भीम प्रगटिया भाण।
दापडा घेर दीवो हुवो, जीवण पडे जाण॥

इस साखी में निर्दिष्ट 'भीम' इनके गुरु थे। भीम कबीर की शिष्यपरंपरा में त्रिकम साहब के शिष्य माने जाते हैं। कहा जाता है कि इसके पूर्व जीवणदास एक के बाद एक गुरु बदलते रहे, क्योंकि इनको किसी-में भी सच्ची प्रतिभा के दर्शन नहीं हुए। अन्त में मोरार साहब के आदेश से संत भीम का दर्शन करने पर ये उनसे प्रभावित हुए। इनके ज्ञानचक्षु खुल गये और ये गा उठे :

दासी जीवण संत भीम केरां शरणां,
अबर दुजौ हुं धणी नहीं धारूं गुरु।

बताया जाता है कि जीवणदास आरंभ में भीम-साहब के निन्दक थे, किन्तु एक दिन उनके भजन सुनकर इनके मन में तत्क्षण वैराग्य की प्रबल भावना जाग्रत हुई और रंग-राग में मस्त जीवणदास सब कुछ त्यागकर भीमसाहब के शिष्य बन गये। इनकी जिह्वा पर शारदा ने निवास किया, मुँह से दिव्यवाणी कविता के रूप में निकलने लगी।

एक किंवदन्ती है कि किसीने गोंडल के नरेश कुंभाजी के कान भरे कि जीवण तो भजन गा-गाकर स्त्रियों को भ्रष्ट करता है। इस पर जीवणदास ने अपना शरीर अनावृत करके अपने को स्त्री के रूप में दिखा दिया, तब से जीवणदास 'दासी जीवण' कहलाये और वे अपने पदों के अन्त में भी 'दासी जीवण' नाम

रखने लगे। ऐसी भी एक किंवदन्ती है कि एक बार साठ कौड़ी की वसूली के लिए जीवणदास को कुंभाजी ने कैद किया। कारागृह में इन्होंने 'प्रभोने पोकार' नामक भजन गाया। भक्त की करुणार्द्र प्रार्थना से प्रभावित होकर भगवान् स्वयं पुरुष का रूप धारण कर कुंभाजी के पास आये और साठ कौड़ी चुका गये। उन कौड़ियों में एक कौडी सुवर्णमयी श्रीकृष्ण-मुद्रा से अंकित निकली। ऐसा अनूठा चमत्कार देखकर विस्मित कुंभाजी ने जीवणदास से क्षमा-याचना की। ऐसा भी कहा जाता है कि एक कूँए से पानी न फूटता देखकर लोगों ने हठपूर्वक जीवणदास को कुँए के तल पर उतारा। जीवणदास के मुँह से भजन स्फुरित होने के साथ ही कुँए से पानी का स्रोत फूट पड़ा।

गुरु भीम के शिष्य बनने के पश्चात् संत जीवणदास ने मीराबाई के पदों जैसी भावुकता और सूफियों के प्रेमोन्मादभरे हुए असंख्य भजन एवं पदों की रचना की। कहा जाता है कि वन-वनान्तरों में घूमते समय काव्य-रचना की लहर इनके हृदय में उठती तो ये पलाश के पत्ते तोड़कर उन पर काँटे की नोक से शब्द अंकित कर देते थे। अब इनके जीवन का प्रत्येक क्षण गोसेवा, प्रभुभक्ति और सन्त-सेवा में व्यतीत होने लगा।

जीवणदास के पद गुजरात के गाँव-गाँव में असंख्य भक्तजनों के कण्ठहार बन गये हैं। इस दृष्टि से इस प्रदेश के भक्तों में 'दासी जीवण' का स्थान अनूठा है। आज भी इनके मनभावन भजन रात के समय एकतारा के साथ अपूर्व मधुरता से गाये जाते हैं।

जीवणदास के कुल भजनों में से तीन चतुर्थांश पद सखीभाव या दासीभाव से युक्त राधा-कृष्ण के प्रति वैष्णवी विरहगाथाएं हैं, विरह-निवेदन हैं। इनके पद जब 'परज' में गाये जाते हैं तो उनसे मर्म-वेदना फूट पड़ती है। इनकी वाणी में विशिष्ट सरलता एवं मधुर प्रवाह है। ये प्रेमलक्षणा भक्ति के लोकोत्तर गायक हैं। इनके कृष्ण-प्रेम की तीव्रता या शृंगार की मधुरिमा सचमुच नरसिंह-मीरां की समकक्षता प्राप्त करती प्रतीत होती है। इनके 'बाईयुं मुने शामळिये करी छे चकचूर' एवं 'कलेजा कटारी रे' जैसे राधाभाव एवं कृष्ण-विरह के दर्दभरे पदों में 'राधा-अवतार' स्पष्टतः स्पंदित होता है। इनके भजन एवं पदों में 'कोक तो विल्यातीडे' 'अे रे का मणियां मारे पियुजीए कींधां रे', 'मारा नाथ जोनां नैणां उपरे', 'आओ वाला, कटीए वातुं, दासी ने तेडीरे जाजो' 'सेजे सांयाजो' आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार कृष्णमय जीवणस्वामी ने मधुर-भक्ति-संवलित अनेक पदों की रचना की। गुजरात-सौराष्ट्र के सुप्रसिद्ध लोक-साहित्यकार झबेरचंद मेघाणी 'सोरठी संतवाणी' (पृ० ८६) में जीवणदास की प्रशस्ति करते हुए लिखते हैं : 'मुए हुए ढोर के चमड़े उतारकर धोने-रँगने का काम करनेवाला यह पुरुष कविता के साथ हृदय-वीणा के तार का संवाद सिद्ध करके हम सबका पूजार्ह बन गया है।'

राधा के रूप में श्रीकृष्ण की आराधना करके ८० वर्ष की आयु में जीवणदास घोघावदर में समाधिस्थ हुए।

इनके राधाभावसंपन्न प्रेमलक्षणा भक्ति के व्यंजक दो पद यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं :

(१)

बाइयुं मुने शामळिये करी छे चकचूर !
कोक तो विल्यातीडे मुजने केफ करायो रे
फरुं छुं हुं तो घेलीतूर ॥ बाइयुं०

मन्त्र तो पढीने कोई के अम पर मेल्यो रे
घडी ये रेवातुं नथी दूर ॥ बाइयुं०
सामुं जोतां मारी शुधबुध भूली रे
राखी छे मुने उराउर ॥ बाइयुं०

दासी जीवण संत भीम केरां शरणां रे
धणी आंगळ खडी छुं हजूर ॥ बाइयुं०

'किसी परदेशी ने मुझे कैफ चढ़ाया है। मैं तो पागल बनकर घूम रही हूँ। हे बाइयो! श्यामकृष्ण ने चकनाचूर कर दिया है। किसीने मंत्र पढ़कर हम पर

रखा है, अतः क्षणभर भी उससे दूर नहीं रहा जाता। सुध-बुध खो बैठी हूँ। मुझे उन्होंने अपने हृदय में रखा है। दासी जीवण का कथन है कि मैंने तो संत भीम की शरण ली है और साक्षात् अपने मालिक-पति के समक्ष खड़ी हूँ।'

कामण (वशीकरण)

(२)

कामण करी गिया कोई,
हरि आंयां रे आवी ने।
जडी रे बूटीनां नथी जोर,
शुं करीए चावीने ॥ बाला !

आवो हरि ! मोलुंनी मांय,
चोखलिया रे चोडी।
नंद्या करे दुरीजन लोक,
मोढलडां रे मचकोडी ॥ बाला !

शीद ने थोभाणा नंदलाल,
दासीने दरशन देतां रे।
दासी जीवण गुण गाय,
गुरु भीम भेट्या रे ॥ बाला !

'कोई हरि इधर आकर कामण (वशीकरण) कर गया। जड़ी-बूटी का कोई प्रभाव नहीं, अब चबाकर क्या करें ? हे प्रिय हरि ! अक्षत लगाकर आइये मेरे महल में, दुर्जन लोग तो मुँह बिचकाकर निन्दा करते हैं। हे प्रियतम, नंदलाल ! दासी को दर्शन देने में क्यों रुक गये ? गुरु भीम से जिसकी भेंट हुई है, वह दासी जीवण आप प्रियतम के गुणों का गान करती है।'

जीवणदास ने अपने वृंदावनवासी प्रियतम के प्रेम में विभोर गोपीभाव के जो अनेक पद लिखे हैं, उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं :

(३)

तमे साचानां संगाथी रे, जेणे प्रीतो कीधी।
तमे गरीबोना बेली रे, जेणे प्रीतो कीधी ॥

बहाला रे, मारा पहेली प्रीत धुवे कीधी।
जेने अविचल पदवी दीधी रे ॥

वहाला रे मारा, बलता राख्या छे पांडववीर।
पांचालीना पूर्या चीर रे ॥

वहाला रे मारा विदुरनी जमिया भाजी।
त्यां आप थया छो राजी ॥
वहाला रे मारा, नरसिंह महेता ने मरतो जाणी।
आप्यो हार सभामां आणी रे ॥

वहाला रे मारा, वृंदाते वन केरा वासी।
पद बोल्या जीवणदासी रे ॥

(४)

अवधू दियां तखत पर डंका रे,
सो घर सेजें पाया रे जी।
नाभिकमलथी नटवर चडिया,
पवनपुरुष पलटाया रे जी।
बंकनाल की खडकी खोली,
उलटा राह चलाया रे जी ॥

जो झालर वागे बिन हाथे,
बिन मोगरे बजाया रे जी।
अटल मोहोल मां पुरुष अभंगी,
बंदगी करी बोलाया रे जी ॥

नूरतें सूरतें सुहागण खेले,
रंगभर रास रमाया रे जी।
प्रेमे-प्रेमे प्रेमरस पाया,
अम्मर चीर ओढाया रे जी ॥

देवळ तो एक देही मां देख्या,
भीमे भेद बताया रे जी।
'दासी जीवण' गाई गुलताना,
ऐसा धरा सुख आया रे जी ॥

(५)

चरणुं की दासी तेरी रे जी।
मेरम ! जल्दी खबर ल्यो मेरी रे ॥
जा दिन से पिया बिछुड़ो पड़्यो है,
अब तो राखो मोटी मेरी रे।

चकोर कुं जेम चंदा वाला,
वाकूं और अमृत सब बैरी रे ॥
जल बिना जेम मीन न जीवे,
इतो झाकळ डंडा सब होरी रे ।
दासी जीवण संत भीमना चरणां,
मारी वरती तो तुम पर ठेरी रे ॥

म. ई. प्र.
अं. शं. ना.

जीवन मस्तान

जीवन मस्तान का नाम प्रणामी-सम्प्रदाय के संतों में आता है, किन्तु इनके जीवनविषयक तथ्यों का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता । ये स्वामी प्राणनाथ के शिष्य थे और सं० १७५७ (१७०० ई०) में विद्यमान थे । इनकी रचनाएँ प्रायः स्फुटरूप में मिलती हैं। ग्रन्थरूप में मात्र 'पंचक-दहाई' का उल्लेख मिलता है । इनकी कृतियों में कहीं-कहीं कवित्व की चमक दिखाई पड़ती है । इन्होंने निम्नलिखित पंक्तियों द्वारा एकमात्र परमात्मा को सहायक बताया है और उसके सिवा और सबको स्वप्नवत् अथवा सारहीन ठहराया है :

(१)

जीवन कलाम से जान लिया,
एक साहिब सांचा यार है ।
माता-पिता सहोदर तीरिया,
ये सब पैसे की लार है ॥

इनको चाहिए खूब खजाना,
तब ये करते प्यार हैं ।
ताते दुनियां झूठी लड़ी,
इसका क्या इतबार है ॥

स्वामी प्राणनाथ ने जैसे हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जोर दिया था, वैसे ही जीवन मस्तान भी कहते हैं :

(२)

पाप-पुण्य को करती दुनियां याही से उरझानो है ।
हिन्दू मुसलमां दोउ फिरके अपनी-अपनी बानी है ॥
मुसलमान बेचून बतावे यों निराकार कहे ज्ञानी है ।
जीवन मस्ताने सांच कहे ये सतगुरु से हम जानी है ॥

(३)

हिन्दू अपनी हुए न जाने मुस्लिम सरियत सारे की ।
पण्डित काजी बोल गुमागुम भलां बांग विचारे की ॥
रहमत लिल्लिह सबसे न्यारा यों निराकार कहै ज्ञानी की ।
जीवन मस्ताने कहैं पुकारे अक्षर ब्रह्म के पारे की ॥

इस भ्रांत-ज्ञान का मूल कारण ये सच्ची प्रीति अथवा 'इश्क' का अभाव ठहराते हैं :

"जीवन मस्ताने इश्क बिना,
सब दुनिया गोते खाती है ।"

इसके साथ ही जीवन-नौका को पार लगाने के लिए इन्होंने सतगुरु-कृपा की आवश्यकता बतायी और उसकी महिमा गायी है :

जीवन मस्ताने सतगुरु बिन,
को दैवे पार लखाई है ।
लखि कुदरत का ख्याल जगत,
सब भूलि गया भरमाई है ॥

मूल वतन साहिब बिसराया,
आपु न परत चिन्हाई है ।
मृगजल देखि मृगा ज्यों दौड़त,
प्यासा ही मर जाई है ॥

न. पं.

जीवन रोहडिया

जीवन रोहडिया सुरेन्द्रनगर जिले के हलवद गाँव के समीप स्थित समरडा नामक स्थान के निवासी थे । अनुमानतः इनका आविर्भाव दो सौ वर्ष पूर्व हुआ था। इनकी गिनती प्रसिद्ध कवियों में की जाती है । इनके बारे में उक्ति है :

भोट मां भीमो अने चारणमां जीवो ।

जीवन रोहडिया का 'गजमोख' नामक एक ग्रन्थ मिलता है। यह भागवत के गजेन्द्र-मोक्ष आख्यान

के आधार पर रचा गया है। भक्तकवि के रूप में रोहडिया विख्यात हैं। एक रचना में हरि-पद-महिमा गाते हुए ये कहते हैं :

(१)

अठिआ फल भ्रख भील उधरी,
कुवहरी वले खूब करी।
ढीमर नाउ तरी सग ध्रूती,
धरी ए पग शाल एहल धरी॥

बलि हारणी पगां बली बन्धण,
पारण कीध जगत्र पगे।
जण मागे पग वास जीवणो,
केशव हवे झालिये करगे॥

इनकी रचनाओं में एक श्रीकृष्ण-रासलीला से सम्बद्ध है। यह ऋतु-गीतों में रची गयी अत्यंत सरस कृति है। बारहों महीनों की ऋतुओं में श्रीराधा-कृष्ण की लीलाओं का गान कवि ने अनोखी युक्ति से किया है। इसे पढ़कर रासलीला की प्रत्यक्ष प्रतीति होने लगती है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :

(२)

(दोहा)

सुबुद्धि दे मूं सरस्वती, गुणपत लागां पायं।
राधा-माधा मेह रत, प्रणवां तुज पसाय॥

धर अषाढ धड़ूकियो, मोर कियो मलार।
राधा-माधा संभरे, जदुपति जग भडयार॥

खलहल बादलियां वचे, वीयलियां व्रलकन्त।
राधा-माधा कन्थ वण, खण नव रियण खसन्त॥

(छन्द : गजगति)

व्रज वहीं आवणां जी के वंस वजावणां।
प्यास बुझावणां जी के रास रमावणां॥

रंग-रास रत खट मास रमणां, पिया प्यास बुझावणां।
अषाढ झरणां झरे अम्बर, तपे तन तरणी तणां॥

विरहणी नैणां वहे वरणां, गियण विरही गावणां।
आखन्त राधा नेह बाधा, व्रज्ज माधा आवणां॥
जी व्रज्ज माधा आवणां!

ओधवआकले जी के मनहर नो मले।
गोपी चख गळे जी के श्रावण सल्लले॥

सल्लले जयम ज्यम मेह श्रावण
अबल त्येम त्यम आकले।
बापैया प्रघला शब्द बोले,
जिया पियु वण नीझळे॥

मज मोर कोकिल शोर मडे,
नींद्र सेजे नावणां॥

आखन्त राधा नेह बाधा,
व्रज्ज माधा असवणां॥

जी व्रज्ज माधा आवणां!।
अद्रक आविया जी के भामनं भाविया।
व्रज्ज वधाविया जो के मंगल गोवियां॥

गावियां मंगल गीत गृह-गृह
धरण जगत सोहाविया।
ओपावियाँ शुभ म्हेल उजवल
फेर गोकुल फ.वियाँ॥

रणछोड राधा नेह बाधा
भणे जीवण भावणां।
आखन्त राधा नेह बाधा
व्रज्ज माधा आवणां।
जी व्रज्ज माधा आवणां॥

ला० पिं० ग०

जीवराम

जीवराम के जीवन-वृत्त एवं कृतित्व के सम्बन्ध में आधिकारिक रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। इच्छाराम सूर्यराम देसाई द्वारा संपादित 'बृहत्काव्य-दोहन ग्रन्थ ४' में जीवराम के कृष्णविषयक तीन पद उद्धृत हैं। इन रचनाओं को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवराम राधा-कृष्णविषयक प्रेमलक्षणा भक्ति के गायक और भावक हैं। तीनों पदों के प्रतीक इस प्रकार हैं : (१) वेणु बजाडे वहालो (२) रणछोड़ रंगीला रे और (३) केम करी जाउं रे। इन्हींमें से एक पद नीचे दिया जा रहा है :

केम करी जाउं रे, महीडुं वेचवा रे,
वाहालो मारो मागे महीनुं दाण ।
मूकोने मोहनजी रे, माटी बांह्यडी रे,
मने छे कंसराजानी आण ।। केम०

अमो तो आहीरंडा रे, छैए लज्यालवां रे,
बोल नव सांखु एक लंगार ।
चालो जई कहीए रे, मात जशोदाजीने रे,
जुओ जुओ हरिए तोड्यो आ हार ।। केम०

रोकीने रह्यो छे रे, वाट घणा घाटनी रे,
मोहनजी आपोने मागुं छुं मान ।
जीवराम प्रभु रे, जावा नहीं केम धो रे,
भक्तवत्सल श्रीभगवान ।। केम०

'मैं मही (दही) बेचने कैसे जाऊँ ? मेरा वल्लभ मही का दान (कर) माँगता है। रे मोहनजी, मेरी बाँह छोड़िये। मुझे कंसराजा की आज्ञा है। हम तो अहीर (ग्वाल) हैं, लज्जालु हैं, जरा भी बोल सहन नहीं करतीं। चलिये, माता यशोदाजी से कह देंगी कि देखिये-देखिये, हरि ने हार तोड़ दिया। (कृष्ण) तो बहुतेरे घाटों का मार्ग रोककर खड़ा है। मोहनजी, याचना करती हूँ, मान जाइये। जीवराम कहते हैं कि हे प्रभु! क्यों नहीं जाने दोगे? आप तो भक्तवत्सल भगवान् हैं।'

म. ई. प्र.

जुगलदास

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के गुरु स्वामी जुगलदास का नाम प्रणामी-समाज में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इनको 'कमलावती' की वासना माना जाता है। इनकी जन्मभूमि दतिया राज्य बतायी जाती है। दतिया के एक प्रतिष्ठित और श्रीमन्त कायस्थ-परिवार में इनका जन्म हुआ था। गाँव के लोग इनको 'जिया महाराज' कहकर पुकारते थे। ये १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। इनकी समाधि 'भांडेर' में स्थापित है। इनके रचे हुए कई ग्रन्थ सुने जाते हैं, जिनमें 'परमधाम की बड़ी वृत्ति, मनमोहन रसानन्द सागर, छोटी और बड़ी पत्री, तारत्तम की प्रणालिका, वैराट्-निरूपण, महाकरण' आदि प्रमुख हैं। 'रसानन्द-सागर' गद्य में लिखित रचना है। इसमें परमधाम के पदार्थों का वर्णन है और प्रणामी-सम्प्रदाय का विश्लेषण है। इनकी कृतियों में प्राप्त तत्कालीन गद्य का उदाहरण द्रष्टव्य है :

"हे सुन्दरसाथजी! ऐसे यहाँ आनन्द-सुधा-सिंधु में फिसल के सुरत तुमारी बीच अंध-कूपदुख-अग्नि आफत तूफान जम-जातना के गिर पड़ी है। सो तुमको फेर बीच उस सुधा-सिंधु के पोहोचाइने जगाइने के कारन मासूक दुलहा तुमारे इस माया में माफिक तुमारे देहधर आए हैं।"

इन्होंने तत्कालीन समाज, विशेषतः गृहस्थाश्रमी के लिए जो आचार-विचार की बातें कही हैं, वे अत्यन्त उपयोगी हैं :

"आचार-रीति भांति या दिनचर्या निजधाम पहुँचने की, पूर्णब्रह्म मिलने की, गृहस्थाश्रम में फकीरी (त्यागवृत्ति, वैराग) करने का जिस पद को त्याग से महात्मा लोग पहुँचते हैं तिस पद को गृहस्थाश्रम द्वारा पहुँचने की और लोक-परलोक सुधारने की तथा श्यामाश्यामजी तथा सद्गुरु सुन्दरसाथ के वश करने की लिखी है।"

ये अपनी आत्मा को परमधाम जाने के लिए प्रेरणा देते हुए कहते हैं :

"आत्मा जीव जागी चलो परमधाम,
दर्शनश्यामा-श्याम।"

कृष्ण इनके प्राणनाथ हैं। साथ ही स्वामी प्राणनाथ के प्रति भी इनकी भक्ति द्रष्टव्य है :

कुर्बानी मेरे प्रान के साथ, तुम पर कुर्बानी ।।
भई अंग-अंग तुमरो नार, तुम पर कुर्बानी ।।
तुम प्राणन के हो नाथ, तुम पर कुर्बानी ।।

कवि में प्रियदर्शन की कितनी आकुलता है :

रंचक नैन कटाच्छ में हमको
रोम-रोम घायल करि डारे ।

भीतर तलफत अंतस चारों,
बाहेर तलफत नैन हमारे ॥
सकल कला गति निरत राग की,
नवल-नवल छिन-छिन पर न्यारे ॥

परमप्रिय कृष्ण की प्राप्ति के बाद तो भक्त-हृदय यही कह उठेगा :

अब मौको को करे पग से न्यारो रे ।

इनको कृष्ण की शोभा भी युगलस्वरूप में हो आकर्षित करती है :

पूरनब्रह्म ब्रह्मतें न्यारो, दिल मोहोल मेरे आये ।
रंग-रंगीली दुलहिन श्यामा, संग साथ सुहाये ॥

न. पं.

जेठाभाई उढाच

जेठाभाई उढाच जूनागढ़ जिले के जमरा नामक गाँव के निवासी थे। इनके पिता का नाम मूजाभाई उढाच था। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनमें से दो सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं : 'गुण-कथन' तथा 'भेटाली'। इन्होंने पोरबन्दर के राजा राणा सरतानाजी की वीरता से ओत-प्रोत एक सुन्दर ग्रन्थ की रचना की है। दो सौ वर्ष पूर्व इनके द्वारा रचित श्रीराधाकृष्ण की रासलीला से सम्बद्ध छन्द सुविख्यात हैं।

जेठाभाई उढाच पोरबन्दर राज्य के राजकवि थे। एक बार वहाँ के महाराणा सरतानाजी तथा कवि जेठाभाई नाटक देखने गये। तभी उनके आगे-आगे एक नायक हाथ में थाली लिये चल रहा था। पहले वह 'थाथा थाथै' कहता और फिर चारों ओर चक्कर काटता। तब सरतानाजी ने कवि से प्रश्न किया : 'जेठाभाई! इस 'थाथा थाथै' से यहाँ क्या प्रयोजन?' यह सुनकर जेठाभाई ने रासमण्डल से सम्बद्ध एक रचना दुर्मिल छन्दों में रची। छन्द की प्रत्येक पंक्ति में लाटानुप्रास अलंकार की छटा विद्यमान है। पद-लालित्य तथा नाद-वैभव इस रचना की सर्वोत्कृष्ट विशेषताएँ हैं :

(दोहा)

लाडलिया लाहूत का, भूल गया ओहि खेल ।
वेण बजाडी बनमहीं, मुकुन्द करी घर मेल ॥

(छन्द)

बन वेण वजाहिय नींद उडाहिय,
गोप जगाहिय नोप ग्रहं ।
मतगत्त भुलाहिय, कामन काहिय,
वेण लगाहिय ताप ब्रहं ॥

समस्यासमजाहिय भूल सगाहिय,
पास बुलाहिय आस प्रमे ।
ततथे ततथे हिय बालसनेहिय,
रास राधेजिय कान रमे ॥

'वन में वंशी बजाकर श्रीकृष्ण ने अपने अनुपम घरों में सोती हुई सब गोपियों को जगा दिया। वे तो जागते ही अपना आपा भूल गयीं। प्रत्येक कामिनी के अंग विरह-ताप से जलने लगे। वंशी की तान ने कुछ ऐसा मंत्र फूंक दिया कि घर के सभी सम्बन्धों को भूलकर वे सब रास में रमने की इच्छा से आशा-भरे हृदयों को लेकर अपने बाल-सनेही कन्हैया के आसनास उमड़ पड़ीं। बाद में श्रीराधा और श्रीकृष्ण के साथ मिलकर वे सभी गोपियाँ 'तत्थै तत्थै' कहकर ताल देती हुई रास-क्रीड़ा करने लगीं।'

निज धाम निशापिय,
शोर सुणाविय सुद्ध भुलाविय बुद्ध सहो ।
जूनो जूथ जड़ाणिय,
भूल भ्रमाणिय, कानड दाणिय सान कही ॥
समे साव समाणिय, रे व्रजराणिय,
सुख परमाणिय, दुःख दमे ।
ततथा ततथेहिय, बालसनेहिय,
रास राधेजिय कान रमे ॥

'वंशी के द्वारा अपने आवास का संकेत समझकर तथा मुरली के स्वर को सुनकर सारी व्रज गोपिकाएँ सुध-बुध भुलाकर समूहों में जिधर से श्रीकृष्ण संकेत करते, उधर ही जातीं और दुःखों को भुलाकर सुख में लीन हो जातीं।'

तजही घर संकल, खुलीय संकल,
व्रेह वलंकल, उठ्ठ रही।
रध दूध ढलाढल, छोड़कलांकल,
धाँघल बंघल वन्न वही ॥

एम मेलिय अबला बालकडा घर,
भामिने जंगल मध्य भमे।
ततथा ततथेहिय बालसनेहिय,
रास राधेजिय कान रमे ॥

उस समय गोपियों ने घरों का त्याग कर दिया। शीघ्रता में वे घरों की साँकलों को खुला छोड़ गयीं तथा विरह में व्याकुल होकर बाहर निकल पड़ीं।'

नीलाम्बर नारिय, पेरन सारिय,
साज्ज संभारिय, वेण सरी।
वहवे अणवारिय, बनमोजारिय
कान विहारिय, सान करी ॥

भल देव मुरारिय, रे ब्रजनारिय,
जूथ पधारिय, खेल जमे।
ततथा ततथेहिय, बालसनेहिय,
रास राधेजिय, कान रमे ॥

'श्रीकृष्ण के द्वारा वेणु से संकेत किये जाने पर गोपियाँ नीली साड़ियाँ पहनकर सज-धजकर वन में आ गयीं। सभी गोपियों के समूह जब वहाँ पहुँच गये, तब मुरारी श्रीकृष्ण ने रास का विचित्र खेल रचाया।'

वेणं जंत्रह वाजिय, झांझ पखाजिय,
नोबत गाजिय, सद्यनदे।
स्रव मंगल साजिय, बन में राजिय,
जंत्र सराजिय, तंत्र जदे ॥

रट रासज राजिय, सालव साजिय,
श्याम भलाजिय, तेण समें।
ततथा ततथेहिय बालसनेहिय,
रास राधेजिय कान रमे ॥

'वंशी का स्वर फैलता गया, उसे सुनकर गोपियों के समूह वन में आते चले गये। वाद्य-संगीत ध्वनित होने लगा। श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण के साथ गोपियाँ रास-क्रीडा करने लगीं।'

लेहुं रमत लागिय, अन्तर जागिय,
गोपव लागिय, कान गले।
गलिये गत लागिय, कानड रागिय,
मान तियागिय, तान मले ॥

ब्रजनार वसागिय, साव सुहागिय,
रंगत जागिय, खेल जमे।
ततथा ततथेहिय बालसनेहिय,
रास राधेजिय कान रमे ॥

'रास-क्रीडा में रमते-रमते जिन गोपियों के अन्तर जाग गये थे, ऐसी गोपियाँ श्रीकृष्ण के कण्ठ से लग गयीं। श्रीकृष्ण के अनुराग का अलख जो गली-गली में जगा रही थीं, ऐसी व्रजनारियाँ मान त्यागकर तथा सहज सौभाग्यवती बनकर रासलीला में रम रही थीं।'

वनराय वणुंबिय, थाटथदुम्बिय,
लुंग झकुम्बिय, वृक्ख-लता।
घणवेल घघुंबिय, फूल फलुम्बिय,
रंग कुसुंबिय, वे रंगता ॥

जमना त्रट झूलिय, स्रव्व साहेलिय,
श्याम भला जिय, तेण समे।
तथता ततथेहिय बालसनेहिय,
रास राधेजिय कान रमे ॥

'आँखें वनराजि को निहारने में लगी हैं। भारी ठाट जम रहा है। वृक्षों के साथ लिपटी लताएँ लहरा रही हैं। बेलियाँ झूम रही हैं। फूलों की बौछार हो रही है। कुसुम्बी रंग अपना रंग जमा रहा है। यमुनातट की ऐसी शोभा है। ऐसे समय में यमुना-तट पर श्रीकृष्ण के साथ सभी सखियाँ अपनी सखी-शिरोमणि श्रीराधा के साथ 'ततथा ततथेई' कहकर ताल देती हुई रास कर रही हैं।'

ल. पि. ग.

डोसो वेलाणी

डोसो वेलाणी जामनगर (सौराष्ट्र) के निवासी कृष्णभक्त कवि थे। इनके रचे हुए पद प्राचीन संग्रहों में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इनके सम्बन्ध में और कुछ ज्ञात नहीं है।

अं. शु.

त्रिकमदास

त्रिकमदास का जन्म सन् १७३४ ई० में जूनागढ़ में हुआ था। ये परम भागवत वैष्णवकवि श्रीनरसिंह मेहता के काका (पितृव्य) परबतदास मेहता के वंशज थे। इनके पिता का नाम भवानीदास था। वे दिल्ली के वजीर निजामुल्मुल्क के विश्वासपात्र अमीर जूनागढ़ के फौजदार मीर इस्माइल के दीवान तथा फारसी भाषा के अच्छे जानकार थे। ऐसे विद्वान् और प्रतापी पिता के पुत्र होने के कारण त्रिकमदास भी ग़ुजराती, संस्कृत, फारसी, ब्रजी आदि भाषाओं में निपुण हो गये थे। कुतियाणा के एक ब्रह्मभट्ट से इन्होंने व्रजभाषा के पिंगल, अलंकार तथा रसशास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था।

त्रिकमदास के आराध्यदेव डाकोर के श्रीरणछोड़रायजी थे। उनकी अपार महिमा का गुणगान इन्होंने अनेक पदों में किया है। श्रीमंत फत्तेसिंहजी (बड़े) गायकवाड के कृपापात्र होने से इन्हें राज्याश्रय मिला था। कवि होने के साथ-साथ ये कुशल योद्धा भी थे। सन् १७९९ ई० में डाकोर में इन्होंने अपने इष्टदेव श्रीरणछोड़राय के अंतिम दर्शन किये। दर्शन करके भावविभोर होकर प्रभु के चरणों में अपनी अन्तिम इच्छा इन शब्दों में प्रकट करते हुए इन्होंने वहीं प्राण त्याग दिये :

कर्म जोगे ज्यां ज्यां फरुं जादवा
त्यां तमारी मने भक्ति देजों।

'कर्म-संयोग से मैं जहाँ-जहाँ फिरूँ, आप मुझे वहाँ-वहाँ अपनी भक्ति देना।'

त्रिकमदास गुजराती और व्रजभाषा दोनों के सिद्धहस्त कवि थे। गुजराती में इन्होंने 'पर्वताख्यान', 'पर्वत-पच्चीसी' और अनेक मुक्तक पद लिखे हैं। व्रजभाषा में 'डाकोर-लीला' और 'रुक्मणी-विवाह'- इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने विभिन्न राग-रागिनियों में निबद्ध लगभग १६० अनूठे पदों की रचना की है।

व्रजभाषा के लघु काव्य 'डाकोर-लीला' में कवि ने अपने आराध्यदेव श्री रणछोड़रायजी के द्वारका से डाकोर लाये जाने के वृत्तान्त का रसमय आलेखन किया है। १०५ छंदों के इस छोटे काव्य में कवि ने छप्पय, दोहा, चौपाई, सोरठा, सवैया, कवित्त और कुंडलिया का प्रयोग किया है। रणछोड़राय के अनन्य भक्त बोडाणा की कथा श्रद्धा, भक्ति और चमत्कार का जीवंत उदाहरण है।

श्री रणछोड़रायजी की प्रतिमा के डाकोर आगमन की यह घटना सन् ११५६ ई० (सं० १२१२) की है। डाकोर का भक्त बोडाणा प्रतिवर्ष अपने हाथों में तुलसी लगाकर द्वारका की पैदल यात्रा करके श्री रणछोड़राय के दर्शन के लिए ज़ाया करता था। उसकी श्रद्धा-भक्ति से प्रसन्न होकर रणछोड़रायज़ी ने दर्शन दिये और कुछ माँगने को कहा। भक्त बोडाणा ने नम्र निवेदन किया कि आप कृपा करके डाकोर पधारिये। रणछोड़राय ने प्रसन्न होकर डाकोर साथ चलने का वचन दिया। इसके बाद अनेक कठिनाइयों का सामना करके जैसे-तैसे बोडाणा द्वारका से श्री रणछोड़रायजी की प्रतिमा अपने साथ डाकोर ले आये।

इस घटना से क्रुद्ध हुए द्वारका के पुजारी मूर्ति की खोज में वहाँ आ पहुंचे। संघर्ष में बोडाणा की मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् प्रतिमा की रक्षा बोडाणा की साध्वी पत्नी गंगाबाई ने की। पुजारियों ने अंत में गंगाबाई से मूर्ति के वजन बराबर का सोन माँगा। उसने अपनी नथ उतारकर उससे मूर्ति को तौला। पुज़ारियों से न उठनेवाली भारी मूर्ति नथ

से हलकी रही। यह देखकर पुजारी बहुत लज्जित हुए और इसे ईश्वरेच्छा समझकर द्वारका लौट गये।

बोडाणा की इस कथा के माध्यम से कवि ने अपने आराध्य की महिमा और भक्तवत्सलता का बड़े ही सुंदर ढंग से गान किया है। नमूने के रूप में उक्त ग्रन्थ का एक छंद उद्धृत किया जाता है :

नेकु पुकारे उबारि लियो,
गजग्राह गहो जल ते पल मांही।
एक ही टेर न बेर करी,
द्रुपदी-हित दौरि गये यदुराई॥

ब्रज के बिधु कष्ट अनेक हरे,
हरि दौरि लियो गिरिराज उठाई।
आप के दुख दुःखी नहीं त्रीकम,
दास के दुख दुखारे सांई॥

'रुक्मिणी-विवाह' प्रबंध-काव्य में कवि ने परंपरागत प्रसंग का अपनी संगीतात्मक काव्यशैली में रसमय वर्णन किया है। इसके कुल मिलाकर १२३ छंदों में छप्पय, सोरठा, कवित्त, दोहा, कुंडलिया, सवैया आदि का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थ के आरंभ में ही कवि ने आराध्य के प्रति अनन्य प्रेम और श्रद्धाभक्ति का परिचय देते हुए कहा है : 'लोगों को गोरा रंग प्रिय है, पर मैंने तो काले से प्रेम किया है। दूसरे चाहे बड़े देवों को भजते रहें, मैंने तो बालक से प्रेम किया है। गुण और कीर्तिवाले से जिसे प्रिय करना हो करे, मैंने तो रणछोड़राय (युद्धभूमि से भागनेवाले) का निष्ठापूर्वक वरण किया है' :

(सवैया)

औरन उज्जवल रंग रुच्यो,
हम कारे सौं प्यार कर्‍यो सो कर्‍यो।
बड़े देव भजे किन और कोऊ,
हम बारे सों नेह धर्‍यो सो धर्‍यो॥

कोउ भाव भरो तप तीरथ को,
हम ये ही सुभाव पर्‍यो सो पर्‍यो।
गुनकीर्तन बर कोउ और बरो,
हम श्रीरणछोड बर्‍यो सो बर्‍यो॥

त्रिकमदास के कुल मिलाकर लगभग १६६ मुक्तक पद मिलते हैं। पदों की भाषा व्रज है, जिसमें फारसी, मारवाड़ी और गुजराती का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। पदों में परंपरा के अनुसार प्रभात, गोचारण, दधि-बेचन, हिंडोला, रूप-शृंगार, शयन आदि प्रसंगों का रसमय आलेखन किया गया है। कवि ने अपने पदों में संभोग शृंगार का भी निरूपण किया है। ये पद अडाणा, बिलावल, केदार, विभास, मालव, भैरव, ललित, मल्हार, देवगंधार, सोरठ, रामकली, काफी आदि राग-रागिनियों और विविध तालों में निबद्ध हैं। इन संगीतात्मक पदों में कवि की वाणी भावविभोर होकर आनंदोल्लास से थिरक उठी है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

(राग : काफी)

बजाई रे मोहन बांसुरिया!
चोर लियो मन मेरो करि चेटक,
फोरि गई तन पांसुरियाँ॥

भूलि गई मथना महि माखन,
आँखन बरसत आंसुरियाँ॥

त्रिकमदास श्रवण में पायल,
पायन पहरी टांसुरियाँ॥

(राग : सोरठ)

तनक हरि चितवन मेरी ओर!
कबकी म्हें वाडो अरज करो छों,
बिनती करत भयो भोर।

हम चितवत तुम चितवत नाहीं,
कहा कहूँ कर्म कठोर।
'त्रिकमदास' आस परिपूरन, नागर नंदकिशोर॥

अं. शं. ना.

थार्यो भगत

थार्यो भगत का जन्म कच्छ के झरपरा गाँव में माणसी चारण के यहाँ सं० १९६२ (१९०५ ई०) को आश्विन अमावास्या को हुआ था। बाल्यावस्था से ही इन्हें परमात्मा का दर्शन करने, उनकी भक्ति करने तथा उन्हींसे सम्बद्ध काव्य रचने की लगन लग गयी थी। 'परमात्मा-पदावली' में इनके संत-हृदय की सरलता के दर्शन होते हैं। इस ग्रंथ के कितने ही पदों को पढ़कर ऐसा लगता है कि ये पद प्रभु का साक्षात्कार करने के पश्चात् ही लिखे गये हैं। इनके अनुशीलन से ज्ञात होता है कि पद-रचना के समय रचयिता की दृष्टि के समक्ष सब कुछ आ रहा है। जो भी हो, इन पदों में थार्यो भगत की प्रत्यक्ष अनुभूतियों के दर्शन होते हैं। 'परमात्मा-पदावली' की रचना करते-करते सं० २०२७ (१९७० ई०) की मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया के दिन ये आराध्य की दिव्य लीला में प्रविष्ट हो गये। यहाँ इनके दो पद प्रस्तुत हैं :

(१)

कमलापति करुणा के सागर,
माधव गोविन्द मुरारी ॥ टेक ॥

वासुदेव अलख अभेवा,
नारायण निर्विकारी।
आनन्ददाता अगम अगोचर,
कला अपरम्पारी ॥

शान्त आकार शोभा अनुपम,
मूर्ति मंगलकारी।
पतित-पावन देव पुरुषोत्तम,
पुनि-पुनि जाऊँ बलिहारी ॥

एक भूपाल अखिल भुवन के,
चतुर्भुज चक्रधारी।
अगुण सगुण असंग समरूपा,
कोटि कल्पान्तकारी ॥

अविचल भक्तिदान दियो दाता,
विनवूं बारी-बारी।
थार्यो कहे मेरा इष्ट अविनाशी,
प्रीतम परम हितकारी ॥

(२)

निरखो अली नन्दलाल की
शोभा अपार है।
अपने नैन को आनन्द
नित्य देनहार है ॥ टेक ॥

परब्रह्म ने लियो व्रज में
मनुष-अवतार है।
बेशक उतारे भूमि का भार है ॥

मुरली बजाय मन हरे सबका मुरारि है।
भान भूले न सुनी ऐसा को गमार है ॥

चैतन-वाले सब जीव भये चित्राकार है।
जड़ चेतन भया ऐसा चमत्कार है ॥

तीन लोक मे तोल हुआ न होनहार है।
बस बंसी ऐसी ना कुछ फेरफार है ॥

थार्यो गावे हरि-गुन मति अनुसार है।
ऐसा कवि न जन्मे, पावे हरि गुण पार है ॥

ल. पिं. ग.

थोभणदास

थोभणदास का समय १८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। इनकी राधा-कृष्ण-विषयक रचनाएँ प्राप्त होती हैं। 'बृहत् काव्य-दोहन' ग्रन्थ १ एवं ७ में इनके 'कृष्णविरहना द्वादश मास', 'राधिकाजीनो रोष' (तीन पद) एवं प्रकीर्ण पद (कुल ९) प्रकाशित हुए हैं।

थोभणदास ने अपनी कृतियों में ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया है। अनेक पदों में इन्होंने कृष्ण-प्रेम की महिमा गायी है। ये अपने को कृष्ण का दास मानते हैं। इनकी भाव-भक्ति के व्यंजक दो पद यहाँ प्रस्तुत हैं :

(१)

कृष्ण-कृपा बिना भक्ति न भावे ।
भक्ति बिना प्रभु पासे न आवे ॥

जो कांई करीए कोटि उपाय ।
मन रे गळ्याविणा मुक्ति न थाय ॥

मन रे उभे उभुं सउ करवुं ।
ते फरी मरवुं ने अवतरवुं ॥

बीज बोया विना तरुवर मोरे ।
कर्मनी शाखा सघळ स्फुरे ॥

कहे थोभण कृपा विणा काचुं ।
वेद-पुराण वदे एम साचुं ॥

'कृष्ण-कृपा के बिना भक्ति नहीं भाती, भक्ति के बिना प्रभु पास नहीं आते। कोटि उपाय कीजिये, फिर भी मन लगे बिना मुक्ति नहीं मिली। ऊपर-ऊपर से भक्ति करने पर मन की लगन के बिना पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु है। बीज बोये बिना तरुवर फलता है, कर्म की शाखाएँ सर्वत्र फैलती हैं। थोभण कहते हैं कि कृपा के बिना सब कच्चा है, वेद-पुराण इस प्रकार ठीक ही कहते हैं।'

(२)

रंगभरे रमतां रासमां रे,
हां-हो रे रंग जाम्यो छे ढगले ।
कुमकुमनी ढगो पडे रे,
हाँ हो रे पातळीआने पगले ॥

फर-फर फरतां फुदडी रे,
हां हो रे पाये घुघरी धमके ।
मेघ समो मारो बालमो रे,
हां-हां रे गोपी विजळी चमके ॥

फर-फर फरतां जे फरे रे,
हां-हां रे तेनो कर साही राखे ।
हँसी-हँसीने चुंबन करे रे,
हां-हां रे कंठे बांहडी नांखे ॥

मस्त मुंगट सोहामणो रे,
हां-हां रे मांही मुगता बीराजे ।
साभां उभां ते राधिका रे,
हां हो रे तेनुं प्रतिबिम्ब नाचे ॥

सोल वरसनी सुंन्दरी रे,
हां-हां रे तेनी दृष्टि आवी ।
नारी थोभणना नाथनी रे,
हां हो रे रांधे चाली रीसावी ॥

'रंगभर रास में खेलते हैं, हाँ-हाँ रे ! ढेर रंग जमा है। पतले कृष्ण के पाँव से कुमकुम के ढेर गिरते हैं। वर्तुलाकार घूमते-घूमते पाँव में घुँघरू बजते हैं। मेरा प्रीतम तो मेघसमान है और गोपी बिजली के समान चमकती है। जो नारी गोल-गोल घूमती है, उसका हाथ श्रीकृष्ण पकड़ रखते हैं। वे हँस-हँसकर चुम्बन करते हैं और कंठ में बाँह डालते हैं। मुकुट सुन्दर और सुहावना है। उसके भीतर मुक्तामाल विराजमान है। सामने राधिका खड़ी हैं, उनका प्रतिबिम्ब (कृष्ण के मुकुट में) नाचता है। उनकी दृष्टि में सोलह वर्ष की मानो सुन्दरी आयी। थोभण के नाथ की नारी राधिका रूठकर चली गयी।'

(३)

रुसणुं मुकोने राधिका रे,
हाँ हाँ रे घेली हठ ना कीजे ।
मुखथो बोलो बोलडा रे,
हाँ-हाँ रे मुन-व्रत ना लीजे ॥

वालो वन चरावे गावडी रे,
हाँ-हाँ रे उभा जमना आ रे ।
मुरली ते केरा नाद मारे,
हाँ-हाँ रे राधे-राधे पुकारे ॥

वाला एक घड़ी नव मूकता रे,
हाँ-हाँ रे.रहेता शोभा संजोगे ।
दिवस रेणी केम जाय छे रे,
हाँ-हाँ रे मारा वाला विजोगे ॥

सुन्दरी नो सोहमणो रे,
हाँ-हाँ रे शामलो सुखकारी ।
ए रे वहालो क्येल विसरे रे,
हाँ हाँ रे फट नार धुतारी ।।
कह्यूं न मान्यु कामिनी रे,
हाँ-हाँ रे दूती पाछी ते आवी ।।
नारी थोभणना नाथ नी रे,
हाँ-हाँ रे नहि समजी समजावी ।।

म. ई. प्र.
ल. पिं. ग.

दयाराम

कविवर दयाराम का जन्म नर्मदा-तटस्थित चाणोद नामक गाँव में वि० सं० १८३३ की भादों सुदी द्वादशी, शनिवार (१६ अगस्त १७७७ ई०) को हुआ था। इनके पिता का नाम प्रभुराम और माता का नाम महालक्ष्मी था। वे शैवमतानुयायी थे, अतः पुत्र का नाम 'दयाशंकर' रखा।

बचपन में ही इनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया था। अतः ये डभोई में अपनी मौसी के पास रहते थे। इन्हीं दिनों ये डाकोर के उच्चकोटि के दार्शनिक विद्वान् भक्तवर्य इच्छाराम भट्ट के संपर्क में आये और वैष्णव-भक्ति की ओर उन्मुख हुए। छोटी आयु में ही ये भारतवर्ष की यात्रा करने को निकल गये। चालीस वर्ष की आयु तक निरंतर घूमते ही रहे। इन्होंने बदरी-केदार जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम् और द्वारका इन चारों धामों की यात्रा की, सात बार नाथद्वारा के श्रीनाथजी के दर्शन किये और चार बार गंगा-यमुना के श्वेत-श्याम पवित्र जल का पान किया। इस प्रकार समस्त भारत के परिभ्रमण और दर्शन से इनके ज्ञान और अनुभव में वृद्धि हुई और इनकी घनीभूत अनुभूतियाँ काव्य के रूप में बरबस फूट पड़ीं।

श्रीनाथजी पर इनकी बड़ी श्रद्धा थी, अतः नाथद्वारा जाकर इन्होंने श्री वनमालीजी के मंदिर के गोस्वामी श्रीवल्लभजी महाराज से श्रीनाथजी के सामने वल्लभ-सम्प्रदाय की निवेदन-दीक्षा प्राप्त की। दीक्षोपरान्त ये 'दयाशंकर' से 'दयाराम' बन गये। इन्होंने संस्कृत भाषा के साम्प्रदायिक ग्रंथों का गहन अध्ययन श्री इच्छाराम भट्टजी के सम्पर्क में रहकर किया था। अपने काव्य में जिस महापुरुष का इन्होंने उल्लेख किया है, वे ये ही हैं। इन्हें जयदेव कृत सुप्रसिद्ध संस्कृत गेय-काव्य 'गीत-गोविन्द' अत्यंत प्रिय था। इन्होंने अपने ही हाथों वि० सं० १८५८ के फाल्गुन सुदी त्रयोदशी मंगलवार के दिन भड़ौच में इसे लिखकर पूर्ण किया था। इनके सुंदर हस्ताक्षरयुक्त पोथी में सुरक्षित इस काव्य की प्रतिलिपि आज भी सुलभ है।

कविवर दयाराम प्रतिबद्ध पुष्टिमार्गीय वैष्णव थे। साठोदरा नागर होने से इनके शरीर की गठन सुन्दर एवं सुडौल थी। इनका वर्ण गौर था और ये विवाह और गार्हस्थ्य-जीवन के बन्धन से मुक्त थे। इन्होंने अपना पूरा जीवन काव्यरचना को समर्पित कर दिया था। भगवत्सेवा, सत्संग, भगवद्वार्ता में ये तत्पर रहते थे। प्रातःकाल से मध्याह्न तक का समय अपने प्रभु की सेवा नित्य पाठ तथा जप में बिताते तथा रात्रि को सजातीय वैष्णवों के साथ भगवद्वार्ता में पुष्टिमार्गीय प्रणाली के अनुसार व्यस्त रहते थे। इनका शिष्यमंडल बहुत बड़ा था। महिलाओं में रतनबाई सोनारिन इनकी प्रमुख शिष्या थीं। पुरुष शिष्यों में रणछोड़भाई, गिरिजाशंकर देसाई, लक्ष्मीशंकर, त्रिकमदास, छेलाभाई अमीन, वसंतभाई तथा लल्लूभाई कायस्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

कवि नर्मद के अनुसार दयारामजी ने १३५ ग्रन्थों तथा अन्य फुटकर काव्यों की रचना की थी। किन्तु श्रीकाँटावाला के 'प्राचीन काव्य' (त्रैमासिक-७) से पता चलता है कि इन्होंने कुल २०६ ग्रन्थ रचे थे। उन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने नीचे लिखे अनुसार पदों की भी रचना की

थी : गुजराती में ७००० पद, हिन्दी में १२००० पद, मराठी में २०० पद, पंजाबी में ४० पद, संस्कृत में १५ पद, उर्दू में ७५ पद तथा राजस्थानी में ७ पद।

इनकी कृतियों का विवरण इस प्रकार है : १. अकलकला २ अकलचरित्र ३. अजामिल आख्यान ४. अनन्य-चन्द्रिका ५. अनन्याश्रय ६. अनुभव-मंजरी ७. अन्याय-मर्दन ८. अपराधक्षमास्तोत्र ९. अष्टपटरानी-विवाह १०. आशीर्वाद ११. ईश्वरता-प्रतिपादिका १२. ईश्वरनिरीक्षण १३. एकाग्रता १४. ओखा-हरण १५. कमललीला १६. कात्यायनीनो गरबो १७. काशीविश्वेश्वरनी लावनी १८. कालज्ञान-सार १९. कुंवरबाईनुं मामेरूं २०. कृष्ण-अष्टोतरशतनाम २१. कृष्ण-अष्टोत्तरशतनाम-चिन्तामणि २२. कृष्ण-उपवीत २३. कृष्णक्रीड़ा २४. कृष्णजन्म-खण्ड २५. कृष्णनां ध्याननुं धोल २६. कृष्णनाम-चिंतामणि २७. कृष्ण-अष्टोत्तरशतनाम-रहस्य २८. कृष्णस्तुति २९. कौतुकरत्नावली ३० क्लेश-कोठार ३१. क्षमापराध-षोडशी ३२. गुरुनो उपदेश ३३. गुरु-पूर्वार्द्ध ३४. चातुरचित्तविलास ३५. चातुरीनो गरबो ३६. चित्त-शुद्धि ३७. चिन्ता-चूर्णिका ३८. चिन्तामणि ३९. चेतावनी ४०. चौबीस अवतारनुं ध्येय ४१. चौरासी वैष्णव ४२. दशम-अनुक्रमणिका ४३. दशमलीला-अनुक्रमणिका ४४. दानचातुरी ४५ दीनता स्वरूप दृष्टकूट ४६. दीननां आश्रयविनतीनां पद ४७. दृष्टान्तिक दोहरा ४८. द्विलीलामृत गरबी ४९. नाग्नजीनी विवाह ५०. नामप्रभाव-बत्तीसी ५१. नीति-भक्ति धोल ५२. नीति-वैराग्य ५३. नृसिंह मेहतानी हुण्डी ५४. पत्रलीला-पन्दरतिथि ५५. पिंगलसार ५६. परीक्षा-प्रदीप ५७. पाखु-पुरुषोत्तम-अष्टोत्तरशतनाम ५८. पुष्टिभक्त-रूपमालिका ५९. पुष्टिपथ-रहस्य ६०. पुष्टिपथ-सारमणि, ६१. प्रबन्ध-प्रबोध बावनी ६२. प्रमेयपंचाव — स्वान्तःकरण ६३. प्रश्नोत्तर-मालिका ६४. प्रस्ताव-चन्द्रिका ६५. प्रस्ताविका-पीयूष ६६. प्रेम-परीक्षा ६७. प्रेम-प्रशंसा ६८. प्रेम-मंजरी ६९. प्रेम-संगीता ७०. बहुशिष्य-उत्तरार्द्ध ७१. बार-मास ७२. बाललीला ७३. व्रजविलासामृत ७४. भक्तबेल ७५. भक्तिदृढ़त्व ७६. भक्ति-पोषण ७७. भक्ति-विधान ७८. भगवत्-इच्छोत्कर्षता ७९. भगवद्गीता-माहात्म्य ८०. भगवद्-भक्तोत्कर्षना ८१. भ्रान्ति-भंजन ८२. मंगलानंदमाला ८३. मन-प्रबोध ८४. मनमनी-संवाद ८५. मानचरित्रनो गरबो ८६. मायात्याग ८७. मायामतखण्डन ८८. मीरा-चरित्र ८९. मुरली-लीला ९०. मूर्खलक्षणावली ९१. मोहिनी-स्वरूप ९२. मोहमर्दन ९३. यमुनाजीनी स्तुति ९४. रसिक-रंजन ९५. रसिक-वल्लभ ९६. रसियाजीना महिमा ९७. राधा-अष्टोत्तरशतनाम ९८. राधाजीनो वेवाखेल ९९. राधिकानां बखान १००. राधिकानुं स्वप्नु १०१. राधिका-विरहना द्वादश मास १०२ रासपंचाध्यायी १०३. रासलीला १०४. रुक्मिणी-विवाह १०५. रुक्मिणी-सीमंत १०६. रुक्मिणी-हरण १०७. रूपलीला, १०८. वल्लभ-अष्टोत्तरशतनाम १०९. वल्लभनो परिवार ११०. वस्तुबृहद्दीपिका १११. बहालाजीना महिमा ११२. विसप्ति-विलास ११३. विट्ठल-अष्टोत्तरशतनाम ११४. विनय बत्तीसी ११५. विश्वासागत-ग्रन्थ ११६. विश्वासामृत ११७. तृणासुराख्यान ११८. वृन्दावन-विलास ११९. व्रजभक्त-अष्टोत्तरशतनाम-हारावलि १२०. व्रज-महिमा १२१. व्रजवासिनीनो गरबो १२२. व्रेह-विलास १२३. शिक्षा १२४. शुद्धाद्वैत-प्रतिपादन १२५. शृंगार १२६ श्रीकृष्णनामचन्द्र-कला १२७ श्रीकृष्णनाम १२८ श्रीकृष्णनाम-माहात्म्य १२९. श्रीकृष्णनाम-माहात्म्य मंजरी १३०. श्रीकृष्णनाममाहात्म्य-माधुरी १३१. श्रीकृष्णनाम-माहात्म्यमार्तण्ड १३२. श्रीकृष्णनाम-रत्नमालिका १३३. श्रीकृष्णस्तवन-चन्द्रिका १३४. श्रीकृष्णस्तवन-मंजरी १३५ श्रीकृष्णस्तवनामृत १३६. श्रीकृष्णनाममृतधारा १३७. श्रीकृष्णनामामृतध्वनि लघु १३८. श्रीकृष्णनामावली १३९. श्रीगुरुदेव-चन्द्रिका १४०. श्रीनाथजीनुं वर्णन . १४१.

श्रीपुरुषोत्तम पंचांग १४२. श्रीभागवत-अनुक्रमणिका १४३. श्रीभागवतमाहात्म्य १४४. श्रीशेषशायीनूं धोल १४५. श्रीहरिभक्त-चन्द्रिका १४६. श्रीहरिस्वप्न-सत्यता १४७. षड्ऋतु-वर्णन १४८. षड्-रिपु १४९. संशयछेदक १५०. सतसैया १५१. सत्यभामा-विवाह १५२. संतति-विराग १५३. सम्प्रदाय-सार १५४. सातवार-सारावली १५५. सिद्धान्तसार १५६. स्तवन-पीयूष १५७. स्तवन-माधुरी १५८. स्वरूपतारतम्य १५९. स्वभ्यापार-प्रभाव १६०. हनुमान-गरुड़-संवाद १६१. हरिदास-मणिमाला १६२. हरिनाममाला १६३. हरिनाम-वेली १६४. हरिभक्त रत्नमाला १६५. हरिस्वप्न-सत्यता १६६. हारावली आदि।

इन्होंने अपनी रचनाएँ गुटकों में उतारी थीं, जिनमें से अधिकांश इनके पट्टशिष्य रणछोड़ जोशी के प्रपौत्र प्रो० जीवनलाल छाजनलाल जोशी के पास सुरक्षित हैं। दयाराम की लिखी हुई और सुनी हुई कृतियों को संकलित कर स्व० नर्मदाशंकर ने 'दयारामकृत काव्य-संग्रह' शीर्षक से लगभग सौ वर्ष पहले प्रकाशित किया था जिनके आधार पर ही आज तक उनके अनेक संस्करण हुए हैं। दयाराम द्वारा लिखे हस्तलेखों का उपयोग कर 'रसिक-वल्लभ' तथा 'अनुभव-मंजरी' छपे। 'दयाराम-रसधारा' तथा 'दयाराम-गद्यधारा' जैसी कृतियाँ उनके हस्तलेखों तथा उनके शिष्यों द्वारा की गयी प्रतिलिपियों के आधार पर संकलित और सम्पादित होकर प्रकाशित हुई हैं। इस प्रकार दयारामजी की रचनाओं के असली पाठ अब हमें सुलभ हो गये हैं।

दयाराम जैसा रसिक कवि गुजरात में दूसरा नहीं हुआ। इनकी वेशभूषा भक्तस्वरूपानुकूल तथा आकर्षक रहती थी। रुचि अत्यंत परिष्कृत थी। गान-विद्या में भी इनकी असाधारण गति थी। इन सब बातों से इनके व्यक्तित्व में एक अनोखा आकर्षण उत्पन्न हो गया था। कहते हैं कि इससे चाँदोड की अनेक स्त्रियाँ इन पर आसक्त थीं, फिर भी दयारामजी आजीवन कुंवारे ही रहे। चालीस वर्ष की आयु के बाद इन्होंने रतनबाई नामक एक सुनार बाल-विधवा को सेविका के रूप में रख लिया था और जीवनपर्यन्त उसके साथ रहे।

इनकी ख्याति अपने जीवनकाल में ही काफी फैल चुकी थी। बड़े-बड़े राजा-महाराजा इनसे मिलने के लिए आतुर रहते थे, पर ये अत्यन्त स्वाभिमानी और निर्भीक थे। किसीकी परवाह नहीं करते थे।

दयाराम जी के अंतिम दिन बीमारी में बीते, पर इनकी सहनशक्ति और श्रद्धा-भक्ति इतनी दृढ़ थी कि भयंकर पीड़ा सहकर भी ये अपनी दिनचर्या यथावत् निभाते रहे। इस प्रकार जीवन के ७६ वसंतों को पार कर मध्यकालीन गुजराती कविता का यह प्रखर सूर्य माघ कृष्ण पंचमी सं० १९०९ (सन् १८५३ ई०) को अस्त हो गया।

दयाराम अपने आख्यानों और सैद्धान्तिक काव्यों में प्रथम कोटि के प्रतिभासम्पन्न कवि के रूप में ही हमारे सामने नहीं आते, पद, गरबा-गरबी जैसी रचनाओं में भी ये गुजरात के नरसिंह मेहता और आख्यानकार प्रेमानंद भट्ट की श्रेणी में गिने जाते हैं। इन रचनाओं में इनकी उत्कट कृष्णभक्ति प्रकट हुई है। भावात्मक, प्रमेयात्मक, वर्णनात्मक और शुद्ध काव्यात्मक, इन चारों शैलियों में भेद करना कुछ कठिन है। स्वाभाविक रूप से कवि के पदों तथा गरबा-गरबियों का इन चारों में समावेश हो जाता है। गरबियों को अलग रखना हो तो उन्हें वर्णनात्मक कोटि में रख सकते हैं, किन्तु उनमें भी काव्यतत्त्व भरा हुआ है। भावात्मक और प्रमेयात्मक कोटि की कृतियों से शुद्ध काव्यात्मक रचनाओं को अलग करके, एक निष्ठावान् वैष्णवभक्त के हृदय का सहज उद्रेक देखें तो प्रत्येक गरबी में देखा जा सकता है। आपके गरबा वर्णनात्मक कोटि के हैं, फिर भी उनमें आत्मपरक भाव-गांभीर्य लक्षित होता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित गरबा देखिये :

(१)

मारुं मन मोहनुं वांसळी-
ना शब्दे, कानडा काला।

हुं तो घेली थई, मारा घरमां,
नथी गमतुं मारा वहाला ॥

तुज अधर पर ए वाजे छे ।
सुणी अंतर मारुं दाझे छे ॥
एनो शब्द गगन मां गाजे छे ॥ मारुं मन०

ये वनमां ज्यारे वागे छे,
मुने बाण-सरीखो लागे छे ।
मुने ब्रहनी वेदना जागे छे ॥ मारुं मन०

हुं तो दोतां दोणी भूली छुं,
वळी जमतां अधूरी झूली छुं ।
तारुं मुख जोई हूं डूली छुं ॥ मारुं मन०

एणे तपनी साधना कीधी छे,
कृष्णे कृपा साध्य करी लीधी छे ।
मारे दया प्रीतम कर लीधी छे ॥ मारुं मन०

—दयाराम-रससुधा, पृष्ठ ७

(२)

ऊभा रहो तो कहुं वातड़ी, बिहारीलाल !
तम मारे गाली छे जातडी, बिहारीलाल !
जे दहाडे मळ्या ता वृंदावनमां, बिहारीलाल !
ते दहाडानी तालावेली तन मां बिहारीलाल !

(आदि सत्रह पंक्तियाँ)

— दयाराम-रससुधा, पृष्ठ १

(३)

जी रे झूलवाने आवो राज !
चंद्रभागाजीना बागमां, जी रे झूलवा ।
धारो छो ते बात आज लागमां, जी रे झूलवा ।
मळ्या राधिकाने चंद्रावली, जी रे झूलवा ।
मसलत कीधी छे बेंठा भली, जी रे झूलवा ।

(आदि सोलह पंक्तियाँ)

— दयाराम-रससुधा. पृष्ठ ५

कवि की विशिष्टता यह है कि उसकी ऐसी सभी रचनाएँ अभिनेय हैं। इनके गरबा सारे गुजरात में प्रसिद्ध हैं। एक अत्यन्त आकर्षक गरबा इस प्रकार है :

(४)

'गरबे घुमवाने गोरी नीसर्यां रे लोल ।
राधिका रंगीली जेनुं नाम, अभिराम, व्रजवासणी
रे लोल ।

ताळी देनां वागे झांझर झूमरवां रे लोल ।
सगे साहेलो बोजी छे घणी रे लोल ।
कांई एक हुं कहुं तेतां नाम, व्रजवासणी रे लोल ।
ताळी देतां वागे झांझर झूमरवां रे लोल ।
गिड-गिड तोम छुम छुम वाजे घुंघरा रे लोल ।
चन्द्रभागाने चन्द्रावली रे लोल, व्रज""ताळी ।
ललिता विशाखा व्रजमंगला रे लोल ।
माधवी ने मालती अनूप '' व्रज""ताळी ।

(और अन्य दस पंक्तियाँ)

—दयाराम-रससुधा, पृष्ठ ५

कवि की पूर्ण प्रतिभा उसके विरहप्रधान गरबा पद और गरबियों में देखी जा सकती है :

प्रेमनी पीडा ते कोने कहिये रे,
हो मधुकर ! प्रेमनी !
थातां न जाणी प्रीत, जातां प्राण जांये,
हाथनां कर्यां ते वाग्यां हैये रे ।
जेने कहिये ते तो सर्वे कहे मूरख,
पस्तावो पामीने सही रहियें रे ॥
हो मधुकर प्रेमनी !

(आदि आठ पंक्तियाँ)

—दयाराम-रससुधा, पृष्ठ १६

गोपांगना के विरह-ताप में जो मार्मिकता है, उसका एक चित्र देखिये :

नंदनो नंदन छबीलो धोजालो रे,
सखो रे, एनी अणियाली आँख काजल कोर ।
नंदनो०

मारुं मन मोह्युं छे ए अलबेले रे,
हुं बलिहारी, खमाजी खमाजी,
चित्त मारुं चोर्युं छे, ए पातलिये ! ए श्यामलिये !
नंदनो०

दयानो प्रीतम हवे अखंड मारे काळजे चड्यो रे,
सखी ! ऐ तो चतुराना चितडानो चोर रे ।
नंदनो०

—दयाराम-रससुधा, पृष्ठ २०-२१

संभोग-श्रृंगार के पदों में अनेक मार्मिक स्थितियों के अंकन मिलते हैं। एक मोहक चित्र देखिये :

चांदलिया रे चालीश मां अति उतावलों,
ह्वाणुं वायानी करजे घड़ी बेचार जो ।
घणे रे दहाड़े गिरधारी घेर आविया,
रथ चलावतां करजे झाझीवार जो ।
चांदलिया रे०

—दयाराम-रससुधा, पृष्ठ २७

कवि शुद्ध पुष्टिमार्गीय है। इससे उसकी रचनाओं में सिद्धान्त-निरूपण भी बड़े ही सहज और मार्मिक शैली में हुआ है। उदाहरण के लिए :

पाओ प्रेमरस प्राण-जीवन रे ।
दीन थई जाचुं रे ॥

मुक्तिमारगी ने आपजो ज्ञान
हुं तो नव रांचु रे ।
रीझे राबड़ी थको तो,
गरीब लोक, भोगीने ना भावे रे ॥

अमो राजनां खासा खवासा,
मुक्ति मन नावे रे ।
नित्य निरखिये नटवर रूप,
होंस मन मांथी रे ॥

मनमान्यु मळे सौ सुख,
एकता मां क्यांमी रे ।
दुष्ट जीव ने कहे छे ब्रह्म,
ब्रह्मजीव लेखे रे ॥

छते स्वामीए सौभाग्यनुं सुख,
स्वप्ने न देखे रे ।
दिव्यरूप छो सदा साकार,
आनंदना राशि रे ॥

बोले अनुचित मायिक
मुग्ध, ते नरकवासी रे ।
आप स्वामी सदा हुं दास,
नातो निभावो रे ॥

रुचे आपने करावो तेवी कृति,
अन्य रखे लावो रे ।
विना लालच का, लाल ! मुने
व्हाल, अचलित आपो रे ॥

विषय-वासना प्रपंचनी प्रीत,
श्रीकृष्ण मारो कायो रे ।
अनन्य सेवा अखंड सत्संग,
मनोहर ! मांगु रे ॥

दया-प्रीतम जी आपो मुने
एह, पाये लली त्यागु रे ॥

—दयाराम-रससुधा, पृष्ठ १२

इनकी निम्नलिखित दो छोटी रचनाएँ सहृदय श्रोताओं एवं पाठकों को विशेष रूप से प्रभावित करनेवाली हैं :

शोभा सलूणा श्यामनी तुं जोने
सखी ! शोभा सलूणा श्यामनी ।
कोटि कंदर्प ने लजावे एनुं मुखडुं,
फिक्की पडे छे कला कामनी । तुं जोने०

सवगुण सागर नटवर नागर !
बलिहारी हुं एना नामनी । तुं जोने०

कोटि आभूषणनुं ऐरे भूषण, सीमा ।
तुं छे ए अभिराम जी । तुं जोने०

जे ओळखे तेंने तो छे सार सर्पनो,
बीजी वस्तु नथी कामनी । तुं जोने०

अनुपम ए अलबेलो रसियो,
जीवन खूबी दयारामनी । तुं जोने०

—दयाराम-रससुधा, पृष्ठ १९

श्यामरंग समीपे न जावुं मारे, आज
थकी श्यामरंग समीपे न जावुं ।

जेमां कालाश ते तो सौ सरखुं,
सर्वमां कपट हशे आवुं । मारे०

कस्तुरी केरी बिन्दी तो करुं नहीं,
काजल ना आखमां अंजावु । मारे०

कोकिळानो शब्द हुं सूणूं नहीं काने,
कागवाणी शकुनमां न लावुं । मारे०

नीलांबर काली कंचुकी न पहेरुं,
जमनाना नीर मां न न्हावुं । मारे०

मरकत मणिने मेघ दृष्टे ना जोवा
जांबुवंत्याक ना खावुं । मारे०

दयाना प्रीतम साथे मुखे नीम लीधो,
मन कहे जे पलक ना निभावुं । मारे०

—दयाराम-रससुधा, पृष्ठ १८

ये कृष्णभक्ति में पूर्णतया रँगे हुए थे। इन्होंने अनेक प्रकार की काव्य-रचनाओं से गुजराती भाषा को तो समृद्ध किया ही है, व्रजभाषा में भी सैद्धान्तिक रचनाएँ करके अपनी शक्ति और क्षमता को पूरी तरह प्रस्थापित किया है। इन्होंने आख्यानक, तथा खण्ड-काव्य भी लिखे हैं। किन्तु विशेषता तो भगवान् कृष्ण को केन्द्र में रखकर रचे हुए पद-गरबा-गरबी, घोला (ध्रुपद-शैली की रचना) तथा रित्का जैसी कृतियों में देखने को मिलती है। इनके विषय-निरूपणात्मक गरबा बाह्यार्थ-निरूपक और ऊर्मियों से लहराती गरबी आत्मपरक हैं। गुजराती-साहित्य में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कविसम्राट् नानालाल ने इन्हें 'वंशीवाले का कवि' विरुद से मंडित कर इनकी महत्ता रेखांकित की है।

दयाराम की सरस, सहज एवं मर्मस्पर्शी रचनाओं ने गुजराती भाषा-भाषियों के हृदय में इन्हें उच्च स्थान प्रदान किया है। ये निश्चय ही गुजरात के वैष्णव भक्त-कवियों की प्रथम पंक्ति में आते हैं। इन्हें नरसिंह मेहता और प्रेमानन्द भट्ट के स्तर पर तीसरा स्थान देना सर्वथा उचित है। इनकी ऐसी सभी रचनाओं के मूल में उत्कृष्ट कृष्णभक्ति है, जो प्रेरक रूप में कार्य करती रही है।

गुजराती भाषा के कवि होते हुए भी दयाराम ने गुजराती के अतिरिक्त व्रजभाषा, संस्कृत, मराठी, उर्दू, पंजाबी, तेलगु, फारसी आदि भाषाओं में भी स्फुट रचनाएँ की हैं।

व्रजभाषा के प्रति दयाराम के हृदय में अनन्य अनुराग था। उसमें इन्होंने लगभग ४१ ग्रंथों और १२००० स्फुट पदों की रचना की है।

इस प्रकार इन्होंने व्रजभाषा में भी विपुल साहित्य-सर्जन किया है। अधिकांश ग्रन्थों में वल्लभीय विचार-धारा की पद्यात्मक अभिव्यक्तिमात्र है। कुछ में संप्रदाय के सिद्धान्तों की चर्चा है तो कुछ में महाप्रभुओं के माहात्म्य का गुणानुगान। साहित्यिक दृष्टि से ऐसे ग्रन्थ अधिक महत्त्व के नहीं हैं। किन्तु व्रजभाषा की जिन कृतियों के आधार पर दयाराम की गणना हिन्दी के सुकवियों में की जाती है, उनमें चार प्रमुख हैं : सतसैया, रसिकरंजन, क्लेश-कुठार और पिंगलसार।

'सतसैया' दयाराम की व्रजभाषा की सर्वश्रेष्ठ कृति है। कवि ने इस ग्रन्थ-रत्न की रचना भगवान् श्रीकृष्ण को रिझाने के लिए की थी :

पुरुषोत्तम गोपीश श्री, कृष्ण मनोहर रूप।
तद्प्रीत्यर्थ सुग्रन्थ यह, नहिं रिझवन को भूप ॥

इसमें कुल मिलाकर ७३१ दोहे हैं। ग्रन्थ का मुख्य विषय कृष्ण-भक्ति और पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन होते हुए भी कहीं पर नीरसता और साम्प्रदायिकता प्रतीत नहीं होती। 'सतसैया' में भक्ति और नीति के अतिरिक्त शृंगार, प्रेम, काव्य-चातुर्य आदि के सुंदर उदाहरण भी मिलते हैं।

कवि को अपने आराध्य राधा-माधव में दृढ़ विश्वास और अनुराग है। संसार के समस्त कार्य

उन्हींके संकेतों से सम्पन्न होते हैं—दयाराम ने इस सिद्धान्त को विविध दृष्टांतों द्वारा व्यक्त किया है :

साधारन अरु सुघर को, हरि कर दे सब हीत।
ज्यों चौपर के खेल में, पासा के कर जीत।
पासा के कर जीत, कृष्ण-इच्छा सोहि पासा॥

'सतसैया' के अतिरिक्त दयाराम का दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ 'रसिक-रंजन' है। यह ग्रन्थ भी पुष्टिमार्गीय भक्ति का प्रतिपादक और नाम के अनुरूप रसिक-जनों का रंजन करनेवाला है। कुल मिलाकर इसमें २८० छंदों की योजना है। कवि ने इस ग्रन्थ में एक जगह आत्मदैन्य और भक्ति-भावना का निरूपण करते हुए लिखा है :

हौ जो पतितपावन तो मोसो ना पतित कोई,
अधम उधार हौ तो मो अधम उधारिये।

अशरन शरण हौ तो पर्‌यौ शरन तिहारी नाथ,
कोई भांति कृष्ण काम दया को तो सारिये॥

भक्त कवि ने अपने आराध्य से इतनी निकटता स्थापित कर ली है कि अवसर पाकर वह मुँह लगे मित्र की भाँति श्रीकृष्ण को धमकी भी देता है :

रंक जानि के दया कौ डुबाओगे तो दीनानाथ,
अकेलो नहीं डूबुं केते बिर्द को डुबाऊंगो॥

काव्य-चातुर्य और अलंकार-योजना की दृष्टि से एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

मदन मोहन मन बसे, मदन मोह न सतावै।
गोकुलेश सब भजे, भजे गोकुलेश गावै॥

इस प्रकार 'रसिक-रंजन' भक्तिपरक होते हुए भी भाव, भाषा, अभिव्यंजना, रस, छंद और अलंकार-योजना की दृष्टि से उच्च कोटि की रचना हैं।

'क्लेश-कुठार' की रचना मानसिक क्लेश का शमन करने के उद्देश्य से की गयी है। पुष्टिमार्गीय विचारधारा का यह उत्कृष्ट काव्यग्रंथ है। कवि ने चिंता और क्लेश को महाव्याधि बताते हुए लिखा है :

सकल दोष की मात, चिन्त चित्त जहाँ लग बसे।
वहाँ लग नहीं अवदात, हरि बसब लायक हियौ॥

'पिंगल-सार' ग्रन्थ की रचना पिंगलशास्त्र के परिचय कराने के उद्देश्य से की गयी है। इसकी विशेषता यह है कि छंदों के सभी उदाहरण राधाकृष्ण-भक्तिपरक हैं।

भक्त-कवि दयाराम ने गुजराती तथा व्रजभाषा में विपुल एवं वैविध्यपूर्ण साहित्य का सर्जन किया है। उनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक संगीतात्मक मुक्तक पदों की भी रचना की है। विभिन्न तालों और राग-रागिनियों में निबद्ध इनके पद, भजन, गरबा और गरबी भारतीय साहित्य को अनुपम देना हैं।

भाषा-बहुज्ञता

दयाराम लगभग बारह भाषाओं के जानकार थे। कवि ने इस बहुभाषाज्ञान का समावेश करते हुए एक छप्पय की रचना की है :

गिरधर मुंजो प्राण, प्राण तुही शामलड़ा प्यारा।
मादर पिदर बिरादर ए दुश्मन खलक बिसारा॥

माता मंत्री बनीपु स्वामी इक डारा।
जानी जिय की पीर, मनोरथ पूर्या मारा॥

हरिन को कोणाचा प्रेम, वै त्यमेव स्वामी निरंतर।
नंद महर को पुतवा दयाप्रभु, थाँको दासी मां
के कां डर॥

राधाकृष्ण की युगलछवि के अनन्य उपासक भक्त-कवि दयाराम ने प्रत्येक कृति में अपने आराध्य का किसी न किसी रूप में स्मरण एवं वंदन किया है। इन्होंने राधाकृष्ण के अलौकिक एवं दिव्य शृंगार का हृदयाकर्षक वर्णन किया है।

इनकी भक्ति-भावना के व्यंजक व्रजभाषा के दो पद नीचे दिये जाते हैं :

(श्रृंगार)

आज को दिन धन-धन मोरी माई !
देख छैल छब कुंवर कन्हाई ॥

मंद मुसकानि चित मेरी चोऱ्या ।
कुटिल कटाक्षे कलेजो कोऱ्या ॥

श्रीमुख देखत सब सुख फीके ।
मधुर भये जीवन जी के ॥

अज अजहूँ पदरज नहिं पाई ।
सो लालन मोहे लाड लडाई ॥

कहत बने नहीं जो सुख पाई ।
मो मन जानत के बृजराई ॥

बहोत दिनन की आशा पूंजी ।
'दया' प्रीतम करी तोसी नहीं दूजी ॥

(होरी)

राधा आई खेलन सखी-बृंदन से !
अबीर गुलाल की आंधी बनेगी,
मचेगो कीच चुवा चंदन से ॥

पिचकारिन की झर बरखेंगी,
केसर रोरी बंदन से ॥

चंदावली आई ललित विशाखा,
चद्रभागा नीकी चंदन से ।
चंपकलीता चंद्रिका चपला,
खेलेगी उर आनंदन से ॥

ताल मृदंग झांझ डफ खंजरी,
महुंवरी सुर सुखकंदन से ।
ढोल दमामा डिमडिमि गिडिगिडि,
लाज कुल लोक निकंदन से ॥

सुनत आए बल मोहन तैसें ही,
सब विधि साज अमंदन से ।
जुगलरूप पर बारी लौन हुं,
बलिहारी धो जग बंदन से ॥

के. का. शा.
अं. शं. ना.

दयाराम खटाऊ शर्मा

महामहोपाध्याय पण्डित दयाराम खटाऊ शर्मा का जन्म ७ अक्तूबर १८८१ ई० को देशलपुर (कच्छ) में हुआ था। इनके पिता का नाम खटाऊ गंगाधर शर्मा था। ये सारस्वत ब्राह्मण थे।

इन्होंने बचपन में बम्बई और भुज में संस्कृत व्याकरण, न्याय, काव्य आदि शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की थी। इसके पश्चात् बम्बई और काशी में धर्मशास्त्र, वेद, वेदान्त, साहित्य, ज्योतिष तथा दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करके ये सर्वशास्त्र-निष्णात हो गये थे। इन्होंने वेदान्त, इतिहास, ज्योतिष, कर्मकाण्ड आदि विषयों के पचास के ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं। शास्त्रज्ञ होने के साथ ही ये कृष्ण-प्रेम में निमज्जन करनेवाले भावुक भक्त भी थे। पदों में ये 'दयाल' छाप रखते थे।

इनके दो पद नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं। उनमें से एक गुजराती तथा दूसरा उस क्षेत्र की चालू हिन्दी में है :

मारी विनती सुंदर श्याम,
सुणो प्रभु अंतरना अभिराम ॥ टेक ॥

तमथी इतर नथी जगत्राता !
अखिल विश्वना आप विधाता ॥
द्यौ पालक पावन नाम ! सुणो प्रभु०

भक्तजनोंने आश तमारी !
आप कृपा-सागर सुखकारी ॥
तन मनमां प्रकटो राम ॥ सुणो प्रभु०

भ्रम अंतरनी भ्रांति निवारी ।
दूर करो अघ अवगुण भारी ॥
तव नाम मुक्तिनुं धाम ! सुणो प्रभु०

दीनजनांना नाथ तमे छो ।
स्नेह-शांतिना धाम तमे छो ॥
छो 'दयाल' ना आराम ! सुणो प्रभु०

'अन्तर के अभिराम सुन्दर श्याम ! मेरी बिनती सुनो। आपको छोड़कर कोई जगत् का त्राता नहीं है। आप अखिल विश्व के विधाता हैं। आप पालक हैं और आपका नाम पावन है। इसलिए अंतर के अभिराम, सुन्दर श्याम! मेरी बिनती सुनो। भक्तजनों को आपकी ही एकमात्र आशा है। आप कृपा के सागर और सुख देनेवाले हैं। इसलिए हे मेरे राम ! तन और मन में प्रकटो। अन्तर के अभिराम सुन्दर श्याम ! मेरी विनती सुनो। हमारे अंतर की भ्रांति मिटाओ, पाप और भारी अवगुणों को दूर करो। आपका नाम मुक्ति का धाम है। इसलिए अन्तर के अभिराम, सुन्दर श्याम! मेरी बिनती सुनो ! आप दीनजनों के नाथ हैं और हैं स्नेह-शान्ति के धाम। 'दयाल' के लिए आप ही शरण्य हैं। इसलिए अन्तर के अभिराम, सुन्दर श्याम! मेरी बिनती सुनो।'

(२)

नरहरि आप कृपा के सागर, तुम बिन कौन हमारो।
रामा तुम बिन कौन हमारो ॥

भवभय संकट जनम-मरन को कौन निवारनहारो।
है भवसागर दुस्तर भारी, तुम बिन कौन सहारो ॥

महामोहवश चंचल मन से भव को आश निवारो।
आप दयानिधि गिरिधर-नागर मैं हूँ दास तुम्हारो।
अब दर्शन प्रभु अंतर में मुझ दे के हाथ पसारो।
अविनाशी करुणा के सागर, भवजल-पार उतारो।
'दयाल' दयालु अब करुणाकरि श्रीपति आप पधारो ॥

(दरबार) दादा नाजा खाचर

सौराष्ट्र के गढड़ा गाँव के काठी दरबार दादाभाई खाचर के समय का निश्चित पता नहीं चलता। इतना ही ज्ञात होता है कि ये अच्छे पण्डित होने के साथ ही भक्तकवि भी थे। इन्होंने भगवान् कृष्ण को 'शामला' नाम से संबोधित कर सोरठा-दोहा में नवीन उद्भावनाओं के साथ उनके समक्ष अपनी प्रार्थना प्रस्तुत की है :

ते कीधां वसुदे तणां,
पुतनानां पयपान।
त्यां भूली ग्यो भगवान,
समंध माशीनो शामळा ॥

तुं मथुरां जई मालियो,
केवाय वैभव कान।
त्यां भूली ग्यो भगवान,
स्नेही गोकल शामळा ॥

पदमाण्य राधा परहरि
कुबजावश थ्यो कान।
त्यां भूली ग्यो भगवान,
समजण बाधी शामळा ॥

मामो सगो मारवो,
केदी घटे न कान।
त्यां भूली ग्यो भगवान
समंध मामानो शामळा ॥

पारथने भीषमपिता,
जूटा बे जबराण।
त्यां भूली ग्यो भगवान
सत निज वचन शामळा ॥

हुवे मारा गुना माधवा,
जा भूली जदुराण।
तो भूलकणो भगवान
साचो मानुं शामळा ॥

'भगवान् शामळा (साँवरे रंगवाले श्रीकृष्ण)! आपने मौसी बनकर आयी पूतना का ऐसा प्राण-लेवा स्तन पान किया कि मौसी का नाता ही भूल गये। मथुरा में जाकर वैभव में इतने डूब गये कि स्नेही गोकुल वासियों को भूल गये। परम सम्मान्य राधा को छोड़ कुब्जा के वश में हो गये और राधा को भूल गये। सगे मामा कंस को मारना कितना उचित है ? लेकिन आपने उसे भी मारकर मामा का संबंध भुला दिया। पार्थ अर्जुन और भीष्म पितामह दोनों वीर समरांगण

में डटे हुए थे। वहाँ भी आप अपना सत्य वचन भूल गये। लेकिन अब शामळा, यदुराज! आप मेरे गुणों (अवगुणों) को भूल जायँ, तभी मैं आपको सच्चा भुलक्कड़ मानूँगा।'

ल. पिं. ग.

दुलाभाई काग

दुलाभाई काग का जन्म गुजरात के भावनगर जिले के सोडवदरी गाँव में संवत् १९५४ की कार्तिक बदी ११, शनिवार को हुआ था। इनके पिता का नाम भाया काग तथा माता का नाम धानबाई था। तेरह वर्ष की अवस्था में पीपावाण नामक स्थान के प्रतापी सन्त स्वामी मुक्तानन्दजी से इन्होंने चार वर्षों तक काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया। तेरह बार इन्होंने रामायण-महाभारत तथा अन्य पुराणों का अध्ययन-अभ्यास किया तथा भक्ति-रस से सराबोर ऐसे भजनों और अभंगों की रचना की जिन्हें लोग आसानी से समझ सकें। इन भजनों की भाषा लोकानुकूल थी। इस प्रकार दुलाभाई 'भक्त-बापू' तथा लोक-जीवन के वाल्मीकि बन गये। इसके पश्चात् इन्होंने गुजराती में राष्ट्र-भावना से ओत-प्रोत काव्य की रचना की तथा 'काग-वाणी' नाम से उसे प्रकाशित किया। इनके तेरह ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। चारणी-साहित्य तथा लोक-साहित्य के लिए की गयी इनकी सेवाओं को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने इन्हें सन् १९६३ में 'पद्मश्री' की उपाधि से सम्मानित किया। तत्पश्चात् सौराष्ट्र विश्वविद्यालय तथा गुजरात प्रदेश की ललितकला समिति द्वारा भी इनको बहुत सम्मान मिला।

ये गुजरात की निधि थे। कंठ, काव्य तथा कहानी की त्रिवेणी में इन्होंने अवगाहन किया था। ये एक बहुश्रुत साहित्यकार थे! इनका परलोकवास २२ अप्रैल सन् १९७७ ई० को हुआ।

नीचे इनकी कुछ भावपूर्ण रचनाएँ दी जाती हैं :

देवकीजीनो दीकरो

(येने) पिताए उपाड्यो परवारो रे, देवकी जी!
तांरो दीकरो रे जी।
(येने) बापुए काढ्यो छे घरवारो रे देवकीजी!
तांरो दीकरो रे जी॥

काळी कालीकोटडी ने काया काया एनी काली।
अंग डे वींटाणा काळा अन्धकारो रे॥ १॥

मरजादा मूकी हाल्यो जमना-किनारो।
(येने) मेहुलीओ मंडाणो मुशलधारो रे॥ २॥

मोटी मोटी मेडीओए दीधेलो जाफारो।
झुंपडी कहे छे के जीवन पधारो रे॥ ३॥

भूमिनो जाफारो एने पाणीनो मांकारो।
(येने) आहिरडे दीधो छे आबकारो रे॥ ४॥

'काग' के गोकुल गयो खेलो खूंदनारो।
एने माथे हतो कंस तणो मारो रे॥ ५॥

● ● ●

ये जी अमारो जीव गोयेल छे जदुकुलमां रे,
गोपीयुंने गमतुं न थी रे गोकुलमां॥ टेक॥

हाथ झालीने हरिए हडसोल्यां,
प्रभु गया छे द्वारापुरमां॥

ये जी भाव अमारो भूलो गया ने हवे,
कान रमे छे नृपकुलमां रे॥ १॥

त्रठ शीतळ जमुना तणो आधा,
आग लगाई हो उरमां रे।
ये जी संसार केरु सुख छोड़ीने अये,
बास लीधो छे विया कुलमां रे॥ २॥

आभूषण बधा दीधा उतारो,
प्रेम नथी पटकुलमां।
ये जी मात-पितानो मोह मूकीने हवे,

थिर रेतुं नथी स्थूलमां रे॥ ३॥
'काग' हरिने अमे जाता जोया त्यार,
नेण भीनां हता नूर मां रे।

ए जो मन्द मन्द हसती मोहन करी ओधा,
मूरती वसी छे दृगमूलमां रे ॥ ४ ॥

(कृष्ण)

अष्टम वख्त अविनाश, कंस-घर, हुवो करांलं।
दैत घणा विकराल, कामधेनु जन कालं ॥

हुवो महा भूभार कहे धर त्राहि अपारं।
सकल निवारण पाप कृष्ण रुपे किरतारं ॥

कंस आदि राक्षस हण्या, अवनि शान्त हो ईश्वरा।
'काग' कहत हरिकृष्ण तैं धर्म-वेद थाप्यो धरा ॥

● ● ●

जय जय नाथ जदुपति, जय सुख आठे जाम।
जय महोमंडन जदुपति, कृष्ण पूरन जयकाम ॥

एक एक तुही एक छो, एक एक अविनाश।
एक तुही आशा परे, पूरण एक प्रकाश ॥

सुखपति जनपति श्रीपति, नरपति जय मम नाथ।
कागपती हरि कृष्ण तू, रायणपति समराथ ॥

ल. पिं. ग.

देवचन्द (निजानन्दाचार्य)

गुजरात में प्रणामी-सम्प्रदाय के संस्थापक देवचन्दजी का जन्म संवत् १६३८ में राजस्थान के उमरकोट गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम मत्तू महेता और माता का नाम कुँवरबाई था। जाति के ये कायस्थ थे। बचपन से ही इनमें देवत्व के गुण दिखाई देने लगे। सात वर्ष की छोटी आयु में ही ये ब्रह्मज्ञान की खोज में भ्रमण करने लगे। माता कुँवरबाई भी धार्मिक प्रकृति की थीं। मत्तू मेहता अपने व्यवसाय के लिए भुज (कच्छ) गये, तो साथ में सातवर्षीय देवचन्द भी गये। पुत्र को परमात्म-रत देखकर माता-पिता सदैव चिन्तित रहते थे। माता-पिता की चिन्ता दूर करने के लिए देवचन्दजी ने विवाह कर लिया। पत्नी का नाम लीलाबाई था।

इन्होंने भुज में अनेक सम्प्रदायों के साधु-सन्तों के साथ सत्संग-समागम किया, लेकिन सन्तुष्टि न हुई। अन्ततोगत्वा विष्णु-संप्रदाय के महात्मा हरिदासजी का शिष्यत्व अंगीकार करके कृष्णोपासक बन गये। इसके अनन्तर इन्होंने विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन किया। २४ वर्ष की आयु में ये भुज से जामनगर आये। यहाँ १४ वर्ष तक इन्होंने श्रीमद्भागवत का श्रवण-परिशीलन किया। अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण ने दर्शन देकर इन्हें तारकमंत्र की दीक्षा दी, ऐसी साम्प्रदायिक मान्यता है।

इनका दार्शनिक सिद्धान्त स्वलीलाद्वैत ब्रह्म' था। उसकी प्राप्ति का साधन ये प्रेमलक्षणा भक्ति को मानते थे। कृष्ण-साक्षात्कार के पश्चात् ये अहर्निश आनन्दविभोर रहने लगे। इससे 'निजानन्द स्वामी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये। कृष्णदर्शन एवं कृष्णाज्ञा प्राप्ति के बाद इन्होंने 'प्रणामी-संप्रदाय' की स्थापना की और कथा-कीर्तन द्वारा उसका प्रसार-प्रचार करने लगे। इनके प्रथम शिष्य थे लोहाणा शठेगांगजी भाई। दूसरे प्रमुख शिष्य हुए प्राणनाथ, जो प्रणामी-सम्प्रदाय के संवर्धक और प्रचारक के रूप में विख्यात हैं। इन्होंने जामनगर में धर्मपीठ की स्थापना की, जो अब 'नवतनपुरी' नाम से प्रसिद्ध है।

देवचन्दजी का जीवन चमत्कारी माना जाता है। कहा जाता है कि मूर्तियों में इन्हें साक्षात् भगवान् के दर्शन होते थे। अपने मंत्रबल के प्रभाव से इन्होंने अनेक भूत-प्रेतों को प्रेतयोनि से मुक्त किया था। कहते हैं कि एक दिन ये ध्यान में व्रजभूमि पहुँच गये और वहाँ इन्हें माता यशोदा के दर्शन हुए। संवत् १७१२ में, ७५ वर्ष की अवस्था में इन्होंने स्वेच्छानुसार परमधामगमन किया।

म. ई. प्र.

देवानन्द स्वामी

देवानन्द स्वामी का जन्म गुजरात के भाल क्षेत्र के बालोल गाँव में जीजाभाई चारण के यहाँ सं० १६५६ की कार्तिक सुदी (५) (सन् १६०२ ई०) को हुआ था। माता का नाम बोनजीवा

था। प्रारम्भ में इनका नाम 'देवीदीन गढवी' रखा गया था। आगे चलकर इन्होंने स्वामी नारायण संप्रदाय में दीक्षा ले ली, तब 'देवानन्द स्वामी' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

बचपन से ही इनमें भक्ति के संस्कार विद्यमान थे। छह वर्ष की अवस्था से ही ये अपने गाँव की सीमा के भीतर स्थित अंकलेश्वर महादेव के समक्ष पूजा-पाठ में तल्लीन रहते थे। कहा जाता है कि एक दिन ये महादेवजी के सम्मुख मस्तक झुकाकर कमल-पूजा करने के लिए तलवार से अपना सिर काटने के लिए तैयार हो ही रहे थे कि इन्हें तुरन्त शिवजी का साक्षात्कार हो गया। इन्हें आन्तरिक प्रेरणा हुई कि ये पूर्व जन्म के महाभक्तराज हैं तथा भविष्य में इन्हें महान् सद्गुरु मिलेंगे। उनसे विद्या प्राप्त कर ये महाकवि होंगे तथा इनकी रचनाओं से हजारों जीवों का उद्धार होगा। इस घटना के पश्चात् तीसरे दिन ही इनके गाँव में श्रीजी महाराज का पधारना हुआ। ये उनके साथ ही चल पड़े। श्रीजी महाराज ने इन्हें ब्रह्मानन्द स्वामी को सौंप दिया। संवत् १९६५ में इन्हें दीक्षा प्राप्त हुई। तब इनका नाम 'अभेदानन्द' हुआ। बाद में ब्रह्मानन्द स्वामी से पिंगलशास्त्र का शास्त्रोक्त पद्धति से इन्होंने अध्ययन किया तथा कवि के रूप में विख्यात हो गये। काव्य में 'अभेदानन्द' नाम उपयुक्त नहीं था। इसलिए श्रीजी महाराज ने मूलनाम के अतिरिक्त इनका एक अन्य नाम 'देवानन्द' रखा।

ये सद्गुरु ब्रह्मानन्द स्वामी की सेवा में संवत् १९५६ से संवत् १९९९ तक निरंतर विद्यमान रहे। उस बीच इन्होंने ब्रह्मानन्द स्वामी की सभी रचनाओं की प्रतिलिपि कर डाली जो इन्हें उत्तम लगीं। देवानन्द स्वामी स्वभाव से अत्यन्त शान्त, गम्भीर, व्यवहार-कुशल तथा दूरदर्शी थे। ब्रह्मानन्द स्वामी के पश्चात् ये मूली के मन्दिर के महन्त-पद पर प्रतिष्ठित हुए। गद्दी का संचालन करते हुए इन्होंने गुजराती तथा मराठी में अनेक कृतियों का सृजन तथा सम्प्रदाय की 'शिक्षापत्री' का मराठी में अनुवाद किया। मध्यकालीन गुजराती कवियों में मराठी भाषा में रचना करनेवाले देवानन्द स्वामी विशिष्ट माने गये हैं। ये उत्तम कोटि के सितार-वादक भी थे। संवत् १९१० में श्रावण बदी दशमी को ये मुली गाँव में ही समाधिस्थ हुए।

इनके द्वारा रचित एक हजार कीर्तन पदों का संग्रह हस्तलिखित रूप में मुली के संग्रहालय में उपलब्ध है। इनके सैकड़ों कीर्तन-पद आज भी सन्तों एवं हरिभक्तों द्वारा सत्संग-समारोहों में गाये जाते हैं। इनकी कृतियाँ हैं: 'ईश्वरने ओळखवानां पदों', 'मायानी मोहिनीविषे', 'कृष्णभजना पदों' तथा 'प्रभुसाथे प्रीति करवा विषे पदों।'

स्वामी देवानन्द ने गुजराती, राजस्थानी तथा व्रजभाषा में स्फुट छंदों की तथा विभिन्न राग एवं ताल में निबद्ध संगीतात्मक पदों की रचना की है। इनके ज्ञान, वैराग्य एवं प्रेमलक्षणा भक्ति-विषयक पद अत्यंत लोकप्रिय हैं। उदाहरणार्थ:

—बहुत दिन बीत गये बिन देखे।
—हरि बिन कौन सग नर तेरो।
—प्रभु मोरे अवगुन उर नहि धारो।
—प्रभु तुम भक्ति दान मोहि दीजे।

इन पदों में सूर-तुलसी जैसी प्रगाढ़ भक्ति-भावना और दादू, रैदास जैसे सन्तों की वाणी की तरह प्रभावोत्पादकता है। गुजराती के प्रसिद्ध कवि दलपतराम के ये काव्यगुरु थे।

इन्होंने अपने पदों में श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी का बड़ा ही मधुर और अनूठा वर्णन किया है। व्रजभाषा-रचनाशैली के उदाहरणस्वरूप यह पद द्रष्टव्य है:

'थारी छबि मतवारी हेरी,
लगन लागी हे नन्दलाल।
सिर पे सुनहरी पाग, पेच जुके वामभाग,
निरखत भई निहाल॥

नवल कलंगी बाँकी शोभा तोरा फूल,
ताकी केशर तिलक भाल।
कान में कुण्डल मोती, जियरा में नित्यज्योति,
सारै बाँकी भृकुटि विशाल।
देवानन्द देख मेन, करुनाभरे लोचन,
जीवन जन हो प्रतिपाल ।।'

एक अत्यंत ही सरल गुजराती पद में दुर्लभ मानुष-देह मिलने पर भी उसे व्यर्थ में लोग कैसे गँवा देते हैं और मानव-जीवन की सार्थकता किसमें है, यह बताते हुए देवानन्दजी लिखते हैं :

'दुनियामों डाह्यो,
डहापण मां दुख पामे,
भवतारण भगवान बिसारी,
चढ़ियो ढाले भामे रे ।।

मनुष्य देह मलयो अति मोटो,
खोटो जाणी खोयो,
हरख-शोकनी नदीओ मोटी,
तेमां जाय तणायो रे ।।

देवानंद कहे हरिभज्यो नहि,
घणे दुखे घेराणो रे ।।

कृष्णभक्ति-विषयक इनका एक पद प्रस्तुत है :

माई मेरी गिरधर गेल पर्‌यो हो।
कर पकरि मोई हँसिके बोलाई,
कछु मोई जादु कर्‌यो हो ।।
ना ना करत मेरी नवल चुनरिया,
फारी ना दिल में डर्‌यो हो।
या गोकुल में किस बिध रहिये,
मोहन मद में भर्‌यो हो ।।

अं. शं. ना.
ल. पि. ग.

देवा साहब

अठारहवीं शती के सन्त एवं भक्तकवि देवा साहब कच्छ प्रदेश के हमला नामक गाँव के निवासी थे। ये जाडेजा वंशीय थे। देवा साहब बाल्यकाल से ही कृष्णभक्ति में लीन रहा करते थे। एक योगी के सम्पर्क से इनके अंतस् में त्याग, वैराग्य एवं भक्ति की ज्योति जाग उठी। ये द्वारकानाथ के दर्शन के लिए यात्रासंघ के साथ निकल पड़े। नाव में बैठते समय इनके मुँह से सहसा उद्‌गार निकले :

'बेट जावुं छे रे, मारे गोमती नाहवुं छे,
एला वहाणवटी।
होडी हंकार, मारे बेट जावुं छे।

'हे केवट! मुझे बेट जाना है, गोमती-स्नान करना है। नाव चला, मुझे तो बेट जाना है।'

द्वारकानाथजी का पूर्ण प्रेम से दर्शन-पूजन करके देवाजी वापस लौटे और पुनः नाव में बैठे। समुद्रीय तूफान आया। उस समय इन्होंने भजन गाया :

'आज लहरे लागी रे, बेड़ी जाय आधी
महा समदरीआमां, आखर लोर लागी रे!'

तूफान शान्त हो गया। सब सकुशल मांडवी बन्दर पर आ पहुँचे। यह देवा साहब की प्रभु-भक्ति की निष्ठा का प्रभाव था।

माता-पिता के आग्रह से देवाजी का विवाह हुआ। इन्हें एक पुत्र भी हुआ। किन्तु प्रगाढ़ भक्ति-भावना से प्रेरित हो इन्होंने २० वर्ष की आयु में ही गृहस्थ-जीवन त्याग दिया। हमला गाँव के पास 'चीन की गंगा' नामक सरिता के तट पर पर्णकुटी बनाकर वहीं बैठ गये और मन, वचन, कर्म से प्रभु-भजन एवं कृष्ण-कीर्तन में समय व्यतीत करने लगे। इनकी साधना की पर्णकुटी तीर्थ बन गयी। मुमुक्षु वहाँ आने लगे। देवा साहब की ख्याति चारों ओर फैल गयी। इनका हृदय स्नेहपूर्ण, सेवामय और दर्पण के समान निर्मल था। इनका शिष्य-समुदाय उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इनके चार प्रमुख शिष्य थे: जेठीराम, बिहारीदास, सेवाराम और कृष्णदास। देवा साहब उच्चकोटि के कृष्णभक्त होने के साथ ही कवि भी थे।

इनके अन्तर से कृष्णभक्ति-रस की कविता का उत्स फूट पड़ा था। इनके रसपरिप्लुत भजन कच्छी प्रजा के कण्ठहार बन गये।

देवा साहब की रचनाएँ हैं द्वारकानाथ के पद, कृष्णसागर (हिन्दी) तथा प्रकीर्ण भजन एवं पद।

म. ई प्र.

देवीदास गन्धर्व

देवीदास पेटलाद के समीपवर्ती सोजित्रा गाँव के गन्धर्व थे। ये संवत् १६६० में विद्यमान थे। इनके जीवन के बारे में अधिक सामग्री प्राप्य नहीं है। इन्होंने अपने 'रुक्मिणीहरण' नामक कृष्णकाव्य में काव्य-रचना-तिथि एवं जन्मभूमि के सम्बन्ध में निम्नांकित उल्लेख किया है :

संवत १६ संवछर ६० साठो,
माघ शुदि पषवाडो जी।
शुकर वारि ग्रंथ सोवाडो,
त्रयोदशीनो धाढो जी॥

हरिकरुणाई त्रीस कडवां किवीयां,
चौद रागनो जाति जी।
पद पांचसे ने चोपन पूरां,
कृष्णचरित्र विषाव जी॥

सोजीत्रा सिद्धि स्थानक माहि,
गंधर्व जाति प्रकाशजी।
ग्रंथ समर्पण करी गोविन्दने,
प्रणमे जन देवदासजी॥

इस प्रकार गोविन्द को ग्रन्थ समर्पण करके देवीदास अपनी कृष्णासक्ति प्रकट करते हैं। देवीदास की अन्य रचनाएँ हैं: 'भागवतसार' और 'रासपंचाध्यायी'।

देवीदास परम वैष्णव कृष्णभक्त हैं। अपने काव्यों के आरम्भ में ये श्रीकृष्ण का स्मरण करते हैं, प्रणाम करते हैं। 'रुक्मिणीहरण' के आरम्भ में ये कहते हैं: 'प्रथमे प्रणमुं वैकुण्ठराय, शुक सनकादि जेने ध्याय' 'रासपंचाध्यायी' के आरम्भ में इन्होंने भावविभोर हो दामोदर का स्मरण किया है–

मनवांछित पुरण सदा दामोदर दयाळ।
आरंभु उत्तम कथा तमो कृपा करो री दयाळ॥

भागवत के दशमस्कंध के ५४वें अध्याय पर आधारित 'रुक्मिणी-हरण' वीररस-काव्य है। शृंगार और हास्य जैसे गौणरस के साथ में कवि ने कथा-विस्तार किया है। कुल ३० कडवों में विभक्त यह काव्यग्रंथ कवि की बहुश्रुतता का परिचायक है। रुक्मिणी के विवाह की तैयारी का वर्णन और रुक्मिणी की मनोदशा का सूक्ष्म चित्रण प्रशंसनीय है। सभा-मण्डप में विराजमान श्रीकृष्ण की देहयष्टि का वर्णन अत्यन्त प्रभावोत्पादक है :

सभा सोहंनी बेठा भूप।
भीमक जोई कृष्ण केरुं रूप॥

श्रवणे कुंडल मकरकार।
रत्नजडित कनक में सार॥

रक्त रेष लोचन विशाल।
जाणि अंबो प्रगटो तत्काल॥

भ्रकुटि धनुष तणे आकार।
गल्लस्थल झलहलि अनिसार॥

केसर तिलक विराजितभाल।
अधर बिम्बफल शोभित लाल॥

मेघश्याम तन कोमल कान्ति।
पीतांबर पेहिरयां भरु भाँति॥

भुजा प्रचंड आयुध अंकित।
गठित मुद्रिका करि शोभित॥

उर शोहे विजयंती माल।
कटि कंकिनी मेला रसाल॥

'भागवतसार' में कवि ने पूरे भागवत की कथा 'गरबा' छंद में प्रस्तुत की है।

कवि देवीदास गन्धर्व के ग्रंथरत्न 'रुक्मिणी-हरण' के लग्नगीत स्त्री-वर्ग में विशेष लोकप्रिय हैं। उसके एक आकर्षक प्रसंग की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :

रुक्मिणी विनती विनवे, यादव जी, जी।
तमे साँभळो श्रीमहाराज, कहुँ प्रीतमजी जी ॥

ए खोड बेसे अमने, यादवजी जी।
ए मूको मारो वीर, कहुं प्रीतमजी जी ॥

में मातापिता सहु मूकियां, यादवजी जी।
हुं तो आवी तमारी साथ, कहुं प्रीतमजी जी ॥

'रुक्मिणी यादवजी श्रीकृष्ण से विनती करती हैं कि हे प्रीतमजी, श्रीमहाराज ! सुनिये। हे यादवजी, हमें कलंक लगेगा। प्रीतमजी, मैं कहती हूँ कि मेरे वीर (भाई) को छोड़ दीजिये। मैंने माता-पिता छोड़ दिये हैं और आपके साथ चली आयी हूँ।'

अ. शु. ना.
म. ई. प्र.

देहल मिसण

देहल मिसण गुजरात प्रदेश के राजकोट जिले में स्थित मोरवी नामक स्थान के निवासी थे। इन्होंने स्वामि-नारायण-सम्प्रदाय के महान् कवीश्वर ब्रह्मानन्द स्वामी से दीक्षा ली थी। मोरवी के राजा खाजी ठाकुर को देहल मिसण का स्वामि-नारायण-सम्प्रदाय में दीक्षित होना अच्छा नहीं लगा। इसलिए वे इन्हें त्रास देने लगे। राजा ने यह भी कहा कि यदि देहल मिसण स्वामि-नारायण-सम्प्रदाय की कण्ठी तोड़ दें तो उन्हें एक गाँव तथा दस हजार नकद मुद्राएँ दी जायँगी, किन्तु भक्तकवि इस लोभ में नहीं आये। तब राजा ने उनसे गाँव छोड़ देने के लिए कहा। रात्रि में देहल मिसण ने श्रीकृष्ण भगवान् का स्मरण करते हुए उनकी स्तुति में एक पद की रचना की, मालीया के ठाकुर श्री मोडजी को प्रभु ने उसी रात को स्वप्न में आदेश दिया कि वे देहल मिसण को मालीया ले आयें। इसलिए मालीया के ठाकुर के सेवक बहुत सबेरे जाकर देहल मिसण को मोरवी से मालीया ले आये। राजा मोडजी ने प्रतिवर्ष पाँच सौ रुपये की राशि, पाँच बड़े मटके अन्न तथा पशुओं के लिए चारा के बंधान के अतिरिक्त निवास के लिए मकान देकर मालीया में देहल का स्थायी आवास बनवा दिया।

स्वामि-नारायण-सम्प्रदाय में भक्तकवि के रूप में देहल मिसण ने पर्याप्त यश अर्जित किया है। इन्होंने गुजराती में बहुत ही सुन्दर भावपूर्ण रचनाएँ गरबी छन्द में लिखी हैं।

श्रीकृष्ण को जब अक्रूर बुलाने आये उस अवसर पर व्रजनारियों के हृदय में कैसी वेदना हुई, उसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :

आँख-आसुँ ने हैयुं व्याकुल थयुं रे।
रथ रोकी न आडो उभियुं रे ॥

हा रे व्रजवासीने मेलीने शीद जाओ छोरे।
कृष्ण आवडा कठण केम थाओ छो रे ॥

हा रे मन मेलव्यां तो पछ केम मेलीये रे।
ओ रां आवतां न प्रभु पाछा हेलीये रे ॥

हरिअमे तनमनचरणे धर्या रे।
सखे वन बाट घाट मां भेला फर्या रे ॥

अमे अबला अनाथ हाथ जोडीये रे।
आम बांकु बना श्याम तरछोडिये रे ॥

हा रे, दीन दासथी ते भेद केम दाखिये रे।
आम नदया न थईये दया राखिये रे ॥

हां रे दास देहल ना नाथ केटलुं कहीये रे।
ना ना मथुरा तो जावा एम नहि दइये रे ॥

ल. पिं. ग.

द्वारकादास

द्वारकादास का जन्म सं० १७८० (सन् १७२४ ई०) में हुआ था। जाति के ये दशालाड वैश्य थे और बड़ौदा की वाडी की उभोइया पोल में रहते थे। पचास वर्ष की आयु में कृष्णभक्ति से प्रेरित हो ये प्रसिद्ध कृष्णभक्त और आख्यानकार प्रेमानन्द के शिष्य

हुए और काव्यरचना करने लगे । इनका कण्ठ बहुत मधुर था, प्रायः कृष्णभक्ति के पद गाया करते थे ।

इन्होंने २५ ग्रंथ और २००० पद लिखे हैं, ऐसा श्री ह० द्वा० काँटावाला 'प्राचीन काव्यमाला' अंक ९ में कहते हैं। राधाकृष्ण-विषयक इनकी असंख्य रचनाएँ हैं। इन रचनाओं में प्रमुख है: 'द्वादश-मास', 'कृष्ण-पद', 'गोवर्धन-पूजा', 'राधिकावन-विवाह', 'दाण-लीला', 'कृष्ण-जन्मोत्सव' (१० पद), 'कृष्ण-भजन' (२४ पद), 'तिथि', 'सात वार', 'कृष्ण-लीला', (३२ पद), 'श्रृंगार-गरबी' (५), 'राधाविलास' इत्यादि। इन विपुल पदों की रचना द्वारकादास की प्रगाढ़ कृष्णभक्ति की परिचायक है। इनकी कई रचनाएँ 'बृहत् काव्य-दोहन' में प्रकाशित हुई हैं। इनके दो पद प्रस्तुत हैं:

(कृष्ण-कीर्तन)

आज नंदरायने घरे बधाई ।
प्रातः समे मोहन मुख निरखे,
सूरज जतो छपाई ।। आज०

व्रजनी नारी मंगल गाय छे, नंदभुवनमां आवी ।
आशिष देती यशोमति बालक,
राखो कोटि वर्ष देव न भावी ।। आज०

नित्य आनंद वधे छे वृंदावन, उपमा जाय न कावी ।
दास द्वारको कहे धन्य धन्य यशोदा,
विप्र गुरुए सान बतावी ।। आज०

'आज नन्दराय के घर बधाई है। प्रातःकाल मोहन का मुख देख सूर्य छिप जाता है। नन्दभुवन में आकर ब्रजनारी मंगल गीत गाती हैं। यशोमती के बालक को आशीष देती हैं–'हे देव ! कोटि वर्ष तक इसे बचा रखो।' वृंदावन में नित्य आनन्द बढ़ता है, इसकी उपमा कही नहीं जाती। द्वारकादास कहता है- यशोदा धन्य धन्य है। विप्र, गुरु ने सुबुद्धि बतायी ।'

(श्रृंगार-पद)

छांटे छे पिचकारी रे,
रंग भीनो रंगीलो, छांटे छें ।। टेक ।।

जुमनांनी तीरे ते हलधर वीरे,
खेल मच्यो अतिभारी रे । रंग०

भीनी शी चोली ने, हरि रमे होली,
केसर गागर शिर ढोळी रे ।। रंग०

कुमकुम केशर घोल्यां नेरोल्यां,
कस्तूरी रंग रेलो रे । रंग०

स्वामी द्वारकानो सखीओमां शोभे,
कुंज तणो बीहारो रे ।। रंग०

'रंगभीगा-रँगीला पिचकारी छोड़ता है। यमुना के तीर भाई हलधर ने अति भारी खेल मचाया है। चोली भीगी हुई है, हरि होली खेलते हैं, केसर की गगरी सिर पर उलट दी। कुमकुम-केसर घोल दिये और रगड़ दिये, कस्तूरी का रंग बहा दिया। द्वारका के स्वामी, कुंजबिहारी तो सखियों के बीच शोभते हैं।'

म. ई. प्र.

द्वारका भगत

द्वारका भगत का जीवनवृत्त अज्ञात रहा है। इनके सम्बन्ध में जो थोड़ी-सी सूचना प्राप्त होती है उससे ये सन् १७१० ई० के आस-पास विद्यमान ठहरते हैं। इनका मूल निवास था चरोतर (जिला खेड़ा) का भालेज ग्राम, किन्तु जीवन की उत्तरावस्था में ये वहाँ से आकर डाकोर में रहने लगे थे। इनकी रचनाओं में 'कृष्णलीला के पद', 'कृष्णकीर्तन के पद', 'श्रृंगार के पद', और 'भागवत दशम-स्कन्ध' मुख्य हैं। 'चेतावनी' नाम से इन्होंने आध्यात्मिक पद भी लिखे हैं।

'बृहत् काव्यदोहन' के ग्रन्थ २ और ६ में द्वारका भगत के 'कृष्णकीर्तन' के पद (संख्या : २७) एवं 'क्षणगार' के पद (संख्या : ५) संकलित हैं। द्वारकाजी किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं थे। इनके दो पद यहाँ प्रस्तुत हैं। प्रथम पद कृष्णकीर्तन-विषयक है और दूसरा है 'क्षणगार' (श्रृंगार) का:

(१)

जय जय श्रीजशोदाना नंद ।
कोटिकला श्रीवृंदावनचंद ॥

निगम विचारता न लहे पार ।
ते श्रीकृष्ण नरसंइने द्वार ॥

शेष सहस्रमुख करता उच्चार ।
ते ब्रजजन जीवन प्राणाधार ॥

लीलाए गिरि धर्यो हाथ ।
क्षतिपति तमे गोकुलनाथ ॥

अपार लीला कीधी स्वाम ।
आप्यां भक्तने पूरणधाम ॥

दुष्ट जनना फेड्या ताप ।
भक्तजनना काट्या संताप ॥

पांडवने उगार्या नाथ ।
कौरवकेरो फेड्यो साथ ॥

जदुकुलनो हरि कीधो घात ।
जोरावरनो कहुँ शी वात ॥

दास द्वारका मागे छे भक्ति ।
आपो हरि तरवानी शक्ति ॥

विप्रगुरु मेळवियो जेम ।
मुक्ति पदारथ आयो तेम ॥

'यशोदा के नन्द और कोटिकला वृन्दावनचन्द की जय हो, जय हो, वेद भी जिनका पार नहीं पाते, वे श्रीकृष्ण नरसी के द्वार आये। शेषनाग सहस्र मुखों से जिनका उच्चारण करते हैं, वे (श्रीकृष्ण) तो व्रजजन के जीवनप्राणाधार हैं। आपने लीलापूर्वक हाथ में गिरि धारण किया, आप तो क्षितिपति और गोकुल-नाथ हैं। आप स्वामी ने तो अपार लीला की, भक्त को पूर्णधाम दिया। (आपने) दुष्टजनों का ताप दूर किया और भक्तजनों के संताप काटे। हे नाथ ! आपने पाण्डवों को उबारा और कौरवों का साथ छोड़ दिया। यादव-कुल का आपने संहार किया, आप जैसे समर्थ की क्या बात कहूँ ? दास द्वारका भक्ति माँगता है। हे हरि ! तैरने की शक्ति दीजिये। जैसे विप्रगुरु पाये, वैसे मुक्ति-पदार्थ दीजिये।'

(२)

आधे अंतनी प्रीत छे मारे, करिये मोले न आवोजी ।

अबलानो अपराध न जोइअे, प्रेमे करोने बोलावो,
प्रथम पहेलुं अमृत पाइने, झेर हवे शीद पाओ जी ।
जल बिना जेवुं मीन बछोडवुं एम शीद तल साधो,
भात-भातनां फल अमूल्यक, हस हशे ते चरशे जी ॥

मोठा जलनुं माछलडुं ते, खारे जल केम ठरशे,
समस्यामो सौ समजी लेजो, झाझुं ते शुं कहीए जी ॥
दास द्वारकाना सामुं निहालो आवा कठण न थइए ॥

'मुझे तो आदि-अंत की प्रीति है। फिर भी आप कदापि मेरे महल में नहीं आते। अबला का अपराध मत देखिये, प्रेम से बुलाइये। सबसे पहले अमृत पिलाकर अब विष क्यों पिलाते हैं ? जल बिना जैसे मछली तड़पे, वैसे क्यों तड़पाते हैं ? भाँति-भाँति के अमूल्य फल हैं ? जो हंस होगा वह चखेगा। मीठे जल की मछली खारे पानी में क्यों रहेगी ? इस समस्या में सब कुछ समझ लेना, अधिक क्या कहें ? दास द्वारका के सामने देखिये, ऐसे कठिन (क्रूर) न होइये।'

म. ई. प्र.

धनदास

धनदास का जीवन-वृत्त अल्प-ज्ञात रहा है, केवल इच्छाराम सूर्यराम देसाई द्वारा संपादित 'बृहत् काव्य-दोहन' ग्रन्थ २ में उल्लेख मिलता है कि १८वीं शती के (सं० १७८३ में विद्यमान) कवि धनदास धन्धुका के निवासी और जाति से पाटीदार थे। इस पर 'कविचरित' के कर्त्ता के० का० शास्त्री लिखते हैं : सं० १७८३ में कवि की विद्यमानता संभव नहीं; क्योंकि इनके द्वारा रचित 'अर्जुन-गीता' की एक हस्तप्रति सं० १७२९ की प्राप्त होती है। गुजराती प्रेस, बम्बई के संग्रह में यह हस्तप्रति थी। इस आधार पर सिद्ध होता है कि कवि धनदास सं०

१७२९ के पूर्व हुए हैं। अतः ये सं० १७०० के लगभग विद्यमान ठहरते हैं।

धनदास-रचित 'अर्जुन-गीता' गुजरात में अतीव प्रसिद्ध है। ग्रामीण नर-नारियों में तो यह बहुत प्रचलित हुई। स्नान के बाद इस गीता का पाठ करने का भी नित्यक्रम कई लोगों में था। 'अर्जुन-गीता' का ध्रुववाक्य है— 'अर्जुन सुणो गीतासार, पांडव मानजो निरधार।' कवि ने समग्र भगवद्गीता का मर्म सरल शब्दों में समझा दिया है :

संसार मां सरसो रहे, ने मन मारो पास।
संसार मां लोपाय नहि, ते जाणे मारो दास ॥

इन पंतियों में कवि ने ज्ञानी-भक्त का स्वरूप प्रकट किया है।

धनदास की अन्य रचनाएँ हैं—भगवद्गीता, भक्तगीता, ज्ञानगीता और प्रकीर्ण पद। 'अर्जुन-गीता' के अतिरिक्त अन्य रचनाएँ प्रकाश में नहीं आयी हैं। के० का० शास्त्री कहते हैं कि 'भक्त अर्जुन को सम्बोधन करके रचित 'अर्जुन-गीता' ही संभवतः 'भक्त-गीता' है।'

धनदास की भाषा-शैली एवं भाव-भक्ति के निदर्शन के लिए यहाँ 'अर्जुनगीता' का अन्तिम अंश उद्धृत किया जाता है :

हुं जोगें यज्ञे नहि मळुं, नहि तप तीरथ के दान।
अर्जुन महिम जाण जो, मारु भक्ति थी छे ज्ञान ॥

हुं भक्तनो संगे फरुं, मने भक्तनो आधार।
अर्जुन-महिमा जाण जो, कहेतां न आवे पार ॥

हरिभक्त-महिमा सुणी अर्जुन, पायो हरख अपार।
मूर्च्छित थई अवनी पड्यो, नेत्रे बहे जलधार ॥

आ गीता नें जे अनुभवे, जे गाय नर नें नार।
अर्जुन एवुं जाण जो, ते पामे पद निरधार ॥

ए भक्त-महिमा माहरो, कोणे कव्यो नव जाय।
जेनुं भाग्य होय ते अनुभवे, धनदास गीता गाय ॥

'मैं यज्ञ-योग या तप-तीर्थ एवं दान से नहीं मिलता। अर्जुन! मेरी महिमा जानो, मेरा ज्ञान तो भक्ति से होता है। मैं भक्त के संग घूमता हूँ, मुझे भक्त का आधार है। अर्जुन! महिमा जानो, कहने में पार नहीं आती। हरिभक्त अर्जुन महिमा सुन अतीव हर्षित हुआ, मूर्च्छित हो धरा पर गिरा, नेत्रों से जल-धारा बहने लगी। इस गीता का अनुभव जो करे, जो नर या नारी इसका गान करे, वह निश्चय ही परम पद पायेगा। अर्जुन! जान लो कि मेरी महिमा किसीके द्वारा भी गम्य नहीं है, जिसका भाग्य हो वही अनुभव करता है। ऐसी गीता धनदास गाते हैं।'

म. ई. प्र.

धनराज

धनराज १६वीं शती के उत्तरार्ध में विद्यमान बताये जाते हैं। श्री के० का० शास्त्री के अनुसार इन्होंने खांडणा 'चतुर्वदन-रास', 'वेदपुराण-वाणी' आदि ग्रन्थों की रचना की थी। इनका प्रतिपाद्य विषय भक्तिमिश्रित ज्ञान है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

ता हरि नाम यम हणू रे, काल नूं कापुं शीष।
कर्म तणूं वन दाहणुं, आजं नरक अठावीस ॥

अं शु.

धर्मदास

धर्मदास का नाम 'प्राणनाथी' संतों में आता है। इनके जीवनी-सम्बन्धी तथ्य सर्वथा अज्ञात हैं। इनके लिखे फुटकर पद मिलते हैं। एक पद नीचे दिया जाता है :

खेलत सब ही सब मिल होरी ॥

सखी सहेली मिलकर आई, रंग-बिरंगी गोरी।
नवसत सजि सिंगार उमंगे, आई जुवतन जोरी ॥

परमधाम में प्रथम ही खेले, राधेश्याम की जोरी।
खेले ब्रज अरु अखंड रास में, जागनी रंग में बोरी।
"धरम" हाथ जो जोरी ॥

न. पं.

धीरो भगत

धीरो भगत का जन्म १७५३ ई० में सावली के समीप गोठडा नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम प्रताप बारोट तथा माता का देव बा था। ये जाति के ब्रह्मभट्ट थे। इन्होंने जीभाई विश्वनाथ शास्त्री से संस्कृत सीखी थी। बापू साहिब गायकवाड़ इनके शिष्य थे। इनका यश बहुत फैला हुआ था। ये जो पद लिखते थे, उन्हें या तो किसी तूँबी में या किसी पात्र में रख देते थे तथा भर जाने पर उसे नदी में बहा देते थे। जिस किसीको ये बहते हुए पद मिलते थे, वह उनका प्रचार करता था। इनकी बहुत-सी रचनाएँ हिन्दी में भी हैं। वेदान्त इनका प्रिय विषय था। आत्मज्ञान के पदों में इनकी तुलना अखा के साथ की जाती है। इन्होंने ज्ञान तथा वैराग्य की उत्तम रचनाएँ की हैं। इनके कुल का धर्म वैष्णव था और ये रामानन्द-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। सन् १८२५ ई० में इनका देहावसान हुआ।

इनकी २८ कृतियाँ मिलती हैं जो इस प्रकार हैं : 'रणयज्ञ' इसमें २५००० से लेकर ३०००० तक पद हैं। ज्ञानयज्ञ, मतवादी-आत्मबोध, गरबी, कुण्डलिया, योगमार्ग, प्रश्नोत्तरमालिका, अवलवाणी, अश्वमेध, रासलीला, फक्को, ज्ञानबत्तीसी, भक्तिपद-संग्रह, काफी, द्रोपदी-वस्त्राहरण, सुरतीबाईनो विवाह, गुरुप्रशंसा, शिष्यधर्म, धर्मविचार, मायानो महिमा, ईश्वर-स्तुति, स्वरूप, माया, मन, तृष्णा, लक्ष्मी, यौवन, गुरुधर्म तथा शिष्यधर्म।

इनका एक पद यहाँ उद्धृत है :

राग : धनाश्री

जगजीवन मने मोहन मलिया रे।
जन्म मणे ना मारा फेरा टलिया रे॥

आपे गुरु आपे शिष्य, जोया में ते जगदीश।
अन्तरजामी ईशना ईश, ब्रह्मो ब्रह्म भलियारे॥

मलचक्रथी आधे चढ़िया, गनीचक्रे आवे अडिया।
वैकुण्ठनी पारे पडिया, विष्णुवेणे पलिया रे॥

कैलास माँहे कल्लोल, आत्मराम झाकमसोल।
त्रिवेणी माँहें जो कोल, फेरा मारा फलिया रे॥

खटस एक बीस, हजार ऊर्धमुख संधाधार।
अखण्ड इंटनी पाल, बलवन्ता बलिया रे॥

सेन शिखर पर अमर अजर नर परम प्रभु विश्वंभर।
धोर धणी धरणोधर अठलक ढलिया रे॥

ल. पि. ग.

नरभेराम

नरभेराम का जन्म गुजरात प्रदेश के खेड़ा जिले में स्थित पीज गाँव में १७६८ ई० में हुआ था। ये मोढ ब्राह्मण थे। पुत्र का नाम था हरिभाई और गुरु का नाम छोटालाल। इनके माता-पिता के नाम अज्ञात हैं।

नरभेराम बचपन से ही रणछोड़जी की भक्ति में रँगे हुए थे। इसलिए इन्होंने जीवन के कई वर्ष रणछोड़जी के धाम द्वारका और डाकोर में बिताये थे। जीवन के अंतिम वर्षों में ये अहमदाबाद आ गये थे और गोमतीपुर की वडपोल में रहते थे।

नरभेराम अहर्निश कृष्ण-भक्ति में लीन रहते थे। सारा दिन ये भजन-कीर्तन करते और कृष्णप्रेम में खोये-से रहते थे। इनकी भक्ति का उन्माद सूफी-सन्तों जैसा था। इनका स्वभाव मस्ताना, निश्चिन्त एवं दृढ़ानुरागी था। प्रत्येक पूर्णिमा को डाकोर जाने का इनका नियम था। कभी-कभी ये भक्तमंडली के साथ भी जाते, रास्ते में कृष्ण-प्रेम के गीत गाते और उत्सव मनाते थे। इनके फुटकर पदों में निजी जीवन की घटनाओं का रोचक शैली में प्रस्तुतीकरण हुआ है।

एक बार ये द्वारका में गोमती-स्नान करने गये, तो पंडों ने इनसे कर माँगा। भक्त-कवि ने कर के बदले में एक पद रचकर दे दिया, जो बहुत प्रचलित है :

'नाणुं आपे नरभो रे, वावर जो छोगाळा।
गांठ बांध जो ताणी रे, धोळी धजावाला॥'

इसमें व्यंग्यपूर्ण शैली में भक्त ने द्वारकाधीश को उपालंभ दिया है।

गुरु छोटालाल ने इन्हें डाकोर के रणछोड़जी के उत्सवों में गाये जानेवाले पदों की रचना सिखायी थी। नरभेराम डाकोर और द्वारका में अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की सेवा-उपासना एवं स्तुति-भक्ति की पद-रचना करने में व्यस्त रहते थे। इन्होंने करीब २० की संख्या में काव्य-ग्रन्थ रचे हैं। एक बार डाकोर जाते समय लुटेरों ने इन्हें लूट लिया। इसके वर्णन में भक्त ने एक 'धोळ' लिखा। लुटेरे में भी नरभेराम ठाकुरजी के ही दर्शन करते हैं:

हींडी हाली ठाकोर आव्या
जन नरभानां वस्तर लीधां,
लोक कहे छे कोळीवाला।

'चलकर ठाकुरजी आये। दास नरभा के वस्त्र ले गये। लोग इन्हें लुटेरे कहते हैं।'

लूटे जाने पर पास के पणसोरा गाँव के लोगों ने धन इकट्ठा करके जो गया था उसका दसगुना नरभेराम को दे दिया।

गुजरात के सुप्रसिद्ध भक्त बोडाणा और उनकी पत्नी गंगाबाई दोनों भक्ति के प्रभाव से द्वारका नगरी के रणछोड़ राय की मूर्ति डाकोर लाये थे, यह कथा प्रसिद्ध है। इसी कथा को अमर बनाने के उद्देश्य से नरभेराम ने विपुल संख्या में 'बोडाणानी मूछनां पद' लिखे। बोडाणा ने अद्भुत कार्य किया था। इसीलिए इनकी मूँछ की प्रशस्ति में ये पद लिखे गये थे। पाँच प्रशंसनीय मूँछें बताते हुए नरभेराम ने लिखा है:

'मेहतो, बोडाणो, पुंडरिक त्रीजा, चोथा शुक जती।
पांचमी मूछ तो केनी वखाणु? लाव्यो गंगा भगीरथी॥

इनकी कृष्णभक्ति की उत्कष्टता भिन्न-भिन्न रूपों में इनके पदों में अभिव्यक्त हुई है। श्रीकृष्ण में इनकी प्रबल श्रद्धा-भक्ति नरसी का स्मरण कराती है। ये कहते हैं: **'जिह्वा मुखमां साजी छे तो, छोगालोजी त्रुठ्यो वाला'**। यदि भक्ति में दृढ़ लगन है तो श्रीकृष्ण प्रसन्न क्यों न हों? 'दामोदरबन्धन' काव्य में, यशोदा कृष्ण को पकड़कर बन्धनग्रस्त बनाती हैं। इसका हृदयस्पर्शी चित्रण नरभेराम ने किया है। **'राधा कृष्ण ने रास साँभली, सूके वृक्षे थाय अंकुर हो'**। यही अटूट श्रद्धा नरभेराम की कविता का ताना-बाना है। आनन्दकन्द श्रीकृष्ण के लीला-गान में भक्त-कवि के मनोरथ पूर्ण हो गये, अब उसे पुनः देह धारण करने की आवश्यकता नहीं रही:

जन नरभाना कोउ पूरण प्रभु,
फरी नव धरवी आ देह रे।

६९ वर्ष की आयु में, सन् १८५२ ई० में परलोक प्रयाण करते समय भी इन्होंने कृष्ण-विषयक दो पद रचे। इन अन्तिम पदों से ज्ञात होता है कि इनका देहावसान अहमदाबाद के गोमतीपुर में हुआ था।

इनकी रचनाएँ हैं: 'बोडाणा-चरित', 'भीष्म-स्तुति', 'कंसवध', 'रासलीला', 'गजेन्द्रमोक्ष', 'बोडाणीनी मूछनां पद', 'सतभामानुं रुसणु', 'कृष्णविनोद', 'नागदमन', 'शामलशाहनो विवाह', 'उद्धवजीनो सन्देशो', 'दामोदरबन्धन', 'रणछोड़-स्तुति', 'हरिभजननां पद', 'द्वारकानाथनी छापनां पद' आदि। इन सभी रचनाओं में नरभेराम की कृष्ण-निष्ठा सरल बानी में अभिव्यक्त हुई है।

नरभेराम की भक्ति-भावना-निर्देशक दो पद नीचे दिये जाते हैं:

(१)

मीठलडी तारी मोरलीमां, जो मोहे छे माहावा,
गोकुळियानी नारी, झुरे छे कां रहेवुं,
मुने जे कहे ते सहेवुं, मारे दुःखडुं कोण आगळ कहेवुं।
मारे सासुनी सुळी, हने माथे मुको पुळी,

एने जमडा लेशे सुमुळी,
वाहालो नरभेरामना स्वामी, अंवरनो अंतर ज पामो,
हुं तो पूरण पद महा पामो ।

'हे कृष्ण ! तेरी मधुर मुरली में गोकुल की नारियाँ मोहित हो तड़पती हैं। अब कैसे कहाँ रहें ? मुझे जैसा कहें, यह तो अब सहना ही है, अपना दुःख किसके आगे बताऊँ ? सास तो मेरे लिए शूली है। उसके माथे पर पूली रख दो (उसे तो जला दो)। उसे यमराज समूची ही ले जायेंगे। नरभेराम के स्वामी प्रियतम श्रीकृष्ण, जो अन्तरात्मास्वरूप हैं, का रहस्य समझकर मैंने तो महापूर्ण-पद पा लिया है।'

(२)

मूछ बोडाणा केरी रे, विश्व बाधुं भालो ।
रखे जाणो कहयुं नरभे रे, बोल्यो छे ए छोगाळो ॥

पांगलो ते पर्वत ओलंगे. जेने प्रसन्न जदुराय ।
तरणानो मरु मेरु नुं तरणुं, बिंदुमां सिंधु समाय ॥

समरथ एवो रे एक कोरे डाकोरवालो ।
कोई कहेशो जे कृपा निर्धन ने, केम करी जदुराय ।
धनवंतनो खप जो करे त्यारे, विदुर घेर शोद जाय ॥

अमृत थी अधिक रे, भाजीमां राजी गोपालो ।
विप्र सुदामा ने कृपा करी हती, ते हजु संभारे लोक ।
निर्धन नरसैयानी हुंडी स्वीकारी,
गणी गणीने आप्या थोक ॥

निर्धन सारु रे, धश्यो अणवर पालो ।

नव लक्ष वांक नर नरभाना मोटा,
ते धणीह कर्या ज्यारे माफ,
कहे छे जन नरभा रे,
प्रीते हरि चरण झालो ।

'समग्र विश्व बोडाणा की मूंछ देखे। यह न समझो कि यह नरभा ने कहा है, यह तो श्रीकृष्ण स्वयं बोले हैं। डाकोर के कृष्ण तो ऐसे समर्थ हैं कि वे तृण में मेरु और मेरु में तृण हैं, बूंद में सिन्धु हैं। ऐसा कोई बताये कि यदुराय ने निर्धन पर कृपा क्यों की ? धनवन्त की आवश्यकता की स्थिति में वे विदुर के घर क्यों गये ? गोपालकृष्ण तो अमृत से उत्कृष्ट साग में प्रसन्न रहते हैं। विप्र सुदामा पर जो कृपा की थी उसका स्मरण आज भी लोग करते हैं। निर्धन भक्त नरसी की हुंडी स्वीकार करके गिन-गिनकर रुपयों की थैलियाँ दे दीं। अनाथ के सेवक तो निर्धन के लिए दौड़े। नरभा के बड़े-बड़े नव लाख दोष स्वामी कृष्ण ने क्षमा कर दिये। यह नरभा कहता है कि प्रीतिपूर्वक हरि के चरण ग्रहण करो।'

म. ई. प्र.

नरमणि

वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित नरमणि का मूल नाम नरोत्तमदास जेठाभाई संपत था। इनका जन्म भाटिया-परिवार में सन् १८८० ई० में अमरेली में हुआ था। पिताजी बम्बई में व्यवसाय करते थे। पाँच वर्ष की अल्पायु में ही नरमणि का 'ब्रह्मसम्बन्ध' हो गया। पिताजी के निधन के पश्चात् मोरवी में बुआजी के घर रहकर इन्होंने मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त की। दो वर्ष कॉलेज में पढ़ने के बाद शिक्षक बने। ये अवकाश के समय संस्कृत का अभ्यास करके उसके काव्यों का परिशीलन करते थे। सन् १९०१ ई० में इनका विवाह हुआ। सन् १९०५ से १९३२ तक इन्होंने बम्बई में रुई का व्यवसाय किया। बम्बई में श्री नरहरि विष्णु गोडसे की पाठशाला में इन्होंने गीता, भागवत आदि का गहन अध्ययन किया और साधक-बुद्धि के प्रताप से नरसी मेहता और दयाराम के सदृश पद्य-रचना करने लगे। निवृत्त होकर इन्होंने तिब्बत, बदरीनारायण, ब्रह्मदेश आदि की पैदल यात्रा की। यात्रास्थलों पर ये भागवत-पारायण करते थे। बम्बई में घाटकोपर में निवास करके गीता और भागवत पर कीर्तन-प्रवचन करते थे। इनका कण्ठ मधुर था और वाणी भी आकर्षक थी। सन् १९६४ में इन्होंने 'अक्षरधाम' पाया।

इन्होंने अपनी प्रौढ़ रचनाओं का संग्रह स्वयं किया है। इनके कीर्तनों में आत्मानंद की झाँकी मिलती है। इनके कीर्तन-संग्रह 'मधुपान कीजिये' में उच्च प्रकार की व्यवहार-बुद्धि एवं कर्म-भक्ति-ज्ञान की त्रिवेणी का संगम है। इनके कीर्तन-पद भगवद्गीता पर प्रवचन-सदृश हैं। श्रीकृष्ण परमात्मा पूर्ण प्रेम-स्वरूप हैं, अतः नरमणि प्रभुप्राप्ति-हेतु ज्ञान से भाव-भक्ति अथवा प्रेमाभक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं। इनके अनुसार प्रेमप्राप्ति का सहज-सरल मार्ग है 'अहं' का त्याग। ये कहते हैं :

प्रेमस्वरूप पोते प्रभु, घट-घट करत निवास।
हुँ पण छोड्ये भक्त ने दर्शन देता खास।।

• • •

जग-सागर मंथन तणो, भक्ति-माखण सार।
देह व्रजपति कृष्णनो एज अमित आहार।।

नरमणि वल्लभाचार्यजी के शुद्धाद्वैत के समर्थक थे। इनकी वानी का सारतत्त्व है: सर्वं खलु इदं ब्रह्म। इनकी दृष्टि में जीव ब्रह्म नहीं है, किन्तु जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव है और परमात्मा श्रीकृष्ण प्रेमस्वरूप हैं :

हुँ हरि नथी पण छउं हरिनो, एज साचुं ज्ञान छे।
ब्रह्मास्मि शंख वजाडनारा, शठ अगर नादान छे।।

सात्त्विक वृत्ति से परमात्मा श्रीकृष्ण की शरणागति, सत्संग और सद्गुरु का सेवन यह नरमणि-प्रबोधित साधनामार्ग है। नरमणि की एक रचना दर्शनीय है :

विपुल आ विश्व साक्षात श्रीकृष्ण छे,
विश्वरूप कृष्णनी नित्य-सेवा थतां,
आत्मबल अधिक अममां विकासे।

लग्न ने संतति बे विषम वासना,
सर्पिणी-प्रकृतिए जगावी।
नरमणि प्रकृतिनो उपरवट रही,
ब्रह्म-निर्वाणमां सौख्य चाखो।

'यह विपुल विश्व साक्षात् श्रीकृष्ण है। विश्वरूप कृष्ण की नित्यसेवा होने से हममें अधिक आत्मबल का विकास होता है। विवाह और संतति दो विषम वासनाएँ हैं, जो सर्पिणी प्रकृति ने जगायी हैं। नरमणि कहते हैं कि प्रकृति के ऊपर उठकर ब्रह्म-निर्वाण में आनंद का रसास्वादन कीजिये।'

म. ई. प्र.

नरसिंह मेहता

गुजरात के राधा-कृष्णभक्तों में मूर्धन्य स्थान के अधिकारी, सारे भारत में ख्यातिप्राप्त एवं गुजराती-साहित्य के आदिकवि के रूप में सम्मानित तथा अत्यधिक लोकप्रिय भक्त नरसिंह मेहता का जन्म सौराष्ट्र में जूनागढ़ के पास तळाजा गाँव के एक वडनगरा ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके जीवन-काल के सम्बन्ध में समालोचकों में मतभेद हैं। आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव और कन्हैयालाल मुंशी के मतानुसार नरसिंह मेहता का जीवनकाल सन् १४८४ से १५५० ई० तक का है, किन्तु बाद में यह मत निराधार सिद्ध हुआ। जूनागढ़ के मांडलिक (सन् १४५१-७२ ई०) की समकालीनता के आधार पर नरसिंह का समय सन् १४१० से १४८० ई० तक बताया जाता है। यही सर्वाधिक मान्य मत है।

नरसिंह मेहता ही एक ऐसे भक्त हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में जीवन की प्रमुख घटनाओं का सविस्तर वर्णन किया है। अतः अन्तःसाक्ष्य के आधार पर नरसिंह के जीवनवृत्त-विषयक पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। इनके पितामह का नाम विष्णुदास या परसोतम था। पिता का नाम था कृष्ण दामोदर (कृष्ण) और माता का नाम था दयाकुंवरि (दया कौर)। नरसिंह के चाचा परबत मेहता कृष्णभक्त के रूप में प्रसिद्ध हैं। बचपन में ही नरसिंह माता-पिता की छत्रच्छाया से वंचित हो गये थे। इसलिए इन्हें अपने भाई वंशीधर (मंगलजी या जीवणराम) और भाभी झवेरी महेती के यहाँ जूनागढ़ में आश्रय लेना पड़ा था। नरसिंह का विवाह

माणेकबाई के साथ हुआ था। इन्हें दो सन्तानें हुईं—'शामळशा' नामक पुत्र और 'कुंवरबाई' नामक पुत्री।

ये प्रारंभ से ही पढ़ाई, पुरुषार्थ और सांसारिक कार्यों को छोड़ साधु-सन्तों के संग और भजन-कीर्तन में निरंतर लीन रहते थे। इनकी ऐसी प्रवृत्ति से क्रुद्ध हो भाभी ने इन्हें एक दिन ताना मारा और कटु-वचन सुनाये। अतः नरसिंह घर छोड़ जंगल में भाग गये।

जंगल में नरसिंह ने अपूज शिवलिंग की आराधना करके शिवजी को प्रसन्न किया। शिवजी ने इन्हें रासलीला के दर्शन कराये। इस चमत्कारपूर्ण घटना में तथ्य हो या न हो, किन्तु इतना अवश्य प्रतीत होता है कि नरसिंह की आध्यात्मिक वृत्ति तथा अनुभूति बलवत्तर थी। श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त कर नरसिंह घर आये और भाभी से कहा :

धन्य भाभी तमें धन्य माता पिता,
कष्ट जाणी मने दया रे कीधी।
तमारी कृपाथी हरिहर भेटिया,
कृष्णजीए मारी सार लीधी॥

अब नरसिंह काम-धंधा छोड़ अपना समय कृष्ण के भजन-कीर्तन और गोपी-भाव से नृत्य करने में व्यतीत करने लगे। घर में निर्धनता बढ़ती गयी। पत्नी माणेक बाई इन्हें काम-धंधा करने के लिए समझातीं, किन्तु नरसिंह पर कुछ असर न होता था। ये तो गाते :

एवा रे अमे एवा रे एवा,
तमे कहो छो वळी तेया रे।
भक्ति करतां जो भ्रष्ट कहशो,
तो करशुं दामोदरनी सेवा रे॥

इस निर्धन कृष्णभक्त ने सन्तानों के विवाहादि की चिन्ता भी छोड़ दी और मात्र अपने आराध्य राधारमण कृष्ण पर अटल विश्वास रखा। जन-श्रुतियों के अनुसार इष्टदेव कृष्ण ने ही इनके पारिवारिक दायित्व का पूरी तरह निर्वाह किया था।

नरसिंह के जीवन के बारे में अनेक चमत्कारपूर्ण किंवदन्तियाँ जनसमाज में प्रचलित हैं। इन घटनाओं का निरूपण नरसिंह ने स्वयं अपनी रचनाओं में किया है। ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाओं से ज्ञात होता है कि इनकी आध्यात्मिक साधना उत्कृष्ट थी और ये संकट के समय सदैव श्रीकृष्ण के कृपापात्र बनते थे। ऐसी कुछ घटनाओं का विवरण नीचे दिया जाता है।

कहा जाता है कि तत्कालीन जूनागढ़ के राजवी शिवभक्त मांडलिक को किसी संन्यासी ने समझाया : 'नरसिंह तो कृष्ण-भक्ति और रासलीला के नाम पर स्त्रियों के साथ नाच-गान कर पाखण्ड-लीला कर रहा है, अतः उसकी परीक्षा करनी चाहिए।' राजा ने नरसिंह को बुलाया और कहा : 'मूर्ति के गले में पड़ा हुआ यह हार यदि तुम्हारे कण्ठ में आ जाय तो मैं जानूँ कि तुम सच्चे भक्त हो, नहीं तो पाखण्डी।' इस समय राजसभा में संन्यासी लोग और नरसिंह के बीच वाद-विवाद हुआ। किन्तु अन्त में श्रीकृष्ण ने स्वयं आकर नरसिंह को हार पहना दिया और सारी सभा चकित रह गयी। अपनी रचना 'हारमाला' में नरसिंह ने इस प्रसंग का वर्णन किया है। यह घटना सं० १५१२ के मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी रविवार को हुई थी।

एक बार जूनागढ़ में द्वारका जानेवाले यात्रियों के आग्रह से नरसिंह मेहता ने द्वारका के शेठ शामलशा (भगवान् द्वारकाधीश) के नाम पर सात सौ रुपए की 'हुंडी' लिख दी। कहा जाता है कि भक्त की लाज रखने के लिए श्रीकृष्ण ने वणिक् व्यापारी शामलशा का रूप धरकर हुंडी को स्वीकार किया था। 'हुंडी' नामक काव्य में नरसिंह ने इस घटना का वर्णन किया है।

इनकी पुत्री कुंवरबाई का 'मामेरा' श्रीकृष्ण भगवान् स्वयं करेंगे, पुत्र शामलदास के लग्न-प्रसंग पर श्रीकृष्ण अवश्वय उपस्थित रहेंगे, ऐसा अविचल

विश्वास भक्त नरसिंह ने अपनी रचनाओं 'शामलशानो विवाह' और 'मामेरु' में व्यक्त किया है। शामलदास के विवाह की चिन्ता माता को होती है, उस समय नरसिंह 'शेठ छे शामलो, सर्वंथी भलो, राख विश्वास, ने देशे आणी' कहकर पत्नी को धैर्य बँधाते हैं। अंततः वैसाख सुदी पंचमी बृहस्पतिवार सं० १४९६ को शामलदास के विवाह के अवसर पर लग्नस्थल वड़नगर में श्रीकृष्ण स्वयं उपस्थित होते हैं और विवाह का उत्सव धूमधाम से मनाते हैं। पुत्री कुंवरबाई के सीमंत के अवसर पर भगवान् श्रीकृष्ण शामलशा शेठ के रूप में उपस्थित हुए और उस का मामेरा अच्छी तरह सम्पन्न किया। नरसिह की कृति 'मामेरु' में इसका हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। इसी प्रकार पिताजी के श्राद्ध के अवसर पर भगवान् ने सहायता करके नरसिंह को चिन्तामुक्त किया था।

रस-कवि प्रेमानन्द ने भी नरसिंह के जीवन की इन चमत्कारी घटनाओं का निरूपण अपनी 'कुंवरबाई नुं मामरुं', 'नरसिंह महेताना बापनुं श्राध', 'शामलदासनो विवाह' और 'नरसिंह मेहतानी हूंडी' नामक रचनाओं में किया है। इनके अतिरिक्त विश्वनाथ जानी तथा अन्य कई कवियों ने इन्हीं घटनाओं के आधार पर रचनाएँ की हैं। भक्त नरसिंह के प्रभाव और प्रसिद्धि का यह प्रमाण है।

नरसिंह ने सच्चे वैष्णव के लक्षण चरितार्थ किये थे। इन्होंने वैष्णव की पहचान बताते हुए **'वैष्णव जन तो तेणे कहिये'** नामक पद लिखा, जो महात्मा गांधीजी को अत्यन्त प्रिय था। 'भक्ति के मार्ग में सभी समान हैं' ऐसी पवित्र भावना से ही नरसिंह अस्पृश्य माने जानेवाले हरिजनों के घर पर भजन-कीर्तन करने जाते थे। इनकी ऐसी प्रवृत्ति से चिढ़कर रूढ़िवादियों द्वारा इन्हें समाज से बहिष्कृत कर दिया गया। इसके बाद समाज और नागर ब्राह्मणों के द्वाराइन्हें अनेक कष्ट दिये गये। सजातियों के इस व्यवहार से व्यथित हो ये अपने एक पद में कहते हैं :

'निरधन ने वळी नात नागरी,
हरि न आपीश अवतार रे।'

फिर भी नरसिंह कृष्णभक्ति और श्रद्धा के मार्ग से विचलित नहीं हुए। इसीलिए कवि कलापी ने नरसिंह और मीरा को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कहा है :

'हतो नरसिंह हती मीरां, खरां इल्मी खरा शूरा।'

अब तक की खोजों से प्राप्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि नरसिंह मेहता पर 'वारकरी' सम्प्रदाय के भक्त नामदेव का बहुत प्रभाव है। इनके पदों में 'नामा म्हणे' कहा गया है और 'भणे नरसय्यो' की छाप व्यापक है। नरसिंह जैसे नामदेव को जानते हैं वैसे गीतगोविन्दकार जयदेव से भी भलीभाँति परिचित हैं। जयदेव की अष्टपदियों में 'भणति जयदेव' छाप प्रसिद्ध है। इस प्रकार नरसिंह पर जयदेव का स्पष्ट प्रभाव है। नरसिंह के 'झूलणा' पदों में कुछ स्थानों पर नामदेव के अभंगों की पंक्तियाँ मिलती हैं तथा जयदेव की अष्टपदियों की भी कुछ पंक्तियों की झलक प्राप्त होती है। ये भागवत पुराण और गीता से परिचित थे, इसके भी प्रमाण मिलते हैं। इनकी रास-सहस्रपदी तो स्पष्ट रूप से भागवत के दशमस्कन्ध के श्लोकों की छाया ग्रहण करके रची गयी है।

नरसिंह मेहता को 'भक्तिरस' कैसे मिला, इस विषय में एक स्थान पर वे स्वयं कहते हैं :

ए रस जाणे जबरलो रे जोगी, केवल मुनिवर जाणे रे।
शिव सनकादिक नारद जाणे, जेहने वेद बखाणे रे॥

के रस जाणे ब्रजनी रे गोपी के जे देव पीधो रे।
ऊगरतो रस ढलतो हतो नारसिंह ए गोंटी ने लीधो रे॥
(नरसिंह मेहता, पद ५–८)

नरसिंह की रचनाओं को चार मुख्य विभागों में बाँटा जा सकता है : (१) आत्मचरित के पद, (२) आख्यान-शैली की निरूपणात्मक लघु कृतियाँ, (३) ज्ञान-भक्तिनिरूपक एवं उपदेशात्मक पद और

(४) उल्लसित भावऊर्मियों से प्लावित आत्मळक्षी भावगीत। इन्होंने जिस प्रकार अपने भावगीतों में आत्माभिव्यक्ति की है, वैसे ही 'गीतगोविन्द' की शैली में रचित 'चातुरीओ' में भी अपने को व्यक्त किया है। आत्मचरितात्मक पदों में ये आर्तभक्त-के रूप में देखे जाते हैं। आत्मचरितात्मक काव्यों में इन्होंने अपनी आर्तभक्ति का निदर्शन सखीस्वरूप में कराया है :

प्रिय तुं, माधव कंथ-राहीवरा,
तुं बिना, कृष्ण जी, केने जाचुं ?
करम या भोग ते भोगव्ये छूट को
एक निश्चे तारी भक्ति मागुं।
(आत्मचरितनां काव्यो, पृष्ठ ३७)

'हारसमानां पदों' में इनकी उग्रता चरम सीमा तक पहुँची हुई है। इनके आख्यानमूलक छोटे-छोटे काव्य–'सुदामाचरित', 'दाणलीलानां पद,' निरूपणात्मक आत्मलक्षी 'चातुरीओं' तथा 'राससहस्रपदी' के पद महत्त्व के हैं। श्रीकृष्ण-जन्म-समय के 'श्रीकृष्ण-जन्म बधाईनां पद, 'बाललीलानां पद', तथा बसंतनां पद, और हीडोलानां पद, उन की विविध लीलाओं के द्योतक हैं।

ज्ञानी भक्त शैली के इनके पद कवित्व से भरपूर हैं, जिनमें वेदान्तसिद्धान्त-निरूपण के साथ ही उच्च कृष्ण-भक्ति का दर्शन होता है :

प्रेमरस पाने तुं, मोरना पीछ धर,
तत्त्व नुं टूपणुं तुच्छ लागे।
दूबला दोरनुं कुसके मन चले,
चतुरधा मुक्ति तेओ न मागे।
(नरसिह मेहता-काव्य-संग्रह, पृष्ठ ४७८)

अपने भाव-गीतों में तो ये खूब ही खिले हैं। उपरिनिर्दिष्ट पदों में, रासदर्शन, वसंत, हिंडोला, दाण, शृंगारमाला और चांदला के पद साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के ऊर्मि-गीत हैं।

हरि बिना रही न सकूं, मारी त्ह्याली,
पाहले नेण बाण वीध्युं रे।
चित्त चतुर्भुजे चोरी लीधुं
काहनडे कामण कीधुं रे॥
मन मारुं माहवजी श्यूं बांध्युं,
वाहलि वेण विभंगी वाध्योरे।
जमुनां तटि तरोवर छाया,
रास रमी गुण गायो रे॥
(रा. स. समुधार, पृष्ठ ५१८)

बसंत

वसंत रमिए रे, मारा वाला, वसंत रत्य छे रूडी।
कानजी रे, कांकणियां घडावो, ज्यम खालकावुं चूडी॥
एक एक पाए अधिक माहारे लाखीणी चूडो।
सामलिया शुं रंग भरय रमतां दीशुं छुं रूडी॥
यौवन बिना मान नव्य लहिए कुंकुम ना रंगरोल।
नारसियायो स्वामी भले मलियो करशुं झाकम झोल॥
(नरसिह मेहतानां पद, पृष्ठ ४८)

'शृंगार-माला' के पद रस से सरबोर हैं। उनमें इनकी आत्मलक्षिता चरम सीमा तक पहुँची है। एक नमूना देखें :

मारो नाथ न बोले बोल, अबोला मरिये रे।
हुं क्यम करी वेंठुं विजोग ? हवे शुं करिये रे॥
सांभल, सहियर, वीनती, आ दुःख केम सेहेवाये रे ?
मेली गया मुने मावजी, मारो जन्मारो क्यम जाये रे ?
शेरडीये सामो मले तो वाट मरोड़ी जाये रे।
ऊंचु जोउ त्यां नीचुं जुए, मलवाने विमासण था ये रे॥
मोर मुगट पीतांबर सोहिये, कुंडल झलके कान रे।
नरसैया यो स्वामो मल्यो रे, वहाले वालयां अयारा
बान रे॥
(नरसिंह मेहता-काव्यसंग्रह, पृष्ठ २६५)

चांदला

चांदलो घूंघटडामां झलके। ते जोइने पियुनुं मन मलके॥
कंठधरी बेहु बांहलडी रे, दरपण मांहे निहालुं रे।
ज्यम ज्यम रीझे शामलियो रे, त्यम त्यम संगे मालु रे॥

रोजडिये सुंदरवर पामी वामी वेदना भारो रें।
नारसियायो स्वामो रोज्य शुं हाव्यो, राखीश उर पट
धारी रे ॥

(नरसिंह महेतानां पद, पृष्ठ १७५-७६)

इन्होंने शृंगाररस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। इससे इनकी प्रतिभा का परिचय मिलता है। कवित्व के साथ ही इनका भक्त रूप सर्वत्र छाया हुआ है। इनकी भक्ति की श्रेष्ठता उनके आत्मव्यंजक पदों से प्रकट होती है। एक उदाहरण इस प्रकार है :

पासे रही ने पेहियो अनुभवे रस जेह।
जे हवी लीला नयणे दीठी में मुख गयो तेह ॥

दीवी माहरे करे दीधी नरसिया, निध जोई।
विलास गोकुलनाथ नो, भूतले गाजें सोई ॥

वळी अदकी करो करुणा आपियां करताल।
हुं सुखे लागो गान, प्रसन्न थया गोपाल ॥

भामनी माहे भली जयो, जेम सागर मांहे रतन्न।
माहारस मांहे झीलियो रे, प्रभुजी थया रे प्रसन्न ॥

भाव जणावे नयणा मां, ते उपजे मन मांहि।
माननी एठी ते मनावो, हूं दूती थईने त्यांहि ॥

(नरसिंह महेता, चातुरी, पृष्ठ २९-३०)

सम्पूर्ण भारत में अपने 'वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड़ पराई जाणे रे' पद के माध्यम से प्रसिद्ध नरसिंह मेहता गुजराती-साहित्य में भावोल्लासपूर्ण कीर्तन पद गानेवाले पहले भक्तकवि हैं। इनके बाद अनेक भक्तकवि हुए हैं, किन्तु इनकी तुलना में दयाराम, राजे, प्रेमानन्द, प्रेमसखी और ब्रह्मानन्द जैसे कवि भी कुछ नीचे की कक्षा में ही स्थान पाने योग्य हैं।

इनकी भक्ति-कविता में शृंगार के बाद हास्य, करुण, अद्‌भुत, बीभत्स और शांतरसों की अभिव्यक्ति हुई है। वह सहज अलंकारों से भी समृद्ध है। दयाराम को 'गरबिओं का सम्राट्' कहा जाता है, उनकी रचना का मूल स्रोत भी नरसिंह में देखने को मिलता है। इनके जो तीन गरबा प्राप्त हुए हैं वे उत्तम हैं। 'गरबा' शब्द नरसिंह जितना ही पुराना है, यह ध्यान देने योग्य है। वैसे इसका मूल स्रोत और भी प्राचीन है। 'गरबा' 'गर्भदीप' से बना है। मिट्टी की हाँड़ी में कई छेद करके उसके भीतर दीपक रखकर उसे भूमि पर या किसी स्त्री के सिर पर स्थापित करके उसके चतुर्दिक् नृत्य करते हुए गाये जानेवाले गीत 'गरबा' कहलाते हैं। इनमें मूलतः शक्ति की आराधना होती थी। बाद में शक्ति का स्थान राधा ने ले लिया।

नरसिंह की रचनाओं में भक्त-हृदय की सहज अभिव्यक्ति हुई है। इनकी 'शामळशानो विवाह', 'श्राद्ध', 'हूंडी' और 'मामेरुं' नामक रचनाएँ आत्म-चरित्रात्मक हैं। आपत्ति-काल में श्रीकृष्ण ने कैसी सहायता की, इसका इनमें मर्मस्पर्शी चित्रण है। इसके अतिरिक्त इनकी 'रास-सहस्रपदी', 'शृंगारमाळा', 'दाण-लीला', 'बाळलीला', 'चातुरीओ', 'बसंत के पद', 'हिंडोले के पद' 'श्रीकृष्ण-जन्म के पद' आदि रचनाओं में कृष्ण-गोपी–राधा-विहारलीला और कृष्ण-महिमा का अनूठा निरूपण हुआ है। इन्हीं पदों के माध्यम से भक्त नरसिंह राधाभाव या गोपीभाव से श्रीकृष्ण की रसमयी आराधना करते हैं। इन पदों में इनके हृदय की आकांक्षा, कृष्ण-विरह की तड़पन, मिलन-तृप्ति एवं माधुर्यसिक्त आसक्तिमय निर्मल प्रेमाभक्ति की हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है।

'राससहस्रपदी' में भक्तकवि ने कृष्ण-रासलीला का यथार्थ चित्रण रसमयी शैली में किया है। इन्होंने 'चातुरियाँ' में राधाकृष्ण के विहार के माध्यम से संयोग-वियोग शृंगार का रसास्वाद कराया है। 'शृंगारमाळा' के भक्ति-शृंगार के पदों में श्रीकृष्ण-गोपियों के रतिविलास का आलेखन है। नरसिंह प्रेमलक्षणा-भक्ति का कविता में गान करनेवाले

सर्वश्रेष्ठ गुजराती कवि हैं। गोपीभाव प्रकट करते हुए ये श्रीकृष्ण के साथ तद्रूप हो जाते हैं :

'पुरुष पुरुषातन लीन थयुं माहरुं,
सखीरूप थयो गीत गावा ।'

नरसिंह केवल भक्त नहीं, ज्ञानी-भक्त हैं। प्रेमलक्षणा-भक्ति के पदों में श्रीकृष्ण के साकार दर्शन के लिए विरहातुर 'गोपी-नरसैयो' ईश्वर के सच्चे स्वरूप को भी पहचानता है। ये अपने ज्ञान-वैराग्य के पदों में निराकार ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हैं : 'नेत्रविण निरखवो, रूपविण परखवो, वण जिह्वाए रस सरस पीवो।' 'अखिल ब्रह्माण्डमां एक तुं श्रीहरि' और 'वैष्णव-जन' के उद्‌गाता नरसिंह का श्रृंगार-वर्णन वस्तुतः मानुषी नहीं है। इनके भक्ति-श्रृंगार का सही मूल्यांकन करते हुए अनंतराय रावळ ने लिखा है :

'नरसिंह के मन में गोपियों अर्थात् वृत्तियों का आत्मा में रमण करना, रास और राधाकृष्ण का या कृष्ण-गोपियों का विहार, परमात्मा के साथ योग ही है।' इनके पदों के उन्मुक्त श्रृंगार में विषयासक्ति नहीं है। यह बात नरसिंह स्वयं बताते हैं :

तमें जाणो विषय-रस गायो मारे हरिशुं प्रेम उभराय।
हरिलीला शणगारज गातां विषयी नहीं कहेवाय ॥

नरसिंह द्वारा रचित प्रभात-पदों में चिन्तन और तत्त्वदर्शन निरूपित है : 'ज्यां लगी आत्मतत्त्व चिन्यो नहि, त्यांलगी साधना सर्व जूठी।' प्रभात-काव्यों में नरसिंह ने भाव-प्रतीकों के द्वारा भक्ति और तत्त्वज्ञान को एकरस कर दिया है। प्रेमलक्षणा-भक्ति के उद्‌गाता होने से ये ज्ञान से भक्ति को तथा तत्त्व की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्त्व देते हैं। ये कहते हैं :

'प्रेम रस पाने तुं मोरना पीछधर,
तत्त्वनुं टुंपणुं तुच्छ लागे ।'

इनके प्रभात-काव्य आज भी अनेक लोगों को कंठस्थ हैं। यह इनकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

नरसिंह ने आख्यान-शैली की 'सुदामा-चरित', 'हारमाळा', 'गोविन्द-गमन' और 'सुरत-संग्राम' नामक कृतियों का निर्माण किया है। इनमें 'गोविन्द-गमन' और 'सुरत-संग्राम' का कर्तृत्व सन्दिग्ध है।

गुजरात में श्रीराधा-कृष्ण की साम्प्रदायिकता-रहित निर्मल भक्ति का प्रचुर प्रसार करने का श्रेय नरसिंह मेहता को ही है।

इन की विशाल पदराशि में से यहाँ दो पद उद्‌धृत हैं :

प्रेमरस पाने तुं मोरना पीछधर,
तत्त्वनुं टुंपणुं तुच्छ लागे ।
दूबळा ढोरनुं कूशके मन चळे,
चतुरधा मुक्ति तेओ न मांगे ॥

प्रेमनी बात परीक्षित प्रीछ्यो नहीं
शुकजी ये समजो रस संताडयो ।
ज्ञान-वैराग्य करि, ग्रंथ पूरो करयो,
मुक्तिनो मार्ग सूधो देखाडयो ॥

मारी ने मुक्ति आपी घणा दैत्यने,
ज्ञानी विज्ञानी बहु मुनि रे जोगी ।
प्रेम ने जोग तो ब्रजतणी गोपिका,
अवर विरला कोई भक्त भोगी ॥

प्रेत ने मुक्ति तो, परम वल्लभ सदा,
हेतुना जीव ते हेतु त्रूठे ।
जन्मोजनम लीलारस गावतां,
लहाणनां बहाण हेम द्वार छूटे ॥

में ग्रह्यो हाथ गोपिनाथ गरवातणो,
अवर बीजुं कांइये न भावे ।
नरसैंयो महापती गाय छे गुण कथी,
जति सतीने तो स्वप्ने न आवे ॥

'हे मयूरपिच्छधारी, तू मुझे प्रेमरस पिला, क्योंकि तत्त्वज्ञान की बातें तो मुझे तुच्छ लगती हैं। दुर्बल पशु का मन तो छिलके पर ही चालित हो जाता है,

वे चतुर्धा मुक्ति नहीं माँगते। प्रेम की बात परीक्षित ने नहीं पहचानी। शुकजी ने यह समझकर रस छिपा दिया और ज्ञान-वैराग्य की बातें करके ग्रन्थ (भागवत) पूरा कर दिया और मुक्ति का सीधा मार्ग दिखा दिया। कृष्ण ने अनेक दैत्यों को मारकर मुक्ति दी, अनेक ज्ञानी-विज्ञानी और मुनि-जोगी हैं। किन्तु प्रेम के योग्य तो ब्रज की गोपिका ही हैं, दूसरे कोई विरले ही भक्त प्रेम के भोगी बनते हैं। प्रेतात्मा को तो सदैव मुक्ति परम प्रिय है, क्योंकि हेतु के जीव तो हेतु से ही प्रसन्न होते हैं। प्रतिजन्म लीलारस का गान करने से मेरे द्वार पर मानो आनन्द की नौकाएँ उमड़ पड़ी हैं। मैंने तो गौरवशील गोपीनाथ का हाथ-ग्रहण किया है, दूसरा कुछ भी मुझे नहीं भाता। यति और सती तो स्वप्न में भी न आयें, ऐसे महापति के गुण-गान नरसिंह करता है।'

हळवे हळवे हळवे हरजी, मारे मन्दिर आव्या रे।
मोटे मोटे मोटे में तो, मोतीडे वधाव्या रे॥

कीधुं कीधुं कीधुं मुजने, कांइक कामण कीधुं रे।
लीधुं लीधुं लीधुं मारं, चितडुं चोरी लीधुं रे॥

जागी जागी जागी हुं तो, हरि मुख जोवां जागी रे।
भागी भागी भागी मारा, भवनी भावर भागी रे॥

फूली फूली फूली हुं तो, हरिमुख जोइने फूली रे।
भूली भूली भूली मारा, घरनो धंधो भूली रे॥

पामी पामी पामी हुं तो, महापदवीने पामी रे।
मळियो मळियो मळियो मेहेता, नरसैवाचो स्वामी रे॥

'धीरे-धीरे हरजी (कृष्णजी) मेरे मन्दिर में आये। मैंने बड़े-बड़े मोतियों से उनका स्वागत किया। उन्होंने कुछ कामण (वशीकरण) किया और मेरा चित्त चुरा लिया, चुरा लिया, चुरा लिया। मैं हरिमुख देखने के लिए जाग उठी, जाग उठी, जाग उठी। मेरे भवसागर की उपाधि छूट गयी, छूट गयी, छूट गयी। मैं तो हरिमुख देख फूल उठी, फूल उठी, फूल उठी। मैं तो घर का धन्धा भूल गयी, भूल गयी, भूल गयी। मैंने तो महापद पा लिया, पा लिया, पा लिया। नरसिंह मेहता के स्वामी मुझे मिल गये, मिल गये, मिल गये।'

नरसिंह मेहता के कुछ पद मारवाड़ी एवं ब्रजभाषा में भी प्राप्त हैं। लोकप्रियता के कारण प्रायः सभी सन्तों की गेय वाणी देश और काल के अनुरूप परिवर्तित हो जाती है। नरसिंह इसके अपवाद नहीं हैं। इनके ऐसे तीन पद प्रस्तुत हैं:

भक्ति-महिमा

भूतल भक्ति पदारथ मोटूं,
ब्रह्मलोकमां नांही रे।
पुण्य करी अमरापुरि पाम्या,
अंते चोरासो मांही रे॥

हरिना जन तो मुक्ति न मांगे,
मांगे जन्मोजन्म अवतार रे।
नित्य सेवा, नित्य कीर्तन ओच्छव,
निरखवा नंदकुमार रे॥

भरतखंड भूतळमां जन्मी,
जेणे गोविंदना गुण गाया रे।
धन-धन रे ऐना माता-पिता ने,
सफळ करी एणे काया रे॥

धन वृंदावन, धन ए लीला,
धन ए ब्रजना वासी रे।
अष्ट महासिद्धि आंगणीए रे ऊभी,
मुक्ति छे एमनी दासी रे॥

ए रसनो स्वाद शंकर जाणे,
के आणे शुक जोगी रे।
कांइ एक जाणे ब्रजनी रे गोपी,
भणे नरसैंयो भोगी रे॥

वैष्णव के लक्षण

वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड पराई जाणे रे।
पर दुखे उपकार करे तोपे मन अभिमान न आणे रे॥
सकळ लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे कोनी रे।

वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे ॥
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री तेवो मात रे ।
जिह्वा जाके: असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे ॥
वण लोभी ने कपट रहित छे, काम-क्रोध निवार्या रे ।
भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करतां, कुल एकोतेर तार्या रे॥

श्रीकृष्ण का अनन्याश्रय

साधु साचे भजो, चरण गोविंदना,
मानवी देह ते तत्त्व कहिये ।
कृष्ण कहो, कृष्ण कहो, वळी-वळी कृष्ण कहो,
कृष्ण कहेतां सुख लहिये ॥

कृष्ण-सेवतणी अमर इच्छा करे,
मूढ़ मति मानवी कांइ न जाणे ।
कृष्णनु नाम रखे हृदयथी वीसरे,
धन्यमां धन्य कृष्णज प्रमाणे ॥

सकळ कल्याण श्रीकृष्णना चरणमां,
शरण आवे सुख पार होये ॥

जैने जोवा महामुनिजन वन भमे,
ते विठ्ठलो वनमां गायुं चारे ॥

भणे नरसैंयो जे चतुर नर ते खरो,
अहरनिश कृष्ण श्री कृष्ण ध्याये ॥

के. का. शा.
अं. श. ना.
म. ई. प्र.

नरहरिदास

नरहरिदास वडोदरा के निवासी थे । 'हस्तामलक' काव्य में इन्होंने अपना परिचय देते हुए लिखा है :

कविता नरहरिनाम जेह ।
लखत संत मन धारी स्नेह ॥
स्थानक वडोदरा वास ।
भक्ति-वैराग्य ज्ञान अभ्यास ॥

संवत सतरसो चैत्र शुद एकादसी ।
कथा माहारे मन बसी ॥

इनके विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है । किन्तु ये वेदान्ती कवि अखा के गुरुभाई थे, ऐसा माना जाता है । गुरुभाई होने का कोई ठोस प्रमाण तो नहीं मिलता है, समकालीन होने से और ज्ञान-मार्ग के अनुसरण की समानता से ऐसी मान्यता प्रचलित हुई है, ऐसी सम्भावना है ।

भक्त नरहरिदास ने विपुल साहित्य का सृजन किया है । इनके काव्य-ग्रन्थ निम्नलिखित हैं : प्रबोध-मंजरी, भगवद्गीता, वासिष्ठगीतासार, आनन्दरास, गोपी-उद्धव संवाद, ज्ञानगीता, कक्को, भक्त-मंजरी, संतना लक्षण, हरिलीलामृत एवं हस्तामलक ।

इनकी काव्य-सृष्टि की प्रधान विशेषता सरलता है । संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद होते हुए भी उसमें कहीं पर काठिन्य और अर्थ की दुरूहता दिखाई नहीं देती । इन्होंने अपनी रचनाएँ गुर्जर भाषा में प्रस्तुत की हैं । श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय १५ के प्रथम तीन श्लोकों को कितनी सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है :

अर्जुन ने कहे सारंगपाण ।
संसार वृक्ष तेह तुं जाण ॥
जैनां उर्ध्व मूल ने अधः छे डाल ।
संसार वृक्ष तेह तुं निहाल ॥

संसार वृक्ष जे देह तुं जाण ।
उर्ध्वमूल ते परब्रह्म प्रमाण ॥

विषय तेहना अंकुर मित्र ।
मूल तेहना वासना विचित्र ॥

राग-द्वेष अधः शाखा घणी ।
कर्मफल उर्ध्व शाखा ते तणी ॥

इनके 'वासिष्ठगीतासार', 'हस्तामलक', 'भक्ति-मंजरी' और 'हरिलीलामृत' आदि काव्य-ग्रन्थ संस्कृत से अनूदित हैं । स्वतंत्र काव्य-कृतियों में 'प्रबोधमंजरी', 'आनन्दरास', 'संतोना लक्षण' महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं । ज्ञानमार्गी होते हुए भी ये भक्ति की महत्ता पूर्ण रूप से स्वीकार करते हैं । संतों के लक्षण बताते हुए ये कहते हैं :

आत्म दृष्टिअे अर्थ सर्व सरे ।
जीव भवार्णव सुखे उतरे ॥

सिद्धांतनु सिद्धांत एह जे ।
कीजे कृष्णचिंतन रे ॥

हरिशरण मन निश्चल थै कहे ।
ने हरि हरि निरंतर कहे ॥

जे फल तजि हरिनी सेवा करे ।
ते निज भक्त महापुरुष उच्चरे ॥

श्रीमद्भगवद्गीता के पद्यानुवाद में भी कवि ने श्रीकृष्ण के मनोहारी सौन्दर्य का वर्णन किया है :

सवा स्वरुपनुं करवुं स्मर्ण । जे जलधर श्याम सपर्ण ॥
पीतांबर पहेर्या अतिसार । मुकुट कुंडल करे झलकार ॥
सुंदर कपोल, अने शुक्ल केश। सुंदर कर्णनासिका नरेश॥

सुंदर हास्य श्रीकांतनुं होय ।
जन उपरे कृपा दृष्टि होय ॥
मृगमउ तिलक सोहे अति भाल ।
कमलनयन मुख प्रेमरसाल ॥

अधर प्रवाल दंत दाडमकली ।
मुख पद्म ज्यम मधुकर आवली ॥

कंठ कौस्तुभ वैजयंती माल ।
ते ग्रीवाए शोभ निर्पाण ॥

कर कंकण कटि सूत्र मोतीहार ।
अंगद भूषण नेपुर झनकार ॥

सनकादिक प्रमुख मुनि जेह ।
जय जय शब्द करे सर्व तेह ॥

चरण कमल युगल अति सार ।
जेनी लक्ष्मी सेवा करे निर्धार ॥

छत्र चामर पाटका सिंहासन ।
अनेक उपहार ग्रही रह्या राजन ॥

पार्षद गरुड़ अने नंद सुनंद ।
सेवक तणां ऊभां छे वृंद ॥

श्री वत्सलांछन शोभा घणी ।
सुंदरवर वैकुंठनो धणी ॥

चंपकमाला तुलसीवनमाल ।
ते समरथी भक्ते तत्काल ॥

अं. शं. ना.

नरहरिदास रोहडिया

भक्त कवि नरहरिदासजी का जन्म राजस्थान के जोधपुर जिले के अन्तर्गत टेला नामक गाँव में चारण जाति के महान् कविवर लखाणी बारहट्ठ के यहाँ वि० सं० १६०० के अन्तिम चरण में हुआ था । इनके पिता लखाणी बारहट्ठ को मुगल बादशाह अकबर के दरबार में बहुत सम्मान मिला था । वे जोधपुर के महाराज सूरसिंहजी के भी प्रीति-भाजन थे । लखाणी बारहट्ठ कवि, वीर योद्धा तथा दानवीर के रूप में राजपूताने के इतिहास में विख्यात हैं ।

नरहरिदास को बाल्यावस्था में अत्यन्त ही होनहार एवं तेजस्वी जानकर इनके पिता ने इनकी शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था की थी । पूर्वजन्म के पुण्यों के प्रभाव से ये भगवान् की कथाओं तथा शास्त्रों के प्रति बहुत आकर्षित रहते थे । ये बाल्य-काल से ही भगवान् के भक्त थे । कविता इन्हें विरासत में मिली थी तथा विद्वत्ता इन्होंने बड़े परिश्रम से अर्जित की थी । इनके गुरु गिरिधरदास दीक्षित व्याकरणाचार्य, अष्टावधानी एवं तत्त्ववेत्ता थे । गुरु की सेवा, भक्ति- साधना तथा सन्निष्ठा से इन्होंने काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, श्रीमद्भागवत, महाभारत, वाल्मीकि रामायण, वेद तथा उपनिषदों का अध्ययन-अभ्यास किया । पिता की लाखों की चल-अचल सम्पत्ति होते हुए भी इनका हृदय सम्पत्ति के उपभोग में आनन्द नहीं मानता था । जन्म से ही ये वीतराग थे । पूजा-पाठ, सत्संग, कथा-श्रवण में ये सदैव लगे रहते थे । इनके संस्कारों, भक्ति तथा कवित्व का संपर्क में आनेवाले राजा-महाराजाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा । जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह का इनके प्रति पूज्य-भाव व गुरु-भाव रहा ।

श्रीमद्भागवत तथा वाल्मीकि रामायण का अभ्यास करने के पश्चात् इन्हें ऐसा लगा कि भगवान्

की लीलाओं का वर्णन प्रामाणिक रूप से हिन्दी भाषा में किया जाय तो बहुत अच्छा हो। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर उन्होंने 'अवतार-चरित्र' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें भगवान् के चौबीसों अवतारों की कथा का वर्णन सरल, किन्तु ओजपूर्ण भाषा में किया गया है।

इन्होंने पुष्कर क्षेत्र में 'अवतार-चरित्र' की रचना आरम्भ की। इस ग्रन्थ का लेखन बादशाह शाहजहाँ के समय में संवत् १७७७ ई० में आषाढ़ बदी अष्टमी मंगलवार को पूर्ण हुआ, ऐसा इन्होंने ग्रन्थ के अन्त में उल्लेख किया है। 'अवतार-चरित्र' की इन्होंने एक सौ प्रतियाँ लिखवाईं तथा उन्हें भिन्न-भिन्न स्थानों को भेजा। इस कार्य में इनके एक लाख रुपये खर्च हुए। इससे इनकी निःस्पृहता तथा निष्ठा का प्रमाण मिलता है।

नरहरिदासजी अत्यन्त विनम्र थे। 'अवतार-चरित्र' के आरम्भ में इन्होंने अपना दैन्य निवेदन करते हुए लिखा है :

चारण जाति सु बारहट्ठ, नरहरि मति अनुसार।
मैं सायर पैरन लह्यौ, कहन चरित्र अवतार॥

अखिल भारतवर्ष के हिन्दी-अहिन्दी काव्यप्रदेश के भक्त भूषण, असाधारण काव्य-प्रतिभा और भगवद्भक्ति के कारण अपने जीवनकालमें ही इन्होंने कितना सम्मान प्राप्त कर लिया था, इसका अनुमान इनके सम्बन्ध में प्रचलित जनश्रुतियों से लगाया जा सकता है। एक बार काशीपुरी के विद्याभिमानी पंडितों ने 'अवतार-चरित्र' की अवज्ञा की। यह समाचार नरहरिदास को मिला। वे वाराणसी पहुँचे। विद्वानों को इन्होंने एकत्र किया और कहा : "आप सब काशीनगरी के अपराजित पण्डितराजों ने मेरे ग्रन्थ को अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया, इस कलंक का निवारण करने के लिए दूसरे सभी प्रयत्न तो निष्फल प्रतीत होते हैं, किन्तु आप वन्दनीय पुरुषों को प्रतीति कराने का एक ही मार्ग मुझे ठीक लगता है। काशी भगवान् शंकर की पुरी है। सदाशिव तो सत्य के साधक हैं। आप अपने शुद्ध संस्कृत भाषा के ग्रन्थों को विश्वनाथ-मन्दिर में ले आयें। उन सब ग्रन्थों के नीचे आप 'अवतार-चरित्र' रखें। रात्रिभर शिवालय में रखे रहने के पश्चात् भगवान् शिव की साक्षी में यदि 'अवतार-चरित्र' आप सबके ग्रन्थों के ऊपर रखा मिले तो आप इसे प्रामाणिक मानियेगा।"

इस परीक्षा-प्रणाली को विद्वानों ने मान लिया। इसके पश्चात् उन्होंने पाया कि 'अवतार-चरित्र' सब ग्रन्थों के ऊपर रखा है। विद्वानों ने नरहरिदास का जयघोष करते हुए इस ग्रन्थ का सविधि पूजन किया।

नरहरिदास का देहावसान वि० सं० १७७७ के आसपास माना जाता है। इनके 'अवतार-चरित्र' से श्रीकृष्णावतार-संबंधी उल्लेखनीय काव्यांश प्रस्तुत है। इसमें गोपियों की विरह-वेदना का स्वाभाविक चित्रण हुआ है :

उर कम्पित सूखत अधर, ढरत नयन जलधार।
गदगद सुर गोपांगना, बाढ़े स्वास-विकार॥

विलपति ढूंढ़ती सघन बन, बनिता विह्वल बानि।
यासों विरह विषाद अति, इहां मिली सब आनि॥

नरहरिदास का शृंगार-रस-वर्णन अत्यन्त मर्यादापूर्ण है। उसमें कहीं भी अश्लीलता देखने में नहीं आती। जीवन-स्थिति के विविध भेदों का चित्रण करने में भी नरहरिदास ने बड़ी कुशलता दिखाई है। इन्होंने अपनी रचना में हास, शोक, उदासीनता आत्मग्लानि, बाल-विनोद, क्रोध आदि विभिन्न मनःस्थितियों के अनुरूप भावों को व्यक्त किया है। शोक की सुन्दर व्यंजना इन्होंने गोपियों की दशा के वर्णन में की है :

गद्गद कंठ तोक गहराई।
काहू पै कछु कह्यो न जाई॥
ढरत नैन अविरल जलधारा।
कृष्ण! कृष्ण! हा कृष्ण पुकारा॥

गोपियों की हृदय-विदारक दशा को देखकर उद्धव भी रो पड़ते हैं :

ऊधौ रोवत जाहिं चढ़े रथ।
पुनि दृग मूँदि चले मथुरा-पथ॥

ब्रह्माजी द्वारा श्रीकृष्ण की जो स्तुति की गयी है, उसकी शैली अत्यंत सरल तथा प्रभावपूर्ण है;

सापराध हैं त्रिभुवन स्वामी।
जग करता तुम अन्तरयामी॥

हैं अग्यान अबुध अपराधी।
सठ तव माया चाहत साधी॥

मम बल विक्रम सफल बिलाये।
राखहु त्राहि-त्राहि जदुराये॥

श्रीकृष्णावतार के आरम्भ में बाल-विनोद का वर्णन कवि की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति का परिचायक है :

तब मिलि आंखिमिचनिया खेलत।
सटपट दुरंत बोच गहि झेलत॥

चढ़ि चढ़ि शाखा वृक्ष चलावत।
हठिहठि कुसुमित लता हलावत॥

खखत मल्लजुद्ध कोउ खेलत।
प्रबल अंस अंसनि धर पेलत॥

बनि गजराज मत्त कोउ बानक।
तरतर साख झांपि बुंकारत॥

ल. पिं. ग.

नवरंग स्वामी

स्वामी प्राणनाथ की कुरान सम्बन्धी भावना के पक्षपातियों में से स्वामी लालदास प्रमुख थे, उसी प्रकार शास्त्रपक्ष में नवरंग स्वामी का प्रमुख रूप से नाम लिया जाता है। प्राणनाथजी के प्रति इनका पूरा प्रेम और आदर भाव रहा है।

मुकुन्दस्वामी 'नवरंग' का जन्म ज्येष्ठ-कृष्णा नवमी बुधवार सं० १७०५ (१६४८ ई०) में सूरत (गुजरात) में हुआ था। इनके पिता राधवजी एक धनी व्यापारी थे। इनकी माता का नाम कुंवरबाई था। स्वामी प्राणनाथ की सूरत-यात्रा के समय ये उनके उपदेश पर मुग्ध हो गये थे और २५ वर्ष की आयु में इन्होंने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। २२वर्ष तक ये प्राणनाथ जी के साथ रहें और गुरुसेवा करते रहे। प्राणनाथ के देह-विलय के बाद ये उदयपुर चले गए। उदयपुर के महाराणा इनके शिष्य हो गये थे। इतना निश्चित है कि राजस्थान में प्रणामी-सम्प्रदाय के प्रचार और प्रसार का मुख्य श्रेय इन्हीं को है। सम्प्रदाय में इनके तीन ग्रंथोंको आदरपूर्ण स्थान प्राप्त है—१. बीतक २. रससागर ३. सुन्दर-सागर। साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की समीक्षा से सम्बद्ध इनका 'गुरुशिष्य-संवाद' भी प्रसिद्ध है।

उनकी 'बीतक' कब और कहाँ लिखी गयी, इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता। 'बीतक' में श्रीकृष्ण, गुरु देवचन्द्रजी और प्राणनाथजीका जीवन चित्रित किया गया है। इनकी 'गुरुशिष्य संवाद' रचना में नवरंगजी के प्रश्न और प्राणनाथ के उत्तरों का समावेश हुआ है। इस प्रश्नोत्तर में क्षर, अक्षर और अक्षरातीत पूर्णब्रह्म तीनों के स्वरूप, स्थान, धाम-लीला आदि का निरूपण किया गया है। 'अखंड-भूमिका' में महारास लीला का वर्णंन करने के बाद रास-समाप्ति इस प्रकार हुई है :

'नवल-किशोर नागर, नवल-किशोरी सखि संग।
बिहरे रास विलास निज, भजनानंद रस रंग॥
ब्रह्म रात्रि पूर्ण भई, भयो प्रातः प्रकाश।
यह देख श्री कृष्ण प्रिया, निवृत्त भई कर रास॥

'रससागर' में इनकी माधुर्योपासना का स्वरूप झलकता है। कृष्णवियोग से गोपिकाओं को दुःख हुआ। एक गोपिका अपने प्रियतम कृष्ण से बिनती करती है—

कब हम नैन मिलावसी, चरण तली सिद्ध सार।
दृष्टशीतल सुख उपजे, मेरे आतम के आधार॥

कब हम नखमणि निरखेंगे, भूषण झलहलकार ।
चरण तले कब बसेंगे, मेरे आतम के आधार ।।

विरह इनको प्रिय है, क्योंकि उस विरह के कारण ही पिंडब्रह्मांड में खो जाने पर प्रियतम-मिलन का सौभाग्य मिला है ।

नवरंग स्वामी के कुछ पदों का प्रकाशन प्रणामी-धर्म पत्रिका (रस सागर अंक, खीजड़ा मंदिर, जामनगर—गुजरात) से हो चुका है ।

न पं.

नाकर

भक्त नाकर के जीवनकाल के संबंध में विद्वानों में मतभेद है । 'हरिश्चन्द्राख्यान' में प्राप्त आत्मोल्लेख से यह सिद्ध होता है कि ये बड़ोदा के निवासी और वैश्य जाति के थे । इनके पिता का नाम विकाजी तथा गुरु का नाम हरिभट्ट था । स्वयं संस्कृत के जानकार न होने पर भी इन्होंने विद्याव्यासंग करके और गुरुमुख से महाभारत पुराणादि की कथा बार-बार सुनकर अपनी विशिष्ट काव्य-शैली में उसका पद्यानुवाद किया था । आख्यानादि लिखने के पीछे कवि का एक महान् उद्देश्य था । उनकी रचना करके ये लोकप्रचारहेतु कथावाचक ब्राह्मणों को दे देते थे । इनके घनिष्ट नागरमित्र मदनसुत प्रसिद्ध कथाकार थे । अपने मित्र की आजीविका के लिए ही अत्यंत निःस्पृहभाव से कवि नाकर ने महाभारत के विविध पर्वों और आख्यानों की रचना की थी । इन कृतियों की भाषा सरल तथा संस्कारी होने के कारण जनमानस के लिए अत्यंत आकर्षक सिद्ध हुई । इससे ये बहुत लोकप्रिय हुए ।

इन्होंने कवि 'भालण' की ही काव्य-पद्धति का अनुसरण किया है और आख्यान-परंपरा को आगे बढ़ाया है । श्रीकृष्ण की लीलामाधुरी का गुणानुगान करनेवाले कवि नाकर की कुल मिलाकर १९ से भी अधिक रचनाएँ प्राप्त होती हैं । मुख्य रचनाएँ इस प्रकार हैं :—कृष्णविष्टि, ध्रुवाख्यान, भ्रमरगीत, ओखाहरण, कर्णचरित, शिवविवाह, चंद्रहासाख्यान, लवकुशाख्यान, सुधन्वाखयान, नानीभक्तभाल, भागवत-दशमस्कंध, अभिमन्यु आख्यान, मोरध्वजाख्यान, सुदामाचरित, महाभारत (आदि, गदा, सभा तथा आरण्यकपर्व) आदि ।

काव्य-सर्जना और बहुकृतित्व की दृष्टि से नाकर अन्य कवियों से आगे निकल जाते हैं । इनका विशेष प्रदेय तो इनके अनुगामी कवियों के लिए है । इन्होंने महाकवि प्रेमानंद जैसे समर्थ कवियों के लिए भी पर्याप्त मात्रा में काव्य-सामग्री प्रदत्त की है । इनकी रचना का एक उदाहरण देखिये :

'एम राधा ने रघुनाथ सोगठे रम्यां रे···
गरबो गाइए तो क्यहीए हारिए नहीं रे,
राधा कृष्ण जी ने चरणे तो रहीए सही रे ।'····

अं. शं. ना.
ल. पिं. ग.

नाथ स्वामी

नाथ स्वामी डाकोर में रहते थे । इनका जीवनवृत्त अज्ञात है । इच्छाराम सूर्यराम देसाई संपादित 'बृहत् काव्यदोहन' ग्रंथ-६ में नाथ स्वामी के राधाकृष्ण-विषयक 'प्रेमचातुरी' के पद प्रकट हुए हैं । उन्हीं में से एक पद यहाँ उद्धृत है :

आंखडी ते कामणगारीजी,
तमारी आंखडी ते कामणगारो जी ।

आंखडीए ते आडो आंक ज वाल्यो,
मोही सकलव्रीज नारी जी ।

सोलसें गोपीनों वाहालो,
न होय बालब्रह्मचारी जी ।

वन में जई वहाले वेण वगाडी,
मारी छे प्रेमकटारी जी ।
मोर मुकट पीतांबर सोहीये,
कुंडल की छबी न्यारी जी ।
दास नाथ रे प्रभु मोरी लज्जा राखो,
तनमन करुं बलिहारी जी ।।

'आँख तो अत्यन्त मोहक है, तुम्हारी आँखतो मोहमयी है। आंख ने तो गजब कर दिया, व्रज की सकल नारियाँ मोहित हो गयीं। सोलह सौ गोपियों का प्रीतम बालब्रह्मचारी नहीं हो सकता। वन में जाकर बालम ने वेणु बजायी, प्रेमकटारी मार दी है। मोर-मुकुट और पीताम्बर शोभते हैं, कुंडल की तो छबि ही निराली है। आपके दास नाथ कहते हैं—'हे प्रभु! मेरी लज्जा रखो। मैं तन-मन न्यौछावर कर देता हूँ।'

म. ई. प्र.

नानो भट

अहमदाबाद के जडवा पाटीदार नानो भट का समय १८वीं शताब्दी है। इनके जीवन के सम्बन्ध में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

नानो भट पदों और गरबियों के रचयिता माने जाते हैं। इनकी रचनाएं हैं:—'कृष्णना द्वादश मारूँ,' 'फागनां पद' (संख्या-६) 'थाल' (संख्या-४) 'कृष्णक्रीडानां पद' (संख्या-२), 'पद-संग्रह' आदि।

श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई संपादित बृहत् काव्य दोहन' ग्रन्थ-५ में नानो भट के कई पद प्रकाशित हुए हैं। पदों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ये प्रेमलक्षणा-भक्ति के उद्गाता हैं।

इनकी कृष्णभक्ति के अभिव्यंजक दो पद यहाँ उद्धृत हैं:

(१) गरबी (कृष्णक्रीडा-पद)

गोरसवाली गोपिका, ओ ऊभी रहे,
आपी जाने दान।
दाण अमारुं लागे छे, ओ ऊभी रहे,
बालम बोल्या दाण॥

संग सखा गोवालिया, ओ ऊभी रहे,
रोकी रहीशुं घाट।
गिरधारी कहे गेडिये ओ ऊभी रहे,
फोडुं महिनुं माट॥

लालाजी कहे लइशुं ओ ऊभी रहे,
नहिं रहे तारी लाज।
हरजी कहे हाथे कटी ओ ऊभी रहे,
उतारूं ते आज॥

माटे आपो आपशुं ओ ऊभी रहे,
मूकी मान गुमान।
नानाना स्वामी मल्या ओ ऊभी रहे,
नथी तुजने सान॥

'हे गोरसवाली गोपिका, रुक जा। दान देकर जा। वालम बचन बोले, अरे, रुक जा, हमारा दान लगता है। खड़ी रह, हमारे संग गोपमित्र हैं और हम घाट रोक देंगे। गिरधारी ने कहा: 'हे! रुक जा, हम गेंद से महीका मटका फोड़ेगें।' लालाजी ने कहा—'अरी खड़ी रह, हम तो लेंगे, तुम्हारी लज्जा नहीं रहेगी। हर जी कहते हैं, 'ए! रुक जा, हम तो आज अपने हाथों से उतारेंगे। इसलिए मान-गुमान छोड़ कर दीजिये हम भी देंगे।' नाना के स्वामी मिले। हे, खड़ी रह, तुझे सान-भान नहीं है।'

थाल

(२)

आज अमारे आंगणीर, श्री वृंदावन चंद,
जमावा आवोने।
प्रीतकरीने पूर्णानंद, उपजावुं आनंद,
जमावा आवोने॥

कढी वड़ी ने कालेरां, अरीआं मरीयां माय,
जमवा आवोने।
कमोदनो तो कुर कीधो लेजल सारी थाय,
जमवा आवोने॥

शाक तलयां शीरो, कर्यो पूटो ने पकवान,
जमवा आवोने।
जमुना जल झारी भरी, आचमन लोने हाथ,
जमवा आवोने॥

पान सोपारी पातलीया, लविंगतणो मुखवास
जमवा आवोने ।
आरोगीने उठतां आपे नानो दास,
जमवा आवोने ॥

'हे बृन्दावनचन्द ! आज हमारे आंगन में भोजन के लिए पधारिये । पूर्णानंद ! प्रेम से भोजन के लिए आइये, मैं आनन्द प्राप्त करूँ। कढ़ी, बड़ी और करेला है, भीतर अरी-मरी भी है । भोजन के लिए पधारिए । चावल का कुर किया है । स्वाद अच्छा होगा, भोजन को पधारिये । साग तेल में बनाया है । शीरा, पूरी और पकवान बनाये हैं । भोजन के लिए आइये । यमुना के जल से झारी भरी है, हाथ से आचमन लीजिए, भोजन के लिए पधारिये । हे पतले । भोजन करके उठने पर दास नानो पान, सुपारी और लौंग का मुखवास देता है । भोजन के लिए पधारिये ।'

म. ई. प्र.

नारायण

वल्लभाचार्य के पौत्र गोकुलनाथ के शिष्य नारायण के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में अपेक्षित जानकारी प्राप्त नहीं है । इनके द्वारा रचित 'नवरस' काव्य की एक हस्तलिखित प्रति सं० १७३३ के लगभग लिखी गयी प्राप्त होती है । अतः अनुमान होता है कि नारायण का समय १८ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है । इनके जन्मस्थान, माता-पिता आदि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है ।

नारायण की दो रचनाएँ प्रकाश में आयी है : 'नवरस' और 'कृष्णविवाह' । छगनलाल विद्याराम रावल द्वारा सम्पादित 'प्राचीन काव्यसुधा' (भाग-२) में नारायणदास का एक कृष्ण विषयक पद और 'वृहत् काव्यदोहन' (ग्रन्थ : ४) में नारायणदास रचित कृष्णकीर्तन के पद संगृहीत हैं । नारायण, नारायणदास और नारणदास तीनों एक हैं अथवा अलग-अलग, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता । के० का० शास्त्री ने 'कविचरित' (भाग-२) में नारायण के सम्बन्ध में संक्षिप्त आलोचना की है । नारायण ने 'नवरस' के ग्यारह पदों में कृष्ण-राधा-विहार के माध्यम से नवरस का शास्त्रीय ढंग से वर्णन किया है । नरसिंह मेहता ने मुख्यतः शृंगार का गान किया, तो नारायण ने सभी रसों की अभिव्यक्ति के द्वारा कृष्ण के जीवन की मार्मिक प्रस्तुति की है । अन्य राधाकृष्ण भक्त कवियों से नारायण की यह विलक्षणता है । इनके पदों में भाषा का रूप मध्यकालीन गुजराती का है । नारायण वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय में दीक्षित दशधा-भक्ति के रसिक भक्तकवि हैं, यह तथ्य इनके पदों से व्यंजित होता है ।

संस्कृत काव्य शास्त्र की रस-प्रक्रिया के अनुसार गुजराती काव्य में रस विवेचना करने वाले कवि दयाराम के लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व इन्होंने 'नवरस' में प्रथम बार रसमीमांसा का प्रयास किया था ।

नारायण की भाषा-शैली एवं भक्तिभावना के निदर्शन के लिए 'नवरस' काव्य का एक अंश यहाँ दिया जा रहा है :

वृन्दावनि व्याकुल विधुवदनी,
विरहवेदना व्यापी ।
तुम विण तिहां अनेक भडी देखी,
पीडे मन्मथ व्यापी ॥

वाहालाजी विरहवेदना व्यापी ।

प्रबल प्रलाप प्रले-पावक सम, प्रकट थई ज्वर पोषे ।
शीतल थावा स्नान करे तो, सरिता जल सोषे ॥

चंदन घशी कचोले घाली, सखी समीपे लावे ।
अंग अंग लागतां सूके ते, उपचार न फावे ॥

'वृन्दावन में चन्द्रवदनी व्याकुल हैं, विरहवेदना व्याप्त हुई है । तुम्हारे बिना वहाँ अनेक ज्वालाएँ देखीं । कामदेव व्याप्त हो पीड़ा पहुँचाता है । हे प्रीतमजी ! विरहवेदना फैल गयी है । प्रलयाग्नि के

समान प्रबल प्रलाप प्रकट हो ज्वर पुष्ट करता है। शीतल होने के लिए स्नान करें तो सरिता का जल सूख जाता है। सखी चन्दन घिस कचोरे में डाल पास लाती है, किन्तु अंगों पर लगते ही वह शुष्क हो जाता है। कोई उपचार काम नहीं करता।'

इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवि नरसिंह मेहता की झूलणा-काव्यपद्धति का भी अनुसरण किया है। इनका एक झूलणा प्रस्तुत है:

'प्रथम दरशन दुरालोक दिनमणि थया,
थया दिग्मूढ जड़ता जडाई।
वीसर्या देह गुण त्रेह गुरुजन कथा,
लोकपथ लाज लघुता बड़ाई॥

प्रकट रति भाव शृंगाररस बीज दृढ़,
स्नेहजल सींचता सफल थाये।
विरह संयोग सुख, श्याम श्यामा तणां।
दास नारायणो नित्य गाशे॥

इसी ग्रंथ में अन्यत्र ये गोपियों की विरह दशा का चित्रण करते हुए लिखते हैं:

सुंदरी रत्नशा यत्नथी बीसरे,
नीसरे हृदय थी कुण उपाये।
भुवन वनघाट जलघाट जमुना पुलिन,
ज्योति हों नयन पंथ प्रकट थाये॥

सुरत रसरंगभर अंग संगम बिना,
कामज्वर ज्वाल को केम नासे?
मलय मारुत यथा प्रबल पावक दहे,
शशि किरण तरणिथी अधिक लागे॥

कोकिला केकीकुल कीर मधुकर निकर,
करी कुलाहल करणसूल साधे।
केतकी कुसुम कोकनद, सौरभ सरस,
गरल सम तरल तनुताप बाधे॥

म. ई. प्र.
अं. शं. ना.

नारायण कवि

नारायण कवि का निवासस्थान भुज (सौराष्ट्र) था। ये वैष्णव भक्तकवि हैं। इनकी एकमात्र ज्ञात रचना है: 'भक्तमाल की टीका'। इनका समय अविदित है।

अ. शु

नारायण सिंह

नारायण सिंह नामक कृष्णभक्त अहमदाबाद के दरियापुर मुहल्ले में रहते थे। इनका समय संवत् १९४० के आसपास का है। ये अपने घर में राधा-कृष्ण की मूर्ति की सेवा करते और सुबह-शाम भागवत-कथा करते थे। श्रीकृष्ण का भजन-कीर्तन करना ही इनकी दिनचर्या थी। इनका कोई पद प्राप्त नहीं होता। राधाकृष्ण-कथाकार के रूप में ये प्रसिद्ध हैं।

म. ई. प्र.

नित्यानन्द स्वामी

नित्यानन्द स्वामी मूलतः बुन्देलखण्ड के दतिया नगर के निवासी थे। इनका पूर्वाश्रम का नाम 'दिनमणि' था। स्वामी सहजानन्द से प्रभावित होकर इन्होंने उनकी सेवा में अपना जीवन समर्पित कर दिया था। इनकी शिक्षा और शास्त्राभ्यास वाराणसी में हुआ। शास्त्रार्थ करने में ये बड़े निपुण माने जाते थे। स्वामिनारायण संप्रदाय में दीक्षित होने पर इनका नाम 'नित्यानंद' रखा गया। इन्होंने शास्त्रार्थ तथा प्रगाढ़ पांडित्य द्वारा संप्रदाय को सुदृढ़ दार्शनिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। स्वामिनारायण संप्रदाय के अष्ट सखाओं में ये शास्त्रज्ञान में सर्वोपरि थे।

इन्होंने भक्ति एवं दर्शन के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की है। इनमें मुख्य हैं: शाण्डिल्यसूत्र-भाष्य, वैकुण्ठ-दर्शन, हरिकवच तथा अवतार चरित। इनके अतिरिक्त इन्होंने भागवत के दशमस्कंध, विदुरनीति आदि का गुजराती में अनुवाद किया है। इन्होंने भगवान् स्वामिनारायण के 'वचनामृत' का

सम्पादन भी किया है। कुछ स्फुट पदों की रचना भी इन्होंने की है। इस तरह स्वामी नित्यानंद में विद्वत्ता, साधुता एवं भक्ति का त्रिवेणी संगम हुआ था। इनकी रचना-शैली का उदाहरण द्रष्टव्य है :

लग गई लगन मोरी लालन से,
इन बिनु कल न परे रे।
रूप शील गुन तेज निधानो,
जेहनी जन-मन मोहे रे।
नैन सैन मारत गिरधारी,
तन मन प्रान हरे रे।

अं. शं. ना.

निमानन्द

निमानन्द के जीवनवृत्त तथा कृतित्व सम्बन्धी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। नाम से ये कच्छ के भक्त प्रतीत होते हैं। बृहत् काव्यदोहन-ग्रंथ ५ में इनके कृष्ण-स्तुति विषयक दो पद प्रकाशित हुए हैं। एक पद के दो अंश यहाँ उद्धृत हैं :

कृष्ण कृष्णेति जगत पावन, भजत मन सौ दुख हरे।
गोपिजनना प्राणबल्लभ, कृष्ण भजतां सद्य तरे।
प्रेम कारण देह धारण, अंधनिवारण सुख भरे।
भक्त जनना दुख हर्ता, कृष्ण भजता सद्य तरे।
देव दानव मानवी नित कृष्णलीला चित धरे।
दास जननी आश पूरे, कृष्ण भजता सद्य तरे।
पांडवोना कोड पूर्या पांचालीना पट पूरे ।
दुष्ट सभामां लज्जा राखी, कृष्ण भजता सद्य तरे।
सत वंश आनंद व्यापे, भक्त जनने सुख भरे।
देवकी आनंदवर्धन, जशोदा घर उछरे ।
निमानंद घट घट व्यापक कृष्ण भजता सद्य तरे॥

'हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे जगत् पावन! ऐसे नाम यदि मन भजे तो (कृष्ण) सब दुख हर लेते हैं। गोपीजन के प्राणवल्लभ कृष्ण को भजने वाला तुरन्त मुक्त हो जाता है। कृष्ण तो प्रेम के कारण देह धारण करते हैं, अंधनिवारण करते हैं और सुख भर देते हैं। भक्त जन के दुखहर्ता कृष्ण को भजने वाला तुरन्त मुक्त हो जाता है। देव, दानव और मानव नित्य कृष्णलीला को चित्त में धारण करते हैं। दास जन की आशा पूर्ण करने वाले कृष्ण को जपने वाला सद्य तैर जाता है। कृष्ण ने पांडवों की मनीषा पूर्ण की, पांचाली को वस्त्र दिये और दुष्टों की सभा में द्रौपदी की लज्जा रखी। ऐसे कृष्ण को भजने वाला तत्क्षण तैर जाता है। कृष्ण तो संतवंश में आनन्द फैलाते हैं और भक्तजन को सुख से भर देते हैं।

देवकी के आनन्द में अभिवृद्धि करने वाले कृष्ण यशोदा के घर पलते हैं और वे घट-घट में व्यापक हैं। ऐसे कृष्ण को भजने वाला तुरन्त तैर जाता है।'

म. ई. प्र.

निर्मल देवी

निर्मल देवी ने श्रीराधाकृष्ण-विषयक प्रेमलक्षणा भक्ति में नित्य आसक्त हो एक विदुषी कवयित्री का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत किया है। इनकी जन्मभूमि सूर्यपुरी थी। पिता धीरजलाल ब्रजदास साँकलिया वकालत करते थे, जिनका कार्यक्षेत्र बम्बई था। वे परमकृष्ण-भक्त थे। अतः बचपन से ही निर्मल देवी में कृष्ण-भक्ति के संस्कार संक्रांत हुए। इनका समय सन् १९२५ के आसपास का है।

निर्मलदेवी ने वेदान्त, काव्य, दर्शनशास्त्र विषयक उपाधियाँ प्राप्त कीं। संस्कृत भाषा पर इनका अधिकार तो सचमुच विस्मयकारी था। एक महाविदुषी और कृष्णभक्त-कवयित्री के रूप में इनका व्यक्तित्व सदैव ओजस्वी रहा है। गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णचन्द्र इनके आराध्यदेव थे। राधा या श्यामा के भाव से इन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र की भावपूर्ण आराधना की और अपने पदों में श्रीकृष्ण-प्रेम की सरिता बहाई।

राधाकृष्ण-विषयक इनकी रचनाएँ हैं : 'निर्मल-रासोत्सव' (कृष्णपद-संग्रह), 'निर्मलश्यामरस' (कृष्णपद-संग्रह), निर्मलभावकुसुम' (कृष्णपदसंग्रह), निर्मलरसोत्सव; 'निर्मल आसव; 'निर्मलश्यामसुधा'

(हिन्दी), 'निर्मल-निर्झरी' (हिन्दी), 'निर्मल-ज्योति' (हिन्दी) आदि । इन्होंने अपनी रचनाएँ गुजराती, हिन्दीं और संस्कृत में की हैं ।

निर्मल देवी ने सौराष्ट्र को अपना कार्यक्षेत्र बनाया । भगवान् द्वारकाधीश के धाम द्वारका में भी इन्होंने निवास किया और राधाकृष्ण का सुन्दर मन्दिर बनवाया । बारह-चौदह वर्ष की आयु में ही ये दार्शनिक विषयों पर प्रवचन देने लगीं थीं। श्वेतवस्त्रधारिणी, इन्दुधवला एवं कोमलांगी निर्मला देवी मानो साक्षात् सरस्वती-स्वरूपा थीं। इन्होंने अपना सारा जोवन राधाकृष्ण के चरणों में समर्पित कर दिया था । विश्व उद्यान में नित्य श्रीकृष्ण के नाम के कुसुमों की माला गूँथना, उनके स्नेहसरोवर में स्नान करना, सखा कृष्ण के साथ गोष्ठी करना और सांसारिक कार्यों से विरक्त हो नित्य कृष्णप्रेम में मग्न रहना, यही इनकी जीवनचर्या थी ।

सं० १९९० में प्रयाग के कुंभ मेले में आयोजित व्याख्यान मंच से धाराप्रवाह संस्कृत में प्रवचन देकर निर्मल देवी ने श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया था । इस अभिनव-भारती के व्याख्यान-कौशल से बड़े-बड़े विद्वान् चमत्कृत हो जाते थे । इनकी वाणी और लेखनी में अद्‌भुत आकर्षण था । सचमुच ही निर्मल देवी आधुनिक गुजरात की मीरा थीं ।

अपने रासकाव्य-संग्रह 'निर्मलरासोत्सव' में निर्मल देवी ने भिन्न-भिन्न रूपों से आराध्य देव की लीला और उनके प्रति अपना भक्ति-भाव व्यक्त किया है । गुजराती के प्रसिद्ध साहित्यकार ज्योतीन्द्र ह० दवे 'निर्मलरासोत्सव' के सम्बन्ध में लिखते हैं—'यह तो निर्मल उत्सव-हृदय के भक्तिभाव से पूर्ण प्रेमलक्षणा भक्ति से अंकित ऐसे रसराज के रास का उत्सव है । निर्मल-रासोत्सव मानो रासेश्वर के निकट हमें ले जाता है । अर्वाचीन काल में निर्मल देवी मीरा के उस भजनधन की एकमात्र वारिस हैं, इस प्रकार भक्ति-काव्यों का अस्खलित प्रवाह बहाती हैं ।'

इनके प्रेमलक्षणा-भक्तिपूर्ण हृदय का दर्शन 'निर्मलभावकुसुम' में होता है । इसमें एक सौ ग्यारह छंद संगृहीत हैं । हृदय से स्वतः निःसृत यह काव्य-धारा छन्दोमुक्त है । महाकवि नानालाल की डोलन-शैली का प्रभाव इसपर दीखता है । भाषा में मार्दवता, आर्द्रता और कहीं-कहीं चिन्तन की गहनता भी है । संस्कृत-निष्ठता काव्य को अर्थघनत्व प्रदान करती है ।

निर्मल देवी अपने पदों में श्रीकृष्ण को 'रसो वै सः' के रूप में निरूपित करती हैं । इनके काव्यों में अलौकिक प्रेम का ही चित्रण है । मीरा का मन जैसे मोहन में था, वैसे निर्मल देवी का मन श्याम में है । नरसिंह मेहता और मीरा कृष्ण के अनन्य भक्त हैं, दयाराम गोपी हैं, तो निर्मल देवी श्रीकृष्ण की राधा हैं । देवी के निर्मल भाव राधाहृदय के ही भाव हैं । राधा की सम्पूर्ण हृदयानुभूति राधास्वरूपा देवी के यहाँ शब्दों में अंकित है । देवी सचमुच ही श्याम की हृदय-देवी है, 'श्याम की श्यामा' है । निर्मल के कई काव्य रागों में बद्ध हैं ।

'निर्मलश्यामरस' में १०२ रचनाएं गुजराती में, ४ हिन्दी में और ५ संस्कृत में हैं । इसमें विभाग इस प्रकार है—(१) निर्मलस्वरूप-७, (२) दिव्य-रसझरा-१३ पद, (३) श्याममुक्ता-९ पद, (४) रासनृत्य अभिनय-२० पद, (५) प्रार्थना प्रसून-१२ पद, (६) पावन-प्रेरणा -६ पद (७) करुणरस-९ पद, (८) विप्रयोग-१२ पद, (९) संयोगरस १४ पद, (१०) संस्कृत-५ पद ।

निर्मल देवी की एक गुजराती-रचना दर्शनीय है :

(श्याम-विश्राम)

(राग-भीमपलासी. त्रिताल ताल)

एक दिन मारे हैये रे कन्हैयो करे सुखे विश्राम !
(ध्रुवपद)

अहा आत्ममिलनना रासोत्सव थाये छे मुज हैये,
विश्व-बन्धु ज्यां ले विश्रान्ति, ते ले छे मुज उरे ।
....कन्हैयो०

अपार सुख, शांति अनंती, मुज रोम-रोम पुलकित,
नीरव मौने, पण प्रियगोष्ठी, मनहर सुर सुणावे ।
····कन्हैयो०

अहा आजे प्रियतम-मस्तक अपार शांति अर्पे,
कलम करे शुं कथनी एनी ? देवी श्यामरस छोलो ।।
···कन्हैयो०

'जिस प्रकार यशोदा की गोद में कोटि ब्रह्मांड-सहित बालकृष्ण खेलता है और यशोदा को आनन्द देता है, उसी प्रकार जिसके हृदय में समस्त विश्व विश्राम लेता है, वह श्याम निर्मल के हृदय पर आनन्द से विश्राम लेता है। निर्मल श्याम के हृदय के अगाध कोमल सुरों का श्रवण करके कृतार्थ होता है। राधाहृदय के सुर उसके साथ मिश्रित हो अत्यन्त गाढ़ रसमय गोष्ठी करते हैं। मानव-धरातल से बहुत ऊँची उठी यह दिव्यानुभूति है। देवी-श्याम के रस की अनिर्वचनीय रस-बौछारों का वर्णन कैसे कर सकूँ।'

निकुंजानन्ददोलिका (संस्कृत पद)

(तिलंगरागेण दादरातालेन गीयते)

दयित ! दोलय, दोलय दोलयाम ।···(ध्रुवपद)
सितश्यामपाटलप्रसूनैः
सर्जितायामान्दोलिकायाम् ।
धूसरधूमलपिशङ्कवर्णैः
विचित्रितायां सुदोलायां ।।
नीललोहितसुरभिसुमनोभिः
संलग्नायामान्दोलिकायाम् ।
कल्पतरौ बद्धशुभ्रगुणकैः
सम्बद्धायां सुदोलायाम् ।।
विराजस्व श्याम । कुसुमचयैः
भूषितायामान्दोलिकायाम् ।
अलिकागतालकान् दूरयन्त्या
निर्मलस्नेहदोलायाम् ।।

आपूज्यसे त्वं कुसुमगुच्छैः
श्रीव्रजहिन्दोलिकायाम् ।
पूर्णंरसपूर्णंवासदान्या
क्षिपामि जलं विपुवेल्याम् ।।
दोलायमाणौ रससिन्धुभंगैः
देवीश्यामौ सुदोलायाम् ।।
दयित ! दोलय, दोलय दोलयाम् ।
म. ई. प्र.

निरांत

वैष्णव-संत निरांत का जन्म संभवतः सन् १७७० ई० में बड़ौदा के पास देथाण गाँव में हुआ था। जाति से ये गोहिल कुल के राजपूत या पाटीदार थे। इनके पिता का नाम उमेदसिंह और माता का नाम हेताबा था। इनकी कुँवरबाई और सीताबा नामक दो पत्नियाँ थीं, इनसे इन्हें ८ या १२ संतानें हुईं। एक पुत्र का नाम नरेरदास (नरहरदास ?) था। निरांत का देहावसान सन् १८४६ ई० के आस-पास भाद्र पद, शुक्लाष्टमी को हुआ।

जीवन के पूर्वार्द्ध में ये सगुणोपासक एवं रणछोड़जी के परम भक्त थे। प्रत्येक पूर्णिमा को हाथ में तुलसी का पौधा लेकर बड़ौदा से रणछोड़राय के दर्शनार्थ पैदल डाकोर जाने का इनका नियम था। एकबार डाकोर जाते समय एक मुस्लिम सहयात्री ने भक्त निरांत को ताना मारा : 'परमात्मा तो तेरे पास है, फिर हाथ में तुलसी लेकर क्या ढूँढता-फिरता है ?' कहा जाता है कि इस बचन का मर्म समझ कर सगुण-भक्ति के उपासक भक्त निरांत निर्गुणोपासक बन गये। इस किंवदन्ती में सत्य हो या न हो, किन्तु इतना विदित होता है कि भक्त का मन जीवन की उत्तरावस्था में मूर्तिपूजा से उचट गया था और 'ब्रह्मज्ञान से मोक्ष मिलता है' यह सिद्धान्त इन्होंने अंगीकृत कर लिया था। अतएव इनकी कविता में सगुण एवं निर्गुण दोनों मतों की छाया दिखाई देती है।

निरांत का शिष्यमण्डल बड़ा था। इसमें १७ शिष्य थे जिनमें प्रमुख थे—बापूसाहब गायकवाड़। इन शिष्यों में वणारसी बाई, गिरजाबाई और जमना

बाई नाम की तीन स्त्रियाँ भी थीं। वणारसी बाई पद रचना भी करती थीं।

बाघोड़िया गाँव का मंछाराम नामक ब्राह्मण निरांत का प्रतिस्पर्धी था। निरांत ने सन् १८०१ ई० में वेदान्त-विषयक प्रश्न एक पत्र में कविता के रूप में लिखकर मंछाराम को भेजा। उसमें भक्त निरांत अपने को ब्राह्मण की पदरज के तुल्य बताकर अन्त में लिखते हैं :

संतो ने शरणे जे गयो तेनुं कारज सिद्ध थयुं।
नीरांत मंछारामशरणे, निरंतर अंतर गम्युं॥

मंछाराम ने पत्र का कोई उत्तर नहीं दिया और स्वयं निरांत के शिष्य बन गये।

निरांत के आध्यात्मिक गुरु रामानन्दी साधु गोकुलदास ने इन्हें 'नाम' का उपदेश दिया था। निरांत का भजनानन्द कार्यक्रम प्रशंसनीय था। अपने सत्रह शिष्यों को इन्होंने ज्ञान-गद्दी स्थापित करने का अधिकार दिया था। ये स्वभाव से स्वतंत्र, शान्त, विवेकी और उदार थे। ये बड़ौदा में प्रेमजी भगत के यहाँ प्रायः टिकते और बाड़ी में बनमाली कहानजी के चौक में अपनी बैठक रखते थे। भक्ति और ज्ञान का समन्वय करनेवाला इनका सम्प्रदाय निवृत्तिमार्गी है। गुजरात में आज भी इनके बहुत से अनुयायी हैं। इनके पद 'निरांतकाव्य' के रूप में प्रसिद्ध हैं। भक्त निरांत का बड़ौदा में एक मंदिर भी बना है।

निरांत ने साखी, कुण्डलिया और 'झूणा' नाम से 'धाले' के पद एवं अखा के सदृश छप्पय लिखे हैं। वार, तिथि एवं महीना पर भी इन्होंने लिखा है। सातबार पद (संख्या ७), बारह मास, तिथि पद (सं० ४६), कुण्डलिया, सवैया (सं० २५), ज्ञान-भक्ति के पद (सं० ११४), उपदेश-भक्ति के पद (सं० ४०), ज्ञानोपदेश के पद (सं० ४६) प्रकीर्ण पद (सं० १०) आदि इनकी रचनाएँ हैं। इनमें सगुण और निर्गुण भक्ति की भावमयी अभिव्यक्ति है। 'महिना' (मास) के पदों में बारह मासा शैली में हरि विरह का गान है। इनके प्रेमलक्षणा-भक्ति के भी पद मिलते हैं। गुर्जरी हिन्दी में भी इन्होंने पद रचना की है। इनकी कविता में उर्दू शब्दों की भरमार होते हुए भी भाषा शुद्ध और सरल है। वेदान्त-ज्ञान एवं कृष्ण-भक्ति का मानों समन्वय कर निरांत ने ज्ञानमार्गी कृष्णभक्त का स्वरूप प्रकट किया है। इनकी कृष्णभक्ति में उन्माद नहीं, अपितु ज्ञान की गरिमा एवं धीरता-गंभीरता है।

इनकी ज्ञान-भक्ति के व्यंजक दो पद दर्शनीय हैं :

(१)

सखी मुने व्हालो रे, सुन्दर श्यामळो रे,
शी कहुं व्यालपणानी बात।
विवेक ने स्वरूपी रे विसरता नथी रे,
पळ-पळ घड़ी-घड़ी दिन-रात॥

श्वास ने उच्छवासे रे, सखी मुने सांभरे रे,
भूधर उपर घणो रे भाव।
गोविंदने बिना रे, कइं गमतुं नथी,
लइये एना ललीतपणा नो ल्हाव॥

मनडुं रह्युं छे रे, सखी एने मोहीने रे,
चंचल चित्तडुं चाले नहीं।
आंखलडी तो रहे छे रे, एना उपरे रे,
ते तो व्हालो हृदयकमळ मांही॥

प्रभुजी पधारो रे, मन्दिर माहरे रे,
ते तो व्हालो वसीने रह्यो छे वास।
नोरांतना स्वामी रे, समरथ श्रीहरि रे,
पूरो मारा मनडा केरी आश॥

'सखी! मुझे तो सुन्दर श्याम प्यारा है। प्यार की तो क्या बात कहूँ? विवेक के साक्षात् स्वरूप भुलाये नहीं जाते। वह प्रतिपल और दिन-रात श्वास-उच्छवास में है। सखी! मुझे उनकी याद आती है। भूधर पर मुझे अत्यन्त भाव है। गोविंद के बिना कुछ भाता नहीं। उनके ललितपन का आनन्द हम लें। सखी, मेरा मन तो उस पर मुग्ध हुआ है,

चंचल चित्त का कोई वश नहीं। उसके ऊपर ही मेरी आँखें रहती हैं। प्रियतम तो मेरे हृदय-कमल में है। हे प्रभुजी! मेरे मन्दिर में पधारिये। उस प्रियतम ने तो मुझमें निवास किया है। निरांत के स्वामी एवं समर्थ श्रीहरि मेरे मन की आशा पूर्ण करें।'

(२)

धन्य-धन्य जीव्युं रें तेनुं जाणवुं,
जेणे गोविन्दना गुण गाया।
सेवा-स्मरण तेनुं सहु करे,
परमेश्वरनी पेरे पूजाया॥

रेह जवानो रे जूठो जाणवो,
मोहमायामां नव बंधाया।
जीवनमुक्त तेनें जाणवा,
आपे आप उलटमां समाया॥

फेरा फरी आव्या वारे-वारे,
मनुष्या देहनो महिमा मोटो।
सुर-नर सरखा एने चहाय रे,
स्वप्नावत संसार छे खोटो॥

जन्ममर्णनुं ऊोखम छे जीवने,
लक्ष चोराशी झेरा रे फरवा।
ऊँचो-नीची योनी आवियो,
महादुख जाणीं हरिवर वरवा॥

वारे-वारे वारे वंदु सतगुरु देवने,
अन्तर जामी ने ओळखाव्या।
व्हालो मनथी क्षणुं नव विसरे,
भावे भूधरजी मन भाव्या॥

मन कर्म वचने मांगो ते मले,
संत समागम करतां-करतां।
नीरांत निर्खो हरि नामने,
निर्भे थशो नाम समरतां॥

'जान लो कि जिसने गोविन्द के गुन गाये, उसका जीवन धन्य हो गया! सभी उसका सेवा-स्मरण करते हैं, वह तो परमेश्वर की भाँति पूजा जाता है। देह को खोटा और जानेवाला समझो। जो मोहमाया में बँधे नहीं हैं और स्वयं आनन्दमग्न हुए हैं, उन्हें जीवन्मुक्त समझो। बार-बार जन्म-मरण का चक्कर लगा कर आये हो। मनुष्य देह की महिमा तो बड़ी है। सुर और नर समान रूप से इसे चाहते हैं। संसार तो स्वप्न के समान खोटा है। जीव को जन्म-मृत्यु का भय है, उसे तो लक्ष चौरासी के फेरे करने हैं। वह ऊँची-नीची योनियों में आया है। महान् दुख जान कर हरि वर का वरण करो। अन्तःकरण में बैठकर जिन्होंने हरि की पहचान करायी उन सद्गुरु देव को मैं बार-बार बंदन करता हूँ। प्रियतम तो मन से एक क्षण भी विस्मृत नहीं होते। भूधरजी मन को भाव से भाये हैं। सन्त-समागम करते-करते मन, कर्म और वचन से जो माँगा जाय, वह मिलता है। नीरांत कहते हैं कि हरि के नाम को पहचानो, नाम का स्मरण करके निर्भय होओगे।'

म. ई. प्र.

निष्कुलानन्द

निष्कुलानन्द स्वामी का जन्म सौराष्ट्र में हलारी क्षेत्र के अन्तर्गत शेखपाट नामक गाँव में हुआ था। ये जाति से विश्वकर्मा (बढ़ई) थे। इनके पिता का नाम रामभाई था। रामभाई जन्मसिद्ध मुमुक्ष, विरक्त और सन्त-सेवा-परायण थे। वे रामानन्द स्वामी के गुरु स्वामी आत्मानन्दजी के शिष्य थे। रामभाई पहले लतीपुरे ग्राम में रहते थे, पर अन्य जनों द्वारा होती गुरु-निंदा सहन न होने से मूल गाँव को त्यागकर शेखपाट में आकर बस गये थे। ऐसे अनन्य शिष्य पर प्रसन्न होकर आत्मानन्दजी ने वरदान दिया था कि 'आपके यहाँ एक समर्थ भगवद्भक्त मुक्त पुरुष अवतार लेगा और अपने उपदेशामृत से कई मुमुक्षुओं का मार्गदर्शन करके अक्षय कीर्ति प्राप्त करेगा।'

इसके परिणामस्वरूप सं० १८२२ में रामभाई के घर पुत्ररत्न का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने पुत्र का नाम लालजी रखा। इनकी माता का नाम अमृत बा था। लालजी के अन्तःकरण में बाल्यावस्था से ही स्वधर्म

के प्रति दृढ़ अभिरुचि, वैराग्य की तीव्रता, आत्मज्ञान की उत्कट इच्छा और परमेश्वर के प्रति अनन्य भक्तिभाव उत्पन्न हो गया। पुत्र की ऐसी प्रवृत्ति देखकर पिता ने छोटी आयु में ही इनका पाणिग्रहण संस्कार करा दिया। इनकी पत्नी का नाम कंकु था। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् लोक व्यवहार में रहने पर भी ये जल कमलवत् अनासक्त रहे।

इसी समय ये अपने पिता के गुरु आत्मानन्द जी के शिष्य स्वामी रामानन्दजी के दर्शन करने लोज गये। पूर्व-संस्कार और सद्गुरु-समागम के कारण इनमें तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने त्यागी दीक्षा लेकर गुरु-सेवा में रहने की अभिलाषा व्यक्त की। लालजी की विरक्ति को जानकर रामानन्दजी ने समझा-बुझाकर इन्हें घर वापस भेजा तथा कहा कि आवश्यकता पड़ने पर बुला लेंगे।

जब सहजानन्दजी मुक्तानन्दजी को लोज में मिले थे, तब वे समाधि द्वारा अलौकिक ऐश्वर्य दिखाते थे। रामानन्द स्वामी से बढ़कर वर्णी की महत्ता फैलाना उनके गुरु के प्रति दृढ़ आसक्त मन को अच्छा नहीं लगा। अतः वर्णी की महत्ता कम कराने हेतु वे भुज गये, पर वहाँ रामानन्दजी ने वर्णी की सही पहचान कराकर उनका भ्रम दूर कर दिया। इसके बाद वर्णी (सहजानन्द) को भी सर्वकारण अवतारी भगवान् मानकर गुरु-आज्ञा से ये लोग वापस आये और गद्गद् कंठ से अश्रुपात के साथ उन्हें प्रणाम किया। प्रसन्न हुए वर्णी ने उन्हें वरदान दिया कि वैराग्य में शुकजी के समान बनोगे। इसके अनन्तर ये श्रीजी को ही भजने लगे।

जैतपुर में धर्मधुरा सौंपने के उत्सव के समय इन्होंने श्रीहरि को एक कलात्मक मंजूषा अर्पित की थी। रामानन्द स्वामी के स्वधाम जाने के समय भी ये सहजानन्दजी से मिले थे। इस प्रकार प्रत्येक उत्सव-प्रसंग पर ये श्रीहरि से मिलते थे।

सं० १८५६ में लालजी के घर पुत्ररत्न का जन्म हुआ। उनके पुत्र का नाम माधवजी था। इसके तीन वर्षों के बाद दूसरे पुत्र का जन्म सं० १८५९ में हुआ, जिसका नाम कानजी रखा गया।

एक बार श्रीहरि सोरठ होकर हालार क्षेत्र के शेखपाट गाँव में गये। यहाँ वे लालजी के घर कुछ दिन रुके और संत हरिभक्तों को एकत्रित करके सं० १८६० माघ सुदी पंचमी के दिन वसंतोत्सव का आयोजन किया।

कुछ दिन रहने के बाद श्रीहरि ने कच्छ में विचरण करने की इच्छा व्यक्त की और कहा 'अपने जैसा रास्ते को जाननेवाला व्यक्ति साथ में कर दो।' यह सुनकर लालजी स्वयं तैयार हो गये। चोरी के भय से कुछ धन जूते में सिलाकर और रास्ते के लिए भोजन तैयार कराकर लालजी भाई श्रीहरि के साथ चल पड़े। आगे रास्ते में चोर मिले। उन्होंने लालजी के कपड़ों की तलाशी ली, पर कुछ प्राप्त न करने पर उन्हें छोड़कर जाने लगे। इतने में श्रीहरि ने चोरों को रोककर लालजी भाई के जूते में सिलकर रखे धन को दिखा दिया। चोर धन पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। आगे कच्छ के रण में एक महापुरुष मिले। उन्होंने पानी की याचना की। श्रीहरि ने उन्हें पानी पिला दिया। आगे बढ़ने पर लालजी भाई तृषा से बहुत व्याकुल हुए, तब श्रीहरि ने समुद्र के नमकीन पानी को मीठा बनाकर उनकी तृषा बुझायी।

अंत में अघोइ ग्राम पहुंचकर श्री हरि ने कहाकि 'अब बहुत भूख लगी है। आप भिक्षा मांग लाइए। लालजी भाई ने कहा : 'इस गांव में मेरे जान पहचान वाले बहुत लोग रहते हैं। यदि मैं भिक्षा मांगने जाऊंगा तो वे मेरा उपहास करेंगे।' तब श्रीहरि ने ने कहा 'आपको पहचाने नहीं, ऐसा बना देंगे।' श्री हरि ने उनकी मूंछ और चोटी मुड़वाकर कौपीन और अलफी पहनाकर, दीक्षा देकर 'निष्कुलानन्द स्वामी' नाम रखा। तब निष्कुलानन्द भिक्षा ले आए और दोनों ने भोजन किया। इस प्रकार लालजी की त्यागी होने की इच्छा पूर्ण हुई। साधुता, स्वधर्म-पालन, तप,

त्याग, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि के वे आदर्श बन गये।

एक बार लालजी भाई के पुत्र माधवजी सपरिवार गढ़पुर आये। वहाँ निष्कुलानंदजी के दर्शन करने गये। संसार की असारता की बात मुनि से सुनकर उन्होंने साधु होने की इच्छा व्यक्त की। निष्कुलानन्द जी ने तुरन्त भगवा वस्त्र देकर उन्हें त्यागी धर्म की दीक्षा दे दी और 'गोविन्दानन्द' नाम रखा। इस प्रकार पिता-पुत्र दोनों त्यागी-धर्म में दीक्षित हो गये।

सं० १६०४ में घोलेरा में इनका अक्षर-निवास हुआ। इस समय इनकी उम्र ८२ वर्ष की थी।

निष्कुलानन्द स्वामी के भिन्न-भिन्न विषयों पर निर्मित निम्नलिखित ग्रंथ मिलते हैं :

(१) भक्त-चिंतामणि (२) यमदंड (३) सार-सिद्धि, (४) बचन-विधि, (५) हरिबल गीता, (६) धीरजाख्यान, (७) स्नेह-गीता, (८) पुरुषोत्तम गीता, (९) भक्ति-निधि (१०) हृदय-प्रकाश (११) कल्याण-निर्णय, (१२) मनगंजन, (१३) गुणग्राहक, (१४) चौंसठ-पदी. (१५) हरिविचरण, (१६ हरिस्मृति, (१७) अरजी-विनय, (१८) अवतारचिंतामणि, (१९) चिन्तामणि, (२०) पुष्पचिंतामाणि, (२१) लग्न-शकुनावली, (२२) वृत्ति-विवाह, (२३) शिक्षापत्री, (पद्यरूप)।

'भक्त-चिंतामणि' में श्री हरि के दिव्य चरित्रों का वर्णन किया गया है। 'यमदण्ड' में गर्भ, जन्म, जरा, मरण, यमयातना द्वारा लोगों में वैराग्य उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है। 'पुरुषोत्तम-प्रकाश' में श्री हरि की महत्ता का वर्णन है। 'स्नेहगीता' में भगवान् के प्रति स्नेह-भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है। 'वचन-विधि' में भगवान् के वचनानुसार आचरण करने की महत्ता दिखायी गई है। 'सार-सिद्धि' में भगवान् की मूर्ति को सभी तत्वों में सार रूप माना गया है। 'भक्ति-निधि' ग्रंथ में स्नेह और भक्ति की महत्ता दिखायी गयी है और प्रेमलक्षणा भक्ति की दशा को उच्चतर माना गया है। 'हरिबल गीता' में श्रीहरि की शक्ति को दर्शाया गया है। 'हृदय-प्रकाश' ग्रंथ में किस प्रकार हृदय को शुद्ध और स्वच्छ बनाया जा सकता है, इसका वर्णन है।

'धीरजाख्यान' का तात्पर्यार्थ यही है कि भगवान् रक्षा करते हैं। अतः भक्तों को चाहिए कि दुःख में धीरज रखें। 'हरिस्मृति' ग्रंथ में श्रीहरि की मूर्ति में मन की अखण्ड वृत्ति रखने की बात कही गयी है। 'चौंसठ-पदी' में संत-असंत के स्वरूप का वर्णन और असंत के त्याग की बात कही गयी है। उपर्युक्त सभी ग्रंथ गुजराती भाषा में लिखे गए हैं।

'मनगंजन' ग्रन्थ हिन्दी भाषा में लिखा गया है किन्तु उस पर गुजराती भाषा की छाप दृष्टिगोचर होती है। इस ग्रंथ में शरीर को नगर, जीव को राजा तथा निजमन व प्रतिकूल मन दोनों को राजा के प्रधान परामर्शदाता मानकर रूपक प्रस्तुत किया गया है। अंत में निजमन (शील, संतोष, विवेक आदि) की ही विजय दिखाई गई है। 'गुण ग्राहक' ग्रंथ की भी भाषा हिन्दी है। इसमें इस बात का निदर्शन है कि भगवान् गुण से प्रसन्न होते हैं और अवगुण से अप्रसन्न।

'हरि-विचरण' ग्रन्थ भी हिन्दी भाषा में लिखा गया है। मोक्ष का सबसे सरल उपाय भगवान् के गुण-नाम तथा चरित्रों का श्रवण मात्र है। अतः इस ग्रंथ में श्रीहरि के आविर्भाव से आरम्भ कर अंतर्धान होने तक का विवरण वर्णित है। 'अरजी विनय' हिन्दी भाषा का ग्रन्थ है, इसमें श्रीहरि की प्रार्थना की गयी है। 'कल्याण-निर्णय' की भाषा गुजराती है।

'चिह्न-चिंतामणि' ग्रंथ हिन्दी में है। इसमें श्रीजी के चरण में स्थित चिन्हों का वर्णन है। 'पुष्प-चिंतामणि' इसी प्रकार का हिन्दी ग्रन्थ है जिसमें ईश्वर को समर्पित करनेवाले फूलों का चितन किया गया है।

'शुभाशुभ-लग्न' में चिन्तन करने से शुभ-अशुभ फल प्राप्त होते हैं। अतः बारह लग्नों का शुभाशुभ के फल के साथ वर्णन किया गया है।

'शिक्षापत्री भाषा' गुजराती में लिखा हुआ ग्रंथ है। इसमें वर्णाश्रम के सामान्य धर्म, आचार्य, गृहस्थ, सत्संगी, सधवा-विधवा स्त्रियों के विशेष धर्म तथा साधुओं, ब्रह्मचारियों के धर्म दिये गये हैं।

'वृत्ति-विवाह' में विवाह में गाये जाने वाले सांसारिक गीतों की जगह पर भगवान् सम्बन्धी गीत गाने का वर्णन है। इसके अतिरिक्त त्याग, वैराग्य और ज्ञानमूर्ति स्वामी सहजानन्द के लीला-चरित्र के पद भी लिखे हैं जिनकी संख्या दो हजार के करीब है। इनमें श्रीहरि स्वामी को वैराग्य-मूर्ति कहा गया है :

जुवो विचारी आ सोबन सारी

नाम-स्मरण की महत्ता देखिये :

नारायण गाये, स्वामि नारायण गाये
वली वली ताली दोये कर बजाये ॥

निष्कुलानन्दजी के अधिकांश पद गुजराती में हैं। उनकी हिन्दी भाषा भी गुजराती प्रभाव से मुक्त नहीं है। नमूने के रूप में कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं :

आओ रे मेरे मीठडे मोहन नेनूदी अगियां।
नेनूदी अगियां मोये लगनि तेरी लगियां ।। आ. १.

दूर्य रिये दुख होत है, तुम जानत हो जरूर।
जरूर मेरा जिवडा, पिया तूज बिना आतुर रे। आ.२

जरे अंगेठि अंग में, मेरे पिया तेरे वियोग।
वियोग रोग बाधियो, मैं तो भूलिगई भवरोग रे।।
आ. ३.

रात्य दिवस रुदिये, पिया रटूँ मैं तेरा नाम।
नाम तेरा मैं उपर्ये, पिया वारूँ कोटिक काम रे ॥
आ. ४.

सुन्दर तेरी मूरति, मेरे मन बसी मुकुंद।
मुकुंद तेरे उपर्ये, वारी जाए निष्कुलानंद रे ।।
आ. ५.

(२)

हरि कु न गमे अहंकारी रे संतो !
रागी वागी वनवासी उदासी,
मर करत कठिन तप भारी रे ॥ संतो. १

चौद वियम चाए चारु वदे वेद,
अष्ट दश आगम विचारि।
करत कवित पद छंद-छपए,
अर्थ अनोपम धारि रे ॥ संतो. २

तजि सुख संपत्य विपत्य
सहे तन दिल दाम विसारि।
एतनो कर धरत जो अहंता,
तो गमे सब गुन हारि रें ।। ॥ संतो ३

सुभ गुण को बी गर्व न गमत,
असूभ की कै क्या उचारी,
निष्कुलानंद कह तजि अहंपद,
भजिए मुकुंद मोरारि रे ॥ संतों ४

अ. शु.

नीलकंठ

नीलकंठ का जीवनवृत्त अज्ञात रहा है। इनके एक पद से ज्ञात होता है कि ये श्रीमन्त मल्हारराव गायकवाड़ के समय में विद्यमान थे। मल्हारराव का निधन सं० १९४० के आसपास हुआ था। अतः नीलकंठ का समय सं० १९४० के लगभग होना चाहिए। ये बड़ौदा के निवासी थे। इन्होंने व्रजभाषा में भी राधा-कृष्ण-संबंधी पद लिखे हैं। व्रजभाषा में लिखित इनका एक वंशी संबंधी पद नीचे नमूने के तौर पर दिया जाता है :

वे जग-अंधन के मगदा,
चलिबौ इन नींकन हू कौ बिगारयौ।
वे बलिबास-बसावत हैं,
इन बास-उजारि कुबासॅन पारयौ ।।

सूरन थाह जतावत वे,
इन प्रेम अथाह के वारिधि डारयौ।

देखहु-री, हरि की बँसरी,
इन कैसे सुंबस कौ बंस बिडारयौ।'

म. ई. प्र.

नृसिंहाचार्य

नृसिंहाचार्य सूरत के निवासी थे। इनका जन्म यहीं के एक वैष्णव नागर-ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनका उपस्थिति काल १८५४ ई० माना जाता है। इनके कृष्णभक्ति सम्बन्धी कुछ फुटकर पद मिलते हैं।

अ. शु.

पंचमसिंह

स्वामी प्राणनाथ के शिष्य के रूप में पंचमसिंह का नामोल्लेख और उनकी रचनाओं में 'सवैये' का उल्लेख साम्प्रदायिक साहित्य में मिलता है। किन्तु सम्प्रदाय के पीठों में इनकी रचनाओं का कोई संधान नहीं मिलता।

न. पं.

परमानंद

परमानंद सौराष्ट्र के दीव द्वीप के निवासी थे। इनके पिता का नाम पुंजा था और जाति के ये ब्रह्मक्षत्रिय थे। इनकी एकमात्र ज्ञात रचना 'हरिरस' है। उसका रचनाकाल निम्नांकित पुष्पिका के अनुसार सं० १६८९ है:

'संवत सोल नव अँसीएमागसर मास अष्टमी सारं।
… … …एह ग्रंथ पूरण विस्तार… …. … … ॥

अतः यही इनका अस्तित्वकाल ठहराया जा सकता है। उससे यह भी विदित होता है कि इनके काव्यगुरु केशव भट्ट थे। भागवत का अध्ययन इन्होंने उन्हीं से किया था:।

जै नम्यो केशव भट्ट पाय।
श्रीभागवत जाण्यो महिमाय॥
कृष्ण-चरित्र नवरस विस्तार।
ब्रह्मा रुद्र न पामे पार॥
हुं किम गुण जाणु अविनासी।
पूंजासुत परमानंददास॥

परमानंद की एकमात्र उपलब्ध काव्यकृति 'हरिरस' है। श्रीमद्भागवत के दशम एवं एकादश स्कंध पर आधारित यह बृहद् काव्यरचना १२ वर्गों में विभाजित है। कवि ने प्रायः भागवत की मूल कथा का ही अनुसरण किया है।

इसमें प्राप्त राधा-माधव की रासक्रीड़ा का वर्णन चित्ताकर्षक है। दो उद्धरण पर्याप्त होंगे:

(१)

सोल कला राशि उग्यो रे पुन्यम आसो मास।
सौरभ पुष्पतणा बहु किम वर्णवुं विस्तार॥

वंसी वजाड्यो रे वन विशे आवो विम्बाधार।
धीर-धीर थी सहु संचरी लोपी मननो लाज॥

नेपुर-चरण श्रवण धर्‌या कुंडल पेहरिया चरणि।
देह तणी गति बिसरी मलवा जादवराई॥

• • •

(२)

शुक मुनीवर बोलिया, सांभळो परीक्षितराय।
रासक्रीडा जे को सांभळे देहना दुक्रीत जाय॥

दुक्रीत देहना सर्व जाइ एकमनो जेह गाई।
भक्ति आपी रुदे ज्ञान थाइ,
चरित्र गाता प्रभुना जिहवाई॥

काम्यनी व्याकुल देह पामी,
चंत गाऊ वन विषइ जिहाइ स्वामी।
मनमथ व्याप्यो देह माहे,
ग्रेहि ग्रेहिथी मली वन जाइ।
नयणे एके काजल कर्यु एक विसारी भूर।
अपला अंचर पेहिरिया, मन ब्रैहि सांभलबरण॥

एम धरि धरिथी संचरी बृंदावनमां जाई।
ब्रजबनिता वेणु सांभळी, व्याकुल मलवा जाउ वराई॥

अं. शं. ना.

परबतदास

गुजरात के सुख्यात भक्तप्रवर नरसिंह मेहता के चाचा परबतदास का जन्म सन् १४४४ ई० के लगभग

सौराष्ट्र के माँगरोल ग्राम में हुआ था। ये जाति से वडनगरा ब्राह्मण थे। इनके मूल वंशज उत्तर गुजरात के वडनगर से आकर सौराष्ट्र के तलाजा और मांगरोल में स्थायी रूप से बस गए थे। कुल के मूलपुरुष भाणजी पंड्या के पौत्र पुरुषोत्तमदास के दो पुत्र हुए: कृष्ण-दामोदर और परबतदास। भक्त नरसिंह मेहता इनमें से प्रथम कृष्णदामोदर के पुत्र थे।

परबतदास की धर्मपत्नी का नाम मधुमालती था। परबत जी को अपने भतीजे नरसिंह के प्रति आरंभ से ही विशेष प्रीतिभाव था। पिता जी कृष्णदामोदर के अवसान के समय नरसिंह केवल चार वर्ष की आयु के थे। उस समय इनकी स्थिति जड़भरत जैसी थी। यही कारण है कि परबतदास इनके प्रति अत्यधिक ममत्व रखते थे।

परबत मेहता मांगरोल में वहिवटदार थे। कुलाभिमानी नागरों में वे श्रेष्ठ माने जाते थे। नरसिंह मेहता का उपनयन संस्कार करने ये स्वयं तलाजा गये थे और नरसिंह के विवाह के अवसर पर मांगरोल से बारात निकाली थी। नरसिंह की कन्या कुंवरबाई का विवाह भी चाचा परबतदास ने कराया था।

ये आरम्भ में शिवभक्त थे, किन्तु कृष्णभक्त नरसिंह के संपर्क से ये द्वारकाधीश रणछोड़रायजी के चरण कमलों में पूर्णतया आसक्त हो गये। जनश्रुति है कि चाचा परबतदास को प्रभुदर्शन की जिज्ञासा होने पर नरसिंह ने कहा: 'चाचाजी, आप गोपी बन जाइये और प्रभुजी को पा लीजिये। परमात्मा तो भाव के भूखे हैं, जहाँ भाव है वहाँ वे उपस्थित हो जाते हैं।' नरसिंह के इस वचन से प्रेरित परबतदास जी गोपीभाव से नित्य श्रीकृष्ण की आराधना करने लगे।

भक्त बोडाणा के समान परबतदास ने भी हाथ में तुलसी लेकर वर्ष में दो बार रणछोड़जी के दर्शनार्थ मांगरोल से द्वारका जाने का नियम बना रखा था। ऐसा कठिन व्रत इन्होंने ६८ वर्ष की आयु तक निभाया। एक बार नरसिंह और परबतदास द्वारका जा रहे थे। मार्ग में एक अहीर के यहाँ रात्रि में निवास किया। परबतराय ने अहीर का भोजन नहीं लिया। इस पर नरसिंह ने इन्हें बताया कि 'यह तो श्रीकृष्ण ने अहीर के वेष में स्वयं आकर भोजन कराया है।' नरसिंह के ऐसे उपदेश से परबतदास की कृष्णभक्ति में आसक्ति तीव्रतम हो गयी। इनके ग्यारहवें वंशज वैष्णवप्रवर त्रिकमदास जी ने 'परबत-पच्चीसी' नामक पदावली में परबत की अनूठी कृष्णभक्ति का यशोगान किया है:

एक वर्षमां उभय वार की द्वारामती आवे ने जाय।
पूरे प्रेमे पूजे प्रभु ने, निर्मळ नीर गोमती न्हाय॥

अडसठ वर्ष गयां एणी रीते, जर-जर थयुं जराए अंग।
इन्द्रिय निर्बळ दुर्बळ देही, चित्तनो चटको चडते रंग॥

किंवदन्ती है कि सं० १५०१ में परबतदास की भक्ति एवं तपश्चर्या से प्रभावित हो श्रीरणछोड़राय जी द्वारका से मांगरोल की गोमती वापी में प्रकट हुए। 'परबत-पचीसी' के अनेक पदों में यह चमत्कारी घटना वर्णित है। 'मीरात-इ-सिकंदरी' नामक इतिहास ग्रन्थ में लिखा है कि वि० सं० १५३६ में मुसलमानों ने द्वारका पर आक्रमण करके श्रीकृष्ण-मंदिर तोड़ दिया। उसी समय दीव-निवासी एक वासुदेव नाम का शिल्पी द्वारका दर्शन के लिए आया था। मन्दिर पर आक्रमण देख द्वारकाधीश की प्रतिमा उठा कर वह रात में ही नाव द्वारा दीव की ओर निकल पड़ा। मार्ग में तूफान के कारण नाव को बंदर गाह पर ले गया और उसने रणछोड़जी के भक्त परबतदास को द्वारकाधीश की प्रतिमा अर्पित कर दी। ऐसा भी कहा जाता है कि भगवान् द्वारा स्वप्न में दिये हुए आदेश के अनुसार दीव के बढ़ई ने परबतदास को जो सिंहासन दिया था, उसी पर भगवान् की मूर्ति को स्थापित किया गया। द्वारका से मांगरोल पर्वत राय के पास गोमती वापी में श्रीकृष्ण की मूर्ति आने की घटना वि० सं० १५०१ के मार्गशीर्ष

शुक्ल षष्ठी बुधवार के दिन घटित हुई, ऐसा भी बताया जाता है। कुछ विद्वानों के मत में आजकल यह प्रतिमा जूनागढ़ में विराजमान है। 'हमारे घर रणछोड़रायजी स्वयं पधारे' इस आनन्द में परबतदास अधिक समय तक जीवित न रह सके, ऐसी भी जनश्रुति है। परबतदास की मृत्यु के पश्चात् ठाकोर जी की सेवा-उपासना का कार्य इनके पुत्र सुरजी भाई ने सँभाला। अब परबत मेहता के वंशज मांगरोल, जूनागढ़, पोरबन्दर, अमरेली, राधनपुर आदि स्थानों पर रहते हैं। ये सब वैष्णव अबटंक से पहचाने जाते हैं।

परवतदास के लिखे पद प्राप्त नहीं होते।

म. ई. प्र.

पालख पालीया

पालख पालीया गुजरात के पांचाल क्षेत्र के निवासी थे। किसी समय इनका बहुत बड़ा कुटुम्ब था, किन्तु दैवयोग से इनके बहुत से परिजनों की मृत्यु हो गयी। ये परिवार के अन्तिम अवशेष के रूप में बच गये। स्वजनों के अवसान का इन्हें बहुत आघात लगा। इसी कारण ये घूमते-फिरते अथवा बातें करते-करते भी भगवान् कृष्ण सम्बन्धी काव्य की रचना करते रहते थे। श्रीकृष्ण को कभी ये बन्धु मानते थे, कभी मित्र मानते थे और कभी क्रोध आता तो उन्हें उलाहने भी देने लगते थे। उस समय लगता था, जैसे ये प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण को लाड़लड़ा रहे हों। वैसी ही भावमयी चेष्टाएँ करते-करते ये बोलते रहते थे। इनकी उस वाणी को सुनकर लगता था कि ये शंकारहित त्रिकालाबाधित तथा प्रमाणित सत्य के दर्शन कर रहे हैं। उसके प्रमाणस्वरूप ये श्रीकृष्ण को संबोधित करते हुए छन्द कहने लगते थे।

पालख पालीया ज्ञानी तथा विरागी थे। संसार के प्रति इनका मोह छूट चुका था। श्रीकृष्ण सम्बन्धी इनकी रचनाएँ अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इनके छन्द नमूने के रूप में नीचे दिये जाते हैं :

सतभामाना चूरमां, कडवा लाग्यां कान,
सूका टूका साम सारा लाग्या शामळा।
सुदामा ने छापरी न होती रेवा नाथ,
चणाव्या समराथ सोने बंगला शामळा ॥

सुदामानी सुन्दरी काली हती करुप,
सधियुं थी सरूप सूरत कीधी शामला।
मैया री थई बेचवा जाती हती जे,
आडाफलो आवे संतापेल शामळा ॥

शोखे गायु चानो कायम गोकुल कान,
भोमरडा भगवान शीद पडावछ शामळा।
मथुरा जई तूं मालतो केताय वैभव कान,
भूली गयो भगवान संबंध मासी नो शामळा ॥

रुक्मिणी ने राधिका वेसारी ने बंगले,
ई कुबजाने कूवे की सबको जातो शामळा।
माखोरां नववंकीतमां सुंधेवा सरदार,
ई कुबजा थी करतार सुगेय न थई शामळा ॥

के छे त्यां काको नहीं मा न भले माधा,
सगपणना साधा सरगापरमां शामळा।
मोर्यं न कीधा माधा कांइये मैं कमाई,
भलो थई ने भाई सांमुं जोने शामळा ॥

भूधर जातो मणवा ठाकर तू बहु ठोठ,
नटवर लखतो नोट, ई सुदामो हुँ शामळा।
मीराबाई ने मोकल्या जे दी राणे झोर,
मावा करीने मेर साकर बनावी शामळा ॥

काली ने परखे कमल बरवीने टूंका बाल,
(तुं) खरो खेतरपाल, साचुं कहूं छूं शामळा।
देवकी जीनो दीकरो तने कोक कहे छे कान,
पण भणाणो भगवान सांचों जशोदा शामळा ॥

दर्शन दीयो दासने अने छन्दों भगवंत फंद,
नटवर देवकी नन्द, हवे शीद सतावों शामळा।
स्मरण करता श्यामनुं घट फूले घनश्याम,
नटवर तारू नाम छे बहु घालुं शामळा ॥

रंटण तारुं रात दिन हेते कीधु होय,
नटवर बिना न होय, मने सरग तेडुं शामळा।
वैणुनादनी विट्टला जंखना छे जदुवीर
तो जईने जमनातीर मारे सांभलवी शामळा॥

काव्य-जगत् में पालख पालीया के छन्द अनोखो छटा दरसाते हैं। इनका लाघव, वेदनापूर्ण उक्तियाँ शब्द-लालित्य, भाव प्रकट करने की शैली तथा शब्दों की विचित्र शक्ति सारपूर्ण है।

ल. पिं. ग.

पिंगलशी पाताभाई नरेला (राजकवि)

बींसवीं सदी के प्राचीन परिपाटी के चारण कवियों में अन्तिम महाकवि थे—श्री पिंगलशी भाई नरेला। उनके पिता पाताभाई नरेला, बहुश्रुत विद्वान् तथा कवि थे। फार्व्स साहबको 'रासमाला' लिखवाने में इन्होंने बहुमूल्य योगदान दिया था।

इन्होंने अपने पिताको ही गुरु बनाकर काव्य-शास्त्र का अभ्यास किया था। संवत १९४८ की मार्गशीर्ष सुदी ४, बुधवारको भावनगर के राजाने इनको 'राजकवि' के पदपर नियुक्त किया। इसी वर्ष ये दिवंगत हो गये।

पिंगलशी भाई के काव्य का प्रधान विषय ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति निरूपण रहा है। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं—१. भाव-भूषण २. कृष्णकुमार काव्य ३. पिंगल काव्य (भाग १ व २) ४. चित्त-चेतावणी ५. सुबोध-माला ६. कृष्ण-बाललीलाना पद ७. सत्यनारायण कथा ८. पिंगलवीर पूजा ९. सुजाता-चरित्र सतीमणी। इनके अतिरिक्त इनकी बहुत सी फुटकर रचनाएँ भी मिलती हैं। इन्होंने राधाकृष्ण की बारहमासी की रचना आधुनिक छन्द में की है। इनकी शब्द-कलामें चमत्कार है तथा रचनाएँ अनुप्रास-प्रधान हैं। इनकी भाषा में डिंगलका ग्राम्यत्व स्वाभाविक रीति से उभरा है। इसमें हिन्दी तथा व्रज भाषा की छटा भी देखने को मिलती है।

(दोहा)

(१)

याद करे सहु आपने खूब करी ल्यो ख्याल।
अहींआ वेला आवजो गिरिधारी गोपाल॥

(छंद त्रिभंगी)

कहुँ मासं काती सिय मदमाती,
दीप लगाती रँग राती।
मन्दिर मेंहलाती, सबै सुहाती,
मैं डर खाती, झझकाती।
बिरहे जल जाती नींद न आती,
लखो न पाती मोरारी।
कहे राधे प्यारी, हुं बलिहारी,
गोकुल आवो गिरिधारी। जी गोकुल ०

मागशर शुभ मासं, धर्म प्रकाशं,
हिये हुलासं जनवासं।
सुन्दर सहवासं, स्वामी पासं,
विविध विलासं रनवासं।
अन नहि अपवासं, व्रत्ति अकासं,
नहिं विसवासं मोरारी।
कह राधे प्यारी मैं बलिहारी,
गोकुल आवो गिरिधारी॥

इसके अतिरिक्त इन्होंने कृष्ण-भक्ति के पद, कीर्त्तन तथा गरबियों की भी रचना की है। उनमें से कुछ प्रस्तुत हैं :

(२)

मनोहर मूरति मंगलकारी
नैनां से आज निहारी ॥टेक॥

आप चले घर झटपट आवत,
साँझ समै धेनुचारी।
संग सखा सोहत अति सुन्दर,
काँधे पै कामर कारी ॥१॥

गहु कूं बुलावत कछु मुख गावत,
रोकत हाथ पसारी।

गली गली ठाडी रे देखन गोपी,
गोकुल में गिरिधारी ॥२॥

एक कहत लगी देर क्यूँ इतनी,
बछियाँ भूखी बनवारी ।
एक कहत तुम हो अती आलसु,
मन्द हँसत हे मुरारी ॥३॥

मन्दिर राह निहारत मैया,
आरतो देख उतारी ।
नन्द महर मुख घड़ी घड़ी निरखत,
पिंगलकूँ छवि प्यारी ॥४॥

(कीर्तन)

(३)

गोकलीयुं नानुं गामडीयुं शा
माटे नावो श्याम ।
शा माटे नावो श्याम
शा माटे नावो श्याम ॥

मथुरानी अन्दर मणिमय मन्दिर,
आ धूल थी बनेलाँ प्रभु शेने गमे धाम ।
प्रथम बिसारी धेनु बहु प्यारी,
हवे तो भूल्या छे बाबा नंदजीनुं गाय ॥

कुब्जा ये नारी बहु कामणगारी,
तेमाँ लोभाणा प्रभु भूली गया भान ।
कहे कवि पिंगल मुरती छे मगल,
मारा हिरदे बसो तो मारे शुं छे बीजु काम ॥

(४)

मारे मन्दिर आवो, हसीने बोलावो, प्यारा ।
रिझावो दीन तणा प्रतिपाल ॥१॥

रसियाजी रंगभीना ! राखो बाँह गह्यानी लाज,
प्राणपति गिरधारी पधारो रमवाने व्रजराज ।
धरी शिर फूलनी टोपी, आवो ओपी,
संगमाँ गोपी, रंगमाँ लाल गुलाल ॥२॥

आप बिना घड़ी सुख न आवे कंईं न सूझे काज,
ते मारे हुं कहूँ छूं तमने मानी तयो महाराज ।
रेजो तमे एक न रंगे, आधिन अंगे,
कोई प्रसंगे वीसरसो मां वहाल ॥३॥

मलवाने सुर साथ मुनीवर होंशथी जोड़े हाथ,
पिंगलना प्रभु सडने प्यारा नाम थकी व्रजनाथ ।
तरा ऋषि गौतम तेवा, जय मुनि जेवा,
आप छो रखवा निरखी रूप निहाल ॥४॥

• • •

(माठ)

(५)

प्रभु आव्या जमुनाना तीरे धीरे धीरे
श्याम शरीरे करवाने उज्वल काम ॥

चढ़ी कदंब पर कालंधरीमाँ
कूदी पड्यो करतार ।
ते समे नीर लाग्युं उछलवा,
आठे दीस अन्धकार ॥

जाग्यौ फणिधर कालौ आँख,
क्रोधाली जीभ जोराली,
भालीने सुन्दर श्याम ॥१॥

बालाजीने अंगे वींटाणो जुवे जसोदा मात ।
शामलियाने कोई छोड़ावा आ शुं थयो उतपात ॥
हरी कोई थी न हारे, जे चित धारे पार उतारे ।
रगम बोल्या बलराम ॥२॥

पद प्रहारथी फणिधर अंगे,
लाग्युं नीकलवा लोय ।
ते टाणे नागण दौडीने,
आली रंक थईने रोय ॥

प्रभु कंथ अमारो आप,
उगारो दास तमारो ।
धणी दयाना श्याम ॥३॥

बालाजीए अंग वछालुं नमीने ऊभो नाग ।
बालाजीके तमे कालन्धरीनो,
करी दियो ने त्याग ॥

बसो सागर माहीं आवो न
आहीं रात दी त्यांही ।.
सुखे करो विश्राम ॥४॥
सगा कुटुम्बथी साथमां लईने,
नीर वख कीधुं नीर ।
प्राणपति प्रभु सौने प्यारो,
धन्य छे जदुवीर ।
गुण कवि पिंगल गावे माते वधावे,
भ्रात रिझावे ।
आव्या छे गोकुल गाम ॥५॥
ल. पिं. ग.

पीपाजी

पीपा जी का जन्म सन् १४२५ ई० में राजपूताने के 'गागरौनगढ़' के राजपरिवार में हुआ था। इनके माता-पिता शक्ति के उपासक थे। अतः इनमें सत्कर्म-संस्कारों का सिंचन बाल्यावस्था से ही हुआ। चौहान राजवी होते हुए भी राजसी एवं भोगविलासपूर्ण वातावरण पीपाजी को धर्मविमुख न कर सका और ये जीवन के प्रारम्भ में ही देवीभक्त हो गये। माता जगदम्बा के प्रति इन्हें अनन्य श्रद्धा एवं प्रीति थी। इन्होंने जगदम्बा का विशाल मन्दिर बनाया। अपने अन्तःपुर की रानियों को नित्य दर्शनार्थ वहाँ ले जाते। देवो की पूजा-उपासना और धार्मिक कार्यों में व्यस्त रहने से ये राजकार्य में पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते थे, किन्तु एक परदुखभंजक राजपुरुष के रूप में इनका चरित कीर्तिवंत हुआ। अपनी प्रजा का पालन ये पुत्रवत् करते थे।

जीवन के उत्तरार्ध में शक्ति-उपासक पीपाजी वैष्णव कृष्णभक्त बन गये। इस आस्था-परिवर्तन के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती है। एक बार कुछ वैष्णव साधु पीपाजी के अतिथि हुए, किन्तु इनके स्वयं वैष्णव न होने के कारण उनका आतिथ्य ठीक से न हुआ। इस पर साधुओं ने देवी से प्रार्थना करके पूछा कि 'यह भेददृष्टि कैसी ?' रात को देवी ने स्वप्न में आकर पीपाजी की भर्त्सना की और रामानन्द को गुरु बनाने का आदेश दिया। इस घटना ने पीपाजी के जीवन को परिवर्तित कर दिया। ये वैष्णव धर्म के अनुरागी बन गये और वैष्णव धर्म की दीक्षा लेने सुप्रसिद्ध आचार्य रामानन्द के पास काशी जा पहुंचे। गुरु से मिलने की अनुमति प्राप्त न होने से पीपाजी बिना खाये-पिये तीन दिन तक आश्रम के द्वार पर खड़े रहे। भक्त की परीक्षा लेने के उद्देश्य से रामानन्द ने इनकी भर्त्सना की और कुएँ में गिरने का आदेश दिया। इस पर ये कुएँ की ओर दौड़े, किन्तु अन्य शिष्यों ने इन्हें पकड़ लिया। गुरु प्रसन्न हुए और भक्त को गले लगा लिया। 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास ने इस घटना का समर्थन किया है।

कहा जाता है कि देवी-पूजा की निष्फलता का अनुभव करके पीपाजी श्रीकृष्ण भक्ति के प्रति मुड़े, हाथ में करताल ग्रहण कर लिया। इनकी जिह्वा अहर्निश कृष्ण का आवाहन करती और आँखें सदैव प्रियतम भगवान् को खोजती थीं :

वहाला। वेगे आओ रे, दया दिले लाओ रे,
भीडो मारी भांगवा हो जी।'

इस प्रकार जीवन के पूर्वार्ध में पीपाजी देवी भक्त थे, किन्तु बाद में भगवान् कृष्ण के एकनिष्ठ उपासक बन गये।

पीपाजी कुछ दिन गुरुचरणों में रहे और बिदा लेकर अपनी राजधानी गागरौनगढ़ को वापस लौटे। इनकी साधना एवं भगवद्भजनपरायणता में अटल निष्ठा का अनुभव कर गुरु रामानन्दजी एक दिन स्वयं अपनी मण्डली के साथ गागरौनगढ़ आ पहुंचे। पीपाजी फूले न समाये और गुरुजी का मान मर्यादा-पूर्वक भव्य स्वागत किया। पीपाजी की भक्तिभावना से प्रभावित रामानन्दजी एक मास तक वहीं विराजमान हुए और द्वारका के लिए प्रस्थान के समय पीपाजी भी संसार और राज्य के सब बन्धनों को तोड़ अपनी भक्तिप्रिया रानी सीतादेवी के सहित गुरुजी के साथ चल पड़े।

पीपाजी की कृष्ण-भक्ति में रानी सीतादेवी भी सम्मिलित थीं। द्वारका प्रस्थान के सम्बन्ध में एक दूसरी घटना भी बताई जाती है।

एक दिन भक्तराज पीपाजी द्वारकापुरी के दर्शन करने हाथ में करताल ले अपनी रानी सहित निकले। मार्ग में भक्त पति करताल बजाते हैं और भक्तिमती पत्नी कृष्ण के पद गाती हैं। आस-पास के क्षेत्र में समाचार फैला कि पीपाजी द्वारका जा रहे हैं, वापस लौटेंगे नहीं, अपनी देह गोमती में समर्पित करेंगे फलतः गाँव-गाँव इनके स्वागत का आयोजन हुआ। एक गाँव का एक वृद्ध किसान पीपाजी को अपने घर भोजन कराने ले गया। पीपाजी को ध्यान में अनुभव हुआ कि अपनी गृहिणी का वस्त्र बेचकर इस निर्धन किसान ने भोजन तैयार किया है। तुरन्त ये अपनी सहचारिणी से बोले : हम आज तक असत्य के मार्ग पर चले। हमने बिना मेहनत ऐसे भोले-भाले लोगों का खाया। आज तो यह सब हम लौटा दें। मेहनत का पसीना बहाकर मैं करताल बजाऊँगा और तुम पाँवों में घूंघरूँ बाँध के नृत्य करोगी, मुजरा करोगी। इससे जो कमाई होगी, वह हम दरिद्रनारायणों को दे देंगे।' बाद में गाँव के बाहर चौक में सीता-देवी ने मुजरा किया, पाँव में घूंघरू बाँध कन्हैया की होरी गायी, साँवरे कृष्ण का वियोग गाया और इनके पाँवों में धन का ढेर लग गया। मार्ग-व्यय के लिए थोड़े से रुपये अपने पास रखकर शेष धन उसी किसान को अर्पित कर दिया और भक्तयुगल ने द्वारका की ओर प्रस्थान किया। किसान ने प्रश्न किया 'भक्तराज। आप कहाँ जायँगे ?' पीपाजी ने उत्तर दिया, 'द्वारका जायँगे, समुद्र में स्नान करेंगे और असत्य का मैल वहीं धोयेंगे।'

पीपाजी और सीता देवी दोनों अनेक वर्षों तक द्वारकाधीश के चरणों में रहे। कृष्णभक्त बनने के बाद पीपाजी ने अपना शेष जीवन सौराष्ट्र में व्यतीत किया। जीवन की उत्तरावस्था इन्होंने जिस गाँव में बितायी उस गाँव का नाम उनके नाम के आधार पर 'पीपाबाव' पड़ गया।

कहा जाता है कि द्वारका में इन्हें राधा-कृष्ण के युगलस्वरूप के दर्शन हुए थे। इसके सम्बन्ध में एक जनश्रुति है। श्रीकृष्ण-दर्शन के लिए अधीर एवं व्याकुल पीपाजी द्वारका के समुद्र में कूद पड़े। वहाँ जल में इनको युगलरूप के दर्शन हुए। एक सप्ताह के बाद जल से बाहर निकले तो लोग चकित रह गये। पीपाजी ने भगवान् से प्राप्त छाप पुजारी को यह कहकर दे दी कि 'जिसका इससे संस्पर्श होगा, वह भवसागर के पार उतर जायगा।' इस वृत्तान्त का वर्णन नाभादास ने 'भक्तमाल' में किया है।

पीपाजी का जीवन विविध चमत्कारी वृत्तान्तों और घटनाओं से भरा पड़ा हैं। इनके जीवन की प्रमुख घटनाओं के साथ कृष्णभक्त रानी सीतादेवी का सम्बन्ध है। भक्ति के प्रभाव से ये प्राणघातक घटनाओं से बचते रहे। ऐसी भी जनश्रुति है कि एक बार जंगल में इन्होंने आक्रामक सिंह को मन्त्रोपदेश दिया था। महारानी सीतादेवी का चरित भी चमत्कारी बताया जाता है।

पीपाजी की बानी पर कबीर का प्रभाव परिलक्षित होता है। इनके पदों का संग्रह 'पीपाजी की वाणी' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनका एक पद दर्शनीय है :

पौढो स्वामी द्वारका रनछोर।
द्वारका में झालर बाजै, संखन की घनघोर।
रुक्मनी के रंगमहल में दीपक लाख करोर।
थे पौढयाँ थारा सेवक पौढै, पौढ़े पुरो का सारा लोग।
दासपीपौ सरन थारी, गावै छै दोनूं कर जोर॥

म ई. प्र.

पुंजो बावो

पुंजो बावो खोजा जाति के थे। गुजरात में पीराणापंथ प्रचलित है। पीर ईमामुद्दीन-ईमामशाह इस पंथ के संस्थापक माने जाते हैं। पुंजो बावो इसी पंथ के पीर कायमुद्दीन बाबा के शिष्य थे। इनके जीवनवृत्त के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। श्रीकृष्ण-प्रेमलक्षणा-भक्ति का इनका एक पद यहाँ दिया जाता है :

(राग बसंत)

चाली सखी जोवाने जइये, ज्यां वसंत खेले वनमाली।
नवतम नार मळी नवजोवन, हँसी-हँसी ले वालो ताली ॥

नटवर नानो छे लघु वेश, छमक-छमक करे चालो।
वळ्वगे झुंमे ने मुख चुमे, मोहन मोरली वाळो ॥

अबीर गुलाल अति घणा उडे, केसर भरी छे चोळी;
चुआ चंदन छांटु छांटण तो, लाल लीओ रंगमां रोळी।

'चलिये सखी ! देखने जायें, जहाँ वनमाली वसंत खेलते हैं। नवयौवनवती नवीन नारियों के साथ हँस-हँस कर बालम तो ताली लेता है। नटवर नन्हा है, लघु-वेश है फिर भी वह नखरेबाजी करता है। मोहन मुरलीवाला चिपकता है, झूमता है और मुख पर चुंबन करता है। अबीर-गुलाल बहुत उड़ते हैं, चोली केसर से भरी है। चंदन छिटका जाता है। लाल रंग में तरबतर कर दीजिये।'

म. ई. प्र.

पुनीत महाराज

सन्त एवं भक्त पुनीतजी का मूल नाम बालकृष्ण भाईलाल भट्ट था। इनका जन्म वालम ब्राह्मण-परिवार में सन् १९०७ ई० में धुंधुका में हुआ था। बाल्यकाल से ही इनका हृदय भक्तिभाव से आप्लावित था। 'नामस्मरण' से इनका असाध्य क्षयरोग दूर हो गया था। 'नामस्मरण' और 'दरिद्रनारायण की सेवा' इनका जीवनध्येय था। इन्होंने अहमदाबाद में 'पुनीताश्रम' की स्थापना करके 'जनकल्याण' मासिक के साथ अनेक सेवा-प्रवृत्तियों का आरम्भ किया था।

भक्त पुनीत ने पूरे भारत की तीर्थयात्रा की थी। इन्होंने अनेक भजन रचे और श्रीकृष्णशंकर शास्त्री जी द्वारा भागवत-पारायण कराया। लोकप्रचलित भाषा में इन्होंने 'भागवत' की रचना की। 'हरिरस का हेली' इनकी एक दूसरी प्रसिद्ध कृति है।

पुनीत जी अद्वैतवादी, विशेष कर शुद्धाद्वैती होते हुए भी परम कृष्णोपासक थे। ये ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को विशेष महत्व देते थे। इनकी दृष्टि से अद्वैतभक्ति से भी प्रेमाभक्ति तथा गोपीभाव अधिक महत्त्वपूर्ण है। इनका अपना मत है कि परमात्म-प्राप्ति के लिए गोपीभाव ही सर्वोत्कृष्ट साधन है। ये सन् १९६२ ई० में भगवल्लीन हुए।

'पुनीत भागवत' से एक पद यहाँ उद्धृत है :

कर्ता-हर्ता समरथ मारो विट्ठलो,
अेना इच्छा ने दुनिया आधीन, बने बधां दीन। समरथ०
पान हाली न शके आज्ञा बिना,
एक इशारे सृष्टि रचाय, प्रलय पण थाय। समरथ०
प्राणीमात्र ा दोरी छे हाथमां,
एना खेंचाणे सघलां खेंचाय, जीवे-मरी जाय। समरथ०
एक एनो 'पुनीत' मारे आशरो,
एनुं बोलाव्युं मुखे बोलाय, बधुं बन्ये जाय ॥ समरथ०

'कर्ता-हर्ता तो मेरा समर्थ विठ्ठल है। सम्पूर्ण संसार उसकी इच्छा के अधीन है। उसके बिना सभी दीन बन जाते हैं। उसकी आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। उसके एक इंगित पर सृष्टि की रचना और प्रलय होती है। सभी प्राणियों की रस्सी उसके हाथ में है, इसके खिंचाव से सभी खिंचते हैं, जीते हैं और मर भी जाते हैं। 'पुनीत' कहते हैं कि मुझे केवल एक उसका सहारा है। उसके बोलवाने से बोला जाता है, सब कुछ बनता जाता है।'

म. ई. प्र.

पुरुषोत्तम

गुजरात के भरूच जिला के अन्तर्गत ईखरवा नामक गाँव के राजपूत पुरुषोत्तम का जीवनकाल १८वीं शती का मध्यभाग है। इनके बारे में अन्य कोई सूचना प्राप्त नहीं है। ये निरांत स्वामी के शिष्य माने जाते हैं।

इनकी चार रचनाएँ उपलब्ध हैं : पन्दरतिथियो उपदेशना छप्पय, श्रीकृष्णनां पद, ज्ञानना पद तथा नारी-बोध।

'श्रीकृष्णनना पद' से कृष्ण की 'रासलीला' का एक अंश यहाँ दिया जाता है :

साभळने सजनी रे, व्रजनी वातलडी ।
उत्तम अजवाळी रे, शरदनी रातलडी ॥

आकाशे उदोयो रे, शशीधर सोल कला ।
महा राते महावन रे, आनन्द ओध वळ्या ॥

जगजीवन उभा रे, जई जमना-तीरे ।
वहालो वेण वजाडे रे, मुख मधुरी रीते ॥

मोरलीमां मीठी रे, मोहन वेल पडी ।
त्रिभुवन मुर्छना रे, तोरे आवाज सुणी ॥

पाताळे पन्नग रे, मोही सहु नागराणी ।
छत्रीशे रागे रे, मोही सर्व रागणी ॥

'हे सखी' व्रज की बात सुन। शरद की रात में उत्तम उजियारी है। आकाश में चन्द्र सोलह कलाओं से उदित हुआ है। महान् रात में, महान् वन में आनन्द-प्रवाह बह रहा है। जगजीवन (कृष्ण) यमुना के तीर जा खड़े हुए हैं। प्रीतम तो मुख में मधुरता से वेणु बजा रहे हैं। मुरली की ध्वनि सुनकर त्रिभुवन मूर्च्छित हो गया है। पाताल में नाग और नागरानियाँ सब मोहित हुईं। सब रागिनियाँ भी छत्तीस रागों सहित मोहित हुईं।'

म. ई प्र.

पूर्णानंद स्वामी

पूर्णानंद स्वामी के पूर्वाश्रम का नाम 'गजाभाई दादाभाई गढ़वी' था। ये 'श्रीहरि' स्वामी सहजानंद की चाल देखकर उन्हें ईश्वर समझ कर साधु हो गये थे। श्रीहरि ने इन्हें भागवतीय दीक्षा देकर 'पूर्णानन्द' नाम रखा था।

गजा भाई गढ़वी तालुकेदार थे। घ्रांगघ्रा के राजमहल सिंह जी ने इन्हें ब्रजभाषा पाठशाला में पिंगल पढ़ने के लिये भूज भेजा था। इसके बाद ये घ्रांगघ्रा के राजकवि हो गये। गजा गढ़वी टापरीया शाखा के चारण थे।

पूर्णानन्द स्वामी प्रथम पंक्ति के संत थे। स्वामीनारायण-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में पूर्णानन्द स्वामी द्वारा प्राकृत ग्रन्थ रचने का उल्लेख मिलता है। स्वामी को संस्कृत का अच्छा ज्ञान था। कुछ वर्षों के बाद इन्होंने धोलका में शिखर बंध मंदिर बनवाया। इनकी इच्छा धोलका में मूली मंदिर जैसा वड़ा मन्दिर बनवाने की थी, पर कुछ संतों ने इसका विरोध किया। इस विवाद से दुःखी होकर अंत में इन्होंने पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर लिया।

इनकी पत्नी का नाम अमुषा था। उससे इन्हें नारायण दास नामक एक पुत्र तथा दो कन्याएँ जवाल बा तथा लाड बा हुईं। जीवन की संगमबेला में ये अपने ननिहाल के गाँव चंद्रासर में रहते थे। अंतकाल में श्रीहरि पूरे गाँव को दर्शन देकर पूर्णमासी के दिन गजा गढ़वी को अपने साथ अक्षरधाम ले गये।

इन्होंने चिह्न-स्वरूप 'प्रकाशिका' नामक एक ग्रंथ लिखा था। इसकी रचना विविध रागों तथा छंदों में हुई है जैसे; मेवाड़ों, सोरठा, खमाच, भैरवी, काफी, बेलावेल, सोहनी, होरी, मलार कान्हडो, आसावरी, केदारों, मलार, सोहनी, मारू, गौड़ी, रेखता, चौताल, पूरबी, प्रभाती, कल्याण, लोरी (हालड़ा), साखी, चर्चरी, मधुमार छंद, छप्पय, दोहा आदि।

अ. शु.

प्राणनाथ

प्रणामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक एवं प्रचारक के रूप में सुख्यात प्राणनाथ स्वामी का जन्म सौराष्ट्र के हालार प्रदेश जामनगर में लोहाणा ठक्कर परिवार में सं० १६७५ आश्विन शुक्ल १४, रविवार के दिन हुआ था। इनकी बाल्यावस्था का नाम 'मिहिरराज' या 'मेहराज' था। मिहिर का अर्थ है सूर्य। साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार ज्योतिषियों ने इनके उत्पन्न होते ही भविष्यवाणी की थी कि यह बालक ब्रह्मज्ञानी होगा और इसका भविष्य सूर्य की तरह चमकेगा। इनके अन्य दो नाम 'इन्द्रावती'

और 'महामति' भी प्राप्त होते हैं। बारह वर्ष की आयु में गुरु देवचन्द्र जी का शिष्यत्व ग्रहण करने के बाद इन्होंने 'प्राणनाथ' नाम धारण किया। इनके पिता का नाम केशवराव और माता का नाम धनबाई था। केशवराय जी जामनगर के राजवी जाम सताजी के यहाँ दीवान थे।

शैशव-काल में ही प्राणनाथ ने धर्मशास्त्रों का अभ्यास किया। माता-पिता के राधा-वल्लभी सम्प्रदाय के अनुयायी होने से बचपन से ही इनके जीवन में धार्मिक संस्कारों की छाप पड़ गयी थी। इनका विवाह फूलबाई के साथ हुआ। गुरुपुत्र की आज्ञा का पालन कर इन्होंने पत्नी का त्याग किया ऐसी जनश्रुति है। फूलबाई की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने बाई जीराज के साथ अपना गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत किया।

किंवदन्ती है कि प्राणनाथ के गुरु कायस्थ देवचन्द्र को जामनगर में स्वयं श्रीकृष्ण ने तारकमन्त्र की दीक्षा दी थी। तारकमन्त्र पाकर ये इतने भावविभोर रहने लगे कि 'निजानन्द स्वामी' के नाम से प्रसिद्ध हो गये। कृष्ण-दर्शन और कृष्णाज्ञा के पश्चात् इन्होंने 'प्रणामी-सम्प्रदाय' की स्थापना की और कथा-कीर्तन द्वारा सम्प्रदाय का प्रचार किया।

गुरु देवचन्द्र से तारकमन्त्र की दीक्षा पाने के बाद प्राणनाथ में सांसारिक विषयों के प्रति विरक्ति-भावना जगी और मन में कृष्ण-दर्शन की कामना प्रबल हो उठी। इसी सन्दर्भ में नवरंग स्वामी ने लिखा है :

छूटो सुख सबे संसारी, जतन देह के सबे बिसारी।
खान-पान भोज नहिं भावे, दिन-रैन रोवत ही जावे॥

गुरु ने शिष्य प्राणनाथ की ऐसी दशा देखकर उसे किसी लौकिक कार्य में लगा देना उचित समझा और 'हरिवंश' या 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' ढूँढ लाने हेतु अहमदाबाद भेजा। अहमदाबाद से जामनगर वापस लौटने के बाद गुरु ने अपने एक प्रमुख शिष्य गांगजी भाई के छोटे भाई खेता भाई को वापस बुलाने के लिए प्राणनाथ को अरबिस्तान भेज दिया। इसी समय खेता भाई की मृत्यु हो गयी। इनकी सम्पत्ति के सम्बन्ध में प्राणनाथ बगदाद के सुलतान इमाम के पास पहुंचे। दोनों के बीच धर्म एवं आचार-विचार के सम्बन्ध में विचार-विमर्श हुआ। फलतः प्राणनाथ मुस्लिम संस्कृति के मूल तत्वों से भी भलीभाँति अवगत हो गए। अरब देशों की यात्रा से लौटने के पश्चात् अपनी कुछ उदासीनता मिटाने के लिए प्राणनाथ ने सन् १६५३ ई० में सौराष्ट्र के धाले राजा का मन्त्रिपद ग्रहण कर लिया।

गुरु देवचन्द्रजी ने प्राणनाथ को धर्म के प्रसार-प्रचार का दायित्वपूर्ण कार्य सौंपकर, अपना धार्मिक उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया और संवत् १७१२ में वे परधाम वासी हो गये। किन्तु प्राणनाथ ने स्वयं न बैठकर धर्म-गद्दी पर गुरु-पुत्र श्री बिहारी को प्रतिष्ठित किया। आर्थिक संकट मिटाने के लिए प्राणानाथ ने जामनगर राज्य का मन्त्री पद ग्रहण किया, किन्तु विरोधियों के षड़यन्त्रों से इतने संत्रस्त हुए कि राजकीय जीवन के प्रति इनके मन में घृणा का भाव उत्पन्न हो गया। जूनागढ़ के विद्वान् हरिजी व्यास के साथ भागवत् पर इनका शास्त्रार्थ हुआ। इसमें हरिजी की पराजय हुई और उन्होंने प्राणनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। प्राणनाथ ने यहीं से तारतम्य-मन्त्र की दीक्षा देना प्रारम्भ कर दिया।

संवत् १७१६ में अहमदाबाद के सूबेदार कुतुब खाँ ने जामनगर पर आक्रमण किया। समझौता करने के लिए प्राणनाथ को अहमदाबाद जाना पड़ा। जामराजा ने नियत समय पर सूबेदार को पैसे नहीं भिजवाये, अतः प्राणनाथ को कैद कर लिया गया। किन्तु इनके एक शिष्य ने युक्ति से इन्हें मुक्ति दिला दी। अब इनका मन उद्विग्न हो गया। अतः पुनः जामनगर गये ही नहीं। तभी से सभी लौकिक कार्यों को त्यागकर ये पूर्ण रूप से धर्म-जागरण के कार्य में संलग्न हो गये।

धर्म-प्रसार हेतु धर्मयात्रा के सम्बन्ध में प्राणनाथ सर्व प्रथम 'दीव' गये। वहाँ से पोरबन्दर होकर ये कच्छ में आये और धर्म-प्रचार किया। इसके पश्चात् सिन्ध के ठठ्ठा शहर में जाकर वहाँ चिन्तामणि नामक कबीरपंथी संत के साथ धर्म-चर्चा की। धर्मोपदेश के द्वारा इन्होंने कई व्यक्तियों को अपना शिष्य बनाया। धर्म-प्रचार और नवजागरण के लिए प्राणनाथ ने सुदूर प्रदेशों की पैदल यात्रा की। बसरा, बगदाद, मस्कत, कच्छ, काठियावाड़, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और नेपाल की यात्रा करके अन्त में ये मध्यप्रदेश के पन्ना शहर में पहुंचे। वहाँ इन्होंने बुन्देलखण्ड केसरी एवं हिन्दू धर्म संरक्षक महाराज छत्रसाल को अपना शिष्य बनाया।

इस्लामी कलमा 'ला-इलाह' और अपने 'तारतम्य-मन्त्र' में साम्य का अनुभव कर इन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयास करने का संकल्प लिया। इन्होंने औरंगजेब को भी धार्मिक एकता का रहस्य समझाने का भरसक प्रयास किया। हरिद्वार के कुम्भ मेले में रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि सम्प्रदायों के अनुयायिओं को शास्त्रार्थ में पराजित कर इन्होंने 'निष्कलंक बुद्ध' की उपाधि प्राप्त की। अनूप शहर में श्रीमद्भागवत के माध्यम से कुरान की व्याख्या लिखी। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य सिद्ध करने में इनका भारी यत्न रहा, फिर भी इस कार्य में इन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिल पायी। हिन्दू राजाओं को जाग्रत करने का इनका प्रयास भी प्रशंसनीय रहा।

प्राणनाथ का 'प्रणामी' धर्म या 'निजानन्द सम्प्रदाय' व्यापक धर्म का एक नया स्वरूप है। इसमें हिन्दू-मुस्लिम धर्मों की एकता के सन्देश के साथ समग्र मानवजाति के कल्याण की उदात्त भावना समाविष्ट है।

प्राणनाथ-सम्प्रदाय के आराध्य परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं, जिनकी लीलाभूमि परमधाम है। परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण को प्राप्त करने का सही मार्ग प्रेमलक्षणा भक्ति है। प्राणनाथ ने कहा है कि अखण्ड लीलारास में संलग्न श्रीकृष्ण अकेले ही पुरुष हैं। दूसरा कोई पुरुष इस सृष्टि पर नहीं है और उनकी प्राप्ति पुरुष-दृष्टि से नहीं, स्त्री-भाव से ही सम्भव है:

वैश्नवो मोह थकी निध न्यारी दीधा,
आपण ने अविनाश।
नाम तत्त्व रहयुं श्रीक्रस्नजी,
जे रमें अखण्ड लीलारास॥

पुरुषपणे दृष्टै न आवे ए,
अबळापणे लीजे अंग।।

पुरुष नथी ए बिना कोई बीजो,
जे रमे बेहे चळ लीलारंग॥

प्राणनाथ ने जाति-पाँति और ऊँच-नीच की भावना पर प्रहार करके समाज-सुधारक का उज्ज्वल रूप प्रकट किया। इनके प्रणामी-सम्प्रदाय में मूर्ति नहीं, किन्तु ग्रन्थ की पूजा होती है।

प्राणनाथ के जीवन में अनेक चमत्कारी घटनाएँ घटित हुई हैं। जामनगर के कैदखाने में बन्धनग्रस्त प्राणनाथ के मुँह से रासलीला की बानियाँ निकल रही थीं, तब श्रीकृष्ण प्रकट हुए और मिश्री के टुकड़ों की बरसात हुई। इसी चमत्कार को सुन वजीर ने इन्हें मुक्त कर दिया।

कहा जाता है कि प्राणनाथ ने पन्ना-नरेश छत्रसाल को वरदान दिया था कि मुगलसम्राट् औरंगजेब के सामने लड़ने के लिए इन्हें हीरे मिलते रहेंगे। यही कारण है कि आज भी पन्ना में हीरे मिलते हैं।

प्राणनाथ धर्म-प्रचार के लिए जिस प्रदेश में जाते, उसी प्रदेश की भाषा में उपदेश देते थे। ग्रन्थ-रचना भी इन्होंने गुजराती, हिन्दी, फारसी एवं उर्दू में की है।

प्राणनाथ की हिन्दी रचनाएँ—प्राणनाथ की रचनाओं के सन्दर्भ में अधिकांश विद्वान् मौन रहे हैं। इनकी रचनाओं का सर्वप्रथम नामोल्लेख करने का श्रेय एफ० एस० ग्राउज को है। फिर भी इनकी

रचनाओं में से "क्यामतनामा" का उल्लेख ही उन्होंने शुद्ध रूप से किया है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में भी उनकी कृतियोंके रूप में प्रगटवाणी, ब्रह्म-वाणी, प्रेम-पहेली आदि का उल्लेख हुआ है, जो स्वतंत्र ग्रन्थ न होकर वस्तुतः इनकी मुख्य-मुख्य रचनाओं के प्रकरण मात्र हैं। कुछ विद्वान् इनकी पदावलियों को प्राणनाथ दंपति की की संयुक्त रचना मानते हैं। सच तो यह है कि रास, प्रकाश आदि १४ रचनाएँ "कुलजमस्वरूप" में संगृहीत हैं। हिन्दी और गुजराती के कई विद्वानों ने प्राणनाथ जी की रचनाओं के नाम सही-सही रूप से प्रस्तुत नहीं किये हैं अथवा ग्रंथ के किसी एक प्रकरण का ही अलग रचना के रूप में उल्लेख किया है। इनका काव्य होशवाणी और बेहोशवाणी नाम के दो वर्गों में विभाजित है। गुरु की प्रेरणा और विरह से उत्पन्न काव्य को शबाबी अथवा बेहोशवाणी और साम्प्रदायिक उपदेश के रूप में जो कहा गया है उसे "होशवाणी" की संज्ञा दी गयी है।

'कुलजमस्वरूप' जोशवाणी या बेहोशवाणी का ग्रन्थ है जिसमें रास (चौपाई सं० ९०७) प्रकाश (चौ० सं० १०६४), प्रकाश हिन्दी (चौ० सं० ११८४), षट्ऋतु (चौ० २३०) कलस (चौ० ५०६) कतास हिन्दी (चौ० ७६९), सनन्ध (चौ० १६९१) षुलासा (चौ० १०२०), किरंतन (चौ० २०६७), षिलवत (चौ० १०७४), परकरमा (चौ० २४९८), सागर (चौ० ११२८), सिनगार (२२०९), सिन्धी (चौं० सं० ५९९), मारफतसागर (चौं० १०३४) और क्यामतनामा छोटा और बड़ा (चौ०सं० ७५०) नामक रचनाओं का समावेश है। इनमें से प्रथम द्वितीय, चतुर्थ और पंचम रचनाएँ गुजराती भाषा में लिखित हैं और 'किरतन' में कुछ पद गुजराती के हैं। 'सिंधी' में सिन्धी भाषा का प्रयोग किया गया।

प्रणामी-सम्प्रदाय में 'कुलज़मस्वरूप' को 'तारतम्य सागर, स्वरूप-साब, श्रीमुखवाणी, निजानन्द-सागर और श्री प्राणनाथ-वचनामृत' नामों से भी अभिहित किया जाता है। प्रणामी-सम्प्रदाय के उद्भव और विकास की दृष्टि से कहा जा सकता है कि उत्तर मध्ययुग में मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए ग्रन्थ का नाम 'कुलजम-ए-शरीफ' (मुक्ति की पवित्रधारा) रहा होगा। मुस्लिम शासन के बाद 'कुलजमस्वरूप' 'स्वरूप-साहब' जैसे नाम प्रचलित हुए होंगें। पुष्टिमार्ग और गुजरात के स्वामि-नारायण सम्प्रदाय की प्रतिस्पर्द्धा में इसे 'श्रीमुखवाणी' और 'बचनामृत' के रूप में प्रसिद्धि दी गयी होगी। इनकी होशवाणी-उपदेशात्मक काव्य-में शेखजी और मीरजी का संवाद, वैराहपद, चरचनी आदि का समावेश है।

'रास' ग्रन्थ में प्राणनाथजी ने ब्रह्मागंनाओं को आत्मज्ञान प्रदान करने के लिए श्रीराज (कृष्ण) की ब्रजलीला, बाललीला और रासलीला का विस्तृत वर्णन किया है। 'प्रकाश' (गुजराती और हिन्दी) में सांसारिक मोहमाया से ग्रस्त आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान कराने का प्रयत्न किया गया है। ब्रजलीला और रासलीला पर प्रकाश डालते हुए गुरुदेवचन्द्र का पृथ्वी पर अवतरित होने का हेतु स्पष्ट किया गया है। 'कलस' (गुजराती और हिन्दी) में ब्रह्मसाधना, विभिन्न धर्ममत, जगत् का स्वरूप, अवतार वर्णन, श्रीमद्भागवत का सारांश, श्रीकृष्ण की त्रिधा लीला का वर्णन और प्रणामी-सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यता का विवेचन हुआ है। 'सनन्ध' (सनद) में उनकी सर्वधर्मसमन्वयवादी भावना व्यक्त हुई है जिसमें कुरान का भागवत, उपनिषद् आदि से साम्य सिद्ध किया गया है।

'षुलासा' में ब्रह्म, माया आदि दार्शनिक तत्वों का निरूपण किया गया है। इसमें कुरान का मंतव्य भी प्रतिपादित है। 'किरंतन' (कीर्तन) में तत्कालीन धार्मिक पाषण्ड, साम्प्रदायिक संघर्षों और प्रणामी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर विविध पद संकलित किये गये हैं। 'खिलवत' में आत्मा के आवागमन पर

प्रकाश डाला है। 'परकरमा' (परिक्रमा) में परब्रह्म श्रीराजकृष्ण के परधाम की सात परिक्रमाओं का वर्णन है। 'सागर' में कृष्ण के परधाम की शोभा, राधाकृष्ण के (राजश्याम-श्याम) 'सिनगार' (श्रृंगार) में राधा-कृष्ण के युगलस्वरूप का सांगोपांग सौन्दर्य वर्णन है। 'सिन्धी' में सांसारिक माया में उलझी आत्मा की प्रभु से क्षमायाचना का निदर्शन है। 'मारफत सागर' में शरीअत के बन्धनों से जकड़े हुए कुरान के धार्मिक सिद्धान्तों का विरोध करते हुए स्वामीजी ने हिन्दू धर्म-ग्रंथों के आधार पर अपना आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। 'कयामतनामा-छोटा और बड़ा' में जीव-भेद, जीव-लक्षण और आत्म-जागृति का वर्णन है।

भाव धारा की दृष्टि से प्राणनाथ की स्वानुभूति निरूपक रचनाओं में विविध कृष्णलीलाओं का वर्णन है जिनमें अपने आपको एक पात्र या दर्शक के रूप में चित्रित करते हुए आत्मनिवेदन, दैन्य, सख्य, दास्य, कान्तादि भावों की अभिव्यक्ति की गयी है। भागवत में रासपंचाध्यायी के अन्तर्गत जैसा विवरणात्मक वर्णन है, वैसा ही रास-वर्णन करते हुए ये कहते हैं :

दो भुजा सरूप जो स्याम, आतम अखर जोस धनी धाम।
ए खेल देख्या सैयां सब, हम खेले धनी मेले आनंदघन॥

बालचरित्र लीला जीवन, कै विध सनेह किये सैय न।
कै लिए विलास जो सुख, सो केते कहूँ या मुख॥

रसस्वरूप परब्रह्म कृष्ण की लीला के दो भेद हैं :—संयोगात्मक तथा वियोगात्मक। इनके कृष्ण रसस्वरूप हैं और कृष्ण का रसात्मक रूप ही सम्प्रदाय में उपास्य है। नित्य वृन्दावन परम धाम में युगल विहारी राधाकृष्ण विहार करते हैं। कृष्ण की विभिन्न लीलाओं में इन्होंने तारतम्य माना है और वृन्दावन लीला को सर्वोपरि स्थान दिया है। रासलीला के अन्तर्गत संयोग की अपेक्षा वियोग वर्णन में इनका भावावेश तीव्रतर है। षट्ऋतु और बारह मास व्यतीत होते जा रहे हैं। कृष्ण-मिलन के लिए गोपियाँ व्याकुल हैं। प्राणनाथ 'इन्द्रावती' सखी हैं। उन्हें प्रत्येक ऋतु और मास के अन्ततक प्रियतम की आशा लगी रहती है। सब सखियाँ निराश होकर प्रियतम कृष्ण के साथ की गयी रास-क्रीड़ा की स्मृतियों से ही धन्य होती हैं :

अखंड में याद देने, ए जो बेन बजायो।
चित दे साथ को ले, आप में समायो॥

अखंड में याद देने, ए जो खेल बनायो।
ब्रजरास जागनी में, ए जो खेल खेलायो॥

पीउ ने प्रकास्यों पेहेले, आयो सो अवतार।
ब्रजले रास मे खेले खेले निजघर बार॥

अपने धर्म-प्रचार का उत्तदायित्व पन्ना-नरेश छत्रसाल एवं स्वामी लालदास को सौंपकर प्राणनाथ ने श्रावण कृष्ण तृतीया सं० १७५१ को परधामगमन किया। इनकी लीलासमाप्ति का स्थल पन्ना बताया जाता है।

प्राणनाथ रचित 'रास' में से महारास-लीला का वर्णन करने वाला एक पद दर्शनीय है :

मोरलिया नाचे रंग राचे, शब्द करे टहुंकार।
बांदरडां पाय उभां धाय, लिये गुलांटा सार॥

पशु-पंखी वासे मन उलासे, आनदियो अपार।
वनकुलां में वेलो आवे, फूलडां करे बेहेकार॥

चांदलियो तेजे जुये हेजे, नीचो आवी निराधार।
जल यमुनानां बांध्यां घणां, आद्यां न वहे लगार॥

पडछंदा वाजे भीम बिराजे, पडतालें घमकार।
सघली संगे उमंग अंगे, अजब रमे आछार॥

भूषण बाजे धरणी गाजे, बृंदावन हो होकार।
अमृत वा वाये लहरी लिये वनराय, अंग उपजावे करार॥

एक केटली भाँत रमिया खात, रामत रंग अपार।
कहे इन्द्रावती एणीपर लिजे, वाला सुख तणा सरदार॥

'रासलीला नृत्य आरम्भ होते ही मयूर नाचने लगे। रंग में मस्त हो वे केकाध्वनि करने लगे।

बन्दर पाँव पर खड़े हो गये और गुलाट मारने लगे। पशु-पक्षियों का मन उल्लसित हो उठा, वे अपार आनन्द में मग्न हो गये। वन-कुञ्जों में लताएँ फूट पड़ी, फूल खिल उठे। राकेश चन्द्र भी नीचे की ओर उतरकर स्थिर हो गया और यह दृश्य देखने लगा। यमुना का प्रवाह रुक गया, थोड़ा सा भी आगे न बढ़ा। प्रतिघोष सुनायी पड़े, भूमि शोभायमान हुयी, पड़ताल बजने लगे। सब सखियाँ साथ में, अंग अंग में उमंग भरकर अद्‌भुत नृत्य करने लगीं। आभूषण बजने लगे धरती गूँज उठी, वृन्दावन का वातावरण संगीतमय बन गया, अमृतमय, सुहावना पवन बहने लगा, वनराजि झूम उठी, अंगों में उमंग उत्पन्न हुई। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार से रास क्रीड़ाएँ हुई, अपार आनन्द हुआ। 'इंद्रावती' (प्राणनाथ का साधक नाम) कहती है कि सुख के सरदार प्रियतम श्रीकृष्ण को इस ओर लाइये।'

प्रेमलक्षणा भक्ति का परिचायक एक दूसरा हिन्दी पद 'किरंतन' से यहाँ उद्धृत है:

रस मगन भई सो क्या गावे।
बिचली बुध मन चित मनुआ,
ताए सबद सोधा मुख क्यों आवे॥
बिचले नैन श्रवन मुखरसना,
बिचले गुन पख इन्द्री अंग।
बिचली भांत गई गत प्रकृत,
बिचल्यो संग भई और रंग।
बिचली दिसा अवस्था चारो,
बिचली सुध ना रही सरीर।
बिचल्यो मोह अहंकार मूल थें,
नैनों नींद न आवे नीर॥
बिचल गई गम वार-पार की,
और अंग न कछुह सांन।
पिआ रसमें यों भई महामत,
प्रेम मगन क्यों करसी गान॥

म. ई. प्र.
न. पं.

प्रीतम दास

'गुजरात प्रान्त के सूरदास' उपाधिप्राप्त प्रीतम का जन्म सं० १७७४ में बारोट जाति में हुआ था। गुजराती साहित्य के कई अध्येताओं ने इनका जन्म-स्थान बवळा गांव बताया है। किन्तु डा० अश्विन-भाई पटेल ने 'प्रीतम एक अध्ययन' नामक शोध-प्रबंध में सप्रमाण सिद्ध किया है कि प्रीतम का जन्मस्थान काठियावाड़ का चुडा (राणपुर) गाँव है। इन्होंने अपना कार्यक्षेत्र खेडा जिले के संदेशर गाँव को बनाया था। यही कारण है कि संत रविदास प्रीतम को 'संदेसर के रसिया' सन्त कहते हैं:

चार खूंट संदेसर सधे, बिहारीलाल विराज्या।
रसिया केरुं धाम रमणनुं, संत तणा समाजा॥

प्रीतम के पिता का नाम था प्रतापसिंह (रघुनाथ-दास ?) और माता का नाम था जेकुंवर बा। दाम्पत्य-जीवन के सम्बन्ध में एक मत यह है कि प्रीतमदास की प्रथम पत्नी प्रेमाबाई (प्रेमी) के स्वभाव से उग्र एवं कलहप्रिय होने से इनका दाम्पत्य-जीवन दुखपूर्ण रहा। कहा जाता है कि घर में पत्नी के कारण जब कलह होता तो प्रीतम उत्तर देने के बजाय कृष्णभक्ति के पद लिखने में व्यस्त हो जाते। कलह की स्थिति में कभी-कभी घर छोड़ डाकोर चले जाते। वहाँ के पुजारी लोग इनका सत्कार करते और इनके पद सुनकर प्रसन्न होते थे। प्रेमाबाई की मृत्यु के पश्चात् प्रीतम ने दूसरा विवाह किया था। इस मत के विपरीत भिक्षु अखंडानन्द ने यथेष्ट जाँच करके बताया है कि प्रीतमदास आजीवन अविवाहित रहे थे। डा० आश्विनभाई पटेल ने भी 'प्रीतम एक अध्ययन' में सप्रमाण सिद्ध किया है कि बचपन से ही विरागी प्रीतमदास नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। प्रीतम अपने को 'बावा' कहते थे:

'भाई अमे बावा रे भाई बावा।
हाथे माळा गोविन्द गुण गावा॥
भाई अमे बावा रे भाई बावा!'

ये आरम्भ में रामानन्द-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। इनके जीवन-संस्कार एवं विकास में इस संप्रदाय का बड़ा हाथ था। कई आधारों से निष्कर्ष निकलता है कि इन्होंने छोटी उम्र में ही गृहत्याग किया और चुडा (राणपुर) के रघुनाथ-मन्दिर में रामानंदी बाबा (साधु) बनकर रहे। इन्होंने अपने पदों में रविदास, दास सी भाई, हीमा भगत, गोविन्द राम (जनगोविन्द) आदि को अपना गुरु बताया है। इन गुरुओं में से नडियाय के गोविन्दराम ने प्रीतम के जीवन-निर्माण में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन्होंने ही प्रीतम को शांकर-भाष्य, भागवत एकादश स्कन्ध जैसे संस्कृत ग्रन्थों का अभ्यास कराया। गोविन्दराम वेदान्ती होते हुए भी कृष्ण भक्त थे। प्रीतम ने भी उनकी प्रशस्ति कृष्णभक्त के रूप में ही है :

गोंविद राम··· नांहांनी वेहेमां,
नंदकुंवरसुं पूरण बांधी प्रीत।
ग्यान भक्ति वैराग्य जोगनी,
सखे जाणी रीत॥
गोविन्दराम तमें गुणसागर।
भावे भजिया नटवर नागर॥

जीवन के आरम्भ में रामानन्दी साधु होते हुए भी प्रीतमदास का मन क्रमशः प्रेमलक्षणा कृष्णभक्ति की ओर आर्कर्षित हुआ। चूडा से ये द्वारका गये और द्वारकाधीश के चरणों में बैठकर इन्होंने 'तुं द्वारकांपती भज रे' नामक कृष्ण-पद लिखकर कृष्णभक्ति का प्रारम्भ किया। निर्गुण-निराकार भक्ति को सगुण-साकार-सर्व-जनसुलभ बनाने के लिए इन्होंने स्थान-परिवर्तन किया, रामानन्दी पीठ चूडा का त्याग करके सदा के लिये संदेसर में आ बसे। वहीं कृष्ण-भक्ति-साधना एवं पदरचना-प्रवृत्ति के साथ सत्संग आदि पारमार्थिक कार्यों के लिए इन्होंने एक मन्दिर बनाया, जिसकी शाखा-प्रशाखाएँ बाद में सारे गुजरात में फैलीं। भक्ति, धर्म और ज्ञान के प्रसार-प्रचार हेतु इन्होंने परिव्राजक बन सारे गुजरात में अनेक मन्दिर स्थापित किये, जो आज 'प्रीतम' मन्दिरों के रूप में प्रसिद्ध हैं।

प्रीतम स्वयं दीक्षागुरु भी बने। इन्होंने कई रामानन्दी साधुओं को कृष्णभक्ति की दीक्षा दी। फिर भी इन्होंने अपना कोई नया सम्प्रदाय नहीं चलाया, यही इनकी विशेषता है। संदेसर में प्रीतम का 'प्रेमस्नेही' भगवद्भक्त स्वरूप पूर्णमात्रा में प्रकट हुआ। इनमें नरसिंह-मीरां-सी भक्ति निष्ठा है, तो वेदान्ती अखा का वैराग्य भी है। सरल, शुद्ध जीवन एवं सदाचार से इनकी ज्ञानभक्ति ओजस्वी हो गयी।

डाकोर जैसे श्रीकृष्ण के स्थानों में 'पूनमिया' भक्त मण्डलियों में प्रीतम की भक्तमण्डली का अग्रस्थान था। प्रत्येक पूर्णिमा को डाकोर में उत्सव-कीर्तनादि का आरंभ इसी मण्डली के कार्यक्रम से होता था। इसमें प्रीतम स्वामी एक विशेष प्रकार की पखावज स्वयं बजाते। उत्सव-कीर्तन के सम्बन्ध में स्पर्धाएँ होतीं। इनमें प्रीतम के 'चोसर पद' प्रथम स्थान पाते।

स्वामी प्रीतम परम हंस कोटि के संत और योगी के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनकी वाणी अमृतगर्भा थी। जनश्रुति है कि महीनदी के मुखभाग के एक कुएँ का खारा पानी इनके वचनों से गंगाजल जैसा मधुर बन गया था। इनका स्पर्श संजीवनीस्वरूप सिद्ध होता। डाकोर में एक बार राजभोग के समय एक हरिभक्त सेठ का बैल द्वार पर मर गया। अतः ठाकुरजी को राजभोग अर्पण करने में बिलम्ब हो रहा था। प्रीतमदास ने मृत बैल का स्पर्श किया। तुरन्त ही वह जीवित हो खड़ा हो गया। एक बार संदेसर में अनावृष्टि की स्थिति में प्रीतम स्वामी मल्हार राग में पद गाने बैठ गये और भारी वर्षा हुई। इनके सम्बन्ध में चमत्कार निर्देशक ऐसी अनेक किवदन्तियाँ प्राप्त होती हैं।

स्वामी प्रीतमदास की रचनाओं को तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं : मौलिक रचनाएँ, संस्कृत

में अनूदित ग्रन्थ और हिन्दी रचनाएँ। इन रचनाओं का प्रमुख विषय राधा-कृष्ण की प्रेमलक्षणा भक्ति का निदर्शन है। पदों की भावसमृद्धि और निरूपण शैली की दृष्टि से 'पद तो प्रीतम के ही' उक्ति चरितार्थ होती है। इनके पदों की संख्या १५०० है। सं० १८१७ से १८३१ तक इनका लिखा कृष्णभक्ति-साहित्य भागवतानुसारी है। पदों में ७५ रागों का प्रयोग हुआ है। इनमें कृष्णभक्ति के विभिन्नभाव-प्रसंगों से सम्बद्ध बाललीला, दाण-लीला, रासविलास, गोवर्धन-महिमा, यमुना-माहात्म्य, फूलडोल, वसन्तोत्सव, हिंडोल, राधा-जी का विवाह, गोपी-विरह, बाँसुरी-बादन, महीना, वार, तिथि, थाल और आरती के पद समाविष्ट हैं।

प्रीतम स्वामी के कई पद आज भी गुजरात की नारियों की जिह्वा पर रमते हैं। ऐसे कुछ प्रसिद्ध पद हैं :

१. हे जसोदा जी ! आवडा लाडकवायो लाल न कीजे।
२. हे वांसलडी ! वरेण थई वागी रे ब्रजनी नार ने।
३. मन मोहन लाल ! मारगडो मूको तो मथुरा जइये।
४. जीभलडी रे ! तुने हरिगुण गातां आवडुं आळस क्यां थी रे ?

स्पेनिश विद्वान् ह्यान मस्करो ने प्रीतम के **'हरिनो मारग छे शूरानो'** नामक पद को विश्व की भक्ति-रचनाओं में अनमोल रत्न माना है। इनके करीब १०० की संख्या में प्राप्त उत्सव-चोसर पदों की मधुरता अप्रतिम है। आज भी भजनीक इनके पद मधुर कण्ठ से गाते हैं। इनका 'हरिरस' श्रोता को प्रेम-भक्ति में निमग्न कर देता है। इनके दानलीला के पद (सं० ६६) गुजराती साहित्य में अपनी विशिष्ट प्रतिभा निष्पन्न करते हैं। आज भी गुजरात में जन्माष्टमी-उत्सव पर कृष्णमन्दिरों में प्रीतमदास के पदों के आधार पर दानलीला के वेश अभिनीत होते हैं।

भक्ति सुरभित पदों के अतिरिक्त प्रीतम ने ज्ञान, विराग और नीति विषयक पद भी रचे हैं। 'चेतवणीओ' के पद इन्होंने गुजराती में लिखे हैं और 'चितावनी' या 'चिन्तामणि' के पद ब्रजभाषा हिन्दी में। मायाग्रस्त लोगों को चेतावनी देने और नीतिबोध कराने के लिए यह एक विशिष्ट काव्यप्रकार है। इनके 'रवेणी के पद' हिन्दी में हैं। इनके अनूदित ग्रन्थों में 'श्रीमद्‌भागवत का एकादश स्कन्ध' और 'भगवद्‌गीता' हैं। इनकी लिखी 'ज्ञान-गीता' में पंचीकरण और वैशेषिक तत्त्वज्ञान प्रस्तुत है, तो 'सरसगीता' में विरहातुर गोपियों का उद्धव के प्रति उद्‌बोधन है।

प्रीतम की हिन्दी रचनाओं में बाल-लीला, गोवर्धन-पूजन. नृसिंह-जन्म बधाई, होरी के फाग, फूलडोल के हिंदोरा आदि के पद प्रमुख हैं। हिन्दी रचनाओं में प्रीतम का त्रिविध व्यक्तित्व प्रकट होता है : सूरदास के समान भक्तकवि का, कबीर के समान ज्ञानी का और रामानन्द के समान विरागी का।

समन्वय मूलक जीवनदृष्टि एवं जीवनचिन्तन से प्रीतम का व्यक्तित्व अन्य भक्तकवियों से कुछ निराला है। इनका साधनामार्ग राम की भक्ति से आरम्भ हो पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की आराधना में पूर्ण होता है। जन-समाज में भक्ति, सदाचार एवं सन्मार्ग के प्रबोधक-उद्‌गाता के रूप में प्रीतम सही अर्थ में सबके 'प्रीतम' हैं।

जीवन के अन्तिम वर्षों में प्रीतम स्वामी अन्धे हो गये थे। ८० वर्ष की आयु में, सं० १८५५ के वैशाख, कृष्णपक्ष-१२, मंगलवार को इनका निर्वाण हुआ।

इनकी भक्ति-भावना के दो पद यहाँ उद्धृत हैं :

दीनलीला का पद

मारगडो मेलो मोहन जी, मारे मधुपुर जावुं छे;
प्रीतमना सामी सांमळीया, तारे लूटी खावुं छे ॥
रवाधानी सी बात करे छे दाण अमारुं देती जा।
प्रीतमना सामीनो लीली, मान कहयुं तुं मेयारी।

मोटा बोल न बोलो मोहन जी, मोटपणुं मेलो मेडे ।
जडधे राते केवा नाठा, ज्यारे कंस पडयो केडे ॥

रहे धूतारो कामणगारी, बोले छे वांकी वाणी ।
सू करवाने गोरस बेचे, राज करने था राणी ॥

'गोपी ने कहा कि 'मोहनजी ! रास्ता छोड़िये, मुझे मधुपुर जाना है । हे प्रीतम के साँवले स्वामी तुम्हें तो लूट खाना है ।' कृष्ण ने उत्तर दिया : 'खाने की क्या बात करती हैं ? हमारा दान देकर जा । यह तो प्रीतम के स्वामी की लीला है । हे ग्वालिन ! मैंने जो कहा, उसे मान ।' इस पर गोपी कहती है : 'मोहनजी ! बड़े-बड़े बचन मत बोलिये, बड़प्पन तो आलमारी में रख दीजिये । जब कंस ने पीछा किया तो आधी रात को आप कैसे भाग खड़े हुए थे ?' कृष्ण ने कहा : 'खड़ी रह, धूर्त और मोहमयी । तू तो टेढ़ी बानी बोलती हैं । दही (गोरस) क्यों बेचती है ? हो जा रानी और राज कर ।'

'बांसलडी' का पद

हे बांसलडो ! वेरण थई लागी रे व्रजनी नारने,
तुं शोर करे, जातलडी तारी रे मन विचार ।'
हे बांसलडी !

तें एवडां कामण शां कीधां ?
श्यामळीए मुख चुंबन लीधां,
मन व्रजनारीनां हरी लीधां । हे बांसलडी !

तुने कोडकरी कृष्णे झाली,
गोनाद सूणी आवी चाली,
तूं विश्वभंर ने बहु व्हाली । हे बांसलडी !

पूरन तुं कांई नथी लावी,
उघाडे छोगे छे आवी,
भगवान तणे मन बहु भावी । हे बांसलडी !

तें व्रतव्रतादिक शुं कीधुं ?
राधा थकी मान अधिक लीधुं,
तुंने आलिंगन प्रभुए दीधुं । हे बांसलडी !

'अरी हे बाँसुरी । बैरन हो तू ब्रज की नारी को लग गयी । तू शोर करती है, अपनी जात का तो मन में विचार कर । तूने ऐसी तो कैसी मोहिनी की कि साँवलियाँ ने अपने मुँह से चुम्बन किया और तूने ब्रजनारियों के मन मोह लिये । कृष्ण ने लाड़ से तुझे ग्रहण किया, गौनाद सुन तू आ पहुंची । तू तो विश्वंभर को बहुत प्यारी है । तू पूरत (लग्न के अवसर पर कन्या के द्वारा लायी जाने वाली वस्तुएँ) भी कुछ न लायी । खुले आम आ पहुँची, तू भगवान् के मन बहुत भायी । तूने ऐसे तो कैसे व्रतादि किये कि राधा से भी अधिक मान पाया और प्रभु ने तुझे आलिंगन दिया ।'

इनका 'हरिनो मारग शूरानो' पद अत्यंत ही लोकप्रिय है । वह नीचे दिया जा रहा है :

'हरिनो मारग छे शूरानो, नहि कायरनुं काम जोने ।
परथम पहेलुं मस्तक मूकी, वलती लेवुं नाम जोने ॥
सुत वित दारा शीश समरपे, तेपामे रस पीवा जोने ।
तीरे ऊभा जुए तमासो ते कोडी नव पामे जोने ॥

श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी का वर्णन करते हुए प्रीतमदासने लिखा है :

नवरसना भर्या नाथ जी, नौतम वयमां,
रहे सदा अमारी साथ जी ।
वदन सुधाकर सार छे ।
ते तेज तणो भंडार छे ॥ नौतम····

नासा जलसुत सोहाव्युं ।
भ्रू मन्मथ बाण चढाव्युं ॥ नौतम···

रविनंदन कूंडल कान छे ।
रसिया जी रूपनिधान छे ॥·········

मृगमद चंदन टीको करयो ।
मणि मुगर लसित छोगो धरयो ॥

नटवर छबी सुन्दर जोइने ।
भज प्रीतम चिडुं परोइने ॥ नौतम····

प्रीतमदास ने ब्रजभाषा में विपुल रचनाएँ की हैं । इनके हिन्दी ग्रन्थों में 'साखी-ग्रन्थ' अत्यंत महत्व-

पूर्ण है। यह २४ अंगों में विभक्त है। भाव और भाषा की दृष्टि से इस पर कबीर का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। कुछ उदाहरण देखिए :

> प्रेम बिना सब शून्य है, जानत नहिं जड़जीव ।
> कहे प्रीतम कैसे मिले, प्रेम सनेही पीव ॥
>
> सत्य प्रेम व्रजनार को, बिसरी तन धन धाम ।
> कहे प्रीतम प्रेमे करे, परसे सुन्दर श्याम ॥
>
> प्रेम निरंतर कीजिए, संत हरि गुरु साथ ।
> कहे प्रीतम न्यारा नहीं, तारे त्रिभुवन नाथ ॥
>
> प्रेम बिना प्रपंच है, सेवा समरण ध्यान ।
> कहे प्रीतम शुद्ध प्रेम बिना, फीको लागे ज्ञान ॥
>
> रुदे ध्यान मुख नाम नित, चित चितवै हरिरूप ।
> कहे प्रीतम, ए अनन्य की, रहेणी करणी अनूप ॥
>
> नाम बराबर कुछ नहिं, तप तीरथ, व्रत दान ।
> कहे प्रीतम साधन सबै, नहिं हरि नाम समान ॥

म. ई. प्र.

अं. शं. ना.

प्रेमानन्द

गुजराती मध्यकालीन साहित्य में सर्वोत्कृष्ट आख्यानकार एवं रससिद्ध महाकवि के रूप में सुख्यात प्रेमानन्द के जीवन और समय के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होती। इनका जीवनकाल सन् १६३६ से १७३४ तक या सन् १६४९ से १७०४ तक बताया जाता है। इतना निश्चित है कि ये सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध में आविर्भूत हुए थे। वे बड़ोदा के नांदरो चतुर्वंशी ब्राह्मण थे। इनके पिताका का नाम भट्ट कृष्णराय (केशव ?) उपाध्याय था। बचपन में ही माता-पिता से वंचित होने पर प्रेमानन्द का लालन-पालन अपनी मौसी के घर हुआ था। १५ वर्ष की आयु तक ये कुछ विद्याभ्यास न कर सके। तदनन्तर बड़ोदा की विश्वामित्री नदी के तट पर स्थित कामनाथ महादेव पीठ के रामचरण हरिहर नाम के विद्वान् संन्यासी के संपर्क से इन्होंने बहुत ज्ञान पाया और उन्हीं गुरु के साथ भारतवर्ष की यात्रा की। इसी समय महाभारत, रामायण, भागवत आदि पुराणों के साथ इन्होंने वेदान्तादि शास्त्रोंका भी अच्छा अध्ययन किया।

प्रेमानन्द की जिह्वा पर किसी सिद्ध ने कुछ लिखा, फलतः इनमें कवित्व-शक्ति उत्पन्न हुई, ऐसी एक जनश्रुति है। एक दूसरी किंवदन्ती भी है। एक सिद्ध ने प्रेमानन्द से कहा 'मैं कल जाने वाला हूँ, अतः ठीक समय पर सुबह आइए। सुबह प्रेमानन्द को जाने में विलम्ब हुआ। अतः सिद्ध ने आशीर्वाद दिया 'आप प्राकृत भाषा में काव्य-रचना कर सकेंगे, अविलंब आये होते तो संस्कृत भाषा में काव्य-रचना करने में समर्थ होते।' इसी आशीर्वाद के प्रभाव से प्रेमानन्द कविता करने लगे। एक और भी जनश्रुति है कि प्रेमानन्दने अपने गुरु के सामने प्रतिज्ञा की थी कि 'जब तक गुजराती भाषाको अलंकृत न करूँ तब तक पगड़ी नहीं पहनूँगा।'

प्रेमानन्द ने कथाकार का व्यवसाय अंगीकृत किया और उसके द्वारा अपना निर्वाह करते रहे। इसी हेतु इन्होंने बड़ौदा छोड़ कर सूरत और नंदरबार में निवास किया था। इस तथ्य का उल्लेख इन्होंने अपने आख्यानों में भी किया हैं :

> वीर क्षेत्र वडोदरुं गुजरात मध्ये ग्राम ।
> उदर निमित्ते सुरत सेव्युं ने जाम नंदरबार ॥

नंदरबार के विद्याविलासी जमींदार देसाई मेहता शंकरदास ने प्रेमानन्द को आश्रय दिया था। कथाकार के रूप में सफलता के साथ इन्हें अर्थ और यश दोनों की प्राप्ति हुई।

जनश्रुति है कि प्रेमानन्द के पास १२ शिष्याओं सहित १०० शिष्यों का मण्डल था। इनमें प्रमुख चार शिष्य थे—वल्लभ, रत्नेश्वर, वीरजी और सुन्दर। वे सभी कवि थे। प्रेमानन्द की कृपा से द्वारकादास नाम का एक दूसरा शिष्य भी कविता रचने में समर्थ हुआ था, ऐसा कहा जाता है। यह

भी कहा जाता है कि साहित्य सर्जन की अभिवृद्धि के हेतु प्रेमानन्द ने संस्कृत और प्राकृत जैसी कविता करने का दायित्व अपने ऊपर लेकर हिन्दी की पद्धति पर काव्य-सर्जन का कार्य वल्लभ को, मराठी का अनुसरण करने का कार्य रत्नेश्वर को, उर्दू और फारसी जैसी कविता रचने का काम वीरजी को तथा संस्कृत-पुराण कथाओं के समान लिखने का काम सुन्दर को सौंपा था। किन्तु वस्तुतः विशाल शिष्य-मण्डल और साहित्य-सर्जन कार्य के विभाजन के सम्बन्ध में कोई विश्वसनीय साक्ष्य प्राप्त नहीं होता है। प्रेमानन्द का संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर कथा करनेवाले पुराणियों के साथ कलह, प्रेमानन्द और कवि शामळ के बीच स्पर्धा, बचपन में प्रेमानन्द के अज्ञान तथा गुरु-सेवा के प्रताप से इन्हें ज्ञान और कवित्व की प्राप्ति-आदि बातें अब अप्रामाणिक सिद्ध हो गयी हैं।

प्रेमानन्द की ५० कृतियाँ बतायी जाती हैं। इनमें से करीब २० कृतियों का कर्तृत्व सन्दिग्ध है, शेष ३० कृतियाँ निश्चित रूप से प्रेमानन्द की हैं। इन में 'स्वर्गनी निसरणी,' 'विवेक-वणसारो' और 'महिना' के अतिरिक्त सभी आख्यान-काव्य हैं। प्रेमानन्द के आख्यानों का कथानक विशेषरूप से महाभारत, भागवत, मार्कण्डेय पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों की कथाओं एवं कृष्णभक्त नरसिंह मेहता के जीवन-प्रसंगों पर आधारित है। 'अभिमन्यु आख्यान (सं० १७२७), सुधन्वाख्यान (सं० १७४०) नलाख्यान (सं० १७३६-४२) महाभारत के आधार पर, 'ओखाहरण,' 'रुक्मिणीहरण', 'सुदामा-चरित,' 'वामनकथा', 'भ्रमरगीता', 'भ्रमर-पचीशी,' 'दाणलीला,' 'दशम-स्कन्ध' भागवत के आधार पर, 'मदालसा आख्यान' मार्कण्डेय पुराणके आधार पर, 'चन्द्रहासाख्यान' हरिवंश के आधार पर हूँडी, श्राद्ध, 'नरसिंहना पुत्रनो विवाह' 'और' 'मामेरूं नरसिंह मेहता के जीवन प्रसंगों के आधार पर निर्मित हुई हैं। 'सत्यभामारोषदर्शिका आख्यान,' 'पांचाली-प्रसन्नाख्यान' और 'तपस्याख्यान' इन तीन नाटकों के रचयिता भी प्रेमानन्द माने जाते थे, किन्तु अब यह धारणा निर्मूल सिद्ध हो गई है।

भागवत, महाभारत और भक्त नरसिंह के जीवन पर आधारित रचनाओं में आख्यान-कवि के साथ ही प्रेमानन्द का कृष्णभक्त-रूप भी प्रकट हुआ है। प्रेमानन्द तो 'माणभट्ट' थे। माण (ताम्र धातुका बना एक बड़ा घट) के ऊपर हाथ की उँगलियों से थपकी लगा-लगाकर ताल के साथ आख्यान प्रस्तुत करके इन्होंने जनसमाज में श्रीकृष्ण-भक्तिरस की व्यापक धारा प्रवाहित की। इनके आख्यान इतने लोकप्रिय हुए कि विशिष्ट प्रसंगों में सारे गुजरात में गाये जाने लगे। माण पर आख्यान कहने की परंपरा प्रस्थापित करने में प्रेमानन्द का कार्य सचमुच प्रशंसनीय है। अब तो यह परम्परा नष्टप्राय-सी हो गयी है।

प्रेमानन्द की कृष्णभक्ति साम्प्रदायिकता से रहित, शुद्ध और निर्मल थी। आख्यानों के माध्यम से इन्होंने मध्यकालीन वैष्णवी भक्ति, विशेषकर कृष्णभक्ति के प्रसार-प्रचार में अमूल्य कार्य किया। गुजराती साहित्य के इतिहास में इन्होंने आख्यान-साहित्य के सुवर्णयुग का प्रवर्तन किया। रसाभिव्यक्तिकी दृष्टि से ये मध्यकालीन गुजराती कवियों के शिरोमणि हैं। इन्होंने अपने रसभावपूर्ण आख्यानों के काव्यानन्द के माध्यम से गुजराती जनता में भक्ति-भावना एवं धर्मसंस्कार का संवर्धन किया।

प्रेमानन्द की कविता एवं भक्ति के परिचायक दो पद दर्शनीय हैं :

(१) 'राधिका-विरह के द्वादश मास' में से एक अंश

वैशाखे वन मोरियुं, फुली दाडीम द्राक्ष।
वाहला वियोगे विरहिणी, मूके मुख निःश्वास॥
मोगरो मालती, मोतीओ, जोती झुमखे वन।
पोयण परिमल आवे रे, त्यम त्यम दाझे तन॥

हजी पियु पाछो ना वळीयो रे, टालवा मननो खेद।
ग्रीष्म घोष सुणी सुणी, हइडे पडिया छेद ॥

सरखा सरखी साहेलडी, बेलडी वळगी बे पास।
तन तापे तरुणी तणुं वसवाने शीतल वास ॥

फुलडे सेज समारीने, निहाली थई निराश।
ढसकळे ढाळे ढळी पडी, क्यां छे मारो नाथ ॥

जळ विनानी रे माछली, दूधे दाहेलडी रे थाय।
अणजाण्युं औषध करे, त्यम-त्यम पीडा थाय ॥

नीर बहे रे खळो खळी, उडत अबील बरास।
व्हालाजी केरे वियोगे, विंझे सखी बे पास ॥

'वैशाख में वन पुष्पमंजरियों से खिल उठा, दाड़िम-दाख फूल उठे। प्रियतम के वियोग में विरहिणी निःश्वास निकालने लगी। वन में उसने मोगरा, मालती आदि के गुच्छ देखे और कमलिनी की सुगंध आयी, त्यों-त्यों उसकी देह जलने लगी। मनका खेद दूर करने के लिए अभी भी प्रिय वापस न लौटा। ग्रीष्म के घोष सुन-सुन हृदय में छेद हो गये। एक सरीखी सहेलियों के समान दो बेलियाँ पास में एक-दूसरे से लिपट गयीं हैं। ये तरु का तन तप्त करने लगीं। शीतल निवास में बसने वाली उस (तरुणी) ने फूलों से शय्या सँवारी तो उसे देख वह निराश हुई, ढाल पर ढुलक पड़ी और बोल उठी—'मेरा नाथ कहाँ है ?' जलरहित मछली, दूध दोहनेवाली हो जाए, अनजान औषध का सेवन करे, त्यों-त्यों पीड़ा बढ़ती जाती है। खल खल नीर बहते हैं, अबीर और बरास उड़ते हैं। प्रिय के वियोग में दो सखियाँ पास में पंखा झलती हैं।'

'दशम-स्कन्ध' में से यशोदा-विलाप का एक अंश

म्हारुं माणकडुं रीसाव्युं रे शामळीआ।
त्हारा मनमां ए शुं आव्युं रे शामळीआ ॥
हुं अपराधण माताने मूकी, शा माटे झंपलाव्युं रे—
शामलोआ।

कालिन्दीनुं काळुं पाणी, मांहे वसे काळो काली;
हवे आशा ने शी मळवानी, केम आवे वनमाली रे।
संतान रूपी मोटुं धन ते, करमे लीधुं लुंटी,
म्हें नव जाण्युं जतन करीने, रतन पडयुं केम छुटीरे।

पुत्र पामी हुं छेल्ले आश्रमे, उछेर्यो प्रतिपाळी;
नीपनो रस ढळी गयो हुं, विजोग आगें बाली रे।

नाके मोती पाय घुघरी, मोर मुगट शिरधारी;
फरी रूप हुं क्यांथी देखुं, हारे आवे गौचारी रे।

काने कुंडळ मुखमां मोरली, सांजे गोकुल आवे;
भूख्यो छौं कही पेट देखाडे, मा कही मुंने बोलावे रे।

'नाग-दमन हेतु कृष्ण ने कालिन्दी में प्रवेश किया तो यशोदा विलाप करती है: मेरा मानिक (रत्नतुल्य प्रियपुत्र) रूठ गया। साँवरे ! तेरे मन में यह क्या आया ? मुझ अपराधिनी माता को छोड़ क्यों जल में कूद पड़ा ? कालिन्दी का जल काला है और उसमें काला कालिय नाग बसता है। अब तो मिलने की क्या आशा ? वनमाली कैसे आयेगा ? संतानस्वरूप बड़ा धन कर्म ने लूट लिया। मैं उसका जतन न कर सकी। रत्न कैसे छूट गया ? चौथेपन में मैंने पुत्र पाया, लालन-पालन कर बड़ा किया। किन्तु बना बनाया रस अब तो ढुलक गया। वियोग की आग में इसने मुझे जला दिया। नाक में मोती, पाँव में घुंघरू, सिर पर मोर-मुकुट और गौओं को चराकर साथ ले आनेवाला यह रूप फिर मैं कहाँ देखूँगी ! कान में कुण्डल, मुख में बाँसुरी के साथ संध्या के समय गोकुल आकर 'भूखा हूँ' कहकर अपना पेट दिखाता और 'माँ' कहकर मुझे बुलाता है…… ।'

म. ई. प्र.

अं. शं. ना.

प्रेमानन्द-प्रेमसखी

भक्त कवि दयाराम के समकालीन, स्वामिनारायण-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध तथा तेजस्वी कवि प्रेमानन्द (प्रेमसखी) का जन्मस्थान कौन-सा था और उनका जन्म किस जाति में और कब हुआ था, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बचपन में ही इनके माता-पिता का देहांत

हो गया था । अतः अनाथ होने के कारण ये १५ वर्ष की आयु तक अशिक्षित रहे । अपने विषय में इन्होंने कुछ नहीं कहा है । परम्परा के आधार पर ये आज के जिला बड़ोदरा के दोरा गाँव से सम्बद्ध माने जाते हैं । गाँव के मंदिर में श्री सहजानन्द स्वामी की कृपा इन्हें प्राप्त हुई थी । इन्होंने श्री सहजानन्द स्वामी से वि० सं० १८७०-७१ में दीक्षा स्वीकार की, तब इनकी अवस्था ३०-३५ वर्ष की थी । कवीश्वर दलपत राय ने प्रेमानन्द (प्रेमसखी) की आयु सं० १९०५ (सन् १८४९ ई०) में ७० वर्ष की कही है, उसके आधार पर उनका जन्म वर्ष वि० सं० १८३५ (सन् १७७९ ई०) माना जाता है । इनका अवसान वि० सं० १९११ (सन् १८५५ ई०) के मार्गशीर्ष सुदी प्रतिपदा के दिन हुआ था । यह तथ्य इनके सम्प्रदाय में भी स्वीकृत है ।

अनाथ बालक प्रेमानन्द का कंठ मधुर था । इसलिए बचपन से ही यह अच्छा गाते थे । इस छोटी आयु में ही ये वैरागी साधु बाबाओं के साथ लग गये और उनके साथ पूरे देश में घूमते रहे । इनके जीवन का पर्याप्त समय इस स्थिति में व्यतीत हो गया । जब ये साधु बाबाओं के समूह के साथ 'दोरा' गाँव में लौटकर आये, तब एक दिन अचानक स्वामिनारायण सम्प्रदाय के साधु लोग उसी गाँव में आ गये । प्रेमानन्द उनके सम्पर्क में आये और वैरागी साधु-बाबाओं के समूह से निकलकर इस नये समूह में मिल गये । स्वामिनारायण सम्प्रदाय के साधु ज्ञानदास जी से इन्हें भगवद्-भक्ति और सत्संग के महत्व का ज्ञान हुआ और इनके जीवन में परिवर्तन आया । ज्ञानदास जी ने इन्हें गढ्ढा में श्री सहजानन्द स्वामी के दर्शन कराये । यह भी कहा जाता है कि यह सम्पर्क जूनागढ़ में हुआ था । श्री सहजानन्द स्वामी ने इन्हें स्वमार्ग की दीक्षा दी और अध्ययन करने की व्यवस्था कर दी । इन्हें संगीत सीखने के लिए बुरहानपुर भी भेजा । इस प्रकार इन्हें संगीत-विद्या का भी अच्छा ज्ञान हो गया । इनका भक्तिभाव दृढ़ होता गया और ये भगवान् कृष्ण एवं श्री सहजानन्द स्वामी की लीला के नये-नये पद बनाकर गाने लगे । इन्होंने वृन्दावनीय भक्ति और स्वामिनारायणीय भक्ति से सम्बन्धित सैकड़ों नये पद बनाकर गाये तथा स्वामिनारायण सम्प्रदाय के आठ कवियों में स्थान प्राप्त कर लिया और ब्रह्मानन्द कवि के समकक्ष माने गये । ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस प्रकार दयाराम कवि मधुर कंठ से शास्त्रीय एवं सुगम दोनों प्रकार के गीतों का गान करते थे, उसी प्रकार प्रेमानन्द भी शास्त्रीय एवं सुगम दोनों ही प्रकार के गीत मधुर कण्ठ से गाकर भक्तों को मुग्ध करने में समर्थ थे ।

प्रसिद्ध है कि सं० १८७८ में एक दिन प्रेमानन्द ने स्वरचित एवं माधुर्य भाव से सिक्त 'बिजोगनी गरबी' स्वामी सहजानन्दजी के पास गायी थी । उससे प्रभावित होकर श्रीजी ने 'इन्हें' प्रेमसखी नाम दिया था । इनके प्रति प्रगाढ़ प्रीति के कारण ही उन्होंने एक बार कहा था 'इस साधु (प्रेमानन्द) को उठकर साष्टांग दण्डवत करूँ, ऐसा मन हो जाता है । इसलिए ही उन्होंने इन्हें 'परमहंस' की गौरवपूर्ण उपाधि दी थी ।

दयाराम की तरह इन्होंने भी व्रजभाषा में अनेक रचनाएँ की हैं । कुछ रचनाएँ संस्कृत में भी हैं । ब्रह्मानन्द की शैली में चारणी पद्धति की भी इनकी कुछ रचनाएँ प्राप्त हैं । इन्होंने दयाराम की भाँति ही व्रजभाषा के अतिरिक्त पंजाबी, राजस्थानी, भोजपुरी और मराठी भाषाओं में रचनाएँ की हैं । 'श्री प्रेमानन्द काव्य' शीर्षक से प्रसिद्ध इनके ग्रन्थ में भक्ति विलास, भक्ति-विलास प्रगट महिमा, बारराशि, सातवार, थाल, आरतीओ, लीलावर्णन, राधाकृष्ण विवाह, लोयानी लीलानां पद, बडोदरा नी लीला नां पद, और श्रीगोपीनाथ जी नो गरबो आदि मिलाकर कुल २२८६ छंद हैं । श्रीकृष्ण से सम्बन्धित पदों की संख्या भी कम नहीं है । उन्होंने श्रीघनश्याम श्री सहजानन्द स्वामी को परम तत्त्व मानकर उनकी

लीला के अनेक पद बनाये हैं। कुछ में तो कृष्ण और घनश्याम श्री सहजानन्द स्वामी के स्वरूप की अनन्यता की अनुभूति भी लक्षित होती है। हम यहाँ कृष्णलीला के गोपीभाव से गाये गये कुछ पदों को उद्धृत कर इनकी कृष्णभक्ति की प्रगाढ़ता का संकेत देना चाहेंगे। इन्होंने विषय निरूपणात्मक, वस्तुपरक एवं भावमय आत्मपरक गीत भी लिखे हैं। जिस उत्कृष्टता से इन्होंने श्रीकृष्ण सम्बन्धी भावोल्लासपूर्ण पदों की रचना की है उसी उत्कृष्टता से सहजानन्द स्वामी के व्यक्तित्व में कृष्ण की भावना करते हुए तन्मयता पूर्ण पद रचे हैं। श्रीकृष्ण से सम्बन्धित अनेक पदों में इनके गोपीभाव का दर्शन होता है। परन्तु उनमें खुला शृंगार नहीं है। प्रभु के सान्निध्य का चित्रण ये समय एवं मर्यादा की सीमा के भीतर करते हैं। उदाहरण के लिए यहाँ एक पद उद्धृत है :

ओरा आवो छोलवर छोगालारे, रंगीला रसिया
इपाला रे।

जुगने करीने जोयुं मुरली तमारी, मोहना,
कंका वेली काजु नेणाना चालारे। रंगीला०
जगजीवन जोयुं भाव करीने, कहाना,
माणिगर मोठा बोला·मर;माला रे॥ रंगीला०

गुणियल हुं तो मारा गीत मां छे-घोली प्यारा,
मनोहर मोहन, मोहन मोरलीवाला रे। रंगीला०
प्रेमानंद नाःप्यारा, नेणां तारा मारा,
वाला मुने लाग्यो कहाना कांचा रे। रंगीला०

(प्रेमानंद काव्य, पद ५०, पृष्ठ १०२)

तन्मयता के चरम क्षणों में भी इनका संयम और निर्दोषिता द्रष्टव्य है :

लटकाला रे! मन मोधुं मारुं हांर मन मोधु रे मन।

श्याम सुन्दर वर लटकां उपर,
हां रे तनमन प्राण लई ने वारुं।

लाल! चटकनी चाल तमारी,
हां रे अति हेते रे घर मांहि हुं धारुं।

आंरादार अनोपम भोलिडुं,
हां रे मने लागे प्रीतम जी प्यारुं।

प्रेमानंद कहे जोई जोई जीयुं,
हांरे हसतु वदन अति सुन्दर सारुं। लटकाला०

(प्रेमानंद काव्य, पद ५३, पृष्ठ १५)

निम्नलिखित पद में श्री सहजानन्द स्वामी और भगवान् श्री कृष्ण दोनों के स्वरूप की भावात्मक एकता 'घनश्याम' शब्द के प्रयोग के माध्यम से दर्शायी गई है :

छबी पर वारी रे जाउं बलिहारी।
वारी हुं, वारी हुं, वारी रे जाउं बलिहारी॥

घोडलानी घुंमरमां आवे रे,
डोलरियो गिरधारी रे। जाउं०

अजब बनी घनश्याम कुंवरनी,
केसरनी असवारी रे॥ जाउं०

मोहन पर ने जोई जोई मोही रे,
गोकुल गामनी नारी रे। जाउं०

श्री घनश्याम मनोहर मूरति रे,
प्रेमानंद ने प्यारी रे॥ जाउं०

(प्रेमानंद काव्य, पद ५१, पृष्ठ १५)

इस पद में 'केसर की असवारी' पद के प्रयोग से श्री सहजानन्द स्वामी की माणकी नामक प्रसिद्ध घोड़ी की ओर संकेत है, फिर भी सामान्य पाठक इसमें श्रीकृष्ण के स्वरूप की ही भावना करता है।

नीचे के पद में गोपीभाव का चित्र अंकित है :

रुडां लागे छे मोहन लाल!
लटका तारां रे,
मोह्या मोह्या छे सुन्दर छोय,
मनडां मारां रे। रुडां०

रात दिवस हुं तो घेली फरुं छुं,
कोई नव सूझे काम॥ लटका०

लोक तणी मरजाद रे मेली,
जोवाने सुन्दर श्याम। रुडां०

सगा कुटुम्ब पीयर साथरिया,
सरबे मेल्यां विसारी । लटका०

मन क्रम वचन तमने वरी छुं,
गुणवन्ता गिरधारी ।। रुंडा०

हसबुं ने बोलबुं जोयुं तमारुं,
घडीए न उरथी विसारुं । लटका०

तन मन धन आ जीवन मारुं,
सरवस तम पर पारुं ।। बरुंडा०

वाटे वाटे, बाला लटका
तमारां जोती फरुं करतार । लटका०

प्रेमारे नंदना श्याम ।
सनेही छो मारा हैडा ना हार ।। रुडा०

(प्रेमानंद काव्य, पद २४२, पृष्ठ ६९-७०)

इनके विशाल पद साहित्य में विप्रलंभ शृंगार के ऐसे श्रेष्ठ पद प्राप्त हैं जिनमें भक्ति के तीन सोपानों—प्रेम, आसक्ति और व्यसन, की मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है।

इनके हृदय की आर्द्रता प्रेमाभक्ति के पदों में बानी के रूप में स्पन्दित हुई है। इसलिए इनकी रचनाओं को साम्प्रदायिक उपासना, ध्यान और प्रार्थना में स्थान मिला है। 'निर्विकल्प उत्तम अति' शब्दों से प्रारम्भ होने वाली प्रार्थना सत्संग के समय प्रत्येक मन्दिर में या घर में गूंजती है। शयन के पहले 'प्रथम श्रीहरिने चरणे शिश नवमाउं' यह पद और 'वन्दुं सहजानन्द रसरूप, अनुपम सारने रे लोल' एवं 'मुने तारा मुखडा नी माया लागी रे, सलूणा श्याम सोहागी' आदि पद आज भी गाये जाते हैं। 'आश्रम भजनावलि' में स्थान प्राप्त इनके हिन्दी पद 'बिरद भरोसे बहुनामी' और 'बिसर न जाजो मेरे मीत' भी सुन्दर हैं। ऐसे पदों में दैन्य तथा प्रेमाभक्तिपूर्ण भावों का लालित्य और वचनमाधुर्य देखते ही बनता है।

श्री कन्हैयालाल मुंशी ने कहा है: 'प्रेमानन्द भक्तिसाहित्य की दृष्टि से स्वामिनारायण पंथ के महान् कवि हैं; इतना ही नहीं, नरसिंह मेहता के पश्चात् मध्यकालीन साहित्य में यदि किसी के काव्य में शुद्ध भक्ति दीखती है तो इस प्रेमानन्द में ही।'

इनकी भावभक्ति के परिचायक चार पद यहाँ प्रस्तुत हैं:

व्रजभाषा (हिन्दी) का पद

(१)

दरस बिना मोरे तरसत नेना।
श्वेत पाद्य बिच सुमन शिखर छबी
चाहत दृग दिन रेना।।

लोचन ललित मदन मदमोचन
कुटिल भौंह की सेना।।

सुन्दर हसित वदन बिन देखे
पडत नाहीं पल चेनां।
प्रेमानन्द इन नेनकी आगे
कब देखूं सुख देना।।

गुजराती-पद

(२)

सखी आज मोहन दीठा रे,
शेरीये आवतारे।
मोरलीमां गीत मथुरां रे,
चाल्या आवे गावतारे।।

आवे वहालो हँसता ने रमता रे,
गोवालाना साथमां रे।
उछलता आवे मोहन रे,
फूल दडो हाथमां रे।।

रंगडानो रातो ने मातो रे,
चाल्या आवे शोषमां रे।
रसीयो जोवाने काजे रे,
उभी छूं गोखमां रे।।

मोहनजीनुं मुखडुं जोयुं रे,
घुघटनी ओटमां रे।
जोइने घायल थैछुं रे,
नेणां केरी चोटमां रे॥

हैया पर हार ज लेहके रे,
रहयुं मन मोहीने रे।
बेहनी प्रेमसखीना नाथने रे,
रही छुं जोइने रे॥

'सखी ! सेरी से आते आज (मैंने) मोहन को देखा। मुरली में मधुर गीत गाते हुए ये चले आते हैं। ग्वालों के संग प्रीतम हँसते-खेलते आते हैं। मोहन तो उछलते आते हैं। हाथ में फूल-गेंद है। रंगीला मदमस्त मस्ती में चला आ रहा है। रसिया को देखने के लिए गोखे में खड़ी हूँ। घूँघट की आड़ में मैंने मोहनजी का मुखड़ा देख लिया। देख कर नयन-चोट से मैं घायल हो गयी। हिये पर हार ही लहकता है, मेरा मन मोहित हो गया है, प्रेमसखी के नाथ को मैं देख रही हूँ।'

के. का. शा.
म. ई. प्र.

फूढ़

भक्त-कवि फूढ़ सन् १५९६ से १६२७ ई० के बीच विद्यमान थे, ऐसी जानकारी इनकी रचनाओं से प्राप्त होती है। ये जाति के औदीच्य अनाविल ब्राह्मण थे और नवसारी जिलान्तर्गत बारडोली महाल के सूपा गाँव के निवासी थे। इनके पिता का नाम गणेश था। 'रुक्मिणीहरण' काव्य के अन्त में यह बात कवि ने बताई है—

श्रोतागन सांभलो, कविता कहे मतिमंद।
संवत सोला सौ बावन, मन उपजा अनंद॥

अधेश्वरना वास पासे, पूर्वे सुपा गाम।
गणेशसूत फूढो केहे सभाने परणाम॥

इससे स्पष्ट है कि ये सं० १६५२ में विद्यमान थे। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में इससे अधिक जानकारी नहीं प्राप्त होती। इनकी रचनाओं का प्रमुख विषय कृष्णकथा है। ये रचनाएँ हैं—'पांडवविष्टि' (रचना संवत् १६७७) 'मल्ल अखाड़ाना चंद्रावला; 'शृगालपुरी' (रचना-संवत् १६८२) और 'रुक्मिणी-हरण' (रचना-संवत् १६५२)। इन कृतियों के उपरान्त उन्होंने 'कपोत-आख्यान' और 'हरिश्चद्राख्यान' भी लिखे हैं। 'शृगालपुरी' में कृष्णभक्त सगालशा और चेलैया की लोककथा पद्य में वर्णित है। 'मल्ल अखाड़ना चंद्रावला' में कंसवध की कथा है। 'रुक्मिणीहरण' शुद्ध आख्यान-काव्य है। 'पांडवविष्टि' १३६ छप्पयों में रचित है। इस काव्य में दुर्योधन के दरबार में कृष्ण-विष्टि के उपरान्त सभापर्व से आरम्भ कर महाभारत-युद्ध एवं पाण्डवों के राज्यारोहण तक की कथा सुश्लिष्ट ढंग से संक्षेप में वर्णित है। आख्यानकार के रूप में फूढ की अच्छी प्रसिद्धि है।

इन्होंने अपने को 'मूढ़ फूढ़' बताया है, जो इनकी नम्रता का द्योतक है।

इनकी रचनाओं में से एक अंश दर्शनीय हैं :

कन्यारूप अति यौवनवेश।
नखशिख शोभा अंग सुदेश॥

शशिमुख सविता तप तन कोड।
कामरूप रह्या कर जोड़ि॥

चूंनडी जादर चंपावरणी।
लोचने ललित लजावे हरणी॥

करला केश रच्या आपेल।
नैहरी-नागवंताली वेल्य॥

चिबुक श्याम अधर प्रवाली।
दाड़िम दाँत तँबोले रगाली॥

पाये नेपुर झांझर झमके।
बींछीड़ा छम छम घूंघर छमके॥

चली सुहागिन झाक-झमाल।
मक्ताफल भरि कंचन थाल॥
(रुक्मिणीहरण : रुक्मिणी का अंग-वर्णन)

'कन्या का रूप अधिक है। यौवन का वेष है और सुन्दर अंगों में नखशिख शोभा है। चन्द्र-सा मुख है, सूर्यप्रभा सदृश देह है और कामरूप हाथ जोड़ देख रहे हैं। श्वेत रेशम के वस्त्र की चूनरी चम्पावर्णी है। ललित लोचन हरनी को लज्जित करते हैं। काले केश नागिन के समान हैं। चिबुक श्मामवर्ण की और मूंगे की भाँति लाल रंग के अधर हैं। अनार के दानों जैसे दाँत है, पान से मुख रंजित है। पैरों में नूपुर झमक रहे हैं और बिछुओं में लगे हुए घुंघुरू छम-छम करके बज रहे हैं। इस प्रकार वह सौभाग्यवती बनठन कर सोने की थाल में मोती भरकर चली।'

'शृगालपुरी' की लोकवार्ता का भी एक उदाहरण द्रष्टव्य है। सगालशा ने कापालिक को भोजनथाल दिया, उसका वर्णन करते हुए फूढ़ ने लिखा है—

कंचनमणि में थाली विशाल।
सूध शालि पीरसी मगदाल॥
खीरखांड घृत अमीय समान।
सो-सो शाक पाक पकवान॥

आदू गरमेर, गुंदा मरी।
केसर रस केरां काचरी॥

आख्यानकार एवं लोक कथाकार के रूप में ये गुजराती साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

म. ई. प्र.
अं. श ना.

बखता भाई देवका

बखता भाई देवका भावनगर जिले के बेला नामक गाँव के निवासी थे। विपुल पदों की रचना करके इन्होंने कृष्ण-भक्ति साहित्य की अपूर्व सेवा की है। इसके अतिरिक्त शामला नाम से इन्होंने श्रीकृष्ण को संबोधित करते हुए अनेक छन्दों की भी रचना की है। इनकी अप्रकाशित कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी एक रचना है-'बख्रतेश वाणी'। यह ग्रंथ इनके वंशजों के पास उपलब्ध है। वखताभाई के कृष्ण भक्ति के पद सौराष्ट्र में विख्यात हैं। उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं—

आ व्रजमां हवे केम रेवाशे मावजी चोरे मई रे।
मावजी चोरे मई, हवे एने कोई नो बीकुं नई रे॥

सावध रहीने आप सवारे, ज्यां गावडी दोपा गई रे।

ए कोण जाणे क्यांथो आवियां कानो, संगमांसाथी लेई रे॥

माखण खांधा महिडा पीधां, डाबरा भरीने दई रे।
ए—ठामड़ां कीधां सघलां ठाला (हुँ) तो भलतां भेचक थई रे।

माता जशोदा मानता नथी (अने) नन्दजी माने नईं रे।
ए-अलबेलानी राव अमारे (हवे) करवी कोने जई रे॥

माता जी पासे जुथ्थ मलीने, गोपीउ रावें गई रे।
ए—सामो उभो वखेतश नो स्वामी ठीक मकावल थई रे॥

दोहा

नटवर बात नेह थी, ठाम बिना नव थायु,
मूंगो मनमूंझाय, सोपुं भणतां शामला॥

हसते मुखे अमने हरि, माधव देतो मान,
करडी नजरूं कान शणे कीधी शामला॥

जन्म्यो कुल जादव, उछर्यो घर आहीर,
परखी न अमणी पीर, छे वट सुधी शामला॥

वाणो तर थई वीठला, हुंडी लीधी हाथ,
नरसैंयानी नाथ शरमु राखी शामला॥

ल. पिं. ग.

बजमाल महेडु

बजमाल महेडु सौराष्ट्र के जामनगर राज्य के लोठियाँ नामक गाँव के निवासी थे। इनके पिता श्री यरवत जी महेडु कवि तथा भक्त थे। जामनगर के राजा के सामने यरवतजी महेडु तथा उनके भ्राता भाई जी भाई ने आत्महत्या करके अपने जीवन का अन्त कर लिया था। अतः ये सात-आठ वर्ष की छोटी आयु में ही

गाँव से भागकर मुली चले गये और वहाँ ब्रह्मानन्द स्वामी (लाडुदानजी) के पास सेवक के रूप में रहे। समर्थ गुरु ने इन्हें उत्साह और निष्ठा से विद्या सिखाई। तेरह वर्ष की अवस्था में ये शतावधानी हो गये। विद्याभ्यास पूर्ण करने के पश्चात् गुरु से इन्होंने आशीर्वाद तथा विदा माँगी। बाद में शेखपाट नामक गाँव में आकर रहने लगे। इसी बीच जामनगर के राजदरबार में एक दिन एक शतावधानी मारवाड़ी भाट कवि आये। जाम साहिब रणमल से उस कवि ने चर्चा करने के लिये एक कवि की माँग की। साथ ही उसने कहा कि आपके पास कोई कवि न हो तो विजय-पत्र लिख दें। तब जामसाहिब रणमल ने शेखपाट से बजमाल जी महेडु को सम्मान सहित बुलाया, उनका सत्कार किया तथा मारवाड़ी भाट कवि के सामने उन्हें प्रस्तुत किया। मारवाड़ी कवि को बजमाल जी ने हरा दिया। तब सारा दरबार 'वाह-वाह' कर उठा। जामसाहिब ने राजकवि के रूप में बजमाल जी को प्रतिष्ठित किया। जामसाहिब रणमल के पश्चात् जामसाहिब विभाजी, जामनगर की गद्दी पर बैठे। वे भी कवित्व शक्ति के उपासक, साहित्य-प्रेमी तथा सज्जन थे। उनकी स्मृति में इन्होंने 'विभा-विलास' नामक एक इतिहास-ग्रन्थ की रचना की। इसमें जाडेजा कुल का इतिहास है। इस रचना के उपलक्ष्य में जामसाहिब विभाजी ने इनको लोठिया नामक गाँव लिख दिया।

राष्ट्रकवि श्री झवेरचन्द मेघाणी इनके सम्बन्ध में लिखते हैं:—'बजमाल जी महेडु वीर छन्द के वारिधि थे। भुजंगप्रयात तथा उसी प्रकार वीररसोल्लास पूर्ण छन्दों के आकार में अनेक प्रकार के डिंगल वृत्तों को सहजता से इन्होंने चित्रित किया है। इनके हृदय में ये छन्द बसे हैं। उन छन्दों के साथ फूलों की गेंद की तरह इन्होंने क्रीड़ा की है।'

'विभाविलास' में आये हुए, कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी कुछ छन्द यहाँ प्रस्तुत हैं—

कृष्ण-स्तुति

पूरण पुरुष प्रकाश, जदुकुल मण्डन जनमिया।
त्रवढा मेटण त्रास, बड़ा भाग बसुदेव रा॥

उतपन पालक प्रलय पुनो, कारन करन अखंड।
वसुदेव ग्रह अवतरे, प्राकस तेज प्रचण्ड॥

छन्द

शुभ व शुगन सजन सबहीं सराय।
यह जोग कृष्ण अवतरे आय॥

वीप मदनरूप घन सघन बान।
मनु पीत बसन तडिता समान॥

तह शीश केश जनु तिमिर तार।
शुभ सुमन भरित बैनी सुढार॥

मणि मुकुट क्रोट बजयन्ति माल।
वर श्रोन जटिल कुण्डल विशाल॥

पितुमात दरस कर लगे पाय।
अध्वीत रूप मम ग्रेह आय॥

अस्तूति करन लागे अपार।
प्रनमामि देव संसार पार॥

अद्वैत द्वैत भासन्त एक।
कारन्न रूप कारज अनेक॥

तुम दयानाथ देवाधिदेव।
सुर नरहिं नाग जहि करत सेव॥

वन्दना करत वह तन विहाय।
छिप गयो तेज फिर तिमिर छाय॥

कर लगे रुदन करुना निधान।
मानसी भाव शिशुना समान॥

पितु मात लगे सोचन सपोह।
मिट गयो ज्ञान छायो समोह॥

दो० गोकुल बस गोकुलपति, अकल ईश अवतार।
जनम लियो वसुदेव घर, भोमी उतारन भार॥

कहूँ चरित सब कृष्ण के, बाढ़े ग्रन्थ प्रमान।
बरनी सूक्षम बात सो, जथामती अनुमान ॥

ल पिं ग.

बस्तो डोडियो

बस्तो डोडियो (उपस्थिति काल सं० १६२४-१६५३) लेडवा पाटीदार जाति के थे। इनके पिता का नाम काला था। वे खेड़ा जिले के बारसद गाँव के निवासी थे। 'शुकदेवाख्यान' बस्तो की प्रसिद्ध काव्यरचना है। इसे इन्होंने मार्गशीर्ष कृष्ण १३ सं० १६५३ में पूरा करने का उल्लेख किया है :

'संवत सोला से त्रेपन भेगीए कीधो मुने पावन।
मागसर वद तेरस जाण पूरण कीधुं शुकाख्यान ॥
ले लागी हरिना चरण शुं, ज्याहार शुकसांजोग
वेदव्यासरे।
बस्ते कीधुं अभ्यास रे डोडीया कुल वारसद
महं वासरे ॥

बचपन से ही बस्तो का मन प्रभु भक्ति की ओर अभिमुख था। संसार से मन विरक्त हो जाने के कारण इन्होंने विवाह करने से इनकार कर दिया। ये १८ वर्ष की आयु में गृह-त्याग कर रामेश्वर की यात्रा के लिये चल पड़े। वहाँ से तिरुपति के बालाजी और गोकर्णेश्वर महादेव के दर्शन करके चार-पांच साल के बाद जब अपने गाँव बारसद पहुंचे, तब इनके माता-पिता का स्वर्गवास हो चुका था और भाइयों ने सारी सम्पत्ति का बँटवारा कर उसपर अपना अधिकार कर लिया था। बस्तो के लिए कुछ भी शेष नहीं छोड़ा था। इस घटना पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए बस्तो ने एक पद में लिखा है :

'माया ने छोडी दीधी, प्रभु भज, मायाने छोड़ी दीधी।
मात-तात पितामह डांल्या, हारी बाजी हाथ कीधी ॥
बैकुंठनाथ ने मेडे जातां, लाखेणी लहाणी लीधी।
आ संसार मां सुखनहीं केथे, बस्ताभाई भाले ॥
भाइयों अे दूर हांकी मेलयो, ठाणे कीधुं छो नंदलाले।

अपने गाँव में कुछ दिन ठहरकर ये फिर गोकुल और मथुरा की यात्रा पर निकल पड़े। वहाँ से ये बुरानपुर जाकर रहने लगे। इनका शेष जीवन वहीं व्यतीत हुआ। बुरानपुर में पुनर्लग्न के लिए उत्सुक एक विधवा स्त्री को वैराग्योपदेश द्वारा बस्तो ने हरि भक्ति की ओर उन्मुख किया। इनके जीवन विषयक अनेक किंवदतियाँ प्रसिद्ध हैं।

इन्होंने 'शुकदेवाख्यान' के अतिरिक्त 'सुभद्राहरण' आख्यान भी लिखा था, जो अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। कवि का एकमात्र प्राप्त काव्यग्रन्थ ४० कड़वों में विभक्त 'शुकदेवाख्यान' ही है। शांतिपर्व की कथावस्तु पर आधारित इस पौराणिक आख्यान में कवि ने परिष्कृत गुजराती भाषा का प्रयोग किया है। इनकी कविता में रसमय कवित्व शक्ति के दर्शन होते है। बस्तो ने उसे गुरुकृपा का फल माना है। सम्भवतः संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण इन्होंने किसी ब्राह्मण गुरु से मूलकथा का श्रवण करके उसे गुजराती में पदबद्ध किया है।

शुकदेवाख्यान से कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है :

शुकदेव जी जन्म के बाद तुरंत ही मां की गोद छोड़कर वन में चले गये थे। रुदन करती हुई माता का शब्द- चित्र कविने इस प्रकार खींचा है :

हरिप्रतापे हरखती हुँ, धरी ने मन आनंद जो।
व्यास विमासी क्षीण थया, जेम पुनम पडवा चंद्र जो ॥
कर्मे सांझा हं री, महादेवे कीधो दंड जो।
ए पुत्र बिना परिवार सुनो, मारे वस्ती उजड रान जो ॥
जोडुं जोती जाणती मारा आत्मतणो उद्धार जो।
तो मंदिर करावत लोहतणुं भोगल भीडत बारजो ॥

१८ वें कड़वे में वृद्ध पिता व्यास अपने पुत्र शुकदेव जी के पीछे दौड़ रहे हैं। कवि ने करुणरस युक्त पुत्रप्रेम का आलेखन इस प्रकार किया है :

पुत्र पूठे व्यास विचक्षण, बेगे बाहारे धाय रे।
पगलां जुवेने नयन लुहे, मोह पुत्रनो थाय रे।

व्यासजी बोलया शुक नानडीआजी,
तमने वाछुं खोले चडीआ जी ॥

अं. शं. ना.

बलभद्र

बलभद्र के विषय में केवल इतना ज्ञात है कि ये एक वैष्णव कवि थे और सं० १८९६ के लगभग विद्यमान थे। इनके निवास स्थान सम्बंधी कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। इनकी तीन रचनाओं का उल्लेख मिलता है–भक्त नामावली, मारुति पच्चीसी और हनुमान अष्टक।

अ. शु.

बालकृष्ण

बालकृष्ण अहमदाबाद के निवासी थे। इनका समय अविदित है। इनकी एकमात्र उपलब्ध रचना 'सूर गूढ़ार्थ पद संग्रह' है।

अ. शु.

बालजी राम

बालजी राम मोरार साहेब के शिष्य थे। इन्होंने आरती, थाल, होरी जैसे पदों में गुरु-महिमा का गान किया है। इनकी गुरु-निष्ठा संप्रदाय में प्रसिद्ध हैं। इनके दो पद प्रस्तुत हैं:

(थाल)

मोहन संग रसिया रीते पधार्या, स्नेह करी प्रीते।
निरखता तन मन सुध भूली, हरीनुं मुखडुं जोई फूली।
आलिंगन दीधा छे रंगे, रस बस मोहनंनी संगे।
अरुण पंकज लोचन सार, चितवत त्रिविध मोचन मार।
कपाले श्रम विन्दु ललके, दाणा मोतीना झलके।
छबीला छबि बनी न्यारी, आरती ततपेर संवारी।
श्रद्धा कनकनी थाली, दीपक ज्ञान उजाली।
अगर संगंधि छे सारी, तन मन नाखु ओवारी।
बाजट स्नेह तणा धरीआ, हेते प्रीतम परवरीया।
मोदक मोद तणा करीआ, स्वाद अनन्त मोही भरीआ।
न्योछावर आपी अर्पाण करीआ, भोजन भावता धरीआ।
खटरस संपती कहावे, त्रीकमजी ने मन भावे।
भोजन नाना विधि करीया, हरिने हेते पीसरीआ।
कनकनी गंगाजल झारी, हरीने सन्मुख लई ठारी।
भोजन करीने उठया घनश्याम, पोती पुर मननो काम।
शान्ती पान बीड़ी वाली, रंगे प्रीतमने आली।
रुदेमां प्रेम पलंग ढाली, सुखिया कीधा वनमाली।
चरण तलासु छुं हेते, रसिया पूरबनी प्रीते।
दास छोटा गुरु चरणे नीते, हरीने रुदीयामां चीते।

(होरी)

ऐसे फागुन आयो फूल-फूल। मैं तो खेलू प्रीतम संग झूलझूल ॥

मूरत मनोहर देखि श्याम की, तन-मन सुध गई भूलभूल ॥

प्रीति पिचकारी श्याम मोहि मारी, गई रदीये की गाँठी खूल-खूल ॥

बहीआं पकड़ मोहि चरण में लीनो, करी रे सखिन में अमूल मूल ॥

वाहाल मोरार चरण रज छोटा, प्रिया की महिमा अतूल तूल ॥

ल. पिं. ग.

बिहारीदास

बिहारीदास का मूल-नाम वेरोजी था। इनका जन्म सं० १८०४ में कच्छ के वांढाय ग्राम में धल जाति के राजपूत परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम मेघराज था। वे सत्संगी और धर्मप्रेमी सज्जन थे। बचपन से ही ये खेती के काम में लग गये। पिताप्रेरित प्रभुप्रेम के बीज इनके हृदय में इस काल में बो दिये गये।

उस समय राजपूतों में माता-पंथ का प्रचार था। बुद्धिशाली वेरोजी को प्रतीत हुआ कि मोक्ष-प्राप्ति के लिये तो मातापंथ के मार्ग से भिन्न कोई अन्य साधन आवश्यक है। सत्य के अन्वेषण के लिये विह्वल इनका मन योग्य गुरु की खोज में भटकने लगा। आखिर वांढाय गाँव से सात कोस की दूरी पर स्थित हमला गाँव के निवासी देवा साहब के

चरणों में ये नतमस्तक हुए। देवा साहब के व्यक्तित्व और बानी से वेरोजी प्रभावित और प्रसन्न हुए। तभी से ये दिन में खेतों में कठिन परिश्रम करते और रात को वांढाय गाँव से पैदल हमला गाँव जाकर गुरु देवासाहब के दर्शन तथा सत्संग कर धन्य होते थे। यह इनका नित्यक्रम बन गया।

पिता के आग्रह और गुरु देवासाहब के आदेश से वेराजी ने गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ किया। इन्हें जेठुजी (पुत्र) और हरिबा (पुत्री) नामक दो संतानें हुई। वेरोजी के हृदय में निरंतर कृष्ण-प्रेम की धारा तरंगायित होती रहती थी। इन्हें सांसारिक विषयों के प्रति घृणा थी। अतः पुत्र जेठुजी के वयस्क होने पर उसे परिवार की जिम्मेदारी सौंप कर ये हमेशा के लिए गाँव छोड़ देवासाहब के चरणों में जा बैठे। देवा साहब ने वेरोजी को गुरु-मन्त्र दिया और नया नामकरण किया—बिहारीदास।

गुरुसेवा और भजन कीर्तन में ये अपने दिन बिताने लगे। इन्होंने केदारनाथ, जगन्नाथ, अयोध्या, इत्यादि तीर्थस्थलों की पैदल यात्रा की। इसके बाद इन्होंने अपने गाँव वाँढाय में एक आश्रम की स्थापना की और वहीं भजन करने लगे।

बिहारीदास की स्मरणशक्ति तीव्र थी, हृदय कवि का था। अतः इनके अन्तःकरण से पदधाराएँ प्रवाहित होने लगीं। कवित्व शक्ति का विकास करने के उद्देश्य से इन्होंने कुछ दिन खाखरके जाडेजा कवि उन्नड़जी के पास पिंगलशास्त्र का भी अभ्यास किया था। बिहारीदास के शिष्यों में हरिदासजी प्रमुख थे। गुरु देवा साहब के निधन के पश्चात् वांढाय गाँव के आश्रम में ही इनका देहोत्सर्ग हुआ।

बिहारीदास की रचनाएँ हैं–'कृष्ण-बालविनोद', 'गुरुस्तुति', 'प्रास्ताविक कुंडलियाँ' और कृष्णविषयक अनेक पद एवं भजन। कृष्ण सम्बन्धी पदों में माधुर्य भक्ति की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई हैं।

बिहारीदास के दो पद यहाँ दिये जाते हैं :

रहो मारी मीटलडीमा भावा।
नहि दउं तमने हो जावा॥

अमने भोजनियां नव भावे।
नयने निंदरडी नव आवे॥

सुखडां शामलियानां साले।
व्याकुल कीधां रे हो वहाले॥

पलक न मेलुं प्रियतम तमने।
बहाला लागो छो अमने॥

सुंदर वर अविनाशी पामी।
दास बिहारी ना हो स्वामी॥

'हे मावजी (कृष्ण)! मेरी दृष्टि में रहो, तुम्हें जाने नहीं दूँगी। हमें भोजन नहीं भाता और नयनों में नींद नहीं आती। साँवले के सुख हमें उद्विग्न करते हैं, बालम ने हमें व्याकुल किया है। हे प्रियतम! तुम्हें पलभर भी दूर न करूँ, (क्योंकि) हमें अत्यन्त प्रिय लगते हो! दास बिहारी के स्वामी-सुन्दर-अविनाशी वर को मैंने पा लिया है।'

(२)

कठण मनडां कीधां मारे वहाले रे।
मारा नाथ बिना केम चाले रे॥

वहाले परथम प्रीतडी कीधी रे।
मथुरा जईने मेली दीधी रे॥

वहाले वलती खबर न लीधी रे।
मारा दिनडा केम करी जाशे रे?
मारा प्राण जीवन नहि पासे रे॥

अमथी ए दुःख केम सहेवाशे रे?
स्वामी 'बिहारी' ना तमने शुं कहीए रे?
अमे दास तमारा थईए रे॥

अमने जेम राखो तेम रहीए रे।

'मेरे बालम ने मन कठिन किया। अपने नाथ बिना जीवन कैसे बीते? बालम ने पहले प्रीति की

और मथुरा जाकर छोड़ दी। बालम ने बाद में सुधि भी न ली। मेरे दिन कैसे जायेंगे? मेरे प्राणजीवन पास नहीं है। हमसे यह दुःख कैसे सहा जायगा? हे बिहारी के स्वामी! तुम्हें क्या कहें? हम तो तुम्हारे दास बने, हमें जैसे रखो वैसे रहें।'

म. ई प्र.

बैकुंठदास

पुष्टिमार्गीय कवि बैकुंठदास (१७ वीं शती वि० का उत्तरार्ध) श्री गोकुलनाथ जी के शिष्य थे। इससे अधिक इनके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है। इन्होंने श्रीमद्‌भागवत की रासपंचाध्यायी पर आधारित 'रासलीला' नामक ग्रंथ की रचना की है। काव्य के आरंभ में गुरु गोकुलनाथ जी की वंदना करते हुए ये लिखते हैं:

'प्रथमि प्रणमुं श्रीगोकुल चंदनि।
रसिक शिरोमणि आनंदकंदनि॥
मंदमति क्यंम वर्णवुं जे ईस ब्रह्मा नव लहि।
अकल लीला कृष्ण केरो नित नित ते शुनिकहि॥

इसमें राधाकृष्ण की रासलीला का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। रासक्रीड़ा का विषय ही मनोहारी और चित्ताकर्षक है। बैकुंठदास ने पुष्टिमार्ग की परंपरा के अनुसार रासलीला का गुणगान किया है।

अं. शं. ना.

बैजू बावरा

मध्यकालीन भारत के प्रसिद्ध संगीतज्ञ बैजूबावरा गुजरात के सुलतान बहादुरशाह के दरबारी गवैया और चांपानेर के निवासी थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में जो ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है, उसका सार नीचे दिया जा रहा है।

इनका मूल नाम बैजनाथ था और जाति से ये नागर ब्राह्मण थे। ये दिल्ली के मुगल बादशाह हुमायूँ के समकालीन थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा ग्वालियर में हुई थी और स्वामी हरिदास जैसे समर्थ गुरु का मार्गदर्शन इन्हें मिला था। ग्वालियर के राजा मानसिंह के साथ कुछ समय तक रहकर ये गुजरात के सुलतान बहादुरशाह के दरबार में चले आये थे। फिर आजीवन गुजरात में ही रहे। ऐसा प्रसिद्ध है कि अपनी उत्तरावस्था में इन्होंने सन्यास ले लिया था।

उन दिनों ग्वालियर संगीत का प्रसिद्ध केन्द्र था। राजा मानसिंह की छत्रछाया में वहाँ संगीत को बहुत प्रोत्साहन मिला था। मानसिंह स्वयं माने हुए संगीतज्ञ थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि उन्होंने बैजू की सहायता से गायन की ध्रुव पद शैली का आविष्कार किया था। इस बात का उल्लेख 'आइने अकबरी' में अबुल फजल ने किया है। राजा मानसिंह के दिवंगत होने के पश्चात् ग्वालियर राज्य दिल्ली के अधीन हो गया और यहाँ के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ भी अन्यत्र चले गये। बैजू भी ग्वालियर छोड़कर गुजरात के सुलतान बहादुरशाह के राज्याश्रय में चले गये।

उत्कृष्ट कोटि के संगीतकार होने से बैजू को 'संगीत नायक' पदवी मिली थी। 'संगीत नायक' की यह पदवी केवल उसी संगीतज्ञ को दी जाती थी जिसे प्राचीन और अर्वाचीन दोनों संगीत-पद्धतियों का गायन, वादन और नृत्य के साथ रस, छन्द आदि शास्त्रों का भी पूर्ण ज्ञान हो। बैजू इन सभी शस्त्रों में पारंगत थे। अतएव इनकी गणना भारत के मूर्धन्य संगीतज्ञों में की जाती है। किन्तु आध्यात्मिक और अंतर्मुखी प्रवृत्ति होने के कारण वह तानसेन जितनी ख्याति प्राप्त न कर सके।

गुजरात में बैजू के संगीत-कौशल के सम्बन्ध में कितनी ही चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रचलित हैं, जिनमें से एक यह भी है कि सन् १५३५ ई० में जब हुमायूँ ने गुजरात के सुलतान बहादुरशाह को हराकर चांपानेर में कत्लेआम का हुक्म दिया तो बैजू ने अपने संगीत के प्रभाव से हुमायूँ को मन्त्रमुग्ध करके नरसंहार रुकवाया था। 'मीराते सिकंदरी' के लेखक ने इसका विस्तार से उल्लेख किया है।

महान् संगीताचार्य और निपुण गायक होने के साथ-साथ बैजू श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त और कवि भी थे। श्रीकृष्ण की लीलामाधुरी का इन्होंने अपने पदों में श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गान किया है। इन्होंने विभिन्न राग-रागनियों में निबद्ध ध्रुवपद, भजन और स्फुट पदों की रचना ब्रजभाषा में ही की है। ये पद बड़े ही अनूठे एवं काव्यकौशलयुक्त हैं। इनका प्रमुख विषय ईश्वर-भक्ति है। श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त होते हुए भी बैजू ने सभी देवी-देवताओं को अभिन्न मानकर स्तुति की है। देवी सरस्वती, ब्रह्मा, विष्णु और महेश की स्तुति-वंदना के साथ इन्होंने निरंजन, निराकार ईश्वर का भी गुणगान किया है। इनके सभी पद गेय और संगीतात्मक हैं।

'संगीत राग कल्पद्रुम' तथा अन्य ग्रन्थों से बैजू के कुल मिलाकर ८४ पद उपलब्ध हुए हैं। बैजू की 'रागसागर' और 'संगीत चौकदेशा' नामक रचनाएँ अभी तक अप्राप्य हैं। संगीत की दृष्टि से चौताल, झपताल और धमार आदि में निबद्ध गीतों की बंदिशें बड़ी ही आकर्षक हैं। उदाहरणार्थ प्रस्तुत है राग 'तोड़ी' में निबद्ध एक रचना :

(१)

मेरे तो कृष्ण नाम आधार, जिन रच्यौ संसार।
जग-पसार लोभ तृष्णा काम क्रोध तजौ जंजार॥
युग-युग भक्त हेत अवतार लेत हैं भक्तन प्राण आधार।
'बैजुबावरे' प्रभु को चरण शरण गहिए,
मनुष जनम नहीं बारम्बार॥

(२)

पक्षीमणि गरुड, गजमणि ऐरावत,
दिनमणि दिवाकर।
गीतमणि संगीत, वनमणि वृंदावन,
'दास बैजु' मणि मुख मुरलीधर॥

अं. शं. ना.

बोडाणा भगत

भगवान् द्वारकाधीश (रणछोड़राय) की मूर्ति द्वारका से डाकोर लाने वाले भक्त बोड़ाणा की कथा गुजरात में सुप्रसिद्ध है। वजेसिंह (विजयसिंह) बोडाणा राजपूत जाति के थे। इनका समय तेरहवीं शती है। युवावस्था में बोडाणा को भगवान् द्वारकाधीश की रट लगी। वर्ष में दो बार ये पैदल डाकोर से द्वारका जाते और द्वारकाधीश के दर्शन कर एवं गोमती में स्नान करके धन्य बनते। ७२ वर्ष की आयु तक इन्होंने द्वारका जाने का व्रत निभाया।

कहा जाता है कि डाकोरप्रेमी भक्त विजयसिंह बोडाणा, द्वारकाधीश की प्रतिमा बैलगाड़ी में रखकर द्वारका से डाकोर लाये थे। इसी घटना के आधार पर गुजरात के कई मध्यकालीन कवियों ने बोडाणा-चरित की प्रशस्ति अपनी रचनाओं में की है। भक्त बोडाणा के समय में बार-बार मुस्लिम आक्रमण होते थे। वे मन्दिर ध्वस्त करते और मूर्तियाँ तोड़ते थे। बोडाणा ने सोचा कि भगवान् द्वारकाधीश की प्रतिमा की विधर्मी आक्रामकों से तभी रक्षा हो सकेगी जब उसे किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया जाय। इस प्रकार की बुद्धि से बोडाणा द्वारका के मन्दिर से मूर्ति उठाकर डाकोर लाये थे। ऐसी भी जनश्रुति है कि श्रीकृष्ण ने स्वयं स्वप्न में आकर बोडाणा को यह कार्य करने का आदेश दिया था। कहा जाता है कि रात के समय जब बोडाणा मूर्ति लेने मन्दिर में गये, तो उस के बन्द द्वार स्वतः खुल गये और भगवान् स्वयं आकर बोडाणा की बैलगाड़ी में बैठ गये। इस प्रकार भगवान् द्वारका से डाकोर आये। इस घटना के बारे में कहा जाता है :

देवदिवालो दिनको, संवत बाराबार।
पुरी द्वारका जायके, ग्रहि लायो किरतार॥

अर्थात् वि० सं० १२१२ में देवदीवाली के शुभ दिन द्वारकापुरी जाकर भक्त बोडाणा भगवान् को मूर्ति डाकोर लाये।

इस प्रकार भगवान् कृष्ण के प्रति सच्ची प्रीति से प्रेरित हो बोडाणा भगवान् की मूर्ति द्वारका से डाकोर उठा लाये।

मूर्ति ले जाने में इन्हें पोरबन्दर के पास स्थित बीसावाड़ा गाँव के महरे कृष्णभक्त वींझातका सहयोग मिला था, ऐसी भी एक मान्यता है। वींझात के बारे में भी जनश्रुति प्रचलित है कि द्वारकाधीश के अनन्य भक्त वींझात द्वारका की मूर्ति वीसावाडा लाये। यही वीसावाडा 'मूलद्वारका' के रूप में प्रसिद्ध है।

बोडाणा द्वारकाधीश के मन्दिर से मूर्ति चूरा कर डाकोर ले गया, यह जानकर द्वारका के गुगली ब्राह्मण, काबा शूरबीर इत्यादि डाकोर आ पहुँचे और इनके हाथों बोडाणा मारा गया। मूर्ति बोडाणा की धर्मपत्नी गंगाबाई के पास थी। गुगली ब्राह्मणों ने मूर्ति लिये बिना वापस न लौटने का दुराग्रह तथा अपने प्राणों की आहुति देने का संकल्प किया। आखिर समझौता हुआ कि गंगावाई मूर्ति के वजन बराबर सोना द्वारका के ब्राह्मणों को दें। गंगाबाई के पास तो सिर्फ नाक की सोने की नथनी ही थी। तोल हुआ, तराजू के एक पल्ले में भगवान् की मूर्ति और दूसरे में नथनी रखो गयी। नथनी वाला पल्ला नीचा रहा, उसका मूर्ति से भी अधिक वजन हुआ। यह अचरज देख सब स्तंभित रह गये। द्वारकावासी आक्रामक मूर्ति लिये बिना चले गये।

इससे स्पष्ट है कि भक्त बोडाणा और गंगाबाई दोनों श्रीकृष्ण के कृपापात्र थे। बोडाणा की कोई पदरचना प्राप्त नहीं होती है।

म. ई. प्र.

ब्रह्मानंद स्वामी

स्वामी ब्रह्मानंद स्वामिनारायण संप्रदाय के मूर्धन्य भक्त तथा कवि हैं। इनका जन्म आबू की तलहटी में डुंगापुर के खाण नामक गाँव में सन् १७७२ ई० में हुआ था। इनका बचपन का नाम लाडू बारोट था। बचपन से ही इनकी रुचि कविता की ओर थी। १५ वर्ष की आयु में ही ये कविता करने लगे थे। एक अवसर पर इन्होंने उदयपुर के महाराणा को अपनी कविता सुनाई। बालकवि की प्रतिभा देखकर महाराणा प्रसन्न हुए और इन्हें आर्थिक सहायता देकर कच्छ की ब्रजभाषा पाठशाला में भेज दिया। वहाँ इन्होंने आठ वर्ष तक काव्यशास्त्र और पिंगल शास्त्र का अध्ययन किया। इसके पश्चात् ये उदयपुर, जयपुर, बीकानेर, जूनागढ़, जामनगर, भावनगर और भुज आदि राज्यों में गये, जहाँ इन्हें बड़े मान-सम्मान के साथ धन-धान्य मिला।

सन् १८०४ ई० के लगभग लाडू बारोट को गढ़ा में सहजानंद स्वामी से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके दर्शन मात्र से इनके जीवन में आमूल परिवर्तन हो गया। इन्होंने राजसी वस्त्राभूषण तथा अलंकारादि त्याग दिए और तपोमय जीवन व्यतीत करने लगे। स्वामी सहजानंद ने इन्हें सन् १८०५ ई० में भागवती-दीक्षा दी और इनका नाम लाडू बारोट से बदलकर 'श्री रंगदास' रखा। कुछ समय बाद श्री जी महाराज ने प्रमुख भक्तों और अनुयायियों को चुनकर जब परमहंस-दीक्षा दी, उस समय इनका नाम 'श्रीरंगदास' से बदलकर 'ब्रह्मानंद' रखा गया। कालान्तर में ये इसी नाम से प्रसिद्ध हुए।

खेड़ा जिले में स्थित बड़ताल का विख्यात मंदिर बनवाने का श्रेय ब्रह्मानंद स्वामी को ही है। मंदिर-निर्माण के बाद हिसाब-किताब में ये व्यस्त थे कि श्रीजी महाराज ने इन्हें अपने साथ ले लिया। ब्रह्मानंद जी सोच में पड़ गए। कोई भूल तो नहीं हुई मुझसे? एक पद गाया और श्रीजी महाराज ने इन्हें गले लगाते हुए कहा : 'मुनि! दुःखी क्यों हो रहे हैं? आप तो पूर्णरूप से निःस्पृह और निर्दोष हैं। आप मंदिर का कारोबार करने के निमित्त दुनियावी व्यवहार में उलझे रहेंगे तो हमारा यश कौन गायेगा? आप पद-रचना कीजिए। इसी हेतु हम आपको साथ ले आये हैं।'

एक छोटी सी विनोदप्रधान घटना भी उल्लेखनीय है। सभी संतों को एक बार सूती कपड़े के स्थान पर श्रीजी महाराज ने टाट का टुकड़ा लपेटने का आदेश दिया। ब्रह्मानन्द का शरीर कुछ मोटा था। टुकड़ा छोटा पड़ा। श्रीजी महाराज से बड़ा टुकड़ा माँगा। उत्तर मिला : 'उपवास करके शरीर को सुखा डालो।' एतराज नहीं था, परन्तु विनोदप्रिय भक्त भी चतुर था। कहा : महाराज, आज से उपवास शुरू करूँगा, तब भी पन्द्रह दिन के बाद ही टाट के इस टुकड़े के दोनों छोर मिल पाएँगे। क्या तब तक दिगंबर बना रहूँ ?' विनोद वार्ता तो और लंबी है, परन्तु श्रीजी महाराज को प्रसन्न करने की नैसर्गिक कला ब्रह्मानंद जी को प्राप्त थी, यही प्रयोजन था इस प्रसंग के उल्लेख के मूल में।

एक बार सभी प्रमुख संतों से श्रीजी महाराज ने प्रश्न किया था : आपकी विशेषता क्या है ? ब्रह्मानंद जी का उत्तर था : 'भगवन, वैसे तो मैं निर्बल हूँ, परन्तु आपके कृपा-ब़ल से मैं कवित्त-सवैया और पदों की जो रचना करता हूँ, प्रास और शाब्दिक लालित्य का जो विनियोग करता हूँ वह अपने आप में अनूठा है। इस क्षेत्र में कोई कवि आप के इस भक्त की बराबरी नहीं कर सकता।'

स्वयं श्रीजी महाराज ने कविवर के इस प्रत्युत्तर का समर्थन किया था।

स्वामी ब्रह्मानन्द के जीवन से सम्बन्धित कुछ विख्यात घटनाएँ यहाँ श्री सिद्धेश्वर स्वामी रचित पुस्तिका से उद्धृत की जा रही हैं :

जूनागढ़ के नवाब को इस संत कवि ने मंदिर बनाने के लिए राजी कर लिया था। सबके आश्चर्य के बीच मंदिर खड़ा हो गया। स्वामिनारायण भगवान भक्तों के साथ जूनागढ़ पधारे। हाथी पर उनकी सवारी निकली। राज्य के नागर मंत्री ईर्ष्या की आग से जलने लगे। सवारी नवाब के महल के नजदीक से गुजर रही थी। उसी समय मौका देखकर मंत्री ने घोड़ों की देखभाल करने वाले साईस से एक मदोन्मत घोड़ा महाराज के बैठने के लिए ले आने को कहा। साईस घोड़े को ठीक सवारी के बीच ले आ आया। उसने बताया कि नबाव साहब की इच्छा से मंत्री महोदय ने यह घोड़ा आपकी सवारी के लिए भिजवाया है। श्रीजी महाराज ने ब्रह्ममुनि की ओर संकेत किया। मुनि ने घोड़े को परख लिया। पीठ पर हाथ फेरते ही घोड़ा शांत हो गया। उसकी वृत्ति बदल गई, अणु-अणु में परिवर्तन हो गया। सवारी के दौरान ब्रह्ममुनि उसी पर बैठे रहे। काठी ठाकुरों की पानीदार घोड़ियों के बीच भी घोड़ा निष्काम संत की कृपा से शांत बना रहा। नागर मंत्री का रचा जाल बिफल रहा। श्रीजी ने ब्रह्ममुनि को यति की उपाधि प्रदान की।

एक मुसलमान समुदाय घूमता-घूमता गढ़पुर आया। इन लोगों ने सुना था कि स्वामिनारायण भगवान के परमहंस संगीत विद्या में कुशल हैं। सभा में आकर तथा झुक-झुक कर सलाम करके उन्होंने नम्र भाव से कहा : 'हमने सुना था कि भगवान का अवतार हुआ है। उनके फरिश्ते रूहानी संगीत पेश करते हैं। आपके दीदार करने और संगीत सुनने की इच्छा से हम आये हैं।' ऐसा कहकर उन्होंने श्रीहरि को एक मृदंग दिखाया। यह मृदंग मूलतः चौलादेवी का था। परन्तु उसकी अत्यधिक लम्बाई के कारण चौलादेवी के बाद कोई उसे बजा नहीं सका था। स्वामी सहजानन्द जी ने ब्रह्ममुनि की ओर दृष्टि की। स्थूलकाय मुनि खड़े हुए। आये हुए लोगों को लगा कि यह साधु क्या मृदंग बजायेगा। परन्तु ब्रह्ममुनि ने ताल का मेल बैठाया और मृदंग का प्रतिघोष सारे गाँव में गूँज उठा। गढ़पुरवासी नाद की दिशा में उमड़ पड़े। एक घंटा मृदंग बजाकर ब्रह्ममुनि प्रभु के चरणों में लेट गये।

एक बार ब्रह्ममुनि सभा में सोते दिखाई दिए और श्रीजी महाराज ने उन पर माला फेंकी। मुनि ने

खड़े होकर माला उनके हाथ में देते हुए कहा : 'स्वामी, यह माला आपने मुझ पर क्यों फेंकी ?' श्रीहरि ने आश्चर्य प्रगट करते हुए कहा : 'इसलिए कि आप सो रहे थे।' ब्रह्ममुनि बोले, 'महाराज, मैं तो आँखें बंद करके आपकी मूर्ति की कल्पना करके कीर्तन की रचना कर रहा था।' श्रीजी ने कहा, कीर्तन रच रहे थे तो गाकर सुनाओ, कौन सा कीर्तन तुमने रचा ?'

ब्रह्ममुनि ने अन्य सभी संतों से कहा कि आप भी मेरे साथ गाइए और कीर्तन प्रारंभ किया :

तारो चटक रंगीलो छेड़लो अलबेला रे।
कोई नवल कसंबी पाघ, रंगना रेला रे॥

'तेरी पगड़ी का चटकीला लाल रंग मन को लुभा रहा है, हे अलबेले। सबको रंग में बहाने वाले हे प्रभु ! तेरी नवल कुसुंबी पगड़ी कैसी सुहावनी है।'

इस प्रकार पद का एक चरण कवि स्वयं गाते थे। संतमण्डली अनुसरण करती थी। इस बीच जो क्षणार्ध का समय मिलता, उसमें वे दूसरे चरण की रचना कर लेते थे। श्रीजी महाराज ब्रह्ममुनि के आशु, कवित्व से अवगत थे ही, परन्तु इस अवसर पर इतने अधिक प्रसन्न हुए कि उन्हें आलिंगन में बाँध लिया और आशीर्वाद दिये।

श्रीजी महाराज के जीवनकार्य की समाप्ति के बाद ब्रह्मानंद जी ने मूली गाँव के मंदिर का कार्य पूरा करवाया और ध्यान में बैठने लगे। कभी-कभी हाथ में माला लेकर ध्यानावस्था में घंटे बिता देते। एक बार वे इसी प्रकार ध्यान में मग्न थे और उत्तर भारत का एक चित्रकार आ पहुंचा। मुनि के दर्शन से उसे बड़ी शांति मिली। कोयले का एक टुकड़ा लेकर उसने ब्रह्ममुनि की छबि अंकित की। ब्रह्मानंद स्वामी के शिष्य कवि देवानन्द स्वामी यह चित्र देखकर चकित रह गये। उन्होंने चित्र की प्रतिकृति कागज पर अंकित करवा ली। प्रातः भगवान् के दर्शन के लिए जाते समय ब्रह्ममुनि ने यह चित्र देखा। बोले : चित्रकार कोई बड़ा कलाकार है, परन्तु साधु के चित्र नहीं सुहाते। उसी क्षण पानी मँगवाया और कपड़े से अपनी चित्राकृति को पोंछवा दिया।

संवत् १८८८ की ज्येष्ठ शुक्ला दशमी के दिन ब्रह्मानंद स्वामी ने मूली मंदिर में अपनी जीवनलीला समेट ली। उस समय उनकी आयु साठ वर्ष की थी।

स्वामी ब्रह्मानन्द की गणना स्वामिनारायण संप्रदाय के महान् विद्वान् एवं आशुकवि के रूप में की जाती है। इन्होंने राजस्थानी चारणी, कच्छी, ब्रज, गुजराती और हिन्दी भाषा में 'लाडू' 'श्रीरंग' और 'ब्रह्मानंद' इन तीन नामों से काव्य रचना की है। इनकी कविता अत्यंत सरल और सारगर्भित है। शब्द-योजना, छन्दवैविध्य, भाषा-माधुर्य, संगीतात्मकता और अर्थ-गौरव के आधार पर इनकी गणना गुजराती ही नहीं, हिन्दी के भी सुकवियों में की जा सकती है।

ब्रह्मानंद जी ने विपुल मात्रा में साहित्य सर्जन किया है। इन्होंने कुल मिलाकर १५ ग्रंथों और लगभग आठ हजार पदों की रचना की है। इनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं—संप्रदाय प्रदीप, सुमति प्रकाश, उपदेश चिंतामणि, ब्रह्मविलास, विवेक चिंतामणि, नीति प्रकाश, धर्मवंश प्रकाश, वर्तमान विवेक, उपदेश दीपक, झूलना आदि। कवि ने कुछ माधुर्य रसपूर्ण संगीतात्मक पदों की भी रचना की है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

कहान कुंवर मन भाये, आलीरी ! मेरे कहान कुंवर मन भाये।
मैं ज्युं खड़ी थी अपने भवन में, चलके अचानक आये॥

कोमल गात न जात बखाने, छैल छगन रंग छाये।
'ब्रह्मानंद' जोर दृग मोसे, मंद मंद मुस्काये॥

इन्हें पिंगलशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। इनके शब्दालंकार की छटा से परिपूर्ण 'रेणकी' छंद बहुत

ही लोकप्रिय हुए हैं। इनमें शब्दचमत्कृति के साथ-साथ ध्वन्यार्थ की व्यंजना भी परिलक्षित होती है। इस संदर्भ में एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

'झट पट पट उलट पलट नटवर झट,
लटपट कट घट निपट लले।
कोकट अति कलट त्रुटक गतिधिन कर,
मन डर मत लट लपट भले।
जमुना तट प्रगट अमर अट,
रट जुट सुर थट बेखट नर्तंण समे।
घणरव पट फरर, घरर पद घूंघर,
रंगभर सुन्दर श्याम रमे॥

ब्रह्मानन्द के कुछ पदों में मीरा के पदों जैसी सरलता, सरसता, संगीतात्मकता और भावप्रवणता दिखाई पड़ती है। श्रीकृष्ण की अलौकिक रूपमाधुरी का रसानुपान कराते हुए कवि ने बड़ा ही अनूठा वर्णन प्रस्तुत किया है :

नीके करि देख आली, नीके वनमाली।
नीके हैं कपोल गाल मुख नीके मुस्कान,
नीके भाव मह्यु में तोरा, नीके लटकाये हैं।
दारम के बीच नीके दन्त छवि छाये हैं॥

नीके ओढ़े हैं दुशाल, मोतिन की नीको माल।
नीको ले बंसी हाथ, नीके सबसखा साथ,
केसर को नीको भाल, तिलक बनाये हैं।
नीके ब्रजनाथ ब्रह्मानंद मन भाये हैं॥

ब्रह्मानन्द की रचनाएँ विपुल और वैविध्यपूर्ण हैं। इनके चार पद प्रस्तुत हैं :

(१)

आंखलडी शरद सरोज, रसिला लालनी।
देखी मनडुं पामे मोह, तिलक छवि भालनी॥

नासा सुंदर दीप समान, अति शोभी रही।
मुख नीरखीने शशियर ज्योत, गगनमा झांखी थई॥

लीधी लटकाले नंदलाल के हाथे कमाण ने।
एनी चटक रंगीली चाल, हरे मन प्राण ने॥

काजु मोतीडे जडित्र कटार, कमर कसी लीधेलो।
निरखी ब्रह्मानंद कहे जन्म सफल मारो कीधेलो॥

(२)

हरि कु राधे नचावें, हूरि कु राधे नाच नचावे।
पांवन में नेपुर करि दीने, कर चूरो पहरावे॥

मिल के जूथ सबे ब्रजनारी, लाल कु प्यारी बनावे॥
कछनि कंबरिया दूर बहाय के, ले लेंघो पहिरावे।
पाघ उतार ओढाइ चुनरिया, नेनन कजरा लगावे।
मांग समार भाल दे बिंदी, कर ग्रहि ताल सिखावे॥

राधे राधे कहान कहान कहो, नचवत तान मिलावे।
रूप बनाय लगाय के घूंघट, जसोमति पें लै जावे॥
ब्रह्मानंद कहे तेरे सुत कूं, एहि कुंवरि परणावे॥

(३)

हो सजनो म्हारा बालम ने बतलाया हो सजनी।
बालम ने बतलाया लागूं थारे पाय हो सजनी॥

होय जठे बैठा नंदलालों म्हने तठे ले हालो हो सजनी।
बिन बालम म्हारे नींद न आवैं, भोंजन किस विधि-
भावैं हो सजनो॥

रात दिवस चाकर होय रहेसां, हार हैयारो देसां
हो सजनी।
'ब्रह्मानन्द' रा नाथ न मेलो, म्हारौ (तो) मन उण
मेलौ हो सजनी॥

(४)

प्रीतम परम दयाल, दया को क्या कहूँ।
जैसे हैं तिसै जान, मगन मन में रहूँ॥

निराधार, निरपेक्ष पार गुणतीन के।
जो भये प्रगट प्रमान, सो कारण दीन के॥

किहि विधि कहा न जाय, कि भीतर बाहरी।
सो सन्तन के काज, भये जग जाहिरी॥

तासे मेरी तान, वाही से है आशकी।
सब विधि हरिहै पीर, सो अपने दास की॥

ता बिन देखे पीर (और) देखे दिल चैन है।
नटवर सुन्दर श्याम (सो) सुख को ऐन है॥

लगो रहे दिन रैन, रटन दिल राम की।
एक टेक उर माँहिं, प्रगट प्रिय नाम की॥

परगट हरि पर ताप ताप मन सब टले।
जाको गावत वेद (सो) तन धरिके मिले॥

गावत 'ब्रह्मानन्द' परम आनंद से।
कृपा कोन गुरु देव छुड़ाये फन्द से॥

अं. शं ना
र. चौ.
ल. पिं. ग.

ब्रेहेदेव

ब्रेहेदेव का जीवनवृत्त अज्ञात रहा है। इनके 'भ्रमरगीता' काव्य से केवल इतनी सूचना प्राप्त होती है कि इनके पिता का नाम महीदास था और इस काव्य की रचना सं० १६०६ के वैशाख शुक्ल एकादशी, सोमवार को पूरी हुई थी :

संवत १६०३ बैशाख शुदि (११) एकादसी।
सोमवारि ग्रंथ संतु हरिकथा मोरे मनि वशी॥
कविजन केरुं कष्ट भागु च्यंतामग्न करमाँहि आवीउं।
महीदास-सुत ब्रेहेदे किहि हरीक्रीपा करी मुनि
कारावीउं॥

'हरिकथा मोरे मन वशी' से प्रतीत होता है कि ब्रेहेदेव परम वैष्णव थे और कृष्णकथा इन्हें अत्यन्त प्रिय लगती थी।

ब्रेहेदेव ने भागवत-दशम-स्कन्ध के अध्याय ४६ और ४७ के आधार पर 'भ्रमरगीता' को रचना की। इसमें ४० कडवे और ११ पद हैं। इस काव्य में भक्त कवि ने गोपांगनाओं की विह्वलता, नारी हृदय की कोमलता और विरहिणी के हृदय की भावस्थिति का यथार्थ चित्रण किया है। ग्रंथ के आरम्भ में सुन्दरश्याम की स्तुति है :

प्रभु तंम याचुं करी परणांम जी।
मोरइ मूक्ष आवु जी सुंदरशाम जी॥
आश घणी छई मूजनि तमारी जी।
रसनाई रमु जी मुकुंद मोरारी जी॥

इससे कवि की प्रगाढ़ कृष्णभक्ति व्यक्त होती है।

'भ्रमरगीता' की अनेक हस्तप्रतियाँ प्राप्त होती हैं, जो काव्य की लोकप्रियता का प्रमाण हैं। ये अपनी कृति को 'रढियालो रास सोहामणो' कहते हैं। नरसिंह महेता की भाँति ब्रेहेदेव ने भी धनाश्री, सारंग, केदार, वसन्त आदि रागों का प्रयोग किया है। काव्य में अनेक स्थलों पर नरसिंह और रसकवि दयाराम की भावशैली दिखाई देती है। वियुक्ता गोपियों के हृदय की दशा कैसी थी, इसका निदर्शन 'भ्रमरगीता' में है। रस, भाषा और शैली तीनों दृष्टियों से यह काव्य महत्वपूर्ण है।

ब्रेहेदेव के नाम पर एक अन्य रचना 'पांडवगीता' भी प्राप्त होती है। इनकी कृतियों से तीन उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं।

(१)

उद्धव के ज्ञानोपदेश की व्यर्थता एवं अपनी आर्जवयुक्त कृष्णभक्ति दर्शाते हुए गोपियाँ उद्धव से कहती हैं :

ग्रहू मन ये गांठ बांधी, आज कहुं, क्यम छोडीइ।
जे नेह-संकल सबल छि ते, अबल कहु, क्यम मोडीइ ?
व्रजनार्यनूं मन कृष्ण-रससू, विधाताई सबळू जडूं।
जे रहूँ रुडी पिरि व्यापी, ते क्यम जाई ऊजडुं ?
छे प्रीत पिहिला भवतणी, ते आज क्यल पाछी धशि ?
जे रंग बिठा चोलना, ते देहि साथिधी जशि !

(२)

विरहिणी गोपांगनाओं की विह्वलता का भी एक चित्र दर्शनीय है :

देहोडी बोसरी गई रे सर्व सषीयां, जाणो चित्रायण
लषीयां।

महुरत्य एक मग्न भई रे हरी माहे पाछी आवी ठाम॥

हरीनी विरणीयां, विरहोणीयां नंदा बृज तणीयां।
शशिवदनी मलीयां अती घणीयां॥
अंतरि ओलषी अविगत्य माहारि बुध्य विचारे।
उधव साथ वयण बोलवा नयणां जल बहे रे॥

(३)

गोपियाँ उद्धव से कृष्ण के पास अपना संदेश कहने की प्रार्थना करती हैं :

भ्रमरगीता (राग धनाश्री)

प्रभु तमु याचुं करिने प्रणाम जी ।
मोरे मुख आवो सुन्दर श्यामजी ॥

आशा घणी छे मुजने तमारी जी ।
रसनाए रमोजी मुकुन्द मुरारी जी ॥

हेमसुतासुत चरणे लागु जी ।
कमल भू तनया वाणी माँगु जी ॥

भ्रमरगीताने भावे याचुं जी ।
ब्रेहेदे कहे हरि आवो मुने साचुंजी ॥

म० ई० प्र०

भक्त गोपाल

भक्त गोपाल अहमदाबाद के निवासी निर्गुणमार्गी कृष्ण भक्त थे। इनके द्वारा रचित पद अब तक संत मंडलियों में गाये जाते हैं।

अं. शु.

भगवानदास कायस्थ

पुष्टिमार्गीय वैष्णव भगवानदास का जन्म सूरत के एक कायस्थ परिवार में संवत् १६८१ में हुआ था। इनके पिता का नाम मूलजी था। इनका बचपन का नाम भाऊ था। माता-पिता की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय होने से इनका शैशवकाल कष्ट में बीता। प्रतिमास १५ रुपये के वेतन से भगवानदास ने अपना जीवन आरम्भ किया था। प्रबल पुरुषार्थ और बुद्धि-शक्ति से इनका क्रमशः विकास होता गया और अन्त में इन्होंने सूरत के तत्कालीन नवाब मुहब्बतखाँ के दरबार में अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं कवित्व शक्ति से दीवान का गौरवास्पद स्थान प्राप्त किया। भक्त कवि ने स्वयं एक दोहे में यह बात बताई है :

साहिब का सेवक करे, सेवक का साहीब।
जगपति के द्वार में, ऐसी है तरकीब॥

मुफलिस नौकर आप का, दास कवो भगवान।
क्या तकदीर ताजुब है, आज भया दिवान॥

संवत् १७२१ में छत्रपति शिवाजी ने सूरत पर आक्रमण किया, तब भगवानदास वहीं थे। इनका निधन सं० १७४६ में हुआ।

इनके जीवन से सम्बद्ध कई चमत्कारी घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। ऐसी कुछेक घटनाओं का निर्देश इन्होंने अपनी कृतियों में भी किया है। सूरत में ये प्राणनाथ के उद्यान में बैठते थे। एक बार इनके विद्वेषी राज्याधिकारियों ने इनकी हत्या करने का षडयन्त्र रचकर रात को उद्यान में हत्यारे भेजे। भगवानदास सिकञ्जे में फँस गये थे। अतः आराध्यदेव श्रीकृष्ण के प्रति दृढ़ श्रद्धा होने से उसी समय इन्होंने रक्षा के लिए गोपाल कृष्ण की प्रार्थना में एक पद गाया :

अब मोको राख लिओ गोपाला।
जैसे सुरपति कोप आगे राखे सब व्रीजवाला॥
ग्रह्यो गजने तुमही राख्यो दोड़ ही दीन दयाला।
पंचाली की लज्या राखी करुणा निधी कृपाला॥
लाक्षा गृह में पांडव राखे, एक तिहारी चाला।
अब दास भगवान शरण आयो राख गिरधारी लाला॥

कहा जाता है कि उसी समय गोवर्धनधारी श्रीनाथ जी प्रकट हुए और हत्यारों का संहार करके अपनी पादुका उसी स्थान पर स्थापित करने की आज्ञा भक्त भगवानदास को दी। श्रीनाथ जी के आदेशानुसार इन्होंने उस स्थान पर पादुका की स्थापना की। आज भी सूरत में अश्विनीकुमार घाट के मार्ग में वह पादुका स्थापित बताई जाती है और भक्त जन उसका स्पर्श करते हैं।

गुजरात में कायस्थ जाति के लोग प्रायः पुष्टिमार्गीय वैष्णव होते हैं। भगवानदास भी पुष्टिमार्गीय भक्त के रूप में प्रसिद्ध हैं। श्रीनाथ जी के प्रति अपना भक्ति-

भाव व्यक्त करने हेतु इन्होंने नित्य-पद और उत्सव के पद रचे। भगवानदास को फारसी, अरबी, संस्कृत, मराठी, हिन्दी तथा गुजराती का अच्छा ज्ञान था। किन्तु ग्रन्थरचना गुजराती और हिन्दी में ही की है।

कृतियों में भगवानदास का प्रेमी-भक्त एवं ज्ञानी का द्विविध रूप प्रकट होता है। इन्होंने अनेक ग्रन्थों का सर्जन किया था, परन्तु कुछ ग्रन्थ सं० १८७३ की बाढ़ में और सं० १८९३ की आग में नष्ट हो गये, ऐसा कहा जाता है। आज इनकी जो रचनाएँ प्राप्त होती हैं, उनमें 'श्रीमद्भागवत एकादश-स्कन्ध' (गुजराती में रूपान्तर), 'भगवद्गीता' (गुजराती में अनुवाद), 'फूलगीता', 'सुदामा चरित्र', 'भजन-लीला', 'कृष्ण-गोपीलीला के पद', 'पुष्टिमार्गीय-पद संग्रह' आदि मुख्य हैं। ये सभी रचनाएँ पुष्टिमार्ग के अनुरूप कृष्ण भक्ति से सम्बद्ध हैं। गुजराती रचनाओं में भी भगवानदास ने व्रज भाषा का प्रयोग प्रचुरता से किया है। व्रज-भाषा में काव्य रचना करने वाले गुजरात के भक्तों में भगवानदास का विशिष्ट स्थान है। इनके नाम पर शुद्ध गुजराती में लिखा 'भजन-लीला-रस' काव्य मिलता है, किन्तु उसका कर्तृत्व संदिग्ध है।

भगवानदास की कृष्ण-भक्ति का व्यंजक एक गुजराती पद नीचे दिया जाता है :

(१)

कानुडा कोणे दीठो रे। मारे मुखडे बोले छे मीठो रे॥
मारुं चित्तडुं हरी ने चाल्यो रे। वाहुलडी कोणे न झाल्यो रे॥
जायुं बृंदावन रसाळी रे। एवो नहीं को वनमाळी रे॥
कानुडा ने कोई बतावो रे। भगवानदास ना स्वामी ने लावो रे॥

'कान्ह को किसने देखा? मेरे मुँह में वह तो मीठा-मीठा बोलता है। मेरे चित्त का हरण करके वह चला गया, किसी ने उसका हाथ न पकड़ा। रसाल वृन्दावन देख लिया, किन्तु ऐसा वनमाली कोई न मिला। कोई मुझे कान्ह के दर्शन कराए, भगवानदास के स्वामी को मेरे पास लाओ।'

म. ई. प्र.

भगवान वैष्णव

भगवान् वैष्णव के लौकिक जीवन सम्बन्धी तथ्य सर्वथा अज्ञात हैं। इनका उपस्थिति काल १७वीं शती माना जाता है। ये पुष्टिमार्ग के अनुयायी तथा श्री विट्ठलनाथ जी के अनन्य सेवकों में से थे।

'श्री गोकुल नी शोभा' इनकी एकमात्र उपलब्ध कृति है। धोल पद्धति के शोभा-काव्य में कवि ने गोकुल और व्रजभूमि के मुख्य लीलास्थलों का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कुछ छंदों में श्रीमद्वल्लभाचार्य एवं विट्ठलनाथ जी की वंश-परंपरा का परिचय भी दिया है। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

जो जो रे श्री गोकुलनी शोभा श्री जमुनाजीने तीर।
श्री वल्लभग्रहे प्रगटे थइने खेले श्री विट्ठल वीर॥
श्री गिरधरलाल सोहामणां, बेलडीए श्री गोविंद।

• • •

गोकुल गोवर्धन बृंदावन मांह रमवानो ठाम।
सघन वन को कुंजगलन में मलसे श्री घनश्याम॥
कदमखंडो मांहो क्रीडा संकेत वनमां संग।
वशीवट वहालाजी खेले, नित नित नवला रंग॥
हो हां करतां ने हरि संग रमतां जुओ ने अमारां गात्र॥
जलनि गाडी साथे जातां ने गिरि गोवर्धन जोतां॥
अनेक वारा वही गयां ने आणे फेरे फाव्यां।
भगवानदासतणां प्रभु मलीआ, शरण तमारे आव्यां॥

अं० शं० ना०

भट्टाचार्य

भट्टाचार्य बङ्गाली ब्राह्मण थे। इनके माता-पिता, जन्मस्थान, जन्मतिथि आदि से सम्बद्ध कोई सूचना प्राप्त नहीं है। यहाँ तक कि इनका नाम भी अज्ञात है। भट्टाचार्य तो इनकी कुलगत उपाधि थी। ये काशी में रहते थे और धुरंधर विद्वान् थे। इनका विवाह पन्ना निवासी परमानंद पंडित की निर्भया नामक

पुत्री से हुआ था। निर्भया के माध्यम से ही स्वामी प्राणनाथ से इनका परिचय हुआ था। फिर भी प्राणनाथ जी पर इनकी श्रद्धा नहीं थी। इसी बीच एक शास्त्रार्थ में इनकी पराजय हुई और विद्वता के अभिमान का पतन हुआ। इसके बाद इन्होंने स्वामी प्राणनाथ का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। उस समय इनकी आयु २५–३० वर्ष की थी। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इनका जन्म सं० १७२५ के लगभग हुआ होगा। इनके ग्रंथों में 'निगमार्थ-प्रदीप' (प्रकाशित) और 'विद्वन्मनी' प्राप्त हैं। इन दो ग्रंथों के अतिरिक्त इनकी कुछ अन्य कृतियाँ भी रही होंगी, ऐसा अनुमान किया जाता है। उक्त दोनों ही ग्रंथ संस्कृत भाषा में हैं और उनकी दो-तीन हस्तलिखित प्रतियां भी सुलभ हैं। 'निगमार्थप्रदीप' में इन्होंने प्रेमलक्षणाभक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया है और उपनिषदों के प्रमाण द्वारा गुरु देवचन्द्रजी तथा प्राणनाथ का सद्गुरुरूपेण समर्थन तथा ब्रह्म सृष्टियों, एवं परमहंसों की ब्रह्मता का वर्णन किया है। बाद में वेदमन्त्रों से परधाम की दिव्यता एवं अखंडता प्रमाणित कर वहाँ के स्वलीलाद्वैत की सिद्धि की गई है। तदन्तर प्रसंगानुपात से ब्रज की रास लीलाका दिग्दर्शन कराते हुए परमहंसों की त्यागवृत्ति का लक्षण बताया है।

नं. पं.

भाऊ

भाऊ का आविर्भाव सं० १६७६ के लगभग हुआ था। इनके पिता का नाम सूर जी था। ये जाति के औदीच्य ब्राह्मण थे तथा सूरत नगर के निवासी थे।

इनकी तीन कृतियों का उल्लेख मिलता है—पांडवविष्टि, उद्योग पर्व तथा द्रोण पर्व।

ल. पि. ग.

भादुरदास

भादुरदास का जन्म ध्रांगध्रा (सौराष्ट्र) में वहाँ के राजवी मानसिंह के राज्यकाल में हुआ था। जाति से ये कोळी (ठाकरड़ा) थे। प्रायः लूटपाट करके जीवन-निर्वाह करने वाली नीची मानी जाने वाली जाति के होते हुए भी पूर्वजन्म के संस्कारों के प्रभाव से भादुरदास में सत्संग और भक्ति की पावन वृत्ति जागृत हुई। इनके जीवन के सम्बन्ध में अपेक्षित जानकारी प्राप्त नहीं है।

भादुरदास कृष्ण भक्ति में पूर्णतया तन्मय रहते थे। ये बड़े भावुक थे। कृष्ण कन्हैया के साथ तद्रूप हो ये कभी हँस पड़ते, कभी नाचने लगते, कभी कृष्ण के विरह में रो उठते थे। इनकी देहासक्ति नष्टप्राय हो गयी थी। अपने शरीर का इन्हें ख्याल न रहता। कहीं भी पड़े रहते, कैसी भी स्थिति में रहते। गाँव के लोग इन्हें पागल समझते थे। मुहल्ले में से गुजरते समय गाँव के लड़के इनके प्रति धूल-कंकड़ उड़ाते, गालियाँ देते और चिढ़ाते थे। परन्तु भादुरदास की मनःस्थिति स्थितिप्रज्ञ के तुल्य हो गयी थी। इसलिए ऐसी हरकतों का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

इनके जीवन के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध घटना है। एक समय ध्रांगध्रा में एक विद्वान् सन्त पधारे। उनके व्याख्यान। प्रवचनों से सारा गाँव प्रभावित हुआ। राजा-रानी ने भी उनकी कथाओं का श्रवण किया। महात्मा की विद्वत्ता एवं वाणी की मधुरता से प्रसन्न हो राजा-रानी ने उन्हें अपना गुरु बनाने का संकल्प किया। ऐसे समाचार सुन सभी लोग आनन्द में आ महात्मा जी के चरणों में विभिन्न वस्तुओं की भेंट अर्पण करने लगे। महात्मा जी से मिलने जाते हुए भादुरदास ने मार्ग में एक मरी हुई बिल्ली को देखा। उसे कपड़े में लपेट कर महात्मा के पास लाये और प्रणाम करके उनके चरणों में उसे धर दिया। कपड़ा उठाया गया तो मरी हुई बिल्ली को देख सारी राजसभा में सन्नाटा छा गया। महात्मा भी हतप्रभ हो गये। महाराज क्रुद्ध हुए। भादुरदास ने तत्क्षण महात्मा जी से कहा, 'भगवन्, देखते क्या हैं? मृत्यु के पश्चात् यह बिल्ली और मनुष्य सब समान

हैं। आप राजा के गुरु बनिये या चक्रवर्ती सम्राट्। काल किसी को नहीं छोड़ता। वेदवाणी तो यह मेरी बिल्ली भी बोलेगी।' अपना कथन पूर्ण करके ज्यों ही भादुरदास ने बिल्ली के कानों पर स्पर्श किया, त्यों ही वह जिन्दा हो गयी और मन्त्र बोलने लगी। भादुरदास के इस अद्भुत चमत्कार को देख राजा-रानी सहित सभी अवाक् रह गये। इसके अनन्तर भादुरदास की कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। इन्होंने अपना सारा जीवन श्रीकृष्ण की भक्ति में व्यतीत किया। जीवन का अन्त समय आने पर ये समाधिस्थ हो गये।

इनकी रचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं। अतः अनुमान कर सकते हैं कि इन्होंने कुछ लिखा नहीं।

म. ई. प्र.

भालण

भालण मध्यकालीन गुजराती साहित्य के युग-प्रवर्तक कवि थे। इन्हें हम 'आख्यान' नामक काव्य-प्रकार का जनक कह सकते हैं। मध्यकालीन गुजराती भाषा का 'गुर्जर-भाषा' नामाभिधान भी सर्वप्रथम भालण ने ही किया। इनका मूलनाम 'पुरुषोत्तम' था। इनके जन्म-समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु भालण और नरसिंह को हम समकालीन कह सकते हैं। इस आधार पर कवि भालण का उपस्थिति-काल सं० १४६१ से १५४५ तक मान सकते हैं। इनका जन्म त्रिवेदी मोठ ब्राह्मण जाति में पाटण (उत्तर गुजरात) में हुआ था। पिता का नाम मंगलजी था।

इनके विष्णुदास एवं उद्धव नामक दो पुत्र थे। इन पुत्रों ने भी पिता की प्रेरणा से अच्छे आख्यान लिखे हैं।

जीवन की उत्तरावस्था में इनको परमानन्द या सदानन्द सागर नामक परमहंस सिद्ध गुरु मिले थे। उनसे इन्होंने ब्रह्म सम्बन्ध का उपदेश तथा सन्यास की दीक्षा ली थी। गुजराती भाषा में सर्वप्रथम इन्होंने ही 'नलाख्यान' तथा 'ध्रुवाख्यान' की रचना की। इन्होंने जीवित समाधि ली थी। इनकी समाधि पाटण तथा हरिहर महादेव के मन्दिर के समीप कही जाती है। वहीं इनका स्थायी निवास था। पाटण में घीवटा चकले में चोपदार खिड़की के हाल में इनकी गादी है। वहाँ इनकी पूजन-सामग्री, पहनने के वस्त्र आदि रखे गये हैं। एक पुजारी उनकी पूजा करता है।

इनकी मुख्य कृतियाँ हैं: मृगी-आख्यान, राम-विवाह, नलाख्यान, दुर्वासाख्यान, कृष्णविष्टि, ध्रुवाख्यान, सीताहनुमाननो संवाद, जालन्धर-आख्यान, हरिलीला, भागवत, कादम्बरी, द्रौपदी-वस्त्रहरण, शिव-भीलडी संवाद, गोपी-गोविन्द-संवाद, सप्तशती, देवीमाहात्म्य, कृष्णलीला, सुदामाचरित्र, राम-बाल-लीला, उद्धव-आवागमन, रुक्मिणीहरण, दशमस्कन्ध तथा रुक्मिणी-विवाह।

व्यास, वाल्मीकि, श्रीहर्ष और वाणभट्ट जैसे संस्कृत के मूर्धन्य क्रांतद्रष्टा कवि-मनीषियों से प्रेरणा प्राप्त करके भालण ने गुर्जर भाषा में अनेक रसमय आख्यान लिखे हैं। इनका प्रतिभासंपन्न व्यक्तित्व अपने युग के अन्य कवियों के लिए प्रेरणा-स्रोत था। इनकी आख्यान-काव्यशैली का अनुसरण प्रेमानंद सदृश समर्थ कवियों तक ने किया है।

अपनी प्रौढ़ावस्था में ये एक निष्ठावान राम भक्त के रूप में प्रसिद्ध थे। किन्तु इनकी कृष्ण भक्ति भी उतनी ही उच्च कोटि की थी। वास्तव में ये एक सिद्धहस्त आख्यानकार हैं। कड़वा (छंद) में अनेक लघु आख्यान लिखकर इन्होंने गुजराती भाषा को समृद्ध किया है। इसी छन्द में वाणभट्टरचित 'कादम्बरी' को आख्यानबद्ध करके इन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इनकी यह रचना 'कादम्बरी' की विशिष्टताओं से युक्त तथा रूपांतर होने पर भी मौलिक प्रतीत होती है। इससे इनकी उच्च कोटि की अनुवाद-शक्ति का परिचय मिलता है। इस कवि ने राम से सम्बन्धित कुछ पदों के उपरांत कृष्ण से सम्बन्धित पद

भी अच्छी संख्या में लिखे हैं। नरसिंह जैसे शृंगार रस के कवि हैं, वैसे ही भालण वात्सल्य रस के सिद्धहस्त कवि हैं। काव्यशास्त्र में वात्सल्य जैसा कोई स्वतंत्र रस नहीं है। इसी प्रकार भक्ति रस भी कोई स्वतंत्र रस नहीं है। भालण रचित कृष्ण के बाल-लीला विषयक पदों में प्राप्त वत्सलभाव की विशदता के कारण ही इन्हें 'वत्सलरस' की कक्षा में लिया गया है। ये शृंगारी किशोर कृष्ण की नहीं, बाल कृष्ण की निर्दोष लीलाओं का गान करते हैं। ब्रज प्रदेश में श्री वल्लभाचार्य जी के शिष्य सूरदास आदि भक्त कवियों की विपुल पद कृतियां अबतक लिखी जा चुकी थीं। स्वयं भालण ने ब्रजभाषा में पांच-छः सौ पद रचे हैं। अतः इनका ब्रजभाषा के उक्त कवियों से प्रभावित होना स्वाभाविक है।

भालण रचित 'भागवत-दशमस्कन्ध' वैसे तो मूल में कड़वाबद्ध आख्यान है, परन्तु उन कड़वों के बीच-बीच में इनके रचे हुए अनेक स्वतंत्र पद इनके समय में या इनके बाद डाल दिए गये हैं। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा रचित कृष्ण से सम्बन्धित अन्य स्वतंत्र पद भी मिलते हैं। ये भावगीत हैं और कवि की कृष्ण भक्ति के प्रमाण हैं। भक्ति के संस्कार इन्हें कहाँ से मिले? यह स्पष्ट नहीं है। नरसिंह मेहता, सूरदास तथा भागवत से प्रेरणा प्राप्त करके ये कृष्ण भक्ति की ओर उन्मुख हुए थे, ऐसा इनकी कृतियों से पता चलता है। इन्होंने सूरदास की भांति ही राम और कृष्ण में अभेद-दर्शन किए हैं। इन्हें राधा भी अज्ञात नहीं हैं, परन्तु इन्होंने शृंगार रस का संयमपूर्ण आलेखन किया है। यह इनके दाणलीला के पदों से स्पष्ट है। किन्तु इनकी महत्ता वात्सल्य रस को मूर्त करने वाले पदों में ही देखी जा सकती है। इनका वात्सल्य रस से पूर्ण एक पद उद्धृत किया जाता है:

कहो, सखी, हूँ सूं कहूँ ? एक न सेख मात्र न सुए रे।
आघो पाछो जाउं जेटलि, सास भराणो रोसे रे।।
सखी०

उछंगि लिई बेसुं धवराववा धवराव्यो नहिं धावे रे।
पालणा मांहि पोढाडूं तो नयणे निद्रा नावे रे।। सखी०

सुतो सुतो ते हसे, हुं हरखे हालडुं गाउं रें।
निद्रा करो, माहारा नांहानडीया, हूं बलिहारी जाउं
रे।। सखी०

दधि मंथन ते क्यम कुरुं ? माखण शी विध ताबूं रे।।
रात्य दिवसि ए श्याम सुंदर ने रहो रहो हूलरावुं
रे।। सखी०

हूं क्यम ध्राउं नहीं मुखडूं जोतां मीठूं रे।
आश्या एवडी नोहली मुझने, सपन जाणीस दीठूं रे।।
सखी०

ग्रहकारज सघलां रह्यां दिन जाखूं ऐ साथि रे।
सजनी, हुं सुनी कीधी छूं भालण प्रभु रघुनाथ रे।।
सखी।।

(भालण नां भावगीतो, पृष्ठ ८९)

भालण की गोपांगनाएँ भी कृष्ण की ओर वत्सल भाव से ही निहारती हैं:

बालमुकुंद ने नीरखीए जी, आनंद अंग्य न माय जी।
आप्य रे आप्य उतावली, कोणे पीला ताहारा पाय जी?
रगे रीखे आंगणे रे, कर मांहे नवनीत।
प्रागवडने पानडे रे दीसे तेणी रीत्य।।

इस प्रकार सुन्दर वर्णन आगे बढ़ता है। यशोदा बालकृष्ण को रस्सी से बांधती है, उस समय की गोपियों की उक्ति देखिये:

यशोदा, छोडो कानने, हुं आपूं गोरस-गोळी रे।
एवडी रीस घटे नहीं तमने, हुं जाणुं छुं भोली रे।।
यशोदा०

अलगा उभा दुःख घरे छि बालक सघला टोली रे।
आंखडी जुओ थई छे राती, अतिशें रोतां चोली रे।।
हठ कीध्ये कांई नहीं आवि, जे मही नाख्यूं ढोली रे।
यशोदा०

(भालण नां भावगीतो, पृष्ठ ९३)

भालण के इस प्रसंग के गरबा शैली के दो पद: 'यशोदा जी, छोड़ो सुन्दर श्याम ने,' और यशोदा का उत्तर-'बाई, जायाने घेरय सहु आपणे' (भालण नां भावगीतो, पृष्ठ ९४-९५) अत्यन्त आकर्षक हैं।

इनके पदों में जहाँ श्रृंगार का स्पर्श आया भी है, वहाँ मर्यादा का यथोचित पालन हुआ है जैसे :

नंदकुंअरनूं मुखडूं जोता किम्ये न ध्राउं।
नयन कचोले अमृत पीतां पूरण किम थाउं ?

वृंदावन थी आवता जाणूं, हूं सांहामी जाउं।
प्रेम करी वाहालो पीए तो दुध दहीं पाउं ॥ नंद०

क्याहारे बांसळी वाजस्ये घेर बेठी धाउं।
श्रवणे शब्द सांभलुं तीयारे ऊडी जाउं ॥ नंद०

सासु नणदी दीअर पूछै तो उत्तर उपाउं।
कह्युं न माने जो ते माहरूं जूठी सम खाउं ॥ नंद०

एहने हसवानो मरकडो संभारी घाउं।
दुरजन आडे देखी न सकूं तो आम अवटाउं ॥ नंद०

एहूनी हूँ थई रही दासी ह्निण-मूल्ये बेचाउं।
भालण प्रभु रघुनाथ तणां हूँ श्याम गुण गाउं ॥ नंद०

दानलीला के पदों में श्रृंगार रस लक्षित होता अवश्य है, किन्तु यहाँ भी खुला श्रृंगार नहीं है। इनकी बहुसंख्यक रचनाओं के अंतिम चरण में 'भालण प्रभु रघुनाथ' की छाप देखने को मिलती है जिससे स्पष्ट होता है कि ये समर्पित रामभक्त हैं। ऐसा होने पर भी इनके रामभक्ति से सम्बन्धित पदों की संख्या इनी-गिनी है, जबकि कृष्ण भक्ति से सम्बन्धित गुजराती पद दो सौ बाईस और व्रजभाषा के पाँच, दोनों मिलाकर दो सौ सताईस हैं।

भालण के दशमस्कन्ध के पद्यानुवाद में व्रजभाषा में लिखे हुए पाँच पद पाये जाते हैं। सभी पदों के अन्तिम चरण में भालण का नाम आता है। अतः ये पद भालण के ही हैं, ऐसा सिद्ध होता है। इससे इन को हम व्रजभाषा का आदि कवि कह सकते हैं। व्रजभाषा में श्रीकृष्ण की बाललीला का अत्यन्त सुन्दर शब्दचित्र कवि ने खींचा है। मथुराधिपति बने हुए श्रीकृष्ण के मनःपट पर गोकुल की बाललीला के दृश्य साकार होते चले जाते हैं। इनके रचे हुए व्रज भाषा तथा गुजराती के दो पद प्रस्तुत हैं :

(१)

व्रज को सुख समरत श्याम।
पर्नकुटी सो विसरत नाहीं नांहिन भावत सुंदरधाम ॥
बदिर मात्र नवनीत के कारण,
उखले बाँधे ते बहुदाम।
चित्त में वे जु चुभि रहो है,
चोर चोर कहत हे नाम ॥

निशदिन फिरतो जु सुरभि के संगे,
सर पर परतशीत-घनघाम।
निश फुनि दोहन बंधन को सुख,
करि बैठत नाही जो नाम ॥

मोरपिच्छ गुंजाफल लेले,
बेल बनावत रुचिर ललाम।
भालणप्रभु विधाता की गति,
चरित्र तुमारे सब धाम ॥

(२)

कोन तप कीनो री, माई नंदराणी।
ले उछंग हरि कूं पय पावत,
मुख-चुंबन सुख भीनो री ॥

तृप्त भये मोहन जू हँसत हैं,
तब उगमत अधर ही कीनो री।
जशोमति लटपट पूछन लागी,
बदन खेंचि तब लीनो री ॥

रिदे लगाये बदजू मोहि तू कुलदेवा दीनो री।
सुन्दरता अंग अग कहा वरनू,
तेज ही सब जुग हीनो री ॥

अंतरिक्ष सुर इन्द्रादिक बोलत,
व्रजजन को दुख खीनो री।
इह रससिंधु गान करी गावत रे,
भालण जनमन भीनो री ॥

के. का शा.
अं. श. ना.
ल. पि. गं.

भीखा

भीखा का समय सं० १८५० के आस-पास माना जाता है। इनके जीवन के सम्बन्ध में अपेक्षित जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनकी रचनाओं से स्पष्ट होता है कि ये अखाकी संन्त परम्परा में आते हैं। इसी परम्परा में विद्याधर, प्रभुराम इत्यादि हुए। भीखा की गणना प्रभुराम के शिष्यों में होती है।

ज्ञानमार्गी अखा की शिष्य-परम्परा के होते हुए भी ये प्रेमलक्षणा भक्ति के उत्तम गायक थे। यह इनकी विशेषता है।

इन्होंने श्रीकृष्णविषयक प्रेमलक्षणा भक्ति के पद, गरबी-पद इत्यादि की रचना की है। इनकी गरबियों में चारुता, कमनीयता एवं भावों की ऋजुता है। 'तमे छो घेला नन्दलाल रे, रसिया उर वसिया', 'तमे नन्दतणा नन्दलाल रे, विठला वनमाली', 'नन्दकुँवर नानडीआ साथे मोहनी मुजने लाधी जो' जैसे पदों में माधुर्य, गेयत्व एवं संयोग-श्रृंगार का आकर्षक है।

भीखा के दो हिन्दी पद भी प्राप्त हुए हैं। इन पदों में भी प्रेमलक्षणा भक्ति के ही दर्शन होते हैं। इन का एक हिन्दी पद यहाँ उद्धृत है :

पिया मैं तो दरद दीवानी तेरी।
कोउ न जानत पीड पराई,
तुम गत जानो सब केरी॥

आ संसार अगनको ज्वाला,
नहीं ठरवे की डेरी।
कामना सब भसम कर डारो,
करो चरणन की चेरी॥

मन रे मांतग मोहे बहोत सतावे,
रंगत भागे अनेरी।
पल पल में रंग घणे रे,
मन वश नहीं मेरी॥

इतनी सी अरज करूँ मेरे सांईया,
थोरे में कही बहोतेरी।
दास भीखा के निवास प्रभु तुम,
भक्ति अभेपद दो री॥

एक गुजराती पद (गरबी) नीचे दिया जाता है :

तमे छो छेला नंदलाल रे, रसिया उर बसिया।
वेण वाई कीधां बेहाल रे, रसिया उर बसिया॥
मुने भावे नहीं भोजन रे, रसिया उर बसिया।
हुं तो चाली गई वनोवन रे, रसिया उर बसिया॥

हुं तो भावे तमारे भेदी रे, रसिया उर बसिया।
मारां कालज नांख्या छेदी रे, रसिया उर बसिया॥

मुने घरे थकी ध्यान लाग्युं रे, रसिया उर बसिया।
तारी नेणां तणुं बाण वाग्युं रे, रसिया उर बसिया॥

तारे अधर तणो रंग राची रे, रसिया उर बसिया।
तमो ज्यम नचवो त्यम नाची रे, रसिया उर बसिया॥

हुं तो वण दोरी वश चालुं रे, रसिया उर बसिया।
दास भीखो कहे प्रभु संग महालुं रे, रसिया उर बसिय।

'तुम तो छैला नन्दलाल हो, उर बसे रसिया हो। बाँसुरी बजाके बेहाल किया। मुझे भोजन नहीं भाता। मैं तो वन-वन में भटकती हूँ। मैं तो तुम्हारे भाव से घायल हूँ। मेरा कलेजा छेद दिया है। मुझे घर से ध्यान लगा है। तेरे नयनों का बाण लगा है। तेरे ओष्ठ के रंग में मैं मग्न हूँ। तुम जैसे नचाओ वैसे नाचती हूँ। मैं तो बिना खींचे वश हो चलती हूँ। दास भीखा कहता है कि प्रभु के संग मैं तो आनन्द मनाता हूँ।'

म. ई. प्र.

भीम (प्रथम)

गुजरात में भीम नामक दो कृष्णभक्त कवि हुए हैं। एक भीम हैं 'हरिलीलाषोडशकला' के रचयिता और दूसरे हैं 'रसिकगीता' के कर्ता। ये दोनों एक हैं या भिन्न-भिन्न, यह निश्चित नहीं हो सका है। अधिकांश विद्वानों के मत में दोनों अलग-अलग हैं।

'हरिलीलाषोडशकला' के रचयिता भीम विक्रम की १६ वीं शती के पूर्वार्ध में विद्यमान थे, क्योंकि

इनके लिखे दोनों काव्यों में रचनाकाल दिया गया है। इन्होंने 'हरिलीलाषोडशकला' सं० १५४१ में लिखा है। 'प्रबोधप्रकाश' का रचनाकाल सं० १५४६ बताया गया है।

'हरिलीलाषोडशकला' काव्य बोपदेव के 'हरि-लीला विवेक' (भागवतकथा पर आधारित संस्कृत काव्य) के आधार पर लिखा गया है। भीम बोपदेव को विप्र कहते हैं—'पंडित बोपदेव द्विज एक कीधुं हरिलीला-विवेक'। अपने गुरु को भी ये द्विज कहते हैं :

आवी द्विज इन लागु पाय।
मझनई कीधु बहुत पसाय।

इसके उपरान्त 'प्रबोधप्रकाश' में भी ये पुरुषोत्तम को विप्र कहते हैं—'पुरुषोत्तममानम्य विप्रं वेदान्त-पारगम्'। पुरुषोत्तम इनके गुरु प्रतीत होते हैं। ये पुरुषोत्तम भालण कवि हैं ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। 'हरिलीलाषोडशकला' में कृष्णकथा के गायक भी ब्राह्मण के प्रति पूज्य भाव प्रकट करते हैं—

पहिलूं विप्रचरण वदोइ।
च्यारि पदारथ तु सीधई॥

वाडवतणु वचन माग्योस।
तु हूँ कृष्णह कथा रच्योस॥

अहिनिश करूं विप्रनी सेव।
भूमितणा जे जंगमदेव॥

इन्हीं प्रमाणों से अनुमान होता है कि भीम ब्राह्मणेतर जाति के होंगे। भीम के माता-पिता का नाम अज्ञात हैं। एक मत यह है कि प्रभासपाटण के नरसिंह व्यास भीम के पिता थे। इससे ये ब्राह्मण सिद्ध होते हैं।

भीम के जन्मस्थान के विषय में कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इन्होंने 'हरिलीलाषोडशकला' की रचना सिद्धपुर में की है ऐसा प्रतीत होता है। अपने काव्य में इन्होंने इस सिद्धक्षेत्र (सिद्धपुर) की प्रशंसा की है। इनके 'प्रबोधप्रकाश' का सर्जन प्रभासपाटण में हुआ था। इन्हीं आधारों से कोई भीम का मूलस्थान सिद्धपुर (उत्तर गुजरात) बताता है तो कोई प्रभास-पाटण (सौराष्ट्र)।

भीम को यात्रा का शौक था। कृष्ण के प्रति प्रीति-श्रद्धा भाव होने से ये बार-बार द्वारका की यात्रा करते थे। यह बात ये स्वयं बताते हैं—

सत्संगति सेवं द्वारिका,
जेह भणी जई भवतारिका।

द्वारका में कृष्ण की स्तुति करने का उल्लेख भी ये करते हैं—

एकबार मि कमलापति
कीधी श्लोक सातई वीनती !

इसके उपरान्त, 'प्रबोधप्रकाश', की रचना द्वारका में हुई ऐसा भी ये कहते हैं—

अवनी केरु भार उतारि
आव्या हरि द्वारका मझारि।
धर्मशिला हरि आगलि सार,
रचियू नाटक करो विचार॥

'हरिलीलाषोडशकला' में सौराष्ट्र के माधवपुर का भी उल्लेख है। इस प्रकार द्वारका यात्रा के समय भीम सौराष्ट्र के विभिन्न तीर्थस्थलों में जाते थे। ऐसा भी कहा जाता है कि प्रभास-पाटण के तीर्थ-पुरोहित नरसिंह व्यास के अनुरोध पर इन्हों ने 'प्रबोधप्रकाश' लिखा था।

भीम की 'हरिलीलाषोडशकला' सम्पूर्ण भागवत का काव्य के रूप में सार है। इन्होंने संस्कृत का अच्छा अभ्यास किया था। इन्होंने अपना 'प्रबोध-प्रकाश' काव्य कृष्ण मिश्र के संस्कृत-नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के आधार पर लिखा है, भीम स्वयं उस काव्य में यह बात लिखते हैं। इन्होंने नरसिंह की हारमाला के पद भी रचे हैं, ऐसा कहा जाता है।

इनकी भाव-भाषां-शैली के निदर्शन के लिए 'हरिलीलाषोडशकला' का एक अंश यहाँ दिया जाता है :

आनन्द एक अभिनवो रे व्रंदावन मोझार।
वंशी वजाडे विट्ठलो, तेणे छंदे नाचे नार॥

व्रंदावने गोपी नाचे रे, तेणे छंदे राचे राम।
पाखल व्रंद वनितातणुं रे, वचमा लील विलास।
सुंदरी सर्व नव योवना रे, रंगभरे खेले रास॥

सखि सहु दीसे शोभती रे, वचे हरि श्यामळवन।
भीम भणे अंतर लेहे लागी, धन्य धन्य गोपी जंन॥

'वृन्दावन के मध्य एक अभिनव आनन्द है। विट्ठल वंशी बजाता है और उसके छन्द पर नारी नाचती हैं। वृन्दावन में गोपी नाचती है, उसके छन्द में राम (प्रिय कृष्ण) मग्न होते हैं। आसपास वनिताओं का वृन्द है, बीच में लीला-विलास है। वे सब सुन्दरी-नवयुवतियाँ रंग भर रास खेलती हैं। सब दिशाओं में सखियाँ शोभती हैं, बीच में श्यामल हरि हैं। भीम कहते हैं अंतर में लगन लगी है, गोपीजन धन्य-धन्य हैं।'

श्रीमद्भागवत की कृष्ण-लीला कथा पर आधारित वृन्दावन क्रीड़ा और दिव्यरासलीला का मधुरातिमधुर रसपूर्ण वर्णन कवि ने किया है। एक उदाहरण देखिए :

क्रीडा बृंदावन मझारि।
सहित गोपिका करई मुरारि॥

पूनिम केरी निशि निर्मला।
ऋतु शरद शशि सोलई कला॥

उक्त ग्रन्थ में कवि ने 'हरिलीला षोडशकला' के साथ अपनी कवित्व शक्ति की षोडशकला का भी परिचय दे दिया है।

रसराजेश्वर श्री कृष्ण की रास क्रीड़ा की परम माधुरी का आकंठ रसानुपान करके कवि ने गाया है :

क्रीडा करतां अदृष्ट हुआ। गोपी विरहई करई जूजूआ॥
जोती जोती हिंडई नारि। रोती रोती वने मझारि॥
दयावंत स्वामी गोव्यंद। प्रत्यक्ष हुआ परमानंद॥
गोपी मनि उपनी रली। रासक्रीडा निहां मांडी वली॥

रासलीला के अधिष्ठाता श्यामसुन्दर क्रीड़ा करते करते अचानक अदृष्ट हो जाते हैं। गोपांगनाओं के तो मानो प्राण ही निकल गये। श्रीकृष्ण का क्षणमात्र का विरह भी उन्हें असह्य होने लगा। वृन्दावन की कुंजगलियों में रुदन करती हुई गोपिकाओं की दयनीय अवस्था देखकर पूर्ण पुरुषोत्तम प्रकट हो गये। गोपियाँ आश्वस्त हुईं, उनके जी में जी आया और रासक्रीडा का पुनः आयोजन होने लगा। कितना मधुर और रसमय आलेखन कवि ने किया है ? दो छंद प्रस्तुत हैं :

(१)

वृंदावनि गोपी नाचई, तेणइ रगि राचई कांन।
नार मधुर स्वर आलपइ रे, गाइ हरि विलास।
सुंदरी सवि नवयौवन रे, रंग भरी खेलई रास॥
पाखलि वृंद वनिता तणुं रे, माहि शामळ वंन।
भीम भणइ अंतरलय लागु, धिनधिन गोपीजंन॥

(२)

केशव पाम्या अंतरध्यान। ततक्षणि हुआ अदृष्ट भगवान॥
शोक मोह वेदना अपार। वृक्ष कम्हइ पूछइ सिद्धिसार॥
कृष्ण तणइ विरहइ व्याकुली। शरीरसुधि सानत टळी॥
तालावेली करइ सुंदरी। थोडइ नीरि यथा जलचरी॥
केलि तणी परिव्रजइ देह। जाण्युं एह छाडिसइ देह॥
अंतर्यामी सर्वाधार। मनशुं कीधुं ईशु विचार॥

म. ई. प्र.

अं० शं० ना०

भीम (द्वितीय)

'रसिकगीता' के रचयिता भीम वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इस प्रकार ये वल्लभ-सम्प्रदायी हैं। इनका समय १७वीं शती का मध्यभाग है।

भीमकृत 'रसिक गीता' के अन्य नाम हैं-'रसगीता', 'भीमगीता' और 'उद्धवगीता'। इस काव्य में भागवत-दशमस्कन्ध का उद्धव-प्रसंग वर्णित है। इनकी एक दूसरी रचना है 'विट्ठलनाथधोल'। इसमें वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ को कृष्ण का अवतार मानकर उनकी प्रशस्ति वर्णित है। 'रसिकगीता' का प्रारम्भिक अंश यहाँ दिया जाता है। इसमें वैष्णव भक्तकवि की कृष्णप्रीति एवं दीनता की अभिव्यक्ति है :

सकल वैष्णव जन तमने प्रणमुं।
मुने शुधबुध देओवी ब्रजगुण वरणवुं॥
हुँ तो कांई लहेतो नथी अभुज आधीन छुं।
महाशठो मुरख जसो तमारो दीन छुं॥

अमने पोतानो जाणी कंई ज दया करो।
व्रज गुणवंत थाउं एवु कांई अनुग्रहो॥
तमारूं नाम लई कवि पगले चडुं।
तमो भगवत्य दीन वांछे थाए अमारूं भलुं॥

'सकल वैष्णव जनों को मैं प्रणाम करता हूँ। मुझे सूझ-बूझ दीजिए, जिससे व्रज-गुण का वर्णन करूँ। मैं तो कुछ जानता नहीं, अबुध और अधीन हूँ। महाशठ एवं मूर्ख जैसा मैं तुम्हारा दास हूँ। हमें अपना जानकर कुछ दया कीजिए, व्रज-गुणवंत होऊँ ऐसा कुछ अनुग्रह करें। तुम्हारा नाम लेकर मैं कवि के मार्ग पर चढ़ता हूँ। आप तो भगवान् हैं, यदि मुझ जैसे दास को अपनाएं तो हमारा कल्याण हो।'

म. ई. प्र.

भूधरलाल जोशी

भूधरलाल जोशी राणा कंडोरणा (जिला जूनागढ़) के निवासी थे। इन्हें कृष्णभक्ति के संस्कार अपनी भक्तिमती माता से प्राप्त हुए थे। वे बाल्यावस्था में इनको कृष्णभक्ति के पद तथा रामायण-महाभारत की कथाएँ सुनाती थीं। इससे अल्पवय में ही इनके हृदय में भक्तिभाव अंकुरित हो गये जिनका वयप्राप्त होने पर अपेक्षित विकास हुआ। महाभारत तथा कृष्णभक्ति विषयक प्रसंगों के अतिरिक्त ये कृष्ण द्वैपायन व्यास तथा गांधी-जीवन के भी प्रसिद्ध उद्‌गाता थे।

इनके कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

भारत मां वेणु बजी जेणे रणमा हाँकयो रथ।
परमोदय पाथ, ई कनैंयो बेली, कबाऊत॥

टचली माथे तोकियो, डुंगर डाबे हाथ।
नवखंड तोले नाथ कांचे तातणे कबाऊत॥

सुंदर शणगारो सजी श्याम सुंदर श्रीनाथ।
ऊँचो राखो हाथ, करत रक्षा कबाऊत॥

(२)

गोकुल मथुरा ना गम्युं ब्रजभोमी लागी वाम।
तमें सरिकमां उतर्यो श्याम, कृशन कनैयो कबाऊत।
चितोडे मन चली गयुं, वरवा गिरधा वरां,
मेवाडथी उतरी मीरां, केडे द्वारकाने कबाऊत॥

जमना कांठे जनमियो, ई पोढ्यो सोरह पाट।
सोरठमा जे जनमियो, ई पोढ्यो जमना घाट॥

एक मोहन मथुरा तणो, बीजो सोरठ देश।
अबल सबल पोढी गियां, एक बीजाने देश॥

ल. पि. ग.

भूमानन्द स्वामी :

इनका जन्म सन् १७८६ ई० में हुआ था। ये स्वामिनारायण संप्रदाय में दीक्षित तथा राधाकृष्ण की युगल छबि के अनन्य उपासक थे। इनके जीवन विषयक विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। इन्होंने हिन्दी और व्रजभाषा में पद, भजन, होली तथा कुंडलियाँ रची हैं। इनका 'मोहन मोसे खेलो होरी' नामक पद प्रसिद्ध है। इनकी रचना शैली के दो उदाहरण प्रस्तुत हैं :

(१)

बांसलडी बजाडी वनमां मावेजी रे।
चित ब्रज वनितानां ललचावेजी रे॥

व्याकुल थैने ब्रजबनिता, मळवा ते लाल मोहनने।
सरित सागर जाइ भेटत गुजरी गोपाल ने॥

(२)

आदित्य सम उदय थया स्वामी सहजानंद।
अज्ञान तिमिर टाळवा लई मुनिओंनां बृंद॥

सत्संग चारे खूणामां कराव्यो काढी कुसंग।
सतजुग सम धर्म स्थापियो करी काळनो भंग॥

जीव जई जेने ओळखे जीत्यां जुलमी काम।
ए रे एंधाणीए ओळखो भूमानंदना श्याम॥

अं. शं. ना.

भूषन भगत

भूषन भगत के जीवन सम्बन्धी कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। प्राचीन काव्य संग्रहों में इनके जो छंद संग्रहीत हैं उनसे इनकी प्रगाढ़ कृष्णभक्ति व्यंजित होती है। नीचे उन्हीं में से एक प्रसिद्ध स्तोत्र दिया जा रहा है:

रम्या रंग ते गोपिका संग रास।
घणे प्रीतिभावे करीने विलास॥
कहावे तथापि सदा ब्रह्मचारी।
भजो दुःखहारी सदा श्री मुरारी॥

आवी गोकुले काम अत्यन्त कीधू।
पिता माता ने सुख सम्पूर्ण दीधू॥
ए तो नन्दनो नन्द आनन्दकारी।
भजो दुःखहारी सदा श्रीमुरारी॥

घणा दुष्ट मारी हर्यो भूमि भार।
कृपा ये करी भक्त तार्या अपार॥
जेणे नन्दनी धेनु नव लक्ष चारी।
भजो दुःखहारी सदा श्री मुरारी॥

सुदामा तणी सार अत्यन्त कीधी।
मुठी तान्दुलामां नवे निधि दीधी॥
कृपानाथ साधुतणा हितकारी।
भजो दुःखहारी सदा श्री मुरारी॥

जम किंकर दुःख अत्यन्त दीधुं।
त्यारे नारायण पुत्रनुं नाम लीधुं॥
एवा मां अजामिल लीधो उगारी।
भजो दुःखहारी सदा श्री मुरारी॥

स्तुति साँभली भक्तनी भीड़ जाणी।
आव्या सद्य वैकुण्णी चक्रपाणी॥
मूकाव्यो गज ग्राह नाख्यो विदारी।
भजो दुःखहारी सदा श्री मुरारी॥

अरे बुद्धिहीन न जाणो हरीने।
तेणे आवशो गर्भ वासे फरीने॥
जुवो ने तमे ज्ञान दष्टे विचारी।
भजो दुःखहारी सदा श्री मुरारी॥

हरि भक्ति पाखे वृथा जन्म जाशे।
पछी अन्तकाले घणुं कष्ट थाशे॥
ते माटे तमे बाज बीजी विसारी।
भजो दुःखहारी सदा श्री मुरारी॥

विषय विष रुपी तेने शुं वखाणो।
आ संसार ने स्वप्ने तुल्य जाणो॥
विवेक करी मोह माया निवारी।
भजो दुःखहारी सदा श्री मुरारी॥

चतुर्भूज श्रीनाथ हो सत्य शर्ण।
महालक्ष्मी सेवे जेना नित्य चर्ण॥
ए तो शंख चक्र गदापदेम धारी।
भजो दुःखहारी सदा श्री मुरारी॥

तेणे शुं थयुं जे घणुं एक डाह्या।
तेणे शुं पयुं दव्य सारु कमाया॥
तेणे शुं थयुं जे रम्या रंग नारी।
भजो दुःखहारी सदा श्री मुरारी॥

प्रभु नाथ पोते दिसे छे दयाल।
करे नित्य भक्ती तणी प्रीति पाल॥

तेने जो भयो तो गति थाय सारो।
भजो दु.खहारी सदा श्री मुरारी॥

सदा गाम वेलाल मध्ये निवास।
प्रभुजी तणो नित्य दासानुदास॥
रची भूखण ते सुणो मोक्ष बारो।
भजो दुःखहारी सदा श्री मुरारी॥

ल. पिं. ग.

भोजा भगत

सौराष्ट्र में जेतपुर के समीप अमरेली जिले के देवकी-गालोल नामक गाँव में विक्रम सं० १८४१ (ईस्वी सन् १७८५) में संत कवि भोजा भगत का जन्म हुआ था। इनके पिता श्री करशनदास तथा माता गंगाबाई श्रीकृष्ण के परम उपासक थे। भोजा भक्त को भक्ति, योग तथा ज्ञान माता-पिता से उत्तराधिकार में मिले थे। जन्म से लेकर बारह वर्ष पर्यन्त ये केवल दूध पर रहे थे। उसके पश्चात् गिरिनार के रामेतवन नामके एक सिद्ध योगी इनके गाँव में आये। उन्होंने बालक भोजा को गुरु मन्त्र देकर दीक्षा दी तथा उसका अन्नप्राशन कराने का आदेश दिया। उन्होंने वाणी तथा कर्म से जन सेवा करने का महामन्त्र भी दिया। तभी से इनकी साधना का आरम्भ हुआ।

महात्मा रामेतवन का शिष्य मण्डल विशाल था। उनके मुख्य शिष्य जीवराज थे। वे अमरेली के समीप फतेहपुर में भोजा भगत से मिले थे। उस स्थान पर भोजा भगत ने अजपा-जप किया था तथा स्थायी रूप से रहने लग गये थे। कहते हैं कि पेशवा सरकार के दीवान विट्ठलराम ने एक बार इनकी भक्ति की परीक्षा ली थी। उस परीक्षा में इनको पूरी सफलता मिली। दीवान के समीपवर्ती समाज में इनका आदर बहुत बढ़ गया। दीवान को इन्होंने अपनी रचना "चाबखा" में उपदेश दिया है। सौराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सन्त भक्त जलाराम वीरपुर वाले इन्हीं के शिष्य थे।

अशिक्षित होने पर भी भोजा भगत ने विविध रागों में पदों, कीर्तनों, धोलों, होरियों आदि की रचना की हैं। इनकी स्मरण शक्ति बहुत तीव्र थी। इनके काव्य में प्रमुख रूप से भक्ति-रस की अभिव्यक्ति सीधी-सादी भाषा में हुई है। ब्रह्मोपदेश के सम्बन्ध में भी इनकी रचनाएँ हैं। इनका देहावसान सं० १९०६ (सन् १८५० ई० में) हुआ ऐसी मान्यता है। आज भी फतेहपुर में इनका स्थान है। वहाँ इनकी पगड़ी तथा माला की पूजा होती है।

इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं : चेलैया आख्यान, चाबखा, ज्ञानना द्वादश मास, अनन्य स्वरूप, कृष्ण-कीर्तन बावनक्षर, प्रभाती, सखड़ां, तिथियओ, भजन, होलियाँ कवित्त, चोडीनांपद, धुन, भक्तमाल, धर्माय तथा बभ्रु-आख्यान।

भोजा भगत की समग्र रचनाओं को पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है : वैराग्य तथा भक्ति के पद, योग-संबंधी काव्य, समाज-सुधार संबंधी काव्य, आख्यान एवं भक्तमाल तथा शृंगार के पद। ऐसी मान्यता है कि इनके छोटे-बड़े कुल मिलाकर १८२ पद हैं और वे सभी राधा-कृष्ण भक्ति से ओत प्रोत है।

गुजराती साहित्य में शामल और अखा के 'छप्पे', दयाराम की गरबी', नरसिंह के 'प्रभातिये', प्रीतमदास के पद, धीराभगत की 'काफी' और भोजा के 'चाबखे' लोकप्रिय हैं।

चाबखा चावुक का गुजराती रूप है। घोड़ा, बैल आदि पशुओं को नियंत्रण में रखने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। भोजा भगत ने मोह माया और जड़ता की निद्रा में मग्न मनुष्यों को जगाने के लिए तीखे शब्दों के चाबखे लगाये हैं। भोजा के ये चाबखे एक क्रांतिकारी समाज सुधारक की प्रखर वाग्धारा के समान मायाग्रस्त जन समुदाय को सन्मार्ग-प्रदर्शन की क्षमता रखते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

'जोई ल्यो जगतना बाबा रे धर्यामेख घूमीने खावा।
ज्यों प्रेमदा पाणी भरे त्यां जाय नित न्हावा॥
धूपकरे ने बावो ध्यान धरे भोला लोकोने भरमावा।
प्राणीया भजी लेने किरतार आतो सपनुं छे संसार॥

धन दौलत ने माल खजाना पुत्र अने परिवार।
ए बंधु छोडी तुं जइश एकलो पछी खाशे यमना मार ।।

भोजा भगत ने कृष्णलीला के भी कुछ पद लिखे हैं। इनके पद बड़े ही लोकप्रिय हैं। भजनीकों द्वारा गांव गांव में उनका प्रचार एवं प्रसार हुआ है। भोजा का 'द्रौपदी की प्रार्थना' नामक पद द्रष्टव्य है :

'नाथ मेरी अरज सुणो अविनासी।
हुं तो जनम जनम तोरी दासी ।।
भरी सभामां श्याम संभारे त्रिकम तोरे संग रांची।
अबला नारी एम पोकारे जीवन तमने हुं जांची ।।
भीड पडी हवे आवजो भूधरजी वदे द्रोपदी त्रासी।
भोजो भगत कहे वात्सले प्रेम तणा छे प्यासी ।।

भोजा भगत ज्ञानी भक्त थे। अतः आराध्य देव श्री कृष्ण के निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों में इनकी समान आस्था थी। नीचे इनके कृष्ण-भक्ति व्यंजक तीन पद दिये जाते हैं :

(१)

काचबो कहे छे काचबीने तुं राखने धारण धीर।
आपणने उगारशे वालो जुगतेशु जदुवीर ।।
चिन्ता मेली चरणे आवो रे।
मरवा तुं ने नहि दे भावो रे ।।

वारतो ती शीये वास्ते,
मारुं कंथ, न मान्युं केण।
काल आव्यो कोण राखशे,
तमे नीचा ढालो नेण ।।

प्रभु तारो नावियो प्राणी रे।
माथें आवो मौत निशानी रे ।।

अबला ने इतवार न आवे,
कोटि करोनी उपाय।
कहयुं न माने कोई नुं रे,
ए तो गायुं पोतानुं गाय ।।
एवी विश्वास वोणी रे।
प्रथम तो मत्यनी पोणी रे ।।

काचबी के छे क्यां छे,
तारो राखणहारो राम।
हरि नथी के, ना हाथ मां,
तमे शुं बोलो छो श्याम।
मखा टाणे मति मूंझाणी रे।
रे तूव्या पछी झालवुं ताणी रे ।।

विट्ठल जी मारी विनती,
सुणी शामला लेजो सार।
लीह लोपाशे लोकमां रे,
बीजी वांसे केनी बार ।।

हरि मारी हांसी थाशे रे।
प्रभु परतीति जाशे रे ।।

केशव जी ने करणा आवी,
मोकल्या मेघ मलार।
आधणमाथी उगारियो आवी,
काचबाने करतार।
भोजल भरोसो आवशे जेने रे।
त्रिकमजी तारशे तेने रे ।।

(२)

उद्धव जी शेल्या एकला रे हवे केम करी रे बाय रे।
विजोगी यानी वारता वोजा किया आगल के वाय रे ।।
गोकुलियु तो गोविन्द बिना खोरड खावा धाय रे।
जीवन बिना जीववुं एतो जुग संगो दिन जाय रे ।।
ब्रेहवती ने विवाद न सूझे जेना दिलमां लागेल दाय रे।
प्रीति वछोया प्रेमदा जेना वादमां लागेल बाय रे ।।
अमे छाना मेवा लावतां ह्वालां खाते करीने खाय रे।
वचने वारता विट्ठलो जो जो जाणता नहि नंदराय रे ।।
शीद आवो छो शेरीये अमने केता जशोदा माय रे।
मोहन जी ने मलवा खातर करतां कोटि उपाय रे ।।
मलवा खातर मावने जाता गोदरे दोवा गाय रे।
भोजल स्वामी ने भेटिये त्यारे आनंद उच्छव थाय रे ।।

(३)

करो कृपा कृपाल रे, मारुं मन मूढ मति।
रहो हृदये अमारे, कृष्ण कमलापति॥
गरुड छांडीने प्रभु पाला पलिया गोविन्दा गजनी वार।
भोजो भगत बोल्यां रे प्रीति पेला भवनी हती॥

ल. पिं ग.
अं. शं. ना.

भोवन भगत

भोवन भगत का जीवनवृत्त अज्ञात रहा है। इनके द्वारा रचित कृष्णलीला के कुल तीन पद इच्छाराम सूर्यराम देसाई द्वारा सम्पादित 'बृहत् काव्य दोहन' ग्रन्थ ६' में प्रकाशित हुए हैं। उक्त पदों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये कृष्ण भक्त थे।

इनका एक पद यहाँ दिया जा रहा है :

राग : वसंत धुमार

केम भरीए रे केम भरीए जल जुमना को नीर ;
नंदकुंवर केडे पडयो केम भरीए ॥ टेक०॥
वहालो ताकी मारे पीचकारीओ आवी वागे,
आवी वागे रे आवी वागे तनडामां तीर। नंदकुंवर०
वहाले अबील गुलाले घेलाँ कयाँ वणसाडयाँ,
वणसाड्याँ रे वणसाड्याँ चोली ने चीर॥ नंदकुंवर०
वहाला इक दिवस होली तणा हळवा ए,
हळवा ए रे हळवा ए, हलधर जी को वीर। नंदकुंवर०
वहालो जंत्र वगाडे एना मंत्रमां कोई न जाणे,
कोई न जाणे रे, कोई न जाणे एना गुण गंभीर॥ नंद०
वहाला भक्त भोवन प्रभु तम विना कोने भावे,
कोने भावे रे, कोने भावे जुमना जी को नीर॥ नंद०

'हम यमुना का जल कैसे भरें? नंदकुंवर पीछे लगा है। प्रीतम तो ताक के पिचकारी मारता है, बदन में तीर आकर लगता है, आकर लगता है। बालम ने अबीर-गुलाल से हमें पागल कर दिया, हमारी चोली और चीर बिगाड़ दिये, बिगाड़ दिये। हे प्रीतम! होली के दिन तो हिलने-मिलने के हैं। हलधरजी के वीर भी हृदय में भा जाएँ, ऐसे हैं। प्रीतम तो उसके मंत्र में यंत्र (बांसुरी) बजाता है; उसके गंभीर गुण कोई नहीं जानता, कोई नहीं जानता। भक्त भोवन कहते हैं, 'हे प्रीतम प्रभु! तुम्हारे बिना यमुना का जल किसे भाये, किसे भाये?'

म. ई. प्र.

मंजुकेशानन्द स्वामी

जूनागढ़ जिले में माणावदर ग्रामवासी श्री बालाभाई (पिता) तथा जेतबाई (माता) के दो पुत्र थे, जिनमें बड़े भाई का नाम भीम जी भाई था और छोटे भाई मंजुकेशानन्द थे। मंजुकेशानन्द की महादीक्षा से पूर्व का नाम क्या था? यह किसी को विदित नहीं है। इसी प्रकार इनका जन्म संवत् भी अज्ञात है।

इनके पिता-माता बालाभाई और जेतबाई श्रीहरि के अनुयायी थे। जेतभाई का छोटे पुत्र (मंजुकेशानन्द) पर अगाध स्नेह था। इनकी शांत वृत्ति तथा निर्मल स्वभाव को देखकर माता जेतबाई प्रसन्न होती थीं और ईश्वर भक्ति के भाव अपने पुत्र में पल्लवित होने की कामना रखती थीं। इसीलिए वे सोचती थीं कि यदि उनका पुत्र श्रीहरि की सेवा करके उनके साथ रहकर सत्संग का प्रचार करे तो इससे बड़ी प्रसन्नता और क्या हो सकती है?

इसी बीच श्री स्वयंप्रकाशानन्द स्वामी विचरण करते हुए माणावदर आये। वहाँ कुछ दिन रहकर कथा-कीर्तन करके जब वापस चलने के लिए उद्यत हुए तो जेतबाई के छोटे पुत्र उनके साथ हो लिए। स्वयं प्रकाशानन्द जी ने गढ़पुर में आकर श्रीहरि से दीक्षा दिलवाकर इनका नाम मंजुकेशानन्द रखा।

मंजुकेशानन्द की गुजराती भाषा की प्राथमिक शिक्षा का आरंभ माणावदर में हुआ था। दीक्षा लेने के बाद नित्यानन्द स्वामी के पास रह कर इन्होंने संस्कृत भाषा का अभ्यास किया। इसके बाद तुलसी

तथा सूर के पदों का अनुशीलन करके इन्होंने हिन्दी भाषा पर अधिकार प्राप्त किया। इसी तरह इन्होंने मराठी भाषा का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया।

मंजुकेशानंद जी निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की है : (१) ऐश्वर्य प्रकाश (२) धर्म प्रकाश (३) हरिगीता भाषा (४) एकादशी माहात्म्य (५) कीर्तन संग्रह (६) नन्दमाला (७) स्तोत्र।

'ऐश्वर्यप्रकाश' ग्रन्थ हिन्दी में वि० सं० १८७५ में लिखा गया था। इसमें २१० अध्याय और १०८ ऐश्वर्य हैं। यह ग्रन्थ श्रीहरि के ऐश्वर्यवर्णन से परिपूर्ण है :

सबे अवतार के श्रीहरि अवतारी महाराज।
जो कुछ है सो ताहि है, अनंत मोक्ष को साज॥

'धर्म प्रकाश' ग्रन्थ गुजराती में वि० सं० १८८५ में लिखा गया था। इसमें काम, क्रोध, लोभ आदि षट्विकारों के साथ सद्विचार, क्षमा, संतोष आदि के युद्ध का वर्णन है। इनके अतिरिक्त इस ग्रंथ में यमयातना, गोलोक, अक्षरधाम आदि का भी वर्णन है।

'हरिगीता भाषा' सत्संगी जीवन में लिखित हरिगीता का अनुवाद है। इसमें श्रीहरि और उनकी माता भक्ति का संवाद है। यह ग्रन्थ गुजराती भाषा में वि० सं० १८९५ में लिखा गया था।

'एकादशी महात्म्य' में बारह महीनों में आने वाली सभी एकादशियों का महिमा-गान किया गया है।

'नन्दमाला' ग्रन्थ में श्रीहरि से दीक्षा प्राप्त करने वाले ५०० से अधिक संतों के नाम मोती छंद तथा दोहा-चौपाई में दिये गये हैं। स्वामी जी ने भगवान् की महिमा का वर्णन करने वाले स्तोत्र की रचना संस्कृत भाषा में उपजाति वृत्त में की है। इस प्रकार मंजुकेशानन्द जी का ध्येय सत्संग की वृद्धि ही था।

इनकी 'अक्षरधाम-यात्रा' की तिथि का पता नहीं चलता। शास्त्री धर्मवल्लभदास जी ने इसका समय 'स्वामिनारायण मासिक (जून १९७० पृ० सं० २२), में वि० सं० १९२८ दिया है, जबकि बड़ताल के श्रीरघुवीर चरणदास जी की नोट बुक में विक्रम सं० १९११ अंकित है। कुछ भी हो स्वामी जी ने आजन्म सत्संग की सेवा की है।

इन्होंने अपनी रचनाओं में राधाकृष्ण की लीलाओं का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है।

होली का एक दृश्य प्रस्तुत है :

धूम मचाई श्याम रे रंग
खेलत नौतम होरी।
युवा युवा चंदन अबीर अरगजा
केसर गागर घोरी।
अंग अंग में रंग भीज गये हैं
निरखत नवल किशोरी॥

अ. शु.
अं. शं. ना.

मनुभाई त्रिवेदी

'सरोद' उपनाम से मार्मिक भजन लिखने वाले मनुभाई त्रिवेदी गजल की दुनिया में 'गाफिल' के रूपमें सुविख्यात रहे हैं। इनका निर्वाण १९७१ ई० में अहमदाबाद में हुआ। ये न्यायाधीश रहे हैं। मनुभाई ने गजल और भजन के अतिरिक्त छन्दोबद्ध काव्य, वार्ताएँ, नाटिकाएँ और चिन्तन प्रधान लेख भी लिखे हैं। किन्तु इनके प्राण भजन में ही ढले थे। साहित्य के विविध क्षेत्रों में विहार करते हुए भी इनकी भजनीक आत्मा अपना प्रकृत मार्ग कभी नहीं भूली। यही कारण है कि स्वामी आनन्द ने इनके प्रति श्रद्धाञ्जलि देते हुए 'महान् भक्तराज' के रूप में इनका परिचय दिया है।

इनके भजन के दो नमूने-नीचे दिये जा रहे हैं :

(१)

मोहन मोरे घर आयो।
वाम एक वांसनी काया कनक कीनी।

मोर पींछ माथे लगायो।
तंबूर रूपे मोहन मोरे घर आयो।
मुखडुं खोली एणे त्रिभुवन दाख्यां,
जीयो जशोदानो जायो! तंबूर रूपे०...
नवसे नाडीयुं थनगन नचवी
वृंदावन रास रचायो। तंबूर रूपे०....
वारो वारी जाउं एने छातडीये राखुं,
अळगो न थाय ए कन्हायो! तंबूर रूपे०...

कविता प्रायः हिन्दी और तत्सम शब्दों में ही रची होने से व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखती।

(२)

मने मोहन जी तवानी आश रे।
मोरली सुणीने न्हैं जाउं बनमां,
भलो एथी गोकुलिये वास रे॥
मोरलीना मीठा सूरे गोकुल सुन सुन थाय,
चेतन वृन्दावन जतां।
शेष निश्चेतन खोकियुँ जणाय रे,
मोरली सुणीने न्हैं जाउं वनमां।
वांस तणी एक लाकडी, बे वेत एनी काय,
छिद्र भरेली कूबडी,
एने बोलाये मारी बला जाय रे। मोरली०

एक थवा उर मां घणी मारे रमतल आश,
अम बिच कोई न जोइये,
कानो बोलावे एज अभिलाष रे। मोरली०

ल. पि. ग.

मयण

मयण के जीवन के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनकी कृतियों में प्रयुक्त भाषा के स्वरूप के आधार पर विद्वानों ने इनका उपस्थिति काल सं० १४५० के आस पास माना है। ये जाति के ब्राह्मण थे। श्यामसुंदर की शृंगारलीला को ही इन्होंने अपने काव्य में प्राधान्य दिया है। गीतगोविंदकार जयदेव की तरह कवि मयण ने भी संयोग तथा वियोग, शृंगार के दोनों पक्षों का वर्णन किया है।

इनकी एक मात्र कृति 'मयण छंद' उपलब्ध है। यह रचना छप्पय-छंद में निवद्ध है। इस ग्रंथ का कर्ता 'मयण बम्भ' ब्राह्मण जातिका है, ऐसा आरंभ में ही कवि ने बता दिया है। राधा कृष्ण की संयोग लीला का मर्यादित चित्रण इनकी विशेषता है। एक उद्धरण पर्याप्त होगा :

एह जी दंत तुह वयणे।
एहजी कज्जल तुह नयणे॥
अजीए प्रेमल गंध सरस,
छहिल्ल मनमोहन।
अजीअ गलइ कंचुउ,
भीडी यौवन तन सोहन॥

कलस कुच वामी न किउ,
मयण बंभ तुं नत्थि इम,
हे सखि! सयल आभरण मांहि,
दैवी न सरजिउ तिथितिम॥

दंत खंडि करवतु,
अवर नेउर हुताशन।
मोती ख्यार समुद्र घसो,
परिमलइ उरासन॥

कज्जल जगनि प्रज्जलिउ,
तुह मइ नयणे।
एहजी हार तुह कंठे,
एहजी झांझर तुह चरणे॥

एतला तप्प जु नहु तपिउ।
तु मुज पास न आविउं॥

गजगति गरुडागामि,
कांति कंसासुर विहंडण।
वाली बलि छेतरण,
दैवि देतांह निकंदन॥

कमलपाणि कमलवास हरि,
मुझ मनि भामिनी भयहरणि।

मानिनी मयण इम उच्चरइ,
हरिलंकी हिव हरिशरणि ॥

अं शं. ना.

महंत गोपालदास

महंत गोपालदास ने प्रणामीमत के सिद्धान्तों को सरल और सुबोध करने के हेतु 'परदेशी समाचार' नामक ग्रंथ में ब्रह्मांड की उत्पत्ति, जीव का वासनाओं के कारण माया में फँसना, ब्रह्मलीला और अन्ततः मोहपीड़ित ब्रह्मप्रियाओं को जाग्रत करने आदि का वर्णन किया है। इस ग्रंथ का पूर्वार्धं स्वयं गोपालदास विरचित है, जबकि उत्तरार्धं में जुगलदास के शिष्य चतुरदास की 'शब्दावली' दी गई है। प्रतीत होता है कि 'परदेसी समाचार' मूलतः हिंदी में लिखा गया था बाद में गुजराती में भाषान्तरित हुआ। इसमें गोपालदास की बाराखड़ी, मुरलीधर के कवित्त, छत्रसाल के कवित्त और अर्जुनदास रचित दानलीला भी सम्मिलित है।

न. पं.

महावदास

महावदास का उपस्थिति काल वि० की १७वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। ये गुजरात के निवासी वणिक थे। किन्तु गोकुल नाथ जी के साथ ये गोकुल जाकर वहीं बस गये थे। इसलिए इन्हें गोकुल वासी महावदास के नाम से जाना जाता है। इनके तीन काव्यग्रंथ उपलब्ध हैं—गोकुलनाथ जी नो विवाह, रससिन्धु और रसालय। तीनों उत्कृष्ट कोटि की रचनाएँ हैं। 'गोकुलनाथ जी नो विवाह' एक ऐतिहासिक काव्य है। इसमें वल्लभाचार्य जी के प्रपौत्र गोकुलनाथ जी का विवाह (जो गुजरात के वेणाभट्ट की पुत्री पार्वती के साथ हुआ था) वर्णित है। इसमें विवाह का रसमय चित्रण किया गया है। कवि ने कौटुंबिक परंपरा एवं विवाह विधि का वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से किया है।

कवि महावदास के 'रससिन्धु' और 'रसालय' काव्य-ग्रंथ गद्यपद्यात्मक शैली में है। कहीं-कहीं अक्षरमेल-वृत की शब्दचमत्कृति भी है। पुष्टिमार्ग की परम्परा में इनके ग्रंथों का विशेष महत्व है। गुजरात में पुष्टिमार्ग के विकास में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

'रससिन्धु' नामक इनके गद्य-पद्यात्मक ग्रंथ से एक उद्धरण नमूने के रूप में प्रस्तुत है :

'छे मंन अति गंभीर, रमे जेम सुख उपजे।
एहेथी भक्ति सर्वदा; हरिजन ते हरि ने भजे ॥

'रससिहु' ग्रंथ लखीए छे गुजरी भाषा।
हवे एवुं मनमांहो उपजे छे,
जे एक अति रसिक ग्रथ कीजे ॥

श्री ठाकोरजीने जोइये छे।
भगवतोनी संगत कीजे छे ॥
तोहे पण स्नेह उपजातो नथी।
ते माटे जो स्नेह मन धरी ॥

सांभळे तो स्नेह उपजे अने स्नेह,
वृद्ध पामे एहवो, एक ग्रंथ।
श्री गोकुलवासी महावदास करे छे,
आ ग्रंथनुं नाम ते ॥

रससिंधु सहसकते घणा एक ग्रंथ,
नहीं ते माटे भाखाए कीजे छे,
काही एक वातो करीने केहेसु।
कांइबेक चोपाइए करीने हेकसु ॥

मतगज केहने नव माने, होए सदा बलवीर।
इच्छाए वंनमां चाले छें, मनथी अति गंभीर ॥

अं शं. ना.

महेराज

कहा जाता है कि महेराज सं० १७२० में विद्यमान थे। इनकी जन्म-भूमि जामनगर थी। जाति के ये लोहाणा ठक्कर थे। इनके पिता का नाम केशव था। इनकी नौ कृतियों का संधान मिलता है। उनके नाम हैं–रासलीला, षड्ऋतु वर्णन, द्वादसमास, कलश,

बड़ा शृंगार, मारमन-सागर, खेलवत-खुलासा, परम-धाम वर्णन तथा कयामत नामुं।

ल. पि. ग.

मांडण बन्धारो

मांडण बन्धारो का जीवन वृत्त अज्ञात रहा है। एतद्विषयक कुछ संकेत इनकी कृतियों में प्राप्त होते हैं। अपनी एक रचना 'रुक्मांगद-कथा' के आरंभ में ही ये लिखते हैं :

'जोशी मदनतणूं शिशि, पंडित सूरा देस।
आदरि ग्रंथ सुणाविउ, तु पाम्यु उपदेस॥

इस प्रकार मांडण मदन जोशी के शिष्य प्रतीत होते हैं। इसी काव्य के अन्त में इन्होंने अपने कुल-परिवार का भी निर्देश किया है :

'शीरोही सारण सानिधि, करी कथा आवी मनशिधि।
आव्यु कुले बंधारा तणई, लीधु जनम कृत आपणई।
माता मेधू उदिरि निवास, वैष्णव भक्त सव्हुंनुं दास।
साचइं कूडइं एणइं मिशि। मांडण मुखि हरिनाम आवशि॥

इसके अनुसार मांडण उत्तर गुजरात के सिरोही क्षेत्र के निवासी थे। जाति के ये बंधारा (भावसार) थे। इनकी माता का नाम मेधू था। उपर्युक्त पंक्तियों में 'वैष्णव भक्त', 'मांडण मुखि हरिनाम' शब्दों से सुस्पष्ट है कि मांडण हरि (कृष्ण) का नाम रटने वाले वैष्णव भक्त थे।

इनके जन्म-समय के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, किन्तु इनकी रचनाओं में प्रयुक्त गुजराती भाषा के प्राचीन स्वरूप को देखने से प्रतीत होता है कि ये विक्रम की सोलहवीं शती के प्रारम्भ में विद्यमान रहे होंगे। 'रुक्मांगद-कथा' की सबसे प्राचीन हस्तप्रति सं० १५७४ की प्राप्त होती है। अतः इनका आविर्भाव इसके पूर्व हुआ होगा, इतना निश्चित है।

मांडण ने भक्ति भाव से प्रेरित हो बहुत सी यात्राएँ की थीं। इनके द्वारा लिखित 'प्रबोध-बत्तीसी' में कहा गया है :

'बहु तीरथ मइ जोयां करी। बारे वरसे गोदावरी॥
तोरां चरण शरण फल शिघ्र। अग्नि घृत तत्कालि वीध्र।

इन पंक्तियों से मांडण की तीर्थभ्रमण वृत्ति, परमात्मा के प्रति आसक्ति एवं शरणभक्ति अभिव्यक्त होती है। द्वारका की यात्रा के समय श्रीरणछोड़राय के सामने इनके द्वारा गाये गये दो पदों में प्रयुक्त 'विठला' शब्द में मराठी की छाया है। अतः अनुमान होता है कि भक्त नरसिंह के समान माडण भी मराठी की छाया वाले पद रचने में प्रवृत्त हुए होंगे।

मांडण की रचनाएँ हैं : पांडवविष्टि, सतभामानुं रुसणुं, प्रबोध-बत्रीसी, रामायण और ,रुक्मांगद-कथा। इनमें रामायण और प्रबोध बत्रीसी के अतिरिक्त शेष रचनाएँ कृष्ण विषयक हैं। 'प्रबोधबत्रीसी' चौपाइयों में ज्ञान संगोष्ठी है। इससे यह स्पष्ट है कि मांडण की कृष्ण भक्ति ज्ञान से मंडित है। श्रीकृष्ण-भक्ति विषयक इनके दो पद यहाँ दिए जा रहे हैं :

(१)

सागर बोलि सांभलि नामा तूं गुण पार न जांणूं रे।
आणूं कवण ओपमा॥

ये उपगार ति कीउला अत्मचि।
कैता करूं अवषाणुं रे, जाणुं न पार तुह्म॥

जेह्चा पांउ शेविं सुरपति सीतापति श्री रांमो।
ते अम्ह सांहांमा कीउला मुरारि, धन धन तुझा नामो॥

'समुद्र की गर्जना सुन भक्त को विराट् परमात्मा का ध्यान आया और उसने प्रभु के गुण गाये। हे रणछोडराय! आपके नामगुण अपरंपार हैं, जो मैं जान नहीं सकता। आप को कौन-सी उपमा दूं? आपने हमारे ऊपर कितना बड़ा उपकार किया है? आपकी प्रशस्ति कैसे करूँ? आपकी सीमा मैं नहीं जानता। जिसके चरणों का सेवन सुरपति और सीतापति

श्रीराम करते हैं, ये मुरारि हमारे सामने आज कैसे शोभायमान हैं। आप के नाम को धन्य-धन्य हैं।'

(२)

अह्यो आइला रे हरि !
उषामंडल भणी जु घणी सांभली रौरचि बात।
अहूयो कीधलि रे हरि !
तीर्थं द्वारावती दुर्मति मेलीआं कर्म कोटि।
सारीली रे हरि !
गोमती मज्जन ब्रज न बाधतां मेर मोटी॥

'जिसके बारे में बहुत सी अच्छी बातें सुनी थी, उस हरि के ओखा मंडल के प्रति हम आये। यहीं पर हरि के द्वारावती तीर्थ की यात्रा करके दुर्मति और कोटि कर्म छोड़ दिये। गोमती-स्नान से ब्रज बढ़ नहीं जाता।'

म. ई. प्र.

मांडण वरसडा

मांडण वरसडा का जन्म सौराष्ट्र में पोरबंदर तथा बजाणा के पास देगाल में हुआ था। ये जाति के चारण थे। चारण-भक्त ईसरदान के सम्पर्क से ये भगवान् द्वारकाधीश के अनन्य भक्त बन गये। द्वारकाधीश ने इन्हें पगड़ी बँधाई थी, यह बात प्रसिद्ध है।

भक्तप्रवर मांडण वरसडा श्री द्वारकाधीश को अखिल ब्रह्माण्ड के अधिनायक, महाराजराजेश्वर और समस्त विश्व के देवाधिदेव के रूप में भजते थे।

इनके जीवन के सम्बन्ध में एक चमत्कारपूर्ण कथा प्रचलित है। एक बार ये संघ सहित द्वारका पहुँचे। नगर में प्रवेश करते ही साष्टांग दंडवत् प्रणाम करते-करते ये गोमती-सागर के संगम-तट पर आये। गोमती में स्नान करते समय ये इतने भावविभोर हो गये कि इनके मुँह से स्वतः श्री द्वारकाधीश की स्तुति का पद निकला। स्नान करके ये द्वारकाधीश के मन्दिर में गये। सभी ने भगवान् के दर्शन किये, किन्तु मांडण को मूर्ति दिखाई न पड़ी। परिणाम-स्वरूप क्रोधित हो इन्होंने अपने हाथ के गंगाजल-पात्र को मूर्ति के ऊपर फेंका। पुजारी ने क्रुद्ध हो इनसे कहा, 'यह क्या किया ? सोने की द्वारका तो समुद्र में है। भगवान् कृष्ण के दर्शन करके प्रायश्चित करना हो तो वहाँ समुद्र में जाओ।' मांडण भक्त तुरन्त समुद्र-तट पर गये और कृष्ण भक्ति के पूर्णावेश में समुद्र में कूद पड़े। उस अवसर पर इनके मुँह से निकला, 'जयश्रीद्वारकाधीश ! अपने चरणों में लेना'। कहा जाता है कि समुद्र में इन्हें द्वारकाधीश के महल और उसमें विराजमान द्वारकाधीश कृष्ण के साक्षात् दर्शन हुए। प्रभु के कपाल पर घाव देखकर पूछने पर श्रीकृष्ण ने हँसते-हँसते कहा, 'हे भक्तराज ! यह तो आपका पराक्रम है। आपने मन्दिर में मेरी मूर्ति के ऊपर जो जलपात्र फेंका था, उसी का यह घाव है।' प्रायश्चित में विलाप करते तथा अश्रुधाराबहाते हुए भक्त मांडण श्री प्रभु के चरणों में गिर पड़े। कृष्ण भगवान् ने इनका उद्धार किया।

मांडण ने कीर्तन-भक्ति के पद रचे है। समुद्र में डुबकी लगाते समय इनके मुँह से जो रेणकी छन्द का स्तुति-पद निकला बताया जाता है, वह यहाँ दिया जाता है :

महामंगल द्वारामती, मुगतपुरी सरसमाज।
उग्रहेन राय अधिपति, ने कृष्ण करता काज॥
त्यां छप्पन कुल जादव बसे, सुर तेत्रीसे सार।
चक्र सुदर्शन चोकी करे, बसे पुरी जोजन बार॥
विश्वकर्मा पुरी बेच्ची, विश्नु सत सत तत धाम।
गरजे माता गोमती, ते विराजे सुंदर श्याम॥

'द्वारावती महामंगलमयी है। वह तो सर्वसमाज की मुक्तिपुरी है। राजा उग्रसेन अधिपति हैं और कृष्ण राजकाज करते है। वहाँ छप्पन-कुल यादव बसते हैं। तैंतीस-कोटि देवों का यह धाम है। इस नगरी की चौकी (पहरा) सुदर्शन चक्र करते हैं। यह नगरी बारह योजन में बसती है। विश्वकर्मा ने यह नगरी बनाई है। यह तो विष्णु का सत्य-धाम है।

यहाँ गोमती नदी गरजती है और सुन्दर श्याम बिराजते हैं।'

म. ई. प्र.

माणिकदास

माणिकदास अहमदाबाद के निवासी थे। इनका समय सं० १८४२ माना गया है। इनकी कई कृतियाँ उपलब्ध है। वे इस प्रकार हैं: कवित्त प्रबन्ध, आत्म विचार, संतोष सुरुतरु, राम रसायण तथा सत्संग प्रभाव।

अ. शु.

माधव

माधव अज्ञात-वृत्त गुजराती भक्त है। इनकी केवल एक रचना 'कृष्ण विरहना बारमास' का संधान मिलता है। इससे ये कृष्णोपासक सिद्ध होते हैं।

ल. पिं. ग.

माधवदास

माधवदास का जन्म सूरत के एक वाल्मीकि परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम सुन्दर दास वैष्णव था। ये सं० १६७५ में विद्यमान थे। अपना परिचय देते हुए ये स्वयं लिखते हैं:

सुरत बंदर तापीत्रठ सटी ते मध्ये वासो रहं।
कायस्थ कुलवालमीक ज्ञाति वैष्णवसुत सुंदरदास॥
माधवदास कहे कर जोडी कृपा करो हे हरिना जन।
संवत सोल पंचोतेर पुराण उत्तम अस्विन मास॥

इन्होंने भागवत के दशम स्कंध तथा महाभारत के आदि पर्व का गुजराती में पद्यानुवाद किया था। इन्हीं के हस्ताक्षरों में लिखित सम्पूर्ण ग्रन्थ राजपीपला के समीप झगडिया गाँव के एक मन्दिर के साधु चरणदास के पास था, ऐसा कहा जाता है। छगनलाल विद्याराम रावल द्वारा सम्पादित 'प्राचीन काव्यसुधा' (भाग-२) में माधवदास के दो कृष्णविषयक पद प्राप्त हुए हैं। उनमें एक हिंडोल-पद है। दोनों पद रागों में बद्ध है। इच्छाराम सूर्यराम देसाई द्वारा सम्पादित 'बृहत् काव्यदोहन' ग्रन्थ-४ में माधवदास के 'भागवत-दशम-स्कंध' के दो अंश 'रुक्मिणी-हरण' और 'लक्ष्मणाहरण' प्रकाशित हुए हैं।

इनकी उक्त कृतियों से तीन उद्धरण नीचे दिये जाते हैं:

(१)

वर्षा वर्णन (दशम स्कंध)

'आवो उत्तम वर्षाकाल। बाजे घनघारे विक्राल॥
चमकवर लागी विजली। चांद्रणी ढकाइ वलि॥

जलथल सहुए निर्मल थया।
कमल फुंल जलमां शोभोया॥

जलधारे सरू सुखिया थया।
पंथि लोक अति शोभावया॥

घेर घेर बाजे ताल मृदंग।
उजवे करे वैष्णवजन रंग॥

धेनु लेइने कानंड वीर।
आव्या हरि जमुना ने तीर॥

(२)

(श्रीकृष्ण का रुक्मिणी स्वयंवर में आगमन)

'प्रेमे जोतां प्रभुनी वाट रे।
हजु नाप्या नाथ शामाटे रे॥
हवडां आवशे जादवराय रे।
कोटि कला कंदर्पे रूप रे॥

तेनी शोभानो नहिं पार रे।
नासिका जाणे तेलनी धार रे॥

भू भ्रमर नी शोभा धरती रे।
शशि सोलकला शोभे भाल रे॥
एहवे प्रभुनो रथ दीठो रे।
अमृत थी लाग्यो मीठोरे॥

कांचनवत् कोमल देह रे।
तब शोभा प्रगटी सारी रे॥
शेष मुखे सहस्र जीव्हारे।
तोये हरिवर्णन नव थाये रे॥

प्रभु रथ चलावी त्यां आवियारे ।
रुक्मिणी बेठां रथ माहे रे ॥

(३)

निम्नांकित पद में इनकी प्रगाढ़ कृष्णरूपासक्ति व्यंजित हुई है :

मथुरानो वाटे रे, हरि रथ वही गया रे,
पाछल उडे रे झीणी खेस ।
ओ रथ जाय रे मारा नाथनो रे,
जाय छे, जाय छे, व्रज केरो साथ ॥

कर्मनो का उयो रे अक्रूर आवीयो रे,
लई गयो गोपीओ केरा प्राण ।
पाणीलांने मिसे रे बहेनी जोवा नीसरी रे,
उभी उभी घसती बेहु हाथ ॥

रूए रूए गोपी रे रूए गोवालीआ रे,
रूए जमनाजीनां नीर ।
ओ पेली कुब्जा रे, दासी कंसनो रे,
तेणे एनां हरी लीधां छे मन ॥

जमनानी तीरे रे, कदम केरां झाडवां रे,
उपर चढ ने निहालुं मारा नाथ ।
जल जमनाने कांठे रे,
बलिहारी जाय छे, माधवदास ॥

'मथुरा के मार्ग से हरि का रथ चला गया । पीछे झीनी धूल उड़ती है । मेरे नाथ का वह रथ जाता है, व्रज के साथी जाते हैं, जाते हैं । दुर्भाग्य से कपटी अक्रूर आया और गोपियों के प्राण ले गया । पानी भरने के बहाने सखी देखने निकली, खड़ी-खड़ी दोनों हाथ मसलने लगी । गोपी रोती है, ग्वाल रोते हैं, यमुनाजी का जल रोता है । कंस की दासी उस कुब्जा ने उसका (कृष्ण का) मन हर लिया है । यमुना के तीर कदम्ब के पेड़ पर चढ़कर मैं अपने नाथ को निहारती हूँ । यमुना के जलयुक्त तट पर माधवदास बलिहारी जाते हैं ।'

अं. शं. ना.
म. ई. प्र.

माधोदास

माधोदास संवत् १८१५ में विद्यमान थे । ये लिम्बडी गाँव के निवासी थे । इसके अतिरिक्त इनके विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है । इनकी एक कृति 'कृष्ण-लीलानां पद' का पता चलता है ।

ल. पि. ग.

मीठा ढाढी

'हरि वेण वायछे रे' शीर्षक सुप्रसिद्ध 'गरबी' के रचयिता भक्त कवि मीठा ने सं० १८५०-६० के आस-पास सौराष्ट्र के लिम्बडी नामक कस्बे में एक ढाँढ़ी मुसलमान-परिवार में जन्म पाया था । इनका पूर्ण जीवन वृत्त प्राप्त नहीं है । लिम्बडी के कवि भवानीशंकर नरसिंह राव ने बहुत छान-बीन करके पता लगाया कि मीठा की दो संताने थीं—एक पुत्र और एक पुत्री । पुत्र का नाम था खीमदास । अज्ञात-नामा पुत्री का विवाह राजसीतापुर में हुआ था । मीठा के पिता का नाम साहेबा था ।

मुसलमान होते हुए भी 'जाति पाँति पूछो ना कोई, हरि को भजे सो हरि को होई' के अनुसार मीठा जी श्रीकृष्ण के परम उपासक बन गये । वैष्णव धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा एवं श्रीकृष्ण के प्रति अविचल श्रद्धा से एक महान् भक्त का पावन स्वरूप प्रकट हुआ । इनके कुल-परिवार के मीर, ढाढ़ी इत्यादि लोग राजा-महाराजाओं का स्तुतिगान करके अपना जीवन-निर्वाह करते थे । अयाचक वृत्ति के व्रती मीठा राजवी प्रशस्ति छोड़ अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण के गुणानुवाद में आसक्त हो गये । इन्होंने सरस्वती की आराधना केवल श्रीकृष्ण के लीलागान के लिए की । श्रीकृष्ण के अतिरिक्त इनकी जिह्वा ने किसी का गुण कदापि नहीं गाया । इनका ऐसा व्रत तोड़ाने और अपनी प्रशस्ति कराने के लिए उस समय के लिम्बडी-नरेश हरभीमजी (तृतीय) ने भरसक प्रयास किया, परन्तु मीठा ने कह दिया : 'मेरे ठाकुर या महाराना तो देवाधिपति श्रीमोहन जी हैं, मैं उनके गुण गाने के लिए पैदा हुआ हूँ, अन्य के नहीं ।' ऐसा निर्भीक उत्तर

सुन लिम्बडी-नरेश ने प्रसन्न हो इनकी अनन्यता की सराहना की।

मीठा का प्रामाणिक जीवन-चरित्र प्राप्त नहीं होता, परन्तु इनके बारे में कई चमत्कार पूर्ण घटनाएँ प्रचलित हैं। एक बार समला गाँव में आयोजित भक्तमेले में परमात्म-नाम-संकीर्तन के हेतु मीठा को निमन्त्रण मिला। परन्तु लिम्बडी नरेश ने इन्हें जाने की अनुमति न देकर अश्वशाला की कोठरी में कैद कर दिया। द्वार पर चौकीदार बिठाया गया। रात में चौकीदार भी कोठरी में ताला लगाकर भजन सुनने समला चला गया। उसने वहीं भक्त मीठा को भजन गाते और अबीर-गुलाल से आच्छादित देखा। चौकीदार ने तुरन्त वापस आकर राजा को यह बात बताई। अश्वशाला की कोठरी का द्वार खोला गया तो भक्त मीठा जी वहीं अबीर-गुलाल से रंगे दिखाई पड़े। नरेश ने भक्त की शक्ति को पहचान कर क्षमायाचना की।

एक दूसरी घटना है। भालगाँव में भजन-कीर्तन करके मीठा जी लिम्बडी आ रहे थे। रास्ते में मिले यात्रियों ने इन्हें भजन गाने को कहा। ग्रीष्मकाल के उग्र ताप में तृषातुर होते हुए भी मीठा ने भजन गाना शुरू किया। परन्तु तृषा के कारण राग बेसुरा होने लगा। इसी समय उस निर्जन अरण्य में एक बृद्ध किसान ने आकस्मिक रूप से आ मीठा को पानी पिलाया। भजन पूर्ण होने पर 'ऐसे अरण्य में पानी पिलाने वाला प्रभु के अतिरिक्त दूसरा कौन हो सकता है?' ऐसा सोचकर भक्त मीठा जी किसान की खोज में निकले। परन्तु उसके कहीं भी दिखाई न पड़ने पर इनकी विरहोद्गार पूर्ण वाणी से सारा जंगल गूँज उठा। कहा जाता है कि उसी समय श्रीकृष्ण ने इन्हें दर्शन दिये और मीठा जी ने उनके चरण कमलों में अविचल-निर्मल भक्ति की याचना की।

एक बार प्रसिद्ध सन्त रवि साहब रासविलास देखने बृन्दावन जा रहे थे। मीठा जी उनके दर्शन करने गये और 'बँसरी वाजी रही वनमाँ' पद गाकर रवि साहब को समझाया कि सच्ची कृष्ण-बाँसुरी तो भीतर, अन्तःकरण के बृन्दावन में बज रही है। तन्मय हो जहाँ सच्चे दिल से हरि गुण गाये जाते हैं, वहीं सच्चा बृन्दावन खड़ा हो जाता है। इस पद को सुन रवि साहब बृन्दावन नहीं गये, ऐसा कहा जाता है।

महान् कृष्ण भक्त होते हुए भी अन्य सम्प्रदायों के प्रति मीठा जी के मन में द्वेष-भाव नहीं था। नवरात्र के समय बहुचरा शक्ति पीठ में लिम्बडी नरेश हरभीम जी ने इनसे कहा: 'आप तो मोहन के अतिरिक्त दूसरों के गुण नहीं गाते, परन्तु आज तो माँ (शक्ति माता) का गरबा सुनाइये।' मीठा ने इस पर कहा 'माँ और मोहन में कोई भेद नहीं। मेरे मन से तो मोहन की स्तुति और माँ की स्तुति दोनों एक हैं।' बाद में उसी स्थल पर शीघ्रता से इन्होंने 'जयदेवी' नामक गरबा रच कर गाया और इस प्रकार शक्ति और कृष्ण की एकता सिद्ध की।

अयाचक-वृत्ति के कारण अपने जीवन-निर्वाह के लिए इन्होंने किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। 'बाँधणी' नाम की साड़ी बाँध-बाँध कर ईश्वरेच्छा से जो कुछ प्राप्त होता, वह सब अपने मोहन जी को भोग लगाने में और साधु-सन्त एवं दीन-दुखियों की सेवा में लगा देते थे। जनश्रुति है कि प्रतिदिन प्रातःकाल घर के द्वार पर इन्हें भोजन सामग्री की गठरी मिल जाती और इस प्रकार इनका जीवन-निर्वाह होता। इनकी अयाचक-वृत्ति और कृष्ण-कीर्तन की आसक्ति की प्रशस्ति में गुजरात के एक कवि ने सोरठा रचा है:

काँध रवा घरीने गढपतिने गायो नहिं,
ढाढी ध्यान घरीने मोहन गायो मीठाए॥

लोकोक्ति है कि भक्त मीठा ने अनेक रचनाएँ की थीं। परन्तु इनकी असावधानी के कारण उनमें से बहुत सी नष्ट हो गईं। इन्होंने मात्र कृष्ण भक्ति विषयक पदों की ही रचना की है। इनमें रास और थाल के पद भी हैं। इनके नाम पर कुछ उपदेशात्मक पद भी

प्राप्त होते हैं, जो जीवन की अंतिम अवस्था में लिखे गये प्रतीत होते हैं।

इनका दिव्यलीला प्रवेश सं० १९२८ में हुआ।

मीठा भगत एक छोटी धोती और आधी बाहों की बंडी पहनते थे। हाथों में करताल लिये रहते तथा पाँवों में घुँघरू बाँधते थे। इस प्रकार इन्होंने अपने रचे हुए कृष्ण-पद तथा भक्ति के गीत जीवन भर गाये। मीठा जी के भक्ति-भाव व्यंजक कुछ पद नीचे दिये जाते हैं :

(१)

कीधी मने घेली ओधा, कीधी मने घेली रे हो।
कानुडे कामण करी रे, कीधी मने घेली रे॥

सालुडानी सुध रे भूली, भाँग पोधी लीलो ओधा।
ग़ेथाने ठेकाणे में तो चौडी दीधी टीली रे हो॥

जल जमुनानां गया ता जी, माथे बेहु मेहु मेली ओधा।
मुखडानी माया लागी, नव शकुं मेली रे हो॥

घेर तणों धंधो भूली ज़ी, सोल सै साहेलीओ ओधा।
वनमां बगाडी वाले, मोरली रंगीली रे हो॥

आंखडीमा एवी लागी जी, अषाढनी हेली ओधा।
मल्यो रे मीठा नो स्वामी, रंग चाल्यो रेली रे हो॥

(२)

महावन मोरली रे हो वागी।
हुँ तो सूती झबकी जागी॥ महावन ०

अति रंग उपज्यो रे हो मनमां।
अमर पहेरी चाल्या वनमां॥ महावन ०

कई कई वार्या रे हो कंथे।
पियुजीने मलवा चाल्या पंथे॥ महावन ०

हेते प्रीते हरशुं रे हो फरशुं।
हवे केम पाछाँ पगला भरशुं॥ महावन ०

नाथ अमारो रे हो लाजे।
वालो मारो गोकुलियामाँ गाजे॥ महावन०

तन मन जाय तो रे हो जाजो।
कान मोहनना रे गुण गाजो॥ महावन ०

अवसर न आवे रे हो फरीने।
कहो सखी क्यारे भजशुं हरीने॥ महावन०

दास मीठाना रे हो स्वामी।
तन मन सौंप्या अन्तरजामी॥ महावन०

(३)

हरि वेणु बाय छे रे हो वनमां।
तेनो ब्रेह बाध्यो छे मारा तनमां॥

चीतडामां चटपटी रे हो लागी।
जीवन जोवाने हुं जागी॥
रसियाजीना रे हो रागे।
व्याकुल कीधां छे वेरागे॥

गतमत भूली रे हो घरनी।
वनमां वांसली वागी ब्रेहनी॥
धीरज ढलियुंरे हो ध्याने।
कंकण नेपुर पहेर्या काने॥

सेथैं काजल रे हो सार्या।
व्रेहमां बालक ने रे हो विसार्या॥
प्रीते परवश रे हो कीधा।
लजना लोपी मन हरि लीधा॥

कही कही वार्या रे हो पासे।
अहो केमें रहीए रे उदासे॥
रात शरदनी रे हो शोभे।
हैडु हरि मलवाने लोभें॥

त्रिभुवन निरखी रे हो तमने।
अंगमां आनन्द वाध्यो अमने॥
वालम जोई रे हो वनमां।
महासुख पाम्यो मनमां॥

(४)

जमो जमो ने जगना आधार जुगते जमाडुं।
शामळिया सरजनहार रंगभर रमाडुं॥

बेसो बेसो मंदिरमांय चोखला चोडी ने।
शुं करशे दुरजन लोक मुखडां मरजी ने ।।
पीरसुं पीरसुं पूरी पकवान गिरधर घी ताजुं।
हुं तो ठारु मारो जमणो हाथ शा माटे लाजुं ।।
पीओ पीओ ने पूर्णानंद जीवन जळ टाढां।
मुखवास बीडलां पान लविंग सोपारी झाझां ।।
मारे नथो बीजानुं काम, काम तमारु छे।
मारे तम परतापे श्याम सर्वे सारु छे ।।
में तो सरजीने संसार सर्वे जोयुं छे।
मीठाना ठाकोर ठीक मारु मन मोह्युं छे ।।

'हे जग के आधार, भोजन कीजिए। मैं तुम्हें ठीक तरह से खिलाऊँ। हे सर्जनहार साँवले। तुम्हें रंग से रमाऊँ। अक्षत लगाकर मंदिर में बैठिये। मुँह विचकाकर दुर्जन लोग क्या करेंगे? गिरधर! पूड़ी, मिठाई और ताजा घी परोसूँ। मैं लज्जित क्यों होऊँ। मैं तो अपना दाहिना हाथ कृतकृत्य करता हूँ। हे पूर्णानन्द, शीतल जीवन-जल पीजिए। मुखवास के लिए पान-बीड़े, लवँग, सुपारी इत्यादि तो बहुत हैं। मुझे किसी दूसरे से काम नहीं, सिर्फ तुम्हारा ही काम है। हे श्याम! तुम्हारे प्रताप से मेरा तो सब कुछ अच्छा है। संसार बना के मैंने तो सब कुछ देखा है। मीठा के ठाकुर में मेरा मन ठीक ही मोहित हुआ है।'

(५)

सांभळ सहीचर वातडी, नोतम आसो मास।
शरद पुनमनी रातडी, चंद्र चड्यो आकाश।।
एवामां हरि आविया, बृंदावनने चोक।
मोरलीमां वेद वजाडीआ, ते सुणीआ तिरलोक।।
अष्टकुळ पर्वत डोलीआ, डोलीआ नवकुळ नाग।
मारे बपैया बोलीआ, सांभळतां ते राग।।
जातां वळतां थंभीआं, नदीओ केरां नीर।
बछने बाळ बलंमीआं, पीतां पीतां खीर।।
खग मृग श्रवण धरी रह्यां, तरण न वंदे गाय।
ठारे ठार ठरी रह्यां, मुखचारो मुखमांय।।
पवन रह्यो मुरझाइने, मुनिवर मुक्यां ध्यान।
वळी रह्यां वलभाइने, वहेतां गगन विमान।।
वा नवले वन वेलडो, प्रगट थयां फळ फूल।
बेधाइ निकळी वण बेलडो, अबला सौ कुळ शूळ।

'हे सहेली। एक बात सुन। नया आश्विन मास है, शरद पूनम की रात है और चन्द्र आकाश में चढ़ा है। इतने में श्रीहरि वृन्दावन के चौक में आये और बाँसुरी में वेद बजाया, जो त्रिलोक ने सुना। बाँसुरी की ध्वनि से अष्टकुल पर्वत डोल उठे, नवकुल-नाग डोल उठे। उस राग का श्रवण कर मोर-पपीहा बोल उठे, नदियों के बहते जल स्थिर हो गये, स्तनपान करते-करते बछड़े और बालक मुड़-मुड़कर देखने लगे। पशु-पक्षी कान दे सुनने लगे, गाय ने तिनका भी छोड़ दिया, मुँह का चारा मुँह में ही रह गया। सचमुच जो जहाँ थे, वहाँ स्तंभित हो गये। पवन मुरझा गया, मुनिवरों ने ध्यान छोड़ दिया। आकाश में उड़ते विमान मुड़कर स्थिर हो गये। वन-बेली ने वायु लेना बन्द किया, फूल-फल खिल गये। सभी नारियाँ अकेली ही निकल पड़ीं, वे सब कुल के लिए शूलरूप बन गईं।'

म. ई. प्र.
ल. पि. ग.

मूंडिया स्वामी (स्वामी दयानन्द गिरि)

स्वामी दयानन्द गिरि उपनाम मूंडिया स्वामी का जन्म जूनागढ़ के उमराआ स्थान पर भाद्रपद शुक्ल दशमी सं० १९०८ (सन् १८५१ ई०) को हुआ था। इनके पिता का नाम काशीराम और माता का नाम पानबाई था। इनकी कृति 'मन प्रबोध भजनावली' अत्यन्त लोकप्रिय हुई है।

इन्होंने अपने पिता से व्यवहार कुशलता, एक सिद्ध योगी से योगविद्या तथा महात्मा ब्रह्मानन्द जी से तत्वज्ञान और दीक्षा ग्रहण की थी। ये एक महान् सन्त के रूप में प्रसिद्ध थे। जामनगर में इनका आश्रम आज भी फल-फूल रहा है। उच्च कोटि के

सिद्ध पुरुष होने के साथ ही ये अच्छे कवि भी थे। इनके पद गुजरात के गांव-गांव में बड़े प्रेम से गाये जाते हैं।

इनके दो पद यहां दिये जा रहे हैं :

(१)

सखी बालमें ब्रेहनो वगाडो रे, बेरण बांसलडी।
मारा तनडामां ताडी लगाड़ी रे, बेरण बांसलडी ॥
मने घरमां ने काम नव गमे रे।
मारूं मनडुं मोहन मा रमे रे ॥
मान भूली फलं मदमाती रे।
मारा वहाला थी रहुं रँगराती रे ॥ बेरण बांसलडी०

मने घरनां ते सौ समजावे रे।
मारा वाला विना अनडा न भावे रे ॥
हुं तो हरिनां हेनमां हेराणी से।
मारी खेनमां सुरति ठेराणी रे ॥ वेरण०

मारूं मन मोहनमां लोभाणू रे।
हवे जगना वहेवार नव जाणू रे ॥
मने व्रेहमां विहवल कीधी रे।
में तो वात विट्ठल नी लीधी रे ॥ बेरण०

एम हेते हरनीमा मम धावे रे।
तेना दास दयो गुण गावे रे ॥ बेरण बांसलडी०

'हे सखी ! बालम ने वैरन विरह की बंशी बजायी। (इस वंशी ने क्या-क्या नहीं किया ?) मेरे तन में ताली लगायी अर्थात् उसे एकतान कर दिया, घर के काम नहीं रुचते, मन मोहन में सदैव रमा रहता है, मान भूलकर मदमाती बन घूमती-फिरती रहती हूँ, दिन-रात प्यारे के रंग में रंगीली बन गयी हूँ, घरके सभी लोग समझाते रहते हैं, पर मुझे अपने प्यारे के बिना कुछ भी नहीं भाता। हरि के कारण मैं हैरान हो गयी हूँ। मेरी सेज पर यह सुरति बनकर बैठ गयी है। मेरा मन मोहन के प्रति लुभा गया है। अब मैं जगत् के व्यवहार नहीं जान पाती। मुझे इसके विरह-स्वरों ने विह्वल कर दिया है। मैंने तो विट्ठल की ही बात पकड़ ली। इस प्रकार प्रेम से परमेश्वर की ओर मन दौड़ता है और दास 'दया' उनका यह गुण गा रहा है' :

(२)

मारुं मनडुं हेराणुं रे मोहननी मटकामां।
चित चरणे चोराणु रे लालनना लटकामां ॥

जोई शाम सुरत ने रे अंतरमां फूली छुं।
प्रभु प्रेमे निहालीं रे जगत् भान भूली छुं ॥

हदे पियर पनोती रे चालुं हद मेली ने।
नाथ नेणेथी जाती रे आनंद उर खेली ने ॥

हदे अलगा न मेलु रे सुरतमां राखु छुं।
दास दया ना नाथ ने रे भावेशी दुर भाखुं छुं ॥

'मेरा मन मोहन के मटकने से हैरान हो गया है। लाल की लटकन से चित्त उनके चरणों में चुरा लिया गया है। श्याम सूरत देख मैं अन्तर में फूल उठी। प्रभु को प्रेम से निहारा और जगत् का भान भूल गयी। मैके में भाई बान्धवों वाली मैं अब मर्यादा छोड़कर चल पड़ी हूँ जिससे नाथ को हृदय में आनन्द भरकर देखती रहूँ। अब मैं इन्हें अलग नहीं रख सकती, सूरत में ही रखूंगी। दास 'दया' भावपूर्वक हृदय की यह बात कह रहा है।'

ल. पिं. ग.

मुक्तानन्द स्वामी

स्वामिनारायण संप्रदाय के सर्वाधिक माननीय साधु के रूप में सहजानंद स्वामी ने 'वचनामृत' (सम्प्रदाय का धर्म ग्रंथ) में मुक्तानन्द जी की बार-बार प्रशंसा की है।

लोक मान्यताओं के अनुसार आपका जन्म संवत् १८१४ में सौराष्ट्र के अमरेली नामक गाँव में हुआ था। इनकी माता का नाम राधाबाई तथा पिता का आनन्दराम था। इनका पूर्वाश्रम का नाम मुकुन्द था। इनकी एक बहन भी थी, जिसका नाम धनबाई था। विप्र आनन्दराम की यही दो संतानें थीं।

मुकुंद ने पूर्वजन्म के शुभ संस्कारवश बाल्यकाल में ही पिता से अनेक शास्त्रों का अभ्यास किया था। पढ़ने में ये कुशाग्र बुद्धि थे। गांधर्व विद्या में इनकी अद्भुत गति थी। नाड़ी परीक्षण जैसी सूक्ष्म वैद्यकीय विद्या भी इन्होंने अपनी परिस्थितियों के अनुसार अच्छी तरह सीख लिया था। तुलसी कृत रामचरित-मानस का सस्वर पाठ करना इनको अभिप्रेत था।

इन्होंने मूलादास वैरागी के शिष्य हाथी राम एवं जदुराम से शास्त्राभ्यास के साथ काव्य-रचना का भी ज्ञान प्राप्त किया था। आयु की वृद्धि के साथ ही इनकी वैराग्य-भावना दृढ़तर होती गई। त्यागपूर्ण तथा निष्काम जीवन व्यतीत करने की लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती गई। माता-पिता के आग्रह से अनिच्छा होने पर भी इन्हें विवाह-सूत्र में बँधना पड़ा। विवाह के पश्चात् स्वतंत्र आजीविका के लिये अमरेली से पाँच कोस दूर अमरा पर जाकर इनके बसने का उल्लेख प्राप्त होता है। कुछ स्वतंत्र स्थिति में आने पर सद्गुरु की खोज की उत्सुकता जाग्रत हुई। मुकुन्द के अनुनय-विनय पर भी घरवालों ने गृहस्थाश्रम त्याग करने में अनेक अवरोध उत्पन्न किये।

अंत में इन्होंने उन्माद का बहाना किया। जान बूझकर पागल बने हुए ये इधर-उधर घूमने लगे तथा एक दूसरे के यहाँ लोगों का सामान रखने लगे। अंततोगत्वा असाध्य उन्माद रोग से त्रस्त जानकर माता-पिता ने इन्हें घर से निकाल दिया।

सद्गुरु की खोज में निकले मुकुंद को किसी ने मोरवी के निकट ध्रांगध्रा में निवास करने वाले प्रसिद्ध वैरागी द्वारकादास का पता दिया। इससे प्रसन्न होकर ये ध्रांगध्रा पहुंचे और द्वारकादास की सेवा में तत्पर हुए। इनके निष्काम भक्तिभाव, व्यवहार, सज्जनता आदि से द्वारकादास जी बहुत प्रसन्न हुए। किन्तु जब इन्होंने निष्काम सिद्धि प्राप्त करने की अभिलाषा व्यक्त की तो उन्होंने अपनी सीमाएँ स्वीकार करते हुए इन्हें अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिए योग्यतर साधु कल्याणदास के पास जाने का आदेश दिया।

संत कल्याणदास बांकानेर में निवास करते थे और उस क्षेत्र में निष्काम भक्त के रूप में सुप्रसिद्ध थे। वे शरीर से सुन्दर, पुष्ट तथा कांतिमान थे। वे पीतल की कोपीन पहन कर ताला लगाते थे। ऐसे तपस्वी संत को प्रसन्न कर मुकुंद ने निष्काम भावना दृढ़ करवाने की याचना की। मन से प्रसन्न होने से कल्याणदास ने मुकुन्द को एकांत में बुलाकर अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि ४० वर्ष पहले मैं काशी की यात्रा पर गया था। रास्ते में उज्जयिनी नगर में मार्ग पूछने पर एक स्त्री ने हाथ उठाकर आकर्षक मुद्रा में जो मार्ग दिखाया था, वह अभी भी मुझे विस्मृत नहीं हुआ है। अतः अपनी अपूर्णता को स्वीकार करके उन्होंने इनको सरधार गांव में तुलसीदास जी के पास जाने की सलाह दी।

निष्कामी होने की लालसा वाले मुकुन्द सरधार जाकर तुलसीदास की सेवा में उपस्थित हुए। इनके रूप-गुण पर मुग्ध होकर तुलसीदास ने इन्हें शिष्य ही नहीं बनाया, अपने मठ का प्रधान महंत भी बना दिया। इस प्रकार दिन सुख से कटने लगे, पर अभिलषित लक्ष्य में व्यवधान बढ़ गया।

सरधार में एक बार रामानन्द स्वामी नाम के महात्मा पहुंचे। कहा जाता है कि वहाँ उनकी ओर से एक सदाव्रत चलता था। उसके निर्वाह के लिए कुछ साधु वहीं रहते थे। उनके सत्संग से मुकुंद के हृदय में रामानंद के प्रति श्रद्धा जगी। तुलसीदास को मुकुंद की इस वृत्ति का पता चला तो उन्होंने उन्हें रामानन्द जी के प्रवचन में जाने से मना किया। फिर भी मुकुंद माने नहीं और रामानन्द जी से अपना शिष्य बनाने के लिए प्रार्थना की। मुकुंद को शिष्य बनाने पर तुलसीदास उपद्रव खड़ा कर देंगे, इस विचार से उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि जब तक

तुलसीदास का स्वीकृति-पत्र नहीं लाओगे, दीक्षा नहीं दे सकेंगे।

जब मुकुंद ने तुलसीदास से मुक्ति देने की प्रार्थना की तो उन्होंने मुकुंद पर कड़े प्रतिबंध लगा दिये। अंत में मुकुंद को युक्ति का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। इन्होंने सदाव्रत में उदारता की वृद्धि कर दी। इस प्रकार मुकुंद को उड़ाऊ चेला समझ कर तुलसीदास ने उन्हें अपनी शिष्यावली से बहिष्कृत कर दिया और निष्कासन का प्रमाण-पत्र भी दे दिया।

इस घटना के बाद ये रामानन्दजी से मिलने बांधिया ग्राम में पहुंचे। रामानंद जी ने परीक्षार्थ मुकुंद को अपने अनुयायी भूलूभाई गराशिया के घर रहकर खेती का कार्य करने के लिए कहा।

लगन के पक्के मुकुंद निर्लिप्त भाव से रामानंद जी की ही सेवा समझ कर वहीं खेती का कार्य करते रहे। अन्ततः इनके साधुभाव तथा भक्ति से प्रसन्न होकर रामानन्द जी ने अपने शिष्य के रूप में स्वीकार कर बांधिया गांव में परमैकांतिक परमहंस-दीक्षा देकर इनका 'मुक्तानन्द' नाम रखा। अपने आदर्श चरित्र तथा गुरु की कृपा से मुक्तानन्द ने कालान्तर में स्वामी जी का पट्ट शिष्य होने का सम्मानपूर्ण पद प्राप्त कर लिया। रामानन्द स्वामी की मुख्य गद्दी लोज में थी। मुक्तानन्द जी वहीं रहने लगे।

संवत् १८५६ श्रावण सुदी छठ के दिन लोज की बावड़ी पर बैठे वर्णीन्द्र (स्वामिनारायण) को सुखानन्द स्वामी ने देखा। उनके वार्तालाप से प्रसन्न होकर वर्णीन्द्र ने मुक्तानन्द जी जैसे योगनिष्ठ कृष्ण-भक्त से मिलने की इच्छा प्रकट की। अंत में संवत् १८५६ में सोरठ देश के लोज गाँव में मुक्तानन्द और वर्णीन्द्र का मिलन हुआ और दोनों में ब्रह्म, जीव तथा माया के स्वरूप को लेकर चर्चा हुई।

इसके पश्चात् पीपलाना गाँव में वर्णीन्द्र तथा रामानन्द स्वामी की भेंट हुई। रामानन्द जी ने जैतपुर गाँव में उन्हें (वर्णीन्द्र को) दीक्षा देकर सहजानन्द नाम रखा और अपनी धर्मधुरा (गद्दी) सौंप दी।

इस प्रकार आचार्य पद सहजानन्द को देने का स्वामी जी के शिष्यों ने विरोध किया, पर मान-मत्सर-ईर्ष्या आदि से अलिप्त मुक्तानन्द ने रामानन्द स्वामी से इस कार्य में सहमति प्रकट की। आचार्य के रूप में सहजानन्द स्वामी को इन्होंने हृदय से स्वीकार कर लिया।

मुक्तानन्द की मृत्यु सहजानन्द जी के अक्षर निवासी होने के एक महीना बाद गढ़पुर में हुई। सहजानन्द जी के वियोग से व्याकुल होकर ये श्री गोपीनाथ जी के दर्शन के लिए मन्दिर में गये और वहाँ उनसे स्वधाम ले चलने के लिए प्रार्थना की। कहते हैं कि सहजानन्द जी ने इन्हें दर्शन देकर मध्याह्न के बाद स्वधाम चलने के लिए कहा। यह सुनकर मुक्तानन्द जी अपने आसन पर पधारे और आचार्य रघुबीर जी महाराज को बुलाकर सत्संग कल्याण सम्बन्धी सूचना देकर पद्मासन लगाकर ध्यान में बैठ गये। इस प्रकार आषाढ़ कृष्ण ११ सं० १८८६ को मुक्तानन्द जी ने अक्षर धाम को गमन किया।

मुक्तानंद जी सत्संग के स्रोत माने जाते हैं। इन्होंने आजीवन सत्संग के उत्कर्ष के लिए सैद्धान्तिक पुस्तकों का निर्माण किया। संस्कृत में इन्होंने 'ब्रह्म-सूत्र भाष्य' तथा 'निर्णय-पंचक' और गुजराती में 'धर्माख्यान', 'उद्धवगीता', 'सती गीता', 'धाम-वर्णन-चातुर्य', 'कृष्णप्रसाद', 'रुक्मिणी-विवाह', 'वचनामृत', 'सत्संगीजीवन', 'धर्मप्रकाश', 'परमहंसमाला' आदि पुस्तकें लिखीं।

हिन्दी में इन्होंने 'गुरु-चौबीसी, 'पंचरत्न', 'सत्संग-शिरोमणि', 'कपिल-गीता', 'नारायण चरित्रम्', 'विवेक चिंतामणि', 'भगवद्गीता-भाषा-टीका', 'अवधूत-गीता', 'शिक्षापत्री-भाषा', 'मुकुंद-बावनी', 'वासुदेवावतार चरित्रम्', 'नारायण कवचम्', 'वैकुण्ठधाम दर्शनम्', 'गुण-विभाग', 'नारायण-गीता'

आदि पुस्तकों की रचना की। 'उत्सवामृत' नामक पुस्तक में इन्होंने विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले कीर्तन पद लिखे हैं।

मुक्तानंद जी के दो अप्रकाशित ग्रंथ हैं-'संप्रदाय-प्रबोध' तथा 'भागवत-दशम-स्कंध भाषा टीका।'

'विवेक-चिन्तामणि' ग्रन्थ साखी में लिखा गया है। इसमें सद्‌गुरु, कपट गुरु, उपदेश, कालग्रास, देह-आत्मा-वियोग, तृष्णा और उसका निवारण, धीरज, विश्वास आदि ६४ विषयों के अंगों को स्पष्ट किया गया है। 'सत्संग शिरोमणि' ग्रंथ में प्रश्नोत्तरी के रूप में संत के लक्षण तथा राजा वेणु और चित्रकेतु के शाप का वर्णन है। इसके अतिरिक्त भागवत तथा पुराणों की अनेक कथाएँ दी गई हैं।

'भगवद्‌गीता-भाषा-टीका' नामक ग्रन्थ में श्रीकृष्ण अर्जुन-संवाद के रूप में गीता के कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञान योग को स्पष्ट किया गया है। यह ग्रंथ दोहा चौपाई, सोरठा, हरिगीतिका आदि छंदों में आबद्ध है। 'पञ्चरत्न' में ज्ञान, ध्यान, विज्ञान, विवेक, वैराग्य आदि का वर्णन है। 'नारायण चरित्र' में नारायण की वंदना है। यह ग्रन्थ पदशैली में अनेक रागों में लिखा गया है। 'कपिल गीता' में भागवत में वर्णित कपिल-देवहूति संवाद का अनुवाद है, जिसमें एकांतिक भक्तियोग का उपदेश है। 'अवधूत-गीता' में चौबीस गुरुओं—भूमि, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चंद्रमा आदि का वर्णन है और इनसे किस प्रकार भिन्न-भिन्न शिक्षा प्राप्त होती है इसका उल्लेख है। 'शिक्षा-पत्री' में सांप्रदायिक सत्संग, त्याग, आचार्य आदि के आचरण के विधि-निषेध का निरूपण है। 'मुकुंद बावनी' में सहजानंद जी की वंदना, जन्म, कार्य, माहात्म्य, गुण, स्वभाव आदि का वर्णन है। 'वासुदेवावतारचरित्र' में भागवत की अनेक कथाएँ हैं। 'नारायण-कवच' में नौ अवतारों की स्तुति की गयी है। 'वैकुंठधाम-दर्शन' में श्रीहरि की स्तुति की गयी है तथा वैकुण्ठ दिग्दर्शन कराया गया है। 'गुण-विभाग' ग्रंथ में सत्व, रज, तम के लक्षण दिये गये हैं। यह भागवत स्कंध ११ तथा २५ का संक्षिप्त अनुवाद है।

'नारायण गीता' में स्वामिनारायण संप्रदाय के आश्रितों के लिए धर्म, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि विभिन्न विषयों का वर्णन है। 'भागवत दशम स्कन्ध भाषा टीका' भागवत पर आधारित है। 'संप्रदाय प्रबोध' ग्रंथ छपा नहीं है, पर उसकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त है जिसमें नारायण का प्रादुर्भाव, महादीक्षा आदि का वर्णन है।

कीर्तन की दो पुस्तकें हैं—उत्सवामृत और मुक्तानंद कीर्तन। इनमें हिन्दी, मारवाड़ी और गुजराती भाषा के पद हैं। व्रजभाषा हिन्दी में लिखे गये पदों में संसार की अनित्यता, आचरण शुद्धि, कृष्ण और सहजानन्द के प्रति अनन्य दास्यवृत्ति आदि का वर्णन है। इनके साथ ही इन्होंने सांप्रदायिक उपासना विषयक प्रचुर पद लिखे हैं जिनमें प्रभाती (प्रातःकाल जगाने के पद), नखशिख वर्णन, कृष्ण जन्मोत्सव, आरती, उत्थापन, श्रृंगार, शयन, आरती, थाल आदि का वर्णन है। कुछ पदों में सहजानन्द के माता-पिता क्रमशः भक्ति तथा धर्मदेव के जन्मोत्सव, वामन जयंती, राम-जन्मोत्सव, श्रीकृष्णलीला, दान-लीला, रथयात्रा, हिंडोला आदि का वर्णन है।

मुक्तानन्द जी के वसंतोत्सव तथा होरी के पद अधिक आकर्षण लिए हुए हैं। एक नमूना प्रस्तुत है :

नवल बसंती बसन सुरंगी,
पहिरि के नवल बिहारी हो।
नौतम रंग उड़ावे सांवरो,
कर कंचन पिचकारी हो॥
श्यामा श्याम परस्पर खेलत,
भई शोभा अधिकारी हो॥

(कीर्तन सार संग्रह २, पृ० २२२)

इन पदों में गोपियों के प्रेम की विह्वलता, अनुनय-विनय, उपालम्भ, उन्माद आदि का आकर्षक चित्रण

प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त दीपावली, धनतेरस, काली चौदस, गोवर्धनपूजा, प्रबोधनी-एकादशी प्रभृति सामाजिक त्यौहारों पर भी इन्होंने पदरचना की है।

लीला-भक्ति के पदों में इन्होंने कृष्ण तथा स्वामिनारायण में अभेद दर्शाया है। इनकी भक्ति प्रकट की भक्ति थी। उसमें मिलन के लिए व्याकुलता, अनन्यता तथा प्रेमोचित उन्माद स्पष्ट होता है :

हो पीया पाया तो फिर क्या सोना ?
पीया पाया जब सार सबनको,
हाड चाम को क्या जोना ?

मगन भये मन मोहन संगे,
मगन होय फिर क्या रोना ?

बख्तर पहर के रण में निकले,
नरम गरम फिर क्या होना ?

मुक्तानंद मोह सब तजिके,
श्याम चरन में मन प्रोना।

एक अन्य पद में प्रियतम के संयोग का आनंदोल्लास वर्णित है :

बंसी बजैया कान, मेरे घर आयो।
भूषन बसनधारी बेगे आयो गिरधारी ;
मोरली में मीठी मीठी,
रागनी सुनायो॥ बंसी०
लाग्यो हे तमरो ध्यान,
भई मैं तो एकतान,
रसिक मोहन मोये, कंठ सूं लगायो। बंसी०
तन कियो तुम काज, छोड़ी सब लोक लाज,
अधर सुधारस प्यारे, प्रेम करी पायो॥ बंसी०
तुमही से प्रीत जोरी, ओर सब ही से तोरी,
मुक्तानंद एही माँगे, नेह कु निभायो॥ बंसी०

अ. शु.

मुराद

कवि मुराद गुजरात के गायकवाड़ राज्य के अन्तर्गत पीलवाई नामक गाँव के निवासी थे। जाति से ये मुसलमान मीर थे। महाराजा श्रीमन्त खण्डेराव गायकवाड़ के राजकवि श्री कहानदास जी महेडु चारण के समीप रहकर इन्होंने काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया था। अध्ययन के पश्चात् इन्होंने जीवन-भर ईश्वर का ही गुणानुवाद गाया। किसी भी सांसारिक व्यक्ति की प्रशंसा कभी नहीं की। हिन्दू और मुसलमान या खुदा और कृष्ण के बीच का द्वैतवाद, इनके मन से विलीन हो गया था। इनका एक छन्द उद्धृत है :

(छन्द इन्द्र–विजय)

चोरपुरे चन्द्रावलि के,
नमदेव को छप्पर हाथ से छायो।
चैन के शीश पै आई परी तब,
नाई बनी नृप काज चलायो॥

झेर उतारि मीराबाई को,
भिलनी गुनकाकूं विमान भिजायो।
हूँ तो अनाथ, अनाथ रह्यो
तुम कैसे अनाथ को नाथ कहायो॥

हार दियो अपने कर से,
शिर से मंडलीक को मार मिटायो।
टेर सुनी टिटवा टिटवी की,
गयन्द के कण्ठ से घण्ट गिरायो॥

दास कबीर कूं भीर परी तब,
पौड भरी घर भाल पहुँचायो।
हूँ तो अनाथ अनाथ रह्यो,
तुम कैसे अनाथ को नाथ कहायो॥

सन्तन के मुख बात सुनी
कितने हरि नीच कूं ऊँच बनायो।
लीन उधारि अधम्म अजामिल,
बाज कूं मारि कपोत बचायो॥

धूल को धान धमा को कियो,
कवि केत मुराद पे जूड जनायो।
हूँ तो अनाथ, अनाथ रह्यो,
तुम कैसे अनाथ को नाथ कहायो।

दूध पिलावत मात जो मारत,
तौं शिशु को दुखै कौन दहैगो।
होय सुधाधर जो बरसै विष,
लोक सबै चुपचाप रहैगो।
राम रटे सुख नांहि मिलै,
तब कौन अहोनिश नाम लहैगो।
कैतौ मुराद सनाथ करो न तो,
कौन अनाथ को नाथ कहैगो॥

ल. पिं ग.

मेघ जी

ऐसा मान्यता है कि मेघ जी सोलहवीं सदी में हुए थे। इनके पिता का नाम काशी था। ये खम्भात के निवासी थे। इनकी तीन कृतियों—रुक्मिणी हरण, सुदामाख्यान तथा हनुमान चरित्र का पता चलता है।

ल. पिं. ग.

मेघा भगत

मेघा भगत का आविर्भाव सौराष्ट्र के पांचाल प्रदेश में थान नामक गांव में लगभग २०० वर्ष पूर्व हुआ था। जाति के ये कुंभार (प्रजापति) थे।

मेघा को ठाकुर जी के प्रति बड़ी आस्था थी। सारा दिन ये कृष्ण के कीर्तन-भजन में मस्त रहते थे। मिट्टी के बर्तन बनाते समय भी हरदम इनके मुँह में श्रीकृष्ण का नाम रहता। एक परम कृष्ण-भक्त के रूप में इनकी कीर्ति उस प्रदेश में चारों ओर फैल गई। साधु-सन्त इनके घर बराबर आते रहते थे। साधुसेवा और सत्संग यही इनकी प्रमुख प्रवृत्ति थी। लोग इनकी ऐसी परोपकारवृत्ति और भक्तिभावना की हँसी उड़ाते थे। किंतु उनकी परवाह किये बिना ये अपनी धुन में मस्त रहते थे। ठाकुरजी पर परम श्रद्धा के सहारे इनके सभी कार्य सफल होते थे।

थान के समीप मोलडा नामक एक नया गांव बसाया जा रहा था। गाँव के काठी दरबार आपारता के कहने से मेघा जी भी इंटें बनाने मोलडी गये। वहाँ कई कुंभकार इंटे बना रहे थे। इंटे पकाने की भट्ठियाँ तैयार हुईं और आकाश में बादल उमड़ आये। सभी कुंभकार अपनी-अपनी भट्ठियों को ठोंककर वर्षा से बचाने का प्रयत्न करने लगे। किन्तु मेघाजी ठाकुर जी पर भरोसा करके निश्चिन्त होकर बैठे रहे। जोरों की बारिश हुई। अन्य सभी की भट्ठियाँ पानी में बह गईं, केवल मेघाजी की भट्ठी जैसी की तैसी बनी रही। उसकी सभी इंटें अक्षत रहीं। मेघाजी के ठाकुरजो ने सचमुच ही इंटों की रक्षा की। यह चमत्कार देख सभी दंग रह गये और तभी से मेघाजी एक सच्चे भक्त के रूप में चारों ओर प्रतिष्ठित हो गये। मेघाजी की ऐसी भक्तिभावना से प्रभावित हो काठी दरबार आपा रता ने इनका शिष्यत्व ग्रहण कर भक्तिपंथ अपनाया और अपना सबकुछ भक्तिमार्ग में न्यौछावर कर दिया। 'पांचाल के पीर' के रूप में मेघाजी सर्वत्र कीर्तिवंत बने।

मेघाजी की कोई रचना प्राप्त नहीं होती।

म. ई. प्र.

मेरामण जी जडिया (ठाकुर साहेब)

मेरामण जी जडिया राजकोट के युवराज थे। ये चारण साहित्य के अच्छे ज्ञाता तथा ब्रजभाषा के सिद्धहस्त कवि थे। इन्होंने १७८० ई० में अन्य छः कवियों के सहयोग से ब्रजभाषा में 'प्रवीणसागर' नामक एक विशालग्रंथ की रचना की थी। उसमें इनके कृष्णभक्ति संवलित बहुत से छंद संकलित हैं। इनके जीवन के सम्बन्ध में अन्य तथ्य अज्ञात हैं।

'प्रवीणसागर' से कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं। उनसे राधाकृष्ण निष्ठा के साथ ही इनका ब्रजभाषा पर असाधारण अधिकार व्यंजित होता है:

(१)

ब्रजमें राधाकृष्णजू, रच्यो सुरस सिंगार।
सो बरनन अब करत हौं, जाहि जपत संसार॥
रमन राधिका कृष्णको, प्रेम सहित संयोग।
सो उरमें रखिये सदा, जाहि जपत तिहुँ लोक॥

(२)

दोउ नेनां नेन रूप देखत अघात नाहीं,
दोउ मन मेल मनौ एक मन कीने हैं।
आसन सुखासनपैं आनंद उमंग राजैं,
जैसे रतीनाथ रती प्रेम मद पीने हैं॥

आनन दुहूँक शोभा बरनी न जात कछु,
ताकी छबी देखे शशी भान छबी हीने हैं।
नंद नंद सागर सु नागर प्रबीन राधे,
वृंदावन कुंजमें सिंगार रस भीने हैं॥

(३)

मोर कीरीट लसें बर स्याम कें,
राधेकें शीश प्रसून मनीको।
बातज को मद स्याम के भालमें,
स्वामिनी भाल जराव को टीको॥

कानन कुंडल कान्ह विराजत,
कान्ह प्रिया तरुना अति नीको।
अंकमें सोहे मयंक-मुखी मनौ,
बारदमें शशि शारदही को॥

(४)

राधे मुख चंद ताकों चाहत चकोर जैसे,
नयन सरोज ताकों चाहत-अलीन ज्यौं।
अधर पियूष ताकों चाहत फनिंद जैसें,
सघन सुकेश ताकों चाहत शशीन ज्यौं॥
कर्क कनरद ताकों चाहत सुकीर जैसें,
कुच हेम कुंभ ताकों चाहत क्रपोन ज्यौं।
राजो सुरसरी ताकों चाहत भगीरथ ज्यौं,
त्रिबलि त्रिवेनी सो प्रबीन चाहे मीन ज्यौं॥

(५)

कुंज गली बन जैबो तज्यो अरु,
बेड रहे गिरिसें गिरधारी।
नेननिकी छबि बक्र निहारबो,
सो गति नेननिसे भई न्यारी॥
टेढो किरीट खुली अलकें सोहे,
आपनसे सब सूधी बिसारी।
औरनसें मुसके नहिं मोहन,
कीनी भली ब्रषभान दुलारी॥

केश मोंहे तम चाप व्याल शशी मध्य भृंग,
चोतवे तुंरग वह्यो खग जैसें पूर हैं।
नेन अरु नासा कंज चंप कली मोर कीर,
सुर माधुरोसो कोधों कोकिला मयूर हैं॥
अधर रद वलिन कुंद कली सुधा वारौं,
ग्रोवा सों कपोत किधों कंचनको चूर हैं।
कुच कटी फरी हरी हरी शृगं हरी जुरी,
राधाजू प्रवीन माधा मिलबो जरूर है॥

ल. पि. ग.

मोतीराम कडुजी

मोतीराम का जन्म चांपानेर परगना के गोधरा महाल (जिला पंचमहाल) के गाँव शहरो (शिवपुर) में चित्रोडा नागर-परिवार में हुआ था। इन्होंने स्वयं यह बात अपनी एक 'लावणी' में बतायी है :

'चांपानेर प्रगणामांही, शिवपुर नगर है खासा।
जाते रे नागर हाड चित्रोडा, एक सब कुनम नेवासा॥

इनके पिता का नाम कडुजी और माता का नाम कुशाल बाई था। माता-पिता के ये इकलौते बेटे थे। मोतीराम आजीवन अविवाहित रहे। अतः इनके वंश में अब कोई नहीं है। परन्तु इनके चाचा त्र्यम्बकराम और प्रभुराम के वंशज विद्यमान हैं। इनका जन्म-मृत्यु-काल निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता, परन्तु गोधरा के एक श्रीगोड के कथनानुसार इनका देहोत्सर्ग ५५ वर्ष की आयु में सं० १८९२ कार्तिक शुक्ल द्वितीया के दिन हुआ था। इससे इनका जन्म काल सं० १८३७ के आस-पास ठहरता है।

अपने गाँव की शाला में इन्होंने प्राथमिक शिक्षा पायी। इन्हें हिन्दी एवं ब्रजभाषा का अच्छा ज्ञान था,

हिन्दी में इनके द्वारा रचित कुण्डलियों से यह बात ज्ञात होती है। कृष्णोपासक होने से भक्ति भाव से प्रेरित हो इन्होंने भारत खण्ड के प्रसिद्ध तीर्थस्थानों की पैदल यात्रा की थी। लोग इन्हें उच्चकोटि का भक्त मान इनके प्रति आदर भाव रखते थे। इनके पास अपना शिष्य-मण्डल भी था। उसमें दो—बेलजी और रणछोड़—अच्छे भक्त थे। जैनमतावलम्बी होते हुए भी इन दोनों को मोतीराम ने यज्ञोपवीत धारण कराया था। ये दोनों भक्त काव्य रचना करते थे। इनकी कविताएँ प्राप्त हुई हैं। अन्य शिष्यों में हरदेव भाई, आशाराम, भाई शंकर नापल और लक्ष्मीराम थे। इनमें से आशाराम और भाईशंकर की रचनाएँ मिलती हैं। मोतीराम के शिष्यमण्डल में मानकुंवर बड़ी, मान कुंवर छोटी, हरकौर, रळियात बाई, जेबाई इत्यादि शिष्याएँ थीं। जेबाई की लिखी दो आरतियाँ प्रकाशित हुई हैं। मोतीराम के शिष्य महाभक्त रणछोड़ का मन्दिर शहेरा में बना है, जिसमें मोती राम और रणछोड़ की पादुकाओं का पूजन होता है।

भक्त मोतीराम और उनकी शिष्य मण्डली की साधना का लक्ष्य वेदान्त प्रतिपादित पूर्णब्रह्म की प्राप्ति होते हुए भी सभी ने राधाकृष्ण की भक्ति के सम्बन्ध में अनेक पदों की रचना की है।

इनकी पद्य रचना का वर्गीकरण तीन प्रकार से हो सकता है—राधा, गोपी और श्रीकृष्ण से सम्बद्ध पद, नीति विषयक प्रकीर्ण पद और ब्रह्मज्ञान के पद। इनके प्रमुख कृष्ण काव्य इस प्रकार हैं—दाणलीला, चातुरी-भाव-लीला, रासलीला, यशोदा जी का कृष्ण को पत्र, उद्धव जी के साथ गोपियों का कृष्ण को भेजा हुआ पत्र (गरबी-पद), कृष्ण विरह के द्वादश मास, तिथि और वार के पद, शृंगार रस के पद (संख्या ३३), ओधव जी का गरबा, थाल के पद (संख्या-३), सुदामा चरित्र और नरसिंह मेहता के पिता जी का श्राद्ध। इन रचनाओं में मोतीराम की गोपीभाव सम्पन्न प्रेमलक्षणाभक्ति भावपूर्ण शैली में अभिव्यक्त हुई है। कृष्ण काव्य के उपरान्त इन्होंने वैराग्य के पद (संख्या-८२), नीति और उपदेश के प्रकीर्ण छप्पय (संख्या-१७) और हिन्दी में कुण्डलिया (संख्या-७) की रचना की है।

मोतीराम और उनके समकालीन भक्त कवि दयाराम में कुछ साम्य है। दोनों नागर थे, अविवाहित थे और राधा कृष्ण-भक्त थे। दोनों ने पैदल यात्राएँ की थीं। दोनों की कृष्ण भक्ति का प्रकार प्रेम-लक्षणा है। दोनों में अन्तर यही है कि दयाराम शुद्ध सगुण रूप श्री कृष्ण की भक्ति करते हैं तो मोतीराम श्री कृष्ण की भक्ति के साथ निर्गुण ब्रह्म की भी साधना करते हैं। यही कारण है कि मोतीराम के कृतित्व में राधा कृष्ण भक्ति और वेदान्त ज्ञान का समन्वय हुआ है।

इन की पद रचना के दो नमूने यहाँ प्रस्तुत हैं, जिनसे गोपी भाव से कृष्ण की आराधना का पता चलता है :

(१) गरबी

कांय कसर नथी, कह्या प्रमाणे पाळो प्रेम मोरारी।
शर्णे राखो, छेल छबीला कहे छे दासि तमारो ॥
प्रभु प्रेम करीने पूरण ठारो, भव सागर थी अमने तारो,
तम दीठे दुखनो विसारो। कांय कसर०

में आद्य पुरुष जाण्या तमने,
तमें आद्य अनादि वर्या अमने,
वर पाम्यां अखंडानंदी ने ॥ कांय कसर०

पीयु पोतानां पोते परखो,
हरि हेते करीने हैये हर्खो,
प्रभु सदाय तमे मुजने निर्खो। कांय कसर०
मारां मन तणां रे दुखडां टाळो,
प्रीत पूर्ण करी हाथे झालो,
मन गमतां लाड तमें पाळों ॥ कांय कसर०

होय अनेक गुन्हा ते सौ सहेजो,
मारा मनमां म्हरे करी रहेजो,
ज्यां जोइए त्यां आवी मळजो। कांय कसर०

मोतिनो नाथ रम्या रंगे, मन उदे प्रेम करी अंगे,
प्रभु सदाय रहो मारी संगे ॥ कांय कसर०

'हमारा कोई अपराध नहीं। हे मुरारि ! कहे के अनुसार कीजिये (वचन का पालन कीजिए)। तुम्हारी दासी कहती है, हे छैल छबीला ! हमें शरण में रखो। हे प्रभु, प्रेम करके पूर्ण शान्ति दीजिये, भवसागर से हमें तारिये। तुम्हें देखने से दुख का विस्मरण होता है। मैंने तो तुम्हें आद्य पुरुष के रूप में पहचाना है और आदि-अनादि ऐसे तुमने हमारा वरण किया है। अखण्डानन्द स्वरूप वर हमने पाया है। हे प्रिय ! अपनों को स्वयं पहचानो। हरि, प्रीत करके हृदय में प्रसन्न हो। प्रभु, सदैव तुम मुझे ही देखो, मेरे मन के दुख मिटाओ और पूर्ण प्रीति करके हाथ पकड़ो, मनचाहे लाड़ लड़ाओ। हमारे कई अपराध हों तो भी उन्हें निभा लो। कृपा करके मेरे मन में रहो। जहाँ चाहें वहाँ आ मिलना। मोतीराम के स्वामी प्रसन्न मनसे अंग-प्रत्यंग में प्रेम करके रंग से खेलो। हे प्रभु ! सदैव हमारे संग रहो, हमारा कोई कसूर नहीं।'

(२) राधिका विरह—द्वादश मास

आ घेरे पधारो श्रीनाथ जी रे।
कार्तिके कहुं छुं रे बात,
रास रम्यानी इच्छा घणी रे,
मने रास रम्यानी इच्छा घणी रे।
नव दीठा मोहनलाल,
घेर पधारो श्रीनाथ जी रे ॥

बाळपणानी प्रभु प्रीतडी रे,
विचारी जो जो रे मन।
लाल मोतिना स्वामी आवजो रे,
मारे तमे तनमन धन ॥

आ मागशरे मन हतुं जावातणुं रे,
झाल्यो शीर अबळानो हाथ।
अमने तरछोडी मथुरा गया रे,
नहीं ए तो तमारो रे घाट ॥

रातदिवस संभारे कामिनी रे,
सांचो रे मारे तमथी स्नेह।
लाल मोतिना स्वामी आवजो रे,
में तो तमने अर्पी छे देह ॥

'श्रीनाथ जी हमारे घर पधारो। कार्तिक मास में यह बात कहती हूँ। मुझे रास खेलने की बहुत इच्छा है, परन्तु मोहनलाल न दीख पड़े। श्रीनाथ जी हमारे घर पधारो। प्रभु, मन में सोचो कि हमारी प्रीति तो बचपन की है। मोतीराम के स्वामी, आइयेगा। मेरे तो आप तन-मन-धन स्वरूप हैं। मार्गशीर्ष में चले जाने का मन था तो इस अबला का हाथ क्यों पकड़ा ? हमें छोड़ आप तो मथुरा गये। नहीं, यह तो आप का दाँवपेच है। यह कामिनी रात-दिन आपका स्मरण करती है। मेरा आप से सच्चा स्नेह है। मोतीलाल के स्वामी, आइयेगा। मैंने तो तुम्हें देह अर्पण कर दी है।'

म. ई. प्र.

मोतीराम भगत

मोतीराम भगत सन् १८३४ ई० में विद्यमान थे। इनका जन्म स्थान भरूच है। जाति से ये दशाश्रीमाली वैश्य थे।

इनकी रचनाओं को देखने में स्पष्ट होता है कि ये कृष्णभक्त थे। इन्होंने श्रीकृष्ण के परमभक्त नरसिंह, सुदामा इत्यादि के चरितकाव्य लिखे हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने राधाकृष्ण-विषयक अनेक पदों की भी रचना की है। इनकी रचनाएँ हैं—नरसिंह महेताना वापनुं श्राद्ध, कुंवरबाईनुं मोसालुं, शामलदासनो विवाह, सुदामाचरित्र, काफी राग के पद, लावणी-पद, गरबी-पद इत्यादि।

मोतीराम का एक गरबी-पद दर्शनीय है :

उभां रहोने अलबेली तमे,
जोर करी क्यां जाशोजी।

शिर पर मटुकी शानो भरी,
तमे उतारोनी नार,
वहेलेरा उठीने चाल्या,
गाय चरावा सारुजी ॥

गायो सघली वेराई गई,
मने फरतां लाग्यो थाक,
गाये गोरंभो घणो कर्‍यो,
मने भडकीने भटकाव्योजी ।
गोवाल सघला वेराई गया,
हुं जईने करुं संभाल,
जलने काजे विलंब न करीए,
ना शुं कहो छो नार जी ॥

सवा पहोर थी तरसा लागी,
म्हारां हैडां शीतल थाय,
तरसा नहि तारुणी तमने,
शुं छे तारा मनमां जो ।
तरस्या केरी तरस न राली,
मारो जीवडो फटकी जाय,
मोतीना स्वामीनी साथे,
जोर न करीए झाझुं जो ॥

रीस चढावी मटुकीलईशुं;
खाशो मुखनी गाल ।

'हे अलबेली' खड़ी रहो, जोर करके कहाँ जाओगी ? हे नारी, शिर पर मटकी काहेकी भरी है ? इसे उतारो। हम तो मुँह अँधेरे उठके गायें चराने चले। सब गायें बिखर गईं, मुझे घूमते थकान लगी। गायों ने बहुत घेरा किया, भड़ककर मुझे भटका दिया। सब ग्वाल बिखर गये, मैं जाके गौओं की देखभाल करता हूँ। पानी के लिए विलंब न कीजिए, हे नारी। 'नाहीं' क्यों कहती हो ? चार घण्टे से मुझे प्यास लगी हैं। अब तो मेरा हृदय शीतल हो। हे तरुणी ! तुझे प्यास नहीं है, तेरे मन में क्या है ? प्यासे की प्यास नहीं बुझाती, मेरा जी फटा जाता है। मोतीराम के स्वामी के साथ अधिक जोर न करो। रिस चढ़ाके मटकी लेंगे और मुँह की गाली खाओगी।'

म. ई. प्र.

मोरार साहेब

मोरार साहव का जन्म संवत् १८३० में गुजरात के यराद गाँव की गरासदार बाघेल शाखा के क्षत्रिय वंश में हुआ था। जब ये चार वर्ष के थे तभी इनके पिता परलोकवासी हो गये। इसीलिये मोरार साहेव का बचपन मोसाल में हालार के संभालिया के समीप सणोसरा गाँव में बीता।

खभालिया में वीरम भगत नाम के रवि साहेव के एक शिष्य थे। वे एक कार्य से सणोसरा आये। तब उन्होंने रवि साहेब के भजन भावसहित गाये। ये भजन मोरार साहेब तथा उनकी माता ने एक चित्त होकर प्रेम पूर्वक सुने। सणोसरा से वीरम भगत माँ-बेटे को खंभालिया ले आये। वहाँ वे साधु-सन्तों की सेवा करने लगे। खंभालिया से ये रवि साहेब के पास गये और उनके शिष्य हो गये। इसके बाद इनकी प्रसिद्धि मोरार साहेब के नाम से हो गयी। लगभग दस वर्षों तक ये गुरुदेव के समीप उनकी सेवा में रहे। गुरुदेव की प्रेरणा से इन्होंने खंभालिया में स्थान लेकर सदाव्रत आरम्भ किया। उस समय जामनगर के राजा, जाम रणमल, मोरार साहेब के शिष्य हुए। उनके अतिरिक्त मोरार साहेब के शिष्य-मण्डल में टंकावला के जीवा भगत क्षत्री, मुसलमान सुमरा संत होथी, बडोदरा की माता वारणसी तथा चरण साहेब मुख्य थे। कहते हैं, मोरार साहेब ने काल पर विजय प्राप्त करके अपनी मृत्यु को बारह महीने के लिये पीछे ढकेल दिया था। आज खंभालिया गाँव 'मोरार साहेब का खंभालिया' नाम से जाना जाता है। यहाँ गुरुदेव रवि साहेब तथा मोरार साहेब की समाधियाँ बनी हैं। मोरार साहेब द्वारा रचे गये भजन सौराष्ट्र व गुजरात के भजनगायक व्रज की धुन में गाते हैं। ये भजन अत्यंत लोकप्रिय हैं। सं० १९०७ की चैत्र कृष्ण द्वितीया को मोरार साहेब

ने समाधिस्थ होकर देह-त्याग दिया। इनके कुछ भक्ति-व्यंजक पद दिये जा रहे हैं :

(पद)

कोने आधाजी अमे केम करीए,
जी रे, मनडा हेराणा मरां मोरलये ॥
व्याकुल थई ने अमे बनमां फरीए,
हरि हरि मुखे ओचरीए ।
नथी रहे बातुं चित चोरो लीधा हो जी रे,
प्रीति करीने परवश कीधा ।
एने चरणे अनेक नार सीध्या,
प्रेमना प्याला पाया ने पीधां ॥

दर्शन द्योतो मारे दिवाली हो जी,
वाला लोगो छो वनमाली ।

त्रिभुवन साथे लागी ताली,
नेणा रह्यां छे मारा नोहाली ॥
वेद नखेद कोधंल नारी हो जी रे,
उत्तम करी वाले ओधारी ।
वहेते पुरेथी लीधा वाली बहु,
नामी ए बरद संभाली ॥
प्रगट रूप ने परमाणु जी रे
जुगनो जीवन मारे साबु नाणु ।
व्रज मोरार रवि नु छे बानुं
संताउयुं नहिं रेवे छानुं ॥

• • •

ओधव माधव मथुरा जई जी रे,
कृष्ण कुब्जाने वश थया त्यां हे ।
सइयर सोहागण ने कहेजो साई,
लखियो कागल जाजो लई ॥

लखवा कारण प्रेमना प्रमाण जी रे,
सारु कंर्यु छे सुन्दर श्याम ।
अवल नारी पम्या अनाम जी रे,
रुदयानी पोची पूरण हाम ॥

अक्षर वांची अनुभव करजो जीरे
व्रज कारण गिरिवर धरियो ।
अज इन्द्रनुं अभिमान हरिया जी रे,
हेत हरि केम बीसरीये ॥

अमारे कारण सुख श्याम हरि जी रे,
दावानल प्रभु पोधो भरी ।
आर्त टाली रूप अनेक धरी,
पछे मुकया केम परहरी ॥
सुमत सुजाणने शुं कहिये जी रे,
थोडुं लख्युं घणुं करी लहीये ।
वाला वीना तो अनेक वहीये,
रज मोरार रवि चरणे रहीये ॥

• • •

ओधवजी अरज हमारी रे मोहन मुख
कहेजो, तलखे व्रज नारी रे ॥
जा दिन माधव मथुरा पधार्या रे,
मारेल कलेजा कटारी रे ॥
भोजन न भावे , नेणे निद्रा न आवे,
भुमिका लागे छे भयकारी रे ॥
आभूषण अमने अडवा लागे,
अंगेथी मेल्या छे उतारो रे ॥
सेजना सुख अमने सुली जेवां लागे,
भुवन भयंकर भारी रे ।
मोरारना स्वामी मलवा पधारो रे,
पूरब प्रीति संभारी रे ॥

ल. पिं. ग.

मोहनदास

प्रणामी सम्प्रदाय के अनुयायी मोहनदास का जन्म संभवतः सं० १९०० के आस पास हुआ था। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में इससे अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। ये गोरखपुर के निवासी थे और दक्षिण गुजरात में सूरत की प्रणामी-सम्प्रदाय की गद्दी पर विराजमान हुए थे।

'श्रीनिजानन्द भजनावली' में मोहनदास के पद संगृहीत हैं। इनके पदों में साधु-सेवा और सद्गुरु की महत्ता, सांसारिक मोहमाया से छूटने के उपाय, भक्ति-माहात्म्य, कृष्णप्रीति, श्रीकृष्ण की बंसी का

प्रभाव, कृष्ण विरह इत्यादि विषयों का मार्मिक चित्रण हुआ है।

प्रणामीसम्प्रदाय के उपासना सिद्धान्त के अनुरूप मोहनदास ने भी भक्ति को ही जीवन की सफलता का परमोच्च साधन माना है :

यह तन पाय भक्ति न करिहै,
सो आखिर जमपुर को जाई ।
विष्णु भक्ति बहुत तर गए,
सो यश वेद पुरान में गाई ॥

प्रियतम कृष्ण के प्रति हृदय का सच्चा प्रेम ही भक्ति है। अतः मोहनदास ने श्रीकृष्ण के मिलन-वियोग के पदों के द्वारा प्रेमलक्षणा भक्ति का महत्व प्रतिपादित किया है। ब्रजबालाओं के माध्यम से इन्होंने कृष्ण के वियोग में व्याकुलता और संयोग में प्रसन्नता की अभिव्यक्ति की है :

अषाढ है सखि अम्बर गरजे,
देखि घटा जिया कांपे यो ।
ऐसे समय प्रभु तजि गए मोहि,
सोची मदन संतापे यो ।
सुन लेहु सखियाँ अनूप एक असिया,
पतिआ पिया जी के आएयो ।
चलहु सबेरिया अबेर भैले रतिया,
अगम देश गमि पाएयो ॥

मोहनदास ने हिन्दी में पदों का सर्जन किया है। इनकी भाव-भक्ति के अभिव्यंजक दो पदांश यहाँ उद्धृत हैं :

पिया बिन भवन भियावनलागै,
गृह आंगन न सोहाए ।
चंचल चित्त मन थिर न रहत है,
बिरहा सहलो न जाए ॥

पल पल पंथ हेरों प्रीतम के,
सुमरि सुमरि हिया लाए ।
रैनि सेज्या पर नींद न आवे;
भोरेहि उठल झमाए ॥

(कृष्ण विरह के पद)

एक दिन बंशी बजाए सांवलिया,
ब्रज बाला को मोहि लिया ।
बंशी के शब्द परे ब्रज माहीं,
ब्रजनारी तन त्याग किया ॥

जो जैसी-वैसी उठि धाइँ,
ऐसो जादू डाल दिया ॥

(कृष्ण बंसी के पद)

म. ई. प्र.

यशकरण जी अचलदान जी 'रत्नु'

राजकवि यशकरण जी अचलदान जी 'रत्नु' ईसाकी १९वीं-२०वीं शती के आरंभ से लेकर–१९६६ ई० तक के कालखण्ड में विद्यमान थे। इनका निवास पोरबन्दर में था और पोरबन्दर राज्य के ये सम्मानित राज कवि थे। ये चारण-साहित्य ग्रन्थों के विशिष्ट अभ्यासी होने के साथ ब्रजभाषा पाठशाला के दीक्षित पण्डित भी थे। इनकी रचनाओं में 'गृहस्थधर्म-गुण-प्रकाश-बावनी' और शब्दकोश (अमरकोश) उल्लेख्य हैं।

इन्होंने अपने एक अप्रकाशित ग्रन्थ में श्रीकृष्ण के अनेक पर्यायवाची नाम, दोहा छन्द में दिये हैं। उसका नमूना देखिये :

वासुदेव विट्ठल विभु, गिरिधारी गोपाल ।
नँद-नंद मोहन मुकुंद, देवकीनंद दयाल ॥

रामानुज रणछोड़ पुनि, गोपीवल्लभ गोविंद ।
केशव गोकुलनंद रु, पार्थसखा यदुचंद ॥

कृष्ण द्वारकाधीश अरु, श्री त्रीकम घनश्याम ।
कंस-संहारक मुरलीधर, श्यामसुन्दर वरनाम ॥

याकूब खाँ

याकूब खाँ मुसलमान थे। इनका समय २० वीं सदी है। ये बड़ौदा में रहते थे और 'जमादार याकूब अली खाँ गरवे वाले' के नाम से प्रसिद्ध थे। इनका विशेष इतिवृत्त प्राप्त नहीं है। ये ब्रजभाषा-प्रेमी और अपने समय के प्रसिद्ध गायक तथा ठुमरी रचयिता

थे। ठुमरियों में इनकी कृष्णप्रीति और भक्तिभावना व्यक्त होती है। एक ठुमरी-पद दर्शनीय है :

जावौ वहाँ हो गिरधारी।
जहाँ खट्रितु खोई है सारी,
जावौ वहाँ हो गिरिधारी ॥
चित चैत में लागी उदासी,
मैंने चाहा था लगाऊँ फाँसी ॥
बोले सारे ये ब्रज के बासी,
याने पिया-बिन प्राँन तजारी ॥

म. ई. प्र.

युगल किशोर

युगल किशोर चारण जाति के कृष्णभक्त कवि हैं। इनका निवास स्थान लिमडी (सौराष्ट्र) है। इनका समय सं० १८७८ है। इनके स्फुट पद प्राप्त होते हैं।

अं. शु.

रघुनाथ (प्रथम)

रघुनाथ (प्रथम) जूनागढ़ निवासी वैष्णव भक्त थे। इनकी एकमात्र रचना 'बेट-बावनी-बाललीला' है। इनका शेष वृत्त अज्ञात है।

अं शु

रघुनाथ : (द्वितीय)

रघुनाथ द्वितीय) १८ वीं शती में विद्यमान बताये जाते हैं। इनकी पाँच रचनाओं का उल्लेख मिलता है—प्रेम पचीसी, वसंतना पद, माहनो तिथि, कको तथा कृष्ण लीलाना पदो। इससे विदित होता है कि ये कृष्णभक्त होने के साथ ही निर्गुण साधना में भी आस्थावान थे।

अं. शु.

रघुनाथ (तृतीय)

रघुनाथ वैश्य जाति के पुष्टिमार्गीय भक्त थे। इन्होंने गुजराती तथा ब्रजी दोनों भाषाओं में पदरचना की है। इनके बनाए पद गुजरात के वैष्णव मंदिरों में गाये जाते हैं।

अं. शु.

रघुनाथदास

रघुनाथदास का जीवन-काल सन् १७७५ से १८८० ई० तक माना जाता है। ये जाति के पाटीदार (पटेल) थे और अहमदाबाद के गोमतीपुर मुहल्ले में निवास करते थे। पुष्टिमार्गीय वैष्णव के रूप में इनकी ख्याति है।

गुजरात के रसकवि और प्रसिद्ध कृष्ण भक्त दयाराम के समकालीन रघुनाथदास कई बातों में उनकी समकक्षता करते हैं। इनकी सभी रचनाएँ राधा-कृष्ण विषयक हैं। 'ओधवजी! संदेशो कहेजो श्याम ने' प्रतीक वाली गरबी गुजरात की स्त्रियों में अत्यधिक प्रसिद्ध है। 'आवने अल्या कहान गोपाला आपण रमीए होली रे,' 'चालो गोपीओ मलीने गोकुल जईए रे,' 'ऊभो छे बालम वाट हो,' 'मारे मंदिर पधारो, हरि मुख हँसता, मथुराना मारग मेल्य रे,' 'मोहन अलबेला, अल्या दाणी का' 'वे तुं क्यारनो रे, मुकी मथुरा ने गोकुल आवीओ रे' आदि प्रतीकों के इनके अन्य पद प्रसिद्ध और लोकप्रिय हैं।

इनकी निम्नांकित रचनाएँ मिलती हैं: 'ओधवजी नो संदेशो,' 'लीलासागर,' 'नरसिंह महेतानी हुंडी,' 'राधाकृष्ण-संवाद' (तीन पद), 'ओच्छव-कीर्तन-पद अथवा कृष्ण क्रीडा के पद (संख्या : १०), वसन्त के पद (संख्या : २१), 'दशमस्कन्ध,' 'प्रेमपचीसी' तिथि, थाल, महिना इत्यादि के पद।

इनके पदों में गोपीविरह का हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। नन्द-यशोदा की वेदना भी इनकी गरबियों में मार्मिकता से व्यक्त हुई है :

कुंवर वण कोने लाड लडावशुं,
कोने वलगाडीशुं दामो जो।
कोने जमाडीने जमशुं अमे रे,
कोहोने रूधनाथ स्वामी जो ॥

रघुनाथदासरचित 'राधाकृष्ण-संवाद' का एक पद यहाँ दिया जाता है :

पालवडो मेलो रे मोहन जी, मारगडे मने जावा दे।
वळता रे आपीश दाण तमारां, मही मारा वेचावा दे॥

बेचतां तने कोण वारे छे, सांभलने राधे प्यारी।
दाण दधीनां आपने अबला, वेहेली था तुं व्रजनारी॥

व्रजनारी कहो नव बोलावीश, छानो रहे तुं छोगाला।
कठण राज्य छे कंसरायनुं, गौ चारंता गोवाला॥

हुं गोवालीओ तुं गोवालणी, फरी गमे तो आवजे।
कंस सरीखा सोलसे माटी, साथे तेडी लावजे॥

तेडी लावुं धो मने जावा, रोकी रह्या छो परनारी।
रघुनाथना स्वामी शामलीया, घेला थया कंई गिरधारी॥

'हे मोहनजी ! मेरा अँचरा छोड़ो, मुझे अपने मार्ग पर जाने दो। लौटते समय तुम्हें 'दाण' (कर) दूँगी मुझे दही बेचने दो।' कृष्ण ने कहा, हे राधे प्यारी ! सुन, बेचने से तुझे कौन रोकता है ? हे अबला ! दही का दान दे दें। व्रजनारी, तू शीघ्रता कर।' गोपी ने कहा-व्रजनारी कहके न बुला। हे छबीला, चुप रहो। हे गो चरानेवाला ग्वाल ! कंसराय का शासन कठोर है।' (कृष्ण ने कहा) 'मैं ग्वाल हूँ, तू ग्वालिन है। पुनः यदि भाए तो आना और कंस सरीखे सोलह सौ मर्द साथ लेके आना।'' 'मैं बुला लाऊँगी, मुझे जाने दो, तुम परनारी को रोक रहे हो। रघुनाथ के श्यामल-गिरधारी स्वामी कुछ पागल से हुए।'

इनका एक वसन्त पद भी देखिये :

सखी श्री गोवरधन राय, रमे रंग होली रे।
वहालो जुगत तणो प्रतिपाल; केसूडां घोली रे॥ रमे०
गोकुल गाम सोहामणुं रे, सुंदीर यमुनां तीर।
सुंदर बृजनी गोपीओ रे, सुंदर बृज आहीर॥ रमे०
रतन जडीत पीचकारीओ रे, हरि हलधरने हाथ।
सोना गगरीयां शीर धरी रे, मांही सुगंध भरी बहु जात
॥ रमे०

राधा मोहन रंग भरी रे, रंग भिनो गोपो गोवाल।
वाजंतर वाजे घणां रे, गोपी गोत मधुरां गाय॥ रमे०
रमतां रस वाध्यो घणो रे, सुख पाम्यो सहु साथ।
बेऊ कर जोडीने विनवे, गुण गाये जन रघुनाथ॥ रमे०

'हे सखी ! गोवर्धनराय रंग-होली खेलते हैं। जगत् के प्रतिपालक बालम किंशुक घोलते हैं। गोकुल गाँव सुहावना है, यमुना का तट सुन्दर है। व्रज की गोपियाँ सुन्दर हैं, व्रज के अहीर (ग्वाल) सुन्दर हैं। रत्नजड़ित पिचकारियाँ हरि और हलधर के हाथों में हैं। सोने की गगरियाँ शिर पर धरी हैं, भीतर तरह-तरह की सुगन्ध भरी है। राधा-मोहन रंग भरते हैं। गोपी और ग्वाल रंगभीने हैं। बहुत से वाद्य बजते हैं। गोपी मधुर गीत गाती हैं। खेलते-खेलते रस बहुत बढ़ गया। सभी ने एक साथ सुख पाया। दोनों हाथ जोड़ रघुनाथ विनती करता है, गुण गाता है।'

म. ई. प्र.

रघुराम

रघुराम का उपस्थितिकाल वि० सं० १७७२ के लगभग है। ये वडनगरा जाति के ब्राह्मण थे और डाकोर में रहते थे। इनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में इससे अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती।

इनकी रचनाएँ हैं-'मथुराना काजल,' 'सभासार', 'माधवविलास' (व्रजभाषा में नाटक), 'नरसीं मेतानी हुंडी' और 'कृष्णलीला'। इनमें कृष्ण की भक्तवत्सलता तथा माधुर्यलीला का वर्णन किया गया है। राधाकृष्ण के प्रति इनके हृदय में पूर्ण भक्तिभाव है। 'बृहत् काव्य दोहन, ग्रन्थ-७' में इनकी 'नरसीं मेतानी हुंडी' और 'कृष्णलीला' के दो पद प्रकाशित हैं।

रघुराम सात्त्विक प्रकृति के थे और कृष्णभक्ति में आसक्ति के कारण निरन्तर साधुसंग में रहते होंगें, ऐसा प्रतीत होता है।

इनका कृष्णलीला-विषयक एक पद यहाँ उद्धृत है :

मोरे घरे आवोनी लाल वरणागीया रे।
हरी अमने ते वाहाला लागीया रे॥

वाहालो मारो, मांखणीयानो चोर छे रे ।
मारा कालजानी कोर छे रे ॥

घेरे घेर हारे हुं तो वाटडी जोईने रे ।
तारा मुखडा उपर मोहीने रे ॥

हरी तारां मीठां ते मीठां वेण छे रे ।
हां रे ताहारी आंखलडीमां प्रेम छे रे ॥

रघुराम ते बोल्या रंगमां रे ।
हरे अमो छीये साधुना संगमा रे ॥

'हे लाल वरणागी (टीपटाप करने वाले) ! मेरे घर आइये । हरि तो हमें प्रिय लगे हैं। मेरा बलमा तो मक्खन का चोर है, मेरे कलेजे की कोर है। घर-घर मैं तो बाट देखकर तेरे मुखड़े पर मोहित हुई हूँ। हरि तेरे वचन मधुर से मधुर हैं। तेरी आँखों में प्रेम है। रघुराम रंग में बोले, हरि ! हम साधु के संग में हैं।'

म. ई. प्र.

रणछोड़ (प्रथम)

गुजरात के विख्यात कृष्ण भक्त नरसिंह महेता के अवतार स्वरूप भक्त रणछोड़ का जन्म कपड़वंज तालुका (जिला खेडा) के तोरणा नामक गाँव में हुआ था। जाति से ये दशाखडायता वैश्य थे। जीवन के उत्तरार्द्ध में १७२५ ई० के आसपास इन्होंने खेडा जिले के तोरणा गाँव में भगवान् रणछोड जी के मन्दिर का निर्माण कराकर वहीं स्थायी रूप से निवास किया। १०५ वर्ष की दीर्घायु में इनका गोलोकवास हुआ।

रणछोड़ जी राधा-कृष्ण के अनन्य उपासक थे। अपने समय में इन्होंने भक्त नरसिंह मेहता जैसी प्रतिष्ठा पायी थी। अतएव द्वारकादास नामक भक्त ने इनके लिए गाया है :

जुमागढनो नरसंई नागर, तेनो तुं अवतार ॥
वाणी तमारी रस भरी ने रस भर्या छे वेण ।
अखंड आरती जोवा तमारी तलसे मारां नेण ॥

'तुम तो जूनागढ़ के नरसिंह नागर के अवतार हो। तुम्हारी वाणी रसमयी है और तुम्हारे वचन रसपूर्ण हैं। तुम्हारी अखण्ड आरती देखने के लिए मेरे नयन तरसते हैं।'

जनश्रुति है कि प्रगाढ़ कृष्ण भक्ति के प्रभाव से इनके जीवन में अनेक चमत्कारी घटनाएँ घटित हुई थीं। एक विधवा बाई के गहनों की चोरी का कलंक शिर पर आने की स्थिति में इन्हें खड़ाल के ठाकुर ने कैद कर लिया। उस समय भगवान् ने साधु के रूप में आकर ठाकुर को सही बात बता कर इन्हें मुक्त कराया। तोरणा में स्वप्न में हुए आदेश के अनुसार इन्होंने धरती में से मूर्तियाँ प्राप्त करके मन्दिर बनवाया। गोकुल-मथुरा की यात्रा के समय एक रात को इन्हें अगमवाणी सुनाई दी थी। रणछोड़ जी के मन्दिर के बन्द द्वार इनके द्वारा 'केवलरस' गाने पर खुल गये थे। इनके पुत्र के विवाह के अवसर पर श्रीकृष्ण साधु के वेष में आकर आवश्यक सम्पत्ति रख गये थे। कठलाल नाम के गाँव में रात को भजन कीर्तन करते-करते इन्होंने द्वारका के द्वारकाधीश-मन्दिर में सुलगता हुआ चँदवा बुझा दिया था।

रणछोड़ जी प्रमुख रूप से कृष्ण भक्ति के उद्गाता हैं। भक्ति की धुन में इन्होंने कृष्ण विषयक विपुल भजन एवं पद रचे हैं। ये नरसिंह के अनुगामी और दयाराम के पुरोगामी कवि की साहित्यिक प्रतिभा एवं भक्ति-भावना से संपन्न थे। इनके कृष्ण प्रेम के पदों में हृदय की निर्मल भावधारा प्रवाहित हुई है। कृष्ण प्रेम को ये 'महारस' कहते हैं। इनकी कविता में यही महारस सर्वत्र व्याप्त है। मधुर भक्ति के ये गीति कवि हैं। कृष्णलीलाओं का गान करते ये तृप्त नहीं होते। सूरदास की भाँति छोटे-छोटे मार्मिक पदों में ब्रजभाषा की शैली में इन्होंने रास, गरबी, स्तुति या आरती के माध्यम से राधाकृष्ण लीला का अनेकविध गान किया है। ये भक्त कवि नरसिंह की रासचातुरी का अनुसरण करते हैं और

रस कवि दयाराम की 'गरबी' का पूर्वरूप अपनी असंख्य गरबियों के द्वारा निष्पन्न करते हैं।

'वसंतनां पद', 'शणगारना धोळ', 'दाणनां पद', 'हिंडोळना पद', 'जन्माष्टमीनी बधाई', 'श्रीराधिकाजीनी बधाई', 'रासनां पद', 'वृन्दावन-माहात्म्य', 'वारमास', 'स्नेहलीला', 'गोवर्धन-ओच्छव', 'वेणु गीत', 'राधा-विवाह', 'रणछोड़जी नो गरबो', 'राधिकाना रुसणानी चातुरी', 'रासपंचाध्यायी', 'कृष्ण जीवन ना महिमा' इत्यादि रचनाओं में इनकी कृष्णभक्ति की रसमयी अभिव्यक्ति हुई है।

प्रेमलक्षणाभक्ति के उद्गाता रणछोड़ जी ज्ञानी भक्त भी हैं। इन्होंने 'केवल-रस', 'प्रभाव-स्तवन', 'कक्को', 'चेतामनी शिक्षा अंग' इत्यादि रचनाओं में मानों भक्त नरसिंह की तत्व-ज्ञान सम्पन्न वाणी को पुनः काव्यावतार प्रदान किया। नरसिंह की भाँति इन्होंने 'प्रभात' शैली के ज्ञान-भक्ति संवलित पदों की भी रचना की है।

रणछोड़ की कृष्ण केन्द्रित रचनाओं में भी गोपी भाव की मनोहर प्रस्तुति हुई है। गेय पदों का वैविध्य, प्रेम के विविध विवर्तों का मार्मिक निरूपण, रस की अमृतधारा और भावावेग—ये रणछोड जी की भक्ति कविता के विशिष्ट लक्षण हैं। भक्ति शृंगार के पदों में इन्होंने वृन्दावन में प्रवाहित और गोपियों द्वारा गृहीत दिव्य प्रणय का पान करने के लिए प्रणयीजनों को निमन्त्रण दिया है:

'प्रेमी जन पीओ रे, रस झरे रे,
झरे झरे वृंदावन मोझार।

इनकी कविता के रसनायक हैं कृष्ण और नायिका हैं रंगभीगी राधिका। इनके बसन्त और होली के पदों में राधाकृष्ण का रंगरास वर्णित है। ज्ञान भक्ति निरूपण 'दिलमां दीवो करो' नामक इनका पद गुजराती ज्ञान बोधक पदों में शिरमौर है। सगुण कृष्ण भक्ति की पूर्णता निर्गुण ज्ञान में है। यह बात समझने के लिए रणछोड़ ने अद्वैत ज्ञान का गान किया है। श्रीकृष्णलीला का सम्यक् ज्ञान होने पर अनुभूति होती है कि कृष्ण स्वरूप परमात्मा प्रत्येक आत्मस्वरूप राधिका में खेल रहा है। ऐसा ज्ञान-दर्शन रणछोड जी ने कराया है:

'ज्यां जोउं त्याँ देखुं गोपीबर सार'
'मारो आत्माराम अखंड छे।
पंउ ब्रह्माडे भर्यो छे भरपूर।
राधारसिकाविहारी रसमां लाल लह्यो सदा,
मारा हेतमां हे रह्यो छे हजुर ॥'

भक्त रणछोड़ प्रेम के पियासे हैं। इनके मन में बसे कृष्ण हृदय के हार, प्राणाधार, रस के भी रस और रंग के भी रंग हैं:

'बहाळनुं बहाल छो, लालना लाल छो,
मालना माल छो ख्याल ख्याली।
नयनना नयन छो, प्रेम सनेही छो,
लाल तमारी में जोई लाली ॥'

नरसिंह मेहता की उदात्तता, सात्विकता और कविता को स्पर्श करती हुई रणछोड की वाणी इनके सहज, सुन्दर वाग्वैभव और कृष्णपरायण आत्मतत्व को अभिव्यक्त करती हैं।

रणछोड़ जी के दो पद दर्शनीय हैं:

(१)

घेर आबो गोपीना रे बहाला,
आनंद बधारो श्रीनंदलाला,
नाथ नथी कांई नाना काला,
तो प्याला पाइए प्रेमना रे।

कुंकुम केरां छांटा देवरावुं,
मांहे रे मोतिना चोक पुरावुं,
तरीआं तोरण बहार बंधावुं
तो बहालो बधावुं विवेकमां रे ॥

इच्छावर इच्छानो ठरावुं,
जीब थकी रे घणुं जतन करावुं,

मारे हाथे मुगट धरावुं
तो मोती भरावुं खुँपमां रे।

कहे रणछोड अमो शुँ रे कहीए,
पूर्वनी प्रीत विचारोने हये,
काना बिना रे अमो केम रहीए,
तो थइए ब्रेहमां व्याकुलां रे॥

'गोपी के प्रियतम! घर आइये। श्रीनंदलाल! आनन्द बढ़ाइये। हमारे नाथ तो छोटे बच्चे नहीं है। अतः प्रेम के प्याले पिलाइये। कुमकुम का छिटकाव कराऊँ, तीन जात के तोरण बधाऊँ, भीतर मोती के चौक पुराऊँ। इस प्रकार विवेक से प्रियतम का अभिवादन करूँ। अपनी इच्छा का इन्हें इच्छावर निश्चित करूँ और हृदय से इनका बहुत जतन कराऊँ। इन्हें अपने हाथों से मुकुट पहनाऊँ और खूँप (दुल्हे के मस्तक का फूलों का आभूषण) में मोती पिरो दूँ। रणछोड कहते हैं कि हम क्या कहें? हृदय में पूर्व-प्रीति का विचार कीजिए। कान्ह के बिना हम कैसे रहे? इससे तो हम विरह में व्याकुल हो जायेंगे।

(२) राधिका जी नुं रुसणुं

हळी हेते मळी मनशुं, रमन मांडी रंगमां।
नाना विधना बिनोद करतां, आनंद बाध्यो अंगमां॥

एक एक ने आलिंगन चुंबन, अधिक अधिक आदर्युं।
जे बेळे जे जोइए ते, बेळे ते त्यां तेहेवुं कर्युं।

रंग वेण बातो मदन मातो, मातो खेल मचावीयो।
रसिक श्यामा सुंदरीए, थनक थनक नचावीयो॥

जेम हुंस हुती हैयामाहे, तेम तेहने हुलाबीयो।
अंगो अंग लेई ऊपर, जत्न करी झुलाबीयो॥

रमतां रमता रंग बाध्यो, साम सांहांमां सुंदरी।
फरतां फरतां फुंदडी, अति हेतमां हंसिया हरि॥

एक मुकुटमां मानिनी ते, प्यारीनी दृष्टे पडी।
पोतानूं प्रतिबिंब देखी, रोस चित्त माहे चडी॥

ए कोण बळी नार दीसे, मुकुटमांहे महालती।
पटक पटकी देई, रणछोड चतुरा चालती॥

'दोनों ने प्रेम से और मन से हिलमिल कर रंग में क्रीडा का आरम्भ किया। बहुविध विनोद करते-करते अंगों में आनन्द बढ़ गया। एक दूसरे को आलिंगन-चुंबन अधिक-अधिक प्रारंभ किया। जिस समय जो चाहिए उस समय वहीं वैसा-वैसा किया। रंग भरे बचन और मदमस्त काम के साथ मस्ती भरा खेल मचाया। श्यामा सुन्दरी ने रसिक कृष्ण को थनक थनक नचाया, हृदय में जैसा उमंग था वैसा ही उसे हुलाया, लाड़-प्यार किया। अंगों को अंग पर ले यत्न करके झुलाया। खेलते-खेलते रंग बढ़ गया, सुन्दरियाँ चकरी लगाते-लगाते आमने-सामने आ गईं और हरि अतिप्रेम से हँस पड़े। उनके मुकुट में प्यारी राधा ने अपने ही प्रतिबिम्ब को मानिनी के रूप में देखा और उसके चित्त में क्रोध बढ़ आया। यह भी कौन नारी मुकुट में आनन्द करती हुई दिखाई पड़ती है? मैं उसे पटक दूँगी। ऐसा कहकर चतुरा नारी चल दी। इस प्रकार रणछोड़ कवि कहते हैं।'

म. ई. प्र.

रणछोड़ दास

रणछोड़ दास का आविर्भाव औदीच्य ब्राह्मण कुल में १७ वीं शती में डाकोर के पास खडौल नामक गाँव में हुआ था। इनकी एकमात्र कृति 'अभिमन्यु आख्यान' का पता चला है। इनकी रचना शैली में अष्टछापी कृष्णभक्तों जैसी निष्ठा तथा व्यापकता के दर्शन होते हैं। इनके जीवन के सम्बन्ध में अन्य तथ्य अज्ञात हैं।

अं. प्र. शु.

रतन जी

गुजरात प्रदेश में 'रतन' नाम के चार भक्त कवि हुए हैं—(१) रतन जी, (२) रत्नेश्वर (प्रेमानन्द-शिष्य), (३) रत्नेश्वर (पुष्टिमार्गीय) और रत्नो। इनमें से प्रस्तुत भक्त कवि की प्रसिद्धि 'रतन जी' नाम से है। इनका पूर्ण जीवन वृत्त प्राप्त नहीं होता, परन्तु इनकी रचनाओं में जीवन विषयक कतिपय संकेत मिलते हैं। इनके द्वारा रचित 'विभ्रंशी

आख्यान' से ज्ञात होता है कि ये गुजराती होते हुए भी महाराष्ट्र के नासिक जिले के बागलाण गाँव में निवास करते थे। प्रस्तुत आख्यान में रचनाकाल सं० १७१३, सावन की कृष्णपक्षीय अष्टमी निर्दिष्ट है। इस प्रकार रतन जी अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में विद्यमान ठहरते हैं। इनके जन्म-मृत्यु विषयक दूसरी कोई प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं होती।

ये प्रसिद्ध राधाकृष्णभक्त प्रेमानन्द के शिष्य हरिदास के पुत्र थे। बिभ्रंशी-आख्यान' में 'रतन जी हरिदास बल्लभ', 'भानुसुत कहे भगवंत भजुं', 'भानु कहे पुष्पपर्वंत की कथा नारायण अर्पण थई' इत्यादि कथनों से ज्ञात होता है कि रतन जी अपने को हरिदास वल्लभ, भानुसुत और भानु कहते हैं। 'हरिदास वल्लभ' शब्द में पिता के नाम के निर्देश के साथ एक दूसरा अर्थ भी प्राप्त हो सकता है कि रतन जी भगवान् के भक्तों के प्रिय थे। 'भानुसुत' के आधार पर इनके पिता का नाम भानु हो सकता है। 'भगवंत भजुं' वचन से स्पष्ट है कि रतन जी भगवद् भक्त हैं। के० का० शास्त्री का तर्क है कि रतन जी संभवतः भणसाली नामक व्यापारी जाति के हो सकते हैं। इसलिए ही ये वाणिज्य व्यवसाय के हेतु गुजरात के बाहर बागलाण गये होंगे।

इनकी रचनाओं में उपरिनिर्दिष्ट 'बिभ्रंशी-आख्यान' के १३ कडवों में महाभारत के अश्वमेध पर्व के आधार पर राजा बिभ्रंशी की सविस्तर कथा आख्यान के रूप में प्रस्तुत है। इसमें अद्भुत एवं वीर रसों की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इनकी अन्य दो रचनाएँ हैं—'द्रौपदी-चीरहरण' और 'सगालशा-आख्यान' (चेलैया चरित्र)।

गुजराती साहित्य में केवल कवि के रूप में उल्लिखित रतन जी अपनी रचनाओं में कृष्ण भक्त दिखाई देते हैं। प्रेमानन्द के शिष्य के पुत्र होने के नाते स्वभावतः इनमें कृष्ण भक्ति के संस्कार विद्यमान थे। यह बात इनके 'सगालशा-आख्यान' की अंतिम पंक्तियों से स्पष्ट होती है :

गुरुप्रतापे भणे रतनदास, कहो न छोड़ूं कीम,
मोहन ने मळवा माटे रे, जावुं वइकुंठनी वाटे रे।

'गुरु के प्रताप से रतनदास कहते हैं—कहिये, इन्हें (कृष्ण को) मैं कैसे छोड़ूँ? मोहन से मिलने मुझे तो वैकुण्ठ के मार्ग जाना है।'

इससे स्पष्ट है कि रतन जी के कोई गुरु भी थे जिनकी प्रेरणा से ये भक्ति मार्ग के यात्री बन गये। उपर्युक्त पंक्तियों में कृष्ण-मिलन की भक्त कवि की अदम्य चाह प्रकट हुई है। इन्हीं पंक्तियों का एक पाठान्तर मिलता है, जो इस प्रकार है :

'रतनदा के भांणा-प्रतापे तेने छोडीये कम ?
मावाने मळवा माटे रे, जावुं वइकुंठनी वाटेरे।'

इसके आधार पर के० का० शास्त्री अनुमान करते हैं कि इसमें निर्दिष्ट 'भाणा' गुरु का नाम है। (कविचरित', भा० २० पृ० ६१५)

म. ई. प्र.

रतनदास 'रत्न'

रतनदास प्रणामी मतानुयायी थे। इनके जीवन विषयक कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। 'प्रेमरत्नावली' नाम से इनके पदों का एक संग्रह प्राप्त होता है। इसका एक पद द्रष्टव्य है :

मुरली मधुर बजाये, सजनी मुरली मधुर बजाये।
भनक पड़ी कानन में जब हो तनमन सुधि बिसराये॥
शेष महेश शारदा भूलहिं, ध्वनि में ध्यान लगाये।
देवलोक में देव निहारे, सुमन वृष्टि बरसाये॥
रतन प्राण बंसी बस में रहे सुनत सुनत सुख पाये॥

न० पं०

रतनबाई

रतनबाई जाति से खोजा थीं। खोजाओं के दो सम्प्रदाय हैं—आगाखानी (सतपंथी) और इसना अशरी। आगाखानी पंथ के धर्मग्रन्थ सिन्धी लिपि में हैं और भाषा गुजराती, कच्छी तथा सिन्धी का मिश्ररूप है। गुजरात में अहमदाबाद के पास पीराणा

का धर्म भी सतपंथ नाम से जाना जाता है। पीर इमामुद्दीन इमामशाह पीराणा पंथ के संस्थापक हैं, ऐसा माना जाता है। रतनबाई इसी पंथ के पीर कायमुद्दीन बाबा की शिष्या थीं। गुजरात के सूरत जिले के बोरा खोजा लोग हजरतशाह कायमुद्दीन बाबा के चिश्ती पंथ को मानते हैं। कायमुद्दीन बाबा की दरगाह मही नदी के तट पर एकलबारा गाँव में है और इनकी गद्दी पर बैठने वाले पीरज़ादों की वंश-परम्परा अभी तक कायम है।

रतनबाई कच्छ-अबडासा के भडली गाँव में रहती थीं। ये सं० १८३७ में विद्यमान थीं। इनकी मृत्यु सं० १९२० में हुई।

कहा जाता है कि रतनबाई कच्छ के सन्त भाकरशाह की भी शिष्या थीं। रतनबाई के पुत्र का युवावस्था में अवसान हुआ था। इस आपत्ति से इनका मन संसार से विरत हो गया था। ये निरक्षर थीं, किन्तु पीर साहिब के प्रताप से इन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई थी। ये सदैव भक्तिसाधना में लीन रहती थीं।

रतनबाई ने भक्तिभाव से पूर्ण कलाम (भजन) लिखे, जो कच्छ में आज भी गाये जाते हैं। इनके कृष्णविषयक अनेक पद लोक-प्रसिद्ध हैं। इनके भजनों में भक्ति और ज्ञान का समन्वय हुआ है। रतनबाई की भक्तिभावना मीराबाई जैसी है। इसके निदर्शन के लिए यहाँ इनकी दो रचनाएँ उद्धृत हैं :

(१)

माला जपुं छुं नाथ तमारी, आवोने मंदिर मारे रे।
दया करीने वहेला पधारो, आनँद उरमां भारे रे॥ टेक

रोज तमारी वाटडी जोती, वहेला आवो गिरधारी रे।
दरसन दोने मुजने वाला, जाउं तमो पर वारी रे॥

वाली झाडी घर कीधुं चोखुं, पाँच पचीसने काढी रे।
आवो मारा स्याम सलूणा, वाट जोउं छुं दहाडी रे॥

'नाथ, तुम्हारी माला जपती हूँ, मेरे मन मन्दिर में आइये। दया करके जल्द पधारिये, उर में भारी आनन्द है। प्रतिदिन तुम्हारी बाट देखती हूँ, गिरधारी! जल्द आइये। बालम, मुझे दर्शन दीजिए, तुम्हारे ऊपर मैं वार जाती हूँ। पाँच पच्चीस को निकालकर मैंने घर झाड़ कर साफ किया है। मेरे श्याम सलोने आइये, हर रोज बाट देखती हूँ।'

(२)

आवीने पकडयो छे हाथ रे,
कायमदीन पीर अमारा,
आवीने पकडयो छे हाथ रे॥ टेक॥

डूबी हती हुं तो घर धंधमां,
मुरशदे लीधी संगाथ रे। कायम०

धूणी धीखावी दीधी प्रेमअग्निथी,
लज्जा राखे दीनानाथ रे॥ कायम०

लोको तो मे 'णा' मुने मारे घणेरां,
लडवा आवे भरी बाथ रे॥ कायम०

मुरशद नामनी माला रे लीधी,
छोडुं कदी नहि साथ रे॥ कायम०

बाई रतन ने मुरशद मलिया,
ए ज अमारा नाथ रे,॥ कायम०

'हमारे पीर कायमुद्दीन ने आके हाथ पकड़ा है। मैं तो घरकाम में मग्न थी, मुरशिद (धर्मगुरु) ने साथ ले लिया। प्रेमाग्नि से मैंने धुनी धधकाई, दीनानाथ लज्जा रखते हैं। लोग तो मुझे बहुत ताने मारते हैं और बाथ भरके लड़ने आते हैं। मुरशिद के नाम की मैंने माला ली है, इनका कभी साथ न छोड़ूँ। बाई रतन को मुरशिद मिले हैं, वे ही हमारे नाथ हैं।'

सूफी संत की शिष्या होते हुए भी इन्होंने कृष्ण-भक्ति को अपने आध्यात्मिक जीवन का मुख्य संबल बनाया। ऐसे उदाहरण भक्ति साहित्य में दुर्लभ हैं।

म. ई. प्र.

रतनदास मगनीराम

रतनदास का जन्म वैष्णव साधु जाति में राजस्थान के सिरोही राज्य के बड़दरा नामक

गाँव में सं० १६४६ में हुआ था। ये उत्तम कवि थे। इनका रचा हुआ 'श्री जगदीशजी का छन्द' बहुत ही लोकप्रिय एवं प्रख्यात है। ये उच्च कोटि के भक्त होने के साथ ही काव्य शास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता थे। इनका देहावसान सं० १६७५ में हुआ।

इनकी रचना शैली के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं :

(१)

दोहा—मोहन मूरति माधुरी, सुखद सच्चिदानन्द।
हरन वृजिन हृद दासहित, पूरण परमानन्द॥

(२)

रेणुकी०— कमलापति करण सुमंगल कारज,
जय जय जय जगदीश जयो॥
गणणण करि गाज परशुधर गवनेउ,
भृगुपति दारुण क्रोध भरे।
छोड़िय द्विज सदन समाधिय साधन,
डहकि डहकि नृप कुटिल डरे॥

भेंटे रघुराम भगत मन भावन,
द्विजवर, प्रगट पिनाक दियो।
कमालापति करण सुमंगल कारज,
जय जय जय जगदीश जयो॥

प्रगट्यो अति तुष्ट पुष्ट बल पापत,
ततखन जलधर पास तप्यो।
पौढे जद ब्रह्म पयोनिधि पावन,
चोरि वेद जलमाँय छप्यो॥

कीनो हयवदन कमलसुत कारन,
हुंकार हयग्रीव हयो।
कमलापति करण सुमंगल कारज,
जय जय जय जगदीश जयो॥

वासव जब कोप कियो व्रज ऊपर,
घरर घरर घनपात घुर्‌यो।
प्रसर्‌यो चहुँ बोर प्रबलतम पावस,
प्रलय सबदपूर त्रास पर्‌यो॥

धारे जदुनाथ हाथ गोवरधन,
लालन लोग उबार लयो।
कमलापति करण सुमंगल कारज,
जय जय जय जगदीश जयो॥

दारुण गज ग्राह भिरे जल दुस्तर,
जुरत जंग केउ काल जट्यो।
खेंचत जल दुरद तनु वल
खररर ररर ररर गजराज रर्‌यो॥

धाये हरि चक्र सुदर्शन धारिय,
काटि तंत द्वे खण्ड कियो।
कमलापति करण सुमंगल कारज,
जय जय जय जगदीश जयो॥

जय जय जगदीश भगत भय
भंजन अमर वृन्द आनन्द अये।
मारे मधु कीट महाबलि मोहन,
लुष्ट पुष्ट सब दुष्ट लये॥
टार्‌यो महिभार दास दुःख टारन,
संत काज बहु रूप छयो।
कमलापति करण सुमंगल कारज,
जय जय जय जगदीश जयो॥

कवित्त—जैति जगदीश सब ईश दशशीश जू के,
तोरे बीस भुज अध बोरे क्षिति तारी है।
थंभ को विदारे महा दुष्ट को सँहारे ऐसे,
नन्द के दुलारे प्यारे भक्त भय हारी हैं॥

'रतन' भनंत त्रयताप को निवारे और,
द्वैत दुःख टारे ध्रुव साध को सिधारी हैं।
पावन पतित हूँ के संत हितकारी राम,
बार बार वारि कृष्ण वन्दना हमारी है॥

ल. पिं. ग.

रत्नेश्वर

प्रेमानन्द के शिष्य पुष्टिमार्गीय भक्त रत्नेश्वर का जन्म सं० १७३४ में बड़ौदा जिले के डभोई गाँव में श्रीमाली ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनके पिता

का नाम मेघ जी और माँ का नाम सूरज था। इनके दो पुत्र थे।

काशी तथा अन्य स्थानों में जाकर रत्नेश्वर ने व्याकरण, न्याय और साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया। अभ्यास पूर्ण करने के बाद इन्होंने कविता सर्जन और जीवन निर्वाह हेतु डभोई में पुराणों की कथा कहना आरंभ किया। द्वेष एवं ईर्ष्याभाव से स्थानीय पुराणी लोग इनका अपमान और तिरस्कार करने लगे। रत्नेश्वर कथा कीर्तन करने बैठते तो वे इन्हें बलपूर्वक उठा देते और परेशान करते थे। परन्तु डभोई के गुंसाई जी महाराज इनकी कथावृत्ति से अत्यधिक प्रसन्न थे और उन्होंने रत्नेश्वर को 'कलौ का व्यास' विरुद प्रदान किया। अंततः पुराणी लोगों से त्रस्त होकर रत्नेश्वर ने डभोई का त्याग किया और नर्मदा के तट पर कैणेट (कर्णपुरी) में निवास करके वहीं 'द्वादश स्कन्ध भागवत' की रचना की। डभोई त्याग के सम्बन्ध में ये स्वयं लिखते हैं :

वसतो वाडव दर्भावती।
तज्युं नगर को कारण गति।।
श्रीमाळी रत्नेश्वर नाम।
कर्णपुरी मां पाम्यो ठाम।।

प्रेमानन्द के सम्पर्क में आने पर रत्नेश्वर उनके शिष्य हो गये। प्रेमानन्द ने रत्नेश्वर रचित 'द्वादश-स्कन्ध-भागवत' की अत्यअधिक प्रशंसा की। रत्नेश्वर इसी भागवत ग्रन्थ को लेकर डभोई वापस आये और वहाँ उसकी कथा कहने लगे। इनकी भागवत कथा इतनी प्रशंसनीय हुई कि डभोई के एक सद्गृहस्थ ने प्रसन्न हो अपना घर इन्हें अर्पित कर दिया। आज भी वह घर 'रत्नेश्वर ना ओरडा' नाम से प्रसिद्ध है।

रत्नेश्वर सहनशील और धैर्यवान थे। आपत्ति की स्थिति में भी ये विचलित नहीं होते थे। ये परम वैष्णव और राधा-कृष्ण के भक्त थे। संस्कृत और पिंगलशास्त्र में प्रवीण होने के कारण महाकवि प्रेमानन्द ने इन्हें संस्कृत ग्रंथों का गुजराती में अनुवाद करने का कार्य सौंपा था, ऐसा कहा जाता है। इनमें संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद करके गुजराती भाषा को अलंकृत करने की पर्याप्त क्षमता थी।

रत्नेश्वर की काव्य रचनाओं में 'द्वादश स्कन्ध भागवत (गुजराती में अनुवाद), 'भगवद्गीता' (गुजराती में अनुवाद). 'ऋतुवर्णन, 'राधा विरहना महिना', 'कामविलास', 'स्वर्गारोहण', 'आत्मविचार-चन्द्रोदय', 'वैराग्यलता' 'शिशुपाल वध' (गुजराती में अनुवाद) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इनके पदों में कृष्ण भक्ति का उपदेश है। भक्ति ही मुक्ति का मार्ग है, ऐसा इनका मत है :

रत्न कहे यत्न थी भक्ति ने राखवे,
भाखवे भिन्न मुक्तितनी माणो।

भक्ति के साथ रत्नेश्वर ने अपनी रचनाओं के द्वारा काम और वैराग्य का भी बोध दिया है। इनकी रचना 'आत्मविचार-चन्द्रोदय' की प्रस्तावना में एक विलक्षण किंवदन्ती मिलती है। रत्नेश्वर का सबसे छोटा भानजा अपनी पत्नी के साथ रत्नेश्वर के ही घर में रहता था। वैराग्य के प्रभाव से वह अपनी पत्नी की ओर देखता भी नहीं था। रत्नेश्वर ने इस बात का ख्याल आने पर 'कामविलास' लिख कर अपने भानजे को दिया। इसके अध्ययन से भानजे में कामवृत्ति उत्पन्न हुई और परिणामस्वरूप उसके कई संतानें हुईं। तत्पश्चात् रत्नेश्वर ने उसे 'आत्मविचार-चन्द्रोदय' ग्रन्थ दिया। यह पढ़कर भानजे ने सन्यास ले लिया। इस ग्रन्थ के चौदह भागों में से दस भाग प्राप्त होते हैं। कहा जाता है कि अंतिम चार भागों का निरूपण इतना मार्मिक था कि उसका अभ्यासी या तो योगी हो जाता या घोर भोगी। अतः ये चारों भाग रत्नेश्वर ने नदी में बहा दिये थे।

रत्नेश्वर का देहावसान संवत् १७७५ में हुआ। इनकी मृत्यु के पश्चात् पुत्रों ने इनके ग्रन्थ बाँट लिये। इसमें 'द्वादश स्कन्ध-भागवत' के प्रथम तीन स्कन्ध पहले पुत्र के हिस्से में और शेष स्कन्ध दूसरे

पुत्र के हिस्से में आये। जनश्रुति है कि ईर्ष्यावश एक बृद्ध ब्राह्मण ने पहले पुत्र से कहा कि भागवत के इस ग्रन्थ की अंजलि देने से पिता के साथ वह भी स्वर्ग जायेगा। ब्राह्मण की बात मानकर उस पुत्र ने अपने पास का भागवतांश नदी में बहा दिया। इस प्रकार भागवत के ये छः स्कन्ध नष्ट हो गये। कहा जाता है कि कालिदास नामक साधु ने ये स्कन्ध पुनः लिखे हैं।

भक्ति-वैराग्य-प्रबोधक 'आत्म विचार-चन्द्रोदय' से दो अंश यहाँ उद्धृत किये जाते है :

निश दिन मन मध्ये राख जो राम नाम।
अभय पद विधाता छे सदा शाम धाम॥

यदुपति पद सेवी काटजो काम दाम।
प्रभु पद रति मूकी शा करो व्यर्थ काम॥

निज करम विषे छे लेख लखेल जेवो।
कनक गिरि गुहामां पामशो लाभ तेवो॥

मृग पशु वन जीवे आपणे कोण केवो।
अशन वसनन्नो आयुष्यथी लाभ लेवो॥

अजगर वनवासी ईश विश्वास राखे।
उदर भरण साथे तेह आयास राखे॥

त्यम मन वश राखो सर्व संकल्प नाखो।
अनुपस रस चाखो कृष्ण कृष्णेति भाखो॥

'अहर्निश मन में राम नाम रखिए। श्याम कृष्ण का धाम तो अभय-पद का विधाता है। यदुपति श्री कृष्ण की चरण सेवा करके काम और अर्थ काट दीजिए। प्रभु की चरणप्रीति छोड़ क्यों व्यर्थ काम करते हो? अपने कर्म में जैसा लेख लिखा है, वैसा ही लाभ कनक गिरि-गुहा में पाओगे। मृग-पशु भी बन में जीवंत रहते हैं तो हमें क्या चिन्ता? असन-वसन (अन्न वस्त्र) का आयुष्य से लाभ लेना। अजगर, वनवासी सभी ईश्वर पर विश्वास रखते हैं। उदर-भरण के साथ वह परमात्मा तो इनके लिए प्रयास करता है। उसी प्रकार मन को वश में रखिए और सभी संकल्प छोड़िए। अनुपम रस का आस्वाद कीजिए और 'कृष्ण-कृष्ण' इस प्रकार बोलिए।'

भज भज हरिनें अरे अभिमानी।
तज तज रे तरुणी विलास कामी॥

हरि रति थकी दुख दूर जाशे।
निज मन मध्य अपार मोद थाशे॥

जो तुं जनार्दन तणे चरणे ज लागे।
संसार दारुण दवानल दुख भांगे॥

जे हीन दीन जन शर्णं गये ज राखे।
त्रैलोक्यनाथ क्यम तो तुजने न सांखे॥

'अरे अभिमानी, हरि को भज। हे कामी, तरुणी-विलास छोड़ दे। परमात्म-प्रेम से दुख दूर होगा और अपने मन में अपार प्रमोद होगा। यदि तू जनार्दन श्री कृष्ण के चरणों में आसक्त होगा, तो संसार के दारुण दावानल सम दुख मिट जायेंगे। जो जो दीन-हीन जन उसके शरण में गये हैं, उन सभी को वह रखता है तो त्रैलोक्यनाथ तुझे क्यों नहीं सहन करेगा?

म. ई. प्र.

रत्नो भावसार

गुजराती साहित्य में मध्यकालीन कृष्ण भक्त कवि के रूप में स्थानप्राप्त रत्नो के जीवनवृत्त सम्बन्धी पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं होती है। ये खेड़ा के निवासी और भावसार जाति के थे एवं सन् १७३९ ई० में विद्यमान थे। इनकी रचनाओं के अन्तरंग परीक्षण से जीवन सम्बन्धी इतने ही तथ्य प्राप्त होते हैं।

इनकी दो रचनाऍं 'महिना' (उद्धव जी के बारह मास) और 'दाणलीला' गुजराती-भक्ति साहित्य में सुप्रसिद्ध हैं। राधा-गोपी-कृष्ण विषयक विरह शृङ्गार की अभिव्यक्ति हेतु अनेक मध्यकालीन कवियों ने बारहमासा काव्य लिखे। इनमें रत्नो द्वारा रचित 'बार-मास' काव्य उत्तमोत्तम माना गया है। इसमें प्रत्येक मास में कृष्ण बिरह से संतप्त

गोपी की दीन दशा का चित्रण भक्त कवि ने हृदय-स्पर्शिता एवं भावोद्रेकता के साथ किया है। रत्नो ने इसमें ऋतुगत विशिष्टता संपन्न प्रकृतिचित्रण के सहयोग से राधा-कृष्ण के मनोभावों का आकर्षक चित्रण करके मानो अपने ही राधा भाव या गोपी भाव को व्यक्त किया है। समग्र काव्य में विरहिणी राधा का हृदय पूर्णमात्रा में व्यंजित हुआ है। श्री कृष्ण के दर्शनार्थ व्याकुल भक्त हृदय की तड़पन की अनुभूति यहाँ होती है। एक उत्तम गीति काव्य के रूप में यह कृति प्रतिष्ठित हुई है। 'रत्नो सचमुच रत्न था' कवि नानालाल का यह प्रशस्ति-वचन यथार्थ है। रत्नो की वाणी गोपी भाव के अकृत्रिम सौंदर्य से दीप्तिमती है।

इनकी कृष्ण भक्ति के परिचायक दो पद प्रस्तुत हैं :

(१)

ओधवजी रे संदेसडो कहेजो मथुरा मोझार।
जे रे दहाडा गया नाथ जी, झूरे व्रजनी नार॥

• • •

फागण आव्यो हे सखी, केशु फुल्यां रसाल।
हृदे न फुली राधिका, भमर कनेयोलाल॥

सघलो शियालो बहि गयो, आव्यो फागण मास।
अंतरमां अति उपजे होलि रमवानी आश॥

बसंत वधाववाने हुं जती, कुमकुम भरीने कचोल।
केसरी सालु रे पहेरवां, मुख भरीने तंबोल॥

अबिल गुलाल उडे घणां, वागे ताल मृदंग।
कोकिल शब्द सोहामणा, कंपे अबलानुं अंग॥

तरुवर आंबो म्होरियो, फुल्यां केसुडां वन।
अमो अबलाने ए घ्टयुं, मरवुं मुंझाई मन।

बेरी विधाताए लख्यो, व्हालातणो रे विजोग।
रत्नाना स्वामी रे शामला, आवी करो रे संजोग॥

'हे सखी, फागुन मास आया, रस पूर्ण पलाश के फूल खिल उठे हैं। कन्हैया के समान भ्रमर भी आ गया है। परन्तु राधिका का हृदय प्रफुल्लित न हुआ। सारा जाड़ा बीत चुका, फागुन मास आया और अन्तःकरण में होली खेलने की आशा प्रबल रूप में उत्पन्न हुई है। पहले तो मैं कचोरे में कुंकुम भरके, केसरवर्णी साड़ी पहन के और मुख में तम्बोल रख वसन्त का स्वागत करने जाती थी। चारों ओर अबीर गुलाल अधिक उड़ते हैं, मृदंग के ताल बजते हैं, कोकिल के सुहावने शब्द सुनाई देते हैं और इस अबला का अंग काँप रहा है। श्रेष्ठ वृक्ष आम्र फूल उठा है, पलाश के वन खिल गये हैं। हम अबलाओं के लिए यह ऐसा हुआ कि मन में व्यथित हो अब तो मरना है। बैरी विधाता ने प्रियतम का वियोग लिख दिया है। हे रत्ना के श्यामल स्वामी। अब तो आके संयोग कीजिये।'

(२)

अशाड आव्यो हे सखी, केम करि काटूं दन।
नाथ नमेरा थइ रह्या, हृदे पडयां रे रतन॥

असाडो रे धन उलटयो, माग्या वरसे रे मेह।
वीजलडी चमकारा करे, व्हाले दीधो रे छेह॥

मोरना सोर सोहामणा, दादुर बोले रे जोर।
कोयलडी टौका करे, नाव्या नंद किशोर॥

रात अंधारी उड़े आगिया, देखी झबके रे मन।
दीवडो दीसे विहामणो, नाव्या जगना जीवन॥

लीलाचरणा अवनिए धर्या, तरुवर गेर गंभीर।
पंखीडे माला रे घालिया, ज्यां त्यां भरियां रे नीर।

जोगीडा पण पंथ परहरि, बेठा एक आसन।
रत्नाना स्वामी रे शामला, आवो जगना जीवन॥

'हे सखी ! आसाढ़ मास आ गया, अब कैसे दिन बिताऊँ ? नाथ निर्दय हो गये, हमारे हृदय में तो अब पत्थर पड़ गये हैं। आषाढ़ के बादल उमड़ पड़े हैं, मुँह माँगी वर्षा हो रही है। बिजली चमकती है, प्रियतम ने विश्वासघात किया है। मोर के स्वर सुहावने हैं। मेढक जोरों से बोलते हैं, कोकिला टहूकती है, फिर भी नन्दकिशोर न आये। अँधेरी रात में जुगनू उड़ते हैं, जिन्हें देख मन चमक उठता

है। दिया भी डरावना दिखता है, तो भी जग के जीवन न आये। अवनि ने हरियाली धारण कर ली है, बड़े-बड़े वृक्ष भी गंभीर हो गये हैं। पक्षियों ने घोंसले बना लिये हैं और जहाँ तहाँ पानी भर गया है। जोगी लोग भी रास्ता छोड़ (चलना बन्द करके) एकासन पर बैठ गये हैं। हे रत्ना के श्यामल स्वामी ! हे जगजीवन। अब तो आइये।'

म. ई. प्र.

रविदास

रविदास के जीवन विषयक कोई सूत्र उपलब्ध नहीं हैं, केवल कृतियों का पता चलता है। उनकी नामावली इस प्रकार है– चरखी, थाल, गुरु-महिमा, कृष्णनो थाल, कृष्ण-प्रेमना पद, ज्ञान भक्तिनां पद।

ल पिं. ग.

रवि साहेब

रवि साहेब का जन्म सन् १७२७ ई० में गुजरात के तणछा नामक गाँव में, वैश्य जाति में हुआ था। इनके गुरु का नाम भाण साहेब था। भाण साहेब के शीलमय और त्यागी जीवन का प्रभाव गुजरात के जन-जीवन पर इतना अधिक पड़ा कि शिष्यों के समूह के समूह इनके आस-पास उमड़ते रहते थे। ये अपने चालीस शिष्यों के साथ भ्रमण करते रहते थे। इनकी शिष्य मण्डली 'भाण-फौज' कहलाती थी। गुजरात के संत-साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् श्री मकरन्द भाई दवे ने इस सम्बन्ध में लिखा है, 'भाण साहेव का नाम घर-घर पहुंचाने में इनके शिष्य रवि साहेब का बहुत बड़ा योगदान था। रवि साहेब (सन् १७२७ से १८०४ ई० तक) ने 'सतगुरु मिल्या भाण' नामक रचना से लेकर 'भाण सतगुरु भेद बताया' तक अनेक रचनाएँ तथा गुरु-महिमा की विपुल साखियाँ लिखीं। साथ ही अपने भजनों में गुरु के नाम का उल्लेख कर इन्होंने उनकी कीर्ति का डंका बजाया। भारत ही क्या, विश्वभर के मर्मी सन्तों के समुदाय में यदि किसी गुजराती सन्त की गणना करनी हो तो रवि साहेब का नाम तुरन्त होठों पर आ जाता है।' रवि साहेब सन् १८०४ में समाधिस्थ हुए।

इनकी रचना शैली के कुछ नमूने प्रस्तुत हैं :

(१)

श्रीकृष्णा करतारे कारण महा कारणं तणा।
गोकुल मां आवो रे राधा ने रस पाया घणा॥

देवकीना सुत कहेवाणा, वेदे नेती नेती भण्या।
गोप गोपी ने बहु सुख आप्या नॅद घर आवो भण्या॥

घेरे घेर गोरसरे पीता नव राखो मणा॥
बालपणमां चोरी बहु कीधो, कसना दूत हण्या।
बकीए चुसी पार पार पमाडी, एवा नारायण वण्या॥
शेष नाग समरे रे जेने सहस्त्र फणा॥

गोवर्धन तोल्यो ब्रजजननें, नहीं कोई प्रभु समान॥
अज इन्द्र नमोआ रे निरखी ने बहु जणा॥

काली नाग नाथ्यों, कंस पछाडयो, कुब्जानी पाली प्रीत।
अक्रूर उद्धव विदुर-वधू राखो प्रीतनी रीत॥

पाण्डव पाल्या रे जाणी ने पोता तणा।
रविदास कहे चरित्र हरि तणा, गणता न जाये गण्या।

(२)

वसन्त विछुवारल रमवा
आवया विन्दराबन मोझार।
राधा जी सउ सखी
मेलीने धर्यो जुगदाधार॥

इत ही राधा उत श्रीकृष्ण
मोरारी, जुज मल्या सहु सामा।
सुन्दरी दोडी पकड़या पुरुषत्तम
मुरली लीधी भामा॥

पीताम्बर वलो मुगट मुस्तकथी
खुची नाठी रे आडी।
अबीर गुलाल उड़ावत अबला,
दाण लेता हुता दाडी॥

बलदेव जी बहु बल करीने,
सखा संगाथे रे आख्या।
राधाने लई केडचढावी,
कृष्ण ने करथी छोडाव्या॥

अंग सबे गलाल, गलाल
लपेटयुं गोपी होर मनावी ।
रविदासचा स्वामिने राधा
नामिने ब्रज सुन्दरी मा आवी ॥

(३)

मोहन पासे लई आव्या,
राधा मन लजाणी ।
हँसी कहे छे छल भेद रमो छो,
सदाय सारंगपाणी ॥

कुण करीने छली वृन्दा ने कुडे
मासी मारी ।
कुड करीने अमने लाव्या,
मद भरी या रे मुरारी ॥

सान करी प्रभु गोवालो ने,
झाली गुलालनो झारी ।
तेल फुलेल अवील छरोकियुं
हो हो करे किलकारी ॥

ओचीता राधा ने बधागोपीमां मेलावी ।
वली गोविन्द सोल सहस्त्र
मली लीधा कांध चडावी ॥

आँख आँजी सेथों पुर्यो
साडी पहेरावी सारी ।
तारणीओ सहु ताली
पाडे सबल शोभ्या मुरारी ॥

हरी हार्या ने फगवा
भक्ति आपी अटल अधापी ।
रविदास जितावी सुन्दरी,
प्रेमे प्रेमदा फावी ॥

(४)

मोहन संगे होरी खेले हां अहो
मेरे प्यारे खेलतां हो य रस रूप ॥

काहूको घुंघट लै खोले काहूको फारत चीर ।
काहूकी दुलरी लै तोरै, काहू हुं छाटत नीर ॥

काहूकी गोरस लै डौले, काहू को देत लुटाय ।
नेक लाज आवत नहिं आपु, केतिक कहूँ मै बनाय ॥

काहू से मुखै हंसकर बोलै, काहू से फेरत पीठ ।
काहू की अंगिया लै छोरै, ऐसा मैं मोहन दीठ ॥

काहू से मुखै कबहुं न बोलै, काहू के घर जाय ।
काहू को अरप्यो नहिं लैवै, काहू की जूठन खाय ॥

काहू के आंगन जाइ डोलै, काहू कू दुर्लभ ध्यान ।
काहू के सुपने नहि आवै, काहू कूँ देत प्रान ॥

कबहुंक चार बेद मुख गावैं, कबहुँक माटी खाय ।
कबहुँ गिरि गोवर्धन धारै, कबहुँक चलन सिखाय ॥

कबहुँ कंस राय कूँ मारै, छाया देखि डराय ॥
राहु करत उर घर में पैठत, माता जी वीरणे जाय ॥

कबहूँ ताता दुध न पीवै, बोल् तोतरा बैन ।
कबहुँ दावानल लै पीवै, करत अनन्त ही चैन ॥
कबहुँ बन में धेनु चरावै, घट घट रह्यो है समाय ॥
नीछू देख अतो भे कंपे, छाया देख डरपात ।
काली नाग नाथ घर लाये, मथै हे सायर सात ॥

तीन भुवन तीन पग कीना, ऐसा ठगवा कहान ।
देहरी चढ़ि सकै न साँवरो, देत अभे पद दान ॥

रविदास कहा शोभा बरनूं, अकल कह्यो नहिं जाय ।
तीन लोक का उदर भरत हैं, रोई रोई माखन खाय ।

ल. पिं ग.

राजकवि पिंगलशी पाता भाई नरेला

श्री पिंगलशी भाई नरेला बीसवीं सदी के प्राचीन परिपाटी के चारण कवियों में अन्तिम महाकवि थे। इनके पिता पाता भाई नरेला बहुश्रुत विद्वान् तथा कवि थे। फार्ब्स साहब को 'रासमाला' लिखवाने में इन्होंने बहुमूल्य योगदान दिया था।

इन्होंने अपने पिता को ही गुरु बनाकर काव्य-शास्त्र का अभ्यास किया था। १९४८ की मार्गशीर्ष सुदी ४, बुधवार को भावनगर के राजा ने इनको 'राजकवि' के के पद पर नियुक्त किया। इसी वर्ष ये दिवंगत हो गये।

पिंगलशी भाई के काव्य के प्रधान विषय ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति निरूपण रहे हैं। इनके काव्य ग्रन्थ हैं–भाव भूषण, कृष्णकुमार काव्य, पिंगल काव्य (भाग १ व २), चित्त चेतावणी, सुबोध माला, कृष्ण बाललीलानापद, सत्यनारायण कथा, पिंगल बीर पूजा तथा सुजाता चरित्र सतीमणी।

इनके अतिरिक्त इनकी बहुत-सी फुटकर रचनाएँ भी मिलती हैं। इन्होंने राधाकृष्ण की वारहमासी की रचना आधुनिक छन्दों में की है। इनकी शब्द-कला में चमत्कार है तथा रचनाएँ अनुप्रास-प्रधान हैं। इनकी भाषा में डिंगली का ग्राम्यत्व स्वाभाविक रीति से उभरा है। इसमें हिन्दी तथा व्रज भाषा की छटा भी देखने को मिलती है।

दोहा– याद करे सहु आपने खूब करी ल्यो ख्याल।
अहींआ वेला आवजो गिरिधारी गोपाल॥

छन्द त्रिभंगी–कहुँ मासं काती सिय मदमाती,
दीप लगाती रंग राती।
मन्दिर मेलाती, सवै सुहाती,
मैं डर खाती झझकाती॥

बिरहे जल जाती नींद न आती,
लखी न पाती मोरारी।
कहे राधे प्यारी, हुँ बलिहारी,
गोकुल आवो गिरिधारी
जी गोकुल आवो गिरिधारी॥
मागशर शुभ मासं, धर्म प्रकासं,
हिये हुलासं, जनवासं।
सुन्दर सहवासं, स्वामी पासं,
विविध विलासं रनवासं॥

अन नहिं अपवासं, व्रति अकासं,
नहिं विसवासं मोरारी।
कह राधे प्यारी मैं बलिहारी,
गोकुल आवो गिरिधारी॥

इन्होंने कृष्ण-भक्ति के पद-कीर्तन तथा गरबियों की भी रचना की है। उनमें से यहाँ कुछ प्रस्तुत हैं :

मनोहर मूरति मंगलकारी, नैनां से आज निहारी॥
आप चले घर झटपट आवत, सांझ समै धेनुचारी।
संग सखा सोहत अति सुन्दर, काँधे पै कामर कारी॥

गहू कूँ बुलावत कछु मुख गावत, रोकत हाथ पसारी।
गली गली ठाडी रे देखत गोपी, गोकुल मे गिरधारी॥

एक कहत लगो देर क्यूँ इतनी, बछियाँ भूखी बनवारी
एक कहत तुम हो अति आलसु मन्द हँसत हे मुरारी॥

मन्दिर राह निहारत भैया, आरती देखत ऊतारी।
नन्द महर मुख घड़ी घड़ी निरखत, पिंगल छवि प्यारी॥

कीर्तन

गोकुलीयुँ नानुं गामडीयं शा माटे नावो श्याम।
शा माटे नावो श्याम––शा माटे नावो श्याम॥

मथुरानी अन्दर मणिमय मन्दिर,
आ धूल थो बनेलाँ प्रभु शेसेगमेधाम
प्रथम बिसारी धेंनु बहु प्यारी,
हवे तो भूल्या छे बाबा नंद जीनूं गाय
कुब्जा ए नारी बहु कामणगारी,
तेमां लोभाणा प्रभु भूली गयाभान
कहे कवि पिंगल मुरती छे मंगल,
मारा हिरदे बसो तो मारे एंछु बीजु काम

माठ

प्रभु आव्या जमुना ना तीरे धीरे धीरे,
श्याम शरीरे करवाने उज्जलकाम।
चढ़ी कदम्ब पर कालंधरी माँ कूदी पड्यो करतार।
ते समे नीर लाग्युं उठलवा आठें दीस अन्धकार॥
बालाजी ने अंगे वीटाणो जुवे जसोदा मात।
शामलिया ने कोई छोड़ावा आ शुं थयो उतपात॥
हरि कोई थी न हारे, जे चित धारे पार उतारे
एम बोल्या बलराम॥

पदप्रहारथी फणिधर अंगे लाग्युं नीकलवा लोय।
ते टाणे नागण दौडीने आली रंक थई ने रोय॥
प्रभु कंथ अमारो आप उगारो दास तमारो,
धणी दयाना श्याम॥
ल. पिं. ग.

राजाराम

राजाराम के जीवनवृत्त सम्बन्धी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। इच्छाराम सूर्यराम देसाई सम्पादित 'बृहत् काव्य-दोहन' के ग्रंथ-८ में इनके कृष्णराधा-विषयक चार पद प्रकाशित हुए हैं।

ये राधाकृष्ण की प्रेमलक्षणा भक्ति के उपासक हैं। इनके पदों में प्रेम एवं भक्ति की महत्ता निरूपित है। 'विट्ठल तारी वांसलडीए' नामक पद में गोपी का आत्मनिवेदन हृदयस्पर्शी है। इनकी माधुर्यसाधना का परिचायक एक पद यहाँ दिया जाता है :

विट्ठल तारी वांसलडीए मन वींध्यां रे। केम रहीये०
मारां अंगो अंगथी कालज सर्वे खेद्यां रे॥ केम रहीये०
सासु नणदलनो तो उर अति भारी रे। केम रहीये०
पेलो परण्यो पुंठ करे छे घणी त्यां मारी रे॥ केम रहीये०
माननी ब्रह जाणो छो वनमाली रे। केम रहीये०
हावे भवसागर बुडतां साहे करो अमारी रे॥ केम रहीये०
तन मन मारुं सौंप्युं छे में तमने रे। केम रहीये०
पेला जेठ दीएरनी लाज नहीं राखुं मनमे रे॥ केम रहीये०
चित्तडुं बांध्युं चरण कमलनी आशे रे। केम रहीये०
स्वामी राजारामना प्रीते तेडो पासे रे॥ केम रहीये०

'विट्ठल, तेरी बाँसुरी ने मन बींध दिया है, अब कैसे रहें ? मेरे अंग-अंग से सारा कलेजा खिन्न हुआ है, कैसे रहें ? सास और ननद का तो अतिभारी डर है, कैसे रहें ? वह ब्याहा (पति) मेरा बहुत पीछा करता है, कैसे रहें ? हे वनमाली ! मनका विरह आप जानते हैं, कैसे रहें ? अब भवसागर में डूबते हमारी सहायता करें, कैसे रहें ? अपना तन-मन मैंने आपको सौंपा है, कैसे रहें ? जेठ-देवर की मैं मन में लज्जा नहीं रखती, कैसे रहें ? चरण-कमल की आस में चित्त बाँधा है, कैसे रहें ? हे राजाराम के स्वामी ! प्रीति से पास बुलाइए, कैसे रहें ?'

म.ई.प्र.

राजे

उत्तर भक्ति युग के आरम्भ में जो थोड़े से कवि विशिष्ट प्रतिभा के कारण अपनी अलग पहचान बना सके हैं, उनमें मुसलमान कृष्ण भक्ति कवि राजे प्रमुख हैं। इनके पिता का नाम रणछोड़ था। ये भड़ौच के तालुका आमोद के केरवाडा गाँव के सतपंथी अथवा भोलेसलाम मुसलमान थे। भोलेसलाम मुसलमान मूलतः हिन्दू थे। पूर्वमध्यकालीन मुस्लिम शासकों के दबाव से गुजरात के बहुत से राजपूत धर्मान्तरित हुए थे। ये भोलेसलाम कहलाते थे। मुसलमान हो जाने के बाद भी इनके आचार-विचार तथा रीति-रिवाज हिन्दुओं जैसे ही रह गये। राजे ने अपने जीवन के विषय में कुछ नहीं लिखा है, फिर भी बाह्यसाक्ष्यों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि ये सन् १६५० से १७३० के बीच विद्यमान थे।

'राजे भगत' का एक मात्र परिचय उनका साहित्य है। उसके अध्ययन से कभी यह संदेह मन में उत्पन्न नहीं हो सकता कि यह कृष्ण भक्त मुसलमान हैं। यदि इनके केरवाड़ के भोलेस्सलाम मुस्लिम होने का तथ्य प्रमाणित न होता तो राजे अवश्य मधुरा भक्ति के हिन्दू उपासक समझ लिए जाते। इसका कारण है राजे का हिन्दू देवी-देवताओं एवं रीति-रिवाजों से सम्यक् रूपेण परिचित होना। हिन्दी में इनकी लिखी रचनाओं को पढ़कर जायसी जैसे सूफी संतों का स्मरण हो आता है। ये कहीं भी देवताओं के नाम और कार्य में तालमेल बिठाने से चूकते नहीं। 'राधिका-विवाह' में कवि कल्पना करता है कि राधिका ने स्वप्न में कृष्ण से विवाह कर लिया, प्रातःकाल उठीं, तब उनके कंठ में बरमाल या जयमाल थी, हाथ में चूड़ा। माता ने पूछा-'तुमने कब किससे विवाह किया ? किसने मंत्र पढ़े ? किसने कन्या-दान किया ? किसने मुँह मीठा करवाया ?' उत्तर में राधिका कहती हैं-'बारात में तैंतीस कोटि देवता आये, ब्रह्मा ने वेदमंत्र पढ़े, शिव ने कन्यादान दिया और उमा ने हमारा मुँह मीठा करवाया।' बर-कन्या का मुँह मीठा करवाने का नेग गुजरात में प्रचलित है। इतना ही नहीं राधिका अपने सास-ससुर के नाम देवकी और वसुदेव बतातीं हैं। इससे स्पष्ट है कि

कवि हिन्दू रीति-रिवाजों एवं धार्मिक साहित्य से भलीभाँति परिचित था। यह तभी सम्भव है, जब रचनाकार का उस समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हो। राजे की कृतियों का संकलन करने वालों ने उनका नाम अत्यन्त प्रेम एवं आदर से लिया है, इससे स्पष्ट है कि ये हिन्दुओं में सम्मानित थे। इनके नाम के साथ लगने वाला 'भगत' शब्द भी इनके द्वारा कृष्ण भक्त के रूप में अर्जित प्रतिष्ठा का बोधक है।

हिन्दुओं के साथ इनके मेलजोल और मुस्लिम होते हुए भी कृष्ण की भक्ति में सराबोर रहने की इनकी मनोवृत्ति ने इनके आसपास के लोगों में आश्चर्य और द्वेष दोनों ही उत्पन्न किये होंगे। इस विचार की पुष्टि इनके विषय में इनके जन्म स्थान में प्रचलित एक कथा से हो जाती है। कथा इस प्रकार है–'कृष्ण के प्रेम में राजे भगत ऐसे रँगे थे कि इन की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई थी। कृष्ण इनके प्रेम के वशीभूत हैं और अपने भक्त पर उनकी पूर्ण कृपा है, ऐसा लोक में विश्वास था। इस विश्वास को कसौटी पर चढ़ाने का अवसर भी आ गया। भरुच के मुस्लिम हाकिम ने इनकी परीक्षा लेने के लिए इन्हें अपने दरबार में बुलाया। यद्यपि निमंत्रण दिया गया था कीर्तन के लिए, पर उद्देश्य था अपमान करना। कीर्तन के अन्त में प्रसाद के रूप में सबको मिश्री बाँटी जाती थी। जिस मटकी में मिश्री रखी जानी थी उसमें हाकिम ने मांस के टुकड़े रखवा दिये। राजे भगत इस षडयंत्र से सर्वथा अनभिज्ञ थे, वे तो तल्लीन होकर कृष्ण का प्रेम संकीर्तन करते रहे। कीर्तन की समाप्ति पर प्रसाद की मटकी खोली गई तो हाकिम आश्चर्य से अवाक् होकर देखता रह गया, मटकी में से मिश्री के टुकड़े निकले।' किसी भी वैष्णव की इससे बड़ी सिद्धि क्या होगी कि स्वयम् आराध्य उसकी मान-रक्षा करें। राजे भगत इस लोकप्रचलित कथा के अनुसार उच्च कोटि के कृष्ण भक्त प्रमाणित होते हैं।

राजे के कृष्ण प्रेम के लक्षण उनके बाल्यकाल से ही प्रकट होने लगे थे। किसी साधना अथवा सम्प्रदाय की दीक्षा के अनन्तर इन्हें यह सिद्धि नहीं मिली थी, वरन् ये जन्म से ही कृष्ण के विशेष कृपापात्र थे। इसका संकेत इनके बाल्यकाल से सम्बन्धित एक अन्य घटना से मिलती है। इस प्रकार की चमत्कारिक कथाएँ जनमानस उस व्यक्तित्व के साथ जोड़ लेता है जिसकी आध्यात्मिक शक्ति और मानवीय सद्गुणों के प्रति उसकी विशेष श्रद्धा होती है। भरूच के आसपास के इलाकों में उन दिनों ज्वार बोया जाता था। पिता ने राजे को ऐसे एक ज्वार के खेत में रखवाली के लिए भेजा। राजे ठहरे भक्त आदमी, पक्षियों को उड़ाने के स्थान पर इन्होंने बेरोकटोक दाना चुगने दिया। इतना ही नहीं ज्वार खाने पर पक्षियों को प्यास लगेगी इस विचार से खेत के किनारे एक गढ्ढे में पानी भरकर रखने लगे। कटाई के समय पिता ने देखा ज्वार की बालों में अधिकांश दाने पक्षियों द्वारा खाए जा चुके हैं। क्रोध में उन्होंने बालक राजे को तीन तमाचे मार दिए। परन्तु आश्चर्य ! बचे खुचे दाने निकाल कर जब तौले गए तो पूरे तीन कलशी (उस समय का एक विशिष्ट माप) दाने निकले। इतना ज्वार उस खेत में कभी प्राप्त नहीं हुआ था। राजे के पिता को बहुत खेद हुआ, पर राजे ने हँस कर कहा-'यदि आपने मुझे एक-दो तमाचे और मारे होते तो उतना अनाज और प्राप्त होता।'

ऐसे जन्मजात कृष्णप्रेमी तथा जनप्रिय राजे की मधुर वाणी के धागों में पिरोए हुए शब्दों के मोती आज भी उतने ही आभामय और मूल्यवान् हैं जितने अब से तीन सौ वर्ष पूर्व थे। राजे की कविता में कृष्ण का वर्णन उनकी समकालीन पुरुष-सौंदर्य-कल्पना का प्रतिनिधित्व करता है। भरी-भरी मूछों वाले, सुदृढ़ काया वाले हैं राजे के कृष्ण। अनेक कृष्णकाव्य के रचयिताओं ने शृंगार-नायक कृष्ण को जैसा स्त्रैण और कामी चित्रित किया है, ऐसी एक भी झलक राजे के कृष्ण काव्य में देखने को नहीं मिलती। परकीया भाव का निवारण भी राजे की गोपी यह कह कर देती है कि

बाल्यकाल में विवाह से पूर्व ही मैं तो कृष्ण के प्रेम में आबद्ध थी।

अपने दीर्घ जीवन काल में राजे ने विपुल साहित्य की रचना की। इन्होंने अगणित साखियों और सवैयों के अतिरिक्त लगभग अठारह वृहत् काव्य ग्रंथ लिखे, जिनमें कुछ ज्ञान और वैराग्य सम्बन्धी हैं, परन्तु अधिकांश में राधा एवं गोपियों के कृष्ण-प्रेम तथा प्रेम-लक्षणा-भक्ति का निरूपण है। इन काव्यों का विषय इनके नामों से स्पष्ट हो जाता है :

कृष्ण नो रास (अठारह कडवा छंदों में) गोकुल लीला, चुसरासुहणी, वैराग्य बोध (ज्ञानबोध), द्वादशमहिना, प्रकाशगीता, (अप्रसिद्ध) बारमासी (हिन्दी), मानसमो (दो प्रकार का), राधिका विवाह, रुक्मिणी हरण (अप्रसिद्ध), व्रेहेगीता (अप्रसिद्ध) शृंगार ना पद (दूती संदेश) और सत शिखामण (अप्रसिद्ध) आदि। इनमें से तीन रचनाओं को छोड़कर अन्य सभी श्रीकृष्ण से सम्बन्धित हैं।

राधा कृष्ण विषयक अगणित उत्कृष्ट पदों की रचना करके राजे ने नरसिंह और दयाराम की समकक्षता प्राप्त की है। गुजराती साहित्य के आलोचकों ने भी भक्त कवि राजे की गोपी भावपूर्ण भक्ति की प्रशस्ति करते हुए कहा है कि राधा और गोपियों की प्रेमलक्षणाभक्ति का जो निरूपण राजे के पदों में हुआ है वह कभी कभी नरसिंह और दयाराम का स्मरण कराता है। इतना ही नहीं राजे का प्रभाव वंशी बोल के कवि दयाराम पर भी परिलक्षित होता है।

श्याम कृष्ण के स्नेह में देह झूम उठे ऐसी प्रेम भक्ति का अनूठा महिमा गान राजे ने किया है :

जाहां लगी जीव जगत से राचे।
री ताहा लगी मत हे सब काचे।
ये दास राजे प्रभु केसे मीले,
जब सांचके नेह में देह न नाचे॥

'विजोगी सवैया' में भक्त राजे गोपी के बहाने मानो अपनी कृष्ण विरह उद्विग्नता प्रकट करते हैं :

जैसे जलबीन मीन तड़फे री,
तेसी ए गत भई हे हमारी।
ये दास राजे प्रभु सो ही पिछाने,
ए जाके कलेजे लगी हुवी कारी।

राजे द्वारा रचित माधुर्य भक्ति के पदों में गोपी-हृदय के विविध भावों की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। मोहन के मुख का दर्शन करके गोपी आनन्द से नाच उठती है। वियोग की दशा में उसका दर्द मिटाने के लिए कोई औषध काम नहीं आती, क्योंकि उसे तो कृष्ण स्वरूप 'श्याम भुजंग' ने डस लिया है :

पोषे (मास) तो पखश पड़ी, ब्रेहे व्याप्यो अति अंग।
ओषद गुण लाग्यो नहिं, डसियो श्याम-भुजंग॥

नरसिंह तथा मीरां के 'थाल' पदों के समान राजे ने भी सुन्दर पद लिखे हैं।

विधर्मी होते हुए भी राजे के हृदय से निःसृत कृष्ण प्रेम के पदों में एक सच्चे भक्त की आत्मा अभिव्यक्त हुई है। सहज और निर्मल कृष्ण प्रीति इनके व्यक्तित्व का प्रमुख अंग है।

राजे के गोपी भाव के परिचायक दो पद यहाँ उद्धृत हैं :

(१)

मारा मनगमता महाराज, मारे घेरे आवोने।
हुँ तो तलफुं तमारे काज, हँसीने बोलावोने॥

बिलंब न करीए विठुला रे, आवो ने अम घेर आज।
परे परेनां पकवान बनावुं, त्रिकम तमारे काज॥

मनमां हतुं ते मावजी रे, मुखड़े केम कहेवाय।
आवी शको तो आवजो, मारा जोतां जोबन जाय॥

आ जोने आंगणिये उभो, रंगीलो रणछोड़।
राजेना स्वामी प्रभू अंतरजामी, फुरो मारा मनना कोड॥

'मेरे मन-चाहे महाराज। मेरे घर आइये। मैं तो तुम्हारे लिए तलफती हूँ, मुझे हँसके बुलाइये। विलम्ब न कीजिए, आज तो हमारे घर आइये। हे त्रिकम, तुम्हारे लिए मैं तरह-तरह के पकवान-बनाऊँ। हे प्रिय ! जो मन में है वह मुँह से कैसे कहा जाय ? आ सकें तो जरूर आना, मेरा यौवन तो देखते-देखते चला जा रहा है। यह देखो, रंगीला रणछोड़ तो आँगन में आके खड़ा है। हे राजे के स्वामी। अन्तर्यामी प्रभु ! मेरे मन की अभिलाषा पूर्ण कीजिए।'

(२)

कागल मोकलुं रे, बहाला बाँचो हेत करी।
एकबार आवजो रे, नीरखुं मुखड़ाँ मूछ भरी॥

बीनती ब्रेहे तणी रे, लखतां लोचन चाले नीर।
अबला अवतर्यां रे, वाला कहो केम धरीए धीर॥

बाले वेशमां रे, लागी परण्या पहेली प्रीत।
बर बिट्ठल बर्यां रे अवर बरवानो शी रीत॥

त्रिकम तम बिना रे, सुकां सहु वाडीनां वंन।
लीलां केम रहे रे, बहाला पल्लव छो आ वंन॥

सहु अलखामणुं रे मुजने, कुटुंबतणो परिवार।
वहालां वीखे भर्यां रे, वेरी बाले सहु संसार॥

अन्न पाणी तज्यां रे, हवे पडशे पापी प्राण।
सुनुं तम बिना रे, वहाला लागे छे ब्रह्मांड॥

जाहाँ हरी रंगे रम्या रे, ते मने जागी खावा धाय।
वे सुख साँभरे रे, तम तम हइडे होळी थाय॥

रहेवातुं नथी रे बहाला, कहुँ छुं मूकी लाज।
मळजो दया करी रे, रसिया राजेनां महाराज॥

'पत्र भेजती हूँ, हे प्रियतम ! प्रेम से पढ़िए। एक बार आइये, जिससे मैं आपके मुख को पूरा-पूरा देखूँ। विरहिनी की यह बिनती है, लिखते हुए नयनों से नीर बहता है। हमारा तो अबला का शरीर है, प्रियतम कहिये, कैसे धैर्य धारण करें ? व्याह के पूर्व बचपन में ही प्रीतिलग गई, विट्ठल वर का वरण किया, अब दूसरे व्याह की क्या आवश्यकता ? त्रिकम ! तुम्हारे बिना बाडी के सब बन सूखे हैं, हरियाले कैसे रहें, क्योंकि इस वन के तो तुम पल्लव हो। मुझे कुटुम्ब-परिवार सब कोई अप्रिय है। सगे सम्बन्धी तो जहर से भरे हैं। ये सब बैरी संसार को जलाते हैं। अन्न-पानी छोड़ दिया है, अब तो ये पापी प्राण छूट जायेंगे। हे प्रिय, तुम्हारे बिना यह ब्रह्माण्ड सूना लगता है। जहाँ हरि रंग से खेले हैं, वह स्थान तो मुझे खाने दौड़ता है। ज्यों-ज्यों इस सुख का स्मरण होता है, त्यों-त्यों हृदय में होली जलती है (आग लगती है)। अब तो रहा नहीं जाता, प्रियतम ! लज्जा छोड़ यह कहती हूँ। राजे के रसीले महाराज, दया करके मिलिये।'

विरहिणी की मनोदशा का यथार्थ चित्रण राजे जैसे तद्भावभावित भक्त ही कर सकते हैं :

हरि ! मैं हावे क्यम रे हेवाये ?
टुंपण आ ते क्यम सेहेवाये ?

ये तो अंघ थईने ताणे,
प्रेमनी वातो पशुं शुं जाणे ?

आवी अमथां खुंडी मारे,
साचो शब्द कोई न धारे।

मोहन ! बात तुं सांभल मारी,
हुं तो बैठी सहुथी हारी।

दुरिजन दे छे मुने मेहेणां मारां
तम शुं लागां नेणां।

वाहाला ! वेरी वांकुं बोले,
ते तो पडशे तेने खोले।

हावे जे बोले ते सहिये,
मननीं बातो कोने कहिये ?

सउको बोले छे आडुं,
वाके हुं कोनो कहाडुं ?

ऐतो शिखामण छे जाणो
मन मां दूभण कांई न आणो।

रसिया राजेना वाला ।
भवतारण छो नंदलाला ।।
(बृहत् काव्यदोहन, ग्रंथ १, पृष्ठ ८२२)

इनका नीचे का पद तो समग्र गुजरात में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें संयोग श्रृंगार का आकर्षक चित्र अंकित है :

आजनी घड़ी रे रलियामणी ।
हां रे मारा वाहालाजी आव्यानी
वधामणी जी रे । आजनी०

हां रे सोहासण ! पूरोनी साथिया,
हां रे घेर मलपता आवे ते
हरि हाथिया जी रे ।। आजनी०

हां रे सखो ! आलेरा वास अपाविये,
हां रे मारा वाहालाजो ने
मंडप रचाविये जी रे । आजनी०

हां रे सोहासण चार तेडाविये,
हां रे मारा वाहालाजी ने
मोतीडे वधाविये जी रें ।। आजनी०

हां रे सोहासण मलशे जे घड़ी,
हां रे मारा प्रभु जी पधारे ते
घड़ी जो रे । आजनी०

हां मलया राजेना स्वामी फांकडा,
हां रे हुं तो मोही रही मूछना
आंकडा जी रे ।। आजनी०
(बृहत् काव्य दोहन, ग्रन्थ १, पृष्ठ ८२५)

नीचे की एक गरबी लाक्षणिक है। इसमें श्री-कृष्ण को मोर के रूप में कल्पित करके गोपी अपने को मोरनी के रूप में प्रस्तुत करती हैं :

मोहन जी ! तमो मोरला हुं वारी रे ।
कांई अमो ढलकती ढेल आश तमारी रे ।।

ज्यां हां ज्यां हां टहुका तमौ करो हुं वारी रे ।
त्यां अमौ मांडिढे कान, आश तमारी रे ।।

मोरपीछ अमो मावजी हुँ वारी रे ।
वाहाला ! वन वन वेयां कांथ, आश तमारी रे ।।

पूठे पलायां आविये, हुं वारी रे ।
तमो नाठा न फरो, नाथ ! आश तमारी रे ।।

मोरलीए मनडां हर्यां हुँ वारी रे ।
बिसार्यों घर-वेहेवार, आश तमारी रे ।।

संग सदा लगी राखजो, हुं वारी रे ।
राजेना रसिया नाथ ! आश तमारी रे ।।
(बृहत् काव्यदोहन. ग्रंथ ७, पृष्ठ ७७७)

राजे द्वारा रचित गोपी प्रेम के ऐसे अनेक पद देखने को मिलते हैं। भगवद्भक्ति के संदर्भ में जाति, सम्प्रदाय या धर्म का कोई भेद नहीं है, ऐसे भक्तों की रचनाओं के द्वारा यह स्पष्ट प्रमाणित होता है। हिन्दी में रसखान और रहीम इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

कवि राजे की हिन्दी रचनाएँ उनके गुजराती पदों की भाँति ही कृष्णभक्ति से परिप्लुत एवं मधुर हैं :

गगन गरजे मेहवा, बोले पपीहा मोर रें ।
विरहिनी दुख भोगती, आया न कंथ कठोर रे ।।

मोर झूमे घटा काली, चमके चंचल दामिनी ।
राजे सैयां विनु क्यूं रहें, भर जोवन में भामनी ।।

राजे गोपी कारने, गोविंद गैया चराय ।
ये बात ही न्यारी नेह की, मुख से कही न जाय ।।

रीत अनोखी प्रीत की, कहा कहूँ मैं पुकार ।
राजे राधा के कजे, श्याम सजे सनगार ।।

बात ही न्यारी नेह की, मुख से कही न जाय ।
राजे राधा पग धरें, तहाँ मोहन गोद विछाय ।।

के. का. शा.
म. ई. प्र.
छा. ति.

राधा बाई :

अपने नाम को पूर्णरूपेण सार्थक करती राधा बाई श्री कृष्ण की अनन्य उपासिका और परम भक्त कवयित्री थीं। इनके जीवन के संबंध में केवल इतना ज्ञात है कि ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थी। सन् १८३४ ई० में इन्होंने रामनाथ महादेव (बड़ौदा) में एक अवधूत से दीक्षा ली थी और शेष जीवन उन्हीं के साथ रहकर ईश्वर भक्ति में व्यतीत किया था। वे स्वयं एक छंद में कहती हैं—

अवधूत नाथ साथ भजतो हरि देवा।

इनका अधिकतर जीवन बड़ौदा में बीता। वैसे अवधूत बावा के साथ इन्होंने देशाटन भी बहुत किया। राधा बाई के लिए इनके गुरु ही सर्वस्व थे। गुरु का ये बहुत आदर करती थीं। पदों में भी ये अपने नाम के साथ गुरु अवधूतनाथ के नाम की छाप लगाती थीं। गुरु के साथ देशाटन से राधाबाई को विविध भाषाओं का ज्ञान हो गया था। अतः इनकी वाणी में मराठी, गुजराती, राजस्थानी और हिन्दी का एक विचित्र सम्मिश्रण देखने को मिलता है। वैसे भाषा का ढाँचा तो सर्वत्र हिन्दी का ही है। अनुमान किया जाता है कि स्वयं महाराष्ट्री होने के कारण मराठी, गुजरात में रहने के कारण गुजराती और अवधूतनाथ के सत्संग और परिभ्रमण से इनकी भाषा में हिन्दीपन आ गया था। इनकी निम्नांकित रचनाएँ मिलती हैं--कृष्ण जी गरबीलो, कृष्णबाललीला, कृष्ण विवाह, कंसबध, मुकुन्दमोक्ष, मीरामहात्म्य, तथा रामनाथ महात्म्य। इनका देहावसान १८५७ ई० में हुआ।

राधा बाई श्रीकृष्ण की परम भक्तथीं। श्यामसुंदर की ललित एवं मधुर बाललीलाओं का रसमय आलेखन इन्होंने अपने विविध पदों में किया है। मनकी उमंग को स्वर और तालमें बांधकर तुक बंदी में इन्होंने काव्य-रचना की है। ये संगीत की भी जानकार थीं। कंठ भी सुमधुर था। श्रीकृष्ण लीला के साथ भक्त चरित्र, गुरु महिमा और तीर्थों के माहात्म्य का भी वर्णन राधाबाई ने अपने पदों में किया है। इनकी रचना शैली के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

कृष्णलीलावर्णन—

रमे दड़ेसे हरिहर गोप दड़ा जा अटकारे।
गये जमुना के तीर साथ दड़ा जा अटकारे॥

तब किया कृष्ण ने कोप दड़ा जा अटकारे।
पड़े जमुना भीतर छोप दड़ा जा अटकारे॥
खेले 'राधो' मेरे नाथ दड़ा जा अटकारे।

भक्तचरित्रवर्णन—

मीरा बड़ो अति मात्म्य, मीराबाई केरो।
तुलसीनी माला अंग धरो बाला,
भजे हरि काला श्रीकृष्ण रामराया॥

तुकाराम--तुकाराम बड़ा सारा भक्त।
जाकूं जाणे सारा जक्त॥

अं. शं. ना.
ल. पिं. ग.

राम :

अज्ञातवृत्त कवि रामकृत 'अमृतकचोलां-राधा-कृष्णक्रीडा गीत' की एक हस्तप्रति बड़ौदा के प्राच्य विद्यामंदिर में संगृहीत है। श्री मंजुलाल मजमुदार ने इसका संपादन करके 'स्वाध्याय' (वि० सं० २०२२, पु० ३, अंक-२) में प्रकाशित कराया है। हस्तप्रति के लेखन में पडि (प्रति) मात्रा का उपयोग इस काव्य ग्रंथ की प्राचीनता का द्योतक है। इस काव्य में सात पद हैं। अन्त में राधाकृष्ण-प्रेम-विषयक एक अन्य पद भी अंकित है। चतुर्थ पद में राधाकृष्ण की परिहासमय प्रश्नोत्तरी चमत्कारपूर्ण है। इस गीत काव्य ग्रंथ का राग धनाश्री है। प्रास, अनुप्रास और शब्दालंकारों के प्रयोग से इसमें गीतमाधुर्य निष्पन्न हुआ है।

राम कवि का समय सम्भवतः वि० सं० की १६ वीं शती है। 'राधाकृष्णक्रीडागीत' में कवि की कृष्णनिष्ठा अभिव्यंजित होती है।

इनकी भक्ति भावना का निर्देशक एक पद यहाँ उद्धृत है :

राधे खंजन नयन तमारे।
सदा रंगीले, रसिक रसीले,
प्रेम रतन प्रीउ तारे ॥ राधे०

धनुष चढाहि अमी सर सामिनि,
कुछु ऊजल, कुछु कारे। राधे०

अंजन-रेख दई मृगनयनी,
कांमबाण किउँ मारे? राधे०

चूआ-चंदन, अगर कुमकुमा,
सोल शृंगार सारंग अंगि सारे। राधे०

राम के प्रभु राधा-रंगि खेलतु,
सुखहि सेजि सिधारे ॥ राधे०

म. ई. प्र.

रामकृष्ण

कृष्णलीला के असंख्य पदों के रचयिता के रूप में सुप्रसिद्ध भक्त रामकृष्ण का जीवनवृत्त अज्ञात रहा है। राधाकृष्णविलास के अनूठे गायक एवं लेखक इस भक्त के प्रचुर पद 'बृहत् काव्य-दोहन' (संपा० इच्छाराम सूर्यराम देसाई) के विविध भागों में प्रकाशित हुए हैं। उनमें इनकी राधाकृष्ण-विषयक प्रेमाभक्ति पूर्णतया व्यक्त हुई है।

इनकी रचनाएँ है : कृष्णलीला ना पद (संख्या २३), शृंगार ना पद (संख्या : १००), नंदनंदन ना प्रेम ना पद (संख्या : ७) राधाकृष्ण-विलास ना पद (संख्या : ५), श्रीकृष्ण नो रास, गोपीप्रेम ना पद इत्यादि।

इनके भक्ति भाव के व्यंजक दो पद यहाँ दिये जाते हैं।

(१) कृष्णलीला-पद

सुंदर काई न देखुँ रे लाल,
तम सरखुं शामलियाजी।
अमसु सुकृत साध्युं रे लाल,
मही वेचतां मलियाजी ॥
सुर नरने नहि सुणो रे लाल-
जोगीनें नहि जोता जी।
घेर अमारे आवो रे लाल,
लाजो नहि गउ दोता जी ॥

वृंदावनमां वसतां रे लाल,
सगपण थयुं छे साचुं जी ॥
रामकृष्ण प्रभु रसिया रे लाल,
नामे तमारे नाचुं जी ॥

'हे श्याम कृष्ण। हे लाल! आप सरीखे सुन्दर मैं किसी को नहीं देखती। हे लाल! हमने सुकृत साधा था जिससे दही बेचते समय तुम मुझे मिले। देवों की तो आप सुनते भी नहीं और योगी को आप देखते भी नहीं। हे लाल, हमारे घर आइये, आप तो गौओं को दुहते भी लज्जित नहीं होते। हे लाल! वृन्दावन में बसते समय आपके साथ सच्चा सम्बन्ध हुआ है। रामकृष्ण के प्रभु तो रसिया हैं। मैं तुम्हारे नाम पर नाचती हूँ।'

(२) शृंगार-पद

श्यामलीओ ओ आवे मारी सजनी,
श्यामलीओ ओ आवे ॥
शेरडीएथी जोने सुंदर वर लटको सारो लगावे ॥
प्रीते पूरो ने रीत रुडो रसियामां अति रसियो।
अति मीठो रे नंदनो कुँवर मरकलडे मन वसियो ॥
मलपंतो रे मुज मंदिर आवो मारग जोतां महावो।
रामकृष्ण प्रभु प्रेमे रे पामी स्नेही सुंदर वर आवो ॥

'मेरी सजनी! (देख) ये श्याम आते हैं, श्याम आते हैं। गलियों में सुन्दर वर को देख, वह तो अच्छा लटका लगाता है। श्याम तो प्रीति में पूरा और रीति में रूरा है; रसिकों में अति रसिक है। नन्द का कुँवर अति मीठा है और मन्द मुस्कान से मेरे मन में बस गया है। मार्ग देखते-देखते श्याम मन्द गति से डोलते-डोलते मेरे मन्दिर आये। रामकृष्ण के प्रभु को मैंने प्रेम से पाया है। हे स्नेही सुंदर वर! आइये।

म. ई प्र.

रामचन्द्र मोड

रामचन्द्र मोड गुजरात के साणन्द तालुके में स्थित राणेसर नामक गांव के निवासी थे। इनके पिता का नाम राजसी मोड था। वे भी अच्छे कवि थे। वे साणंद-कांठे के बघेले राजपूतों के वंशज थे।

इनके द्वारा रचित दो ग्रन्थ कहे जाते हैं—पाण्डव पुराण तथा रस पिंगल अथवा हरि पिंगल। इन दो के अतिरिक्त इनके लिखे शान्त रस के छब्बीस डिंगल गीत भी उपलब्ध हैं। इन्होंने श्रीकृष्ण की रासलीला से सम्बद्ध "झमाण" की रचना भी की है। यह झमाण केवल रासलीला की झमाण नहीं है, परन्तु इसमें कवि ने गोपाङ्गनाओं का रूप वर्णन ऋतु के उपमानों के माध्यम से किया है। इस झमाण के द्वारा उन्होंने प्रच्छन्न रूप से ऋतुगीत भी लिखा है। झमाण का पद-लालित्य अपूर्व है। उसमें आई हुई उपमाएँ, अलंकार तथा वर्णन शैली प्रभावशाली है। इसी कारण इस रचना को विशिष्ट स्थान मिला है।

यहाँ इसका एक अंश प्रस्तुत है :

झमाण (डिंगली)

कृसन मलवा राधिका, सोले पहरे शणगार।
रास रमण बन अन्तरे, सजे आभूषण सार॥

सजे आभूषण साथ सहेलियां।
गोपी सोल सहस कि लाड़ गहेलियां॥

जो पै हेम जड़ाव कि नंग नवघरां।
जाणे उगां सूर शशि शर ऊपरां॥

सर फूलह घूघर भमर, वणिया केस चीर।
पहोअर फूल अम्बर पनां, बंना रूप शरीर॥

बंना रूप शरीर कि अम्बां मोरिया।
सुधा अन्तरवास कि फागण फोरिया॥

रमवा उमंग रास कि गोपी संचरी।
आवी जाण बसन्त तहां से ऊपरी॥

तेज तरण तिखां नयण नजर नाप सुंवायो।
झाल सरिखी गोपियां दै शरासरी घायो॥

पायु हंस गज चाले पणां सिंह लंक न मयंक।
कंठ कोयल अहर बंब पले अंक सोहंत॥

अहर बंब पले अंक के दाड़िम दंतियां॥
नसा दियग कूरंग के नैन सोहंतियां॥

मूंह कबांण के वेणी फणालियां।
मली रमेवा रास के सखो मतवालियां॥

जाणे नख हिरा जसा आंगलियां फलियांह।
पेहरे तरणां पादवणी छक वृन्दावन छांह॥

छक वृन्दावन री छांह के रास रचाइया।
प्रिया त्रिया होई एक आणंद थाइया॥

शरद पूनम राति के कदंम री छांहड़ी।
रमे गोपियां कान गले ले बांहड़ी॥

वसंत ग्रीखम रति वरखा शरदी हेमशशीर।
कही षट रति में कथी सुन्दरी रूप शरीर॥

सुन्दरी रूप शरीर के शंगारह सारिया।
केवा करां वखांण न जाये में किया॥

पूरे गोपियां हाम के काम रसाल री।
गावे "रामचन्द्र" समाल गोपाल री॥

ल. पिं. ग.

रामदास

रामदास नामक दो कवि हुए हैं। दूसरे रामदास बड़े रामदास के नाम से प्रख्यात थे। प्रथम रामदास का वृत्त 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में दिया गया है। उसके अनुसार ये जाति के ब्राह्मण और गुजरात के खमाइच गाँव के निवासी थे। इनका शरणकाल संवत् १६२८ था। वार्ता में इनका एक पद उद्धृत है, जो इस प्रकार है :

हरि कों मियांवत श्री विट्ठलनाथ।
मध्य बैठि बल मोहन राजत सखा मंडली के सब साथ॥
षटबिजन आदि सलोने लै मुख कौर देत निज हाथ।
रामदास यह लीला निरखत सबजन किए सनाथ॥

ये गुसाइं विट्ठलनाथ के सेवक तथा पुष्टिमार्गी कवि थे।

अ शु-

रामदास सुत

रामदास सुत के वास्तविक नाम का पता नहीं चलता। ऐसा माना जाता है कि ये सोलहवीं सदी में हुए थे और भरौंच के निवासी थे।

इनकी दो कृतियाँ 'कृष्णलीला' और 'अम्बरीष-आख्यान' उपलब्ध हैं।

ल. पि. ग.

रामबाई

इनके जीवन वृत्त एवं कृतित्व सम्बन्धी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। इनका एक पद इच्छाराम सूर्यराम देसाई सम्पादित 'बृहत् काव्यदोहन' के ग्रन्थ–७ में प्रकाशित हुआ है। कहा जाता है कि ये सुप्रसिद्ध कृष्ण भक्त नरसिंह महेता की शिष्या थीं। कुछ विद्वान् इन्हें ही मानबाई मानते है। हो सकता है कि इनके दो नाम रहे हों।

इनके फुटकर पद मिलते हैं जिनसे इनकी प्रगाढ़ कृष्ण-भक्ति का पता चलता है। उनमें से यहाँ एक प्रस्तुत है :

सांभलने शामलीआ वाला,
तारे ने मारे घणी माया रे।
जो महेतो जमवा नहीं आवे तो,
ततक्षण तजुं मारी काया रे।।

कपट नथी महेताना मनमां,
मे ताने ओच्छवे जाऊँ रे।
नागर सर्वे निंदा करे छे,
गुण तो गोविंदना गाऊं रे।।

अंतरजामीह अरज सांभली,
नागर जमवा बेठा रे।
अेक अेक ना हाथमां हाथ ग्रहीने,
नागरमां ढेडा पेठा रे।।

अन्यो अन्य सउ बात करे छे,
अेक अेक ने सउ पूछे रे।
नागरी नात उत्तम शिरोमणि,
तेमां ते ढडेनुं कौतुक शुं छे रे।।

नरसिंओ श्रीकृष्णने वा 'लो,
आपणे कीधुं अपमान रे।
हरिनो दास दुभ्यो ते माटे,
कोप्या श्रीभगवान रे।।

डाह्या डाह्या सउ टोले मळीने,
कीधो मन विचार रे।
जो महेतोजी जमवा नहि आवे तो,
गाम निसरुं नात बाँट रे।।

नागर सर्वे टोळे मळीने,
जई मेताने पगे लाग्या रे।
कहो महेताजी जमवा केम न आव्या रे।
वाटडी जोई जोई थाक्या रे।।

कपट नथी कंई में 'ताना मनमां,
ततक्षणा जमवाने आव्या रे।
रामबाईना स्वामी शामळीओ,
सघला ढडे समाव्या रे।।

सुनिए श्यामल प्रीतम ! हम दोनों में अधिक माया (प्रीति) है। यदि नरसिंह महेता भोजन को नहीं आएँगे, तो मै तत्क्षण अपनी देह छोड़ दूँगी। महेता के मन में कपट नहीं है, महेता के उत्सव में जाती हूँ। सब नागर निन्दा करते हैं, मैं तो गोविन्द के गुण गाती हूँ। अन्तर्यामी ने अरज सुनी, नागर भोजन के लिए बैठे। एक-दूसरे के हाथ पकड़ नागर लोगों में हरिजन (अन्त्यज) पैठे। सब अन्योन्य बात करते हैं, एक एक को सब पूछते हैं, नागर जाति तो उत्तम शिरोमणि है, उसमें फिर हरिजन का कौतुक क्या है ? नरसिंह तो श्रीकृष्ण को प्रिय है, हमने अपमान किया है। हरि के दास को अपमानित किया है। अतः भगवान् क्रुद्ध हुए हैं। सब चतुर लोगों ने मिलकर मन में विचार किया, यदि महेताजी भोजन के लिए

नहीं आयेंगे तो सारा गाँव जाति से बाहर निकल जायेगा। सब नागर इकट्ठे हो जाके महेताजी के पाँव लगे: 'कहिए महेताजी, भोजन को क्यों न आये? बाट देख-देख थक गये।' महेता के मन में कुछ कपट नहीं है, तत्क्षण भोजन को आये। रामबाई के स्वामी श्याम ने सब हरिजनों को अपना लिया।'

म. ई. प्र.

राम भगत

'राम' नामक कई भक्त गुजरात में हुए हैं। प्रायः उन सभी के जीवन विषयक वृत्तान्त पर्याप्त मात्रा में प्राप्त नहीं होते हैं। इनमें सौराष्ट्र के एक कृष्ण भक्त 'राम' हैं। राजकोट में बेड़ी के नाके पर स्थित मुरलीधर-कृष्ण मन्दिर और नीम का वृक्ष इनकी पुण्य-स्मृतियाँ हैं।

भरवाड (चरवाहा) जाति में जन्म लेने वाले भक्त राम की माता का नाम राणीबाई था। ये प्रसिद्ध भगवद्भक्ता सन्नारी थीं। गृह त्याग कर बांकानेर से ये भीमाजीराव ठाकरे के समय में राजकोट आकर बस गई थीं। सदाव्रत चलाकर साधु-सन्तों की सेवा में ये अपना जीवन व्यतीत करती थीं। समग्र सोरठ प्रदेश में इनकी प्रभुभक्ति कीर्तिवंत हुई थी। 'मुरली-मनोहर भगवान् श्रीकृष्ण प्रत्यक्ष हो राणीबाई के साथ बात करते हैं' ऐसा लोक में कहा जाता था। ऐसी पवित्र माता की संतान राम भजनानन्दी सन्त एवं भक्त थे। ठाकुर जी के प्रति इनके हृदय में अपार निष्ठा थी। प्रतिदिन ठाकुरजी की सेवा-उपासना तथा सन्तसेवा-समागम में ये अपना जीवन व्यतीत करते थे।

भक्त राम के जीवन से सम्बद्ध अनेक पावन प्रसंगों का उल्लेख चरित-ग्रन्थों में हुआ है। एक बार प्रसिद्ध सन्त और सिद्ध-पुरुष मोरार साहब के आश्रम में खंभालिया के जाम साहब ने द्वारका में 'सवरा-मण्डप' का आयोजन कर उसमें सन्त-साधुओं को निमंत्रित किया। भक्त राम को भी निमंत्रण मिला था, किन्तु किसी द्वेषी ने निमंत्रण-पत्र में व्यंग्य-वचन लिख दिया था: "तुम्हारा घर तो चमत्कारी माना जाता है, किन्तु सवरा-मण्डप में अनन्त श्री विभूषित मोरार साहब जैसे महात्मा पधारेंगे। वहाँ जाना तुम्हारे लिए लोहे के चने चबाने जैसा है। अतः समझकर पधारिए।" राणीबाई की आज्ञा ले भक्त राम सवरा-मण्डप में पहुंच गये और मोरार साहब एवं जाम साहब की उपस्थिति में इन्होंने लोहे के चने जैसे टुकड़े चबाकर दिखा दिया। इस प्रकार इन्होंने अपनी भक्ति की सच्चाई सिद्ध कर दी। इसके पश्चात् राजकोट में आकर अपनी माताजी की आज्ञा ले इन्होंने श्रीकृष्ण-मन्दिर का निर्माण कराया।

इनकी कोई रचना नहीं मिलती।

म. ई. प्र.

(बाबा) रामसिंग :

कच्छ के दरबार रामसिंगजी काव्य कला और संगीत के अच्छे अभ्यासी रहे हैं। इनकी रचनाओं में राग, लय, ताल और शैली का अपूर्व समन्वय पाया जाता है। अपने समय में इनकी गणना विशिष्ट कृष्ण भक्तों में की जाती थी।

नीचे इनका एक भक्तिपूर्ण पद उद्धृत किया जा रहा है:

राग आशा : त्रिताल

रास रमाडी रसिये बहाले,
गिरधर प्यारा लागे हो।
सुंदरी, ब्रजनी प्रेमातुर थई,
मध्य रातनी वनमां ते गयी,
प्रेमे करी मुरछाई ने रही समजी,
घरने त्यागे हो। रास०

सोके शणगार अबला पहेर्या,
सेथामां लई काजल सार्या,
बालक ने लई पाधा वाध्यां,
वावरी भई ने भागे हो। रास०

निरमल शरद पुनमनी रात्री,
गोपी थई हो कृष्ण संगाती,
तदाकार थई मदमां माती,
बंसी वालानी वागे हो। रास०

रास रमाडी रसिये रंगे,
सब जग मोह्या जोई ने संगे,
खग मृग थिर थया अति उमंगे,
अंतरमो अनुरागे छे। रास०

ब्रह आतुर सौ सखी ओ थई छे,
एकरुप मोहनमां रही छें,
'राम संग' कहे बात सही छे,
करुना दृष्टी मांगे छे। रास०

'प्रेम के साथ रास लीला खेलाने (रचाने) से गिरिधर हमें बड़े प्यारे लग रहे हैं। ब्रज की सुन्दरी प्रेमातुर हो मध्य रात्रि में वन में जा पहुंची। प्रेम करके मुरझाकर रह गयी और समझा कि मैंने घर त्याग दिया है। पहने हुए सोलहों सिंगार आंचल में बाँध, काजल सँवारकर बालक को ले वापस मुड़ती हुई वे बावरी होकर भाग रही हैं। निर्मल शरत्-पूर्णिमा की रात्रि में गोपी कृष्ण के संग हो लीं, मदमत्त हो वे तदाकार हो गयीं और प्यारे की बंशी बज रही है। रसिया ने रास रचाकर सबको अपने रंग में मोह लिया। खग, मृग स्थिर हो गये। वे अति उमंग के साथ अनुराग से भरे हुए हैं। सभी सखियाँ वियोग से आतुर हो उठी हैं और मोहन के साथ एक रूप हो गयी हैं। 'रामसिंग' सही बात कह रहा है कि वे प्रभु की करुणा दृष्टि माँग रही हैं।'

ल. पि. ग.

राहत अली

इनका आविर्भाव काल २०वीं सदी है। ये बड़ौदा के वासी थे। ये नृत्य-गान के विशेषज्ञ थे। इनके बनाये भजन और ठुमरियाँ प्रसिद्ध हैं। इनका एक ठुमरी-पद यहाँ उद्धृत है :

मोरी बेंगरी मुरकाइ डारी,
झट पकर निडर नटवर।
कह्यौ न मांनत निलज कछू तनक मेरौ,
सगरे जतंन कर-कर हारी। मोरी बेंगरी०···॥

म. ई. प्र.

रेवाशंकर

गोसांई-मतावलम्बी रेवाशंकर सौराष्ट्र के जूनागढ़ के वडनगरा नागर गृहस्थ थे। इनका जन्मकाल निश्चित नहीं है। 'नर्मगद्य' के अनुसार–ये सं० १८७५ (१८१८ ई०) में विद्यमान थे। इनके पिता का नाम त्रिकमदास और पितामह का भवानीदास था। इनकी दो पत्नियाँ थीं। पहली पत्नी से इन्हें शामलदास तथा दूसरी पत्नी से लाभशंकर और रामशंकर नामक दो पुत्र हुए थे।

रेवाशंकर जूनागढ़ के नवाब हामिदखाँ प्रथम के दीवान और वैष्णवमार्गी थे। इन्हें गुजराती, फारसी, संस्कृत और व्रजभाषा का अच्छा ज्ञान था। ये सन् १८१८ ई० में विद्यमान थे, ऐसा 'नर्मगद्य' में कहा गया है। इनका गोलोकवास १८३७ ई० के आस-पास हुआ।

कृष्णविषयक इनकी रचनाओं में प्रमुख हैं–डाकोरलीला, दशमस्कन्ध, चन्द्रावला, बाललीला, रासलीला, श्रीद्वारकालीला, द्वारकावर्णन, वल्लभकुल-वर्णन, तथा दशमसार,

इनके 'बाललीला' काव्य से एक अंश यहाँ दिया जाता है :

प्रजापाल छे बालक बाई,
कंस केसिनो काल।
लीला करवा लघुवेश धर्यो,
देवना देवना देव दयाल॥
देवना देव दयाल दुःखहर्ता,
सर्वसृष्टिने महासुखकर्ता।
कोक अवतारनी फली कमाई,
प्रजापाल छे बालक बाई॥

त्रणे लोकतणों जे त्राता,
श्रुति शास्त्रनुं सार।
पुत्र थइने पारणे पोढयो,
उदर धरी अवतार॥

उदर धरी अवतार ते आये,
जे जोगीने जडे न जाये।
लाड लडावी लावो माता,
त्रणे लोकतणो जे त्राता॥

‘हे बाई ! यह बालक तो प्रजापालक और कंस-केशीका काल है। लीला करने के लिए इन्होंने लघुवेश धारण किया है, ये तो दयालु देवों के भी देव है। तुम्हारे किसी जन्म की कमाई फलीभूत हुई है, हे बाई ! यह बालक प्रजापालक है। तीनों लोक का जो त्राता है और श्रुतिशास्त्र का सार है, वह उदर में अवतार धारण करके पुत्र होकर पालने में पौढ़ा है। उदर में अवतार धारण करके वह वही देता है जो जोगी को जप से भी नहीं मिलता। लाड़ लड़ाके माता बलैया लेती है, वह तो तीनों लोक का त्राता है।’

इनका परलोकवास सम्भवतः सन् १८३७ ई० में हुआ।

म. ई. प्र.

लक्ष्मण

इच्छाराम सूर्यराम देसाई संपादित ‘बृहत् काव्य-दोहन’ ग्रन्थ-७ में लक्ष्मण नामक एक कृष्णभक्त-कवि के कृष्ण-गोपी-क्रीडा के तीन पद लिपिबद्ध हैं। उनमें से एक पद यहाँ दिया जाता है:

(राग-मारू)

हां रे न्यारे बोल्यां रे गोपीजन, हावे क्यों जइये रे।
हां रें अमे आव्यां तमारे काज, एम ना करीये रे॥

आशाभरे अमे अवीयां रे, रमवाने तम संग रे।
तेडीने तरछोडो मारा वाला, हांरे तमने ना रे घटे
पीडे अनंग रे॥

मातापितानुं कह्युं न मान्युं, ने ना रे गण्यो भर्तार रे।
हां रे तमो रे बिना हमने कोई ना गये, हां रे सुनो
लागे संसार रे॥

हां रे रमण करो हमारी संगे, रुडुं ते वृन्दावन रे।
ना के शो तो निश्चे मारा वाला, हां रे हांई खोइशुं
हमारुं तनरे॥

गोपीतणां एवां वचन सुणीने, बोले भीडी बाथ रे।
लक्ष्मण ना स्वामीनो संगे रमतां, हां रे एवा शाद
पूनमनी रात रे॥

‘हाँ रे, तब गोपियाँ बोलीं: अब हम कहाँ जायें ? हाँ रे, हम तो तुम्हारे काज आयीं, अब ऐसा न कीजिए। तुम्हारे साथ खेलने हम आशाभरी आईं हैं। हे मेरे प्रीतम ! बुलाकर तिरस्कार करना उचित नहीं है। हमें अनंग पीड़ा देता है। मातापिता का कहा न माना, पति की भी अवज्ञा की। हाँ रे, तुम्हारे बिना हमें कुछ नहीं भाता, संसार भी सूना लगता है। हां रे, वृन्दावन सुन्दर है, हमारे साथ रमण करो। यदि आप ‘नहीं’ कहेंगे तो हे प्रीतम ! हम यहीं अपना प्राण दे देंगी।’ गोपी के ऐसे वचन सुन प्रियतम कृष्ण ने बाथ भीड दी। लक्ष्मण स्वामी के संग खेलते हैं, हां रे। ऐसी शरद पूनम की रात है।’

म. ई. प्र.

लक्ष्मीदास

लक्ष्मीदास महेमदावाद के निवासी थे और प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार सं० १६३८ में विद्यमान थे। इन्होंने भागवत के आधार पर ‘गजेन्द्र-मोक्ष’ तथा ‘दशम-स्कन्ध’ की पद्यबद्ध रचना गुजराती में की है। इनके अतिरिक्त ब्रजभाषा में लिखे हुए इनके राधा कृष्णभक्ति विषयक फुटकर छंदों का भी उल्लेख मिलता हैं। यहाँ गुजराती तथा ब्रजभाषा के इनके दो पद प्रस्तुत है:

(१)

रयणि दिवस एण सुता बिसतां च्यांति चतुर्भुज पेषु।
रसनाअि आलगु न मेहेलु भ्रण जाणिजै म्यलीअि।
लक्ष्मीदास स्वामिनि जोतां दुख सागर हलीहि॥

(२)

आजु सरे सफल भए नेंन।
कोटि मनमथ रूप चतर जु निरावे गिरधर चेंन॥
कोटि रवि-छवि जोति आनन अंबर कोटिक मेन।
जन लखिमिदास विचित्र बरनी लिखी चित्र से ऐंन॥

म. ई. प्र.

अ. शु.

लल्लू महाराज (लालसखी)

लल्लू महाराज का जन्म गुजरात के चरोतर प्रदेश स्थित खेडा जिला के अलिन्द्रा नामक ग्राम में सं० १८९० के लगभग हुआ था। ये औदीच्य ढोलकिया जाति के थे। प्रणामी सम्प्रदाय में ये 'लालसखी' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा रचित 'वर्तमानदीपक' के मंगलाचरण से प्रतीत होता है कि ये सूरत के प्रणामी मन्दिर के तत्कालीन महन्त लालाजी के शिष्य थे। इन्होंने नौतमपुरी के आचार्य जीवरामदास जी से साम्प्रदायिक शिक्षा पाई थी। गुजरात में प्रणामी सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार में ये आजीवन दत्तचित्त रहे।

लल्लूजी ने प्रणामी सम्प्रदाय के हिन्दी में लिखित प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुलजमस्वरूप' का गुजराती में पद्यानुवाद किया था। इनकी अन्य रचनाएँ हैं– वर्तमानदीपक, ईश्वरबोधसागर, आत्मबोध, श्रुतिविलास और जीवचेतवणी। ये सभी गुजराती भाषा में हैं। 'वर्तमान दीपक' में इन्होंने प्रणामी सम्प्रदाय के गुरु देवचन्द्र जी और स्वामी प्राणनाथ के जीवनचरित्र प्रस्तुत किये हैं। 'जीवचेतवणी' में कृष्ण-नारद के संवाद के माध्यम से सद्गुरु सेवन का माहात्म्य प्रतिपादन और जीव को चेतावनी देकर परंमधाम का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है। 'श्रुतिविलास' में बताया गया है कि श्रुति (सुरति) जगत् के सुख-दुख का अनुभव करने परमधाम से नीचे उतर आई और परमधाम के अपने स्वामी परब्रह्म परमात्मा को भूल गई। बाद में सद्गुरु ने उसे जगत् की नश्वरता दिखाई और कृष्ण भक्ति के मार्ग का उपदेश दिया। परिणामस्वरूप श्रुति को अपने मूल परमधाम का स्मरण हुआ और वहाँ पहुंच गई। 'ईश्वरबोध सागर' में गुरु और सद्गुरु के विभिन्न लक्षण बताते हुए, ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मसद्गुरु की शरण में जाने से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का निर्देश है। इस बात को समझाने के लिए इन्होंने शिव-पार्वती-संवाद की योजना की है। ब्रह्मप्रियाओं के लिए पिंडरचना से विराट् तक समग्र ब्रह्मांड की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। 'आत्मबोध' के प्रारम्भ में भट्टाचार्यजी और उनकी पत्नी निर्भया के स्वामी प्राणनाथ से हुए संवाद को रखा गया है। निर्भया स्वामी प्राणनाथ के प्रति श्रद्धा रखती थी और प्रणामी सम्प्रदाय में विश्वास रखती थीं। लेकिन उनके पति भट्टाचार्य को उसमें कोई विश्वास नहीं था। अंततः पत्नी ने पति की स्वामी प्राणनाथ से भेंट करवायी और तब से भट्टाचार्य प्रणामी सम्प्रदाय के अनुयायी बन गए थे। इसमें सच्चिदानंद आत्मस्वरूप है, इस बात का बोध कराया गया है, साथ ही प्रणामी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का भी वर्णन किया गया है।

लल्लू जी ने भक्ति भावपूर्ण भजन और गरबे भी लिखे हैं। इनका मृत्युकाल सं० १९५४ माना जाता है।

न. पं.

म. ई. प्र.

लांगीदास महेडु

इनका जन्म गुजरात प्रदेश के सुरेन्द्रनगर जिले में हलवद ताल्लुके के गौलासण गाँव में ढाई सौ वर्ष पूर्व हुआ था। इनके पिता का नाम माण्डण महेडु तथा माता का नाम सोनबाई था। इनका बाल्यकाल देगाम में व्यतीत हुआ था। लाल-भट्ट नाम के डिंगल साहित्य के विद्वान् के समीप रहकर इन्होंने काव्यशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया था।

हलवद राज्य के झाला राजवंश की ओर से लांगीदास को गौलासभ ग्राम तथा एक लाख मुद्राएँ प्रदानकर सम्मानित किया गया था। इसके उपरान्त

दसाडा के रुस्तमखान तथा साणद के ठाकुर साहब ने भी इनको सम्मानित किया था। इनको उन लोगों के द्वारा प्रचुर मात्रा में चल-अचल सम्पत्ति प्राप्त हुई थी। लांगीदास महेडु द्वारा रचित पाँच ग्रन्थ कहे जाते हैं—ओखाहरण, एकादशी-माहातम, राजसगण, गणबाबीरो तथा सतस्मरण।

राजदरबारों में प्रेमानन्द द्वारा रचित 'ओखाहरण' पढ़ना निषिद्ध माना जाता था क्योंकि उसमें शृंगार का विशेष वर्णन है, किन्तु लांगीदास का 'ओखाहरण' अन्तःपुरों में भी निःसंकोच पढ़ा जाता था। कई राजा अपनी रानियों से कहते थे कि 'ओखाहरण' सुनना हो तो लांगीदास द्वारा रचित 'ओखाहरण' सुनना, अन्य किसी के द्वारा रचित नहीं। 'एकादशी महात्म्य' तथा 'ओखाहरण' दोनों बड़े काव्य हैं। 'ओखाहरण' का प्रकाशन सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट के द्वारा किया गया है। लांगीदास महेडु की कृष्ण-भक्ति का परिचय 'ओखाहरण' के निम्नांकित छन्दों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है :—

गदाधर गोविन्द गोत्र गोआल।
गणनिधि गोपवरं गोआल॥

धजाधर धारण गोवरधन।
धरंधर धारधर धनि धनि॥

मनि करि ताव रषा करिभूज।
तवां सरणागति आड तूज॥

ग्रहग्रह घंमल मंगल गाइ।
मटे दंद आणन्द थे अलिमाइ॥

हरीहर नमो नाथ तुम हाथ।
नमो महाभारथ मंडण नाथ॥

नमो नर देह न ग्रेह न रूप।
नमो सब संकट आदि सरूप॥

नमो भवतार उधार भगति।
नमो अकलीस नमो अवगति॥

नमो अणचन्त अनन्त अलस।
नमो पण प्रेहक प्राण परस॥

नमो नरलेप नमो नरधार।
सरजणहार नमो सरदार॥

नमो दजराम डरावण दुत।
नमो अवणास नमो अवधुत॥

नमो मछकछ नमो नरसंग।
नमो वीडवामण कंध वडंग॥

नमो बध रूप नमो नकलंक।
नमो कंन केसव नाम निसंक॥

परि नर जाणुं तुज वषांण।
हरि हर तोरा कोट हलाण॥

दसि पर जोडेअ लांगीअदास।
अप्रपरं इसर पूरेअ आस॥

ल. पिं. ग.

लालदास

लालदास का समय संवत् १७०० के आस-पास का है। ज्ञानमार्गी भक्त अखा के शिष्य होते हुए भी इनके कई पदों में कृष्ण विषयक माधुर्य भक्ति की सरस अभिव्यक्ति हुई है। ये जाति से छीपा भावसार थे।

जगन्नाथदास दामोदरदास त्रिपाठी ('सागर' महाराज) द्वारा सम्पादित 'संतोनी वाणी' में लालदास के भजन उपलब्ध होते हैं। 'ज्ञानरवणी' (१-२), 'वनरमणी' (१,२,३) इत्यादि इनकी रचनाएँ हैं। इनके पदों में ज्ञानमार्ग की प्रधानता है, किन्तु 'वनरमणी' में इन्होंने प्रेमलक्षणा भक्ति के माध्यम से दिव्य ज्ञान की परख कराई है। इनकी प्रेमलक्षणा भक्ति में गोपीभाव की मधुर व्यंजना हुई है। ज्ञानारूढ़ भक्त कवि ने रासलीला का भी मनोहारी वर्णन किया है।

भारतीय विद्याभवन, बम्बई के हस्तप्रति संग्रह के आधार पर डॉ० अनिलकुमार यो० त्रिपाठी ने लालदास

के हिन्दी और गुजराती के ८० से भी अधिक पदों का संपादन किया है।

'वनरमणी' से लालदास के दो पद यहाँ उद्धृत हैं।

(१)

हुं तो मोही मधुकर श्यामने !
हुं तो वारी व्हालाजी हो राज !
तमारा नामने !
प्रभु ! जे दहाडाना वनमां मल्या !
प्रभु ! ते दहाडाना महाराज !
अमारे अंगे भल्या !
म्हारी नवअंग देह शीतल भयी !
तमे महरे करी, महाराज ! हो !
गुणे घेली थई।

'मैं तो मधुकर श्याम पर मोहित हूँ। हे प्रीतम ! हे राजा ! मैं तो तुम्हारे नाम पर न्यौछावर हूँ। हे प्रभु ! जिस दिन से आप वन में मिले, उसी दिन से हे महाराज ! आप हमारे अंगों में मिल गये है, व्याप्त हुए हैं। मेरी नवांग-देह शीतल हुई। हे महाराज ! आपने कृपा की, मैं तो गुणों से पागल हुई।'

हाँ रे भूल्यां आभूषण अंगनां !
अमने उपन्यो प्रेम अपार !
भीनां हरिरंगमां !
हवे पहेर्या आभूषण अवलां !
तेणे ना जोई वाट उवाट !
पूरण ब्रेहे भलाँ !
सखी चालीने सख वनमां आवी !
म्हारा व्हालाजी केरा मनमां !
वशे के ते भावी !
म्हारा व्हालाजी ने अंगे लपटाई !
मध्ये ऊभा मनोहर श्याम !
मधुरी वेण बजाई !

'हाँ रे, हम तो अंग के आभूषण भूल गईं। हमें अपार-प्रेम उत्पन्न हुआ, हरिरंग में भीग गईं। अब उलटे आभूषण पहने। विरहपूर्ण उसने मार्ग-कुमार्ग न देखा। सब सखियाँ चलके वन में आईं, मेरे बालम के मन में बसकर भायी। मेरे बालम के अंगों से लिपट गईं। मध्य में मनोहर श्याम खड़े हैं, उन्होंने मधुर बंशी बजाई।'

म. ई. प्र.

लालनशाह

लालनशाह मुसलमान होते हुए भी परम कृष्ण-भक्त थे। ये सूफी सन्त थे। इनकी कृष्ण भक्ति इतनी प्रगाढ़ थी कि ये अपने भजन-कीर्तनों की रसधारा में देहभाव भी खो देते और श्रोताओं को भक्ति रस में मग्न कर देते थे।

इनका जीवन चमत्कारपूर्ण माना गया है। कहा जाता है कि एक बार विरोधियों ने जूनागढ़ के बाबी नवाब (प्रथम) के समक्ष शिकायत की कि लालनशाह इस्लाम-धर्म के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर रहे हैं। नवाब ने लालनशाह से इसका उत्तर माँगा। लालनशाह ने नवाब को बहुत समझाया, किन्तु वे न माने। आखिर एक बार अपने भजन-कीर्तन के प्रसंग पर, लालनशाह ने चित्रांकित कृष्ण को चित्रांकित श्रीराधा को प्रत्यक्ष हो पान-बीड़ा देते दिखाया। इस चमत्कारी घटना से नवाब चकित रह गये और लालनशाह की उत्कट कृष्ण-भक्ति से अतीव प्रसन्न हुए। 'अब चमत्कार देखने के लिए लोग मेरे भजन-कीर्तनों में उमड़ेगें और इस प्रकार मेरी भक्ति में बाधा पहुंचेगी' ऐसा सोचकर लालनशाह अपनी झोपड़ी से अदृश्य हो गये, ऐसी किंवदन्ती है।

इनके जीवन के सम्बन्ध में और कुछ जानकारी उपलब्ध नहीं होती। इनका लिखा कोई पद भी प्राप्त नहीं होता।

म. ई. प्र.

लाल साहेब

लाल साहेब, रवि साहेब के शिष्य थे। रवि-भाण संप्रदाय में इनका विशिष्ट स्थान है। इनके द्वारा रची

गयी कृतियों में 'चिन्तामणि', 'प्राण सांकली', तथा 'आत्मबोध' प्रसिद्ध हैं। लाल साहेब को छन्दशास्त्र का अच्छा ज्ञान था। इनके दो कृष्णभक्ति व्यंजक पद दिये जाते हैं :

(१)

घनश्याम वाला तारी मोरली लागे प्यारी,
मोही सुखमण नारी रे।
मोरली धुन सुन सबकी जागी,
खरी तो लागी खुमारी रे॥

अकल कला तारी विरला कोई जाणे,
भेद तमारो छे भारी रे।
जन खोजया ताकूँ खबर मिलेगी,
दर्शन देव मोरारो रे।

पूरण भाग जेणे पियुवर पाम्या,
जो रंग भर रास रमाडो रे।
लाल दास शरण तमारो,
दर्शन द्यो दाडी दाडी रे॥

(२)

वाला जी नी वेण वागी,
वेण वागी रे हो वंसी वागी।
बिन्द्रावन वीसामानी मोरली वागी॥

धन मोरली बागी घट भीतरमाँ,
लागी सुणतां झबकीने जागी।
मोक्षवणं मोझां मारा नेणं,
मोह्यां सखी सुरत शामला से लागी॥

काम धंधानी हुँ तो सुध बुध भूली,
सखो लोकनी लज्जा त्यागी।
दर्शन करवा राणो राधा जी चाल्या,
सखी सामो मल्यो श्यामलो सोहागी॥

पिणु संग मलिया जरा कारज सरियाँ सखी,
सो कहे ए बड़भागी।
लालदास जेणे मोहन पाया सखी,
मन कियो ब्रेह विरागी॥

लाला भक्त (लालजी महाराज)

सौराष्ट्र में वांकानेर के पास सिन्धावदर गाँव में वि० सं० १८६५ में एक समृद्ध वैश्य परिवार में लालजी ने जन्म लिया था। इनके पिता का नाम बलवंत शाह और माता का नाम वीरबाई था। जन्म से ही इनके हृदय में भक्तिभाव था और बचपन से ये साधु-सेवा और भजन-कीर्तन में व्यस्त रहते थे। उस क्षेत्र में ये नरसिंह मेहता के अवतार माने जाते हैं।

बीकानेर के सेवादासजी महाराज के द्वारा इन्होंने ब्रह्म-सम्बन्ध की दीक्षा ली थी। प्राथमिक अभ्यास पूर्ण होने पर पिताजी ने इन्हें अपनी कपड़े की दूकान पर बिठाया, किन्तु लालाजी का चित्त सांसारिक कार्यों में नहीं लगा। इन्हें तो सन्तसेवा ही भाती थी।

लालाजी का जीवन चमत्कारपूर्ण है। अपनी भक्ति के प्रभाव से इन्होंने कई चमत्कार दिखाये। एक बार जाड़े के समय, दूकान में बैठे लालाजी के पास एक सन्त-मण्डली ने कम्बल माँगे। लालाजी का हृदय दया से पिघल गया। इन्होंने प्रत्येक सन्त को एक-एक कम्बल दे दिया। जीवराज ठक्कर नाम के एक पड़ोसी दूकानदार ने लालाजी के पिता से शिकायत की। पिता ने दूकान में आकर कम्बलों को गिना तो उन्हें यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि दुकान में जितने कम्बल थे, उनसे एक अधिक है। बाद में पिता बलवन्त ने साधुओं के पास जाकर कम्बलों के सम्बन्ध में पूछताछ की। सन्तों ने उत्तर दिया, 'सिंधावदर गाँव में लाला नाम का बड़ा भक्त है। दान-धरम में बड़ी निष्ठा वाला आदमी है। उसने साधु लोगों की माँग सुनकर अपनी दूकान से प्रत्येक साधु को एक कम्बल दिया है। बच्चा. तेरा पुत्र धर्मावतार है, जूनागढ़ निवासी नरसिंह मेहता का अवतार है। कलियुग में लोगों को भक्तिपंथ बताकर तारने के लिए आया है।' सन्तों की इस बात को सुनकर बलवन्त को अपने पुत्र की शक्ति का परिचय हुआ और लालाजी को भजन-कीर्तन एवं दान-सेवा करने की अनुमति दे दी।

दिन-प्रतिदिन लालाजी की कीर्ति चारों ओर फैल गयी। इनकी वृहत् शिष्य-मण्डली हुई। कहा जाता है कि इन्होंने साचला के ठाकुर मदार सिंह को ब्रह्म-राक्षस के त्रास से मुक्त किया था। ठाकुर इनके भक्त हो गये। उनकी सहायता से लालाजी ने साचला में एक मन्दिर वनाया और ठाकुरजी (श्रीकृष्ण) की मूर्ति की प्रतिष्ठा करके संतों के लिए सदाव्रत चालू किया। आज भी साचला लाला भक्त का गाँव कहा जाता है।

लालाजी महाराज अपनी मण्डली के साथ आस-पास के गाँव में भजन करने जाते, रास-मण्डल रचते और हाथ में करताल लेकर गाते। इन्होंने गुजरात-सौराष्ट्र में भक्ति और अन्नदान की महिमा स्थापित की। दो मृत पक्षियों को जीवित करना, हिरन को सजीव करना, राधनपुर में बिना नाव नदी पार करना, नास्तिकों द्वारा उड़ाई धूल को अबीर-गुलाल में परिवर्तित कर देना, एक की भोजन-सामग्री में से अनेकों को भोजन कराना, खारे जल को मीठा बनाना, धरमज्ञ वैश्य का डूबता जहाज बचाना, वन्ध्या गाय को दुधारू बनाना जैसे इनके अनेक चमत्कार बताये जाते हैं। इन चमत्कारों से प्रभावित हो तत्कालीन श्रीमंत गायकवाड सयाजीराव लालाजी से मिलने आये थे। एक समय लालाजी भावनगर पधारे तो वहाँ के महाराज विजयसिंह ने इनका भव्य स्वागत किया और लालाजी के लिए वर्षासन की व्यवस्था की। इन्होंने संवत् १९१८ में वैकुण्ठवास किया। इनकी अपनी कोई रचना प्राप्त नहीं होती।

म. ई. प्र.

लाला राम

लालाराम का निवास देशलपुर (कच्छ) में था। इनका समय सं० १८५६ माना जाता है। इनकी रचना का नाम है 'महाराज-स्फुट-काव्य'।

अ. शु.

वत्सराज (प्रेमरंग)

वत्सराज अहमदाबाद के निवासी थे। इनका समय सं० १७९४ है। इनकी रचनाएँ हैं-आभास रामायण, श्लोकावली, गरबावली, कवितावली, एक पदी तथा स्फुट पद।

अ. शु.

वल्लभा फाँकडो

गुजरात के मूर्धन्य आख्यानकार प्रेमानन्द के ज्येष्ठ पुत्र वल्लभ का जन्म बड़ौदा में हुआ था। इनका जन्म समय निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, किन्तु मृत्यु काल सं० १७६० माना जाता है। इनकी माता का नाम हरकोर था। प्रेमानन्द के प्रमुख शिष्यों में भी इनकी गणना होती है।

प्रेमानन्द ने अपने प्रत्येक शिष्य को भिन्न-भिन्न ढंग से काव्यसर्जन करने का कार्य सौंपा था। वल्लभ को 'राजा या आश्रयदाता की स्तुति न हो' ऐसी कविता बनाने को कहा गया था। फिर भी वल्लभ ने अपने एक सहायक माधव नामक गृहस्थ की स्तुति में 'माधवकाव्य' नामक प्रथम ग्रंथ लिखा और पिताजी को दिखाने पर उन्होंने इन्हें 'वल्लभ भाट' कह दिया। इससे क्रोध में आकर वल्लभ ने उस ग्रंथ को नष्ट कर दिया। बाद में ये पिता जी की आज्ञानुसार काव्य-सर्जन करने लगे।

गुजराती साहित्य के प्रसिद्ध कवि शामल और वल्लभ में परस्पर स्पर्धाभाव था। शामल मुख्यतः वार्ताकार थे। दोनों के बीच विवाद का विषय यह था कि कल्पित विषय के आधार पर वार्ता-रचना कविता है या पुराणों के आधार पर रसालंकार-मंडित-रचना कविता है। वल्लभ पुराण विषयक रसपूर्ण रचना करते थे। अतः इन्होंने अपनी रचनाओं में शामल पर कटु प्रहार किये हैं। प्रेमानन्द ने अपने एक शिष्य वीरजी को शामल जैसी कविता बनाने का काम सौंपा था। वीरजी ने 'सुरेखाहरण' लिखकर ऐसा प्रयास किया। इस पर वल्लभ ने टीका करते हुए कहा-'तू तो वीर-जी, अर्थात् स्त्री है। ऐसे स्त्रैण आदमी के द्वारा शामल की समकक्षता कैसे हो? समकक्षता तो मुझ सरीखों

की हो सकती है।' ऐसा कह वल्लभ ने शामल के 'अंगदविष्टि' से भी उत्कृष्ट 'कृष्णविष्टि' लिखा। उस काव्य में वल्लभ ने कृष्ण को विष्टिकार बताकर अंगद जैसे बन्दर को विष्टिकार बनाने वाले वीरजी की खिल्ली उड़ाई है। 'कृष्णविष्टि' देखकर प्रेमानन्द अतीव प्रसन्न हुए और वल्लभ से कुछ माँगने को कहा तो वल्लभ ने उत्तर दिया-'आपने कार्य के लिए प्रतिज्ञा ली थी, यह कार्य मैंने सिद्ध किया है। -ऐसा आप ही बताते हैं तो लीजिए यह पगड़ी पहनिये।' कहा जाता है कि प्रेमानन्द ने पगड़ी पहन ली थी।

वल्लभ की प्रकृति फक्कड़ एवं निडर थी। अतः ये 'वल्लभ फांकड़ो' नाम से प्रसिद्ध हुए। पिता प्रेमानन्द के निधन के पश्चात् इन्होंने अपने भाई जीवणराम से उत्तराधिकार में अपने पिता के ग्रन्थों के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं लिया था। फलस्वरूप वल्लभ को जीवन की उत्तरावस्था में आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा।

वल्लभ को गुजराती भाषा के प्रति असीम प्रेम था। इन्होंने अपनी रचनाओं में नवों रस प्रवाहित किये हैं। इनकी अधिकांश रचनाएँ महाभारत और भागवत पर आधारित हैं। इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं- (१) द्रौपदीहरण-टीका, (२) द्रौपदीवस्त्राहरण, (३) दशम-टीका, (४) भागवत-बारह स्कन्ध, (५) सुभद्राहरण, (६) रुक्मिणी-कृष्ण-संवाद, (७) कृष्णस्वधाम-गमन, (८) दुःशासनरुधिराख्यान (९) युधिष्ठिर-वृकोदर सम्वाद, (१०) कुन्ती-प्रसन्नाख्यान, (११) प्रकीर्ण पद आदि।

कवि का कृष्ण-गोपी विषयक एक पद दर्शनीय है:

सभी संध्याए संचर्या, जमुना जल भरवा। हाँ
हाँ रे—जमुना०
वाटे मल्यो वर्णागीयो, मारां दुखडां हरवा। हाँ
हाँ रे—मारां०
में पुण्यु मन भावतुं छबीला जी वारुं। हां हाँ रे
छबीला जी०
सारां छीर अमे सुंदरी, आशीष तमारुं हाँ हाँ
रे—आशीष०
कोई दिन घेर आवो नहीं, जातां ने वलतां। हाँ
हाँ रे—जातां०
श्रीवल्लभ प्रभु पातला, मारगडे मलतां। हाँ हाँ
रे—मारगडे०

'हम तो संध्या के समय यमुना का जल भरने निकलीं। मार्ग में मेरा दुःख हरने वाला छबीला (नटखट) मिला। मैंने मनभावन से पूछा—'छबीला जी कैसे हो?' 'हे सुन्दरी, तुम्हारी कृपा से हम सकुशल है। जाते और लौटते समय किसी दिन घर नहीं आते। श्रीवल्लभ के पतले प्रभु मार्ग में मिलते हैं।'

म. ई. प्र.

वल्लभ भट्ट

वल्लभ भट्ट के दूसरे दो नाम भी है-वल्लभ मेवाडो और वल्लभ धोला। तीनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं ऐसा सर्वस्वीकृत मत है। प्रेमानन्द के उत्तर-समकालीन मेवाडा जाति के वल्लभ भट्ट (सन् १७०० ई०) आरम्भ में वैष्णव कृष्णभक्त थे। इनके बारे में एक किंवदन्ती प्रचलित है। एक बार श्रीवैष्णव वल्लभ श्रीनाथ जी गये। वहाँ भूल से एक कोने में ये थूक बैठे। मन्दिर के रक्षक ने इन्हें डाँटा तो वल्लभ ने उत्तर दिया, 'माँ-बाप की गोद बच्चे बिगाड़ें तो इसमें क्या?' रक्षक ने कहा, 'माँ-ऐसा सहन करती हैं, किन्तु बाप नहीं।' इससे वल्लभ को प्रतीत हुआ कि बाप से भी माँ बच्चे को अधिक प्यार करती है। तभी से ये देवीभक्त हो गये।

वल्लभ ने माताजी की स्तुति के अनेक गरबे लिखे हैं। ये बहुचराजी माता के अनन्य उपासक थे। इनका जन्मस्थान तो अहमदाबाद था, किन्तु देवीभक्त होने के कारण वर्षों तक ये बहुचराजी में रहे थे। इनके माता-पिता के नाम नहीं मिलते, किन्तु धोला भट्ट, हरिभट्ट आदि ये चार भाई थे। वल्लभ के

गरबा-गरबी पद पूरे गुजरात में प्रसिद्ध हैं और नवरात्र के अवसर पर सर्वत्र गाये जाते हैं।

इन्होंने कृष्णविषयक रचनाएँ भी की हैं। इनमें 'प्रेमगीता' 'राधिकाजी ने गरबो' 'व्रजवियोग' 'सतभामानुं गरबो' आदिग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। मीराबाई के 'सतभामानुं रूसणुं' में निरूपित विषय ही वल्लभ के 'सतभामानो गरबो' का विषय है। 'कमला कंथना बार महिना' जैसे ऋतुकाव्य में वल्लभ ने राधाकृष्ण के प्रणय और विरह का मार्मिक चित्रण किया है। इनके 'व्रजवियोग' काव्य में कृष्ण वियुक्ता गोपी के विरह गान हैं।

वल्लभ भट्ट के दो काव्यांश यहाँ दिये जाते हैं :

('कमलाकंथना बार महिना' का आरम्भिक अंश)

कारतक मासे कमलाकंथके, मथुरां चालियारे लोल।
जइने कुबजाने दरबारके, मोहन म्हालिया रे लोल॥

श्यामा वाट जोता दिनरात के, दिवस घणा थया रे लोल।
पूरण सूघड छे महाराज के, फरि नहिं आविया रे लोल॥

मागसर मासे माहारूं मनके, धीरज नव धरे लोल।
हजु नहीं आव्या गोकुलनाथ के, नयणे नीर झरे रे लोल॥

'कार्तिक मास में कमला के कंत मधुरा चले गये। कुब्जा के दरबार में जाकर मोहन तो मौज करने लगे। दिनरात श्यामा बाट देखने लगी, बहुत दिन बीत गये। वे पुनः वापस न आये। मार्गशीर्ष मास में मेरा मन धैर्य धारण नहीं करता। अभी भी गोकुल के नाथ न आये, नयनों से निरन्तर अश्रु बहता है।'

उधव अरज हमारी सांभलो रे, कहेजो हरि ने जई।
मोहन मूकी मननो आमलो रे, आवो ने व्रजे वही॥

तमो अम साहामुं नीहालजो रे, रखे राखो रीस;
वळती व्रज ऊपर मन वालजो रे, पाग नमावुं शीष।

'हे उद्धव ! हमारी अर्ज सुनिये और जाके हरि से कहिए कि 'हे मोहन ! मन का क्रोध छोड़ व्रज में चले आइये। हमारे सामने देखना, रिस न रखना। व्रज पर मन मोड़ना, तुम्हारे पाँव पर सिर झुकाती हूँ।'

म. ई. प्र.

वल्लव

इनके जीवनवृत्त सम्बन्धी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। इन्होंने कृष्णविषयक गरबी-पदों की रचना की है। इच्छाराम सूर्यराम देसाई सम्पादित 'वृहत् काव्यदोहन' ग्रन्थ : ८ में वल्लव की कुल चार गरवियाँ उद्धृत हैं। इन रचनाओं में भक्त-कवि ने गोपियों की माधुर्य-भक्ति का सरस चित्रण किया है। एक गरबी पद दर्शनीय है :

पाये लागो गोपी बोल्यां, नंदकुंवर सांभलजोजी।
वृंदावन ने मारग जातां, नीत नीत सॉंलभजोजी॥
बोल्युं पलजो जी०
शा शा मसे मोहनजी, हुँ तो मही बेचवा आवुंजी।
नंदकुँवर सामा मलो तो, हेत करो बोलावुंजी॥
बोल्युं पलजोजी०
वदन कमल शामलिया तारूं निरखी आनंद पामीजी।
सहियरे मांहे समोतां थइए, संसारनुं दुःख वामी॥
बोल्युं पलजो जी०
कठण वचन कह्यां होय तो, क्षमा करो महाराज जी।
वल्लवनंद प्रभु बेहु कर जोडी, एम बोल्यां व्रजनारजी।
बोल्युं पलजोजी०

'कृष्ण के पाँव में लगकर गोपी बोली, 'नंदकुँवर सुनिएजी ! वृन्दावन के मार्ग जाते नित्य सम्हालना। वचन का पालन करना। किस किस बहाने मोहन जी, मैं तो दही बेचने आऊँ ? नन्द कुँवर ! मार्ग में आपसे भेंट हो तो मैं प्रेम से बुलाऊँ। संसार का दुःख कम करके सखियों के साथ सुख-सहयोग से रहें। हे महाराज, यदि कठिन वचन कहे हों, तो क्षमा करें। वल्लव के नंद प्रभु को दोनों हाथ जोड़ इस प्रकार व्रजनारी बोली।'

म. ई. प्र.

वस्तो विश्वंभर

गुजरात में इस नाम के दो सन्त कवि हुए हैं- वस्तो विश्वंभर और वस्तो डोडियो। ये दोनों एक हैं

या भिन्न यह निश्चयापूर्वक नहीं कहा जा सकता। बोरसद के लेडवा पाटीदार वस्तो डोडियो ने 'शुकदेवाख्यान' और 'सुभद्राहरण' की रचना की है।

वस्तो विश्वंभर के जीवन के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती. लेकिन इनके नाम पर अनेक रचनाएँ मिलती हैं। इनकी कृति में प्राप्त गुरु परम्परा के आधार पर प्रतीत होता है कि वस्तो का सम्बन्ध अखा की शिष्य परम्परा के संत हरिकृष्ण या जीवणदास अथवा जिवा मुनि नारायण के साथ रहा होगा।

'अमरपुरीगीता' के अन्त में वस्तो विश्वंभर ने लिखा है :

'संवत अठारसो बेताळीस मध्य।
अक्षर एक थया छे सद्य॥
आसो सुर छठ अजवाळी।
शुभ सबले ए बृहस्पति वार॥
गुजरात मध्ये खँभात गाम।
सकरपर मांहे छे निज ठाम॥'

इस कथन से ज्ञात होता है कि वस्तो विश्वंभर सं० १८४२ में संभात के पास सकरपुर गाँव में निवास करते थे। योगीन्द्र ज० त्रिपाठी ने 'अखो अने मध्यकालीन सन्तपरम्परा' ग्रन्थ में बताया है कि अखा के शिष्य लालदास लुणावड़ा के पास वीरपुरगाँव और उनके शिष्य जीवणदास लुणावड़ा के पास महानदी के तट पर शिमलिया गाँव के निवासी थे। वस्तो विश्वंभर भी उसी गाँव के समीप सकरपुर के थे। अतः इनका सम्बन्ध जीवणदास के साथ हो सकता है।

वस्तो की कई कृतियों का रचना काल सं० १८३१ के आसपास का है। इसके आधार पर ये प्रेमलक्षणा भक्ति के प्रसिद्ध रसकवि दयाराम के पुरोगामी सिद्ध होते हैं। वस्तो विश्वंभर की रचनाओं से प्रेरणा ग्रहण कर दयाराम ने गरबी-पदों की रचना की, ऐसा भी एक मत है।

वस्तो विश्वंभर का मूल नाम वस्ताराम प्रतीत होता है। इन्होंने अपने नाम के साथ श्रद्धाभाव से अपने गुरु विश्वंभर का नाम जोड़ दिया है, ऐसा भी एक मत है। इनके शिष्यों में अधिकांशतः खंभात के खारवा जाति के लोग थे, जिनमें विष्णुदास विशेष प्रसिद्ध हैं।

वस्तो विश्वंभर का व्यक्तित्व द्विविध है-ज्ञानमार्गी और प्रेमलक्षणा भक्ति मार्गी। अखा की शिष्य परम्परा से सम्बद्ध होने के कारण ये ज्ञान मार्गी थे परन्तु वस्तुतः ये प्रेमलक्षणा भक्ति के अमर गायक हैं। इनकी रचनाओं में ज्ञान और प्रेमाभक्ति का समन्वय मिलता है।

इन्होंने गुजराती तथा हिन्दी में रचनाएँ की हैं। इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं-वस्तुगीता, वस्तुविलास, अमरपुरी गीता, सखियाँ, गरबी पद, तिथि पद, श्रीकृष्ण विरह के महीने, गोपीकान-दानलीला, कक्का एवं प्रेमलक्षणा भक्ति के ३०० से भी अधिक पद। इनमें से 'वस्तुगीता', 'वस्तुविलास', 'अमरगीता', और कक्का वेदान्तविषक हैं किन्तु गरबियों एवं पदों में राधाकृष्ण प्रेमलक्षणा भक्ति की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। कई पदों में मीरा और दयाराम जैसी भावना-सौरभ की अनुभूति होती है। भक्ति-श्रृंगार के अनुरूप इनके पद कर्णमंजुलता, संगीतात्मकता और कोमल भावों की सान्द्र अभिव्यक्ति से सम्पन्न हैं। इनमें भक्त कवि की कृष्ण रूपासक्ति एवं प्रगाढ़ प्रीति के दर्शन होते हैं। ज्ञानी भक्त वस्तो की दृष्टि से प्रियतम श्रीकृष्ण ही परमतत्व या ब्रह्म हैं।

इनके रास-पदों में श्रीकृष्ण-राधा-रास के मनोहर शब्दचित्र अंकित हुए हैं। इनके लिखे थाल पद भी प्राप्त होते हैं। ऐसे पदों में भक्त कवि के गोपी भाव की अभिव्यक्ति मिलती है, जैसे–'मारे मन्दिर आव्या छे मोरारि, जोती वाट तमारी।' इनके गरबा पदों में संसार-संतप्त गोपियों की कृष्णप्रीति की धड़कन सुनाई पड़ती है। अनेक पदों में

वसन्त एवं होरी का मनोरम चित्रण हुआ है। डॉ० योगीन्द्र 'अखो अने मध्यकालीन सन्त परम्परा' ग्रंथ में वस्तो बिश्वंभर का सही मूल्यांकन किया है- 'जीवणदास के समान वस्तो निर्गुण मार्गी वेदान्ती कवि होने पर भी प्रेमलक्षणा भक्ति का अजब गायक हैं। करीब पाँच सौ से अधिक इसके कृष्ण भक्ति के पद प्रकाशित होंगे, तभी इसकी कविता का सच्चा मूल्यांकन होगा और गुजराती साहित्य में प्रेमलक्षणा भक्ति के गायक के रूप में इसका स्थान निश्चित होगा।'

वस्तो विश्वंभर के ज्ञानमूलक प्रेम लक्षणा-भक्ति परक दो पद यहाँ उद्धृत हैं :

आज मारे आंगणिये रंगनी रेलडी,
घणे घणे दहाडे पधार्या घेर,
अमो अबला नी आश पूरी,
मोहन कीर्धा रे अम पर महेर। आज०

सुखडां आप्यां ने रे दुखडां टालियां,
आव्याहवे मनना मान्या राज,
जनम मरणना भे भागी गया,
सीध्यां सहु भवसागरनां काज। आज०

लोक-वेद केरी रे लाज अळगी करी,
करीए व्हालाजी शुं वहेवार।
जे रस दुर्लभ के छे देवता,
ते तो उपन्यो हृदे मोझार। आज०

वेद-वेदान्ते तत्व सहु कहे,
तेनुं आ तो हार्द आव्युं हाथ,
वस्ता विश्वंभर संभर मळी रह्या,
नित नित रमीए तेनी साथ। आज०

'आज मेरे आँगन में रंग की धूम मची, बहुत दिनों के बाद हमारे घर श्रीकृष्ण पधारे हैं। हम अबलाओं की आशा पूर्ण की, मोहन ने मुझ पर कृपा की है। मन के माने राज अब आ गये। इन्होंने सुख दिये और दुख टाल दिये। अब तो जन्म-मरण के भय भाग गये और भव सागर के सब काज सिद्ध हो गये। लोक और वेद की मर्यादा दूर करके हम तो प्रीतम जी के साथ व्यवहार करते हैं। देवता लोग भी जिस रस को दुर्लभ बताते हैं वह हमारे हृदय में उत्पन्न हुआ है। वेद-वेदान्त में सब जिसको तत्व कहते हैं, उसका सार तो हमारे हाथ लग गया है। वस्तो के विश्वंभर पूर्ण रूप से हमें मिल गये, नित्य प्रति हम इनके साथ खेलती हैं।'

रंगरसिये रंगमां रे रसबस कीधां छे।
मोरली वजाडी रे मन हरी लीधां छे॥
वृन्दावनवासी रे वाहाला लागो छो।
मुख दीठे रे दुखडां सर्वे भागो छो॥
पातलिया बहाला रे प्राण अमारा छो।
तमे रहो छो सहुयां रे सहुथी न्यारा छो॥
गोठलडी तमसु रे मारे गाढी छे।
दुर्जनियां लोकवणी रे शानी आढी छे॥
काळजडां कोरी रे अंतर पेठा छो।
तमो वस्ता विश्वभंर रे मोढे मीठा छो॥

'रंगरसीले श्रीकृष्ण ने हमें रंग में सराबोर कर दिया है, मुरली बजाकर मन हर लिया है। हे वृन्दावन-वासी! आप तो प्रिय लगते हैं और मुँह देखते ही सब दुख दूर कर देते हैं। हे पतले प्रियतम, आप तो हमारे प्राण हैं, सबमें रहते हुए भी सबसे निराले हैं। आपके साथ मेरी दोस्ती तो प्रगाढ़ है, अब दुर्जन लोगों की चिंता कैसी? कलेजा चीर के आप तो मेरे अंतर में घुसे हैं। हे वस्तो के विश्वंभर! आप तो मुंह के मीठे हैं।'

म. ई. प्र.

वासणदास

वासणदास का समय सं० १६०० के आस-पास माना जाता है। इनका जीवन चरित अज्ञात रहा है। इनकी तीन रचनाएँ प्राप्त होती हैं—१. राधा रास, २. हरिचुआक्षरा और ३. सुभद्रानी कंकोतरी। ये

तीनों काव्य-कृतियाँ राधा-कृष्ण परक हैं। इससे विदित होता है कि ये राधा-कृष्ण के भक्त थे।

शार्दूलविक्रीड़ित वृत्त में रचित राधारास' काव्य में वृन्दावन में राधाकृष्ण के रास का वर्णन है। 'हरिचुआक्षरा' काव्य चुआक्षरा नामक दोहे में रचित है। इसके १०३ चरणों में वसन्त ऋतु में संपन्न कृष्ण की गोपांगनाओं के साथ रासक्रीडा का रम्य चित्रण है। 'सुभद्रानी कंकोतरी' १७ चरणों का 'घोल' पद है।

तीनों काव्यों के अन्तरंग परीक्षण से वासणदास के जीवन वृत्त सम्बन्धी कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती किन्तु इनकी रसमयी कृष्ण-भक्ति का पता अवश्य चलता है। 'राधा-रास' काव्य की हस्तप्रति सं० १६४८ की लिखी उपलब्ध है। इसके आधार पर वासणदास का जीवनकाल सोलहवीं सदी का मध्य भाग ठहरता है। इसी के आस-पास एक दूसरे वासण नामक कवि हुए हैं जिन्होंने 'सगाळशा-आख्यान' लिखा है।

पुनीत प्रकाशन मन्दिर (अहमदाबाद) की ओर से प्रकाशित 'प्रीतमना प्रेमीओ' (संपा० 'पुनीतपदरेणु') नामक ग्रन्थ में 'भक्त वासण जी' के चरित-प्रसंग निरूपित हैं। 'वासणदास' और 'भक्त वासण जी' दोनों भिन्न-भिन्न हैं या अभिन्न इसका निश्चय नहीं हो पाता। भक्त वासण जी जामनगर (नवानगर) के निवासी थे और जाति के मोची थे। ये आरंभ में मन्त्र-तन्त्र एवं मलिन विद्या के उपासक थे, किन्तु बाद में इनको अपनी ऐसी विद्यासाधना के प्रति घृणा हुई और वैष्णव गुंसाई जी सम्पर्क से इन्होंने 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मन्त्र अंगीकृत कर वैष्णवी दीक्षा ले ली और पुष्टिमार्गीय वैष्णव के रूप में प्रसिद्ध हुए।

नीची मानी जाने वाली मोची जाति के होते हुए भी एक परम तेजस्वी वैष्णव के रूप में वासण जी की ख्याति सुनकर उच्चवर्गीय ब्राह्मण इनको ईर्ष्याद्वेषपूर्ण दृष्टि से देखने लगे। इनके वैष्णवी रूप को ब्राह्मणों ने अपना अपमान समझा। उन्होंने यह बात नवानगर के राजा को बताई फलतः वासणजी को राजाज्ञा से राजसभा में उपस्थित होना पड़ा। राजा ने इनसे कहा, 'मोची होकर ब्राह्मण धर्म का पालन करता है?' वासण ने उत्तर दिया, 'गुंसाई जी ने मुझे दीक्षा दे वैष्णव धर्म पालने का अधिकार दिया है।' इस पर राजा ने कहा, 'हे वासण, ब्राह्मण भ्रष्ट होने पर शूद्र जैसा हो जाय, परन्तु कहीं शूद्र ब्राह्मण हो सकता है? दूध में से छाछ होती है, परन्तु क्या छाछ में से दूध हो सकता है? 'तब वासण ने उत्तर दिया, 'भगवान् की कृपा से यह भी संभव है।' बाद में वासण की परीक्षा करने के लिए छाछ को दूध बनाने को कहा गया और सभी के आश्चर्य के बीच वासण जी ने पात्र में रखी छाछ को दूध बना दिया। सभी वैष्णवों ने वासण जी को प्यार से गले लगा लिया।

वासणदास की काव्यशैली के निदर्शन के लिए यहाँ इनके पदों के दो अंश दिये जाते हैं :

बृंदावन रलीआमणुं अनि रूडो माधव मास।
रुडा मोर कला धरे, स्वामी पूरो आस॥

रुडी ते शोभा सुंदरी, अनि रुडां ते पहेरां चीर।
एक एक कंठि बाहु धरे, यमुना केरी तीर॥

'रमणीय वृन्दावन है और रम्य माधवमास है। सुंदर मोर कला धारण करते हैं। हे स्वामी! हमारी आशा पूर्ण करो। सुन्दरियों की शोभा तो मोहक है और उन्होंने सुन्दर चीर पहने हैं। यमुना के तीर ये सब एक दूसरे के गले में बाहु धरके खड़ी हैं।'

लीधो हार अपार हर्ष पांमी राधा ते गर्वी रही।
जाण्युं रूप स्वरूप अंगे माहारुं, बीजुं ते केहनुं नहीं॥

ते जाणुं हरिरूप ब्रह्मज्ञांने मांने हुई अंगना।
लीधू रूप स्वरूप नारि केरुं ने हारवे मंगना॥

'भगवान् द्वारा दिया हुआ हार अपार हर्ष के साथ लेकर राधा गर्वित हुई। मेरा ही स्वरूप भगवान् के अंग में दृष्टिगत हुआ, दूसरे किसी का नहीं। ब्रह्मज्ञान से अंगना के रूप में मैं हरि का रूप जानती हूँ। उसी

हार में श्रीकृष्ण ने मानो नारी स्वरूप धारण कर लिया।'

इनका लीलासम्बन्धी एक अन्य पद देखिए—

ते दीठी छवि साथे राधिक तणी आ कोण दीसे रही।
मोडे अंग अनंग अति गेगति चाले वही॥

रूपे रूप स्वरूप चंद्रवदनी न के ते फूली धरी।
वेणी वाशिग नागलक्षण घणां वत्रीतथी ऊफरी॥

बोली बोल अपार मनि आणि उठ्या हरि हर्ष शुं।
नाह्या देव अपूर्व चीर पहिर्या भावि हरि च्यंत शुं॥

बेठा बेउ मुरारि मांहि जमवा मांडी ते थाळी भली।
प्रीशां अंन अनेक प्रेम सरसां भावे ते चन्द्रावली॥

पीधां अमृत पान मान सरसां चाल्यां ते रमवा हरी।
लीला अंगि गहे पडी ते लडसे श्री कृष्ण बांहेधरी॥

पहोता मंदिर मांहे बेहु बालां लीलां हसे हाथशुं।
छांड्यो एक पलंग फूली रुडो कोळी भरी पान शुं।

त्यांहां खेल्या बहु खेल मँनि गमतां वाडी भलीमा जई।
वाजे चंगमृदंग गांनमांन आवो ते मेहउ मही॥

म. ई. प्र.
अं. शं. ना.

विंझात

भक्त विंझांत ने सौराष्ट्र प्रदेश में मूल द्वारका के रूप में ख्यात विसावाड़ा के यदुवंशी महेर कुल में जन्म धारण किया था। इनका समय सन् १२०६ ई० के आसपास का है। इनके जीवन के बारे में पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं होती, परन्तु ये महेर भक्त द्वारकाधीश के अनन्य उपासक थे, यह बात अतीव प्रसिद्ध है। डाकोर के भक्त बोडाणा के समान विंझात का नाम भी अनन्य कृष्ण भक्त के रूप में लोकख्यात बन गया है।

प्रतिदिन भगवान् द्वारकाधीश श्री रणछोड़ राय की पताका का दर्शन करके ही अन्न ग्रहण करने का विंझात का अटल व्रत था। इसके लिए ये नित्य विसावाडा से घोड़ी पर सवार हो कुरंगा गाँव तक जाते और वहीं से द्वारका के जगन्मन्दिर की ध्वजा के दर्शन कर लौट जाते थे।

एक दिन की बात है। घोड़ी पर बैठे हुए और द्वारकाधीश के भजन-पद गाने में तल्लीन ये द्वारकाधीश की ओर प्रस्थान कर रहे थे। उसी समय इन्होंने एक ब्राह्मण देखा। किंवदन्ती है कि उसी ब्राह्मण के वेष में चतुर्भुज भगवान ने भक्त विंझात को दर्शन दिया। भक्त ने देखा कि ब्राह्मण अदृश्य हो गया है और सामने रणछोड राय की प्रतिमा पड़ी है। इसी प्रभु-मूर्ति को उठा कर ये अपने गाँव विसावाडा ले आये और धूमली के राजवी की सहायता से मन्दिर बनाकर उसकी स्थापना की। इस प्रकार मूल द्वारका विसावाडा में भगवान् द्वारकाधीश विराजमान हुए।

इस घटना के पश्चात् एक दिन विसावाड़ा के समुद्र में झंझावात के कारण एक मग्न नौका किनारे पर आ लगी। जनश्रुति है कि भक्त विंझात को इस नौका में से बहुत सम्पत्ति प्राप्त हुई और इसका सदुपयोग करके इन्होंने बाद में विसावाडा में दूसरे भव्य मन्दिरों का निर्माण कराया। मन्दिरों के प्रांगण में प्रस्थापित भक्त विंझात की प्रतिभा के निम्न भाग में स्थित शिलालेख में उल्लेख है कि सं० १२६२ में इन मन्दिरों का निर्माण हुआ। विंझात द्वारा स्थापित रणछोड राय जो की मूर्ति के पास धूमली के राजा विक्रमादित्य ने अपने पूर्वज 'सिंह' की मूर्ति की प्रतिष्ठा की।

वि० सं० १२१२ (सन् ११५६ ई०) में भगवान् द्वारकाधीश भक्त विजय सिंह बोडाणा पर प्रसन्न हुए और स्वयं डाकोर गये। वि० सं० १२६२ (सन् १२०६) में भगवान् महेर भक्त विंझात पर प्रसन्न हुए और विसावाड़ा गये। वि० सं० १५०१ (सन् १४१४ ई०) में भगवान् रणछोड़ जी पर्वतदास पर प्रसन्न

होकर मांगरोल की गोमती वापी में गये। तत्पश्चात् ये द्वारकाधीश मांगरोल से जूनागढ़ आये, ऐसा भी एक मत है। इन जनश्रुतियों से सम्बद्ध घटनाओं से यह प्रतीत होता है कि जब कभी द्वारकाधीश के मन्दिर पर आपत्ति आयी है, उसी समय भगवत् विग्रह को बचाने के लिए अन्यत्र ले जाने के प्रयास भक्तों द्वारा हुए हैं।

भक्त विझांत की कोई रचना प्राप्त नहीं होती।

म. ई. प्र.

विश्वनाथ जानी

गुजराती साहित्य के रससिद्ध महाकवि एवं आख्यानकार प्रेमानन्द के पुरोगामी एवं भालण के पश्चात् गुजरात प्रदेश की भाषा की पहचान 'गुर्जर-भाषा' के रूप में कराने वाले विश्वनाथ जानी उत्तर गुजरात के पाटण क्षेत्र के निवासी थे। ये जाति से नागर या औदीच्य ब्राह्मण थे और सन् १६६२ ई० के आस पास विद्यमान थे। इनका जीवन परिचय अज्ञात है, किन्तु इनकी रचनाएँ गुजराती साहित्य में प्रसिद्ध हैं। गुजरात के सत्रहवीं सदी के कवियों में इनका स्थान महत्वपूर्ण माना जाता है। प्रेमानन्द ने भी कुछ सीमा तक विश्वनाथ की कतिपय रचनाओं का अनुसरण करके काव्य-सर्जन किया है।

विश्वनाथ की रचनाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये उच्चकोटि के कृष्णभक्त कवि हैं। वे हैं : मामेरुं (मोसाळा चरित्र), सगालशाचरित्र, नरसिंह महेतानुं चरित्र, प्रेमपचीसी और चातुरी-चालीसी। विश्वनाथ के नाम पर 'रसिक-राज' या 'राधाकृष्ण-विनोद' नामक काव्य भी प्राप्त होता है, परन्तु इसका कर्तृत्वसंदिग्ध है।

'मामेरुं' या 'मोसाळा-चरित्र' विश्वनाथ की यशस्वी कृति है, जिसमें महान् कृष्ण भक्त कविवर नरसिंह मेहता के जीवन के साथ सम्बद्ध मामेरा का प्रसंग वर्णित है। अपने आख्यान काव्य 'मामेरुं' के सर्जन में महाकवि प्रेमानन्द को यह कृति प्रेरक सिद्ध हुई थी। वात्सल्य-रसपूर्ण भागवतानुसारी उद्धव संदेश-काव्य 'प्रेमपचीसी' विश्वनाथ की उत्कृष्ट प्रज्ञा का उत्तम फल है। असीम वैभव होते हुए भी कृष्ण को मथुरा में रहना क्यों पसंद नहीं ? देवकी की इसी मातृ हृदय की सहज चिन्ता के निरूपण से काव्य का प्रारम्भ होता है।

एक पद में भक्त कवि ने यशोदा के निर्व्याज-स्नेह तथा मातृ हृदय की व्यथा की चित्रात्मक शव्दावली कृष्ण के मुख में रख दी है :

आलिंगन एणी पेरे देवी, आंसुए भींजतो वांसो रे,
ते टळवळती त्यांहां मेहेली, सास घर्यानो सांसो रे।
माहारी मावडी रे।

'प्रेमपचीसी' के २५ पदों में उद्धव का ब्रज में आगमन, कृष्ण संदेश कथन, नन्द-यशोदा के वात्सल्य-वेदनापूर्ण भाव, ब्रजांगनाओं के संस्मरण, विरह-संतप्त गोपियों की अनन्य प्रेमलक्षणा-भक्ति से उद्धव का प्रभावित होना आदि का वर्णन भक्त कवि ने कुशलता-पूर्वक किया है। इस निरूपण में सर्वत्र विश्वनाथ का कृष्ण प्रेम दिखाई पड़ता है। कृष्ण दर्शन की तीव्र अभीप्सा प्रकट करके भक्त कवि ने सगुण भक्ति का महिमागान किया है।

विश्वनाथ रचित 'चातुरी चालीसी' के ४० पदों में कृष्ण-गोपियों के मधुर सम्बन्ध की मनोहर अभिव्यक्ति हुई है। विप्रलंभ शृंगार के निरूपण में भक्त कवि की कृष्ण मिलनेच्छा प्रबल हो उठी है। कृष्ण भक्त सगाळशा और चेलैया की सुख्यात कथा पर आधारित 'सगाळशाचरित' (२३ पद) करुणरसपूर्ण तथा भक्ति प्रधान आख्यान काव्य है। 'नरसिंह महेतानुं चरित्र' में कवि ने भक्त प्रवर नरसिंह के जीवन के साथ संबद्ध चमत्कारी घटनाओं का काव्यात्मक चित्रण किया है।

इस प्रकार कृष्ण भक्त नरसिंह एवं कृष्ण गोपी विषयक भक्ति काव्यों का सर्जन करके विश्वनाथ

जानी ने कृष्ण भक्ति का माहात्म्य प्रतिपादित किया है।

यहाँ 'प्रेम पचीसी' के दो अंश प्रस्तुत हैं। इनमें देवकी और कृष्ण की मनोव्यथा प्रकट हुई है :

(१)

कहे देवकी श्रीकृष्ण, सांभल्य मारा तंन।
मोहन जी मथुरा विषे शें, नथी मानतुं मंन ॥

हुं आपुं सारी सुखडी, मारा सुंदर श्यामशरीर।
निसासो ऊंडो कां, नेत्रे भरो छो नीर ॥

• • •

श्रीकृष्ण कहे माता सुणो ! मुने वाहालो ब्रजनो साथ।
हैडेथी नव उतरे मुने, जशोदा जी नो हाथ ॥
सीकुं ते स्कन्धे धरी में, गोकुल चारी गाय।
ते वैभव वैकुंठे नथी तो, क्यां थी मथुरा मांह्य ॥

'देवकी ने श्रीकृष्ण से कहा : हे मेरे शरीर ! तू सुन। हे मोहन जी ! तुम्हारा मन मथुरा में क्यों नहीं लगता ? हे मेरे सुन्दर श्याम शरीर ! मैं तुम्हें अच्छी सुखडी (एक प्रकार का पक्वान्न) देती हूँ तो भी दीर्घ निःश्वास छोड़ क्यों नयन नीर से भर लेते हो ?'

'श्रीकृष्ण ने कहा : माता ! सुनिए। मुझे ब्रज का संग प्रिय है। मेरे हृदय पर से यशोदा जी का हाथ उतरता ही नहीं है। छीका कन्धे पर धारण करके मैंने गोकुल में गौएँ चरायी हैं। वह वैभव वैकुण्ठ में नहीं है तो मथुरा में कैसे हो सकता है ?'

निम्नांकित पद में श्रीकृष्ण वियोग से व्यथित नंद जी उद्धव जी को अपने मन की बात बताते हुए कहते हैं :

(२)

'मुने आशा एक छे, जे जाणी छे वात।
हुँथी अधिक शोगणी वहाली ऐनी मात ॥
अविनय एह घणा तणा, सुण्य वहाला रे।
एम कठण न कीजे मन, कुँवर जी काला रे ॥

उद्धव ! अहां जुओ आँखडी, सुण्युं वहाला रे।
ज्यम श्रावण बरसे मेह, कुँवर जी काला रे ॥

गोपबधू बाटे मले, सुण्युं वहाला रे।
नीचुं निरखी रुए, कुँवर जी काला रे ॥

मोहन मुख देखाडीए, सुण्युं वहाला रे।
आवी ने आणे घेर, कुँवर जी काला रे ॥

मरतां जाणीने आवशो, सुण्युं वहाला रे।
तो करावुं तमने लाड, कुँवर जी काला रे ॥

नंद जी का अंतिम संदेश बड़ा ही हृदयद्रावक है वे उद्धव से कहते हैं :

'आवो जी एकबार, काना आवोजी एक बार।
दिन दश रहीने चालजो जी, प्राण तणा आधार ॥

नहानो सरखो नेसडो रे, काला घेलां लोक।
गोकुल आवो कहानजो रे, तेहनो टालवाने शोक ॥

भार उतारो रे भूधरा रे, धरडो जाणीने लाल।
कहोने मननुं दुख करे, मोहन तारी मात ॥

जो मथुरामां वसवुं गमे रे, तो तेडो अनने साथ।
कहोनी केही विध राखिए रे, प्राण विनानां शरीर ॥

लोकमानस में प्रतिष्ठित 'मोशाळा-चरित्र' की एक भक्तिपूर्ण झाँकी देखिए :

एणीपेरे मेहते मांडयुं गानजी।
समर्थ स्वामी श्री भगवान जी ॥

समर्थ श्री भगवान समर्था, अंतर गति आहालाद।
घाणे ठामे आवी साहाय कीधी, सांभळी भक्त नी साद ॥

अजामल ने एके नामे आप्यो बैंकुंठ वास।
साधन सांहामुं न जोयुं प्रभु मन भासो दास ॥

गजराज ग्रह्यो ग्राहे. तेनी कीधी वाहार।
अरध नामे ओधरीयो, हरि समरथ जगदाधार ॥

गोवरधन गिरि करधरीने, राख्यां वच्छ गोपाल।
गुरुपुत्र आणी आपीयो ने, पीधो पावक झाल ॥

अमरीष ने उगारीयो, पंचाली पुरयां चीर।
दुर्जोधनना दुःखथी, उगारीया पांचे वीर ॥

'उस ओर नरसिंह मेहता ने समर्थ स्वामी भगवान् का गान प्रारंभ किया। अंत में आह्लाद के साथ नरसिंह ने समर्थ भगवान् का स्मरण किया और प्रार्थना करने लगे -- हे श्रीकृष्ण ! आपने तो भक्त की बात सुन अनेक स्थानों पर आकर सहायता की है। अजामिल को केवल एक नाम पर वैकुण्ठ-वास दिया, साधन की ओर न देखा, प्रभु के मन में तो दास ही दिखाई पड़ा। मगरमच्छ ने गजराज को पकड़ा तो भगवान उसकी सहायता के लिए दौड़े, समर्थ और जगदाधार हरि ने अर्धनाम पर ही उसका उद्धार किया। गोवर्धन पर्वत हाथ में धारण कर उन्होंने वच्छ और गोपालों की रक्षा की, गुरुपुत्र लाके दिया और अग्नि ज्वाला का पान किया। श्रीकृष्ण ने अंबरीष का उद्धार किया, द्रौपदी को वस्त्र प्रदान किये और दुर्योधन के द्वारा दिये जाते हुए दुखों से पाँचों ही वीरों (पांडवों का) त्राण किया।'

म. ई. ग्र.

अं. श. ना.

विष्णुदास (खंभातवाले)

विष्णुदास खंभात (स्तंभतीर्थ) के निवासी नागर ब्राह्मण थे। इनके जीवन विषयक अपेक्षित जानकारी उपलब्ध नहीं है। ये विशेष पढ़े लिखे नहीं थे किन्तु पौराणिक शास्त्रियों के संसर्ग से रामायण और महाभारत की कथाओं का रसानुपान करके उसका गुजराती में पद्यानुवाद करने का इन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया है।

आख्यान, चरित, कथा तथा रामायण के अनेक प्रसंगों और महाभारत के विविध पर्वों की कथा के पद्यानुवाद के अतिरिक्त कवि विष्णुदास कृष्ण भक्त कवि नरसिंह मेहता के जीवन संबंधी 'मामेरुं' 'हुंडी' जैसे प्रसंगों को लेकर काव्य लिखने का प्रयास करने वालों में अग्रगण्य हैं। इनके महत्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आख्यान शिरोमणि गुजराती महाकवि प्रेमानन्द ने भी इनकी विशाल साहित्य सृष्टि से प्रेरणा ली है।

श्रीकृष्ण के लीलावर्णन में बाललीला में इनकी वृत्ति विशेष रूप से रमी है। इस दृष्टि से 'माता जशोदानुं हालरडाँ 'इनकी एक अनूठी रचना है। इसमें माता यशोदा के श्रीकृष्ण को पालने में झुलाने और इकट्ठे हुए ग्वालबालों को रामकथा सुनाने का वर्णन है। यहाँ भक्त कवि ने राम कथा को संक्षेप में यशोदा की 'लोरी' में रख दिया है।

विष्णुदास राधा कृष्ण के अनन्य उपासक थे। एक स्थान पर श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति भाव प्रकट करते हुए ये लिखते हैं :

'गंगाजी नो सुत विष्णुदास।
सदा श्रीकृष्ण ज मुने तारी आश।।

इससे यह विदित होता है कि इनकी माता का नाम गंगा था। इनकी रचना का एक उदाहरण देखिए :

श्री हरिना गुण गातां गातां प्राशत जाये प्रौढ़।
रामतणां एवां चरित्र सुणी, थई रह्यो दिक्मूढ़।।
गाय शीखे ने सूणे सुणावे, पहोंचे मननी आश।
घर बेठां सुख संपत आवे, अविचल पद विष्णुदास।।
हरि हरखे झुलावे माता हालरडुं गाय जो।....

अं. शं. ना.

वीर जी

वीर जी महाकवि प्रेमानन्द के शिष्य और जाति से मोठ चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। ये अनुमानतः सत्रहवीं सदी में हुए थे। ये मूलतः बरानपुर के निवासी थे किंतु बाद में ये बडोदरा में आकर स्थायी रूप से रहने लगे थे। इनका हस्त-लेख बहुत ही अच्छा था। इस कारण प्रेमानन्द इनसे अपने ग्रन्थों की प्रतिनिधि कराते थे। इसी प्रकार इनका कंठ भी बहुत मधुर था। प्रेमानन्द के काव्य का ये प्रतिदिन गान करते थे। गुरुदेव ने फारसी-उर्दू की शैली में काव्य रचने का काम इन्हें सौंपा था। इनका शामल से काव्य-चर्चा करते समय झगड़ा हो गया था। फलस्वरूप

इन्होंने "सुरेखा हरण" की रचना की। इनकी कुल सात कृतियां मिलती हैं : ओखाहरण, सुरेखाहरण, कामावनीनी कथा, बलि गजानुं आख्यान, दशअवतार, काकुराज कथा तथा व्यास कथा।

ल. पि. ग.

वीर सिंह

वीरसिंह का आविर्भाव काल तेरहवीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने हरिवंश तथा भागवत पुराण के आधार पर 'उषाहरण' की रचना की थी। इसमें श्रृंगार के साथ वीर रस की अच्छी व्यंजना मिलती है। यह दोहा-चौपाई छन्द तथा केदारा राग में लिखी गई है। 'उषाहरण' के अतिरिक्त इनकी एक और कृति 'भरतेश्वर-बाहुबली-रास' मिलती है। इसका निर्माण सं० १२४२ में हुआ था। इसमें गद्य का भी प्रयोग हुआ है। इससे विदित होता है कि ये जैन धर्मानुयायी थे। फिर भी कृष्ण चरित वर्णन में इनकी अगाध आस्था व्यंजित होती है। कविता में ये अपनी छाप 'वर सम' रखे थे।

इनकी रचना का एक उदाहरण प्रस्तुत है :

आठमई अवतार कंस मारयाखाड़ि भारो।
बलि तणु वाण अमावस हारी॥

यादववंस पधारि सील सहस्त्रकारी।
बरसंम भणा द्वापर युग मझारी॥

अं. शु.

वैकुंठदास

पुष्टिमार्गीय गोकुलनाथ के शिष्य वैकुंठदास का समय १७ वीं शती का पूर्वार्ध है। इन्होंने भागवत-रासपंचाध्यायी के आधार पर ३६५ पदों में 'रासलीला' नामक काव्य की रचना की है। इस ग्रंथ के अन्त में भक्त-कवि ने अपने नाम के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेख नहीं किया है :

कथा कहेतां आस पोहोती सकल वैकुंठदास नी।
एक रसना तो शुं करुं केटली कहीए शोभा रासनी॥

इनके काव्य की भाषा मध्यकालीन गुजराती है। इसके अतिरिक्त वैकुंठदास के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है।

'रासलीला' में से आरम्भिक अंश यहाँ उद्धृत है :

प्रथमि प्रणमं श्रीगोकुलचंदनि
रसिकशिरोमणि आनंदकंदनि।

पार अगम छि जेहनो छंदनि,
ते कंम आवि उर मतिमंदनि॥

मूढ-मंदमती क्यंम वर्णवूं जे इस ब्रह्मा नव लहि।
अकल लीला कृष्ण केरी नित नित ते शुनि कहि॥

'सर्वप्रथम मैं श्रीगोकुलचन्द्र, रसिकशिरोमणि आनन्दकन्द को प्रणाम करता हूँ। छन्दों (वेदों) के लिए भी जिनकी महिमा का पार पाना अगम्य रहा है, ऐसे श्रीकृष्ण मन्दमति के उर कैसे आयें ? जिनको ईश्वर-ब्रह्मा भी नहीं देख सकते, उनका वर्णन कैसे करूँ ? श्रीकृष्ण की लीला तो नित्य-अकल-अगम्य है।'

म. ई. प्र.

शंकर 'जनसेवक'

शंकर 'जनसेवक' का उपस्थिति काल वि० सं० की १७ वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। ये विट्ठलनाथ जी के पौत्र मुरलीधर जी के शिष्य थे। पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों एवं श्री वल्लभाचार्य जी के उपदेशामृत का सारतत्व कवि शंकर ने अपनी चार काव्यकृतियों में प्रस्तुत किया है। ये हैं : 'कलिप्रबोध, सारसिद्धान्त स्नेहमंजरी और रसानन्द। 'स्नेहमंजरी' के आरंभ में गुरु मुरलीधर की वंदना की गई है :

'श्री वल्लभचरणकमलने बंदू, जे अनंद केरुं धाम।
दैवो जंनने शरणे राखो, आपो अभय पद विश्राम।
श्री विट्ठल गोबरधनधारी, प्रगट्या भूतला मांहे।
एकरूपे अनेक थे, कीधो भक्तउधार॥

अद्भुत स्वरूपअनूप मनोहर, श्री मुरलीधर महाराज।
कृपा करो कर साहो सेवकनो, सरो संघलां काज॥

यहाँ कवि ने नम्र भाव से स्वयं को सेवक बताया है। रसानन्द काव्य के भी अंत में 'सेवकजन' आया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'जनसेवक' या सेकवदास कवि का उपनाम था। 'सार सिद्धान्त' काव्य में यद्यपि कवि ने अपना नाम 'शंकर' बताया है, फिर भी लक्ष्य सेवा-सुख ही माना है। इससे भी उपर्युक्त धारणा का समर्थन होता है।

गूढ विचार प्रकासीयो, श्री वल्लभचरण हृदया धरी।
बेउ कर जोडी वीनवे शंकर, सेवासुख आपो हरी॥

इन्होंने अपने काव्य ग्रन्थों में शुद्धाद्वैत वेदांत के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति आदि तत्त्वों का निरूपण तथा पुष्टि मार्ग की विधि-प्रक्रिया का अत्यन्त सरल भाषा में आलेखन किया है। पुष्टि मार्ग के प्रखर कवि दयाराम के २५० वर्ष पूर्व कवि शंकर का यह प्रयत्न विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। गुजराती में पुष्टि मार्ग विषयक सर्वप्रथम सैद्धान्तिक निरूपण करने का श्रेय कवि शंकर को ही है।

अं. शं. ना.

शान्ति दास

शान्तिदास के जीवन के सम्बन्ध में अपेक्षित सामग्री अनुपलब्ध है।

'बृहत् काव्य दोहन' ग्रन्थ ५ में शान्तिदास के कृष्ण गोपीलीला विषयक १० पद संगृहीत हैं। इन पदों से प्रतीत होता है कि ये कृष्ण की माधुर्य भक्ति के उद्गाता हैं।

इनकी भाव भक्ति के परिचायक दो पद प्रस्तुत हैं :

(१)

धन घडी धन दाडलो रे, में मोहन दीठा।
मुख मुरडी ने शुं कहुं, लागो छो मीठा॥

मन गल्युं गोविंदनुं, गोपीने गाने।
लोकलाज सउ बीसरी, मोरली ने ताने॥

वालापणुं वाध्युं घणुं, वालाने जोगे।
तम सरीखुं त्रिकमा, दीठुं नहीं ओगे॥

सर्वस सोंप्युं शामने, हइडे जे हुतुं।
केहे शांति रस रुपमां, मारुं मन गुनुं॥

'आज तो धन्य घड़ी और धन्य दिन है। मैंने मोहन को देखा। मुँह मचकोड क्या कहूँ, आप तो मीठे लगते हैं। गोपी के गान में गोविन्द का मन पिघल गया। मुरली के तान में सब लोक-लज्जा भूल गई। प्रियतम के संयोग से प्रेम बहुत बढ़ गया। हे त्रिविक्रम! तुम सरीखा मैंने पहले किसी को नहीं देखा। हृदय में जो कुछ था, वह सर्वस्व श्याम को सौंप दिया। शान्तिदास कहते हैं कि रस रूप में मेरा मन डूब गया।'

(२)

वारी जाउं रे विठला हुं वारे वारे।
त्रिकम मलया तारवा अमने निरधारे॥

पूर्वनुं पुन प्रगटयुं, हुँ शुं कहुं माडं।
शामलीयाना संगथी, लुटीओ सुख दाहाडी॥

भावट भांगी भवतणी, भलुं भायग जाग्युं।
मनना मनोरथ सउ मव्यां, हवे शुं मागुं॥

वहाल पधारी बालमा, हवे कां जाओ।
केहे शांति रुडुं गणो तो, गोविंद गुण गावो॥

'रे विट्ठल! मैं तो बार बार वारी जाती हूँ। हम निराधार को तारने त्रिकम मिले। पूर्व का पुण्य प्रकट हुआ, मैं क्या कहूँ? साँवले कृष्ण के संग से हम तो सदैव सुख लूटते हैं। संसार की उपाधि टल गई। अच्छा भाग्य जगा। मन के सब मनोरथ पूर्ण हुए, अब क्या माँगू? हे प्रियतम! प्रेम बढ़ाके अब कहाँ जाते हो? शान्तिदास कहते हैं कि रूरा मानो तो गोविन्द के गुण गाओ।'

म. ई. प्र.

शामल भट्ट

शामल भट्ट का जन्म संवत १७३९ में श्रीगोड मालवी ब्राह्मण जाति में वेगणपुर गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम वीरेश्वर तथा माता का

आनन्दाबाई था। इनके गुरु का नाम नाना भट्ट था, ऐसा कहा जाता है। मातर परगने के सिंहज गाँव के वासण वंश के काउली कुल के लेडवा कडबी पटेल रविदास ने इनको अपने गाँव में बुलाकर आश्रय दिया था।

शामल प्रेमानन्द के समकालीन थे। इन्होंने लगभग १२५ वार्ताएँ लिखी है। संसारी वार्ताओं के महाकवि के रूप में इनकी गणना होती है। शामल भट्ट ने गुजराती काव्य में दोहा, छप्पय, कवित्त आदि को पुनः प्रतिष्ठित किया था। प्रेमानन्द के शिष्य वीर जी से काव्य चर्चा में इनका झगड़ा हो गया था। कहा जाता है कि इनका देहावसान संवत् १८०० के पश्चात् हुआ। इनकी १७ रचनाएँ तथा कुछ वार्ताएँ मिलती हैं। उनके नाम हैं–पद्मावती नी वार्ता, वैताल पचीसी, नन्दबत्रीसी, पंचदंड, अंगदविष्टि, शामलरत्नमाल, पान नी वार्ता, बत्रीसी पुतलीनी वार्ता, सूवाबहोतेरी, शिवपुराण, चन्द्र चन्द्रावती, महापचीसी, रणछोड़जीना श्लोको, रेवा खण्ड, बोडाणो, द्रौपदी वस्त्रहरण तथा भक्त माल।

ल. पिं. ग.

शिवदास

शिवदास संवत् १६६७-७७ की समयावधि में विद्यमान थे। इन्होंने रचनाओं में अपना स्वल्प परिचय दिया है। उससे ज्ञात होता है कि इनका जन्म दक्षिण गुजरात के खंभात क्षेत्र में हुआ था। जाति के ये वडनगरा नागर ब्राह्मण थे। इनके गुरु का नाम भूधर व्यास था। ये गुजरात से दक्षिण भारत के बीजापुर राज्य में जाकर बस गये थे। वहाँ इन्होंने कतिपय रचनाएँ कीं। 'द्रौपदी स्वयंवर' नामक काव्य की रचना इन्होंने बीजापुर में ही की थी:

श्रीदक्षिण बिजापुर मध्ये, कीधो ए कथा-पदबन्ध।
शिवदास कहे मुने राखजो, शरणे स्वामी श्रीगोविन्द।

कहते हैं कि इन्होंने तीन दिनों में ही 'कृष्ण-बाललीला' की रचना की थी। संवत् १६६७ में रचित इस काव्य का मूलाधार है—भागवत का दशम स्कन्ध। इस काव्य में भक्त कवि ने अपना परिचय भी दिया है:

धन्य धन्य ये को सांभले कान्य।
जन शिवदास वदे मूक्ष वांण्य॥

माहारो श्रीगुरु व्यास भूधर श्रुतिज्ञान।
नीगम च्यार धरि ये हाथ॥

विष्णुदास और शिवदास सहाध्यायी माने जाते हैं। भूधर व्यास की आज्ञा से ही शिवदास ने विष्णुदास की समकक्षता प्राप्त करके काव्य-रचना का आरम्भ किया था। इनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं।

'द्रौपदी-स्वयंवर' में से एक अंश यहाँ उद्धृत है:

एक बरस श्रीकृष्ण रह्या, ते पांडवना घरमांहे।
कालिंदी परणीने लाव्या, द्वारामती पुरमांहे॥
पछे पांडव सुख पाम्या परिपूरण, श्रीकृष्ण कृपाथी पाण।
भारत आदिपर्व कथाए, पूर्ण थई परमाण॥
वैशंपायन कहे जन्मेजयने, पावन ए इतिहास।
द्रौपदी स्वयंवर जो गाय सांभले, पोहोंचे मननी आश॥

'उस पाण्डव के घर श्रीकृष्ण एक वर्ष तक रहे। द्वारावती नगर में ये कालिंदी को व्याह कर लाये। श्रीकृष्ण की कृपा से बाद में पाण्डवों ने परिपूर्ण सुख पाया। महाभारत के आदिपर्व की कथा पूर्ण हुई, सार्थक हुई। वैशंपायन जनमेजय से कहते हैं कि यह तो पावन इतिहास है। द्रौपदी-स्वयंवर का जो गान करे या सुने उसकी मनोभिलाषा पूर्ण होती है।'

म. ई. प्र.

शिवानंद सन्यासी

शिवानंद सन्यासी शैवमत के अनुयायी थे, फिर भी कृष्ण के भक्त थे। इन्होंने कृष्ण की ब्रजलीला विषयक प्रचुर मात्रा में पद लिखे हैं जिनमें वसंतपूजा, हिंडोल, भोग आदि प्रसंगों का सरस वर्णन मिलता है:

अं. शु.

शेधजी

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में विद्यमान भक्त कवि काशीसुत शेधजी की जन्मभूमि है दक्षिण गुजरात का खंभात नगर। जाति के ये बंधारा थे। इनकी गणना गुजराती साहित्य के नाकरयुग के प्रमुख आख्यानकारों में की जाती है।

तत्कालीन खंभात-निवासी व्यास-कथाकारों की कथाओं का श्रवण करके काव्य रचना करने वाले कवियों में शेधजी का विशिष्ट स्थान है। ये रचनाओं में अपना नाम 'काशीसुत' बताते हैं, किन्तु इनकी एक अन्य रचना 'हनुमानचरित्र' में 'शेधजी' नाम प्राप्त होता है। इनके जीवन के सम्बन्ध में अन्य कोई जानकारी प्राप्त नहीं है।

शेधजी ने भागवत के आधार पर—रुक्मिणीहरण, अंबरीष-आख्यान, प्रह्लाद-आख्यान एवं रामायण के आधार पर 'हनुमानचरित्र' की रचना की है। इन चार आख्यानों की रचना के पश्चात् इन्होंने महाभारत-कथा पर आधारित 'द्रौपदीवस्त्रहरण' (सं० १६४८), विराटपर्व सं० १६४८), 'घोषयात्रा' (सं० १६५०) और 'सभापर्व' (सं० १६५१) नामक आख्यानों का सर्जन किया।

काशीसुत शेधजी कृष्ग भक्त हैं, इसका प्रमाण इनके 'रुक्मिणीहरण' काव्य में मिलता है :

रुक्मिणीहरण परिपूरण कीधूं।
उत्तम पद श्रीनाथथ्यिं ई दीधूं॥

संवत् सोरह त्रिइंताला जाणि।
कार्तिक शुदि पाँच परमाण॥

कुल बंधारा मांहि सार।
चरणिई राख्य श्री जुगदाधार॥

काशीसुत कहिई, कांई न जाणूं।
कृष्णगोपाल रिदिमां आणूं॥

'मैंने रुक्मिणीहरण संवत् १६४३, कार्तिक शुक्ला पंचमी को पूरा किया। श्रीनाथ ने उत्तम पद दिया। बँधारा कुल के काशीसुत कहते हैं कि हे जगदाधार, चरणों में रखिए। मैं दूसरा कुछ नहीं जानता, केवल हृदय में कृष्णगोपाल को लाता हूँ।'

प्राच्यविद्या मंदिर, बड़ौदा के 'स्वाध्याय' (सं० २०३०) में काशीसुत कृत 'रुक्मिणीहरण' (संपा० बहेचरभाई पटेल) प्रकाशित हुआ है। उसका एक अंश (रुक्मिणी का कृष्ण को पत्र) यहाँ दिया जाता है :

स्वस्ति श्री द्वारावतीपुरी मुक्तिनिर्मल धाम।
योग्य लिखितं विदर्भा रुक्मिणी-दाशी के प्रणाम॥

खेमकुशल छिह नाथ, तहमनिइ निरंतर माहाराज।
पण कुशल अहम्हनिइ तम थकी जु आवश्यु अहीं आज॥

स्वामी, भ्रात माहारिह काज्य स्वयंवर तेडात्यु शिशुपाल।
मिइं तहमनिइं मनसा थकी पति वर्युं दीनदयाल॥

ते माटिइ अहीं आवज्यो रे करी च्यंता मन्य।
हूँ सदा छूं शेवा करी, वसुदेवसुत, धन्य धन्य॥

'स्वस्तिश्री द्वारावतीपुरी मुक्तिनिर्मल-धाम के वासी को योग्य लिखा विदर्भा राजकुमारी रुक्मिणि दासी का प्रणाम। आप तो वहाँ क्षेमकुशल से हैं, किन्तु हम कुशल से नहीं हैं। स्वामी! आज अवश्य आइये। मेरे लिए मेरे भाई ने स्वयंवर में शिशुपाल को बुलाया है। हे दीनदयाल! मैंने आपको मन से पति के रूप में वरण किया है। इसीलिए मन में चिन्ता करके इधर अवश्य आइये। हे वसुदेवसुत, मैं आपकी नित्य सेवा करके धन्य-धन्य हो जाऊँगी।'

म. ई. प्र.

शोभा मां

शोभा मां पोरबन्दर के वल्लभवंशीय अष्टम आचार्य श्री रणछोड़ गोस्वामी की पत्नी थीं। इन्होंने 'हरिदास' छाप से गरबी तथा घोल की रचना की है। इनमें कृष्णलीला का अत्यंत सरस तथा सजीव चित्रण हुआ है।

अं. शु.

श्रीनारायण

श्रीनारायण पुष्टिमार्गीय भक्त थे। इन्होंने राधा-कृष्ण के विरह का चित्रण अपने 'नवसर-उर्मि' नामक काव्य ग्रंथ में किया है। इसके अतिरिक्त इनके विषय में और कोई सूचना प्राप्त नहीं है।

अं. शु.

संत

संत के जीवन संबन्धी तथ्य सर्वथा अज्ञात हैं। भागवत-दशम-स्कंध की पद्यबद्ध टीका इनकी एकमात्र कृति है। उसकी पुष्पिका से ज्ञात होता है कि इनके गुरु वृन्दावन भट्ट थे, जो अयाचक नागर जाति के थे। उनकी कृपा से इन्हें 'निगम-कल्पतरु' भागवत-कथा सुनने को मिली थी। भागवत कथा का बारंबार श्रवण और मनन करके इन्होंने उसका सार पद्य में प्रस्तुत किया है। उसके अंतर्गत रासपंचाध्यायी के आरंभ के श्लोकों का सारानुवाद प्रस्तुत किया गया है। उसकी कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं :

'एक समे भूपति भगवान। सानिधि न्यर्षि सामलवान ॥
रमवाने मन कीधूं राय। माया योग स्मरी मन मांय ॥
पुष्पित वन प्रसरी मालती। जाणे उडमाला नावे
अणचालती ॥

यशे समे उग्यो उडपती। परितोषतो प्राची सती ॥
घणे कालें धरि आव्यो नाथ। रामानुं मूष रंग हाथि ॥
एहवुं अखंड मंडल इन्दु। अवलोकी पामी आनंद ॥
गान आरंभ्यु शोभन स्वरे। वामदशांना मन वशि करे ॥

अं. शं. ना.

सखा महाराज (दीवाली बेन)

गुजरात के भक्त-समाज में दीवालीबेन 'सखा-महाराज' के रूप में सुप्रसिद्ध हैं। इनके जीवन के सम्बन्ध में अपेक्षित जानकारी प्राप्त नहीं होती। गुजरात के बलोल गाँव में इनका प्रादुर्भाव हुआ था। इन्होंने अपना कार्यक्षेत्र विसनगर बनाया था। ये सारे गुजरात में घूम करके भजन-कीर्तन करतीं और लोगों को कृष्णप्रेम का सच्चा मार्ग दिखाती थीं। किसी से ये कुछ नहीं लेती थीं। कृष्ण के प्रति इनके हृदय में मीरा-सी भावुकता थी। ये हमेशा कृष्णप्रेम में खोयी सी रहते थीं। अतः भक्त समाज ने इन्हें मीरा का अवतार माना। पालनपुर में भी ये रहती थीं और वहाँ राधा-कृष्ण की प्रेमाभक्ति का प्रवाह बहाया था। बिसनगर को तो इन्होंने मानो वृन्दावन बना दिया था। जाति से ये नागर ब्राह्मण थीं।

इनके जीवन पर भक्तों ने काव्य-रचनाएँ भी की हैं। लोग इन्हें साक्षात् राधा और मीरा मानकर अपनी श्रद्धा-भावना व्यक्त करते थे। उन्होंने अपना सारा जीवन राधा-कृष्ण के चरणों में समर्पित किया था। एक भक्त-कवि इनकी प्रशस्ति में लिखता है :

व्हाला सखजी मने व्हाला सखाजी हाँ।
व्हालामां व्हाला मने माना सखाजी हाँ ॥
जेणे नागरनी ज्ञाति अजवाली हाँ।
अेने करुं हुं कोटी कोटी नमन हाँ ॥

'मुझे तो सखा जी बहुत प्रिय हैं, प्रिय हैं। सबसे अधिक प्रिय मुझे तो मेरे सखाजी हैं। जिन्होंने नागर की जाति ओजस्वी बनाई, इन्हें मैं कोटि-कोटि नमन करता हूँ।'

सखा महाराज के पद 'भजन-रत्नावली' में संगृहीत हैं। इनके प्रत्येक पद में मधुरा भक्ति की मस्ती एवं आर्द्रता की अनुभूति होती है। इनकी भावभक्ति के परिचायक दो पद यहाँ उद्धृत हैं :

(भजन)

सुख दुःखनो बेली तुं छे रे शामलीया सखा श्याम।
आनंदनो सागर तुं छे रे शामलीया सखा श्याम ॥

हुं गुण शुं वर्णवुं तारा प्रभु घडी ना रहेशो न्यारा।
अवगुण नव जोशो मारा रे शामलीया सखा श्याम ॥सुख

मुज मननुं हृदय ज जाणी शोद नयने भरावो पाणी।
कुंठीत थई मारो वाणी रे शामलीया सखा श्याम ॥सुख०

'सखा' ध्यान धरू तुज चरणे मने राखो स्वामी शरणे।
तुज स्वरूपनुं दर्शन मरणे रे शामळीया सखा श्याम ।। सुख
मीरांनो प्यालो पीधो नरसिंह ने हार ज दीधो।
प्रभु अमे गुन्हो शो कीधो रे शामळ या सखा श्याम ।। सुख

'हे सखा के श्याम साँवले। तू तो सुख-दुख का आधार है, आनन्द का सागर है। मैं तेरे गुणों का क्या वर्णन करूँ? प्रभु, एक घड़ी भी अलग न रहिए। हे श्याम! मेरे अवगुण मत देखिये। मेरे मन-हृदय को पहचान कर क्यों नयनों में नीर भरते हैं? हे सखा के श्याम कृष्ण! मेरी बानी अवरुद्ध हो गई है। तेरे चरणों का मैं ध्यान धरता हूँ, मुझे अपनी शरण में रखिए। हे श्याम! मृत्यु के समय भी आपके स्वरूप का दर्शन हो। आपने तो मीरा का प्याला भी पी लिया और नरसिंह को हार भी दिया। हे श्याम कृष्ण! हे प्रभु। हमने क्या अपराध किया है?'

(भजन)

कर ग्रहीने मने तारो हो शामला,
साथ तमारो में कर्यो।
भुख्या ने भाखरी ने तरस्याने पाणी,
अंधाने पडतां उठाडो। हो शामला०

बुद्धि सुधारो ने ज्योत जगाडो,
कुबुद्धि कपासी आने काढो। हो शामला०
भाज्य बिनानी बोलुं शुं बाला।
उघाडो अंतरनां तालां ।। हो शामला०

ए अंधारुं दूर करीने।
देहमां दीवडो जगावो ।। हो शामला०
प्रेमथी पालो प्रभु नातो नीभावे।
वेदशास्त्र गुण गावे ।। हो शामला०

'हे श्याम कृष्ण! मैंने तुम्हारा संग किया है, हाथ ग्रहण करके मुझे तारिए। आप तो भूखे को भाखरी (गेहूँ की एक प्रकार की रोटी) और प्यासे को पानी देते हैं और गिरते हुए अन्धे को उठाते हैं। बुद्धि सुधारिए और ज्योति जगाइये एवं कुबुद्धि के कपास को निकाल दीजिए। भाग्यविहीन मैं बालक क्या बोलूँ? अन्तःकरण के ताले खोल दीजिए। अंधेरा दूर करके देह में दीपक जलाइए। प्रेम से पालन कीजिए। प्रभु तो नाता निभाता है। वेद-शास्त्र भी प्रभु के गुण गाते हैं।'

म ई. प्र.

सगाळशा

अतिथि के लिए स्वपुत्र का बलि देने वाले सगालशा के जीवन की हृदय विदारक गाथा गुजरात में सुप्रसिद्ध है। इस लोक कथा की अनेक कवियों ने अपने आख्यान-काव्यों का विषय बनाया है। सगालशा के जीवन से संबद्ध इस कथा के आधार पर निर्मित रचनाओं में वासुकृत 'सगालशा-कथा' नाकररचित 'सगाळशा आख्यान', कनकसुंदर रचित 'सगाळशाह रास', विश्वनाथ जानीकृत 'सगाळशा-चरित्र' आदि की गणना होती है। इन रचनाओं में संयमनिष्ठ कृष्ण भक्त सगालशाह के दृढ़ व्रत और आतिथ्य-भावना का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है।

सगाळशाह का जन्म सौराष्ट्र के सागर तट पर स्थित शियालबेट नामक द्वीप में कपोल वणिक् परिवार में हुआ था। ऐसा भी एक मत है कि 'सगालशा' नाम के आधार पर द्वीप का नाम शियालबेट हो गया है। इनके जन्म स्थान के बारे में मतैक्य नहीं है। बाम्बे गजेटियर भाग ४ (पृ० ६५२-५३) और कपोल जाति के बारोट अम्बाप्रसाद खण्डेरा (बड़ोदा) की टिप्पणी के आधार पर ज्ञात होता है कि सगालशा सौराष्ट्र के जूनागढ़ के पास बिलखा में रहते थे। ये बिलखा में जिस स्थान में रहते थे, वह स्थान आज भी 'प्रभुना पींपळा' के रूप में प्रतिष्ठित है और वहाँ सगालशा द्वारा पुत्र-बलि के लिए प्रयुक्त उलूखल का होना भी बताया जाता है।

सगाळशा के पिता का नाम सेठ बंगाळशा था। सगालशा का विवाह धारवाड के गोविन्द मेहता की पुत्री चंगावती के साथ हुआ था। इनके पुत्र का नाम था चेलैया। संभवतः इनकी दो कन्याएं भी थीं—

जशवन्ती और दिवाली। गृहस्थाश्रमी होते हुए भी सेठ सगालशा को साधु सन्तों के प्रति अगाध प्रीति थी। अतः सन्तों की सेवा करने में वे अपने जीवन की कृतार्थता समझते थे।

एक कवि ने सगालशा को राजवी बताया है :

सगालशा शेठ ने चंगावती राणी,
एवा नामधारी नरनार भाई।
साधुने जमाडी पछे जमता,
जेना अहोनिश धर्म अपार भाई ॥

पिता के निधन पर इनकी माँ सती हो गईं। उनकी स्मृति में सगालशाने वापी, सरोवर, मन्दिर इत्यादि का निर्माण कराकर संपत्ति का सद्व्यय किया। इन्होंने काशी का यात्रा-संघ निकाला था और द्वारका में रजत-तुला कराके श्रीकृष्ण की पटरानियों को आभूषण पहनाये थे।

प्रतिदिन साधु को भोजन कराये बिना भोजन ग्रहण न करने का इनका अटल व्रत था। एक दिन की बात है। अतिवृष्टि के कारण सगालशा किसी साधु को भोजन न करा सके। इनके व्रत की कसौटी करने श्रीकृष्ण स्वयं अतिथि का रूप ले इनके घर आये। अतिथि को सुन्दर भोजन परोसा गया, किन्तु उसने मांसाहार का आग्रह किया। अतिथिसेवी वणिक् सगालशा धर्म संकट में पड़ गये। तो भी कसाई के पास जाकर भक्त मांसाहार ले आये और अतिथि के सामने रख दिया। इस पर अतिथि ने मानव के मांस की माँग की। सगालशा ने अपनी देह का मांस देने का विचार किया, परन्तु ऐसा करें तो अतिथि को भोजन कौन कराए? ऐसा सोच, आखिर अतिथि के लिए इन्होंने अपने पुत्र को ही मारने का संकल्प किया। स्वात्मार्पण की भावना से सम्पन्न पुत्र चेलैया स्वयं अपनी बलि देने सामने आया और उलूखल में अपना मस्तक रख दिया। अतिथि के आदेशानुसार सगालशा और चंगावती ने वात्सल्यभाव को तिलांजलि दे और हृदय वज्र के समान बनाकर आँख में आँसू लाये बिना लौरी गाते-गाते उलूखल में अपने प्यारे पुत्र का मस्तक पीस दिया और वह मांस अतिथि को अर्पित किया।

इससे भी अधिक दारुण कसौटी करने के लिए अतिथि के मुँह से ये शब्द निकले, 'हम तो वंध्य का भोजन नहीं लेते।' कहा जाता है कि चंगावती ने अपना उदर फाडकर गर्भस्थ पुत्र दिखाने के लिए हाथ में तत्काल छूरी ग्रहण कर ली। लेकिन इसी समय अतिथि ने अपना मूल (कृष्ण) रूप प्रकट करके चंगावती का हाथ पकड़ लिया, पुत्र चेलैया को भी जीवित कर दिया। इसी चमत्कारपूर्ण घटना के कारण सेठ सगालशा भक्त प्रवर के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध हो गये।

ऐसी जनश्रुति है कि सगालशा ने सपरिवार स्वर्ग गमन किया था। उसी समय सगालशा के बन्धु गणपत की पत्नी गमतादेवा अपने पीहर धतरवाड चली गई थीं। वहाँ उसके एक पुत्र हुआ जिससे सगालशा का वंश अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। आज यह वंश कपोल जाति में वहोरा नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्ण को चेलैया 'वहोराव्यो' अर्पण किया गया। इससे वंश का नाम 'वहोरा' पड़ गया, ऐसा प्रतीत होता है।

सगालशाकी कोई पद रचना नहीं मिलती। उनका जीवन ही काव्य रचना का प्रधान स्रोत बन गया।

अपने पुत्र चेलैया के मस्तक को पीसते समय सगालशा और चंगावती के हृद्गत भावों का मर्मस्पर्शी चित्रण करने वाला एक प्रसिद्ध लौरी पद यहाँ उद्धृत है :

एजी, मारे हालरेडे हडताळ,
कुंवर चेलैया खमा खमा तुने।
एजी तारा महेताजी जुए बाट,
कुंवर चेलैया खमा खमा भाई॥

अमे जाण्युं चेलइआने परणावशुं, जाडी जोडशुं जान।
पण ओचिन्तां मरण आवियां, स्वर्गमांथी उतर्यां वैमान॥
बाला चेलैयो०

कूवा ढांकण पावठुं जगत ढांगण जार ।
बापनुं ढांकण बेटडो घरनुं ढांकण नार ।।

फळ बिना झूरे पीपळो, एम बंधव विनानी झूरे बेन ।
पण पुत्र बिना झूरे मावडी, एजी तारे पीपळी पडोएल
खोट ।। बाला चेलैया०

बाळा चेलैया खमा खमा तुंने ।
हाथे पोंची जेमनी, गळे एकावन हार ।
जेने आंगणे नहिं दोकरो होये, तेनां मदिरियां
सूनकार ।। बाला चेलैया०

'हे कुंवर चेलैया । तेरा क्षेमकुशल हो, क्षेमकुशल हो । यह तो मेरी लौरियाँ बन्द हो जायेंगी, अरे, तेरे महेनाजो (शिक्षक) राह देखते हैं, हे चेलैया । तेरा क्षेम कुशल हो, क्षेमकुशल हो, क्षेमकुशल हो । हमने तो माना था कि बढ़िया बारात बनाके चेलैया का व्याह रचेंगे, परन्तु सहसा मृत्यु आ गई, स्वर्ग से विमान उतरे । कुएँ का ढक्कन पावठु (लकडे की पटरी) है, जगत् का ढक्कन अन्न है, बाप का ढक्कन बेटा है और घर का ढक्कन नारी है। फल के बिना पिप्पल वृक्ष झूरता है, वैसे ही बन्धु के बिना बहन झूरती है। किन्तु पुत्र के बिना माँ झूरती है, अरे पिप्पल वृक्ष पर तेरी खोट पड़ी है। हाथ में सुवर्ण की पहुंची (एकअलंकार), गले में इक्यावन हार-वाला पुत्र जिसके आँगन में न हो उसके मन्दिर सूने हैं। हे बाल चेलैया, तेरा क्षेमकुशल हो, क्षेम-कुशल हो ।'

म ई. प्र.

सहजानंद स्वामी

सहजानंद स्वामी का जन्म अयोध्या के निकटवर्ती गोंडा जिले के छपिया नामक गाँव में चैत्र शुक्ला नवमी को वि० सं० १८३७ में हुआ था। इनके पिता का नाम हरिप्रसाद तथा माता का नाम बालादेवी (प्रेमवती) था। जाति से ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके बचपन का नाम घनश्याम था। दैवयोग से ये बाल्यावस्था में ही अनाथ हो गये।

माता-पिता के स्वर्गवास के समय घनश्याम की आयु ग्यारह वर्ष की थी। इन्होंने अगले वर्ष संवत् १८४९ की आषाढ़ शुक्ला दशमी के दिन गृहत्याग दिया सरयू नदी तैर कर पार की, फिर उत्तर दिशा में अकेले चले।

इसके बाद कुछ समय तक इन्होंने कठोर तप किया और गोपाल योगी नामक एक महान् तपस्वी से अष्टांग योग सीखा। केवल कौपीन धारण कर हिमालय में विचरण किया और नीलकंठ वर्णी के नाम से पहचाने जाने लगे। अब भारतीय समाज में उतर आये। सभी प्रमुख तीर्थो की यात्रा की, साधुओं की सेवा की, साधु-असाधु के लक्षण तय किये, हिंसा-अहिंसा के विषय में चिन्तन किया, साम्प्रदायिक आचार्यों तथा मंदिरों के महंतों द्वारा उस युग में प्रचलित धर्म-संचालन की पद्धतियों का अध्ययन किया, दक्षिण भारत की तीर्थयात्रा समाप्त करके नीलकंठ उत्तराभिमुख हुए। गुजरात में सूरत नगर में कुछ दिन ठहरे। वहाँ से उत्तर गुजरात तथा सौराष्ट्र के प्रमुख तीर्थस्थानों की यात्रा करते-करते लोंजपुर नामक एक छोटे से गाँव में पहुँचे।

उस समय गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ में रामानंद स्वामी के उद्धव संप्रदाय का प्रभाव था। इन दिनों स्वामिनारायण सम्प्रदाय के साधु भगवे रंग के दो वस्त्र और पगड़ी धारण करते हैं। उस समय श्वेत वस्त्र और पगड़ी प्रचलित थी। सादगी का सातत्य है। एक अन्य साम्य भी है। रामानंद स्वामी भी उत्तर भारत से गुजरात पधारे थे। नीलकंठ वर्णी के माता-पिता के वे गुरु थे। नीलकंठ उनके दर्शन के लिए उत्सुक थे, परन्तु रामानंद स्वामी उन दिनों कच्छ प्रदेश में धर्मयात्रा कर रहे थे। प्रतीक्षा के दिनों में नीलकंठ मुक्तानंद स्वामी के साथ रहे।

मुक्तानंद जी रामानंद स्वामी के वरिष्ठ शिष्य थे। उन्होंने नीलकंठ के व्यक्तित्व को पहचान लिया। आगत अतिथि को समादर के साथ रखना

भारतीय परम्परा है : परन्तु मुक्तानंद स्वामी ने तो नवयुवक तपस्वी नीलकंठ से सीखना भी शुरू किया। नीलकंठ का भी साहस देखिये कि सम्प्रदाय के आचार्य की अनुपस्थिति में ही कुछ सुधार सूचित किये। उन दिनों कथा-कीर्तन के समय स्त्री-पुरुषों की मिश्र सभाएँ हुआ करती थीं। नीलकंठ ने पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए अलग-अलग सभाएँ करवाई। साधुजन दीवार के छिद्र से पड़ौस से अग्नि लेते थे। यह छिद्र भी बंद करवाया। वे देश में घूमते समय देखते रहते थे कि कौन से छिद्र धर्माचार को दूषित करते हैं और कौन सी दीवारें आचार शुद्धि में सहायक होती हैं। सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व ही नीलकंठ वर्णी ने ब्रह्मचर्य का महत्व और उपासना-पद्धति के संकेत दिये।

रामानन्द स्वामी पधारे और अपनी शिष्य मंडली में नीलकंठ की उपस्थिति के कारण नवचेतना देखी। यह उनकी भी महानता थी कि पूर्व सम्मति के बिना एक नव आगन्तुक के निर्देश पर जो सुधार हो गये थे, उन्हें मान्य किया, प्रसन्नता प्रकट की। इनका मिलन सौराष्ट्र के एक छोटे से गाँव पीपलाणा में हुआ था। रामानन्द स्वामी ने नीलकंठ वर्णी को दीक्षा दी और नया अभिधान दिया : सहजानन्द स्वामी।

केवल एक वर्ष की अवधि के बाद संवत् १८५८ की प्रबोधिनी एकादशी के दिन रामानन्द स्वामी ने अपने इस युवा शिष्य को समग्र संप्रदाय के आचार्य के पद पर नियुक्त किया। यह एक क्रांतिकारी कदम था। मुक्तानन्द जैसे कुछ वरिष्ठ शिष्य अपनी समुदार धर्मदृष्टि के कारण नये आचार्य को सदुगुरु मानकर सेवा में मग्न रहे; परन्तु कुछ अन्य साधुओं ने चुनौती भी दी। सारे अंतराय क्षणजीवी सिद्ध हुए। अपने प्रति अनन्य भक्तिभाव दिखाने वाले शिष्यों से स्वामी रामानन्द कहा करते थे : 'मैं तो डुगडुगी बजाने वाला हूँ, सही खेल करने वाला तो दूसरा आयेगा।' स्वामी सहजानन्द के धर्मचक्र-प्रवर्तन को देखकर कुछ ही समय के अनन्तर मुक्तानन्द स्वामी तथा अन्य सन्तों को गुरु-वचन की प्रतीति हुई और आचार्य सहजानन्द स्वामी को भगवान् स्वामिनारायण मानकर उनकी सेवा और धर्म प्रचार में लग गये।

धर्मधुरा सुपुर्द करने के एक ही मास बाद रामानंद स्वामी ने देहत्याग किया था। उनके श्राद्ध के बाद सहजानन्द स्वामी ने शिष्यों को पाठ के लिए मंत्र दिया था : 'श्री स्वामि नारायण' यह मंत्र आगे चल कर भगवान् के एक नाम के रूप में स्वामी सहजानन्द का पर्यायवाची बना। उनके प्रथम महत्व-पूर्ण उपदेश का मर्म यहाँ प्रस्तुत है :

'त्यागी साधुओं को चाहिए कि वे सत्य, दया, तप, पवित्रता, देहदमन, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, शास्त्रों का नियमित पाठ, सेवा, त्याग, जितेन्द्रियता, आत्मरूपता आदि सद्गुण धारणा करें।

त्यागी और गृहस्थ सभी हरिभक्तों को चाहिए कि वे भगवान् की भक्ति करें, मद्यपान, मांसाहार, जीवहिंसा, चोरी, आत्महत्या आदि दोषों से बचें, किसी पर कलंक न लगायें, देवनिन्दा न करें, विमुख व्यक्ति के मुँह से कथा न सुनें और अनुचित खानपान से विरत रहें।

शास्त्रों के आदेशानुसार गृहस्थ, सोलह संस्कार सविधि करें। अपने गृहस्थ धर्म का परिपालन करें। वेद, ब्राह्मण, साधुसंत, पतिव्रता एवं विद्वान् का आदर करें। गाय, ब्राह्मण और भगवान् के भक्त को किसी प्रकार का दुःख न दें। दान, धर्म और नीति का जीवन में पालन करें। अहिंसा और दया से युक्त रहें। आचार, विचार और उच्चार-इन तीनों को बिलकुल विशुद्ध एवं धर्ममय रखें।'

(सहजानंदचरित्र, पृ० ३)

एक अन्य घटना का भी यहां उल्लेख करना आवश्यक है, इसलिए कि उससे स्वामी सहजानंद की नई धर्मदृष्टि का संकेत प्राप्त होता है। स्वामी रामानंद ने जब आचार्यपद देकर इनसे संप्रदाय का

दायित्व संभालने को कहा तो स्वामी सहजानंद ने उनसे दो वरदान मांगे :

'आपके सत्संगियों को यदि एक बिच्छू का डंक लगने का कष्ट होनेवाला हो तो वह मेरे एक-एक रोम में करोड़ों बिच्छुओं के डंक लगने की पीड़ा हो हो जाय, किन्तु उन्हें (सत्संगियों को) ऐसा कष्ट नहीं होना चाहिए तथा आप के सत्संगियों के प्रारब्ध में यदि भिक्षापात्र का योग हो तो वह मुझे मिल जाय, परन्तु वे (आपके सत्संगी) अन्नवस्त्र के अभाव से दुःखी न होने पावें। कृपया ये दो वरदान मुझे दीजिए। इस प्रकार ये दो वरदान मैंने रामानंद स्वामी से मांगे, जो उन्होंने मुझे प्रसन्नतापूर्वक दे दिये।

(वचनामृतम् ग्र० प्र० ७० पृष्ठ, १२४)

ये वरदान कविता के विषय हैं, क्योंकि यहाँ पहली बार मांगने वाला अपने लिए कुछ भी नहीं मांगता। सच्चे भक्तों के कल्याण के लिए मांगता है और उनके विधिनिर्मित कष्ट स्वयं सहने की तत्परता दिखाता है। इस धर्मदृष्टि में अपूर्व सामाजिक दृष्टि भी निहित है।

पिछली दो शताब्दियों के गुजरात के जनजीवन के विविध पहलुओं का अध्ययन करने पर एक निष्कर्ष तो यह प्राप्त होगा कि कुछ पिछड़ी हुई जातियां स्वामिनारायण धर्म के अवलंबन के बाद आर्थिक रूप से भी उन्नत हो गई हैं। श्रीजी महाराज ने जब धर्म-धुरा संभाली, उस वक्त गरीब जनता धर्म से या कहिए कि किसी संगठित संप्रदाय से वंचित थी। श्रमजीवी वर्ग के लोगों का श्रीजी महाराज ने सस्नेह स्वागत किया। अभिजात धर्मसंप्रदायों के अवलम्बी निम्न-मध्यवर्ग की जातियों का नामोल्लेख करके इसे 'कोली-काठी' का सम्प्रदाय कहकर उलाहना देते थे। आज तो यह एक मूल्य है कि श्रमजीवी तथा निम्न से निम्न वर्ग के सर्वहाराओं के उद्धार में धर्म-सम्प्रदाय रुचि दिखाएँ। आडम्बर युक्त धार्मिक आभिजात्य आज व्यंग्य का विषय है।

श्रीजी महाराज ने अपने सम्प्रदाय के द्वारा समाज, शिक्षा, साहित्य और कला आदि तमाम क्षेत्रों को नवचेतना देने का प्रयत्न किया।

उस युग में भी इन्होंने अछूतों को अपने अनुयायियों के रूप में स्वीकार किया। बड़ताल से बड़ौदा के बीच एक छोटा-सा गाँव है, छाणी। इस गाँव के हरिजन जुलाहे तेजभाई स्वामिनारायण धर्म मानते थे, सत्संगी थे। वे पूजापाठ करते, भजन-कीर्तन करते। उन्होंने सुना कि श्रीजी महाराज इस मार्ग से गुजरनेवाले हैं। वे अपने साथियों को लेकर पहुंच गए। परन्तु गाँव के ब्राह्मण नहीं आए। जो आचार्य अछूतों को धर्मोपदेश दे, उसका सत्कार ब्राह्मण क्यों करें? श्रीजी महाराज ने उस दिन हरिजन भक्तों से कहा था : 'जाओ, ब्राह्मणों-सा पाण्डित्य और सद्गुण तुम्हें प्राप्त होंगे। ऐसा विशुद्ध होगा तुम्हारा आचरण कि इसे देखकर ब्राह्मण भी लज्जित हो जायेंगे।'

यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द केवल जातिवाचक नहीं, गुणवाचक भी है। श्रीजी महाराज के पास एक ऐसे समाज की कल्पना थी जिसमें स्वच्छता, आन्तरिक शुचिता, व्यसनमुक्त कर्मठता, अहिंसानिष्ठ व्यवहार और एकांतिक भक्तिभावना सांस्कृतिक मूल्य के रूप में स्थापित हों। हमारा वर्णाश्रम धर्म मिथ्याभिमान और दंभ का शिकार हो चुका था। अकर्मण्यता और अस्पृश्यता ने उसे अवरुद्ध कर डाला था। हिन्दू धर्म के मंदिरों की दीवारें बड़ी हो गई थीं और उनके भीतर विलासिता को प्रश्रय मिला था। ये सब एक मरणोन्मुख समाज के लक्षण थे। श्रीजी महाराज उसे नये जीवन का संदेश देना चाहते थे। उन्होंने समाज की सर्वांगीण उन्नति के माध्यम के रूप में धर्म को योजित किया। ब्रह्मानन्द पूर्वाश्रम में बारोट जाति के थे, जिसका समावेश उस समय शूद्रों के अंतर्गत होता था। कहते हैं कि प्रेमसखी-प्रेमानंद मुसलमान थे। ये दोनों भक्त श्रीजी महाराज के निकटतम शिष्यों में से थे। इसे एक सामाजिक क्रान्ति कह सकते हैं।

सामाजिक सुधार के एक-दो अन्य उदाहरण भी देखने योग्य हैं। राजपूत के घर यदि बच्ची पैदा हुई तो कयामत आ गई। बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट से दूध भरे बर्तन में उस बच्ची का मुंह रख दिया जाता था। यह हत्या ही थी। श्रीजी महाराज ने कहा कि इस कुकर्म में तीन प्रकार की हत्या का पाप है। एक तो निर्दोष कुटुंबीजन की हत्या का पाप, दूसरे बालहत्या का पाप और तीसरे असहाय अबला की हत्या का पाप। उपदेश सुनकर कुछ लोग अपनी विवशता बताने का प्रयत्न करते। कहते 'पुत्री के विवाह के लिए हमारे पास धन नहीं है, कहां से लाएं?' श्रीजी महाराज कहते : 'धन हम दिला देंगे। लेकिन विवाह के योग्य संस्कारयुक्त युवक कहां हैं? सभी व्यसनों के शिकार हो जाते हैं।' इस तर्क में तथ्य था। श्रीजी महाराज ने अपनी संत मंडली से कहा था : 'धर्म का उपदेश केवल वृद्धों को देकर संतुष्ट नहीं होना है। बच्चों को, युवकों को सदाचार की शिक्षा देनी है। शुरू करो शुरुआत से।'

सती प्रथा के विरुद्ध उन्होंने कहा : 'हमारी राय है कि तीर्थ के माहात्म्य को लेकर, पति माहात्म्य को लेकर या लज्जावश भी सती होने के रूप में आत्महत्या मत करो।'

सती होना आत्महत्या ही है-यह कहना एक साहस था। परन्तु श्रीजी महाराज की अंतर्दृष्टि के लिए तो वह केवल सत्य का प्रतिपादन था। इसके बाद उन्होंने विधवा स्त्री के शेष जीवन के बारे में भी सोचा। उसके लिए शिक्षा की, प्रौढ़-शिक्षा की, व्यवस्था की। स्त्रियां स्त्रियों को पढ़ाने लगीं। विधवाएं परमेश्वर को पति मानकर निर्मल एवं गौरवशील जीवन जी सकती हैं, अग्नि या विषयाग्नि का भोग होने से बच सकती हैं। एक धार्मिक उत्सव के समय एक गणिका आई और उसने कहा 'मुझे भी आटा पीसने का काम दीजिए।' श्रीजी महाराज ने उस पर कृपा की। बाद में उसके निवास पर भी गए और उसका उद्धार किया। महिलाएं संसार में रह कर भक्ति करें, यही उनकी दीक्षा है। स्वामिनारायण संप्रदाय में साध्वियों के स्थान पर, सांख्ययोगी महिलाएं हैं।

बौद्ध धर्म के प्रभाव के कारण ब्राह्मणों ने मांसाहार छोड़ दिया था, परन्तु यज्ञ की आहुति के रूप में काटे गए पशु का मांस वर्ज्य नहीं था। श्रीजी महाराज ने यज्ञ में किसी भी प्रकार की हिंसा को अमान्य किया और विकल्प के लिए अहिंसक यज्ञों का आयोजन किया। ऐसे प्रसंगों पर एकत्रित विराट् जनसमूह को सर्वजीव-हितवाद का उपदेश दिया। अपना सर्वोत्तम इष्टदेव को समर्पित कर देना ही यज्ञ है—इस भावना को वे व्यापक रूप देना चाहते थे। वे जहाँ भी पहुंचते, बहुत बड़ी संख्या में भक्तजन उनके स्वागत के लिए उमड़ते। गुजराती में इसके लिए शब्द है—'समैयो' तथा 'सामैयु' अर्थात् अगवानी या अगुवाई। ऐसे प्रसंगों का भी उन्होंने धर्म-प्रवर्तन के हेतु उपदेश किया। संतवृन्द तथा हरिभक्तों का गान-वादन-नृत्य ऐसे स्वागत-समारोहों को आनंदोर्मि से छलका देता था। आज भी यह परंपरा अक्षुण्ण है। वैष्णव मंदिरों का आनंदोत्सव स्वामिनारायण संप्रदाय के कारण धूलि-धूसरित चौराहों तक आ गया। कुछ लोग इस संप्रदाय को वैष्णव धर्म का शोधित-वर्धित संस्करण मानते हैं, इसमें तथ्य है।

उस समय सौराष्ट्र की राजनीतिक परिस्थिति विलक्षण थी। राजा प्रजा का रक्षण करेगा ही इस बात पर किसी को भरोसा नहीं था। अंग्रेजों का शासन भी किसी प्रकार की व्यवस्था का रूप नहीं ले पाया था। कुछ डाकू तो ऐसे भी थे जिनसे स्वयं शासक डरते थे। जोबन पगी नामक डाकू से सारा प्रदेश आतंकित था। उसने श्रीजी महाराज की घोड़ी चुराने का प्रयास किया। कई प्रयासों के बावजूद वह विफल रहा। उसे श्रीजी महाराज में दिव्य शक्तियाँ दिखाई दीं। अतः चोरी और हिंसा छोड़कर वह स्वामिनारायण संप्रदाय का अनुयायी बन गया।

अराजक परिस्थिति में अपने अनुयायियों को अभय सिखाकर भी इस धर्माचार्य ने उस युग के समाज पर बड़ा उपकार किया है। साथ-साथ यह भी कहा है कि अकारण दुःसाहस मत करो। आय से ज्यादा खर्च करना भी उनके आदेश का उल्लंघन है, वैसे ही देश-काल की स्थिति की उपेक्षा करके चलना भी उनके उपदेश की उपेक्षा करना है।

श्रीजी महाराज को भारतीय धर्म-दर्शन का गहरा ज्ञान था। कई शास्त्र उन्हें कंठस्थ थे। वे मूलतः हिन्दी भाषी थे, परन्तु उपदेश देते थे लोक भाषा गुजराती में। ठीक उसी युग में पूर्व भारत में राजा राममोहन राय का कार्य शुरू होता है, जिन्हें अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा तथा पाश्चात्य जीवनदृष्टि का परिचय था। श्रीजी महाराज पश्चिम के प्रबोध-काल से निहायत अनभिज्ञ थे, फिर भी भारतीय धर्मदृष्टि का तलावगाहन करके, अपने मौलिक चिन्तन के द्वारा ठीक उन्हीं सुधारों पर जोर दिया जिन पर राजा राममोहन राय का ध्यान था।

जीवन के उत्तर काल के आखिरी वर्षों में कुछ अंग्रेज अधिकारी उनसे मिले थे। कुछ ईसाई धर्मपुरुष उनके कार्य से बहुत प्रभावित हुए थे। उत्तर भारत की यात्रा के बाद विशप हेबर आये थे। बड़ौदा पहुंचने पर उन्हें स्वामिनारायण संप्रदाय के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त हुई। बड़ौदा के कलक्टर विलियम्स ने बिशप हेबर से कहा था : 'स्वामिनारायण ने बड़ा सुन्दर कार्य किया है। धर्मसुधारक के रूप में इनकी लोकप्रियता तथा उनके उपदेश-विशेष के बारे में मैं यहाँ आने के बाद अवगत हुआ। हिन्दू शास्त्रों में निर्दिष्ट संदेश से भी उनका धर्मोपदेश उच्चतर है। विशुद्ध आचरण तथा स्त्रियों को पवित्र दृष्टि से देखने की प्रेरणा देते हैं। वे चोरी तथा हत्या का निषेध करते हैं। जिन बद से बदतर गाँवों में तथा जिलों में उन्होंने कार्य किया है, वे आज कानून और व्यवस्था के पालक हो गए हैं।'

महात्मा गांधी ने कहा है : 'हिन्दुस्तान में अनेक धर्म हैं, किन्तु स्वामिनारायण संप्रदाय शुद्ध और आकर्षक है, मुझे इस धर्म के प्रति सविशेष आदर है।'

गांधीवादी चिन्तक किशोरलाल मशरूवाला का पालन-पोषण इस संप्रदाय के वातावरण में हुआ था। उन्होंने इस धर्म के योगदान की सराहना की है। उनकी पुस्तक 'सहजानन्द स्वामी अथवा स्वामिनारायण संप्रदाय' सन् १९४० में 'नवजीवन' न्यास के द्वारा प्रकाशित हुई थी। कविवर दलपतराम इसी संप्रदाय के अनुयायी थे, वह सन्तकवि देवानन्द के शिष्य थे। उनके सुपुत्र और गुजराती भाषा के महान् कवि न्हानालाल ने श्रीजी महाराज के व्यक्तित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। श्रीजी का मुद्राकर्षण (पर्सनल-मैग्नेटिज्म) उनके विरोधियों को भी जाने-अनजाने प्रभावित करता था। कविवर न्हानालाल की विख्यात उक्ति 'श्रीजी ने गुजरात को सरयूनीर से धोकर ब्रह्मभीगा कर दिया' केवल आलंकारिक उद्‌गार नहीं है, एक निष्कर्ष भी है।

श्रीजी महाराज का दैहिक सौन्दर्य अनुपम था और अनुपम सुन्दर थी उनकी वाणी। उनके महान् ग्रन्थ 'वचनामृत' का गुजरात में कई कारणों से महत्व है जिसका हिन्दी अनुवाद भारतीय विद्याभवन ने प्रकाशित किया है। गुजराती भाषा में परिनिष्ठित गद्य का यह प्रथम ग्रन्थ है। धर्म और दर्शन के गहन-गूढ़ संप्रत्ययों को कुछ ही शब्दों में विशद रूप से व्यक्त करने की क्षमता, संस्कृत की उक्तियों और श्लोकों के प्रासादिक अनुवाद, कुछ ही वाक्यों में एकाधिक शास्त्रों के मर्म का लाघवपूर्ण संदोहन, मौलिक दृष्टान्त तथा उपमान, शब्दों का लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में प्रयोग आदि की दृष्टि से भी विद्वानों ने इस ग्रंथ का अध्ययन किया है। परन्तु सत्संगियों के लिए तो यह जगत् का सबसे पवित्र ग्रन्थ है। ये सारे प्रवचन स्थल-समय के निर्देश के साथ अधिकारी शिष्यों के द्वारा लिपिबद्ध

किये जाते थे और प्रति को अंतिम रूप देने से पूर्व श्रीजी महाराज स्वयं देखते थे।

शिक्षापत्री' एक छोटी सी पुस्तिका है। इसमें धर्माचार्य, साधु, सत्संगी आदि के लिए धार्मिक आचरण के व्यावहारिक नियम दिये गये हैं। विश्व की पन्द्रह से अधिक प्रमुख भाषाओं में इसका अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। 'वचनामृतम्' का अंग्रेजी अनुवाद संप्रदाय के एक समर्पित वरिष्ठ विद्वान् श्री हर्षदराय दवे ने किया है। इन दोनों पुस्तकों का अंश लेकर संप्रदाय के साधु विस्तार से सदृष्टांत व्याख्या करते हैं, गागर में निहित सागर का स्वरूप समझाते हैं। कुछ पंक्तियों के साहित्यिक सौन्दर्य से कोई निरीश्वरवादी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। जिस प्रकार चीटियों की पंक्ति को मनुष्य देखता है परन्तु नर या मादा का भेद लक्षित नहीं करता तथा यह चींटी सुन्दर और यह कुरूप-ऐसा भी नहीं देखता—सभी चींटियाँ उसकी दृष्टि से जातिभेद या स्वरूपभेद के बिना एक समान हैं, उसी प्रकार हमारी दृष्टि से सभी स्त्री-पुरुष भेदरहित एक समान हैं। उसी युग में चमत्कार और मंत्रतंत्रवालों का बड़ा जोर था। कई धुतारे नया जीवन देने का दावा करते थे। उनके विषय में श्रीजी महाराज ने कहा था: 'इस तरह जीना संभव होता तो जगत् में कोई तो अमर होता या नहीं? और अगर मंत्र-तंत्र के बल से शत्रु को वश करना सहज होता तो ये राजा-महाराजा सेनाएँ क्यों रखते?'

श्रीजी महाराज के जीवनकार्य का प्रत्येक दिन नवोन्मेष और चैतन्य से दीप्त था। उनका निजी वर्ताव मानवीय सहजता लिए हुए था। धर्म और समाज की सेवा करके दूर-दूर से आये अपने आश्रित साधु-संतों को वे बड़े प्रेम से गले लगाते थे। वह छोटी छोटी बातों पर ध्यान देकर अपने अनुयायी के जीवन में गहरी रुचि दिखाते थे। हिंसक प्राणियों और हत्यारों को अपनी करुणा-दृष्टि से देखकर शांति का अनुभव करवाते थे। किसी के छलकपट का कभी शिकार नहीं हुए। परिस्थिति और मनुष्य को परखने की विशेष शक्ति थी उनमें। किसी की निंदा नहीं करते थे। आगन्तुक कभी-कभी पूछ बैठते थे 'आप स्वयं भगवान् हैं? या भागवत-धर्म के आचार्य। उनका उत्तर था: जैसी जिसकी श्रद्धा।'

गढ़ा मध्य प्रकरण के १३ वें वचनामृत में उन्होंने कहा है: 'यह बात भी समझ लें कि तेजपुंज में जो मूर्ति है, वे ही ये प्रत्यक्ष महाराज हैं। यदि इस बात को न माना जाय, तो इतना जरूर जान लेना चाहिए कि अक्षररूप तेज में जो मूर्ति है, उसे महाराज देखते हैं। यदि ऐसा जान लेंगे तो भी हमारे प्रति आपका स्नेह बना रहेगा तथा उससे आपका परम कल्याण होगा।'

श्रीकृष्ण के अवतार-कार्य को श्रीजी महाराज विशेष श्रद्धा से देखते थे, कपिल और ऋषभदेव के प्रति भी आदर व्यक्त करते थे। उनके जो अनुयायी पहले कृष्ण की मूर्ति का ध्यान करते थे वे भी बाद में श्रीजी महाराज को प्रगट प्रभु मानकर उनका गुण-गान करने लगे।

मुझे श्रीजी महाराज का एक स्वरूप बार-बार याद आता है, जिसमें वे एक भक्त को अपना कंधा दिखाकर कह रहे हैं, 'चढ़ जा इस पर और ठीक कर ले अपनी छत।' घटना इस प्रकार घटी थी: एक सत्संगी के घर वे ठहरे थे। रात में जोरों की वर्षा होने लगी। छत की एक खपरैल खिसक गई थी और वहाँ से पानी टपकने लगा था। श्रीजी महाराज ने उस यजमान से कहा: 'आ, मेरे कंधे पर चढ़कर खड़ा हो, तेरा हाथ छत तक पहुंच जाएगा। ठीक करले खपरैल।' वह यजमान उन्हें भगवान् मानता था। उसने कहा: 'मैं आपके कंधे पर नहीं चढ़ सकता।' इस प्रकार उसके मना करने पर श्रीजी महाराज बोले: 'मेरी जीभ पर पैर रखने में तुझे एतराज नहीं और मेरे कंधे पर पैर रखते हिचकिचाता है।'

श्रीजी महाराज यदि भगवान् थे तो ऐसे भगवान् थे जो एक श्रमजीवी भक्त को भी अपना कंधा देकर उसकी ऊँचाई बढ़ा देते थे।

श्रीकृष्ण की विरासत के रूप में थे, प्रत्यक्ष थे ये श्रीजी महाराज, संवत् १८८६ ज्येष्ठ शुक्ला दशमी तक।

पहले इनकी प्रेरणा से और बाद में इनको प्रसन्न करने के लिए संत कवियों ने गाया है।

गुजराती समाज के पुनर्निर्माण के साथ-साथ स्वामी सहजानंद ने संगीत, कविता और स्थापत्यादि कलाओं को भी प्रोत्साहन दिया। यही कारण है कि उनके अनुयायी शिष्यों में संस्कृत, हिन्दी और गुजराती के अनेक संगीतज्ञ कवि उत्पन्न हुए।

इनका कार्यक्षेत्र गुजरात था। अतः इन्होंने हिन्दी भाषी होते हुए भी अधिकतर गुजराती में ही लिखा है। इनके ग्रंथ शिक्षापत्री, वचनामृत, वेदरहस्य आदि भी हिन्दी मिश्रित गुजराती में ही है। उनकी भाषा शैली का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

'हिंसा न करनी जन्त की, परत्रिया संग को त्याग।
मांस न खावत, मद्य को पीवत नहीं बडभाग॥
विधवा को स्पर्शत नहीं, करत न आतमघात।
चोरी न करनी काडकी, कलंक न कोऊ लगात।
निन्दत नहि कोऊ देव को, विन खपतो नहिं खात॥

जहाँ तक दार्शनिक सिद्धांत का सम्बन्ध है स्वामी सहजानंद ने रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत मत में आस्था व्यक्त करते हुए 'मत' विशिष्टाद्वैतं मे'........ उद्घोषित किया, किंतु साथ ही वल्लभ संप्रदाय की पुष्टि मार्गीय सेवा प्रणाली को भी मान्यता दी। 'सेवारी तिश्च कृष्ण रूप ग्राह्या तदुदितैव हि'। इस प्रकार रामानुज और बल्लभ संप्रदाय के सिद्धान्तों का समन्वय करके इन्होंने देश-कालादि के अनुरूप एक नये (स्वामिनारायण) संप्रदाय की स्थापना की थी। जिसमें राधा कृष्ण की उपासना को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। शिक्षापत्री में ये लिखते हैं :

'स श्रीकृष्ण परब्रह्म, भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्॥

स राधया युतो ज्ञेयो, राधाकृष्णः इति प्रभुः।
रुक्मिण्या रमयो येतो लक्ष्मी नारायणः स हि॥

ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तोऽसौ नरनारायणाभिधः।
बलभद्रादि योगेन तत्तान्नामोच्यते स च॥

'पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही हमारे आराध्य इष्टदेव हैं। सर्व अवतारों के वे कारण रूप हैं। ऐसे परब्रह्म पुरुषोत्तम राधा के साथ राधा कृष्ण, लक्ष्मी रूपा रुक्मिणी के साथ 'लक्ष्मीनारायण' और अर्जुन के साथ नरनारायण कहलाते हैं।'

र. चौ.
अं. शं. ना.

सांयाजी झुला

सांयाजी झूला गुजरात के साबरकांठा प्रदेश के ईडर ताल्लुके के लीलाछा नामक गाँव के निवासी थे। इन्होंने झुला स्वरूपदासजी के घर संवत १६३२ में जन्म लिया था। बाल्यावस्था से ही ये अत्यन्त तेजस्वी, सत्वगुणी तथा होनहार प्रतीत होते थे। सन्त-महात्माओं का सत्संग इन्हें तभी प्राप्त हो गया था। गाँव के समीप सिद्ध भुनेश्वर महादेव के दर्शन के लिये ये बराबर जाते थे। वहाँ इन्होंने एक योगी को पके हुए आम भेंट किये। इससे प्रसन्न होकर उसने आशीर्वाद दिया :

देख भाई सांयां। तेरे मिट जावें बन्धन माया॥

सांयाजी जब बारह वर्ष के हुए तब इनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। इससे इन्हें वैराग्य हो गया और ये गाँव छोड़कर निकल पड़े। ईडरकी ओर जाते हुए मार्ग में वहाँ के रावके अंगरक्षक से इनकी भेंट हो गयी। अंगरक्षक सांयाजी से बहुत प्रभावित हुआ। वह इन्हें अपने साथ ईडर ले गया। वहाँ उसने

ईडर के राव वीरमदेव जी से इनकी भेंट करवायी। वीरमदेवजी सांयाजी झुला की काव्यप्रतिभा पर मुग्ध हो गये। उन्होंने इनको अपने दरबार में महत्वपूर्ण स्थान दिया। उन्हें दो बार एक लाख मुद्रायें, घोड़े तथा हाथी भेंट किये तथा बहुत सम्मान दिया।

इसी बीच सांयाजी की भक्ति भावना बढ़ने लगी तथा लोग इन्हें 'महात्मा' कहकर सम्बोधित करने लगे। इनके बारे में अनेक चमत्कारों की कथाएँ लोगों के मुँह से सुनी जाने लगीं। काफी समय बाद जब सांयाजी डाकोर जी की यात्रा से लौटे, तब इन्हें समाचार मिला कि राव बीरमदेव को धोखे से विष दे दिया गया और उनकी मृत्यु हो गयी। अपने स्नेही मित्र राजा के अवसान की बात सुनकर सांयाजी को बहुत दु ख हुआ। ईडर जाकर दुःख बहुत बढ़ जायगा, यह सोचकर ये लीलाछा चले गये तथा इन्होंने अपने चित्तको हरि भजन में लगा दिया।

'नागदमण' तथा 'रुक्मिणी-हरण' नामक ग्रन्थ इन्होंने इसी समय में रचे। वीरमदेव के पश्चात् नानाभाई कल्याणमल्ल ईडर की गद्दी पर बैठे। वे भी सांयाजी के यश को बढ़ाना चाहते थे। लीलाछा गाँव में जाकर वे सम्मान सहित सांयाजी को अपने यहाँ ले आये तथा सन् १६११ ई० में इनको कुवावा नामक गांव तथा एक लाख मुद्रायें भेंट की। रावकल्याणमल ने 'नागदमण' तथा 'रुक्मिणी-हरण' की प्रतिलिपियां तैयार कराईं तथा बादशाह अकबर के दरबार में भेजीं। बादशाह इन रचनाओं को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। 'बेलि कृष्ण रुक्मिणीरी' के रचयिता पृथ्वीराज राठौर से उन्होंने कहा, 'पृथ्वी की बेलको तो सांया का हिरन चर गया।'

सांयाजी ने कुवावा में श्री गोपीनाथजी का मंदिर, गढ़ी, बावड़ी आदि बनवायी। आज तक ये भवन वहाँ विद्यमान हैं।

सांयाजी का विवाह देवरासण की भांजी की पुत्री सुहागणबाई से हुआ था। उससे उनके चार पुत्र हुए।

एक किंवदन्ती है कि सांयाजी प्रतिदिन रणछोड़रायजी की आरती के समय द्वारका में उपस्थित रहते थे। एक समय ईडर के राव कल्याणमल जीकी कचहरी में बैठे-बैठे ये समाधिस्थ हो गये तथा दोनों हाथों से ऐसी चेष्टा करने लगे मानो अग्नि बुझा रहे हों। थोड़ी देर बाद इन्होंने आँखे खोलीं तो रावजी ने देखा कि सांयाजी के दोनों हाथों पर फफोले पड़ गये हैं। रावजी ने अत्यन्त आग्रहपूर्वक इनसे पूछताछ की, तो सांयाजी ने उत्तर दिया, 'द्वारका में आरती की लौ से रणछोड़राय जी के बागे में आग लग गयी थी। उसे बुझाने के प्रयत्न में हाथ जल गये हैं।' इस बात का पता लगाने के लिए रावजी ने अपने विश्वास-पात्र व्यक्ति को द्वारका भेजा। जाँच करने पर पता चला कि घटना सच थी।

इकसठ वर्ष की अवस्था में संवत् १६९३ में सांयाजी ने अपनी सारी सम्पत्ति अपने पुत्रों को सौंप दी तथा जीवन के शेष वर्ष व्रजभूमि में बिताने का निश्चय किया। धर्मपत्नी सुहागणबाई के साथ ये मथुरा की ओर चल पड़े। रास्ते में मेवाड़ के श्रीनाथ जी के दर्शन किये। वहाँ इन्होंने एक सेर सोने से बना एक थाल श्रीनाथ जी को भेंट किया। उस थाल में श्रीनाथ की को भोग रखा जाने लगा। प्रतिदिन वहां तीन बार आवाज लगती, 'कोई सांया झुला यहां है क्या ? यदि हो तो प्रसाद ले जाये।'

ब्रज में पहुंचकर दम्पति ने भजन-पूजन, श्रवण-मनन तथा तीर्थाटन में अपना हृदय लगाया था। ये श्रीकृष्णचन्द्रमय हो गये। दस वर्ष बाद जब अवस्था पूर्ण होने को हुई तो सांयाजी ने ब्राह्मणों को एक हजार गायें दान में दीं और हजारों ब्राह्मणों तथा निर्धनों को भोजन कराया। उन सबके देखते-देखते इन्होंने श्रीकृष्ण चन्द्र की जय बोली तथा पति और पत्नी ने यमुनाजी में जल-समाधि ले ली।

भक्त कवि सांयाजी झुला को डिंगल भाषा का सिद्ध कवि माना जाता है। 'रुक्मिणी-हरण' काव्य ग्रन्थ में रुक्मिणी जी के विवाह का वीर-रस पूर्ण वर्णन हुआ है जबकि 'नागदमण' में श्रीकृष्ण की कालियदमन, गौचारण आदि लोक हित तथा लोक-रंजनकारी लीलाओं का वर्णन है। वे इनके वीर तथा वात्सल्य-रस-प्रधान खण्ड-काव्य हैं। उनमें सभी वर्णन मौलिक रूप से हुए हैं।

कृष्ण की बाल क्रीड़ाओं के वर्णन में उनकी विनोदशील तथा नटखट प्रकृति का वर्णन कवि ने बड़ी सरस शैली में किया है :

वाई बांसली सिंघली नाद वातां।
गले माल गुंजां ब्रजबालगाता॥

मनै सामला आमला प्रान सादा।
जमन्ना तणे नीर आहीरजादा॥

रमे वास में साथ सू हेक रागे।
कहे कोजिये कान्ह भीरू विभागे॥

बैकुण्ठ रो नाथ रूडी विचारे।
क्रिया सारिखा लोक बे बे किनारे॥

घड़ू गेडिये गेंद मैदान घेरी।
घणू घुम्मरी डम्मरी फेर फेरी॥

झिले आवता ऊलटे हेक भोरे।
फिरे राम चोटा करे दोट फेरे॥

मझी आंकडो माझियां खेल मातो।
रमे संग गोपालिया रंगरातो॥

मिले चोट सामो सभी दोट माथे।
हुई युद्धमल्लों तणी हेल हाथे॥

रूप राशि श्रीकृष्ण के नख-शिख का वर्णन कवि ने कितने संश्लिष्ट रूप में किया है :

भरे मांग सिन्दूर मारग्ग भाले।
बहे सामलो ब्रज्जशेरी विचाले॥

बंधी चोलमा रंग रंगी-बिरंगी।
सुहे ऊपरा पाघ खाँगी सुचंगी॥

तवे नागणी चन्द्रिका मोर ते हीं।
उपे चोप पावस्स घट्टा अछेहो॥

पणां सामलो गात्र पीरा पिछोरा।
कणाँ ऊपरों नंग ओपे कँदोरा॥

पगे घूघरीं रौल आनन्द पुंजा।
गले हार मोती रुले माल गुंजा॥

विचे दूलड़ी हेक चौकी विराजे।
जिसो राजवी केहरी नख्ख राजै॥

विहं बद्ध बाजू तणां नग्ग बाँहे।
मणी नाग हीरा तणी ज्योति माहें॥

अहीनारि जंपे लही मोल ऊँचो।
प्रभूरे पहूंचे लटक्के पहूँची॥

सबै सुन्दरी मून्दरी देख मोहीं।
वले दाड़िमे दन्त चौकी विमोहीं॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण चरित्र के लोकरक्षक पक्ष एवं अलौकिकत्व की भी कवि ने सुन्दर व्यंजना की है :

दो०–अवनी भार उतारवा, जायों एण जुगत्त।
नाथ विहांणे नित नवे, नवे विहांणे नन्त॥

प्रभू घणां चा पाड़िया, दैत्य बड़ां चा दन्त।
कै पाल्लणे पौढ़िया, कै पयपान करन्त॥

कोणे न दीठे कानवों, सुण्यो न लीलासन्ध।
आप बँधाणो ऊखले, बीजा छोडण बन्ध॥

ल पिं. ग.

सुन्दर दास

सुन्दरदास वसावड के निवासी वैष्णव कवि थे। इनका रचनाकाल अविदित है। इनकी रचनाएँ हैं–हरियश सिन्धु, अवतार चरित्र, तथा विविध रस।

अ. शु.

सुन्दर मेवाडो

गुजरात के सुप्रसिद्ध आख्यानकार एवं कृष्णभक्त प्रेमानन्द के शिष्य सुन्दरदास का समय संवत् १७९२

के आसपास माना जाता है। इनके गाँव का नाम धाएता था और पिता का नाम धनदास। प्रेमानन्द ने इन्हें पौराणिक शैली में कविता करने का काम सौंपा था। प्रेमानन्द के अपूर्ण ग्रन्थ 'दशम स्कन्ध' को सुन्दरदास ने ही पूरा किया था। ये 'मेवाडो' नाम से भी पहचाने जाते हैं।

इनकी दो रचनाएँ हैं-'दशमस्कन्ध' (रचना सं० १७९६) और 'सुदामानी कथा' (रचना सं० १७९३)।

म ई. प्र.

सुदामा

भगवान् श्रीकृष्ण के सहाध्यायी एवं परम सखा सुदामा के जीवन की कई घटनाएँ सुप्रसिद्ध हैं। गुजरात के सौराष्ट्र प्रदेश के पश्चिमीय समुद्र तट पर स्थित पोर नामक एक छोटे गाँव में सुदामा जी का जन्म हुआ था। कहा जाता है कि अति प्राचीन काल में उसी गाँव के जंगल में एक भृगुवंशीय सोमशर्मा नाम के महर्षि तपश्चर्या करते थे। सोमशर्मा के पुत्र का नाम सुदामा था। सुदामा का यही 'पोर' गाँव आज 'पोरबन्दर' (महात्मा गाँधी जी की जन्म भूमि) नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ सुदामा जी का मूल स्थान आज 'सुदामापुरी' के रूप में तीर्थ स्थान बन गया है।

पिता ने सात वर्ष की आयु में सुदामा का यज्ञोपवीत संस्कार किया और गायत्री मंत्र का उपदेश देकर अवंतिका (उज्जैन) के सांदीपनि ऋषि के आश्रम में विद्याभ्यास के लिए भेजा। उसी आश्रम में कृष्ण और बलराम भी विद्याभ्यास के लिए आये थे। सुदामा और कृष्ण परम मित्र बन गये। दोनों निष्ठापूर्वक विद्याभ्यास और गुरु जी की हर प्रकार की सेवा करते थे। एक दिन कृष्ण और सुदामा गुरु-पत्नी के लिए जंगल में लकड़ी काटने गये। वहाँ कृष्ण ने एक राक्षस का संहार किया। लकड़ी इकट्ठा करके दोनों आश्रम को आने की तैयारी कर रहे थे कि मूसलाधार वर्षा होने लगी। आश्रम में गुरु को चिन्ता हुई और वे शिष्यों को खोजने निकल पड़े। दोनों को सकुशल पाकर गुरुजी चिन्तामुक्त हो गये। इस प्रकार श्रीकृष्ण और सुदामा नित्य साथ रहकर अपना कार्य करते थे। दोनों के बीच अटूट प्रीति थी।

विद्याभ्यास पूर्ण करके सुदामा जी घर आये और माता पिता की सेवा करने लगे। कुछ समय बाद देवदत्त पंडित की कन्या सुजया के साथ सुदामा का विवाह हुआ। तब तक श्रीकृष्ण द्वारकाधिपति बन गए थे। माता पिता की मृत्यु के पश्चात् सुदामा नित्य प्रभु-भजन में व्यस्त रहने लगे। इन्हें तीन-चार बच्चे भी हुए। परिवार की स्थिति अत्यन्त दयनीय बन गई तो भी सुदामा जी अयाचकव्रतधारी बने रहे। इनकी पत्नी भिक्षा लाकर या किसी की मजदूरी करके बड़े कष्टपूर्वक गृह कार्य चलाती थीं। एक दिन दरिद्रता के कारण बच्चों की चिंतनीय दशा देखकर पत्नी विह्वल हो गई। उसने पति से श्रीकृष्ण के पास जाकर कुछ याचना करने के लिए अनुरोध किया। सुदामा ने याचना न करने का व्रत ले रखा था किन्तु पत्नी की आर्जवपूर्ण विनती तथा श्रीकृष्ण-दर्शन की आकांक्षा से प्रेरित हो पड़ोसी के यहाँ से माँगकर लाए हुए तंदुल की भेंट कपड़े में बाँधकर उन्होंने द्वारका के लिए प्रस्थान किया और मार्ग के कष्ट सहकर द्वारका पहुंचे। बहुत दिनों के बाद अपने बालसखा को आया देख श्रीकृष्ण भावविभोर हो गये, सिंहासन से उठकर सुदामा को गले लगाया और बड़े प्रेमादरपूर्वक सिंहासन पर बिठाया। इतना ही नहीं श्रीकृष्ण और उनकी रानियों ने भावपूर्वक सुदामा का पदप्रच्छालन किया। दोनों मित्रों ने बड़े प्यार से बातें की, सांदीपनि ऋषि के आश्रम में अध्ययन काल की घटनाओं का स्मरण कर अतीव हर्षित हुए। कुछ समय बाद श्रीकृष्ण का ध्यान तंदुल की पोटली की ओर गया। सुदामा ऐसी तुच्छ भेंट देने में सकुचाते थे। किन्तु श्रीकृष्ण ने बलपूर्वक पोटली लिया। मित्र के स्नेहोपहार रूप में प्राप्त चावल के दिव्य स्वाद की सराहना करने लगे।

इस प्रकार कुछ दिनों तक श्रीकृष्ण मिलन का और उनके द्वारा किये गये अपूर्व आतिथ्य का अतुल

सुख भोगकर सुदामा जी श्रीकृष्ण की आज्ञा लेकर घर को चले। लौटते समय कृष्ण ने कुछ धन न दिया यह सोचकर सुदामा जी मार्ग में पत्नी के प्रति मन ही मन अत्यन्त क्षुब्ध हुए, साथ ही श्रीकृष्ण को भी निर्दय और कपटी कहते हुए कोसने लगे। किन्तु वे विवेकी भक्त थे, अतः प्रभु के भक्तों पर असंख्य उपकारों का विचार करके अन्त में अपनी ही स्वार्थपरता को दोष देने लगे। इतना ही नहीं, 'धन तो गर्व और प्रभु विस्मृति का कारण है' ऐसा सोच 'धन न दिया सो अच्छा ही हुआ'-इस प्रकार मन को प्रबोध देकर आश्वस्त हुए। किन्तु जब घर पहुंचे तो अपनी झोपड़ी के स्थान पर बड़ा महल देख भ्रमित हो गये। इतना ही नहीं–सौन्दर्य, सम्पन्न बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत अपनी पत्नी को भी वे पहचान नहीं सके। अन्ततः पत्नी के बहुत समझाने पर उन्हें प्रतीति हुई कि यह तो भगवान् श्रीकृष्ण की असीम कृपा का ही शुभपरिणाम है।

भागवत (दशम स्कन्ध, अध्याय ८०-८१) में सुदामा की कथा आई है, किन्तु वहाँ 'सुदामा' का नाम नहीं मिलता। उसमें तो एक कुचैल ब्राह्मण बिना नाम के प्रस्तुत हुआ है। इसी भागवत कथा के आधार पर गुजराती साहित्य के नरसिंह मेहता, जगन्नाथ, प्रेमानन्द आदि भक्त कवियों ने 'सुदामाचरित' नाम से आख्यान काव्यों की रचना की है।

भक्त और भगवान् के बीच कैसा अपूर्व-निर्मल सख्यभाव निष्पन्न होता है, श्रीकृष्ण-सुदामा-कथा इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। म. ई. प्र.

सूर भट्ट

सूर भट्ट महाभारत के स्वर्गारोहण पर्व के अनुवादकर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस कृति में इन्होंने अपना जो परिचय दिया है उससे विदित होता है कि ये रैकब जाति के गुजराती ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नारायण था। ये कलोल गाँव के निवासी थे तथा सं० १७०४ में विद्यमान थे।

'स्वर्गारोहणी पर्व' में भगवान् श्रीकृष्ण के स्वधामप्रयाण के पश्चात् द्रौपदी द्वारा कवि ने कृष्ण के रूप तथा लीला माधुर्य का जो वर्णन प्रस्तुत किया है, वह अत्यंत ही कवित्वपूर्ण और मनोहारी है :

'घनश्याम-धन विट्ठलो रे, पीतांबर परिधान।
नेत्रकमल शोभतो रे, सूरज कोटि समान॥

श्रवणे कुंडल शोभतां रे, कंठे वैजयंती माल।
मयुरपिच्छ मस्तक धर्यारे, कटिमेखला रसाल॥

वृंदावन्य गो चारता रे, पीता ज्यमुना वार्य।
मोहनवंशी बजाउता रे, कंठे गुंजानो हार्य॥

मयुर पिच्छ मस्तक धर्या रे, धातणां अंगोअंग्य।
गोमंडनना मंडन करी, गोपी करता अनुराग्य॥

मस्तके मुकुट सोहामणो रे, खींटलीयाला वाळ।
चाल्य सरस लटकती रे, तिलक विराजित भाल॥

जमनाजी ने कांठडे रे, केशव रमता दूर।
लेवा दाण दधि तणुं रे, सुख सागर संपूर॥

अमृत संरसी मोरली रे, वन वहाता जदुवीर।
सुणी मोह पामी ब्रजबधू रे, जाती भरवा नीर।

धेर्य धेर्य माखण चोरता रे। धेर्य धेर्य दोहता गाय।
धेर्य धेर्य आंगण नाचता रे, पोते वैकुंठराय॥

अं. शं. ना.

स्वरूपदास

स्वरूपदास का जन्म वि० सं० १८५८ में हुआ था। इनका जन्म-नाम शंकरदान था। इनके पिता का नाम मिश्रीदान था। इनके पूर्वज सिंध प्रान्त के उमरकोट परगने के रगरोड़ा नामक गाँव में रहते थे। इस गाँव में इनके पिता व चाचा को मुसलमानों ने तंग किया। तब उसे छोड़कर ये राजस्थान चले आये और अजमेर के निकट ठिकाण बडाली को को स्थायी निवास-स्थान बना लिया। शंकरदान का जन्म यहीं हुआ था।

इनके चाचा परमानन्द नैष्ठिक ब्रह्मचारी, विद्वान्, कवि तथा हरिभक्त थे। उन्होंने स्वयं शंकर-

दानजी को विद्याभ्यास कराया। संस्कृत भाषा का अभ्यास कराने के पश्चात् उन्होंने इनको वेदान्त का प्रखर ज्ञान दिया। इसके फलस्वरूप इनके मानस पर वेदान्त का गहरा प्रभाव पड़ा। विद्याभ्यास पूरा करने के पश्चात् ये देवलिया के एक दादूपंथी साधु के शिष्य हो गये। गुरु ने इनका मुण्डन कराया तथा स्वरूपदास नाम रखा।

साधु होने के बाद ये अधिकतर मालवा में रहते थे। रतलामके महाराज बलवन्तसिंह इन्हें अपना गुरु मानते थे। रतलाम के अतिरिक्त सीतामऊ तथा सैलानाके दरबार में भी इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। सीतामऊ के महाराज कुमार रतनसिंह नटनागर भी इनको गुरु तुल्य मानते थे। अपनी रचना नटनागर-विनोद में उन्होंने इनको 'ईश्वर' विशेषण देकर सम्मानित किया है।

महाकवि सूर्यमल्लजी मिसण तथा 'तखतविलास' के रचयिता कवि शिवराम दाधीच, स्वरूप दास जी के शिष्य थे। वि० सं० १९२० में एक रात को स्वरूपदास जी ने समाचार सुना कि सीतामऊ के महाराज कुमार रतनसिंह जी तथा रतलाम के महाराज भैरवसिंह जी का देहान्त हो गया। यह समाचार सुनकर ही इनके मुंह से सहसा ये शब्द निकले—'रतनसिंह ने शीघ्रता करदी, मैं तो उनके साथ जाने के लिए तैयार था।' इसके थोड़े ही दिनों के बाद स्वरूपदास जी का देहान्त हो गया।

स्वरूप दास जी डिंगल, संस्कृत एवं पिंगल के अच्छे ज्ञाता तथा हिन्दू धर्म-सिद्धातों के निष्णात विद्वान् थे। 'पांडव-यशेन्दु-चन्द्रिका' इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसमें महाभारत की कथा का सारांश दिया गया है। इसकी भाषा पिंगल है। इसकी शैली अत्यन्त सरल, परिमार्जित तथा हृदयस्पर्शी है। भाव-सौष्ठव तथा विषय-गत लालित्य का इसमें सुन्दर संयोग हुआ है। राजस्थान, मालवा, गुजरात, कच्छ तथा सौराष्ट्र के कवि-समाज में यह अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। इसमें आये हुए कृष्ण भक्ति के कुछ छन्द प्रस्तुत हैं :

राधे जी गावें हैं। प्यारे को भावे हैं ॥
वंशी में बोले हैं। तानों को तोले हैं ॥
मदन बदन। दनुज कदन ॥
रुचिर रदन। सुव्रत सदन ॥
श्रीधर पावन। घोष बचावन ॥
कंस निपातन। कौरव घातन ॥
विधाता फनीशं। धरे पाव शीशं ॥
रटै लोक तीनं। सुगोपी अधीनं ॥
भजौ भक्तिदाता मुकुन्दमुरारी ॥
जरासंध कंसादि के नाशकारी ॥
अभैदान दाता नहीं कोय ऐसो ॥
जगन्नाथ स्वामी चिदानन्द जैसो ॥

श्रीकृष्ण के स्वरूप का वर्णनः—

देहदं प्राणदं सत्वदं भुक्तिदं।
मानदं बोधदं लोकदं मुक्तिदं ॥

सेवकं पोषदं कन्द आनन्द के।
चन्द राका जथा नन्द हैं नन्द के ॥

चन्द राका जथा नन्द हैं नन्द के ॥

आज प्रभा नटनागर की वृख-
भानु सुता टक एक निहारत।
मोरपखा कच मेचक किरीट,
सुकुण्डल केढिग नैन न टारत ॥

गुंजन की वनमाल गले पट-
पीत को ध्यान न नेक बिसारत ॥

चातुरता मति आतुरता जुत,
बाल संयोग उद्योग विचारत ॥

स्तुति (छन्द ललित)

अखिल भक्त के हेतु रूप हो।
नर शरीर तें विश्वभूप हो।
निगम गान तैं, पार तोरना।
स्तुति करों यथा बुध्दिमोरना ॥

बुध विरंचि से भूलि जात हैं।
प्रबलता रमा यों दिखात हैं॥
डरत सो सदा तेज आप तैं।
रहत काल कौ भीति ताप तैं॥
अब न दास त्याग कीजियै।
विरह ना सहौं गैल लीजियै॥
विपत्ति और तो शीश डारिये।
चरन संग तैं नांहि टारिये॥

ल. पिं. ग.

हरखजी मेहता (हर्षदास)

हरखजी मेहता का जन्म सन् १७६४ ई० में भावनगर के सिहोर नामक गाँव में हुआ था। ये पुष्टिमार्ग के सुप्रसिद्ध आचार्य माधवराय जी कोटवाले के शिष्य थे। ये वणिक् जाति के थे। इनके पिता का नाम दामजी था। वे भावनगर के संस्थापक श्री भावसिंह जी के कारोबार में थे। पिता के अवसान के पश्चात् हरख जी ठाकुर साहब तख्तसिंह जी के कारोबारी नियुक्त किए गए।

ये अन्तर्मुखी और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के थे। व्रजभाषा में भक्ति भावयुक्त कविता करने की इन्हें बड़ी रुचि थी। कहते हैं कि व्रजभाषा में चार पद बना लेने के पश्चात् ही मेहता जी भोजन करते थे। श्रीकृष्णलीला, गुरुमहिमा, ईश्वर-स्तवन तथा पवित्र स्थलों के सम्बन्ध में इन्होंने अनेक स्फुट पदों की रचना की है। संगीत के मर्मज्ञ और अभ्यासी होने से इन्होंने अधिकांश पदों की रचना राग-रागिनियों और तालों में की है।

मेहता जी को व्रजभाषा पर अच्छा अधिकार था। इन्होंने गोकुल, व्रज और मथुरा की अनेक यात्राएँ की थीं तथा पुष्टिमार्गीय ग्रन्थों का भी अध्ययन किया था। इसी कारण गुजरात में रहते हुए भी ये व्रजभाषा में इतनी लालित्यपूर्ण रचनाएँ कर सके। इनके लिखे हुए दो ग्रन्थों का पता चला है-भक्त मुकुट-मणि और तीर्थ यात्रा प्रबन्ध। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके कई स्फुट पदों का संग्रह 'मेहता हर्षदास कृत पद संग्रह' के नाम से प्रकाशित हुआ है। मेहता जी की ललित मधुर पदावली के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

वर्षा वर्णन :

वर्षाऋतु आई, घनघटा नभ छाई,
दुति दामिनी देखाई, मोह मोरन बढ़ायो है।
मथुरा बसे हैं कान्ह, करि मिलें आनि,
मिलवे को प्रानन प्रयान ठहरायो है॥

भ्रमरगीत विषयक इनका एक बड़ा ही सुन्दर पद प्रस्तुत है :

ओधो मैं मोहन की दासी।
नंदनंदन बिनु और न भावे, अधर सुधा की प्यासी।
ज्ञानयोग निरगुन जो बतावत, सो तो देहैं सन्यासी॥

हमने हियमें सदा बिराजत, सुखनिधि रास विलासी।
हरख हरी हमसें नहीं न्यारे, परमे प्रेम को फांसी॥

राग आसावरी में निबद्ध बाललीला के एक पद में कवि ने कैसी अद्भुत चित्रोपमता का दर्शन कराया है :

पलना झूलत नंद कुमार।
बहुभागनि जसुमति झुलावति, गावति चरित उदार॥
चिचलन मेलि बदन में चूसत. मातु निरखि मुसकात।
गोद लिए पयपान करावत, हिये हरख न समात॥

अं. शं. ना.

हरिजीवन

'२५२ वैष्णवन की वार्ता' में इनका वृत्त दिया गया है। उसके अनुसार इनका उपस्थिति काल संवत् १५६४ से १६३६ तक ठहरता है। इनका जन्म संवत् १५६४ में हुआ था। ये जाति के क्षत्रिय थे।

अहमदाबाद के समीप असाखा इनका निवासस्थल था।

भाव प्रकाश के अनुसार ये राजनगर से कुछ दूर किसी गाँव के रहने वाले थे। इनके पिता तथा तीन भाई और थे-बनी कोठारी, भाइला कोठारी तथा जैना कोठारी। इनके पिता राजनगर के हाकिम के यहाँ कोठार के मालिक थे। राजनगर अहमदाबाद में है और असाखा उसका छोटा पुरवा है। ये फिर वहीं रहे। जब श्री गुसाईं जी प्रथम बार सं० १६०० में द्वारका पधारे तब नरहरि संन्यासी के साथ इनके पिता शरण में आये। उस समय हरिजी की आयु ६ वर्ष की थी। इन्होंने संस्कृत में 'श्री विट्ठल सहस्र' नामक एक ग्रन्थ बनाया था जो कांकरोली सरस्वती भण्डार में सुरक्षित है। हिन्दी के भी इनके बहुत पद मिलते हैं। वे विभिन्न कीर्तन संग्रहों में संकलित हैं। कुछ पदों की मुख्य पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

—झूलत डाल गुपाल संग ब्रजनारी री।
—भोर भए नन्दलाल संग लिये।
—श्री पंचमी परम मंगल।
—प्रगट भए श्री वल्लभदेव।
— विहरत हरि गृह सरस बसंते।

पदों से इनका पुष्टिमार्गीय होना प्रमाणित होता है।

अ. शु.

हरिदास

हरिदास खादड़पुर के निवासी थे। इनका रचनाकाल सं० १८२६ माना जाता है। इन्होंने 'हरिविलास' नामक ग्रन्थ की रचना की है।

अ. शु.

हरिदास (क्षत्रिय)

हरिदास का जन्म जूनागढ़ के पास कुंतलपुर (कुतियाणा) में हुआ था। ये जाति के क्षत्रिय थे। जूनागढ़ के दीवान रणछोडजी ने इनको आश्रय दिया था और नौकरी में रख लिया था। इन्होंने श्रीकृष्णलीला के पदों के अतिरिक्त शिवविवाह और वेदांतज्ञान के पद भी लिखे हैं। ऐसे ज्ञानी भक्त हरिदास की जीवन विषयक जानकारी बहुत कम उपलब्ध है।

श्रीकृष्ण के परम उपासक कवि हरिदास के 'गरुड़े चढ़ी आवजो गिरधारी,' 'लज्जा मोरी राखजो रे मुरारी' प्रतीक वाले पद अत्यन्त लोकप्रिय हैं। यहाँ एक पद उद्धृत किया जाता है :

(१)

'गरुडे चढी आवजो गिरधारी।
लज्जा मोरी राखजो रे मुरारी॥

प्रथम सरस्वती गणपति गाइये।
पद पूजीने पावन थाइये॥

नित्य गोविंदना गुण गाइये।
गरुडे चढी आवजो गिरधारी॥

माता कुंताजी छे शुभमति।
सती साध्वी छे द्रोपदी॥

एना बहुनामी छे पति।
गरुडे चढी आवजो गिरधारी॥

हस्तिनापुर मां होड मंडाणा।
द्यूत खेलतां पासाओ ढाल्यां॥

एमां हार्या ते बारंबार।
गरुडे चढी आवजो गिरधारी॥

सती ने भरी सभामां लाव्यां।
पति देखी मनमां लजाया॥

दुष्टे हसीने पासे बोलाव्यां।
गरुडे चढ़ी आवजो गिरधारी॥

सती वारे वारे पोकारे।
आंसु पाडेने रडे चीरधारे॥

प्रभु ! धाजो तमे मारी वहारे ।
गरुड़े चढ़ी आवजो गिरधारी ।।

हरिए सुण्यो छे आर्तपोकार ।
वेगे दोडीने उठाया ते वार ।।

चड्या गरुडे जगदाधार ।
गरुडे चढी आवजो गिरधारी ।।

आवी साचव्युं सतीनुं टाणुं ।
पाटो बांध्यानु ॠण प्रमाण्युं ।।

चीर पूर्यां छे नवसे नव्वाणुं ।
गरुडे चढी आवजो गिरधारी ।।

कर्यां भक्त तणां काम पूरां ।
नथी कोई रंतेय अधूरां ।।

संकट हरवामां शामलिया शूरां ।
गरुडे चढी आवजो गिरधारी ।।

कहे क्षत्रि ते दासनो दास,
जेनो कुंतलपुरमां छे वास ।
गुण नित्य गाये हरिदास,
गरुडे चढी आवजो गिरधारी ।।

(२)

राम ने विसारी ने ते शुं कीधुं ।
कंचन मेली कथीर लीधुं ।।

हेतो हरिनुं नाम न लीधुं ।
अमृत मेलीने विख पीधुं ।।

आव्यो अवसर अेळे खोयो ।
मूरख मानवी मोहयामां मोह्यो ।।

जनम पदारथ ते कांइ न जोयो ।
आंबी उखेडी बावळ बोयो ।।

भवसागरमां तुं भटकाणो ।
ओरो आवे तो मोघों मूल ।।

कामक्रोधनी वच्चे झूल्यो ।
भाव भजन ने भक्ति भूल्यो ।।

डहापणमां तुं तो डोलाणो ।
आशा मेली ने अथडाणो ।।

जेम वीटाणो वाणो ताणो ।
एक संसारियामां परोवाणो ।।

कहे हरिदास तमे भजो टाणे ।
आवे न अवसर खरचे नाणें ।।

हृदये विचारी जे नर जाणे ।
प्रेम तणो रस ते परमाणे ।।

अं. शं. ना.

हरिदास वणिक

हरिदास गुजरात के सुख्यात कृष्णभक्त एवं आख्यानकार प्रेमानन्द के शिष्य माने जाते हैं। इनका समय १७वीं शती का मध्यभाग है। इन्होंने सं० १६७३ में बड़ौदा में वीसालाड वणिक् परिवार में जन्म लिया था। संवत् १७२१ में इन्होंने प्रेमानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया। कृष्ण में इनकी बड़ी श्रद्धा थी। प्रेमानन्द के सम्पर्क में इनकी भक्तिभावना दृढ़ हुई और काव्य-सर्जन की इच्छा प्रबल हो उठी। इनकी रचनाओं का प्रधान विषय हरिभक्ति तथा कृष्णचरित है।

इन्होंने १३ ग्रन्थों की रचना की थी, ऐसा कहा जाता है। इनमें 'शामलशानो विवाह' (रचना सं० १७२६), 'नरसिंह महेताना बापनुं श्राद्ध' (सं० १७२७), 'भारतसार' (सं० १७३०-३७) तथा 'मोसालु' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

ऐसा भी कहा जाता है कि हरिदास ने अपना 'शामलशानो विवाह' ग्रन्थ भरुच के एक खेजवाल ब्राह्मण को दान के रूप में दे दिया था, जिससे उसे गाकर या सुनाकर वह अपनी आजीविका प्राप्त कर सके। यह इनके त्यागी तथा उदार स्वभाव का परिचायक है।

म. ई. प्र.

हरिदास

प्रेमानन्द के शिष्य हरिदास से ये हरिदास भिन्न हैं। ये वल्लभ-सम्प्रदाय के हैं। इनका समय १७वीं सदी का पूर्वार्द्ध है। इनके पिता का नाम नाथाभाई था। हरिदास श्रीवल्लभाचार्य के पौत्र गोकुलनाथ के शिष्य और भरुच (भृगुकच्छ) के निवासी थे।

इन्होंने राधाकृष्ण-विषयक अनेक रचनाएँ की हैं। इनमें प्रमुख हैं-पद पाण्डवोनुं, पंदरतिथिओनु पद, दाणलीला, विरहगीता, रसमंजरी, जन्मलीला, धोलपद, एवं ब्रजभाषा के स्फुट पद।

हरिदास के पद छगनलाल विद्याराम रावल द्वारा संपादित 'प्राचीन काव्य-सुधा-भाग-२' में एवं इच्छाराम सूर्यराम देसाई संपादित 'बृहत् काव्यदोहन-ग्रन्थ-७' में प्रकाशित हुए हैं।

इनके द्वारा विरचित 'दाणलीला' का एक पद प्रस्तुत है :

ओ महियारी रे, आम शुं अतडुं बोले।
दा 'डी जानी रे दाण अमारुं चोरी।
आज नहि छोड़रे ब्रखुभान की छोरी॥

तुं भखाडी रे आवडुं जोर जणावे।
तारा विना रे अमने कुण आडी आँवे॥

नाम अमारुं रे, नन्द दुलारो कहेवाय।
वन जातानुं दाण ते लवाय॥

आणी वाटे रे आण हमारी चाले।
हरिना स्वामीरे मारगडामां माले॥

'हे दही बेचने वाली। ऐसा तुकारभरा वचन क्यों बोलती है? हमारा दान चुराके तू प्रतिदिन जाती है। हे वृषभानु की छोरी! आज मैं तुझे नहीं छोड़ूंगा। तू ग्वालिन है और जोर जताती है। तेरे बिना हमारे मार्ग के बीच में कौन आये? हमारा नाम तो नन्ददुलारा कहाता है। वन जाने का हम दाण (दान) लेते हैं। इसी मार्ग पर तो हमारी सत्ता चलती है। हरिदास के स्वामी तो मार्ग में आनन्द से घूमते हैं।'

एक दूसरा पद भी यहाँ उद्धृत है, जिसमें गोपीभाव की मधुरता प्रकट हुई है :

राधाजी रमवाने आवो।
हुं तो तोरा चर्ण कमल पर वारो रे।
हां रे जाउं वदन शोभा बलिहारी रे॥

हा रे तुंने तेडे छे कुंजविहारी रे।
हां रे हरि उभा जमना ने तीर रे॥

हरि व्याकुल नहीं रहे धीर रे।
तेंडे तुंने संकर्षणनो वीर रे॥

हां रे पाये लागी करुं प्रणाम रे।
हां रे तमे मानो हमारी वाण रे॥

हां रे तुंने तेडे ते सारंगपाण रे।
हां रे हुं तो दीन तमारी दास रे॥

हां रे हरि पुरो मननी आश रे।
हां रे कर जोडी कहे हरिदास रे॥

'राधाजी! खेलने आइये। मैं तो तुम्हारे चरण-कमल पर न्यौछावर हूँ। तुम्हारी मुखशोभा देख मैं बलिहारी हो जाती हूँ। अरे तुझे तो कुंजबिहारी कटि पर बिठाते हैं। हरि तो यमुना के तीर पर खड़े हैं, हरि तो व्याकुल हैं, अधीर हो रहे हैं। तुझे संकर्षण (बलराम) का भाई कटि पर बिठाता है। अरे, मैं पाँव लगकर प्रणाम करती हूँ। अरे, तुम हमारे वचन मानो। तुझे तो सारंगपाणि कटि पर लेते हैं। मैं तो तुम्हारी दीन दासी हूँ। हे हरि! मेरे मन की आशा पूर्ण करो। ऐसा हाथ जोड़ हरिदास कहता है।'

म. ई. प्र.

हरि भट्ट

हरिभट्ट बड़ोदा के निवासी थे। इनका समय १८वीं सदी का पूर्वार्ध है। ये सन् १८२९ ई० में

विद्यमान थे। इन्होंने दाताहरि' नाम का पंथ चलाया, ऐसा कहा जाता है। ये जाति से ब्राह्मण थे। इन्होंने कृष्णविषयक प्रचुर पद रचे हैं।

इनकी रचनाओं में प्रमुख हैं रुक्मिणीहरण, दशमलीला, हालरडुं एवं कृष्णविषयक प्रकीर्ण पद। इनके पदों से प्रतीत होता है कि ये महान् कृष्णभक्त थे। इनका 'हालरडुं' काव्य तो अतीव लोक प्रिय है :

हरिभट्टकृत 'हालरडुं' में से एक अंश यहाँ दिया जाता है :

माता जशोदा बोलावे जमवा लालने,
चालो लाडकवाया लागुं तमने पाय।
तेम तेम रीसाइने रंग रसियोजी आवे नहीं,
पाछळ दोडे तेम तेम नटवर नाशी जाय॥
माता जसोदा०

काला केम संतापे भुजने घरमां काम छे,
वाट जुवे छे काना बेशी रहया बलवीर।
तमने शीखामण देउंछुं ते केम नथि लागती,
शा माटे शामलिया भरो नेत्रयां नीर॥
माता जसोदा०

'माता यशोदा अपने लाल को भोजन करने को बुलाती हैं। चलो लाडले! मैं तेरे पाँव लगती हूँ। रंग रसियाजी तो रूठ के आते नहीं हैं और पीछे दौड़े तो नटवर भाग जाता है। हे काले! तू मुझे क्यों संताप देता है? मुझे घर में काम है। बलदेव बैठे तेरी बाट जोह रहे हैं। तुम्हें मैं सीख देती हूँ तो इसका प्रभाव तुझ पर क्यों नहीं होता? हे श्यामल! नेत्रों में नीर क्यों भरते हो?'

'ओधवजी नो संदेशो' शीर्षक एक दूसरे पद का निम्नांकित अंश भी दर्शनीय है :

ओधव अबळा शुं करे, वहाले दीधो घणो छेह।
मथुरा गया अलबेलडो, त्यारे शाने कर्यो स्नेह॥
प्रीत करीने परवर्या रे, रह्या मथुरा मुझार।
घेली करी गोवालीए, रोती मेली ब्रजनार॥
सज्जन सउ तरछोडीने रे, करी का 'नु डासु प्रीत।
वाधी पंड ब्रेहें वेदना, अमो लह्युं एनुं चीत॥

यमुनाजी ने कांठले रे, ज्यारे वहालो लेतो दाण।
कहेतो शामलो कामिनी, ताहरो मारो एक प्राण॥
वचन आयी वर्णागीयो रे, गयो अक्रूर साथ।
गौधेन चारवुं विसर्या, थया कुबजाना नाथ॥

'हे उद्धव! अबला क्या करे? बालम ने बड़ा क्लेश दिया है। अलबेले को मथुरा चले जाना था तो स्नेह क्यों किया? प्रीत करके चले गये और मथुरा में रह गये, ग्वालिनों को पागल बना दिया। ब्रज-स्त्रियों को रोती हुई छोड़ दिया। सब सज्जनों का तिरस्कार करके कान्ह के साथ प्रीति किया। देह में विरह-वेदना बढ़ गई। हमने तो उनका चित्त ही देखा। यमुना के तट पर जब बालम दाण लेता तो उसी समय श्याम कहता, 'हे कामिनी, तेरे-मेरे प्राण एक ही हैं।' छैल-छबीला तो आने का वचन देकर अक्रूर के साथ गया। गोधन चराना भूल गये और कुब्जा के नाथ हो गये।'

म. ई. प्र.

हरि राम

ये सूरत के प्रसिद्ध माणभट्ट थे। माणभट्ट शब्द गुजरात में ताँबे की गागर पर अंगुलियों में अंगूठी पहनकर आख्यान कथा सुनानेवाले पौराणिकों के लिए प्रचलित है। ये जाति के औदीच्च ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम वीरम था। इसके अतिरिक्त इनके जीवन विषयक अन्य कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। इनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार 'बभ्रुवाहन आख्यान' है। इन्होंने कृष्णविरह के भी कई पद लिखे हैं और 'सीता स्वयंवर' एवं 'रुकमणिहरण' नामक काव्यग्रंथों की भी रचना की है।

'बभ्रुवाहन आख्यान' वीररस प्रधान ग्रन्थ है। २३ कड़वों में विभक्त इस काव्यकृतिकी कथावस्तु महाभारत के अश्वमेध पर्व पर आधारित है। यहाँ बभ्रुवाहन अपने पिता अर्जुन की युद्ध में हत्या कर देता है। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को पुनः जीवित करते हैं। दोनों के बीच समाधान होता है और बभ्रुवाहन अश्वमेघ यज्ञ का अश्व छुड़ाकर ले जाता है। यहाँ अद्भुत और करुण रस का सम्मिश्रण भी द्रष्टव्य है।

'रुक्मिणी हरण' में वीरमिश्रित शृंगार रस की प्रधानता है। आख्यान पद्धति की काव्य परंपरा को हरिराम ने आगे बढ़ाया है। इनकी आख्यान शैली का एक उदाहरण 'रुक्मिणी हरण' से दिया जाता है :

सुंदर मुख अति सोहामणुं।
जोतां तृप्त थाय मन घणुं ॥
मस्तके मणि मुक्ता झलहले।
दिनकर ज्योत मध्ये जई भले ॥

काने कुंडल मकराकार।
रत्नजडित कनकमय हार ॥

कोटे कौस्तुभमणि कटि मेखला।
जाणे शशिउग्यो सोलकला ॥

अं. शं. ना.

मानचित्र एवं वंश-वृक्ष

नामानुक्रम

ग्रन्थानुक्रम

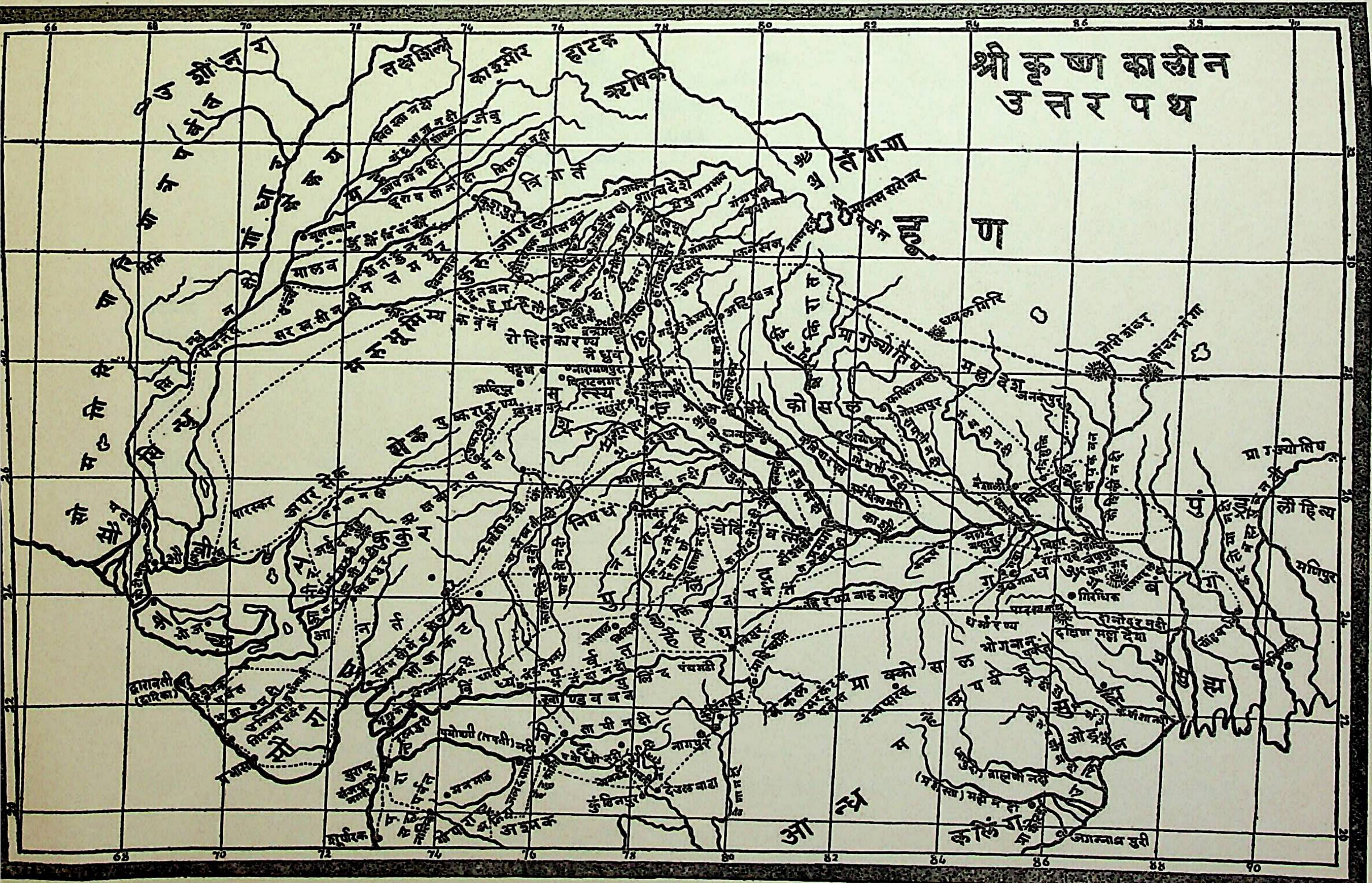
श्री कृष्ण कालीन
उत्तर पथ
तक्षशिला
काश्मीर
हाटक
ऋषिक
त्रिगर्त
माळव
हूण
तंगण
मानससरोवर
धवलगिरि
गौरीशंकर
कांचन गंगा
प्राग्ज्योतिष
मरुभूमि
रोहितकारण्य
पुष्कर
कोसल
काशी
चेदि
निषध
पारस्कर
सौराष्ट्र
आनर्त
द्वारावती (द्वारिका)
सौवीर
अवन्ति
विदर्भ
कुंडिनपुर
नागपुर
अश्मक
शूर्पारक
महाकोसल
कलिंग
जगन्नाथ पुरी
आन्ध्र
धर्मारण्य
दक्षिण महादेश
गिरिव्रज
वैशाली
बंग
पुंड्र
लौहित्य
मणिपुर
ओड्र
ताम्रलिप्ति
पयोष्णी (ताप्ती) नदी
(महानदी) महानदी
ब्राह्मणी नदी
मगध
गोरखपुर
जनकपुर
मथुरा
इन्द्रप्रस्थ
हस्तिनापुर
कुरुक्षेत्र
पंचनद
66
68
70
72
74
76
78
80
82
84
86
88
90
20
22
24
26
28
30
32

मानचित्रकार श्रीविष्णु हरि वडेर एम० ए०, एल एल० बी०,

यादव-वंश

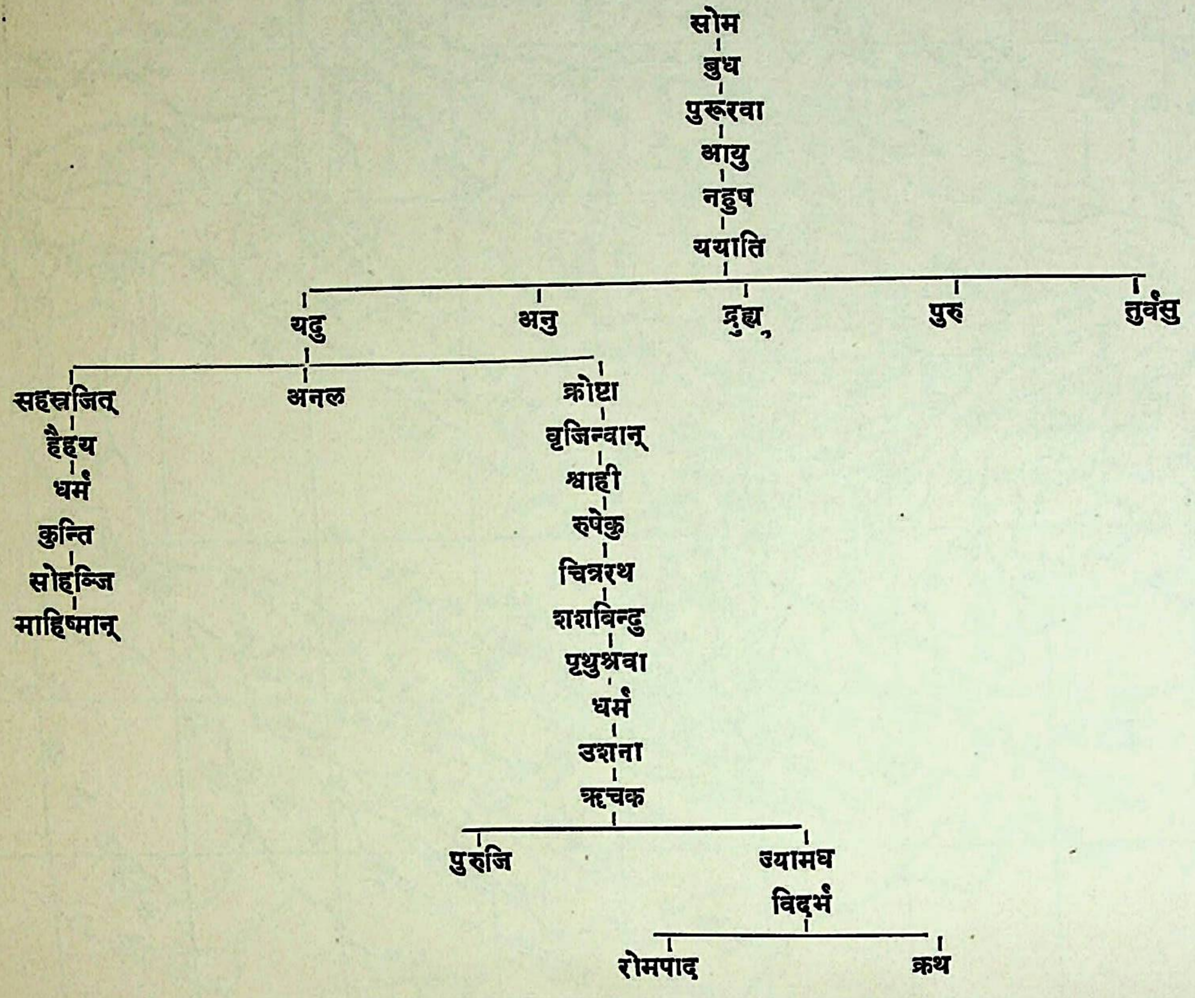
सोम
बुध
पुरूरवा
आयु
नहुष
ययाति
यदु
अनु
द्रुह्यु,
पुरु
तुर्वसु
सहस्रजित्
हैहय
धर्म
कुन्ति
सोहञ्जि
माहिष्मान्
अनल
क्रोष्टा
वृजिन्वान्
श्वाही
रुषेकु
चित्ररथ
शशविन्दु
पृथुश्रवा
धर्म
उशना
ऋचक
पुरुजि
ज्यामघ
विदर्भ
रोमपाद
क्रथ

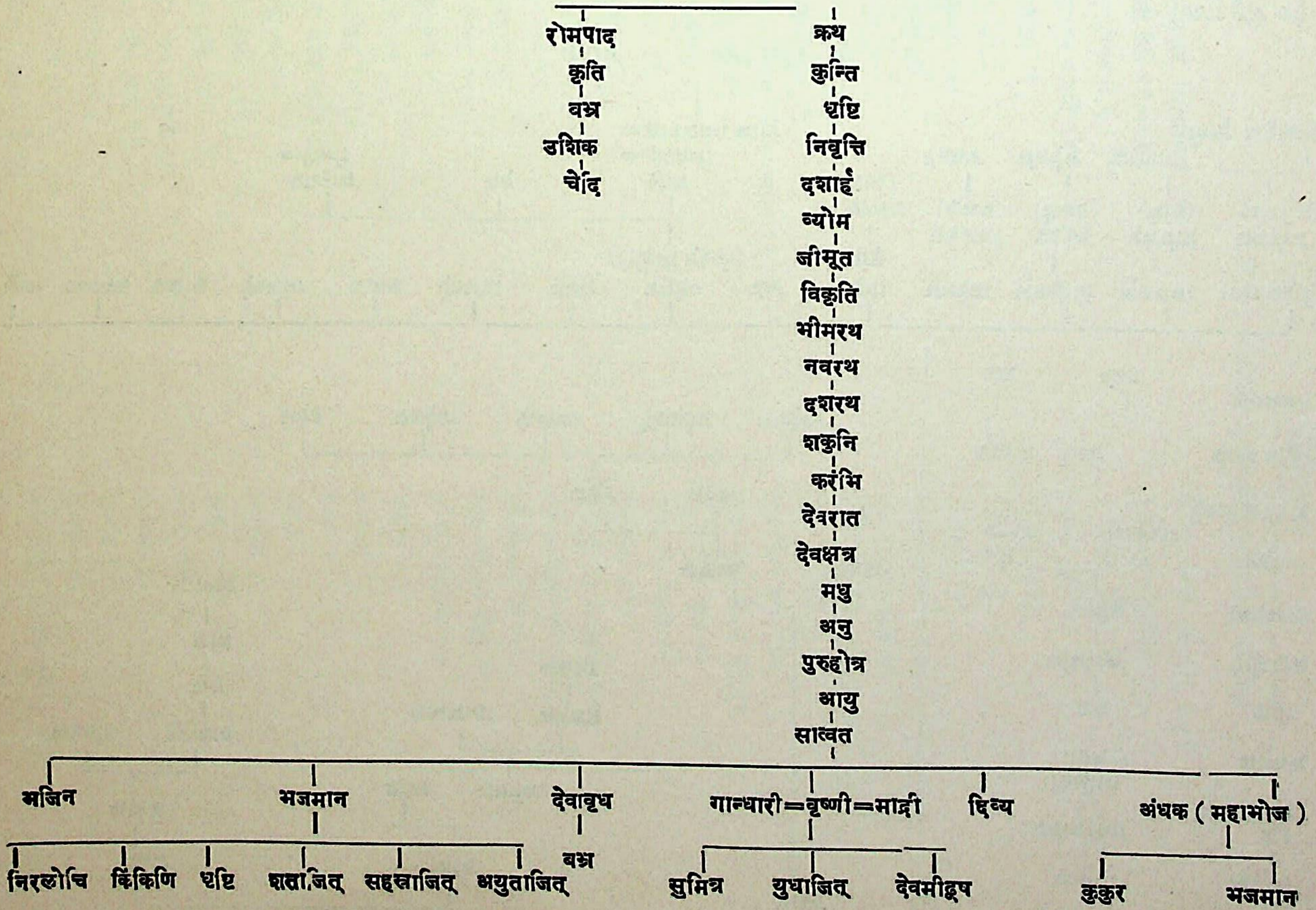
रोमपाद
कृति
वभ्र
उशिक
चैदि
क्रथ
कुन्ति
धृष्टि
निवृत्ति
दशार्ह
व्योम
जीमूत
विकृति
भीमरथ
नवरथ
दशरथ
शकुनि
करंभि
देवरात
देवक्षत्र
मधु
अनु
पुरुहोत्र
आयु
सात्वत
भजिन
भजमान
देवावृध
गान्धारी=वृष्णी=माद्री
दिव्य
अंधक (महाभोज)
निरलोचि
किंकिणि
धृष्टि
शताजित्
सहस्राजित्
अयुताजित्
बभ्र
सुमित्र
युधाजित्
देवमीढुष
कुकुर
भजमान

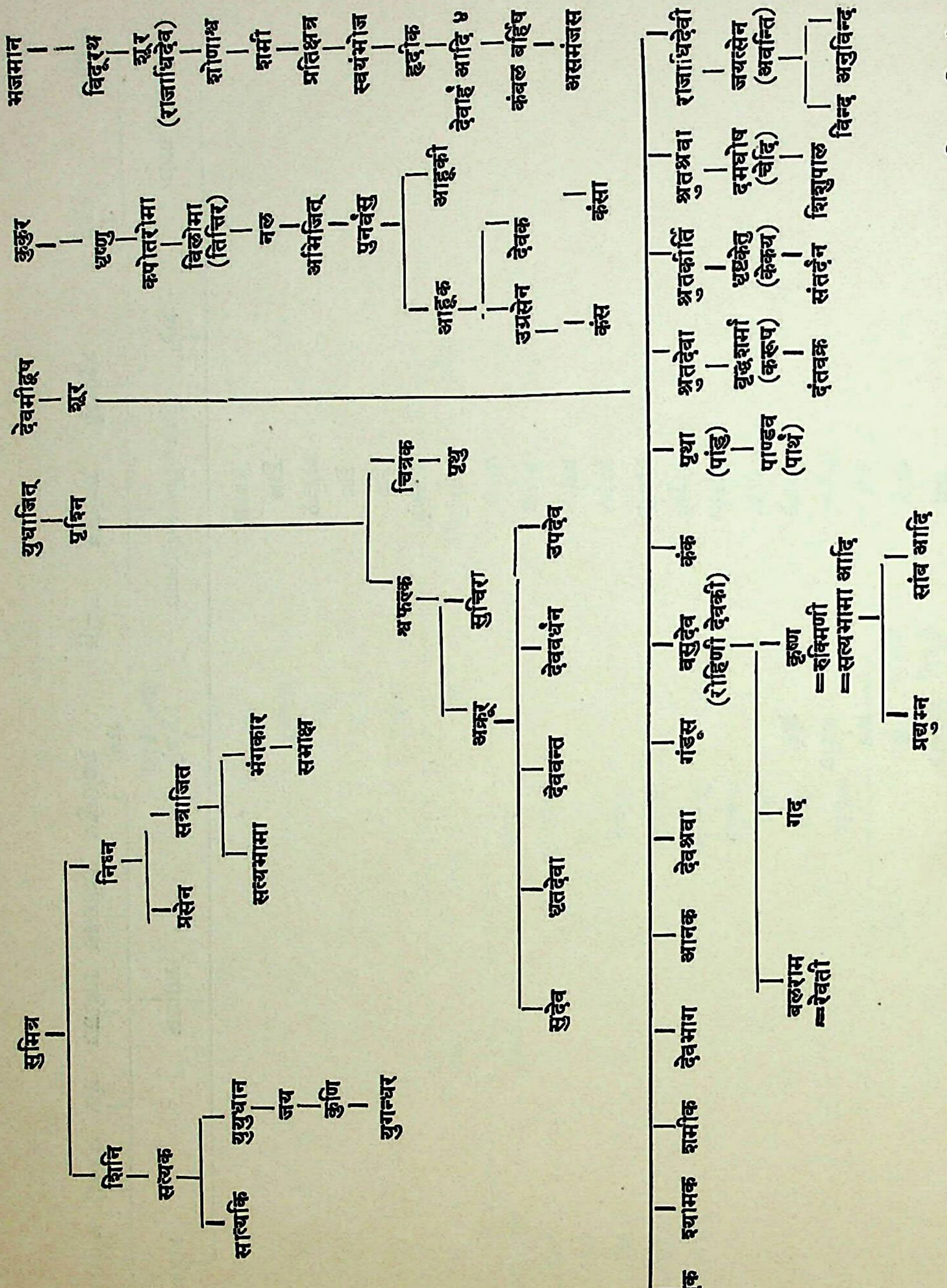
सुमित्र
शिनि
निम्न
सत्यक
प्रसेन
सत्राजित
सात्यकि
युयुधान
जय
कुणि
युगन्धर
सत्यभामा
भंगकार
समाक्ष
युधाजित्
पृश्नि
श्वफल्क
चित्रक
पृथु
अक्रूर
सुचिरा
सुदेव
छत्रदेवा
देववन्त
देववर्धन
उपदेव
देवमीढ्ष
शूर
कुकुर
धृष्णु
कपोतरोमा
विलोमा (तित्तिर)
नल
अभिजित्
पुनर्वसु
आहुक
आहुकी
उग्रसेन
देवक
कंस
कंसा
भजमान
विदूरथ
शूर (राजाधिदेव)
शोणाश्व
शमी
प्रतिक्षत्र
स्वयंभोज
हृदीक
देवार्ह आदि ७
कंबल बर्हिष
असमंजस
वृक
श्यामक
शमीक
देवभाग
आनक
देवश्रवा
गंडूस
वसुदेव (रोहिणी देवकी)
कंक
पृथा (पांडु)
श्रुतदेवा
श्रुतकीर्ति
श्रुतश्रवा
राजाधिदेवी
बलराम =रेवती
गद
कृष्ण =रुक्मिणी =सत्यभामा आदि
प्रद्युम्न
सांब आदि
पाण्डव (पार्थ)
वृद्धशर्मा (करूष)
धृष्टकेतु (केकय)
दमघोष (चेदि)
जयसेन (अवन्ति)
दंतवक्र
संतर्दन
शिशुपाल
विन्द अनुविन्द

—विष्णु हरि वडेर

नामानुक्रम

(क) प्रस्तावना (भारतीय संस्कृति मे श्रीकृष्ण

अक्षयकुमार वंद्योपाध्याय १६७
अंजना देवी ९१,९२,९४
अगाथोक्लिस ७,९
अजयराज पाटनी ६९
अजितसेन ८१
अट्ठक ८९
अद्दहमाण १०९
अनंतसेन ८१
अन्धक ८४
अन्धक वृष्णि ७०,८२
अन्धकवेणु ९०,९५
अन्धक वेणुदास पुत्र दस भ्राता ९१
अभिचन्द्र ८२
अम्बलट्ठिका ८५
अयोध्या ९२
अरण्डवन ९४
अरिष्टनेमि ६४, ८१
अर्जुन ५८,९१
अल्उत्तवी २८
अल-खिज्र १५७
अवन्तिवर्मा ४
अशोक ८६
असितञ्जन ९०,९१
असित देवल ऋषि ८८
आङ्गिरस ८४
आनन्दवर्धन १४६
आम्र कवि ६७
आर० पी० काङ्गले ९१
आर० पी० चन्द्र १८
इण्डोनेशिया १७०
इन्द्रदेव ८५
इम्फाल (मणिपुर) २५
ई० जे० एच० मैके डॉ० ७,१२
ई० डब्ल्यू० हापकिन्स १५०
ईसामसीह १६८
उदयप्रभसूरि ६८
उपकंस ९०,९५
उपजालि ८१
उपसागर ९०
उमेश मिश्र डा० ११९
ए० ए० मैकडानेल ९६
एच० ज़ी० वेल्स १३५,१३६
एफ० कील्हार्न ९१
एफ० टी० ब्रुक्स १४०
एफ० एस० ग्राउज़ २९,३२
एन० सी० मेहता ४६
एन० पी० जोशी १५
एनीबेसेन्ट १५४
एमर्सन् (राल्फ वाल्डो) ५५
एम० विन्टरनित्स ९७,९८,९९
एलेक्ज़ेन्डर पोप १५५
एशा बासन्ती जोशी २९
ऐन्टियल्काइडीज २,७
ऐखनूम ७,९
ओक्काक ८८
कंपिल २१
कंबुज ५,
कण्हइसि ८८
कण्हायन गोत्त ८८
कनक कीर्ति ६९
कनिंघम २७
कन्नौज २१
कम्बुज १७१
कवि देल्हण (देवेन्द्र सूरि) ६९

कवि सिंह ६८
कवि सुधारु ६९
काँकरोली ४०
कांपिल्य ८२
कालमत्तिक अटवी ९१, ९४
कालसेन ९२
कार्लारज एस० टी० १५८
कार्लाइल (टामस) ५५
कालिदास १६,२८,१०२,१४६
किज़िल ८८
किसन खान् १७१
कीर्तिभट्टारक ६८
कीर्तिराज ६८
कीथ ए० बी० ९६
केसर सागर, मुनि ६९
कुमार गुप्त ४
कुरुक्षेत्र ८५
कृष्णकुमार ८८
कृष्णदत्त बाजपेयी, प्रो० १४
कृष्ण द्वैपापन ९२,९६
कृष्णा ८५
कौटिल्य ८४
कोणार्क २५
कौशांबी ३
क्षेमेन्द्र १४६
खुखुन्दू (गोरखपुर) ३१
खुशालचन्द काला ६९
ख्यालीराम ३२
गंगानाथ झा, डा० म० म० १७२
गजसुकमाल ८१
गढ़वा (इलाहाबाद) २१
गिरिधरलाल ४१
गुणभद्र ६७,८०,१००
गुणविजय ६८
गोइंद १०१
गोकुलनाथ ३९,४०
गोपीकृष्ण कानोडिया ४७
गोपीनाथ कविराज, म० म० पं० १२७,१४१
गोवर्धन लाल जी ४१
गोवर्धमान ९१
गोविन्द ८४
गोविन्दचन्द्र ५
गोविन्दराय जी ४०
गोविन्दस्वामी ३९
गौतम ८२
गौरी ८२
घटपण्डित ९१,९३
घनश्याम जी ४०
घोर-आंगिरस ६४
घोसुण्डी १,२०
चण्डी जागो १७०
चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ३
चन्द्रदेव ९१
चित्तौड़ १
चैतन्य महाप्रभु ३३
जगतसिंह महाराणा ४७
जगन्नाथ उपाध्याय, प्रो० ९९
जज्ज ३३
जतीपुरा ४०
जनमेजय ८५
जनरल कनिंघम १८
जनार्दन १०४
जयदेव ४६,५१
जयमल ६९
जयशेखर सूरि ६९
जलालुद्दीन रूमी, मौलाना १५६
जसराज पं० ४१
जहाँगीर ५,३३
जावाद्वीप ५,१७०
जिनसेन ६२,६७,७८,८३,१००
जीवगोस्वामी १४७
जी० वी० केतकर १४०

जुगुल किशोर विड़ला ३४,३५
जे० एन० फर्क्युहर ९६
जेतवनाराम ८९
झूंसी ३
टेट्राकार्डन १५४
टेनीसन १५३
ठाकुरसी कवि ६९
डब्लू० जी० आर्चर ४६
डायसन, प्रो० १५६
डी० आर० साहनी १८
डोरिस श्रीनिवासन १०,१३
तक्षशिला २,८८
तांबावती १
तानसेन ४०
त्रैलोक्यमल्ल ५
थाईलैण्ड १७१
दशधन्वा ८१
दशरथ ८१
दामोदर ६८,८४
दामोदर लाल ४१
दारुक ८२
दिनेशचन्द्र सरकार ६,१२
दृढ़रथ ८१
देवगर्भा ९०,९५
देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर, डा० १
देवप्रभ सूरि ६८
देवसेन ८१,११०
देवार्द्धिगणि ७०
देवेन्द्र कीर्ति ६९
देवेन्द्र कुमार जैन, डा० १०९,११०
देवेन्द्रप्रभ सूरि ६७,६८
द्वारकानाथ भार्गव ३४
द्वारकेश लाल ४१
द्वारशाखा १७
द्वारवती ८३,९२
धतरट्ठ ८५
धनञ्जय ८५
धनदेव गणि ६९
धवल ६८,१०५
धारिणी ८१,८२
धाहिल १०५
नन्दगोप ८३
नन्दगोपा ९०
नरवर्मा ४
नरेन्द्र कीर्ति ६९
नाथद्वार ४०
नाथूराम प्रेमी ११०
नारायण ८४
नालन्दा ८५
निकल्सन, आर० ए० १५६
निःशंक शार्ङ्गदेव ३९
निम्बार्काचार्य १४६
नीत्से १५४
नीलकंठ १४७
नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, डा० ११
नेमिचंद ६९
नेमिनाथ १००
पटना ३
पटनीमल राजा ३२,३४
पतंजलि १,९,८४,८७
पद्मावती ३,८२
परमानंद जैन, पं० १०८
परमानन्ददास ३९
परमेश्वरी लाल गुप्त, डा० १०
पाक्षका कौशिकी ८
पाण्णु ८५
पाणिनि ८४
पुण्डरीक ९६
पुण्यरतन, मुनि ६९
पुरी ३५
पुरुषसेन ८१
पुष्पदंत ६८,८०,१००,१०३

पोप १५५
प्रतिष्ठानपुर १४५
प्रद्युम्न ८२,९१
प्रमोदचन्द्र १०,१४
प्रसेन ८२
प्रियतोष बनर्जी १४
प्रेमसागर जैन, डा० १०२
फर्रुखाबाद २१
फिलियोजा, प्रो० ९
फीरोज़ कावसजी दावर १६०
फैजाबाद २१
बर्ट्रेन्ड रसेल १३६,१३७
बड़ोह-पठारी २
बदरिकाश्रम १६२
वराहमिहिर १६
बलदेव विद्याभूषण १४७
बर्लिन ८८
वागभट्ट प्रथम ६८
बाण १००,११०
बालकृष्ण जी ४०
बालचन्द शास्त्री १४९
वालि (वलि) द्वीप ११३,११५,१७०
बिहारी २४
बुद्ध, शाक्यमुनि ८५,८९,९६
बुद्धघोष ८६
बुद्धमल ६९
बुलाकीदास ६९
बेकन १५३
बोर्नियो ५
व्रजभूषण लाल ४१
व्रजरत्न लाल ४१
ब्रह्मजिनदास ६९
ब्रह्मदत्त ८५
ब्रह्मनेमिदत्त ६८
ब्रह्मराय मल ६९
भगवान दास, डा० १७३
भट्टनारायण १४६
भट्टारक यशकीर्ति ६८
भट्टारक वादिचन्द्र ६८
भट्टारक सकलकीर्ति ६८
भरत ८५
भागभद्र ७
भायाणी, डा० १०५,१०२
भारती कृष्णतीर्थ, जगद्गुरु शंकराचार्य १५७
भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ३२
भास १४५
भुवनेश्वर २५
भूली २१
भूषण ६८
भोज १७१
भोलाशंकर व्यास, डा० १०५
मंदसौर ४
मतंग ३९
मथुरा १,२,३,८,३४,९०,९५
मदनमोहन मालवीय ३४
मधुसूदनदास ८४,१०४
मधुसूदन सरस्वती ५४
मध्वाचार्य ५४
मनरंग लाल पल्लीवाल ६९
मनुआडीह २१
मन्नालाल ६९
मयालि ८१
मल्लधारी, आचार्य ६७
मल्लार ११
मल्लिभूषण ६८
मल्लिषेण सूरि ६७
महमूद ३०,३३
महाकंस ९०
महाकच्चायन, स्थविर ८९
महाधन्वा ८१
महावीर कोटिया, डा० ७७,८३
महासेन सूरि ६७

महेन्द्र ८६
माघ १००
माधव ८४
मानसिंह तोमर ४२
मिल्टन १५४
मीराबाई १५९
मूलदत्ता ८२
मूलराज सोलंकी, राजा ५
मूसा, हज़रत १५७
मेगस्थनीज १६, ८४
मेघविजय ६८
मेघविजय उपाध्याय ६८
मेटरलिंक १५३
मेरुतुंगाचार्य १०८
मैकिया वेल्ली १५५
मोहन्जोदड़ो ९
मोहम्मद हाफ़िज, सैयद १७७
म्युत्रिगुण १७०
यदुनाथ जी ४०
यशकीर्ति ६८,१०८
यशोधर कवि ६९
यशोवर्मा ५
यास्क ८४
रइधू ६९
रघुनाथ जी ४०
रघुवीर आचार्य १७,१८
रतनमुनि ६९
रतनचन्द्र ६८
रत्नचन्द्र अग्रवाल ८
रत्नचन्द्र गणि ६८
रत्नप्रभ सूरि ६७
रथनेमि ८१
रत्नेशचन्द्र मजूमदार ६
रमेशचन्द्र शर्मा १४
राजीमती ६४
राजेन्द्रमुनि जैन ६७
राधाकृष्ण पं० ३१
राधाबाबा (स्वामी चक्रधर) १३३
रानी वासटा ५
राम ८१,९६
रामकुमार राय ९८
रामचन्द्र ६८
रामचन्द्र कवि ९६
रामचन्द्र शुक्ल ४५
रामवृक्ष बेनीपुरी ११०
रामानुजाचार्य ५४
रामप्रसाद शर्मा ४२
राहुल सांस्कृत्यायन १०३
रिट्ठणेमि चरिउ १००
रुप्पिणी ८२
रोजर बेकन १३५
रोहिणेय्य ९३
लक्ष्मणसेन ४६
लखनदेव ६९
लुई जकोसियार (एम) ५५
लूर्डस, डा० १८
लोकमान्य तिलक १५६
लोकेश चन्द्र, डॉ० १७१
लोम्बोक् १७०
वंधुवर्मा ४
वल्लभाचार्य ३९,५४
वल्लभी ७०
वस्तुपाल ६८
वारिषेण ८१
वासुदेव ८३,८७,८८,९३,९४
वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० ७,१२,१८
विक्रम ६८
विक्रमादित्य ३३,१७१
विचित्रवीर्य ८५
विजयचन्द्र ५
विजयमणि ९८
विजयदेव सूरि ६९

विजयपाल देव ३३
विंटरनित्स ८४,८६,९६
विदिशा १,२,३
विल्वमंगल १४७
विश्वक ८४
विष्णुराजा ४१
वीरसिंह देव ५,३३
वृष्णि ८२,८४
शंकराचार्य ५१,१४७
शतधन्वा ८१
शत्रुसेन ८१
शारदा रानी, डा० १७२
शिलांग, आचार्य ६७
शुभचन्द्र ६८
शोडाष महाक्षत्रप ९,३३
श्रावस्ती ८९
श्रीकृष्ण द्वैपायन, महर्षि ९२,९६,१६१,
श्रीधराचार्य ५४,१४७
श्रुति कीर्ति ६९,१०९
संघदास गणि ६७
सतना ४
सत्यनेमि ८१
स्पाइनोज़ा १३७
सतधन्वा ८१
समुद्रविजय ७०,८१
सर्वतात १
साइबेरिया १७१
साम्ब ८२
सालिग कवि ६९
सिंहलद्वीप ८६
सिकन्दर लोदी ३०
सीतापुर २१
सुप्रिय परिव्राजक ८५
सुमतिगण ६९
सुमात्रा ५
सुमुख ८१
सुषमा देवी १७१
सूरत ४०
सूरदास ३९
सूर्यदेव ९१
सोण कुटिकण्ण ८९
सोमकीर्ति ६८
सोमप्रभसूरि ६७
सोमसुन्दर सूरि ६९
सोरियपुर ७०
स्कन्दगुप्त ३
स्याम ५
स्वयंभू ६८,१००,१०१,१०२
हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० १०९
हनुमान प्रसादपोद्दार २४,१४८
हरिभद्र ६८
हरिवंश कोछड़ ११०,११२
हरिवंश पुराण ८३,१७०
हर्बर्ट स्पेन्सर १५६
हाथीबाड़ा १
हाल (शालिवाहन) १४५
हीरालाल जैन, डॉ० १०२,१०७
हेमचन्द्र ६८,१०१,१११
हेमेन्द्र सूरि, आचार्य ६७
हेलियोडोरस २,७
हृषीकेश ८४

●

ग्रंथानुक्रम

अंतकृद्दसाओ ६५,७०,७५
अद्वैत सिद्धि ५४
अट्ठकवग्ग ८९
अट्ठसालिनी ८६,९७
अथर्ववेद ८५,१७८
अपभ्रंश भाषा और साहित्य १०९,११०
अपभ्रंश साहित्य ११०,११२
अरिष्टनेमि चरित ६७,६८
अर्जुन-विवाह १७१
अर्थशास्त्र ८४
अर्ल लियोफ्रिक १५३
अष्टाध्यायी ९
आउट लाइन आफ दि हिस्ट्री आफ दि वर्ल्ड १३५
आर्किओलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया १२
आर्किओलॉजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया ६
आश्वलायन गृह्यसूत्र ८७
आस्पेक्ट्स ऑफ़ इन्डियन आर्ट १४
इंडिका ८४
इन्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली १३
इंस्क्रिप्शंस आफ कंबुज ६
उत्तर पुराण ६९,१००,१११
उत्तराध्ययन ६५
उदुम्बर संहिता १४७
उषा-अनिरुद्ध कथा १००
एन्शियन्ट इन्डिया ऐज़-डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज ऐण्ड एरियन ९७
एपिग्राफिया इन्डिका ६,१३
ऋग्वेद ३९,४८
कण्ह चरिय ६७
कण्हजातक ८८
कण्हदीपायन जातक ८८,९६
कथासरित्सागर १७१
कवीन्द्र वचन समुच्चय १४६
कादम्बरी ११०
कालचक्रतन्त्रराज ९९
कुमारपाल-पडिबोह ६७
कुम्भजातक ९५
कृष्ण रिद्धि ६९
कृष्ण इन आर्ट ह्वेदर टू आर्म्ड आर मल्टी आर्म्ड १५
कुरान १५७
कृष्णकर्णामृत १४७
कृष्णायन-कृष्णान्तक १७०
कृष्णोपनिषद् ४९
कौषीतकी ब्राह्मण ८४
खग्गविसावसुत्त ८९
खुद्दकनिकाय ८९
गजसुकुमाल रास ६९
गर्ग संह्वता १४७
गाथासप्तशती १४५
गीतगोविन्द ४६,५१
गीता ११,३४,८३,९७
गीता रहस्य १५६
गोपाल तापिनी १४९
घटजातक ८३,८८,८९,९०,९५
चंद्रप्रभचरित १०८
चउघन महापुरिस चरिय ६७
चुल्लनिद्देस ८९,९८
चैतन्य चरितामृत ३३
छान्दोग्योपनिषद् ६४,९६.१७४
जर्नल आफ अमेरिकन ओरिएन्टल सोसायटी ८८,९८
जर्नल आफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी १४
जसहर चरिउ १०३
जातकत्थवण्णना ९८
जिनदत्त कहा १०८
जैन परम्परा में कृष्ण साहित्य ६७
जैन साहित्य का इतिहास ११०
जैन साहित्य में कृष्ण ६७,८३
जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ८४,९७
ज्ञातधर्म कथा ६५, ७४
णायकुमार चरिउ १०३
डन्शियाड १५५
णेमिणाह चरिउ ६८,६९

तिलोयपण्णत्ति ६२
तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार ६८, १००
त्रिपिटक ८५,८६
त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित ६८,१००
तैत्तरीय उपनिषद् १५९
तैत्तिरी ब्राह्मण ९६
तैत्तिरीय संहिता ३९,८४,९६
दशश्लोकी १४६
दशावतार चरित १४६
दि ओल्डेस्ट एक्सटैण्ट पर्वन लिस्ट आफ दि महाभारत ८८
दि बाइबिल इन इण्डिया ५५
दीघनिकाय ८५,९८
दीवाने-शम्से-तब्रीज़ १५७
देवीभागवत १४७
धम्मपद अठ्ठकथा ८६,९७
ध्वन्यालोक १४६
नरनारायणानन्द महाकाव्यम् ६८
नागपुर युनिवर्सिटी रिसर्च जर्नल ११२
नारद पांचरात्र १४७
नारायणोपनिषद् ४९
निद्देस ८९
निरयावलिका ६२,६५
निरुक्त ८४
नेमिचन्द्रिका ६९
नेमिदूत ६८
नेमिनाथ चरित ६८,६९
नेमिनाथ पुराण ६८
नेमिनाथ फागु ६९
नेमिनाथ रास ६९
नेमि निर्वाण काव्यम् ६८
नेमिश्वर की वेलि ६९
नेमिश्वर चंद्रायण ६९
नेमिश्वर रास ६९
न्यूली डिस्कवर्ड इन्सक्रिप्शन्स आफ दि रेन आफ महाक्षत्रप १४
नृसिंहतापिनी ४९
पंचतन्त्र १४६
पंचमी-चरिउ १०२
पउम चरिउ १०२,१०५
पज्जुण चरिउ ६८,१०७
पद्मपुराण २०,१४७
परमेष्ठि प्रकाश सार १०९
पांडव कथा १००
पाण्डव चरित ६८
पाण्डव पुराण ६८,६९, १०८
पाणिनि-सूत्र १४,८७
पारायणवग्ग ८९
पुरावृत्त संग्रह ३२
पूतना-लीला १०४
पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ १२
प्रद्युम्न चरित ६७,६८,६९,१००,१०८,११२
प्रद्युम्न प्रबंध ६९
प्रद्युम्न रासो ६९
प्रबंध चिंतामणि १०८
प्रमेय रत्नावली १४७
प्रश्न व्याकरण ६५,७०
प्रिन्सिपिल्स आफ सोशल रिकान्स्ट्रक्शन १३७
फर्दर एक्सकैवेशंस ऐट मोहन्जोडड़ो १५
फर्स्ट ऐण्ड लास्ट थिंग्स १३६,१३८
बलभद्र चौपाई ६९
बलभद्र वेलि ६९
बाइबिल ५५
बायोग्राफ़िया लिटरेरिया १५८
बाल चरित १४५
बुलेटिन आफ म्यूज़ियम ऐण्ड-आर्कियोलाजी १३
बैखानसागम २४
बौद्ध-तन्त्र-वाङ्मय ९६
बोधायन धर्मसूत्र ८४,९७
ब्रह्मजाल सुत्त ८५
ब्रह्मपुराण २०
ब्रह्मवैवर्त पुराण १२८,१२९
भक्ति रसायन ५४
भक्तिशतक ९६
भवभावना ६७
भविष्य पुराण १४७
भागवत पुराण १२,२३,४६
भावप्रकाश ३१
भ्रमरगीत ४७
मज्झिम निकाय २७,९८

मत्स्यपुराण २०
मनुस्मृति १७५
महानिद्देस ८७,८८,८९,९७
महापुराण ६७,८०,१००,१०३,१०५
महाभारत ७,८३,८४,८५,८८,९५,१००,१०१,१०८१०९
महाभारत-कथा ८६
महाभारतकोश ९८
महाभाष्य १,१४,८४,९७
महावग्ग ९८
महावस्तु ९६,९९
मंत्रभागवत १४७
मेघदूत १४६
मिस्टिक्स आफ इस्लाम १५६
मिथ्रीडाइटीज़ १५९
मेम्वायर्स आफ आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया १८
मोना वन्ना १५३
यमुनाष्टक १४७
रगसागर नेमि फागु ६९
रघुवंश १६,१४६
रविवड-कहा १०८
रसिक प्रिया ४६,४७
राधातन्त्र १४७
राधातापिनी-उपनिषद् १३५
राधिकोपनिषद् १२९
रामतापिनी (उपनिषद्) ४९
रामरहस्योपनिषद् ४९
रामायण ८५
रामायण-कथा ८६
रासपंचाध्यायी ३१
रिट्ठनेमि चरिउ ६८,१०२
रिलीजन्स आफ इण्डिया १५१
लघुत्रिषष्ठि शलाकापुरुष चरित ६८
ललितविस्तर ९९
लिंग पुराण २०
लेडी गोडिवा १५३
वायुपुराण २
वासुदेवोपनिषद् ४९
वाराह-पुराण ३२,१४७
विष्णु पुराण २०
वृहत्संहिता १६
वेणी संहार १४६
वेदान्त दर्शन १५६
वेदान्त रत्नमंजूषा १४७
वैदिक इन्डेक्स आफ नेम्स ऐण्ड सब्जेक्ट्स ९६
वृहदारण्यक उपनिषद् १७४
शतपथ ब्राह्मण ८४,९७
शब्दानुशासन १०१
श्रीकृष्ण सन्दर्भ १४७
संगीत रत्नाकर ४१,४३
संदेशरासक १०९
सरगामिथनेमि फागु ६९
सकल-विधि-निधान-काव्य ११०
सद्धम्मङ्गह ९७
सदुक्ति कर्णामृत १४६
सद्धर्मपुण्डरीक ९६
सनत्कुमार संहिता १४७
सप्तसंधान काव्यम् ६८
सम रिमॉर्क्स आन बिहार स्कल्पचर फ्राम दि फोर्थ टु दि नाइन्थ सेन्चुरी १४
समावायांगसूत्र ६३,६५,७७
साइंस आफ सोशल-आर्गनाजेशन १७३
साङ्खायन श्रौत सूत्र ८५,८७
सामरहस्योपनिषद् १२९
सामवेद ३९
सिद्धान्तरत्न १४७
सिलेक्ट इंस्क्रिप्शंस ६
सीतोपनिषद् ४९
सुत्तनिपात ८७,९८
सुत्तनिपात पालि त्रिपिटक ८९
सुद्धट्ठकसुत्त ८९
सुभाषित रत्ननिधि १७,१८
सुमङ्गल विलासिनी ८६,९७
सुलोचना चरिउ ११०
सूरसागर २५,४६
सोशल रिकान्स्ट्रक्शन १३६
स्थानांग सूत्र ६५
हरिवंश पुराण २३,२४,
हिन्दी जैन भक्ति-काव्य की भूमिका ११०
हिन्दी साहित्य का आदिकाल १०९
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास १०९
हिन्दी साहित्य की भूमिका १०९
हिस्ट्री आफ इण्डियन-लिटरेचर ९६,९७,९८,९९

नामानुक्रम

(ख) राधाकृष्ण-भक्त-कोश

अंगद १३०
अंगिरा १३०
अंबालाल भगत ४०१
अंबिकावन ३८०
अकबर ८५,२४०,४९७
अक्कमांवा ३४५
अखा ३७५,४५६,४९६,५५४,६१७
अख्तर शीरानी २४९
अगणि नायक ९५
अगस्त्य १३०
अचलानन्ददास २९०,२९१,२९७,३१८
अचलानंद विट्ठल २९०,२९७
अच्युत १३०
अच्युत गुरु १७
अच्युतदास २१९
अच्युतानन्द४७,९०,९३,९६,१५१,२३५
अच्युतानन्ददास ९५,९६
अच्युतानन्द देव १९५
अजनाभ ६९
अजमेर ६४१
अजामियाँ २४९
अजामिल ३०८
अजीत सिंह १२१
अजीमवेग 'मिर्जा' २५६
अजीमाबाद २५२,२८३
अजीमाबादी 'आजाद' २५२
अर्जुन ६४८
अठरनला १०२
अठागढ़ १६३
अडवि रामदास २९९
अढंग १९०
अण्णमांक ३३२
अणय्य नायक ३१८
अतिबड़ी जगन्नाथ दास १०४
अत्तिराजा ३२४
अत्तूरु ३१९
अद्वैत-संप्रदाय ८१
अद्वैतानंद ३५५
अधर पटनायक ९८
अनन्त ९०,१३०
अनन्त आचार्य ९८
अनन्तकंदली १४,१७,१८
अनन्त कायस्थ १८
अनन्तनाग ३७०
अनंत पद्मनाभ १५२
अनन्तप्रसाद त्रीकमलाल ४२२
अनन्तप्रसाद वैष्णव ४०१
अनन्त माधव ७६
अनन्तराम आता ४२
अनंतराम आयंगर ३५५
अनंतवर्मा चोड़गंगदेव ७४
अनवर मियाँ २४९
अनादि मिश्र ८७
अनावडा ३७३
अनिरुद्ध ३८,५३,३६७
अनिरुद्ध कायस्थ १४
अनिरुद्ध देव १९ ३६
अनिलकुमार यो० त्रिपाठी, डा० ६११
अनुभवानन्द ४०४
अनूपसिंह देव १७४

अन्नपूर्णा १९१
अपराल तम्मण्णा ३५५
अफ़क़र मोहानी २४४,२४६,२५०
अफगानिस्तान २३७
अबुल आला २८२
अबू तुराब काकोरवी २४४
अब्दुर्रहीम खानखाना २४०
अब्दुल क़ादिर जीलानी २४६
अब्दुल खालिक 'निहाल' सीवहारवी २५१
अब्दुल रहीम २७६
अब्दुल वाहिद बिलग्रामी २४१
अब्बूरु २९१,३५०
अभिनवगुप्त ३५८
अभिमन्यु सामन्त सिंहार ९८,२२०
अभिराम परमहंस १००
अमथा भगत ४०५
अमरेली ४११,४८८,५५९,५७२
अमीर खुसरो २३७,२३८,२४०
अमीर मीनाई २७६
अमुषा ५२०
अमृत बा ५०८
अमृतवाणी दास १०१
अमृतेश्वर ३५७
अम्बरीष ३०८
अम्बाप्रसाद खण्डेरा ६२९
अयोध्या ६२,९६,२४१,६३१
अयोध्या (अवध) प्रसादजी ४०५,४०७
अरकलगूडु ३१४
अरक्षित दास १०१
अरब २३७
अरलम्मा ३३६
अरैल ३८२
अर्जुन २१,२७३
अर्जुनदास १०९
अर्जुनदेव २०
अलक्षेश्वरी रूपभवानी ३६०
अलफ़ खाँ २६४
अलाओल २४०
अलिन्द्रा ६१०
अलियर्लिगरा ३५५
अलीगढ़ २५९,२६६
अवंतिका ६४०
अवंती १९७
अवन्तिपुर ३५८
अवन्तिवर्मन् ३५८
अविचलदास ४०६
अविनाशानन्द ४०७
अशरफ़ महमूद (क़ाजी) २५१
अश्वत्थ नरसिंह क्षेत्र ३३६
अश्विनभाई पटेल, डॉ० ५२५
अशोक खोला १६२
अश्वक्रान्त ५०
अश्वक्लांत ६९
अश्विनीकुमार-क्षेत्र ३८१
असग़र गोण्डवी २४३
असम-बुरंजी ४७
असाखा ३८४,६४४
अहमद २४८
अहमद बेग १९५
अहमदशाह अब्दाली २७८
अहमदाबाद २८२,३७५,३८१,३८२,३८४,३८५,४०७
    ४०९,४३५,४५४,५०१,५०३,६१४,६१५,६१९,६४४
आंगणका ४३४
आंध्रप्रदेश ३२४
आंबलड़ी ३७६
आउनीआती सत्र ३७
आखण्डलदास १०१
आगरा २४४,२५३,२७६,२७८,२८४
आगा खानी ५८९
आठगढ़ (जिला गंजाम) १३४,१८८,१९४

आत्मानंद परमहंस ३६३
आदिकेशव २९४,३०१
आदित्यराम ४०८
आदि पम्प ३५५
आदिलशाह ३४६
आनंद राम ५७२
आघलीया ४७
आधार भट्ट ४०९
आनंदजी कल्याणजी ४२२
आनंदवर्द्धन ३४८
आनंदस्वामी ४०७
आनंददास २८६,२८८,३३८,३४२
आनंद शंकर ध्रुव ४८९
आनंदा बाई ६२६
आनेगोंद्रि ३२८,३४६
आबिद हुसेन २७२
आबू पर्वत ३७७,४०१,५४३
आमतल्ला ७२
आमी ९६
आमीणा ३८४
आर० नरसिंहाचार्य २८९,३०८
आर्तंदास १०१
आर्तबल्लभ महांती, डा० १३९
आला कमा मालचडिया ४०९
आलिपुखुरी ३०
आशाराम ५७०
आशिया जीवनदास ४१६
आसफुद्दौला २६९,२७०,२७६
आहोम ७,१३,३२
इंद्रद्युम्न १४०,१४३,१८७
इंशा अल्लाह खाँ २४४,२४५,२५५
इक़बाल, अल्लामा २५३
इच्छापुर १६७
इच्छाबाई ४१०
इच्छाराम ४०५
इच्छाराम भट्ट ४६८
इच्छाराम सूर्यराम देसाई ४५०,५९८,६०९,६१६,६४६
इटामारी १८८
इन्दुराम भट्ट ३५८
इन्द्रजीत ९८
इन्द्रवर्मा ७६
इन्द्रावती ३७५
इफला ३८
इब्नल हसन 'फ़िक्री' २५७
इमामुद्दीन इमाम शाह ५१८,५९०
इहसानुलहक़ 'इहसान बिनदानिश' २५८
ईडर ६३८
ईरान २६५
ईरानी २४३
ईश्वरदास १०३
ईसरदास रोहड़िया ४१०
ईगुली ग्राम १४८
उज्जैन ३८२
उड़िया १८६,२१३
उड़ीसा १४९,१४६,१४८,१६७,१७९,१८६,१९४,२०२,
    २०६,२१३,२१४,२२१,२२४,२९१,३१४
उडुपि २९१,२९४,२९५,३०१,३३५
उत्कल ७३,८९,२२२,२२९
उत्कलीय व्यासदेव २२३
उत्तमबाई ४०८
उत्तर प्रदेश २५०,२६१,२६६,२६९,२८२,२८६,४२२
उत्तरा २१
उत्पल २५८
उदयपुर ४९९,५४३
उदितराम देव २९
उदेबारबर २१६
उद्धव २२,३१,२११
उद्धवदास १०४,१६३
उन्नडजी जाड़ेजा ४१४
उन्नाव २५०,२६६
उपेन्द्र भंज ९०,९१,९२,९९,१०४,१५०,१५३,१९८,
    २०५,२१०

उपेन्द्राचार्य नृसिंहाचार्य ४१४
उमरकोट ६४१
उमरेठ ४५२
उमाकान्त ६९
उम्मेदसिंह ५०६
उलुचुकम्मे ३१३
उल्फ़त हुसेन २८३
ऋषकाक मनवटी ३६१
ऋषभदेव ३८७,६३६
एकशरणिया धर्म ५६,६२
एच० पी० शास्त्री १३
एफ० एस० ग्राउज़ ५२२
एम० वी० सीतारामय्या ३१७
एरका-वन ७३
एरबंज १६५
एरिशेष ३५५
एशिया २७४
ऐंगलि ३२७
ऐंजि स्वामी ३४३
ऐरावत २८८,३०४
ओखा मण्डल ४३२
औरगजेब २३९,५२२
औराई २७२
कटिलो ७६
कंडोरणा ५५७
कंस ९१,२११,२४२,२८९,३०९
कंस-केशी ३७
कच्छ ३७७,३८१,४६६,५०४,५२२,५३९,६३१,६४२
कच्छ-भुज ३८२
कटक ९४,९५,१५४,१५५,१६७,२२१,२२४
कटहरिया ४१५
कठलाल ५८६
कडवां ४०९
कडुजी ५७८
कदरुण्डुलिंगि हनुमय्या २९९
कदवार २७३
कनककिण्डि ३०१,४९४
कनकदास २९२,२९४,३००,३०१,३४६
कनकनायक ३०१
कनकलता आइ २१
कनक सुंदर ६२९
कनमिरा २२७
कनिका-रजवाड़े १६७
कन्नौज ६९
कन्हाई खुण्टिया १०८
कन्हैया २४४,२४५,२५०
कन्हैया लाल माणिक लाल मुंशी ३८३,४८९
कपिल ३८७,६३६
कपिल क्षेत्र ३८१
कपिल नरेश १०५
कपिल मुनि ३८०
कपिलेश्वर १५२
कपिलेश्वरपुर १२९
कबीर २४०
कमललोचन खड्गराय ८८,८९
कमला कान्त आतै ६६
कमलाबारी ११,४७
कमलाबारी सत्र ३८
कमलेश-विट्ठल २९६,२९९
कमलेश्वर सिंह ५९
करण बघेला ३८०
करमला १००
करशनदास ४१६
करुणाकर दास १०६
करुणाकर पटनायक १०६
कर्कोट ३५७
कर्जगीदास ३२७
कर्णवृत्तान्त कते ३५५
कर्णाट-नरेश १५८
कर्दम ऋषि ३८०
कर्नाटक १५९,१८७,२८८,२९२,२९३,२९४,२९८,३०३,
    ३०६,३१८,३२६,३३२,३५३

कलकत्ता १७८,१८६,२०२,२०४,३६९
कलस ५२३,५६४
कलापचन्द्र ३३
कलापचन्द्र द्विज १९,२२
कलावरी (रंभावारी) ५७
कलोल ६४१
कल्पलता जेमा १०६
कल्याणजी ४१८
कल्याणदास ५७३
कल्हण ३५७
कविचन्द्र रामकृष्ण १०६
कविभूषण सामन्त राय ८८
कविरत्न सरस्वती ३
कवि रामराय ३३
कवि लक्ष्मण १०६
कविसूर्य बलदेव १८८
कवि सूर्य बलदेव रथ १०७
कविसूर्य ब्रह्मा १४०,१४६ २१९
कश्मीर २९९,३४७,३६७,३७१
कहानजी धर्मसिंह ४२२
कहानदास ४१८
कांची १९२,३१०,३४२
कांचीराज १५८
कांजीवरम् १७८
कांधला २५८
कांही कुची ५८७
काकति बी० १,६७
काका वल्लभ ४२१
काकोरी २६२,२७६
कागिनेले ३०१
काजलामाजि ३२
काजी गुलशन २६२
काजी दानिश अली २५८
काठियावाड़ ४२४,५२२
कानपुर २६६
काफी ४८६
कान्ह राउल ४२१
कान्हु खुण्टिया १०८
कान्हुचरण १०९
काव्रापरमार ४१६
काबा शूरबीर ५४३
कामरूप १७ २३,३२,४२,४७,५३,६६,६९
कामरूपाधिपति भास्करखर्मन ६९
कामाख्या धाम २,६२
कामेश्वर भुइया २८
कायमखानी २६४
कायमुद्दीन बावा ५१८
कारेला ४२१
कार्तिकदास १०९
कालिदास १५६,२२२
कालिन्दी ६२,१३१
कालीचरण दास ११०
कावेरी ३३९,३४५
काशी ६२,९६,१७८,२३०,३५१,५७७
काशीदास मोरारजी ४२१
काशीराम ५७१
काशीराम करशनजी बांभणियां ४२२
काशी सुत ६२७
कासिम अली 'अली' २५८
किन्दुबिल्व ७४
किशोरचन्द्र राजेन्द्र ११२
किशोर दास ११२
किशोरलाल मशरूवाला ६३५
किशोरानन्द १९५
किशोरीवल्लभ २१४
कीकु वसही ३७५,४२३
कुंडिलनगर ३१
कुंतलपुर ६४४
कुंभकोणम् १७८
कुंभनदास ३७८,३७९
कुंभाजी ४५६
कुरंगा ६२०

कुँवरबाई ४७८,४९०,४९९,५०६
कुआंग ९४
कुजंडा १३५
कुजोबाली ३६
कुञ्जबिहारी भ्रमरवर ११२
कुतियाना ४२२
कुतुब खाँ ५२१
कुन्ती २२३
कुबरी २४२
कुवेर ४२३
कुब्जा १७६
कुमारव्यास २८८,३०३,३०८
कुमुड़ा जयपुर १३४
कुरुक्षेत्र ३८२
कुरुवा ५८,६०
कुरुवावाही ४७
कुरुवावाही सत्र ३२,३७
कुवावा ६३८
कुलमणिदास १०७
कुलमणि राजेन्द्र ११२
कुल मुलाई १२९
कुलीन ग्राम १७८
कुवेम्पु ३०३
कुशराम देव ३७
कुशालबाई ५७८
कुसुंदा ग्राम १३५
कुसुम बेन हरिहर भट्ट ४२४
कुसुमम्बर भुइयाँ ६१
कूचबिहार ६,१७,१९,२३,३४,६८
कूसम्मा ३३६
कृपामय देव ११२
कृष्णकुमार ४४२
कृष्णचन्द्र कर ११३
कृष्णचन्द्र राजेन्द्र ११३
कृष्णचन्द्र सिंह राजकवि १९५
कृष्णचरण दास ११०
कृष्ण दामोदर ४८१
कृष्णदास गोस्वामी २००,२३४
कृष्णदासजी ८६
कृष्णदासजी वड़जेना ८६
कृष्णदास बाबाजी ११३
कृष्णदेवराय ७६,१५९
कृष्णनगर १७९
कृष्ण प्रसाद ५७७
कृष्णनबाललीलेगलु ३५५
कृष्णनां हालरडां ४२७
कृष्णपुर १६७
कृष्णराज ओडेयर २९९,३१४,३२७
कृष्णराय भट्ट ५२९
कृष्ण शरण ११४
कृष्णाचार्य २५
कृष्णानंद स्वामी ३९५,४२६
कृष्णाबाई ४२७
कृष्णाराम ४२७
कोंद्रपड़ा १८०
के० का० शास्त्री ४२१,४२५,४३०,५०२
केदारनाथदत्त ११५
केदारनाथ महात्मा ११५
केन्दूझर १२३
केन्द्रापाड़ा ११५
केरवाडा ५९८
केवल कूबा ४२८
केवलिया १०
केशरबेन गोपालजी जोशी ४२८
केशव ९१,२९४,२९९,३४२
केशव कायस्थ १४,२५
केशव चरण २५
केशवचरण आता ९,२५
केशव चरण कायस्थ २५
केशवदास वल्मीक कायस्थ ४२९
केशवदास वैष्णव ४३१
केशवदेव ३७

केशव मिश्र ७५
केशवराज हरिचंदन १९६
केशव राम ४३१
केशवराम कायस्थ ३७४
केशवलाल ४४२
केशव लाल भट्ट ४२१
केशवैयंगार्य २९४,३४१
केशेडे सुब्बाराव ३५५
कैणेट ५९२
कैवल्यनन्दन ४१
कैवल्यनन्दन देव २६
कोचनपाड़ा १८५
कोटसाही २१३
कीड़ासाबर ११६
कोणार्क ९४
कोनय्य ३५५
कोरापुट ९४,२०९
कोलबा भगत ४३२
कोलिवाडा २८८
कोलीखड़ा ४१७
कौलारस २६७
कौसल्या ३५३
क्षीर-चोरा गोपीनाथ १७८
क्षेमेन्द्र ३५८,३७९
खंडेराय ३२७
खंभात ३८४,५७७,६१७,६२३,६२६,६२७
खंभालिया ३८१,३८२,५८१
खगेश्वर द्विज ४७
खटरा ५६
खड़गपुर २१७
खडायता ४२५
खडोल ५८८
खड़ियाल १७४
खण्डपड़ा ८३,८७,१२०,१२६,१४६,१६७,१८४,१९९
खमा खोकरा ४४
खमाइच ६०५
खमाच ४०६
खाकर ४१४
खादड़पुर ६४४
खानयार ३६७
खीमजी नारणदास ४३७
खुटिया ११७
खुटियापोता ७१
खुदिया २७
खीमदास ५६८
खुरधा २१७
खुर्धा १२३,१७२,१७३,१७७,१९७,२०१,२०४
खुशबु-कुमार ४१४
खेड़ा ४५२,४८६,५३८,५९३,६१०
खेडावाला ४०९
खेरालु ३८२
खैरसुती ६१
ख्येलप्पा ३५५
ख्वाजा निज़ामुद्दीन चिश्ती २४१
ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती २३७
गंगा २४४,२९२
गंगाधर ४७५
गंगाधर दास ११६
गंगाधर मेहेर ११६,११७
गंगाधरेश्वर-मंदिर ३१८
गंगाबाई ४८७
गंगा-शंकर ४२६
गंजा १७९
गंजाम ९४,१५२,१५६,१७९,१९३
गंडास १२८
गंभारडिह ९८
गजपति कपिलेन्द्रदेव २२२
गजपति पुरुषोत्तमदेव ७७
गजपति महाराज २०५
गजपति रामचन्द्रदेव ८४
गजला ७२
गजाभाई दादाभाई गढ़वी ५२०

गड़गाँव ५१
गढ़ड़ा ४७६
गणकवि २१४
गणदेवर्ता ४२३
गणेशमिश्र ११८
गदवाल ३४४
गदाधर ९६,१०६,११७
गदाधरदास २०१
गदाधर-द्विज ११८
गदाधर पण्डित ९८,११८
गदाधर सिंह मान्धाता ८२
गदुगु २८८
गन्धराड़ी ७६
गया ६२
गयाधाम १७८
गयापाणि ४५
गरबउदास ४३३
गरुड़ २९७
गांधार ३५७
गांधी (मोहनदास करमचंद) २६६
गागरौनगढ़ ५१७
गायकवाड़ ५११
गायकवाड सयाजीराव ६१४
गायक वाड़ी मजुमदार ३७५
गायत्रीदेवी २९५
गारो ७
गिरजाबाई ५०६
गिरधर ४३३
गिरनार ३७३,३८१,४१०
गिरिजा शंकर देसाई ४६८
गिरियम्मा २९१,२९६,३५०,३५३
ग्रियर्सन (सर जार्ज) ३७२
गीगाभाई जेठाभाई गढ़वी ४३४
गुंडिचा-घर २१०
गुंडिचा बिजे १७२
गुआतिरा १०१
गुजरात २६३,३२०,३७३,३७४,३७७,३७९,३८१,३८२,
३८३,६१०,६२१,६२९,६३१,६३७,६४०,६४२,६४५
६४७
गुणमणि सुत १२०
गुरुकृष्ण ३५५
गुरुगोपाल विट्ठल २९६
गुरुजय विट्ठल ३३८
गुरुप्रसाद ३५५
गुर्जर-प्रदेश ३७७
गुलजार हुसैन १३४
गुलबर्गा ३२१
गुलाबदास ४३५
गुलाम क़ादिर २६८
गुलाम हम्दानी मस्हफ़ी २७१
गुहारिया साही १५४
गोंडल ४५६
गोंडा ६३१
गोकुल २२,४३५
गोकुलदास ४३६,५०७
गोकुलदास द्वारकादास रायचुरा ४११,४३६
गोकुलनाथ जी ३८५,४३१,५०२,६२४,६४६
गोदड़िया जगबन्धुदास १५३
गोदावरी १५२,२०१
गोदावरी गोसाँई १२०
गोधरा ३८२,३८४
गोनन्द ३५७
गोपम्मा ३२९
गोपाल ३२,३४,४४,४३७
गोपाल आता ९,२१,३९,७२
गोपाल कृष्ण ९२,३०९,३४४,३५३
गोपाल कृष्ण पटनायक १२०,२३३
गोपाल चरण द्विज १४,२६
गोपाल जीवन जोशी ४२८
गोपाल तेलंगा १२१
गोपालदास १२१,२९५,३०६,३११,३३४,३३७,३४३,३५३,
३७५,३८१,३८२,३८३,३८४,४३७

गोपालदास क्षत्री ४३९
गोपालदास परमहंस 'प्रेमसखी' ४४०
गोपाल देव ९,२३,२७,५१,५६
गोपाल देव आता २८
गोपालपुर २०१
गोपाल मेकाय १२१
गोपाल योगी ६३१
गोपालविट्ठल ३०६
गोपालविट्ठल गुरु ३०५
गोपालानन्द स्वामी ४२६
गोपीचन्दन १२८
गोपीनाथ १९५,२०१,२१८,२२९,२९८,६३८
गोपीनाथ दास १२१,१२२
गोपीनाथ पाठक ३९
गोपीनाथपुर १२१,२२७
गोपीनाथ वाजपेयी १०३
गोपीनाथ श्रीकृष्ण ८२
गोपीवल्लभपुर २१८
गोभिर ग्राम ४०
गोमती ६२१
गोरखपुर ४४०
गोरुर नरसिंहाचार ३५५
गोलकुण्डा ९८,२४०,२४३
गोलाघाट ३७,५८
गोलोकचन्द्र पटनायक १६९
गोवर्द्धन आचार्य ७५
गोवर्द्धनधारी २४२
गोवर्धन महापात्र १२२
गोविन्द ७,३४
गोविन्द गड़मणि २९
गोविन्दगीला भाई ४४१
गोविन्दगिरि ४४
गोविन्द जी ९८
गोविन्ददास १२२,१२४,४४१
गोविन्दपाल ३५७
गोविन्द भंज १२३
गोविन्द माधव ७६
गोविन्द मिश्र २९
गोविन्दमेहता ६२९
गोविन्दराम ४४१,४४२
गोविन्द रायगुरु १२३,२३२
गोविन्द लाल (मौनी बाबा) ४४२
गोविन्द-विद्याधर १५९
गोविन्द शूरदेव १२३
गोविन्द सामन्तराय ८८
गोविन्द स्वामी ३७२
गौड़-प्रदेश १५९
गौर किशोर गोस्वामी १७८
गौरचरण ९३
गौरचरण अधिकारी १२३,१६९
गौरहरि ९३
गौरहरि दास १२४
गौरांग २५
गौरांगदास १२५,२२१
गौरांग पुर ९४
गौरापार महादेई १२५
गौरीदास १२५
गौरीदेवी ४३४
गौरीनाथ सिंह राजा ५९
गौरी बाई ४४४
गौलासण ६१०
गौलासम ६१०
गौहाटी २,१८५
घनश्याम ३७६,४०४,६३१
घनश्याम कर १२५
घनश्याम नरेन्द्र २१९
घरसिया ३१
घुमसुर १४९,१६०,१९८,२१८
घोघाबदर ४५६
चन्दन २२१
चन्दन हजूरी १२६
चन्द्र २१५

चंद्रकान्त टोपीवाला डॉ० ३९७
चन्द्रकान्त सिंह ५५,५९
चंद्रगिरि २९१,२९२,३४६,३५६
चन्द्रदत्त ७४
चन्द्रनाथ १७८
चन्द्रनारायण ५२
चन्द्र पाठक ५०
चन्द्रपुर १६४
चंद्रभागा २९०,२९७
चन्द्र भारती १७,५३
चन्द्रमणि दास १२६
चन्द्रमौलि २८८,३३०
चन्द्ररसार्य ३१३
चन्द्रशेखर १२६,१८०
चन्द्रशेखर महापात्र २१२
चन्द्रशेखर मिश्र १२६
चन्द्रशेखर सिंह सामन्त १२७
चन्द्रसेन २१५
चन्द्रहास २९०
चन्द्रावली ९१
चन्द्रिकाचार्य ३४६
चन्नपट्टण ३५०
चम्पक माधव ७६
चंपकलाल सी० नायक प्रो० ३८४
चंपापुर २३४
चम्पागौरी ४४२
चंपादेवी १४२
चम्पावती ९६
चक्रपाणि ४३
चक्रपाणि आतै २९
चक्रपाणि पटनायक १२८
चक्रपाणिराज सिंह १२८
चक्रपाणि वैरागी ४८
चक्रपालि ३७३
चटगाँव ११८
चण्डीगढ़ १८५
चण्डीदास १४
चगावती ६२९
चतुरदास ४४८
चतुर्भुज ४४६
चतुर्भुज कायस्थ ३१
चतुर्भुज ठाकुर २१,३१,४२,५१,५९
चतुर्भुज दास ३७९
चरणदास ११३,२०६,२१७
चरणदास लाला जी १७८
चरोतर ३७४,४८३,६१०
चाँद कवि १२८
चाँद खाँ ४४७
चाँद दास १२८
चाँद देवी २१४
चाँदसाई ७३१
चांपानेर २६२,४२५
चाटु विट्ठलनाथ २८९,३०८
चाणोद ३७६,४६८
चामय्या ३५५
चिन्तामणि महान्ती १२९
चिक्कदेवराज २९६,३०९,३१०
चिक्क देवराज बिन्नप ३०९
चिक्क नायक नहल्लि ३१४
चिक्कमंगलूर २८९,३३२
चिकिटि ११२,११३,२१०
चिक्कुपाध्याय २९६,३१०,३३०
चित्रकूट ९६
चित्र विश्वामित्र ३१३
चित्रोत्पला ९५
चिप्पगिरि ३३७
चिपलिमा १३५
चिमणा जी १७३
चिल्लाराम ६३
चिलिका २०४
चिश्तिया-सम्प्रदाय २४१
चीकरपरवि २९५,३१२

चीकलपरवि २९९
चीकलपरि ३३६
चुडा ५२५
चुरामफा भंगाराजा ३२
चेचा-सत्र ३१
चेतनदास ४४८
चेन्नपट्टण २९१
चेन्नम्मा ३१४
चेन्निग ३५५
चेम्सफोर्ड लार्ड ११
चेमेइ ओझा २३४
चेलुवाम्बे ३५५
चेलैया ६२९
चैतन्य ८९,९०,९१,९४,२००,२०२,२१२,२२९,२३१,
६३६
चैतन्यकर चौधरी १७१
चैतन्यदास १२९,१८२
चैतन्यदेव ५३,६९,८०,९५,९६,१२९,१६५,२०१,२१९
चैतन्य महाप्रभु २३७
चौण्डरस ३११
छगन लाल विद्याराम रावल ४५१,५६७,६४६
छत्रगढ़ १५२
छत्रपति शिवाजी ५४८
छत्रसाल ५२४
छतिया १३४
छत्तीसगढ़ १८१
छपिया ६३१
छाणी ६३३
छीत स्वामी ३७९
छीता २६४
छेलाभाई अमीन ४६८
छोटालाल ४८६
छोटा हरिरस ४११
छोटमलाल बलदेव जी ४४८
जंबुसर ३८५
जगजीवन ४५०
जगतसिंह पुर ११८,२१५
जगदानन्द ३२,३९,४७
जगदीश मिश्र ६२
जगन्नाथ ८९,९३,९४,१३०,१४०,१५३,२१०,२२४,४५०
६४१
जगन्नाथजी ७३,८१,८४,९५,२११,२१३,२१५,२१७,२३५
जगन्नाथ जोशी ३८२
जगन्नाथ दास ९०,९६,१४२,१६५,१८३,१८७,२०९,२२७,
२९५,२९९,३०६,३११,३१२,३२६,३४४
जगन्नाथदास अतिबड़ १२९
जगन्नाथदास शिष्य १३३
जगन्नाथ देव ७०
जगन्नाथ नारायण देव १३३
जगन्नाथ पाणि १३४
जगन्नाथपुर १६२
जगन्नाथपुरी ५८,९४,१७७,४३८
जगन्नाथ मिश्र १५०
जगन्नाथवल्लभ ७९,८०
जगन्नाथ वल्लभ-मठ २०२
जगन्नाथ विट्ठल ३१२
जगन्नाथ विद्याधर २०४
जगन्नाथ हरिचन्दन ८१
जगबन्दन ४०
जगवन्दन देव ३२
जगबारे ४५६
जगु मल्लिक १८९
जड़भरत ३०८,३८८
जदुमणि महापात्र १३४
जदुराम ५७३
जन भगवान ४५१
जन लक्ष्मीदास ४५१
जनार्दन ३७४,४५२
जनार्दन दास १३७
जनार्दन दास अभिनव
जनार्दनपति १३४
जनार्दन पुजारी १३५

जनार्दनषण्ड १३५
जफ़र अली ख़ाँ २५९
जफर खाँ १५२
जमाबाई ५०६
जमरा ४६२
जमुना २४२
जयकृष्ण जीवनराम ४३२
जयकृष्ण दास जी ११४
जयदेव ७४,८४,८९,२१३,२२७,३७३,४९१
जयध्वजसिंह स्वर्गदेव ५८
जयनारायण ३२,३९
जयन्तो ७
जयपाल ३५७
जयपुर ११४,१६३,२०९,२६४,५४३
जयराम ४५४
जयराम आतै ३२
जयराम दास १४६
जय-विजय २६,३०८
जयविट्ठल ३४९
जयहरि ७
जयहरि देव ३२,३७
जयहरि यवन ३२
जयानन्द ७
जरासन्ध ३७,९१,३५७
जलंतर १०७
जलाल लखनवी २६६
जलालुद्दीन विसाली २४१
जलेश्वर १४३
जलौका १७१
जसबा भगवानलाल ४५४
जसवन्त सिंह ४९७
जसोदा २४२
जहाँगीर २२५,२६४
जांबवान् १३०
जागारा २९
जाजपुर ७६,९८,१६०,१८१
जान २६४
जानकी बाई ४५५
जानकी वल्लभ महांती डा० १९६
जानेजानां मज़हर मिर्जा २५९
जामनगर ३७५,३७६,३८४,४१०,४६४,५६४,५७१,६१९
जाम रावल ४११
जामसाहिब विभाजी ५३७
जामसुता जाडेचीजी श्रीप्रताप बाला ४५५
ज़ामिन २६०
जायसी २११,२४०,२४६,५९८
जालंधर २५१
जालोर ४१६
जिगर मुरादाबादो २४३
जीजाभाई चारण ४७८
जीवगोस्वामी १२४,२१७,२१८
जीवणदास लुणावड़ा ६१७
जीवदेव आचार्य ८४,८९
जीवनदास ४४८,४५६
जीवन मस्तान ४५९
जीवन रोहडिया ४५९
जीवनेशजी ४३८
जीवराम ४६०
जीवराज ठक्कर ६१३
जीवराम दास ६१०
जीवा भगत ५८१
जुगुलदास ४४८,४६१
जूनागढ़ ३७३,३७५,३८१,३८२,३८५,४०८,४२२,४६२,
    ४६४,४८९,५४३,६०८,६१२,६१३,६२१,६२९,६४४
जेकुंवर बा ५२५
जेठाभाई उढ़ाच ४६२
जेठीराम ४८०
जेठुजी ५४०
जेतपुर ५५९,५७४
जेतबाई ५६१
जेतलपुर ४०७
जेबाई ५७९

जैन-उल-आब्दीन ३५८,३५९
जैना कोठारी ६४४
जोधपुर ३७३,४१६,४९७
जोवनपगी ६३४
ज़ौक़ २४४
ज्ञानप्रकाश ४३७
ज्योतिर्विद-बृहस्पति १७८
झंकड़ २२१
झरपरा ४६६
झवेरचन्द मेघाणी ५३७
झवेरी महेती ४८९
झाँसी २७७
झाबरमल शर्मा पं० २०४
झारखंड ९३
झीनप्पा ३०६
झुला स्वरूपदास जी ६३७
टांगी १७१
टेंढ़ाखोल १७०
टेला ४९७
ठाकुर भाता ९
ठाकुरजी मनवटी ३५९,३६१,३७३,३८५,३८६,४१०,४१८
डभोई ३७६
डाकोर ६२०,६३८
डालिजोड़ा ११२
डिमिर सेना १५४
डुरा २०१
डूंगरपुर ४४४
डुंगापुर ५४३
डेलांग १०१
डोमपड़ा १४८
डोसो वेलाणी ४६४
ढेंकानाल १५३,१५६,१६२,१७२,२२८
तड़लापड़ा-आश्रम २२७
तखत सिंह ४५५
तणछा ५९५
तम्माराय ३४६
तफ़ज़्ज़ुल हुसेन खाँ २५६
तरक सिंह ६४३
तराबोई १३३
ताज २६४
तातीकुछि ४४
तानसेन २४८
ताबराम ३६७
तामरङ्गा विल ४३
तामसा २०६
तामेश्वरी-मन्दिर २
ताराकान्त झा डा० १३,१५
तारा दे ४२९
तारादेवी २३
तालिब शाह 'तालिब' २६०
तिगिरिया २२८
तिर्तोल १०४
तिप्पणार्य ३१३
तिप्परस ३५३
तिब्बत ४८८
तिम्मः वि ३५५
तिम्मण ३०४
तिम्मणदास २९८,३४०
तिम्मप्पय्या ३१४
तिम्मप्पा ३००
तिरुमलार्य ३०९
तिरुपति १७८,२९२,२९४,३०१,३१२,३१४,३२४,३२९
तिलकणा ९५
तिलछ महापात्र १३५
तीर्थनाथ शर्मा पं० ८,१३
तीर्थस्वामी २९१
तुंगभद्रा ३३६,३४६
तुंगम्मा २९६,३१५
तुंगा २९९
तुमकूर २९०, २९७, ३१८
तुराब काकोरवी २६१
तुरुवेकेरे २९०, २९७,३१८

तुलसीदास ४,३३२,३९५,५७३
तुलसी देवी ९८
तुलसी-श्याम ३८५
तृणोल ४२६
तृष्णा ४८६
तेन्तुलिया पड़ा १८३ २२२
त्रगडी ३८२
त्रिकमदास ३७६,४६४,६०८
त्रिकमदास-भवानीदास ३७५
त्रिक्रमराय जी ३७४,३७५
त्रिकमलाल ४०१
त्रिजटा ३९
त्रिपुरारि दास १३७
त्रिपुरा १७८
त्रिपुरासुर ३०८
त्रिपुरेश्वरी १४७
त्रिलोचन महीन्द्र बहादुर १७२
त्रिविक्रम ३३५
त्रिविक्रम भंज र जा १९८
त्रिवेणी बा ४२४
त्र्यम्बकराम ५७८
त्यागराज स्वामी २९३
थार्यो भगत ४६६
थोभणदास ४६६
दक्ष ९१
दक्षेश्वर जी ८१
दतिया ४६१,५०३
दत्तात्रेय ३८७
दनाई दास १३७
दमनगौरी ४०३
दयाकुंवरि ४८९
दयादरा ४२१
दयानन्द गिरि ५७१
दयाराम ३७५,३७६,३८३,४३३,४६८,४७०,५८६,६१७
दयाराम खटाऊ शर्मा ४७५
दयाशंकर ४६८
दरंगी ४७
दरियापुर ५०३
दलपतराम ४७९,६३५
दलपतराय 'कवीश्वर' ५३२
दशपल्ला २१८
दशपल्ला युवराज १३८
दशानन ३७
दसाडा ६११
दाग़ देहलवी २५३
दाढर्यंता-भक्ति ११६
दातागंजबख्श हुज्वेरी २३७
दाताहरि ६४७
दादा नाजा खाचर ४७६
दानमुकुन्दपुर ७४
दाम जी ६४३
दामोदर ७,२०२,३५७,४०३
दामोदर आता ४८
दामोदर कृष्ण ३७४
दामोदर दास १३८,३७७,३८०
दामोदरदास त्रिपाठी ६११
दामोदरदास 'द्वितीय' १३९
दामोदर द्विज १३९
दामोदर देव ७,८,९,१०,१४,१८,२०,२३,२७,३२,३५,३७,
    ३८,४१,५३,५७,६३,६६
दामोदर पटनायक १४०,२०५
दामोदर राघव जी ४२८
दावणगेरे ३२४
दाशरथि बेवती पटनायक २२८
दाशरथी दास १४०,१५४
दाशरथी पुजारी १३५
दास १६४,२९४
दासप्पा ३०६,३३४,३३६
दासभवान ३७५
दासिया बावरी १६८
दिक्करवासिनी २

दिनकर भट्ट ४२६
दिनमणि १४१,५०३
दिवाकर ३९
दिवाकर दास १४२
दिवाकर मिश्र ७६
दिव्यसिंह देव १४२,१७२,१७५,१८२,२०१,२०४,२१०
दिल्ली २४३,२५५,२६२,२६५,२६८,२७२,२७३,२७५,
२७८,३६९
दिल्लीश्वर २४०
दिर्हि ४०,६०
दिहिसत्र २६,४०
दीनकृष्ण १४५
दीनकृष्ण दास १४३,१६९
दीन दरवेश २६३
दीनबन्धु ९५
दीनबंधु षडंगा १४६
दीनबंधु हरिचन्दन १४६
दीनानाथ ३७२
दी० ब० केशव लाल ४५२
दुःखी श्याम १४६
दुःशासन १८१
दुखिया २१७
दुखी कृष्णदास २१७
दुर्गा ७४
दुर्योधन १८१,२२३
दुलाभाई काग ४७७
दुर्लभ वर्धन ३५८
दुर्लभस्वामी ३५८
दुर्वासराय ३२७
दुर्वासा ९२
दुर्वासा-क्षेत्र ३८१
देउरी १७
देगाल ५६६
देथाण ५०६
देवकवि ३३०
देवकी ५१,३५३
देवकी-वसुदेव १७६
देवचन्द ४७८,५२१
देव जी ४३१
देवदत्त ६४०
देवदर्न गढ़वी ४७९
देवदुर्ग २९५
देव दुर्लभदास १४७
देवनूर २८९,३३२
देवपाल ३५७
देवपार्य ३५५
देव बा ४८६
देवयानी २०
देवराजेन्द्र-सांगल ३५५
देवरासण ६३८
देवल बा ४११
देवलिया ६४१
देवर्षि नारद ३३
देवहूति ३८०
देवानन्द ६३५
देवानन्द दास १४८
देवानन्द स्वामी ४७८
देवा साहब ४८०
देवीदास गन्धर्व ४८१
देशलपुर ४७५,६१४
देसाई मेहताशंकर दास ५२९
देहल मिसण ४८२
दैत्यारि ठाकुर ९,३४
दैत्यसूदन ३७४
दोनप्पा ३४९
दोरा गांव ५३२
द्रुपद ३४४
द्रौपदी २२३
द्वारका ९६,१४७,३६७,३७३,३८१,३८२,३८४,३८५,४०२
४११,४२८,४६८,६२०,६३८,६४०,६४४
द्वारकादास ४८२,५२९,५७३,५७६
द्वारकाधीश ६२०

द्वारकानाथ ४०१
द्वारका भगत ४८३
द्वारिकादास १४८,१५१
द्वारिका वल्लभदास १४९
द्वारिकेश जी ३८५
धंधुका ४०
धनंजय भंज १०५,१४९,१६०,२११
धनंजयपुर १८५
धनदास ४८३,६४०
धनबाई ५७२
धनराज ४८५
धनाचार्य ३८०
धरणीधर मिश्र १५०
धराकोट ११५,१२२,१२३,१९५
धराकोट-नरेश १७९
धर्मचन्द्र पं० ३६३
धर्मदास ४८५
धर्मनारायण २८,५४
धर्मपाल ३५७
धर्मेन्द्रतीर्थ ३३९
धल ४०
धाएता ६४०
धानबाई ४७७
धानाणी ३७६
धारमुरा ४७
धारवाड़ २९४,३००,३५३,६२९
धीरजलाल ब्रजदास साँकलिया ५०४
धीरो भगत ४८६
धुनुचा-यात्रा ६७
धूलिसर १४८
धेनुकासुर ९१
धोखारामुख ४७
धोला भट्ट ६१५
धृष्टद्युम्न ३४४
ध्रांगध्रा ५७३
नंजप्पा ३५५
नंददास १५१,३७९
नंदमहर २४२
नंद-यशोदा ३८६
नंदावती ४३७
नंदऋषि ३६३
नगाओ अंचल १८
नचला ३२
नजफ अशरफ २५५
नज़रगाह २५०
नज़ीर अक़बराबादी २४५,२७८
नटवर-भजनावली ४१७
नटवर भ्रमरवर 'राजकवि' १९५
नटवरलाल ३८५
नदिया १०३,११६
नन्द ३७
नन्दकिशोर दास १५६
नन्दन मिश्र १६३
नन्दरानी ९५
नन्दराम ३६२
नन्दिघोष २१०
नन्दी २२२
नन्देश्वर द्विज ४७
नफ़ीस ख़लीली २६२
नबी २४८,२६३
नर्मद ४६८
नर्मदा ३७६,३८१
नमाढ ४०
नयनानन्द १२२
नयागढ़ ८२,९८,१२३,१८८
नरदेव गोस्वामी ६०
नरनारायण कोच-राजा ६३
नरनारायण राजा ६८
नरभेराम ४८६
नरमणि ४८८

नरसप्पा ३११
नरसिंह ३२४,५८६,३५१,३७५,६००,६२१
नरसिंहदास २९०,३१२
नरसिंहपुर २१८,२९८
नरसिंह मेहता १७०,२४५,२७८,३७४,३८३,३८४,४०१,
    ४६४,४७३,४८९,५५२,५७९,५८६,६१३,६२३,६४१
नरसिंह शेण ८९
नरहरि आतै ३५
नरहरि तीर्थ २९१,३१५
नरहरिदास ४९६
नरहरिदास रोहडिया ४९७
नरहरि विष्णु ४८८
नरिया ३७
नरोडा ३८१ ३८२,४३९
नरोत्तम आतै ३५
नरोत्तमदास जेठाभाई ४८८
नरोत्तम द्विज ४७,६९
नरोवा २९,५५
नल १३०
नवकोटि नारायण ३०९
नवद्वीप ६९
नवजीवन ६३५
नवरंग स्वामी ४९९
नववृंदावन नडुगड्डे ३४६
नवसालपूरि तिप्पणार्य २९६
नवसारी ५३५
नवानगर ३८१ ३८२,६१९
नवाब जफर खाँ १३३
नविला डेयक्क ३२४
नवीनकिशोर १४२
न्यामत खाँ 'जान' नवाब २६४
नांदरो ५२९
नाओशालि ३७
नाकर ५००
नाग जी भट्ट ३८४
नागरस ३५५
नागाम ३६९
नागामी ३६९
नाजिरा २८
नाजिरा ग्राम ७२
नाथ भवान ४०४
नाथद्वारा ४०२
नाथ स्वामी ५००
नाथाभाई ६४६
नाना भट्ट ६२६
नानाभाई कल्याणमल्ल ६३८
नानालाल ४०३,५९४
नानालाल कविसम्राट् ४७३
नानो भट ५०१
नाभादास ७५,५१८
नामघोषा २७,४६
नारणप्पा २८८,३०४
नारद ७२ १८५,२९३
नारायण ६९,३१४,३१७,५०२,६४१
नारायण कवि ५०३
नारायण ठाकुर ९,२५
नारायण ठाकुर आता ४४
नारायण दास २९,१५१,१५६,२९६,३१७
नारायण दास ठाकुर ३५,३९
नारायण देव ३५,७०,१३३,१५२
नारायण पटनायक १५२
नारायणपुर ३८,४०,४४,६९,३२४
नारायणभंज ८०
नारायण मर्दराज ५९४
नारायण मिश्र १२६
नारायण-सरोवर ३८१,३८२
नारायण सिंह ५०३
नासिक ५८९
निआली ७६
निज़ामी २६४
नित्यात्मनाथ २८९,३०८
नित्यानन्द ८२,८८,३६१

नित्यानन्द देव ३६
नित्यानंद पटनायक २२८
नित्यानन्द स्वामी ४२६,५०३
निज़ामुल्मुल्क ४६४
निमापाड़ा १६७
निमादत्त चैतन्य २५
निमानन्द ५०४
निमिषा ४२
निम्बा ४५२
निरंजन २५
निरंजन खुण्टिया १०८
निरंजन देव ३७,५५
निरंजन ब्रह्मचारी १७१
निरांत ५०६
निर्मल चन्द्रदेव ३७,४२
निर्मल देवी ५०४
निम्बार्कस्वामी ७४
निर्वाण नाथ २८९,३०८
निशिकान्त वन्द्योपाध्याय १८५
निसार अकबराबादी २७०
निष्कुलानन्द ५०८
निहाल सीवहारवो २४६
नीमापाड़ा १६५
नीलकंठ ५११ ६३१,६३२
नीलकंठघुमसुर १०४
नीलकण्ठ दा:स ३८,३९
नीलकण्ठभंज १५३
नीलकुदुरेयनेरि ३०६
नीलगिरि ११९,१९७,१९८
नील माधव ७६
नील मुनि ३५७
नीलाचल २,१०३,१९०
नीलाचल नाथ १५०,२३५
नीलाम्बर दास १५३
नृसिंह २३०,२९०,३३६,४०२
नृसिंहदास २९७
नृसिंह देवालय ३२७
नृसिंह पटनायक १५३
नृसिंहपुर २९१
नृसिंह भ्रमरवर १५३
नृसिंह भारती स्वामी ३१७
नृसिंह राय गुरु २२८
नृसिंहाचार्य ४१४,५१२
नृसिंह-हिकिरी १७१
नेत्रमणि १२९
नेपाल ५२२
नेफा २
नेमाल या लेम्बाल ९५
नेमिनाथ ३७४
नैमिषारण्य १०
नैरक्षर सुकुक्षी ३५५
नोकटे ७
नोमिक ३१
नौगाँव ६०
नौतमपुरी ६१०
न्हानालाल ६३५
पंकजचरण दास १५३
पंगनामद तिम्मण्णदास ३४०
पंगुतीर्थ ३५३
पंचसखा १८६
पंचमसिंह ५१२
पंचानन ६९
पंजाब २४३,२४९
पं० केशवराम काशीराम ४२२
पंढरपुर २९३,२९७,३८१,३८२
पक्षधर मिश्र ३४६
पचरीया ५३
पटजिला ५६
पटनायक १०६
पटल ९७
पतितपावन पटनायक १५४
पतियारी ४७

पथर चकड़ा १२०
पद्म आता २५,३८
पद्मचरण दास १५४
पद्मदास १५५
पद्मनाभ ३१५
पद्मनाभ अनंग भीमदेव १५५
पद्मनाभ तीर्थं २९१,३५१
पद्मनाभ 'द्विज' १४९
पद्मनाभदेव १३३
पद्मनाभ श्रीचन्दन १५५,१९७
पद्मसिंह देव १७४
पद्मपाणि ५०
पद्मपाणिदेव ३७
पद्मप्रिया ३९
पद्मावती ९५
पद्मिनी १५८
पन्ना ४३५
पम्प ३०४
परमानंद २२९,३५९,३६१,३६३,३६९,५१२
परमानन्ददास ३७९
परमेश्वरी ३६१
परवत जी महेड्डु ५३६
परबतदास ३७४,४०१,४६४,४८९,५१२
परमानन्द आतैं ३९
परमानन्द ठाकुर ३९
परमानन्द ब्रह्मचारी ६४१
परशुराम ३०८
परशुराम विहारी १५५
पराग चालिहा प्रो० १२
पराशर १३०
परिड़ा २२२
परीक्षित २४५
परीक्षित नारायण २०,३३,३४,५४
पवित्रपड़ा २१९
पाण्डुरंगदास २९८,३१८
पाण्डुरंग-विट्ठल २९०,३२६
पाकिस्तान २८४
पांचाल ५७७.
पाटण ३७३,३८१
पाटन ४०३
पाटबाउसी २४
पानबाई ५७१
पारलाखेमंडी १२०,१२४,१३३,१५२,२२७,२३३
पाटिकुद २१८
पारिकुद राजवंश १९८
पालख पालीया ५१४
पालनपुर ६२८
पालूर ११२
पावंजे लक्ष्मीनार्णप्पय्या ३१९
पार्वती ३३७,३५७
पार्वतीचरणदास १५६
पिंगलशी पाताभाई नरेला ४११, ५१५
पिण्डीक श्रीचन्दन १५६
पितल १२३,२३१
पितेई देवी १८०
पिपिली १९३
पिपरोपुर २७२
पीताम्बर ४१०
पीताम्बर कायस्थ २१
पीताम्बरदास १५१,१५६,१६३,१८४
पीताम्बर भट्ट ४११
पीपलाणा ५७४,६३२
पीपाजी ५१७
पीपावाण ४७७
पुण्डरीक विद्यानिधि ११८
पुंजो बावो ५१८
पुटगोवर्धनपुर १२२
पुनीत पदरेणु ६१९
पुनीत महाराज ५१९
पुरंदरगढ़ २९३,३२०
पुरंदरदास २८८,२९१,२९२,२९३,२९४,२९९,३००,३०४
 ३२०,३३७,३४० ३४६

पुरंदर विट्ठल २९३,३२१
पुरी ६२,९४,९५,११६,१५३,१६५,१६७,१८६,१८८,२०१,२०५,२०७,२१०,२११,२१२,२१५,२१८,२२९,२३३,२८८,३४१
पुरीदास गोस्वामी २३३
पुरुणावस्त १२३
पुरुषोत्तम ४२,४३३,५१९
पुरुषोत्तम अनंग भीमदेव १५७
पुरुषोत्तम ठाकुर ३९,४३,५९
पुरुषोत्तमदास १५८
पुरुषोत्तम देव ७९,१५०,१५९,१८०
पुरुषोत्तम नाथ जी ३८४
पुष्करक्षेत्र ३८२
पुष्पतिलक १९२
पूर्णानन्द स्वामी ३९,४७,५२०
पूर्व-बंग १७९
पृथ्वीधर शर्मा १७८
पृथ्वीनाथ कौल 'सायिल' ३५९
पृथ्वीराज २२७
पृथ्वीराज चौहान २३७,२४३
पृथ्वीराज राठौर ६३८
पेरम्बुपुर १७८
पोरबंदर ३७४,३७५,३८१,४१७,४२२,४२८,५६६,५८३,६२७,६४०
पोलाल्व दण्डनाथ ३२४
पोशद्यद ३६७
प्रभुराम ५५४,५७८
प्रणामी मन्दिर ३७५,४३५,६१०
प्रणामी-सम्प्रदाय ४७८
प्रतापपुर ९४
प्रताप बारोट ४८६
प्रताप रुद्र गजपति ८९,९०,१४२,१६४,२०२,२१२,२३१
प्रताप रुद्रदेव ७९,९६,११६,११८,१२५,१२९,१३५,१५९,२०१
प्रतापसिंह ४४४,४४५,५२५
प्रतापसूरि ३८०
प्रधानि तिरुमलार्य ३५५
प्रद्युम्न मिश्र २०२
प्रभा ४४३
प्रभास पाटण ३७३,३७४,३८१,३८२,४२९
प्रभुराम ४६८
प्रमिला मिश्र २१७
प्रयाग ६२,९६,१७८,५०५
प्रलम्बासुर ७३
प्रश्नोरा नागर ४०८
प्रसन्न-वेंकट ३२५
प्रसन्न वेंकटराय २९६,३२४
प्रह्लाद ३०८,३३०
प्राग्ज्योतिषपुर ६८
प्राणनाथ ५१२,५२०,३७५,४५९,५५०
प्राणेशदास ३२६
प्राणेश विट्ठल २९६,३२६
प्रियव्रत ३०८
प्रीतम कवि ३७५
प्रियादास जी ७५,५२५
प्रेमकला ९८
प्रेमभूषण देव ४०
प्रेमानन्द शिष्य ५८८
प्रेमसखी ३७६
प्रेमसखी-प्रेमानंद ५३१,६३३
प्रेमानन्द ३७५,३९९,४३०,४३३,४८२,५२९,५९१,५९२,६११,६१४,६२१,६२३,६३९,६४१
प्रेमानन्द भट्ट ३७५,४७३
प्रेमाबाई ५२५
फकीरभंज १६०
फ़ख़रुद्दीन 'मौलवी सैयद' २६५
फ़जल अली 'दाना' २६२
फतेहपुर २६४

फरीदपुर १८५
फर्रुखाबाद २७३
'फार्ब्स' ५१५,५९६
फिरदौसी ३६७
फूढ़ ५३५
फैजाबाद २६९
'फैयाज़' ग्वालियरी २६७
फैयाज़ुद्दीन अहमद २६७
बंकाड़ १९८
बंग १५९
बंगला देश १८५
बंगाल २५,२१७,२२५
बंगालशा ६२९
बखताभाई देवका ५३६
बखना ३
बगदाद ५२२
बच्चम्मा ३००
बजमाल महेड्डु ५३६
बजरीदास 'प्रथम' १६२
बजरीदास 'द्वितीय' १६२
बजाणा ५६६
बटकृष्ण ११३
बटेश्वर ३८०
बड़ओड़िया मठ १२१
बड़-कनड़ा १३७
बड़खेमण्डी १०१,११२
बड़ताल ६३३
बड़दरा ५८०, ५९०
बड़दांड १६१,२२५
बडनगर ३८१,४४४
बड़वा १०६
बड यदुमणि देव ६८
बड़शाह ३५९
बडाली ६४१
बड़ोदा ३८५,४३३,५००,५०६,५२९,५३२,५८३,६१४,
६२३,६२७,६३३,६३५,६४५,६४६
बदरीनारायण ४८८
बदरिकाश्रम ६२
बदरी-केदार ४६८
बदरीनाथ २९१,३१५
बदायूं २ २
बनी कोठारी ६४४
बन्धु महान्ती १६०
बन्नूर ३४५
बन्वम्मा २९४
बब्बूरुकम्मे ३१७
बभ्रुवाहन ६४८
बम्बई २७४,४२४,५०४,६११
बरदोवा २९,६०
वरनगर २३
बरपेटा १८,२५,२८,३२,४४
बरद गोपाल विट्ठल २९६
बड़यदुमणि देव ४०
बरानपुर ६२३
बलख २८१
बलगण्डी १०६
बलदेव २३,४१,४७,७४
बलदेव जी पं० १६४
बलदेवरथ कविसूर्य ९२,१२३
बलदेव विद्याभूषण १६३
बलभद्र १४०,१५३,५३९
बलभद्रपुर २३३
बलराम ८९,९५,१३०,३८१,६४०
बलरामदास ८९ १३०,१४८,१५१,१५६,१६४,१९०
बलरामदास 'द्वितीय' १६६
बलराम द्विज ३९,४१
बलवंतशाह ६१३
बलवन्त सिंह ६४२
बल्लण २९२,३४५
बल्लभनारायण बेहेरा २०९
बल्लाल द्वितीय ३२४

बहमनी २३७
बहरी ६९
बहादुर खाँ नवाब ४०८
बहुरीकदल ३६७
बहेचर भाई पटेल ६२७
बसंत भाई ४६८
बसरा ५२२
बसवभट्ट ३४६
बस्तो डोडियो ५३८
बांकानेर ५७३ ६१३
बांकी ९४,१५५,१७४,१९७
बांधिया ५७४
बाइधर दास १०१
बाकर अली 'हसरत' २६८
बागलकोटे ३२४
बागलाण ५८९
बाघेला सारंगदेव ३७३
बाडा २९४,३००
बाणपुर ८१,८६,१५२,१९५,१९७,२०४,२०९,२११
बाणासुर २८८,३३१
'बासित' बिसवानी २६९
बाणेश्वर ३९
बानफाड ४०
बाबर ३४६
बाबाराय भाई ४०२,४०३
बाबी नवाब ६१२
बामनि महापात्र १६७
बाया बाबा १६७
बारंगपालि ११३
बारंगदास २१५
बारडोली ५३५
बारसद ५३८
बारेघर ३५
बालकृष्ण गोपाल कृष्ण ३७४
बालकृष्ण भाईलाल भट्ट ५१९
बालमुकुन्द २२५,२३३,४४२,५३९
बाला जी २९२,३००
बाला गाँव ४३६
बाला जी वेंकटेश्वर ३२९
बालादेवी ६३१
बालाभाई ५६१
बालिगाँ दासिया १६७
बालिगाँव १६७
बालिसाही १०१
बालिसाही पाटणा १६७
बालीपटना २१५
बालुआ बाबू ११५
बालुकेश्वर १५६
बालुकेश्वर पटनायक १७२
बापूसाहब गायकवाड़ ५०६
बालेश्वर ७४,९४,१५६,१६३,१७८,२०३
बालोल ४७८
बिछन्दचरण पटनायक १६९
बिदलाल ३६१
बिलखा ६२९
बिशि खुण्टिया २१०
बिसनगर ६२८
बिसवाँ २६९
बिहारीदास १६९,४८०,५३९
बीकानेर ५४३
बीजपल्लि ३४३
बीजापुर ३२१,३२७,३४६
बीर बल्लाल ३३०
बोरप्पा २९४,३००
बुन्देलखण्ड ५०३
बुलबुल ३६३,३६८,३६९
बूढ़ा आता ९
बेंगलूर २९०
बेंटपुर २०१
बेटेगरी कृष्ण शर्मा २८९,३०८
बेणुगोपाल विट्ठल ३४०
बेदम वारसी २४४,२७०

बेनुपड़ा १०२
बेरोजी ५३९
बेलगाँव ३२७
बेलगोल २८८
बेला ५३६
बेलूर २९४,२९९,३०१,३३९,३४०,३४१
बेलूर केशवदास ३२६
ब्रेहेंदेव ३७५,५४७
बैंकुण्ठदास २९४,५४१
बैंकुण्ठनाथ १७१
बैंकुण्ठनाथ ब्रह्मचारी १७१
वैखानस महाराज १८५
बैंजू बावरा ९३,५४१
बोडाणा भक्त ३८५,४८७,५४२,६२६
बोडाणा द्वारकेश ३८२
बोनजीवा ४७८
बोपदेव ५५४
ब्रजनाथ बड़जेना १७२
ब्रजबुली या ब्रजावली १४
ब्रजराजसिंह देव १७४
ब्रज बिहार श्रीचंदन १७४
ब्रजमोहन २१९
ब्रजांगी देवी २८
ब्रजेन्द्र कुँवर २२०
ब्रजबन्धुदास २२१
ब्रह्मदेश ४८८
ब्रह्मपुर २०१
ब्रह्मा ३५,७२,२८७
ब्रह्मानंद मूर्धन्य ३७६
ब्रह्मा-मोहन ४६
ब्रह्मानंदस्वामी १३१,३९५,३९८,४७९,४८२,५४३,५३७
ब्राह्मणवादो ३८१
भक्तगोपाल ५४८
भक्तचरण ९२
भक्तचरणदास १२५,१७५,२२१
भक्त-बावरी १६८
भगतपुर २१३
भगवती देवी १७७
भगवान चन्द्रदेव ४२
भगवानदास ३७५
भगवानदास कायस्थ ५४८
भगवानदास गोस्वामी १७९
भगवानदास बाबा जी १७९
भगवान् देव ४२
भगवानदास द्विवेदी ३८१
भगवान् बुद्धदेव ७८
भगवान वैष्णव ५४९
भगीपुर १४८
भगीरथ ३०८
भजिवोरे ३७०
भट्ट २१७
भट्ट अवतार ३५९,३६७,३७१
भट्टकलंक ३३०
भट्टजी ३८४
भट्टदेव २३,२९
भट्टाचार्य ६८,५४९
भटिमा ६४
भटिया ४६
भड़ौच ३८१,३८२
भद्रक २०६
भद्रख १३४
भद्रचारु ३९,४२
भरत आता ७०
भरतपुर २७८
भरुच ४०९,५८०,६४६
भल-पिला १४०
भवप्रसाद चालिहा प्रो० ३
भवानन्द ३५,२०१
भवानन्द पटनायक २०१
भवानीदास ६०८
भवानोपुर २८
भवानीपुरिया ३९

भवानीशंकर ४०७
भवानी शंकर नरसिंह राव ५६८
भाईला कोठारी ३८४,४३७,६४४
भाऊ ५४८ ५५०
भाकरशाह ५९०
भागण्ण ३०६
भागण्णा २९५
भागवत भट्टाचार्य १७,२०,२९
भागवत मिश्र १४,४३
भागवत शेष धर्म मत्तु ३०९
भागवताचार्य १७
भागवतकार जगन्नाथ १३२
भाग्यनिधि विट्ठल २९६,३२७
भागीरथी रणा १८०
भाटपड़ा २०९
भाणजी भाई पटेल ४१०
भाणदास ३७६
भाण साहेब ५९५
भाण्डारकर शोध-संस्थान ३६७
भाणखेतर ३८१
भादरेश ४१०
भादुरदास ५५०
भाया काग ४७७
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र २४८
भालण ३७४,३७५,४३०,४४६,५००,५५१,६२१
भालगाँव ५६९
भालेज ४८३
भावनगर २३५,४३४,४७७,५३६,६४३
भावसिह ६४३
भास्करस्वामी ३२७
भिखारीचरण पटनायक १८०
भिक्षुक सारिया २२४
भीखा ५५४
भीम ३७४
भीम (प्रथम) ५५४
भीम (द्वितीय) ५५६
भीमदास २१२
भीमप्पा ३२८
भीमरथी २९०,३१२
भीमशंकर ३८१
भीमसेन दास १८०
भीमसेन हज़ूरी १२६
भीमा श्रीवर १८१
भुइयां ६१
भुज (सौराष्ट्र) ४०७,५०३
भुवनेश्वर ७३,१६७,२०९,२१५,२१८
भुनेश्वर महादेव ६३७
भुवनेन्द्रतीर्थ ३२९
भुवनेश्वरी ७०
भूधरलाल जोशी ५५७
भूपति पडित ९०,१८१
भूमानन्द स्वामी ५५७
भूमिश कवि ३५५
भूवर २९४,३३४
भूषण द्विज ४३
भूषनभगत ५५८
भृगु २९५
भृगुकच्छ ३८१
भृगु महर्षि ३३७
भेटाली ४६२
भेराग्राम २३
भेलाडोवार ३९
भैरव सिंह ६४२
भोग माधव ७६
भोजा भगत ५५९
भोपाल २६५
भोबोरादास ४४
भोवनदास ३७५
भोवन भगत ५६१
भोले भीमदेव ३७७
मगलपुर ११५
मंगला देवी ४१४
मंछाराम ५०७

मंजुकेशानन्द स्वामी ५६१
मंजुनाथ ३३५
मंजुलाल मजुमदार ६०३
मसूर हल्लाज्ञ २४८
मकबरा बाग २७२
मक़सूद २७०,२७१
मगध १४
मट्टन ३६२,३६९
मणिकर १११
मणिकूट ३३
मणिदास १८२
मणिनाडा १७१
मत्तू मेहता ४७८
मथुरा ६२,९६ १३१.२११,२४२,२४६,२६६,२८४,३६९,
    ३७३
मथुरादास ९,२५,३२
मथुरादास बूढ़ा आता ४४
मथुरालीला ४३१,४३३
मथुरा-वृन्दावन ३८५
मदनपाल ३५७
मदनमोहन महांती १२९
मदनमोहन हवेली ४०३
मदनलाल ३६८
मदन सुन्दरी २०९
मदार सिंह ६१४
मदुरा १७८
मद्रास १७८
मर्दराजराय सिंह १८३
मधाई आतै ४४
मधुदास १८३
मधुपुर १७,२१८,२१९
मधुपुरी २४२
मधुपुर सत्र २५,७२
मधुसूदन ३११
मधुसूदन दास १८३
मध्वदास ३५५
मध्वपति २९३
मध्वाचार्य २५,२९०,२९१,२९३,३१५,३३५,३५१
मनियरी ५०
मनीकूट २,११
मन्ना डे ३९९
मनुभाई त्रिवेदी ५६२
मनोरमा ४४
मयण ५६३
मयूरभंज ९४,१३३,१५२,१९२
मयूरध्वज मजूमद र ५१
मरह १२१
मलीपाड़ा १८०,२१२
मल्लरस ३५५
मल्लाब्बा ३११
मल्हारराव ५११
मल्लिकार्जुन ३३०
मलेवेन्नूर ३५३
मसहफ़ी २५६
मस्कत ५२२
महंत गोपालदास ५६४
महमूद गज़नवी २३७
महर्षि व्यास ३०४
महाकृष्ण ५२
महात्मा गाँधी ६५,१००,६३५
महादेव दास १५६,१८४
महानदी २१९
महानन्द ३६२
महापुरुषिया धर्म ५
महापुरुषिया सम्प्रदाय ३,५,६
महाराष्ट्र ५८९
महालक्ष्मी ४६८
महावदास ५६४
महोदास ५४७
महीपतिदास २९६
महीपतिराय ३२७

महेन्द्र १२९
महेराज ५६४
महेशचन्द्र चूड़ामणि १७८
महेन्द्रभारती ५७
महेन्द्रसिंह सामन्त १८४
महेमदाबाद ६०९
महेरामणजी ४४१
महेश्वर नियोग डॉ० ९,१३,३५,४३
महेश्वर राय गोस्वामी १८५
महेसाणा ४०१,४०२
माँ अंबा ४०४
मांगरोल ३७४, ४०१,४०२,४११,५१३,६२१
मांडवराय ३७९
मांडण ३७४
माजुली ११,३८,५८
माटौकुची २५
माण्डण महेडु ६१०
माणावदर ५६१
माणिकदास ५६७
मातरगाँव ४३३
मादिहल्लि ३४२
माधव ७,३५५,५६७
माध्रव जू दर ३६०
माधवदास १०२,३८१,५६७,५६८
माधवदेव ४,६ ८,९,१०,१४,१५,१९,२१,२५,३२,४४,५२,
 ५९,६३
माधवपुर ३८२
माधवप्रिया ५७
माधव महाराज १८५
माधव मिश्र ११८
माधव राज ७६
माधवराय ३७४,३७५,६४३
माधवानन्द १४९
माधवानंद दास २२७
माधवीदासी १८६
मानकुंवर छोटी ५७९
मानकुंवर बड़ी ५७९
मानगोविन्द ओता १८७
मानजुवअतार ३६७
मानमधुरेदास ३५५
मानबाई ६०६
मानवी २९५,३११,३१२
मानसिंह ५५०
मानेरि ७०
मायाङ १८
मायापुरी १७८
मायामरा ३६,७१
मालवा ३७७,६४२
मार्कण्डेय १३०
मार्कण्डेय ऋषि ३८१
मार्कण्डेयदास १८७
मिर्जा कालित २५६
मिश्रदेव ३२,४७
मिश्रीदान ६४१
मीठा ढाढ़ी ५६८,६९
मीर २६५,२८३
मीर इस्माइल ४६४
मीर तकी २४३
मीर माशा अल्लाह खाँ २५६
मीराबाई ३७४,४४५,४५७,५४६,५९०,१६,६१७,
 ६२८
मीर हसन २४३
मीरी ७
मुंडिया स्वामी ५७१
मुकुन्द ५७२
मुकुन्द देव ५३,८५,९६,१५३,१८८,१०४
मुकुन्द द्विज ५७
मुकुन्ददेव गजपति ११७
मुकुन्ददेव 'द्वितीय' १४
मुकुन्द-भक्त-कवि ३५५
मुकुन्दराम शास्त्री ३७०

मुक्तादेई १७५
मुक्तादेवी १२५,१२६
मुक्तानंद ६३१
मुक्तानंद स्वामी ३९५,३९७ ३९९,५७२,६३२
मुकुन्दस्वामी ४९९
मुजफ्फर खां २७५
मुजफ्फर नगर २५८
मुतिया ७
मुदित-माधव ८७
मुद्दुविट्ठल २९८
मुम्मडि २९९,३१४
मुम्मडि कृष्णराज ३५५
मुम्मडि कृष्णराज ओडेयर ३४७
मुम्मडि राजा ३२७
मुरलीधर ६२४
मुराद ५७६
मुरारि महांती १८६
मुरारि राय ३०६
मूलादास वैरागी ५७३
मुल्बािगिलु मठ २९१,२९२,३५१
मुल्ला दाऊद २४०
मुहम्मद २८१
मु० कुली कुतुब शाह २४०
मुहम्मदखाँ बंगश २७३
मुहम्मद चिश्ती शेख २६४
मुहम्मद ज़ाहिर २६५
मुहम्मद जैदी 'तसव्वुर' लखनवी २७२
मुहम्मद रफी सौदा २७२
मुहम्मद शफ़ी २७२
मुहम्मद शाह २३९,२४०,२५९,३२७
मुस्तफ़ा कुली खाँ यकरंग २५९
मूजाभाई ४६२
मूल गोमती ३८२
मूलराज सोलंकी ३७३
मूलीगाँव ३७९
मेघजी ५७७,५९२
मेघराज ५३९
मेघाभगत ५७७
मेघासन १२९
मेदिनीपुर १९५,२०१,२१७
मेधू ५६५
मेरामण जी जडिया ५७७
मेवाड़ ६३८
मेवाडो ६४०
मेहरथ २५९
मैथिली १४
मैनपुरी २७६
मैसूर २९९,३०९,३१०,३१२,३१४,३२७,३४६,३४८
मोटो सुदामो ४२७
मोतीराम ५७९
मोतीराम कडुजी ५७८
मोतीराम भगत ५८०
मोतीलाल ४०७
मोदलकल्लु ३४०
मोरध्वज ३८२
मोरवी ३८२,४३१,४८२
मोरार जी ४२१
मोरार साहेब ५३९,५८१,६०७
मोलडा ५७७
मोसरकुल्लु २९५,३०६
मोहनदास २२१,२९६,३२८,३३७,५८२
मोहनराय १७९
मोहन विट्ठल ३२८
मोहम्मद गेसू दराज़ २३७
मोहसिन काकोरवी २७५
मोहान २५०,२६६
यकरंग २५९
यतिराज २९२,३४५
यतीन्द्र रघूत्तमतीर्थ ८१,८२
यतीश्वर वागीश २९४
यदुगिरि नारायण ३०९
यदुदेव द्विज ५७

यदुमणिदेव २१,३२,४७
यदुमणि महापात्र ९२,१८८
यमुना २१५,६३८
यमुनाबाई ४०७
यराद ५८१
यशकरण जी अचलदान जी 'रत्नु' ५७३
यशचन्द्र खाँ २१
यशोदा ३५३,६२३
यशोदीसि ३३१
यशोवन्त ९०,१३०
यशोवन्तदास ९६,१८९,१९०
याकूब खाँ ५८३
यादव राय ५८
युगल किशोर ५८४
युर्धिष्ठिर १८,२१
योगण्णा ३२६
योगनन्दा १२५
योगानंदार्यवर्य ३५५
योगीन्द्र ज० त्रिपाठी डा० ४५६,६१७
योगीन्द्रराय ३२६
रंगप्पा ३०६
रंगविट्ठल २९२
रंगाचार्य ३१०,३५५
रंगीलाल महाराज ४३३
रंगीले २४०
रंभादेवी १७४
रगरोड़ा ६४१
रघु १९१
रघुअरक्षित १९१
रघुत्तम तीर्थ ७४
रघुदेव १९
रघुनन्दन पंडित ६८
रघुनाथ ३७५
रघुनाथ (प्रथम) ५८४
रघुनाथ (द्वितीय) ५८४
रघुनाथ (तृतीय) ५८४
रघुनाथ गोपाल २०३
रघुनाथ दास ५८४
रघुनाथ परिछा १९३
रघुनाथ भंज १९२
रघुनाथ मिश्र ४३
रघुनाथ राजगुरु महापात्र १९४
रघुनाथ हरिचन्दन ८६,१९८,२११
रघुबरदास २२१
रघु बेहेरा १९३
रघुराम ५८५
रघुराम राजा ९६,१९०
रज्जब अलीवेग 'सुरूर' २७२
रणछोड़ ३७६,३८५,५९८
रणछोड़ (प्रथम) ५८६
रणछोड़ गोस्वामी ६२७
रणछोड़ जी ३७४,३८१,६४४
रणछोड़ जोशी ४७०
रणछोड़दास ५८८
रणछोड़ भाई ४६८
रणछोड़राय ६२०,६२८
रणपुर ९६,१२३,२१३
रणमली २०
रणयज्ञ ४८६
रतन जी ५८८
रतनदास 'रत्न' ५८९
रतनदास मगनीराम ५९०
रतनपुर २०
रतनबाई ५८९
रतनबाई सोनारिन ४६८
रतनसिंह ६४२
रतनसिंह नटनागर ६४२
रत्नपाठक १७
रत्नाकर १५७
रत्नेश्वर (पुष्टिमार्गीय) ५८८
रत्नो ५८८
रत्नो भावसार ५९३

रत्नाकर कन्दली ४८
रत्नाकर चड्नी डा० ९७
रत्नाकर मिश्र १४
रत्नावली ११८
रत्नेश्वर ३२,५२९
रतिकान्त २१,४८
रतलाम ६४२
रतिकान्त द्विज ४७
रथांगपाणि २१४
रदेराम ४२९
रन्तिदेव गोस्वामी ५९
रन्न ३५६
रमणीक श्रीपतिराय ४५५
रमाकान्त ५१
रमाकान्त आता २९,४८
रमाकान्त द्विज ५०,५७
रमानन्द द्विज ५०
रलियात बाई ५७९
रविदास ५९५,६२६
रविदेव ३
रविसाहब ५६९,५८१,५९५,६१२
रसखान ९३,२४०,२८४,६०२
रसानन्द १९४,६२४
रसिक-वल्लभ ४६९,४७०
रसिक मुरारि १९५;२१८
रसिकराय २१९
रसिकानन्द १२४,१६३,१९५,२१८
राजकवि पिंगलशी पाताभाई नरेला ५९६
राजकवि पुरुषोत्तम ७७
राजकुंवर करण ४११
राजकोट ४२०,५७७,६०७
राघव जी ४९९
राघवेन्द्र स्वामी ३००,३१२,३२९
राजकोट ४८२
राजनगर ६४४
राजमहल सिंह ५२०
राजमहेन्द्री ७९,१७८,२०१
राजसीतापुर ५६८
राजसी मोड ६०५
राजस्थान १७०,२६५,३७३,३७४,४१०,५२२,६४१,६४२
राजहरिचन्दन दीनबन्धु १९६
राजाचार्य २९९
राजानक ३५८
राजा नारायण १४६
राजा मानसिंह ५४१
राजाराम ५९८
राजे ५९८
राणकदेवी ४०१
राणाघाट १७८
राणा व्यास ३८१,३८२
राणीबाई ६०७
राणीवेन्नूर ३५३
राणेसर ६०५
राधनपुर ४०२,६१४
राधा २२,४०,४१,८१,९२,२१५,२१६,२९६,३५९,३८६
राधाकिशोर माणिक्य बहादुर १७८
राधाकृष्ण ८८,९०,२४१
राधाचरण दास १२३
राधा दामोदर १६३,३७३
राधा देवी १६९
राधानाथ १५४
राधाप्रिया देवी १९८
राधाबाई ५७२,६०३
राधिका मणिदेवी १९९
राम २१०,२२३,३०८,६०३
राम आता ४४,५५
रामकृष्ण ३७५,६०४
रामकृष्ण पटनायक १९९
रामगोपाल ३९,५१
रामचन्द्र १९९,३९५
रामचन्द्र दास २००
रामचन्द्र आता ५१,५५
रामचन्द्र देव (प्रथम) २००

रामचन्द्र देव (द्वितीय) २००
रामचन्द्र मोड ६०५
रामचन्द्र शुक्ल ३९८
रामचन्द्र सिंह देव १७९
रामचरण ठाकुर ३४
रामचरण हरिहर ५२९
रामदत्त ३६
रामदास ५२,११६,१४८;२०१,६०५
रामदास बाबाजी १६७
रामदास सुत ६०६
रामदेव ७,३५
रामदेव गोस्वामी ५२
रामदेव सन्त ५०
रामनाथ ३९
रामप्रताप ४०५
रामबाई ६०६
रामभट्ट २९४,३३४
राममोहन राय ६३५
रामराय २०,२३
रामाराय द्विज ५२
रामलाल चू० मोदी ४३०
रामशंकर ६०८
रामशेण ४१६
राम सरस्वती १४,२१,२२,२८,५३
रामसिंग ६०७
रामानन्द २५,६२,२०१,३३७,३८१,५१७,५७३,६३१
रामानन्द देव ३९
रामानन्द पट्टनायक ८०
रामानुज सम्प्रदाय ४०१
रामानुजाचार्य ४,२९०,३००,३८८
रामेश्वर ९६
रामेश्वरम् ६२,४६८
रायचूर ११५,२९५,३०६,३११,३२९,३४३
रायबरेली २६५
राय बेलूरु शठ गोपालदास ३५६
रायरामानन्द ७९,१५४, २०१
रॉयल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल ३७२
राव कल्याणमल ६३८
रासबाड़ी मठ २००
राष्ट्रकूट २९८
रहीम ६०२
राहत अली ६०८
राउलकान्ह ३७५
रिडमल जी ४५५
रुक्मिणीबाई ४४२
रुद्रकंदलि ३
रुद्रभट्ट २८७,२८८,३३०,३३१
रुस्तमखान ६११
रूपभवानी ३६०
रूपसीदेवी १६७
रूप गोस्वामी २१३
रूपाल ३७५,४३७
रेखादेवो १८९
रेढ़ाखोल १३४
रेमुणा १२१,१६३,१७८,१९५,२१८
रेवेंसा ११५
रैणावारी ३६७
रौटा ४४
लक्ष्मकवि ३५६
लक्ष्मक्का ३१२
लक्ष्मण ६०९
लक्ष्मण जू बुलबुल नागामी ३५९,३६३,३६८
लक्ष्मण नारायण राजा २
लक्ष्मण मिश्र १०६
लक्ष्मण रैणा ३६८
लक्ष्मी २१५ १७३,४८६
लक्ष्मी आइ २१
लक्ष्मीकान्त महापात्र २०३
लक्ष्मीदास ६०९
लक्ष्मोदेव ५५
लक्ष्मीनाथ देव ३७
लक्ष्मीनारायण ३४,२८९,२९१,३१२,३३२,१५०,३५१

लक्ष्मीनारायण देव ११२
लक्ष्मीप्रिया ठाकुराणी २०३
लक्ष्मीबाई १२६,४६१
लक्ष्मीराम ५७९
लक्ष्मीराम देव ३७
लक्ष्मीशंकर ४६८
लक्ष्मीश २८९,३३२
लखनऊ २४४,२४५,२६१,२६९,२७०,२७२,२७७,२७८
लखा ३५
लखाणी बारहट्ठ ४९७
लखीमपुर २५,४४
लघुपीताम्बर ३७५
लचाकणीया गोविन्द आर्त ५६
लछमनदास २०१
लछीराम ३६३
लडुकेश्वर महादेव २१८
लतीफ़ हुसेन नटवर २७७
ललिता जी ९३,३७८
ललितादित्य ३५७,३५८
लल्लूभाई ४०२,४६८
लल्लू महाराज ६१०
लव-कुश २९०
लांगीदास महेड्डु ६१०
लाजुबाई ४५६
लाडू ५४५
लाडू बारोट ५४३
लाभशंकर ६०८
लार्ड कर्जन १७०
लालजी ५०८,६१३
लालदास ४९९,५२४,६११
लालदास लुणावड़ा ६१७
लालनशाह ६१२
लालेबग २२५
लाल-भट्ट ६१०
लालसखी ६१०
लाल साहेब ६१२
लाला भक्त ६१३
लालाराम ६१४
लालू मंगराज १६७
लाहौर २३७,२५१
लिंगराज ९४
लिंगसूगुरु ३२६
लिमडी ५८४
लीलाछा ६३७
लीलाबाई ४७८
लेम्बाल ९६
लेहंग १२३
लोकनाथ दास २०४
लोकनाथ पटनायक २०५
लोकमाधव ७६
लोकनाथ विद्याधर १४४,१०४
वंशी गोपाल ४०,४१
वंशी गोपाल देव १४,४७,५०,५६,५७
वंशीदास १७८
वंशीधर १६७,४८९
वंशीधर महांती डा० १५५
वंशीवल्लभ गोस्वामी २०६
वक्रासुर ९१
वर्जेसिंह (विजय सिंह) ५४२
वणारसी बाई ५०६
बड़ोदरा ४१६
वत्सराज ६१४
वत्सासुर ९१
वनमाली जगद्देव ८७
वनमालीदास ९२,९३,२०६,२११
वनमालीदास 'शिष्य' २०९
वनमाली देव ५०,५७
वनमाली सिंह ८३
वभ्रुवाहन २९०
वरदगोपाल विठ्ठल ३३४
वरदप्प नायक ३२०
वरदप्पा २९३

वरदराज ३१०
वरद विठ्ठल दास ३५६
वरदेन्द्र ३५६
वरदेन्द्र तीर्थ ३१२
वरदेन्द्र पंचक ३१२
वरपेटा ११
वराह तिम्मप्प ३५६
वल्लभ चन्द्रदेव ३७,५८
वल्लभ घोला ६१५
वल्लभ पुर १९५
वल्लभ भट्ट ६१५
वल्लभ भाट ६१४
वल्लभ मेवाडो ६१५
वल्लभाचार्य २३७,३७९,३८२,४३०,५०२,६२४,६४६
वल्लभानन्द स्वामी १२२
वल्लभ फाँकडो ६१४
वल्लव ६१६
वली मोहम्मद २७८
वल्लूर ३४४
वसंतसिंह 'निशात' २५६
वसावड ६३९
वस्तो डोडियो ६१६
वस्तो विश्वंभर ६१६,६१७
वहाब २८१
वागीश 'स्वामी' ३३४
वाजिन्द २८१
वाणीनाथ २०१
वाणेश्वर द्विज और दिवाकर द्विज ५९
वादिराज २९४,३००,३३४,३४१
वारकरी सम्प्रदाय ४९१
वाराणसी २५,६८,२७२,४९८
वारिस अली शाह २७०
वालिया २१९
वाली कूची २०
वालो आचार्य ३८१
वाल्मीकि १३०
वासणदास ३७५,६१८
वासराम ३६२
वासुदेव ३४,२३५
वासुदेव गोस्वामी ६०
वासुदेव तीर्थ १०३
वासुदेव थान ५१
वासुदेव 'राज पण्डित' २०१
वासुदेव विट्ठल ३४४
वासुदेवार्य ३१४
विंझात ६२०
विकाजी ५००
विक्रमदेव वर्मा २०९
विक्रमादित्य ६२०
विजयदास २९१,२९०,२९५,३०६,३११,३२०,३२४,३२८
    ३३६,३४५
विजय नगर १५१,१५९,२९२,२९५,३०४,३२९,३३४
विजय विट्ठल २९५,३३७
विजय राय ३५६
विट्ठलदास ३५६
विट्ठल-देवालय ३१८
विट्ठलनाथ गुसांई ३७९,३८३,४१५,४३८,५५६,६२४,३७५
    ४३७,६०६
विट्ठलनाथ घोल ५५७
विट्ठल भगवान ३११
विट्ठलेश ३८४
विद्याधर १४०,५५४
विद्यानन्द ३३०
विद्यानन्द द्विज ओझा ३९
विद्यानाथ २८९,३०८
विद्यापति १४
विनायकदास १२०
विभीषण २१०
विभुदेव गोस्वामी ६०
विमलादेवी १७७
विमलानंद ३५६
विमला प्रसाद १७७

विलियम्स ६३५
विशाल नगर ३८१
विश्वनाथ २१०,४८६
विश्वनाथ खुण्टिया २१०
विश्वनाथ चक्रवर्ती १३५,१६३
विश्वनाथ जानी ४९१,६२१,६२९
विश्वनाथ देव १९८
विश्वम्भर राजेन्द्र ११२
विश्वनाथपुर १७१
विश्वश्याम २५
विश्वंम्भर राजेन्द्र देव २१०
विश्वावसु १४
विश्वेश्वर चक्रवर्ती ६८
विसनगर २४९
विसावाड़ा ६२०
विष्णु ३४,७४,२८७,३३०,३३७,३६३
विष्णु आता ९
विष्णुदास ८६,२११,४०६,४२५,६१७,६२३
विष्णुपुर सत्र ३१
विष्णुदेव गोस्वामी ३९,५९
विष्णुवर्धन ३४१
वीरकेशरी देव १०६,२०१,२०६,२१७,२१९
वीरजी ५२९,६२३
वीरनारायण २८८,३०४
वीरबल्लाल २८८
वीरबाई ६१३
वीरभद्र ९८
वीरम ६४७
वीरमगाम ४०७
वीरमदेव राव ६३८
वीरम भगत ५८१
वीरवर भंज १०५
वीरसिंह ४५२,६२४
वीरेश्वर ६२५
वृन्दावती १८०,११२
वृन्दावती दासी २१२
वृन्दावन ६२,९६,११४,१५२,१६३,१६७,१७९,१८५,३१५,
    २१७,२१८,२२१,३२५,३६९,३९५
वृन्दावनचन्द्रदेव ६०
वृन्दावनदास १ २,२१२
वृन्दावन भट्ट ६२८
वृन्दावनी ९०
वेंकट ३५६
वेंकट कवि ३५६
वेंकटकृष्ण ३०६
वेंकटकृष्णय्या ३१९
वेंकटदास ३४८
वेंकटदास (प्रथम) ३५६
वेंकटदास (द्वितीय) ३५६
वेंकट नरसिंहाचार्य ३४३
वेंकटप्पा ३२४,३४८
वेंकटभट्ट ३२९
वेंकटरमण ३०२
वेंकटरमणदास ३३८
वेंकटरामाचार्य ३४३
वेंकट लक्षम्मा ३५६
वेंकट वरदाचार्य ३५६
वेंकटविट्ठल ३३९
वेंकट शौरि ३५६
वेंकट सुब्बदास ३२६,३३९
वेंकटार्य शिष्य ३५६
वेंकटेशदास ३३९
वेंकटेशविट्ठल ३३९
वेंकप्पाचार्य ३३९
वेंकमार्य ३५६
वेंकम्मा ३०६,३१४
वेण्टकार १८६
वेगणपुर ६२५
वेणुगोपाल ३३०
वेणुगोपालदास ३५६

वेणुगोपाल विट्ठल
वेणुधर २१३,३४४
वेणुधर वैण्णवचरण दास २१३
वेदमणि शर्मा पं० ४४०
वेलापुरी ३४१
वैकुण्ठदास २९९ ३४०,३४१,६२४
वैकुण्ठ नाथ कविरत्न ५७
वैकुण्ठ नाथ भट्टाचार्य ५३
वैकुण्ठ नाथ भागवत भट्टाचार्य २३
वैकुंठनाथ भागवत २९
वैकुंठपुर २३
वैकुण्ठपुर सत्र ३४ ५७,६६
वैकुण्ठराम ४०८
वैरागीचरण पटनायक १७५
वैश्यहरि २१४
वैष्णव चरण १२०
वैष्णवचरणदास १२५ २१३
वैष्णवपाणि २१४
व्यास ७२,३८१
व्यासकाशी ३३७
व्यासतीर्थ २९४ ३००,४४१,३४५
व्यासतत्त्वज्ञ २९६ ३४३
व्यासदेव २४ २३०
व्यासराज मठ २९२,३४६
व्यासराय २९१,३०१ ३२०,३४५,३४५
व्यासविट्ठल २९६,३४४
व्रजरंजन देव ४१ ६०
व्रजराय जी ४३८
शंकर ३३७,३३८,३५७,३६७,३८१,३८८
शंकर 'जनसेवक' ६२४
शंकरदान ६४१
शंकरदेव ६,१०,१३,२१,३५,५९,६०
शंकरनाथ राजदान ३७०
शंकर लाल शास्त्री ४३२
शंकर-सम्प्रदाय ४
शंकराचार्य २२९,२९०,३१७,३७८
शंखनाभि २३५
शकील बदायूँनी २८२
शचीदेवी ११७
शतञ्जीव मिश्र ८७
शत्रुघ्न त्रिपाठी १७०
शत्रुभंज राजा ७६
शम्स वली उल्ला 'वली' २४३,२८२
शरणदास २१५
शरत् चन्द्र गोस्वामी ४३
शाद अज़ीमाबादी २८३
शान्तकवि बालाचारी सबकरी ३५६
शान्तिदास ६२५
शामबाई ४५६
शामल ६१४
शामल भट्ट ६२५
शामलशा ४९०
शारदा ४३६
शाह आलम २४४,२५६,२६८,२७३
शाह काज़िम अली २६१
शाह गुलशन २४३
शाहजहाँ २६४
शाहनुंग ३२७
शाहनुंगी ३२७
शाह हातिम २६२
शाह हुसेन मुहम्मद २७६
शिमलिया ६१७
शियालबेट ६२९
शिखी महांती १८६
शिवदास ४२५,६२६
शिव प्रसाद दास ११३
शिव भट्ट १५२
शिवराम दाधीच ६४२
शिवसिंह ४४४
शिवसिंह 'राजा' ५१

शिवा ६९
शिशु अनंतदास २१५
शिवपुरी २६७
शिशु शंकर दास २१६
शिशु-सम्प्रदाय २१५,२३०
शीनप्पा ३०५
शुकदेव ७२,२४५,३८८
शुजाउद्दौला २६९,२७३
शुभदेव गोस्वामी ६०
शेख आशिक़ हुसेन २५३
शेखपाट ५ ८
शेख निजामुद्दीन औलिया २३९
शेघजी ६२७
शेरगंज २७२
शेषगिरि ३५०,३५१
शेषगिरि आचार्य २९१
शेषदास ३४०
शेषशायी रंगनाथ २९२
शैलार्य ३५६
शैवालिनी १८५
शोभादेवी २०५
शोणितपुर ५७
शोभा मां ३७५,६२७
श्याम किशोर १९६,२१६
श्याम किशोर हरिचन्दन २१७
श्यामचन्द्र हरिचन्दन २१७
श्यामलाल जी का मन्दिर ३८५
श्याम सुन्दर २५
श्याम सुन्दर देव २१७
श्यामसुन्दर सप्रू ३६०
श्यामानन्द १९५,२१७,२१८
श्रीकृष्ण खड्गराय ८८
श्रीकृष्ण दास २२१
श्रीकृष्ण पंडित ३६२
श्रीकृष्ण मिश्र ५५,६६
श्रीकृष्ण राज दान ३५९,३७०
श्रीचरण खंभालिया ३८१
श्रीधर २३०
श्रीधर कंदली ६७
श्रीधर शर्मा ७९
श्रीधर स्वामी ६०,२२९
श्रीनगर ३५८,३६०,३६७,३६८,३७१
श्रीनाथ जी ३७३,३७५,३७८,३८३,४०५,६१५
श्रीनारायण ६२७
श्रीनिवास ३१२,३२४
श्रीनिवास-कल्याण ३५५
श्रीनिवासदास २९६,३३८,३४८
श्रीनिवास नायक २९२,३२०
श्रीनिवासप्पा ३३६
श्रीनिवास राजमणि २३०
श्रीनिवासाचार २९५
श्रीनिवासाचार्य ३०१,३०६
श्रीपतिदास ३४९,३५६
श्रीपति विट्ठल ३४९
श्रीपादराय २९१,२९२,३४५,३५०,३५१
श्रीरंग १७८,२२६,२९२,३४२,४०२,५४५
श्रीरंगदास ५४३
श्रीवर ३५७,४०३
श्रीशदास २९९
श्रीश प्राणेश विठ्ठल ३५६
संतग्राम ५०
संचाणा ४११
संभलपुर १६९,१६०
सआदत अली खाँ २४४,२५६
सइमरा ४०
सकरपुर ६१७
सखा महाराज ६२८
सर्गदेव ४७
सर्गदेव चुराम्फा मगाराजा ३७
सागलशा ६२९
सचल जगन्नाथ नीलाचले २१२
सच्चिदानन्द मठ २३३

सच्चिदानन्द मिश्र १०७
सतानन्द ३२
सतानन्द वर भक्त ५२
सतीदेवी २०३
सत्यवादी नायक २१८
सत्यानन्दा १०१
सत्राधिकार १०
सत्रायन वैष्णव धर्म १०
सत्येन्द्रनाथ शर्मा डा० २,५५
सदानन्द १४६
सदानन्द कविसूर्य ब्रह्मा ९८,२१८
सदानन्द ब्रह्मचारी १२३
सदानन्द योगी २८९ ३०८
सदाशिव आता २१८
सदाशिवराय २९९
सदिया २
सदिया सत्र ३२
सनद २८३
सनातन गोस्वामी ९५
सनातनजी कानूनगो ११३
सनातन दास २२१
सनातन देव ३९,६८
सन्तोष माधव ७६
सबा मधुरावी २८४
समढ़ी आला ४०९
समरकंद २५५
समरयार खाँ सागर निजामी २७३
समलाई देवी १७०
सर इकबाल २४३
सरकणा ७४
सरगुरु रामानुजाचार्य ३५६
सरण २
सरताना जी ४६२
सरयू ६३१
सरलादास ८९
सरस्वती २३,३६२,३६३
सरस्वती बाई २९३,३२१
सवणूरु ३२७
सर्वानन्द ३६१
सहजराम ३६३
सहजानंद स्वामी, स्वामि नारायण ३७५,३७६,३८४,३९३,
४०५,५०३,५३२,५४३,६३१,६३१,६३२,६३५
सहजिया-सम्प्रदाय ९३
सांगा ४११
सांदीपनि ऋषि ६४०
सांयाजी झुला ६३७
साक्षी गोपाल ७४
साग़र निजामी २४६
सागर महाराज ६११
साठोदरा नागर ४०६
साणद ६११
सात लहड़ी मठ २२७
साधुचरण २१८
साधुचरण महांती १८०
साध्वी मठ २९५
सानपदर १२५,२२१
साबरकांठा ६३७
साबरमती ४०१
सामन्त-सिंहार अभिमन्यु ९१
सायल देहलवी २५१
सारंग पाणि ४२
सारलादास १११,१६५,२२१,२२२
सारलादेवी २२१
सारिपुत्र ८९
सारस्वत चतुष्पाठी १७८
सारियाभिक २२४
सार्वभौम भट्टाचार्य ६८
सालव ३५६
सालेपुर २३३
सालबेग ९३,२२५
सालुव नरसिंह २९१,३४६
सार्वभौम भट्टाचार्य ६८

साहिब कौल ३५९ ३७१,३७२
सिंगरार्य ३५६
सिंघ ३८१ ६४१
सिंहाचल १७८
सिकन्दर बुतशिकन ३५८
सिद्धपुर ३८० ३८१,३८२,४१०
सिद्धराज जयसिंह ३७७
सिद्ध हरिदास २२७
सिद्धेश्वर २२१
सिन्धावदर ६१३
सियालकोट २५९
सिरि जयविट्ठल ३४९
सिरि वेंकटविट्ठल ३४८
सिरोही ४१६
सिहोर ४४१ ६४३
सीताकुण्ड १७८
सीतापुर २६९
सीताबा ५०६
सीतामऊ ६४२
सीमाद्रि पटनायक २२७
सीमाब अकबराबादी २४४ २४६,२४७,२५३,२६३,२७३,
    ५८४
सीर ३६२
सीवहारा २५१
सुन्दर ५२९
सुंदरगुणी ३८०
सुन्दरदास ६३९
सुन्दर मेवाडो ६३९
सुन्दरसिंह ४४४
सुन्दरीदिया १७
सुआर ७३
सुकुमार भारती ३५६
सुजया ६४०
सुदर्शन ७४ १०२
सुदर्शन आचार्य डा० १५३
सुदर्शन पाणि २१४
सुदर्शन सरोवर ३७३
सुदामा २७८ ६४०
सुदामापुरी ३७३ ३८१,६४०
सुनाखला १७५ २२१
सुनीति कुमार चटर्जी डा० १४
सुन्दर राजदान ३६८
सुब्बण्णाचार्य ३४५
सुभद्रा ४२ ७४,१४०,१७१
सुमति ४०२
सुमतींद्रतीर्थ स्वामी ३५३
सुरेन्द्र नगर ४५९ ६१०
सुलक्षणा देवी ४४०
सुलक्षणापटनायक २२८
सुलेमान अली खाँ'बेदाद' २७२
सुलेमान शिकवा २५६
सुवर्णरेखा १९५ २१८
सुशीला ३२
सुहागण बाई ६३८
सूपा गाँव ५३५
सूर्यपुरी ५०४
सूर्यमल्ल जी मिसण ६४२
सूर्यवती ६१
सूरत ३७५ ३८२,३८५,५१२,६१०,६३१,६४७
सूरदास २८४ ३६१,३७९,३९३
सूरभट्ट ६४१
सूरसिंह जी ४९७
सेवाराम ४८०
सैयद अब्दुल अली २६५
सैयद अस्लहुद्दीन (हकीम) २७३
सैयदुल्लाह गुलशन २८२
सैयद मुहम्मद हुसैन २५०
सैयद हैदरशाह फकीर २४९
सैलाना ६४२
सोडवदरी ४७७
सोनबाई ६१०
सोनरेखा ३७३

सोमनाथ ३४५ ३५६,३८१
सोमनाथ मर्दराज २२८
सोमनाथ महापात्र १६४
सोमनाथ सिंह (जगदेव) २२८
सोमयाजी १५८
सोमराज ४३७
सोमशर्मा ६४०
सोरों १५६
सोसले ३४६
सौराष्ट्र ३७४ ३७५,३७७,४१७ ४२८,४३६,४५६,५०८
    ५१३,६१३,६२०,६२९,६३२,६३४,६४०,६४२
सौभाग्य सूरि ३८०
स्वर्णवर्णतीर्थस्वामी ३५१
स्वरूपदास ६४१
स्वामिनारायण सम्प्रदाय ३८७ ६३१,६३४,६३५
स्वामिशास्त्री २९१
हकीम कुदरतुल्ला 'कासिम' २७१
हकीम माशा अल्लाह खाँ २५५
हज़रत मूसा २४५
हजारीबाग २२८
हडाला ४०३
ह० ध्रुव ४५२
हनुमान् २९७,३०६,३४६
हनुमान् राय गुरु २३१
हफ़ीज़ जालंधरी 'असर' २५१
हमला ४८०
हयग्रीव २९५,३३५
हयग्रीव ब्रह्मचारी १८५
हयग्रीव-माधव २
हयवदनदास ३५६
हरकोर ६१४
हरख जी मेहता ६४३
हरचण्डीसाही १०८
हरदत्त ६९
हरपनहल्लि रामाचार्य ३५२
हरिकृष्ण राज २३२
हरिगोपाल दास जी २३३
हरिचरण १७,३१,६२
हरिचरण देव ७०
हरिजीवन ६४३
हरिदास ६४६,११७,१६४,२०३,२२७,२९०,२९८,३११
    ३४४,३४२,३५०,३५६,३७५,५४१,६२७,६४४
हरिदास (क्षत्रिय) ६४४
हरिदास जी ११४
हरिदास पण्डित ९८
हरिदास वणिक् ६४५
हरिदास 'स्वामी' ९३
हरिदेव ३,८,९,१४,१८,२९,३७,४७
हरिदेव गुरु ६९
हरिद्वार १८५,४०१
हरिनारायण द्विज ७०
हरिप्रसाद ६३१
हरिप्रिया ६१
हरिभट्ट ६१५,६४६
हरिमिश्र २३,२९,४२,४३
हरिबंधु वेवर्ता २३३
हरिबा ५४०
हरिभाई ४८६
हरिराम ६४७
हरिरामदेव ७१
हरिराय जी ४२१
हरिवंशदास २३४
हरिवंशराय २३४
हरि वैद्य २३४
हरिहर २८७,३२४,३५३
हरिहर आता ७२
हरिहरदास १३१
हरिहरेश्वर स्वामी ३२४
हरेकृष्ण मिश्र १२३
हलवद ४५९,६१०
हलीराम देव ३९
हल्मिडि शिलालेख २८७

हविनकेरे ३३४
हर्षदराय दवे ६३६
हसन निज़ामी २७३
हसरत १६६,२६८
हसरत मोहानी २४५,१४६,२६६
हाँसी २६४
हाजो १७,३२,५३,६७
हाड़ीदास २३४,२३५
हाफ़िज़ २८६
हामिदुल्ला अफ़सर मेरठी २८६
हारीपर्वत ३६०
हारिपामुख ४२
हुमायूँ ५४१
हुरासाही १८०
हुसेनाबाद २७२
हुसैन अली 'मिर्ज़ा' २४०
हेताबा ५०६
हेनरी स्ट्रीटन डा० ११९
हेबर ६३५
हेब्बार ३४१
हेमचन्द्र गोस्वामी ५२
हेमचन्द्र सूरि ३७४
हेरम्बकुमार वन्द्योपाध्याय १८५
हेलवनकट्टे गिरियम्मा २९६,३५३
हैगणपुर २९०,२९७
हैदराबाद १८५,२६५
होन्नालि ३४८
होयसल ३२४
होरु यदुमणि देव ७२
हृदय नारायण 'राजा' ४७
हृदयानन्द १८
ह्यान मस्करो ५२७

●

ग्रंथानुक्रम

राधाकृष्ण-भक्त-कोश

अंकिया नाट १२,१४
अंगदविष्टि ४२३,६१५,६२६
अंबरीष-आख्यान ६२७
अकल चरित्र ४६९
अखेगीता ४३७
अखो अने मध्यकालीन सन्त परम्परा ४५६,६१७
अजामिल उपाख्यान ४३,६४
अजामिल आख्यान ४६९
अर्जुन गीता ४१८,४८४
अर्जुन देवर चरित २०
अर्जुन-भंजन ४६
अणाकार शबद २१६
अणाकार-संहिता ९७,१४८,१५१
अर्थंतारिणी २१६
अध्यात्म-रामायण १२१
अध्यात्म साहित्य १७०
अनंतगुप्त-गीता २३५
अनन्य-चन्द्रिका ४६९
अनन्याश्रय ४६९
अनुभव-मंजरी ४६९,४७०
अनुराग-कल्पलता २१७
अन्याय-मर्दन ४६९
अपराध क्षमास्तोत्र ४६९
अभिनव गीत-गोविन्द ७६,७९,८०
अभिमन्यु आख्यान ५००,५३०,५८८
अमरकोष २००
अमरपुरी गीता ६१७
अमरु-शतक २३०
अमृतकचोलां-राधाकृष्ण क्रीडा-गीत ६०३
अमृत-गीता १०१
अमृत-सागर ३६१
अम्बरीष-आख्यान ६०६
अम्बाजीना स्तुति ४०४
अरजी-विनय ५१०
अलंकार-शेखर ७५
अवतार-चरित्र ४९८,५०३,६३९
अवतारचिंतामणि ५१०
अवतार-मालिका ९७
अवधूत-गीता ५७४
अवलवाणी ४८६
अविनाशानंद-काव्य ४०७
अश्वकर्ण-युद्ध ५४
अश्वमेघ पर्व ६४८
असरारे-खुदी २४३
अष्टपटरानी-विवाह ४६९
अष्टोत्तरशतनाम १३४
अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता ३५८
आइने अकबरी ८५
आठ स्तबक २१७.
आतिशे-खामोश २५८
आत्मचरित ३७२
आत्मजीवनी-चरित २१४
आत्मनिवेदन फुटकर पद) ३१४
आत्मबोध ६१०,६१३
आत्मविचार ५६७
आदिकाण्ड ४६
आदिपर्व ३०४
आनन्दरास ४९६
आभास-रामायण ६१४
आर्यधर्म प्रकाश ४३२
इंडियन एण्टिक्वेरी ३१६
इच्छावती १५०

इसना अशरी ५८९
ईश्वरता-प्रतिपादिका ४६९
ईश्वरनिरीक्षण ४६९
ईश्वरने ओळखवानां पदों ४७९
ईश्वर बोध सागर ६१०
ईश्वर-स्तुति ४१४,४८६
उखा-हरण ४५२
उत्सवामृत ५७५
उदय-कहाणी ९७,१८९
उद्धव-आवागमन ५५१
उद्धवगीता ५५७,५७४
उद्धव-चौंतीसा १८२
उद्धवजीनो सन्देशो ४८७
उद्धव-यान २८,७०
उद्दालक-कथा ३५४
उर्दू-ए-मोअल्ला २६६
उर्दू और फारसी भाषा में गजलों का दीवान २५६
उद्योग पर्व ५५०
उन्नड-बावनी ४११
उपदेश चिंतामणि ५४५
उपदेश दीपक ५४५
उपदेश-भक्ति के पद ५०७
उपदेशामृत ६२४
उपेन्द्र गिरामृत ४१४
उषाभिलाष २१६
उषा-हरण ३७४,४५२,६२४
एक पदी ६१४
एकादशी निर्णय ३३५
एकादशी माहात्म्य ४१८,५६२,६११
एपिग्राफिया इंडिका २८७
ऐश्वर्य प्रकाश ५६२
ओखा-हरण ४१८,४६९,५००,५३०,६११,६२४
ओच्छव-कीर्तन-पद ५८४
ओडिआ-कीर्तन ११०
ओधव जी का गरबा ५७९
ओधव जी नो संदेशो ५८४
ओमनामा ३६९
कंस वध ५१,५२,६४,४८७,६०३
कको ५८४
कक्का-कुण्डलिया ४१४
कक्को ४९६,५८७
कर्णचरित ५००
कर्णाट भारत कथा-मंजरी २८९
कतास हिन्दी ५२३
कथा-कनकावती २६४
कथाचरित ४८
कथाभक्ति-रत्नावली २४
कथा सूत्र ४२
कनकलता १९८
कन्नड़-कविचरिते २८९
कन्नड़ जैमिनि भारत २८९
कन्नड़ तात्पर्य-निर्णय २९५
कन्नड-भागवत २८९
कपिल-गीता ५७४
कपोत-आख्यान ५३५
कमल लीला ४६९
कमला कंथना बार महिना ६१६
कमलाचल-माहात्म्य ३१०
कर्मबावनी ४१४
कर्मभूमिका ३६३
कयामत नामु ५६५
करशनदास ५५९
करुणाष्टक ४१६
कर्णाटक भारत-कथामंजरी ३०४
कर्णाटकाष्टपदी ३५६
कर्म-बावनी ४१४
कला-कउतुक ९१
कला-कलेश्वर १७६
कलावती २११
कलिप्रबोघ ६२४
कलि-भागवत १००

कल्याण-निर्णय ५१०
कवि चरित ४३०,५०२
कवितावली ६१४
कवित्त प्रबन्ध ५६७
कविप्रिया ४०७
कसरुल-अदब २५३
कहान-काव्य ४२०
कहानदास जी महेडु ५७६
कांची-कावेरी चरित १५८
कांतनिकटकु नरेश-सुतार पत्र १५५
काकुराज कथा ६२४
काग-वाणी ४७७
कार्तिक-माहात्म्य १८४
कात्यायनीनो गरबो ४६
कादम्बरी ५५१
कानखोवा ६७
कामावनीनी कथा ६२४
कालकुज्व-शोषक वध ५४
कालज्ञान-सार ४६९
कालिका पुराण २
कालिय-दमन ६४
काली-दलन २२७
काव्य कल्लोल ४०७
काव्य संग्रह ४७०
काशी विश्वेश्वरनी लावनी ४६९
किंरतन ५२३
किशोर चन्द्रानन-चम्पू १०७
कीर्तन ६४
कीर्तन, अभिमन्यु कालग ३५५
कीर्तन घोषा १४,६४
कीर्तन पद ३५५,३५६
कीर्तन संग्रह ५६२
कुंज-विहार ११३
कुँवरबाईं नुं मामेरुँ ४०३,४६९,४९१
कुँवरबाईनुं मोसालुँ ५८०
कुण्डलिया ४८६,५०७
कुण्डलिया और सवैया ४३५
कुण्डलिया और स्फुट पद ४१८
कुन्ती प्रसन्नाख्यान ६१५
कुमार व्यास भारत २८९
कुमार-हरण १८,५५
कुम्हार-चक्र १११
कुरान २४१,४९९
कुरुक्षेत्र ६४
कुलजमस्वरूप ५२३,६१०
कुलाचल-बध ५४
कुल्लियात २५६
कृष्ण-अष्टोतरशतनाम ४६९
कृष्ण-अष्टोत्तरशतनाम-चिन्तामणि ४६९
कृष्ण-अष्टोत्तरशतनाम-रहस्य ४६९
कृष्ण-उपवीत ४६९
कृष्णकथा २८८,३५६
कृष्ण कथा-रत्नाकर ३५५
कृष्ण कर्णामृत-टीका ३५५
कृष्णकल्पलता १९६
कृष्ण कीर्तन ५५९
कृष्णकीर्तन के पद ४८३
कृष्णकुमार काव्य ५१५,५९७
कृष्णकेलि-तरंगिणी १५७
कृष्णक्रीड़ा ४६९
कृष्ण-क्रीडाकाव्य ३७४
कृष्ण-क्रीडा के पद ५८४
कृष्णक्रीडानां पद ५०१
कृष्ण-गीता २४४
कृष्ण-गोपीलीला के पद ५४९
कृष्ण-गोपी-विकास, यादवगिरि-माहात्म्य ३५६
कृष्ण चरित ३५६
कृष्ण चरितामृत ३३२,३५५
कृष्णजन्म-खण्ड ४६९
कृष्ण जन्म बधाई ४१८
कृष्ण-जन्मोत्सव ४८३
कृष्ण जी गरबीलो ६०३

कृष्ण जीवनना महिमा ५८७
कृष्ण बालविनोद ५४०
कृष्णनांध्याननुं घोल ४६९
कृष्णना द्वादश मासं ५०१
कृष्णनाम-चिंतामणि ४६९
कृष्णनो थाल ५९५
कृष्णनो रास ६००
कृष्णन् बालर्लाले, परिजातापहरणम् ३५५
कृष्ण-पद ४८३
कृष्ण परिजात ३५५,३५६
कृष्ण परिजात, यक्षगान ३५५
कृष्ण-प्रेमना पद ५९५
कृष्णबाललीला ६०३
कृष्ण बाललीलाना पद ५१५,५९७
कृष्ण-बाललीला संबंधी पद ३५५
कृष्ण भजन ४८३
कृष्ण भजना पदों ४७९
कृष्ण-मोहिनी-दुंदुभे, कृष्ण-राधिका विलास ३५६
कृष्ण-रसामृत १०६
कृष्ण-लीला ११२,२१०,३७०,४८३,५५१,५८५,६०६
कृष्ण लीला के पद ४८३
कृष्ण-लीलानां पद ५६८,५८४,६०४
कृष्ण लीलाभ्युदय ३५६
कृष्णविनोद ४८७
कृष्ण विरहना बारमास ५६७
कृष्ण-विलास १२८
कृष्ण विवाह ५०२,६०३
कृष्णविष्टि ५००,५५१,६१५
कृष्ण-वृन्दावन-राधारास ३७५
कृष्णसागर ४८१
कृष्ण-सुदामा प्रसंग ३७२
कृष्ण-स्तुति ४६९
कृष्णस्वधाम-गमन ६१५
कृष्णर्जुनर कालग ३५६
कृष्णावतार ३५९,३६८
कृष्णाष्टक २९५,३३५
केलि-कलानिधि १७३
केलि-कल्लोलिनी ८७
केलि-गोपाल ६४
केवल-रस ५८७
केशर-कृष्ण कीर्तनमाला ४२८
केशव-कोइली १८७
कैवर्त-गीता ९६
कोटिब्रह्माण्ड सुन्दरी १०५
कोहोरा-खेलोवा ४६
कौतुक-रत्नावली ४६९
क्रियायोग-सार ५९
किशोर चन्द्रानन्द चम्पू ९२
क्यामतनामा ५२३
क्यामतनामा छोटा और बड़ा ५२३
क्लेश-कोठार ४६९,४७३
खटासुरवध ५४
खाडंगा भागवत १४६
खुदरकुणी पुराण १२२
खेलवत-खुलासा ५६५
गंगवंशानुचरितम् १५७
गजमोख ४५९
गजेन्द्र-गीता १०१
गजेन्द्रमोक्ष ४८७,६०९
गणबाबीरो ६११
गदुगु भारत २८९
गरबा-गरबीपद ४०४
गरबावली ६१४
गरबी ४८६
गरबी-पद ५८०,६१७
गरुड़-केशव चौंतीसा २१६
गर्ग-संहिता ३७४,४३०
गीत-गोविन्द ७४,७९:८०,८१,८२,८९,१११,१२४,१६२,
    २१३,३०९,३७३,४३०
गीत-गोविन्द की टीका १५०
गीतगोविन्द-चन्द्र १९०
गीत-प्रकाश ८५,८६

गीत-मुकुन्द ८८
गीत-लहरी १८०
गीता १६४,१८५,२३०,२४०,२५३,३५८,३७८,३८१
गीता-कथा २४
गोतिनाट्य २१४
गीताभाष्य ३५८
गीताभिनय २१४
गीतासार ४२,३७१
गुंड क्रिया २९५,३३५
गुंडिया-चंपू १२८
गुणमाला ६४
गुण विभाग ५७४
गुणसागर १४५
गुप्त-गीता १४८,१६६
गुरुचरित २९
गुरु-चौबीसी ५७४
गुरुनो उपदेश ४६९
गुरु-प्रणाली १२०
गुरुभक्ति-गीता ९७
गुरु-महिमा ५९५
गुरुलीला २३,५२
गुरुवर्णना ३९
गुर्वर्थ दीपिका ३३५
गुरुव्रत-चिन्तामणि ३७१
गुरु-शिष्य संवाद ४९९
गुरु-शिष्य-संहिता २००
गुरुस्तुति ५४०
गृहसम २३५
गृहस्थधर्म-गुण-प्रकाश-बावमी ५८३
गोकुल की बाँसुरी २५९
गोकुलनाथजीनो विवाह ५६४
गोकुल लीला ६००
गोपाल ओगाल ९६
गोपालकृष्ण पटनायक पद्यावली २१३
गोपालगीता ४३७
गोपी-उद्धव संवाद ४९६
गोपीकान-दानलीला ६१७
गोपीगीत २९२,३५१
गोपी-गोविन्द संवाद ५५१
गोपीनाथ-चौंतीसा २२७
गोपीप्रेमना॰ पद ६०४
गोपी-विलाप १७३
गोवर्धन-ओच्छव ५८७
गोवर्धन-पूजा ४८३
गोवर्धन-यात्रा ५५
गोवर्द्धन लीला २१३
गोविन्द ग्रन्थमाला ४४१
गोविन्द ज्ञान बावनी ४४१
गोबिन्द-भाष्य १६३
गोविन्द-लीलामृत २३४
गोविन्द स्तोत्र ५०
गोष्ठ यात्रा २१३
गौरकृष्ण-शतक १२३
गौर गोविन्द-भजन-माला ११०
गौरी-कीर्तनमाला ४४५
घुमसुर-महोदधि १२९
घोषयात्रा ६२७
घोषारत्न २७
चंउतिशा-हार १७०
चउतिसा-मंजूषा १०१
चण्डीपुराण २२३
चन्द्र चन्द्रावती ६२६
चन्द्रहास-कथा ३५४
चंद्रहासाख्यान ५००,५३०
चतुर्वंदन-रास ४८५
चदेई गीत ९९
चरखी ५९५
चरणचिह्न-वर्णन ४२१
चरण-सुधानिधि १२३
चाचेरी लीला २१५

चाट इच्छावती २०७
चातुर-चित्तविलास ४६९
चातुरीओ ४०४,४९२
चातुरी-चालीसी ६२१
चातुरीनो गरबो ४६९
चातुरी-पचीसी ३७४
चातुरी-भाव-लीला ५७९
चायनामा ३६९
चित्त-चेतावणी ५१५,५९७
चिन्ता-चूर्णिका ४६९
चिन्तामणि ४६९,५१०,६१३
चुंडग-मालश्री १२२
चुसरासुहणी ६००
चेतामनी शिक्षा अंग ५८७
चेतावनी ४६९,४८३
चेलैया आख्यान ५५९
चैतन्य-चरित्र १९६
चैतन्य-चरितामृत १५४
चैतन्य-निर्णय २४
चैतन्य-भागवत १०३,१०४,२०९,२१२
चैतन्यमंगल-पाला ११०
चोडीनांपद ५५९
चौंतीसा ९२,२११
चौंतीसा-त्रय १७४
चौंसठ-पदी ५१०
चौपदी कलानिधि १९४
चौपदी-चंद्रिका २१७
चौपदी-चन्द्रोदय १५३
चौपदी-भूषण १९६
चौपदी-रत्नाकर १८०
चौबीश पटल ९७
चौबीस अवतारनुं ध्येय ४६९
चौर-चिन्तामणि २१९
चौरासी वैष्णवन की वार्ता ३७८,३८२ ४३९
छत्तीस गुप्तगीता १४८,१५१
छन्द-प्रभाकर ४१८
छन्द-भूषण ९१,१०५
छन्द रामायण २०५
छोटम-काव्य ४४८
छोटी और बड़ी पत्री ४६१
जंघासुर-बध ५४
जगदीश जी का छन्द ५९१
जगन्नाथ-चरितामृत १०१,१२१,१४२,२०९।
जगन्नाथ तत्त्व २३५
जगन्नाथ विजय २८७,२८८,३३१
जगमोहन-रामयण १६५
जटासुर-बध ५४
जणाणादि १६९
जणाल २०७
जनुबाई आख्यान ४०३
जर्नल आफ आसाम-रिसर्च सोसाइटी ३
जन्म चरित ३७२
जन्म यात्रा २८,५५
जन्म लीला ६४६
जन्म-रहस्य ४६
जन्माष्टमीनी बधाई ५८७
जालन्धर-आख्यान ५५१
जीवकाय संवाद ३१४
जीवचेतवणी ६१०
जैन-महाभारत ३७४
जैन राज तरंगिणी ३५७
जैमिनि-पुराण १५३
जैमिनि-भारत ३३२
ज्ञानरवणी ६११
ज्ञानगीता ४८५,४९६,५२७
ज्ञानना पद ५१९
ज्ञानबत्तीसो ४८६
ज्ञान-भक्ति के पद ५०७
ज्ञान भक्तिनां पद ५९५
ज्ञान सागर १४५
ज्ञानना द्वादश मास ५५९
ज्ञानोपदेश के पद ५०७

झमाण ६०५
झूलणा ४९१
झूलन गीत १३५
झूलन चंपू ११२
झूलना ५४५
ठाकुर-चरित ७०
डाकोर लीला ६०८
तन्त्रसार २३,२९५,३१२
तंत्रसार टीका ३३५
तअपोई १२२
तखत विलास ६४२
तजकिराए-शुअराए-उर्दू २७३
तत्त्वप्रकाशिका टिप्पणी ३३५
तत्त्वद-कीर्तनेगलु-कृष्णन-बाललीले ३५५
तपस्याख्यान ५३०
तर्कताण्डव २९२,३४६
तात्पर्यनिर्णय टीका ३३५
तारत्तम की प्रणालिका ४६१
तिथि ४८३,५८४
तिथि और वार के पद ५७९
तिथि पद ५०७,६१७
तिथिपओ ५५९
तीर्थ चिन्तामणि २०९
तुकाराम विठोबा आख्यान ४०३
तृणासुराख्यान ४६९
तोरणा ५८६
त्रिपुरमोहिनी १५०
त्रिवेणी माघव ७६

थाल ५०१,५८४,५९५,६००
थाल के पद ५७९
दण्डात्मक लीला २०२
दमाला ३७८
दयाराम-रसधारा ४७०
दश अवतार ६२४
दशपटल ९७
दशम-अनुक्रमणिका ४६९
दशम-टीका ६१५
दशम लीला ६४७
दशमलीला-अनुक्रमणिका ४६९
दशमसार ६०८
दशम-स्कन्ध ५३०,५५१,५८४,६०८,६०९,६४०
दशोपनिषद् गीता का भाष्य २९५
दाढ्र्यता-भक्तिरसामृत २०१
दाणनां पद ५८७
दाणलीला ४४१,४८३,५३०,५७९,५९३,६४६
दाणलीलानां पद ४९२
दाण्डी रामायण १६५
दान चातुरी ४६९
दामोदर-चरित ६७
दामोदर-देव-चरित ३८
दि आसाम ट्रिब्यून १२
दि गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर ३८३
दीनता स्वरूप दृष्टकूट ४६९
दीननां आश्रयविनतीनां पद ४६९
दुर्वासाख्यान ५५१
दुर्वासाशाप-आख्यान ४१४
दुःशासनरुधिराख्यान ६१५
दृष्टान्तिक दोहरा ४६९
देउलेतोला १५३
देवीनाम-विलास ३७१
देवीमाहात्म्य ५५१
देशयश-प्रकाश ४३४
देशोपदेश ३५९
दोल लीला २१३

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता ३७८,४१६,४५१,६०५,६४३
द्रोणपर्व ५५०
द्रौपदी-चीरहरण ५८९
द्रौपदी-वस्त्राहरण ४८६,५५१,६१५,६२६,६२७
द्रौपदीहरण-टीका ६१५
द्वादश कुण्डली १३४
द्वादश कुण्डली पुराण १२१
द्वादश मास ४८३,५६४

द्वादशमहिना ६००
द्वादश स्कन्ध भागवत ५९२
द्वारकानाथ के पद ४८१
द्वारकानाथनी छापनां पद ४८७
द्वारकालीला ४३३,६०८
द्विलीलामृत गरबी ४६९
धर्मप्रकाश ५६२,५७४
धर्मवंश प्रकाश ५४५
धर्मविचार ४८६
धर्माख्यान ५७४
धाम-वर्णन चातुर्य ५७४
धीरजाख्यान ५१०
धोल-पद ६४६
धोलपद संग्रह ३८४
ध्रुवाख्यान ५००,५५१
नंदनंदन ना प्रेम ना पद ६०४
नटनागर-विनोद ६४२
नन्दनन्दिनी टीका ३४४
नन्द बत्तीसी ६२६
नन्दमाला ५६२
नफ़ीर फ़ितरत २५८
नरसिंहना पुत्रनो विवाह ५३०
नरसिंह मेंहताना बापनुं श्राध ४९१,५८०,६४५
नरसिंह मेहतानी हुंडी ४९१,५८४,५८५
भरसिंह मेहतानुं चरित्र ६२१
नर्मगद्य ६०८
नर्ममाला ३५९
नल चरित्रे २९४,३०१
नल-दमन ३६९
नलाख्यान ५३०,५५१
नव नायिका-वर्णन ४५३
नवरत्न ३८२
नवरस ५०२
नवरस-उर्मि ६२८
नव-हरिचरित ८९
नवाए कारगर २५८
नवाजिश-ए-दोस्त २५५
नागदमन ४८७,६३८
नाग्नजीनी विवाह ४६९
नानी भक्त माल ५००
नाम-चिन्तामणि २१९
नामदेव आख्यान ४०३
नामदेव-निश्चय आख्यान ४०३
नाम प्रभाव-ब्रत्तीसी ४६९
नाममल्लिका ४६
नाम-माहात्म्य २३५
नामरत्न-सुधानिधि १२१
नारायण कवचम् ५७४
नारायण-गीता ५७४
नारायण चरित्रम् ५७४
नारायणदासर कीर्तन-कुसुमांजलि ३१७
नारी-बोध ५१९
नावकेलि १४५
निका-संहति ४४
निकुंज बिहार २१३
निगम कल्पतरु ६२८
निजवार्ता ३८२
निजानन्द भजनमाला ४४०
निजानन्द भजनावली ५८२
नित्यगुप्त चूड़ामणि १२०
नित्यनीलाद्रि विलास २२७
निर्णय-पंचक ५७४
निगमार्थ प्रदीप ५५०
निमि-नवसिद्ध संवाद ६४
निर्मल-ज्योति ५०५
निर्मल-निर्झरी ५०५
निर्मल भावकुसुम ५०४
निर्मल रसोत्सव ५०४
निर्मल श्यामरस ५०४
निर्मल श्यामसुधा ५०४
निशामणि चौंतीशा १७४
निश्चलज्ञान-गीता २३५

नीतिप्रकाश ५४५
नीति-भक्ति धोल ४६९
नीति-रत्न १८
नीति-वैराग्य ४६९
नीतिशतक १९३
नीलगिरि-माहात्म्य १५७
नीलमत-पुराण ३५७
नील माधव गीता २३५
नीलाद्रि महोत्सव २०४
नीलाद्रि महोदय १८४
नृसिंह पुराण १५६
नृसिंह मेहतानी हुण्डी ४६९
नृसिंह-यात्रा ३४,५५
न्यायामृत २९२
पंकज विलास ३१
पंचक-दहाई ४५९
पंचतंत्र २४०
पंचदंड ६२६
पंचभूत गीता २००
पंचरत्न ५७४
पंदरतिथिओनुं पद ६४६
पत्रलीला-पन्दरतिथि ४६९
पन्दर तिथियो उपदेशना श्रीकृष्णनां पद ५१९
पद पाण्डवोनुं ६४६
पद-संग्रह ५०१
पदावली ९३
पद्मपुराण ४८,५०,६८,१०९,१५३,३७४
पद्मावत २४०
पद्मावतीनी वार्ता ६२६
पद्मावती परिणय २०४
पद्य-गीता २९
परकरमा ५२३
परदेशी समाचार ५६४
परबत-पचीसी ५१३
परब्रह्म प्रकाशिके ३१४
परमधाम की बड़ी वृत्ति ४६१
परमधाम वर्णन ५६५
परमहंसमाला ५७४
परमात्मा पदावली ४६६
परिणय काव्य १३
परीक्षा-प्रदीप ५६९
पांचाली-विवाह ५४
पांचाली-प्रसन्नाख्यान ५३०
पांडवगीता ५४७
पांडवीगीता ४२५
पांडव पुराण ६०५
पांडव-यशेन्दु-चन्द्रिका ६४२
पांडवविष्टि ५३५,५५०,५६५
पाखण्ड-मत खण्डन ३३५
पाखु पुरुषोत्तम अष्टोत्तरशतनाम ४६९
पादपद्म सुधानिधि १२०,१२१,१३३
पान नो वार्ता ६२६
पारिजात-माला २२८
पारिजात हरण ६४
पिंगल काव्य (भाग १ व २) ५१५,५९७
पिंगल बीर पूजा ५९७
पिण्ड-ब्रह्माण्ड गीता २१६
पिंगलवीर पूजा ५१५
पिंगलसार ४६९,४७३
पीपा जी की वाणी ५१८
पीयूष-लहरी ८४
पुरंदरोपनिषद् २९३,३१२
पुराण ३४१
पुरुषोत्तम गीता ५१०
पुरुषोत्तम नाटक १८६
पुरुषोत्तम महात्म्य १०५
पुष्टिपथ-रहस्य ४६९
पुष्टिपथ-सारमणि ४६९
पुष्टिभक्त रूपमालिका ४६९
पुष्टिमार्गीय पद संग्रह ५४९
पुष्प चिंतामणि ५१०
पुष्प हरण पर्व ५४

पूजाविधान कीर्तनेगलु ३१४
पृथ्वीराज रासो २३७
पौगण्ड लीला २१३
प्रकाशगीता ६००
प्रकाश हिन्दी ५२३
प्रकीर्णपद ४८५,६१५
प्रगटवाणी ५२३
प्रतापकुंवरी रत्नावली ४५५
प्रबन्ध चरित्र १७४
प्रबन्ध पूर्णचन्द्र ९२,१८८
प्रबोध प्रकाश ५५५
प्रबन्ध प्रबोध बावनी ४६९
प्रबोध चन्द्रोदय ३७,५५,५५५
प्रबोध बत्तीसी ५६५
प्रबोध मंजरी ४९६
प्रभाव स्तवन ५८७
प्रभु साथे प्रीति करवा विषे पदों ४७९
प्रमेय पंचाव स्वान्त.करण ४६९
प्रमेय संग्रह ३३५
प्रवीण सागर ४४१,५७७
प्रश्नोत्तर माला ४४८
प्रश्नोत्तर मालिका ४६९,४८६
प्रसंगमाला २४
प्रसन्न माधव ७६
प्रस्ताव चन्द्रिका ४६९
प्रस्ताविका पीयूष ४६९
प्रह्लाद आख्यान ६२७
प्रह्लाद चरित ६४
प्रह्लाद चरिते ३५५
प्रह्लादाख्यान ४०२
प्राचीन कवियों अने तेमनी कृतिओ ४५५
प्राचीन काव्य ४६८
प्राचीन काव्य सुधा ४५१,५०२,५६७,६४६
प्राण सांकली ६१३
प्रास्ताविक कुंडलियाँ ५४०
प्रीतम एक अध्ययन ५२५
प्रीतमना प्रेमीओ ६१९
प्रेमकला ९९
प्रेमकल्पतरु २१९
प्रेमकल्पलता २३४
प्रेमगीता ६१६
प्रेम चातुरी ५००
प्रेम चिंतामणि ९९
प्रेमतरंगिणी २१८
प्रेम पंचामृत ९०,१८२
प्रेम पचीसी ५८४,६११
प्रेम परीक्षा ४६९
प्रेम पहेली ५२३
प्रेम भक्ति गीता १९०
प्रेम मंजरी ४६९
प्रेमरत्नावली ५८९
प्रेम-राग २६५
प्रेम प्रशंसा ४६९
प्रेम संगीता ४६९
प्रेमानन्द काव्य ५३२
प्रेमामृत स्तोत्र ११८
फकीर तामसा २०६
फणी रास १०१
फागनां पद ५०१
फ़िरदौस ए मआनी २५०
फुल चागुंड़ी १३४
फुल बउलबेणी गीत ९९
फूलगीता ५४९
बंगला चरित १०४
बउला चौंतीसा १०२
बखतेश वाणी ५३६
बत्तीसी पुतलीनी वार्ता ६२६
बघासुर बघ ५४
बभ्रू आख्यान ५५९
बभ्रूवाहन आख्यान ४५४,६४७
बरगीत ४६
बरगीतों १५

बलि गजानुं आख्यान ६२४
बसन्त-रास २२१
बसंतनां पद ४९२
बह्वाला जीना महिमा ४६९
बहुशिष्य उत्तरार्द्ध ४६९
बाघ गीत ९९
बाणासुर कथा ३५९,३६७
बाम्बे गजेटियर ६२९
बारमास ४४१,४६९,५९३
बारमासी ६००
बारह्मासा २७१,५०७
बालबोध चौंतीसा ९५
बाल लीला ४६९,६०८
बाल लीलानां पद ४९२
बावनाक्षर ५५९
बीतक ४९९
बुढ़ापंक युद्ध-पोथि २२८
बृहत् काव्य दोहन ४५०,५९८,६०२,६४६
बेलि क्रिसण रुक्मिणीरी ६३८
वेट-बावनी बाललीला ५८४
बोडाणा चरित ४८७
बोडाणीनी मूछनां पद ४८७
व्रजबधू विलास १७४
व्रजमाधुरी २१८
व्रजयुव विलास ८८
ब्रह्मगीता ४०४
ब्रह्मज्ञान गीता १५६
ब्रह्म छत्तीसी ४१४
ब्रह्म वाणी ५२३
ब्रह्मविलास ४०४
ब्रह्मवैवर्त पुराण ४१,३७४,४३०,५२१
ब्रह्मविलास ५४५
ब्रह्म संहति ९,३२,३३,५०
ब्रह्म संहिता ६६
ब्रह्मसूत्र २९५
ब्रह्मसूत्र भाष्य ५७४
ब्रह्माण्ड भूगोल १६६
ब्रज वियोग ३७६,६१६
ब्रज वर्णन २१३
ब्रजविलासामृत ४६९
ब्रजामृत २२७
ब्रेह् विलास ४६९
भक्तगीता ४८५
भक्त चिंतामणि ५१०
भक्त नामावली ५३९
भक्त मंजरी ४९६
भक्तमाल ७५,५१८,५५९,६२६
भक्तमाल की टीका ५०३
भक्तमाला ७४
भक्तविजय ७५
भक्तवेल ४६९
भक्ति कल्लोल १०१
भक्ति टीका १०१
भक्ति निधि ५१०
भक्ति नीतिपद संचयन १९
भक्ति पंचामृत १०१
भक्तिपद संग्रह ४८६
भक्तिपीयूष ४३८
भक्तिप्रदीप ६४
भक्ति प्रेमलता १९
भक्ति भागवत ८९
भक्ति मुक्तिदायक गीता २१६
भक्तिरत्न ५२
भक्तिरत्न चूड़ामणि १२०
भक्ति रत्नमाला ५३
भक्ति रत्नाकर ५,२६,५२,६४
भक्ति रत्नावली ४६,१८०,१८१
भक्ति विधान ४६९
भक्ति विवेक २९
भक्तिसार २४
भक्ति सिद्धान्त सरस्वती १७७
भकतीया फकरा ३५

भगवत् पिंगल ४०७
भगवत्प्रसाद भजनावली ४२४
भगवती शारिका ३६०
भगवद्गीता १६६,२४५,४८५,४९६,५४९
भगवद्गीता टिप्पणी ३३५
भगवद्गीता टीका ३५५
भगवद्गीता भाषा टीका ५७४
भगवद्गीता भाष्य ३५५
भगवद्गीता माहात्म्य ४६९
भगवद् भक्तोत्कर्षना ४६९
भगवद् विलासदाट ३१४
भगवदीयनाम मणिमाला ४२१
भजन ५५९
भजन लीला ५४९
भजन स्तुतियाँ ३६९
भजनामृत संग्रह १०१
भरतेश्वर बाहुबली रास ६२४
भविष्यपुराण ६८,१३३
भागवत १९,२३,२४,४८,६८,९०,१२१,१६३,१६४,२३०,
३०८,३४४,३६३,३८१,३८२,३८५,५१९,५५१,६०९,
६१५
भागवत अधिकरण २४
भागवत कथा २४५
भागवत गीता ४१४
भागवत दशम स्कन्ध ४८३,५००,६१८
भागवत पिंगल ४१४
भागवत पुराण १९,६४,२९३,६२४
भागवत बारह स्कन्ध ६१५
भागवत महापुराण ३७३
भागवत-रत्न ६०
भागवत रासपंचाध्यायी ६२४
भागवतसार ४०४,४८१
भागवती टीका २२९
भारत रुक्मांगद चरित ३५६
भारतसार ६४५
भाव कल्लोल १०१
भावप्रकाश ६४४
भारतामृत महाकाव्य ७६
भाव भूषण ५१५,५९७
भाव समुद्र १६६
भावार्थ दीपिका २३०
भाषा भूषण ४०७
भीमगीता ५५७
भीम चरित ५४
भील तामसा २०६
भीष्म स्तुति ४८७
भूपति चौंतीसा १८२
भोग लीला ३७१
भोजन बिहार ४६
भ्रमर गीत १७३,२९२,२९५,३५१,३७५,५००
भ्रमर गीता ३३५,४४६,५३०,५४७
भ्रमर पचीसी ५३०
भ्रान्ति भंजन ४६९
मंगला नन्दमाला ४६९
मंगला मालश्री १२२
मजाबाइ तामसा २०६
मणिचन्द्रघोष पर्व ५४
मणिमाला ८७
मतवादी आत्मबोध ४८६
मथुरा मंगल ९२,१७५
मथुरा माहात्म्य १९६
मथुराना काजल ५८५
मथुरा विहार १९६
मधुमंगल १४५
मन उन्माद चौंतीसा १८७
मन गंजन ५१०
मन प्रबोध ४६९
मन प्रबोध भजनावली ५७१
मनबोध चौंतीसा १७६
मनमनी संवाद ४६९
मनशिक्षा १७५
मयण छंद ५६३

मयूर चन्द्रिका २२७,२३०,२३१
मर्म निरूपण २०२
मल्ल अखाड़ाना चंद्रावला ५३५
महापचीसी ६२६
महाभारत २१,८९,१२१,१६५,१८५,२१६,२२२,२२३, २४०,२८८,३०४,३५७,३६०,३६८,४१४,५००, ५३०,५८९,६१५,६२३,६४१,६४८
महाभाव प्रकाश १०९
महामोट नाट ५५
महामोह काव्य ५५
महाराज स्फुट काव्य ६१४
महिना ५३०,५८४,५९३
मदालसा आख्यान ५३०
महिमा सागर २१७
महिषासुर मालश्री १२२
महिषासुर वध २७
महीमण्डल गीता १०१
मांडण बन्धारो ५६५
मांडण वरसडा ५६६
माघमाहात्म्य टीका १२२
माता जशोदानुं हालरडां ६२३
माधव काव्य ६१४
माधव विलास ५८५
मान चरित्रनो गरबो ४६९
मानसमो ६००
मामेरु ४९१,५३०,६२१,६२३
मायानी मोहिनोविषे ४७९
मायानो महिमा ४८६
मायामत खण्डन ४६९
मारफतसागर ५२३
मारमन सागर ५६५
मारुति पच्चीसी ५३९
माहनो तिथि ५८४
मित्रविंदा नाटक ३५६
मीरा चरित्र ४६९
मीरात-इ-सिकदरी ५१३
मीराते सिकन्दरी ५४१
मीरामहात्म्य ६०३
मुकुंद बावनी ५७४
मुकुन्दमोक्ष ६०३
मुकुन्द विलास ८१,८२
मुक्तानंद कीर्तन ५७५
मुक्ता लतावली २३०
मुरली लीला ४६९
मूर्खलक्षणावली ४६९
मूर्ति वर्णना ११२
मृगी आख्यान ५५१
मोगल तामसा २०६
मोरध्वजाख्यान ५००
मोहन कल्पलता २१९
मोहन तरंगिणि २९४,३०१
मोहमर्दन ४६९
मोसाळ चरित्र ६२१
मोसाळु ६४५
यंग इंडिया ६५
यकताए जमाना २३८
यदुमणिदेवर चरित्र ३२
यदुमणि रहस्य १८९
यदुमणि रामानन्द चरित्र ३१
यमुनाजीनी स्तुति ४६९
यशोदाजी का कृष्ण को पत्र ५७९
यात्रा २१४
यादवगिरि माहात्म्य, वेंकटगिरि माहात्म्य ३५५
युक्तिमल्लिका ३३५
युक्तिमल्लिके ३२७
युगल रसामृत लहरी ९१,२१९
युधिष्ठिर वृकोदर सम्वाद ६१५
योगमार्ग ४८६
योगिनीतन्त्र २
योगी तामसा २०६
रघुनाथ विलास १०५,१५०
रढ़ियालो रास सोहामणो ५४७

रणछोड़जीनो गरबो ५८७
रणछोड़जीना श्लोको ६२६
रणछोड़ स्तुति ४८७
रस कल्लोल ८६,१४५
रस कलिका २८८
रसकोइल चौंतीसा १३८
रसगीता ५५७
रसचन्द्रिका ४१८
रसपंचक १०५
रस पिंगल ६०५
रसमंजरी ६४६
रसरंग २७७
रसरंजिनी ३४४
रस रहस्य ४०७
रस लहरी १९२
रसवन्ती ९९
रस विनोद १४४
रससागर ४९९
रससिन्धु ५६४
रसानन्द सागर ४६१
रसालय ५६४
रसिक गीता ३७५,५५४,५५७
रसियाजीना महिमा ४६९
रसिक रंजन ४६९,४७३
रसिक राज ६२१
रसिक हारावली १०५
रहस्य मंजरी १४७
राग गोपीभाषा १३७
राजतरंगिणी ३५७
राजरत्नाकर १७८
राजसूय काव्य ४६
राधा अष्टोत्तर शतनाम ४६९
राधाकृष्ण तामसा २०६
राधा कृष्णनो गरबो ४०४
राधा कृष्ण विलासना पद ६०४
राधाकृष्ण विनोद ६२१
राधा कृष्ण विलास गोपिका गीते ३५६
राधारा हास ९७
राधाकृष्ण षोडशा १४१
राधाकृष्ण संवाद ५८४
राधा चरित काव्य २२
राधा प्रेमलीला ११२,२१०,२१३
राधा माधव कुतूहल लीला २३४
राधामाधव विलास १९३
राधामुख षोडशी ४४१
राधा रास ६१८
राधा विनोद २१३
राधा विरह चौंतीसा ११५
राधाविरहना बारहमास ४३३
राधा विलास १९६, ३५५,४८३
राधा विवाह ५८७
राधा स्वयंवर ३६३, ३६९
राधिकाजीनी बधाई ५८७
राधिकाजीने गरबो ६१६
राधिकानां बखान ४६९
राधिकानुं स्वप्नु ४६९
राधिकाना रुसणानी चातुरी ५८७
राधिका विरहना द्वादश मास ४६९
राधिकावन विवाह ४८३, ५९८, ६००
रानी केतकी की कहानी २५६
रामकाव्य २१०
रामगीता १२३
रामचरित मानस १६९,३३२
रामधान्य चरिते २९४
रामनाथ माहात्म्य ६०३
राम बाललीला ५५१
राम रसायण ५६७
राम रावण युद्ध १०९
राम विजय ६४
राम विवाह ५५१
रामायण ६४,१२१,१६५,१८५,२१०,२४०,३६०,
४३३,५६५,६२३,६२७

रामायण चन्द्रिका १९
रायगुरु ग्रंथावली २३२
रायगुरु पदावली १२३
रावण बध ५५
रास २०९,५२३
रासगोष्ठी रूपकम् ८७
रास झुमरा ४६
रासनां पद ५८७
रास पंचाध्यायी ५४,४६९,४८१,५८७,६२८
रासमाला ५१५,५९६
रासलीला ६४,४६९,४८६,४८७,५४१,५६४,५७९,६०८
राससहस्रपदी ३७४,४९२
रिसाला नूरुल मार्फत तसव्वुफ २८३
रुक्मांगद कथा ५६५
रुक्मांगद चरित ३१०,३५६
रुक्मिणी कृष्ण संवाद ६१५
रुक्मिणी परिणय महाकाव्य ८०
रुक्मिणी मंगल ३६८
रुक्मिणी विभा १०९
रुक्मिणी विवाह ४२५,४४१,४६९,५५१,५७४
रुक्मिणीश विजय २९५
रुक्मिणी सीमंत ४६९
रुक्मिणीश विजय ३३५
रुक्मिणी हरण ६४,४२७,४४१,४६९,४८१,५३०,५३५,
    ५५१,५६७,५७७,६००,६२७,६३८,६४७,६४८
रुक्मिणीहरण काव्य ६४
रूपमंजरी १७४
रेवा खण्ड ६२६
लक्षण चन्द्रोदय १९३
लक्ष्मणाहरण ५६७
लक्ष्मीधर विलास २३५
लक्ष्मीपति चरित्र ३२
लक्ष्मीशोभाने हाडु २९५
लग्न शकुनावली ५१०
लघु चरित्र ६०
लल्लपद ३६३
लवकुशाख्यान ५००
लोरी ६२३
लोलिन तामसा २०६
लावणी पद ५८०
लीलावती १९८
लीलासागर ५८४
वचनामृत ५०३,५७२,५७४,६३३,६३५,६३७
वधकाव्य १३,५४
वनमालीदेव चरित ५७
वनमाली देवर ५०
वनविहार चम्पू १७०
वरगीत १३
वरगीतों १४
वरणमाला १११
वल्लभनो परिवार ४६९
वल्लभ विजय ४३३
वर्तमान विवेक ५४५
वर्तमान दीपक ६१०
वल्लभ अष्टोत्तरशतनाम ४६९
वल्लभकुल वर्णन ६०८
वल्लभाख्यान ३७५,३८३
वंशीगोपालदेवर चरित ५७
वसन्त के पद ५८४
वसंतना पद ५८४,५८७
वसन्त रास ११२
वस्तुगीता ६१७
वस्तुविलास ६१७
वस्तु बृहद् दीपिका ४६९
वादा-ए-मशरिक़ २७४
वामनकथा ५३०
वारमास ५८७
वाल्मीकि रामायण १६५
वासिष्ठगीतासार ४९६
वासुदेव विलास १५३
वासुदेवावतार चरित्रम् ५७४

विक्रम रचनावली २०९
विक्रमार्जुन, विजय पंप भारत ३५५
विचित्र रामायण २१०
विजय पर्व ५४
विट्ठल अष्टोत्तरशतनाम ४६९
विदग्ध चिन्तामणि ९१,९२,९९
विदग्ध माधव ९९,११२,२१३
विनय पत्रिका ९८,१६९
विदुरनीति ५०३
विनय बत्तीसी ४६९
विभाविलास ५३७
विभ्रंशी आख्यान ५८९
विरहगीता ६४६
विराट्गीता १६५
विराटपर्व ६२७
विलंका रामायण २२३
विविध रस ६३९
विवेक चिंतामणि ५४५,५७४
विवेक वणसारो ५३०
विष्णुकेशरी पुराण १८४
विष्णु गर्भपुराण १२९
विष्णु चरित्र २२२
विष्णुपद ४०४
विष्णुपुराण ३१०,३११,३३१
विष्णुपुराण (भाषानुवाद) २०९
विष्णुभारती ५०,६०
विष्णुसहस्रनाम १६३
विश्वासामृत ४६९
विससि विलास ४६९
विहंगम मोक्ष ५४
वृत्रासुर वध १८
वृत्तान्तदीपिका ४४०
वृत्तिविवाह ५१०
वृन्दारा हास ९७
बृन्दावनचंद्र विनोद १८४
वृन्दावनचन्द्र विहार १३३,१५२
वृन्दावन चन्द्रानन चंपू १२३
वृन्दावन बिहार ९८,२०४
वृन्दावन माहात्म्य ५८७
वृन्दावन विलास ४६९
वृहत् काव्य दोहन ४६६,६१६,६२५
ब्रेहेंगीता ६००
वेणुगीत २९२,५८७
वेदपुराण वाणी ४८५
वेदरहस्य ६३७
वेदांतपूर्ण ४०७
वेदांतसार १६६
वैकुण्ठ दर्शन ५०३
वैकुण्ठधाम दर्शनम् ५७४
वैकुण्ठ वर्णने २९५
वैचन्द्र गीता १४८
वैताल पचीसी ६२६
वैदेहीश विलास ९१,१०५
वैराट् निरूपण ४६१
वैराग्य बोध ६००
वैष्णवानन्द लहरी २१
वैष्णव गीता १०१
वैष्णवामृत १८,६४
व्यास कथा ६२४
व्रजभक्त अष्टोत्तरशतनाम-हारावलि ४६९
व्रज महिमा ४६९
व्रजवासिनीनो गरबो ४६९
शंकर-चरित ४३,५२
शंकरदेव का जीवन चरित्र ६८
शंकरदेव माधवदेव ईश्वर चरित ३४
शंखचूर वध २७
शक्ति विलास ४०४
शणगारना घोळ ५८७
शब्दकोश ५८३
शरण मांल्का २४
शशिरेखा १५५,१९७
शशिरेखा ओ चौंतीशा मधुचक्र १६९

शांकर भाष्य ५२६
शाण्डिल्यसूत्र भाष्य ५०३
शामलदासनो विवाह ४९१,५८०
शामलरत्नमाल ६२६
शामळशानो विवाह ४०९,४८७,४९१,६४५
शामला स्मरणमाला ४०९
शाहनामा ३६७
शाहनामा-ए-इस्लाम २५१
शाहिद-ए-मानी २४७,२६९
शिवगीता २०९,४०४
शिक्षापत्री ३८४,४७९,५१०,६३६,६३७
शिक्षापत्री भाषा ५७४
शिवगीता ४०४
शिव परिणय ३७०
शिव पार्वती विवाह ३६३
शिवपुराण ३६३,६२६
शिव भीलणी संवाद ५५१
शिव लग्न ३६३,३७०
शिव लीलामृत ८२,८४
शिव विवाह ५००
शिवसिद्धिनीति ३७१
शिवसागर ७२
शिवस्तवन २५
शिशु मन्त्र विचार २१६
शिष्यधर्म ४८६
शुक जनकाख्यान ४१४
शुकदेवाख्यान ५३८,६१७ ।
शिशुपालवध १२९
शुद्धाद्वैत और भक्ति मार्तंड ३८१
शून्य संहिता ९७
शोभावल्लरी १७४
श्यामंत हरण ३४
श्लोकावली ६१४
शृंगार के पद ४८३
शृंगार गरबी ४८३
शृंगारना पद ६००,६०४
शृंगारमाला ३७४
शृंगार रस के पद ५७९
श्रीकृष्णनी थाल ४५४
श्रीकृष्णावतार लीला ३७२
श्रीकृष्णनामचन्द्र कला ४६९
श्रीकृष्णनामामृतधारा ४६९
श्रीकृष्ण नामामृतध्वनि लघु ४६९
श्रीकृष्ण नामावली ४६९
श्रीकृष्णनाम माहात्म्य ४६९
श्रीकृष्णनाम माहात्म्य मंजरी ४६९
श्रीकृष्णनाम माहात्म्यमार्तण्ड ४६९
श्रीकृष्णनाम माहात्म्य माधुरी ४६९
श्रीकृष्णनाम रत्नमालिका ४६९
श्रीकृष्ण लीलामृत ८२,८३,१०६,२३३
श्रीकृष्णनो रास ६०४
श्रीकृष्ण प्रेम तरंगिणी २३३
श्रीकृष्णभक्ति वात्सल्य २००
श्रीकृष्ण विरह के महीने ६१७
श्रीकृष्णस्तवन मंजरी ४६९
श्रीकृष्णस्तवन चन्द्रिका ४६९
श्रीकृष्णस्तवनामृत ४६९
श्रीकृष्णावतार लीला ३७२
श्रीचैतन्यचरितामृत ९८
श्री रामकीर्तन १८
श्री गुरु गीतमाला ११९
श्री गुरुदेव चन्द्रिका ४६९
श्री गोकुलनी शोभा ५४९
श्रीनाथजीनुं वर्णन ४६९
श्री पुरुशोत्तम पंचांग ४७०
श्रीभागवत अनुक्रमणिका ४७०
श्रीभागवतमाहात्म्य ४७०
श्रीमद्भक्तिविवेक २४
श्रीमद्भागवत ७३,८९,१०९,११८,१७४,३६८,३७३,
  ३७८,३७९
श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध ५४९
श्रीमद्भगवद्गीता २४

श्री विट्ठल सहस्र ६४४
श्री हरिभक्त चन्द्रिका ४७०
श्री शेषशायीनुं घोल ४७०
श्रीहरिस्वप्न सत्यता ४७०
श्रुतिविलास ६१०
षड्ऋतु वर्णन ४७०,५२३,५६४
संक्षेप भागवत ३५६
संगीत अष्टकाल १८७
संगीत कौमुदी १५२
संगीत गुच्छ १७४
संगीत चिन्तामणि ८८
संगीत नारायण १३३,१५२
संगीत राधा माधव २०९
संगीत रामलीला १९३
संगीत सागर १२५,१२८,१४०,१५५,१८०,१९९,२३४
संत चरित्र २५
संतति विराग ४७०
संतना लक्षण ४९६
संत निर्णय २४
संत वंशावली २५
सन्तसार ३९
संतोनी वाणी ६११
संतोष सुरतरु ५६७
संप्रदाय प्रदीप ५४५
संशय छेदक ४७०
सगालशा आख्यान ५८९,६२९
सगालशा कथा ६२९
सगालशा चरित्र ६२१,६२९
सगालशाह रास ६१९
सणोसरा ५८१
सतभामानुं गरबो ६१६
सतभामानुं रुसणु ४४१,४८७,५६५,६१६
सत शिखामण ६००
सतसैया ४७०,४७३
सतीगीता ५७४
सत्यनारायण कथा ५१५,५९७
सत्यनारायणव्रत कथा १७४
सत्यभामा विवाह ४७०
सत्यभामारोषदर्शिका आख्यान ५३०
सत्संगी जीवन ५७४
सत्संग प्रभाव ५६७
सप्तकांड रामायण २२३
सप्तांगसार टीका १६६
सप्तांग योगसार गीता १६५
सप्तरथी १२९
सप्तशती ५५१
सभापर्व ४११,६२७
सभासार ५८५
समर तरंग १७३
समृद्ध माधव ८८
सम्प्रदाय सार ४७०
सरस भारती विलास ३३५
सरसानन्द कौमुदी ८९
सरस्वती ५४
सरस्वती विलासम् १६०
सर्वांग सुन्दरी २०४
सहस्रनाम वृत्तान्त ४८
साणन्द ६०५
सातबार पद ५०७
सातवार ४८३
सातवार सारावली ४७०
सात्वततंत्र २४,४२
सान कनड़ा १३७
सामनामा ३६९
सामवेद ११४
सारंगपुर का वचनामृत ३८९
सार सिद्धान्त ६२४
सार सिद्धि ५१०
सावित्री चरित २११
सिन्धुरा यात्रा ५५
सालग्राम लक्षणम् ३१७
सिन्धुरा पर्व ५४

सिद्धहेमशब्दानुशासन ३७४
सिद्धान्त रहस्य ३७७
सिद्धान्तसार ४७०
सिनगार ५२३
सीताहनुमाननो संवाद ५५१
सीता स्वयंवर ६४७
सुआंगु २१४
सुजाता चरित्र सतीमणी ५१५,५९७
सुदामाख्यान ४१४,५७७
सुदामा चरित ३६३,३०४,४२५,४९२,५००,५३०,५४९,
    ५५१,५७९,५८०,६४१
सुदामानुं आख्यान ४५१
सुदामानी कथा ६४०
सुधन्वाख्यान ५००,८३०
सुन्दरसागर ४९९
सुन्दरी चौंतीसा २२८
सुबोध माला ५१५,५९७
सुबोधिनी टीका २३०
सुभद्रा परिणय १०५
सुभद्रानी कंकोतरी ६१८
सुभद्रा हरण ४४१,६१५,६१७
सुमति प्रकाश ५४५
सुयोग-चारित्र ३५५
सुरतीबाईनो विवाह ४८६
सुरेखाहरण ६१४,६२४
सूर सागर ३७९
सूरी सर्वस्व ८८
सूवाबहोतेरी ६२६
स्कन्दगुप्त ३७३
स्कन्दपुराण ३७३
स्तवन पीयूष ४७०
स्तवन माधुरी ४७०
स्तुति चिन्तामणि २१९
स्तुति रत्नहार १०१
स्त्रोत्र ५६२
स्नेहमंजरी ६२४
स्नेह गीता ५१०
स्नेहलीला ५८७
स्यमन्त हरण ४८
स्वप्न गद्य २९५,३३५
स्वर्गनी निसरणी ५३०
स्वरशास्त्र २३५
स्वर्ग खण्ड रहस्य ६८
स्वर्ग खण्ड पद्मपुराण ६८
स्वर्गारोहिणीपर्व ६४१
हंस मिलन १०१
हकायके हिन्दी २४१
हनुमान अष्टक ५३९
हनुमान गरुड़ संवाद ४७०
हनुमान चरित्र ५७७,६२७
हनुमान चालीसा १७०
हरिकथामृत सार २९५,३१२
हरिकवच ५०३
हरिगीता भाषा ५६२
हरिचरित ३२४
हरिचुआक्षरा ३७५,६१८
हरिदास मणिमाला ४७०
हरिदास साहित्य २९०
हरिदेव चरित्र ५९,६९
हरिनाम वेली ४७०
हरिनाममाला ४७०
हरि पिंगल ६०५
हरिबंधु पद्यावली २३३
हरिबल गीता ५१०
हरिभक्ति चन्द्रोदय १८१
हरिभक्ति प्रेमकारिका १२०
हरिभक्ति रत्नमाला ४७०
हरिभक्ति रसायन ३५५
हरिभजननां पद ४८७
हरिभारती ४१,५०
हरियश गीत ४५४
हरियश सिन्धु ६३९

हरिरस ५१२,५२७
हरिरस का हेली ५१९
हरिरस पिंगल ४०७
हरिलीला ५५१
हरिलीला कल्पतरु ४२७
हरिलीलामृत ४९६
हरिलीलाविवेक ५५४
हरिलीला षोडशकला ३७४,५५४
हरिवंश १८,७३,९६,१२१,४३०,५२१,६२४
हरिवंश पुराण २६,९०,२१७,३५९
हरिविचरण ५१०
हरिविलास ६४४
हरिश्चन्द्र आख्यान ६४,५००,५३५
हरिसंहिता ४०३
हरिस्मृति ५१०
हस्तगिरिमाहात्म्य ३११
हारमाला ४९०
हारसमानां पदों ४९२
हारावली ४७०
हालरडुं ६४७
हित हरिवंश ९६
हीडोलानां पद ४९२,५८७
हुंडी ५३०,६२३
हुंडी काव्य ४९०
होलियाँ कवित्त ५५९
हृदय प्रकाश ५१०